

प्रकाशक

लाला खजानचौराम जैन,
अध्यक्ष, मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास,
संस्कृत-हिन्दी पुस्तक-विक्रेता, गली
नन्हेखां, कूचा चेला, फैज बाजार,
दरियागंज, दिल्ली ।

पुनर्मुद्रणाधिकार. प्रकाशकायता.

All Rights Reserved by the Publishers

मुद्रक

पंजाब नेशनल प्रेस,
बाबड़ी बाजार, दिल्ली ।

केवल टाइपिंग और भूमिका के

मुद्रक

गोपीनाथ सेठ,
नवीन प्रेस, दिल्ली ।

SUSHRUTA SAMHITĀ

With Hindi Commentary Named

“ĀYURVEDA RAHASYADĪPIKĀ”

By

DR. BHASKAR GOVIND GHANEKAR.

B. Sc. (Bombay), M.B.B.S. (Bombay), Āyurvedāchārya, Gold Medalist and Prizeman (All India Āyurveda Vidyāpīth), Author of Swāsthya Shikshā Pathavali, Swāsthya Vijnān, Jivānūvijñān, Jivan Rasāyan, Chikitsā Shāstra, Aupasargic Roga, Comparative Survey of Āyurvedic Nosology, Āyurvedic Conception of Urine formation in human body etc.
Lecturer, Āyurvedic College, Hindu University, Banāras.

VOLUME ONE

(SŪTRA-NIDĀN-STHĀN)

Published by

MEHARCHAND LACHHMANDAS

Sanskrit & Hindi Booksellers, Publishers & Printers.

KUCHA CHELAN, DARYAGANJ,

DELHI.

साधवनिदान

टीकाकार—आयुर्वेदाचार्य, कविराज ५० दीनानाथ शास्त्री वैद्यनाचस्पति
सशोधक—विषय विशेषज्ञ आयुर्वेदाचार्य, कविराज पूर्णानन्द जी

निम्नलिखित विविध विशेषताओं सहित

मूलपाठ, मूलपाठ का हिन्दी में अनुवाद, मधुकोश संस्कृत व्याख्या, मधुकोश व्याख्या का हिन्दी अनुवाद, विस्तृत हिन्दी वक्तव्य, हिन्दी में विशद विवेचन, निदानोक्त रोगों के विभिन्न भाषाओं में नामों का निर्देश, विशिष्ट टिप्पण, पाठान्तर लक्षण सहित, सानुवाद परिशिष्ट सहित, मूलश्लोकों पर विषयसूचक शीर्षक, श्लोकों के आगे उनके सहित ग्रन्थ का प्रमाण, मधुकोश व्याख्या में प्रमाण रूप से दिये हुये ग्रंथों का ग्रन्थरुत्ताओं के नामों का निर्देश और विशेष रोगों पर पाश्चात्य दृष्टिकोण का भी सम्यक प्रकार से आलोचन किया गया है।

दो भागों में

मूल्य १२)

पृथक् भाग भी मिल सकते हैं।

पहला भाग—अरमरी निदान तक

४=)

दूसरा भाग—प्रमेहरोग निदान से अन्त तक

७॥=)

सुश्रुतसंहिता (शारीरस्थान)

अनुवादक—डाक्टर भास्कर गोविन्द घाणेकर
छप रहा है।

आवश्यक चेतावनी

सुश्रुतसंहिता सूत्र निदानस्थानात्मक प्रथम भाग और शारीरस्थानात्मक द्वितीय भाग दोनों के पुनर्मुद्रणादि कापीराइट के सब अधिकार मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास के पास सुरक्षित हैं। डाक्टर घाणेकर के पास कोई अधिकार नहीं। जो भी कोई इसके विरुद्ध इन ग्रन्थों के छापन की चेष्टा करेगा उसके विरुद्ध कानूनी कार्रवाई की जायेगी।

मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास

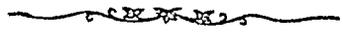
दरियागज, दिल्ली।

प्रस्तावना

भारतवर्ष में महाभारतीय युद्धकाल या उससे भी पहले शल्य, शालाक्य, काय-चिकित्सा, कौमारभृत्य आदि आयुर्वेद के आठ प्रधान अंगों एवं चारतन्त्रादि उपांगों में आत्रेय पुनर्वसु, कश्यप आदि महर्षियों ने एवं धन्वन्तरि, विदेह आदि राजर्षियों ने अनेक तन्त्र (संहिताएँ) बनाये थे। परन्तु दुःख का विषय है कि प्राचीन संहिताओं में से केवल चरक और सुश्रुत-संहिता सम्पूर्ण, तथा भेल और काश्यप-संहिता (वृद्ध जीवकीय तन्त्र) खण्डित रूप में उपलब्ध हैं। इनको छोड़कर अन्य कोई आर्ष ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। उसके अनन्तर वाग्भट ने आर्ष तन्त्रों का सारांश लेकर अष्टांगसंग्रह और अष्टांगहृदय ये दो संहिताएँ रचीं। उसके अनन्तर के काल में स्वतन्त्र संहिताएँ बनने का कोई प्रमाण नहीं उपलब्ध होता। परन्तु उन आर्ष संहिताओं एवं अष्टांगसंग्रह तथा अष्टांग-हृदय पर भट्टार हरिश्चन्द्र, जेज्जट, गयदास, इन्दु, चक्रपाणिदत्त, डल्हण, अरुणदत्त आदि ने अनेक व्याख्याएँ लिखीं। इन प्राचीन व्याख्याकारों ने मूल ग्रन्थकार के आशयों को भली भाँति खोलना और अन्य तन्त्रों या प्रकरणान्तर से जहाँ विरोध का आभास होता तो उसका निराकरण करना, इस ध्येय को सामने रखकर अपने व्याख्या-ग्रन्थ लिखे थे। इन व्याख्या-ग्रन्थों में से भी डल्हण, चक्रपाणिदत्त, इन्दु और अरुणदत्त की सम्पूर्ण व्याख्याओं तथा भट्टार हरिश्चन्द्र, जेज्जट, गयदास, शिवदास सेन और हेमाद्रि की खण्डित व्याख्याओं के सिवाय अन्य व्याख्या-ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते। संहिता-काल और व्याख्या-काल के पीछे विक्रम की इस (२०वीं) शताब्दी में भाषानुवाद (भाषान्तर) का काल आरम्भ हुआ। संस्कृत भाषा के पठन-पाठन का दिन-प्रतिदिन हास होने के कारण आर्ष ग्रन्थों के मूल के आशयों तथा प्राचीन व्याख्याकारों के स्पष्ट किये हुए भावों को भी ठीक-ठीक समझने वाले वैद्यों की संख्या वैद्य-समाज में दिन-प्रतिदिन घट रही है। इसी लिए वर्तमान समय में अल्प-संस्कृतज्ञ तथा संस्कृतानभिज्ञ वैद्यों एवं विद्यार्थियों के लिए भाषानुवाद करने की प्रवृत्ति आरम्भ हुई। किन्तु खेद के साथ लिखना पड़ता है कि आज तक हिन्दी, बँगला, मराठी, गुजराती प्रभृति भाषाओं में चरक, सुश्रुतादि के जितने भी अनुवाद निकले हैं इनमें से कुछ को अपवादरूपेण छोड़कर प्रायः सब ऐसे ही हैं, जिनके बनाने वाले अनुवादक टीकाकारों का तो क्या मूल का आशय तक ठीक दिखाने में प्रायः असमर्थ ही रहे हैं। इसका कारण यही हो सकता है कि ऐसे अनुवाद करने वाले प्रायः गुरुमुख से आयुर्वेद पढ़े हुए नहीं हैं। कुछ तो ऐसे भी हैं, जिन्होंने अन्य भाषा के अनुवाद को सामने रखकर उसी का अनुवाद कर दिया है। कुछ अनुवाद वैद्यों के द्वारा होते हुए भी उनकी व्याकरण, न्यायादि दर्शन तथा साहित्य की अनभिज्ञता और असावधानता के कारण वे भी उच्चकोटि के नहीं हुए हैं।

सम्प्रति भारतवर्ष में एलोपैथी आदि अन्य चिकित्सा-पद्धति एवं पाश्चात्य भौतिक विज्ञान आदि का प्रचार भी जोर से हो रहा है। आयुर्वेद-विद्यालयों में आयुर्वेद की पढ़ाई के साथ-साथ उपर्युक्त नवीन विषयों के पढ़ाने का सिलसिला भी जारी हो गया

सुश्रुतसंहितायाः विषयानुक्रमणिका



श्लोकाः	विषयाः	पृष्ठाङ्काः	सूत्राङ्काः	विषयाः	पृष्ठाङ्काः	सूत्राङ्काः	विषयाः	पृष्ठाङ्काः
	प्रथम अध्याय						चार भेद	१०
१	वेदोत्पत्ति अध्याय का उपक्रम	१	१३	आयुर्वेद की निरुक्ति	६	२६-३०	श्रोत्रधियों के चिकित्सोपयोगी अङ्गों का वर्णन	११
२-४	श्रोत्रधेनव आदि शिष्यों का आयुर्वेदाध्ययनार्थ धन्वन्तरि के समीप आगमन	२-३	१४	प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा शल्यार्थ की अनुकूलता सिद्धि	६	३१	पार्थिव श्रोत्रधियाँ	११
५	श्रोत्रधेनवादि का धन्वन्तरिद्वारा स्वागत करना	३	१५	शल्यज्ञ का आदित्व निरूपण करना	७	३२	कालकृत श्रोत्रधियों का निरूपण	११
६	आयुर्वेद अथर्ववेद का उपाङ्ग है	३	१६	आयुर्वेद तन्त्रों में शल्यज्ञ की श्रेष्ठता सिद्ध करना	७	३३	कालकृत श्रोत्रधियों का प्रयोजन	११
७	आयुर्वेद के शल्यदिक आठ अङ्ग	४	१७	शल्यतन्त्र की प्रशंसा	७	३४	पूर्वोक्त चतुर्विध श्रोत्रधियाँ शारीर विकारों के प्रकोप और प्रशमन में कारणभूत हैं	१२
८	शल्यदिक आठ अङ्गों का संक्षेप से लक्षण	४	१८	आयुर्वेद की गुरु परम्परा से प्राप्ति	७	३५-३६	आगन्तु रोगों की आश्रय भेद से चिकित्सा	१२
	शल्य का लक्षण	४	१९	भगवान् धन्वन्तरि का आत्मपरिचय देना	८	३७	पूर्व निर्दिष्ट (व्याधि, पुरुष, श्रोत्रध, क्रिया-काल) चतुष्टय का उपसंहार	१२
	शालाक्य का लक्षण	४	२०	आयुर्वेदाधिष्ठान भूत पुरुष का निरूपण	८	३८	प्रथमाध्यायोक्त संक्षिप्तार्थ को चिकित्सा वीज सिद्ध करना	१२
	कायचिकित्सा का लक्षण	५	२१	व्याधियों का सामान्य वर्णन	८	३९	सुश्रुततन्त्रान्तर्गत स्थान एवं अध्यायों की संख्या सूची	१२
	भूतविद्या का लक्षण	५	२२	व्याधियों के चार भेद	८	४०	सुश्रुत तन्त्र के अभ्ययन का फल	१२
	कौमारभृत्य का लक्षण	५	२३	आगन्तु व्याधियों	८		द्वितीय अध्याय	
	अग्दतन्त्र का लक्षण	५	२४	शारीरक व्याधियों	८		१ शिष्योपनयनीय प्रख्याय का उपक्रम	१३
	रसायनतन्त्र का लक्षण	५	२५	मानसिक व्याधियों	८		२ शिष्यपरीक्षा	१३
	वाजीकरणतन्त्रका लक्षण	५	२६	स्वाभाविक व्याधियाँ	८		३ आयुर्वेद टीक्षा विधि	१३
६	अष्टाङ्ग उपसंहार	५	२७	व्याधियों का आश्रय निरूपण करना	८		४-५ आयुर्वेदाध्ययन के अधि-कारों	१३
१०	शल्यज्ञ प्रधान आयुर्वेदोपदेश की भगवान् धन्वन्तरि के आगे श्रोत्रधेनवादि शिष्यों की शिक्षा	६	२८	व्याधियों का आश्रय निरूपण करना	८		६ शिष्य का कर्तव्य निरूपण	
११	सर्व की ओर से सुश्रुत को प्रश्लादि का अधि-कार देना	६	२९	व्याधियों के निग्रह के कारण	९			
१२	सुश्रुत को आयुर्वेद का प्रयोजन बताना	६	३०	संशोधन प्रादि में आहार की सुरक्षता तथा स्थावर, जङ्गम भेद से श्रोत्रधियों का द्विविध वर्णन	१०			
			३१	स्थावर श्रोत्रधियों के चार भेद	१०			
			३२	जङ्गम श्रोत्रधियों के	१०			

आयुर्वेदोपनीत ग्रन्थों के प्रमाण दिये हैं। मत-मतान्तरो का उल्लेख करके जो मत मुझे उचित मालूम हुआ, उसकी सिद्धि भी उपर्युक्त ग्रन्थों के प्रमाणों के द्वारा की गई है। मूल में जहाँ अति सक्षेप है परन्तु आयुर्वेद के अन्य ग्रन्थों में जिसका विस्तार से वर्णन मिलता है, वहाँ उन ग्रन्थों के उद्धरण दिये हैं। स्थान स्थान पर सुरावधोष के लिए तुलनात्मक कोष्ठक दिये हैं। इस प्रकार मूल के उचित और विशद अर्थ करने के लिए प्राचीन ग्रन्थों में जो सामग्री मिलती है, वह यथास्थान व्यवस्थित रूप से वक्तव्य में इकट्ठी की गई है। इसके सिवाय आयुर्वेदिक पारिभाषिक शब्दों के लिए डॉक्टरी पारिभाषिक शब्द दिये हैं। आयुर्वेदिक कल्पनाएँ डॉक्टरी परिभाषा में प्रदर्शित की हैं, आयुर्वेदिक मतों का और गूढ़ आशयों का परीक्षण डॉक्टरी और नव्य विज्ञान के अनुसार करके जहाँ दोनों का समन्वय हो सकता है वहाँ समन्वय करने की चेष्टा की गई है और जहाँ वास्तविक विरोध है वहाँ पक्षपात रहित होकर विरोध प्रदर्शित किया है। आधुनिक विद्वानों ने आयुर्वेद के ऊपर परिश्रम करके ग्रन्थ के या लेख के रूप में जो कुछ भी सशोधनात्मक सामग्री प्रकाशित की है, उसका यथास्थान उचित परामर्श लिया है और आधुनिक विज्ञान के क्षेत्र में आयुर्वेद ने हजारों वर्ष पहले जो आश्चर्यजनक कमाई का है उसका गौरवपूर्ण उल्लेख किया है। सक्षेप में, वक्तव्य में पूर्व और पश्चिम तथा प्राचीन और अर्वाचीन दोनों का सुन्दर मर्ममिलन करने की चेष्टा की है। अन्त में इस प्रथम भाग के अन्तर्भूत सम्पूर्ण विषयों और शब्दों की विस्तृत संस्कृत-हिन्दी शब्दानुक्रमणिका तथा विवरण और पर्याय के लिए प्रयुक्त समस्त अंग्रेजी शब्दों की सूची भी दी गई है, जिसकी सहायता से वैद्य तथा आयुर्वेद विज्ञानु डॉक्टर और अन्य विद्वान् लोग इस ग्रन्थ से यथेच्छ लाभ उठा सकते हैं।

इस टीका के लिखने में मुझे अनेक संस्कृत, अंग्रेजी, हिन्दी, मराठी, बंगाली ग्रन्थों से अमूल्य सहायता मिली है। अतः उन ग्रन्थकारों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना में अपना परम कर्तव्य समझना हूँ तथा परमश्रेष्ठ आयुर्वेदमार्तण्ड यादवनी त्रिकुमजी आचार्य जी के प्रति भी मैं कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर प्रस्तावना लिखने का कष्ट किया।

यह सम्भव नहीं कि इस टीका में त्रुटियाँ न हों। इसलिए अन्त में मैं विद्वान् चिन्तित्सकों और सहृदय पाठकों से निवेदन करता हूँ कि आप लोग कृपान्वर हंस-दीर-न्यायेन दोषों की ओर दृष्टि न देकर गुणों को ग्रहण करें और लेखन का साहस बढ़ावें।

सन्त हंस गुण गहर्हि पय, परिहरि वारि विकार।

त्रिनयादशमी, संवत् १९६३ }
 श्री हिन्दू विश्वविद्यालय }

भास्कर गोविन्द घाणेकर

निवेदन

क चाल्पविपया वुद्धिः क चायुर्वेदसागरः ।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥
तथापि कृतवाग्द्वारे कार्येऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः ।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥

सुश्रुत-संहिता आयुर्वेद का एक बहुत प्रसिद्ध, सर्वमान्य और मेरी समझ में सर्वोत्तम ग्रन्थ है। ऐसे सर्वांगसुन्दर ग्रन्थ पर टीका लिखने के लिए जितना अधिकार, अनुभव और पात्रत्व लेखक में होना आवश्यक है, उतना मुझमें नहीं है। परन्तु लाहौर के प्रसिद्ध संस्कृत पुस्तकालय के अध्यक्ष श्रीयुत मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास जी ने जब आयुर्वेद-संसार में सुविख्यात, आयुर्वेद-मार्तण्ड श्रीमान् यादवजी त्रिकमजी आचार्य जी से सुश्रुत-संहिता की टीका लिखने के लिए किसी योग्य लेखक को सूचित करने की प्रार्थना की तब आपने मेरा नाम सूचित किया; और मैंने भी 'आज्ञा गुरुणां ह्यविचारणीया' कवि-कुलगुरु की इस उक्ति के अनुसार सुश्रुतसंहिता की टीका लिखने का साहस किया। वास्तव में मेरा यह मत है कि इस समय प्राचीन परम्परा में पढ़े हुए धुरन्धर विद्वान् वैद्य और पाश्चात्य परम्परा में पढ़े हुए आयुर्वेदप्रेमी तथा आयुर्वेदज्ञ भारतीय डाक्टर इनकी समिति के द्वारा आयुर्वेद के चरक, सुश्रुत और वाग्भट इन तीन ग्रन्थों के ऊपर अधिकृत टीका बननी चाहिए।

प्राचीन काल से लेकर अब तक सुश्रुत-संहिता की कई संस्कृत टीकाएँ, प्रान्तीय भाषाओं में अनुवाद तथा अंग्रेजी तर्जुमे हुए हैं। ये सब अपनी-अपनी तरह के अच्छे होने पर भी विद्यार्थियों की दृष्टि से नहीं लिखे गये हैं। अतः संहिता पढ़ते समय विद्यार्थियों के सामने कई तरह की कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। आयुर्वेद का अभ्यास करते समय इन कठिनाइयों से मैं पूर्णतया परिचित हुआ हूँ। इसलिए इस टीका में उनको दूर करने की मैंने यावच्छक्य चेष्टा की है।

प्रथम संहिता का मूल बड़े अक्षरों में दिया है। उसके बाद छोटे अक्षरों में उसी-का सरल हिन्दी अनुवाद दिया है। मूल में जिन वाक्यों या शब्दों के लिए आभार नहीं है, परन्तु मूलार्थ स्पष्ट करने के लिए जिनकी आवश्यकता मालूम हुई, वे शब्द या वाक्य कोष्ठ () में दिये गए हैं। इससे विद्यार्थियों को मूल में क्या है और अनुवाद की योग्य सिद्धि करने के लिए क्या अधिक लिखा गया है, उसका बोध हो जाता है। अनुवाद के पश्चात् जहाँ-जहाँ आवश्यकता मालूम हुई है वहाँ-वहाँ वक्तव्य भी दिया गया है। वक्तव्य में कठिन तथा गूढ़ शब्दों के अर्थ दिये हैं। अर्थसिद्धि के लिए चरक, सुश्रुत, वाग्भट, माधव-निदान, भावप्रकाश इत्यादि प्राचीन तथा प्रत्यक्षशारीर, सिद्धान्त-निदान इत्यादि अर्वाचीन ग्रन्थों के; उल्लेख, चक्रपाणिदत्त, अरुणदत्त, इन्दु इत्यादि प्राचीन, हाराणचन्द्र आदि अर्वाचीन टीकाकारों के तथा कौटिलीय अर्थशास्त्र, सांख्यकारिका, योगसूत्र, स्मृति इत्यादि

है। एतद्देशीय पारश्चात्य चिकित्सकों में भी प्राचान आयुर्वेद में क्या लिखा है, इसके जानने की अभिरुचि उत्पन्न हुई है। ऐसी अरुस्था में मूल का ठीक अनुवाद, प्राचीन टीकाकारों का आशय तथा नवीन विचारा के साथ तुलनात्मकदृष्टि से लिखे गये टिप्पण जिनमें हों ऐसे अनुवादों की नितान्त आवश्यकता उत्पन्न हुई है। ऐसे अनुवाद तभी हो सकते हैं जबकि अनुवादकर्ता प्राच्य प्रतीच्य इन दोनों विषयों के ज्ञाता हों।

सुश्रुत के हिन्दी अनुवाद का सूत्रनिदानात्मक यह प्रथम खण्ड पाठकों के सामने है। वे देखेंगे कि यह अनुवाद उपर्युक्त गुण सम्पन्न हुआ है। इस अनुवाद के कर्ता काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेद कालेज के अध्यापक हमारे मित्र डॉ० भारद्वाज गोविन्द घाणेरकर जी बी० एस्० सी०, एम्० बी० बी० एम्०, आयुर्वेदाचार्य हैं। आपने पाश्चात्य सायन्स और डाक्टरी का अभ्यास करके अनन्तर निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद विद्यापीठ की आचार्य परीक्षा भी सम्मान के साथ उत्तीर्ण की है। अतः आप प्राच्य प्रतीच्य इन दोनों विद्याओं का ज्ञाता हैं, और आप आयुर्वेद कालेज में अध्यापन कार्य करते हैं। अतः आपको उसकी कठिनाइयों का भी अनुभव है। आज जैसे अनुवाद की आवश्यकता थी उस प्रकार का अनुवाद करने की आपने भरसक चेष्टा की है। मूल ग्रन्थ के आशय को खोलने के लिए आपने स्थान स्थान पर अपना वक्तव्य लिखा है। उसमें तन्त्रकारों एवं प्राचीन व्याख्याकारों के हिन्दी अनुवाद सह उद्धरण देकर विषय को समझाने की यावच्छक्य पूरी चेष्टा की है। इतना ही नहीं, आपने स्थान स्थान पर प्राचीन मता के साथ नव्य वैज्ञानिक एवं डाक्टरी मत को भी तुलनात्मक दृष्टि से लिखा है। यह अनुवाद केवल विद्यार्थियों के लिए ही नहीं परन्तु वैद्यों एवं डाक्टरों के लिए भी अत्यन्त उपयुक्त हुआ है।

अतः श्रीमान् मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, अध्यक्ष सस्कृत हिन्दी पुस्तकालय, लाहौर को भी धन्यवाद दिये बिना रहा नहीं जा सकता। आपने मेरे अनुरोध पर ही डॉ० घाणेरकर जी से यह अनुवाद कराके और सुन्दर कागज और टाइपों में छपवा कर प्रकाशन करना आरम्भ किया है। आशा है कि आप अग्य भी आयुर्वेदीय ग्रन्थों के ऐसे सुन्दर अनुवाद प्रसिद्ध करने की प्रवृत्ति जारी रखेंगे।

विजयादशमी, सवत् १९६३ }
कालबादेवी रोड, मुम्बई }

वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य

सुश्रुतसंहितायाः विषयानुक्रमणिका

— ८२४ ८२५ ८२६ —

सूत्राङ्काः	विषयाः	पृष्ठाङ्काः	सूत्राङ्काः	विषयाः	पृष्ठाङ्काः	सूत्राङ्काः	विषयाः	पृष्ठाङ्काः
	प्रथम अध्याय		१३ आयुर्वेद की निरुक्ति	६			चार भेद	१०
१	वेदोत्पत्ति अध्याय का उपक्रम	१	१४ प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा शल्यार्थ की अनुकूलता सिद्धि	६	२६-३०	श्रोपधियों के चिकित्सोपयोगी अङ्गों का वर्णन	११	११
२-४	श्रौपधेनव आदि शिष्यों का आयुर्वेदाध्ययनार्थ धन्वन्तरि के समीप आगमन	२-३	१५ शल्याङ्ग का आदित्व निरूपण करना	७	३१	पार्थिव श्रोपधियाँ	११	११
५	श्रौपधेनवादि का धन्वन्तरिद्वारा स्वागत करना	३	१६ आयुर्वेद तन्त्रों में शल्याङ्ग की श्रेष्ठता सिद्ध करना	७	३२	कालकृत श्रोपधियों का निरूपण	११	११
६	आयुर्वेद अथर्ववेद का उपाङ्ग है	३	१७ शल्यतन्त्र की प्रशंसा	७	३३	कालकृत श्रोपधियों का प्रयोजन	११	११
७	आयुर्वेद के शल्यादिक आठ अङ्ग	४	१८ आयुर्वेद की गुरु परम्परा से प्राप्ति	७	३४	पूर्वोक्त चतुर्विध श्रोपधियाँ शारीर विकारों के प्रकोप और प्रशमन में कारणभूत हैं	१२	१२
८	शल्यदिक आठ अङ्गों का संक्षेप से लक्षण शल्य का लक्षण शालाक्य का लक्षण कायचिकित्सा का लक्षण भूतविद्या का लक्षण कौमारभृत्य का लक्षण अगदतन्त्र का लक्षण रसायनतन्त्र का लक्षण वार्जाकरणतन्त्रका लक्षण	४	१९ भगवान् धन्वन्तरि का आत्मपरिचय देना	८	३५-३६	आगन्तु रोगों की आश्रय भेद से चिकित्सा	१२	१२
९	आष्टाङ्ग उपसंहार	५	२० आयुर्वेदाधिष्ठान भूत पुरुष का निरूपण	८	३७	पूर्व निर्दिष्ट (व्याधि, पुरुष, श्रोपध, क्रिया-काल) चतुष्टय का उपसंहार	१२	१२
१०	शल्यङ्ग प्रधान आयुर्वेदोपदेश की भगवान् धन्वन्तरि के आगे श्रौपधेनवादि शिष्यों की स्तुति	६	२१ व्याधियों का सामान्य वर्णन	८	३८	प्रथमाध्यायोक्त संक्षिप्तार्थ को चिकित्सा बीज सिद्ध करना	१२	१२
११	सर्व की ओर से सुश्रुत को प्रश्लादि का अधि-कार देना	६	२२ व्याधियों के चार भेद	८	३९	सुश्रुततन्त्रान्तर्गत रथान एवं अध्यायों की संख्या सूची	१२	१२
१२	सुश्रुत को आयुर्वेद का प्रयोजन बताना	६	२३ आगन्तु व्याधियाँ	८	४०	सुश्रुत तन्त्र के अध्ययन का फल	१२	१२
			२४ शारीरक व्याधियाँ	८		द्वितीय अध्याय		
			२५ मानसिक व्याधियाँ	८		१ शिष्योपनयनीय अध्याय का उपक्रम	१३	१३
			२६ स्वाभाविक व्याधियाँ	८		२ शिष्यपरीक्षा	१३	१३
			२७ व्याधियों का आश्रय निरूपण करना	८		३ आयुर्वेद दीक्षा विधि	१३	१३
			२८ व्याधियों के निग्रह के कारण	८		४-५ आयुर्वेदाध्ययन के अधि-कारी	१३	१३
			२९ संशोपन आदि में आहार की मुख्यता तथा स्थावर, जङ्गम भेद से श्रोपधियों का द्विविध वर्णन	१०		६ शिष्य का कर्तव्य निरु-		
			३० स्थावर श्रोपधियों के चार भेद	१०				
			३१ जङ्गम श्रोपधियों के	१०				

पण	१४	४२ उत्तरतन्त्र की निरुक्ति	१८	६ शस्त्र व्यवहार करने वाले चिकित्सक के गुण	२३
७ शिष्य के विषय में गुरु का आत्मकर्तव्य निरूपण	१४	४३-४५ अष्टांग आयुर्वेद का संक्षेप से तन्त्रद्वय में नियमन	१८	१०-११ एक व्रण से पाक स्थान की शुद्धि न होने पर और व्रण कर देने चाहिये	२३
८ रोगी के लिये वैद्य का कर्तव्य	१४	४६ आयुर्वेद का उपासक वैद्य राजाई होता है	१८	१२ तिर्यक् छेद करने के स्थान	२३
९-१० आयुर्वेद के अध्ययन में वर्धित काल	१४	४७-४९ केवल शास्त्रज्ञ अथवा केवल कर्मनिष्ठात भिषक् वा चिकित्सा कार्य में अनधिकार	१८	१३-१४ उक्त स्थानों के अतिरिक्त इतरत्र तिर्यक् छेद से हानि	२३
तृतीय अध्याय		५२ उभयज्ञ अर्थात् शास्त्रज्ञ और कर्म निष्ठात भिषक् की प्रशंसा	१९	१५ मूदगर्भादि में खाली पेट शस्त्रक्रिया करनी चाहिये	२४
१ अध्ययन सम्प्रदानाय अध्याय का उपक्रम	१५	५३ आयुर्वेद शास्त्र के अध्यापन और अध्ययन का प्रकार	१९	१६ शस्त्रक्रिया के अनन्तर उपचार विधान	२४
२ सूत्रादि प्रत्येक स्थानों की अध्याय संख्या	१५	५४-५५ अध्ययन समाप्त कर लेने पर शिष्य का कर्तव्य चतुर्थ अध्याय	१९	१७ व्रण के धूपन द्रव्य	२४
३-१० सूत्रस्थानान्तर्गत अध्यायों के नाम	१५	१ प्रभावणीय अध्याय का उपक्रम	१९	१८-२१ व्रण रोगी का रक्षाकर्म	२५
११ 'सूत्रस्थान' की निरुक्ति	१५	२-३ प्रभावण का प्रयोजन	२०	२२ सुरक्षित व्रणरोगी के स्वकर्तव्य	२५
१२ निदानस्थानान्तर्गत अध्यायों के नाम	१५	४ इस शास्त्र के व्याख्यान की आवश्यकता	२०	२३-२४ व्रण में पट्टी आदि बांधने और खोलने के समय पर विचार	२६
१३ 'निदानस्थान' की निरुक्ति	१५	५-६ इतरशास्त्रों में वर्णित विषयों के विज्ञान का उपाय	२०	२५ व्रण रोग में कृपाय लेपन बंधन आदि एवं आहारादि का विधान	२६
१४-१५ शारीरस्थानान्तर्गत अध्यायों के नाम	१६	७ गुरु मुञ्ज से आयुर्वेद की अध्ययन करने वाले ही व्यक्ति 'वैद्य' संज्ञा के अधिकारी हो सकते हैं	२०	२६-३७ व्रण की रोपण चिकित्सा कम करनी चाहिये ?	२६
१६ 'शारीरस्थान' का प्रयोजन	१६	८ औपधेनवादि तन्त्रों की अन्य समानतन्त्रों में प्रधानता का निर्देश	२१	३८ काल विशेष से व्रण में पट्टी आदि बांधने और खोलने का निर्णय	२६
१७-२४ चिकित्सास्थानान्तर्गत अध्यायों के नाम	१६	पांचथा अध्याय		३९ अतिगती रोगों में पूर्वोक्त विधि आवश्यक नहीं	२६
२५ चिकित्सास्थान की निरुक्ति	१६	१ शोषहरणीय अध्याय का उपक्रम	२१	४० शस्त्रजनित पीडा को शान्त करने लिये घृत का परिषेक (टकोर) करना चाहिये	२६
२६ कल्पस्थानान्तर्गत अध्यायों के नाम	१६	२ त्रिविध चिकित्साकर्म	२१	छुटा अध्याय	
२७ कल्पस्थान की निरुक्ति	१६	३ शस्त्रकर्म की प्रधानता	२१	१ श्वेतुवर्ग अध्याय का उपक्रम	२७
२८ उपसंहार	१६	४ शस्त्रक्रिया के आठ भेद	२१	२ काल शब्द की निरुक्ति	२७
२९ उत्तरतन्त्र के प्रथम अध्याय के 'शौषद्रविक' नामकरण में कारण	१७	५ शस्त्रक्रिया में उपहरणीय स्थापन	२२	३ संवत्सरारम्भकाल के गति विशेष से निमेषादि विभाग	२७
३०-३३ शास्ताप्यतन्त्रान्तर्गत अध्यायों के नाम	१७	६ शस्त्रक्रिया का उपदेश	२२		
३४-३६ कौमारतन्त्रान्तर्गत अध्यायों के नाम	१७	७-८ शस्त्रक्रिया में प्रशस्त व्रण के लक्षण	२३		
३७-३९ वायचिकित्सान्तर्गत अध्यायों के नाम	१७				
४० भूतविधागतर्गत अध्यायों के नाम	१७				
४१ 'तन्त्रगुपण' अध्यायों के नाम	१८				

४ निषेधादि के लक्षण	२७	२ यन्त्रों की गणना	३५	१२ किस प्रकार का शल्य कर्म में प्रयुक्त करना चाहिये	५०
५ छः ऋतुओं का विभाग	२८	३ यन्त्रों का सामान्य लक्षण	३६	१३ ऋतुशय	५०
६ दक्षिण और उत्तर दो प्रकार का अयन-विभाग	२८	४-५ यन्त्रों के छः प्रकार और अवान्तर भेद	३६	१४-१६ ऋतुशयों के विषय	५०
७ चन्द्र, सूर्य और वायु ही प्रजापालन में कारण हैं	२८	६ यन्त्र बनाने के प्रव्य	३६	१७ शल्यों की गुणसम्पत्ति में कारण	५१
८ युगों का वर्णन	२९	७-८ यन्त्र निर्माण विधि	३६	१८ वैद्य को शल्य परिचय अवश्य करना चाहिये	५२
९ संशोधनाश्रय वर्षादिक्रम से ऋतुविभाग	२९	९ स्वरितक यन्त्रों के नाम लक्षण और कर्म	३७	नक्षत्र अध्यय	
१२ वर्षादि ऋतुओं में पित्तादि दोषों के चयप्रकोप किस प्रकार होते हैं ?	२९-३०	१० संदेशयन्त्रों के नाम स्वरूप और कर्म	३८	१ योग्यास्त्रीय अध्यय का उपक्रम	५२
१३ प्रकृषित दोषों के संशोधन का उपदेश	३०	११ तालयन्त्रों के नाम स्वरूप और कर्म	३८	२ योग्या करने की शक्यता	५२
१४ वात आदि दोषों का स्वाभाविक संरामन काल	३१	१२ नाडीयन्त्रों के नाम स्वरूप और कर्म	३८	३ छेयादि शल्य कर्म में योग्या प्रदर्शन	५२
१५ अहोरात्र में भी संवत्सर लक्षणों का अतिदेश	३१	१३ शलाकायन्त्रों के नाम स्वरूप और कर्म	४०-४१	४-१० अनिर्दिष्ट योग्याई पुष्प-फलादि में योग्या करानी चाहिये	५२
१६ अव्यापक ऋतुओं में औषधों का गुणशाली होना	३२	१४-१५ उपयन्त्रों के नाम स्वरूप और कर्म	४२-४४	दृशम अध्यय	
१७ ऋतुओं की विकृति के कारण	३२	१६-१७ यन्त्र कर्म	४४	१ विशिखाऽनुप्रवेशनीय अध्यय का उपक्रम	५३
१८ विहृत औषधियों के उपयोग से रोगोत्पत्ति	३२	१८ यन्त्र दोष	४४	२ किस प्रकार का वैद्य चिकित्साधिकारी हो सकता है	५३
१९ विहृत ऋतुओं का चिकित्सा सूत्र	३२	१९ प्रशस्त यन्त्र	४५	३ रोग विज्ञान के छः साधन	५३-५४
२० ऋतुविकृति के अतिरिक्त अन्य कारणों से भी व्याधियां हो जाती हैं	३२	२० यन्त्रों के विषय भेद	४५	४ श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, घ्राण, जिह्वा और प्रश्न द्वारा रोग विज्ञान प्रकार	५४
२१ ऋतुविकृतिजन्य रोगों की चिकित्सा	३३	२१ यन्त्रों में कष्टमुख की प्रधानता	४५	५ अपरीक्षित रोगों में चिकित्सक किंफर्तव्य विमूढ़ हो जाता है	५६
२-३७ अव्यापक ऋतुओं के लक्षण	३३-३४	श्रावण अध्यय		६ साध्य, आप्य और असाध्य रोगों में वैद्य का कर्तव्य	५६
३८ संक्षेप से ऋतुविकृति वर्णन	३५	१ शलाघचारणीय अध्यय का उपक्रम	४५	७ किन व्यक्तियों की साध्य व्याधियां भी दुग्धि कित्सी होती हैं ?	५६
३९ वसन्त आदि ऋतुओं में दोषहरण व्यवस्था	३५	२ शल्य प्रकार के शल्य	४५-४८	८ वैद्य को परदारा सम्पर्क का निषेध	५७
शास्त्राचार्य अध्यय		३ शल्यों का अष्टविध कर्म में विषय भेद	४८	न्यायद्वय अध्यय	
१ यन्त्रविधि अध्यय का उपक्रम	३५	४ शल्यकर्म में शल्यमहण करने की विधि	४८-४९	१ चारपाक विधि अध्यय का उपक्रम	५७
		५ संक्षेप से शलाकृतिनिर्दर्शन एवं शल्यों के प्रमाण	४९		
		६ शल्यों के गुण	४९		
		७ शल्यों के दोष	४९		
		८ शल्यों की धारा	५०		
		९ आहरण और एषण कर्म में धाराओं का भेद	५०		
		१० शल्यों की त्रिविध पायना का निरूपण	५०		
		११ शल्य तीक्ष्ण करने के लिये शिला	५०		

पण	१४	४२ उत्तरतन्त्र की निरुक्ति	१८	६ राज व्यवहार करने वाले चिकित्सक के गुण	२३
७ शिष्य के विषय में गुरु का अन्वर्तनव्य निरु-		४३-४४ अष्टात्र आयुर्वेद का संज्ञेय से तन्त्रद्वय में नियमन	१८	१०-११ एक ऋण से पाक स्थान की शुद्धि न होने पर और ऋण कर देने चाहिये	२३
पण	१४	४६ आयुर्वेद का उपासक वैद्य राजाई होता है	१८	१२ तिर्यक् छेद करने के स्थान	२३
८ रोगी के लिये वैद्य का कर्तव्य	१४	४७-४९ केवल शास्त्र अपवा केवल कर्मानिष्ठात भिषक् का चिकित्सा कार्य में अनाधिकार	१८	१३-१४ उक्त स्थानों के अतिरिक्त इतरत्र तिर्यक् छेद से हानि	२३
९-१० आयुर्वेद के अध्ययन में वक्षित काल	१४	४२ उभयस्य अर्थात् शास्त्रज्ञ और कर्म निष्ठात भिषक् की प्रशंसा	१९	१५ मृगमांसि में खाली पेट शलक्रिया करनी चाहिये	२४
तृतीय अध्याय		४३ आयुर्वेद शास्त्र के अध्या-पन और अध्ययन का प्रकार	१९	१६ शलक्रिया के अनन्तर उपचार विधान	२४
१ अध्ययन सम्प्रदायीय अध्याय का उपक्रम	१५	४४-४५ अध्ययन समाप्त कर लेने पर शिष्य का कर्तव्य	१९	१७ ऋण के घुन द्रव्य	२४
२ सूत्रादि प्रपञ्च स्थानों की अध्याय सख्या	१५	अतुर्थ अध्याय		१८-१९ ऋण रोगी का रक्षाकर्म	२४
३-१० सूत्रस्थानान्तर्गत अध्या-यों के नाम	१५	१ प्रभाषणीय अध्याय का उपक्रम	१९	२० अरुद्धित ऋणरोगी के स्वकर्तव्य	२४
११ 'सूत्रस्थान' की निरुक्ति	१५	२-३ प्रभाषण का प्रयोजन	२०	२३-२४ ऋण में पृथी आदि बांधने और खोलने के समय पर विचार	२६
१२ निदानस्थानान्तर्गत अध्यायों के नाम	१५	४ इत शास्त्र के व्याख्यान की आवश्यकता	२०	२५ ऋण रोग में कषाय लेपन बंधन आदि एवं आहारदि का विधान	२६
१३ 'निदानस्थान' की निरुक्ति	१५	५ इतर शास्त्रों में वर्णित विषयों के विधान का उपाय	२०	२६-२७ ऋण की रोपण चिकित्सा कर करनी चाहिये ?	२६
१४-१५ शारीरस्थानान्तर्गत अध्यायों के नाम	१६	७ गुरु मुख से आयुर्वेद की अध्ययन करने वाले ही व्यक्ति 'विद्य' संज्ञा के अधिकारी हो सकते हैं	२०	३० काल विशेष से ऋण में पृथी आदि बांधने और खोलने का निर्णय	२६
१६ 'शारीरस्थान' का प्रयोग	१६	८ औपधेनवादि तन्त्रों की अन्य समानतन्त्रों में प्रधानता का निर्देश	२१	३६ अतिपाती रोगों में पूर्वोक्त विधि आव-श्यक नहीं	२६
१७-२४ चिकित्सास्थानान्तर्गत अध्यायों के नाम	१६	पांचवां अध्याय		४० शलक्रान्त पीडा की शान्त करने लिये घृण का परिपेक (उकोर) करना चाहिये	२६
२५ चिकित्सास्थान की निरुक्ति	१६	१ अत्रेपहरणीय अध्याय का उपक्रम	२१	घृटा अध्याय	
२६ कन्धस्थानान्तर्गत अध्यायों के नाम	१६	२ त्रिविध चिकित्साकर्म	२१	१ श्लुचर्वा अध्याय का उपक्रम	२७
२७ कन्धस्थान की निरुक्ति	१६	३ शलक्रम की प्रधानता	२१	२ काल शब्द की निरुक्ति	२७
२८ उपसंहार	१६	४ शलक्रिया के आठ भेद	२१	३ संवत्सात्मक काल के गति विशेष के नियमदि विधान	२७
२९ उत्तरतन्त्र के प्रथम अध्याय के 'श्रीपद्म विक' नामकरण में कारण	१७	५ शलक्रिया में उपहरणीय साधन	२२		
३०-३१ शालश्रयन्स्थानान्तर्गत अध्यायों के नाम	१७	६ शलक्रिया का उपदेश	२२		
३४-३६ कौमारतन्त्रान्तर्गत अध्यायों के नाम	१७	७-८ शलक्रिया में प्रशस्त ऋण के लक्षण	२३		
३०-३६ कान्तिकेन्द्रान्तर्गत अध्यायों के नाम	१७				
४० सूत्रस्थानान्तर्गत अध्यायों के नाम	१७				
४१ 'तन्त्रमूल' अध्यायों के नाम	१८				

१४ रक्त की निरक्ति	८०	२ दोषों के क्षयवृद्धि वर्णन	८८	३६ दोष ही धातु और मलों के क्षय में कारण होते हैं	६८
१६ रक्त का एक एक धातु में अवस्थान काल	८०	३ प्रकृतिस्थ वात के कार्य	८८	४० दोष, धातु और मलों के परिमाण निर्देत न करने के कारण	६८
१७ शरीर में तीन प्रकार से रक्तगति	८०	४ ,, ,, कफ के कार्य	८८	४१ विना स्वास्थ्य के दोष-समता के ज्ञान का अभाव	६८
१८ वाजीकरण औपधियों में शीघ्रशुक्रविक्रमगुण	८१	६ प्रकृतिस्थ धातुओं के कार्य	८६	४२ दोष क्षय वृद्धि लक्षण अनुमान से जाने जाते हैं	६८
१९ बालकों में शुक्र प्रतीत न होने में युक्ति	८२	७ मलों के स्वाभाविक कार्य	८६	४३ स्वस्थ और अस्वस्थ के प्रति वैद्य का कर्तव्य	६८
२० वृद्धापस्था में अक्षरस पोषक नहीं होता	८२	८ उपधातुओं के स्वाभाविक कार्य और धातुओं के परिरेक्षण का उपदेश	८६	४४ स्वस्थ के लक्षण	६८
२१ धातुशब्द की निरक्ति	८३	९ दोषों के क्षयलक्षण और चिकित्सा	९०	सौख्यद्वारा अध्याय	
२२ विद्वत् रक्त के दोषभेद से लक्षण	८३	१० धातुक्षय के लक्षण और संक्षेप से धातुक्षय-चिकित्सा	९०	१ कर्णव्यधबंध विधि	
२३ शुद्ध शुक्रशोणित के लक्षण	८४	११ मूलक्षय के लक्षण और चिकित्सा	९१	अध्याय का उपक्रम	६६
२४ विद्वान्य रोगियों का अति-देश से कथन		१२ उपधातु क्षय के लक्षण और चिकित्सा	९२	२ कर्णव्यध का विधान	६६
२४ अविद्याव्य रोगी	८४	१३-१४ अतिवृद्ध दोषों के लक्षण	९२	३ अन्यदेशविद्व का ज्ञानोपाय	६६
२५ दो प्रकार का रक्तमोक्षण	८४	१५ अतिवृद्ध धातुओं के लक्षण	९२	४ कर्णसिराविध के दोष	६६
२६ पट्टन का विधान	८४	१६ अतिवृद्ध मलों के लक्षण	९३	५ दुर्विद्व कर्ण की व्यापत्ति और चिकित्सा	१००
२७-२८ रक्तसाध में प्रयोग के हेतु	८४	१७ अतिवृद्ध उपधातुओं के लक्षण	९३	६ सम्यग् विद्व में पश्चात्-कर्म	१००
२६ दुष्टरक्त के न निकालने में दोष	८४	१८ अतिवृद्ध दोषधातुमलादि को चिकित्सा	९३	७ कर्णोपद्रव शान्त होने पर वर्धन के उपाय	१००
३० रक्तातियोग और अतियोग-जन्य व्यापत्तियाँ	८४	१९ वृद्ध पूर्वधातु उतरधातु को बढ़ाता है	९३	८ क्षिण कर्ण संधान	१००
३१ रक्तविषाधण का योग्य समय	८५	२० बल (श्रोज) के लक्षण	९३	९-११ कर्णवेध की पन्द्रह व्याकृ-तियाँ	१००-१०१
३२ समयानुगत रक्त के लक्षण	८५	२१ श्रोज के प्राकृत कर्म	९३	१२-१५ कुछ कर्णबन्धों के सन्धान-सूत्र	१०१
३३-३४ रक्तविषाधण का फल	८५	२२ श्रोज के गुण निर्देश	९४	१६ कर्णबन्ध विधि	१०२
३५ अग्रवृत्त रक्त का प्रवर्तन	८५	२४-२५ श्रोज के क्षयहेतु	९५	१७ कर्णबन्ध में परिहार्य	१०२
३६-३६ रक्तातिप्रवृत्ति में रक्तरोध के उपाय	८५-८७	२६-२८ श्रोज की तीन व्यापत्तियाँ	९५	१८ किस प्रकार का कर्ण सन्धेय नहीं होता	१०२
४०-४३ रक्तसाधण को रोकने के चार उपाय	८७	२९ श्रोज:क्षय की चिकित्सा	९५	१९-२२ कर्णव्यध में पश्चात् कर्म	१०२
४४ रक्तसाध में अतिक्रम का निषेध	८७	३२-३४ मेद वृद्धि का निदान और चिकित्सा	९६	२३-२४ त्रण रूढ होने पर कर्ण का पुनर्वर्धन	१०३
४५ शोणितरक्षा का महत्त्व	८८	३५ कार्य के लक्षण	९७	२५ अरूढ त्रण के वर्धन में दोष	१०३
४६ शोणित मोक्षण में पथात्कर्म	८८	३६ ,, चिकित्सा	९७	२६ किस प्रकार का कर्ण बढ़ाना चाहिये	१०३
पन्द्रहवाँ अध्याय		३७ मध्यशरीर के कारण और गुण	९७	२७ कर्णबन्धों का अपरि-	
१ दोष-धातु-मलों के क्षयवृद्धि-निज्ञानीय अध्याय का उपक्रम	८८	३८ स्थूल और कृश व्यक्ति दोषवान् और मध्य-शरीर श्रेष्ठ होते हैं	९७		

२ शस्त्रानुशङ्घों में चार की प्रधानता	५७	१ अग्निर्कर्म विधि अध्याय का उपक्रम	६५	४-६ वातादि दुष्ट रक्त क्रमशः शून्य, जलौका और अलासु से निकालना चाहिये	७
३ चार की निकृति	५७	२ अग्निर्कर्म का महत्त्व	६५	७ जलौका प्रपन्न में शून्य और अलासु का प्रकार	७
३ चार के गुण और कर्म	५७	३ अग्निर्कर्म के, रोगजन	६५	८ जलौका शब्द की निकृति	७
४ चार के दो भेद	५८	४ अग्निर्कर्म के, रोगजन और अपवाद	६५	९ जलौकाओं का संख्या-निर्देश	७
४ प्रतिसारणीय चार के विषय	५८	५ सर्वाग्निर्कर्माज्ञ विधान	६६	१० सविष जलौकाएं	७
४ पानीय चार के विषय	५८	६ अग्निर्कर्म में एकीयमत	६६	११ निर्विष जलौकाएं	७
५ चारचिकित्सा के प्रयोग्य रोगी	५८	७ त्वगादि में अग्निदाह के पृथक् २ लक्षण	६६	१२ निर्विष जलौकाओं के प्रशस्त क्षेत्र	७
५ पानीय चार पाक विधान	५८	८ रोगभेद से शरीराश्रों में अग्निर्कर्म विधान	६६	१३-१४ क्षेत्रभेद से जलौकाओं का सविष निर्विषत्व	७
६-६ प्रतिसारणीय चार निर्माण विधि	५९-६०	९ अग्निर्कर्म विषय	६६	१५ जलौकाओं के पकड़ने का उपाय	७
१० पाक्य संज्ञक तोक्षणचार का निर्माण प्रकार	६०	१० दाहकर्म के बलायादि आकृतिभेद	६७	१६ जलौकाओं का पोषणक्रम	७
११ व्याधि के बलाबल को देखकर चार प्रयोग करना चाहिये	६०	११ रोगस्थान, मर्म, बलादि देखकर अग्नि कर्म निर्धारित करे	६७	१७ त्याज्य जलौका	७
११ मृदु चार में बलाधानार्थ सारोदक का प्रक्षेप	६०	१२ सम्यग्दग्ध चिकित्सा	६७	१८ जलौकाओं का प्रयोग	७
१२ चार के गुण	६१	१३ अग्निदाह के अनधिकारी	६७	१९ रोगाधिष्ठान में उनका प्रहण लक्षण	७
१३ चार के दोष	६१	१४ ज्वरदग्ध के लक्षण	६७	२० जलौका द्वारा शुद्धरक्तपान का विशानोपाय	७
१४ चार प्रतिसारण की विधि	६१	१५ अग्निदग्ध के चार भेद	६७	२१ रक्तृत जलौकाओं में से रक्त निवालेने का विधान	७
१५ चार से सम्यग् दग्ध के लक्षण	६२	१६-१७ दहन के सार्वभौतिक लक्षण और उनकी सम्प्राप्ति	६८	२२ रक्त मोक्षण के अनन्तर कालीन उपाय	७
१५ सम्यग् दग्ध के पश्चात् लक्षण	६२	१८-२० प्लुष्टदग्ध की चिकित्सा	६८	२३ संग्रह श्लोक	७
१६-२१ चारदग्धभेदना श्रम्ल से शान्त होती है, इसमें युक्ति	६२	२१ दुग्ध की चिकित्सा	६८	२४ संग्रह श्लोक	७
२२ चार द्वारा सम्यक्, हीन और अतिदग्ध के लक्षण	६४	२२-२३ सम्यक् दग्ध की चिकित्सा	६९	२५ संग्रह श्लोक	७
२३ चारदग्ध मणकी चिकित्सा	६४	२४-२५ अतिदग्ध की चिकित्सा	६९	२६ संग्रह श्लोक	७
२४ द्विविध चार का प्रतिषेध विषय	६४	२६-२७ सर्वाग्नि दग्धप्रणों के लिये रोपण पृथ	६९	२७ संग्रह श्लोक	७
२५ प्रदेश विशेष में चार का निषेध	६४	२८ ज्वरदग्ध की चिकित्सा	६९	२८ संग्रह श्लोक	७
२६ चार का अवरथा विशेष में निषेध	६४	२९ धूमोपहत लक्षण	६९	२९ संग्रह श्लोक	७
२७ सम्यक् प्रयुक्त चार का महागुण सात्वी होना	६४	३० " " चिकित्सा	६९	३० संग्रह श्लोक	७
		३१ उष्णवात आतप और विषुद् आदि से दग्ध की चिकित्सा	७०		
		तेरहवां अध्याय			
		१ जलौकावचारणीय अध्याय का उपक्रम	७१	४-६ रक्त का वर्णन	७२-७६
		२ जलौका विषय	७१	५-६ रक्त की उत्पत्ति का वर्णन	७७
		३ जलौकाप्रपन्नप्रातः शून्य और		७ रक्त से आर्तव की उत्पत्ति	७८
				८ रक्त और आर्तव का स्वभावतः भेद	७८
				९-१० रक्तवर्णन में मतान्तर	७८
				१० रक्त पथभूतात्मक है	७८
				११ रक्षादि धातुओं की कर्मोत्पत्ति का वर्णन	७८
				१२-१३ रक्त अन्य धातुओं का	७८

१४ रस की निरुक्ति	८०
-१६ रस का एक एक धातु में अवस्थान काल	८०
१७ शरीर में तीन प्रकार से रसगति	८०
१८ वाजीकरण औषधियों में शीघ्रशुक्ररेचकतागुण	८१
१९ बालकों में शुक्र प्रतीत न होने में युक्ति	८२
२० वृद्धावस्था में अजररस पोषक नहीं होता	८२
२१ धातुशब्द की निरुक्ति	८३
२२ विकृत रक्त के दोषभेद से लक्षण	८३
२३ शुद्ध शुक्रशोणित के लक्षण	८४
२४ विज्ञान्य रोगियों का अति-देश से कथन	
२४ अविज्ञान्य रोगी	८४
२५ दो प्रकार का रक्तमोक्षण	८४
२६ पट्टन का विधान	८४
२७-२८ रक्तस्त्राव में प्रयोग के हेतु	८४
२९ दुष्टरक्त के न निकालने में दोष	८४
३० रक्तातियोग और अतियोग-जन्य व्यापत्तियां	८४
३१ रक्तविस्त्रावण का योग्य समय	८५
३२ समययोगसुत रक्त के लक्षण	८५
३३-३४ रक्तविस्त्रावण का फल	८५
३५ अप्रवृत्त रक्त का प्रवर्तन	८५
३६-३९ रक्तातिप्रवृत्ति में रक्तरोध के उपाय	८५-८७
४०-४३ रक्तस्त्रावण को रोकने के चार उपाय	८७
४४ रक्तस्त्राव में अतिक्रम का निषेध	८७
४५ शोणितरक्षा का महत्त्व	८८
४६ शोणित मोक्षण में पश्चात्कर्म	८८
पन्द्रहवां अध्याय	
१ दोष-धातु-मलो के क्षयवृद्धि-विज्ञानीय अध्याय का उपक्रम	८८

२ दोषों के क्षयवृद्धि वर्णन का कारण	८८
३ प्रकृतिस्थ वात के कार्य	८८
४ प्रकृतिस्थ पित्त के कार्य	८८
५ ,, ,, कफ के कार्य	८८
६ प्रकृतिस्थ धातुओं के कार्य	८९
७ मलों के स्वाभाविक कार्य	८९
८ उपधातुओं के स्वाभाविक कार्य और धातुओं के परिरेक्षण का उपदेश	८९
९ दोषों के क्षयलक्षण और चिकित्सा	९०
१० धातुक्षय के लक्षण और संक्षेप से धातुक्षय-चिकित्सा	९०
११ मलक्षय के लक्षण और चिकित्सा	९१
१२ उपधातु क्षय के लक्षण और चिकित्सा	९२
१३-१४ अतिवृद्ध दोषों के लक्षण	९२
१५ अतिवृद्ध धातुओं के लक्षण	९२
१६ अतिवृद्ध मलों के लक्षण	९३
१७ अतिवृद्ध उपधातुओं के लक्षण	९३
१८ अतिवृद्ध दोषधातुमलादि की चिकित्सा	९३
१९ वृद्ध पूर्वधातु उत्तरधातु को बढ़ाता है	९३
२० बल (ओज) के लक्षण	९३
२१ ओज के प्राकृत कर्म	९३
२२-२३ ओज के गुण निर्देश	९४
२४-२५ ओज के क्षयहेतु	९५
२६-२८ ओज की तीन व्यापत्तियां	९५
२९-३२ ओज-क्षय की चिकित्सा	९५
३३-३४ मेद वृद्धि का निदान और चिकित्सा	९६
३५ कार्श्य के लक्षण	९७
३६ ,, चिकित्सा	९७
३७ मध्यशरीर के कारण और गुण	९७
३८ स्थूल और कृश व्यक्ति दोषवान् और मध्य-शरीर श्रेष्ठ होते हैं	९७

३९ दोष ही धातु और मलों के क्षय में कारण होते हैं	९८
४० दोष, धातु और मलों के परिमाण निर्देश न करने के कारण	९८
४१ विना स्वास्थ्य के दोष-समता के ज्ञान का अभाव	९८
४२ दोष क्षय वृद्धि लक्षण अनुमान से जाने जाते हैं	९८
४३ स्वस्थ और अस्वस्थ के प्रति वैध का कर्तव्य	९८
४४ स्वस्थ के लक्षण	९८
सोलहवां अध्याय	
१ कर्णव्यधबंध विधि अध्याय का उपक्रम	९९
२ कर्णव्यध का विधान	९९
३ अन्यदेशविद्ध का ज्ञानोपाय	९९
४ कर्णसिरावेध के दोष	९९
५ दुर्बिद्ध कर्ण की व्यापत्ति और चिकित्सा	१००
६ सम्यग् विद्ध में पश्चात्-कर्म	१००
७ कर्णोपद्रव शान्त होने पर वर्धन के उपाय	१००
८ छिन्न कर्ण संधान	१००
९-११ कर्णवेध की पन्द्रह व्याकृतियां	१००-१०१
१२-१५ कुछ कर्णबन्धों के सन्धान-सूत्र	१०१
१६ कर्णबन्ध विधि	१०२
१७ कर्णबन्ध में परिहार्य	१०२
१८ किस प्रकार का कर्ण सन्धेय नहीं होता	१०२
१९-२२ कर्णव्यध में पश्चात्कर्म	१०२
२३-२४ त्रण रूढ होने पर कर्ण का पुनर्वर्धन	१०३
२५ अरूढ त्रण के वर्धन में दोष	१०३
२६ किस प्रकार का कर्ण बढ़ाना चाहिये	१०३
२७ कर्णबन्धों का अपरि-	

संश्लेष्य होना १०३
 २८-४६ कर्कषण रोग और
 विक्रिया १०३-१०४
 ४७-४९ विष नाशिक की
 संघन विधि १०४
 ४२ विष शोथ संघनविधि १०४
 सप्तहर्षा उपपाय
 १ धामपकैवर्णयि अश्याय
 का उपक्रम १०४
 २ मरुशोथ सामान्य
 लक्षण १०४
 ३-४ शोथ भेद से शोफ के
 विशेष लक्षण १०६
 ४-६ आम, पच्यमान और
 पक शोफ के लक्षण
 १०७-१०८
 १० शोफ की आभादि अच-
 स्याद्यो को जानने
 वाला ही वैद्य है और
 इतर दस्कर होते हैं १०८
 ११-१२ एक दोष से भी आम
 होने वाले शोफ के
 पाक काल में सब
 दोषों का मिश्रण १०६
 ११-१४ आम मण को न काटे
 और पक भी उपेक्षा
 न करे १०६-११०
 ११-१७ शरत्कर्म में पूर्व कर्म ११०
 १२ शोफ की विक्रिया न
 करने में हानि ११०
 १३ पक नश की विक्रिया
 करने में सफलता
 प्राप्त होती है १११
 १० पक शोफ की उपेक्षा में
 दोष १११
 २१-२२ शोफ के विन्तापनादि
 उपक्रम १११
 अठारहर्षा उपपाय
 १ मरुशोथन बन्धन विधि
 अश्याय का उपक्रम १११
 २ मण के उपक्रम, अलेप
 और बन्धन की प्रप-
 न्ना १११
 ३ प्रतिहोम कृत् अलेपन

फल १११
 ४ लेप को सूखने न देना
 चाहिये १११
 ४-६ प्रलेप, प्रदेश और अलेप
 भेद से लेप तीन प्रकार
 का होता है ११२
 ७-१० अलेप की आलापयि
 और फल ११२
 ११ पतले लेप का कारण ११२
 १२-१३ अलेप लगाने के कुछ
 नियम ११२-११३
 १९ मण बन्धन इन्ध ११३
 १७ बौरह बन्धन भर्तृ की
 नाम निर्देश ११३
 १८ पूर्वोक्त बन्धों के विषय ११३
 १९ बन्ध बन्धन के भेद ११७
 २० बंध (पट्टी) बांधने की
 विधि ११७
 २१ अतिशिरःरुद्ध
 बर्तृ कन्ध का
 निषेध ११७
 २२ मणोपतन विशेष से
 तीन प्रकार का बन्ध ११७
 २३ माद, शिपिल और धम
 बन्धनों के लक्षण ११७
 २४ मण के आपतन विशेष
 में बन्ध विशेष की
 योजना ११७
 २५ शोथ भेद से बन्ध-
 भेद ११७
 २६ शोथ काल विशेष से बंध
 में विशेषता ११८
 २७ गाढादिस्थान में अश्याय-
 बन्ध बन्ध के दोष ११८
 २८ यथोचित बन्ध के गुण ११८
 २९ विना बन्ध के मणोपेय ११८
 ३०-३१ बन्ध अत्यन्त गुणवान्
 होता है ११८
 ३२ अकन्ध शोथ ११८
 ३३ कृत्, अग्निहोम आदि शोथों
 में बन्ध निषेध ११८
 ३४-३६ देश और दोषादि की
 परीक्षा कर बन्ध निश्चित
 करना चाहिये ११८

३६-४२ मणबन्ध की विधि १११
 ४३-४४ मणबन्ध के गुण १११
 उन्नीसर्षा उपपाय
 १ मणोपेयान्तीय अश्याय का
 उपक्रम ११३
 २-३ मणिक के योग्य आहार
 का निर्माण ११३
 ४-५ मणोरोगी की शय्या ११०
 ६-७ मणोरोगी के पास मित्रों
 का निवास १११
 ८-९ मणोरोगी को दिन में नहीं
 सोना चाहिये १११
 १०-१२ मणोरोगी को उठने बैठने
 में अचरणा करनी
 चाहिये १११
 १३-१४ मणोरोगी को गन्ध क्रियाओं के
 दूरान आदि का निषेध १११
 १५-१६ मणोरोगी को वर्म
 अहार १११
 १७-१८ मणोरोगी को मद्य नहीं
 पीना चाहिये १११
 १९-२१ मणोरोगी के भ्रिये वर्ण्य
 वातातपादि का
 वर्जन ११२
 २०-२१ मणोरोगी को यह कर्षो
 छोड़ने चाहिये ११२
 २२ मणोरोगी को विशेष आगन्धु
 बाधाओं का परिहार
 करना चाहिये ११२
 २३ राक्षस भूतादि से रक्षणार्थ
 धूप बलि उपहारादि
 देना ११२
 २४ राक्षस भूतादि की
 प्रसफला का फल ११२
 २५ मन की प्रसफला का फल ११३
 २६ श्रुत सार्य वेदमन्त्रों
 द्वारा शोमी की रक्षा
 करनी चाहिये ११३
 २७ मण शोमी की रक्षा के
 लिये धूप ११३
 २८ शिरोधार्य अशुभियों का
 वर्जन ११३
 २९ अजन्तवृजनादि द्वारा
 मण की रक्षा करना ११३

३० राक्षसों को नष्ट करने वाली विधि का फल १२३

३३ ब्रण रोगी के पथ्य आहार १२३

३६ यथोक्त आहार आचार पर नियमित रोगी १२४

वीसवां अध्याय

१ हिताहितीय अध्याय का उपक्रम १२४

२ हिताहितीय विषय में अन्य मत १२४

३ एकान्त हित द्रव्य और एकान्त अहित द्रव्य १२४

४ सर्वप्राणहित रक्षशास्त्रादि आहारवर्ग १२५

५ हितविहार १२५

६ हिताहित १२५

७ संयोग से अहित १२५

८ विरुद्ध द्रव्यों का भी क्वचित्प्रयोग १२५

९ स्वस्थ व्यक्ति में ही एकान्त हिताहित की व्यवस्था होती है १२५

१०-१२ संयोग से अहित द्रव्यों का वर्णन १२६

१३ कर्म विरुद्ध द्रव्यों का वर्णन १२६

१४ मान विरुद्ध द्रव्यों का वर्णन १२७

१५ वीर्य और विपाक से विरुद्ध रसद्वन्द्व १२७

१६ अतियोग युक्त लिग्धादि द्रव्य भी अहित होते हैं १२७

१७-१८ विरुद्ध रस वीर्य वाले द्रव्यों के सेवन से हानि १२७

१९ अहित का सामान्य वर्णन १२७

२० विरुद्धाशनजन्य रोगों की चिकित्सा १२८

२१ कई व्यक्तियों को विरुद्धाशन भी अहित नहीं होता १२९

२२-२९ दिग्भेद से वातगुण कथन १२९

इक्कीसवां अध्याय

१ ब्रणप्रश्न अध्याय का उपक्रम १२९

२-३ वात पित्त कफ ही देह की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय के कारण होते हैं १२९

४ वातादि की निश्चिन्ता १३०

५ प्रकृतिस्थ वातादि दोषों के स्थान १३०

६ प्रत्येक स्थान के पुनः पांच विभाग १३१

७ कफ, पित्त, वात-यह देह के धारक हैं १३१

८ अग्नि और पित्त म परस्पर भेद विचार १३१

९ पथविध पित्त का वर्णन १३२

१० पित्त का चिकित्सोपयोगी स्वलक्षण १३३

११-१३ पंचविध श्लेष्मा का स्थान और कर्म १३३-१३४

१४ श्लेष्मा का चिकित्सोपयोगी स्वलक्षण १३४

१५ रक्त का स्थान कथन १३४

१६ रक्त का स्वलक्षण १३५

१७ दोषों के संचय का लक्षण १३५

१८ वातप्रकोपण द्रव्य १३५

१९ वातप्रकोपण का समय १३६

२० पित्त के प्रकोपण द्रव्य १३६

२१ पित्त प्रकोप का समय १३६

२२ कफ प्रकोपण द्रव्य १३६

२३ कफ के प्रकोपण का समय १३६

२४ रक्तप्रकोपण द्रव्य १३६

२५ रक्तप्रकोपण का काल १३६

२६ दोष प्रकोप के लक्षण १३६

२७ प्रकुपित दोषों के प्रसर के विशेष लक्षण १३७

२८-२९ प्रकुपित दोष जहाँ प्रसर करता है, वहाँ ही रोग उत्पन्न होता है १३७

३० प्रसर से अन्य

स्थान गत दोष का प्रतीकार १३८

३१ दोषों का प्रसार लक्षण १३८

३२ दोषों के स्थान संश्रय का वर्णन १३८

३३ व्याधि प्रकट होने की अवस्था १३९

३४ व्याधियों की भेदावस्था १३९

३५ व्याधियों के संचय प्रकोपादि जानने वाला ही वैश हो सकता है १३९

३६ संचयावस्था में दोष हरण में गुण १४०

३७ संसर्ग में अंशांश बल विकल्प से अनुबन्धा-नुबन्धिभाव १४०

३८ संसर्ग और सधिपात का चिकित्सा सूत्र १४०

३९ ब्रण शब्द की निश्चिन्ता १४१

चारदसवां अध्याय

१ ब्रणा साव विज्ञानीय उप्याय का उपक्रम १४१

२ ब्रण के आठ अधिष्ठान १४१

३ सुचिकित्स्य और बुद्धि-कित्स्य ब्रण १४१

४ ब्रण की आकृतियाँ १४१

५ ब्रणों के शीघ्र भरने और प्रदुष्टि में कारणा १४२

६ दुष्ट ब्रणों के लक्षण १४२

७ सम्पूर्ण ब्रणों के आचार लक्षण १४२

८-१० स्थान भेद से ब्रणात्साय के लक्षण और आसा-ध्यता १४३

११ सम्पूर्ण ब्रण वेदनाओं का वर्णन १४३

१२ ब्रणवर्ण वर्णन १४३

१३ इस प्रकार की ब्रणा-साव-वर्णवेदनाएं अन्यत्रोक्त सम्पूर्ण शोफ विकारों में जानना १४४

तेईसवां अध्याय

१ कृत्वाकृत्यविधि अध्याय का उपक्रम १४४

२ सुखसाध्य ऋण	१४४
३ कष्टसाध्य	१४४
४ सुख रोपणीय ऋण	१४४
५-६ दुःखवित्त्य ऋण १४४-१४५	
७ याप्य ऋण	१४५
८ प्रतिकार न करने से साध्य ऋण याप्य और याप्य असाध्य हो जाते हैं	१४५
९-१० याप्य लक्षण	१४६
११-१३ असाध्य ऋण	१४६
१४-१५ साध्य व्याधि की उपेक्षा करने से असाध्यता	१४६
१६ व्याधि की सुखसाध्यता	१४६
१७ शुद्ध ऋण लक्षण	१४६
१८ भर रहे ऋण के लक्षण	१४६
१९ सम्यग् रूढ ऋण के लक्षण	१४६
२० दोष प्रकीर्णदि से रूढ भी ऋण फट जाता है	१४७
चौबीसवाँ अध्याय	
१ व्याधिसमुद्गीर्ण अध्याय का उपक्रम	१४७
२ राजसाध्यत्व और भेदादि साध्यत्व से रोगों के दो भेद	१४७
३ त्रिविध दुःख	१४८
४ सप्त प्रकार की व्याधियाँ	१४८
५ त्रिविध आध्यात्मिक व्याधियों के लक्षण	१४८
६ आधिभौतिक व्याधियों के लक्षण	१४९
७ आधिदैविक व्याधियों के लक्षण	१४९
८ सब व्याधियों के वात-पित्त कफ ही कारण होते हैं	१४९
९ रमदोषज विकार	१४९
१० रक्तदोषज	१४९
११ मांसदोषज	१४९
१२ भेदोदोषज	१४९
१३ अरियदोषज	१४९
१४ मज्जदोषज	१४९
१५ शकदोषज	१४९

१६ मलदोषज विकार	१४९
१७ इन्द्रियातन विकार	१४९
१८ व्याधियों के अनेकत्व में कारण	१४९
१९-२० व्याधि और दोषों का कार्य-कारण भाग सम्बन्ध	१४९-१५६
२१ अध्यायोपसंहार	१५६
पच्चीसवाँ अध्याय	
१ अष्टविध शस्त्रकर्मोंय अध्याय का उपक्रम	१५६
२-३ ह्येय व्याधियों	१५६
४-७ भेद्य व्याधियाँ	१५७
८ हेतुय व्याधियाँ	१५७
९ वेध्य व्याधियों	१५७
१० एष्य और आहार्य व्याधियाँ	१५७
११-१४ विहाय्य व्याधियाँ	१५७
१५ सीव्य रोग	१५७
१६ सीवन का विषयविरोध में प्रतिषेध	१५७
१७-१८ विशेषणीय रोग	१५७
१९-२४ सीवनकर्म का विस्तार से वर्णन	१५८-१५९
२५-२६ सीवन में पश्चात् कर्म	१५९
२७ सूत्र में सञ्चित अष्ट विध शस्त्रकर्म का निकित्सा में विस्तार सकेत	१५९
२८ अष्टविध शस्त्रकर्म की व्यापत्तियाँ	१५९
२९ व्यापत्तियों में हेतु	१५९
३० अनभिज्ञ वैद्य का त्याग कर देना श्रेय है	१५९
३१ अतियुक्त शस्त्र व्यापद्-वर्णन	१५९
३२-३३ मर्मविद्ध के सामान्य लक्षण	१५९
३४-३७ अमर्मविद्ध सिरादि के लक्षण	१६०
३८ अनुकृतिद्ध मारुसर्म के लक्षण	१६०
३९ मोह से निजगात्रह्येद करने वाले वैद्य का	

त्याग	१६०
४० तिर्यक् शस्त्र प्रयोग की व्यापत्तियाँ	१६०
४१ रोगी को वैद्य पर विश्वास चाहिये	१६०
४२ विश्वस्त रोगी के प्रति वैद्य का कर्तव्य	१६०
४३ हितपूर्वक सम्यक् चिकित्सा करने का फल	१६१
४४ साध्य व्याधि भी अनेक कर्मों से साध्य होती है	१६१
छत्तीसवाँ अध्याय	
१ प्रणष्ट शल्य विज्ञानीय अध्याय का उपक्रम	१६१
२ शल्य की निरुक्ति और शल्य के चिकित्सी-पयोगी भेद	१६१
३ शल्य शस्त्र की निरुक्ति	१६१
४ शरीर और आगन्तु शल्यों के लक्षण	१६१
५ शल्यों में शर की प्रधा-मता	१६१
६ शर के दो भेद	१६१
७ शल्यों के आहरणीय-योगी गतिभेद	१६२
८ शरीर में शल्य किस प्रकार स्थिति करते हैं	१६२
९ शल्य स्थिति के लक्षण	१६२
१०-११ ल्वादिगत शल्यों के लक्षण	१६२-१६३
१२ शल्य के मण रोहण का लक्षण	१६३
१३-१४ ल्वादि में प्रणष्ट शल्यों का विशामोपाय	१६३ १६४
१५-१७ सरशल्य प्रणों के धामान्य लक्षण	१६४
१८-१९ नि-शल्य के लक्षण	१६४
२० ल्वादिगत शल्य की आहरणीययोगी अवस्था	१६४
२१ चार्शु (कॉटा) आदि	

तो रक्त मांस आदि को पका देते हैं १६४	१६४
२३ सुवर्णादि (धातुज) शल्य न निकालने पर समय पाकर रक्तादि में लीन हो जाते हैं १६५	१६५
२४ विषाणादि शल्य शरीर में नहीं गलते १६५	१६५
२५ सम्यक् शल्यज्ञात्ता वैद्य राजा की चिकित्सा कर सकता है १६५	१६५
सर्गाईस्वर्वा अध्याय	
१ शल्यापनयनीय अध्याय का उपक्रम १६५	१६५
२ शल्य के दो भेद १६५	१६५
३ अनवबद्ध शल्योद्धरण में पन्द्रह हेतु १६५	१६५
४ स्वभावादि कारण का विषय १६५	१६५
५ शल्यों का अनुलोम प्रति-लोम भेद से द्विविध आहरणोपाय १६६	१६६
॥ द्विविध आहरण का विषय १६६	१६६
॥ उच्चुरिडत को काट कर निकाले १६६	१६६
॥ हाथ द्वारा आहरण योग्य शल्य को हाथ से ही निकाले १६६	१६६
॥ हस्ताशक्य शल्य में शल्यक्रिया करे १६६	१६६
६ शल्याहरण में उपद्रवों की चिकित्सा १६६	१६६
७ शल्य आहरण के पश्चात्कर्म १६७	१६७
८ शिरादिलम्ब शल्याहरणो-पाय १६७	१६७
९ वक्षःपतित शल्यापहरण में विशेष विधि १६७	१६७
१० अवबद्धशल्य निकालने के उपाय १६७	१६७
११ कुक्षि आदि अच्छेदनीय प्रदेशस्थ उच्चुरिडत शल्य निकालने	

के उपाय १६८	१६८
१२ कर्णवान् शल्यों के आहरण का उपाय १६८	१६८
१३ कण्ठासक्त लान्ता आदि एवं इतर शल्यों के आहरण का उपाय १६८	१६८
१४ तिर्यक् कण्ठासक्त अस्थ्यादि शल्य के आहरण का उपाय १६८	१६८
१५ जलमग्न व्यङ्गि के उद-रान्तःस्थ जल के आहरण का उपाय १६८	१६८
१६ कण्ठासक्त प्रासशल्य के आहरण का उपाय १६९	१६९
१७ बाहु-रज्जुपाश (फांसी) पीडित कण्ठ प्रकुपित वातश्लेष्म को अनु-लोम करने के उपाय १७०	१७०
१८-१९ शल्याकृतियों के अनन्त होने से अनुक्त उपायों की स्वयं कल्पना कर लेनी चाहिये १७०	१७०
२०-२१ अनिर्हृत शल्य के दोष १७०	१७०
अर्थाईस्वर्वा अध्याय	
१ विपरीताविपरीत ब्रण-विज्ञानीय अध्याय का उपक्रम १७१	१७१
२-३ अरिष्ट मृत्यु सूचक होते हैं १७१	१७१
४ रिष्ट में भी मृत्यु रोकने के उपाय १७१	१७१
५ कालान्तर में भी रिष्ट पीडा होती है १७२	१७२
६ अरिष्ट ज्ञान प्राप्त न करने में दोष १७२	१७२
७ ब्रण के अरिष्ट १७२	१७२
८-९ प्राकृत ब्रण गंध कथन १७२	१७२
१०-११ गंध विकृति १७२	१७२
१२-१४ वर्ण विकृति १७२	१७२
१५ शब्द विकृति १७२	१७२
१६ स्पर्श विकृति १७२	१७२
१७-१८ रूप विकृति १७२	१७२
१९ असाध्य ब्रण १७३	१७३
२० अध्यायोपसंहार १७३	१७३

उनतीसवां अध्याय	
१ विपरीताविपरीत स्वप्न-निदर्शनीय अध्याय का उपक्रम १७३	१७३
२-३ निर्देश्य दूत कथन १७३	१७३
४-५ अशस्त दूत १७३	१७३
६-७ अशस्त दूत वेपादि १७३	१७३
८ अशस्त दूत संभाषण १७३	१७३
९-१३ ,, दूत चेष्टित १७३	१७३
१४-१६ दूतागमन काल में वैद्य की अशस्त चेष्टा आदि १७४	१७४
१७-२२ दूत और वैद्य के समागम का प्रशस्ताप्रशस्त काल १७४	१७४
२३-२५ प्रशस्त दूत दर्शन १७४	१७४
२६-४० शुभाशुभ शकुन कथन १७५	१७५
४१ शुभाशुभ वायु लक्षण १७५	१७५
४२-४४ वैद्य की यात्रा में रोग-विशेषानुसार शुभा-शुभ शब्द १७६	१७६
४५-४८ वैद्य की यात्रा में अप्रशस्त चेष्टा; आतुर गृह में भी वैद्य विधि का अतिदेश १७६	१७६
४९-५३ यात्रोन्मुख एवं आतुर-गृहगत वैद्य के विपरीत निमित्त १७६	१७६
५४ स्वप्नों द्वारा शुभाशुभ ज्ञान १७७	१७७
५५-६६ अशस्त स्वप्न १७७	१७७
६७ विफल स्वप्न १७८	१७८
६८-७० रोग विशेष में विशिष्ट स्वप्न देखना रिष्ट होता है १७८	१७८
७१-७४ अशुभ स्वप्नों का परिहार १७८	१७८
७५-८१ प्रशस्त स्वप्न १७८	१७८
तीसवां अध्याय	
१ पथेन्द्रियार्थ विप्रतिपत्ति अध्याय का उपक्रम १७९	१७९
२ शरीर और शील की प्रकृति का चिह्न	

होना ही अरिष्ट होता है	१७६
३-४ आतुरप्राण विरुद्ध शब्द-विप्रतिपत्ति	१७६
६-७ " " स्पर्श-विप्रतिपत्ति	१७६
८ आतुरप्राण विरुद्ध रूप-विप्रतिपत्ति	१८०
९ " विरुद्ध रस-विप्रतिपत्ति	१८०
" " विरुद्ध गन्ध-विप्रतिपत्ति	१८०
१०-११ रसप्रहण विप्रतिपत्ति	१८०
१२ गन्धप्रहण विप्रतिपत्ति	१८०
१३ स्पर्शप्रहण विप्रतिपत्ति	१८०
१४-२२ रूपप्रहण विप्रतिपत्ति	१८०-१८१
इक्षतीसर्वा अध्याय	
१ ह्यायविप्रतिपत्ति अध्याय का उपक्रम	१८१
२ रिष्टभूत ह्याय	१८१
३ शीलविकृति जन्य अरिष्ट	१८१
४-८ औष्ण्यदि अवयव विकृति जन्य अरिष्ट	१८१
९-१६ काय, अवयव और कियार्यों की रिष्टभूत विकृतियों	१८२
१७-२८ शरीरदेराविशेषाधित रिष्ट भूत व्याधियों	१८३
२९ मृत्यु के कारण	१८४
३०-३१ गतायु प्राणियों की चिकित्सा विफल होने में कारण	१८४
यक्षीसर्वा अध्याय	
१ स्वभाव विप्रतिपत्ति अध्याय का उपक्रम	१८४
२ शरीरवयवों का अन्याय होना भरण सूक्ष्म होता है	१८४
३-४ शरीरवयवों के अन्याय	

६-७ सम्पूर्ण रोगों के अनुष्ठान रिष्टों का उपसहार	१८६
८ अरिष्ट ज्ञान का फल	१८६
तेतीसर्वा अध्याय	
१-२ अवारणाय अध्याय का उपक्रम	१८६
३ स्वभाव से ही दुष्कि-रत्य महागद	१८७
४-५ रोगों की असाध्यता में हेतु-भूत उपद्रव	१८७
६ असाध्य वातव्याधि के उपद्रव	१८७
७ " प्रमेह के उपद्रव	१८७
८ " कुष्ठ के उपद्रव	१८७
९ " ज्वर के उपद्रव	१८७
१० " भगन्दर के उपद्रव	१८७
११ " अरमरी के उपद्रव	१८७
१२ " मूत्रगर्भ के उपद्रव	१८८
१३ " उदर के उपद्रव	१८८
१४-१७ " ज्वर के उपद्रव	१८८
१८ " भ्रतिसार के उपद्रव	१८८
१९ " यक्ष्मा के उपद्रव	१८८
२० " शुक्म के उपद्रव	१८८
२१ " विद्रधि के उपद्रव	१८८
२२ " पाण्डुरोग के उपद्रव	१८८
२३ " रक्तपित के उपद्रव	१८८
२४ " उन्माद के उपद्रव	१८८

चौतीसर्वा अध्याय	
१ सुकृतेनीय अध्याय का उपक्रम	१८९
२-३ विवादि से राजा की रक्षा करनी चाहिये	१८९
४ विवप्रयोग के भेद	१८९
५ प्रमाणाँ द्वारा अकाल-मृत्युसिद्धि	१८९
६ वैद्य और पुरोहित का कर्मव्य है कि दोषज और आगन्तुज मृत्यु-ओं से राजा की रक्षा करें	१९०
७ वैद्य से पुरोहित की प्रधानता	१९०
८ वर्षीसंकरादि भय से राजा की रक्षा करनी चाहिये	१९०
९-१० वैद्य देवसमान राजा की उपासना करे	१९०
११-१३ प्रतिद्वन्द्व उपयोग होने से वैद्य का निवास राजा-निवास के समीप ही उचित स्थान में होना चाहिये	१९०
१४-१५ चिकित्सा के चार पाद उनमें वैद्य की प्रधानता	१९१
१६-१७ पादन्य के ठीक न होने पर भी गुणवान् वैद्य चिकित्सा में सफल होता है	१९१
१८-१९ वैद्य के गुण	१९१
२० रोगी के गुण	१९१
२१-२२ भयत्र के गुण	१९१
२३ परिचारक के गुण	१९१
दीतीसर्वा अध्याय	
१ आतुरोपक्रमणीय अध्याय का उपक्रम	१९२
२ रोगी को देखने पर वैद्य को प्रथम रोगी की आयु परीक्षा ही	

४-५ दीर्घायु के लक्षण १६२	३७ दोषचयादि में भी वय ज्ञान आवश्यक है २०१	१२-१३ वर्ति द्रव्य २०५
६-७ मध्यमायु के लक्षण १६३	१८ क्रिया विशेष में भी वय ज्ञान का फल होता है २०१	१४-१५ कल्क द्रव्य २०५
८-१० अल्पायु के लक्षण १६३	३६ स्थूल, कृश और मध्य भेद से देह के भेद २०१	१६ शोधन घृत २०५
११-१३ आयु ज्ञान के लिये अज्ञ प्रत्यज्ञ प्रमाणो- पदेश १६३-१६४	४० स्थूलादि की कर्षण चिकित्सा करनी चाहिये २०१	१७-१८ शोधन तैल २०५
१४ स्त्री की श्रेणि और पुरुष के वक्षःस्थलादि की यौवन में ही यथोक्त प्रमाणात्ता होती है १६५	४१ बल विचार २०१	१९ शोधन चूर्ण २०५
१५-१६ उक्त प्रमाण ज्ञान का प्रयोजन १६५	४२ बल और उपचय के लक्षणों में व्यभि- चार २०१	२० शोधन की रसक्रिया २०५
१७ सार द्वारा आयु निर्देश १६६	४३ सत्व परीक्षा २०२	२१ ब्रणधूपन २०५
१८ अज्ञ प्रत्यज्ञ मान और सार ज्ञान का फल १६६	४४-४६ साम्य परीक्षा २०२	२२-२३ रोपण कषाय २०५
१९-२१ व्याधि के साध्यादि भेद निरूपण १६६	४७ प्रकृति और औषधि का अतिदेश से वर्णन २०२	२३ रोपण वर्तियाँ २०५
२२ अनुक्त रोग में लक्षणों द्वारा रोग का उप- चार करना चाहिये १६७	४८ देश परीक्षा, आनूपदेश २०२	२४ रोपण कल्क द्रव्य २०५
२३-२४ आत्ययिक व्याधि में ऋतुचिकित्सा विधि १६८	४९ जाङ्गल तथा साधारण देश २०२	२५ रोपण घृत २०६
२५ कौन क्रिया सिद्ध नहीं होती १६८	५१-५२ देश परिज्ञान का फल २०२	२६ रोपण तैल २०६
२६ क्रिया और अक्रिया का लक्षण १६८	५३-५४ साध्यासाध्य व्याधियों के लक्षण २०३	२७-२८ रोपण चूर्ण २०६
२७ अग्नि परीक्षा और पाचक अग्नि के चार भेद	५५ क्रियासंकर निषेध २०३	२९ रोपणी रसक्रिया २०६
२८ अग्नियों के लक्षण १६९	५६ कुच्छ्र व्याधियों में एक क्रिया से फल न होने पर भी कुछ काल तक वही क्रिया करनी चाहिये २०४	३० रोपण उत्पादन २०६
२९ विषम आदि अग्नि वातादि दोषों के प्रकोपक हैं १६९	५७ काल और देश के अनुसार चिकित्सा करने वाले वैद्य की प्रशंसा २०४	३१-३२ अवसादन द्रव्य सम्पूर्ण न मिलें तो उनके स्थान में कल्पान्तर २०६
३० समादि अग्नियों की चिकित्सा १६९	छत्तीसवां अध्याय	
३१ सूक्ष्म होने से रस ग्रहण करने वाले अग्नि की विवेचना नहीं हो सकती १६९	१ मिश्रक अध्याय का उपक्रम २०४	सैंतीसवां अध्याय
३२ वायु गठराग्नि का सहायक है १६९	२-६ वातादि दोषों के प्रतिकूल विम्लापन योग २०४	१ भूमिप्रविभाग विज्ञानीय अध्याय का उपक्रम २०६
३३-३५ वय की परीक्षा १६९-२००	७ दोषभेद से लेप के संस्कार विशेष २०४	२-३ औषध लेने योग्य भूमि २०६
३६ भेषजमात्रा प्रयोग ही वय ज्ञान का फल है २०१	८ शोथपाचन द्रव्य २०४	४ पंचमहाभूतगुण विशिष्ट भूमि के विशेष गुण कथन २०७
	९ ,, दारण द्रव्य २०४	५ किन ऋतुओं में औषध ग्रहण करनी चाहिये २०७
	१० ब्रणपीडन द्रव्य २०४	६ शोधन द्रव्य कैसी भूमि के प्राप्य हैं २०७
	११ ब्रणसंशोधन द्रव्य २०५	७ नूतन औषध ही गुणवाले होते हैं २०७
		८-९ विडम्बादि पुरातन ही प्राप्य हैं २०७
		१० किन लोगों से औषध ज्ञान प्राप्त करना चाहिये २०८
		११ ऋतुविशेष में मूलादि ग्रहण के नियम का अपवाद २०८
		१२-१४ कार्यविशेष में द्रव्यगुण की विशेषता २०८

सुधृतसंहितायाः

<p>१५ कैमा श्रीदय इव्य आद्य २०८</p> <p>१६ जइम श्येपिरीं का अदय कान २०८</p> <p>१७ अयजागार कैमः होना आदिमे २०८</p> <p>अठतीसवां अध्याय</p> <p>१ इव्यमप्रहृणीय अण्पाय का उपकम २०६</p> <p>२ इव्यगण सख्या २०६</p> <p>३-४ विदारीगन्धादि गण २०६</p> <p>५-६ आरग्वधादि गण २०६</p> <p>७-८ बह्यादि गण २०६</p> <p>९-१० वीरगर्वादि गण २१०</p> <p>११-१२ सातसाणदि गण २१०</p> <p>१३-१४ रोभादि गण २१०</p> <p>१५-१६ अर्द्धेदिगण २१०</p> <p>१७-१८ गुरसादि गण २११</p> <p>१९-२० शुष्कधादि गण २११</p> <p>२१-२२ विण्णरुधादि गण २११</p> <p>२३-२४ दत्तादि गण २११</p> <p>२५-२७ बषादि हरिहादि गण २१२</p> <p>२८-२९ इकाभादि गण २१२</p> <p>३०-३१ मृद्व्यादि गण २१२</p> <p>३२-३३ पत्तेत्तादि गण २१२</p> <p>३४-३५ काकोरवादि गण २१२</p> <p>३६-३७ ऊपकादि गण २१२</p> <p>३८-३९ गरीकादि गण २१२</p> <p>४०-४१ अन्नधादि गण २१२</p> <p>४२-४३ वस्त्रधादि गण २१३</p> <p>४४-४६ विद्वान्मन्त्रादि गण २१३</p> <p>४७-४८ शक्येधादि गण २१३</p> <p>४९-५० पुत्ररुधादि गण २१४</p> <p>५१-५२ उगण दि गण २१४</p> <p>५३-५४ गुण दे गण २१४</p> <p>५५-५६ हरीणवदे दे गण (विहारा) २१४</p> <p>५७-५८ शिवादे दे गण (विहारा) २१४</p> <p>५९-६० काकमवर्धादि गण २१४</p> <p>६१-६२ काक दे गण २१४, २१५</p> <p>६३-६४ काक दे गण २१५</p> <p>६५-६६ काक दे गण २१५</p>	<p>६८-६९ बृहत्पञ्चमूल गण २१५</p> <p>७०-७१ दशमूल गण २१५</p> <p>७२ विदार्थादि गण २१५</p> <p>७३-७४ करमधादि गण २१५</p> <p>७५-७६ कुसादि नृणपञ्चमूलगण २१५</p> <p>७७ पय पञ्चके के गुण २१६</p> <p>७८ त्रिवृदादि गण का अति- देश २१६</p> <p>७९ संक्षेप से प्रोक्त इन गुणों का चिकित्सा में विस्तारसंकेत २१६</p> <p>८० इन गणों का उपयोग २१६</p> <p>८१ समहीत इव्यों की धूमादि उपद्रवों से रक्षा २१६</p> <p>८२ इन गणों की योजना का प्रकार २१६</p> <p>उनतासीसवां अध्याय</p> <p>१ संशोधन संशमनीय अण्पाय का उपकम २१६</p> <p>२ ऊर्ध्वभागहर इव्य २१६</p> <p>३ अधोभागहर इव्य २१६</p> <p>४ उभयभागहर इव्य २१७</p> <p>५ शिरोविचन इव्य २१७</p> <p>६ वातशंशमन वर्ग २१७</p> <p>७ पित्तशंशमन वर्ग २१८</p> <p>८ कफशंशमन वर्ग २१८</p> <p>९ शंशोपक एवं शंशमन इव्यों का मात्रा- निश्चयन २१८</p> <p>१० दुर्बल रोगी को तीव्र शंशमन नहीं देना बदिये २१८</p> <p>११-१२ अति दुर्बल रोगी भी आरुण्यदुग्ध शंशमन देना चाहिये २१८</p> <p>१३ अण्पायक अण्पाय, अण्पाय को गुराध में अण्पाय मात्रा २१८</p> <p>पचासीसवां अध्याय</p> <p>१ इव्य, रण, गुण, बर्ग विहारा का अध्याय ४-१२५५ २१९</p> <p>२ इव्य को प्रवर्धन का सुधृ-</p>	<p>३ रसप्रधानता में एकीयमत २१९</p> <p>४ बीर्यप्रधानता में एकीयमत २२१</p> <p>५-८ रसाधित बीर्य कर्म २२२</p> <p>९ अन्ध मन से विपाक की प्रधानता २२२</p> <p>१०-१४ विपाकविशेषचन २२२</p> <p>१५ इव्यादि समुदाय प्राधान्य सपुण्यो में युक्त समत- स्थापन २२३</p> <p>१६ समस्त इव्यादि का क्रियाकारित्व २२३</p> <p>१७-२० रसादि इव्य कार्य होते हैं अत इव्य प्रधान है २२४</p> <p>२१-२२ आगमोक्त गुण छिद्र कोषधियों पर स्वतर्क करने का निषेध २२४</p> <p>२३ प्रायश्चित्तदायी होने से आगम की सर्व- भेदता २२४</p> <p>एकतासीसवां अध्याय</p> <p>१ इव्य विशेष विज्ञानीय अण्पाय का उपकम २२५</p> <p>२ इव्य पाचभौतिक होते हैं २२५</p> <p>३ पार्थिव इव्य के सपुण्य एवं गुण २२५</p> <p>४ आग्नेय इव्य के सपुण्य एवं गुण २२५</p> <p>५ आमेय इव्य के सपुण्य एवं गुण २२५</p> <p>६ वायव्य इव्य के सपुण्य एवं गुण २२५</p> <p>७ आधारीय इव्य के सपुण्य एवं गुण २२५</p> <p>८ गव इव्य का पच भूत है २२५</p> <p>९-११ शिवेनीकादि इव्य महा- भूतों के तात्पर्य में ११६५५ बर्ग है २२६-२२७</p> <p>१२-१३ पार्थिवदि इव्यों में का रोग रोगी को प्रवर्धन प्रदायक २२७</p> <p>१४-१६ रोगी को रोगी में पार्थिवदि विशेषचन २२७-२२८</p>
--	--	---

२० शरीर की स्थिति वृद्धि और क्षय द्रव्यमूलक होते हैं २२८	२३ कषायरस के गुण कर्म और अति सेवन में दोष २३१	१६ वैरेचनिक श्वेतोद २३७
वयालीसवां अध्याय	२४ संक्षेप से मधुर वर्ग २३१	१७ अन्य श्वेतोद २३७
१ रस-विशेषविज्ञानीय अध्याय का उपक्रम २२८	२५ " अम्ल वर्ग २३२	१८ पित्तघ्न श्वेतोद २६७
२ रस सम्भव हेतु २२८	२६ " लवण वर्ग २३२	१९ श्लेष्मघ्न " २३७
३ रस भेद २२८	२७ " कटु वर्ग २३२	२०-२१ अन्य श्वेतोद २३७
४ भूम्यादि महाभूत गुण विशेष से रस विशेष २२६	२८ " तिक्त वर्ग २३२	२२ चूर्णावलोक २३७
५ मधुरादि छः रस वातादि दोषों को शान्त करते हैं २२६	२९ " कषाय वर्ग २३२	२३ वैरेचनिक मोदक २३७
६ दोषों की उत्पत्ति का कारण २२६	३० त्रेसठ रस संयोग २३३	२४-२५ " लेह और गुटिका प्रयोग २३७
७ सौम्य, आम्रेय भेद से रस के दो भेद २२६	३१ विशिष्ट विषय में रसाभ्यास दोष नहीं होता २३३	२६-२७ वैरेचनिक चूर्ण २३७
८ कषाय रस वातल होता है २२६	तेतालीसवां अध्याय	२८-३० वैरेचनिक आसद २३८
९ कटु रस पित्तल होता है २२६	१ वमन द्रव्य विकल्प विज्ञानीय अध्याय का उपक्रम २३३	३१-३४ वैरेचनिक पिटीकृत सुरा २३८
१० मधुर रस श्लेष्मल होता है २२६	२-६ वमनीय मदन फल कल्प २३३-२३४	३५-३६ वैरेचनिक सौवीर २३८
११ कटुरस श्लेष्मघ्न होता है २२६	७ " जीमूत फल कल्प २३४-२३५	४०-४४ " " तुषोदक २३८
१२ छः रसों के लक्षण २३०	७ " कुटज कल्प २३५	४५ सब विरेचन द्रव्यों में त्रिवृत्तमूल विधि का अतिदेश २३६
१२ मधुर लक्षण २३०	७ " कृतवेधन कल्प २३५	४६ दन्ती-द्रवन्ती का विशेष कल्प २३६
१३ अम्ल लक्षण २३०	७ " इक्ष्वाकु कल्प २३५	४७-४८ दन्ती द्रवन्ती के सेहयोग २३६
१४ लवण लक्षण २३०	८ धामार्गव कल्प २३५	४९-५१ दन्त्यादि चूर्ण २३६
१५ कटु लक्षण २३०	९ वमन के लिये आप्राणयोग २३५	५२-५३ दन्त्यादि मोदक २३६
१६ तिक्त लक्षण २३०	१०-११ वमनौषधों का योजना-प्रकार २३५	५४-५६ व्योषादि विरेचन २३६
१७ कषाय लक्षण २३०	चौवालीसवां अध्याय	६०-६१ तिलक कल्प २४०
१८ मधुर रस के गुण, कर्म और अति सेवन में दोष २३०	१ विरेचन द्रव्य विकल्प विज्ञानीय अध्याय का उपक्रम २३५	६२-६३ हरीतकी कल्प २४०
१९ अम्ल रस के गुण कर्म और अति सेवन में दोष २३०	२-४ विरेचन में प्रधान द्रव्य २३५	६४-६६ हरीतकी योग २४०
२० लवणरस के गुण कर्म और अति सेवन में दोष २३१	५ वातज रोग में त्रिवृत्कल्प २३६	७० आमलक के गुण २४०
२१ कटुरस के गुण, कर्म और अति सेवन में दोष २३१	६ पित्तज रोग में त्रिवृत्कल्प २३६	७१ विभीतक के गुण २४०
२२ तिक्त रस के गुण कर्म और अति सेवन में दोष २३१	६ कफज रोग में " २३६	७१ त्रिफला के गुण और कल्प २४०
	७-८ वातश्लेष्म रोग में " २३६	७२ वैरेचनिक फलों में हरीतकी विधान का अतिदेश २४०
	९-११ सर्वविषयक गुलिकादि योग २३६	७३-७५ चतुरङ्गुलकल्प २४०
	१२-१३ मोदक भक्ष्यरूप त्रिवृत्कल्प २३६	७६-७७ एरसख तैल कल्प २४१
	१४ यूप रूप त्रिवृत्कल्प २३६	७८-८५ स्तुहीक्षीर कल्प २४१
	१५ पुटपाक रूप त्रिवृत्कल्प २३७	८६-८७ उपसंहार २४१
		८८-८९ वैरेचनिक त्रिवृत्तादि-मोदक २४१
		९० अनुक्त अन्न-पानादि में प्रयोग कल्प २४२
		९१ क्षीर रस आदि छः औषध कल्प और

उनकी उत्तरोत्तर लघुता २४२	२४ भौमजल का अपेक्षाकृत प्रदण काल ० २४७	६२ नारी दुग्ध के पाक का निषेध २४१
पैतालीसवां अध्याय	२५ भौमजल सूर्यरश्मियों के प्रभाव से ध्रान्तरिच्छ सम गुण रखता है २४७	६३ धारीष्ण और बहुत कड़े हुए दुग्ध के गुण २४१
१ इन्द्रबन्धिधि अध्याय का उपक्रम २४२	२६ आकाश जल के गुण २४७	६४ वर्जनीय दुग्ध २४२
पानीयवर्गी-	२७ चन्द्रक्रान्तमण्डि से उत्पन्न जल के गुण २४७	दधिवर्ग-
२ ध्रान्तरिच्छ जल के गुण २४२	२८ शीतजल का विषय २४७	६५ दधि के सामान्य गुण २४२
३ पृथ्वी पर पड़े हुए जल में स्थान भेद से विशिष्ट रसोत्पत्ति २४२	२९-३० पार्श्वशलादि में शीतजल का निषेध २४८	६६ मधुर, अम्ल और अत्यम्ल तथा मन्दजात दधि के गुण २४२
४ लोहितादि भूमि भेद से पानीय रसोत्पत्ति में एकीयमत २४३	३१-३६ नदी तटागादि भेद से भौमजल के गुण-विशेष २४८	६७ गन्ध दधि के गुण २४२
५ पानीय में अग्न्यानु-प्रविष्ट पार्श्विकादि गुण विशेष से रस विशेष की उत्पत्ति २४३	३७-३८ अग्न्यादि देशजन्य जल के गुण २४८	६८ अजा दधि के गुण २४३
६ ध्रान्तरिच्छ उदक के चार भेद और उनके गुण २४३	३९ उष्णोदक के गुण २४८	६९ माहिष दधि के गुण २४३
७ श्रुतभेद से ध्रान्तरिच्छादि उदक की सेवन विधि २४४	४० उष्णोदक विधि २४८	७० उष्णी दधि के गुण २४३
८-९ नवीन उदक के दोष २४४	४१ बासी उष्णोदक त्याज्य है २४८	७१ भेरी के दधि के गुण २४३
१० व्यापन्न जल के लक्षण २४५	४२-४३ श्रुतशीत जल के गुण २४८	७२ घोड़ी के दधि के गुण २४३
११ स्पर्शादि मात्रा दीर्घ २४५	४४ नारिकेलफलोदक के गुण २४८	७३ नारी दधि के गुण २४३
१२ व्यापन्न जल को शुद्ध करने के उपाय २४५	४५-४६ जल की अल्पदेयता क्षीरवर्गी- ४७ दुग्ध के गन्ध्यादि आठ भेद २४९	७४ हस्तिनी दधि के गुण २४३
१३ किस प्राय में जल पीना चाहिये २४५	४८-४९ सब दुग्धों के सामान्य गुण कर्म २४९	७५ सब दधियों में छूने हुए दधि के गुण २४३
१४-१६ विहत जल का वर्जित २४५-२४६	५० गन्ध दुग्ध के गुण २५०	७६ कथित दुग्धजन्य दधि के गुण २४३
१७ क्लृप्त जल को शुद्ध करने के सात इन्द्र २४६	५१-५२ अजा दुग्ध के गुण २५०	७७ दधिसर के गुण २४३
१८ जल के पांच निक्षेपण २४६	५३ उष्णी दुग्ध के गुण २५१	७८ उद्धृत सार दधि के गुण २४३
१९ जल के सात शीतीकरण उपाय २४६	५४ भेक के दुग्ध के गुण २५१	८० श्रुतभेद से दधि का महण और त्याग २४३
२० कौन सा भौम जल गुण-वान् होता है २४६	५५ माहिष दुग्ध के गुण २५१	८१-८२ दधि मत्स्य के गुण २४३
२१ दिग्भेद से नदीजल के गुण तथा नदियों की शुद्धलघुता से चारण २४६	५६ ऐकराफ (घोड़ी आदि) दुग्ध के गुण २५१	८३ दधि वर्ग का उपसंहार २४३
२२-२३ गति एवं देशभेद से नदियों में गुणविशेष २४७	५७ नारी दुग्ध के गुण २५१	तद्वर्गी-
	५८ हस्तिनी दुग्ध के गुण २५१	८४ सामान्य तक के गुण २४४
	५९ श्रामातिक दुग्ध के गुण २५१	८५ तक और पौल के लक्षण २४४
	६० चरराह कालीन दुग्ध के गुण २५१	८६ तक का निषेध २४४
	६१ आस और पत्र दुग्ध के गुण २५१	८७ तक गोवध शोणी २४४
		८८ तक में रस विशेषता से गुण विशेष २४४
		८९ संयोग विशेष से निरोध-नाशकता २४४
		९० तक क्षीरिका और मण्ड के गुण २४४
		९१ किलोट, पीपूष और मोरट के गुण २४४

६२ नवनीत के गुण २५४	१२८ फलतैलों के फल समान गुण होते हैं २५८	१६७ यवासशर्करा के गुण २६१
६३ दुग्ध से निकाले हुए नवनीत के गुण २५४	१२९ स्थावर जेहों में तिल तैल के गुण २५८	१६८ श्वशिश्ट शर्कराओं के गुण २६१
६४ सन्तानिका (मलाई) के गुण २५५	१३० तिल तैल की श्रेष्ठता २५८	१६९ मधूकपुष्पजनित फाणित के गुण २६२
६५ पूर्वोक्त तन्कादि गुण गव्य-तन्क के जानने २५५	१३१ वसा, मेद और मज्जा के गुण २५८	मद्यवर्ग-
घृतवर्ग-	मधुवर्ग-	१७०-१७१ मद्यों के सामान्य गुण कर्म २६२
६६ सामान्य घृत के गुण २५५	१३२ मधु के सामान्य गुण २५८	१७२-१७३ द्राक्षा के मद्य के गुण २६२
६७ गव्य घृत के गुण २५५	१३३ मधु के भेद २५९	१७४ खर्जूरमद्य के गुण २६२
६८ बकरी के घृत के गुण २५५	१३४-१३९ पैत्तिकादि मधुजातियों में प्रत्येक के गुण २५९	१७५ सामान्य सुरा के गुण २६२
६९ भैंस के घृत के गुण २५५	१४० नवीन और पुराण मधु के गुण २५९	१७६ प्रसन्ना के गुण २६२
१०० ऊँटनी के घृत के गुण २५५	१४१ पक्ष और अपक्ष मधु के गुण २५९	१७७ श्वेतसुरा के गुण २६२
१०१ भेड़ी के घृत के गुण २५५	१४२ मधु योगवाही है २६०	१७८ यवसुरा के लक्षण २६२
१०२ घोड़ी आदि के घृत के गुण २५५	१४३-१४५ मधु उष्णविरोधी है २६०	१७९ कुधान्य सुरा के गुण २६२
१०३ नारी घृत के गुण २५५	१४६ वमनार्थ मधु का उष्ण से विरोध नहीं है २६०	१८० आत्तिकी सुरा के गुण २६२
१०४ हस्तिनी घृत के गुण २५५	१४७ मधु उष्णविरोधी है २६०	१८१ कोहल और जगल के गुण २६२
१०५ दुग्ध से निकाले हुए घृत के गुण २५५	१४८ वमनार्थ मधु का उष्ण से विरोध नहीं है २६०	१८२ चक्रस के गुण २६२
१०६ घृतमण्ड के गुण २५५	१४९ अजीर्ण मधु कष्टप्रद है २६०	१८३ शुद्धशीघ्र के गुण २६३
१०७-१११ पुराण घृत के गुण २५५	इच्छुवर्ग-	१८४ शर्कराशीघ्र के गुण २६३
तैलवर्ग-	१४८ इच्छु के सामान्य गुण २६०	१८५ पकरसशीघ्र के गुण २६३
११२ सामान्यतया तैल के गुण और कर्म २५६	१४९ इच्छुओं की वारह जातियां २६०	१८६ अपकरसशीघ्र के गुण २६३
११४ प्रत्येक तैल के गुण और कर्म २५६	१५१-१५५ इच्छु विशेषों के गुण २६०	१८७ आत्तिकशीघ्र के गुण २६३
११५ निम्बादि फलों के तैल के गुण २५७	१५६ इच्छु के अवयव विशेष में गुण विशेष २६१	१८८ जाम्बवशीघ्र के गुण २६३
११६ अलसी तैल के गुण २५७	१५७ दांत से चूसे हुए इच्छु-रस के गुण २६१	१८९ सुरासव के गुण २६३
११७ सरसों के तैल के गुण २५७	१५८ यन्त्रपीडित इच्छुरस के गुण २६१	१९० मधुरसासव के गुण २६३
११८ इन्द्रदी तैल के गुण २५७	१५९ अग्नि पकरस के गुण २६१	१९१ मधूकपुष्प शीघ्र के गुण २६३
११९ कुसुम्भ तैल के गुण २५७	१६० फाणित के गुण २६१	१९२ नव मद्य के दोष २६३
१२० चिरायतादि तैल के गुण २५७	१६१ गुड़ के गुण २६१	१९३ जीर्ण मद्य के गुण २६३
१२१ मधुकादि तैल के गुण २५७	१६२ पुराने गुड़ के गुण २६१	१९४-१९५ श्वशिश्ट के गुण २६३
१२२ तुवरक और भल्लातक-तैल के गुण २५७	१६३ गुड़ के संस्कार विशेष से नामान्तर और गुण २६१	१९६ पिप्पल्यारिष्ट के गुण २६३
१२३ चीड़ आदि सार जेह के गुण २५७	१६४ गुडादि के संस्कार समय में अपसार्यमाण मल के गुण २६१	१९७ शेष श्वशिश्टों के गुण २६३-२६४
१२४ तुम्बी आदि के तैल के गुण २५७	१६५ शर्करा के गुण २६१	१९८-२०२ दोष युक्त मद्य २६४
१२५ यवानिका तैल के गुण २५७	१६६ मधुशर्करा के गुण २६१	२०३ मद्य के गुण २६४
१२६ कैषिका तैल के गुण २५७		२०४-२०५ किस प्रकार का मद्य नशा करता है २६४
१२७ आम्र तैल के गुण २५७		२०६ शारीर दोष भेद से मद के भेद २६४
		२०७-२०८ मानस दोष से मद भेद २६४
		२१०-२११ शुक्र के गुण तथा शुक्र-

साधित कदादि के गुण २६५	१७ उपाङ्ग कर अन्वय बाँध हुए शालिधन्वों के गुण २६७	५२ धान्यवर्ग का उपसंहार २७१
२१२ योनि भेद से शुक्र के गुण २६५	१८ त्रिषु हृद धान्यों के गुण २६७	मांसवर्ग-
२१३ सुषुम्बु और सोवीरक के गुण २६५	१९ शालिवर्ग का उपसंहार २६८	५३ मांसवर्ग २७२
२१४-२१६ धान्याम्ल के गुण भूयवर्ग-	कुधान्यवर्ग-	५४ अह्वाणवर्ग २७३
२१७-२१९ सामान्य मूत्र के गुण २६५	२० २२ कोरदश्यादि कुधान्य और दूतक गुण २६८	५५ एण के गुण २७३
२२०-२२१ गोमूत्र के गुण २६५	२३ कोद्रवादि धान्यों के गुण २६८	५६ हरिण गुण २७३
२२२ माहिष मूत्र के गुण २६५	२४ त्रिषु के गुण २६८	५७ हरिण भेद २७३
२२३ छाग मूत्र के गुण २६५	२५ मधुलिङ्ग, नान्दासुर, करक और मुद्गन्द-कादि धान्यों के गुण २६८	५८ मृगमातृका के गुण २७३
२२४ भेषामूत्र के गुण २६६	२६ वेणुयव के गुण २६८	५९-६० विष्टिर वर्ग का वर्णन और उसके गुण २७३
२२५ अरब मूत्र के गुण २६६	२७-२८ शमी धान्य और उनके सामान्य गुण २६८	६१ लावक के गुण २७३
२२६ गजमूत्र के गुण २६६	२९ मुद्ग के गुण २६८	६२-६३ कृष्ण और मोरतिष्ठिर के गुण २७३
२२७ गर्दमी मूत्र के गुण २६६	३० मसूर, मकुष्ठ और कताय के गुण २६८	६४ ककर और तपचक्रक के गुण २७३
२२८ बहू मूत्र के गुण २६६	३१-३२ आङ्गी और चणक के गुण २६८	६५ मसूर के गुण २७३
२२९ मत्तुभ्य मूत्र के गुण २६६	३३ हरेणु और सतीन के गुण २६८	६६ कुक्कुट के गुण २७३
२२९ पूर्वीक सब द्रव्य देश-कालाभिन्न वैष को प्रयुक्त करने कादि २६७	३४ माय के गुण २६८	६७ अत्रुदवर्ग २७४
द्वयाशीसवो अध्याय	३५ राजमाय के गुण २६९	६८ अत्रुदवर्ग के सामान्य गुण २७४
१ अणुपात विधि अध्याय का उपक्रम २६७	३६ आरममुषा, काकारण और अरघ्यमाय के गुण २६९	६९ मेदाशी और वायुकीत के गुण २७४
२ प्राणियों के आहार के विषय में सुभ्रुत का प्रश्न २६६	३७ कुल्थ के गुण २६९	७० पाराशत के गुण २७४
शालिवर्ग-	३८ वनकुल्य के गुण २६९	७१ गृहकुलिङ्ग के गुण २७४
३-४ विविध धान्यों का नाम-निर्देश तथा गुण २६७	३९ तिल के गुण २६९	७२ गृहाशय प्राणियों २७४
५-६ तौदितराशलि के गुण तथा अन्व शालि धान्यों की वमरा अल्पगुणता २६७	४० तिल के उत्तम, मध्यम और अधमादि भेद २६९	७३ गृहाशय प्राणियों के सामान्य गुण २७४
७-८ षष्टि धान्य क भेद और गुण २६७	४१-४२ सब के गुण २७०	७४-७५ प्रसह प्राणी और उनके सामान्य गुण २७४
९-१० गौरपट्टि तथा शेष षष्टि धान्यों के गुण २६७	४३ ऋतिगव और गोधूम के गुण २७०	७६ पर्युस्य २७४
११ ग्रीहिधान्य के भेद २६७	४४-४५ सामान्यतया शिम्बी के गुण २७०	७७ पर्युस्यों के सामान्य गुण २७४
१०-१२ ग्रीहिधान्य के सामान्य गुण २६७	४६ मुद्गपर्यादि शिम्बी के गुण २७१	७८ विलेशय प्राणी २७४
१४ कृष्ण ग्रीहि के गुण २६७	४७ मुद्गादि की हरी फलियों के गुण २७१	७९ विलेशय प्राणियों के सामान्य गुण २७४
१५-१६ मूत्रि भेद म शां-धान्यों के गुण विशेष २६७	४८-४९ कुसुम्भा, अलस और सरसों के गुण २७१	८० शराक के गुण २७४
	५० र्मान्य धान्य २७१	८१ गोधा के गुण २७४
	५१ नवीन और विरुद्ध धान्यों के गुण २७१	८२-८४ शल्यक, अजगर और सर्प के गुण २७४
		८५ शल्यक, अजगर और सर्प के गुण २७४
		८६ शल्य प्राणियों के सामान्य गुण २७४
		८७ क्षुण्ड गुण २७४
		८८ गोप और भेद पुत्र के गुण २७४

पुष्पकासीस	२७६	प्रतितूनी	३२७, ३२८	प्रमेह, कफज, नाम और साध्यता	३४८
पुष्पवर्ग	२६०	प्रतिपत्ति	६४	,, कफगुण और कफज प्रमेहों का संबंध	३४८
पुष्पित (अरिष्ट)	१८०	प्रतिमर्श	१६५	,, पित्तज, नाम और साध्यता	३४६
पुस्त	५२, ११४	प्रतिलोम (आलेप)	१११	,, वातज नाम और असाध्यता	३४६, ३५३
पूगीफल	२८४	,, (शल्य)	१६६	,, दोषानुसार संप्राप्ति	३४६
पूतिविष	१५२	प्रतिवाप	६०	,, कफज के लक्षण	३४६
,, के जीवाणु और लक्षण	२७८	प्रतिसारण (अग्निकर्म)	६६	,, पित्तज के लक्षण	३५०
पूय, संगठन	१०६	प्रतिसारणीयचार	५८	,, वातज के लक्षण	३५१
,, संप्राप्ति	१०६	,, बनाने की विधि ५६, ६०		,, दोषानुसार उपद्रव	१८७, ३५२
,, जीवाणुरहित	१०६	,, के मृदु, मध्य, तीक्ष्ण भेद		,, असाध्यता	१८७, ३४६, ३५४
पूयजनक जीवाणु	१०६	,,	५६	,, साध्यता	२०३, ३४८
पूयभवन	१०६	,, रासायनिक विवरण	६२, ६३	,, अशुभ स्वप्न	१७८
पूयवर्धन द्रव्यवर्ग	१२१	,, योग्य रोग	५८	प्रमेहपिडका	१८७, ३५२
पूर्वकर्म (शस्त्रक्रिया का)	२१	,, अयोग्य रोगी	६४	,, संख्या	३५२, ३५३
पूर्वरूप	१३६, १६७	प्रतुद, निरुक्ति	२७२	,, स्थान	३५३
पृथिवी की गति	२७, २८	,, वर्ग	२७४	,, हेतु	३५३
,, की आकर्षणशक्ति	३६४	प्रतौली बंध	११३, ११४	,, लक्षण	३५३
पेया	२६५	प्रत्यक्ष प्रमाण	६	,, स्थानानुसार असाध्यता	३५३
पेशी	३२३	प्रत्यष्टीला	३२८	,, उपद्रव	३५३
,, उदरच्छदा आदिमा	३८४	प्रत्याम्मान	३२८	प्रमेही व्याख्या	३५४
,, उरःकर्णमूलिका	३२६	प्रधमन	४४, १६५	प्रवाहण	४३, १६६, १६७
,, गुदसंकोचनी	३२६, १८७	प्रधान कर्म (शस्त्रकर्म)	२१	प्रशमन	१०६, १११
,, दण्डक	३२४	प्रनष्टशल्यविज्ञानीय अध्याय	१६१-१५६	प्रसन्ना (सुराभेद)	२६२
,, फलकोपकर्षिणी	३८८	प्रपद	१६३	प्रसरावस्था	१३७
पेशीगत शल्यलक्षण	१६२	प्रभा, अर्थ और प्रकार	१८१	,, पन्द्रह भेद	१३७
पोथकी	४५	,, और छाया में भेद	१८१	,, लक्षण	१३८
पौरुष, अर्थ	३३६	प्रभापणीय अध्याय	१६-२१	प्रसव, काल	३६५
पौष्कलावतन्त्र	२१	प्रभाव	२१६	,, काल के कारणों का विचार	३६३, ३६४
प्यान	२८७	,, व्याख्या	२२४	,, कालपूर्व	३६५
प्रकाश, सूर्यप्रकाश देखो		,, विवरण और उदाहरण	२२५	,, कालातीत	३६५
प्रकृति (मनुष्यों की) त्रिविध	१३०	प्रमाण (प्रत्यक्षादि)	६	प्रसवकालमर्यादा, तुलनात्मक कोष्ठक	३६५
,, सप्तविध	१७६	प्रमाद दग्ध, प्रकार और लक्षण	६७	प्रसव योग्या, पुस्त का उपयोग	५२
,, के अनुसार अनुपात	३०१	,, चिकित्सा	६८, ६६	प्रसह धर्म	२७४
,, के अनुसार आयुमीन	१६२	प्रमार्जन	४४, १६५	,, निरुक्ति	२७२
प्रकृति (द्रव्यों की)	१२४	प्रमेह, निरुक्ति	३४८	प्रसृप्ति	३६१
प्रकोपावस्था, लक्षण	१३६	,, के भेद करने का कारण	३४८	प्राकृत रोग	३५, १५२
,, और संचयावस्था में भेद	१३७	,, के भेद होने का कारण	३५४	प्राणवायु (दोष), स्थान और कार्य	३१६
प्रक्षालन	४४, १६५	,, हेतु	३४७		
प्रच्छदान	४८, ७१	,, और क्षियाँ	३४७		
,, विधि	८४	,, संप्राप्ति	३४७		
प्रतप्तमांस	२६६	,, पूर्वरूप	३४७		
प्रतिदूर	३६१, ३६२	,, सामान्य लक्षण	३४८		
प्रतिच्छाया	१८१	,, त्रिदोष	२४८		

प्राङ्प्रान्त और वर्षों का संबंध	२६	बदन	२६२	बहुमुख मेह	३४६
प्रायश्चित्त	१६, ३३	बहुल	२८२	बदेका	२१४, २४०, २८४
प्रियक	२७५	" फूल	२६०	" की सीधु	२६३
प्रियवादिगण	२१३	बडिश	१३, ४८, ५०	बाण, शन्यतन्त्र में महत्व	१६१
प्रियाल फल	२८१	बडिशमुनी	४१	बादाय	२८१
" मन्त्र	-	बध्मरा रात्र	२ -	बाधिर्य	३२७
प्रोगेन	७६, १३२, २६-	ब	३८८	बान्दा	२१०, २८८
" शरीर में कार्य	३१२	बदप्ररोदर	३५८	वाल (केठ), उपयोग	४३, ५१
" मांस और दाल के प्रोटीन में फर्क	२७२	संपाति और हेतु	३५८	" काग्ने के लिये नियम	१४
शुबर्वा	२७६	" शरीर में उत्पत्ति	३३१	" जनक लेप	४३
श्रीहा, कार्य	३५७	बंध, सख्या और नाम	११३	वाल (शिशु) अन्न सेवन संबंधी कुछ नियम	२००
" इहोत्पत्ति से संबंध	७७	" के स्थान	११३	" के लिये माता के दूध का महत्व	६०
श्रीहोदर, हेतु और लक्षण	३५७	" विविध बंध बाधने की पद्धतियाँ	११३, ११४, ११५	" के लिये मासक का महत्व	२४४
श्रीहविद्रधि	३६६	" बाधने की साधारण पद्धतियाँ	११७	" के लिये अभिचार का निषेध	२०१
प्लुट (दग्ध)	६७, ६८	बंधन कर्म	४४	" के लिये देख माल करने वाला मनुष्य	६६
" चिकित्सा	६८	" योग्या	५२, ११४	" के लिये श्रोत्रधि मात्रा का प्रमाण	२०१
फ		" के लिये योग्य विकार	११३	बालवय, व्याख्या, तीन अवस्था और उनका प्रमाण	२००
फलवर्ग-	२८०	" के लिये अयोग्य विकार	११८	बालचिकित्सा	५
फल, सेवन के लिये अयोग्य	२८४, २८५	" कर्म का फल	१११, ११८	बिडलवण	२८३
" साधारण गुण	२८१, २८२, २८३	" न करने का फल	११८	बिहालिका	४११
" में श्रेष्ठ फल	२६४	" श्रद्ध, दोष और स्थान के अनुसार	११७, ११८	बिम्बी	२८३
फली	२८८	बल, व्याख्या (ओष भी देखो)	६३	बिलेशय, अर्थ	२७२
फायित	२६१	बल की निविधता	२०१	" वर्ग	२७५
" मरूक पुनोत्थ	२६३	" शान्ति का उपाय	२०१	बिल्व	२८२, २८४
फायट	२४२	" का चिकित्सा में महत्व	२०१	बिवाह	३४४, ३६३
फालसा	२८२	बलास	४११	बील (मृगधर्म)	३६१-३६२
फीघ, चिकित्सा के लिये लेने का नियम	७, ५७	बलि	१२२	बुक	३६६
फिरंग, प्राचीन ग्रंथों का वर्णन	३८६	बसन्त रोग, मसूरिका देखो		बुद्धतीक्ष्ण, अर्थ	२०६
" बीबाण	३८६	बलि (मृदाशय) वर्णन	३३६	बुद्धती शाक	२८६
" की अवस्थाएँ और उनके लक्षण	३८६, ३८७	" के द्वार	३३७	बुद्ध्यादिगण	२१२
" कुल	३८७	" में मूत्र तर्पण	३३७	बुद्ध्याद्रव्य, व्याख्या	२२७
" और उपदश का अन्तर	३४७	बस्त्रिशिर	३३६	" सगठन	२२७
पुष्पकुसुमगत रक्त परिभ्रमण	८१	बस्त्रिगुहा	३३७	" और विरेचन के सगठन का तरतम विचार	२२७
" में रक्त शुद्धि	८१	बस्त्रिमर्म	३३७	बुद्धि बरित	६७
केनेमेह	३५०	बस्त्रिविद्रधि	३६६	बैर, प्रकार	२१७
ध		बा न्न	३६	" गुण	३८०
बकरी, दूध	२५०	उत्तर	३६	" मन्त्रागुण	२८४
" दही	२५३	बाजान्न	५३		
" घी	२५५	बहुरापन	३२७		
" मूत्र	२६५	बहि परिमार्जन	१४७		
" मांस	२७५				

मत्स्य के तेल के गुण	२५८, २७८, २८३, ३१२, ३१३	मधुमेह में यव	२७०	मल, क्षयानुसार अभिलषित द्रव्य	६६
मत्स्यपिडका (शर्करा) गुण	२६१	” में भागुन	२८२	” वृद्धि लक्षण	६३
मदनफल, वामक द्रव्यों में श्रेष्ठ	२३३	” में सूखे भेजे	२८३	” गन्ध विकार	१५५
” वामक मात्रा	२३४	” में सागसब्जी	२६१	मलपरा कला	१६८
” विविध योग	२३४	” में ब्रणों की असाध्यता	१४५	मलाई	२५५
मद्य वर्ग	२६२	” मूच्छों में गंधपरीक्षा	५६	मयक	३६७
” गुण	२६२	मधुमेह, अर्थ	१५४	मसूर	२६६
” के रस	२६२	मधुरस, लक्षण	२३०	मसूरदलगुर्वा	४१
” विविध के दृष्टक गुण	२६२, २६३	” गुण	२३०	मसूरिका, निरुक्ति	३६४
” नवीन के गुण	२६३	” द्रव्यवर्ग	२३१	” पर्याय नाम	३६४
” पुराने के गुण	२६३	” में श्रेष्ठ द्रव्य	२६४	” इतिहास	३६४
” दोषयुक्त	३६४	” संगठन	२२६	” प्राचीन प्रयोग कथन	३६५
” की प्रशस्तता	२६४	” अधिक सेवन करने का फल	२३०	” जीवाणु	३६५, ३३
” मद उत्पन्न करने का तरीका	२६४	मधूक, पुष्प और फल	२८३	” निदान	३६५
” मद की तीन अवस्थाएँ	२६४	” तेल	२५७	” वय और श्रद्धा	३६५
” प्रकृत्यनुसार मद उत्पन्न होने		” आसन	३६३	” प्रसार के मार्ग	३६५, ३२
का काल	२६४	” फाणित	२६२	” संप्राप्ति	३६५
” प्रकृत्यनुसार मद की विशेषताएँ	२६४	मधूलिका	२६२	” प्रकार	३६५
” का प्रकृति निर्देशकत्व	२६४	मध्ववय, विभाग और मर्यादा	२००	” चार अवस्थाएँ	३६५
” शरीर के लिये निषेध	१२२	मध्वासव	२६३	” रक्तक्षारी	३६६
मधु, गुण	२५८	मन, के दोष	८, १५१, ११६	” शैल्य	३६६
संगठन	२५८	” का कार्य	६४	” उपद्रव	३६६
” उपयोग	२५६	” इन्द्रियार्थे प्रदृष्ट मे	१७६	” साध्यासाध्यता	३६६
” परीक्षा	२५६	” स्वप्न और निद्रा मे	१७७	” और लघुमसूरिका में	
” प्रकार और लक्षण	२५६	मनुष्यजीव	१४८	अन्तर	३६६
” नव पुराणादि के गुण	२५६	मन्य, ध्याख्या	२६८	मस्तिक, कार्य	८०, १३३, ३२५
” का योगाहित्व	२६०	” विविधद्रव्ययुक्त के गुण	२६८	” केन्द्र	३२५, ३६४, ३७५
” उष्ण से विरोध	१२६, २६०	मन्यन	२२	” ” क्षसन का	६६
” धमन और निरुह के लिये		मन्दगुण	३०६	” ” बोलने का	३२५
उष्ण प्रयोग	२३३, २६०	मन्यास्तम्भ	३२६	” ” गति का	३२५
” पुराणत्व	२०८, २६०	मसूर (मोर)	२७३	” ” उष्णतानियामक	७०
” शृङ्ग के लिये नवीन का प्रयोग	२०८	मरक, अर्थ (मनपदोद्भवत मो देवो)	३२	” में रक्तदाव	१८३, ३२५
” गन्धभ्रामागीर्षो की असाध्यता	२६०	” हेटु	१२	” में रक्त की कमी	८४
मधुशर्करा	२६१	” परिहार	३३	” में रक्त कमी की चिकित्सा	८६
मधुसूक्त	२६५	मरिच (काली)	२८६	मस्तिक विद्रधि	३६६, ३७०
मधुमस्तक	२६६	मर्म, अर्थ	२२, ६४, ११४	महाघृष्ट	३४२
मधुमेह	३४६	” -विद्र के सापान्य लक्षण	१५६, २६३	महापद	७२
” शब्द की शार्पकता	३५१	” विरान्यप्र	१७०	महाधमनी	७६
” संप्राप्ति	३५१, ३५२	” गत शान्ति लक्षण	१६३	महाभूत	२२८, ३१८
” में भूय	३५१	मल, नाम और धन्या	८८	” के गुण	२२८, ३१८
” असाध्यता	३५४	” के कार्य	८६	” इनमे द्रव्यों की उत्पत्ति	२२८
” में मधु	२५६	” क्षय लक्षण और चिकित्सा	६१	” अधिकतानुसार पार्थिवार्थ	
				भेद	२३५, २२६

महाभूत वमन विरेचनादि द्रव्यों में	मांस, आहार के अनुसार पक्षियों	मूडगर्भ असाध्य लक्षण
इनका प्रमाण २२७	की गुरुलघुता २७६	१८८, २६३,
इनकी उपस्थिति के अनुसार	वर्गानुसार गुरुलघुता २७६	३६५
रस का षड्विधत्व २२६	गुरुलघुता का सामान्य विचार २७६	अवस्थानुसार चिकित्सा का
द्रव्यगत भूत निर्देश का	में श्रेष्ठ मांस २६४	तत्त्व ३६६
तत्त्व २२८, २३३	विरोधी पदार्थ १२६	उदरविपाटन से निकालने
महामारी ३२	और दाल में पचन का अन्तर २७२	की पद्धति ३६७
महाश्वेता २११	के आहार का अनुपात ३०१	की शलक्रिया में भोजन
महाशौचिर ४०६	सेवन और कैन्सर का संबंध ३८०	का निषेध २४, ११०
माता रोग, मसूरिका देखी	मांसरस २६६	मूत्र, शरीर में उत्पत्ति ३१४, ३३७
माता से बालक में होने वाले	का शोरवा २६६	शरीर में कार्य ८६
विकार १५०, ३८८	मांसज रोग १५४	क्षय लक्षण ६१
बाल के प्रति अव्यभिचारी	मांसविद्ध लक्षण १६०	क्षय में उपयोगी द्रव्य ६१
प्रेम ३७५	मांसगत शल्य लक्षण १६२	वृद्धि लक्षण और चिकित्सा ६३
के दूध का बालक के लिये	की परीक्षा १६३	अश्मरी में ३३८
महत्त्व ६०	निकालने की रीति १६५	प्रमेहों में ३४८, ३४९, ३५०
मातुलुंग २८०	मांसजातीय द्रव्य, प्रोटीन देखी	में शर्करा के कारण ३५१
मात्रा (समयविभाग) ६१	मांसतान रोग ४०६	की अधिकता के कारण ३४६
मात्रा (श्रोषधिप्रमाण) २०१	मांससंघात रोग ४१२	परीक्षा ५६
मात्स्यन्याय १६०, २७७	मांसारुद ३७६, ३८०	परीक्षा के लिये चीटियों का
मानविरुद्ध १२७	मिन्मनत्व ३२७	उपयोग
मानसविकार, व्याख्या ६	मिश्रक अध्याय २०४-२०६	मूत्रदोष, स्थान ३३८
नाम ८	मुख, शल्यतन्त्र में उपयोग ४३, १६५	मूत्रसंप्राहक, अर्थ २८२
कारण ६, १५१	मुखदूषिका ३६७	वर्ग २८२
पचन पर परिणाम ३०६, ३०७	मुखपाक ४१२	मूत्रल ६४, २६०, २६१
स्तन्य पर परिणाम ३७५	मुख रोग निदान अध्याय ४०४-४१२	मूत्ररोग, प्रकार ३३८
मूत्र पर परिणाम ३५०, १५२	मुसुंडी ३७	मूत्रकृच्छ्र ३३८
चिकित्सा १२	मुद्गर ४३	मूत्रावात ३३८, १८६
में उन्मादादि का समावेश	मुद्रिका ४६	और मूत्रकृच्छ्र में अन्तर ३३८
का कारण ६	मुरगा, कुक्कुट देखी	मूत्रावरोध ३३८
मार्गविशोधन ४४	मुरलमत्स्य २७७	मूत्रसोप ३३८
माप (रोग) ३६७	मुष्कादिगण २११	मूत्रजठर ३५५
माप (धान्य) २६६	मुस्तादिगण २१४	मूत्रज (वृषण) वृद्धि ६३, १५७, ३५६
मांसवर्ग २७२	मुँहासा ३६७	संप्राप्ति ३८३
के विभाग २७२	मूकत्व ३२७	लक्षण ३८३
तुलनात्मक कोष्ठक २७२	मूंग २६६	दीपपरीक्षा ३८३
मांस, गुण २६६	मूडगर्भ निदान अध्याय ३६०-३६७	गल निकालने की विधि ३६, ४७
संस्कृत के गुण २६६	मूडगर्भ, व्याख्या ३६०, ३६१	मूत्रवृद्धि यन्त्र ३६
सेवन के लिये अयोग्य २७८	हेतु ३६०	मूत्रमार्गविशोधनी ४१, ४२
सेवन के लिये योग्य २७८	कीलादि चतुर्विध प्रकार ३६१	मूत्रविषमयावस्था १८३
से होने वाले रोग २७८	गति की असंख्येयता ३६२	मूत्रवर्ग (श्रोषधि) २६५
श्रंग और धातु के अनुसार	त्रिविध गति ३६२	श्रष्टविध के गुण २६५
गुरुलघुता २७६	अष्टविध प्रकार ३६२	श्रोषधि प्रयोग के लिये मूत्र
		ग्रहण विचार २०८, २६६

मूली	२८६
यूप	२६७
पत्र पुष्पादि की शुद्धनयना	२८७
मृगवर्ग, नंधान देखी	
मृगमातृका	२७३
मृत्यु, सख्या	१८६
काल और अकाल	१८६
कर्मज	१८४
के सामान्य कारण	१८६
और अरिष्ट का संवध	१७१
मृदुगुण	३०६
मेद (घट्ट), स्थान	६२, २४८
चय लक्षण	६०
वृद्धि लक्षण	६२
मेदोवृद्धि (स्थान्य), संप्राप्ति, लक्षण, चिकित्सा	६६, २०१
गन्ध उदर	३४४
के लिये अनुपान	३०१
मेदोग विकार	१४४
मेदोवृद्ध	३७६, ३८०
मेदोगल (नेत्र का)	१३३
मेदोवृद्धि (वृषण की)	४६, ३८३
की संप्राप्ति	३८६
मेदनातीय पदार्थ	७६, १३२, २४८
(जेह भी देखी)	
मेदनातीय पदार्थ का कार्य	३१२
के लिये पाचकद्रव्य	३१३
का संगठन	१३२, २४८
आन्त्र से शोषण मार्ग	७६
मेद पुच्छ	७७४
मेघ	६२, २७४
मेढा	२७४
मैथुन, व्याख्या	१२४
बयानुसार निषेध	४
मणी के लिये निषेध	१२१
गन्ध व्याधि	३८६
गन्ध व्याधि के नाम और वर्णन	३८६-३८८
मेरेय	१२३, २६३
मोचरस	२१३
मोठ	२६६
मोतियाबिंद, आदिबलप्रति	१४०
की शलाका	४८

मोतिया शीतला	३६६
मोरट	२४४
य	
यकृत, रक्त की उत्पत्ति से संबंध	७७
रक्तलाव और पाएडुरोग में सेवन	७७, १११
यकृतान्युदर	३४७
और श्रीहोदर का संबंध	३४७
यकृत विद्रधि	३६६
में जीवाणु रहित पूष	१०६
यंग का श्रेयधि मात्रा का निमज	२०१
यन्त्र, व्याख्या	३६
के उद्देश्य	३६
के प्रकार	३६
की संख्या	३४
के लिये धातु	३६
की बनावट	३६, ३७
के कार्य	४४
के दोष	४४, ४४
में कष्टमुख का प्राधान्य	४४
में हस्त का प्राधान्य	३४, ३६
यन्त्रविधि अध्याय	३४-४४
यन्त्रणविधि	२२
यमकबंध	११३, ११४
यव	२७०
के विविध योग और उपयोग	२७०
से मान्ट बनाने की विधि	२७०
यवचर	२६३, २६४
यवप्रख्या	३६१
यवसुखी सूची	४६
यवागू	२६४
यवासशर्करा	३६१
यष्टिकर्ष	१००, १०१
याप्य व्याधि	४६, १४४
युक्ति (प्रमाण)	६
युक्ति (योजना)	२२६
युक्तसेनीय अध्याय	१८६-१६२
युग	२६
यूप	१७८
यूप	२६७
कृत और अकृत	२६७
अन्य विविध प्रकार	२६७, २६८
योगवाही	३६०, ३१२

योग्या, अर्थ	४२
छेदनादि योग्या की वस्तुएँ	४२
योग्यामृत्तीय अध्याय	४२-४३
योगिन्येच्छण दन्त्र	४०
योगिनिसं (शक्ति) वरण	१८८, ३६३
योगनगिहका	३६७
र	
रक्ता वृष्ट	३४३
रक्त, व्याख्या	७७, ३१६
उत्पत्तिस्थान	७७, ३३४
बनावट	७७
कार्य	८३, ८६
विशुद्ध स्वरूप	८४, १३४
की दोष मानने का कारण	८, १३०
प्रकोप के कारण	१३६
के रोग	८४, १३४
दोषानुसार दूषित के लक्षण	८२
की चारीयता	८४, २८१, ३६१
चय के लक्षण	६०, ८६
चय की चिकित्सा	८६, ८७
वृद्धि के लक्षण	६२
वर्धन द्रव्य	८७
और पित्त का संबंध	३१४
दूषित न निकालने का परिणाम	८४
शरीर का आधार और मूल	८८
रक्तकण	७७, ८३, १०८
रक्तजनक द्रव्य बनावट और कार्य	७७, ८३, ८४, ३१२
रक्तसर	७७, ८०
रक्तपरिभ्रमण	७६, ८१, ३१४, ३२०
के दो विभाग	८१
रक्तलम्पन (लम्पना), खानाबिब तरीका	८३
कृत्रिम स्थानिक उपाय	८४, ८६, ८७, ४३
आभ्यन्तरीय उपाय	८६
रक्तविहावण, दो पद्धतियाँ	८४
विहावण भी देखी	
रक्तविहावण, में अल्पलाव के कारण (और परिणाम)	८४
में दायाधिक्य के हेतु और परिणाम	८४
के लिये योग्य अवस्था	८४

रक्तविज्ञावण योग्य विधि का परिणाम ८५	रक्त क्षय लक्षण ६१	रसशेषाजीर्ण ३०७, ३०८
,, में अल्पज्ञाव की चिकित्सा ८५	,, क्षय चिकित्सा ६२	रसक्रिया (व्रण की) २०५
,, में ज्ञावाधिक्य की चिकित्सा ८५	,, वृद्धि लक्षण ६३	रसांजन २१३
,, के लिये अयोग्य रोग और रोगी ८४	रजोगुण ६, १३७, १५१	रसायन, व्याख्या १७१, २४०
,, के शत्रु ४८	रज्जु ४२, ४३	रसायनतन्त्र ५
,, में रक्त निकालने का परिमाण ८७	,, सर्पदंश में प्रयोग ४२, ११३	रसाला २६८
रक्तज्ञाव, शरीर पर परिणाम ८४	रंजकपित्त ७७, १३३	रसोन २८७
,, जलौकाजन्य के कारण ७४	रस (आहाररस) निरुक्ति ७६, ८०	,, व्युत्पत्ति २८७
,, जलौकजन्य की चिकित्सा ७५	,, व्याख्या ७५, ७६	,, संगठन २८७
रक्तदर्शन से मूर्च्छा २३	,, का हृदय में पहुँचने का मार्ग ७६	,, उपयोग २८७
रक्तवाहिनियाँ, तीन प्रकार ८१	,, का स्थान ७६	राक्षस १२२
रक्तगुल्म, सुखसाध्यता ५६, २०३	,, की गति ७६, ७७	राग २६८
रक्तचन्दन, कषाय और लेप में प्रयोग २०४	,, का रक्त बनने का स्थान ७७	रागपाडव २६७
रक्तपाक १०८	,, से धातुपोषणक्रम ७८, ७९	रांमा धातु २६४
रक्तपित्त में अनुपान ३०१	,, की धातुओं में प्रवेश करने की रीति ८०, ८१	राज्यक्षमा, जीवाणु १०६, ३७८
,, में अरिष्ट १८२, १८३	,, पोष्य और पोषक भेद ७९	,, शरीर में प्रवेशमार्ग ३७८
,, में अशुभ स्वप्न १७८	,, से अन्य धातुओं के उत्पत्ति काल ८०	,, सहायक कारण ३७८
,, में असाध्य लक्षण १८८	,, का कार्य ७६, ८९	,, के स्थान ३७८
,, में क्षार प्रयोग ५७	,, क्षीणता के लक्षण ६०	,, के लिये हितकर हवा १२६
रक्तप्रदर, लक्षण ३२०	,, वृद्धि के लक्षण ६१	,, में आदिवलप्रवृत्ति १४६
रक्तमद ७४	,, का स्थौल्य और कार्य से संबंध ६६, ६७	,, में बकरी का दूध २५१
रक्तमज्जा ७७, ७८, २५८	,, संवहन, रक्त परिभ्रमण देखो	,, में धूपन का प्रयोग ४०
रक्तमेह ३५१	रसजन्य रोग १५४	,, में मक्खन २५४
रक्तज (वृषण) वृद्धि ३८२	रस (द्रव्यगुण) व्याख्या २१६	,, में नारियल की गरी का दूध २८२
रक्षाशुद्ध ३७६, ३८०	,, कार्य करने की पद्धति २१६	,, में काडलिवर तेल २८३
रक्षाकर्म, व्रणी का २५, १२३	,, और अनुरस २१६	,, में पुरीष का महत्त्व ८६
रज (आर्तव) ७८	,, की उपलब्धि २१६, २२०	,, मांसादि धातुओं की अनुत्पत्ति १४५
,, प्रथम दर्शन काल ७८	,, प्राधान्य का विवरण २२१	,, के अशुभ स्वप्न १७८
,, बनावट ७८	,, का षड्विधत्व २१६, २२६	,, की असाध्यता १८८
,, की अवधि ७८	,, पृथक् २ गुण कर्म २३०, २३१	,, में भगन्दर की असाध्यता ३४०
,, की अप्रवृत्ति के स्वाभाविक कारण ७८	,, के त्रेषठ संयोग २३३	,, जन्य व्रणों की असाध्यता
,, और शुक्र का सादृश्य और अन्तर ७८	,, के अनुसार द्रव्य निर्देश करने का तत्त्व २३३, ३४२	,, प्रथिक ३७८
,, के कार्य ८६	,, का दोषहरत्व १८२, २२२, २२६	राणा से वैध व्यवसाय के लिये अगुणा १६, ५३
,, की उत्पत्ति और स्तनादि वृद्धि का संबंध ८२	रसविप्रपत्ति १८०	,, की रक्षा करने के स्थान १८६
,, और गर्भात्पत्ति का संबंध ७८, ८६	रसविशेष विज्ञानीय अध्याय २२८-२३३	,, का नाश होने से सब का नाश १६०
,, साव और धीवीज का संबंध ८१	रसकृत रोग (गर्भिणी के) १५०	,, की रक्षा करने के उपाय १६०
	रसविरुद्ध १२७	,, की देवता मानने के कारण १६०
	रसपरीक्षा (रोगविज्ञान में) ५४, ५५, ५६	राजादन २८१
	रससेवनसंबंधी नियम ३०६	

राजमास	२६६	लघु मसुरिका	३६६	लोह उत्तमादि की कालमर्यादा	२१५
रागिका	३६१	,, मसुरिका से अन्तर	३६६	लोहादिगण	२१०
रिष्ट, अरिष्ट देखो		लता कस्तुरिका	२८४		४
रुच्यगुण	३०६	लवणारस, संगठन	२२६	वचादिगण	२११
रुच्या, रुक्षा, रुग्ण	३६४	,, लक्ष्ण	२३०	वनस्पति, व्याख्या	१०
रू	२७६	,, गुण	२३१, २६०	वषा	३८४
रूपग्रहण की युक्ति (नेत्र की)	१३३	,, वर्ण	२३२, २६२	वमन द्रव्य में श्रेष्ठ फल	२३३
रूपविश्रितिवृत्ति	१८०	,, अधिक सेवन का फल	२३१	,, के लिये उचित भूमि	२०७
रिवाजिनी	१७२	लवण में श्रेष्ठ लवण	२६४	,, का महाभूतारमक संगठन	२२५
रहेनमन	२६३	लवण मेह	३५०	,, के विविध योग	२३४, २३५
रोग, व्याधि देखो		लवनी	२८३	वमनद्रव्यविकल्पविज्ञानीय अध्याय	२३३-२३५
रोगविज्ञान के उपाय	५४, ५५	लशुन (लहशुन), रसोन देखो			
रोगवाहक कटि	२४, १२२, ३४७	लसिका प्रपि	३७८	वमन, असाध्य लक्ष्ण	३४८
रोगमार्ग	३४१	लसिका धातु	८०, ४१०	,, में लोह का प्रयोग	७५
रोगी, गुण	१६१	लाक्षादिगण	२१५	,, की इष्टता का लक्ष्ण	२३४
,, के शुभाशुभ के सूचक	१७३	लाजमण्ड	२६५	,, के लिये उष्ण मद्य का सेवन	२३३
,, के घर के शुभाशुभ निमित्त	१७६	लाजसक्तु	३००	वय, व्याख्या	२००
रोगी शूद्र	११६, १२०	लाजा	३००	,, की त्रिविधता	१६६
रोगादिगण	२१०	लाञ्छन	३६८	,, के अनुसार श्लेषि मात्रा का प्रमाण	२०१
रोगण शून (दग्ध के लिये)	६६	लालकण (रक्त के) आकार और संख्या	७७	,, के अनुसार स्वाभाविक दोष प्रापत्य	२०१
,, द्रव्य कन्कादि के लिये	२०५, २०६	,, प्रतिदिन नारा	८०	,, हान विज्ञान शूद्रि का संबंध	१६३
रोगजनक श्लेष	४३	लाला	७६, १३०, १३२	वय स्थापन	३
रोमान्त	१४४	,, कार्य	३११, ३१३, ३३४	वगहर्दू	३६१
रोमक	३६३	,, प्रपि, कर्णमूलिक	३६२	वर्णगदिगण	२०६
रोमान्तिका, लक्ष्ण	३६७	,, प्रपि, जिह्वापरीय	४०६	वर्ण (शरीर का)	१८१
,, के प्रकार	३६७	लालामेह	३४८	,, के प्रकार	१८१
,, के उपद्रव	३६७	लावणशी	२७३	,, का अरिष्ट	१८०, १८१, १८४
,, फैलने का मार्ग	३२	लिंगनाशवेपनी	४८	वर्णसंकर, अर्थ और हेतु	१६०
,, कारण	३३, ३६७	लिंगर्य	३३२, ३८८	वर्तन (मन्त्रकर्म)	४४
रोहण धातु	१४७	लूता दंश	४६	वर्ति विकेरीका भी देखो	२४
रोहण मण	१४६	लू लगना	७०	,, संशोधक के द्रव्य	२०३
रोहितमस्य	२७७	लेखन (शस्त्रकर्म)	२१, ४८, ५१	,, रोपण के द्रव्य	२०३
रोहिणी, रोषानुसार लक्ष्ण	४१०	,, योग्या	५१	वर्धन रोग	४०६
मारक काल	४१०	,, के रूप	४८	वर्धनक (कान का)	१००
,, का औषध	४१०	,, योग्य विचार	१४७	वर्धमाना	१७५
,, संश्रुति, लक्ष्ण	४१०	लेखन (गुण) व्याख्या	२१७	वर्षा ऋतु, वर्धन	३, १४
,, उपद्रव	४१०	,, महाभूतारमक संगठन	२२७	,, में श्लेषि और मल	१
,, प्रसर के मार्ग	४१०	,, भारत	३६	,, के प्रारंभ में कान्तरिक्त मल सेवन का निषेध	१४
रु		लोक, अर्थ और प्रकार		,, में वर्धन मल सेवन का निषेध	२४
रुद्धा	३३६	लोह, अर्थ	३६, १६२		
रुद्ध मिष्टिके	१६	,, गुण	३६४		
,, दो प्रकार	८८	लोह मल गुण	२१३		
रुधु गुण	३०६				

वर्षाऋतु में पीने योग्य जल	२४४	वातव्याधिनिदान अध्याय	३१८-३२८	विदारिका	३६३
जलय (दाह)	६६	वातसंशमनवर्ग	२१८	विदारिगन्धादिगण	२०६
जलय रोग	४११	वातकण्टक	३२७	विदाही द्रव्य	१३६, २६१, ३५७
जह्नीकर्षबंध	१००, १०१	वातकुण्डलिका	१४५	विदग्धानीर्ण	३०७
जल्लूक, अर्थ	१००	वातवलासक	३१२	,, लक्षण	३०८
जसन्तऋतु, वर्णन	३४	वातवलास	३२१	,, चिकित्सा	३०८
,, में पीने योग्य जल	२४४	वातरक्त,	३२१	,, में शीतलजलपान	३०८
जसा, मेदजातीय पदार्थ और छेह देखो		,, हेतु-	३२१	विद्रधि, निरुक्ति	३६७
जसामेह	३५१	,, संप्राप्ति	३२१	,, व्याख्या	१०७
जसिर	२८३	,, दोषानुसार स्थानिक लक्षण	३२१	,, संप्राप्ति और संख्या	३६७
जस्र, उपयोग	४३	,, सार्वदेहिकलक्षण	३२२	,, बाह्य और आभ्यन्तर	३६७
जानीकरण, व्याख्या	२५०	,, स्थानिक और सार्वदेहिक		,, बाह्य और आभ्यन्तर का	
,, का अधिकार	५	,, पूर्वरूप	३२२	,, अर्थ	३६८
,, श्रोत्रधि	८१	,, प्रारंभ स्थान और प्रसार	३२२	,, वातजादि बाह्य के लक्षण	
जानीकरणातन्त्र	५	,, उत्तान और गंभीर भेद	३२२	३६७, ३६८	
जात (दोष), निरुक्ति	१३०	,, उपद्रव	३२२	,, सन्निपातज की असाध्यता	३६८
,, स्थान	१३०	,, साध्यासाध्यता	३२२	,, आभ्यन्तर, हेतु संप्राप्ति	३६८
,, के भेद	८८, ३१८	,, में आदिवलप्रश्रुति	१४६	,, आभ्यन्तर के स्थान	३६८
,, के शरीर में कार्य	८०, ३१८	,, में थ्रडे का उपयोग	२७४	,, स्थानानुसार लक्षण	३६६
,, का अध्याहृतगतित्व	३१८	,, में दाल का निषेध	२७२	,, साध्यासाध्यता	१८८, ३६६, ३७०, ३७१
,, की रजोगुणप्रधानता	१३७, ३१७	जातानुलोमक	२६३	,, स्तन	३७४
,, का योगवाहित्व	२६	जाताष्टीला	३२८	,, अस्थिमज्जागत	३७१
,, का रोगोत्पत्तिमें प्राधान्य	१३७, ३१६	,, के अरिष्ट	१८३	,, मफल विद्रधि	३६६
,, का स्वरूप	३१८	जापी, अर्थ	३४	,, आभ्यन्तर के उदाहरण	३६७
,, के गुण	२२६	,, जलगुण	२४८	विद्रधि और गुल्म की विशेषताएँ	
,, के आवरण	३२०	जायवीय द्रव्य	२२६	तथा भेद	३७०
,, आवरणयुक्त के लक्षण	३२०	जायुजनक जीभागु	१५७	विद्रधि के लिये गुल्म शब्द का चरक	
,, क्षय के लक्षण	६०	जाराहकन्द	२६२	में प्रयोग	३७०
,, क्षय में अभिलपित द्रव्य	६५	जालुकैल लवण	२६३	विनमन	४४
,, वृद्धि के लक्षण	६२	जास्तु (गृह)	११६	विपरीताविपरीतत्रणविज्ञानीय	१७१-१७३
,, प्रकोपकारण	१३५, ३२१	जास्तुक शाक	२८८	विपरीताविपरीतस्वप्ननिदर्शनीय	१७३-१७६
,, प्रकोपकाल	१३६	जिकर्षण	४४	विपाक, व्याख्या	२२०
,, आमपक्काशय में प्रकोप के लक्षण	३१६	जिकारजात	१५३	,, की उपलब्धि	२२०
,, इन्द्रिय में	३१६	जिकासी गुण	३०६	,, का प्राधान्य	२२२
,, धातुगत	३१६	जिकृति (रिष्टरूपा)	१७६	,, की अल्पमध्यभूयिष्ठता	२२०
,, सर्वशरीरगत	३२०	जिकेशिका	२४, ११७, ११८	,, के भेदों के संबंध में	
,, मिश्र के	३१६	जिचार्चिका	३४३	मतमतान्तर	१३३, २२०, २२२, २२३
,, का कपायरस से साधर्म्य	२२६	जिज्ञान	१६३	,, विरोध	१२७
,, का जगत में कार्य	२६, १३१	जिडंग	२८४	,, की शुरु लघुता और उसकी	
जातव्याधि, व्याख्या	३१८	जितानबंध	११३, ११४	जानने के उपाय	२२८
,, का वर्णन करने का		,, बांधने की रीति	११५	विपादिका	३४३
कारण	३१८	जिदारी	४१२	विप्रपत्ति, शब्दस्पर्शादि की	१७६, १८०
,, संख्या	३१८	जिदारी कन्द	२६१		
,, असाध्यलक्षण	१८७				

विवध बन्ध	११३, ११४	विशोधन पद्यादि का	२४	वीरत्वादिगण	२१०
,, वाधने की रीति	११५	विज्ञाची	३२६	वीर्य	१०
विम्लापन	१११	विष (जीवाणु)	३२, ३३, १२३	वीर्य, शुक्र देखो	
विद्योनि	३०५	विषमर वैरोधिक प्रशमन	५	वीर्य (द्रव्यगुण), दो अर्थ	१२७,
विद्योनिगर्भ	१५०	विषनाशक	१२३		२२०, २२६
विहृद, व्याख्या	१२७, १२८	विषपुष्प	३२	,, के प्रकार	२२०, २२१
,, के प्रकार	१२७	विषनाशन	१२२, ३०६	,, की उपलब्धि	२२०
,, संयोग	१२५, १२६	विषमुष्टि	२११	,, प्राधान्य विवरण	२२१
,, कर्म	१२६	विषमोपचार	१८४	,, की कार्य करने की पद्धति	२२२
,, मान	१२७	विषाण, भ्रूय देखो		,, के अष्टविध गुणों का महाभूता-	
,, रसवीर्यविषाक	१२७	विषार्त, (विषजुष्ट), के लिये		रमक संगठन	२२७
,, सेवनमनित विकार	१२७	अनुपात	३०१	,, विहृद	१२७
,, सेवनमनित विकारों का		,, के त्रणों की असाध्यता	१४५	शुक्र, वर्णन	३३७
परिहार और चिकित्सा	१२८	विष्णुपदासूत	७१	शुक्ररस	३३६, ३३७
,, से बचने के कारण	१२६	विषीपधि	३२	शुद्ध, व्याख्या	१०
विहृदोपक्रम	२६०, ३४६	विष्कम्भ (मूत्रगर्भ)	३६१, ३६२	शुद्धादनी	२१०, २८८
विरेचनद्रव्य वर्ग,	२१६	विष्किर, निरुक्ति	२७२	शुद्धावस्था	१६६
,, का भूतात्मक संगठन	२२६	,, वर्ग	२७३	,, की वर्षमर्मादा	२००
,, प्रदूष के लिये उचित		विट्ठव्याजोषों	३०७	,, लक्षण	२००
भूमि	२०७	,, लक्षण और चिकित्सा	३०८	,, में ओषधि मात्रा का प्रमाण	२०१
,, में श्रेष्ठ द्रव्य	२३५	विष्यन्दन (भक्ष्य)	२६६	,, अकाल का कारण	२५३
,, के मूलद्रव्य के प्रयोग	२३६	विषर्ग	२८, १३१	,, में अग्निचार का निषेध	२०१
,, लवण द्रव्य के प्रयोग	२४०	विषर्प	३६२	शुद्धपदंशुकीपदनिदान अध्याय	३८२-
,, फल द्रव्यों के प्रयोग	२४०	विषर्षे, निरुक्ति	३७१		३६०
,, दुग्ध द्रव्यों के प्रयोग	२४१	,, संप्राप्ति	३७१, ३७२	शुद्धि (श्रवण की), व्याख्या	३८२
विरिचन द्रव्य विकल्प विज्ञानीय अध्याय	२३४-२४२	,, का जीवाणु	३७१	श्रवण शुद्धि भी देखो	
विलयन	५८	,, सहायक हेतु	३७२	,, संख्या	३८२
विनिहा (दाह)	६६	,, वातमादि दोषग	३७२	,, पूर्ववत्	३८२
विनेयी	२६५	,, घृतन	३७२	,, वातमादि के लक्षण	३८२
विवरण	४४	,, अग्नि	३७२	,, मेदोग	४६, ३८२, ३८६
विवर्तन	४४	,, कर्दम	३७२	,, रक्तन	३८२
विवाह के लिये योग्य बधुवर	१४८, १४९	,, प्राधि	३७२	,, मूत्रन	३८३
,, सगोन और सविगड का		,, और अचची	३७३	,, मूत्रन	३८३
निषेध	१४६	,, साध्यासाधना	३७३	,, मूत्रन	३८३
,, निषिद्ध कुल	१४६	,, उपद्रव	३७३	,, आन्त्रन	३८३
,, पुण्य का बध	१४६	विषर्पनाडीलिनरोगनिदान	अध्याय	,, बषागन्य	३८३
विज्ञा	३६१		३७१-३७६	शुद्ध	४११
विद्युद गुण	३०६	विषर्षुष्ट	३४३	शुद्धिकाली	२०६
विंशत्ता, अर्थ	४३	विस्फोटक	३६२	श्रवण, रचना	६०
,, के क्रिये बंध की योग्यता	४३	,, ज्वर	३३	,, का अन्त तार और उरका	
विंशत्तानुसरेणिय अध्याय	४३-४७	विस्त्रवण	३१, ४८, ५१ रश्चित्रवण	कार्य	४२, ६१, १६६
विशोधन	२१, १००	,, भी देखो		श्रवणकण्ठु	३६६
,, के द्रव्य	२५	,, योग्य	४२	श्रवणप्रक्षेप	३०२
		,, योग्य विकार	१५७		

नया और पुराना	३८४	व्यंग (शारीरिक)	१५०	व्याधि, का मूल त्रिदोष	१५३
राजयक्ष्मा और किरंग		व्यंग (त्वरोग)	३६७	श्रौर दोष का संबंध	१५५, १५६
जन्य	३८४	व्यवायी गुण	३०६	की उत्पत्ति परम्परा	१५६
दोनों में पार्थक्य	३८४	व्याधि, व्याख्या	८, १५६, २०३	के अधिष्ठान	६
श्रुवेदजन्य	३८४	के हेतु	१६, १५२, १५३	व्याधिसमुद्देशीय अध्याय	१४७-१५६
पराश्रुद्धि	३८२	विज्ञान के उपाय	५४, ५५	व्याधिसात्म्य	२०२
के कारण	३८४	दो भेद	१४७, १५२	ध्यान वागु	८८, ३१४, ३१६
से पीडित रोगियों की		चार भेद	२, ८	व्यायाम, व्याख्या	१२५
परीक्षा की पद्धति	३८४	सात भेद	१४८	से फायदे	१२६, ३०२
के कारणों का सापेक्ष		की असंख्येयता का कारण	१५४	का बल परीक्षा में उपयोग	२०१
विचार	३८४	अनुबंध या अप्रधान	१६७	व्यायाम सात्म्य	२०२
वृष्य	२१४, २४०	अनुबंध या प्रधान	१६७	व्यायोजिम कर्णबंध	१००
वैशिका	४२, ४३	अभावदर्शक	३१४	व्यूहन	४४
वैश्याय	२६८	आकस्मिक	१५१, १५२	ब्रह्मप्रश्न अध्याय	१२६-१४१
वेतसपत्र	४७	आगन्तु	८	ब्रह्मालेपनबंधविधि अध्याय	१११-११६
वेदनाहर घृत	२६	आदिवलप्रवृत्त	१४८	ब्रह्मास्त्राविज्ञानीय अध्याय	१४१-१४४
वेदान्त	२४, ११०	उपसर्गज	१५१-१५२	ब्रह्मितीपासनीय अध्याय	११६-१२६
वेदोत्पत्ति अध्याय	१-१२	श्रौपसर्गिक	१६६, ३४७	ब्रह्म, निरुक्ति	१४१
वेधन	२१, ४८	कर्मज, कर्मदोषज	१४५, ३४७	के अधिष्ठान	१४१
योग्या	५२	कालवलप्रवृत्त	१५१	बंधन द्रव्य	११३
योग्य विकार	१५७	जन्मवलप्रवृत्त	१५०	के गुण	२३
के शस्त्र	४८	दैववलप्रवृत्त	१५१, १५२	पूर्व, पश्चात् और प्रधान कर्म	२१
बैलितक सीवन	१५८	दोषवलप्रवृत्त	१५३	की तीन अवस्थाएँ	१४६, १४७
वैसवार	२६७	दौहृदापचारज	१५०	की दुष्टावस्था के लक्षण	१४२, १४७
वैक्सीन	१२८	धातुज	१५४	शुद्ध के लक्षण	२६, १४६, १४७
वैदर्भ	४०८	नानासमज	३७८	रूढ के लक्षण	२६, १४६
वैदल वर्ग	२६६	प्रकृतिप्रभव	१५२	साध्य के लक्षण	१४६
सामान्य गुण	२६६, २७०	प्रत्याख्येय या असार्थ	५६, १६६	रोहत के लक्षण	१४६
प्रत्येक के गुण	२६६	प्राकृत	३५, १५२	की परीक्षा में ध्यान करने की	
के भक्ष्य पदार्थ	२६६	प्राक्कैवल	१६६	वातें	१४७
वैद्य का व्यवसाय	५३	मानस	६	शोधन के कपायादि आठ	
का चिकित्सा में महत्त्व	१६७	याप्य	१६६	प्रकार	२०५
के गुण	१६१	शारीर	६	रोपण के कपायादि आठ	
के शस्त्र कर्म के लिये गुण	२३	संघातवलप्रवृत्त	१५१	प्रकार	२०५, २०६
को व्यवसाय करने के लिये		संसर्गज	१५१, १५२	धूपन द्रव्य	२४, ४०, १२३, २०५
राजाज्ञा	१६, ५३	सामान्यज	३१८	उत्सादन और श्रवसादन द्रव्य	२०६
के प्रति रोगी का विश्वास	१६०	साध्य	१६६	स्वाभाविक बंध	१७२
को धाट्य के लिये दण्ड	१८	स्वकृत	१५२	की शब्दस्पर्शादि की विकृति	१७२
का वैश	५३	स्वभाववलप्रवृत्त, स्वाभाविक	८, १५१, १५२	ब्रह्मबंध मोचन काल	२६, ११८
की अयोग्यता	१८, १६	दुधिकित्स्य	१८७	ब्रह्मवस्तु	१४७
की योग्यता	२०, ५३, १०८, १३६, १८६, १६५, २५६	तुल		ब्रह्मस्त्र, अधिष्ठानानुसार	१४२
के प्रत्यान के शुभाशुभ निमित्त	१७६			दोषानुसार	१४३
				की स्थानानुसार असा-	

ब्रह्मवेदना, दोषानुसार	१४३	शमीयन्त्र	४०	शल्य, शरीर में वंचविध गति	१६२
ब्रह्म बर्ण, दोषानुसार	१४३	शम्बूकावर्त	३४०	” के अधिष्ठान	१६१
” की विवृति	१७२	शर, शन्यतन्त्र में प्राधान्य	१६१	” के सामान्य लक्षण	१६२
ब्रह्मसाध्यासाधन्य, १४१, १४३, १४४, १४५, १४६, १७२, १७३		” दो प्रकार	१६२	” विशेष लक्षण	१६२, १६३
ब्रह्मचिकित्सा में आभ्यन्तरीय चिकित्सा का महत्त्व	१४५	” शरीर में गति	१६२	” की विशेष परीक्षा	१६३, १६४
ब्रह्मिण के लिये प्रशस्त शूद्र	११६, १२०	शरद् श्रुत, बर्णन	३५	” की सामान्य परीक्षा	१६३
” के लिये शय्या और वस्त्र	१२०, १२१	” में बर्णान्त की प्रसन्नता	२४४	” ब्रह्माकृति से आकार की परीक्षा	१६४
” के लिये मित्रोंकी आवश्यकता	१२१	” में पितृज व्याधि	२६	” सूक्ष्म होने पर लक्षण	१६३
” के लिये कथानादि निषेध	१२१	शरपुच्छमुखी	४१, ४२	” की शरीर में अन्तिम गति	१६४, १६५
” के लिये दिवान्द्रा निषेध	१२१	शरभ	२७३	” आहरण के पन्ध्र उपाय	१६५
” के लिये क्षीमैयुनादि निषेध	१२१	शरारी पक्षी	४७	” आहरण के दो मार्ग	१६६
” के लिये मद्यपान्यादि निषेध	१२१	शरीर निष्फलि	६७	” आहरण विधि	१६६, १६७
” के लिये मत्स्यतापादि निषेध	१२२	” व्याख्या	१६१, १७६	” आहरण के लिये यन्त्र	१६७, १७०
” के लिये मद्य सेवन निषेध	१२२	” क्षयसंबंधी कल्पना	८०	” स्थानानुसार आहरण कर्म	१६७, १६८
” के लिये शुचि रहने की आवश्यकता	१२२, १२३	” के धारक दोष	१८, १२६, १३०	” आहरण के लिये श्लेष्म	१६७
” की वेद मन्त्रों से रक्षा	२५, १२३	” के धातु	७६, ८२, १४१	” शन्यतन्त्र	४
” के लिये धारण योग्य श्रीपथिया	१२३	” की श्रुति का काल	१६५, २००, १४४	” अष्ट अंगों में प्राधान्य	६, ७
” के लिये प्रशस्त आहार	१२३	” की लंबाई	१६४, १६५	” निष्फलि	१६१
” मैथुन जागरादि का परिणाम	१२४	” का अग्र प्रत्यंग प्रमाण	१६३, १६४	” का अधिकार	१६१
” के लिये पथ्य से रहने की काल मर्षादा	२६	” की रचना	३१०	शल्यनिर्घातिनी नाडीयन्त्र	४०
श्रीहि कर्म	२६७	” वा रासायनिक संगठन	३११	शल्योपनयनीय अभ्यास	१६५-१७०
श्रीहिमुत्र यन्त्र	४७	” की वृद्ध के साथ तुलना	८८	शल्यक प्राणो	२७५
शु		” की समता के लक्षण	२०३	शश	२७५
शकुन	५४	शरीर परमाणु (सेल)	७६, ८०, १४१	शश, संख्या और नाम	४५
” प्रस्थान के	१७५	शर्करा (मूत्र), व्याख्या	३३५, ४८	” प्रत्येक का बर्णन	४५, ४८
” रोगानुसार शब्दिक	१७६	” संश्रुति	३३६	” प्रह्लापद्धति	४८, ४९
” रोग के प्रस्थान के	१७६	” और अमरी में भेद	३३६	” के कार्य	४८
” रोगी के घर के	१७६	” से पीडित के लक्षण	३३६	” लंबाई और आकार	४९
शकुन्, धनु देसो		” मूत्रमार्ग प्रवृत्त होने पर लक्षण	३३६	” गुण और दोष	४९, ५३
शकुनीया	१२३	शर्करामेह	३३५	” कर्मानुसार धारा	५०
शकुवरी	२६१	शर्करासुंद	३६३	” की पायना	५०
शकुपी	४११	शर्करा (चीनी) सामान्य गुण	२६१	” निरासनी	५०
शकुपीनक	३३६	” विमलता से शुद्धोत्कर्ष	२६१	” के लिये कोश	५०
शकुमेह	३४०	” लनक बनस्पतियाँ	२६२	” का कर्म के लिये प्राशस्त्य	५०
शकुपिप्रतिपत्ति	१७६	” का पुराणत्व	२००, २६०	” के लिये धातु	५१
शकुप (शंक का)	१०६, १११	शकाम्ना यन्त्र	३६	शक्रकर्म,	५१
शकुपक	१०४	” संख्या	३६	” के प्रकार	५१
		” बर्णन	४०, ४१	” के लिये रोग के गुण	५१
		शकाम्ना	२३३	” की विधि	५१
		शक्य, व्याख्या	४, ३६, १६१, १६२	” के लिये दिशासंभन	५२
		” के दो प्रकार	१६१, १६५		

लक्ष्मी के लिये सामग्री	२२	शिशु		शुक्र क्षय के लक्षण	६०
,, के लिये यन्त्रण विधि की		शिम्वीवर्ग	२७०, २७१, २७२	,, क्षय की चिकित्सा	६१
जरूरी	२२	,, का संगठन और विशेषता	२७२	,, क्षय में अभिलपित द्रव्य	६६
,, के पूर्व भोजन देने की		शिरा, व्याख्या	८१, ६६ सिरा भी देखो	,, वृद्धिलक्षण	६२
रीति	२२, ११०	,, अधरा और उत्तरा महा-	७६, ८१	,, और रण का अन्तर	७८
,, के पूर्व मद्य सेवन	११०	,, अक्षाधरा	७६	,, और ओण का संबंध	७६, ८२, ३१४
,, के पूर्व भोजन का निषेध	२४, ६६	,, प्रतिहारिणी	७६, ३५६	,, के विकार	१५४, ३८७
,, का त्रिविध कर्म	२१	,, गुद की	३२६	शुक्रसार	८२, ६१
,, की व्यापत्तियों	१५६	शिरा(शृषण)वृद्धि, हेतु, लक्षण	३८४	शुक्राणु	१०, ८६, ६०, १५४
शास्त्रप्रणिधान	१४७	,, और वषाणन्य		,, आदिवलप्रवृत्ति से संबंध	१४८
शलावचरणीय अध्याय	४५-५२	वृद्धि में अन्तर	३८४	शुक्रमेह	३४८
शाक, सामान्य गुण	२६१	शिरोविरेचनवर्ग	२१८	शुण्ठी	२८६
,, वर्ज्य	२६१	शिशिर प्रष्टु वर्णन	३४	शूक	३८५, ४००
,, पुष्प पत्रादि से लघुगुफता	२६१	शिव्य, गुण	३, १३	,, दोष	४००
,, सेवन संबंधी कुछ बातें	२६१	,, का गुरु के प्रति कर्तव्य	१४	,, विकारों के लक्षण	४००, ४०१
,, पकाने की विधि	२६६	,, के प्रति गुरु का कर्तव्य	१४	,, के असाम्य विकार	४०१
शाक वर्ग	२८५	शिष्योपनयनीय अध्याय	१३, १५	शूकदोषनिदान अध्याय	४००-४०१
,, का संगठन	२६२	शिश्रमणि	३३२	शूकवर्ग	२७१
शान्ति कर्म	३३	शिश्रचर्म	३३२	,, का संगठन	२७२
शार्ङ्गशा	२०६	,, के नीचे मैल का जमना	१४५	शूद, आयुर्वेद पठन के लिये अधिकार	१४
शालाक्य तन्त्र	४	शीत(गुण)	३०६	शूल, आन्त्र	३१६, ३२८
,, के अध्याय	१७	शीतकषाय	२०५, २४२	,, वृक्क	३२८, ३३६
शालिवर्ग	२६७	शीतदन्त	४०७	शूल्य मांस	२६६
,, के विभाग	२६८	शीतपाक्य	२८३	शूद्रयन्त्र	४०, ७१, १६५, १६६
शालि, के भेद	२६७	शीतमेह	३४४	शूद्राटक	२६२
,, सामान्य गुण	२६७	शीतला, मसूरिका देखो		शोणित, रक्त देखो	
,, में लोहित की श्रेष्ठता	२६७	,, स्तोत्र	३६५	शोणितास्थापक	८६
,, और व्रीहि का अन्तर	२६८	,, मोतिया	३६६	,, के उपाय	८७
,, रोप्यातिरोप्य के गुण	२६७	शीतवर्षानिलदग्ध	७०	शोणितवर्धन	८७
,, खाद जल इत्यादि के अनुसार		शीताद	४०६	शोधन (त्रण का) के अष्टविध	
गुण	२६८	शीर्षावृन्त	२८५	प्रकार	२०५
,, मशीन में कूटने का परिणाम	२६८	शुक्र	२६५	शोफ (त्रण), व्याख्या	१०५
,, और गेहूँ में अन्तर	२७२	शुक्र का स्थान	६०, ६१	,, के प्रकार	१०६
,, संगठन	२६८	,, का सर्वशरीरव्यापित्व	६१, ३७५	,, के कारण	१०६
,, और बेरी बेरी का संबंध	२६८, २७१, ३१२	,, की उत्पत्ति	७८, ८२	,, दोषानुसार लक्षण	१०६
,, के चोरे रखने का स्थान	२६८	,, की वनावट	८६, ६०	,, की संप्राप्ति	१०७
,, प्रचार के भारतीय प्रान्त	२६८	,, की उत्पत्ति में वाजीकरण		,, तीन अवस्थाएँ	१०७
,, प्रकार के संसार के देश	२७१	ओषधियों का भाग	८१	,, आमावस्था के लक्षण	१०७
शालि जातीय पदार्थ,	२८६, २६०	,, यौवनावस्था में अभिव्यक्ति का		शोफ, गच्यमानावस्था के लक्षण	१०७, १०८
कावों हेइष्ट देखो		विवरण	८२	,, का कार्य	१०८
शालूक	३६२	,, का कार्य	८६	,, पकावस्था के लक्षण	१०८
शालूक रोग	४१०	,, खरण के हेतु	३७५	,, पकावस्था में चौरा न लगाने	
शालाभ्यास का महत्त्व	१८, १६	,, खरण की युक्ति	३७५	से लुकसान	१०६

शोफ, श्रमावस्था में चीरा लगाने के परिणाम	१०६	श्लेमातक	२८४	सचय की अवस्था में विकिरता का महत्त्व	३०, १३५, १४०
" को पकाने के लिये त्रिदोष की लक्ष्मी	१०६	" श्वसन का केन्द्र	६६, १६६	" और प्रकोप में अन्तर	१३७
" के सार्वदेहिक लक्षण	१०७, १०८	" पुंरुरेयुक्त	७०	" प्रकोप और प्रसर में दोषों की स्थिति	१३८
" के सात प्रधान उपक्रम	१११	" क्षिप्त	१८३	सचय काल (रोगों का)	१४०
शोफहरणलेप, दोषानुसार	२०४	" क्षिप्त के दो प्रकार	१८३	" अपतानक का	३२४
शोफपाचनलेप	२०४	" कृत्रिम	७०	" कुष्ठ का	३४२
शोफदारणलेप	२०४	" कृत्रिम की पद्धतियाँ	१६६	" मसूरिका का	३६३
शोफपीडनलेप	२०४	श्वस, क्षुद्र	६६	" उपदश का	३८५, ३८७
शोफ, दोषानुसार वेदनाविशेष	१४३, १४४	" का अरिष्ट	१८३	" किरगा का	३८६, ३८७
शोष (सर्वांग) कारण	१०६	श्वेतकण	७७	समाहर श्रोणधि	२२, ११०
" सप्रप्ति	३५६	" स्वामाविक सख्या	१०८	सहक	२६६
" के उपद्रव	१८३	" पूयनिश्चिति में उपयोग	१०८	सतीन शक्ति	२८६
" अरिष्टलक्षण	१८३, १७५, ३५५	प	१५८	सर्व	१६६, २०३
" विश्रावण का नियम	८४	पञ्च	२६७	" का रोग की साम्यता में उपयोग	१४४
" अल्पगलसेवन	२४६	पश्चिम वर्ग	२६८	सत्ववाद	१४४, २०३
शोषिर	४०६	" का अर्थ	२६८	सत्वसार	१४४, १६६
श्यामादिगण	२१२	पाठन	२६८	सतर्षणकृत रोग	२४०
श्यावदन्तक	४०८	स	२६८	सदृश मन्त्र	३६
श्रवण, परीक्षा	५५	सयाव	२६६	" सह्या	३६
" विप्रतिपत्ति	१७६	सयोग, व्याख्या	१२४	" वर्णन	३६, ३७
" श्रोणिगुहा	३३७	" विरुद्ध	१०५, १२६	" सविग्रह और अविग्रह	३७
" श्रोत्रिम	५६	सव्यूहिम चार	६०	सधान	३२०
" श्लक्ष्णगुण	३०६	सशमन	६, २१६	सधि, चल और अचल	१६०
श्लीपद, निरुक्त	३८६	ससोधन	६, २१६	" विद्ध लक्षण	१६०
" निदान	३८८	सश्लेषण	८२, ३१०	" गत शल्य लक्षण	१६३
" सप्रप्ति	३८६, ३६०	ससर्ग (दोषों की) व्याख्या	१४०	" गत शल्य की परीक्षा	१६४
" सक्षय	३८६	" में चिकित्साक्रम	१४०	" सश्लेषण	८८
" से विकृत होने वाले अंग	३८६, ३६०	ससर्ग रोग	१४१	सधि विश्लेष, व्याख्या	४०१
" के लिये अनुसूत देश	३६०	ससर्ग रोग	१४१	" के प्रकार	४०१, ४०१
" असाध्यता	३८६	ससर्कार	१२७, ३०७	" अत्रण, क्षयण दो भेद	४०२
श्लीपददृष्टि	२४७, ३५०	" विरुद्ध	१२६	सधिविश्लेष सामान्य लक्षण	४०२
" का वर्णन	३८८	सक्तु, अर्थ	२०४	" उपविष्टादि के लक्षण	४०२
" सूक्ष्म कृमि	३८८	" के गुण	२६६	सन्निपात, अर्थ	८, १४०
" की रक्त में उपस्थिति की विचित्रता	३८८	सकर, त्रिया का	२०३	" में चिकित्सा क्रम	१४०
" विचित्रता का कारण	३८६	" चतुर्वर्ण का	१६६	सन्निपद्ध गुद, निरुद्ध गुद देखो	
" का मन्चरशरीरगत जीवन क्रम	३८६	सकालक	३६१, ३६२	ससला	२१२
श्लीपदवाहक मण्डप	३८६	सक्रमण मार्ग	३४७	समदेह लक्षण	१०३
श्लेष्मक कफ	८८, १३४	सक्षिप्त कर्णवध	१००, १०१	समशुन	३०८
श्लेष्मा, कृक देखो		समाह्वी, अर्थ और दो भेद	२२७	समक्षयी कारण	२२१
		सपालवणप्रवृत्त	१४१	समान वायु	११६
		सर्षी मिथी	२६३	समुद्रपेन	५१
		सन्नी चार	१६३	सम्पन्न, क्षयण	६७
		सचय (दोषों का), लक्षण सामान्य और विशेष	११५		
		, काल	२८, २६		

चिकित्सा	६६	साहस के पांच प्रकार	२६५	की विशेषता	७
म्यग्वान्त लक्षण	२३४	सिद्धसुप्त यन्त्र	४५	में शल्यशास्त्र का प्राधान्य	
रगुण	२४६, ३०६	सिकता	५८, ३३५	और सर्वव्यापित्व	७, १८, २१
रसों का शाक	२८६	सिकतामेह	३३५, ३५०	रूकर	२७६
तेल	२५७	सिपाणक	१४२	सूक्ष्म गुण	३०६
धूपन के लिये उपयोग	२५, १२३	सिद्ध मांस	२६६	सूक्ष्मदर्शक	१२३, १५३
सजिका चार	२६३, २६४	सिध्म	३४३	सूक्ष्मदर्शकातीत जीवाणु	१२३, १५३
सर्पदश चिकित्सा	४३	सिरा, शिरा देखो		सूरो मेवे	२८३
गुण	२७५	सिराविद्ध लक्षण	१६०	सूची	४६
सर्पकणमुखी	४१, ४२	सिरामत शल्य लक्षण	१६२	त्रिविध प्रकार के लिये योग्य	
सर्पोत्प	४८	की परीक्षा	१६४	स्थान	१५८, १५६
सर्पिमेह	३५१	सिरावेध	२१, ८४	यवसुरी	४६
सर्वसर रोग	४१२	सिरा कुटिलता (गंठीली)	३२०	सूत्र के प्रकार	२
सर्पा रोग	३२५	में आदिबलप्रति	१३६, ३२६	सूप	२६५
सहन, अर्थ	३३१	की प्रतिष्ठा	३७७	सूरण	२६२
सहस्रनीची	१२३	सौंग, अंग देखो		जंगली	२६२
साधक पित्त	८८, १३३	सोषु	१२२	सूर्य का महत्त्व	१२०, १३१
साधारण देश	२०२	विविध सोषु के गुण	२६३	सूर्यप्रकाश की रचना	१२०
साध्यासाध्यता	१८६	सीमान्त	१४५	के तीन विभाग	१२०
के चार प्रकार	१४४	सौरमचिकित्सा	१२८	का चिकित्सा के लिये उपयोग	१२०
रोग के कालानुसार	१४६	सीवन	२१	का जलशुद्धि में उपयोग	२४५, २५१
साध्य रोग	५६, २०३	द्रव्य	४२, ४३, १५८	का जीवद्रव्य की उत्पत्ति	
के दो भेद	१४४	का शाक	४८	में उपयोग	३१३
रोग असाध्य होने वाले रोगी	५६	योग्या	५२	सूर्यप्रकाश का जानवरों के दूध से संबंध	३१३
रोग असाध्य होने के कारण	१४५	योग्य व्रण	१५७	सूर्यकान्त	५१, ६५
सास्य,	५४, १२४	के लिये अयोग्य व्रण	१५७	सुमर	२७६
के प्रकार	२०२	के चार प्रकार	१५८	सेल (शरीर का)	७६, ८०, १४१
सान्द्र गुण	३०६	की विधि	१५८, १५६	सेवनी	६४
सान्द्र मेह	३५०	सीसा	२६४	सेवनी कुटकास्थि	१४५
सान्द्र प्रसाद मेह	३४८	सुगन्ध गुण	३०६	सैन्धव	२६२, २६३
सांप, सर्प देखो		सुधा वृत्त	२४१	सोजाक, कारण, लक्षण, उपद्रव	३८७
सामित	२३६	सुनिपणणक	२८६	सोंठ	२८६
सामुद्र जल	२४८	सुपारी	२८४	सोहजना	२८६
सामुद्र जल (आन्तरिक का भेद)	२४३	सुरसादिगण	२११	सोहागा	२६४
की परीक्षा	२४३	के गुण	२८६	सौवर्चल	२६३
सामुद्र लवण	२६३	सुरा	१२२	सौवीरक	२३८
सांवर लवण	२६३	गुण	२६२	सौश्रुततन्त्र	२१
सार, व्याख्या	१६६	विविध सुरा के गुण	२६२	सौहित्य	३०७
अष्ट प्रकार	१६६	मण्ड	२६२	स्कन्दन	८३, ८७
का बलविज्ञान से उपयोग	१६६	सुरामेह	३५०	स्कन्धावार	१६०
आठों प्रकारों से युक्त के लक्षण	१६६	सुरावीण, खमीर देखो		में वैद्य का स्थान	१६०
सारिवादिगण	२१३	सुवर्ण	२६४	में नर्स की आयोगना	१६१, १६२
साकौमा	३८०	सुश्रुत महर्षि	१	स्तनरोग निदान	३७४
सालसारादिगण	२१०	सुश्रुतसंहिता का काल	१, २	कन्यकावस्था में अनुत्पत्ति	३७४
		की परम्परा	८		

प्रसूत और सगर्भावस्था में	
वत्सति	३७४
हेतु	३७४
संप्राप्ति और लक्षण	३७६
स्तन और गर्भ का संबंध	३७४
स्तनविद्रधि, स्तनप्रकोप	३७४
स्तन्य, निर्दोष	३७४
उत्पत्ति	३७४
सखण के हेतु	३७५
सखण की युक्ति	३७५
दुष्टि के लक्षण	३७५
निर्दोष के लक्षण	३७५
कार्य	६०
बालक के लिये महत्व	६०
द्युय लक्षण	६१
द्युय चिकित्सा	६२, ६६
वृद्धि लक्षण और चिकित्सा	६३
स्तम्भन(रक्त)	४८
स्तम्भिनी	१०
स्री का दूध	२४०
स्री का दूध का आभावव्या में सेवन	२४१
दही	२४३
घी	२४५
स्थिचा बंध	११३, ११४
बांधने की रीति	११५
स्थनसंधय	११८
करने का तान्य	११६, ११५
स्थवर कोषधि	१०
के बंधकोषधोगी अंग	११
रघुनाएक	३४३
शोथ, मैदोद्वि देशो	
शयु, अर्थ	१४८
शयु के लिये उपयोग	१४८
शिद्वनलक्षण	१६०
शयु शयनलक्षण	१६२
शयु की वरीषा	१६४
शयुशयि	२४२, २४६
शिशुशयु	३०६
शेदग्ध, शेरनाडीय वदार्थ भी देते	
	१२०, १३६, २४८
श. शयन	२४८
की शिखर शयि	२४८
शयुशयु का हन	२४८
शेदग्धशयि	२४४

शेदग्ध	६७, ६६
शरीरनाचमता	१०६
शरीरनपरीक्षा	५४, ५५
शरीरविप्रतिपत्ति	१७६, १८०
शरीरशुद्धि	६८
सृष्टि	१८, १८१
स्रोतम्, व्याख्या रचना और कार्य	८१, ३१६
स्रोतगत शल्य लक्षण	१६२
परीक्षा	१६४
सप्त, संप्राप्ति	१७७
के सात प्रकार तथा व्याख्या	१७७
के सात प्रकारों की शुभाशुभता	
और फलानुलता	१७७, १७८
की रोगानुसार अशुभता	१७८
की अशुभता का परिहार	१७८
शुभ	१७८
समाव (द्रव्यों का)	१२४, ३०७
समावबलप्रवृत्त (रोग), अर्थ	६
के नाम	८, १५१
के संबंधी विवरण	६, १५२
समावविप्रतिपत्ति अर्थात्	१८४, १८६
स्रवण, व्याख्या	२४२
स्रवण	४११
स्वस्तिक, अर्थ	१७५
स्वस्तिकबंध	११३, ११४
स्वस्तिकयन्त्र,	३६
सस्या	३६
सर्पेण	३६, ३७
के दो विभाग	३७
साधुभोजन	३०४-३०५
सामाजिक, समावबलप्रवृत्त देशो	
स्रवण, व्याख्या	६८, २०३
शेर की शयि	६१, १७७
का कार्य	८६, १५५
द्युय लक्षण और चिकित्सा	६१
द्युय में अभिगमित द्रव्य	६६
वृद्धिलक्षण	६३
द	
दण्डि	२७६
दण्डि	२०६
ईश्वर	३०, २०४
दपनी का दूध	३४०
दरी	२४३
पी	२४५

दपनी मूत्र	२६६
दण्ड	३२३
दण्डोच्च, हेतु और संप्राप्ति	४०८
चिकित्सा	४३
दण्ड	३६४
दरफा रेवड़ी	२८१
हरिण का मांस	२७३
एण और वृष्य में अन्तर	२७३
हरितक वर्ण	१२१
हरिद्रादिगण	२१२
हरीतकी	२१४, २२०, २४०, २८४, ३०८, ३०६
हरेणु	३६६
हर्निया, अर्थ	३८१
के स्थान	३८१
के कारण और प्रकार	३८३, ३८४
हर्ष	४३, १६५, १६६
हवा, शुद्ध का महत्व	१२०
की आवश्यक राशि	१२०
के दिशानुसार गुण	१२६
हस्त	३५, ३६, ४३
हस्ति(हाथी), मांस	२७६
हरितदन्त	४३
हरितमिषली	३१
हरितमेह	३१
हारितमेह	३१
हिंण्ड, इहदी देवो	
हिताहितीय अर्थात्	१२४-१२५
हिस्ट रिसा	३२
हींग (हिंदू)	२८
हीनकण्य बंध	१००, १०
हृत्पुन्यता	६
हृत्कण	६०, ३०
हृदय	७६, ८
के कार्य	१३१, २६
की वजहों का कारण	१८
की वजह	३०
के निदानों बार्था धमनिर्वा	७१
हृदयविद्रधि	३६१
हृदय	२६३, २६४
हृदय अशु बंधन	३१
में वजहों की वजह का कारण	३०
होरा	१८१

श्रीः ।

सुश्रुतसंहिता ।

सूत्रस्थानम् ।

प्रथमोऽध्यायः ।

अथातो वेदोत्पत्तिमध्यायं व्याख्यास्यामः, यथो-
भगवान् धन्वन्तरिः सुश्रुताय ॥१॥

अथ के प्रारम्भ में आयुर्वेदोत्पत्ति नामक अध्याय का
पान करते हैं, जैसे श्री धन्वन्तरि भगवान् ने सुश्रुत के
वर्णन किया ॥१॥

वक्तव्य—यहां वेद शब्द के पहले आयुः शब्द लुप्त
होना चाहिये । इस प्रकार आयुर्वेद के लिये वेद शब्द का
ग बहुत होता है ।

प्राणाचार्य बुधस्तस्माद्धीमन्त वेदपारगम् ॥ (चरक)

प्राणाचार्य वेदपार प्रयातम् । (अ० संग्रह)

आयुर्वेद अनादि और शाश्वत है, अतः उसकी नवीन
त्ति नहीं हो सकती । उत्पत्ति का अर्थ केवल अभिव्यक्ति है
आयुर्वेद में जहां आयुर्वेदोत्पत्ति शब्द प्रयोग होता है वहां
त्ति का यही अर्थ करना चाहिये । चरक-संहिता में लिखा
सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते अनादित्वात्, स्वभावसिद्ध-
णत्वात्, भावस्वभावनित्यत्वाच्च । न ह्यायुर्वेदस्याभूत्वोत्पत्तिरूप-
ते, अन्यत्रावबोधोपदेशाभ्याम् । एतद् द्वयमधिकृत्योत्पत्तिमुप-
लस्येके । (सूत्रस्थान अ०-३०)

आयुर्वेद एक अत्यन्त प्राचीन चिकित्साशास्त्र है । भारतीयों
दृष्टि से आयुर्वेद अनादि है, जिस की केवल अभिव्यक्ति
भूदेव प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में किया करते हैं । इस आयुर्वेद
अत्यन्त प्राचीन काल से कायचिकित्सा और शल्यचिकित्सा
एक चिकित्सा के दो संप्रदाय प्रचलित हैं । प्रथम संप्रदाय
हर्षि आत्रेय के नाम से और द्वितीय संप्रदाय भगवान्
धन्वन्तरि के नाम से प्रसिद्ध है । प्रत्येक संप्रदाय के आचार्यों
कई ग्रन्थ निर्माण किये थे । इन में से अधिकांश ग्रन्थ
गज अनुपलब्ध हैं । उपलब्ध ग्रन्थों में चरक-संहिता आत्रेय
संप्रदाय का और सुश्रुत-संहिता धन्वन्तरि संप्रदाय का प्रधान
ग्रन्थ है । भगवान् धन्वन्तरि से महर्षि सुश्रुत जी ने गल्य-ग्रधान

आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त कर जो ग्रंथ निर्माण किया था उसका
नाम सुश्रुत तंत्र था । महर्षि सुश्रुत विश्वामित्र के पुत्र थे ।
सुश्रुत का काल निश्चित करने के लिये कोई ठीक साधन नहीं
है । आधुनिक पुराण-शास्त्रविदों का यह मत है कि सुश्रुत का
काल ख्रिस्तपूर्व एक हजार साल से कम नहीं हो सकता ।
परन्तु आज जो सुश्रुत-संहिता उपलब्ध है वह यद्यपि सुश्रुत के
नाम पर प्रसिद्ध है तथापि वह सुश्रुत-प्रणीत मूल संहिता नहीं
है । इसके कई प्रमाण उपलब्ध सुश्रुत-संहिता में मिलते हैं ।

(१) कहीं कहीं ग्रंथारंभ में निम्न पाठ मिलता है—

नमो ब्रह्मप्रजापत्यश्विबलभिद्धन्वन्तरिसुश्रुतप्रभृतिभ्यः ॥

उपलब्ध संहिता मूल सुश्रुत-प्रणीत होती तो ग्रंथारंभ में
सुश्रुत को प्रणाम करने की कोई आवश्यकता नहीं थी ।

(२) मूल सुश्रुत तंत्र के कई पाठ वृद्ध सुश्रुत के नाम से
सर्वांगसुंदरी, व्याख्या मधुकोश, व्याख्या कुसुमावलि, निबंध
संग्रह, तोडरानन्द, भावप्रकाश इत्यादि ग्रंथों में उद्धृत किये हैं
जो उपलब्ध सुश्रुत-संहिता में नहीं मिलते हैं ।

(३) इस अध्याय के पहले सूत्र पर टीका लिखते हुए
डल्हणाचार्य कहते हैं—

यत्र यत्र परोक्षे लिङ्प्रयोगस्तत्र तत्रैव प्रनिसंस्कर्तृसूत्रं शातव्यम् ।
प्रतिमस्कर्ताऽपीह नृप्रभर्तुन एव ॥

(४) सुश्रुत-संहिता के प्रथम, तृतीय और चतुर्थ अध्याय में
संहिता के केवल एक ही अध्याय और पांच स्थान लिखे
हैं । उत्तर तंत्र का उल्लेख स्वतंत्र किया है ।

वीज चिकित्सात्मिनस्यैतत्समासेन प्रकीर्तितम् ।

सर्विशमभ्यायशनमस्य व्याख्या भविष्यति ॥

तच्च सर्विशमभ्यायशन पंचसु स्थानेषु । तत्र सूत्रनिदानशारीरचिकि-
त्सिनकल्पेषु अर्थवशात् मविभज्य उत्तरे तत्रे शेषानर्थान् व्याख्यास्यामः ।
इससे यह स्पष्ट है कि उत्तरतंत्र को किसी ने बाद में इस
संहिता में समाविष्ट किया है ।

(५) पंचम स्थान के अंत में आयुर्वेद का महत्त्व वर्णन कर
संहिता की समाप्ति के सूचक श्लोक मिलते हैं ।

(१) उत्तर तत्र के प्रारम्भ में निम्न नामक अन्य ऋषि का निर्देश किया है। यत्न सुश्रुतसंहिता में भगवान् धन्वन्तरि के सिवाय अन्य किमी का भी निर्देश नहीं होना चाहिये। ऋषि सुश्रुतादि ऋषि भगवान् धन्वन्तरि के पास आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त करने के लिये गये थे। इस से यह मालूम होता है कि मूल सुश्रुत, जो शल्य प्रधान था, की पूर्ति करने के लिये अन्य आयुक्त उत्तरतत्र किमी ने इस में समाविष्ट कर दिया।

उपयुक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आज की सुश्रुतसंहिता मूल सुश्रुत तत्र की प्रतिसंस्कृत आवृत्ति है। यह संस्करण नागार्जुन नामक आचार्य के द्वारा हुआ है ऐसी किंवदन्ति प्राचीन काल से प्रचलित थी जिस का जिक्र इल्लहानाचार्य ने अपनी पहले अध्याय के पहले ही सूत्र की टीका में किया है।

भारतवर्ष में सिद्ध नागार्जुन, बौद्ध नरपति नागार्जुन और महायान प्रतिष्ठापक नागार्जुन नामक अनेक नागार्जुन हो चुके हैं। इन में से महायान प्रतिष्ठापक बौद्ध नागार्जुन ने सुश्रुत का प्रतिसंस्करण किया—ऐसा कुछ विद्वानों का मत है। यह नागार्जुन दो हजार साल के पहले था। इस से यह सिद्ध है कि आज की उपलब्ध सुश्रुतसंहिता कम से कम दो हजार साल की पुरानी है।

इस सूत्र की टीका में इल्लहान सूत्र के चार प्रकार लिखते हैं—

(१) यिष्यसूत्रम्। उदाहरण—

बायो प्रकृतिभूतस्य व्यापन्नस्य च लक्षणम्।
स्थान कर्म च रोगाश्च ब्रह्म बरतारवर्।।

(२) शुद्धसूत्रम्। उदाहरण—

देहं विचरतस्तस्य लक्षणानि निबोध मे।

(३) एकीयसूत्रम्। उदाहरण—

तत्र लोहितकपिलपाण्डुपीतनीलशुक्रैश्ववनिर्देशेषु प्रधुराम्बुवणकडु तिलकवाणायि यथात्मस्य मुदकानि भवन्ति इत्येक भाषने॥

(४) प्रतिर्स्कृतसूत्रम्। उदाहरण—

ययोवाच भगवान् धन्वन्तरि।
रक्षण—यत्र यत्र पराशेन्द्रिययोगान्त्र तत्र प्रतिष्कृतसूत्रम्।
कात्थ्यम्।

शब्दपाण्डित्य शरक की अपनी टीका में चार प्रकार के सूत्रों का उल्लेख करने लिखते हैं कि यद्यपि सूत्र चार प्रकार के होते हैं तथापि उन के प्रयोगाओं को भिन्न भिन्न मानने की आवश्यकता नहीं है। एक ही मनुष्य भिन्न भिन्न प्रकार की भूमिका लेकर भिन्न भिन्न प्रकार के सूत्र निर्माण करता है। इसलिये शरकसंहिता में मिलने वाले सव सूत्र अग्निपेय प्रणीत और सुश्रुत में मिलने वाले सव सूत्र सुश्रुत प्रणीत समझने चाहिये।

'कनेन भ्यानेन परंकेऽपि प्रकृतिर्भृङ्गपारशेन्द्रियविधिवान्नि।
तत्र परंकेऽग्निपेय सुश्रुते सुश्रुत एव सूत्राणां प्रणेता कश्चित् विद्विन्मूर्धे
स्तेषु निर्दिष्टे वा शब्दव्यतिकरूपे प्रकृत्यन्तरं दर्शयन् विनिरिति सव
प्रकृत्यनुपेक्षयन्नाथ विभवेऽपि प्रमाणानुपेक्षयन्ना विकरित॥ (विशेष
विचरण के लिये शरक सूत्र स्थान अध्याय १ में 'इति इ स्माह
भगवानात्रेव' सूत्र की टीका देता)

अथ खलु

श्रमम्यं काशिरा

वैतरणौरध्रप्रीष्कलावतकरवीयेगापुररांछतसुश्रुतप्र
भूतय उचुः ॥२॥

एक समय ऋषिगणों से परिवेष्टित अपने आश्रम से विराजमान देवश्रेष्ठ काशिराज दिवांदास भगवान् धन्वन्तरि जी से औपधेनव, वैतरण, औरध्र, पीष्वलावत, करवीये, गोपुररक्षित, सुश्रुत प्रभृति ऋषि पूछने लगे ॥२॥

यत्कथ्य—समसैर्षर्यं महास्य यथा श्रीकामार्थे प्रयत्न
युक्तं जो होता है, उसे भगवान् कहते हैं। यथा—

पेशर्यस्य समप्रय वीयेभ्य यज्ञ मिय ।

ज्ञानवेराभ्यधीश्वेव षण्णां भग होतीत्या ॥ (विष्णुपुराण)

किया—उत्पत्ति प्रत्य वैव भूतायामगतिं गतिम्।

वेति विधानविधां च स वाच्यो भगवानिति ॥

धन्वन्तरि की योग्यता, सदैव्यता और विश्वसनीयता प्रदर्शित करने के लिये भगवान् विशेषण प्रयुक्त किया गया है। यद्य चिकित्सा में जो पारगत है वह धन्वन्तरि कहलाता है। धन्व शल्यशस्त्र तस्य अन्न पारम्भ्य इति गच्छतीति धन्वतरि।

सुश्रुतप्रभृतय—भगवान् धन्वन्तरि के पास शल्यशस्त्र पढ़ने के लिये जो ऋषि गये थे उनकी संख्या सात से अधिक थी यह बतलाने के लिये प्रभृति शब्द का उपयोग किया गया है। उन में जो महत्त्व के या नाम महान् योग्य ऋषि रहे उन नाम यहाँ दिये हैं। जो विशेष महत्त्व के नहीं थे, उन सबों के समावेश प्रभृति शब्द में किया है। प्रभृति शब्द से 'भोजादय तथा 'निमिकाङ्कयनगार्यगहवा' ऐसा अपना और दूसरे के मत इल्लहान ने टीका में दिया है। गोपुररक्षित नाम से कौं गोपुर और रक्षित ऐसे दो ऋषि मानते हैं।

भगवन् ! शरीरमानसागन्तुव्याधिभिर्निबिधं
वेदनाभिघातोपद्रुतान् सनाथानप्यनाथयत्रिच्चैष्टमा
नान् , विक्रोशातश्च मानवानभिसमीक्ष्य मनसि न
पीडा भवति; तेषां सुर्यपिण्यां रोगोपशमार्थमात्म
नश्च प्राणयात्रार्थे प्रजाहिनहेतेरायुर्वेदं श्रोतुमि-
च्छाम इहोपदिश्यमानम् ॥३॥

हे भगवन् ! शरीर, मानस और आगन्तुक रोगों से, माना प्रकार की पीड़ा के द्वारा से दुःखित और धन मित्रादिक बन्धुओं की अनुपस्थिता होते हुए भी दीन अमहाय की भांति तड़फने और विलाप करते हुए मनुष्यों की देखकर हमारे मन में दुःख होता है। अतः उन आरोग्याभिलाषी रोगियों की रोग-शान्ति के लिये प्रजा-कल्याणार्थ और हमारे स्वास्थ्यरक्षण के लिये आप यहाँ आयुर्वेद का जो उपदेश किया करते हैं उसे श्रवण करने की हम सब इच्छा करते हैं ॥३॥

यत्कथ्य—शरीर, मानस, आगन्तुक और स्वाभाविक ऐसे व्याधिर्षी के चार प्रकार इन्हीं अध्याय में आगे लक्ष्णों के साथ बतलाये गये हैं। इन में से केवल तीनों का ही यहाँ

श सहेलुक किया है । कारण यह है कि केवल तीनों प्रकार लोगों की चिकित्सा यानि उपायों द्वारा प्रतिकार हो सकता अर्थात् आयुर्वेद की अधिकार-मर्यादा इन तीनों पर ही है । अर्थ से चरक-संहिता में लिखा है—

त्रयो रोगा इति-निजाऽऽन्तुमानसाः । (सूत्रस्थान अ० ११)
स्वाभाविक रोगों की चिकित्सा असंभव होने के कारण का निर्देश यहां नहीं किया ।

कालस्य परिणामेन जरामृत्युनिमित्तजाः ।

रोगाः स्वाभाविका दृष्टाः स्वभावो निष्प्रतिक्रियः ॥ (चरकशा. अ० १)
परंतु कहीं कहीं 'शारीरमानसागन्तुस्वाभाविकैर्व्याधिभिः' भी पाठ मिलता है । वहां स्वाभाविक रोग का अर्थ गलत कृत स्वाभाविक रोग समझना चाहिये । व्याधि-पुद्देशीय (सू. सू. अ० २४) अध्याय में लिखा है—

स्वभाववत्प्रवृत्ताः क्षुत्पिपासाजरा मृत्युनिद्राप्रमृतयः, तेऽपि-द्विविधाः लक्ष्णा, अकालकृताश्च । तत्र परिरक्षणकृताः कालकृता, अपरिरक्षणकृता कालकृताः ।

इन में अपरिरक्षण कृत रोग अन्नपानमूलक होने के कारण कित्तय हैं । परिरक्षण कृत निष्प्रतिक्रिय होते हैं ।

सुख का अर्थ आयुर्वेदिक परिभाषा के अनुसार आरोग्यता है ।

सुखसंशकमारोग्य विकारो दुःखमेव च ॥ (चरक. सू. अ० ९)

शरीर सत्त्वसज्ञ च व्याधीनामाश्रयो मतः ।

तथा सुखानां योगस्तु सुखानां कारण समः ॥ (चरक. सू. अ. १)

'प्राणयात्रार्थे' पद का सरल अर्थ 'जीवरक्षणार्थे' होता है ।

इसी अर्थ का थोड़ा दूरान्वय करके डल्हन-टीका के अनुसार तथा आयुर्वेद के आगे जो दो उद्देश्य बतलाये गये हैं उनके अनुसार तथा 'प्रजाहितहेतोः' पद का विचार कर 'स्वास्थ्यक्षण के लिये' ऐसा अर्थ किया है । कुछ टीकाकार 'प्राणयात्रार्थे' का अर्थ 'वृत्तिकर' ऐसा करते हैं । परन्तु 'व्याधिभिर्विधिवेदनाभिघातोपद्रुतान्मानवानभिसमीक्ष्य मनसि नः पीडा भवति' इस वाक्य का ध्यान रखते हुए 'प्राणयात्रार्थे' का अर्थ वृत्तिकर करना यहां उचित नहीं है । जो ऋषि जनता का क्लेश देखकर मन में दुःखित हुए वे उन रोगियों से चिकित्सा के ऐवज में धन लेकर अपना निर्वाह करने की इच्छा कभी भी नहीं कर सकते हैं । इस विषय का अधिक विवेचन आगे सूत्र १० के वक्तव्य में किया गया है ।

अत्राऽऽयत्तमैहिकमामुष्मिकं च श्रेयः । तद्ग-
गन्तमुपपन्नाः स्मः शिष्यत्वेनेति ॥४॥

सांसारिक और पारलौकिक कल्याण इस आयुर्वेद के अधीन है, इसलिये हम शिष्य-भाव से आपकी शरण में उपस्थित हुए हैं ॥४॥

वक्तव्य—आयुर्वेद यद्यपि वेद का उपांग है तथापि वेद की अपेक्षा इस में एक विशेषता होती है । वेदों का अध्ययन करने से केवल स्वर्गलाभादि पारलौकिक श्रेय प्राप्त होता है; परंतु आयुर्वेद का अध्ययन करने से धनमानादि सांसारिक सुख और रोगियों को जीवन दान करने के कारण स्वर्गलाभादि पारलौकिक सुख भी प्राप्त होता है । सुश्रुत और चरक में लिखा है—
'स पुष्पकर्मां भुवि पूजितो नृपैस्सुख्ये शकसलोकतां व्रजेत्' ॥ (सू. अ. १)

'धर्मार्थसदृशस्तस्य दाता नेहोपलभ्यते ।

नहि जीवितदानाद्धि दानमन्यद्विशिष्यते ॥' (चि० अ० १)

'तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेदविदा मतः ।

वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोर्भयोर्हितः ॥' (च० सू० अ० १)

तानुवाच भगवान्—स्वागतं वः, सर्व एव अमी-
मांस्या अध्याप्याश्च भवन्तो वत्साः ॥५॥

भगवान् धन्वन्तरि ने उन से कहा कि आप लोगों का आगमन बहुत ही उत्तम है, आप सब शिष्य (कुलमीलादि दृष्टि से) अविचारणीय और पढ़ाने योग्य हैं ॥५॥

वक्तव्य—भगवान् धन्वन्तरि के पास जो ऋषि आयुर्वेद पढ़ने के लिये आये थे, उनका वर्ण, कुल, वय इत्यादि ज्ञात होने के कारण वे ऋषि अविचारणीय (अमीमांस्याः) थे और उनकी बुद्धि, शक्ति तथा नीति ज्ञात होने के कारण वे अध्याप्य थे ।

याज्ञवल्क्यस्मृति में अध्याप्य शिष्यों के लिये निम्न गुण बतलाये गये हैं ।

कृत्स्नाऽद्वैतमेधाविशुचिकल्पानस्यकाः ।

अध्याप्या धर्मतः साधुशक्तानुज्ञानवित्तदाः ॥ (अ० १-२८)

सुश्रुत में भी आगे द्वितीय अध्याय में आयुर्वेद पढ़ाने योग्य विद्यार्थियों के लक्षण दिये हैं ।

इह खलु आयुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्यानु-
त्पाद्यैव प्रजाः श्लोकशतसहस्रमध्यायसहस्रं च
कृतवान् स्वयंभूः, ततोऽल्पायुष्ववमल्पमेधस्त्वं
चालोक्य नराणां भूयोऽष्टधा प्रणीतवान् ॥६॥

इस संसार में वह ही आयुर्वेद कहलाता है जो अथर्ववेद का उपांग है और जो ब्रह्मदेव ने सृष्टि की उत्पत्ति के पहले एक लक्ष श्लोकों और एक हजार अध्यायों में निर्मित किया है । फिर मनुष्यों की स्वल्प आयु और बुद्धि देखकर पुनः (ब्रह्मदेव ने) उसके आठ भाग कर दिये हैं ॥६॥

वक्तव्य—सुश्रुत की भांति चरक और हस्त्यायुर्वेद में भी आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद माना गया है । परन्तु व्यास कृत चरणव्यूह और शंकरकृत आयुर्वेद नामक ग्रन्थों में ऋग्वेद का उपवेद माना गया है ।

सुश्रुत-संहिता में आयुर्वेद के आठ विभाग ब्रह्मदेव कृत बतलाये हैं परन्तु अष्टांग संग्रह में आयुर्वेद के आठ विभाग अग्निवेशादि ऋषि-प्रणीत बतलाये हैं ।

आयुर्वेदः श्लोकलेण पूर्वं ब्राह्मस्वासीदग्निवेशादयस्तु ।

कृच्छ्राज्येयप्राप्तपाराः सुतन्त्रास्तस्यैकैक नैकभाङ्गानि तेतुः ॥ (उ. अ. ५०)

हारीत-संहिता में लिखा है कि लोगों की थोड़ी आयु और बुद्धि देखकर लक्ष श्लोकात्मक आयुर्वेद की छोटी छोटी पाँच संहिताएँ बनाई गई ।

आयुर्वेदमपारं त श्लोकानां लक्षसख्यया ।

कथं तस्य परिज्ञान कालेनाल्पेन पुत्रक ॥

अल्पायुषोऽल्पवक्त्रारः स्वल्पशास्त्रविशारदाः ।

अल्पावधारणे शक्ताः कलौ जाता स्मे नराः ॥

चतुर्विंशतहस्तस्तु मयोक्ता चायसंहिता ।

तथा द्वादशसाहस्री द्वितीया संहिता मता ॥

मूर्त्या यन्मूर्तिमु चतुर्भी विभिनत्र च ।

पवनी देवराजने प्रभा पञ्चात्र मर्तिना ॥ (अ० १)

इसी प्रकार अन्य शाली में भी अपने अपने शास्त्र की उपति और विचार समग्र से बनाया गया है। वाग्व्यायन के कामशास्त्र के प्रारम्भ में लिखा है—

प्रजापतिर्हि प्रजा सपुत्रांशोऽप्यु विभिननिन्धत प्रिर्वन्व मान्त मन्वायानोऽस्मिन्महर्षणाधे नोत्तरा ॥

अत्रपायुष्टम्—स्मृति और पुराणों के अनुसार आयुर्वेद में भी यह माना गया है कि युग के अनुसार मनुष्यों की आयु घटती जा रही है। हनुयुग में चार सौ साल की, त्रेतायुग में तीन सौ साल की, द्वापर में दो सौ साल की और कलियुग के आरम्भ में एक सौ साल की आयु होती है। हम से भी आयु और धीरे धीरे घटती जा रही है। मनुस्मृति और चरक में लिखा है—

ऋषेः स्वर्गिणापुत्रानुर्यैरारण्युर्च ।

इने जन्मिन्नु स्यात्मायुर्वनति पञ्चा ॥ (मनु १, ८३)

युगे युगे धर्मराज इमन्नेन होषवे ।

गुणपदश्च भूतानामत्र सौक प्रदीषवे ॥

मन्वन्तराणे पूर्णे यानि मन्वन्त भवन् ।

दहितान्पुर कृणे वष य मान्त्रियेष ॥ (चरक वि अ ३)

तद्यथा—शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, भूत विद्या, कौमारभृत्यम्, अगदतन्त्रं, रसायनतन्त्रं, याजीकरणतन्त्रमिति ॥ ७ ॥

वे आठ भाग ये हैं—(१) शल्यतत्र (२) शालाक्यतत्र (३) कायचिकित्सा (४) भूतविद्या (५) कौमारभृत्य (६) अगन्तत्र (७) रसायनतत्र (८) याजीकरणतत्र ॥ ७ ॥

अथाश्ल्य प्रत्येकमङ्गलक्षणसमास ॥ ८ ॥

अब उपर्युक्त प्रत्येक अङ्ग के संक्षिप्त लक्षण कहते हैं ॥ ८ ॥

(१) तत्र शल्य नाम विविधतृणसृष्टपायाण्येषां लोहलोहास्थिवालनस्यपूयास्त्रावान्तर्गमेशल्योद्धरणार्थं, यन्त्रशस्त्रकाराग्निप्रणिधानस्यविविधश्रयार्थं च ॥

घास, लकड़ी, पथर, रजकण, लोह, मिट्टी, हड्डी, बाल, मूल, पूय, अन्य छाव, अस्वीगत मृदमभारिद नाना प्रकार के शल्य निकालने का ज्ञान, शस्त्रयन्त्रादि शस्त्रों का प्रयोग करने का ज्ञान तथा घर्षों का निश्चय किस प्रकार से किया जाय? इस का ज्ञान आयुर्वेद के जिम अंग में होता है उसे शल्यतंत्र कहते हैं ।

चक्षादय—उपर्युक्त सूत्र में नाना प्रकार के शल्यों के उदाहरण देकर शल्य का विषय स्वरूप बतलाया गया है । अतः शल्य का सामान्य स्वरूप बतलाने के लिये लक्षण में अपनी टीका में निम्न श्लोक दिया है ।

अनिप्रवृद्ध मन्दीपत्र या शरीरिणां स्थावरजगमानाम् ।

यत् किंचिदाप्युत्तर शरीरे तत् सर्वमेव प्रवर्त्तन्ति शल्यम् ॥

इस श्लोक का अर्थ अधिक व्यापक कर कुछ लोग शल्य से आगे बतलाये गये घातों प्रकार के रोग समझते हैं । परन्तु यह गलत है । इस श्लोक का अर्थ उपर्युक्त सूत्र तथा छन्दोसर्वे

अध्याय में शल्य का जो स्पष्टीकरण दिया है, उसके अनुसार करना उचित है ।

'शरीरिणां मनुष्याणां शरीर अनिप्रवृद्ध मन्त्र मूर्त्तुत्तरिर्जगमान्' अर्थात् अनिप्रवृद्ध शरीर (शरीर) निष्कर्मण्यं भवन्तु शल्यनाम् । अन्तराङ्गिभ्युपद्रवादिषु च, तथा स्थावरानां जगत्प्रवृत्तौ लोहके प्रवृत्तानां शरीरानां इन्निर्दिष्टरीत्या वा यत् किंचिदाप्युत्तर शरीरे तत् सर्वे इत्येव प्रवर्त्तन्ते ॥

शल्यतत्र विभाग पाश्चात्य वैद्यशास्त्र में 'सर्जरी' (Surgery) नाम से प्रसिद्ध है ।

(२) शालाक्य नाम ऊर्ध्वजत्रुगतानां रोगाणां श्रवणनयनपदप्रत्यूषादिर्मन्धितानां व्याधीनामुपशामनार्थं, शालाकायन्त्रप्रणिधानार्थं च ॥

काने, नेत्र, मुख, नासादि जत्रु के ऊपर के अंगों में उपाय हुए रोगों की शानति करने के लिये तथा शलाका यन्त्र के उपयोग करने के लिये जो (आयुर्वेद का) अंग होता है, उसे शालाक्यतत्र कहते हैं ।

चक्षादय—'शलाका, तथा कर्मे, मन्त्रपान तथा शालाक्यमन्त्रिम अंग में शलाका यन्त्र का उपयोग विशेष रूप में होता है उसे शालाक्यतत्र कहते हैं । अष्टांग मय्य और इद में इसका उपयोग 'ऊर्ध्वोर्ग' शब्द में किया गया है । 'भ्रानादि यहाँ आदि शब्द से मिर समझना चाहिये । हासिं हरिनाः लिखा है— शिरोरोगा नेत्ररोगा कर्णरोगा विरुषन् ।

शूण्डाशयमन्त्रासु ये राग मभवन्ति ॥

तथा प्रतीकारकर्म नस्वत्स्वभानति च ।

अथगमुत्तमहृषत्रिया शालाक्यमिति ॥

जत्रु—इस के अर्थ के समन्वय में बहुत मत भिन्नता पायी जाती है । इस से छाती और मीवा के तरणारिष, मीवा, कण्ठ नाडी (Trachea), मीवामूल, कर्णोप्यमधि, हनुसधि इत्यादि अर्ध भिन्न भिन्न टीकाकार समझते हैं । प्रासत आयुर्वेदिक परिभाषा में जत्रु शब्द अक्षक (Clavicle) का पर्याय माना जाता है । जैसे—

'अथह नाम अनमूल्यदूर फलकमजत्रु धनुर्वक नल्कारिष । तरेण 'जत्रु' मन्त्रमिति प्राश्न' (अथय शरीर पृ ५२) । परन्तु इस अर्थ से जत्रु का उपयोग प्राचीन आयुर्वेदिक ग्रंथों में क्वचित् दिखलाई देता है । चरक में अस्थि गणना के समय 'ह्रवक्षरि, एक जत्रु' इस प्रकार अक्षक और जत्रु का स्वयम् निर्दिष्ट किया है । यह शब्द संदेय पक्वचन में प्रयुक्त होता है और अक्षक द्विवचन में प्रयुक्त होता है । इन सब बातों का विचार करने पर अक्षक के स्थान में जत्रु से कण्ठनाडी समझना अधिक प्रयत्न है । विशेष विवरण के लिये डॉ० होर्न की Studies in the medicine of ancient India Part I पृष्ठ १५८-१६८ देखो ।

शालाक्य में समाविष्ट किये अंगों में से आधुनिक वाय्रा वैद्यक में काने, नासा और कण्ठ (Ear, Nose and Throat) का एक विभाग होता है, आँसू का (Ophthalmology) स्वयम् विभाग होता है, दाँत का (Dentistry) स्वयम् विभाग होता है और शिरोरोग सामान्य कायचिकित्सा में समाविष्ट होते हैं ।

(३) कायचिकित्सा नाम सर्वाङ्गसंश्रितानां व्याधीनां ज्वररक्तपित्तशोषोन्मादापस्मारकुष्ठमेह-
तिसारादीनामुपशमनार्थम् ॥

ज्वर, रक्तपित्त, राजयक्ष्मा, उन्माद, अपस्मार, कुष्ठ, प्रमेह, तिसारादि सर्व शरीर में फैले हुए रोगों की शान्ति किस प्रकार की जाती है इस विषय का ज्ञान जिस अंग में है उसे काय-
चिकित्सा कहते हैं ।

(४) भूतविद्या नाम देवासुरगन्धर्वयक्षरक्षः-
पिशाचनागग्रहाद्युपसृष्टचेतसां शान्तिकर्मचलि-
रणादिग्रहोपशमनार्थम् ॥

देव, दैत्य, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, पिशाच, नाग, हादि से परित्त चित्तवाले लोगों के ग्रहादि द्रोप होम (हवन) लिदानादि उपायों से दूर करने के लिये जो अंग होता है उसे भूतविद्या कहते हैं ।

(५) कौमारभृत्यं नाम कुमारभरणधात्रीक्षीर-
शोषसंशोधनार्थं दृष्टस्तन्यग्रहसमुत्थानां च व्याधी-
नामुपशमनार्थम् ॥

बालकों का पोषण करने के लिये, धात्री के दूध के दोष शोधन करने के लिये, दूषित दूध से तथा बालग्रहों से उत्पन्न होने वाले बालकों के रोगों की शान्ति करने के लिये जो अंग होता है उसे कौमारभृत्य कहते हैं ।

वक्तव्य—अष्टाग मंत्र और हृदय में इसी अंग का नाम 'बालचिकित्सा' दिया है । अंग्रेजी में बालकों के धारण पोषण के इस अंग को (Science of Paediatrics) कहते हैं । कौमारभृत्य में बालरोगों के सिवाय 'योनिल्यापचिकित्सा' का भी समावेश होता है यद्यपि इसका उल्लेख यहाँ नहीं किया है ।

(६) अगदतन्त्रं नाम सर्पकीटलूतामूषिकादिदृष्ट-
विषव्यञ्जनार्थं विविधविषसंयोगोपशमनार्थं च ॥

सर्पकीटलूतादि से इसे हुए, अनेक प्रकार के स्वाभाविक, कृत्रिम और संयोगविष से उपहत मनुष्यों के विषों का निदान तथा चिकित्सा के लिये जो अंग होता है उसे अगदतन्त्र कहते हैं ।

वक्तव्य—अष्टाग मंत्र और हृदय में इस अंग का नाम 'दंष्ट्राचिकित्सा' दिया है । अंग्रेजी में इसे Toxicology कहते हैं । चरक में 'विषगवैरोधिकप्रगमनम्' और कहीं कहीं 'जांगलि' शब्द से इसका उल्लेख किया गया है ।

(७) रसायनतन्त्रं नाम वयःस्थापनमायुर्मधा-
यलकरं रोगापहरणसमर्थं च ॥

तारुण्यावस्था (योग्य काल तक या उम्र में भी अधिक काल तक) स्थापन करने के लिये, आयु, बुद्धि और बल की वृद्धि करने के लिये तथा (शरीर के भीतर स्वाभाविक) रोग प्रति-
रोधक शक्ति (Natural immunity) बढ़ाने के लिये जो अंग है, उसे रसायनतन्त्र कहते हैं ।

वक्तव्य—वयःस्थापन का अर्थ तारुण्यावस्था की वृद्धि करने वाला अर्थात् अप्रत्यक्षतया शरीर स्थिर करके जराहरण करनेवाला होता है । रसायन के गुणों का वर्णन करते समय चरक में लिखा है—

दीर्घमायुः सृष्टि मेधामारोग्य तरुण वयः ।

प्रभावरुणस्वरौद्रार्थं देहेन्द्रियबल परम् ॥

वाक्सिद्धिं प्रणतिं कान्तिं लभते ना रसायनात् ॥ (चि.अ.१)

अन्य प्रयोगाच्चयवनः सुवृद्धोऽभूत् पुनर्युवा ॥

स्थिर शरीरं क्रियते शरीरिणाम् ॥ (अ.सं.उ.अ.४९)

(८) वाजीकरणतन्त्रं नाम अल्पदृष्टक्षीणविशुष्क-
रेतसामाप्यायनप्रसादोपचयजनननिमित्तं प्रहर्षजन-
नार्थं च ॥

अल्पवीर्य, दृष्टवीर्य, क्षीणवीर्य और शुष्कवीर्य लोगों में वीर्यपुष्टि, वीर्यशोधन, वीर्यवृद्धि और वीर्योत्पादन के लिये तथा (स्वस्थ लोगों में मैथुन के समय) हर्ष बढ़ाने के लिये जो अंग होता है उसे वाजीकरणतन्त्र कहते हैं ।

वक्तव्य—इस सूत्र का एक वैकल्पिक व्याख्यान डल्हन ने अपनी टीका में दिया है—

अल्परेतसः पचविंशतिमप्राप्ताः । क्षीणरेतमस्तु मध्यमवयसः कारणा-
दल्पीभनरेतमः । शुष्करेतसो वृद्धाः ।

पुरुषों में वाजीकरण सेवन का अधिकार केवल तारुण्या-
वस्था में होता है । बाल और वृद्धावस्था वाजीकरण के लिये निषिद्ध है । इसलिये ऊपर 'अल्परेतस और शुष्करेतस का जो अर्थ दिया गया है वह ही नहीं सकता । चक्रपाणिदत्त चरक (चिकित्सास्थान अ० २) के 'वाजीकरणमन्विच्छेत् पुरुषो नित्यमात्मवान्' श्लोक पर टीका करते हुए लिखते हैं—

'पुरुषः' इति पदेन तरुणपुरुषादिणा बालवृद्धौ निषिद्धव्यवायौ निराकरोति । उक्त हि—

अतिवाले ह्यसम्पूर्णसर्वधातुः क्रियं व्रजन् ।

उपतयेत् सहस्रं तदगमिव काजलम् ॥

शुष्कं रक्ष यथा काष्ठं जन्तुदधं विजर्जरम् ।

स्पष्टमाद्यु विरीर्येत् तथा वृद्धः क्षिपी व्रजन् ॥ (च. चि. अ. २)

इसलिये अल्परेतस्त्वादि पारों द्रोप युवावस्था में ही विरुद्ध आहार विहार के कारण उत्पन्न हुए समझना चाहिये । इस अंग का उल्लेख कामशास्त्र में 'ओपनिषदिक' नाम से होता है ।

एवमयमायुर्वेदोऽष्टाङ्ग उपदिश्यते । अत्र कस्मै
किमुच्यताम् ॥९॥

इस प्रकार यह आयुर्वेद अष्टाङ्ग कहलता है । इस में से किस का किम अंग का उपदेश किया जावे ॥९॥

वक्तव्य—यद्यपि उपर्युक्त आयुर्वेद के आठ चिकित्सा विभाग स्वतंत्र रूप से बतलाये गये हैं तथापि कायचिकित्सा और शल्य के सिवाय अन्य अंगों के ग्रन्थ आज लुप्तप्राय हैं । उन अंगों के ग्रन्थों का ज्ञान संग्रह-ग्रन्थों से होता है । प्राचीन काल में इन अंगों के ग्रन्थ तथा उनके विशेषज्ञ भी थे । इस का ज्ञान वैद्यक ग्रंथों के सिवाय अन्य ग्रंथों से होता है ।

उपानिष्ठन्थो वैद्याः शान्योहरणकोविदाः ।

मौषिकरुणैशुक्ता कुशैः साधु सिद्धिनाः ॥ (महाभारत) ।

चिदित्थकः शन्यन्त्रागदरेदवन्धस्नाः ॥ (कौ० अर्थ०) ।

आपन्नसत्त्वाया नौमारभृत्यो गभमर्मणि प्रजने च वियतेत् ॥ (कौ०)

नरमादन्यं जागलिविदो मियजक्षामन्नाः स्युः ॥ (कौ० अर्थ०) ।

तुन्नुम्गर् औपनिषदिकमिति ॥ (वात्स्यायन कामसूत्र) ।

परन्तु आज कायचिकित्सा के सिवाय अन्य सब सम्प्रदाय विलुप्तप्राय हैं ।

त ऊचुः—अस्माकं सर्वेषामेव शल्यज्ञानं मूलं कृत्वोपदिशानु भगवानिति । स उवाचैवमस्त्विति ॥१०॥
सब शिष्य बोले—हम सब ही को शल्यप्रधान आयुर्वेद का उपदेश आप कीजियेगा । भगवान् धन्वन्तरि ने कहा—ऐसा ही होगा ॥१०॥

वक्तव्य—मूल शब्द का अर्थ आद्य है । परन्तु यहाँ प्रधान अर्थ सुश्रुत के निम्न आधार पर किया है—

मस्य तु शास्त्रस्य शकृत्कर्मप्रधानाच्च शकृत्कर्मैव तत्र पूर्वमुनेस्वामस्तत्प्रमाणं ॥ (सूत्र० अ० ५)

त ऊचुर्भूयोऽपि भगवन्तम् । अस्माकमेकमतीनां मतमभिसमीक्ष्य सुश्रुतो भगवन्तं प्रह्यति, अस्मै चोपदिश्यमानं ययमप्युपघातयिष्यामः । स उवाचैवमस्त्विति ॥११॥

सब शिष्य फिर धन्वन्तरि भगवाद् से बोले—एक मति बाडे हम सब का मत देखकर सुश्रुत आप से प्रश्न करेंगे और उनके लिये आप जो उपदेश करेंगे हम सब उसको धारण करेंगे । उस पर धन्वन्तरि भगवान् बोले—ऐसा ही होगा ॥११॥

घत्स सुश्रुत ! इह खल्यायुर्वेदप्रयोजनं व्याधुपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः, स्वस्थस्य रक्षणं च ॥१२॥

हे पुत्र सुश्रुत ! रोग से पीड़ित मनुष्यों का रोग निवारण करना और स्वस्थ मनुष्यों के स्वास्थ्य की रक्षा करना यह आयुर्वेद का प्रयोजन है ॥१२॥

वक्तव्य—चरक में भी आयुर्वेद का यही प्रयोजन बतलाया गया है । वहाँ अनुक्रम उल्टा है । परन्तु चरक का ही अनुक्रम स्वाभाविक और योग्य है ।

प्रयोजन चाय स्वस्थस्य स्वस्थरक्षणं मनुष्यस्य विकृत्प्रशमन च ।
(च. सू. ३०)

कारण यह है कि प्रजा जो उत्पन्न होती है वह स्वस्थ और भीरोग अवस्था में जन्म के समय होती है । तत्पश्चात् प्रजा-पराधादि कारणों से वह व्याधित हो जाती है । अतः प्रजा-हितार्थे जो आयुर्वेद प्रयोजन के साथ या उसके पहले उत्पन्न हुआ उसका प्रयोजन भी स्वस्थ प्रजा का स्वास्थ्यरक्षण और व्याधित प्रजा का व्याधि परिमोक्ष इस अनुक्रम से होना चाहिये ।

इदञ्चने अपनी टीका में 'स्वस्थस्य रक्षणं वेति यद्वक्तोऽनुक्रममुत्तरार्थं' ऐसी व्याख्या की है परन्तु यह बर्ध है । व्यावहारिक दृष्टि से तथा आयुर्वेदिक तैमायि की दृष्टि में प्रयोजन के उपर्युक्त दो ही विभाग हो सकते हैं । धानुपाम्य रचना यह आयुर्वेद का उद्दिष्ट है । यह उद्दिष्ट सम्प्राप्त का धानुपाम्यानुबन्धन करके और विषय धानु की विषमता का प्रथम करके प्राप्त्य होगा है ।

धनुपाम्यः शोथो मन्वस्य प्रयोजनम् । (चरक सू. १)
आधुनिक पाश्चात्य वैद्यक में भी ये ही दो प्रयोजन के विभाग होते हैं । स्वास्थ्यरक्षण विभाग का नाम Preventive Medicine and Hygiene है, दूसरे का नाम Curative Medicine है ।

आयुर्विद्वान् चिद्यतेऽनेन वा आयुर्विद्वन्ती युर्वेदः ॥१३॥

जित शास्त्र में आयु (के संबंध में विचार होता) जित शास्त्र के द्वारा (दीर्घ) आयुष्य की प्राप्ति होती । आयुर्वेद कहते हैं ॥१३॥

वक्तव्य—चरक में भी आयुर्वेद की निरुक्ति सुश्रुत उत्तार परन्तु अधिक स्पष्ट रूप से बतलाई गई है ।

आयुर्वेदनीत्यानुर्वेद । (सू. अ. ३०)
द्विन्द्वि सुप्त दुःसमयुक्तस्य शिताहितम् ।

मान च तत्र यशोत्तमयुर्वेद स उच्यते ॥ (सु अ शरीर-दृग्निद्रिय-सत्त्व-आग्निमययोग से जो उपलक्षित क उसे आयु कहते हैं ।

शरीरविशेषस्वात्मयोगो धारिजीविनम् ।
नित्यगंधानुरभश्च पर्यायैरायुश्च्यते ॥ (चरक सू. ३)

यह आयु हित-अहित-मुल्लु-खाम्यक चार प्रकार की है । इस का विशेष विवरण चरक सूयस्थान के दण्डमहाम् अध्याय (३०वाँ) में देखा चाहिये ।

आयुर्वेद पठन से आयु इसलिये बढ़ती है कि आर-आयु के लिये हितकर तथा अहितकर द्रव्यगुण कर्मों का विचार करता है । उक्त च चरक—

यत्प्रयुक्तान्युपयोगि च द्रव्यगुणकर्मणि वेदस्य व्यायुर्वेदः ॥ (सू. अ. ३०)

तस्याङ्गवरमाद्यं प्रत्यक्षागमानुमानोपमानैरा-
रुद्धमुच्यमानमुपधारय ॥१४॥

उस आयुर्वेद के सर्वधेष्ट और आद्य अंग का मैं प्राय आगम, अनुमान और उपमान इन चारों प्रमाणों से विरोध दिखाने हुए जो उपदेश कर रहा हूँ उसको तुम धारण करो ॥

वक्तव्य—शल्य शास्त्र का आद्यत्व तथा श्रेष्ठत्व अ सूत्र १५ और १६ में सकारण बतलाया गया है । यहाँ शल्यका की विषयनीयता प्रतिपाद्व करके के लिये प्रत्यक्षादि च प्रमाण निर्दिष्ट किये हैं वे महर्षि गौतम के श्याय शास्त्रानुस हैं—'प्रयथानुमानोपमनाशब्दा प्रमाणानि' (व्याजसूत्रम्) । वैशेषि और शाल्य मतानुसार प्रमाण तीन होते हैं और उपमान । समाचार यहाँ अनुमान में होता है । वे उपमान स्वतन्त्र प्रमा नहीं मानते । आयुर्वेद चार प्रमाण मानता है । चरक लिखा है—'द्विरिमेव साधु सर्वं साधनम् । तस्य चतुर्विधा परिष्कारोपदेतः प्रथममनुमानमुक्तिरिति । (सू. अ. ११)

उनके लक्षण—प्रयथ—प्रत्यक्ष नाम तदवस्थना वेदि-स्वयुक्तन्वते । प्रयथप्रतिवृत्त का उदाहरण—नामा में बर्ष प्रवेष्ट करने से या सूत्र की तरफ देखने से हीक उत्पन्न होना आगम का अर्थ शास्त्र या वेद होगा है । आगमाविकल का उदाहरण—

धृतते हि यथा—'श्वेन वक्षसि शिरिष्ठमिनि' ॥
अनुमाने जय गये युक्तवैश ॥ उदाहरण—अननुमान्य प्रथमकर्मैर्परिष्कारित्योपमाना अनु विगिति धनुगुणानुस्यि वा भवे

वप एव तस्य निगनीयम् ॥ (सुश्रुत सू. अ. १५)

उदाहरण का उदाहरण—'अनेन कर्मण्य मनुष्यमपिष्य प्रथम-दन्व । यथा मन्वस्य, शिरिष्ठमन्व विरिष्ठेण ॥

एतद्धि अङ्गं प्रथमम्, प्रागभिघातव्रणसंरोहात्, यज्ञशिरःसंधानाच्च । श्रूयते हि यथा—'रुद्रेण यज्ञस्य शिरश्छिन्नमिति । ततो देवा अश्विनावभिगम्योचुः—'भगवन्तौ ! नः श्रेष्ठतमौ युवां भविष्यथः । भवद्भ्यां यज्ञस्य शिरःसंधातव्यमिति । तावृचतुरेवमस्त्विति । अथ तयोरर्थे देवा इन्द्रं यज्ञभागेन प्रासादयन् । ताभ्यां यज्ञस्य शिरःसंहितम्' इति ॥१५॥

(शारीरिक रोग उत्पन्न होने के) पूर्व (देव दैत्यों के युद्ध में) प्रहारजन्य व्रणों का रोपण करने के कारण तथा यज्ञ के कटे हुए शिर को (धड़ के साथ) जोड़ देने के कारण यही (शल्य ही) आयुर्वेद का अंग आद्य होता है । ऐसा सुना जाता है कि रुद्र ज का सिर काट दिया था तब सब देवता अश्विनीकुमारों के स जाकर कहने लगे 'आप दोनों भगवान् हमारे से श्रेष्ठ हो; आपको यज्ञ का सिर जोड़ना चाहिये' । दोनों अश्विनीकुमारों ने 'ऐसा ही हो जायगा' । तदनन्तर उन दोनों को यज्ञ का आंग मिलने के लिये देवताओं ने इन्द्र को प्रसन्न किया और अश्विनीकुमारों ने यज्ञ का सिर जोड़ दिया ॥१५॥

वक्तव्य—इस सूत्र में शल्यशास्त्र का आद्यत्व या प्रधानता बतलाने के लिये दो योग्य कारण दिये हैं । प्राचीन आर्य क्षात्र-वृत्ति और प्रवासी थे । उनका और अनार्य लोगों का हमेशा संघर्ष हुआ करता था; इसलिये उन को कायचिकित्सा की अपेक्षा शस्त्रचिकित्सा की अधिक आवश्यकता थी जिस के कारण शल्यांग अन्य अंगों की अपेक्षा प्रधान माना गया था ।

दूसरे कारण में ऐसी घटना बतलाई गई है जो शल्य-चिकित्सा के सिवाय अन्य अङ्गों से होना असंभवनीय है और जिसके कारण समाज में चिकित्सकों का सम्मान पहले से अधिक होने लगा । इस से भी शल्यचिकित्सा का प्राधान्य सिद्ध होता है ।

यह घटना शतपथ ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण और तैत्तिरीय संहिता में मिलती है—यज्ञस्य शिरोच्छिद्यत ते देवा अश्विनावभ्युवन् भिपजौ वै स्व इदं यज्ञस्य शिरः प्रतिघतमिति तावद्भृतां वरं वृणावहे ग्रह एव नावनापि गृह्यतामिति ताभ्यामेतमाश्विनमगृहणन्ततो वै तौ यज्ञस्य शिरः प्रत्यथत्ताम् ॥ (तैत्तिरीय संहिता ६ । ४ । ९)

चरक संहिता में भी अश्विनीकुमारों का वर्णन करते समय इस घटना का उल्लेख सर्वप्रथम किया गया है—

अश्विनौ देवभिपजौ यज्ञवाहाविति सृजौ ।

दक्षस्य हि शिरश्छिन्नं पुनस्ताभ्यां समाहितम् ॥ (चि. अ. १)

अप्रास्वपि चायुर्वेदतन्त्रेषु पतदेवाधिकमभिमत-माशुक्रियाकरणात्, यन्त्रशस्त्रद्वाराग्निप्रणिधानात्, सर्वतन्त्रसामान्याच्च ॥१६॥

अन्य अंगों की समान चिकित्सा इस में होने के कारण, यन्त्र शस्त्रद्वारा और अग्नि का व्यवहार करने के कारण, तथा चिकित्साफल शीघ्र मिलने के कारण आयुर्वेद के आठों अंगों में यही अंग सब से अधिक अभिमत अर्थात् उत्कृष्ट है ॥१६॥

वक्तव्य—इस सूत्र में शल्यतंत्र का श्रेष्ठत्व प्रतिपादन करने के लिये तीन कारण दिये हैं । इन में 'सर्वतन्त्रसामान्याच्च' शब्द

प्रयोग जरा संदिग्ध है । इसके कई अर्थ हो सकते हैं । इनमें से जौ अर्थ अधिक प्रशस्त प्रतीत हुआ वह ऊपर दिया है । इससे सुश्रुत का वैशिष्ट्य स्पष्ट रूप से दिखलाया जाता है । जैसा कि दृढबल ने चरकसंहिता की विशेषता बतलाने के लिये 'यदिहास्ति तदन्यत्र यत्रेहास्ति न तत्कचिद्वि' श्लोकार्थ बनाया है, वैसा भी उपर्युक्त सूत्र के अनुसार सुश्रुतसंहिता की विशेषता बतलाने के लिये निम्न श्लोकार्थ हो सकता है—

'यदिहास्ति यदन्यत्र यदिहास्ति न तत्कचिद्वि ॥'

तदिदं शाश्वतं पुण्यं स्वर्ग्यं यशस्यमायुष्यं वृत्ति-करं चेति ॥१७॥

यह शल्यतन्त्र मोक्षदायक, पुण्यदायक, स्वर्गदायक, यश फैलाने वाला, आयु बढ़ाने वाला और (द्रव्योपाजन से) निर्वाहोपयोगी है ॥१७॥

वक्तव्य—संप्रत वैद्य लोग रोगियों से फीस लेकर अपना निर्वाह करते हैं । इस प्रकार चिकित्सा के बदले धन या अन्य वस्तु मांगना श्रुति, स्मृति तथा आयुर्वेद संमत नहीं है । तैत्तिरीयसंहिता में लिखा है कि यज्ञशिरःसंधान के बदले अश्विनीकुमारों ने यज्ञ में भाग मांग लिया अतः देवता उनको अपवित्र मानने लगे—यदाश्विनौ गृह्यते यज्ञस्य निकृत्यै तौ देवा अशुवन्न पूर्तौ वा इमौ मनुष्यचरौ भिपजाविति ।

चरकसंहिता में लिखा है—

धर्मार्थि नार्थकामार्थमायुर्वेदो महर्षिभिः । प्रकाशितः—

कुर्वते ये तु वृत्त्यर्थं चिकित्सापण्यविक्रयम् ।

ते हित्वा कांचनं राशिं पांशुराशिसुपासते ॥ (चि. अ. १)

यह वचन सच्चे वैद्यों के लिये नहीं परन्तु वैशधारियों के लिये है ।

वरमाशीविपविपं कथितं ताप्रमेव वा ।

पीतमत्यग्निस्तप्ता भक्षिता वाप्ययोयुडाः ॥

न तु श्रुतवतां वेशं विभ्रता शरणागतात् ।

गृहीतमन्नं पानं वा वित्तं वा रोगपीडितात् ॥ (च. सू. अ. १)

यहाँ चिकित्सा के बदले अन्नपान वित्तादिक का ग्रहण करने के लिये निषेध किया है । रोगी या उसके आसन्निक्रम अपने संतोष से यदि कुछ दान करें तो उसका ग्रहण करने के लिये निषेध नहीं है ।

या पुनरीश्वराणां वसुमतां वा सकाशात् सुखोपहारनिमित्ता भवत्यर्था-नामवाप्तिः.....सोऽस्यार्थः ॥ (चरक. सू. अ. ३०)

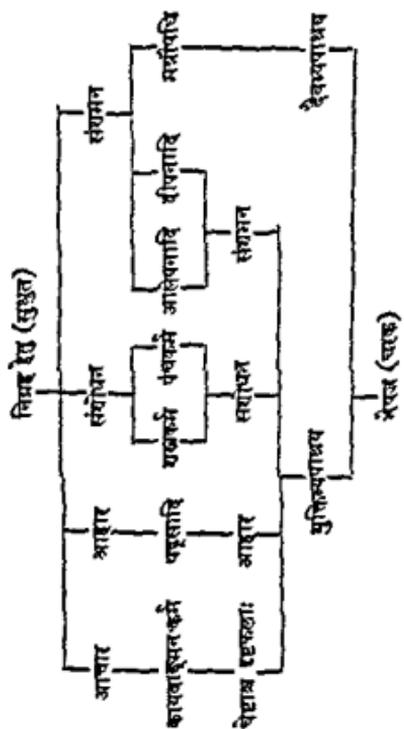
इस प्रकार धन धान्यादिक की जो प्राप्ति होती है उस पर निर्वाह करना यह वृत्तिकर शब्द का अर्थ है । धन की प्राप्ति न होने के कारण रोगी की चिकित्सा न करना पातक है । अष्टांगसंग्रह में चिकित्सा विषयक एक बहुत ही सुंदर और रोचक सुभाषित है ।

कचिद्धर्मः कचिन्मित्रं कचिदर्थः कचिद्यशः ।

कर्माभ्यासः कचिच्चैति चिकित्सा नास्ति निष्फला ॥ (उ. अ. ५०)

ब्रह्मा प्रोवाच ततः प्रजापतिरधिजगे, तस्मा-दश्विनौ, अश्विभ्यामिन्द्रः, इन्द्रादहं, मया त्विह प्रदेयमर्थिभ्यः प्रजाहितहेतोः ॥१८॥ भवति चाद्य—अहं हि धन्वन्तरिरादिवेदो

जराहजामृत्युहरोऽमराणाम् ।



प्राणिनां पुनर्मूलमाहारो बलवर्णो जसां च; स पदसु रसेष्वप्यपत्तः; रसाः पुनर्द्रव्याश्रयाः; द्रव्याणि पुनरोपघयः । तास्तु द्विविधाः स्यावरा जह्रमाश्च ॥२९॥

आहार सो प्राणियों की उत्पत्ति तथा उनके बल, वर्ण और ओज (vitality) का प्रधान कारण है। यह आहार पदुसाश्रयी है और रस द्रव्याश्रयी होते हैं। (वैद्यक शास्त्र में) ओषधियों को द्रव्य कहते हैं और इनके स्वावर और जेगम दो भेद हैं ॥२९॥

वक्तव्य—माता पिता में शुक्रप्रोणित (sperm और ova) की उत्पत्ति आहार से ही होती है। दोनों का संयोग होने के पश्चात् भी गर्भ की वृद्धि माता के आहाररस से ही होती है। जन्म होने के पश्चात् भी आहार सेवन से शरीर की वृद्धि होती है और बलवर्णदिक प्राप्त होते हैं। आहार ओषधियों से आता है। अतः शरीर की उत्पत्ति और स्थिति आहार पर निर्भर है।

ओषधिसौज्यम् । मन्त्रं पुत्रम् । मन्त्रं भूतानि जयन्ते । जन्मन्धेन वर्णने । मन्त्रभूतानां ज्येष्ठम् । तस्मात् सर्वेषुपुत्र्यन्ते । (तैत्तिरीयोपनिषद् महात्मन्द्बही)

वैद्यक शास्त्र में ओषधि शब्द से जह्रम, उद्विज और पार्थिव द्रव्यों का बोध होता है, तथापि रसगर्भ आहारोपयोगी द्रव्यों के लिये मुख्यतया ओषधि शब्द यहाँ प्रयुक्त होने के कारण पार्थिव द्रव्यों का समावेश ओषधि में नहीं करना

चाहिये। दूसरा कारण यह है कि सूत्र २७-२८ में ओषधि के जो आठ विभाग बतलाये हैं, उनमें भी पार्थिव द्रव्यों का समावेश न करके उनका स्वान्त उल्लेख सूत्र ३१ में किया है। श्यावर शब्द का भी यहाँ जो धनस्पत्यादि पशुविभाग अर्थ दिया है, वह एकदेशीय और अन्य स्थान के उद्विज्जाण के लिये है। बाल्य में श्यावर शब्द से पार्थिव और उद्विज दोनों गणों का बोध होता है।

तासां स्यावराश्चतुर्विधाः—वनस्पतयो, वृक्षा, वीरुघ, ओषधय इति । तासु, अपुष्पा. फलवन्तो वनस्पतयः, पुष्पफलवन्तो वृक्षा, प्रतानवत्यः स्त म्बिन्यश्च वीरुघ, फलपाकनिष्ठा ओषधय इति ॥२७॥
उनमें श्यावतों के चार भेद हैं—वनस्पति, वृक्ष, वीरुघ और ओषधि। इनमें से जिनके पुष्प न हों परन्तु फल हों वे वनस्पतियाँ हैं, जिनके फूल भी हों और फल भी हों वे वृक्ष हैं, जो फैलने वाली या गुल्म के स्वरूप की होती हैं वे वीरुघ हैं, जो एक बार ही फल के पक जाने पर गड़ हो जाती हैं वे ओषधियाँ हैं ॥२७॥

वक्तव्य—अपुष्पा—इसका अर्थ 'अविभगानपुष्पा' (इच्छण) या 'वैषा पुष्पान्तोर्गैव फलजन्म' (हाराणश्च) ऐसा किया गया है और इस वर्ग के उदाहरण में औदुबर इत्यादि वृक्ष निर्दिष्ट किये हैं। इन वृक्षों का विचार आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से करने पर यह सादृश्य होता है कि इनके भी अर्धस्थ स्तम्भ फूल हैं जो एक बंद आधार में (closed receptacle) रहते हैं और इनका फल सामासिक (compound) होता है जिसके भीतर इन फूलों से बने हुए अनेक बीज होते हैं। इसलिये अपुष्पा का अर्थ 'अर्धव्यपुष्प' करना प्रयत्न है, क्योंकि ये फूल बाहर से दिखाई नहीं देते हैं।

प्रतानवत्यः—नटुयुक्त तथा पशुपालपुष्पि। स्तम्बिन्यः—कण्ठरहित तथा शालपर्णीश्लिष्णादियः। इसकी गुच्छ भी करते हैं। इन दोनों के सिवाय वीरुघवर्ग में गुणजाति तथा गुल्म (एकमूल सवालजाता रोछुप्रमृगय) और बल्लि (गुह्यव्यादय या भूमिहृत्तानोरेति) का भी समावेश होता है—गुच्छयन्त उ विविध तैवै गुणजातवः। बीकण्ठरहाभैव प्रताना बलप एव च (मनु अ १)। ओषधि—बहुत पुष्प फलयुक्त परन्तु फल पक जाने पर गड़ होने वाली। यथा—शाल्मिषीष्य वनिलस्युत् श्यावि। ओषध्व फलपाकान्ता बहुपुष्पलोचना। (मनु अ ० १)

जह्रमा सन्वपि चतुर्विधा—जरायुजाएडज स्वेदजोद्विजाः ॥२८॥

जह्रम भी चार प्रकार के हैं—जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्विज ॥२८॥

वक्तव्य—जो चलने वाले होते हैं उनको जह्रम कहते हैं, तथापि जंगमम्। गर्भाशय में गर्भ का जो आवरण होता है उसे जरायु कहते हैं—गर्भदेहनवर्ण्युक्त जरायु। मैत्री में जरायु का अर्थ Placenta with the membranes होता है। प्रसार्ण गर्भाशय में एक विशेष आवरण में त्रिनकी उत्पत्ति होती है, उनको जरायुज कहते हैं। मैत्री में इस वर्ग का नाम Placentalia or viviparous है। अण्डज—अण्डे से

उत्पन्न होने-वाले जीव । अंग्रेजी में इन वर्ग का नाम Oviparous है । स्वेदज वर्ग का दूसरा नाम अण्डज भी है । जमीन फोड़कर जो उत्पन्न होते हैं वे उद्भिज्ज हैं—उद्भिज्ज पृथिवी आवन्ते इति उद्भिज्जाः । अंग्रेजी में इस वर्ग का नाम Vegetable Kingdom है ।

तत्र पशुमनुष्यव्यालालादयो जरायुजाः, सग-
सर्पसरीसृपप्रभृतयोऽण्डजाः, कृमिकीटपिपी-
लिकाप्रभृतयः स्वेदजाः, इन्द्रगोपमण्डूकप्रभृतय
उद्भिज्जाः ॥२९॥

उनमें से (गोमहिषादि गुणाहारी) पशु, मनुष्य, (व्याघ्र
सिंहादि मान्याहारी) हिंस्र पशु इत्यादि जरायुज होते हैं ।
पत्नी, सर्प, मत्स्य, मकरादि अण्डज होते हैं । कृमिकीट पिपी-
लिकादि स्वेदज होते हैं । इन्द्रगोप मण्डूक प्रभृति उद्भिज्ज
होते हैं ॥२९॥

वक्तव्य—यहाँ जन्म रूढ़ि के चार भाग किये हैं;
परन्तु अन्यत्र केवल तीन ही भाग होते हैं—जरायुज, अण्डज
और स्वेदज और इन तीनों में समस्त जंगमरूढ़ि का समावेश
होता है । यहाँ उद्भिज्जवर्ग में जिन जंगम जीवों का निर्देश
॥ है, उनका समावेश अण्डजवर्ग में होता है ।

अण्डजाः पक्षिणः सर्पां नक्का मत्स्याश्च कच्छपाः ।
यानि सैवंप्रकाराणि स्थलजान्पौंडकानि च ॥ (मनु. अ. १. ४४)
उद्भिज्ज वर्ग में केवल चतुर्विध वनस्पत्यादिगण होते हैं
एवह स्यावर का एक विभाग होता है ।
उद्भिज्जाः स्यावराः सर्वे बीजजाण्डप्ररोहिणः ॥ (मनु. अ. १. ४६)
चरक और भेल संहिता में लिखा है—
औद्भिदं तु चतुर्विधम् । वनस्पतिस्तथा बीजदानस्पत्यसंपौषधिः ।
(च. सू. अ. १)

उद्भिज्जास्तु वृणलतावृक्षवनस्पतयः । (भेलसंहिता)
तत्र स्यावरेभ्यस्त्वक्षुपत्रपुष्पफलमूलकन्दनि-
षीसस्वरसादयः प्रयोजनवन्तः, जङ्गमेभ्यश्चर्मनख-
नेमरुधिरादयः ॥३०॥

इनमें स्यावरों के छाल, पत्ते, फूल, जड़, कन्द, गोंद,
बरसादिक प्रयोजन में आते हैं, और जंगमों के चर्म, नख,
गाल, रक्तादिक प्रयोजन में आते हैं ॥३०॥

वक्तव्य—रुधिरादयः—मज्जा, यकृत, पित्त इत्यादि ।
रुद्धा भक्षयेदाजामां पित्तसमायुतम् । (उत्तरस्थान अ. ४५) ।
इन जंगमावयवों का आभ्यन्तरीय प्रयोग करके रोगों की
चिकित्सा करने का अंग पाइचाय्य वैद्यक में सांप्रत बहुत
उन्नत हुआ है । उसे Organo-Therapy कहते हैं । इसमें
यकृत, प्लीहा, मज्जा, अन्याशय, थायरॉइड, प्याराथायरॉइड,
जननग्रन्थियाँ आदि शरीर के अनेक अवयव विविध रोगों में
सफलता से प्रयुक्त हो रहे हैं ।

स्यावर और जंगमों से जो जो चीजें काम में लाई जाती
हैं, उनके कुछ अधिक नाम चरकसंहिता में दिये हैं—
मधूनि गोरसाः पित्तं वसा मज्जासृगामिषम् ।
विष्णुचर्मैरेतोऽस्थिस्तायुश्चनखाः खुराः ।
जङ्गमेभ्यः प्रयुज्यन्ते केशलोमानि रोचनाः ॥ (सू. अ. १)

मूलावयवसारनिर्यायनालव्यरत्नपहनाः ।
क्षाराः क्षीरं फले पुष्पं भरतजैष्ठानि कण्टकाः ।
पयाणि शुक्लाः कन्दाश्च प्ररोहाश्चोद्भिदो गणः ॥ (च. सू. अ. १)
पार्थिवाः सुवर्णरजतमणिमुक्तामनःशिलामृत्क-
पालादयः ॥३१॥

पार्थिव द्रव्यों में सुवर्ण, रौप्य, मणि, मुक्ता, मनःशिला,
भिटी, टिकरी आदि पदार्थ काम में लाये जाते हैं ॥३१॥

वक्तव्य—उपर्युक्त द्रव्यों के सिवाय शिलाजतु, सिरुता,
सुधा, हरिताल, लवण, गेरिक, रसांजनादि द्रव्यों का भी
समावेश पार्थिव औषधियों में होता है । पार्थिव द्रव्यों का
समावेश ऊपर स्यावर विभाग में न करने के कारण यहाँ
उनका स्वतन्त्र उल्लेख किया है । आहार की दृष्टि से यद्यपि
यह गण अत्यन्त गौण होता है तथापि औषधि की दृष्टि से
यह एक अत्यन्त महत्त्व का गण है । चरक में भी औषधि
द्रव्यों के सुश्रुत के अनुसार तीन विभाग किये हैं—

तापुनखिविधं प्रोक्तं जह्ममौद्भिदपार्थिवम् ॥ (च. सू. अ. १)
कालकृताः प्रवातनिवातातपच्छायाज्योत्स्नातमः-
शीतोष्णवर्षाऽहोरात्रपक्षमासत्वर्यनादयः संवत्सर-
विशेषाः ॥३२॥ त एते स्वभावत एव दोषाणां सञ्चय-
प्रकोपप्रशमप्रतीकारहेतवः प्रयोजनवन्तश्च ॥३३॥

वायु चलना, वायु बंद होना, धूप, छाया, चाँदनी रात,
अँधेरा, सरदी, गरमी, वर्षा, दिन, रात, पक्ष, महीना, ऋतु,
अयन और संवत्सरादि विशेष कालकृत (औषधि) हैं ॥३२॥
(कारण) ये सब काल विशेष स्वभाव से ही (घात पित्त कफ)
दोषों के संचय, प्रकोप, प्रशमन और प्रतीकार करते हैं (और
चिकित्सा के) प्रयोजन में आते हैं ॥३३॥

वक्तव्य—इन कालकृत विभागों का ज्ञान स्वास्थ्यरक्षण
तथा रोग चिकित्सा में आवश्यक होने के कारण इनका
समावेश औषधियों के साथ किया गया है । इनसे स्वास्थ्य-
रक्षण में, औषधि आहरण करने में, औषधियाँ तैयार करने में,
द्रव्यों का गुण धर्म जानने में, औषधि का प्रयोग किस समय
और कितने काल तक करना चाहिये इस विषय में, शक्यकर्म
करने में बहुत ही सहायता मिलती है । कालकृत विभागों का
विचार न करते हुए यदि चिकित्सा की जाय तो उसमें सफलता
मिलना बहुत ही कठिन है । चरक में काल का वर्णन करके
अन्त में लिखा है—

काले हि भैषज्यप्रयोगपर्याप्तिमिनिर्वर्तयति ॥ (च०विमान.अ.८)
चिकित्सा में काल विभाग का निर्देश विधि और निषेध
के स्वरूप का होता है । ऊपर जो काल के विभाग दिये हैं,
उनके प्रयोजन के कुछ उदाहरण ग्रन्थों में से नीचे दिये हैं ।
लज्जोत्पलेरीशरकुचंदनानि दत्त्वा प्रवाते निशि वासयेच्च । निवातदेशे
निश्चितं कृत्वा । मदनफलनामातपपरिशुष्काणाम् । छायाशुष्कं
विधायथ वटी कार्या चणोपमा । वायवश्चन्द्रपादाश्च शीतदाहज्वरापहाः ।
अपेतलोष्काष्ठावैः संरोधश्च तमोगृहे । नैवातिशीते नास्युष्णे न प्रवाते
न चाग्निने । सिराणां न्यथनं कार्यमरोगे वा कदाचन ॥
न च आलेपे रात्रौ प्रयुजीत । प्रदेहसाधे व्याधौ तु शितमालेपनं
दिवा । पक्ताज्जातरसं पिबेत् । खानादिनानाविधिना जहाति मासाद-

शल्याङ्गमङ्गैरपरैरुपेतं

प्राप्तोऽभिर्म गां भूय इहोपदेष्टुम् ॥१९॥

इस आयुर्वेद को सर्वे प्रथम महामात्री वर्णन करते रहे, महामात्रे मे दत्तप्रजापति पढ़ते रहे, दत्तप्रजापति से अश्विनीकुमार, अश्विनीकुमारों से इन्द्र और (धन्वन्तरि जी कहते हैं) इन्द्र से मे पद्मना रहन, अब सुभ्रु प्रजाकर्मणार्थ मृत्यु लोक मे विद्याधिया के लिये इसका दान करना (पढ़ाना) है ॥१८॥

इसमें बात यह है कि—मे देवों की वृद्धावस्था, रोग और मृत्यु हरन करने वाला आदि देव धन्वन्तरि आयुर्वेद के अन्य अंगों के साथ शल्यतंत्र का उपदेश करने के लिये फिर इस पृथिवी पर प्राप्त हुआ है ॥१९॥

वक्तव्य—पृथ १८ में धन्वन्तरि सप्तदाय की परम्परा बतलाई गई है। इसमें और पहले मूत्र की टीका से उपलब्ध सुश्रुतसंहिता की निम्न परम्परा होती है।

महामात्र-दत्तप्रजापति-अश्विनीकुमार-इन्द्र-धन्वन्तरि-सुभ्रुत-नागाजिन् ॥ 'र'प्रथमत्रपरैरनुन्' का अर्थ समझने के लिये हेतो अध्याय ३ श्लोक ४३-४५।

अस्मिन्तु शास्त्रे पञ्चमहाभूतशरीरिन्मयायः पुरण इत्युच्यते । तस्मिन् क्रिया, सोऽधिष्ठानं, वक्षन् ? लोकस्य द्वैविध्यात्, लोको हि द्विविधः स्याद्रो जह्ममध, द्विविधामक एवाश्रेय' सौम्यध, तद्भूयस्यान्; पञ्चामको वा, तत्र चतुर्विधो भूत-प्राग, स्पेदज्जलोऽद्भिज्जजरायुजमग्नः, तत्र पुरणः प्रधानं, तस्योपकरणमन्यत्; तस्मात् पुरणोऽधि-ष्ठानम् ॥२०॥

प्रायुर्वेद में पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश और आत्मा इन छ तन्त्रों के सवाग का नाम पुरण है। इसी पुरण की विहंगात्मा की जानी है, और यही पुरण विक्रिया कर्मफल का प्राधय है। क्योंकि जगत् दो प्रकार का होने से, सर्वात्र सृष्टि व्याप्त और अंगम दो प्रकार की है, उच्च तथा नीच के अधिष्ठय के अनुसार आश्रेय और सौम्य के भी दो प्रकार की है, अथवा पार्थिव, आत्य, आश्रेय, वायव्य और आकाशिय इस प्रकार शक्य है। व्याप्त अंगमायस्य सृष्टि में स्रेदज, अपहन, उद्भिज और जरायुज ऐसे चार प्रकार के जन्म हैं; इन सब में मनुष्य प्रधान (उपर्याय) है और अन्य सब उसके उपर्याय हैं, इस कारण से मनुष्य सब विक्रिया का आधार है ॥२०॥

वस्तुतः—पुरण शब्द से यहाँ पथिवि पद पर्यायिक रूप से सर्वात्र सृष्टि का बोध हो सकता है तथापि आयुर्वेद मनुष्या-पिहारी भाष्य होने के कारण पुरण का अर्थ मनुष्य करना आवश्यक है। चाक में लिखा है—

मनुष्य मनुष्यो हेतु हेतुत्वात् ॥
१९११ व मनुष्यत्वात् लक्षणमवर्द्धयत् ॥ (सू अ. १)
हांक मनु से यहाँ केवल सर्वात्र सृष्टि समझना चाहिये।
१९१११ मनुष्यत्वात् लक्षणमवर्द्धयत् ॥ (सू वा अ)
मनुष्यत्वात् लक्षणं व वर्द्धयत् विहगत्
लेखन-वर्द्धयत् लक्षणं सर्वं वर्द्धयत् ॥ (सू अ. १)

तदुःखसंयोगा व्याधय उच्यन्ते ॥२१॥

चतुर्विधाः—आगन्नवः, शारीरग', मानसाः, स्वा-विक्राध्वेनि ॥२२॥

जिनका संयोग उन मनुष्य को दुःख देता है उनको कहते हैं ॥२१॥

ये रोग चार प्रकार के हैं—१ आगन्तु, २ शारीर, ३ मा ४ स्वाभाविक ॥२२॥

वक्तव्य—विषि दुःखमत्पत्नोनि व्याधि । नाना प्र के दुःख जो देती है वह व्याधि है। दुःख का अर्थ कायवा नमी पीड़ा या प्रतिहृत्य वेदना है।

तेष्व्यागन्नवोऽभिघातनिमित्ता' । शारीरस्त्व-पानमूला वातपित्तकफशोणितसन्निपातवैषम्या-मिताः । मानसास्तु क्रोधशोकभयहर्षविषादेष-भ्यस्तुपादेन्यमानस्यैकामलोभप्रभृतय इच्छादिभेदे-भेवन्ति । स्वाभाविकास्तु क्षुत्पिपासाजपदं-निद्राप्रकृतयः ॥२३॥

इनमें से आगन्तुक रोग घात आदि होने के कारण हैं। शारीरिक रोग (विषम) अन्नपानादि से वात पित्त और कफ इनमें से एक या अनेक की विषमता होने के कारण होते हैं। क्रोध, शोक, भय, हर्ष, विषाद, ईर्ष्या, अत्यन्त मतोद्देश्य, मानस्य, काम, लोभादि मानसिक रोग हृत्पद से होने के अनेक प्रकारों के कारण होते हैं। क्षुधा, प्यास, उदरव्याध, मृत्यु, निद्रा आदि स्वाभाविक रोग होते हैं ॥२३॥

वक्तव्य—अभिघात शब्द से शय्य, भ्याह, दैव प्र काल का अभिघात समझ कर संघातव्य ग्रहण, दैवलक्ष्ण और कालवत् प्रवृत्त (य, अ २४) रोगों का समावेश आगन्तु रोगों में करना चाहिये। शारीर रोगों का दूसरा नाम रोग है। संनिपात शब्द का अर्थ एकत्र अन्वधान वा मग है। वातपित्तकफ की विषमतावस्था यह जो संनिपात शब्द विशेष अर्थ है वह अर्थ यहाँ अभिघात नहीं है। वद्यपि मन से भी शरीर में वैषम्य तीन ही रोग होते हैं।

वर्णनोपेक्षाम एव देवप्रवर्तयत् ॥ (सू अ २१)
शरीर वा व्याधिना वर्णनोपेक्षाम एव शब्द ॥ (सू अ. १)
तथापि शब्दत्वत्वे मंशोपपत्ति तथा मन्शोपपत्त-रत्न का प्राधान्य होने के कारण यहाँ तथा अन्य स्थानों में रत्न का निर्देश रोगों में किया गया है—शारीरक रोगो-पत्तवर्धयत्प्रवर्धयत्परित्यज्य शरीर भरति।

तो देव कर्तव्यि न निष्ठय व शब्दात् ।
शरीरपरि वा निष्ठय देव शीघ्र शब्द ॥ (सू अ. १)
इसलिये रत्न का शेषतः केवल शब्दत्वत्वे प्रसिद्ध माना-कारिय है।

इह्या दैवकलिन मार्कण्डेय अध्यायाओं का नाम मार्क-रोग है। चाक में लिखा है—
मार्कण्डेय पुरविशयकमयाऽप्यभिमार्कण्डेयः ॥ (सू अ. १)
यथा वात रित्त कफ शरीर के तीन दोष होने हैं तथा ।
रत्न और तम मग के तीन (गुण) रोग होने हैं। पान्यु शब्द-रोगोपपत्ति से क्या शरीरों कारण होने हैं तथा मार्कण्डेय रोगो-

तीनों कारण नहीं होते । केवल रज और तम मानसिक रोगों के कारण हैं । वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः ।

मानसः पुनरदृष्टो रजश्च तम एव च ॥ (च.सू. अ. १)

स्वभाव बल के कारण या प्रकृति शक्ति के कारण उत्पन्न हुए रोग स्वाभाविक कहलाते हैं । इनके कालकृत और अकालकृत दो भेद होते हैं—

तेऽपि द्विविधाः कालकृता अकालकृताश्च । (सू. अ. २४)

इनमें जो कालकृत हैं, उनका प्रतिकार नहीं हो सकता है । यथा—जरा और मृत्यु । क्षुधा तृषा निद्रादिक जो दूसरे स्वाभाविक रोग हैं, उनका प्रतिकार यद्यपि हो सकता है तथापि स्वास्थ्य की दृष्टि से करना हितकर नहीं है । इसलिये कालकृत रोग निष्प्रतिक्रिय हैं । अकालकृत रोगों का प्रतिकार करना चाहिये । वास्तव में अकालकृत रोगों का समावेश शारीर रोगों में होता है ।

आगन्तुक और शारीर रोगों का भेद—आगन्तुक में रोग उत्पन्न होने के पश्चात् वातादि दोषों की विपमता होती है । शारीर में प्रथम वातादि दोषों की विपमता उत्पन्न होकर पश्चात् रोग उत्पन्न होता है । चरक में लिखा है—

आगन्तुर्हि व्याधपूर्वसमुत्पन्नो जघन्यं वातपित्तक्षेप्माणं वैषम्य-
मापादयति, निजे तु वातपित्तक्षेप्माणः पूर्वं वैषम्यमापद्यन्ते जघन्यं
व्याधामभिनिर्वर्तयन्ति ॥ (सू. अ. २०)

त एते मनःशरीराधिष्ठानाः ॥२४॥ तेषां संशो-
धनसंशमनाहारचाराः सम्यक्प्रयुक्ता निग्रह-
देतवः ॥२५॥

ये चारों प्रकार के रोग मन और शरीर के आश्रयभूत ॥२४॥ देशकालादिक का विचार करके संशोधन, संशमन, आहार और आचार का प्रयोग करने से इन रोगों का प्रतिकार होता है ॥२५॥

वक्तव्य—इन चारों प्रकार के रोगों में मानसिक और ऋ आगन्तुक रोगों का अधिष्ठान मन है और शारीर, आगन्तुक और स्वाभाविक रोगों का अधिष्ठान शरीर है, यद्यपि मानसिक रोगों से शरीर में पीड़ा होती है और शारीर रोगों से मन में पीड़ा होती है । मद् मूर्च्छा संन्यास ग्रहभूतोन्मादापस्मारदि रोग वातादि दोषज होने के कारण शारीर ही मानना चाहिये । रज्जु व्यवहार में उनका समावेश सदैव मानसिक रोगों में होता है । इसका कारण यह है कि यद्यपि ये दोषज होते हैं तथापि इनका अधिष्ठान शरीर की अपेक्षा मन में अधिक होता है । वास्तव में ये रोग उभयात्मक हैं । शुद्ध मानस रोग वे हैं, जिनके कारणभूत दोष रज तम और जिनका अधिष्ठान मन है ।

मानस इति न कामक्रोधादिवन्मानसो व्याधिः, किन्तु शारीरदोष-
रूपितमनःप्राधान्यात् शरीरस्थिते चाप्राधान्यान्मानस इति व्यपदेशः ।

संशोधन—जो शरीरस्थ दोषों को बाहर निकाल देता है, उसे संशोधन कहते हैं । यह बाह्य और आभ्यन्तर दो प्रकार का होता है । वमन, विरेचन, शिरोविरेचन और वस्ति चतुः प्रकार अन्तः संशोधन है और यन्त्र शब्द क्षार अग्नि जलौका द्वारा छेदन भेदन वेधन लेखन उत्पादन प्रच्छन्नकर्म से बाह्य संशोधन होता है ।

यदीयेद्बहिर्दोषान् पंचषा शोधनं न तत् ।

निरुधो वमनं कायशिरोरौकोऽस्रविभ्रुतिः ॥ (अ.सं.सू.अ.२४)

संशमन—जो शरीरस्थ दोषों को बाहर नहीं निकालता है, समदोषों में वैषम्य नहीं उत्पन्न करता है तथा विषम दोषों का उपशमन करता है, वह संशमन है ।

न शोधयति यद् दोषान् समानोदीरयत्यपि ।

समीकरोति विषमान् शमनं तत्—॥ (अ. सं. सू. अ. २४)

यह संशमन तीन प्रकार का है—१ दैवव्यपाश्रय, मन्त्रौषधि मणि मंगल वस्तुपहारादि, २ बाह्य, आलेप परिपेकावगाहादि ३ आभ्यन्तर पाचन लेखन वृंहणादि ।

आहार—मधुरादि भेद से छः प्रकार का, पेयादि भेद से चार या छः प्रकार का, उष्ण और शीत वीर्य की दृष्टि से दो प्रकार का, पृथिव्यादि भेद से पांच प्रकार का होता है । रोगी को आहार देते समय इन सब बातों का विचार करना चाहिये ।

आचार—शारीरिक, मानसिक और वाचिक कर्म । यद्यपि आहार और आचार का समावेश संशमन चिकित्सा में होजाता है तथापि इनका प्राधान्य प्रदर्शित करने के लिये स्वतन्त्र उल्लेख किया गया है । इनके पथ्य के सिवाय चिकित्सा में सफलता मिलना अनेक रोगों में असम्भव सा प्रतीत होता है । इसलिये लिखा है—

पथ्ये सति गदार्तस्य किमौषधनिषेवणम् ।

पथ्येऽसति गदार्तस्य किमौषधनिषेवणम् ॥

विनाऽपि भेषजैर्व्याधिः पथ्यादेव निवर्तते ।

न तु पथ्यविहीनस्य भेषजानां शतैरपि ॥

सम्यक् प्रयुक्त—अष्टाङ्गहृदय में प्रदर्शित की हुई निम्न बातों पर ध्यान देकर ।

दूष्यं देशं बलं कालमनलं प्रकृतिं वयः ।

सत्त्वं सात्त्वं तथाऽऽहारमवस्थाश्च पृथग्विधाः ॥

सूक्ष्मसूक्ष्माः समीक्ष्यैषां दोषौषधनिरूपणे ।

यो वर्तते चिकित्सायां न स सखलति जातुचित् ॥ (सू. अ. १२)

निग्रहहेतु—धातुवैषम्य दूर करने के लिये जो जो उपयोगी हो सकता है वह सब है, चरक की परिभाषा में इसको 'भेषज' कहते हैं ।

भेषजं नाम तद्यदुपकरणायोपकल्पते भिषजो धातुसान्ध्याभिनिर्वृत्तौ प्रयतमानस्य । तद्द्विविधं व्यपाश्रयभेदात्, दैवव्यपाश्रयं युक्तिव्यपाश्रयं चेति । (चि. ८) । युक्तिव्यपाश्रयं संशोधनोपशमने चेष्टाश्च दृष्टफलाः । आहारौषधद्रव्याणां योजना । (च. सू. अ. ११)

इससे यह स्पष्ट है यहाँ रोगों की जो सामान्य चिकित्सा बतलाई है वह चरक के साथ पूर्णतया मिलती है । आगे दोनों का समन्वय बतलाया गया है ।

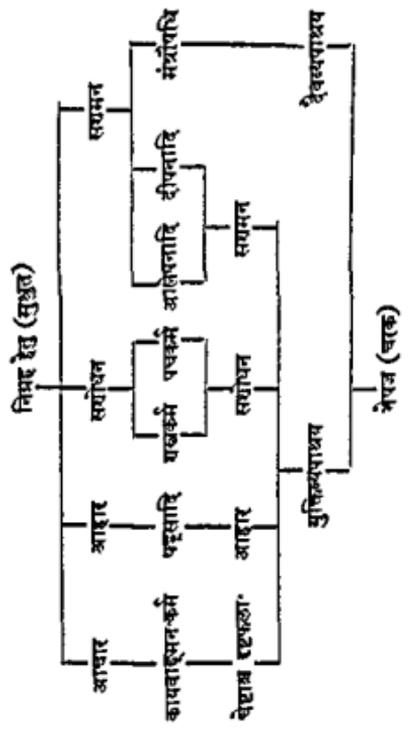
ऊपर चिकित्सा के जो चार प्रकार बतलाये गये हैं, उनके लिये अँग्रेजी में निम्न नाम प्रयुक्त होते हैं, यद्यपि वे पूर्णतया समानार्थी नहीं हैं ।

संशमन चिकित्सा—Sedative or Conservative treatment.

संशोधन चिकित्सा—Eliminative or Medical treatment.

आहार चिकित्सा—Dietetic treatment.

आचार चिकित्सा—Regiminal treatment.



प्राणिनां पुनर्मूलमाहारो बलवर्णौजसां च; स पदसु रसेस्यापत्तः; रसाः पुनर्द्रव्याध्यायाः; द्रव्याणि पुनरोपधयः । तास्तु द्विविधाः स्यावरा जङ्गमाश्च ॥२९॥

आहार तो प्राणियों की उत्पत्ति तथा उनके बल, वर्ण और ओज (vitality) का प्रधान कारण है । वह आहार पदसाधयी है और रस द्रव्याध्यायी होते हैं । (वैचक शास्त्र में) ओपधियों को द्रव्य कहते हैं और इनके स्यावर और जंगम दो भेद हैं ॥२९॥

युक्तव्य—माता पिता में शुक्रयोनि (sperm और ova) की उत्पत्ति आहार से ही होती है । दोनों का संयोग होने के पश्चात् भी गर्भ की वृद्धि माता के आहाररस से ही होती है । जन्म होने के पश्चात् भी आहार सेवन से शरीर की वृद्धि होती है और बलवर्णादिक प्राप्त होते हैं । आहार ओपधियों से आता है । अतः शरीर की उत्पत्ति और स्थिति आहार पर निर्भर है ।

ओपधिभ्योऽन्नम् । अन्नं पुण्य । अन्नं भूयानि जायन्ते । जातान्भवेन वर्धन्ते । अन्नरभूतानां ज्येष्ठम् । तस्मात् सर्वेषुअप्यन्ते । (सैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मसाम्बुद्धी)

परीक्ष्य दिनमीयाहो वाहारसम्भव । (च सू अ २८) वैचक शास्त्र में ओपधि शब्द से जङ्गम, उद्भिज और पार्थिव द्रव्यों का बोध होता है, तथापि रसगर्भे आहारोपधौगी द्रव्यों के लिये मुख्यतया ओपधि शब्द यहाँ प्रयुक्त होने के कारण पार्थिव द्रव्यों का समावेश ओपधि में नहीं करना

चाहिये । दूसरा कारण यह है कि सूत्र २०-२८ में ओपधि के जो आठ विभाग बतलाये हैं, उनमें भी पार्थिव द्रव्यों का समावेश न करके उनका स्वान्त्र उल्लेख सूत्र ३१ में किया है । स्यावर शब्द का भी यहाँ जो वनस्यादि षतुर्विधगण अर्थ दिया है, वह एकदेशीय और अन्य स्थान के उद्भिज्जाण के लिये है । वास्तव में स्यावर शब्द से पार्थिव और उद्भिज दोनों वर्गों का बोध होता है ।

तासां स्यावराश्चतुर्विधाः—वनस्पतयो, वृक्षा, वीरुध, ओपधय इति । तासु, अपुण्याः फलवन्तो वनस्पतयः, पुष्पफलवन्तो वृक्षाः, प्रतानवत्यः स्तम्बिन्यश्च वीरुधः, फलपाकनिष्ठा ओपधय इति ॥२७॥

उनमें स्यावरों के चार भेद हैं—वनस्पति, वृक्ष, वीरुध और ओपधि । इनमें से जिनके पुष्प न हों परन्तु फल हों वे वनस्पतियाँ हैं, जिनके फूल भी हों और फल भी हों वे वृक्ष हैं, जो फूलने वाली या गुल्म के स्वरूप की होती हों वे वीरुध हैं, जो एक बार ही फल के पक जाने पर नष्ट हो जाती हों वे ओपधियाँ हैं ॥२७॥

युक्तव्य—अपुण्या—इसका अर्थ 'अविद्यमानपुण्या' (इच्छण) या 'विना पुष्पमन्तोरैव फलजम्' (हाराणचद्र) ऐसा किया गया है और इस वर्ग के उदाहरण में अर्द्धवर इत्यादि वृक्ष निर्दिष्ट किये हैं । इन वृक्षों का विचार आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से करने पर यह मालूम होता है कि इनके भी असंख्य सूक्ष्म फूल हैं जो एक बंद आधार में (closed receptacle) रहते हैं और इनका फल सामासिक (compound) होता है जिसके भीतर इन फूलों से बने हुए अनेक बीज होते हैं । इसलिये अपुष्प का अर्थ 'अल्पपुष्प' करना प्रयत्न है, क्योंकि ये फूल बाहर से दिखाई नहीं देते हैं ।

प्रतानवत्यः—तदुक्तं यथा त्रुपाणात्प्रभृति । स्तम्बिन्यः—काण्डरहिता यथा शालपर्णीवृक्षिण्यादयः । इसको गुच्छ भी कहते हैं । इन दोनों के सिवाय वीरुधवर्ग में वृणजाति तथा गुल्म (एकमूला स्थलजाता शोभुप्रभृताय) और वल्लि (गुह्यवाद्य या भूमेवृक्षमारोहन्ति) का भी समावेश होता है—गुच्छगुल्म तु विविध तथैव वृणजातयः । वीरुधश्चाप्येव प्रताना बहव एव च (अनु अ ?) । ओपधिः—बहुत पुष्प फलयुक्त परंतु फल पक जाने पर नष्ट होने वाली । यथा—शालिनीषु यवतिलमुद्ग इत्यादि । ओपध्वः फलपाकान्ता बहुपुष्पकजोषणा । (अनु० अ० ?)

जङ्गमाः खल्वपि चतुर्विधाः—जरायुजाएडज-स्वेदजोद्भिजाः ॥२८॥

जङ्गम भी चार प्रकार के हैं—जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज ॥२८॥

युक्तव्य—जो चलने वाले होते हैं उनको जङ्गम कहते हैं, गच्छतीति जगमम् । गर्भाशय में गर्भ का जो आवरण होता है उसे जरायु कहते हैं—गर्भेदनचर्मपृष्ठक जरायु । अंग्रेजी में जरायु का अर्थ Placenta with the membranes होता है । अर्थात् गर्भाशय में एक विशेष आवरण में जिनकी उत्पत्ति होती है, उनको जरायुज कहते हैं । अंग्रेजी में इस वर्ग का नाम Placentalis or viviparous है । अण्डज—अण्डे से

उत्पन्न होने वाले जीव । अंग्रेजी में इस वर्ग का नाम Oviparous है । स्वेदज वर्ग का दूसरा नाम उष्मज भी है । जमीन फोडकर जो उत्पन्न होते हैं वे उद्भिज हैं—उद्भिज पृथिवी जायन्ते इति उद्भिज्जाः । अंग्रेजी में इस वर्ग का नाम Vegetable Kingdom है ।

तत्र पशुमनुष्यव्यालादयो जरायुजाः, खग-
सर्पसरीसृपप्रभृतयोऽण्डजाः, कृमिकीटपिपी-
लिकाप्रभृतयः स्वेदजाः, इन्द्रगोपमण्डूकप्रभृतय
उद्भिज्जाः ॥२९॥

उनमें से (गोमहिपादि नृणाहारी) पशु, मनुष्य, (व्याघ्र
सिंहादि मांसाहारी) हिंस्र पशु इत्यादि जरायुज होते हैं ।
पत्नी, सर्प, मत्स्य, मकरादि अण्डज होते हैं । कृमिकीट पिपी-
लिकादि स्वेदज होते हैं । इन्द्रगोप मण्डूक प्रभृति उद्भिज
होते हैं ॥२९॥

वक्तव्य—यहाँ जङ्गम सृष्टि के चार भाग किये हैं;
परन्तु अन्यत्र केवल तीन ही भाग होते हैं—जरायुज, अण्डज
और स्वेदज और इन तीनों में समस्त जंगमसृष्टि का समावेश
होता है । यहाँ उद्भिजवर्ग में जिन जंगम जीवों का निर्देश
किया है, उनका समावेश अण्डजवर्ग में होता है ।

अण्डजाः पक्षिणः सर्पां नक्रा मत्स्याश्च कच्छपाः ।

यानि चैवंप्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च ॥(मनु. अ.१.४४)

उद्भिज वर्ग में केवल चतुर्विध वनस्पत्यादिगण होते हैं
और वह स्थावर का एक विभाग होता है ।

उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे वीजकाण्डप्ररोहिणः ॥ (मनु. अ.१.४६)

चरक और भेल संहिता में लिखा है—

औद्भिदं तु चतुर्विधम् । वनस्पतिस्तथा वीरुदानस्पत्यस्तथौपधिः ।
(च. सू. अ. १)

उद्भिज्जास्तु वृणलतावृक्षवनस्पतयः । (भेलसंहिता)

तत्र स्थावरेभ्यस्त्वक्पत्रपुष्पफूलमूलकन्दनि-
र्यासस्वरसादयः प्रयोजनवन्तः, जङ्गमेभ्यश्चर्मनख-
रोमसधिरादयः ॥३०॥

इनमें स्थावरों के छाल, पत्ते, फूल, जड़, कन्द, गोंद,
स्वरसादिक प्रयोजन में आते हैं, और जंगमों के चर्म, नख,
बाल, रक्तादिक प्रयोजन में आते हैं ॥३०॥

वक्तव्य—रुधिरादयः—मज्जा, यकृत, पित्त इत्यादि ।
यद्धदा भक्षयेदाज्जमामं पित्तसमायुतम् । (उत्तरस्थान अ. ४५) ।
इन जंगमावयवों का आभ्यन्तरीय प्रयोग करके रोगों की
चिकित्सा करने का अंग पाश्चात्य वैद्यक में सांप्रत बहुत
उन्नत हुआ है । उसे Organo-Therapy कहते हैं । इसमें
यकृत, प्लीहा, मज्जा, अग्न्याशय, थायरॉइड, प्याराथायरॉइड,
जननप्रस्थियाँ आदि शरीर के अनेक अवयव विविध रोगों में
सफलता से प्रयुक्त हो रहे हैं ।

स्थावर और जंगमों से जो जो चीजें काम में लाई जाती
हैं, उनके कुछ अधिक नाम चरकसंहिता में दिये हैं—

मधूनि गोरसाः पित्तं वसा मज्जास्वामिषम् ।

विष्मूनचर्मरेतोऽप्लिसनायुश्चनखाः खुराः ।

जङ्गमेभ्यः प्रयुज्यन्ते केशलोमानि रोचनाः ॥ (सू. अ. १)

मूलत्वक्सारनिर्यासनालस्वरसपहवाः ।

क्षाराः क्षीरं फलं पुष्यं भस्मतैलानि कण्टकाः ।

पत्राणि शुक्लाः कन्दाश्च प्ररोहाश्चौद्भिदो गणः ॥(च.सू.अ.१)

पार्थिवाः सुवर्णरजतमणिमुक्तामनःशिलामृत्क-
पालादयः ॥३१॥

पार्थिव द्रव्यों में सुवर्ण, रौप्य, मणि, मुक्ता, मनःशिला,
मिट्टी, ठिकरी आदि पदार्थ काम में लाये जाते हैं ॥३१॥

वक्तव्य—उपरोक्त द्रव्यों के सिवाय शिलाजतु, सिकता,
सुधा, हरिताल, लवण, गैरिक, रसांजनादि द्रव्यों का भी
समावेश पार्थिव ओषधियों में होता है । पार्थिव द्रव्यों का
समावेश ऊपर स्थावर विभाग में न करने के कारण यहाँ
उनका स्वतन्त्र उल्लेख किया है । आहार की दृष्टि से यद्यपि
यह गण अत्यन्त गौण होता है तथापि ओषधि की दृष्टि से
यह एक अत्यन्त महत्त्व का गण है । चरक में भी ओषधि
द्रव्यों के सुश्रुत के अनुसार तीन विभाग किये हैं—

तद्युनस्त्रिविधं प्रोक्तं जाङ्गमौद्भिदपार्थिवम् ॥ (च. सू. अ. १)

कालकृताः प्रवातनिवातातपच्छ्रयाज्योत्प्लातमः-
शीतोष्णवर्षाऽहोरात्रपक्षमासर्तव्यनादयः संवत्सर-
विशेषाः ॥३२॥ तपते स्वभावत एव दोषाणां सञ्चय-
प्रकोपप्रशमप्रतीकारहेतवः प्रयोजनवन्तश्च ॥३३॥

वायु चलना, वायु बंद होना, धूप, छाया, चाँदनी रात,
अँधेरा, सरदी, गरमी, वर्षा, दिन, रात, पक्ष, महीना, ऋतु,
अयन और संवत्सरादि विशेष कालकृत (ओषधि) हैं ॥३२॥
(कारण) ये सब काल विशेष स्वभाव से ही (वात पित्त कफ)
दोषों के संचय, प्रकोप, प्रशमन और प्रतीकार करते हैं (और
चिकित्सा के) प्रयोजन में आते हैं ॥३३॥

वक्तव्य—इन कालकृत विभागों का ज्ञान स्वास्थ्यरक्षण
तथा रोग चिकित्सा में आवश्यक होने के कारण इनका
समावेश ओषधियों के साथ किया गया है । इनसे स्वास्थ्य-
रक्षण में, ओषधि आहरण करने में, ओषधियाँ तैयार करने में,
द्रव्यों का गुण धर्म जानने में, ओषधि का प्रयोग किस समय
और कितने काल तक करना चाहिये इस विषय में, शशकर्म
करने में बहुत ही सहायता मिलती है । कालकृत विभागों का
विचार न करते हुए यदि चिकित्सा की जाय तो उसमें सफलता
मिलना बहुत ही कठिन है । चरक में काल का वर्णन करके
अन्त में लिखा है—

काले हि मैषज्यप्रयोगपर्याप्तिमभिनिर्यतयति ॥ (च०विमान.अ.८)

चिकित्सा में काल विभाग का निर्देश विधि और निषेध
के स्वरूप का होता है । ऊपर जो काल के विभाग दिये हैं,
उनके प्रयोजन के कुछ उदाहरण ग्रन्थों में से नीचे दिये हैं ।
लजोत्पलेशीरकुचंदनानि दत्त्वा प्रवाते निशि वासयेच्च । निवातदेशे
निचितिं कृत्वा । मदनफलानामातपपरिशुष्काणाम् । छायाशुक्लं
विधायथ वटी कार्यो चणोपमा । वायवश्चन्द्रपादाश्च शीतदाहञ्जरापहाः ।
अथेतलोष्काण्यैः संरोधश्च तमोगृहे । नैवातिरीते नात्युष्णे न प्रवाते
न चाग्निने । सिराणां न्यथेन कार्यमरोगे वा कदाचन ॥

न च आलेप रात्रौ प्रयुज्यते । प्रदेहसाधये व्याधौ तु हितमाथेयनं
दिवा । पक्षाब्जातरसं पितेत् । खानादिनानाविधिना जहाति म्माद्य-

शेष निबन्धन शोषम् । होदमन्ने क्षेपणा पित शरदि निहेरेव । वर्षाद्यु शम वेदायु प्राविणकारस्तुच्छ्रयात् । अर्वा वा पूर्वपासीत पम्मासायुग्मे वमन् ।

भवन्ति चात्र श्लोकाः—

शारीराणां विकाराणामपि वर्गश्चतुर्विधः ।

प्रकोपे प्रशमे चैव हेतुरुक्तश्चिकित्सकैः ॥३४॥

शारीरिक व्याधियों के प्रकोप और प्रशम का यही स्थावरादि चार प्रकार का वर्ग (वर्ण) चिकित्सकों ने कारण वर्णन किया है ॥३४॥

वृक्तव्य—चतुर्विध वर्ग से स्थावर, जगम, पार्थिव और कालकृत विभाग समझना चाहिये । 'आहारावारापार्थिवकाल-भेदात्' ऐसा चतुर्विध का अर्थ टीका में इच्छण ने दिया है, वह योग्य नहीं है ।

आगन्तवस्तु ये रोगास्ते द्विधा निपतन्ति हि ।

मनस्यन्ये शरीरेऽन्ये तेषां तु द्विविधा क्रिया ॥३५॥

शरीरपतितानां तु शारीरवदुपक्रमः ।

मानसानां तु शब्दादिरिष्टो वर्गः सुखावहः ॥३६॥

आगन्तुक जो रोग है उनके दो अधिष्ठान हैं, कोई मन में और कोई शरीर में अधिष्ठित होते हैं, उनकी चिकित्सा भी दो प्रकार की है ॥३५॥ जो शरीर में होते हैं उनकी चिकित्सा शारीरिक रोगों के अनुसार होती है और जो मन में होते हैं उनकी चिकित्सा सुखकारक शब्दादि वर्ग से करना उचित होता है ॥३६॥

वृक्तव्य—यहाँ शब्दादि वर्ग उपलक्षण समझ कर उस में मानसव्याधियों के सर्व उपक्रमों का समावेश करना चाहिये । इससे शब्दादि वर्ग में शब्द स्वयं रूप रस गन्ध तथा ज्ञान विश्रानादिक का समावेश होता है । सुखावह का अर्थ आरोग्यदायक 'सुखसञ्जकारोग्यम्' है । बरक में लिखा है—

मानसो ज्ञानविज्ञानधर्म्यस्तनिममाधिभि । (सू अ १)

मानस प्रति भैरव्य विवर्गस्थानवेषणम् ।

वदिपसेवा विज्ञानमात्म्यादीना च सर्वशः ॥ (सू अ ११)

ये मानसिक रोग बहुधा आगन्तुक कारणों से उत्पन्न होने के कारण इनका समावेश आगन्तु वर्ग में और इनका उद्देश आगन्तु नाम से होता है ।

ये भूतविवासाश्चिञ्जमनःप्रिममवा ।

कामधर्मभवापाश्वथे त्पुण्यत्नयो वदा ॥ (अ सं सू अ १)

आगन्तुमानुष्यत्तवैप मार्गो निर्दिशति ॥ (ष सू अ ७)

स्वाभाविक छोड़कर ऊपर चिकित्स्य रोगों के जो तीन प्रकार वर्णन किये हैं, उनका अधिक विचार करने पर निदान की दृष्टि से शारीर और आगन्तुक तथा चिकित्सा की दृष्टि से शारीर और मानस ऐसे दो ही विभाग होते हैं । अतः चरक, अष्टांगमप्रहं इत्यादि ग्रंथों में निदान की दृष्टि से त्रिज और आगन्तु दो विभाग और चिकित्सा की दृष्टि से शारीर और मानसिक दो विभाग बनलाये गये हैं । (अष्टांग हृदयसूत्र स्थान अ १-२०-२५ और चरक सू अ १, ५१ इतरं)

एषमेतत् पुरुषो व्याधिरौघं क्रियाकाल इति चतुष्टयं समासेन व्याख्यातम् । तत्र पुरुषप्रहणात् तारसमयद्रव्यसमूहो भूतादिकत्सद्वह्नमव्यङ्गयि

कल्पाश्च त्वद्मांसास्थिसिरास्नायुमभृतयः, व्याधि प्रहणाद्वातपित्तकफशोणितसन्निपातवैषम्यनिमित्ता सर्वे एव व्याधयो व्याख्याताः, औषधप्रहणाद् द्रव्य रसगुणवीर्यविपाकानामादेशः, क्रियाप्रहणाच्छ्लेधा दीनि स्नेहादीनि च कर्माणि व्याख्यातानि, काल प्रहणात् सर्वक्रियाकालानामादेशः ॥३७॥

इस प्रकार यह पुरुष, व्याधि, औषध और क्रियाकाल के चतुष्टय है, जिसका सन्नेप में वर्णन किया है । इनमें पुरुष शब्द से पुरुषोत्पत्तिकारक पच महाभौतिक शुक्रगोणितमदि अगप्रत्ययविभाग तथा लव्चा मांस अस्थि मिरा द्रायु आदि यातु समझे जाते हैं । व्याधि शब्द से वात पित्त कफ और रक्त के वैषम्य से उत्पन्न हुए सर्व रोग ग्रहण होते हैं । औषधि शब्द से द्रव्यगुण रस वीर्य विपाक प्रभाववादि का ग्रहण होता है । क्रिया शब्द से देहादिक अष्टविध शक्यकर्म और वेदम व स्वेदत पूर्व पचकर्मों का ग्रहण होता है । और काल शब्द से उपरोक्त सर्व क्रियाओं के लिये जो योग्य काल होते हैं, उनका ग्रहण होता है ।

वृक्तव्य—इस अध्याय में पुरुष, व्याधि, औषधि और क्रियाकाल का सन्नेप में वर्णन किया गया है । अब आगे इस संहिता में इस चतुष्टय का जो विस्तार होगा, उसका कुछ दिग्दर्शन करने के लिये प्रत्येक शब्द का थोड़ा विस्तार करके बतलाया गया है । इससे संहिता में जिन विषयों का विचार होगा उसकी कल्पना ही सकती है ।

भवति चात्र—

बीजं चिकित्सितस्यैतत् समासेन प्रकीर्तितम् ।

सर्विशमध्यायशतमस्य व्याख्या भविष्यति ॥३८॥

तत्र सर्विशमध्यायशतं पञ्चसु स्थानेषु सूत्रनिदानशारीरचिकित्सितकल्पेऽथर्वशात् संविभज्योत्तरे तन्त्रे शेषानध्यायं व्याख्यास्यामः ॥३९॥

यहाँ सम्पूर्ण चिकित्साशास्त्र का बीज सन्नेप से वर्णन किया है और एक ही बीज अर्थात् में इसकी (विस्तारपूर्वक) व्याख्या होने वाली है ॥३८॥ ये एक ही बीज अध्याय सूत्र, निदान, शारीर, चिकित्सा और कल्प ऐसे पांच स्थानों में (स्थानों के विधि) विषयों के अनुसार बाँटकर शेष विषयों का व्याख्यान उत्तरतन्त्र में करेगा ॥३९॥

वृक्तव्य—अर्थव्याप्त—प्रत्येक स्थान का जो विशिष्ट अर्थ है, उसके अनुसार । यथा—सूत्रार्थ सूत्रस्थान, शारीर विज्ञानार्थ शारीर, हेतुलक्षण निर्दिष्टार्थ निदान, चिकित्सा निर्दिष्टार्थ चिकित्सा और विषयैषण कल्पनाय कल्पस्थान । ये प्रत्येक स्थान के अर्थ कृत्वी अध्याय में दिये हैं ।

भवति चात्र—स्वयम्भुया प्रोक्तमिदं सनाननं

पठेद्दि यः काशिकापिप्रकाशितम् ।

स पुण्यकर्मो भुवि पूजितो नृपे

रसुस्ये दाममलोक्ततां यजेत् ॥४०॥

११ गुणवर्तिनः सवायने वेदेदेतिनिर्भर प्रथोऽध्याय ॥११॥

ब्रह्मा जी से वर्णन किया हुआ और काशिराज धन्वन्तरि मे (मृत्युलोक में) प्रकाशित हुआ यह सनातन (आयुर्वेद शास्त्र) जो पढ़ेगा, वह पुण्यकर्म पुरुष पृथ्वी पर राजाओं से समानित होकर मृत्यु के पश्चात् इन्द्रलोक में प्राप्त होगा ॥४०॥

वक्तव्य—पठन शब्द से यहाँ पठन-पाठन तथा कर्माभ्यास तीनों का बोध लेना चाहिये । आयुर्वेद का केवल पठन करने से ऐहिक या पारलौकिक सुख नहीं मिल सकता है । पठन करके द्विज गुरु साधु अनाथादि लोगों की चिकित्सा करने से पारलौकिक और सनाथ राजे और धनी लोगों की चिकित्सा करने से ऐहिक सुख मिलता है । चरक में लिखा है—

यद्यायुर्वेदोक्तमध्यात्ममनुष्यायति, वेदयत्यनुविधीयते वा सोऽप्यस्य गते धर्मः ॥ (सू. अ. ३०)

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्य-
दीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां मूत्रस्थाने प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः ।

अथातः शिष्योपनयनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।

योवाच भगवान् धन्वन्तरिः सुश्रुताय ॥१॥

अब यहाँ से शिष्योपनयनीय नामक अध्याय की व्याख्या ते हैं जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के प्रति वर्णन किया ॥१॥

वक्तव्य—अध्ययनार्थमाचार्यसमीपं नीयतेऽनेनेत्युपनयनम् । आयुर्वेद पठनारम्भ में जो उपनयन होता है वह पुनरुपनयन । पहला उपनयन गृह्योक्त विधि से वेद का पठन प्रारम्भ करने के समय होता है ।

गुरोर्व्रतानां वेदस्य यमस्य नियमस्य च ।

देवतानां समीपं वा येनासौ नीयते द्विजः ।

तदुपानयनं प्रोक्तम् ॥

ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानामन्यतममन्वयवयःशील-
शौर्यशौचाचारविनयशक्तिचलमेधाधृतिस्मृतिमति-
प्रतिपत्तियुक्तं तनुजिह्वीष्टदन्ताग्रमृजुवक्त्राक्षिनासं
प्रसन्नचित्तवाक्चेष्टं क्लेशसहं च भिषक् शिष्यमुप-
नयेत् ; अतो विपरीतगुणं नोपनयेत् ॥२॥

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों में से किसी को जो अच्छे वंश, योग्य वय, उत्तम शील, शौर्य, पवित्रता, आचार, नम्रता, उन्माह, बल, मेधा, धृति, स्मृति, मति और प्रतिपत्ति आदि गुणों से युक्त हो, तथा जिसके जिह्वा, होंठ और दाँतों के अग्रभाग पतले हों, और मुख आँख और नाक सीधे हों तथा जिसके चित्त वाणी और आचरण सदैव प्रसन्न हों, जो क्लेश सहन करने की शक्ति रखता हो, ऐसे शिष्य को भिषक् इस शास्त्र का उपदेश करे । इनसे विरुद्ध गुणवाले शिष्य को कदापि इसका उपदेश न करे ॥२॥

वक्तव्य—अन्वय—उत्तम कुल । वय—बाल्य या तृष्णावस्था । शौर्य—शल्यचिकित्सा के लिये इसकी विशेष

आवश्यकता होती है—शौर्यमाशुक्रिया.....वैद्यस्य शल्यकर्मणि शस्यते । शौच—अन्तर्ग्राह्य स्वच्छता । शक्ति—उत्साह । बल—शारीरिक शक्ति । मेधा—धारणाबुद्धि । धृति—नियमात्मिका बुद्धि—‘धृतिर्हि नियमात्मिका’ (चरक) । स्मृति—‘दृष्टवानुभूतानां स्मरणान् स्मृतिरन्वयते’ (चरक) । ‘अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः’ (योगसूत्र) । मति—समतादर्शक बुद्धि—‘समं बुद्धिर्हि पश्यति’ (चरक) । प्रतिपत्ति—प्रागत्य या प्रत्युत्पद्यमानत्व ।

जिह्वा, होंठ इत्यादि पतले होने से शब्दोच्चारण में स्पष्टता होती है, अन्यथा उच्चार अत्यन्त अस्पष्ट होते हैं । बूँसे के लिये क्लेश सहन करने की प्रवृत्ति यदि शिष्य में न हो तो उससे ‘नार्यायं नापि कामार्थमथ भूतदयां प्रति’ इस आयुर्वेद के उच्च ध्येयानुसार वर्तन होना असंभव होगा । उपर्युक्त गुण-विहीन शिष्य को पढ़ाने से शास्त्र तथा गुरु की यदनामी होगी । अतः उनके लिये निषेधार्थक वचन फिर लिखा है ।

उपनयनीयस्तु ब्राह्मणः प्रशस्तेषु तिथिकरणमु-
हूर्तनक्षत्रेषु प्रशस्तायां दिशि शुचौ समे देशे चतुर्हस्तं
चतुरस्रं गोमयेन स्थण्डिलमुपलिप्य, दर्भैः संस्तीर्य,
पुष्पैर्लाजभक्तै रनैश्च देवताः पूजयित्वा विप्रान्
भिषजश्च, तत्रोल्लिख्याभ्युद्य च दक्षिणतो ब्रह्माणं
स्थापयित्वाऽग्निमुपसमाधाय, खदिरपलाशदेवदारु-
विल्वानां समिद्धिश्रतुणां वा क्षीरवृक्षाणां (न्यग्रोधो-
दुम्वराश्वत्थमधूकानां) दधिमधुघृतात्काभिर्दावीर्वाहौ-
मिकेन विधिना स्तुवेणाऽऽज्याहुतीर्जुहुयात्, सप्रण-
वाभिर्महाव्याहृतिभिः, ततः प्रतिदेवतमृषींश्च स्वाहा-
कारं कुर्यात्, शिष्यमपि कारयेत् ॥३॥

उपनयन करने वाला जो ब्राह्मण है वह शुभ तिथि करण मुहूर्त नक्षत्रों में अच्छी (पूर्व या उत्तर) दिशा और पवित्र तथा समतल स्थान में चार हाथ लम्बा और चौड़ा चौकोर स्थंडिल बनाकर उसे गोबर से पीतकर उस पर दर्भ विद्याकर पुष्प धान की लाजा और रत्नों से देवता ब्राह्मण और वैश्यों का पूजन करके तदनन्तर स्थंडिल पर ऊर्ध्वमुख रेखाएँ खींच के और जल का प्रोक्षण करके दक्षिण दिशा में ब्रह्मा की स्थापना और समीप अग्नि स्थापन करके खैर, ढाक, देवदार तथा विल्व की या बड़, गूलर, पिप्पल और महुआ इन चार क्षीरी वृक्षांकी दही, मधु और घृत से लिप्त समिधाओं से दावीं होम विधि के अनुसार लकड़ी की दवाँ से घृत की आहुति देवे । और ओङ्कार-पूर्वक महाव्याहृतियों का उच्चारण कर प्रत्येक देवता और ऋषि के नाम से स्वाहाकार करे और गिष्य से भी करावे ॥३॥

वक्तव्य—सप्रणवाभिर्महाव्याहृतिभिः—ॐ भूः स्वाहा, ॐ भुवः स्वाहा, ॐ स्वः स्वाहा, ॐ भूर्भुवः स्वः स्वाहा इति । लुव—लकड़ी की कहली ।

ब्राह्मणक्षत्रियाणां वर्णानामुपनयनं कर्तुमर्हति,
राजन्यो द्वयस्य, वैश्यो वैश्यवेति ॥४॥ शुद्रमपि कुल-
गुणसम्पन्नं मन्त्रवर्जमनुपनीतमध्यापयेदित्येके ॥५॥

ब्राह्मण (ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य) तीन वर्णों को, क्षत्रिय (क्षत्रिय और वैश्य) दो वर्णों को और वैश्य केवल वैश्यवर्ण को

(आयुर्वेद का) उपदेश करे ॥१॥ घृष्ट भी उत्तम कुल और गुणम्पन्न हो तो उसको वैदिक मन्त्र का भाग छोड़कर और उपनयन के बिना आयुर्वेद का उपदेश करे, ऐसा कहे जाचार्थों का मत है ॥१॥

घृष्टव्य—'न व अथेतन्नो ब्रह्माराज्यवैश्वदेव' इस प्रकार का विधिवाक्य घृष्ट (सू. अ. ३०) में है । परन्तु इससे घृष्टों के लिये निषेध सिद्ध नहीं होता है । घृष्टों के लिये केवल वेदमन्त्र पठन का निषेध है 'कौशुली नाधीयीतम्' । इसलिये मन्त्रवर्जित और बिना उपनयन के आयुर्वेद पठन का जो अधिकार यहाँ एकीय मत से प्रदर्शित किया है वह शास्त्रविद्वत् नहीं है और समाज के लिये अत्यन्त हितकर भी है । सामग्रत शल्पचिकित्सा पहले तीन वर्षों में लुप्त हो गई है और केवल नाडीवेध, नाई, माल इत्यादि श्रेयर्णैतर श्रेणों में शेष है जो अभी तक देहाती में पथरी और मांतिवादि निकालना, तुंबी आदि से रक्त निकालना तथा फोड़े फुस्सियों चौरना इत्यादि कर्म किया करते हैं ।

ततोऽग्निमित्रः परिणीयामिसात्तिकं शिष्यं ब्रूयात्- कामक्रोधलोभमोहमानाहङ्कारेण्योपाख्यपैशुन्यान्नुतालस्यापशस्यानि हित्वा, नीचनखरोम्णा शुबिना कपायधाससा सत्यव्रतप्रह्ववर्षोभ्रिवादानतत्परेणाऽ-घश्यं भवितव्यं, मद्नुमनस्थानगमनशयनासनभोजनाध्ययनपरेण भूत्वा, मत्प्रियहितेषु वर्तितव्यम्; अतोऽन्यथा ते धर्तमानस्याधर्मो भवति, अफला च विद्या, न च प्राकाश्यं प्राप्नोति ॥६॥

तदनन्तर अग्नि की तीन परिक्रमा करके अग्निमात्र शिष्य से करे—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान, अहङ्कार, द्वेष, क्रो- रता, नीचता, असत्य, आलस्य तथा बदनामी करने वाले कार्य इन सब को छोड़कर केश और बाल कटवा कर पवित्र कपाय वस्त्र पहन कर सत्यव्रत और ब्रह्मचर्य धारण कर प्रणाम आदि में तत्पर अवश्य रहना चाहिये और मेरी अनुमति के अनुसार कहीं जाना, सोना, बैटना, भोजन करना और पाना इन बातों में तत्पर होकर मेरे शिष्य जो मित्र और हितकर हो ऐसा बर्तन रखना चाहिये । इसमें विपरीत कर्त्तव्य रखने से मुहुरता धर्म नष्ट होगा और विद्या निष्फल होकर प्रकाशित (प्रसिद्ध) भी न होगी ॥६॥

घृष्टव्य—घातक में अग्नि के सिवाय ब्राह्मण और मित्रक साधु करके बहने के लिये कहा है । आयुर्वेद में प्रत्येक पाँचवें दिन बाल और नख कटवाने के लिये कहा है—

न वृषभ नमस्यपुत्रकरोमर्षिः कर्षेत् । (अ. सं. सू. अ. ३)

ब्रह्मचर्य—वाचिक, वाचिक और मानसिक या अष्टविध मैथुन पराङ्मुलता । मैथुन के सिवाय मद्य मांसादि भक्षण निषेधादि अनेक नियम ब्रह्मचर्य के लिये पालन करने पड़ते हैं । शिवेन विनार के लिये मनुस्मृति अध्याय २ श्लोक १२५ से २४५ तक देखो । अभिवारन—गुरु को प्रणाम करने की शिवेन पदवि की अभिवारन कहते हैं । अभिवारन में श्शुण्यता, पादोत्सर्ग और स्वभ्रातृत्वं प्रणाम इन बातों का समावेश

होता है (मनु अध्याय २, २२०-२२६) । इस सूत्र में शिष्य का गुरु के प्रति जो कर्त्तव्य होता है, उसका वर्णन किया गया है ।

अहं वा त्वयि सम्प्यर्ध्वर्तमाने यदि अन्यथादर्शी स्यामेनोभाग भवेयमफलविद्यश्च ॥७॥

तैरे यद्योचिन यथां वरने पर भी यदि मैं तुम्हें यथायाच विद्या न पहुँके तो मैं पाप का भागी होंगा और मेरी विद्या निष्फल हो जायगी ॥७॥

घृष्टव्य—इस सूत्र में शिष्य के प्रति गुरु का कर्त्तव्य वर्णन किया गया है । एनोभास-यापभाजन । यद्योचित कर्त्तव्य करने वाले शिष्य को यदि गुरु विद्या का दान एक साल के भीतर न करेगा तो शिष्य के सारे पातकों का वह भाजन होगा— 'सत्सत्तोयि तिथे गुरुर्नननिर्दिशद् । हते दुश्च तस शिषस कर्त्तौ गुरो' (कर्मपुराण) ।

द्विजगुरुद्विद्विमित्रप्रयजितोपनतसाध्वनाधाम्युपगतानां चात्प्रयान्धधानामिव स्वभेषजैः प्रतिकर्तव्यमेवं साधु भवति; ध्यायशाकुनिकपतितपापकारिणां च न प्रतिकर्तव्यम्; एवं विद्या प्रकाशते मित्रयशो- धर्मार्थकामांश्च प्राप्नोति ॥८॥

ब्राह्मण, गुरु, द्विज, मित्र, सन्ध्यासी, आश्रित, सलुह्य, अस- ह्य और अम्यागत इन की चिकित्सा निज बान्धवों के तुल्य अपने पास की ओरधियों से करना उत्तम है । पशु और पक्षी हिसक, आधारभ्रष्ट, पापी जनों की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये । ऐसा करने से विद्या प्रकाशित होती है और मित्र, यश, धर्म, अर्थ, कामादि सब प्राप्त होते हैं ॥८॥

घृष्टव्य—इस सूत्र में शिष्य को किस वर्ग के रोगी की चिकित्सा करनी चाहिये और किस की नहीं करनी चाहिये इसका दिग्दर्शन कुछ उदाहरण देकर किया गया है । नीचे श्लोक ९ और १० में आयुर्वेदाध्ययन के लिये अनभ्याप काल बतलाये गये हैं ।

भवतश्चात्र—
छृण्येऽएमी तन्निधनेऽहनी द्वे
मुहेः तथाऽप्येवमहद्विसन्ध्यम् ।
अकालविशुस्तनपित्तुद्योये
स्यतन्यराष्ट्रसितिपश्यासु ॥९॥

स्मशानयानाघतनाह्वेषु
महोरसवौत्पातिकदर्शनेषु ।
नाभ्येयमन्येषु च येषु विप्रा
नाधीयते नानुचिना च नित्यम् ॥१०॥

इति शुश्रुकुशिर्याय एवाप्तये शिष्योपनयनीयो नाम द्वितीयेऽध्यायः ॥३॥

इत्यारम्भ की अष्टमी और उसकी समाप्ति के दो दिन (चतुर्थी और अनायाता), हनी मांति शुश्रुकुशिर्य में अष्टमी, चतुर्थी और पौर्णमा, श्रुयार्ष और श्रुयार्ष के समय (मन्त्रिकाल), अकाल बिजली चमकना और भेषजप्रैत होना, अपने घरी, परिवार, देश और राजा की पीड़ा के समय ॥९॥ और शिव दिन समाप्त में गमन हो, पुत्र महोत्सव और

उत्पात के दिन तथा जिन दिनों में ब्राह्मण सदैव अनध्याय करते हैं, उन दिनों में और अशुद्ध अवस्था में अध्ययन नहीं करना चाहिये ॥१०॥

चक्षुर्व्य—नविधनेऽश्नि द्वे—रूग्ण और शुरु पक्ष के दो अन्तिम दिन चतुर्दशी और अमावास्या तथा चतुर्दशी और पौर्णमासी । अकालविद्युत्तन्वितुषोपे—अकाल में त्रिजली चमकना, मेघवर्जन होना । इसी में अकाल वृष्टि और अकाल मेघदर्शन का भी समावेश करना चाहिये चूंकि मनुस्मृति में 'विद्युत्तन्वितवर्षेषु' 'अन्तौ चाभ्रदर्शने' ऐसा लिखा है । अकाल का अर्थ वृष्टि के लिये अकाल, यह काल मार्गशीर्ष मास से चैत्र मास तक होता है । ये अकालिक अनध्याय दिन में जिस समय विद्युत्तन्वितादि प्रारम्भ होता है, तब से दूसरे दिन उसी समय तक होते हैं । 'निमित्तकालाशरन्वापरेऽपुषोवत्स एव कालस्तावत्सन्तमनाध्यायम्' (कुल्लुकभट्ट) । 'स्वतंत्रराष्ट्रक्षितिपव्याप्तु' स्व आत्मा, तंत्र परिजन, राष्ट्र देश, और क्षितिप राजा । अपने शरीर, परिजन, देश और राजा के संकट के समय । उत्पात, अनिष्टसूचक निमित्त । ये उत्पात भौम, आग्नि और दिव्य तीन प्रकार के होते हैं । इन दो श्लोकों अध्याय के जो दिन बतलाये हैं, इनके सिवाय अधिक राय दिनों का ज्ञान करने के लिये मनुस्मृति अध्याय १०१-१२५ तक श्लोक देखो ।

इति भान्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्य-
दीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां सूत्रस्थाने द्वितीयोऽध्यायः ॥३॥

तृतीयोऽध्यायः ।

अथातोऽध्ययनसंप्रदानीयमध्यायं व्याख्या-
यामः, यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः सुश्रुताय ॥१॥

अथ अध्ययनसंप्रदानीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते जैसे कि धन्वन्तरि भगवान् ने सुश्रुत के प्रति किया ॥१॥

चक्षुर्व्य—इस अध्याय में भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत जिस क्रम से आयुर्वेद का उपदेश दिया वह अनुक्रम वर्णन या है । अध्ययनं शास्त्रम् । सम्यक् प्रविभज्य दान संप्रदानम् ।

प्रागभिहितं सविंशमध्यायशतं पञ्चसु स्थानेषु ।
त्र सूत्रस्थानमध्यायाः पदचत्वारिंशत्, षोडश निदान-
ानि, दश शारीराणि, चत्वारिंशच्चिकित्सितानि,
षौ कल्पाः, तदुत्तरं पदशष्टिः ॥२॥

पहले अध्याय में कहा गया है कि इस संहिता के एक सौ
सि अध्याय पांच स्थानों में विभक्त हैं । इन में से ४६ अध्याय
१ सूत्रस्थान, १६ अध्याय का निदानस्थान, १० अध्याय का
शारीरस्थान, ४० अध्याय का चिकित्सास्थान, ८ अध्याय का
व्यस्थान, इसके बाद उत्तरस्थान में ६६ अध्याय हैं ॥२॥

वेदोत्पत्तिः शिष्यनयस्तथाऽध्ययनदानिकः ।

प्रभाषणप्रहरणावृत्तुचर्याय यान्त्रिकः ॥३॥

शास्त्रावचारणं योग्या विशिखा चारकल्पनम् ।

अशिकर्मजलौकाख्यावध्यायौ रक्तवर्णनम् ॥४॥

द्रोपधातुमलाद्यानां विद्यानाध्याय एव च ।

कर्णव्यधामपकैपावलेपो ब्राह्मणपासनम् ॥५॥

हिताहितो व्रणप्रश्नो व्रणालावश्च यः पृथक् ।

कृत्याकृत्यविधिव्याधिंसमुद्देगीय एव च ॥६॥

चिनिश्चयः शस्त्रविधौ प्रनष्टज्ञानिकस्तथा ।

शल्योद्धृतिव्रणक्षानं द्रुतस्वप्ननिदर्शनम् ॥७॥

पञ्चेन्द्रियं तथा छाया स्वभावाद्देहकृतं तथा ।

चारणो युक्तसेनीय आतुरक्रममिश्रकौ ॥८॥

भूमिभागो द्रव्यगणः संशुद्धौ शमने च यः ।

द्रव्यादीनां च विज्ञानं विशेषो द्रव्यगोऽपरः ॥९॥

रसज्ञानं वमनार्थमध्यायो रेचनाय च ।

द्रवद्रव्यविधिस्तद्द्रवपानविधिस्तथा ॥१०॥

सूचनात् सूत्रणाद्यैव सन्धानाद्यर्थसन्ततेः ।

पदचत्वारिंशदध्यायं सूत्रस्थानं प्रचक्षते ॥११॥

(सूत्रस्थान के अध्यायों के क्रमानुसार नाम—) १ वेदो-
त्पत्ति, २ शिष्योपनयनीय, ३ अध्ययनसंप्रदाननीय, ४ प्रभाषणीय,
५ अम्रोपहरणीय, ६ ऋतुचर्या, ७ यन्त्रविधि, ८ शास्त्रावचारणीय,
९ योग्यासूत्रीय, १० चिरित्खानुपवेशनीय, ११ क्षारपाकविधि,
१२ अग्निर्कर्मविधि, १३ जलौकावचारणीय, १४ शोणितवर्णनीय,
१५ द्रोपधातुमलक्षयवृद्धि विज्ञानीय, १६ कर्णव्यधबंधविधि, १७
आमपकैपणीय, १८ व्रणालेपनबंधविधि, १९ व्रणितोपासनीय,
२० हिताहितीय, २१ व्रणप्रश्न, २२ व्रणालावविज्ञानीय, २३
कृत्याकृत्यविधि, २४ व्याधिसंसुद्देगीय, २५ अष्टविधशस्त्रकर्मिय,
२६ प्रनष्टज्ञानविज्ञानीय, २७ शल्योपनयनीय, २८ विपरीतावि-
परीतव्रणविज्ञानीय, २९ विपरीताविपरीतद्रुतशकुन स्वप्ननिदर्श-
नीय, ३० पञ्चेन्द्रियार्थ विप्रतिपत्ति, ३१ छायाविप्रतिपत्ति, ३२
स्वभावविप्रतिपत्ति, ३३ अवारणीय, ३४ युक्तसेनीय, ३५ आतु-
रोपक्रमणीय, ३६ भूमिविप्रविभागविज्ञानीय, ३७ मिश्रक, ३८
द्रव्यसंप्रहणीय, ३९ संशोधनसंगमनीय, ४० द्रव्यरसगुणवीर्य-
विपाकविज्ञानीय, ४१ द्रव्यविशेष विज्ञानीय, ४२ रसविशेष विज्ञा-
नीय, ४३ वमनद्रव्यविकल्प विज्ञानीय, ४४ विरेचनद्रव्यविकल्प
विज्ञानीय, ४५ द्रवद्रव्यविधि, और ४६ अन्नपानविधि । आयुर्वेद
के विषय विस्तार का दिग्दर्शन (सूचना) करने से, संक्षेप में
(सूत्ररूप) वर्णन करने से तथा सर्व विषयों का ग्रन्थन (संधान)
करने से इन छायालीस अध्यायोंको सूत्रस्थान कहते हैं ॥१-११॥

वातव्याधिकमर्शांसि साशमरिश्च भगन्दरः ।

कुष्ठमेहोदरा मूढो विद्रधिः परिसर्पणम् ॥१२॥

ग्रन्थिवृद्धिक्षुद्रशकभग्नाश्च मुखरोगिकम् ।

हेतुलक्षणनिर्देशास्त्रिदानानीति षोडश ॥१३॥

(निदानस्थान के अध्यायों के अनुक्रम से नाम—) १
वातव्याधिनिदान, २ अर्शासिनिदान, ३ अशमरीनिदान, ४ भगन्दर
निदान, ५ कुष्ठनिदान, ६ मेहनिदान, ७ उदरनिदान, ८
मूढगर्भनिदान, ९ विद्रधिनिदान, १० विसर्पनाडीक्षानरोग
निदान, ११ ग्रन्थिपच्युद्देगालगण्डनिदान, १२ वृद्धपदंश्लीपद
निदान, १३ क्षुद्ररोगनिदान, १४ शुकदीपनिदान, १५ मन्निदान,
१६

रोगों के हेतु लक्षणदि का निर्देश होने के कारण इन सोलह अध्यायों का निदान स्थान है ॥१२-१३॥

वक्तव्य—हेतु-व्याधिजनक कारण। यथा—प्रसात्पेट्टि वाप्यसयोग, प्रक्षारप्राध और परिणाम। लक्ष्यने कथन व्याप्य परिधिनि लक्षणानि—जिनसे व्याधियों का ज्ञान होता है, उनको लक्षण कहते हैं। अर्थात् लक्षण से यहाँ निदान, पूर्वरूप, रूप, उपग्रह और सप्राप्ति समझना चाहिये। 'एवमेव विधिनिरनपूर्व रूपक्रियाभक्तानि' (चरक निदान अ० १)। हेतु से रोगों लक्षित तथा रोग विज्ञान में सहायता मिलती है, अतः पूर्वरूपादिक से हेतु की विशेषता प्रतिपादन करने के लिये इसका स्वतन्त्र

भूतचिन्ता रज शुद्धिर्गर्भावधान्तिरेव च।
 व्याकरणं च गर्भस्य शरीरस्य च यत् स्मृतम् ॥१४॥
 प्रत्येकं मर्मनिर्देशः सिरावर्णनमेव च।
 सिराव्यपयो घमनीनां गर्भिन्या व्याकृतस्तथा ॥१५॥
 निर्दिष्टानि दशैतानि शारीर्याणि महर्षिणा।
 विज्ञानार्थं शरीरस्य भिषजां योगिनामपि ॥१६॥
 (शारीर्यजन के अध्याय—) १ सर्वभूत चिन्ताशारीर, २ शुक्र-
 षोणित शुद्धिशारीर, ३ गर्भावधानि शारीर, ४ गर्भव्याकरण
 शारीर, ५ शरीरसंस्था व्याकरण शारीर, ६ प्रत्येकमर्मनिर्देशशारीर,
 ७ सिरार्णविकृतिशारीर, ८ सिराव्यपयविधिशारीर, ९ घमनी-
 व्याकरणशारीर, १० गर्भिणीव्याकरणशारीर।
 ये शरीर के दश अध्याय महर्षि धन्वन्तरि ने दसों तथा
 योगियों को शरीर का ज्ञान करने के लिये वर्णन किये हैं ॥१४-१६॥
 द्विमर्षीयो मयः सद्यो भग्नानां यातयोगिकम्।
 महावातिकमशांसि सास्मरिश्च भगन्दरः ॥१७॥
 कुष्ठानां महतां चापि मैहिकं पैडकं तथा।
 मधुमेहचिकित्सा च तथा चोदरिणामपि ॥१८॥
 मूदगर्भचिकित्सा च विद्रुधीनां विसर्पिणाम्।
 ग्रन्थिवृक्षपुदंशानां तथा च क्षुद्ररोगिकम् ॥१९॥
 शूय दोषचिकित्सा च तथा च मुमुरोगिणाम्।
 शोफस्यानागतानां च निषेधो मिथक् तथा ॥२०॥
 घात्रीकरं च यन् ऋत्नीने सर्वायाधशमोऽपि च।
 मेधायुष्करं चापि स्वभास्यथाधिवारणम् ॥२१॥
 निवृत्तसन्तापकरं कीर्तितं च रसायनम्।
 स्नेहोपयौगिकं स्वेदो घमने च विरेचने ॥२२॥
 तयोऽप्यापि चिकित्सा च नेत्रयस्तिविभागिक।
 नेत्रयस्तिविभागिकिस्तथा चोत्तरयस्तिक् ॥२३॥
 निरुद्धममनस्य तथा यानुरमनस्य।
 भूमनस्यपि विधान्यप्येव शार्शदिनि स्मृता ॥२४॥
 प्रायश्चित्त प्रशमनं चिकित्सा शान्तिर्मम च।
 पर्यायान्तस्य निर्देशाधिकि सास्त्राधानमुच्यते ॥२५॥
 (विधिनामक अध्याय के दसो अध्याय—) १ द्विमर्षीय

चिकित्सित, २ सद्योपचिकित्सित, ३ भागचिकित्सित, ४ वात
 व्याधिकित्सित, ५ महावातव्याधिकित्सित, ६ अर्षोचि-
 त्सित, ७ अमरीचिकित्सित, ८ भगन्दरचिकित्सित, ९ कुष्ठचि-
 त्सित, १० महाकुष्ठचिकित्सित, ११ प्रमेहचिकित्सित, १२ प्रमे-
 पिडकाचिकित्सित, १३ मधुमेहचिकित्सित, १४ उदरचिकित्सा
 १५ मूदगर्भचिकित्सित, १६ विद्रुधीचिकित्सित, १७ विसर्पना-
 स्तनरोगचिकित्सित, १८ ग्रन्थिवृक्षपुदंगलगण्डचिकित्सित
 १९ क्षुद्रपुदंगरुन्नीपदचिकित्सित, २० शूदुरोगचिकित्सित, २
 शूयरोगचिकित्सित, २२ मुखरोगचिकित्सित, २३ शोफचिकित्सित
 २४ अनागतावाधप्रतिषेधनीपचिकित्सित, २५ मिथक्चिकि-
 त्सित, २६ क्षीणवलीयवात्रीकरणचिकित्सित, २७ सर्वोपघातश-
 नीपरसायन, २८ मेधायुष्कार्मावरसायनचिकित्सित, २९ स्वभाव
 व्याधिप्रतिषेधनीपरसायन, ३० निवृत्तसन्तापीपरसायन, ३
 क्षेदोपर्यागिकचिकित्सित, ३२ स्वेदावधारणीयचिकित्सित, ३३ वमन
 विरेचनसाध्योपद्रवचिकित्सित, ३४ वमनविरेचनन्यापरिधि
 त्सित, ३५ नेत्रबलिप्रमाणप्रविभागचिकित्सित, ३६ नेत्रबलि
 व्यापचिकित्सित, ३७ अनुवासनोत्तरबलिचिकित्सित, ३८ निरु-
 क्षमचिकित्सित, ३९ आतुरोपद्रवचिकित्सित, और अन्तमें ४
 भूमनस्यपि विधान्यप्येव हविचिकित्सित, इस क्रम से चालोस अध्याय हैं।
 प्रायश्चित्त, प्रशमन, चिकित्सा और शान्तिर्मम से स-
 शब्द पर्यायवाचक हैं। इनका विवरण इसमें करने के कारण
 इसको चिकित्सास्थान कहते हैं ॥१७-२५॥

वक्तव्य—पर्याय—एकार्थवाचक शब्द। प्रायश्चित्त—
 'प्रती नम तत्र' श्लोक वित्त निश्चय उच्यते। तयोऽपि विषयस्योपर
 भावभित्तिर्नये' (हेमाद्रि)। प्रायश्चित्त से यहाँ दैवकृपाप्राप्त
 चिकित्सा का बोध हो सकता है। जिस प्रकार शारीरिक दोषों
 से उत्पन्न हुए रोगों का निवारण चिकित्सा द्वारा होता है,
 उसी प्रकार कर्मज दोषों से उत्पन्न हुए रोगों का निवारण
 प्रायश्चित्त द्वारा होता है। अथवा कर्मज व्याधि का निवारण
 प्रायश्चित्त की भाँति चिकित्सा से होता है, इसलिये चिकित्सा
 को प्रायश्चित्त कह सकते हैं। 'प्रायश्चित्तम् इति नेत्रबलि
 बद्धेन उपमं कर्षेण विहातव' (चक्रपाणिदत्त)।
 अप्रत्यक्ष रक्षा विज्ञानं स्यात्परस्येतरस्य च।
 सर्पद्रव्यविषज्ञानं तस्यैव च चिकित्सितम् ॥२६॥
 दुन्दुभेर्मुषिकानां च वीटानां वल्प पृच च।
 अष्टौ कल्पसा समाख्याता विषमेघजखल्पनाम् ॥२७॥
 (कल्पसायन के अध्याय—) १ अष्टपातरसाकल्प, २ स्यावर
 विषविज्ञानीय, ३ जम्बूविषविज्ञानीय, ४ सर्पद्रव्यविषविज्ञानीय
 ५ मर्षद्रव्यविषचिकित्सकल्प, ६ दुन्दुभिसर्पनीयकल्प, ७ मुषिक-
 कल्प, ८ वीटकल्प। इन आठ अध्यायों में विषचिकित्सा की
 कल्पना होने के कारण इनको कल्प (स्थान) कहते हैं ॥२६-२७॥
 वक्तव्य—मेघज खल्प में यहाँ चिकित्सा अर्थ अभिप्रेत
 है—तुम्हारे खल्पक प्रकृति विषय अथवा विषय
 अधिनर निरुद्धेन उपमं कर्षेण विहातव (चरक)।
 अध्यायानां ज्ञानं विनामेघमेतदुद्धारितम्।
 भय पर ख्यातमेव तन्प्रमुसरमुच्यते ॥२८॥
 (यस्य कर्षेण विहातव अमुसर) एक ही शब्द अध्यायों

वर्णन इम प्रकार किया। अब वर्णन से आगे 'उत्तर' नाम ही उत्तरतन्त्र का वर्णन किया जायगा ॥२८॥

अधिकृत्य कृतं चस्मात्तन्त्रमेतदुपद्रवान् ।
धौपद्रविक इत्येष तस्याद्यत्वाच्चिरुच्यते ॥२९॥

सन्धौ वर्त्मनि शुक्ले च कृष्णे सर्वत्र दृष्टिषु ।
संविज्ञानार्थमध्याया गदानां तु प्रति प्रति ॥३०॥

चिकित्साप्रधिभानीयो वानाभिप्यन्दवारणः ।
पतन्त्य र्द्वैपिकस्यापि रौधिरुच्य तथैव च ॥३१॥

लेन्यभेद्यनिपेधौ च छेद्यानां वर्त्मदृष्टिषु ।
क्रियाकल्पोधिघातश्च कर्णोत्थास्तच्चिकित्सितम् ॥३२॥

घ्राणोत्थानां च विज्ञानं तद्ददप्रतिपेधनम् ।
प्रतिश्यायनिपेधश्च शिरोगद्विवेचनम् ॥३३॥

चिकित्सा तद्ददानां च शालाक्यं तन्त्रमुच्यते ।
चूकि उपद्रवों का विचार करने के लिये यह तन्त्र रचा गया है, इसलिये (उपद्रवाधिकारी) इस तन्त्र के प्रारम्भिक अध्याय को 'औपद्रविक' कहते हैं ॥२९॥ सन्धि, वर्त्म, शुक्ल, कृष्ण सर्व और दृष्टि इनके रोगों का ज्ञान कराने के लिये एक अध्याय प्रत्येक के लिये है ॥३०॥ अध्यायों के नाम—

१. औपद्रविक, २. सन्धिगतरोगविज्ञानीय, ३. वर्त्मगतरोगविज्ञानीय, ४. शुक्लगतरोगविज्ञानीय, ५. कृष्णगतरोगविज्ञानीय, ६. विज्ञानरोगविज्ञानीय, ७. दृष्टिगतरोगविज्ञानीय, ८. चिकित्सित-भागविज्ञानीय, ९. घाताभिप्यन्दप्रतिपेध, १०. पिनाभि-प्रतिपेध, ११. लेन्माभिप्यन्दप्रतिपेध, १२. रक्तभिप्यन्द-प्रतिपेध, १३. लेन्यरोगप्रतिपेध, १४. भेद्यरोगप्रतिपेध, १५. छेद्य-प्रतिपेध, १६. पक्ष्मकोपप्रतिपेध, १७. दृष्टिगतरोगप्रतिपेध, १८. क्रियाकल्प, १९. नयनाभिघातप्रतिपेध, २०. कर्णगतरोग-विज्ञानीय, २१. कर्णगतरोगप्रतिपेध, २२. नासागतरोगविज्ञानीय, २३. नासागतरोगप्रतिपेध, २४. प्रतिश्यायप्रतिपेध, २५. शिरोरोग-विज्ञानीय, २६. शिरोरोगप्रतिपेध। इस (छन्दोग अध्याय समूह) शालाक्यतन्त्र कहते हैं ॥२९—३३॥

नवग्रहाकृतज्ञानं स्कन्दस्य च निपेधनम् ॥३४॥
अपस्मारशकुन्वोश्च रेवत्याश्च पुनः पृथक् ।
पूतनायास्तथाऽन्ध्याया मरिडका शीतपूतना ॥३५॥
नैगमेपचिकित्सा च ग्रहोत्पत्तिः सयोनिया ।
कौमारतन्त्रमित्येतच्छारीरपेषु च कीर्तितम् ॥३६॥

२७ नवग्रहाकृतिविज्ञानीय, २८ स्कन्दग्रहप्रतिपेध, २९ अपस्मारप्रतिपेध, ३० शकुनिप्रतिपेध, ३१ रेवतीप्रतिपेध, ३२ पूतनाप्रतिपेध, ३३ अन्धपूतनाप्रतिपेध, ३४ शीतपूतना-प्रतिपेध, ३५ मुखमण्डिकाप्रतिपेध, ३६ नैगमपप्रतिपेध, ३७ ग्रहोत्पत्ति, ३८ योनिव्यापप्रतिपेध। यह (सत्ताईसवें अध्याय में ग्रहनीसवें अध्याय तक १२ अध्याय) कौमारतन्त्र है और शारीरस्थान में भी कहा गया है ॥३४-३६॥

वक्तव्य—आयुर्वेद के श्लेष शालाक्यादि आठों अंगों को व्याख्या (प्रथम अध्याय) देखने से यह विदित होगा कि प्रसूतितन्त्र जैसे महत्व के अंग का उल्लेख किसी भी अंग में नहीं किया गया है। अब प्रश्न यह है कि प्रसूतितन्त्र का

समावेश आयुर्वेद के किस अंग में किया जाये। इस प्रश्न पर महाभारतभाष्याय कृषिराज गणनाथनेन अपनी प्रत्यक्षकारी की प्रस्तावना (पृष्ठ ३५) में लिखते हैं—“रजःप्रायोगम् । कौमारचूडं नाम कुमारतन्त्रभाषीधीनोपमशोधनार्थं दुष्टतन्त्रग्रह-मुखात्तानां च न्यार्थीनामुपमानार्थम्” इति सुश्रुतः। प्रसूतितन्त्रस्य गर्भिण्युपचारोत्पत्तिः प्रसूतितन्त्रे तु नास्तीति भावः। तस्य हि वैशेके शारीर-पदान्तर्भावः, शस्यत्वे च मूल्यमधिक्यप्रदः। एवञ्च सर्वथा कौमार-भूत्यात् प्रथमेव प्रभाषितं न मन्यन् ।”

परन्तु निम्न प्रमाणों के आधार पर प्रसूतितन्त्र का समावेश कौमारचूड में ही करना उचित है।

१. 'कौमारतन्त्रमित्येतच्छारीरुप च कीर्तितम्' इस श्लोकार्थ की टीका में उल्लेखाचार्य लिखते हैं—“क्रियोत्पादेन कुमारतन्त्रमथवाऽन्य-द्वान्तीति पृष्ठ भाह—‘शारीरगु च कीर्तितम्’ इति । किं तत्र शारीर-पुक्तम् ? तथा—रजःशुद्धिः, गर्भावकान्तिरित्यादि । इतसे रजःशुद्धि, गर्भावकान्ति इत्यादि अध्याय कौमारभूत्य में समाविष्ट होते हैं।

२. शारीरसंहिता में कुमारतन्त्र की निम्न व्याख्या दी गई है।
गर्भोपक्रमविधानं चूर्तिनापक्रमं तथा ।
वालाना रोगशमने क्रिया वालचिकित्सितम् ॥

३. कौटिलीय अर्थशास्त्र में लिखा है कि रानी के गर्भवती होने पर कौमारभूत्य उसकी देख रेल करता रहे और प्रसूति के समय पर यथाविधि निर्विघ्न प्रसव करावे। ‘शापद्रसत्त्वार्था कौमारभूत्या गर्भमर्मणि प्रननेन च विनयेत’ (प्रथमाधिकरण अ. १७)

इयमे आयुर्वेदिक कौमारभूत्य में योनिव्यापचिकित्सा (Gynecology), प्रसूतितन्त्र (Midwifery) और बालरोगचिकित्सा (Paediatrics) इनका समावेश होता है। आयुर्वेदिक पाश्चात्य वैद्यक में ये तीन विभाग स्वतंत्र हैं।

ज्वरातिसारशोषाणां गुल्महृद्रोगिणामपि ।
पाण्डूनां रक्तपित्तस्य भूर्च्छायाः पानजाश्च ये ॥३७॥
तृष्णायाश्छर्दिहिकानां निपेधः श्वासकासयोः ।
स्वभेदचिकित्सा च कृम्युदावर्तिनोः पृथक् ॥३८॥
विसूचिकाऽरोचकयोर्मूत्राघातविकृच्छयोः ।
इति कायचिकित्सायाः शेषमत्र प्रकीर्तितम् ॥३९॥

३७ ज्वरप्रतिपेध, ४० अतिसारप्रतिपेध, ४१ शोषप्रतिपेध, ४२ गुल्मप्रतिपेध, ४३ हृद्रोगप्रतिपेध, ४४ पाण्डुरोगप्रतिपेध, ४५ रक्तपित्तप्रतिपेध, ४६ भूर्च्छाप्रतिपेध, ४७ पानालयप्रतिपेध, ४८ तृष्णाप्रतिपेध, ४९ छर्दिप्रतिपेध, ५० हिकामप्रतिपेध, ५१ श्वास-प्रतिपेध, ५२ कासप्रतिपेध, ५३ स्वभेदप्रतिपेध, ५४ कृमिरोग-प्रतिपेध, ५५ उदावर्तप्रतिपेध, ५६ विसूचिकाप्रतिपेध, ५७ अरोचकप्रतिपेध, ५८ मूत्राघातप्रतिपेध, ५९ मूत्रकृच्छप्रतिपेध। इतना कायचिकित्सा का शेष भाग (उन्तालीसवें अध्याय से उनसठवें अध्याय तक) यहाँ वर्णन किया गया है ॥३७-३९॥

अमानुपनिपेधश्च तथापस्मारिकोऽपरः ।
उन्मादप्रतिपेधश्च भूतविद्या निरुच्यते ॥४०॥
६० अमानुपपौषसर्गप्रतिपेध, ६१ अपस्मारप्रतिपेध, ६२ उन्मादप्रतिपेध—इनको भूतविद्या कहते हैं ॥४०॥

वक्तव्य—इन अध्यायों में भूतविद्यान्तर्गत विषयों का संक्षेप से वर्णन किया है।

रसमेदा. स्वस्थवृत्तियुक्तयुक्स्तान्त्रिकाश्च या ।

द्वोयमेदा इति श्रेया अध्यायास्तम्भूपणा ॥४१॥

६३ रसमेदविकल्प, ६४ स्वस्थवृत्त, ६५ तन्त्रयुक्ति, ६६ द्वोय मेदविकल्प । ऐसे ये उत्तरतन्त्र के भूषणरूप (प्रकीर्ण) अध्याय हैं ॥४१॥

धेष्टत्वादुत्तर होतव तन्त्रमाहुर्मेहर्षय ।

धर्षयेत्सम्राष्ट्रेष्टमुत्तर चापि पश्चिमम् ॥४२॥

यह तन्त्र (यह तन्त्रोंके) अन्त में होते हुए भी अनेक विषयों का समूह करने के कारण सबसे अष्ट है, और इसी धेष्टता का विचार कर महर्षियों ने हमका नाम उत्तरतन्त्र रक्खा है ॥४२॥

धृतव्य—इस श्लोक में उत्तरतन्त्र की निरुक्ति प्रतिपादन की गई है । उत्तर शब्द का अर्थ अष्ट होता है—'उत्स्युर्दोष्यश्रेष्ठे षण्युर' अमर । यह तन्त्र सबसे अष्ट होने के कारण इसको उत्तरतन्त्र कहते हैं । धेष्टता का कारण यह है कि इस एक तन्त्र में शाखाय, कीमार, भूतविद्या, कायचिकित्सा और तन्त्रभूषणाप्यायादि विविध अंगों का समूह किया गया है । उत्तरतन्त्र की दूसरी भी निरुक्ति हो सकती है । परन्तु ऊपर जो अनुवाद किया है, उससे यह स्पष्ट नहीं दिखता है । उत्तर चापि परिमन-अधिगम्यत्वात् इति तन्त्रमुत्तरत्वं । सबसे पीछे वर्णन हुआ, इस से भी इस तन्त्र को उत्तरतन्त्र कह सकते हैं ।

शाखास्त्यतन्त्र कीमार चिकित्सा कायिकी च या ।

भूतविद्येति चत्वारि तन्त्रे वृत्तरसहिते ॥४३॥

पाजीकर चिबित्सासु रसायनविधिस्तथा ।

विषतन्त्र पुन कल्पा शल्यज्ञान समन्तत ॥४४॥

श्ल्यष्टाङ्गमिदं तन्त्रमादिदेवप्रकाशितम् ।

विधिनाऽधीत्य युञ्जाना भवन्ति प्राणदा मुचि ॥४५॥

शाखास्त्यतन्त्र, कीमारतन्त्र, कायचिकित्सा और भूतविद्या ये चार विषय उत्तरतन्त्र में हैं ॥४३॥ पाजीकरण और रसायनविधि चिकित्साप्रधान में वर्णन किये हैं, अल्पस्थान में विष तन्त्र वर्णन किया है और शल्यशास्त्र का ज्ञान सर्वत्र वर्णन किया है ॥४४॥ इस प्रकार आदिदेव (भगवान् धन्वन्तरि) का प्रकाशित किया हुआ यह अष्टाङ्गतन्त्र (सुमुनसंहिता) है । जो यथाविधि इसका पढ़कर अभ्यास करेग, वे धृष्टी पर (मनुष्यों के) प्राण बचाने वाले होंगे ॥४५॥

धृतव्य—इत्यतः समान्त-आयुर्वेद के अन्य अङ्ग जिस प्रकार एक साथ स्थान में अवस्थित हुए हैं, वैसा शल्यशास्त्र किन्हीं स्थान में अवस्थित नहीं है । उसका वर्णन गर्भतन्त्रों में किया गया है । आदिदेव का अर्थ भगवान् धन्वन्तरि-अर्द्ध हि ष्वन्तरि इति । इन श्लोकों में आयुर्वेद के आठों अंगों का समावेश सुमुनसंहिता में कैसा किया है, इसका वर्णन है । इससे 'रत्नाङ्गिरेते' अङ्ग का अर्थ स्पष्ट हो जाता है ।

पतत्रयद्यद्यमर्षयेयम्, अर्षीत्य च कर्मोपयद्यमपासितश्रम्, उभययो द्वि मिषक् राजार्हो भवति ॥४६॥

इसका अर्थ यह पता चालिये और पढ़कर दिखाओं मैं भी अर्थव्य अर्थव्य करना चाहिये । श्लोकों बनने वाला वैद राजा

से समानित होता है ॥४६॥

भवन्ति चान्न—

यस्तु केवलशास्त्रः कर्मस्वपरिनिष्ठितः ।
स मुहत्यातुर प्राप्य प्राप्य भीरुरिवाहवम् ॥४७॥
यस्तु कर्मसु निष्णातो धार्याच्छास्त्रवद्विष्कृतः ।
स सत्सु पूजा नामोति बध चादिति राजत ॥४८॥
उभावेतावनिष्णातावसमर्थौ स्वकर्मणि ।
अर्धवेद्धरावेतावेकपक्षाविव द्विजौ ॥४९॥

इस पर श्लोक कहे हैं कि—जो वैद केवल शास्त्र का ज्ञा वाला है और जियाओं में निपुण नहीं है, वह रोगी के प जाकर (चिकित्सा करने में) घबरा जाता है, जैसे कि भीरु यु साम्राम में जाकर घबरा जाता है ॥४७॥ जो अपनी छद्मता कारण वैदविद्याओं में निपुण है, परन्तु शास्त्र से अनभिज्ञ है, उच्चान वैश्यों में सम्मान योग्य नहीं है और राजा की ओर प्राणदा देने योग्य होता है ॥४८॥ शास्त्र और कर्माभ्यास में केवल एक ही का अभ्यास किये हुए वे दोनों एक एक पक्ष व दो पक्षों की भांति अपने (चिकित्सा के) काम में अस और अयोग्य होते हैं (जैसे एक पक्ष वाला पत्थी दड़ने के क में असमर्थ होता है, वैसी केवल शास्त्र या कर्माभ्यास किया हुआ अपनी चिकित्सा का काम करने में असमर्थ होता है) ॥४९॥

धृतव्य—यद्यर्ष—केवल सर्वदा कर्म करने के का उत्पन्न हुआ प्राणलभ्य । अज्ञानपूर्वक चिकित्सा करने वाले की का दण्ड देने का विधान कौटिलीय अर्थशास्त्र में मिलता है—'विषय प्राणानधिकमनास्याधोयत्कममालस विप्रतो पूर्वसाहस्रप्रत्य कर्मावतनेन विपत्तौ मथ्यन् । अमरिष्येयुष्मकणे दण्डपारथ्य विषय (चतुर्ये अधिकरण अध्याय १)

धोपथ्योऽस्तुतपत्वास्तु दास्मानिचिधोपमा ।
भवन्त्यस्यैरपष्टतास्तस्मादेतान् विधयन्ते ॥५०॥

मृधे वैश्यों से प्रयुक्त हुई अमृत के समान (प्राणदावक ओषधियां भी शरीर वज्र और विष के समान (प्राणदावक) जाया करती हैं, इसलिए इनका परित्याग करे ॥५०॥

धृतव्य—यद्यपि ओषधि शब्द फलदाकान्त अर्द्ध इत्यव्याचक है तथापि यदा चिकित्सावधोऽं समलाद्व्यवाय समकना चाहिये । अनेक प्रकार की आपत्तियों का दिग्दष्ट करने के लिये शब्द, अयनि और विष की उपमा दी गई है । शरीर से शरीर के पक्षाप अंग के मर्मस्थान की आपत्ति बतलाई जाती है, वज्र से आकस्मिक शूल्य की आपत्ति और विष से आकस्मिक शूल्य और शिरकालानुबन्धी शालापत्ति की आपत्ति बतलाई जाती है । शरक में भी एसा ही श्लिषा है—'वर्षारि वषश्ल वषादिरिन्देव । तर्षेवषविसिञ्ज सिञ्जनमेष वषा' (सु. अ० १) । इन श्लोक में शास्त्र से अनभिज्ञ वैश्यों के विषय कहा है । अगले श्लोक में कर्माभ्यास से अनभिज्ञ वैश्यों के विषय में कहा गया है ।

श्रद्धाविद्यनभिज्ञा ये श्रेष्ठादिवु ध कर्मसु ।
ते निरहन्ति जन शोभान् कुप्यंथा नृपदोषत ॥५१॥

छेद्य, भेद्य आदि शस्त्रकर्मों में और स्नेह स्वेदपूर्वक पंचकर्मों में जो वैद्य अनभिज्ञ हैं, वे मूर्ख वैद्य राजा के दोष के कारण लोभ से जनता के प्राणों का नाश कर देते हैं ॥५१॥

वृक्तव्य—वैद्य के निष्पन्न हो जाने के पश्चात् जनता में चिकित्सा प्रारंभ करने के पूर्व कर्म और शास्त्र की दृष्टि से उसकी ठीक जांच करना तथा चिकित्सक वैद्य से अज्ञानपूर्वक या ज्ञानपूर्वक असंगत चिकित्सा हो जाने पर उसको दण्ड देने का विधान करना राजा का या राजसंस्था का कर्तव्य है । चक्रदत्त अपनी टीका में लिखते हैं—निष्पन्नेन वैद्येन प्रजापालके राशि आत्मा गुणतो दर्शनीयः । ततो राशा परीक्ष्य वैद्यः प्रजारक्षार्थमनुमन्तव्य एव धर्मः । अनिष्पन्नवैद्येणचिकित्सां कुर्वाणो लोकापकारतया राशा शासनीयः । इस कर्तव्य धर्म का योग्य पालन न करना राजा का दोष समझना चाहिये । चक्र में भी लिखा है कि इस प्रकार के अज्ञानी प्राणहारक वैद्यों का जनता में होना राजा का ही प्रमाद है—‘अतो विपरीयेण विपरीता रोगाणामभिसरा हन्तारः प्राणानां भिषक्लभप्रतिच्छन्ताः कण्ठकभूता लोकस्य प्रतिरूपकत्यक्तधर्माणो राशां मयादाच्चरन्ति राष्ट्रणि ।’ (सू० २९)

यस्तुभयक्षो मतिमान् स समर्थोऽर्थसाधने ।

आहवे कर्म निर्वाहुं द्विचक्रः स्यन्दनो यथा ॥५२॥

जैसे कि दो पहियों का रथ संप्राम में कार्य करने में समर्थ होता है, वैसे ही जो बुद्धिमान् वैद्य (शास्त्र और क्रिया) दोनों त्यों का पूर्ण जानने वाला है वह (आयुर्वेद का) प्रयोजन उद्द करने में समर्थ होता है ॥५२॥

वृक्तव्य—अर्थसाधन—व्याधितस्य व्याधिपरिमोक्षः स्वस्थस्य क्षणं च । यहाँ मतिमान् शब्द सहेतुक प्रयुक्त हुआ है । मति का अर्थ सहज बुद्धि । अपनी सहज बुद्धि का उपयोग किये बिना चिकित्सा में सफलता नहीं मिल सकती है । यदि शास्त्र और कर्म रथ के दो चक्र होते हैं तो मति रथ का सारथि है, जिसके बिना रथ का अस्तित्व व्यर्थ है । चक्र में लिखा है—‘शास्त्र ज्योतिः प्रकाशार्थं दर्शनं बुद्धिरात्मनः । ताभ्यां भिषक उयुक्ताभ्यां चिकित्सत्रापरार्थ्यति’ ॥ (सू० अ० ९)

अथ वत्स ! तदेतदध्येयं यथा तथोपधारय मया प्रोच्यमानम्—अथ शुचये कृतोत्तरासङ्गायाव्याकुला-योपस्थितायाध्ययनकाले शिष्याय यथाशक्ति गुरु-रुपदिशेत् पदं पादं श्लोकं वा; ते च पदपादश्लोकाभ्यः क्रमेणानुसंधेयाः, एवमेकैकशो घटयेदात्मना चालुपठेत्; अद्भुतमविलम्बितमविशङ्कितमनुना-सिकं व्यक्ताक्षरमपीडितवर्णमक्षिभ्रुवौघ्रहस्तैरनसि-नीतं सुसंस्कृतं नात्युच्चैर्नातिनीचैश्च स्वरैः पठेत् । न चान्तरेण कश्चिद्भजेत् तयोरधीयानयोः ॥५३॥

हे वत्स सुश्रुत ! जिस विधि से यह (आयुर्वेद शास्त्र) पढ़ना चाहिए वह विधि मैं वर्णन कर रहा हूँ, तू श्रवण कर । पवित्र, उत्तरीय वस्त्र पहने हुए एकचित्त ऐसे उपस्थित हुए शिष्य को गुरु अध्ययन के समय यथाशक्ति पद, श्लोक का चरण या संपूर्ण श्लोक पढ़ावे । फिर पढ़ाये हुए पदपादश्लोकों का क्रम से सूक्ष्म निरूपण करे; इस प्रकार एक एक (श्लोक को या

शिष्य को) पढ़ावे पश्चात् गुरु स्वयं पढ़े । न बहुत शीघ्रता से, न बहुत विलंब से, शंकारहित होकर, वासिकोच्चार बर्ज्य कर, स्पष्ट उच्चार करके, अक्षरों के ऊपर आवश्यकता से अधिक जोर न देकर, आंख, भ्रुकुटि, होंठ तथा हाथों करके किसी प्रकार का भाव प्रकट न कर, न बहुत ऊँचे स्वर से, न बहुत नीचे स्वर से पढ़े और पढ़ते समय गुरु और शिष्य दोनों के बीच में कोई न जावे ॥५३॥

वृक्तव्य—अथ—नित्य आह्निक कर्म से निवृत्त होकर । उत्तरासन्न—प्रावार या कमर के ऊपर ओढ़ने का वस्त्र । अध्ययनकाल—अनध्याय बर्ज्य कर शेष दिनों में प्रातःकालादि समय । अनुसंधान—सूक्ष्म निरूपण या अन्वेषण । अविशङ्कित—गुरु के सम्बन्ध में किसी प्रकार की भीति मन में न रखकर । न कश्चिद् ब्रजेत्—पढ़ाई के समय शिष्य और गुरु के बीच में कोई आने जाने से दोनों का ध्यान उसी की तरफ आकर्षित होता है, जिससे गुरु के विषयनिरूपण में और शिष्य के विषय-ग्रहण करने में बाधा उत्पन्न होती है । इसलिये यह निषेध किया गया है । इस प्रकार अन्तरागमन होने पर शास्त्र के अनुसार अनध्याय करना पड़ता है । मनुस्मृति में लिखा है—

पशुमंडूकमाज्जारथसर्पनकुलाशुभिः ।

अन्तरागमने विद्यादनध्यायमहर्निशम् ॥ (अ. ४-१२६)

अचतश्चाञ्च—

शुचिर्गुरुपरो दत्तस्तन्द्रानिद्राविवर्जितः ।

पठन्नेतेन विधिना शिष्यः शास्त्रान्तमाप्नुयात् ॥५४॥

पवित्र, गुरुभक्त, (अपने कार्य में) दक्ष होकर निद्रा और आलस्य छोड़कर जो शिष्य उपर्युक्त विधि से इस शास्त्र का अध्ययन करेगा, वह इसमें पारंगत हो जायगा ॥५४॥

वृक्तव्य—निद्रावर्जित, रत्त्रि का पहला और अन्तिम याम (ब्राह्ममुहूर्त) में तथा दिन में निद्रा वर्जित करके ।

वाक्सौष्टवेऽर्थविज्ञाने प्रागल्भ्ये कर्मनैपुणे ।

तदभ्यासे च सिद्धौ च यत्प्रोच्यमानान्तगः ॥५५॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थानेऽध्ययनसं-
दानीयो नाम वृतीयोऽध्यायः ॥३॥

और शास्त्रान्त तक पढ़ चुकने पर वाणी की शुद्धता के लिये, अर्थविज्ञान के लिये, धार्थ तथा कर्म में नैपुण्य उत्पन्न करने के लिये, कर्माभ्यास और (आरब्ध कार्य में) सिद्धि प्राप्त करने के लिये सदैव यत्न करना रहे ॥५५॥

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्य-
दीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां सूत्रस्थाने वृतीयोऽध्यायः ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः ।

**अथातः प्रभाषणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः यथो-
वाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥**

अब यहाँ से प्रभाषणीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत के प्रति किया ॥१॥

वृक्तव्य—प्रभाषणमपीतराखल प्रकर्मणापीनुसंधानपूर्वकं व्याख्यानम् । पढ़े हुए शास्त्र का अनुसंधानपूर्वक जो व्याख्यान होता है, उसे प्रभाषण कहते हैं ।

अधिरतमश्च्ययनमप्रभाषितमर्थतः खरस्य
चन्दनभार इव केरलं परिध्रमकरं भवति ॥२॥

भवति चाय—

यथा खरश्चन्दनभारवाही

भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य ।

एवं हि शास्त्राणि रहस्यधीन्य

चार्येषु मूढा रस्यहृन्ति ॥३॥

सम्पूर्ण शास्त्र पढ़ लेने पर भी यदि अर्थ का तत्त्वज्ञान न हो तो गरुड के चन्दन भार की भांति शास्त्र केरल (भार के समान) परिध्रमकर होता है ॥२॥ जैसे चन्दन का भार उठाने वाला गदहा केवल भार को ही जानने वाला होता है और चन्दन के गुणों को नहीं जानता है, वैसे ही जो बहुत शास्त्र पढ़ लेने पर भी उनके अर्थों का नहीं समझने दे वे गरुड के तुल्य (चन्दन के स्थान में शास्त्रों का) भार उठाने वाले होते हैं ॥३॥

तस्मान् सर्विशमध्यायशतमनुपदपादरुद्रोऽकम-
नुवर्णितव्यमनुधोतव्यं च, कस्मान् ? सुदमा हि
द्रव्यरसगुणवीर्यविषाकूटोपधातुमलासयममैसिपा-
क्षायुसन्ध्यस्त्रियगर्भसंभवद्रव्यसमूहविभागास्तथा
प्रनष्टद्रव्योद्धरणणविनिश्चयमप्रविकरुपाः साध्य-
याध्यप्रत्याख्येयता च विकाराणामेवमाद्यध्यान्ये
सहस्रयो विशेषा ये विचिन्त्यमाना विमलवि-
पुलकुंडेरपि बुद्धिमाकुलार्कुर्युः किं पुनरुपकुंडेः,
तस्माद्वयमनुपदपादरुद्रोऽकमनुवर्णितव्यमनुधो-
तव्यं च ॥३॥

इस कारण से एक ही बीज अणुओं को एक एक पद, धरण और श्लोक को लेकर (गुण को पद) वर्णन करना चाहिये और (गिण्य को सूत्र) धरणा करना चाहिये । क्योंकि (स्वावरादि) द्रव्य, (मजुरादि) रस, (गुवादि) गुण, (शीतोष्णादि) वीर्य, (मजुरादि) त्रिराक, (वर्णादि) दंत्य, (रसादि) धातु, (मूत्रादि) मल, (वातादि) आगय, मर्म, सिरा, ध्रायु, सधि, अस्थि (शुक्राणोपिस्तादि) गर्भापचित्तजनक द्रव्यसमूह तथा मष्ट शल्य को निकालना, अण का निश्चय करना, अण के भेद, रंगों के साध्य याव्यादि भेद इत्यादिक और अन्य हजारों सूक्ष्म विषय बातें होती हैं जिनका विचार करन पर निर्भर और विपुल बुद्धिवाले मनुष्यों की बुद्धि भी व्याकुल हो जाती है फिर अक्षयबुद्धि मनुष्य की तो क्या गति है । इसलिये अवश्य-मेव एक एक पद, पाद और श्लोक लेकर उसका सूत्र विवरण करना चाहिये तथा सुनना भी चाहिये ॥३॥

अन्यशास्त्रोपपन्नानां स्याथानामिहोपनीतानाम-
र्थयशासोपाने तद्विद्येभ्य एव व्याख्यानमनुधोतव्यं,
कस्मात् ? नद्येकस्मिन् शास्त्रे शास्त्रेः सर्वशास्त्रा-
शामयपोषः वर्तुम् ॥५॥

भवन्ति चाय—

एकं शास्त्रमधीयानो न विद्याच्छास्त्रनिश्चयम् ।

तस्माद्बहुधुनः शास्त्रं विजानीयाधिकित्सकः ॥६॥

प्रयोजन के कारण तो अन्य शास्त्रों के (थोड़े) विषय । शास्त्र में आगये हैं, उनका व्याख्यान उन शास्त्रों के विद्वानों ही सुनना चाहिये । क्यों ? एक शास्त्र में (अन्य आवश्यक सब शास्त्रों का समावेश करना असंभव है ॥५॥ केवल । ही शास्त्र पढ़ने वाला मनुष्य उस शास्त्र के तत्वों को निश्चयपूर्व प्रहण नहीं कर सकता है, इत्यन्वये चिकित्सक वैद्य को चाहीं कि वह (अन्य आवश्यक) शास्त्रों का अभ्यास करके आयुं शास्त्र को पढ़ ले ॥६॥

यत्तद्व्य—प्रत्येक शास्त्र में अन्य कई शास्त्रों के सिद्धान्त और तत्वों का संबन्ध आता है । कोई भी शास्त्र स्वयं पूर्ण नहीं न प्रत्येक शास्त्र में अन्य शास्त्रों के सिद्धान्तों का विस्तार विवरण दिया जा सकता है । परन्तु जयनक स्मरयित शास्त्रों विद्यार्थी अपरिचित होता है, तत्रतक उसमें उसके शास्त्र व योग्य आकलन नहीं हो सकता है । इसलिये विद्यार्थी व चाहिये कि वह दूसरे शास्त्रों के सिद्धान्तों का ज्ञान उन शास्त्र के पठितों से कर ले । आयुर्वेद का आकलन करने के लिये वेदान्त शास्त्र वैशेषिक ज्योतिष व्याकरणानि शास्त्रों के मौलिक सिद्धान्त से परिचित होना अत्यन्त आवश्यक है । इनके सिवाय रसायन शास्त्र (Chemistry), भौतिकविज्ञान (Physics), उद्वि अणुशास्त्र (Botany), जंतुशास्त्र (Zoology), जीवशास्त्र (Biology), जीवतरसायन (Biochemistry), मानसशास्त्र (Psychology), वंशशास्त्र (Science of heredity), आहारशास्त्र (Diacetics) इत्यादि अनेक शास्त्रों का थोड़ा परिषय आवश्यक है । इनमें से पहले चार शास्त्र अत्यन्त आवश्यक होने के कारण पाश्चात्य वैद्यक के पाठ्यक्रम में समाविष्ट किये गये हैं । साम्प्रत आयुर्वेद के अध्ययन में प्राचीन सांख्य वैशेषिक दर्शनों के सिवाय रसायनशास्त्र, उद्विअणुशास्त्र तथा पाश्चात्य वैद्यक के आवश्यक अंगों का भी समावेश करना अत्यन्त आवश्यक है । प्राचीन काल में अन्य शास्त्रों का परिषय स्वयं आचार्यों से करने की आवश्यकता थी । आजकल प्रत्येक शास्त्र के सुदूर ग्रन्थ मिलते हैं, जिनका परिगलन करने में अधिकांश काम हो जाता है और आचार्यों से पढ़ने की उतनी आवश्यकता नहीं होती है ।

शास्त्रं गुरुमुखोदीर्णमादायोपास्य चासकृत् ।

य यमं कुरुते वैद्यः स वैद्योऽग्नये तु नक्षरा ॥७॥

गुरुमुख से निकले हुए शास्त्रों की जो प्रहण कर अनेक बार उसकी उपासना करके कर्म करता है, वही वैद्य है । अन्य सर्वे धार है ॥७॥

यत्तद्व्य—आयुर्वेद यद्यपि उपवेद है तथापि निम्न कारणों से उसे शास्त्र कहते हैं—उपानु शर्मिन् इति शास्त्रम्, आशुपाठनं दानेन धर्मावैश्वानरीनां शान्तेना शास्त्रम्, मरणानु कथन इति वा शास्त्रम् । उतमना—प्रभाषणवदिति तथा तद्विषयसमाधापवदिति द्वारा अर्थ तत्र का निश्चय करना । विद्यापहरण तथा ज्ञानापहरण करने के कारण कुवेद्य धार कहलाता है ।

औषधेनवमौरभ्रं सौश्रुतं पौष्कलावतम् ।
शेषाणां शल्यतन्त्राणां सूत्रान्येतानि निर्दिशेत् ॥८॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने प्रभाषणीयो
नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥१॥

औषधेनव तन्त्र, औरभ्र तन्त्र, सौश्रुत तन्त्र और पौष्कला-
वत तन्त्र इन चार तन्त्रों को अन्य सर्व शल्यतन्त्र के ग्रन्थों में
प्रधान समझना चाहिये ॥८॥

वक्तव्य—उपर पाँचवें सूत्र और छठे श्लोक में सामान्य
आयुर्वेदाध्ययन के लिये अन्य शास्त्रों की आवश्यकता दिखला-
कर इस श्लोक में शल्यविज्ञान पढ़ने के लिये अन्य महत्त्व के
शल्यतन्त्र के ग्रन्थ बतलाए गये हैं । अर्थात् उपलब्ध सुश्रुत-
संहिता का योग्य अभ्यास करने के लिये उपर्युक्त चार तन्त्रों
का परिशीलन जरूर करना चाहिये । ये चारों तन्त्र आज
अनुपलब्ध हैं । इस श्लोक से यह भी सिद्ध होता है कि पुराना
सुश्रुततन्त्र उपलब्ध सुश्रुतसंहिता से स्वतंत्र है; अन्यथा सुश्रुत-
तन्त्र का निर्देश करने की आवश्यकता नहीं थी ।

इति भास्कररामेणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदशल्य-
दीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां सूत्रस्थाने चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः ।

अथातोऽग्नोपहरणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।

गोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अथ यहाँ से अग्नोपहरणीय नामक अध्याय का वर्णन
है, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया है ॥१॥

वक्तव्य—अग्नोपहरणीय—शस्त्रकर्म करने के पूर्व जिन
ग्रन्थों को सुसज्ज रखकर काम करना पड़ता है उनके संबंध
लिखा हुआ अध्याय । 'कर्मणामग्ने उपहरणं येषा यन्त्रशास्त्रीनां
अग्नोपहरणानि तान्यधिकृत्य कृतीऽध्यायोऽग्नोपहरणीयः' । (चक्र)

त्रिविधं कर्म—पूर्वकर्म, प्रधानकर्म, पश्चात्कर्मति;
त्र्यार्थं प्रति प्रत्युपदेक्ष्यामः ॥२॥

कर्म तीन प्रकार का होता है—पूर्वकर्म, प्रधानकर्म, पश्चात्
। इनका उपदेश प्रत्येक व्याधि का वर्णन करते समय किया
गया ॥२॥

वक्तव्य—यहाँ कर्म के जो तीन प्रकार बतलाये हैं, वे
रुग्ण शल्यचिकित्सा में ही होते हैं । इनमें से जो कर्म रोग
निवारण करता है, उसे 'प्रधानकर्म' कहते हैं । प्रधान कर्म
के पूर्व उसके संबंध में जो कुछ भी उपकारक कर्म करना
पड़ता है, उसे 'पूर्वकर्म' कहते हैं । प्रधानकर्म के पश्चात् उसकी
सफलता के लिये या उससे होने वाले उपद्रवों का निवारण
रुग्ण के लिये जो कर्म करना पड़ता है, उसे 'पश्चात्कर्म' कहते
। 'प्रधानकर्मफलानुष्ठितिकरं कर्म पश्चात्कर्म' (हाराणचन्द्र) ।
चिकित्सास्थान के पहले अध्याय में व्रण के साठ उपद्रव वर्णन
किये हैं । इन में अपतर्पण से विरेचन तक द्वादशकर्म पूर्वकर्म
आते हैं; अष्टविध शस्त्रकर्म प्रधानकर्म में आते हैं और शेष
पश्चात्कर्म में समाविष्ट होते हैं—छद्मनादिविरिकान्त पूर्वकर्म व्रणस्य
। पादन रोपण यच्च प्रधान कर्म तत् स्मृतम् । बलवर्णाभिकार्यं तु पश्चात्-

कर्म समाविष्टे ॥ परंतु इस प्रकार उपद्रवों का पूर्वपक्षिसत्व निश्चित
न समझकर प्रधानकर्मसांपेक्ष समझना चाहिये । यथा लक्षण
प्रधानकर्म के पूर्व होने से पूर्वकर्म और पीछे होने से पश्चात्
कर्म हो जाता है । आधुनिक शस्त्रकर्म के संबंध में भी उपर्युक्त तीन
विभाग किये जाते हैं । लक्षण, विरेचन, बलिइत्यादि सामान्य
तथा शस्त्रकर्म के स्थान का विमोक्षण (Sterilization) इत्यादि
विशेषकर्म पूर्वकर्म में आते हैं, और इसको 'प्रिपरेशन आफ
दी पेसंट' (Preparation of the patient) कहते हैं । प्रधान
कर्म में मुख्यगच्छक्रिया समाविष्ट होती है । उसे 'मेन आपरेशन'
(Main operation) कहते हैं । पश्चात्कर्म में व्रणितोपचारादि
उपाय तथा व्रणचिकित्सा आती है । इसे 'आफ्टर ट्रीटमेंट'
(After treatment) कहते हैं । त्र्यार्थं प्रति—ये त्रिविधकर्म
प्रत्येक व्याधि के संबंध में भिन्न भिन्न होते हैं; अतः इनका
वर्णन प्रत्येक व्याधि वर्णन के समय किया जायगा, क्योंकि यहाँ
उनका वर्णन करने से कोई लाभ नहीं है ।

अस्मिन् शास्त्रे शस्त्रकर्मप्राधान्याच्छस्त्रकर्मैव
तावत् पूर्वमुपदेक्ष्यामस्तत्सम्भारांश्च ॥३॥

शल्यतन्त्र में शस्त्रकर्म की प्रधानता होने के कारण शस्त्रकर्म
तथा उनकी सामग्रियों का वर्णन प्रारम्भ में करेंगे ॥३॥

तच्च शस्त्रकर्माऽष्टविधं; तद्यथा—छेद्यं, मेद्यं,
लेख्यं, वेध्यम्, एष्यम्, आहार्यं, विस्राव्यं, सीव्यमिति ।

वह शस्त्रकर्म आठ प्रकार का है—१ छेदन, २ भेदन, ३ लेखन,
४ वेधन, ५ एषण, ६ आहरण, ७ विस्रावण, और ८ सीवन ॥४॥

वक्तव्य—अष्टविध—चरकसंहिता में दृढबल ने एषण
और आहरण छोड़कर शेष छः शस्त्रकर्म निर्दिष्ट किये हैं—
'पादन व्यधन चैव छेदन रोपण तथा । प्रोच्छन सीवन चैव पक्षिषु
शस्त्रकर्म तत् ॥' (चिकित्सास्थान) । वास्तव में एषण और
आहरण यन्त्रकर्म हैं, शस्त्रकर्म नहीं हैं । परन्तु अनेक बार छेदन
भेदन करके एषण आहरण करना पड़ता है । इसलिये सुश्रुत
ने इनका समावेश शस्त्रकर्म में किया है—'एषणाहरणे
शस्त्रकर्मणि केचित् मन्थन्ते तथापि छित्त्वा भित्त्वाऽप्येषणाहरणे क्रियेते,
अतोऽत्र शस्त्रकर्मणि निर्दिष्टे' (उल्लेखटीका) । छेदन—काट के
द्विधा करना यथा भगन्दर या शरीर से अलग करना यथा
अर्श, चर्मकील इत्यादि (Excision) । भेदन—चीरना
यथा फोड़ा विद्रधि इत्यादि (Incision) । लेखन—सुरचना
यथा मांसकन्द इत्यादि (Scraping, Scarification) ।
वेधन—अल्पमुख शस्त्र से छेद करना यथा सिरावेध, सूत्रबुद्धि
जलोदर इत्यादि (Puncturing) । एषण—शलाका द्वारा
नाडी व्रणादियों का अन्वेषण (Probing, Exploration) ।
आहरण—बाहर खींच के निकालना (Extraction) ।
विस्रावण—रक्त लसिका पूय इत्यादि को सुवाना (Drainage) ।
सीवन—सीना या टाँके लगाना (Suturing, stitching) ।
वाग्भट ने इन आठ कर्मों के अतिरिक्त निम्न पाँच कर्म अधिक
वर्णन किये हैं । यथा—१ उत्पादन, २ कुट्टन, ३ मन्थन, ४ ग्रहण,
५ दहन—उत्पाटय पाटय तीव्यैष्येलेख्यप्रच्छत्रकुट्टनम् । छेद्यं मेद्यं व्यधो
मन्थो ग्रहो दाहश्च तत्क्रियाः ॥ उत्पादन—हसी को अष्टाङ्गसंग्रह में
उद्धरण कहा है । कुट्टन—सुई की सहायता से त्वचा में छोटे
छोटे छेद करना (Pricking) । मन्थन—मन्थ की सहायता

से मध्यम क्रिया द्वारा छेद करना (Drilling) । 'निर्देहस्थिति वा दायो पाणिमयेन दारिते । नाडी दत्त्वाऽस्थिति भिष्कू चूर्णेन पवन बली ॥ (सुश्रुत) । दहन—अथ तथा घटा की सहायता से दहन कर्म होता है । शस्त्र द्वारा जो होता है, उसे अंग्रेजी में 'कांटी नाइफ' कहते हैं (Cautery Knife) । आधुनिक काल में इस पद्धति द्वारा शस्त्रकर्म करने की प्रथा बहुत बढ़ गई है । सुश्रुत में भी इसका निर्देश किया गया है—

'अग्निरेण शलेण छिन्नात्' (चि अ. २) ।

अतोऽन्यतमं कर्म विकीर्पता वैद्येन पूर्वमेवोपकल्पयितव्यानि—यथाशस्त्राक्षारामिशालाकाष्ठजलोपालाङ्गुजाव्योष्ट्रपिचुभोतसूत्रपत्रपट्टमधुघृतवसापयस्तैलतर्पणकपायालेपनफलकव्यजनशीतोष्णोदकफटाद्वादीनि; परिफारिद्युः क्षिग्धाः स्थिरा धल्यन्तः ॥५॥

उपर्युक्त आठ शस्त्रकर्मों में से कौती कर्म करने की इच्छा वाले वैद्य को पहले ही नीचे लिखी सामग्री अपने पास तैयार रखनी चाहिये । जैसे—अथ, शस्त्र, क्षार, अग्नि, शलाका, सींग, बाँक, तौषा, जांबवोध, रई, बज्र, सूत, पत्ते, (मण्यवधन के लिये) पट, मधु, घी, घासी, वृष, तेल, सतपन्न द्रव्य, काय, लेप की ओषधिपानी, छुआदी, पंखा, ठंडा और गरम जल तथा पन्नादी । (इसके सिवाय रोगी के ऊपर) प्रेम करने वाले, स्थिर चित्त और बलवान् ऐसे परिचारक भी होने चाहिये ॥५॥

यत्कल्प्य—इस सूत्र का आशय यह है कि शस्त्रकर्म के लिये जो चीजें आवश्यक होंगी, वे सब पहले इकट्ठा कर शस्त्रकर्म करने के समय अपने समीप तैयार रखनी चाहिये । प्रायेक शस्त्रकर्म में आवश्यक वस्तुएँ भिन्न भिन्न हो सकती हैं । ऊपर बर्णित साधारणतया आठों प्रकार के शस्त्रकर्मों में उपयोगी वस्तुओं की सूची दी गई है । जानबोझ—अथकल्प्यशस्त्रमुखात् दृग्धायाश्चरित्वा वति । इसका उपयोग अग्नि और क्षार कर्म में होता है । पट—मण्यवधन के लिये उपयोगी विविध प्रकार के पट (Bandage) । तर्पण—शस्त्रकर्मजन्य स्थानि निवारण और नृशिकारक स्थापनार्थ, जैसे जलयुक्त सल्लुईरारिदि वा अस्सी । अथवा—उपशस्त्रके के समय रोगी को अन्त्य प्रदूने की या कम कर पकड़ रखने की आवश्यकता प्राचीन काल में थी । इसलिये शल्यचिकित्सक के परिचारक में अन्य सर्वमान्य गुणों के अतिरिक्त दृक्ति भी होनी चाहिये । इसलिये सुश्रुत में परिचारक के गुण बतल करते समय शल्य का भी निर्देश किया है—'क्षिप्ते उपशस्त्राणाः' । रोगी की केवल सुश्रुता करने के लिये बल की कोई आवश्यकता नहीं होती इसलिये परकर्मस्थिर में (शस्त्र अ. ९) परिचारक के गुणों में बल का निर्देश नहीं किया गया है—'अथरक्षणं दक्षमनुपुनय भर्ति । शैब वेति चतुर्ध्वजे गुणः सत्त्विरे जने ॥ कार्यं मित्रता सं कारण उपय होने वाले हम शस्त्र भेद का विचार करने पर क्षार के कारण शस्त्र का अर्थ केवल 'अतिरिक्त क्षार करना' युक्त है । 'अथान् सर्वकर्मेषु शस्त्राणि' यह जो अर्थ बहल की शला में दिया गया है, वह सचित्त है ।

ततः प्रशास्तेषु तिथिकरणमुहूर्तनक्षत्रेषु वृष्या ताक्षपानरहैरसि विप्रान् भिषजश्चार्ययित्वा, क्व यलिमङ्गलस्वस्तिवाचनं लघुभुक्तयन्तं प्राह्युसामान् रमुपवेद्य यत्रयित्वा, प्रत्यङ्मुखो वैद्यो मर्मसिर जायुसन्ध्यस्थियमनीः परिहरन्, अनुलोमं शर निदध्यादापूयदर्शनात्, सक्तुदेवापहरेच्छुक्रमान्नु महत्सपि च पाकेषु द्व्यङ्गुलान्तरं इयङ्गुलान्तरं शस्त्रपरमुक्तम् ॥६॥

किर शुभ तिथि, कर्ण, मुहूर्त, नक्षत्र पर दही, अन्न अन्नपान तथा रत्नादि से अग्नि, ब्राह्मण और वैद्यों का पूजन करके बलिदान, मंगलाचरण और स्वस्तिवाचन भी करके भोजन किये हुए रोगी को पूर्वाभिमुख बिठला कर संभवता कर वैद्य स्वयं पश्चिमाभिमुख होकर मर्म, सिरा, जल्यस्थि, अस्थि, धमनी आदि को बचाकर जहाँ तक पी दिखलाई दे वहाँ तक लोम की दिशा में शस्त्र प्रवेश करे औ जल्दी से एक बार शस्त्र निकाल ले; पाकस्थान बढ़ा होने पर मण्य की लम्बाई दो या तीन अंगुल होनी चाहिये ॥६॥

यत्कल्प्य—युक्तानल—शस्त्रकर्मजन्य स्थानि निवारण करने के लिये तथा शस्त्रजनित घाव से रक्त का स्राव थोड़ा कम करने के लिये रोगी को भोजन शस्त्रकर्म के पहले दिया जात था । विशेष विवरण के लिये अध्याय १० श्लोक १५ की टीका देखो । प्रत्यङ्मुख—प्रायः शस्त्रकर्म पूर्वाह्न में होने के कारण शस्त्रनिपातस्थान सुप्रकाशित करने के लिये रोगी को पूर्वाभिमुख रखने की पद्धति थी । इससे चिकित्सक को शस्त्रकर्म स्थान का निरीक्षण करने में भी सौकर्य मिलता था । यदि कारणवश शस्त्रकर्म दो महर करना हो तो रोगी को पश्चिमाभिमुख रखना चाहिये । इसीलिये आगे सिराव्यध (क्षारीर अ. ५) और अर्धचिकित्सा (चि अ. ९) में दिशा का निर्देश न कर केवल पूर्वाभिमुख लिखा है—'तत्र स्यन्तिरुपुन प्रत्यास्थित्युन' 'फलेन शक्या वा प्रत्यास्थित्युन' । यन्वित्वा—प्राचीन काल में सार्वभौमिक सहायक ओषधि (General Anaesthetic) मान्य न होने से शस्त्रकर्म के समय शस्त्रनिपातजन्य वेदना के कारण रोगी के एक या सर्वोत्तरी श्मश्रुत संभ्र करने के लिये उसको बलवान् परिचारकों से या होती (चण्यगाटक) से कमकर बांधने की आवश्यकता होती थी और यह बलवश प्रायेक शस्त्रकर्म के समय किया जाता था । यन्वयतिथि न करने से शस्त्रकर्म के समय रोगी डिल जाने के कारण मरण स्थान पर शस्त्र से घाव हो जाने की भीति होती है । मर्म—मर्मणि नाम मर्मसिरासाम्यस्थितमणिप्रियतात्पुन स्वमान् एव स्थितिं प्राणान्तिवति । अनुलोमं—नाकस्थान में शस्त्र भीतर प्रवेश करने की दिशा नीचे से ऊपर की तरफ तोंग की भाँति होनी चाहिये । इससे पूव का घाव बाहर आने के लिये सुगुना होता है । इतने उच्छ्रित छेद करने से पूव बाहर आने में बड़ी दिक्कत होती है । हारामयन्नु अनुलोम का मर्म 'यथायोग्यं कर्तव्यं' । मरुत्पुनरं मरुत्पुनरं वा—जब वाक्स्थान जरा विलुप्त होता है, तब एक जगह में शस्त्रांतरा है

करने से पूय निर्गम निःशेष नहीं हो सकता है। इसलिये घ्रण दो या तीन अङ्गुल मोटा रखने की जरूरत होती है। कभी कभी इससे भी अधिक मोटा घ्रण करना पड़ता है। घ्रण की लम्बाई पाकस्थान के विस्तार के अनुसार होनी चाहिये और गहराई पूय दर्शन तक होनी चाहिये। यहाँ अङ्गुल से केवल लम्बाई का बोध होता है। जब पाकस्थान अत्यन्त विस्तृत होता है तब केवल द्वयङ्गुल परिमाण एक घ्रण करने से काम नहीं होता, उस समय द्वयङ्गुल या त्रयङ्गुल परिमाण अनेक घ्रण करने की आवश्यकता होती है। ये घ्रण एक दूसरे से दो या तीन अंगुल की दूरी पर होने चाहिये। यह व्यावहारिक अनुभव अष्टाङ्गहृदय के निम्न श्लोक की टीका में अरुण-दत्त लिखते हैं—'पाके तु सुमहत्त्वपि । पाटयेद्द्व्यङ्गुलं सम्यक् यङ्गुलत्रय-गुणपरिमाणं घ्रणं सम्यक् कुर्यात्प्राशयितम् । अङ्गुलद्वयमथवाद्द्व्यङ्गुलत्रय-मन्तरीह्वल पुनरन्यं घ्रणं कुर्यात्प्रत्याशयितम्' । (अरुणदत्त) । संक्षेप में जब पाकस्थान छोटा हो तो शक्यद्वारा एक छेद करने से काम होता है, अधिक मोटा हो तो द्वयङ्गुल परिमाण एक घ्रण करने से काम होता है, और जब अत्यन्त विस्तृत हो तब दो या तीन अङ्गुल के अन्तर पर कई घ्रण करने की आवश्यकता होती है।

तत्रायतो विशालः समः सुविभक्तो निराश्रय इति व्रणगुणाः ॥७॥

भवतश्चात्र—

आयतश्च विशालश्च सुविभक्तो निराश्रयः ।

प्रासकालकृतश्चापि व्रणः कर्मणि शस्यते ॥८॥

(व्रणों के गुण)—आयत, विशाल, सम, सुविभक्त और निराश्रय ये घ्रण के गुण होते हैं ॥७॥ यही आयत श्लोक से कहते हैं—(आवश्यकता के अनुसार) लम्बा तथा गहरा, (तीक्ष्ण शक्यद्वारा) अच्छे प्रकार से चीरा हुआ (अङ्गुली मर्दन से) निष्पूय किया हुआ तथा सम्यक् पक्कावस्था के समय किया हुआ घ्रण शक्यकर्म में प्रशस्त माना जाता है ॥८॥

वक्तव्य—आयतश्च विशालश्च—शोथविस्तार के अनुसार विस्तृत। यदि घ्रण छोटा किया जाय तो भीतर की शुद्धि शीघ्र और ठीक नहीं होती और कभी कभी शुद्धि होने के पूर्व घ्रण सुख बंद भी हो जाता है और फिर कुछ समय के पश्चात् वहाँ शोथ उत्पन्न होता है। सुविभक्तः—तीक्ष्णशक्य का प्रयोग न करने से प्रशस्तघ्रण करने के लिये कई बार काटना पड़ता है। इससे त्वचा और मांस का अधिक नाश होता है। परिणाम यह होता है कि घ्रण का संधान शीघ्र नहीं होता और भर जाने पर निशानी अधिक दिखाई देती है। निराश्रयः—अंगुलि मर्दन द्वारा जिसके भीतर पूय के लिये कोई आश्रय (Pockets) नहीं बचा हुआ है। प्रासकालकृतः—आमावस्था में चीरने से दोष का उत्सर्ग पूरा नहीं होता और त्वचादिधातुओं का अधिक नाश होता है। पक्कावस्था के पश्चात् चीरने से दोष अन्य स्थान में प्रविष्ट होकर नाड़ी (Sinus) बनाते हैं। इस लिये ठीक पक्व स्थिति में किया हुआ।

१ व्रणकर्मणि प्राशस्त्ये°.

शौर्यमाशुक्तिया शरत्तैक्ष्ण्यमस्वेदवेपथु ।

असंमोहश्च वैद्यस्य शक्यकर्मणि शस्यते ॥९॥

निर्भयत्व, शीघ्र क्रिया करना, शक्य की तीक्ष्णता, पसीना न आना, पाथ पाँच न काँपना और चित्त अचैतन्य—ये गुण शक्यकर्म करने के लिये वैद्य में होने चाहिये ॥९॥

वक्तव्य—शौर्य—गानसिक निर्भयता जिससे शक्यकर्म करने के लिये एक प्रकार का उत्साह वैद्य में होता है। शरत्तैक्ष्ण्य—शक्य की तीक्ष्णता यद्यपि वास्तव में शक्य का गुण है तथापि प्राचीन काल में आजकल की भांति तीक्ष्णादि गुणयुक्त उत्तम शक्य कंपनी के द्वारा बने बनाए न मिलने के कारण वैद्य को उत्तम शक्य की बनावट पर स्वयं ध्यान देना पड़ता था—'शक्य-प्येतानि मतिमान् शुद्धैरन्यायतानि तु । कारयेत् करणप्राप्तं कर्मारं कर्मकोविदम् ॥' (अ. ८) । इसलिये वैद्य के ऊपर शक्य का तीक्ष्ण गुण आरोपित किया गया है। असंमोह—शक्यक्रिया में रक्तत्वाव सदैव न्यूनाधिक मात्रा में होता है। कुछ लोग रक्त देखने से संमोहित या मूर्च्छित हो जाते हैं—'सत्वाग्नादृष्टिर्भवति गूढीच्छ्वासस्तथैव च । दर्शनादसज्जः ॥' इसलिये वैद्य ऐसा होना चाहिये जो रक्त देख कर संमोहित नहीं होता है। प्रत्यक्ष भ्रूच्छां उत्पन्न होने की जरूरत नहीं है। खाली मन में घबराहट होने से भी शक्य कर्म ठीक नहीं हो सकता है।

एकेन वा व्रणेनाऽशुध्यमाने नाऽन्तरा बुद्ध्याऽचे-
द्वयापरान् व्रणान् कुर्यात् ॥१०॥

भवति चात्र—

यतो यतो गतिं विद्यादुत्सङ्गो यत्र यत्र च ।

तत्र तत्र व्रणं कुर्याद्यथा दोषो न तिष्ठति ॥११॥

यदि एक घ्रण से पाकस्थान की शुद्धि ठीक न हो जाय तो वैद्य अपनी बुद्धि से विचार कर पाकस्थान में कई और घाव करे ॥१०॥ जहाँ जहाँ (पूय की) गति तथा उभार मालूम हो वहाँ वहाँ शक्य से घ्रण कर देना चाहिये जिस से पूय भीतर न उभरने पावे ॥११॥

वक्तव्य—गति—दोष की गति या प्रसार। 'यतो दोषगतिं विधात्' ऐसा भी पाठ है। दोष शब्द से यहाँ पूय समझना चाहिये 'पूय एव दोषशब्देनोच्यते, कारणे कार्योपचारात्' । (उल्लेख) ।

तत्र भ्रूगराडशङ्खललाटाक्षिपुटौष्ठदन्तवेषकक्षा-
कुक्षिवह्णेषु तिर्यक् छेद उक्तः ॥१२॥

(चन्द्रमण्डलवच्छेदान् पाणिपादेषु कारयेत् ।

अर्धचन्द्राकृतीश्चापि शुदे मेद्रे च बुद्धिमान् ॥१३॥)

अन्यथा तु सिराहायुच्छेदनम्, अतिमात्रं वेदना,
चिराद्भ्रणसंरोहो, मांसकन्दीप्रादुर्भावश्चेति ॥१४॥

दोनों भ्रू, कपोल, कनपटी, मस्तक, आँखों के ऊपर का पपोटा, होठ, मसूड़े, बगल, ढँस और जंघा का जोड़—इन स्थानों में तिरछा छेद होता है ॥१२॥ हाथों और पाँवों में चन्द्र-संढल के समान गोल छेद करे और गुदा तथा लिंग में अर्ध-चन्द्राकृति छेद करे ॥१३॥ अन्यथा छेद करने से सिराहायु कट जाती है, अधिक वेदना होती है, घ्रण भरने के लिये अधिक

१ यतो दोषगति.

दिन एग जाते हैं और मास की गाठ निचल आती है ॥१५॥

मूढगर्भोदरारोगोऽश्मरीभागन्दरसुरारोगोप्यभुक्तव-
त्त. फमं कुर्वीत ॥१५॥

मूढगर्भे, उदररोग, बवासीर, पथरी, भगन्दर और मुख
रोग में बिना भोजन कराये शस्त्रकर्म करना चाहिये ॥१५॥

वृक्तव्य—शस्त्रकर्म करने के पूर्व रोगी को भोजन देना
सब से उत्तम मार्ग है—'प्राक् शयनमंगथेष्ठ भान्तेगुणु मियत्र' ।
परन्तु उदर, मूढगर्भ और मुख रोग में भोजन न करना प्रयत्न
होता है । कारण यह है कि प्रत्यावर्तन क्रिया से (Reflex
action) तमन तथा ह्रिदा उत्पन्न होकर क्रिया में बाधा
उत्पन्न होती है । अर्थात्, अश्मरी, भगन्दर में प्रत्यावर्तन से वम-
नादि उत्पन्न होने की विशेष संभावना न होने के कारण हल्का
भोजन करने में कोई आपत्ति नहीं होती है । अतः इन रोगों की
शस्त्रक्रिया में रोगी को हल्का भोजन देने के लिये कहा है ।
चिकित्सास्थान अर्थात् ६-७-८ में इन रोगों का शस्त्रकर्म
देखो । अष्टांगसमूह तथा अष्टांगहृदय में वाग्भट ने अर्थात् और
भागन्दर का निर्देश नहीं किया है और सुश्रुत में भी इन रोगों
की शस्त्रक्रिया करने के पूर्व रोगी को भोजन देने के लिये लिखा
है । इस आधार पर हाररगच्छ चक्रवर्ती अपनी टीका में लिखते
हैं—'केनचिदरुगो भगन्दरवपि पठयेत्, तदुक्तं, चिकित्स्मिने तयोः शब्द
कर्मण प्राक् भोजनविशान्तेनरक्षानुसारिना वाग्भटेनाप्यपठितत्वात्' ।
परन्तु जब अर्थात् और भागन्दर की शस्त्रक्रिया में भोजन करने से
कोई आपत्ति नहीं उत्पन्न होती है तब अश्मरी की बिना भी मी
भोजन करने से आपत्ति उत्पन्न होने की श्वावहारिक संभावना
(सावधान्यात्म्य के सिवाय) नहीं दिखाई देती है । और उदर-
समन अश्मरी चिकित्सा के पाठ में 'भुक्तवन्' ऐसा पाठ भी
मिलता है । वाग्भट समन्तपाठ 'अभुक्तवन्' ऐसा है । इसलिये
सुश्रुतसंहिता क बचनों का समन्वय करने के लिये 'भुक्तवन्'
का अर्थ बिना भोजन किये या घांटा हल्का भोजन करके
करना अधिक समत होगा । मूढगर्भे, बडगुदांदर, परिसामुद्र
और मुखरोगों के सिवाय अन्य रोगों की शस्त्रचिकित्सा में
रोगी की स्थिति देख कर यदि घांटा भोजन देना उचित प्रतीत
हो तो मध्य दृष्टि से उस में कोई आपत्ति नहीं आ सकती ।

तत्त. दास्यमवचार्य शीताभिरुद्रियारुतमाश्यास्य,
सम्भत्तात् परिशीलाङ्गुल्यार, प्रसुमभिम्यूव(ज्य),
प्रक्षाल्य कपायेण, प्रोतेनोदकमादाय, तिलफल्क
मधुसर्पिःप्रगाढामोपधयुक्तानातिरुक्तां नातिरुक्तां
वर्ति प्रशुद्धयान्, तत कलेकेनाच्छाद्य घनां क्य-
लिकां दत्त्वा, वस्त्रपट्टेन यर्षीयान्, वेदनारक्षोमैर्धू
पैर्धूपयेत्, रक्षोमैश्च मन्त्रै रक्षां कुर्वीत ॥१६॥

तदनन्तर (मग्न से) शय्य का निकालकर रोगी का ऊँचे पानी
से स्नावन करे, फिर घाव क चारों ओर (बाहर तथा भीतर
से) अंगुली द्वारा दनाकर (शोथन द्रव्यरहित) कषाय से धोये,
किर (मग्न के भीतर बचे हुए) कषाय जल को कपड़े से सोल
कर निकलकक, मधु और घृत में (सर्पोथक) ओषधियों से
बनी हुई न बहुत घिन्नी न बहुत रुची बनी मग्न में स्थापन
करे, फिर मग्न की छगड़ी में द्राक् कर ऊपर मोटी गद्दी रखकर

बपठे की पट्टी से बांधे दे । अन्त में वेदनाहर और राक्षयना
ओषधियों से धूपन करे और राक्षसविनाशक मन्त्रों से (मं
की) रक्षा करे ॥१६॥

वृक्तव्य—शीताभिरुद्रियारुतमाश्यास्य—ऊँचे पानी का उप-
पिलाने के लिये तथा मुख आदि पर छिद्रकाने के लिये होता
ऊँचे पानी का बाह्याभ्यन्तर उपयोग करने से रोगी की घबरा
तथा बेहोशी दूर हो जाती है । प्रथमभिम्यूव—बाहर की तरफ ।
के आस पास दाना से भीतर की मग्न पीप निकल आती ।
परन्तु कभी कभी पाकस्थान में अनेक पुद्मसंघय (Pus lobul
Pus pockets) होते हैं, जिनका संशय मग्न के साथ नहीं हो
है । उस अवस्था में मग्न के भीतर अंगुली द्वारा इनकी सं-
करने इनकी दीवार ताँडकर इनका मग्न के साथ सन्नय कर
पड़ता है । इसलिये मग्न के भीतर भी अंगुली द्वारा अभिमर्द
करना जरूरी है । कषाय-शोधनकषाय । शस्त्रिकचक्रोऽमुमन कर्त्त
रसुयोऽथ । शोथनानि कषायानि वीर्याश्वयारिक ॥ (सू० अ० २०)
नातिरुक्तां नातिरुक्तां—वर्ती अतिरुक्तां रखने से मग्न में आर्द्रता
पड़ती है और अतिरुक्तां बची रहने से मग्न के किनारे वर्षि
हो जाते हैं । यस्यादितिलहृद्य हेद्यो, रीत्याश्चंद्र । (सू० अ० १८)
वर्ति—इसको चिकित्सा भी कहते हैं । मग्न के भीतर वर्ति रख-
ने पीप का बाहर निकलना सुगम हो जाता है । वर्ति न रख-
ने भीतर का मवाद रूपांतर वि शेष होने के पहले ही मग्न से
किनारे मिल जाने की संभावना होती है । आधुनिक पाश्चात्
शस्त्रचिकित्सा में वारीक जाली (Gauze) जन्तुद्रव्य के घाते
में भिगाकर उसकी बची बनाकर मग्न में रखते हैं या रबर क
नाली में छेद बनाकर (Drainage tube) उसको रखते हैं ।
जैसे जैसे मग्न का रोपण होता जाता है वैसे वैसे बर्ती की लंबाई
दिन प्रति दिन घटानी चाहिये और अन्त में बर्ती का उपयोग
छोड़ देना चाहिये । यदि मग्न गहरा न हो तो बर्ती का आवश्यकता
नहीं होती । इसलिये समूह में लिखा है—अवश्य मातेये श्ले
विकेशिकां दद्यात् । वाग्भट ने बर्ती का वर्णन किया है—'नृत्तियों
सौक्ष्ण्यं समानि पुष्पमिग्नान् । मग्न विशेषधेच्छीत्र स्थिता क्षान्तिकेशिका' ॥
कवलिका—पट्टी बांधने के पहले मग्न को ढाँकने के लिये कपड़े
की बगो गद्दी बनाई जाती है उसे कवलिका कहते हैं । यह क
लिका शूद्र, स्वच्छ और चिकने कपड़े की बनाई जाती है ताकि
मग्न पर किसी प्रकार की रगड़ न मग्नम हो । आधुनिक शस्त्र-
चिकित्सा में कवलिका (Gauze), लुई या लिट (Luit) की
होती है । आज की भाँति प्राचीन काल में भी कवलिका तथा
अन्य पदार्थे उष्णता तथा धूपन द्वारा निर्जीवाणु करने प्रयुक्त
(Sterile) होते थे । वाग्भट ने लिखा है—'शुचिद्रव्यमृदं पृष्ठा
कवल्य सतिकणिका' । धूपिना शूद्रव्यं श्लेषा निर्बलीया जगो हित्वा ॥'
(अ० हृदय० सू० अ० २९) । बस्त्रपट्टेन कर्षीयान्—पट्टी की गाँठ
मग्न के ऊपर नहीं आनी चाहिये—'न च मग्नोपरि कुर्वीत प्रथिमा
वाष्कर च' ॥ (सू० अ० १०) । वेदनारक्षोमैः—वेदनामानि रूपांशुनि,
रक्षामानि राक्षसमानि ते । वेदना—वेदनाहारक (Anodyne) ।
ततो गुग्गुल्वगुरुसजंरसवचागौरसर्पपधूर्णैर्न
एनिम्वपन्नयिमिधैराज्ययुक्तैर्धूपयेत् ; आयस्योशेष
चास्यं प्राप्त्वात् समालमेत् ॥७॥

फिर गुग्गुलु, अगर, राह, वच और नफेद सरसों के चूर्ण या लवण और नीम की पत्ती घृत के साथ मिलाकर धूपन करे । श्रेय घृत का वणित के हृदयादि मरी भागों मानिस को ॥१७॥

वक्तव्य—इन सूत्र में निर्दिष्ट किये हुए द्रव्यों के धूपनी का व्रण, व्रणोपचार में प्रयुक्त कवलिका, गिकेशिका, दि वस्तुर्ण, रोगी का कसरा, घिन्वरा, पहनने के कपड़े आदि चीजें शुद्ध करनी चाहियें । धूपन से दुर्गन्ध नष्ट होती है, वाहक कृमि-काटकादि हट जाते हैं या नष्ट हो जाते हैं । विकारी जीवाणु मर जाते हैं । अंग्रेजी में धूपन को एम्ब्रोगन (Embriogation) कहते हैं । आज इन कामों के धूपन का उपयोग शोडा होता है चूंकि धूपन से जीवाणु श्वेत रूप से नहीं मर जाते हैं । अतः व्रणविशोधन के लिये मेंलिक अम्ल, ह्योरीन जैसे तीव्र जन्तुनाशक रासायनिक पदार्थों घोल और पट्टी रुड़ इत्यादि के विशेषधन के लिये जलवाष्प उपयोग करने हैं । परन्तु धूपन का उपयोग रोगी के कमरे में कपड़ों की शुद्धि करने के लिये आज भी होता है । धूपन लिये हाल में फार्मैलिन, गंधक, ह्योरीन आदि तीव्र जन्तुनाशकों का उपयोग किया जाता है ।

उदकुम्भाच्चापो शृहीत्वा प्रोक्षयन् रक्षाकर्म यान् । तद्द्रव्यामः—
त्यानां प्रतिघातार्थं तथा रक्षोभयस्य च ।
रक्षकर्म करिष्यामि ब्रह्मा तद्रनुमन्यताम् ॥१८॥
माः पिशाचा गन्धर्वाः पितरो यज्ञराक्षसाः ॥
मिद्रचन्ति ये ये त्वां ब्रह्माद्या धन्तु तान् सदा ॥१९॥
धिव्यामन्तरिक्षे च ये चरन्ति निगाचराः ।
शु वास्तुनिवासाश्च पान्तु त्वां ते नमस्कृताः ॥२०॥
न्तु त्वां मुनयो ब्राह्म्या दिव्या राजर्षयस्तथा ।
पताश्वैव नद्यश्च सर्वाः सर्वे च सागराः ॥२१॥
प्री रक्षतु ते जिह्वां प्राणान् वायुस्तथैव च ।
तोमो व्यानगपानं ते पर्जन्यः परिरक्षतु ॥२२॥
दानं विद्युतः पान्तु समानं स्तनयित्त्ववः ।
लमिन्द्रो बलपतिर्मनुर्मन्ये मतिं तथा ॥२३॥
गमास्ते पान्तु गन्धर्वाः सन्वमिन्द्रोऽभिरक्षतु ।
हां ते वरुणो राजा समुद्रो नाभिमण्डलम् ॥२४॥
शुः सूर्यो दिशः श्रोत्रे चन्द्रमाः पातु ते मनः ।
क्षत्राणि सदा रूपं ज्ञायां पान्तु निशास्तव ॥२५॥
तस्त्वाप्याययन्त्वापो रोमाण्योषधयस्तथा ।
मकारां खानि ते पातु देहं तव वसुन्धरा ॥२६॥
श्वानरः शिरः पातु विष्णुस्तव पराक्रमम् ।
ौरुपं पुरुषश्रेष्ठो ब्रह्माऽऽत्मानं ध्रुवो भ्रुवौ ॥२७॥
ता देहे विशेषेण तव नित्या हि देवताः ।
तास्त्वां सततं पान्तु दीर्घभायुरवाप्नुहि ॥२८॥
वस्ति ते भगवान् ब्रह्मा स्वस्ति देवश्च कुर्वताम् ।

(स्वस्ति ते चन्द्रसूर्यौ च स्वस्ति नारदपर्वतौ ।)
स्वस्त्याग्निश्चैव वायुश्च स्वस्ति देवाः सहेन्द्रगाः ॥२९॥
पितामहकृता रक्षा स्वस्त्यायुर्वर्धतां तव ।
ईतयस्ते प्रशाम्यन्तु सदा भव गतव्यथः ॥३०॥
इति स्वाहा ॥

एतैर्वेदात्मकैर्मन्त्रैः कृत्वाव्याधिविनाशनैः ।
मयैवं कृतरक्षस्त्वं दीर्घमायुरवाप्नुहि ॥३१॥

कल्याण में से (हाथ में) पानी लेकर (वणित के ऊपर) प्रोक्षण करके (निम्न संशों से) रक्षाकर्म करे । रक्षाकर्म के मंत्र—कृत्वाओं तथा राजसों का निवारण करने के लिये मैं रक्षाकर्म कर रहा हूँ, स्वयम्भु भगवान् इसमें सहायता करें ॥१८॥ नाग, पिशाच, गन्धर्व, पितर, यक्ष, राक्षस जो जो तेरे समीप होकर पीड़ा देते हैं, उनको ब्रह्मादिक देवता संदेव दूर करें ॥१९॥ पृथ्वी पर, आकाश में, दिशाओं में और घर में जो राक्षस विचरते हैं, वे तेरे नमस्कार से (संतुष्ट हुए) तेरी रक्षा करें ॥२०॥ ब्रह्मर्षि, देवर्षि और राजर्षि तथा सब पर्वत, नदी और समुद्र तेरी रक्षा करें ॥२१॥ अग्नि तेरी जिह्वा की रक्षा करे, वायु प्राणों की, लोम व्यान वायु की और पर्जन्य अपान वायु की रक्षा करे ॥२२॥ बिजली उदान वायु की, मेघ समान वायु की, इन्द्र बल की और मनु भ्रुवा की सिराओं तथा बुद्धि की रक्षा करें ॥२३॥ गन्धर्व कामों की, इन्द्र सत्य की, वरुण प्रज्ञा की, समुद्र नाभिमण्डल की रक्षा करें ॥२४॥ सूर्य आंखों की, दिशा कानों की, चन्द्रमा मन की, नद्यत्र रूप की और रात्रि छाया की रक्षा करें ॥२५॥ जल तेरे रेत की वृद्धि करें, ओषधि रोमावलि की रक्षा करें, आकाश तेरे शरीर के छिद्रों की रक्षा करे और पृथ्वी तेरे देह की रक्षा करे ॥२६॥ वैश्वानर तेरे शिर की, विष्णु पराक्रम की, पुरुषोत्तम पौरुष की, ब्रह्मा आत्मा की और ध्रुव दोनों भ्रुकुटियों की रक्षा करें ॥२७॥ येही (उपर्युक्त) देवता विशेष करके तेरे शरीर में नित्य वास करते हैं, वे सब निरन्तर तेरी रक्षा करें और तू दीर्घायु हो ॥२८॥ भगवान् ब्रह्मा तेरा कल्याण करे, सब देवता तेरा कल्याण करें, चन्द्र और सूर्य तेरा कल्याण करें और नारद तथा पर्वत तेरा कल्याण करें, अग्नि और वायु तेरा कल्याण करें, इन्द्र प्रभृति देवता तेरा कल्याण करें ॥२९॥ स्वयम्भु भगवान् की की हुई रक्षा तेरा कल्याण करे और तेरी आयु दीर्घ हो, तुम्हारे सब कष्ट शांत हो जायें और तू सदा के लिये व्यथारहित हो ॥३०॥ इन मन्त्रों को पढ़कर 'स्वाहा' शब्द उच्चारण करे । कृत्वा और रोगों को नाश करने वाले इन वेदात्मक मन्त्रों द्वारा मुझ से रक्षा किया हुआ तू दीर्घायु को प्राप्त हो ॥३१॥

वक्तव्य—कृत्वा—कुपितमन्त्रिणोऽभिचारकर्मजनिता राक्षसी 'कृत्वा' इत्युच्यते । अभिद्रु—पीड़ा देना । स्तनयित्त्व—मेघ । खानि—शरीर के कर्ण नासादि छिद्र या इन्द्रियाँ । पौरुष—शिश्न । इति—'अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभा खगाः । स्वचक्र परचक्र च संसृता इतयः सृताः' ॥ सात प्रकार की इति (उपद्रव) होती हैं । परन्तु यहाँ इति से केवल सामान्य आपत्ति समझना चाहिये चूंकि

उपर्युक्त सात प्रकार की ईति से मणित का कोई खास सवध नहीं होता है।

ततः कृतरक्षमातुरुत्सर्गात् प्रवेद्य, आचारिक-मादिशेत् ॥३२॥

फिर रक्षा किये हुए आतुर को उसके स्थान में ले जाकर आचार का उपदेश करे ॥३२॥

यत्कव्य—आचारिक—प्रणित के आहारविहार सबधी स्वास्थ्ययौषक नियम। ये नियम स्वतंत्र रूप से उल्लिखित अभ्यास (प्रवृत्तितोपासनीय) में दिये हुए हैं।

ततस्तृतीयेऽहनि चिमुच्यैवमेव यन्नीयाद्ब्रह्म-पट्टेन; न चैनं त्वरमाणाऽपरेद्युर्मोक्षयेत् ॥३३॥

फिर तीसरे दिन पट्टी को खोल कर (मग्न कपाय से छोड़े और फिर) उसी भाँति कपड़े से बाँध दे, शीघ्रता करके दूसरे ही दिन पट्टी कदाचित् न खोले ॥३३॥

द्वितीयदिवसपरिमोक्षणाद्विप्रथितो यणश्चिरा-दुपसंरोहति, तीमरजश्च भवति ॥३४॥

दूसरे दिन खोलने से मग्न में गाँठें पड़ती हैं, देरी से मग्न भरता है और वेदना भी अधिक होती है ॥३४॥

अत ऊर्ध्वं दोषकालवलादीनवेक्ष्य कपायालेपन-यन्धाक्षराचापान् विदध्यात् ॥३५॥

तीसरे दिन के पश्चात् दोष, काल, रोगी का बल देखकर (योग्य) कपाय, लेप, घन्घ, आहार और आचार का उपयोग (मग्न का पूर्ण रापण होने के समय तक) करे ॥३५॥

न चैनं त्वरमाणाः सान्तर्दोषं रोपयेत्; स ह्यल्पेनाप्यपचारेणभ्यन्तरमुत्सङ्गे कृत्या भूयोऽपि विकरोति ॥३६॥

भीतर प्ययुक्त मग्न का रोपण नहीं कर देना चाहिये। क्योंकि छोटे ही अपचय (अपचय) से दोष भीतर जोर करके विकार पैदा कर देता है ॥३६॥

यत्कव्य—मग्न आवश्यकता से अधिक छोटा रखने से यह आपत्ति हमेशा उत्पन्न होती है। इसलिये, इसको बुर करना हो तो पाकस्थान में मग्न काफी छँटा होना चाहिये, ऐसे स्थान में होता चाहिये कि अहाँ से पूष का बाहर निर्गम आसानी से हो सके। मग्न में बत्ती या रबड़ की नाली रखनी चाहिये। इतनी सावधानता रखते हुए भी यदि मग्न का मुख, भीतर का पूष पूर्वतया निःशेष होने के पहले, बंद हो जाने की संभावना दिखाई दे तो मग्न के मुख को चीर कर पौड़ा मोटा कर देना चाहिये।

भयन्ति व्याघ्र—

तस्मान्तर्षदिभ्येयं सुनुयं रोपयेद्ब्रह्मम्।

कटेऽप्यञ्जीर्णव्याधामप्ययायादीन् पिचर्जयेत् ॥

हर्षं मोर्षं मयं यथापि यायत् रथैयौषसंमयात् ॥३७॥

इसलिये जो ब हर और भीतर से निर्दोष (शुद्ध) हुआ है, उसी मग्न का रोपण कर देना चाहिये। और मग्न रुद्ध होने के पश्चात् भी मग्न के स्थान की पट्टी अतोत्सर्गात् तब तक न हो,

तब तक अजीर्ण, व्यायाम, मँथन, हर्ष, क्रोध, भय इत्यादि का त्याग करे ॥३७॥

यत्कव्य—अन्तर्षदि-शुद्ध मग्न का लक्षण—‘त्रिमिराक्रान्तं वदोहं पिङ्गी समः। अवेरुनी निरालावो मग्नश्चेत्पत्ने ॥’ (सू अ २३)। रुद्धमग्न का लक्षण—‘रुद्धत्वार्त्तं प्रथिमयुक्तमरुत्तं मग्नम्। त्वक्कुन्वर्त्तं समलं सत्यंरुद्धं विनिर्दिशे’ (सू अ २३)

सम्यक् रुद्धमग्न-स्थान में नये कोमल सेल तथा वेगिक द्वारा बना हुआ एक प्रकार का सूक्ष्म पिट्टिकावायु (Granulation tissue) होता है। जब तक इस रूपान्तर तान्त्रव धातु में (Fibrocatricular tissue) होता है, तब तक मग्न-स्थान में मतलबूनी या खैरे उत्पन्न हो सकता है। इस विषय का विशेष विवरण सूत्रस्थान अम २३ में किया जाया है—‘अष्टाहसंप्रह में मैथुनादि वर्ष्ये क का काल छ माम लिया है—‘हृदयेऽप्यञ्जीर्णव्याधामप्ययाया विवर्जयेत्’। मग्नान् पद सत वा नृणां विधिरेव प्रथम्यते ॥

हेमन्ते शिशिरे चैव घसन्ते चापि मोक्षयेत् !

त्र्यहाद्वाह्यच्छरद्भीष्मवर्षास्यपि च बुद्धिमान् ॥३८॥

बुद्धिमान् वैद्य हेमन्त, शिशिर और घसन्त कर्तु में तीसरे तथा शरद्, शीष्म और वर्षा कर्तु में दूसरे दिन मग्न खोले ॥३८॥

यत्कव्य—इस स्थोक में मग्न खोलने के सामान्य विवरण बताये गये हैं। परन्तु घात पित्त कफ और रक्त दूषित मग्न अनुसार मग्न खोलने में जो विशेषता होती है, वह आगे अध्याय में निम्न प्रकार से बतलाई गई है—‘उप पिट्तिक मग्न शीष्मे द्विको गभीवाद, रक्तोपद्रवमप्येव, क्षैणिक हेमन्तवसन्तथोत्साय, वातोपद्रवमप्येव’।

अतिपातितु रोगेषु नेच्छेद्विधिमिमं भिषक्।

प्रदीप्तागवच्छीघ्रं तत्र कुर्यात् प्रतिक्रियाम् ॥३९॥

अप्यन्त शीघ्रनिपाद्यक रोगों में वैद्य इस (उपरोक्त) विधि का पालन करने की इच्छा न करे। परन्तु जलते हुए स्थान में समान जिम विधि से तुरन्त प्रतिकार हो, उस विधि में अवलम्बन करे ॥३९॥

यत्कव्य—पाकदिना मग्न मत्स्यं पातमितु गीळ देवां ये अतिपातितुः अतिशीघ्रं—आमुकरी या आत्यधिक।

या वेदना शरानिपाताज्जाता तीम्रा शरीरं प्रमुनोति जन्तो ।

घृतेन सा शान्तिमुपैति सिक्ता

कोपेणेन यद्यीमधुकाञ्चित्तेन ॥४०॥

इति छुण्टनप्रक्रियायां घृतमन्तेऽप्येवहरा मृगेषु नाम पञ्चमेऽध्यायः ॥४०॥

रुद्ध लगने से मनुष्य के शरीर को या तीव्र वेदना पीड़ा होती है, वह मुलदली पुच्छ किडिश रुग्ण थी लगाने से शान्त हो जाती है ॥४०॥

इति मत्स्यकरणेन लेपिन्द्रममेन विरचितवायुहरेररथ द्दिकियां सुखमवपरीक्षायां सुखमने पञ्चमऽध्यायः ॥४०॥

षष्ठोऽध्यायः ।

अथात ऋतुचर्यमध्यायं व्याख्यास्यामः, यथो-
भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

व्य यहाँ से ऋतुचर्या नामक अध्याय का व्याख्यान करते
के कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—दो महीने का जो काल होता है, उसे ऋतु
है। एक वर्ष में छः ऋतु होते हैं। चर्य का अर्थ आचरण या
है। सधुरादि षट् रसों का उत्कर्षापरक और वातादि दोषों
विषय प्रकोप प्रशमन इनके संबंध में ऋतुओं की चर्या कैसी
है, इसका व्याख्यान इस अध्याय में किया हुआ है। अतः
ने ऋतुचर्याध्याय कहते हैं।

कालो हि नाम भगवान् स्वयम्भुरनादिमध्यनि-
ऽत्र रसव्यापत्सम्पत्ती जीवितमरणे च मनुष्या-
ण्यते। स सूक्ष्मापि कलां न लीयत इति कालः,
लयति कालयति वा भूतानीति कालः ॥२॥

जिते काल कहते हैं वह समस्त ऐश्वर्ययुक्त है, किसी से
बहुता नहीं है, आदि मध्य और अन्त रहित है। (द्रव्या-
न्) रसों की व्यापत्ति और संपत्ति तथा प्राणियों का जीवन
मरण उस काल ही के आधीन है। वह सूक्ष्म कला भर भी
तिमात्र होने के कारण) ढहरता नहीं है या (संहार
न) सर्व प्राणियों का संकलन या ग्रहण करता है, इसलिये
काल कहते हैं ॥२॥

वक्तव्य—मनुष्याणाम्—आयुर्वेद मनुष्याधिकारी शास्त्र होने
कारण मनुष्य शब्द का प्रयोग किया है। परंतु इससे समस्त
योमात्र का बोध यहाँ लेना चाहिये। काल शब्द की निष्पत्ति
गणदस्य ककाराकारौ लीघातोश्च लकारमादाय कालशब्दनिष्पत्तिः।
न शब्द का ककार और आकार तथा ली घातु का लकार
न काल शब्द बनता है। समस्त जीव-सृष्टि का संकलन करता
इसलिये काल कहते हैं—'कलनात् सर्वभूतानां स कालः परिकी-
रः'। भागवत में लिखा है—'कालो बलीयान् बलिनां भगवानी-
नेऽन्यः। प्रजाः कालयते क्रीडन् पशुपालो युथा पशून् ॥ हाराणचन्द्र
सामपि कलां लीयते' ऐसा पाठ लेते हैं और व्याख्यान करते
कि—सक्षमामपि कलां कालांशविशेषं लीयते स्थिति कालस्य सर्व-
संयोगित्वात्'। काल सर्वमूर्तिसंयोगी (विशु) होने के कारण
सकला का भी ग्रहण करता है। इसलिये उसे काल कहते हैं।
लयति—संहारणादे राशीकरोति भूतानीति वा कालः, सुख-
लाभ्यां भूतानि योजयतीति वा कालः, कालयति—संक्षिपतीति वा
ऽः, मृत्युसमीपं नयतीति वा कालः। रसव्यापत्संपत्ती—रसयुक्त
व्यो की विपन्नता और संपन्नता।

तस्य संवत्सरात्मनो भगवानादित्यो गतिविशेष-
ण निमेषकाष्टाकलासुहूर्ताहोरात्रपक्षमासत्वयन-
संवत्सरयुगप्रविभागं करोति ॥३॥

भगवान् सूर्य अपनी गति विशेष से उस संवत्सरात्मक काल
न निमेष, काष्ठा, कला, सुहूर्त, अहोरात्र, ऋ. मास, ऋतु,
अयन, वर्ष और युग—इस प्रकार विभाग करता है ॥३॥

वक्तव्य—संवत्सरात्मनः—संवत्सरः आत्मा स्वरूपं यस्य तस्य
महाकालस्य संवत्सररूपेण व्यवहारपधारुदस्येत्यर्थः। (हाराणचन्द्रः) ।
काल का निर्देश या खयाल हमेशा संवत्सर की दृष्टि से होने के
कारण यहाँ व्यावहारिक भाषा में 'संवत्सरात्मनः' लिखा है।
ढलहण लिखते हैं—भगवानादित्य इत्युपलक्षणं; तेन चंद्रोऽपि गृह्यते,
निशाकरणत्वादित्येत्वात्। यहाँ सूर्य के साथ चंद्र का ग्रहण भी
करना चाहिये क्योंकि शुक्लपक्ष, कृष्णपक्ष चंद्र की गति के कारण
से ही हुआ करते हैं। गतिविशेषण—वास्तव में यह सूर्य की
गति नहीं है, पृथ्वी की है। पृथ्वी की एक गति अपने अक्ष के
चारों ओर होती है, जिससे दिन और रात्रि उत्पन्न होते हैं
और दूसरी गति सूर्य के चारों ओर परिक्रमा के स्वरूप की
होती है, जिससे ऋतु, अयन और वर्ष उत्पन्न होते हैं।

तत्र लघ्वक्षरोच्चारणमात्रोऽक्षिनिमेषः, पञ्चदशा-
ऽक्षिनिमेषाः काष्ठा, त्रिंशत्काष्ठाः कला, विंशति-
कलो सुहूर्तः कलादशभागश्च, त्रिंशत्सुहूर्तमहोरात्रं,
पञ्चदशाहोरात्राणि पक्षः, स च द्विविधः शुक्लः
कृष्णश्च, तौ मासः ॥४॥

जितने समय में लघु अक्षर का उच्चारण हो, उसे अक्षि-
निमेष कहते हैं। पंद्रह अक्षिनिमेष की एक काष्ठा, तीस काष्ठा की
एक कला, बीस और $\frac{3}{4}$ कला का एक सुहूर्त, तीस सुहूर्त का
एक अहोरात्र, पंद्रह अहोरात्र का एक पक्ष। पक्ष दो होते हैं—
एक शुक्लपक्ष और एक कृष्णपक्ष। दोनों मिलकर एक मास
होता है ॥४॥

वक्तव्य—अष्टांगसंग्रह (सूत्र० अ० ४) में जो काल-
प्रविभाग दिये हैं, उनमें थोड़ा अन्तर है। 'ताः (कलाः) सदशभागा
विंशतिर्नाडिका, नाडिकाद्वयं सुहूर्तश्च ते तुल्यरात्रिदिवे राशिभागे चत्वारः
पदोनायामः। तैश्चतुर्भिरहोरात्रिश्च'। $20 \times \frac{3}{4}$ कला=नाडिका, 2 ना-
डिका=सुहूर्त, $3 \times \frac{3}{4}$ सुहूर्त=याम, ४ याम=अहोरात्र। यहाँ काल
के प्रविभागों का निमेष से अहोरात्र तक जो क्रम दिया है, वह
केवल आयुर्वेद ग्रन्थों के लिये प्रमाण मानना चाहिये। क्योंकि
मनुस्मृति (अ० १-६४), न्यायशास्त्र (न्यायकन्दली), ज्योति-
षशास्त्र (भास्कराचार्य-सिद्धान्तशिरोमणि-कालमानाध्याय),
कौटिलीय अर्थशास्त्र (अ० ४१) में जो क्रम दिया है, वह भिन्न है।
इस से यह स्पष्ट होता है कि ये प्रविभाग सूर्यगतिकृत नैस-
र्गिक नहीं हैं। इस शंका का निवारण ढलहणाचार्य अपनी टीका
में करते हैं—'ननु, लघ्वक्षरोच्चारणादिना निमेषादयो विभज्यन्ते, तत्कथं
भगवानादित्यो गतिविशेषेण निमेषादीनां विभागं करोतीत्युक्तम्? नैव
दोषः, यतो ज्योतिषिका निमेषादिप्रविभागेन शङ्कुछायाभागमोक्षामर्क-
गत्याऽपि प्रमाणयन्ति, सा तु न सर्वजनप्रसिद्धेति न निर्दिष्टा'। परन्तु
ज्योतिषशास्त्र के साथ भी यहाँ निर्दिष्ट क्रिये हुए प्रविभाग
नहीं मिलते हैं। अतः यह शङ्का निवारण व्यर्थ है।

तत्र माघादयो द्वादश मासाः संवत्सरः, द्विमा-
सिकमृतुं कृत्वा षडृतवो भवन्ति; ते शिशिरवसन्त-
श्रीष्मवर्षाशरद्धेमन्ताः; तेषां तपस्तपस्यौ शिशिरः,
मधुमाघवौ वसन्तः, शुचिशुक्रौ श्रीष्मः, नभोनभस्यौ
वर्षाः, इषोर्जौ शरत्, सहःसहस्यौ हेमन्त इति ॥५॥

इस कालविभाग में माघादि द्वादश मास का सव्यसर होता है। दो भाग महीने का एक एक ऋतु करके छ ऋतु होते हैं। ये शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत् और हेमन्त हैं। उनमें से माघ और फाल्गुन, शिशिर, चैत्र और वैशाख, वसन्त, ज्येष्ठ और आषाढ़, ग्रीष्म, धावण और भाद्रपद, वर्षा, आश्विन और कार्तिक, शरद्, और मार्गशीर्ष तथा पीपू हेमन्त ऋतु होते हैं ॥५॥

त एते शीतोष्णवर्षलक्षणान्द्रादित्ययो काल विभागरत्वाद्यने द्वे भवतो दक्षिणमुत्तर च। तयोर्दक्षिण वर्षाशरद्धेमन्ताः, तेषु भगवानाप्यायते सोमः, अम्ललवणमधुराश्च रसा बलवन्तो भवन्ति, उत्तरोत्तर च सर्वप्राणिना बलमभिवर्धते। उत्तर च शिशिरवसन्तग्रीष्मा, तेषु भगवानाप्यायतेऽर्कः, तिक्तकषायकटुद्राश्च रसा बलवन्तो भवन्ति, उत्तरोत्तर च सर्वप्राणिना बलमपदीयते ॥६॥

सर्षी, गरमी और वर्षा इन्हीं से लक्षित होने वाले ये ऋतु चन्द्र तथा सूर्य के काल विभाग के कारण दो अयन में विभक्त होते हैं—दक्षिणायन और उत्तरायण। वर्षा, शरद् और हेमन्त तीनों का दक्षिणायन काल है। इन तीनों ऋतुओं में भगवान् चन्द्रमा बलवान् होता है, अम्ल लवण और मधुर रस (क्षम से) बलवान् होते हैं और उत्तरायण सर्ष प्राणियों का बल बढ़ता जाता है। शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म तीनों का उत्तरायण होता है और इन तीनों ऋतुओं में ध्रुववान् सूर्य बलवान् होता है, तिक्त कषाय और कटु रस (क्षम से) बलवान् होते हैं और उत्तरोत्तर सर्व प्राणियों का बल घटता जाता है ॥६॥

घट्त्वय—शुचि और शुक्र मास के नाम में थोड़ा मतभेद है। यहाँ जिस अनुक्रम से महीने के नाम लिये हैं, उससे शुचि का अर्थ ज्येष्ठ महीना और शुक्र का अर्थ आषाढ़ महीना जाना चाहिये। परन्तु कुछ लोग, चरकसंहिता में दृढबल और हाराणचन्द्र चक्रवर्ती शुचि का अर्थ आषाढ़ और शुक्र का अर्थ ज्येष्ठ करते हैं—'प्राचुर शुचिनो देवो'। (सिद्धि स्थान अ० ६)। दक्षिणायन विमर्ग भी कहलाता है। क्योंकि यह अयन पृथिवी की जलाय और प्राणियों का बल दता है—'विमर्गश्च यत्र तिस्रज्ययम्' ॥ (अष्टागहदय सू अ ३)। 'विमर्गश्चि जलयत्वायमश प्राणिनां च बलमिति विमर्गः'। (चक्रवाणि-दत्त)। दक्षिणायन य भगवान् सूर्य हीनयति होता है। उस का आग्नेय प्रभाव भी दिन छाट होने के कारण घाट समन के लिये होता है। अत्र बलवान् होता है और रात्रि लघ्वी हान के कारण चन्द्र का शीतल प्रभाव अधिक काल तक होता है। मेघ घृष्टि करके पृथिवी का ताप हरण करते हैं और वायु भी क्षिप्र और शीत होता है। इन कारणों से दक्षिणायन में सीमन्ता होती है। अम्ल, लवण और मधुर रस बलवान् होते हैं और प्राणियों का बल भी बढ़ता जाता है—'विमर्गे पुनवायवा नाशिकशा प्रवन्ति, वषासादेमनेष्वस्तु तु दक्षिणामित्युवेजे कालमार्गमेववाण वर्षाभिराप्रवन्ते, शनिनि व्याप्याहावके मोरेऽमल्लिच्छान्तस्ताप जलवस्त्रा रसा' प्रवर्षेनेऽम्ललवणमधुरा यथाक्रमेण तत्र ऋतुपदीयते नृणांमिति'। (चरक सू अ ६)। उत्तरायण आदान कृष्टता

है। क्योंकि उसमें पृथिवी का पलाश और मनुष्यों का शीतल प्रभाव नगण्य सा होता है, हवा बड़ी शुष्क और तेज चक्री है जिन के कारण पृथिवी का सीमन्ताम तथा प्राणियों का बल घटता जाता है और तिक्त, कषाय और कटु रस अधिक बलवान् हो जाते हैं। 'तत्र रविर्भीमिरादाना काले हेमन्तवर्षेण प्रसङ्गाश्चोपशायन्त शिशिरवसन्तग्रीष्मेष्वस्तु यथाक्रमेण रीक्ष्यन्त दयन्तो रूक्षाश्च रसान् तिक्तकषायकटुकाश्चाभिवर्धयन्तो मृणां हीनन् मावहन्ति'। (चरक)। इन ऋतुओं में हेमन्त और शिशिर ऋतु में उसमें बल बढ़ता है, शरद् और वसन्त में मध्यम बल होता है और वर्षा तथा ग्रीष्म में अल्प बल होता है। यह बल की अयनयोग्यता वैमर्गिक है। प्राणियों का बल आहार के विभेद है—प्राणिनां पुनर्मृगणहरो बलवर्गोऽसा'। आहार के संबन्ध में शरीर में चार काये होते हैं, दाँतों की पूर्ति, धातुओं की वृद्धि उष्णता और शक्ति। मनुष्य उष्णरक्त (Warm blooded or Homoiothermic प्राणी है, जिसकी शरीर की उष्णता एक विधि अथ (९८° ४ फे) पर संदेव हुआ करती है। जाड़े के मौसिम में शरीर की उष्णता तथा घाट उष्णता में अहर्दंत

तथा बढ़ता जाता है। गरमी के मौसिम में घाट उष्णता शारीरिक उष्णता के बराबर या उससे भी अधिक होती है, जिससे उष्णतापादक पदार्थों का सेवा मनुष्य नहीं करता है तथा व्यायामादि का भी सेवन छोड़ देता है जिससे उसका शरीर सुस्त तथा निर्बल हो जाता है। वसन्त और शरद् ऋतु में घाट उष्णता मध्यम होने के कारण बल भी मध्यम होता है। इस वैमर्गिक बल के उत्कर्षार्थकप द सत्रय में चरक में लिखा है—'आदाने च हीनत्व विमर्गारात्मेर्णाम्। मध्ये नश्यत् तन्ने श्रेष्ठमय च निर्दिष्टम्' ॥ (सू अ ६)। चन्द्रादित्ययो काल-विभागेऽर्कवर्षा—चन्द्र और सूर्य अपने क्रेन्दन और शीघ्र प्रभाव द्वारा क्षवत्परात्मक काल के मीम्य (दक्षिणायन) और अतीव (उत्तरायण) दो प्रविभाग बनाते हैं। इसलिये प्रभाव की दृष्टि से दोनों का निर्देश किया गया है। गति की दृष्टि से अयनप्रति में केवल सूर्य कारण है। ज्योतिष्याहरणस्य स्थिरता है और पृथिवी गतिपुत्र होती है, जो अपनी एक प्रकार की गति से रात्रि और दिवत और दूसरी प्रकार की गति से अयन और वर्ष उत्पन्न करती है। परन्तु व्यवहार में उलटा दिव्याई देने के कारण पृथिवी की गति सूर्य के ऊपर आती-पिता हुई है।

भवति चात्र—

शीतान्नु त्वेदयत्युषी विवस्थान् शोषयत्यपि।
तातुभाषपि रात्रित्य वायु पालयति प्रजा ॥७॥

चन्द्रमा पृथिवी को आर्द्र करता है और सूर्य शुष्क करता है दोनोंका आश्रय लेकर वायु प्रजा का पालन करता है ॥७॥

वक्तव्य—प्रजा का पालन आहार से होता है और प्रजा की पालनशक्ति द्रव्यों के भीतरी रसों पर निर्भर होती इन रसों की उत्तम अभिवृत्ति केवल चन्द्र के क्लृप्ति से सूर्य के शोषण से नहीं हो सकती। उसके लिये वायु की आवश्यकता होती है। इसलिये चक्र में लिखा है—
तावत्तथायु सोमश्च कालश्च भावमागो परिगृहीताः कालानुरन्वतोपदेह्यल-
पिप्रलयभूताः तसुपदिश्यन्ते' । (सू. अ. ६) । वायु योगवादी के कारण चन्द्र तथा सूर्य दोनों को अपने क्लृप्ति और शोष के कार्य में मदद करता है—'योगवाद्: पर वायुः तद्योगा-
त्यर्थिभूत् । दाहकृतेभ्यो युक्तः शीतश्च सोमश्चभावात् ॥ (च. चि. ३) । इसके सिवाय वायु के भी स्वतन्त्र कार्य होते हैं, जो आपालन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व के हैं—'नृदिश मेघानाम्, गं विरगं, उद्वेदनं चोद्भिदानां, पुष्पफलानां चाग्निनिर्वर्तनम्, जामिसंस्कारः, शय्याभिवर्धनम्, अविद्धोपशोषणे' इत्यादि । (च. सू. अ. १२) । इससे यह स्पष्ट है कि वायु प्रजापालन सूर्य और चन्द्र की भाँति बड़ा भाग लेता है ।

अथ खल्वयने द्वे युगपत् संवत्सरो भवन्ति ।
रे तु पञ्च युगमिति संज्ञां लभन्तेः स एष निमेषा-
दियुगपर्यन्तः कालश्चक्रवत् परिवर्तमानः कालचक्र-
मुच्यते इत्येकै ॥८॥

और ये दोनों अयन (दक्षिणायन और उत्तरायण) मिल कर एक वर्ष होता है । पाँच वर्ष की युगसंज्ञा होती है । निमेष से लेकर युग तक चक्र की भाँति परिवर्तन करने वाले इस काल को कोई लोग कालचक्र कहते हैं ॥८॥

वक्तव्य—युग—यहाँ युग का जो काल बतलाया गया है, वह पारिभाषिक समझना चाहिये—'कालचक्रन्तु वर्षाणां पञ्चानां संभवन्ते । युगसंज्ञा च त्रैवैश्वर्य संपरिकीर्तिता' ॥ कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी पाँच वर्ष का ही युग माना है—'पञ्चसवत्सरो युगमिति' । (अ. ४१) ।

इह तु वर्षाशरद्धेमन्तवसन्तश्रीष्मप्रावृषः पञ्च-
तवो भवन्ति, दोषोपचयप्रकोपोपशमनिमित्तं; ते-
तु भाद्रपदाद्येन द्विमासिकेन व्याख्याताः तद्यथा—
भाद्रपदाध्वयुजौ वर्षाः, कार्तिकमार्गशीर्षौ शरत्, पौषमाघौ हेमन्तः, फाल्गुनचैत्रौ वसन्तः, वैशाख-
ज्येष्ठौ श्रीष्मः, आपाहश्रावणौ प्रावृडिति ॥९॥

यहाँ तो (वर्षविभाग में) वात पित्त कफ इन दोषों के संचय प्रकोप और प्रथम निमित्त वर्षा, शरत्, हेमन्त, वसन्त, श्रीष्म और प्रावृड इस भाँति छः ऋतु होते हैं । वे भाद्रपद से प्रारम्भ कर दो दो मास लेने से बन जाते हैं । जैसे—भाद्रपद आश्विन, वर्षा; कार्तिक मार्गशीर्ष, शरत्; पौष माघ, हेमन्त; फाल्गुन चैत्र, वसन्त; वैशाख ज्येष्ठ, श्रीष्म; आपाह श्रावण, प्रावृड ॥९॥

वक्तव्य—इस सूत्र में संवत्सर के छः ऋतुओं की भिन्न रचना बतलाई है । सूत्र २, ६ में प्राणियों का बल तथा ;

की दृष्टि से ऋतुओं का मन्त्र दिया था; यहाँ वातादि दोषों का संचय प्रकोप प्रघटन की दृष्टि से दिया है । भौगोलिक दृष्टि से भी यह भिन्नक्रम हो सकता है । भारतवर्ष में शीतप्रधान और वर्षाप्रधान दो भूविभाग होते हैं । वर्षाप्रधान भाग में प्रावृट् विशिष्ट ऋतुकम और शीतप्रधान भाग में शरद् विशिष्ट ऋतु-
कम होता है । यथा—'भूमौ वर्षनि पर्जन्या गताया दक्षिणे जलम् । तेन प्रावृट् वर्षास्यो ऋतुः तेषां प्रकल्पितो ॥ गताया उत्तरे दूरे हिमवद्वसुक्तमे । भूयः शीतमत्सरेषां हेमन्तशिथिलतृप्तु' ॥ (काश्यप) । परंतु इम भौगोलिक दृष्टि से इन अध्याय में प्रावृटादि क्रम का उद्देश्य नहीं दिया है । इमका उद्देश्य संगोधन विषयक है । चक्रपाणि-
दत्त चक्र की टीका (चिमानस्थान अ. ८) में स्पष्ट लिखते हैं—'एतन्न न, अत्र 'संगोधनमधिक्य' इति वचनात् । यदि देवकृतोऽयं ग्रन्थः स्यात्, तदा तमेव भेदकं गृह्यात्, न संशोषणम् । तेन काश्यपौक्त-
शेःसंवेन प्रावृटादिक्रमो न तावदिहाभिमतः' ॥ अधिक विवरण के लिये सूत्र १२ की टीका देखो । कर्मा कर्मा क्षयमास तथा अधिक मास संवत्सर में आ जाता है । उस समय उपरोक्त महीनों के अनुसार ठीक विभाग नहीं हो सकता । इसलिये गर्ग्यवर्ष में सूर्यसंक्रान्ति के अनुसार ऋतुकम बतलाया है—
'श्रीष्मो मेषशुभो प्रोक्तः, प्रावृण मिथुनकर्कटौ । सिंहपत्न्ये श्रुता वर्षा, तुलाशुभिकयोः शरत् । धनुर्गौ च हेमन्तो, वसन्तः कुम्भमीनयोः' ॥ (प्रथम खण्ड) । प्रावृट् और वर्षा का भेद—'प्रावृडिति प्रथमः प्रवृट् कालः । तस्यानुवंषो वर्षाः' । (चक्र. वि. अ. ८) ।

तत्र, वर्षास्त्रोपधयस्तरुण्योऽल्पवीर्या आपश्चां-
प्रसन्नाः क्षितिमलप्रायाः, ता उपयुज्यमाना नभसि मेघावतते जलप्रक्षिन्नायां भूमौ क्लिन्नदेहानां प्राणिनां शीतवातविष्टम्भिताश्रीनां विदहन्ते, विदाहात् पित्त-
संचयमापादयन्ति; स संचयः शरदि प्रविरलमेघे वियत्युपशुष्यति पङ्केऽर्ककिरणप्रविलायितः पैत्तिकान् व्याधीन् जनयति ॥१०॥

उन ऋतुओं में से वर्षा में ओषधियाँ नवीन और अल्प-
शक्ति होती हैं, जल दूषित तथा भूमिस्थ सहे गले पदार्थों से युक्त होता है । ये ही ओषधियाँ, जब कि आकाश मेघाच्छादित और पृथिवी गीली हो, उपयोग में लाने से क्लिन्न देहवाले तथा शीत (प्रकुपित) वात के कारण मन्दाग्नि वाले मनुष्यों में विदाह उत्पन्न करती हैं और विदाह के कारण पित्त संचित करती हैं । फिर वही पित्त का मुख्य शरद् ऋतु में जब आकाश निरभ्र हो जात है, कीचड़ सूख जाती है, तब सूर्य किरणों से पिबला हुआ पित्त के रोग उत्पन्न करता है ॥१०॥

वक्तव्य—सूत्र नौ में दोषों की दृष्टि से जो भिन्न क्रम बतलाया है उसके अनुसार मनुष्यों के शरीर में वातादि दोषों का संचय, प्रकोप और प्रगमन निरगत कैसे हुआ करता है, उसका वर्णन सूत्र १०, ११, १२ में किया है । ओषधि—वर्षाऋतु प्रारंभ होने के बाद इकट्टा की हुई वनस्पत्यादि औद्भिद् द्रव्य । वर्षा ऋतु के पहले इकट्टा की हुई यत्र गोपूमादि ओषधियाँ इससे अभिप्रेत नहीं हैं, यद्यपि द्रव्य अपनी टीका में इसका भी समावेश करता है—'तनु वर्षासु गोपूमादयः पुरातना एव भवन्ति,

कथमग्निवा इत्युच्यते ? नैव दोषः, गोधूमवक्त्राकारास्वाद्योऽन्त यद्युमजल-
प्रवेशान्मन्दिमानमुपगता अनवा अग्नि तरुण्य इत्युच्यन्ते। परन्तु प्राचूद्
तथा वर्षा ऋतु के आचरण में इनका संघन करने के लिये
लिखा है—'वषपथिकगोधूमान् शार्दीक्षात्यनवात्सवा । हर्म्यन्धये निवले
च भवेत् ।' (सु उ. अ. ६४) । 'अग्निसरक्षणवता यवगोधूमशास्त्रम् ।
पुराणा जङ्गलैर्माँर्भोज्या' । (चरक सू. अ ६) । इसलिये
पिछले साल के यवगोधूमसदिक का समावेश तरुण ओषधियों
में करना वाञ्छितरुद्ध होता है—'शीतवातविदग्धिताग्नीनां शीतेन
कुपिने वात शीतवात (शारीरिकदोष), तेन मन्दीकृताग्नीनाम् ।
सर्दी के कारण शरीरस्य वात के प्रकोप से अग्निमान्ध उल्बह
हुए लोगों में ठंडी हवा से भीतर का अग्नि मंद होने के
स्थान में अधिक लीप्त होता है—'शीते शीतानिलसर्गमस्यो बलिनां
वडी । पक्ता भवति हेमने मात्तद्वयगुरुक्षम' ॥ (चरक) । इसलिये
यहां वात का अर्थ शरीरस्य दोष करना चाहिये ।

ता एवौषधयः कालपरिणामात् परिणतवीर्या
यलवत्यो हेमन्ते मयन्त्यापद्य प्रसप्ताः क्षिग्या अत्यर्थं
सुर्यव्य, ता उपयुज्यमाना मन्दकिरणत्वाद्धानोः
सतुपारपवनोपस्तम्भितदेहानां देहिनामचिदग्ध्याः
श्लेहान्छैत्यद्गौरवाद्युपलेपाद्य श्लेष्मसंचयमापाद-
यन्ति, स संचयो यस्मिन् ऽर्कप्रिमप्रयिलायित इपत्स्त-
द्यदेहानां देहिनां श्रैष्मिकान् व्याधीन् जनयति ॥११॥

वे ही ओषधियां हेमन्त ऋतु में समय के परिणाम से परि-
पक्वीर्य, बलवान्, अत्यर्थ क्षिग्य और भारी हो जाती हैं तथा
जल भी स्वच्छ, क्षिग्य और भारी हो जाता है । वे ही ओषधियां
उपयोग करने पर सूर्य के शक्तिहीन किरणों के कारण और
स्वयं मधुर क्षिग्य शीतल, गुरु और चिकनी होने के कारण हिम-
युक्त ठंडी हवा से स्तम्भित देह वाले प्राणियों में कफ का संचय
करती हैं । फिर वही कफ का संचय यस्मिन् ऋतु में सूर्य की
किरणों से पिघला हुआ किञ्चि स्तब्ध देह वाले प्राणियों में
कफ की व्याधियां उल्बह करता है ॥११॥

यत्कठय—भाष्य मन्त्रा—अथ की प्रसप्तता चन्द्र सूर्य
की किरणों से, काल परिणाम से और अगस्त के प्रभाव से
उल्बह होती है । 'रिशा सर्वाशुभता निरि चंद्राशुलीयम् ।
कठेन वरं निर्वोषमस्तेनाविधीयते' ॥ (चरक) । यहाँ ओषधियों
तथा जल का क्षिग्य और गुरुत्व मधुरता उल्बह होने के
कारण समझना चाहिये । मधुर रस अन्य रसों से अधिक
क्षिग्य तथा गुरु है—'क्षिग्नां मधुर पर । स्वादुर्गुस्वाद्यधिक' ॥
(चरक) । बहिरत्था—मधुरलक्षणाः ॥

ता एवौषधयो निद्राद्ये नि.सारा रुदा अति-
मात्रं लब्धयो मयन्त्यापद्य, ता उपयुज्यमानाः सूर्यप्र-
तापोपगोपितदेहानां देहिनां रौध्वाह्युत्पत्यैरशापाद्य
वायोः संचयमापादयन्ति, स संचयः प्राच्युपि धारयद्यं
जलोपक्षिध्यायां भूमौ ह्यिन्द्रदेहानां प्राणितं शीतवात-
घर्वरितो वातिकान् व्याधीन् जनयति । एषमेव
दोषाणां संचयप्रकोपहेतुदण्डः ॥१२॥

वे ही ओषधियां ग्रीष्म ऋतु में निर्बल, सूक्ष्म और हलु
हो जाती हैं तथा जल भी । वे उपयोग करने से सूर्य के प्र-
ताप से गोपित देहवाले मनुष्यों में (अपनी) सूक्ष्मा, हलु
और निर्बलता के कारण वायु का संचय करती हैं । फिर ।
वायु का संचय प्राचूद् ऋतु में पृथिवी गीली हो जाने पर ।
देह वाले प्राणियों में शीत वायु और वर्षा से उत्तेजित हो
वात के रोग उल्बह करता है । इस प्रकार यह वातादि दोषों
संचय और प्रकोप का हेतु वर्णन किया गया है ॥१२॥

यत्कठय—नि.सारा—अत्यर्थ इत्यलिये निर्बल र
जलाशरहित । सूक्ष्मा—छेदभागरहित । वैशापाद्य—पिच्छि
रहित होने के कारण ।

तत्र वर्षाहेमन्तग्रीष्मेषु संचितानां दोषा
शरद्धसन्तप्राचूद्सु च प्रकुपितानां निर्हरणं क
व्यम् ॥१३॥

जो दोष वर्षा, हेमन्त और ग्रीष्म में संचित होकर धर-
वसन्त और प्राचूद् ऋतु में प्रकुपित हुए हैं, उनका सत्वो
करना चाहिये ॥१३॥

यत्कठय—प्रकुपितानां—प्रकोप कृपितानाम् । ऋतु स्व-
के कारण सचित दोषों का संशोधन उनका पूर्ण प्रकोप होने
समय करना योग्य होता है । उस समय के पूर्व संशोधन क
से वे दोष फिर कालव्यमाय के कारण संचित हो जाते ।
मिथ्याहार विद्वारादि अन्य कारणों से सचित दोषों का संशो-
धयवस्थ्या में ही करना स्वास्थ्यकर होता है । क्योंकि प्रकोप
अन्य अवस्थाओं में वे बलवत्तर हो जाते हैं और शरीर
बाहर निकालने में कठिनाई भी बहुत हो जाती है—

'चय एव अवेधेनम्' ॥ (वाग्भट) ।

'सत्वेऽप्युद्धा दोषा लभन्ते नोद्यत गनी । ते तुषरास्य ग्नि
भवन्ति बलवत्तरा' । (सुश्रुत) ।

पूर्ण प्रकोप के समय दोष पक हो जाने के कारण उन
निर्हरण सीकरी से और नि.शेषतया हो जाता है । फिर संघ-
होने की भीति नहीं रहती है और वह काल ऐसा होता है ।
संशोधन की आपत्तियां भी होने की संभावना बहुत क
होती है । इसलिये चरक में लिखा है—

तत्र साधारणेषु क्वमनादीनां मृत्तिर्विधीयते, निरुधिरितो
साधारणेषु हि मन्दीरितोऽवर्षत्वात् सलामाद्य भवन्त्यविक्रम-
शारीरशानाम्, शोरे पुनःशरीरितोऽवर्षत्वात् रुक्तामाद्य भवि-
विक्रमकाद्य शरीरशानाम् । (वि अ ८) ।

उपयुक्त विवेचन से वात का निर्हरण धारण मान में, पि-
का मार्गशीर्षे मास में और कफ का वैश्र मास में ही
चाहिये—'माषमप्रभने माग्नि नमस्यप्रभने पुन । सत्यप्रभने के
हात्वेर् दोषध्वयम्' ॥ (य सू अ ७) ।

वाग्भट ने भी मार्गशीर्षे के स्थान में पित्त मर्गशेष
सिये कार्तिक का निर्हरण किया है—'ध्रमने कर्तिके वैशे मर्-
साधारणे इत्यम् । शीतपरशरिमनिशान् वायवार्हेनानु निर्हर' ॥

ऊपर जो दो ऋतु विभागा वर्णन किये हैं । उनका गु-
ज्ञान करने के लिये नीचे बखया दिया है—

द्विविध ऋतुविभाग

रसप्रसमधिकृत्य		संशोधनमधिकृत्य			
गयन र र्ग	(अल्पबल) वर्षाऋतु (अम्लरस)	नभ-आवण	प्रावृट् संशोधन	वात	
		नभस्य-भाद्रपद			
	(मध्यमबल)	हृष-आश्विन	वर्षा संचय	पित्त	
	शरदऋतु (लवणरस) (श्रेष्ठबल)	ऊर्ज-कार्तिक सह-मार्गशीर्ष	शरद्		
	हेमन्तऋतु (सुधुररस) (श्रेष्ठबल)	सहस्य-पौष	हेमन्त संचय		
	शिशिरऋतु (तिक्तरस)	तप-माघ	प्रकोप		
	राश या दान	(मध्यबल)	तपस्य-फाल्गुन	वसन्त	कफ
		वसन्तऋतु (कपायरस)	मधु-चैत्र	संशोधन	
		(अल्पबल)	माघ-वैशाख	ग्रीष्म संचय	वात
		ग्रीष्मऋतु (कटुकरस)	शुचि-ज्येष्ठ शुक्र-आषाढ़	प्रावृट् प्रकोप	

ऊपर संशोधन के लिये जो विशेष काल बतलाया गया है, वह नात्यधिक व्याधियों के संबंध में समझना चाहिये। आत्यधिक व्याधियों में तुरन्त संशोधन कृत्रिम उपायों का अवलंबन करने का चाहिये—'आत्यधिकं पुनः कर्मणि काममृतुं विकल्प्य त्रिमणुगोपधानेन यधतुंगुणविपरीतेन भेषजं संयोगप्रमाणविकल्पेनोप-थ प्रमाणदीर्घसमं कृत्वा ततः प्रयोजयेत्' ॥ (चरक) ।

तत्र पौत्तिकानां व्याधीनामुपशमो हेमन्ते, श्लैष्मिकाणां निदाधे, वातिकानां शरदि, स्वभावत एव; त एते संचयप्रकोपोपशमा व्याख्याताः ॥१४॥

पित्त व्याधियों की शान्ति हेमन्त ऋतु में, श्लेष्म व्याधियों की ग्रीष्म ऋतु में और वात व्याधियों की शरद् ऋतु में काल के स्वाभाविक प्रभाव से आप से आप होती है ॥१४॥

वक्तव्य—ऊपर सूत्र नौ, दश और ग्यारह में दोषों के संचय प्रकोप के संबंध में जो विवरण किया है, वह प्रावृट् विधिष्ट (वर्षाप्रधान) ऋतुविभाग के अनुसार है। परन्तु यहाँ उपशम के लिये जो काल दिये हैं, वे शिशिरविधिष्ट (शीतप्रधान) ऋतुविभाग के साथ मिलते हैं—'चयप्रकोपप्रशमा वायोग्रीष्मादिषु त्रिषु । वर्षादिषु तु पित्तस्य श्लेष्मणः शिशिरादिषु' ॥ (अ. हृदय. सू. अ. १२) । चरक के सूत्रस्थान अध्याय १७ में भी ये ही काल दिये हैं । प्रावृट् ऋतुविभाग के अनुसार प्रथमकाल शार्ङ्गधर ने

१ एतदधे—'चयप्रकोपोपशमा दोषाणां हि द्वयोरपि । सन्धौ साधारणा वस्तु भविष्यद्दत्तमानयोः । ऋतुसन्धौ तु दोषाणां चयाद्याः (बहुधा) परिकल्पना (ल्यिताः) । एवंप्रकारा व्याख्याता विधिं वक्ष्याम्यतः परम् । हासयेदल्पशोऽन्यस्त वर्तमानतुं कं विधिम् । भविष्यद्भुक्तं चापि यतेताश्चास्तकारणात् । यावन्त हासयेत्पूर्वं तावन्तं स भजेत्परम् । सू. रोगास्त्यागसेवान्यां सहसाऽसात्यसंबन्धाः । बहिर्प्रशाश-वैषम्ये स्यातां चासात्यसेवनात् । तस्माद्योक्तमभ्यत्येद्रुतुसन्धौ विधिं नः ॥' इति कचिदधिकः पाठः ।

ऐसे लिखे हैं—'प्रायेण प्रशमं याति स्वयमेव समीरणः । शरत्काले, वसन्ते च पित्तं, प्रावृट्काले कफः' ॥ (प्रथम खण्ड. अ. २) ।

ऊपर द्विविध ऋतुविभाग का जो नक्षत्रा दिया है उसके प्रावृट् ऋतुविभाग पर ध्यान देकर यदि यहाँ (सूत्र १३ में) निर्दिष्ट किये हुए उपशम काल का निचार किया जाय तो यह मालूम होगा कि वातव्याधियों का प्रथमन वर्षाऋतु में होना चाहिये था। परन्तु यहाँ उपशम शरदऋतु में दिया है। उसका कारण यह है कि प्रावृट् और वर्षाऋतु गुणों में करीब समान होने के कारण वात का प्रकोप वर्षा में भी वैसा ही रहता है और शरदऋतु में प्रथम हो जाता है। 'अत्र वर्षाप्रावृषोत्प्लव्य-रुक्षशीतगुणतया सम्यक् वातकोपस्तिष्ठति, प्रत्युक्तं घनात्यये' । (धाराण-चंद्रः) । इससे यह स्पष्ट है कि भिन्न भिन्न ग्रंथों में वातादि दोषों के संचय प्रकोप और प्रथमन के काल में भिन्नता दिखाई देती है। यदि केवल दोषों के संचय प्रकोप प्रथमन के कारण प्रावृट्दि ऋतुक्रम होता तो इस प्रकार भतभिन्नता उत्पन्न होने का कोई कारण नहीं था। तथा एक ही भूमि विभाग में दो प्रकार के ऋतुप्रविभाग होना नैसर्गिक दृष्टि से भी असंभव है। इसलिये इन भिन्न ऋतुक्रमों का कारण देशभिन्नता मानना अधिक संयुक्तिक है यद्यपि चक्रपाणिदत्त इसका हनकार करते हैं। प्रत्येक ग्रन्थकार अपने प्रदेश के ऋतुविभाग के अनुसार वर्णन करता है। अतः यह भिन्नता दिखाई देती है—'इदञ्चात्रावधेयम् । द्विविधः खल्विह दृश्यते प्राचाऋतुविभागो वर्षप्रधानः शीतप्रधानश्चेति । तत्र पट्टवो वर्षा-शरद्-हेमन्त-वसन्त-ग्रीष्म-प्रावृषः इति वर्षप्रधानो विभागः । वर्षा-शरद्-हेमन्त-शिशिर-वसन्त-ग्रीष्मा इति शीतप्रधानः । तयोराद्यस्य प्राधान्यं सुशुद्धोऽभिहितं द्वितीयस्य चरके' । (सिद्धान्तनिदाने गणनाथसेनः) । काश्यप भी ऋतुविभागभेद का कारण देश भिन्नता ही मानता है ।

तत्र, पूर्वोक्ते वसन्तस्य लिङ्गं, मध्याह्ने ग्रीष्मस्य, अपराह्णे प्रावृषः, प्रदोषे वार्षिकं, शारदमर्धरात्रे, प्रत्युषसि हेमन्तमुपलक्षयेत्; एवमहोरात्रमपि वर्षमिव शीतोष्णवर्षलक्षणं दोषोपचयप्रकोपोपशमै-र्जानीयात् ॥१५॥

दिन के प्रथम भाग में वसन्त ऋतु का चिह्न होता है, मध्याह्न में ग्रीष्म का, तीसरे पहर प्रावृट् का, सायंकाल वर्षा का, अर्धरात्र शरद् का और पिछली रात हेमन्त का चिह्न होता है। इस प्रकार अहोरात्र भी वर्ष के समान शीत, उष्ण और वर्षा लक्षणों से दोषों के संचय, प्रकोप और शान्ति का हेतु जानना चाहिए ॥१५॥

वक्तव्य—दिन और वर्ष का तुलनात्मक नक्षत्रा—

दिन	वर्ष	संचय प्रकोप प्रशमन
पूर्वाह्णे	वसन्त	कफप्रकोप
मध्याह्ने	ग्रीष्म	कफप्रथमन
अपराह्णे	प्रावृट्	वातसंचय
प्रदोषे	वर्षा	वातकोप
अर्धरात्रे	शरद्	पित्तसंचय
प्रत्युषसि	हेमन्त	पित्तकोप
		पित्तप्रथमन
		कफसंचय

वातादिद्वयों का दैनिक संवय और प्रकीर्ण अत्यकालिक और अल्पकारणिक होने के सबब में दिनचर्या पालन करने से शान्त हो जाता है । परंतु कतुजन्म सचय और प्रकीर्ण चक्षु-सूर्य के परिध्रमण से, ओषधियों के रस वीर्य प्रभाव में तथा अधिक काल तक रहने से सगंधन के सिवाय पूर्णतया शान्त नहीं होता है ।

तत्र, अध्यापत्नेष्चतुष्पञ्चव्यापन्ना ओषधयो भवन्त्यापश्च; ता उपयुज्यमानाः प्राणायुर्वलवीर्यौजस्करोयौ भवन्ति ॥१६॥

इनमें से यथाकाल शीतोष्णवर्षायुक्त ऋतुओं में ओषधियाँ तथा जल भी ठीक रहते हैं और उपयोग करने से वे प्राण, आयु बल, वीर्य और आंज को बढ़ाती हैं ॥१६॥

यक्तव्य—अध्यापत्र—प्रसन्न या स्वाभाविक । ओषधि—वनस्पत्यादि चतुर्विध आहार द्रव्य ।

तेषां पुन-र्यापदोऽष्टककारिताः, शीतोष्ण्यातवर्षाणि यत्तु विपरीतान्योषधीर्व्यापादन्यपश्च ॥१७॥

उन ऋतुओं की व्यापत्तियाँ सर्वत्र सामान्य अधर्म से उत्पन्न होती हैं । उष्ण, शीत, वात और वर्षाओं का वैपरीत्य ओषधियों तथा जल को बिगाड़ देता है ॥१७॥

यक्तव्य—व्यापद—स्वाभाविक ऋतुगुणों के अतियोग, विपरीत योग और विषमयोग को ऋतु की व्यापत्ति कहते हैं । यथा—ग्रीष्म ऋतु में प्रचण्ड सूर्य का ताप, ग्रीष्म ऋतु में वर्षा का होना तथा शीत ऋतु में कभी प्रचण्ड ताप कभी वर्षा होना और कभी ज़ाड़ा पड़ना । इस प्रकार प्रत्येक ऋतु की व्यापत्ति समझना चाहिये । अष्टककारिता—अष्टकेन कारिता । अष्ट—सर्वत्र सामान्य अधर्म । चरक में भी ऋतुवैगुण्य का यही कारण लिखा है—'कुनोमूल्येषां वाय्वेनात् वैगुण्यमुत्पत्तेः' वाय्वा दीनां यैर्गुण्यमुत्पत्ते तस्य मुष्मत्तमं, तन्मूल वाऽपत्कर्म पूर्वकृतम् । तथा तथा-दृष्टितर्कनाममंत्रप्रधानामपक्रान्तेरुत्पत्तानामृणो व्यापत्तये (विमान अ ३) । ओषधियों की खराबी ऋतु की व्यापत्तियों से उत्पन्न होती है और ऋतु की व्यापत्तियाँ अधर्म से उत्पन्न होती हैं ।

तासामुपयोगाद्विधियदोगप्रादुर्भावो मरको या भवेदिति ॥१८॥

इन व्यापत्र ओषधियों का तथा जल का उपयोग करने से अनेक प्रकार के रोग अथवा मरक भी उत्पन्न होता है ॥१८॥

यक्तव्य—मरक—जनपदों के मरक रोग, महामारी । ये रोग जल वायु स्वाद्य पश्यादि स्पर्शद्वारा से फैलते हैं । 'तत्र उपधमन्ने जनपदा स्वतन्त्र्यवशयेदेवाय' (चरक वि अ ३) ॥ अमेरी में मरक को (Pandemic या Epidemic disease) कह सकते हैं ।

तत्र, अध्यापत्रानामोषधीनामपां चोपयोगः ॥१९॥

उन रोगों के लिये शुद्ध तथा प्रसन्न जल और ओषधियों का उपयोग करना प्रयत्न है ॥१९॥

यक्तव्य—तत्र—ऋतुव्यापत्ति के समय उत्पन्न होने वाले रोगों से बचने के लिये (Prophylaxis) तथा उत्पन्न हुए रोगों की चिकित्सा के लिये शुद्ध जल तथा ओषधियों का उपयोग

करना चाहिये । अध्यापत्र ओषधि—ऋतु की व्यापत्ति उत्पन्न है से पूरे झुंझा की हुई पुरानी ओषधि । चरक में लिखा है 'लम्बाल प्रायुर्ध्वनात् प्राक् च भूमे वैलीभवाद्बुद्धश्च नीम्ब' । अर्थात् यावत्प्रायः तस्यैवैवमावाणि । शब्दन्त देहोत्तिष्ठ भवेत् पूर्वतुरापी

कदाचिद्व्यापत्नेष्चतुष्पञ्चव्यापन्ना ओषधयो भवन्त्यापश्च; ता उपयुज्यमानाः प्राणायुर्वलवीर्यौजस्करोयौ भवन्ति ॥१६॥

कभी कभी ऋतु यथार्थ होने पर भी जुहा, अभिशा पिशाच, राक्षसादिकों के क्रोध तथा अधर्म के कारण देह देह नष्ट हो जाता करते हैं, बिना विष से दूषित या ओषधि पुष्प गंध से दूषित वायु का आक्रमण जिस दृश पर होता वहाँ के निवासी सब लोग खाँसी, श्वास, वमन, जुकाम, शिर झूल, ज्वरदि रोगों से पीड़ित हो जाते हैं, किंवा श्वेतेश्वर सूर्यो ग्रह तथा अधिन्यादि नक्षत्रों के अनिष्ट प्रभाव से भी (रो उत्पन्न होते हैं), किंवा गृह, री, शयन, आसन, वान, वाहन मणि, रत्न तथा अन्य (घरल) उपकरणों की खराबी (दुष्टि होने से तथा अनिष्टवृक्ष चिह्नों से भी रोग उत्पन्न होते हैं ॥२०॥

यक्तव्य—इस सूच में विविध रोगों की उत्पत्ति के ऋतु जन्म व्यापत्ति के अतिरिक्त चार कारण वर्णन किये हैं । विनी श्चिपुष्पगन्धेवादि—हाराणचन्द्र इसकी व्याख्या करते हैं—'विनीष्य कल्पिका वेमारस्य तामा पुष्पगन्धे' । कल्पस्थान में पाँच पुष्पविष दिये हैं—'वेत्तकादम्बवती-नगरम्बहाकरम्पाणि' । अर्थात् वेत्तकादि पाँच ओषधियों के पुष्पगंध से दूषित ऐसा 'विनीष्य पुष्पगन्धे' का अर्थ होता है । वेत्तकादि के पुष्पगंध से तिरा छट्टि आम्भान और मोह उत्पन्न होता है—'म्बेत्त पुष्पविषच्छट्टि राप्पान मोह एव च' (सुखल) । इसलिये यहाँ निर्दिष्ट किये तथा अन्य जानपदिक रोगों का कारण वेत्तकादि ओषधिगंध से दूसरा होना चाहिये । आयुर्निक वैज्ञानिक खोज से यह सिद्ध हुआ है कि अनेक जानपदिक और औपसर्गिक रोगों का कारण भिन्न भिन्न प्रकार का विष ही (Virus) होता है । अनेक रोगों का विष भी वायु द्वारा आक्रमण करता है । मसूरिका, रोमा न्तिका, प्रतिश्याय, दुष्टप्रतिश्याय (एन्ड्रेक्चुएजा), मलिक सुमुद्रा ज्वर (Cerebrospinal), रोहिणी (डिफ्थीरिया), न्यू मानिजा, काम हृत्पादि रोगों का विष वायु द्वारा ही आक्रमण करता है । इसलिये यहाँ विष ओषधि का विरोधन न करक स्वतंत्र नाम करना प्रयत्न है । इससे दूसरा भी एक प्रयत्न अर्थ निकलता है । नव्य विज्ञान से सिद्ध हुआ है कि प्रतिश्याय ज्वर (Hay fever) वायु गिर झूल हृत्पादि रोग निर्विष और धियों के पुष्पपराग (Pollen) सूँघने से उत्पन्न होते हैं और वे पराम वायु के द्वारा फैलते हैं । गुलाबवादि सुगन्धित पुष्पों के रंध से भी ये रोग हो सकते हैं । The most Common external irritant is the pollen of certain grasses (hence the name 'hay fever') and of other plants

The odours of roses and other sweet smelling plants have the same effect on certain persons. Various powders other than pollen such as ipecacuanha and lycopodium, have been found to give rise to similar symptoms ? Burn Yeo. Hay fever and asthma are often manifestations of the same type of disease which also includescertain gastro intestinal disturbances; migraine. *Taylor's Practice of medicine. 1930 edition.*

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि 'विषोपधिपुष्पगन्धेन वायुना' का अर्थ 'विष से दूषित तथा औषधि पुष्पगन्ध से दूषित वायु द्वारा' करना अधिक प्रगत है। प्राचीन काल में भी आगन्तु ज्वरादि रोग नाना प्रकार के विष से उत्पन्न होते थे इसका ज्ञान था—'विषवृक्षानिलस्पर्शां तथान्यैर्विषतन्मवैः । अग्निपत्स्य चाप्याहु-त्सरेकेऽभिपंगजन्' ॥ (चरक) । इस विष के अत्यंत सूक्ष्म होने के कारण इसके स्वरूप का ज्ञान प्राचीन काल में न ही सका । सांप्रत सूक्ष्मदर्शक यंत्र का आविष्कार होने से भिन्न भिन्न रोगों के कारणभूत विष का निश्चित ज्ञान हो गया है। अधिकांश विष जीवाणु (Micro organisms) होते हैं, जो वायु खाद्य पदार्थों आदि द्वारा मनुष्य से मनुष्यों पर फैलते हैं और विविध रोग उत्पन्न करते हैं। सर्व जनपदोद्भूत रोग, वातादिप्रकृति निरपेक्ष आक्रमण करनेवाले रोग, वायुद्वारा फैलने वाले रोग जीवाणुजन्य होते हैं। इसलिये यहाँ विष का अर्थ विकारी जीवाणु ज्ञात या अज्ञात करना उत्तम है। अज्ञात लिखने का कारण यह है कि मसूरिकादि कई विस्फोटक ज्वरों के कारण जीवाणु अभी तक निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हुए हैं। उनको केवल विष (Virus) कहते हैं। डलहन की टीका में कासश्वासादि रोगों का दूसरा पाठ दिया है, जिस में मसूरिकादि ज्वरों का प्रत्यक्ष नाम दिया है—'कासश्वासप्रतिश्रयगन्धाज्ञानश्रमशिरो-रञ्जरमघ्निकादिभिरुपतन्ने' इति । श्वास रोग का भी एक अज्ञात जीवाणु माना गया है, जो वायु द्वारा आक्रमण करता है—In the great majority of asthma cases the poisonous substance is unknown. It appears to be airborne and in some cases it may be a mould' *Taylor's Practice of medicine 1930 edition.* दोषप्रकृत्यविशेषण—वातल, पित्तल, श्लेष्मल इत्यादि सात प्रकार की प्रकृति होती है और निज रोग बहुधा प्रकृति के अनुसार अधिक हुआ करते हैं—'तेषामिदं विशेषविज्ञानं, वातलस्य वातनिमित्ताः, पित्तलस्य पित्तनिमित्ताः, श्लेष्मलस्य श्लेष्मनिमित्ता व्याधयः प्रायेण बलवन्तश्च भवन्ति' । (चरक. वि. अ. ६) । परन्तु आगन्तुक रोगों के संबंध में यह नियम नहीं है और जानपदिक रोग आगन्तुक रोगों में आते हैं और वे जिस देश पर आक्रमण करते हैं वहाँ के निवासी लोग प्रकृति निरपेक्ष व्याधित हो जाते हैं यह प्राचीन काल से ज्ञात है। इसलिये चरक में अभिवेध भगवान् आत्रेय जी को पूछते हैं—'अपितु खलु जनपदोद्भूतसर्व-मेकेन व्याधिना युगपदसमानप्रकृत्याहारदेहबलसात्म्यवयसां मनुष्याणां कस्माद्भवति' । (विमान अ. ३) ।

तत्र, स्थानपरित्यागशान्तिकर्मप्रायश्चित्तमङ्गल-जपहोमोपहारेज्याञ्जलिनमस्कारतपोनियमदयादान-दीक्षाभ्युपगमदेवताब्राह्मणगुरुपरैर्भवेदित्यम्; एवं साधु भवति ॥२१॥

उन रोगों के परिहार के लिये स्थानत्याग, शान्तिकर्म, प्रायश्चित्त, मंगल, जप, हवन, यजिदान, पूजा, यज्ञाञ्जलिनमस्कार, तप, नियम, दया, दान, दीक्षाग्रहण, देवता और ब्राह्मणों की सेवा इत्यादि कामों में तत्पर होना चाहिये; इन्हीं से आरोग्यता होती है ॥२१॥

वक्तव्य—स्थानपरित्याग—दूषित स्थान छोड़ कर दूसरे स्वास्थ्यकर स्थान का सेवन करना—'हितं जनपदानां च शिवानामुपसेवनम्' । (चरक) । शान्तिकर्म—वेदोक्त मन्त्रद्वारा अग्निप्रहादिक की शान्ति करना । शान्तिकर्म का दूसरा भी एक अर्थ हो सकता है । जनपदोद्भूत रोग व्यापन्न ऋतुओं के कारण होते हैं। इसलिये ऋतुव्यापत्ति के अनुसार आचरण करके उसकी शान्ति करना । यथा वर्षा ऋतु में यदि शीत अधिक हो तो शिशिर ऋतुचर्या के अनुसार आचरण करके व्यापत्ति की शान्ति करना । इसी दृष्टि से अष्टांगसंग्रह में लिखा है—'हिमन्तादिपु कुर्वीत स्वं स्वं चाकालिकेष्वपि । विधिं तच्छीलनं यस्माच्छीतादि-दन्द्रकारितम् । ऋतुचर्यादिशीतोष्णवृष्टिदोषप्रतिक्रिया ॥' (सू० अ० ९) । 'यस्मिन्नेव मासे शीतादयस्तस्मिन्नेव सा चर्या सेव्या । शीतादिदोषप्रति-कारा ऋतुचर्यांक्ता नतु मासमात्रमाश्रित्य' । (इन्द्रुः) । इस व्यापत्ति के कारण जो दोष प्रकृति होते हैं, उनकी भी शान्ति वमनादि पंचकर्म के द्वारा करना—'कर्म पंचविधं तेषां भेषजं परमुच्यते' (चरक) । संक्षेप में शान्तिकर्म से ऋतुव्यापत्ति के अनुसार भिन्न ऋतुचर्या तथा वमनादि पंचविध कर्म की आवश्यकता के अनुसार सेवन समझना भी प्रशस्त है । प्रायश्चित्त—'प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते । तपोनिश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तमिति सूत्रम्' ॥ किंवा पूर्वकर्म शान्ति के लिये चांद्रायणादिक का करना । मंगल—प्रशस्त औषधि तथा मणियों का धारण करना । जप—ओंकारपूर्वक ऋग्यजुःसामवेद का आवर्तन करना किंवा विष्णुसहस्रनाम का जप करना—'विष्णुं सहस्रमूर्धानं चराचरपतिं विभुम् । स्तुवन्नामसहस्रेण ज्वरान् सर्वानपोहति' ॥ (चरक) । नियम—शास्त्रनियमों का पालन करना—'सद्वृत्तस्यानुवृत्तिश्च' ॥ (चरक) । उपहार—बलिदान । दीक्षा—मन्त्रग्रहण । पर शब्द स्थानत्यागादि प्रत्येक शब्द के साथ जोड़ना चाहिये ।

उपर्युक्त उपायों के अतिरिक्त चरक में निम्न उपाय अधिक बतलाये हैं—कर्म पंचविधं (वमनादिपंचकर्म) तेषां भेषजं परमुच्यते । सेवनं ब्राह्मचर्यस्य तथैव ब्राह्मचारिणाम् ॥ सद्यथा धर्मशास्त्राणां महर्षीणां जितात्मनाम् । धार्मिकैः सार्विकैर्नित्यं सहास्या वृद्धसमैतैः ॥

अत ऊर्ध्वमव्यापज्ञानामृतानां लक्षणांशुपदे-
क्ष्यामः ॥२२॥

अथ यहाँ से उत्तम ऋतुओं के लक्षण वर्णन करते हैं ॥२२॥
वायुर्वात्युत्तरः शीतो रजोधूमाकुला दिशः ।

कुम्भस्तुषारैः सविता हिमानश्चा जलाशयाः ॥२३॥

दक्षिणा ध्वाङ्गखड्गाद्दमहिषोरभ्रकुञ्जराः ।

रोध्रमियङ्गुपुष्पागाः पुष्पिता हिमसाह्वये ॥२४॥

हेमन्त ऋतु—ह्रस ऋतु में उत्तर का शीतल वायु चलता है; सप्त दिशाएँ राजःक्षण तथा धूम से व्याप्त होती हैं; भगवान् सूर्य

शिशिरे शीतमधिकं वातघृष्ट्याकुला दिशः ।

शेषं हेमन्तवत् सर्वं विस्रियं लक्ष्यं वृधेः ॥२५॥

शिशिरऋतु—ह्रस ऋतु में शीत अधिक हो जाता है, सप्त दिशाएँ वातमिश्रित वर्षा से व्याप्त होती हैं और शेष सप्त लक्षण हेमन्त ऋतु की भांति होते हैं । ऐसा बुद्धिमान् मनुष्य समकाले ॥२५॥

सिद्धविद्याधरवधूचरणालककाङ्क्षिते ।

मलयै चन्दनलतापरिवृद्धाधियासिते ॥२६॥

याति कामिजनानन्दजननोऽनङ्गदीपनः ।

दम्पत्योर्मानमिदुरो यसन्ते दक्षिणोऽनिलः ॥२७॥

दिशो यसन्ते विमलाः काननैरुपशोभिताः ।

किंशुकाम्मोजवकुलचूतारयोःकादिपुष्पितैः ॥२८॥

कोकिलावत्पद्मगणैरुपगीता मनोहराः ।

दक्षिणानिलसंवीताः सुमुखाः पद्मगोऽज्वलाः ॥२९॥

वसन्त ऋतु—ह्रस ऋतु में विद्व और विद्याधरों की स्त्रियों के चरणों में श्लो हुए छात्रांग से रजित-चन्दन सताओं के आलिङ्गन से सुगन्धित, कामीजनों का आनन्द उत्पन्न करने वाला, कामोदीपक, दम्पतियों का परस्पर मानभंग करने वाला, मलयाचल का दक्षिणी वायु चक्रवा है ॥२६-२७॥ वसन्त ऋतु में दिशाएँ निर्मग, पदया, कमान, बकुल, आश्र और अगोकादि पुष्पित वृक्षों से शोभायमान, कोकिल तथा चूंगणों के कर्णमयूर गुंजारव से मनोहर, दक्षिण दिशा की वायु में व्याप्त और वृक्षों के कोमल नवीन पर्णों से सुगोभित होती है ॥२८-२९॥

युक्तव्य—'दिशे वसन्ते विमला' के पहले निम्न दो श्लोक लिखते हैं—'सिद्धविद्याधरवधूचरणालककाङ्क्षिते । मलयै चन्दनलतापरि-वृद्धाधियासिते ॥' श्राद्ध कामिजनानन्दजननोऽनङ्गदीपनः । दम्पत्योर्मानमिदुरो यसन्ते दक्षिणोऽनिलः ॥ परंतु इनमें वसन्त ऋतु का नैसर्गिक बलन नहीं है, कविद्वय द्वारा काम्य है । इसलिये इनका समारंभ वसन्त ऋतुवर्णन से करना असंगत है । विमला से लेकर पर तेजमला तक सप्त दिशा के विवरण हैं ।

प्रीप्ते तीक्ष्णानुरादित्यो माफनो नैर्भ्रंशोऽनुभवं ।

भून्नाता सरितस्तन्व्यो दिशः प्रज्वलितान् इय ॥३०॥

भ्रान्तचक्राद्भयुगलाः पयःपानाकुला गुणाः ।

ध्यम्नवीरगुणुलता विषण्णोद्धितपादपाः ॥३१॥

दीप्य ऋतु—ह्रस ऋतु में सूर्य की द्वािके नकी तेज होती है, नैर्भ्रंश दिशा का दुःखदायी पवन चलता है, दृष्या गाम हो जाती है, नदियाँ (पानी कम हो जाने के कारण) प्रलयप्रवाह पुष्क होती हैं, दिशाएँ, ज्वली हुई-सी प्रमत्त होती हैं, (पानी

१ इत्यर्थः—'संवेदेवहेऽप्येव इवत्तुगम्ये' इति इतर विद. इत्.

की श्लोक करने में) भ्रान्त होकर चक्रवा और चक्रवी धूमती फिरती हैं, हरिण प्याम के मोरे व्याकुल हो जाते हैं, छोटे पौधे, घाम तथा बेल सूख जाते हैं और वृक्ष पत्रविहीन हो जाते हैं ॥३०-३१॥

प्राप्यम्बरमानदं पश्चिमानिलकंपितैः ।

अभ्युदैविंशुदुद्द्योतप्रद्युनेस्तुमुलस्यनैः ॥३२॥

कोमलश्यामशष्पाढ्या शकगोपोऽज्वला मदी ।

कदम्बनीपकुटजसर्जेकेतकिम्पूषिता ॥३३॥

प्राष्टर ऋतु—ह्रस ऋतु में पश्चिम दिशा की वायुद्वारा सर्षप हुए बादलों से आकाश व्याप्त रहता है और मेघगर्जन तथा बिजली की चमक के साथ कभी धौंड़ा धौंड़ा पानी बरसता है ॥३२॥

युक्तव्य—विपुद्रुचोतप्रद्युने—विपुद्रुचोत्तेन सह प्रद्युने ।

बिजली की चमक के साथ पानी की वर्षा करने वाले मेघों से । शकगोप-हृन्गोप या वीरवहूटी । यह एक लाल मन्सली रंग का बरमानी कीड़ा है । शीतार्त्मीकिरासायात्पान्तगत वर्षा-वर्षण में भी हृन्गोप का उल्लेख आया है—'शकैःश्रीपान्त-बिजितेन विमानि भूमिंनवहादेन' ।

तत्र वर्षासु नद्योऽम्बरशुभ्रोत्पाततटदुर्माः ।

याप्यः प्रोत्सुल्लकुमुदनीलोत्पलविश्रजिताः ॥३४॥

भूरध्यत्तस्यलभ्यधा यहुशस्योपशोभिता ।

नातिगर्जत्स्यन्मेघनिर्गदोर्कप्रदं नमः ॥३५॥

वर्षा ऋतु—ह्रस ऋतु में नदियाँ जलपूर्ण होकर प्रवाह के जोर से तट तथा निकटवर्ती वृक्षों को नष्ट कर देती हैं, वापी प्रसृष्टिज येत तथा नीच कमलों में सुशोभित दिखाई देती हैं, भूमि (तृणा-च्छादित होने के कारण उमरें वृष्टभाग) की समता या विषमता दिखाई नहीं देती है तथा विविध प्रकार की कमलों से वह शोभित होती है और बहुत गर्जन न करके बरसने वाले बादलों से आकाश, सूर्य तथा ग्रहणग दके रहते हैं ॥३४-३५॥

युक्तव्य—वापी—नापानमर्हितवृष्टिविगेका वापी । जिस क्षुद्र में

पानी निकलने के लिये सौड़ी होती है, उमरें वापी कहते हैं । उमुद्र-वेत कमलः । नीलोत्पल-नील कमल । मन्दनमल-मन्स-वर्षा ऋतु में काफी घाम उमरें के बाग्य मूढभागा यद्यपि तैसा नीचा भी हो तथापि समतल दिखाई देता है ।

यधुदप्यः शरधर्षः श्वेताधयिमलं नमः ।

तथा सरांस्यभ्युद्धैर्भान्ति हंसान्मघद्विनैः ॥३६॥

पद्मगुणकुडुभागीणो निधोऽग्रनसमेपु भूः ।

याणमतास्वभूकशासामनरिराजिता ॥३७॥

१ इत्यर्थे—'कुर्वेदियात्प्राप्त इत्य्' इत्यन्तत्प्राप्तित् । संसामन्तो सर्वं एवं दुर्गवर्षणं ॥ अनेनानुरागान् प्रमुष्टयार मन्ना । तद्विग्रहमदन्तैर्दक्षिणोऽनङ्गोऽप्युत्त ॥ तद्विग्रहानित कल्पवृक्ष धर्षितारिक्त । मेत(मन्)स्योत्पलकोऽप्येवमभ्युष्णः ॥ त्रिशस्यवर्षेर्जितवर्षावर्षेः प्रवृत्ते । केवयैर्भयवर्षेःवर्षावर्षेः कर्षे ॥ इति कविचरितेक पट. ३ अन्वयः वृष्टिप्रवर्ष. ३ निष्-कर्मते ४ १३३३३३३३३३.

शरद् ऋतु—इस ऋतु में सूर्य पिङ्गलवर्णी और उष्ण होता है; आकाश निर्मल और वहाँ कहीं श्वेतवर्णी मेघयुक्त होता है; शरीर हंसों सहित कमलों से शोभायमान होने हैं; नीची, गहरी और समभूमि कीचटयुक्त, सूखी और चॉट्टियों से भरी होती है और कुंठक, सप्तपर्णी, द्रुपहरिया, कांड, विजैस्तार इन वृत्तों से सुगोभित होती है ॥३६-३७॥

वक्तव्य—वभूः—पिङ्गलवर्णी । पङ्कजुष्णेत्यदि—निग्नाद्रिषु प्रदेशेषु यथास्तत्त्वं पद्मादिकीर्णा भवति । द्रुमाश्च वन्नीकाकारिण्यः स्वभावाः सिंघीलिकाः । (दल्लुण) । भूः पद्मादीर्णा निम्नस्थाने, शुष्कोद्यतस्थाने, समस्थाने द्रुमादीर्णा भवति । वल्मीक उत्पन्न करने वाली सूक्ष्म चॉट्टियाँ 'दुना' कहलाती हैं ।

स्वगुणैरतियुक्तेषु विपरीतेषु वा पुनः ।
विपमेष्वपि वा दोषाः कुप्यन्त्वृतुषु देहिनाम् ॥३८॥

ऋतुओं के स्वाभाविक गुणों का अतियोग, विपरीतयोग, विपमयोग हो जाने से मनुष्यों के शरीर में वातादि दोष कुपित हो जाते हैं ॥३८॥

वक्तव्य—अति योग—ऋतुओं के शीत, वर्षा और उष्णता स्वाभाविक गुण होते हैं । उनकी अधिकता होना अतियोग है । या—ग्रीष्म में अधिक गरमी होना, वर्षा में अधिक पानी रसना और हेमन्त में अधिक शीत पड़ना । विपरीतयोग—ऋतुओं के स्वाभाविक गुणों से उलटा गुण होना । यथा—हेमन्त में गरमी, वर्षा में शीत और ग्रीष्म में वर्षा होना । विपरीतयोग में मिथ्यायोग भी कहते हैं—'यथा न्वलक्षणविपरीतलक्षणस्तु कालः तन्मिथ्यायोगः' (चरक) । विपरीतयोग का दूसरा अर्थ लक्षण टीका में ऐसा दिया है—'मन्दशीतादियुक्तेषु' । चरक अनुसार यह अर्थ करना प्रशस्त है । दूसरा कारण यह है कि एक योग के दो अर्थ करना ठीक नहीं है । विपमयोग—इसके भी दो अर्थ टीका में दिये हैं । पहला अर्थ मिथ्यायोग के साथ मिलता है, अतः उस अर्थ की अवश्यकता नहीं है । दूसरा अर्थ एकीयवचन से दिया है—'अन्ये तु ऋतूनां गौचल्लिङ्गानामेकस्मिन्ऋतौ सर्वेषां लिङ्गानां भावोऽभावश्चेति वैपम्यगद्' । एक ऋतु में सर्व ऋतुओं के गुणों का प्रादुर्भाव होना या अभाव होना, इसको विपमयोग कहते हैं । इसमें सर्व ऋतुओं के गुणों का प्रादुर्भाव मिथ्यायोग में आ जाता है । अतः बाकी केवल अभाव ही रहा । यही विपमयोग का अर्थ है और इसे अयोग या हीनयोग कहते हैं । चरक, वाग्भट में काल के केवल तीन योग दिये हैं—'कालार्थकर्मणां योगा हीनमिथ्यातिमात्रकाः ।' (वाग्भट) । 'त्रीण्यावतनानीति, अर्थानां कर्मणः कालस्य चातियोगयोगमिथ्यायोगाः ।' (चरक) । उनके अनुसार भी विपमयोग का अर्थ अयोग या हीनयोग ही करना चाहिये । यथा—वर्षा ऋतु में पानी कम बरसना या नहीं बरसना इत्यादि । दोषाः कुप्यन्ति—दोषों का प्रकोप होकर मनुष्यों में नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं—'मिथ्यातिहीनलिङ्गाश्च वर्षान्ता रोगहेतवः' (चरक शा. अ. १) । इस प्रकार प्रत्येक ऋतु की तीन व्यापत्तियाँ होती हैं और सर्व ऋतुओं की अष्टारह व्यापत्तियाँ होती हैं ।

हरेद्दसन्ते श्लेष्माणं पित्तं शरदि निर्हरेत् ।
वर्षासु शमयेद्वायुं प्राग्द्विकारसमुच्छ्रयात् ॥३९॥

इति बुधुतसर्पितायां सूत्रस्थाने ऋतुचर्चा नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

(दोषों से शरीर में) विकार उत्पन्न होने के पहले ही दसन्त ऋतु में कफ का निर्हरण करना चाहिये, शरद् ऋतु में पित्त का हरण करना चाहिये और प्रावृद् ऋतु में वात की शान्ति करनी चाहिये ॥३९॥

वक्तव्य—वसन्ते—वसन्त ऋतु के दूसरे महीने में वैश्र मास में । शरदि—शरद् ऋतु के दूसरे महीने में, मार्गशीर्षि मास में । वर्षासु—वर्षा शब्द से यहाँ 'प्रथमः प्रवृष्टः कालः प्रावृद्' समझना चाहिये । क्योंकि प्रावृद् के दूसरे महीने में श्रावण में वात का संशोधन करने के लिये कहा गया है—'तत्र वर्षाहेमन्त-ग्रीष्मेषु संचितानां दोषाणां शरद्वसन्तप्रावृद्धौ च प्रकृपिताना निर्हरण कर्तव्यम्' । (इस विषय का विशेष विवरण इस अध्याय में १२ वें सूत्र के वक्तव्य में देखो) इसलिये हाराणचन्द्र अपनी टीका में लिखते हैं—'वर्षास्विति वर्षन्ति मेघा अत्रेति न्युत्पत्त्या वर्षाण्येन वर्षाप्रावृष्टोरभिधानेऽपि प्रावृढेवात्राभिधीयते, तस्यामेव निर्हरण-विधानात्' ॥ विकारसमुच्छ्रय—कालस्वभाव के कारण प्रकृपित दोषों से उत्पन्न हुए रोग । इनको ऋतुज रोग या प्राकृत रोग भी कहते हैं—'कालप्रकृतिमुद्दिश्य निर्दिष्टः प्राकृतो ज्वरः' (चरक) । हेमन्तिक दोषचयं वसन्ते प्रवाहयन् प्रैम्बिकमभ्रकाले । घनालयये वार्षिक-माशु सम्यक् प्राप्नोति रोगान्नुजात्र जातु' ॥ (चरक) ।

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामाशुवैदरस्यदीपिकायां बुधुतभाषाटीकायां सूत्रस्थाने ऋतुचर्चा नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

सप्तमोऽध्यायः ।

अथातो यन्त्रविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः यथो-
वाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से यन्त्रविधि अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

यन्त्रशतमेकोत्तरम्; अत्र हस्तमेव प्रधानतमं
यन्त्राणामवगच्छ, किं कारणं ? यस्माद्धस्तादृते
यन्त्राणामप्रवृत्तिरेव तदधीनत्वाद्यन्त्रकर्मणाम् ॥२॥

यन्त्र एक सौ एक होते हैं । परन्तु सब से प्रधान हाथ ही सम्मो । क्योंकि यन्त्रकर्म हाथ ही के अधीन होने के कारण हाथ के बिना यन्त्रों का उपयोग असंभव होता है ॥२॥

वक्तव्य—यन्त्र पारिभाषिक शब्द है । इस की अगले सूत्र में तथा उसकी टीका में सविस्तर व्याख्या की गई है । एकोत्तरं शतम्—यह शब्द प्रयोग यहाँ यन्त्रसंख्या की इयत्ता निश्चित करने के लिये प्रयुक्त नहीं किया गया है । प्राचीन काल में प्रत्येक शल्यचिकित्सक अपने बुद्धिबल से भिन्न भिन्न शस्त्र कर्मों के लिये भिन्न भिन्न आकार के और भिन्न भिन्न प्रमाण के कई यन्त्र निर्माण कर लेता था, जिनका ठिकाना नहीं—'स्वबुद्ध्या च विकल्प्य विविधानि यन्त्रशस्त्राणि तत्कर्मणि च उपकल्प-

(पहले के बने हुए) अन्य यन्त्रों के अनुसार तथा प्रयोजन के अनुसार यन्त्र बनवाने चाहिये ॥३॥

१) चक्रव्यय—इसमें कश्चिन् यन्त्राणां सुगतिः, 'धर्तृनि' इत्यन्तरः । प्रायः—यन्त्रमुक्तों का सादृश्य प्राणियों के मुँह से हुन्कू नहीं होता है । यन्त्राणां—यद्यपि यहाँ ज्यालसुतामादिव सर्वे यन्त्रों के संबंध में किता है तथापि केवल स्वन्निक यन्त्रों के संबंध में यह होता है । इसलिये 'यन्त्राणां' के पहले 'स्वन्निक' शब्द अप्याहन समझना चाहिये । अर्थात् संघ तथा हस्त में कामेट ने यह संदिग्धता दूर की है—'ता स्वन्निकयन्त्राणि नृत्तिसृष्टुराणि विष्वक्कालमुक्त्याकारुगुणानिभक्तानि' ॥ (अ. सं. सू. अ. ३४) । सुक्तिः—अपने अनुभवानुसार तथा चिकित्स्य सुख के वय तथा अवयव विभाग के परिमाण का विचार करके ।

समाहितानि यन्त्राणि नरदृष्टसुखानि च ।
सुहृदानि सुरूपानि सुग्रहाणि च कारयेत् ॥८॥
सब यन्त्र प्रमाणबद्ध, मजबूत, सुंदर, सुग्रह तथा (कतिपय) सुरदे सुरवाले और (कतिपय) सृष्टु सुनवाले बनवाने चाहिये ॥८॥

२) चक्रव्यय—समाहित—प्रमाण के अनुसार विविध अंग से हुए अर्थात् सुदोले । सादृश्यसुग्रह—कार्यभिरता के अनुसार यन्त्रों के मुख (बाह्य भाग तथा आन्तरिक भाग) सृष्टु तथा सुरदे रखने चाहिये । यथा—शल्यग्रहण तथा ग्राहण के लिये स्वस्वयं यन्त्रों की और मार्गविगोधन (न्यूमार्गिका नाडी-त्रयोधर) के लिये सृष्टुमुख यन्त्रों की आवश्यकता होती है । सुग्रह—हस्तधार्य प्रदेश उत्तम होने के कारण जिसको बिना परिश्रम पकड़ सकते हैं अथवा शल्य, हड्डी इत्यादि ग्राह्य वस्तु को जो यन्त्र भली भाँति पकड़ सकते हैं । इसी गुण के संबंध में आगे 'अथापि विषमग्राहि' यन्त्र के दोष बतलाये गये हैं । उत्तम यन्त्र में सुग्रह के बतलाये हुए दोनों गुण होने चाहिये ।

तत्र स्वस्तिकयन्त्राणि—अष्टादशाङ्गुलप्रमाणानि, सिंह्याप्रवृत्तचक्रद्वीपिमार्जारट्टगालसृगैर्वांरुककाकक्रकुररवासभासशशाघातयुलूकचिल्लिश्येनगृध्रकौत्रभृङ्गराजाञ्जलिकर्णावभजननन्दि(न्दी)मुखमुखानि, मसुराकतिभिः कीलैरचवृद्धानि, मूलेऽङ्गुश-चन्द्रावृत्तवारङ्गाणि, अस्थिविदंष्ट्रशलयोद्धरणार्थमुपदिश्यन्ते ॥९॥

उनमें स्वन्निकयन्त्र अठारह अंगुल प्रमाण के सिंह, व्याघ्र, भेड़िया, तरशु (चरख Hyaena), रीछ, चित्रव्याघ्र (चीता Panther), मार्जार, गीदड़, सृगैर्वांरुक, काक, कङ्क (बगला Heron), ऊर (टिदिहरी Osprey), चास (बहरी Blue Jay), भास, शशाघाती (बाज Hawk), उलूक (उल्ल Awl), चिड़ी (चील kite), इयेन (Vulture) गृध्र (गीध Talcen), कौच (Catlew), भृङ्गराज, अञ्जलिकर्ण, अवभजन, नन्दिमुख इनके मुखसमान मुखवाले, मसुर के समान कील से (दोनों खंड बीच में) जुड़े हुए और धार्य

(Handle) संयुक्त के समान बन्द किये हुए होने चाहिये । ये यन्त्र हड्डी के तथा अन्य गहरे अदृश्य शल्य निकालने के लिये होते हैं ॥९॥

चक्रव्यय—इन बीससे पशु-पक्षियों में से कतिना पशु प्राचीन काल से अज्ञात थे । यथा—अञ्जलिकर्ण, अवभजन । सृगैर्वांरुक—रुमक विषय में स्तम्भिता दिव्याई देती है । उलूक इसका समावेश हिन्द पशुओं में करता है । मारुगुण्ड भी इसका अर्थ 'हरिणप्रदो व्याह' होते हैं । नव्य टीकाकार (An interpretation of Ancient Hindu Medicine) पृष्ठ ४९२-४९४ और Surgical instruments of the Hindus पृष्ठ १०२) इसका अर्थ केवल हरिण (Deer) करते हैं । अष्टांगसंग्रह में स्वस्तिकयन्त्र के सर्व पशु पक्षी हिन्द यन्त्राये गये हैं—'तत्र स्वस्तिकयन्त्राणि ककुक्षिण्डुरादि-विष्वक्कालमुक्तानि' । इसलिये सृगैर्वांरुक कोई हिन्द पशु ही होगा, हरिण नहीं हो सकता है । मसुराकतिभिः कीलैः—जिस कील का मध्य भाग पतला और दोनों सिरे मसुरदल सघ्न चपटे होते हैं—'मसुराकारपर्यन्तैः कठे दधानि कीलकैः' । (वाग्भट) । कील जिस स्थान में होता है, उसे बन्ध प्रदेश कहते हैं । यह कण्ड अत्र के जितना समीप होगा, उतनी यन्त्र की पकड़ (Grasp. Fix) मजबूत होगी । वास-धार्यप्रदेश अवयव यन्त्र का मूल भाग, जिस में यन्त्र को हाथ से पकड़ते हैं (Handle) ।

इन स्वन्निक यन्त्रों के दो विभाग किये गये हैं । प्रथम विभाग सिंहमुख से सृगैर्वांरुकमुख तक नव स्वन्निक यन्त्रों का है और ये यन्त्र हृदय या उपरितन शल्यों का आहरण करने के लिये प्रयुक्त होते हैं । दूसरा विभाग काकमुख से नदीमुख तक पंद्रह स्वन्निक यन्त्रों का होता है और इनका उपयोग गूड़ या गहरं शल्यों का आहरण करने के लिये होता है । तीसरे सिध्याप्रयुक्तमकरादिमुखाणि इत्यन्तरेषु शल्येषु प्रयोज्ये । इत्येषु तु यथायोगं त्रणाकारानुरोधेन कङ्कायतुरादिमुखाणि । (अ. संग्रह) । कारण यह है कि सिंहमुखादि यन्त्र सोटे मुख के होने के कारण भीतर प्रवेश नहीं कर सकते, परन्तु काकमुखसिद्धि पतले मुख के होने के कारण भीतर प्रवेश कर सकते हैं ।

आधुनिक यन्त्र-संभार में भी हड्डी पकड़ने, बंदूक की गोली निकालने, दाँत निकालने, कर्ण नासागत शल्य निकालने तथा अन्य कार्यों के लिये अनेक पशु-पक्षियों के मुखाङ्गुलरी स्वन्निक यन्त्र प्रयुक्त होते हैं । परन्तु इनके नाम कश्चित् अन्वेषक के अनुसार और अधिकतर स्थानिक कार्य के अनुसार रखे गये हैं । यथा—Ferguson's Forceps, Tarabouf's Forceps, Bedfords's Forceps इत्यादि अन्वेषक के अनुसार रखे गये हैं और Aural Forceps, Dental Forceps, Bone Forceps इत्यादि नाम स्थानिक कार्य के अनुसार हैं । तो भी कतिपय नाम प्राणियों के अंग-सादृशानुसार रखे गये हैं । यथा—सिंहमुख Lion Forceps, शशाघातीमुख Dental Hawk bill Forceps, सृषिकमुख Mouse tooth Forceps, मकरमुख Crocodile Forceps, श्वामुख Bulldog Vols-alla ets । स्वन्निक यन्त्रों का समावेश Forceps वर्ग के

सनिग्रहोऽनिग्रहश्च संदर्शौ षोडशाङ्गुलौ भवतः,
तौ त्वङ्मांससिपन्नायुगतशल्योद्धरणयुग्मपदिश्येते॥

सनिग्रह और अनिग्रह ऐसे सोलह अंगुल के दो सद्य होते हैं और ये त्वचा मांस सिरा प्रायुगत शल्य निकालने के काम में आते हैं ॥१०॥

वस्तुतः—सनिग्रह—कीलयुक्त । अनिग्रह—कीलरहित । ढल्लण अपनी टीका में सनिग्रह का अर्थ सवारङ्ग (with handle) करता है । परंतु यह अर्थ अशुभ है । प्रथम कारण यह है कि सनिग्रह का अर्थ सवारङ्ग करने से वह स्वस्तिक यन्त्र बन जाता है । परंतु स्वस्तिक यन्त्र ऊपर स्वतन्त्र विभाग में वर्णित हुए हैं । दूसरा कारण यह है कि अष्टांगसंग्रह में 'सनि रन्ध्रानि निनिपनश्च षोडशाङ्गुली सदशौ द्वौ भवतः' ऐसा पाठ है और उसकी टीका में 'सनिबन्धन कीलरद' ऐसा अर्थ दिया है । अष्टांगहृदय में भी कील का स्पष्ट निर्देश किया है—'कीलरद्विमुक्तप्रभौ सदशौ षोडशाङ्गुलौ' । इन सब बातों का विचार करने से सनिग्रह सद्य अंग्रेजी V के आकार का या Dressing Forceps के आकार का और अनिग्रह सद्य अंग्रेजी U के आकार का होना चाहिये । सनिग्रह का दूसरा अर्थ with a catch और अनिग्रह का without a catch ऐसा भी अर्थ आधुनिक यन्त्रसभार देखकर हो सकता है । परन्तु समय का विचार करने से इस अर्थ को स्वीकार करने में थोड़ी आपत्ति होती है ।

इन दो संदर्शों के अतिरिक्त चारण्यट ने दो और सद्य वर्णन किये हैं । (१) 'षट्शुण्डोऽन्यो हरणे गृह्यमाणोऽपपद्मगामः' । सूक्ष्म-शल्य तथा उपपद्म पकड़ कर उखाड़ने के लिये छ अंगुली परिमाण का एक संदर्श होता है । हारीतसंहिता में सूक्ष्म शल्याहरण के लिये सद्य का उपयोग बतलाया है—'अतिगुण च शल्य च सद्यश्च समुद्रेण' । पद्मकोष में आँखों को तकलीफ देने वाले केश सद्य की सहायता से निकालने की पद्धति थी । 'उपपद्माणि तु लाह्यसेन लक्षयित्वा सरसैर्नोद्मूल तदुपच्यमेगामि नगैर्न रोमकुण्डल देहे' । (अ संग्रह) । आधुनिक नेत्रविज्ञान में पद्मकोष (Trichiasis Distichiasis) के लिये यह एक चिकित्सा होती है और पलक निकालने की इस विधि का Epilation कहते हैं और सद्य को Epilation Forceps कहते हैं ।

(२) मुकुटीन्द्रा—मुकुटीन्द्रमन्दनैर्नृणः रचयन्मुष्णा । गवीप्रणमस्तानाम्बर्ण केपित्य च ॥ इसके मूल में एक बाल्य और अग्र में सूक्ष्म दांत होते हैं और गंभीरवण का मांस (Granulations) तथा अर्मे (Pterygium) का शेष निकालने के लिये इसका उपयोग होता है ।

तालयन्त्रे—द्वादशाङ्गुले मत्स्यतानुवदेधेऽताल्यङ्गितालके, कर्णनासानाडीशब्दानामाहारणार्थम् ॥११॥

तालयन्त्र दो ही प्रकार के और बारह अंगुल के होते हैं । वे मज्जनी के तालु के समान एक तालयुक्त और दो तालयुक्त होते हैं और कान, नासिका, नाडी इनमें से शल्य निकालने के काम में आते हैं ॥११॥

वस्तुतः—ताल—इसके अर्थ के संशय में बहुत मतभेद बना दिनाई जाती है । परन्तु ताल का सरल अर्थ किन्तु मध्य

प्रदेश है । कंसि के बजाने के वाद्य विशेष की ही ताल कहते हैं ताल—'वाद्यभाष्ये च काम्यत्वं' मेदिनी । हस्ततल की जो विशेष आकृति होती है, उसे भी ताल कहते हैं । सत्सेप में ताल का अर्थ किंचित् गतयुक्त प्रदेश है । मत्स्यतालुवद—मत्स्यतालु के समान मृदु । जिस यन्त्र में एक ही ताल होता है, उसे एकताल यन्त्र कहते हैं और जिस में दो ताल होते हैं, उसे द्विताल कहते हैं शल्याहरण के लिये प्रत्येक यन्त्र में कम से कम एक ताल भी अधिक से अधिक दो ताल हो सकते हैं । इसलिये तालयन्त्र दो से अधिक होने असंभव हैं और इसी विचार से सूत्र पांच में लिखा है 'द्वे एव तालयन्त्रे' । आधुनिक दृष्टि से तालयन्त्र को स्कोप (Scoop) कह सकते हैं । स्पून (Spoon) भी तालयन्त्र में ही समाविष्ट होते हैं । एकताल (Single Scoop) और द्विताल (Double Scoop) होता है ।

नाडीयन्त्राणि—अन्येनेकप्रकाराणि, अनेकप्रयोजनानि, एकतोमुखान्युभयतोमुखानि च, तानि स्रोतो गतशल्योद्धरणार्थं, रोगदर्शनार्थम्, आचूषणार्थं, क्रियासौकर्यार्थं चेति, तानि स्रोतोद्वारपरिणाहानि यथायोगदीर्घाणि च । तत्र भगन्दराशौत्रयवस्तुत्तर चस्तिमूत्रवृद्धिकोदरधूमनिरुद्धप्रकशसशिरुद्धगुद-यन्त्राण्यलावृष्ट्युद्गयन्त्राणि चोपरिष्टाद्द्वयम् ॥१२॥

नाडीयन्त्र अनेक प्रकार के होते हैं और अनेक कामों में आते हैं । उनमें से कई एक मुख वाले और कई दो मुख वाले होते हैं । (कतिपय) नाडीयन्त्र स्रोतोगत शल्य निकालने के काम में, (कतिपय) रोगी के रोग की परीक्षा करने के लिये, (कतिपय) चूषने के काम में और (कतिपय शल्य कर्म के समय) क्रिया में सुगमता उत्पन्न करने के काम में आते हैं । इनकी मोटाई नाडियों के छिद्र में ठीक प्रवेश करने योग्य और लवाई आवश्यकता के अनुसार (न्यूनाधिक) होती है ॥१२॥

वस्तुतः—नाडीयन्त्र—नाडीयन्त्र गुणितानि यानि नाडी यन्त्राणि । नलिका की भांति भीतर पाँचे जो यन्त्र होते हैं, उन को नाडीयन्त्र कहते हैं । दगोमुत्तानि—जिनका एक मुख बंद और एक मुख खुला है । उभयतोमुखानि—जिनके दोनों मुख खुले होते हैं । अलावृ, एक मुख नाडीयन्त्र का उदाहरण है । सूत्रवृद्धि, दर्शक, धूमनलिका उभयमुख नाडीयन्त्र दो उदाहरण हैं । रोगदर्शनार्थम्—रोगी के आन्तरिक रोगों का निरीक्षण करने के लिये नाडीयन्त्रों का उपयोग होता है । यथा—संनि प्रयोगयन्त्र, अर्थायन्त्र । आधुनिक शल्यशास्त्र में रोगदर्शन के लिये जो नाडीयन्त्र व्यवहृत होते हैं, उनको 'स्पेकुलम' (Speculum) कहते हैं । यथा—Vaginal, Speculum Rectal Speculum Ear Speculum Nasal Speculum इत्यादि । इनके सिवाय रोगदर्शन के लिये दूसरे प्रकार के नाडी यन्त्र होते हैं, जिन में प्रकाश का विशेष प्रवेश-शक्ति है । उनकी स्कॉप (Scope) कहते हैं । यथा—Auro Scope cysto Scope Recto Scope इत्यादि । इनका भी समावेश रोग दर्शक नाडीयन्त्रों में ही करना चाहिये । आचूषणार्थम्—अग्नि गणनात, घृतरथ, सन्त्रय इत्यादि यन्त्रों के लिये नाडीयन्त्रों का उपयोग होता है । अविष्णु वज्र—निम्बे-जलिन का बण्डो नाडी

मन्थेन दारिते । नाडीं दत्त्वाऽस्थितिं भिषकं चूपयेत् पवनं वली' ॥ (सु. चि. अ. ४) । द्रुष्ट रक्त के लिये अलावू, शृंग इत्यादिक का उपयोग होता है । द्रुष्टस्तन्—दूषित दुग्ध निकाल देने के लिये स्तनरोग की चिकित्सा में कहा है परन्तु वहां किसी विशेष यन्त्र का निर्देश नहीं किया है—‘धान्याः स्तनौ सततमेव च निद्वेहीत’ । संप्रति दूषित दूध निकालने के लिये ब्रेस्ट पम्प (Breast pump) नामक नाडीयन्त्र का उपयोग होता है । इनके सिवाय छाती में जब जलसंचय (Pleurisy with effusion) होता है, तब जल निकालने के लिये पोटैनस् अस्पिरैटर (Potains Aspirator) नामक नाडीयन्त्र और पथरी फोड़ने के पश्चात् उसके कण निकालने के लिये (Eva cuator) इवैक्युपुटर नाडीयन्त्र संप्रति व्यवहृत होते हैं । क्रियासौकर्यार्थं च-शस्त्रक्रिया में सुगमता तथा क्षारादि ओषधियों का उपयोग करने के काम में सहायता देने के लिये । यथा—एक छिद्र अर्शो-यन्त्र अर्श के ऊपर क्षार या अग्नि प्रयोग करने में बहुत सहायता करता है । शस्त्रक्रिया में सौकर्य उत्पन्न करने के लिये प्राचीन काल में नाडीयन्त्रों का बहुत उपयोग नहीं दिखाई देता है । आधुनिक शल्यचिकित्सा में इस काम के लिये बहुत नाडीयन्त्र व्यवहृत होते हैं । इनको डायरेक्टर (Director) कहते हैं । यथा—Probe director, Hernia director, Lithotomy director, Fistula director इत्यादि ।

तत्र भगन्द्रादि—यहां भगन्द्रादि वारह नाडीयन्त्रों के नाम निर्दिष्ट किये हैं । परंतु इनमें से कई यन्त्र अनेक होंने के कारण इनकी संख्या बीस होती है ।

नाम और वर्णन (डल्लण की टीकानुसार)	संख्या
१ भगन्द्रयन्त्र—(१) एकच्छिद्र (२) द्विच्छिद्र	२
२ अर्शोयन्त्र—(१) एकच्छिद्र (२) द्विच्छिद्र	२
३ व्रणयन्त्र—	१
४ वस्तियन्त्र—पडदृष्टद्वारादशाङ्गुलभेदात्	४
५ उत्तरवस्ति—स्त्री-पुरुषभेदात्	२
६ मूत्रवृद्धिस्रावणयन्त्र—	१
७ जलोदरस्रावणयन्त्र—	१
८ धूमनेत्रयन्त्र—(१) वैरेचनिकं, (२) सैहिक, (३) प्रायोगिक	३
९ निरुद्धप्रकशयन्त्र—	१
१० सन्निरुद्धगुदयन्त्र—	१
११ अलावूयन्त्र—	१
१२ शृंगयन्त्र—	१
	<hr/> २०

नाडीयन्त्राणि (हाराणचद्र की टीकानुसार)

१ अर्शोयन्त्र—स्त्री और पुरुष भेद के कारण	२
२ वस्तियन्त्र—पडदृष्टद्वारादशाङ्गुलप्रमाणभेदात्—	४
३ उत्तरवस्तियन्त्र—पुंसां द्वे, स्त्रीणां द्वे, कन्यानां चैकम्—	५
४ दकोदरयन्त्र—	१
५ धूमयन्त्राणि—प्रायोगिक, सैहिक, वैरेचनिक, कासद्र, व्रणधूपन—	५
६ निरुद्धप्रकशयन्त्र—	१
७ अलावूयन्त्र—	१
८ शृंगयन्त्र—	१
	<hr/> २०

भगन्द्र और अर्शोयन्त्र (Rectal Speculum)—इनका वर्णन चिकित्सास्थान के अर्थ और भगन्द्र चिकित्सा में किया है । व्रणवस्ति—इसका उपयोग व्रण या नाडीव्रण का प्रक्षालन करने के लिये किया जाता था । यन्त्रवर्णन—‘यन्त्रे नाडीव्रणाभ्यंगक्षालनाय पडदृष्टुले । वस्तियन्त्राकृती मूले मुखेऽङ्गुलकलायत् । अग्रतोऽङ्गुलिके मूले निवृत्तदुर्चर्मणि’ ॥ (अ. हृदय) । सांप्रत व्रणप्रक्षालन के लिये सिरिंज (Syringe) तथा इरिगेटर (Irrigator) का उपयोग करते हैं ।

वस्तियन्त्र—इनका वर्णन चिकित्सा स्थान के नेत्रवस्ति प्रविभाग चिकित्सित अध्याय में किया है । वस्तिविधि के लिये अँग्रेजी में एनेमा (Enema) कहते हैं । एनेमा देने के लिये दो यन्त्र प्रयुक्त होते हैं । इनमें से वस्तियन्त्र का सादृश्य ‘रबड़ बाल एनेमा सिरिंज’ (Rubber Ball enema Syringe) के साथ होता है । दूसरा दीवाल के साथ टांगने का यन्त्र है । उसे ‘इरिगेटर’ कहते हैं ।

उत्तरवस्तियन्त्र—इस यन्त्र का वर्णन चिकित्सास्थान के अनुवासनोत्तर वस्ति चिकित्सित में किया है । उत्तरवस्तियन्त्र का सादृश्य आधुनिक रबड़ बाल व्रजायनल दूष्य (Rubber ball vaginal douche) के साथ होता है ।

मूत्रवृद्धिकोदरयन्त्राणि—मूत्रवृद्धि (Hydrocele) और जलोदर में (Ascites) पानी निकालने के लिये इनका उपयोग होता है । प्रथम ग्रीहिमुख शस्त्र से छेद करके तत्पश्चात् उस छेद में यह यन्त्र प्रविष्ट किया जाता था । यह एक द्विमुख नलिका होती है जो सीसा, रांगा या पंख की बनाई जाती है । ‘तत्र लम्बादीनामन्यतमस्य नाडीं द्विद्वारां पक्षनाडीं वा संयोज्य दोषोदक-मवसिञ्चेत्’ । सांप्रत मूत्रवृद्धि और जलोदर में पानी निकालने के लिये प्राचीन काल के नलिका की भाँति लोहे की नलिका होती है । उसे ‘क्यानूला’ (Cannula) कहते हैं ।

निरुद्धप्रकशयन्त्र सन्निरुद्धगुदयन्त्र—शिक्षन्त्रमेसंकोच (Phymosis) और गुदसंकोच (Stricture of the rectum or anus) में स्रोतविस्तार करने के लिये इनका उपयोग किया जाता था । ये यन्त्र लोह, स्वर्ण, लकड़ी या लाक्षा की द्विमुख नलिकायुक्त होते हैं । सर्व यन्त्र एक मोटाई के न होकर एक से उत्तरोत्तर दूसरे बड़कर होते हैं । इनका उपयोग छोटे से प्रारंभ करके मोटे यन्त्र तक धीरे धीरे किया जाता है । ‘निरुद्धप्रकोशे नाडीं द्विमुखीं कनकादिजाम् । (चक्रदत्त) । ‘चिरुद्धप्रकोशे नाडीं लौहीमुभयतोमुखीम् । दावीं वा जतुकृतां घृताभ्यक्तानां प्रवेशयेत् ॥ त्र्यहात् त्र्यहात् स्थूलतरां सम्यङ् नाडीं प्रवेशयेत् । स्रोतो विवर्धयेत्’ । (सुश्रुत) । आधुनिक शल्यचिकित्सा में भी सन्निरुद्धगुद और निरुद्ध-प्रकोश की चिकित्सा इसी प्रकार के नाडीयन्त्रों से की जाती है । परंतु ये यन्त्र भीतर पोले नहीं होते हैं । सन्निरुद्धगुद की चिकित्सा में प्रयुक्त नाडीयन्त्रों का नाम रेफ्टल डायलेटर या बूजी (Rectal dilator or Bougie) है और निरुद्धप्रकोश की चिकित्सा में प्रयुक्त यन्त्रों का नाम प्रेप्यूस या युरेथ्रल डायलेटर (Prepuce or Urethral dilator) है । आधुनिक शल्यचिकित्सा में गर्भाशय ग्रीवा संकोच में भी नाडीयन्त्रों (Uterine dilators) का उपयोग करके ग्रीवा की वृद्धि की जाती है । सामान्यतया छोटे से लेकर मोटे यन्त्र तक इनकी

संख्या धारह होती है और प्रत्येक यन्त्र पर उमकी मोटाई और नंबर होता है ।

धूमपन—इसका वर्णन विक्रियास्थान के अंतिम अध्याय में किया गया है । इनका उपयोग घणधूपन (Fumigation) और धूमपान (Inhalation) के लिये किया जाता है । घणधूपन के लिये निम्बवचादि जीवाणुनाशक (Disinfectant) औषधियों का उपयोग होता था—जो निम्बवचापत्र धूनन समरन्वते । (शाह्वर) । इस घणधूपन में जीवाणुनाशक घणचिकित्सापद्धति की स्पष्ट कल्पना (Antiseptic method of treatment) दिखाई देती है । आधुनिक शस्त्रचिकित्सा में घणमुद्धि के लिये धूपनपद्धति को अगीकार नहीं करते हैं । क्योंकि अत्यंत तीव्र जीवाणुविनाशक रासायनिक औषधियों के घोल घण घोने के लिये प्रयुक्त होते हैं । परन्तु आज भी प्राचीन काल की भांति राजयस्मा, प्रतिदयाय, श्याम, कासादि श्वसन-संस्थान के रोगों के लिये औषधि धूमपान (Inhalation) का प्रयोग होता है और इस प्रयोग के लिये जो यन्त्र होते हैं वे भी पुरानी पद्धति के यन्त्र की भांति होते हैं—'व्यनभ्रमाकारे स्फोरे समाहिते शरावे प्रक्षिप्य वति मृन्च्छिद्रेणान्वेन शरावेण विषाये तस्मिन् छिद्रे नेत्रमूल सयोन्य धूमनासेवेत' (सुश्रुत) । इनकी इनहेलर्स (Inhalers) या रेस्पिरेटर्स (Respirators) कहते हैं ।

अलाद्दुग्धयन्त्राणि—ये यन्त्र दुग्धरक्त, विपस्पित रक्त, कर्ण गत शल्यादि निकालने के लिये प्रयुक्त होते हैं । इनका कार्य चूषण द्वारा होता है और यह चूषण मुख से ही किया जाता है । यथा—'कर्णच्छिद्रे वर्तमान कीट छेदकमदि वा । शृगेणापरेदीनान्' (सुश्रुत) । **शृङ्गयन्त्र**—'अधदुग्धस्य मवेच्छृग चूषणेऽपराशुलम् । कर्णे सिद्धार्थकच्छिद्रं मुनदं चूषुकाकृतिः' । **अलाद्दुग्धयन्त्र**—'स्वाद्वाद शङ्कुलेऽलाद्दुग्धो हे लक्षदराशुलम् । चतुस्त्यगुल्लवृत्तायो दीशोऽन्त-केष्परकद्वद्' । (अ. हृदय) । आधुनिक शल्यचिकित्सा में भी कोरे-कुनिसियों में से दुग्धरक्ति कुपित भाग निकाल देने के लिये अलाद्दुग्ध और शृङ्ग की भांति कपिंग ग्लासेस (Cupping glasses) का उपयोग हुआ करता है । परन्तु मुखचूषण में सतरा होने के कारण यह चूषण का कार्य रबड़ बाल (Suction balls) द्वारा किया जाता है । इन दो यन्त्रों के सिवाय वाग्मट ने चूषण के लिये घटीयन्त्र का निर्देश किया है—'तररघटी विता-गुल्लविशोन्नते च सा' । परक (गुल्मचिकित्सा) में इस घटी का उपयोग गुल्मचिकित्सा के लिये कहा है । अलाद्दुग्ध तथा घटी में चूषण मुखद्वारा नहीं होता है । कारण, यह यन्त्र एकमुख होते हैं । इनके भीतर प्रदीप जलाकर चूषण का कार्य किया जाता है । इस के विवरण के लिये सूचस्थान अ १३ सूत्र ७ की दिव्यणी देखो ।

उपर्युक्त अर्धभाग्यन्त्रादि यन्त्रों के अतिरिक्त वाग्मट में निम्न नाडीयन्त्र अधिक मिलते हैं । (१) कण्ठशल्यालोकिनी नाडी (Throat Speculum)—'दशाशुलाधेनाहन्त कण्ठ शल्यावलेकने । नाडी पचमुलच्छिद्रा चतुष्कर्णस्य सध्रे वारण्य विकर्णस्य विधिद्रा तद्वसमाणम्' । (२) शल्यनिर्वाणिनी—'पद्म-कर्णिकवा मूर्ति सखी द्वादशाशुला । चतुर्षुध्रिषा नाडी शल्यनिर्वाणिनी मता' । (३) अंगुलिप्राणक—यह यन्त्र हस्तिदंत या लकड़ी का होता था और रोगी का मुख खोलते समय दांतों से अंगुलि का रक्षण करने के लिये प्रयुक्त होता था—

'अंगुलिप्राणक दान् वाशं वा चतुष्पुलम् । द्विच्छिद्रं मोहनका तद्वत्प्रथिवीं मुखम्' ॥ अंगुली में अंगुलिप्राणक को फिंगर गां (Finger guard) कहते हैं । मामूली मलमूत्र तथा पुररुर्णा दूषित पदार्थों से अंगुलियों की रक्षा करने के लिये आधुनिक शल्यचिकित्सा में अंगुलिप्राणक की भांति मुलायम गोस्त नाकार रबड़ के पदार्थ प्रयुक्त होते हैं । उनको फिंगर स्टाल (Finger stall) कहते हैं । (४) शमीयन्त्र—यह यन्त्र अर्धवृत्त सरण होता है परन्तु हममें छिद्र नहीं रहता है । इस का उपयोग अर्थ पर दबाव डालने के लिये होता था । 'शम्बायः साद्गर्भच्छिद्र यन्त्रमर्शो प्रथीजनम्' । (५) प्राणसुर्दारौघयन्त्र—नास स्थित अर्धवृत्त या अर्थ (Polypus) देखने के लिये इन नाडीयन्त्र का उपयोग होता था । 'प्राणसुर्दारौघामेकच्छिद्रा नडम गुच्छर्या । प्रेरिणीपरीणाहा स्पद्भगदरयन्त्रवत्' ॥ आधुनिक यन्त्र संभार में नेकल स्पेक्युलम (Nasal Speculum) ऐसा ही होता है । परन्तु उसमें पकड़ (Handle) द्वारा परिणाह छोटा और मोटा करने का प्रबंध होता है । (६) योनित्रयोक्षेपयन्त्र—योनि के अर्धवृत्तीय प्रवेश का निरीक्षण करने के लिये इसका उपयोग होता था । यह नाडीयन्त्र एक तरफ नुकीला और दूसरे तरफ घोंडा होता है । इसकी दीवाल चार खंडों में विभक्त होती है और ये खण्ड एक तरफ चलने के साथ लगे हुए रहते हैं । प्रत्येक खण्ड के साथ एक शलाका (Lever rod) लगी हुई रहती है और इनके उपर दबाव डालने से मुकुल सरण यन्त्र का मुख विकसित होता है—'योनित्रयोक्षेप मये सुनिर घोडशाकुलम् । सुन्दरं चतुर्भित्तमोमनुकुलनायम् ॥ चतु-शलाकायान्त मूले तद्विकसोन्मुवे' ॥ इस यन्त्र की रचना वाग्मटार्थ-कौमुदी में सुन्दर वर्णन की गई है—'कस्य यन्त्रस्य कल्पनायां चत्वारि खण्डाणि तथा वार्ध्याणि तथा पृथिक्या वदन्ति मिलितानि च पत्तमुकुलाकारमुखा, अनन्तरध्रिषा, पृष्ठयुत्परिणाहवती नाडी स्वाय । ततस्तन्मध्ये प्रत्येक खण्डमग्नं चतस्र शण्का आयुष्कात् सत्रिवेद्य शलाकाना मध्यभागे तथा नक्षीयात् तथा शलाकामूलीयनेन वनस्य मुख विकसेत्' । पाश्चात्य वैद्यकीय परिभाषा में योनिविक्षेप यन्त्र को 'धजायनल स्पेक्युलम' (Vaginal Speculum) कहते हैं । ये स्पेक्युलम अर्धयन्त्र की भांति वृत्त (यथा Ferrussor's Speculum), द्विभित्त (यथा Cusco's Vaginal Speculum), और चतुर्भित्त (Allingham's Speculum) होते हैं । वाग्मटोक्त योनिविक्षेप यन्त्र आधुनिक चतुर्भित्त धजायनल स्पेक्युलम के साथ बहुत कुछ सादृश्य रखता है ।

शलाकायन्त्राद्येषु नानाप्रकाराणि, नानाप्रयो-जनानि, यथायोगपरिणाहदीर्घाणि च; तेषां गण्ड-पदसर्पणशरपुद्गवडिशामुसे हे हे, एषणव्यूह-नचालनाहरणार्थमुपदिश्येते; मसूरदलमात्रमुसे हे किंचिदानतामे स्रोतोगतशल्योद्हरणार्थ; पद् कार्पा-सहतोष्णीयाणि, प्रमाजनक्रियासु, श्रीणि हृव्यांठ-तीनि सहस्रमुखानि, सारौषधप्रशिक्षणार्थ; श्रीणयन्या-नि जाम्बययदनानि, श्रीण्यकुशयदनानि, पडेषामिक-मसमिभ्रेतानि; नासाहृद्दहरणार्थमेकं कोलास्थियदल-

मात्रमुखं खलुतीक्ष्णोष्ठम्: अङ्गनाथमेकं कलायपरि-
मण्डलमुभयतो सुकुलाग्रं: सूत्रमार्गविशोधनार्थमेकं
मालतीपुष्पवृन्ताग्रप्रमाणपरिमण्डलमिति ॥१३॥

शलाका यन्त्र भी अनेक प्रकार के होते हैं, अनेक कामों में आते हैं और प्रयोजन के अनुसार मोटी तथा लंबे होते हैं। उनमें कंचरे के समान मुखवाली दो शलाकाएँ होती हैं, जो पुष्प के काम में आती हैं। दो सर्प के फण के समान मुख वाली होती हैं, जो प्यूहन के काम में आती हैं। दो शलाकाएँ बाणमूल के समान मुखवाली होती हैं, जो चालन के काम में आती हैं। और दो शलाकाएँ बडिग (आंकड़ा) के समान मुख वाली होती हैं, जो आहरण के काम में आती हैं। मसूर डाल के समान मुखवाली किंचित् नीचे की ओर मुड़ी हुई दो शलाकाएँ होती हैं, जो मोतोगत शल्य निकालने के काम में आती हैं। छः शलाकाएँ रुई से गिर लिपटी हुई होती हैं, जो (मषादि) पाँछने के काम में आती हैं। तीन शलाकाएँ निम्न मुख वाली (इयने में) कनकी के समान होती हैं, जो क्षार औषध पहुँचाने के काम में आती हैं। दूसरी तीन शलाकाएँ ब्रासुन फल के समान मुख वाली और तीन अंगुल के समान मुखवाली होती हैं। ये छह शलाकाएँ अभिकर्म में उपयोगी होती हैं। छोटे चेर की आधी गुठली के समान मन्ववाली किंचित् निम्न तथा तीक्ष्ण किनार की एक शलाका होती है, जो नामास्थित अर्बुदादिक का आहरण करने के काम में आती है। बीच में मटर के समान गोल मोटी और दोनों ओर पुष्प फलिका के समान पतली ऐसी एक शलाका होती है, जो नेत्रों में अङ्गन डालने के काम में आती है। नालती पुष्पवृन्त (इंडल) अग्र के समान गोल मोटी एक शलाका होती है, जो सूत्रमार्ग के विरोधन के काम में आती है ॥१३॥

चक्रद्वय—गण्डपदादि—यहाँ मुख शब्द का गण्डपदादि प्रत्येक के साथ संबंध समझना चाहिये जिससे गण्डपदमुख, सर्पफणामुख इत्यादि शब्द बन जाते हैं। इन गण्डपदमुखादि चारों शलाकाओं का पुष्पाग्रिकर्म यथासंख्य समझना चाहिये। वाग्मट में भी इन शलाकाओं के ये ही विशेष कार्य बतलाए गये हैं। वहाँ सर्पफणादि तीन शलाकाओं का निर्देश आकार के अनुसार शंकु के नाम से किया है। यथा—‘शङ्खः पद’। हाराणचंद्र की सुश्रुतसंहिता में ‘गण्डपदशरपुस्तसर्पफणवटिशमुखे द्वे’ ऐसी पाठ स्वीकृत किया है और टीका में लिखते हैं—‘पुष्पाग्रिकर्मणं यथायोगमेव बोध्यं न तु यथासख्यम्’। परन्तु गण्डपद-मुखी शलाका से आहरण का कार्य और सर्पफणमुखी शलाका से अन्वेषण का कार्य ठीक नहीं हो सकता है। अतः इन शलाकाओं का कार्य यथासंख्य समझना ही अधिक प्रशस्त है।

गण्डपदमुखी—गण्डपद कंचवा (Earthworm) को कहते हैं। इस कृमि का मुख जैसा थोथा होता है, वैसा इस शलाका का भी होता है। मुख स्थूल इस उद्देश्य से रक्खा जाता है कि मण नाड़ी इत्यादिक का अन्वेषण करते समय शलाका से किसी प्रकार की पीड़ा न होने पावे। अंग्रेजी में गण्डपद-मुखी शलाका को ‘ब्लंट प्रोब’ (Blunt probe) कहते हैं। इनकी मोटाई और लंबाई यथायोग्य समझना चाहिये।

सर्पफणमुखी—सर्प के फण के समान चौड़ा और चपटा मुख जिसका हो। एक शलाका की लंबाई सोलह अंगुल और दूसरे की चारह अंगुल होती है—‘उभौ तेषां षोडशान्दशान्दगुलौ । गूनेनेऽर्णिकथावचनौ’ । (अ. हृदय)। आधुनिक यन्त्रसंभार में भिन्न भिन्न प्रकार के रिट्राक्टर (Retractors) का सादृश्य सर्पफणशलाका के साथ होता है।

शरपुष्पमुखी—शरपुष्प बाणमूल को कहते हैं। एक शरपुष्प-शलाका दस अंगुल लम्बी और दूसरी चारह अंगुल लंबी होती है—‘द्वौ दशान्दशान्दगुलौ । चालने शरपुष्पासौ’ ॥ (अ. हृदय)।

बडिशमुखी—बडिग; मस्य पकड़ने का लोहे का आंकड़ा, तत्समान वक्रमुखी शलाका। अंग्रेजी में बडिशमुखी शलाका को हुक (Hook) कहते हैं।

पुष्पव्यूहनादि शब्दों के अर्थ आगे सूत्र १६ में यन्त्र कर्मों का परिचय करते समय दिये गये हैं।

मण्डलमुखी—मुख नासा कर्ण इत्यादि खोतों के शल्य निकालने के लिये इसका उपयोग होता है। एक शलाका आठ अंगुल और दूसरी शलाका नव अंगुल होती है। ‘क्षोत्रेभ्यः शल्यहारिणी । मण्डलमुखे द्वे स्थानामष्टनवांगुले ॥’ (अ० हृदय)। कापांतस्तोष्णीपणि—इनका उपयोग गुद, कर्ण और नासा गत मण के पूयत्वाव पोछने के लिये तथा क्षारप्रयोग करने के पश्चात् पोछने के लिये होता है—‘विविधमण्डेक्षारप्रमाणन-क्षियानु’ (अ० संग्रह)। इनमें से गुद के लिये दश और चारह अंगुल की दो, नासा के लिये छः और सात अंगुल की दो और कान के लिये आठ और नव अंगुल की दो होती हैं। कापांत-विहितोष्णीपाः शलाकाः षट् प्रमादने । पायावाप्तशरपुष्पे द्वे दशान्दशान्दगुले । द्वे परसप्तान्गुले प्राणे द्वे कर्णेऽष्टनवांगुले ॥ (अ० हृदय)। अंग्रेजी में इनको स्वाब प्रोब (Swab probes) कहते हैं।

खट्मुद—‘खट्मौपधमर्दनपात्रमिव मुखं येपाम् तानि तथोक्तानि’ (हाराणचन्द्र)। इनकी लंबाई आठ अंगुल की होती है, निम्नता और मोटाई कनिष्ठिका अनामिका मध्यमा अंगुली के नख समान यथाक्रम होती है—‘क्षारविषौषधप्रणिधानाय च दर्ब्यस्त्रिो-स्टांगुला दर्ब्याकाराः कनिष्ठिकानामिकामध्यमांगुलिनखपरिमाणनिम्न-मुलास्तथाजलिसंस्थानाः’ (अ० संग्रह)। अंग्रेजी में इनको स्पून (Spoon) कहते हैं। अंजलिस्थानाः—(Spoon shaped)।

अभिकर्म—अंग्रेजी में इसको कोटरी (Cautery) कहते हैं। नासाभ्रुदहरणार्थम्—इस शलाका को अंग्रेजी में नेसल क्युरेटी (Nasal curette) कह सकते हैं। वाग्मट में इस शलाका का आकार चेर की गुठली के समान और कार्य नासागत अर्ण तथा अर्बुद का दहन बतलाया है—‘कीलास्थिदलनुत्वास्यां नासाशोऽर्बुददाहकृत’।

अथानार्थम्—अङ्गन के लिये जो शलाका होती है वह मृदु, आठ अंगुल लंबी, बीच में किंचित् पतली, दोनों ओर मटर के समान मोटी, परन्तु मुकुल समान अग्रवाली होती है—‘वक्रयो-मुकुलाकारा कलायपरिमण्डला । अष्टांगुला तनुमैत्र्ये सुकृता साधुनिग्रहा ॥’ (सु. उत्तरतन्त्र अ. १७)। लेखन, रोपण, प्रसादन के अनुसार यह भिन्न भिन्न पदार्थ की बनाई जाती है—‘प्रशस्ता लेखने ताम्री, रोपणे काल्लोहना । अर्बुगुलीव सुवर्णोत्था रूप्यजा च प्रसादने ॥’ (चक्रवर्त)। सूत्रमार्गविशोधनार्थम्—सूत्रमार्ग के अन्वेषण के

के लिये । चरकमहिता में हृदयल ने उत्तर बन्ति देने के पहले शलाका से मूत्रमार्ग का अन्वेषण करने के लिये कहा है—'नये सुलोपनिद्वय दृष्टे मेत्रे ध्रुवन्ति । शलाक्यानिष्य गतिं यद्यप्रतिघटा भवेत् ॥ एत शेषप्रमाणेन पुनरेत प्रवेशयेत् ॥ (सिद्धिस्थान अ ९) । अंग्रेजी में मूत्रमार्गविधोपक शलाका को 'युरेथ्रल साउन्ड या बूजी' (Urethral sound or Bougie) कह सकते हैं ।

भागप्रद ने उपरोक्त शलाकाओं के अतिरिक्त निम्न शलाकाओं का अधिक वर्णन किया है ।

(१) गर्भरुद्ध—यह शङ्कु मूत्रमार्ग का शिरोविदारण करने के पश्चात् आहरण करने के लिये प्रयुक्त होता था । इसकी सलाई अन्य शङ्कु की भाँति दस से सोलह अंगुल होती है । 'नतोऽप्ये रश्नुना जुन्ये गर्भरुद्धुरिति सूत्रम् । अष्टाङ्गुल्यनलेन मूत्रमर्गं हरेत् । त्रिषु ॥ अंग्रेजी में गर्भ आहरण के इस यन्त्र को ब्लट हुक पुन्ड क्रोचेट (Blunt hook and crotchet) कहते हैं ।

(२) अस्मरीहणशलाका—इसका उपयोग अस्मरी हण के लिये होता था । सुश्रुत में यद्यपि इसका स्वतंत्र वर्णन नहीं है तथापि अस्मरी के शब्दार्थ में 'अप्रवक्त' नाम से इसका निर्देश किया है—'यथा च न मित्ये न चूर्थने वा तथा प्रयेन चूर्णमलयन्ववस्थिन दि पुन परिवृद्धिमिति, तत्तत्त्वं सन्तानप्रवक्त्रेणादीनाम् ॥ अंग्रेजी में अस्मरीहण शलाका को लिथोटोमी स्कोप (Lithotomy scoop) कहते हैं ।

(३) बर्णरोधनयन्त्र—बर्णरोधनयन्त्रवत्प्रधान्त्वं नवाननम् । इस यन्त्र को 'इयर स्कूप' (Ear scoop) कह सकते हैं । कर्णरोगचिकित्सा में शलाका द्वारा कान का मल निकालने के लिये सुश्रुत और चक्रदत्त में लिखा है—'कर्णच्छिद्र वर्णमान वीट हेदमलादि वा । श्लेष्माणसेदीमानवयमि शलाकया ॥ (सुश्रुत) । 'क्षेत्रित्वा तु तेनेन स्वदेन प्रतिलाय्य च । शोषयेत् वर्णगुहं तु मित्क् सम्यक् शलाकया ॥ (चक्रदत्त)

(४) शरपुद्गलयन्त्र—यह यन्त्र चार अंगुल एंबा होता है और इसका उपयोग दाँत निकालने के लिये किया जाता है । इसका उपयोग और आकार आयुजिनिक दृष्ट एलिबेटर (Tooth elevator) के साथ मिलता है । 'शरपुद्गलमुत्त दन पातन चतुरङ्गुलम्' ।

(५) अर्धेन्दुमुखी शलाका—इस शलाका का उपयोग वन्-जगणस्य आंत्रवृद्धि (Bubonocelo) की चिकित्सा में दहन कर्म के लिये होता है । यद्यपि इस शलाका का स्पष्ट निर्देश यन्त्र-विधि अध्याय में नहीं मिलता है तथापि आंत्रवृद्धिचिकित्सा में इसका नाम आया है—'एत वा वक्ष्यन्था वा दोषेरेन्दुवधना । सम्यदमार्गावरोधार्थं कोशप्रातां तु वन्धिरेत् ॥ (सु चि अ १९) । इसका वर्णन अष्टांगहृदय में ऐसा किया है—'शलाकाभन्वर्ध्नीति । यथोर्ध्वशुद्धा च मूले चार्धेन्दुमत्रिभागम् ॥ अष्टांगमग्रह में भी आंत्रवृद्धिचिकित्सा में अर्धेन्दुमुखी शलाका का उपयोग दहन कर्म के लिये बतलाया है । इसलिये निर्णयसागर सुश्रुतसंहिता की टिप्पणी में अर्धेन्दुमुखी के लिये ट्रस (Truss) जो अंग्रेजी प्रतियन्त्र दिया है, वह प्रयत्न नहीं हो सकता ।

उपयन्त्राप्यपि-रज्जुवैणिकापट्टचर्मामन्तर्वल्कल लतावल्कलीलाशममुद्ररपायिपादतलाङ्गुलिजिह्वादन्त-

नरमुपनालाभ्यकटकशापाप्राणीयनप्रवाहसहर्षायस्का-न्तमयानि साराग्निमेरजानि चेति ॥१४॥

उपयन्त्र भी (१) रज्जु, (२) वैणिका, (३) पट्ट, (४) चर्म (५) अन्तर्वल्कल, (६) लता, (७) वप, (८) अशीलास (९) मुद्रा, (१०) पाणिजल पादतल, (११) अट्टुगुलि, (१२) जिह्वा (१३) दन्त, (१४) नख, (१५) मुक्त, (१६) बाल, (१७) अब कटक, (१८) शाखा, (१९) धीवन, (२०) प्रवाहण, (२१) हर्ष (२२) अयस्कान्त, (२३) सार, (२४) अग्नि, (२५) मेघ (इस प्रकार पचीस होते हैं) ॥१४॥

यत्कथ्य—उपयन्त्र—यन्त्रयमीपवर्ती हीनयन्त्र 'उपनिग्नि पन्थिरिच्छुपयन्त्रि' । जो काम-पढ़ने पर कई जगह यन्त्र क शल्यकरण का कार्य करते हैं अथवा यन्त्र की क्रियाओं में सहायता करते हैं, ये सब उपयन्त्र कहलाते हैं । इसलिये उपर्युक्त पचीस उपयन्त्रों के सिवाय अनेक उपयन्त्र हो सकते हैं । बागम में जान्त्र, बाल, पाक, भय ये चार उपयन्त्र अधिक दिये हैं ।

जान्त्र—इसका उपयोग सिराघमनी का बंधन करके रक्त स्राव बंद करने के लिये होता था । चरक और सुश्रुत में आंत्र क उपधीन नहीं दिखाई देता है । अष्टांग संग्रह और हृदय में हा का प्रथम उपयोग आया है—'अन्त मेघादीनां मुक्कान्त्वं शि ख्यत् शक्यतेऽपान्तरं मङ्गमसिद्धिरप्यनादिपु सुख्ये' । (बागमर्दा कौमुदी) । आयुजिनिक शल्यचिकित्सा में भी शुक्यान्त्र का उपयोग सीने के लिये (Sutures material) तथा रक्तसमन से लिये (Ligature) होता है । इसे क्वाट गट (Catgut) कहते हैं और यह बकरी के ही आँत से विशेष पद्धति द्वारा बनाया जाता है ।

रज्जु—सूत्र या धोरी—क्षारयुक्त सूत्रों का उपयोग वेदन तथा भेदन के लिये होता था । 'क्षरद्वन्द्वमभीरुणा नाडी मर्माभिया च वा । क्षारयुगे ता टिन्वाप्यु श्लेषा दुदिमान् ॥ (सुश्रुत) । 'मार्जित रजनीचूर्णं खुशीशीरे पुन पुन' । बन्धनात् श्रुदं स्य तित्तत्पशोमगन्दरन्तम् ॥ (चक्रदत्त) । इसके सिवाय सर्पविपचिकित्सा में भी दशस्थान के ऊपर बांधने के लिये रज्जु का उपयोग होता था—'सा तु रज्जादिभिर्बद्धा विप्रतिकरी मता' । (सुश्रुत) । वैणिका का भी यही उपयोग होता था ।

पट्ट—यणस्थान में बांधने के विविध आकार के वस्त्र अंग्रेजी में इनको बन्डेज (Bandage) कहते हैं । इनका विचार आगे अट्टारहवें अध्याय में विस्तृत रूप से किया गया है ।

चर्म—चर्म का उपयोग बंधन के लिये होता था । गुदभ्रंश में चर्म की गोश्लेषक प्रयुक्त होता था—'शुद्रभ्रे गुद रिबन् लोहं भक्त प्रवेशयेत् । कारयेत् गोश्लेषकम् मन्थच्छिद्रेण चर्मणम् ॥ (सुश्रुत) । अर्थ, अस्मरी, भगन्दर, सिराब्ध्यादि शक्यकर्मों में रोगी को फसल बांधने के लिये चर्मपट्ट का उपयोग होता था । आयुजिनिक शल्यचिकित्सा में भी अंगीमगदरादि गुदसमीपवर्ती शल्यक्रिया के समय पाँव की निश्चल करने के लिये चर्मपट्टों का (Lithotomy straps) का उपयोग होता है । इनके सिवाय रज्जुवैणिका की भाँति सर्पदश में बांधने के लिये भी चर्मपट्ट का उपयोग होता था—'दशस्वीरि वीयादरिहं चतु रदुले । मोतचर्मणवत्कस्ताना घृदान्यनमेन च' ॥ (सुश्रुत) । अलीदर

में जल निकालने के पश्चात् उदरबंधन के लिये चर्मपट का उपयोग होता था—'निर्द्धृते च दोषे गाढतरमाविक्रमोशयचर्मणामन्य-
मेनेन परिवेष्टयेदुदरं तथा नाध्मापयति वायुः' । (सुश्रुत) । भिन्न भिन्न
वस्तुयन्त्रों के लिये भी चर्म का उपयोग होता था ।

अन्तर्वल्कल—इनका उपयोग अस्थिभग्न की चिकित्सा में
कुशा (Splints) बनवाने के लिये होता था—'मधूकोदुम्बराश्वत्थ-
पलाशककुम्भवचः । वंशतर्जवदानां वा कुशार्धमुपसंद्धरेत्' ॥ (सुश्रुत) ।

वस्त्र—रज्जु, वेष्टिका और चर्म का उपयोग जिन कामों के
लिये होता था, उन कामों के लिये वस्त्र का भी उपयोग होता था ।

अष्टीलासम्—'दीर्घवर्तुलपापाणः' । एक विशेष प्रकार का
पत्थर । इसका उपयोग अस्थिगत शल्य निकालने के समय शल्य
पर प्रहार करने के लिये तथा हस्ततल अस्थिभग्न की चिकित्सा
में होता था—'अस्थिदेशोत्तुष्टिमष्टीलासम्मुद्राणामन्यतमस्य प्रहारेण
विचाल्य यथामार्गमेव' । (सुश्रुत) । 'प्राग्गोमयमय षिण्डं धारयेन्मृष्टमयं
ततः । हस्ते जातवले चापि कुर्वात् पापाणधारणम्' ॥ (सुश्रुत) ।

मुद्गर—इसका भी उपयोग अष्टीलासम् की भाँति अस्थि-
शल्य निकालने के लिये होता था ।

पाणिपादतलांगुलि—हाथ सर्व यन्त्रों में प्रधान है, यह
पहले ही बतलाया जा चुका है । इसके सिवाय विम्लापन के
लेपे, प्रासशल्य में आघात करने के लिये, अस्थिभग्न और
रोग में हड्डी ठीक करने के लिये हाथ प्रयुक्त होता था ।
अभ्यज्य स्वेदयित्वा तु वेणुना वा शनैः शनैः । विमर्देदेद् भिपक्
गणस्तलेनांगुष्ठकेन वा ॥' (सुश्रुत) । 'प्रासशल्ये कण्ठासक्ते स्कन्धे मुष्टि-
नाभिहन्त्यात्' (सुश्रुत) । 'कौर्परं तु तथा सन्धिमंगुष्ठेनानुमाज्येत्' ।
(सुश्रुत) । 'व्यात्तानेन हनु खिन्नामंगुष्ठाभ्यां प्रपीड्य च । प्रदेशिनीभ्या-
ञ्चोन्म्य चिकुकोन्नमनं हितम्' ॥ (चरक) । पाँव का उपयोग अस्थि-
शल्य निकालते समय हड्डी पर दबाव देने के लिये होता था—
'अस्थिविवरप्रविष्टमस्थिविदष्टं वाऽवगृह्य पादाभ्यां यन्त्रेणापहरेद्' । (सु.)

जिह्वा—इसका उपयोग रोगी की परीक्षा के लिये होता है—
'रसनद्रियविशेषाः प्रमेहादिषु रसविशेषाः' । (सुश्रुत) । परंतु जिह्वा
का उपयोग अप्रत्यक्ष चीटी आदि द्वारा करके अनुमान से रोग
परीक्षा करनी चाहिये—'रसं तु खल्वात्तरशरीरगतमिन्द्रियवैषयिकम-
प्यनुमानादवगच्छेत्' । (चरक) । नेत्रगत शल्य भी जीभ से
निकाला जाता है ।

दन्त—हस्तिदन्त । इसका उपयोग अशौंयन्त्र, अंगुलि-
त्राणक इत्यादि यन्त्र बनवाने के लिये होता था । इसके सिवाय
गणस्थान में रोम उत्पन्न करने के लिये इस का उपयोग
होता था । 'हस्तिदन्तमसीं कृत्वा मुख्यं चैव रसांजनम् । रोमाण्य-
तानि जायन्ते लेपात् पाणितलेष्वपि' ॥ (सुश्रुत) ।

नख—इनका समावेश अनुयासों में भी किया गया है ।
इस शल्य आहरण के लिये नखों का उपयोग हमेशा होता है
इसलिये इनका समावेश अनुयन्त्र में किया है । इसके सिवाय
शस्त्रक्रिया के समय त्वचा के भिन्न भिन्न पर्त स्वतंत्र करने के
लिये भी इनका उपयोग होता है ।

सूख—सूख का उपयोग प्राचीन काल में मुख्यतया
चूसने के लिये (Suction pump) होता था । आज कल
जहाँ चूसने की आवश्यकता होती है, वहाँ रबड़ के चूषक गेंद
(Suction Balls) प्रयुक्त होते हैं । बाल—घोड़े के तथा

मनुष्यों के केस । इनका उपयोग घण सीने के लिये, शिर
शल्य की चिकित्सा में, तथा कण्ठस्थ शल्य निकालने के लिये
होता था । 'सीव्येत सूक्ष्मेण सूत्रेण, साय्वा बालेन वा पुनः' । (सुश्रुत) ।
'शिरसोपहृते शल्ये बालवर्ति प्रवेशयेत्' । (सुश्रुत) । 'अस्थिशल्य-
मन्यद्वा तिर्थकृष्णठातकगवेद्य केशोण्डुकं दृढैकसूत्रबद्धं द्रवभक्तोपहितं
पाययेत्'.....'शल्येकदेशसक्तं शात्वा शाखासूत्रं सहसा त्वाक्षिपेत्' ।
(सुश्रुत) । आज भी सीवन द्रव्यों में (Suture material) घोड़े

के केसों का समावेश होता है और कण्ठासक्त शल्य निकालने के
लिए घोड़े के केसों का बनाया हुआ यन्त्र प्रयुक्त होता है । उसे
(Probang) कहते हैं । इसके सिवाय प्राचीन काल में अपरा
पातन के लिये केशवेष्टित अंगुलि द्वारा कण्ठप्रमार्जन करने की
प्रथा थी—'अथापराऽपतन्त्यानाहाभ्मानौ कुरुते, तस्मात् कण्ठमस्याः
केशवेष्टितयाऽङ्गुल्या प्रमृजेत्' । (सुश्रुत) । अश्वकटक और शाखा—
इनका उपयोग अस्थिगत शल्य निकालने के लिये होता था—
'पद्माद्यथासुपसंयतस्याश्वस्य वक्त्रकटिके यधीयात् । अथैनं कराया ताड्ये-

वथोन्नामयन् शिरोवेगेन शल्यमुद्दरति; दृढां वा वृक्षशाखांमवनम्य तस्यां
पूर्ववद्दध्नुद्धरेत्' । (सुश्रुत) ; धीवनम्—श्लेष्मादिनिरसनम् । मुख
से श्लेष्मा लाला इत्यादि थूकना । इससे मुख और गले में
उपस्थित हुआ शल्य बाहर निकाला जाता है । प्रवाहण—कृथना,
वात मूत्र मल और गर्भ का संग जिस समय होता है तब
प्रवाहण से फ्रायदा होता है—'वातमूत्रपुरीषगर्भसंगेषु प्रवाहणमुक्तम्' ।
(सुश्रुत) । किंवा घन विरेचन अशुप्रवर्तनादि द्वारा आमाशय,

आन्त्र और आँखों का शल्य निकालना यह भी प्रवाहण का
अर्थ हो सकता है । हर्ष—रोगी की चित्तवृत्ति प्रसन्न और हर्षित
होने से शस्त्रक्रिया करने में सुभीता होता है तथा शस्त्रक्रिया
हो जाने के पश्चात् घण का रोपण जल्दी होकर रोगी भी जल्दी
सुधरता है, इसलिये हर्ष का निर्देश किया है—'हृद्यवस्थितमनेक-

कारणोत्पन्न शोकाशल्य हर्षेण' । (सुश्रुत) । 'सुहृदो विक्षिप्त्याशु
कथामिभ्रणवेदनाः । आशासयन्तो बहुशस्त्रवनुकूलाः प्रियंवदाः ॥.....
सम्पदायनुकूलाभिः कथाभिः प्रीतमानसः । आशावान् व्याधिमोक्षाय क्षिप्रं
सुखमवाप्नुयात्' ॥ (सुश्रुत) । वाग्भट ने हर्ष के साथ भय का भी
निर्देश किया है । डर के मारे शरीर की सारी पेशियाँ शिथिल
हो जाती हैं जिससे शस्त्रकर्म करने में, शल्य निकालने में, टूटी
हुई हड्डियाँ ठीक करने में सुभीता होता है । दातन्त्र अस्पताल

में जब रोगी शस्त्रकर्म के पहले बहुत शोर-गुल मचाता है तब
उसको कभी कभी भीति दिखलाने के सिवाय दूसरा मार्ग ही
नहीं होता है । कभी कभी उसको सारने की भी आवश्यकता
होती है । इससे रोगी शस्त्रकर्म का दुःख सहन करने के लिये
तैयार होता है । उन्माद, हिक्का रोग भीति से एकाएक दूर हो
जाते हैं । इस कारण से लिखा है—'भयहर्षौ शरीरस्य सरसा भावा-

न्तरमुत्पादयन्तौ यन्त्रकार्यं कुरुते' । (वाग्भटार्थकौमुदी) ।
अयस्कान्त—इसे चुंबक कहते हैं । अंग्रेजी में इसे लोडस्टोन
(Loadstone) कहते हैं । यह एक खनिज लोहे का भेद है
और इसमें लोहे के आकर्षण करने की शक्ति होती है ।
इसलिये इसका उपयोग लोहशल्य निकालने के लिये होता था ।
'अनुलोममनववद्वकर्णमनल्पघणसुखमयस्कान्तेन' । (सुश्रुत) । आध-

निक शस्त्रचिकित्सा में नेत्रगत लोहशल्य (Iron filings)
निकालने के लिये कुत्रिस अयस्कान्त का उपयोग करते हैं ।

मनुष्यों के केस । इनका उपयोग घण सीने के लिये, शिर
शल्य की चिकित्सा में, तथा कण्ठस्थ शल्य निकालने के लिये
होता था । 'सीव्येत सूक्ष्मेण सूत्रेण, साय्वा बालेन वा पुनः' । (सुश्रुत) ।
'शिरसोपहृते शल्ये बालवर्ति प्रवेशयेत्' । (सुश्रुत) । 'अस्थिशल्य-
मन्यद्वा तिर्थकृष्णठातकगवेद्य केशोण्डुकं दृढैकसूत्रबद्धं द्रवभक्तोपहितं
पाययेत्'.....'शल्येकदेशसक्तं शात्वा शाखासूत्रं सहसा त्वाक्षिपेत्' ।
(सुश्रुत) । आज भी सीवन द्रव्यों में (Suture material) घोड़े

के केसों का समावेश होता है और कण्ठासक्त शल्य निकालने के
लिए घोड़े के केसों का बनाया हुआ यन्त्र प्रयुक्त होता है । उसे
(Probang) कहते हैं । इसके सिवाय प्राचीन काल में अपरा
पातन के लिये केशवेष्टित अंगुलि द्वारा कण्ठप्रमार्जन करने की
प्रथा थी—'अथापराऽपतन्त्यानाहाभ्मानौ कुरुते, तस्मात् कण्ठमस्याः
केशवेष्टितयाऽङ्गुल्या प्रमृजेत्' । (सुश्रुत) । अश्वकटक और शाखा—
इनका उपयोग अस्थिगत शल्य निकालने के लिये होता था—
'पद्माद्यथासुपसंयतस्याश्वस्य वक्त्रकटिके यधीयात् । अथैनं कराया ताड्ये-

वथोन्नामयन् शिरोवेगेन शल्यमुद्दरति; दृढां वा वृक्षशाखांमवनम्य तस्यां
पूर्ववद्दध्नुद्धरेत्' । (सुश्रुत) ; धीवनम्—श्लेष्मादिनिरसनम् । मुख
से श्लेष्मा लाला इत्यादि थूकना । इससे मुख और गले में
उपस्थित हुआ शल्य बाहर निकाला जाता है । प्रवाहण—कृथना,
वात मूत्र मल और गर्भ का संग जिस समय होता है तब
प्रवाहण से फ्रायदा होता है—'वातमूत्रपुरीषगर्भसंगेषु प्रवाहणमुक्तम्' ।
(सुश्रुत) । किंवा घन विरेचन अशुप्रवर्तनादि द्वारा आमाशय,

आन्त्र और आँखों का शल्य निकालना यह भी प्रवाहण का
अर्थ हो सकता है । हर्ष—रोगी की चित्तवृत्ति प्रसन्न और हर्षित
होने से शस्त्रक्रिया करने में सुभीता होता है तथा शस्त्रक्रिया
हो जाने के पश्चात् घण का रोपण जल्दी होकर रोगी भी जल्दी
सुधरता है, इसलिये हर्ष का निर्देश किया है—'हृद्यवस्थितमनेक-

कारणोत्पन्न शोकाशल्य हर्षेण' । (सुश्रुत) । 'सुहृदो विक्षिप्त्याशु
कथामिभ्रणवेदनाः । आशासयन्तो बहुशस्त्रवनुकूलाः प्रियंवदाः ॥.....
सम्पदायनुकूलाभिः कथाभिः प्रीतमानसः । आशावान् व्याधिमोक्षाय क्षिप्रं
सुखमवाप्नुयात्' ॥ (सुश्रुत) । वाग्भट ने हर्ष के साथ भय का भी
निर्देश किया है । डर के मारे शरीर की सारी पेशियाँ शिथिल
हो जाती हैं जिससे शस्त्रकर्म करने में, शल्य निकालने में, टूटी
हुई हड्डियाँ ठीक करने में सुभीता होता है । दातन्त्र अस्पताल

में जब रोगी शस्त्रकर्म के पहले बहुत शोर-गुल मचाता है तब
उसको कभी कभी भीति दिखलाने के सिवाय दूसरा मार्ग ही
नहीं होता है । कभी कभी उसको सारने की भी आवश्यकता
होती है । इससे रोगी शस्त्रकर्म का दुःख सहन करने के लिये
तैयार होता है । उन्माद, हिक्का रोग भीति से एकाएक दूर हो
जाते हैं । इस कारण से लिखा है—'भयहर्षौ शरीरस्य सरसा भावा-

न्तरमुत्पादयन्तौ यन्त्रकार्यं कुरुते' । (वाग्भटार्थकौमुदी) ।
अयस्कान्त—इसे चुंबक कहते हैं । अंग्रेजी में इसे लोडस्टोन
(Loadstone) कहते हैं । यह एक खनिज लोहे का भेद है
और इसमें लोहे के आकर्षण करने की शक्ति होती है ।
इसलिये इसका उपयोग लोहशल्य निकालने के लिये होता था ।
'अनुलोममनववद्वकर्णमनल्पघणसुखमयस्कान्तेन' । (सुश्रुत) । आध-

इसका विद्युत् चुम्बक (Electro magnet) कहते हैं । अविधार—
इसका समावेश अनुग्रहों में भी किया गया है । इनका विद्युत्
विवरण एकाग्र और द्वादा अध्याय में किया गया है । भेषज—
इसमें शक्तिप्रिया म तथा घणचिकित्सा में उपयोगी आपधियों
का समाग्र और शब्द का कार्य (यथा दारण आपधियाँ)
करन वाली आपधियाँ का समाग्र हाता है । इनका वर्णन
मिश्रक अध्याय (सूत्रस्थान अ ३७) में किया गया है ।

पतानि देहे सर्वम्मिन् देहस्यापत्ये तथा ।

सद्यो कौष्ठे धमन्या च यथायोग प्रयोजयेत् ॥१॥

इन सब यंत्रों और उपयंत्रों का सर्व शरीर में शरीर के
किसी विभाग में संघि काष्ठ धमनियों में जहाँ जहाँ जिसस
कार्ये निम्न ही वहाँ वहाँ उनका उपयोग कर ॥१५॥

यन्त्रकामाणि तु—निर्घातनपूरणवर्धनयूहनघ
र्तनचालनघियर्तनविवरणपीडनमागयिरोधनविन्ध्य
णाहरणाच्छनोभ्रमनचिनमनभवनोन्मधनाचूपणैपण
दारणजूरणप्रक्षालनप्रधमनप्रमार्जनानि चतुर्वि
दाति ॥१६॥

यन्त्रों के कार्य मी (१) निर्घातन (२) पूरण (३) वर्धन
(४) यूहन (५) वर्तन (६) चालन (७) विघर्तन (८)
विवरण (९) पीडन (१०) मार्गवियोधन (११) विक्रमण
(१२) आहरण (१३) आच्छन (१४) उन्नमन (१५) चिनमन
(१६) भजन (१७) उन्मधन (१८) आचूपण (१९) पूरण
(२०) दारण (२१) जूरण (२२) प्रक्षालन (२३) प्रधमन
(२४) प्रमार्जन (इस प्रकार) कीर्तय होत हैं ॥१६॥

घत्तव्य—निर्घातन—मुद्गर पापाणानि स आघात करना
(Hammering) । इसस निरहरण अथ समरुने की आसयकता
नहीं है । आग विकरण आहरण कर्म स्वतंत्र दिव्य हैं । पूरण—
नेत्रवन्नि द्वारा गुद यानि हृत्पानि में आपधियों का भरना ।
वधन—रुग्णिका धर्मद्वानि स बाधना (Bandag ng) ।
यूहन—शल्य निरीक्षण या निकालने क लिये घणक किनारों
का खींचना (Retraction) । इच्छणमेतानुसार ऊर्ध्वविवरण
छिन्नोत्थितसोदरणैम् । यह अर्थ अग्रथल मालूम होता है ।
कारण यूहन के लिय सर्पकणयलाका का उपयोग बतलाया
गया है । इतराण्यन्त्रके परासुरार, चूत नु—सुर्णकणमार्गिन
समरुणम् । यह अर्थ अक्षरीचिकित्सा की दृष्टि से योग्य है ।
कारण यह है कि बहा अक्षरीसमरुण के लिये सर्पकणा का
उपयोग लिखा है— तस्मात् समरुणसमरुणवन्धनात्पीन । गणनाथ सन
के अनुसार मणोषयो मरिचिनीकरणम् वर्धन—कं द्रुपवण को
दृढी हुई हुई की तथा शरीर क अथ इतमन्त द्रुप अवयव को
यथास्थान स्थापना (Replacement) । इच्छण के अनुसार—
विधृतय वजुनीकरणम् । चालन—एक स्थान स दूसर स्थान छ
जाना या शल्य का चलायमान करना । हाराणचूट के अनुसार
गलाणि स्थान में अटके हुए शल्य को निकालना 'गलाविवकदा
विराख्यानीनामयवनम् । विवर्तन—यंत्र से पकड़ के घंटेकर शल्य
को निकालना । विवर्ण—नाडीगणानि घाय क मुह को खोल देना
(Dilatation) । पीडन—घणायन पृथखावादि निकालन के लिये
अंगुलि तथा आपधियों द्वारा दबाना । मार्गवियोधन—मस मूत्रा

दिक व अवराध में शलाका के उपयोग स मार्ग का खालना ।
विवर्ण—विगृह्य कर्षणम् । पकड़ के बाहर खींच एना (Extra-
ction) । शारण—संश्लिष्यित शल्य का बाहर ए जाना । आच्छन—
सकृपिण अंग का खींचना (Extension) । उन्नमन—अध-
स्थित शल्य या हड्डी आदि का ऊपर करना (Elevation) ।
चिनमन—उमरी हुई हड्डी आदि का नीच दबाना (Depression) ।
भजन—शल्य का खण्डित करना (Crushing) । आपुनिक
शल्यचिकित्सा म अक्षरी का आहरण भजन करक ही हाता
है । इस विधि का लियार्थी (Lobotomy) कहत है ।
उन्नमन—शल्य ज्ञान करन क लिय शलाका द्वारा विलास
करना (Soundng) । आचूपण—मुख या शृङ्ग द्वारा वाद
दुष्ट रक्त मस्य आदि को चूसना (Suction) । पूरण—नाडि
व्यापिक के अनात माग का अन्वेषण करना (Probing or
Exploration) । शरण—चिरविलादि दारण द्रव्यों का
ग्रहण करक पक शोध का फोडना । इच्छणमेतानुसार—
शरवरणानिद्विधमरणम् । कजूरण—सरल करना । प्रमालन—
निम्न त्रिकला आदि के हाथ से घणादि धाना । प्रधमन—नासा
कण्ठि में नाडी की सहायता म ओषधि चूर्ण फूँक देना
(Insufflation) । प्रमार्जन—अगुनी वष दाल इत्यादि स
पोंठ क साफ करना ।

स्ववुद्ध्या चापि विभजेद्यन्त्रकर्माणि वुद्धिमान् ।
असरयेयविकल्पत्वाच्छल्यानामिति निश्चय ॥१७॥

शल्य असल्य आकार क हाते हैं । इस कारण स बुद्धिमान्
वैद्य को चाहिये कि वह अपने बुद्धिबल से (आवश्यकता के
अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार क) यंत्र तथा उनके कर्म निर्माण
कर ल । यही (यंत्र और उनके कर्म की सत्या के संबध में)
निश्चय है ॥१७॥

घत्तव्य—य वधन—यत्र च कर्म च तानि यत्र तथा कर्म ।
इति निश्चय—इस अध्याय में यंत्र और उनके कर्म का वर्णन तथा
सत्या बतलाई गई है । वह केवल इनकी असल्येयतानिर्णय
है निश्चितार्थक नहीं समरुना चाहिये । हमलिये अष्टांगसमग्र
में लिखा है— अत कर्मवशातेनागिबसावधारणमशक्यम् ।

तत्र अतिस्पूलम् असारम् अतिदीर्घम्
अतिहृश्यम् अग्राहि विषमग्राहि घन शिथिलम्
अयुक्त, मृदुकीठ मृदुमुष मृदुपाशमिति ढादश
यन्त्रदीपा ॥१८॥

यन्त्रों में (निम्न) द्वाण्य टाप हात है—(१) अतिस्पूल
(२) असार (३) अतिर्दीर्घ (४) अतिहृद्य (५) अग्राहि
(६) विषमग्राहि (७) घक (८) शिथिल (९) अत्युक्त
(१०) मृदुकीठ (११) मृदुमुख (१२) मृदुपण ॥१८॥

घत्तव्य—अष्टांगसमग्र में यन्त्रों के केवल आठ द्यो
बतलाये हैं—दीर्घहृश्यमृदुमुषविषमग्राह्यामितिबिला इति मर्ह
वन्वया । अमार—इसका अर्थ इच्छण क अनुसार अनुद्ध
लाह म बना हुआ है— अनुद्ध नाहाणिपठित । इसका दूसरा
अर्थ इलका या तनु भी हाता है । ऊपर वाभट क अनुसार
ओ आठ यन्त्राण बतलाये हैं व और सुशुनात् पहन आठ
दोष मिल जात हैं । केवल अमार के स्थान में घाग्ध न तनु

शब्द का प्रयोग किया है। इसलिये असार और तनु दोनों शब्द पर्यायवाचक समझने में कोई आपत्ति नहीं है। वैसा भी असार का अर्थ तनु या दुर्वल होता है—वहूनामप्यसाराणां प्रभावाय हि दुर्बलः । इसके सिवाय दीर्घ, ह्रस्व, स्थूल, तनु, ग्राहि, विपमग्राहि—इन युग्मों में भी तनु शब्द ठीक बैठता है। हाराणचन्द्र के अनुसार असार का अर्थ 'कालेन जीर्णं दुर्लपोदो न च' है। परन्तु यह अर्थ थोड़ा अप्रशस्त प्रतीत होता है। क्योंकि यहाँ निर्दिष्ट किये हुए दोष नये यन्त्रों की वनावट के हैं अर्थात् नये यन्त्र निर्माण करते समय टालने के लिये निर्दिष्ट किये हैं। विपमग्राहि—ग्राह्यवस्तु के एक देश में पकड़ने वाला और दूसरे देश में न पकड़ने वाला—'एकतो गृहणाल्यन्यतो नेति' (इन्दुटीका)। वक्र—अनावश्यक स्थान में टेढ़ा किया हुआ। शिथिला—जो ढीला पकड़ता है। अत्युन्नत—जिस यन्त्र के कील कण्ठ या स्कन्ध प्रदेश में न होकर किञ्चित् ऊँचे मध्य प्रदेश के तरफ लगे हुए हैं। इससे लिवरेज (Leverage) कम होता है। जिससे यन्त्र समग्राहि होते हुए भी शल्य पकड़ते समय अधिक आयास पड़ता है। इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि जिसके कील बाहर आये हुए हैं।

मृदुकील—मृदु का अर्थ बारीक या कमजोर। जिस यन्त्र के जो खण्ड आपस में कमजोर कील से जुड़े हुए हैं। इन में से प्रथम चार और सातवां दोष सर्व प्रकार के यन्त्रों के लिये लागू होते हैं और बाकी स्वस्तिक यन्त्रों के लिये विशेषतया लागू होते हैं। एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तं यन्त्रमप्रादशाङ्गुलम् । प्रशस्तं भिपजा ज्ञेयं तद्धि कर्मसु योजयेत् ॥१९॥

इन ऊपर लिखे हुए (द्वादश) दोषों से विरहित, अष्टारह अंगुल दीर्घ यन्त्र वैद्य को श्रेष्ठ समझना चाहिये ॥१९॥

वक्तव्य—अष्टादशांगुलम्—यह अंगुल प्रमाण विशेष करके स्वस्तिक यन्त्रों के संबंध में समझना चाहिये—'तत्र स्वस्तिक-शस्त्राणि-अष्टादशांगुलप्रमाणानि' । कारण यह है कि शल्यहरण में स्वस्तिक यन्त्रों का ही उपयोग अधिक होता है।

दृश्यं सिंहमुखाद्यैस्तु गूढं कङ्कमुखादिभिः । निहरेत्तु शनैः शल्यं श(शा)स्त्रयुक्तिव्यपेक्षया ॥२०॥

शास्त्र और युक्ति दोनों का उपयोग करके जो शल्य बाहर होता हो, उसे सिंहमुखादि यन्त्र से निकाले और जो गहरा होता हो, उसे कङ्कमुखादि यन्त्र से निकाले ॥२०॥

वक्तव्य—सिंहमुखादि—सिंहमुखादि पहले नव स्वस्तिक यन्त्र। कङ्कमुखादि—कङ्कमुख से लेकर अंतिम पंद्रह यन्त्र। विशेष—उपयोग, आलोचना या विमर्श। सिंहमुखादि यन्त्र स्थूल सुख होने के कारण उनका उपयोग प्रायः दृश्य शल्यों में और कङ्कमुख तनुमुख होने के कारण उनका उपयोग भीतर घुसे हुए अदृश्य शल्यों में होता है। नि(चि)वर्तते साध्ववगाहते च शल्यं निगृह्योद्धरते च यस्मात् । यन्त्रेष्वतः कङ्कमुखं प्रधानं स्थानेषु सर्वेष्वधि(चि)कारि चैव ॥२१॥ इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने यन्त्रविधि-नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

कङ्कमुखयन्त्र (शल्यहरण की दृष्टि से) सर्व यन्त्रों में प्रधान है। क्योंकि वह घाव में अच्छी तरह प्रविष्ट होता है, शल्य पकड़ कर खींच के बाहर शीघ्र निकल आता है तथा सर्व स्थानों में भी उसका उपयोग होता है ॥२१॥

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां यन्त्रविधिनाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः ।

अथातः शस्त्रावचारणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से शस्त्रावचारणीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—शस्त्राणामवचारणमुपयोगो यस्मिन्नध्यायेऽस्ति स शस्त्रावचारणीयः । जिस अध्याय में शस्त्रों को काम में लाने की विधि वर्णन की है, वह अध्याय शस्त्रावचारणीय कहलाता है।

विंशतिः शस्त्राणि । तद्यथा—मण्डलाग्रकरपत्र-वृद्धिपत्रनखशस्त्रमुद्रिकोत्पलपत्रकार्धधारसूचीकुश-पत्राटीमुखशरारिमुखान्तर्मुखत्रिकूर्चककुठारिकाव्री-हिमुखारवेतसपत्रकवडिशदन्तशङ्केपण्य इति ॥२॥

बीस शस्त्र होते हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) मण्डलाग्र, (२) करपत्र, (३) वृद्धिपत्र, (४) नखशस्त्र, (५) मुद्रिका, (६) उत्पलपत्र, (७) अधेधार, (८) सूची, (९) कुशपत्र, (१०) आटीमुख, (११) शरारिमुख, (१२) अन्तर्मुख, (१३) त्रिकूर्चक, (१४) कुठारिका, (१५) व्रीहिमुख, (१६) आरा, (१७) वेतसपत्रक, (१८) वडिश, (१९) दन्तशङ्कु, (२०) एण्णी ॥२॥

वक्तव्य—विंशतिः—यह शब्द शस्त्रों का प्रकार निर्दर्शक है, कुल संख्या निर्दर्शक नहीं है। क्योंकि मण्डलाग्र, वृद्धिपत्र, सूची इत्यादि शस्त्र दो दो तीन तीन होते हैं। इन शस्त्रों के नाम बहुधा आकार के अनुसार रखे गये हैं—तेषां नामभिरिवा-कृतयः प्रायेण व्याख्याताः ।

(१) मण्डलाग्र—जिसका अग्रभाग गोल होता है, उसे मण्डलाग्र कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है—यदग्रे मण्डल वृत्तं धुरसंस्थानमेव वा । (डल्हण) । द्वे मण्डलाग्रे ये प्रोक्ते एकं वृत्तमुखं तयोः । तीक्ष्णधारं दृढं कार्यमेकं तत्र धुराकृति ॥ (भोज) । एक वृत्तमुख और दूसरा धुराकार । वाग्भट में इसका वर्णन 'तर्जन्यन्तर्नखा-कृति' ऐसा किया गया है। इसके अनुसार मण्डलाग्र शंकाकृति होता है। इसका उपयोग अर्म, पोथकी, मिराजाल इत्यादि अनेक नेत्ररोगों की चिकित्सा में तथा गलशुण्डिका, अधिजिह्वा में तथा मूढगर्भ की शस्त्रचिकित्सा में होता है। इन चिविध कार्यों को देखकर यह अनुमान होता है कि मण्डलाग्र शस्त्र कई प्रकार का छोटा तथा मोटा होना आवश्यक है। इसके स्वरूप के विषय में भी आधुनिक पण्डितों में मतभिन्नता पाई जाती है। यथा—Circular knife, Round head knife, Razorlike roundheaded knife, Decapitating knife, Sharp. curette इत्यादि ।

है। एपगी के कुल तीन कार्य होते हैं—१ अन्वेषण, २ भेदन, ३ आनुलोमन। अन्वेषण के लिये गण्डूपदाकारमुखी एपगी व्यवहृत होती है। इसका समावेश शलाका में किया गया है। भेदन या भेदनपूर्वक अन्वेषण के लिये तीक्ष्णमुखी एपगी चाहिये। इस तीक्ष्णमुखी एपगी का समावेश यहा शस्त्र में किया है। इसकी लवाई आठ अंगुल होती है और पीछे सूत्र के लिये घाम होता है—भेदनपूर्वक एपगीमुखा मूलनिहितता। (वाग्भट)। इसका उद्देश अन्वेषणपूर्वक भेदन या भेदनपूर्वक अन्वेषण होता है। इसके अंग्रेजी में 'शार्प प्रोब' (Sharp Probe) या 'नीडल शेपेड प्रोब' (Needle Shaped Probe) कह सकते हैं। एपगी का तीसरा कार्य आनुलोमन (Direct ing) होता है। इस काम के लिये जो एपगी उपयोग में आती है, उसे अंग्रेजी में डायरेक्टर (Director) कहते हैं। भगम्बर की शस्त्रक्रिया में जो एपगी का निर्देश-एपगी दत्ता शस्त्र पातवेद—किया है, वहाँ आनुलोमक एपगी (Probe Director) समझना चाहिये। शस्त्रपात के समय आनुलोमक एपगी का उपयोग करने से व्रणगति के अनुसार भेदन होता है तथा शरीर के अन्य अंग पर शस्त्र का आघात होने का भय नहीं होता है। शस्त्र की भांति सूत्र का भी अनुलोमन करने के लिये पाश्चाय शस्त्रों में कुछ आनुलोमक एपगी प्रयुक्त होती हैं—यथा हर्निया डायरेक्टर (Hernia Director), अन्यूरिकम नीडल (Aneurysm Needle) इत्यादि। इन का भी समावेश इसी प्रकार के एपगी में करना चाहिये।

उपर्युक्त बौस शस्त्रों के सिवाय वाग्भट में निम्न शस्त्र अधिक वर्णन किये हैं—१ सर्पस्य—यह शस्त्र नासाकर्णगत अर्थ तथा अर्बुद छेदन के लिये होता है। इसका फल अर्धगुल होता है—सर्पवक्र बक्रमर्धगुलफल प्राणकर्णांशोऽुदच्छेदनाभम् । (अ० सम्रह) । २ लिंगनाशवन्नी शलाका—प्राज्ञीशलाका द्विमुखी मुखे दुर्बकाकृति । सुश्रुत में भी उत्तरतन्त्र में लिंगनाश-चिकित्सा के समय एक प्रकार की शलाका वर्णन की है—बधायु लयना मन्वे सूत्रेण परितेजिता । अग्रधर्षवर्गमिना वनयोमनुलाकृतिः । ताम्रावली शतकौमी शलाका स्वयन्निदिता ॥ (अ १७) । अंग्रेजी में लिंगनाशवेधनी शलाका की 'क्याटाराशट नीडल' (Cataract Needle) कहते हैं। ३ कुर्वी । ४ सज—इनका वर्णन त्रिकूर्चक शस्त्र के साथ किया गया है। ५ कर्त्री—इसका वर्णन शारी-मुख का वर्णन करते समय किया गया है। कर्त्री को अंग्रेजी में सीकर्स (Scissors) कहते हैं। ६ कर्णवेधनशस्त्र—अष्टांग संग्रह में कर्णवेधन नामक केवल एक शस्त्र वर्णन किया है—कर्णवेधन घ्युललयनस्युत्पिर घन स्थिकादुत्तुलप्रम् । परन्तु अष्टांगहृदय में पतली कर्णपाली के लिये एक और मोटी कर्ण-पाली के लिये दूसरा शस्त्र वर्णन किया है—(१) ब्धन कर्ण पागिना स्थिकादुत्तुलननम् । (२) बहलायाश्च शस्त्रम् । सूची विभाज सुविता *वगुल कर्णवेधनी ॥ सुश्रुत में बालक के कर्णवेधन के समय तनुपाली के लिये सूची और कटिनपाली के लिये आरा का उपयोग करने के लिये लिखा है—प्रननुक सूच्या, बह्लनारवा । वाग्भट ने धर्षपि वे शस्त्रविशेष कर्णवेधन के लिये वर्णन किये हैं तथापि बालक के कर्णवेधन के लिय सुश्रुत के ही अनुसार सूची और आरा का उपयोग करने के लिये लिखा है।

तत्र मण्डलाप्रकरपत्रे स्यातां छेदने लेखने च, वृद्धिपत्रनक्षशस्त्रमुद्रि कोत्पलपत्रकार्धधारणि छेदने भेदने च, सूचीकुशपत्राटीमुखशरारिमुखान्तमुख त्रिकूर्चकानि विश्वावणे, कुटारिकावीहिमुखारवेत सपत्रकाणि व्यधने सूची च, बडिशं दन्तशकुब्धाह रणे, एपण्येपणे आनुलोम्ये च, सूच्यः सीरन्ते; इत्य एविधे कर्मण्युपयोगः शस्त्राणां व्याख्यातः ॥३॥

इन शब्दों में से मण्डलाग्र और करपत्र छेदन और लेख के काम में आते हैं, वृद्धिपत्र, नक्षत्र, मुद्रिका, उत्पलपत्र और अर्धधार छेदन और भेदन के काम में आते हैं, सूची कुशपत्र, आटीमुख, शरारिमुख, अन्तमुख, त्रिकूर्चक विश्वाव के काम में आते हैं; कुटारिका, वीहिमुख, आरा, वेतसपत्र तथा सूची वेधन के काम में आते हैं, बडिश और दन्तश आहारण के काम में आते हैं, एपणी एपण और आनुलोम के काम में आती है, सूची सीवन के काम में आती है, इस प्रकार आठों प्रकार के कामों में शस्त्रों का उपयोग किया जाता है ॥३॥

वक्तव्य—इस सूत्र में भिन्न भिन्न शब्दों के कार्य वर्णन किये हैं। विज्ञापण—इससे यहाँ रक्तविश्लेषण विशेष करके प्रच्छान समझना चाहिये। मूत्रग्रहण या जलोदर से जलविश्लेषण का अर्थ यहाँ अभिप्रेत नहीं है। विश्लेषण का यह अर्थ करने के कारण ही त्रिकूर्चक का अर्थ ट्रोकार किया गया है। अष्टाङ्ग-संग्रह में इन शब्दों का कार्य प्रच्छान ही लिखा है—कुशपत्राटीनि पत्र प्रच्छाने । आहारण—बडिश का समावेश यन्त्रवर्ग में भी किया है और वहाँ उसका कार्य आहारण बतलाया है। शकुब्ध का बडिश तीक्ष्णग्र होने के कारण आहारण की अपेक्षा वेध पूर्वक प्रहण का कार्य इससे अधिक किया जाता है—बडिशेन समाहित, बडिशेनावलित । (सुश्रुत)। वाग्भट ने भी बडिश का कार्य प्रहण ही लिखा है—ग्रहेण युग्णिकर्मादेशेऽपि सुतानतन । (अ ह) । बडिशो ग्रहो । (अ स) । इसलिये आहारण से निकालना (Extraction) तथा वेधपूर्वक पकड़ के रखना (Fixation) ये दो कार्य समझना चाहिये। एपणे आनुलोम्ये च—इसका विवरण पीछे एपणी के वर्णन में किया गया है। आनुलोमन का अर्थ डरहण के अनुसार विश्लेषण होता है—आनुलोमनन विज्ञापणमभिव्रेतन् ननु अनुपकरण, कलात्, ननुकरणस्य शक्करित्वे निर्दिहत्वात् । हारणचन्द्र आनुलोम्य का अर्थ जैसा ऊपर बतलाया गया है, वैसा करते हैं—आनुलोम्ये तेषामेव हेतानुक्रमे, ष एव हेतानुसारिणा श्लेष्णे यथाक्रममागुल छिद्यन्ते, वक्ष्यति च 'दर्शी दत्ता गल पातवेद' ।

तेषामथ यथायोगं प्रहणसमासोपायः कर्मसु वक्ष्यते—तत्र वृद्धिपत्रं घृतफलसाधारणे भागे गृहीयाद्भेदान्धेय सर्वाणि, वृद्धिपत्रं मण्डलाग्रं च किंचिदुत्तानेन पाणिना छेपने यद्दृशीऽथचार्य, घृतपत्रे विश्वावण्णि, विशेषेण तु धालवृद्धसुकुमार-भीरुनापीणां रातां राजपुत्राणां च त्रिकूर्चकेन विश्वावयेत्, तलप्रच्छादितघृतमहसुप्रधेशिनीर्वा

यक्तव्य—कुण्ड-स्थूलधारयुक्त, अरोमवाही । खण्डार—
कर्म्यधार, दांतयुक्त । तदि खण्डारम्—'भारतीय' इत्यन्वाहार ।

तत्र धारा मेदनानां मासूरी, लेखनानामर्धमा-
सूरी, व्यधनानां विस्त्रावणानां च कैशिकी, छेदन-
नामर्धकैशिकीति ॥८॥

मेदन शर्षों की धारा मसूर के समान, लेखन शर्षों की
अर्धमसूर के समान, व्यधन और विस्त्रावण के शर्षों की कैश
के समान और छेदन के शर्षों की अर्धकैश के समान धारा
होनी चाहिये ॥८॥

यक्तव्य—भाष्यी—मसूरदलसदृश तन्वी । कैशिकी—वेद्य-
प्रमाणा तन्वी । अष्टाङ्गसमग्र में छेदन शर्षों की धारा अर्ध-
कैशिकी के स्थान में मासूरी करने के लिये लिखा है—धारा
गुनश्चेदनां मासूरी ।

यदिशं दन्तशङ्कुश्चानताम्रे । तीक्ष्णकण्टकप्रथम-
ययपत्रमुख्येपणी (गण्डूपादाकारमुखी च) ॥९॥

बन्धिय और दन्तशङ्कु दोनों आगे मुड़े हुए होते हैं । तीक्ष्ण
कंटक के समान मुखवाली, एवं के प्रथम पत्र के समान मुख
वाली और कँचुवे के आकार के समान मुखवाली (ऐसी तीन
प्रकार की) एषणी होती है ॥९॥

यक्तव्य—एषणी—तीन प्रकार की एषणी का बर्णन पीछे
हो चुका है । कुछ लोग तीक्ष्णकंटकमुख बन्धिय का विशेषण
और प्रथम ययपत्रमुख दन्तशङ्कु का विशेषण मानते हैं । उनका
पाठ ऐसा है—बन्धिय दन्तशङ्कुश्चानताम्रे तीक्ष्णकण्टकप्रथमययपत्रमुखे,
एषणी गण्डूपादाकारमुखी । हाराणचन्द्रसमत पाठ भी ऐसा ही है ।

तेषां पायना त्रिचिधा क्षारोदकतैलेषु । तत्र
क्षारपायितं शस्त्राख्यास्थिच्छेदनेषु, उदकपायितं
मांसच्छेदनमेदनपाटनेषु, तैलपायितं सिरान्वयधन-
क्षायुच्छेदनेषु ॥१०॥

शर्षों पर पानी चढ़ाने का काम तीन प्रकार से होता है—
क्षार से, जल से और तैल से । उन में से क्षार द्वारा पानी
चढ़ाये हुए शर्षों का उपयोग बायागुल्य और हस्त्रि काटने के
काम में करना चाहिये । जल द्वारा पानी चढ़ाये हुए शस्त्र मांस
छेदन, भेदन और पाटन के काम में लाने चाहिये और तैल
द्वारा पानी चढ़ाये हुए शस्त्र सिरावेध तथा खायुच्छेदन के
काम में लाने चाहिये ॥१०॥

यक्तव्य—पायना—शस्त्र तैयार करने के पश्चात् उसकी
धारा कठिन करने के लिये सन्तस अवस्था में भिन्न भिन्न प्रकार
के द्रवों में उसकी बुझाना । भिन्न भिन्न द्रवों का धारा पर
विशेष प्रभाव पड़ता है, जिससे यह अपना कार्य करने में
अधिक समर्थ होती है—अभिज्ञानां शस्त्राणां तद्व्यवहारेषु
निर्वाण पायना । सा च तत्तद्द्रवप्रभावात् कर्मविशेषोत्कर्षणी भवति ।
(हाराणचन्द्र) । पायिन द्वेषे वैश्वकरणे शिपिनानां माषा । (हन्दु) ।
अमेनी में पायना की टेम्परिंग (Tempering) कहते हैं ।
चन्द्र चमवर्नी (Ancient Hindu Medicine) पायना का
अर्थ जीवाणुनाशन (Sterilization) समझते हैं । परन्तु
ऊपर अष्टाङ्गसमग्र टीकाकार हन्दु तथा हाराणचन्द्र के अनुसार

जो अर्थ दिया गया है, उससे तथा संदर्भ के अनुसार भी पापन
का अर्थ जीवाणुनाशन करना अथवाय प्रतीत होता है ।

तेषां निशानार्थं ऋक्षणशिला मापवर्णा; धार
संस्थापनार्थं शास्मलीफलकमिति ॥११॥

उन शर्षों की धारा तीक्ष्ण करने के लिये उड़क के रंग की
चिकनी शिला होनी चाहिये और धारा की तीक्ष्णता काय
रखने के लिये शास्मली वृत्त का फलक होना चाहिये ॥११॥

यक्तव्य—निशानार्थम्—धारा उपेक्षित वा तीक्ष्ण करने के
लिये । इसके लिये जो शिला होती है, उसे निघातनी (Whet
stone) कहते हैं । इस शिला पर कुण्ठित शर्षों को घर्षण द्वारा
तीक्ष्ण किया जाता है । तपश्चात् उस धारा को अधिक स्पष्ट
और स्पृष्ट करने के लिये शास्मलीफलक का उपयोग होता है ।
इस प्रकार धारा को अधिक स्पष्ट और स्पृष्ट करना, इसका अर्थ
धारासंस्थापन है । इसको अमेनी में स्पृष्टिण (Stropping)
कहते हैं । धारासंस्थापन का कार्य केवल तीक्ष्ण धारायुक्त
शर्षों पर होता है । यदि धारा कुण्ठित हो तो प्रथम निघातनी
पर तीक्ष्ण करना चाहिये । सुश्रुत में इन शर्षों की रखने के
लिये किसी कोश का बर्णन नहीं किया है । परन्तु बाग्भट ने
इसके लिये एक शस्त्रकोश का बर्णन किया है—स्वत्रवांगुल-
विस्तार एषणो दादशांगुल । क्षौमपत्रोर्णकौशेयदुकूलदुर्धनम् ॥
विन्वत्तपारा इत्युत्त सान्तरोगार्थस्वराक्षक । शलाकापिहितस्यश्च शक
नोऽनुचय ॥ शस्त्रकोश की अमेनी में सर्जिकल इन्स्ट्रुमेंट
केस (Surgical Instrument Case) कहते हैं ।

भयति चात्र—

यदा मुनिशितं शस्त्रं रोमच्छेदि सुसंस्थितम् ।
सुगृहीतं प्रमाणेन तदा कर्मसु योजयेत् ॥१२॥

(शस्त्रकर्म करने के पूर्व) निघातनी पर घर्षण से जब शस्त्र
बाल काटने में उत्तम प्रकार से समर्थ हो जाता है, तब उसको
योग्य स्थान में पकड़ कर काम में लाना चाहिये ॥१२॥

यक्तव्य—यह श्लोक केवल उन शर्षों के संबंध में लागू
हो सकता है, जो छेदन और भेदन का कार्य करते हैं । यथा—
वृद्धिपत्र, मण्डलाग्र इत्यादि । रोमच्छेदि—रोमवाहि ऐसा भी
पाठ है । बाग्भट में रोमवाहि शब्द प्रयुक्त किया है । इसका
अर्थ स्वचा के बाल मूँठने में समर्थ ऐसा है । यह शस्त्रधारा की
अन्तिम मर्यादा है । इतनी तीक्ष्णता उपलब्ध होने के समय तक
निघातनी पर शस्त्र घर्षण करना चाहिए । प्रमाणेन—प्रमाणेन
सुगृहीतमिति । जो प्रमाण पीछे 'निवायथ बधायोऽग्रस्यसमाक्षीपण
कर्मसु बध्ने' इस चौथे मूत्र में बर्णन किया है, उसके अनुसार
ग्रहण करके । दल्लण प्रमाणेन का अर्थ तेषां नरश्लेष्कण्णवाहयुने
इस पांचवे मूत्र के अनुसार करता है । सुगृहीत का अर्थ उपर
प्रमाणेन का जो अर्थ दिया है, वैसा करता है । अन्य लोग
सुगृहीत का अर्थ शपथयुक्त उत्तम मूठ से युक्त करते हैं ।

अनुशास्त्राणि तु त्यक्त्वासरफटिककाचकु रविन्द-
जलौकाऽभिज्ञानरूपगोजीरोफालिकाशाराकपत्रकरी-
यालाहुलय इति ॥१३॥

बाँस, स्फटिक, काच, कुरुविन्द, जोंक, अग्नि, क्षार, नख, गोजी, शेफालिका, शाकपत्र, करीर, बाल और अंगुलियाँ ये अनुगच्छ हैं ॥१३॥

वक्तव्य—अनुगच्छाणि—स्वयं शस्त्र न होते हुए भी जो शस्त्र का कार्य कर सकते हैं, वे अनुगच्छ होते हैं—अशास्त्राप्येव शल्यकार्यं कुर्वन्तीत्यनुगच्छाणि । (इन्दु) । अथवा शस्त्रसदृशानि—अनुगच्छाणीति सादृश्येऽप्यधीभावः, ततो अर्शाभापन्नं, शस्त्रसदृशानील्यर्थः । (हाराणचन्द्र) । कुरुविन्द—एक अत्यन्त कठिन प्रकार का पाषाण । इसे अंग्रेजी में कोरंडम (Corundum) कहते हैं । इसका दूसरा अर्थ लोहिताश्मरत्नभेद पद्मरागमणि या माणिक्य है । इसे अंग्रेजी में रग्बी (Rugby) कहते हैं । त्वक्सार—त्वचि सारोऽस्यासौ त्वक्सारः, वंश या बाँस । इसका उपयोग त्वचा का छेदन भेदन में होता है । परंतु इसका विशेष उपयोग अस्थिभंग में कुर्या (Splints) के लिये किया जाता है । गोजी—गोजिह्ला (Elephantopus Scaber) या शाखोटक सिहोरारवृक्ष (Strobilus Asper) । शेफालिका—निगुंडी (Vitex Nigunds) या पारिजातक (Nyctanthos Abo-rtibstis) । हिन्दी में इसे हरसिवार कहते हैं । शाक—सागवान का वृक्ष (Tectona Grandis) गोजी, शेफालिका और शाक लों के पत्रों का उपयोग होता है । जलौका, अग्नि और क्षार नका संपूर्ण वर्णन त्रयोदश, द्वादश और एकादश अध्याय में किया गया है । क्षार और अग्नि का समावेश अनुयन्त्र में भी किया गया है । इसका कारण यह है कि क्षार का बाह्य तथा गम्यंतरीय उपयोग करने से चर्मकील, तिलकालक, अश्मरी, किंरा इत्यादि शल्यों का हरण होता है और अग्नि का उपयोग करने से कण्ठासक्त जातुपादि शल्य का हरण होता है । अनु-यन्त्र में समावेश करने का कारण यह है कि छेद्यभेदादि कर्म अग्नि और क्षार से किये जाते हैं—छेद्यभेद्यभेद्यकरणत्वात् । बाल—इसका उपयोग बंधन (Ligature) द्वारा काटने के लिये होता है । विशेष करके यह पद्धति अर्थात्, चर्मकील, मशक इत्यादि के संबंध में प्रयुक्त होती है । करीर—अंकुर । हाराणचंद्र करीर से तीक्ष्णकंटक युक्त मरुदेशस्थ करीर वृक्ष के कंटक समभक्ता है—करीरी महभूमिजः कण्टकिवृक्षविशेषः । तस्य कण्टकमत्र प्राणम् । परंतु नीचे सुश्रुत के जो अवतरण दिये हैं, उनके अनुसार करीर का अर्थ उद्भिज्ज के कोमल नाल या अंकुर समभक्ता अधिक प्रशस्त है—एष्येष्येपण्यलामे तु बालांगुल्यङ्कुरा हिताः । यहाँ अंकुर शब्द करीर के स्थान में प्रयुक्त हुआ है । नाडीव्रणान् शल्यगर्भानुन्मार्ग्युत्सद्भिन्ः शनैः । करीरबालांगुलिभिरिषण्णा वैष्येद्विपक् ॥ नेत्रवर्त्मगुदाभ्यासनाडयोऽवन्त्रासशोणिताः । चुन्तुपोदकजैः श्लक्ष्णैः करीरैरेपयेत् ताः ॥ चरक में भी उद्भिज्ज मृदुनाल की सहायता से उद्भिदैर्शुदुभिनालैः—एषण करने के लिये लिखा है ।

शिशूनां शल्यभीरूणां शल्यभावे च योजयेत् ।

त्वक्सारदिचतुर्वर्गं छेद्ये भेद्ये च बुद्धिमान् ॥१४॥

आहार्यच्छेद्यभेद्येषु नखं शक्येषु योजयेत् ।

विधिः प्रवक्ष्यते पश्चात् चारवद्विजलौकसाम् ॥१५॥

ये स्युर्मुखगता रोगा नेत्रवर्त्मगताश्च ये ।

गोजीशेफालिकाशाकपत्रैर्विस्त्रावयेत् तान् ।

एष्येष्वेपण्यलामे तु बालाङ्गुल्यङ्कुरा हिताः ॥१६॥

बालकों और शस्त्रों से करने वालों के लिये तथा जब शल्य न मिले, तब बुद्धिमान् वैद्य त्वक्सार, काच, कुरुविन्द और स्फटिक—इन चार अनुगच्छों को छेदन और भेदन के काम में लावे ॥१४॥ आहरण, छेदन और भेदन के कामों में जाहाँ हो सके वहाँ नाखून से काम कर ले । क्षार, अग्नि और जोंक इनके उपयोग की विधि इसके पश्चात् वर्णन की जायगी ॥१५॥ मुख में और नेत्रों की पलकों में उत्पन्न हुए रोगों का विस्त्रावण गोजी शेफालिका शाकपत्रों से करें । एष्यकर्म में एषणी न मिले तो बाल, अंगुलि और अंकुर (एषण के लिये) प्रयुक्त होते हैं ॥१६॥

वक्तव्य—प्रारंभ के श्लोकार्थ में अनुगच्छों का उपयोग करने के तीन समय बतलाये हैं । तत्पश्चात् भिन्न भिन्न अनुगच्छों के कार्य वर्णन किये हैं । विस्त्रावयेत्—गोजीशेफालिकादि वृक्षां के कर्कशपत्रों द्वारा धर्षण करके रक्त आदि निकाला जाता था । मुखगत रोग—संशोधोभयतः कार्य शिरक्षोपकुत्रे तथा । कानोदुम्बिका-गोजीपत्रैर्विस्त्रावयेदसक् ॥ नेत्रवर्त्मगत रोग—ततः प्रशुन्य श्लोतेन वर्त्म शल्पपदाङ्गितम् । लिखेच्छ्रेण पत्रै (शेफालिकादीनां)र्वा ॥ (सुश्रुत) । एषण्यलामे—चरक में दो प्रकार की एषणी वर्णन कर अंकुर मृदुनालादिक का उपयोग उत्तान घर्षणों के अन्येषण के लिये कहा है—द्विविधामेषणीं विषान्मृद्रीन्न कठिनामपि । उद्भिदैर्शुदुभिना-लेल्लोहानां वा शलाकया ॥ गभीरमांसो देवो पार्थे लेहशलाकया । एष्यं विचाद् व्रणं त्रालैर्विपरीतमतो भिपक् ॥ (चरक चि. अ. २५) । उपर्युक्त १४ अनुगच्छों के अतिरिक्त अष्टांगसंग्रह में निम्न अनुगच्छ अधिक दिये हैं । (१) सूर्यकान्त—यह एक नैसर्गिक स्फटिकमणि है, जो अपने ऊपर पड़े हुए सूर्य-किरणों को पर्याय से इकट्ठा करता है और उसीसे उसके नीचे जिस स्थान पर सूर्य की किरणें इकट्ठा होती हैं वहाँ ज्वलन उत्पन्न होता है । इसी लिये इसको तपन-मणि, ज्वलनाश्मा भी कहते हैं । शमप्रधानेषु तपोधनेषु गृहं हि दाहात्मकमस्ति तेजः । स्पर्शानुकूला अपि सूर्यकान्तास्ते ह्यन्यतेजोभिम्-वाहन्ति ॥ (शाकुन्तल) । अंग्रेजी में इसको कानवर्जिग ग्लास (Converging glass) कह सकते हैं । इसका उपयोग अग्नि-कर्म में होता था—सूर्यकान्तपिष्यल्यजाशङ्कद्वेदन्तशरशलाकामिस्त्वग्दाहः । (२) समुद्रेण—यद्यपि इसको समुद्र के पानी का घनीभूत फेन समभक्ते हैं तथापि वास्तव में यह समुद्र में रहने वाले एक विशिष्ट प्राणी का कंकाल (Skeleton) है । यह बहुत कठिन परंतु भंगुर होता है । अंग्रेजी में इसको 'कटल फिश बोन' (Cuttle fish bone) कहते हैं । इसका उपयोग लेखन कर्म के लिये होता था—क्षौमं श्रोतं पिचु फेन यावश्चकं सत्सन्धवम् । कर्त्तृशानि च पत्राणि लेखनार्थं प्रदापयेत् ॥ (३) शुष्क गोमय—सूखा गोवर ।

शस्त्राप्येतानि मतिमान् शुद्धशैक्यायसानि तु ।

कारयेत् करणप्राप्तं कर्मारं कर्मकोविदम् ॥१७॥

बुद्धिमान् वैद्य इन शस्त्रों को शुद्ध फौलाद के बनवावे और बनवाने के काम में अनुभवी और कर्मकुशल लौहकार को नियुक्त करे ॥१७॥

वक्तव्य—शैक्यायस—तीक्ष्णायस, फौलाद (Steel) । करणप्राप्त—उपकरण बनवाने में कुशल । कर्मकोविद—लौहकार के शास्त्र में पारंगत । कारयेत्—कर्तुं प्रयोजयेत्, बनवाने के में नियुक्त करे ।

प्रयोगइत्यस्य वैद्यस्य सिद्धिर्भवति नित्यदाः ।
तस्मात् परिचयं कुर्याच्छ्रद्धायां ग्रहेणे सदा ॥१८॥

इति सुश्रुतसंहितायां स्वस्थाने शलाबचारणीयो
नमाष्टमोऽध्यायः ॥८॥

जो वैद्य (दरमों का) उत्तम प्रकार से उपयोग (करता)
जानता है, उसको (अपने व्यवसाय में) सर्वदा सिद्धि प्राप्त होती
है । इसलिये दस्त्रग्रहण का परिचय सदा करना चाहिये ॥१८॥

यत्कथ्य—प्रयोग—प्रष्ट्ये योग । मिद्धि-रोगी की दृष्टि से
आरोग्य संपादन और वैद्य की दृष्टि से यथ । परिचय-अभ्यास ।
इति भास्करसर्मणा गौविन्द्यात्मनेन विरचितं यामासुवैररुहस्यदीपशिखा
सुश्रुतभाषाटीकायां स्वस्थाने शलाबचारणीयो नामाष्टमोऽध्यायः ॥८॥

नवमोऽध्यायः ।

अथातो योग्यासूत्रीयमध्यायं व्याख्यास्यामः,
यद्योवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अथ यद्वा से योग्यासूत्रीय नामक अध्याय का वर्णन करते
हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

यत्कथ्य—योग्या—शल्यचिकित्सा में यन्त्रास्त्र के जो
विविध काम होते हैं, उनका प्रत्यक्ष परिचय कराने के लिये तथा
उन में कौशल प्राप्त करने के लिये रोगी के शरीर पर उनका
प्रयोग करने के पूर्व उन कर्मों के लिये योग्य वस्तुओं पर उन
कर्मों का जो अभ्यास होता है उसे 'योग्या' कहते हैं । अंग्रेजी
में शल्यचिकित्सा के इन विभाग को 'ओपरेटिव् सर्जरी'
(Operative Surgery) कहते हैं ।

अधगततसर्वशास्त्रार्थमपि शिष्यं योग्यां कारयेत् ।
ज्ञेहादिषु ज्ञेयादिषु च कर्मपथमुपदिशेत् । सुनहु-
श्रुतोऽप्यकृतयोग्यो कर्मस्वयोग्यो भवति ॥२॥

सर्वा शास्त्र का आद्य ज्ञानने वाले शिष्य को भी योग्या
करानी चाहिये । स्नेहन छेदनान्दि कर्मों का तरीका बतलाना
चाहिये । क्योंकि बहुत शास्त्र पढ़ने पर भी कर्माभ्यास के बिना
मनुष्य प्रत्यक्ष कर्म करने के लिये अयोग्य होता है ॥२॥

यत्कथ्य—स्नेहादिषु—स्नेहन छेदन वमन विरेचन शिरो
विरचन आस्थापन अनुष्णामन उत्तरबन्धन, इन कर्मों में । ज्ञेयादिषु—
छेदनान्दि अर्धविध शस्त्र कर्म तथा पट्टबधनादि अन्य सहायक
कर्मों में । अयोग्य—अनिपुण ।

तत्र, पुष्पफालालातूकालिन्दकत्रपुसै(सो)वोरक-
कांरुप्रभृतिषु ज्ञेयविशेषान् दर्शयेत्, उत्कृतेनप
रिक्तानामि न्योपदिशेत् ॥३॥

कोहल, लौकी तरबूज, ककड़ी, नीरा हत्यादि में काटने के
संबंध में जितने कर्म हैं, दिखावे और ऊपर नीचे काटने का
उपदेश करें ॥३॥

यत्कथ्य—उत्कृता—उत्कृतेन । परिपतन—अपघटन ।
इतिवस्तिप्रसेयम्प्रभृतिपूदकपद्मपूरुषु मेधयो-

ग्यां, सरोमिण् चर्मण्यातते लेख्यस्य, मृतपशुमिरा
सूतपलनालेषु च घेध्यस्य ॥४॥

जलमित्र कीचदसे युक्त इति वस्ति प्रसेवक आदि में भेदन
त्रिया का अभ्यास सिखावे, रोमयुक्त फेजे हुए चर्म पर लेखन
कर्म सिखावे, मरे हुए पशुओं की मिराओं में तथा कमलनालों
में घेध करने का अभ्यास सिखावे ॥४॥

यत्कथ्य—इति—चर्मनिर्मित जलाधार कोय । प्रसेवक—
चर्मनिर्मित भाण्ड ।

घुणोपहतस्राष्टवेणुनलनालीशुष्कालावृमुखेष्वे
प्यस्य, पनसविन्मीचित्वफलमस्रमृतपशुदन्तेषु
हार्यस्य ॥५॥

कीनों से लाये हुए काष्ठ, बॉस, कमलनाल, सूखे तुपों के
मुस में पण क्रिया सिखावे, कटहल, कुदरु, बिल्वफल के गूदे
में तथा मृत पशुओं के दाँतों में आहरण की क्रिया सिखावे ॥५॥

यत्कथ्य—घुण—काष्ठ कृमि या काष्ठ कीट ।

मधुच्छिद्रोपलिसे शाकमलीफलके विस्त्राव्यस्य,
सूचमघनवस्त्रान्तयोर्मुदुचर्मान्तयोश्च सीव्यस्य ॥६॥

मोम लगे हुए संबल के फलक पर विस्त्रावण कर्म सिखावे,
पतले तथा मोटे दो बस्त्र के टुकड़ों में और मृदु चर्म के टुकड़ों
में सीवन कर्म सिखावे ॥६॥

पुस्तमयपुरुषाण्प्रत्यङ्गविद्रोषेषु घन्धनयोग्याम्;
मृदुचर्ममांसपेरीशूतपलनालेषु च कर्णसन्धि
यन्धनयोग्याम् ॥७॥

कपटे आदि का पुतला बनाकर उसके अंग प्रत्ययों में, जहाँ
निम भांति बंध होते हैं, वहाँ उनका बांधने का अभ्यास
करे, मृदुमांस तथा कमल की नाल में कान के संधि-स्थलों का
अभ्यास करे ॥७॥

यत्कथ्य—पुस्त—पुतला बनाने की चीज—पुली दन्ध्यादि
मय्या स्त्रयाण्हेत्पादानकारण यदस्तु तदुच्यते । (अरणदत्त) ।

पुतला बहुधा लकड़ी, पत्थर, मृत्तिका इत्यादि से बनाया जाता
है—मृत्-या दाह्या वाप वनेपायथ चर्मणा । लहरले क्ल वापि पुस्त-
मित्यधीयेते । पुस्तमय आकृति को अंग्रेजी में डैमी (Dummy)
कहते हैं । पाश्चात्य वैद्यक में प्रसुति के समय की गर्भ की गति
दिवलाने के लिये तथा मृद गर्भ के ऊपर शस्त्र कर्मों के अभ्यास
कराने के लिये पुस्तमय हद्दी का उपयोग होता है । परन्तु इस
के सिवाय अन्य सर्व शस्त्र कर्मों के अभ्यास मृत मनुष्य के शरीर
पर और क्विन् प्राणियों के शरीर पर होते हैं । प्राचीन काल
में मृत शरीर का स्थर अपवित्र माना जाता था—शव तस्मिन्
नेव शब्दा स्नानेन शुद्धयति । (मनु) । इसलिये शस्त्रकर्म का
अभ्यास अधिकतर वनस्पतियों पर और क्विन् मृत प्राणियों
पर होता था । परन्तु समयकर्मभ्यास की दृष्टि से मनुष्य शरीर
पर अभ्यास करना अधिक प्रयत्न है । इसलिये आज कल
शस्त्र कर्मों का अभ्यास मृत मनुष्य शरीर पर ही विचारियों से
कराया जाता है ।

मृदुषु मासपण्डेष्मिस्तारयोग्याम्, उद्वर्षुषु
घटपार्थ्वघ्नोत्तरयलावृमुपादिषु च नेत्रमग्निघान
यस्तिप्रणयस्तिपीडनयोग्यामिति ॥८॥

मृत मांस के खण्डों पर क्षार और अग्नि क्रिया सिखावे । जल से भरे हुए घड़े के पार्श्वच्छेद में तथा तुंगे फे सुख आदि में नेत्र का प्रवेश कराना, वस्ति का पीड़न कराना और घाव में व्रणवस्ति देना आदि कार्यों का अभ्यास करावे ॥८॥

वक्तव्य—नेत्र—यस्तिनलिका । नीयते प्राप्यते स्नेहकल्पाध-
शनमिति नेत्रम् । (अरुणदत्त) । नेत्रप्रणिधान—नेत्रप्रवेशन । वस्ति-
व्रणवस्तिपीडनयोग्याम्—वस्तिपीडनं व्रणवस्तिपीडनं च, अनयोयोग्याम् ।

भवतश्चात्र—

एवमादिषु संधावी योग्याहेषु यथाविधि ।

द्रव्येषु योग्यां कुर्वाणो न प्रमुह्यति कर्मसु ॥९॥

इस प्रकार उपर्युक्त तथा अन्य योग्य द्रव्यों में विधिपूर्वक कर्माभ्यास करने वाला पुदिमान् वैद्य काम के समय नहीं घबराता है ॥९॥

तस्मात् कौशलमन्विच्छन् शस्त्रक्षारान्निकर्मसु ।

यस्य यत्रेह साधर्म्यं तत्र योग्यां समाचरेत् ॥१०॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने योग्यासूत्रीयो
नाम नवमोऽध्यायः ॥६॥

इसलिये शस्त्रकर्म, क्षारकर्म और अग्निर्कर्म इन में कुशलता है तो जिस कर्म का जिस द्रव्य में साधर्म्य होता है, वहाँ ले उस क्रिया का खूब अभ्यास करके कार्य सीख ले ॥१०॥

वक्तव्य—यत्र यत्रेह साधर्म्यम्—जिस कर्म के लिये जो य योग्य हो । ऊपर विविध कर्मों के लिये जो अनेक द्रव्य तलाये गये हैं, वे केवल उदाहरणमात्र हैं । इनके अतिरिक्त है द्रव्य कर्म के लिये योग्य हो सकते हैं । उनके ऊपर कर्मों का अभ्यास करना चाहिये । परन्तु सब से उत्तम मृत मनुष्य ही है । इसलिये उसी के ऊपर अभ्यास करना चाहिये । अब प्राचीन काल की भाँति पुष्प-फलों पर अभ्यास करने की आवश्यकता नहीं है ।

ति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतभाषाटीकायां सूत्रस्थाने योग्यासूत्रीयो नाम नवमोऽध्यायः ॥६॥

दशमोऽध्यायः ।

अथातो विशिखानुप्रवेशनीयमध्यायं व्याख्या-
स्यामः, यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से विशिखानुप्रवेशनीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया है ॥१॥

वक्तव्य—विशिखा—राजमार्ग या प्रशस्तमार्ग । यहाँ विशिखा से वैद्यक-व्यवसाय का कर्ममार्ग (Medical Professional Practice) अभिप्रेत है । इस कर्ममार्ग में प्रवेश योग्य कौम है, प्रवेश योग्य पुरुष को किस विधि से व्यवसाय करना चाहिये, इसका उपदेश (Ethics) जिस अध्याय में वर्णन किया है, वह विशिखानुप्रवेशनीय अध्याय है । हाराणचन्द्र विशिखा से रोगी के घर का मार्ग समझते हैं—प्रशस्तवर्त्मपरिपर्या-
योऽपि विशिखाशब्दोऽत्रातुरावासवर्त्ममात्रे प्रवर्तते, गमकत्वात् ।

अधिगततन्त्रेणोपासिततन्त्रार्थेन दृष्टकर्मणा कृत-
योग्येन शास्त्रं निगदता राजानुज्ञातेन नीचनख-
रोम्णा शुचिना शुक्लवस्त्रपरिहितेन छत्रवता दरड-
हस्तेन सोपानत्केनानुद्धतवेशेन सुमनसा कल्याणा-
भिव्याहारेणाकुहकेन बन्धुभूतेन भूतानां सुसहाय-
वता वैद्येन विशिखाऽनुप्रवेष्टव्या ॥२॥

जिसने चिकित्सा शास्त्र पढ़कर उसका अभिप्राय भली भाँति समझ लिया है, चिकित्सार्कर्म देखकर फिर उसका खूब अभ्यास कर लिया है, जो शास्त्र को पढ़ा सकता है, जिसने (परीक्षा देकर) राजा से आज्ञा ले ली है, जो नाखून बाल कटवा कर, साफ सफेद वस्त्र पहन कर, छाता छड़ी हाथ में लेकर, अच्छा जूता पहन कर, मनोहर वेष धारण कर, शुद्ध मन से, कल्याणकारी भाषण कर, निष्कपट वृत्ति से, सब जीवों को निज बंधु के समान मानकर, उनकी सहायता करता है, वह चिकित्सक वैद्यकव्यवसाय में प्रवेश करने योग्य है ॥२॥

वक्तव्य—राजानुज्ञातेन—प्राचीन काल में जनता में चिकित्सा प्रारंभ करने के पूर्व राजा की अनुज्ञा लेना वैद्यों के लिये आवश्यक था—राजाज्ञया विना नैव जनैः कार्यं चिकित्सितम् । (शुक्नीति. अ. १-३०४) । और प्रजारक्षण के लिये वैद्यों की योग्य जांच करना राजा का धर्म था—ततो राजा परीक्ष्य वैद्यः प्रजारक्षार्थमनुमन्तव्य एष धर्मः । (चक्र.) । परंतु कार्य किस प्रकार होता था, इस का विशेष विवरण कहीं नहीं मिलता है । आज पाश्चात्य वैद्यक में वैद्यों (डाक्टरों) की परीक्षा करने का कार्य विद्यापीठ (University) द्वारा होता है और अनुज्ञा (License) का कार्य राजसंस्था की ओर से वैद्य-सभा (Medical Council) करती है । छत्रवता इत्यादि—छत्र दण्ड और पादत्राण वैद्य की शरीर रक्षा के लिये हैं । पादरोगहरं वृथं रक्षीधं प्रीतिवर्धनम् । सुखप्रचारमौजस्य सदा पादत्राणरणम् ॥ पादत्राण का उपयोग करने से सर्प, वृश्चिक, मच्छर, पिस्सू, कण्टक आदि से शरीर की रक्षा होती है । वर्षानिलरजोधर्महिमादीनां निवारणम् । वर्ष्यं चक्षुष्यमौजस्यं शङ्करं छत्रधारणम् ॥ सत्त्वोत्साहवल्स्यैर्यैर्वैदीर्य-
विवर्धनम् । अवष्टम्भकरं चापि भयघ्नं दण्डधारणम् ॥ (सुश्रुत) । कल्याणाभिव्याहारेण—अभिव्याहार, भाषण । हित, मित और मधुर भाषण करने वाला । अकुहक—अवंचक या निष्कपट । कुहक—‘शास्त्रहीनः परमविश्वासकारको मायावी’ (डल्हन) । इस सूत्र में वैद्यक-व्यवसाय में श्रेय तथा सफलता प्राप्त करने के लिये आवश्यक बातों का वर्णन किया है । इसके तीन विभाग होते हैं । अधिगततन्त्रेण से राजानुज्ञातेन तक पहला विभाग है । इसमें चिकित्सक की व्यवसायविवेक योग्यता बतलाई गई है । नीचनखरोम्णा से अनुद्धतवेशेन तक द्वितीय विभाग बताया है । इसमें वैद्यक-व्यवसाय के लिये सहायक बाह्यवेष वर्णन किया है । सुमनसा से सहायवता तक तृतीय विभाग होता है । इसमें चिकित्सक की मानसिक स्थिति वर्णन की है ।

ततो दूतनिमित्तशकुनमङ्गलानुलोभ्येनातुरगृह-
मभिगम्य, उपविश्य, आतुरमभिपश्येत् स्पृशेत्
पृच्छेच्च, त्रिभिरेतैर्विधानोपायै रोगाः प्रायशो वैदि-

तव्या इत्येके; तत्तु न सम्यक्, पक्ष्विधो हि रोगाणां
विज्ञानोपायः, तद्यथा—पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः
प्रश्नेन चेति ॥३॥

किर वृत्, निमित्त, शकुन और महल की अनुकूलता
देखकर रोगी के घर जाये और बैठकर उसे अच्छी तरह से
देते । हल से सर्प को और (ब्याधि के विषय में) प्रश्न करे ।
इन तीनों (दर्शन, स्पर्शन और प्रश्न) उपायों द्वारा प्रायः सर्व
ब्याधियों को जानना चाहिये, ऐसा कई आचार्यों का मत है ।
परंतु यह ठीक नहीं है । क्योंकि रोग जानने के उपाय छः प्रकार
के हैं । वे इस भांति कि कर्ण आदिक पाँचों इन्द्रियों से
और प्रश्न से ॥३॥

यत्तद्य—दूत—रोगी के यहाँ से बुलाने, खबर देने,
पूछने आदि के लिये आया हुआ मनुष्य । निमित्त—उदकुंभादि ।
शकुन—पक्षियों के वाक्य इत्यादि । महल—स्वस्तिक पूर्णकुंभादि ।
आनुवीन्य—अविपरीतता या प्रयत्नता । इन का वर्णन सूत्रस्थान
के विपरीताविपरीत स्वनिर्दयीन्य अध्याय (२९) में किया
गया है । इत्येके—दर्शनस्पर्शनप्रश्न परीक्षणानि रोगिणम् । (धाम्भट) ।
दर्शनप्रश्नस्पर्श परीक्षा त्रिविधा स्यात् । (रुद्रबल) । तत्तु न सम्यक्—
दर्शनादि केवल इन तीन उपायों द्वारा परीक्षा पूर्णतया नहीं हो
सकती है । इसलिये इन तीन उपायों द्वारा रोगी की परीक्षा
करना अप्रयत्न है । रोगाणां विज्ञानोपाय—रोगाणां विशेषण निश्चित
ज्ञान स्वरूपावधारण तस्योपाय । रोगों का निश्चित रूप से ज्ञान करने
का उपाय । रोग का ज्ञान निदान, पूर्वरूप, रस, उपग्रह और
संप्राप्ति—इस पंच प्रकार से होता है—तस्माद् व्याधीन् विषयानुपलक्ष-
त्स्त्वुद्धिहेत्वादिर्भावंविधंभवदनुपप्रेत । तस्योपलक्ष्यनिदानपूर्वकपल्लिहो-
पप्राप्तमिति ॥ (चरक वि. १) । निदान पूर्वरूपानि रूपाण्यु-
पायस्तथा । संप्राप्तिश्चेति विज्ञान रोगाणां पञ्च स्युन् ॥ (वाग्भट) ।
पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः—श्रवण, नयन, नासा, जिह्वा और त्वचा
द्वारा । चरक में भी पंचज्ञानेन्द्रियों का उपयोग रोगी की परीक्षा
के लिये बतलाया है, परंतु उममें जिह्वापरीक्षा का निषेध
किया है—अथस्त्वत्तु तत्तु रोगतत्त्व बुधुष्मना सर्वैरिन्द्रियैः सर्वा-
निद्रियार्थानानुरागान् परीक्षेत, अथन रमज्ञानात् । (वि अ. ४) ।
इसका विवरण आगे सूत्र की टिप्पणी में किया जाया ।

तत्र श्रोत्रेन्द्रियविज्ञेया विशेषा रोगेषु मणालाव-
विज्ञानीयादियु बह्वन्ते—‘तत्र सफेनं रक्तमीरय-
घ्नितलः सशब्दो निर्गच्छति’ इत्येवमाद्याः, स्पर्शने-
न्द्रियविज्ञेयाः शीतोष्णश्लेष्मकर्मकेशशृङ्गकुडकडिनत्या-
द्यः स्पर्शविशेषा ज्वरशोफादिषु, चक्षुरिन्द्रियवि-
ज्ञेयाः शरीरोपचयापचयायुल्लक्षणवलवर्णविकारा-
द्यः, रसनेन्द्रियविज्ञेयाः प्रमेहादिषु रसविशेषाः,
घ्राणेन्द्रियविज्ञेया अरिष्टलिङ्गादिषु मणालानमणालानां
च गन्धविशेषाः, प्रश्नेन च विज्ञानीयादेशं कालं
जातिं सात्म्यमातङ्गसमुत्पत्तिं बेदानसमुच्छयं चल-
मन्तैरसिं घातमूत्रपुरीषाणां प्रवृत्तप्रवृत्ती काल-

प्रकर्षादींश्च विशेषान् । यात्मंसद्वेषु विज्ञान-
भ्युपायेषु तत्स्थानीयैर्जीनीयात् ॥४॥

फेनयुक्त रस में गति उत्पन्न करने वाला वायु निकलने
समय ध्वनि उत्पन्न करता है इत्यादि रोगों में श्रवणेन्द्रिय से
जानने योग्य विशेषों का वर्णन आगे मणलावविज्ञानीयादि
अध्यायों में किया जाया । ज्वर शोफादि रोगों में श्लेष्म,
क्षीण्य, क्षण्यता, कर्म्यता, सूदृता, कडिता इत्यादि त्वचा के
गुण स्पर्शनेन्द्रिय से जानने योग्य होते हैं । शरीर की स्थूलता,
कृशता, आयु के लक्षण, उस्ताह और सर्ण के विविध विकार
चक्षुरिन्द्रिय से जानने योग्य होते हैं; प्रमेहादि रोगों में मूत्रादि
के रस रसनेन्द्रिय से जानने योग्य होते हैं । अरिष्टलिङ्गादि
मण से तथा अन्य स्थान से जो गंध आते हैं, वे घ्राणेन्द्रिय से
जानने योग्य हैं । देह, काल, जाति, सात्म्य, रोगनिदान, वेदन
की वृद्धि, बल, पाचकाग्नि, वातमूत्रमल की प्रवृत्ति या संग
रोग पाक काल इत्यादि की विशेषना रोगी से प्रश्न पूछ कर
जानने योग्य हैं; उपयुक्त रोगविज्ञान के उपाय विधि स्व
प्रत्यक्ष करने योग्य हैं तो इन उपायों (इन्द्रियों) के कर्ष
त्वक, नेत्र, नासा, जिह्वा—इन अधिष्ठानों द्वारा इन्द्रियविशेष
विषयों का ज्ञान कर लेना चाहिये ॥४॥

यत्तद्य—आनुवीन्य—ये लक्षण आगे आनुवीन्यमणी
अध्याय (अ. ३५) में वर्णन किये हैं । बल—उत्साह । अरि-
ष्टलि—रोग का सूक्ष्मदर्शक लक्षण—तथा लिङ्गपरिच्छेद्य पूर्व-
संरिष्यन् । (चरक) । देश—भूमि । यह आहूत, आनूष और साधा-
रण भेद से तीन प्रकार की है । तत्र भूमिपरीक्षा आनुवीन्यविज्ञाने
तद्यथा—कस्मिन्नय भूमिदेशे जल सद्यो व्यापितो वेति । (चरक)
काल—उप्यादि ऋतुलक्षण काल, प्रातरादि काल, बाल्यादि
काल, रोगारंभकादि काल । काल पुनः स्वस्तरथातुरत्वया च ।
(चरक) । जाति—रोगों की संप्राप्ति । संप्राप्तिर्निर्दिष्टातिर-
नुपान्तरं भ्यापे । (चरक) । सात्म्य—जिसका सेवन शरीर के
लिये सुखदायक होता है, उसे सात्म्य कहते हैं—ये एत. कल्पे
यस्य शुद्धयि विवेचिनः । श्यामजातमय्याद् तत्सात्म्यमिति निर्दिशे ॥
(सुश्रुत) । वेदानममुच्छय—व्याधि की अत्युच्चति । अन्तरसिं-
पाचकाग्नि । यह सम, विषम, मन्द और तीक्ष्ण भेद से चार
प्रकार का होता है । काल्यकर्ष—व्यापे कालमति जायन् काल
व्याधिरूपश्च इति यावत् । व्याधि की प्रारंभ से काल-भयादि ।
रसनेन्द्रियविज्ञेया—यद्यपि यहाँ स्पष्टरूप से लिखा नहीं है
तथापि रोगी के शरीरगत रस का ज्ञान अनुमान से ही
करना चाहिये । चरक में इस उपाय का स्पष्ट निषेध किया
गया है—अथन रमज्ञानात्—यह अनुमान मन्त्रिका, विपरीतिका,
यूका, काक इत्यादि के रसनेन्द्रिय द्वारा किया जाता है ।
इस का प्रत्यक्ष ज्ञान करना उचित नहीं है—एत इ
खत्वातुरीरगतमिन्द्रियवैष्यिकमन्यनुमानादनगच्छेत् । न ह्यपु-
मन्वेषेण मण्यनुपपत्तये । तस्मादातुरपरिमर्शेनेतानुसुखत्वं विद्यात् ।
यूकापमर्शेन त्वस शरीरवैरुष्यम् । मक्षिकेपमर्शेन शरीरभयुर्ध्वम् ।
शेदिनचित्तमन्द्रे तु धारितोहित शोधावपि वेति । शकाकमण्यमा-
रितोहितमण्यमाहोहितपित्तमित्यनुमानव्यम् । स्वमन्यान्वातुर-
रीरणान् रसाननुमिमीत् । (विमान अ. ४) । किर इन्द्रिय स्थान

द्वितीय अध्याय में भी लिखा है—यो रसः प्रकृतिरपानां
 देहसंभवः । स एषां चरमे काले विकारं भजते ह्यम् ॥ तमनेना-
 नेन विषादिभूतितानं गतम् । मनुष्यो हि मनुष्यस्य कथं रसमवा-
 न् ॥ यही निषेध यहाँ अप्रत्यक्ष या 'आत्मसदृशेषु विज्ञाना-
 षेषु' इस शब्द प्रयोग से बतलाया गया है । आत्मसदृशेषु—
 के लिये स्वयं अनुभव करने योग्य । सदृश—योग्य था
 न । आत्मसदृशेष्वित्यादि—आत्मसदृशेषु, आत्मनो युक्तेषु, विज्ञाना-
 षेषु, दर्शनरपर्यनादिषु सत्त्व तत्त्वानीयेस्तेषां स्पर्शनेन्द्रियादीनां
 विदितविधानैर्किंदात्वकर्मनालिकानेर्गर्जनीयात् तास्तानिन्द्रियविशेष-
 निषण्णित्यर्थः ॥ इन छः उपायों में रसना का उपाय सर्वदा
 करने योग्य नहीं होता है । इसलिये इसका स्पष्ट निषेध
 में किया है । इसके सिवाय अन्य उपाय भी जो सर्वदा
 मसदृश होते हैं रोगी अद्वैत होने पर, परदानशील स्त्री
 पर या दूर स्थान में होने पर परसदृश हो जाते हैं । यदि
 के गुहांग के रोग हों तो भी दर्शन तथा स्पर्शन के उपाय
 सदा (बहुधा नर्स के योग्य) हो जाते हैं, इत्यादि ।
 एषा आत्मसदृश का अर्थ वातादि दोष सद्य करके इसकी
 रक्षा इस प्रकार से करता है—आत्मसदृशेषु दोषसदृशेषु
 ज्ञानाभ्युपायेषु पन्निषेषु श्रेयस्त्वकृच्चक्षुरसनप्राणप्रशेषु । तत्र वात-
 दोषे विज्ञानाभ्युपायेषु पञ्चेन्द्रियप्रशेषु, त्रणे सशब्दफेनरक्तानिलादि-
 शोभनं त्रणोन्द्रियप्राण, पारुष्यरौक्ष्यादिक त्वगिन्द्रियप्राणम्, इत्यादि ।
 त्रणेषु विज्ञानाभ्युपायेषु त्रणादीनामौषध्य त्वगिन्द्रियप्राणम्, नील-
 त्वनेत्र चक्षुरिन्द्रियप्राणम्, इत्यादि । श्लेष्मसदृशेषु विज्ञानाभ्युपायेषु
 श्लेष्मैश्चिह्नित्यादिक त्वगिन्द्रियप्राणं, श्वेतत्वं चक्षुरिन्द्रियप्राणम्, इत्यादि ।
 जो जानीयात्, इति कान् ? व्याधीन्, अधिकारवशादक्षरैरनुक्तानपि केषु
 त्पु ? पङ्क्तिभ्यश्च विज्ञानाभ्युपायेष्वामसदृशेषु वातपित्तश्लेष्मसदृशेषु कैर्जा-
 न्यात् ? तत्त्वानीयैः तेषां शब्दादीनां स्थानानि श्रोत्रादीनि, तेष्विष्टनैः
 तत्त्वसंश्लेषरसनाद्यैः तत्त्वानीयैः । यतेनैतदुक्तम्—वातादिल्लैरायुर्वेदेष्व
 नेन्द्रियानामभेदानपि व्याधीन् कुशाग्रमतिर्वैद्यो जानीयादिति । इस
 आस्थान का आशय यह है कि उपर्युक्त रोगविज्ञान के जो
 छः उपाय बतलाये गये हैं उन में से वातादि दोषों का स्वरूप
 जानने के लिये जो उपाय उपयोगी हों उनकी सहायता लेकर
 रोगों का ज्ञान दोष की परिभाषा में कर लेना चाहिये । इससे
 आयुर्वेद में अनिर्दिष्ट रोगों का भी ज्ञान बुद्धिमत् पध
 हो जाता है । हाराणचन्द्र 'आत्मसदृशेषु' ऐसा पाठ लेकर व्या-
 ष्णान करते हैं—'नन्वात्मनो हीनेन्द्रियत्वे का गतिरित्याह—आत्मा-
 षेष्वित्यादि । उचितपरपर्यायोऽयं सदृशशब्दः । 'सदृशं समे उचिते'
 इति मेदिनी । तत्रात्मासदृशेषु आत्मनोऽनुचितेषु अयुक्तेषु हीनेष्विति
 प्रायः । विज्ञानाभ्युपायेषु विज्ञानोपायेष्विन्द्रियेषु सत्त्वित्वर्थः । तत्त्वानी-
 येषु वासस्थैः पुरुषैर्जानीयात् तास्तानिन्द्रियविशेषान् विषयान्
 विषयैः । 'आत्मसदृशेषु' इति प्रामादिकः पाठः । इस का आशय
 है कि जब उपाय इन्द्रियहीनत्व से या अन्य अन्य कारण
 स्वयं करने के लिये उचित नहीं होते हैं तब रोगी के घर
 मनुष्यों से उन इन्द्रियविशेष विषयों का ज्ञान कर लेना
 चाहिये । उपर 'आत्मसदृशेषु' पाठ के अनुसार जो अर्थ दिया है
 का विचार करने से इस पाठ को प्रामादिक मानने की
 आवश्यकता नहीं प्रतीत होती है । पाश्चात्यरोगविज्ञानोपाय—
 आयुर्वेदक में रोगिपरीक्षा के मुख्य पाँच उपाय होते हैं ।

(१) प्रश्न (Interrogation)—यह रोगी की परीक्षा का
 प्रथम उपाय है । इसके दो विभाग होते हैं—सामान्य प्रश्न
 (General Interrogation) और विशेष प्रश्न (Special
 Interrogation) । सामान्य प्रश्न में रोगी का नाम, आयु,
 व्यवसाय, विवाहित या अविवाहित, निवासस्थान, देश, वर्तमान
 रोग की अवस्था, कैसे आरम्भ हुआ, कैसे बढ़ता गया, क्या
 चिकित्सा की गई, उसका क्या परिणाम हुआ, रोगी के
 सामान्य स्वास्थ्य का वृत्तान्त, आहारसंबंधी, विशेष करके
 मादकद्रव्य सेवन संबंधी बातें, परिवार के स्वास्थ्य का परिचय
 इत्यादि बातें समाविष्ट होती हैं । विशेष प्रश्न में रुग्ण संस्थान
 या अङ्ग के संबंध में तथा यदि आवश्यक हो तो अन्य संस्थान
 या अङ्ग के संबंध में प्रश्न होते हैं । (२) दर्शन (Inspection)—
 इसमें आपादमस्त्रक रोगी के शरीर का निरीक्षण घोलते, चलते,
 सोते और बैठते समय किया जाता है । यदि आवश्यक हो तो
 रोगी को निर्वस्त्र करके भी देखना चाहिये । परन्तु अधिक समय
 तक निर्वस्त्र रखना अच्छा नहीं है । (३) स्पर्शन (Palpation)—
 दर्शन के पश्चात् हाथ से परीक्षा करनी चाहिये । स्पर्शपरीक्षा
 प्रायः एक हाथ से और कभी कभी दोनों हाथों से की जाती है ।
 स्पर्श करने के समय हाथ न बहुत ठण्डा न गरम होना चाहिये ।
 स्पर्श बहुत कोमलता से करना चाहिये ताकि रोगी को फट न
 हो । स्पर्श सम हाथ से करना चाहिये, अंगुलियों से दबा दबा
 कर नहीं । (४) अंगुलितान (Percussion)—यह परीक्षा-
 विधि आयुर्वेदीय वैद्य तथा विद्यार्थियों के लिये नई नहीं है इस
 विधि का सहेख आयुर्वेद के ग्रन्थों में मिलता है । यह
 विधि निम्न तत्त्व पर निर्भर है—ठोस या कठिन स्थान पर ताड़न
 करने से प्रतिध्वनि मंद या भद्भद् (Dull) होती है । रिक्त
 स्थान पर ताड़न करने से प्रतिध्वनि डिमडिम, ढोलध्वत् (Tym-
 panitic) होती है । जलगर्भ स्थान पर आघात करने से
 ध्वनि मंद होती है । परन्तु उसकी मन्दता ठोस स्थान से कुछ
 दूसरी होती है । इस विधि से शरीर के भीतरी ठोस, जलगर्भ
 और रिक्त (वायुयुक्त) स्थान का ज्ञान होता है । इस विधि में
 स्पर्शन और श्रवण का मिश्रण है । परंतु अभ्यास से हाथ की
 ज्ञानशक्ति इतनी बढ़ जाती है कि बिना ताड़न शब्द के सुनने
 से ही हाथ को यह मालूम हो जाता है कि परीक्ष्य स्थान ठोस,
 जलगर्भ या रिक्त है । ताड़न की विधि—इसके लिये दो चीजें
 आवश्यक हैं—एक वह जिससे ताड़न किया जाता है और दूसरी
 जिस पर ताड़न किया जाता है । प्रथम जय इस विधि का
 आविष्कार हुआ, तब रोगी के शरीर पर कोई भी चीज न रख
 कर ताड़न किया जाता था । इसे प्रत्यक्ष ताड़न (Direct
 Percussion) कहते हैं । इस प्रत्यक्ष पद्धति से अब ताड़न
 नहीं होता है । केवल फुफ्फुस-परीक्षा में अक्षकों के ऊपर इस
 प्रकार ताड़न कभी कभी होता है । प्रायः वाम हस्त की मध्य-
 मांगुलि को परीक्ष्य स्थान पर सपाट रखकर उस पर दक्षिण
 हस्त की मध्यमांगुलि के सिरे से हथौड़ी की तरह प्रहार किया
 जाता है । प्रहार के समय केवल अंगुलि और हाथ हिलना
 चाहिये और प्रहार की शक्ति कलाई से आनी चाहिये । प्रत्येक
 स्थान में दो या तीन से अधिक प्रहार करने की आवश्यकता
 नहीं है । यह विधि उदर, छाती और हृदय की परीक्षा में

बहुत उपयोगी है। (५) अवगपरीक्षा—(Auscultation)— यह परीक्षा प्रत्यक्ष रूप परीक्ष्य स्थान पर लगाकर भी की जा सकती है। परन्तु इसके लिये एक विशेष प्रकार का नाडीयन्त्र व्यवहृत होता है। उसे स्टेथोस्कोप (Stethoscope) कहते हैं। यह स्टेथोस्कोप एक नलिका का (Single) या दो नलिकाओं का (Binaural) होता है। इस नाडीयन्त्र का उपयोग कुम्भक और हृदय के रोगों में बहुत होता है। पाश्चात्य वैद्यक में रसनापरीक्षा के लिये किञ्चित् भी स्थान नहीं है। रस-परीक्षा की विशेष आवश्यकता मूत्रपरीक्षा में होती है—स नैरिप्रविशेया प्रमेहादिरतिशयेण। परन्तु पाश्चात्य वैद्यक में रासायनिक पदार्थों का मिश्रण मूत्र में करके उनकी मधुरता जानने का साधन उपलब्ध है। इसके सिवाय प्रत्यक्ष रोगी के मूत्रादिक का स्वाद लेना भी हानिकारक और पृथित है। इसलिये चरक में भी रासनी परीक्षा का स्पष्ट निषेध किया है और रासायनिक परीक्षा न होने के कारण मूत्र का रस जानने के लिये पिपीलिकादि पर निर्भर होने के लिये लिखा है—यदप्य-पिपीलिकादिभ्य शरीरमूत्राभितरणम्। गपरीक्षा—पाश्चात्य वैद्यक में मूत्र मूत्र की परीक्षा में, अहिफेन विष, मदाव्यय और मधुमेह की मूर्च्छा (Diabetic coma) में गंध द्वारा रोग की परीक्षा की जाती है। परंतु इस परीक्षा के लिये कोई स्वास स्थान नहीं है। चिकित्सा में सफलता प्राप्त करने के लिये प्रथम रोगी की सम्पूर्ण और सम्यक् परीक्षा करना असम्भव आवश्यक है। इस आवश्यकता की पूर्ति करने के लिये पाश्चात्य वैद्यक में सैकड़ों यन्त्र (माच्य—स्पेक्कुलम, स्कोप, एक्सने इत्यादि) व्यवहृत होते हैं। प्रथम काल में इन यन्त्रों की कमी थी। अतः वैद्य को केवल अपनी इन्द्रियों की शक्ति पर निर्भर रहना पड़ता था। इसलिये इन इन्द्रियों का महत्त्व चरक में वर्णन किया है—आतुरस्वान्तरात्मानं यो नाभिरानि रोगविन्। हानुदुक्तिप्रदीपन न स रोगान् चिकित्सति ॥

भयति चात्र—

मिथ्यादृष्टा चिकारा हि दुराख्यातास्तथैव च।

तथा दुष्परिवृष्टाश्च मोहयेयुश्चिकित्सकाम् ॥५॥

जिन रोगियों की परीक्षा यथाशक्त नहीं की गई है, जिन के संबंध में वैद्य के सामने ठीक नहीं बताया गया है तथा जिनके ऊपर वैद्य ने ठीक विचार नहीं किया है, ऐसे रोग वैद्य को (चिकित्सा के समय) मोहित कर देते हैं ॥५॥

युक्तव्य—मिथ्यादृष्टा—दृष्ट यद्य् पर्यां पंच इन्द्रियों का शास्त्ररूपक समझना चाहिये। पंच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जिन की योग्य परीक्षा नहीं हुई है। इतिरथ प्रव्यथर, पश्चेन्द्रियविज्ञाना विकारात्। तदप्यर्थ—मिथ्यादृष्टा याशाभ्येतिवाद्याः। (हस्ताण्वन्त्र)। इस श्लोक का आशय यह है कि वैद्य को रोगी की शारीरिक परीक्षा पश्चेन्द्रिय द्वारा यथाशक्त करनी चाहिये। रोगी को चाहिये कि वह वैद्य के प्रश्नों का उत्तर निष्कण्ट कृति से, सुष्टे दिष्ट से, लज्जा तथा भीति छोड़कर दे। फिर मन्त्र तथा ऐन्द्रिय परीक्षा द्वारा मीचुं हर्षुं सामग्री पर चिकित्सक को चाहिये कि वह योग्य विचार करे। यदि इस पद्धति द्वारा रोगी की चिकित्सा की जाय तो चिकित्सा में मोह दण्डक होने की कोई सम्भावना नहीं हो सकती है।

एवमभिसमीक्ष्य साध्यान् साधयेत्, याप्यान् यापयेत्, असाध्यान्प्रोपक्रमेत्, परिसंवत्सरोरिय तांश्च विकाराण्य प्रायशो वजयेत् ॥६॥

इस प्रकार (रोगी की) परीक्षा कर साध्य रोग से पीड़ित रोगियों को नीरोग करे, याप्य व्याधियों से पीड़ित रोगियों को जीवन किसी तरह से निबाह ले, असाध्य रोग से पीड़ित रोगियों को चिकित्सा न करे और एक वर्ष से अधिक पुराने रोग से पीड़ित रोगियों को छोड़ दे ॥६॥

युक्तव्य—साध्य—सुखमाय्यं सुलक्षणं कालेनात्मेन साध्यं वैद्य—इसकी व्याख्या आगे अध्याय २३ में वर्णन की है। चिकित्सा जिस रोग को रोक के रखनी है और चिकित्सा बुर होने पर जिससे रोगी शीघ्र मर जाता है, उसे याप्य रोग कहते हैं। असाध्य—जो रोग चिकित्सा करने पर भी बढ़ता है, उसे असाध्य कहते हैं—परोऽसाध्यं क्रियात्सर्वं प्रत्याख्येयोऽनिवर्तं। तत्मायेदेष एवास्ते ॥ (अ सं)। असाध्य रोग की चिकित्सा करने से अर्थ विधादिक का नाश होता है। इसलिये असाध्य रोग की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये—अर्थविधापशोऽहानिदुष्कामं सन्नम्। प्राणुयात्रियन् वैद्यो योऽप्राप्य सनुपचरेत् ॥ (चरक)। प्रायश—प्राय लिखने का कारण यह है कि अधिक संख्या में रोग वर्ष से अधिक पुराने होने के पश्चात् असाध्य हो जाते हैं। परंतु रक्तगुल्म, अर्द्धित इत्यादि रोग वर्ष से पुराने होने के पश्चात् ही साध्य हो सकते हैं—रक्तगुले पुराणत्वं सुलभाप्यस्य लक्षणम्। अर्द्धित की मर्यादा तीन वर्ष की होती है—न मिथ्यैवार्द्धितं गणं विषं वैपनस्य च। अत अपवर्द्धो को छोड़ने के लिये प्रायशब्द प्रयुक्त किया है।

तत्र साध्या अपि व्याधयः प्रायेणैषां दुश्चिकित्स्यतामा भवन्ति। तद्यथा—ध्रोत्रियन्पतिस्त्री-बालवृद्धभीरुजसैवकफितयदुर्बलवैद्यविदग्धव्याधिगोपकदरिद्ररूपणकोधनानामनाभयैतानामनाथानां च; एवं निरूप्य चिकित्सां कुर्वन् धर्मोयं नामपरांसि प्राप्नोति ॥७॥

इन मनुष्यों की साध्य व्याधियाँ भी प्रायः कष्टसाध्य हैं। जैसे—ध्रोत्रिय, राजा, स्त्री, बाल, वृद्ध, बरपौष्ट, राज सेवक, शूतकार, दुर्बल, वैद्याभिमानी, रोग छिपाने वाला दरिद्र, कर्तव्य, कोपी, अज्ञितेन्द्रिय और एकाकी। इस प्रकार सब बातों को समझ कर जो चिकित्सा करता है वह वैद्य धर्म अर्थ, काम और कीर्ति संपादन करता है ॥७॥

युक्तव्य—ध्रोत्रिय—अग्निना आत्मगो वैद्य संवत्सरेऽत्र उच्यते विषया यानि विषय विभि भोत्रिय उच्यते ॥ वेदाध्ययन के लिये ध्यानदि नियमियों का पालन करने के कारण व्याधि बृद्धि हो जाती है। क्षी—पारतन्त्र्य, लज्जा, वेगावरोध तथा गुण व्याधि का अग्रकाशन के कारण। रात्रोपक—पारतन्त्र्य के कारण। विनत—व्यसन के कारण। दुर्बल—शारीरिक प्रतिष्ठा शक्ति (Vitality) कम होने के कारण। वैपतराप—अभिमान के कारण।

लेये पैसा खर्च न करने के कारण उत्तम ओषधि ग्रहण नहीं सकते हैं। अनात्मवान्—मनमानी करने वाला, इस से व्य होने के कारण। अनाथ—एकाकी, परिचर्या करने के कोई न होने के कारण।

भवति चात्र—

त्रीभिः सहास्यां संवासं परिहासं च वर्जयेत् ।
त्तं च ताभ्यो नादेयमन्नादन्यद्विषग्वरैः ॥८॥

इति सूत्रसंहितायां सूत्रस्थाने विशिखानुप्रवेशनीयो
नाम दशमोऽध्यायः ॥१०॥

(जहाँ चिकित्सा करे, वहाँ की) स्त्रियों के पास बैठना, तबोत करना, हँसी करना इत्यादिक न करे तथा अन्न के वायु स्त्रियों की दी हुई कोई भी वस्तु ग्रहण न करे ॥८॥

वक्तव्य—भर्ता की अनुमति ही तो स्त्रियों द्वारा दिया था धन तथा अन्य वस्तु ग्रहण करने में आपत्ति नहीं है—च कदाचित् स्त्रीदत्तमामिममादातव्यमननुशातं भर्त्रायवाध्यक्षेण । चरक. वि. अ. ८)

इति भास्करशर्माणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतभाषाटीकायां सूत्रस्थाने विशिखानुप्रवेशनीयो नाम
दशमोऽध्यायः ॥१०॥

एकादशोऽध्यायः ।

अथातः चारपाकविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से चारपाकविधि का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—क्षारपाकविधि—क्षारपाक और विधि। क्षारपाक—क्षार तैयार करने की पद्धति। क्षारविधि—क्षार का उपयोग करने की पद्धति। क्षार को अंग्रेजी में रासायनिक दृष्टि से अलकली (Alkali) और कार्य की दृष्टि से कास्टिक (caustic) कहते हैं।

शस्त्रानुशस्त्रेभ्यः क्षारः प्रधानतमः, छेद्यमेघले-
ख्यकरणात्रिदोषघ्नत्वाद्द्विशेषक्रियावचारणाच्च ॥२॥

छेद्य, मेघ और लेखन कार्य, त्रिदोष का नाश तथा विशेष कार्य संपादन करने के कारण शस्त्रों तथा अनुशस्त्रों से क्षार अधिक प्रधान है ॥२॥

वक्तव्य—प्रधानतम—श्रेष्ठ। क्षार की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिये यहाँ तीन कारण दिये हैं—१ छेद्यमेघलेख्यकरणात्—वास्तव में छेदन, भेदन और लेखन का कार्य करने से क्षार की श्रेष्ठता सिद्ध नहीं हो सकती। क्योंकि शस्त्र छेद्यमेघादि अष्टविध कर्म कर सकते हैं। श्रेष्ठता इसलिये है कि छेदन, भेदन और लेखन का कार्य क्षार ऐसे संकट स्थान में कर सकता है कि जहाँ शस्त्रों का प्रयोग करना कठिन होता है। इसके सिवाय शस्त्र का प्रयोग करने पर भी जहाँ सिद्धि नहीं मिल सकती है, वहाँ क्षार फलदायी होता है। क्षार का छेदन के लिये उपयोग नाडीघण में होता है—कृशदुर्बलभीरूणां नाडी मर्मा-

थिता च या। क्षारसूत्रेण तां च्छिन्द्यान्नतु शस्त्रेण बुद्धिमान् ॥ (सुश्रुत) ।
भेदन के लिये मर्मज घण शोध में होता है—मर्मोपरि च जातेषु रोगेषूक्तेषु दारणम्। सुपिष्टैर्दारणद्रव्यैर्युक्तैः क्षारेण वा पुनः ॥ लेखन के लिये कठिनोत्सन्न मांस तथा कुष्ठ में उपयोगी होता है—येषु न शक्यं क्रमते स्पृशेन्द्रियनाशनानि यानि स्युः। तेषु निपात्यः क्षारः। (चरक)। २ त्रिदोषघ्नत्वात्—नाना प्रकार की ओषधियों से क्षार बनाया जाता है। इसलिये वह त्रिदोषघ्न होता है। ३ विशेषक्रियावचारणात्—विशेष क्रियावचारण इसलिये है कि त्रिदोषघ्न और सौम्य होते हुए भी दहन पचन दारण कर्म कर सकता है, आदेय होते हुए भी रक्तपित्त अर्श में उपयोगी होता है और क्षरण या क्षणन करते हुए भी पीने के काम में उपयोगी होता है। वागभट्ट ने क्षार का श्रेष्ठत्व इस प्रकार लिखा है—सर्वशस्त्रानुशस्त्राणां क्षारः श्रेष्ठो बहूनि यत्। छेद्यमेघादि-कर्माणि कुस्ते विपमेष्वपि ॥ दुःखावचार्यशस्त्रेषु तेन सिद्धिमयास्तु च। अतिकृच्छ्रेषु रोगेषु यच्च पानेऽपि युज्यते ॥

तत्र क्षरणात् क्षरणाद्वा क्षारः। नानौषधिसमवा-
यात्रिदोषघ्नः, शुक्लत्वात् सौम्यः, तस्य सौम्यस्यापि
सतो दहनपचनदारणादिशक्तिरविरुद्धा, स खल्वाग्ने-
यौषधिगुणभूयिष्ठत्वात् कटुक उष्णस्तीक्ष्णः प(पा)-
चनो विलयनः शोधनो रोपणः शोषणः स्तम्भनो
लेखनः कृम्यामकफकुष्ठविपमेदसामुपहन्ता पुंस्त्वस्य
चातिसेवितः ॥३॥

(यह धातुओं का) क्षरण या क्षणन करता है, इसलिये क्षार कहलाता है। नाना प्रकार के ओषधिसंयोग से बनता है, इसलिये त्रिदोषों का नाश करता है। श्वेत रंग का होने के कारण सौम्य होता है। (परंतु) सौम्य होते हुए भी इस की दहन पाचन दारणादि शक्ति अप्रतिहत होती है। (कारण यह है कि) क्षार वास्तव में अधिकसंख्य तीक्ष्ण ओषधियों से बनने से वह कटु, उष्ण, तीक्ष्ण, पाचन, विलयन, शोधन, रोपण, शोषण, स्तम्भन, लेखन होता है; कृमि, आम, कफ, कुष्ठ, विष और मेद का नाश करने वाला है और अधिक मात्रा में (अधिक काल तक) सेवन करने से पुरुषत्व का भी नाश करता है ॥३॥

वक्तव्य—क्षरण—क्षार स्यन्दने, भरना। क्षार दोषों को फिरा देता है, इसलिये उसे क्षार कहते हैं—भित्त्वा भित्त्वाशयान क्षारः क्षरत्वात् क्षारयत्ययः। (चरक)। क्षणन—क्षण हिंसायाम्। त्वच्चा मांसादि धातुओं का नाश या शासन करता है, इसलिये भी क्षार कहलाता है। त्रिदोषघ्नः—क्षार नाना प्रकार की ओषधियों से उत्पन्न होने के कारण उसमें पड़स न्यूनाधिक मात्रा में उपस्थित होते हैं, इसलिये क्षार का वातपित्त कफ तीनों पर प्रभाव पड़ता है। ज्वलन होने के पश्चात् भस्म में परिवर्तन होने पर भी ओषधियों के मूल स्वभाव में पूर्णतया परिवर्तन नहीं होता है। उनके पूर्व गुणों के अनुसार भस्म के भी गुण दिखाई देते हैं। यथा—रक्तपित्त में ज्वर क्षार का प्रयोग होता है, तत्र शीतल ओषधियों के क्षार व्यवहृत होते हैं—सक्षौद्रमिन्दीवरभस्मवारिः पित्तमसृक् च योगः। (सुश्रुत)। युक्त्य युक्त्या मधुसर्पिषोश्च क्षारस्य चैवोत्पलनालजस्य

श्यालपद्मोल्लेकराणां क्षार प्रयोज्या विधिनैव तेन ॥ (चक्र) ।
 शुक्लत्व—ओषधियों के प्रकृति गुणों के अतिरिक्त आम्रिय
 क्षार त्रिदोषघ्न होने का दूसरा कारण उमका श्वेत रंग है । श्वेत
 रंग कक का—श्रेष्ठा श्वेती गुह लिम्ब—होता है, इसलिये क्षार
 में भी कक का सौम्य गुण होता है । पाश्चात्य रसाशास्त्र में भी
 सिल्वर् नायट्रेट (Silver Nitrate) नामक क्षार को श्वेत होने
 के कारण सौम्य क्षार (Lunar Caustic) कहते हैं । अविरुदा-
 क्षार आम्रिय ओषधि गुण भूयिष्ठ होने के कारण सौम्य गुण
 उसकी दहनानि शक्ति का विरोध नहीं कर सकता है—विरुद
 गुणसंश्लेषात् भूयसाऽप्यमनवीर्यते ॥ पावन—बाह्य प्रयोग करने
 से प्रशयोद्य को पकाने वाला, पीने से अर्जली का नाश करने
 वाला । विलयन—गुल्म का विलयन करने वाला, दूषित स्थान
 से दोष को फैलाकर उसका नाश करना विलयन कहते हैं ।
 शोथन रोपण—दुष्ट मण की शुद्धि करने वाला तथा घाव को
 भर साने वाला । परंतु रोपण के लिये क्षार का उपयोग नहीं
 होता है, न करना चाहिये । क्षार का रोपण गुण दुष्ट मण शुद्धि
 करने से अमल्यक्ष या परम्परा से समझना चाहिये । इसलिये
 कहीं रोपण का पाठ नहीं मिलना है । शोथन—मण के स्वाव
 को सुखाने वाला । लग्नन—धमगो सिरासोतसों का छिन्न-
 मुख संकुचित और पाचित करके रक्तसाव बढ़ करने वाला,
 अंग्रेजी में स्तम्भन को स्टिप्टिक (Styptic) कहते हैं । कृम्याम
 हत्यादि—उपहन्ता शब्द कृमि, आम, कक, दुष्ट, विष और
 मेद तथा पुंस्त्व प्रत्येक के साथ संबंधित करना चाहिये । इन
 रोगों का नाश क्षार बाह्याभ्यंतर प्रयोग से करता है । पुंस्त्व-
 क्षार अधिक काल सेवन करने से पीरय या शुष्क का क्षय करता है ।

स द्विविध—प्रतिसारणीयः, पानीयश्च । तत्र
 प्रतिसारणीयः कुष्ठकिटिभद्रदुष्टमण्डलकिलासभ्रान्द-
 रायुदाशीदुष्टप्रणनाडीचर्मकीलेतिलालककन्यच्छब्द-
 क्रमशःकयाद्यविद्विधकृमिपिपादिपूपविद्वयते सप्तसु च
 मुखरोगेषूपजिह्वाधिजिह्वोपकुशान्तवैदमेषु तिस्रपु
 च रोहिणीषु, एतेष्वेवानुसूत्रप्रणिधानमुक्तम् । पानी
 यस्तु गरगुल्मोदराग्रिसह्राजीर्णोरोचंभानाह्वारका-
 श्मयांभ्यन्तरविद्विधकृमिपिपाशी स्रपयुज्यते ॥३॥

यह क्षार दो प्रकार का होता है—प्रतिसारणीय और
 पानीय । इन में से प्रतिसारणीय क्षार कुष्ठ, किटिभ, दद-
 मण्डल, किलाम, भगन्दर, अर्बुद, अर्ग, दुष्टमण, नाडी, चर्म
 कील, तिलकालक, म्यच्छ, म्यग, मयक, बाह्य, विद्विध, कृमि
 रोग का विष—इन रोगों पर उपयोग में लाया जाता है तथा
 उपजिह्वा, अधिजिह्वा, उपदुष्ट, दन्तवैदर्भ और तीन रोहिणी
 रोग ऐसे स्थान मुख रोगों में भी लगाया जाता है । इन रोगों
 में क्षार का ही प्रयोग करने के लिये कहा गया है । पानीय
 क्षार विषरोग, गुल्म, उदर, अग्निमह, अग्नीय, अरोचक,
 आनाह, शकैरा, पपरी, आभ्यन्तरविद्विध, कृमि, विष और
 बवासीर—इन रोगों में उपयोगी होता है ॥३॥

यस्तद्व्य—अन्तःपानीय—बाह्यपरिमाणेन, जो ऊपर
 लगाया जाय । पानीय—अन्तःपरिमाणेन, जिसका सेवन मुख

द्वारा किया जाय । स द्विविधो नादाभ्यन्तरपरिमाणेनेन । (अ०
 संग्रह) ॥ कुष्ठ किलास—ये कुष्ठ के भेद हैं । द्युपण्डल—
 द्यु का मण्डल (Ringworm) । सुश्रुत में मण्डल कुष्ठ वर्णन
 नहीं किया है, चक्र में मण्डल महाकुष्ठ है । किलास—श्वेत कुष्ठ
 (Leucoderma) । स्वचागत कुष्ठ को किलास कहते हैं—लग्न
 तु यदभवि किलाल तयकीर्तिनम् ॥ भगन्दर—नासूर (Fistula in
 ano) । अर्ग—बवासीर (Haemorrhoids) । नाडी—एक-
 भुली पूयावकाय (Sinus) । तिलकालक, चर्मकील (Warts),
 म्यच्छ, म्यग, मयक (Moles) ये त्वचा पर होने वाले दुष्ट
 रोग हैं । कृमिविष—कृमियों का विष एक प्रकार का अम्ल
 होता है । इसलिये यदि काटते ही दृशस्थान पर क्षार लगाया
 जाय तो अम्ल निर्वायि होकर दय से उत्पन्न होने वाला दर्द
 तथा शोथ दूर हो जाता है । श्वेतु—इन सात मुख रोगों में । ननु
 शक्यन्—क्षार एव (दरहण) । शेषु हत्यादि वाक्य का अर्थ हाराण-
 चन्द्र के अनुसार ऐसा होता है—उपयुक्त कुष्ठानि सर्प रोगों में
 शक्यन्तुशुद्र का प्रयोग करने के पश्चात् क्षार का प्रयोग
 करना चाहिये, ऐसा पूर्वचार्यों का मत है—एतेषु कुष्ठानि
 चकारान् कठिनान्येषु तादृशेषु कठिनोत्सन्नजनपरिपाशेषु चैवापुत्राश्च
 प्रणिधानं यथावेगं शक्यानुशुद्रप्रणिधानानन्तरं क्षारप्रणिधानमुक्तं
 पूर्वचार्यैरिति शेष । गर—अनेक द्रव्यों के संयोग से बनाया
 हुआ कृत्रिम विष—नालाभ्याम्पुत्रामलविरुद्धोपधिभलत्वनाम् । विषाणां
 चाल्यकीर्णानां योगो गर इति स्थ ॥ इतिमि गरश्च तु क्रियते त्रिभि
 षोक्ते ॥ (अ संग्रह) । गुल्म—उदरविभाग में वायु से
 बना हुआ अर्बुद (Gastumor in the abdominal cavity) । इदस्योन्तरे प्रथि सचारी यदि बाधश्च । चयापचयवान्
 वृत्त स गुल्म इति कीर्ति ॥ (सुश्रुत) । अग्निमह—अग्नि
 क्षयने क्षयने धमिनन्, प्रहणी अलम्यक विमूचिन्द्रादिविकार । अरोचक—
 जिष रोग में रोगी की अन्न सेवन करने में रुचि नहीं होती
 है, उसे अरोचक (Anorexia) कहते हैं—अक्षिप्त इ मुखे चात्र
 जन्तोर्न स्वने शु । अरोचक स विषे ॥ आनाह—कब्ज के
 साथ वायु से पेट फूलना—आम शहदा निवित्र क्रमेण भूयो
 विवद विगुणानेन । प्रवर्तमान न यथावमेव विचारयानाहदुष्ट

(Gravel) ॥ इति ॥ १११ ॥ ११ - ११५ ॥
 सा (असूरी) मित्रमूर्तिवलेन शकैर्यमिधीयते । (सुश्रुत) ।
 कृमि—अन्त्यस्थ कृमि ।

अद्वितस्तु रक्पित्त(त्ति)ज्वरितपित्तप्रकृतिबाल-
 घृत्तुर्बलध्रममदमूर्च्छांतिमिरपरीतेभ्योऽन्येन्यक्षैयं-
 विधेभ्यः । तं चेतद्वारवहन्व्या परिस्वाययेत् । तस्य
 विस्तरोऽन्यत्र ॥४॥

पानीयक्षार का निषेध—रक्पित्त तथा ज्वरप्रिणन, पित्त-
 प्रकृति, बालक, वृद्ध, दुर्बल, ध्रम, मद्, मूर्च्छा (Syncope),
 तिमिर—इन रोगों में व्यस्य तथा इस प्रकार के रोगों से पीडित
 अन्य मनुष्यों को पानीयक्षार अहितकारक है । यह पानीयक्षार
 प्रतिसारणीय क्षार की भांति ओषधि जलाकर बुझा लेने से
 बनता है । इस का विन्मार (विधि) अन्य स्थान में होगा ॥४॥

वृक्तव्य—भ्रम—पथर माण्डस होता (Vertigo), उरुदभक्तो गण भूतो रक्षति मरेर । भ्रमरान् रक्षि मरेर सः विधा-
 तेष्वन्यः ॥ ३३—अर्धम, मय, पथर इत्यादि पदार्थों के
 भ्रम से उत्पन्न हुए मय (Intoxication) । विधि—हृदिगत
 र्धमाय पदस में दोष उत्पन्न होने के कारण पैदा हुआ रक्षिमाय
 (Amaurosis) । विधि—इत्येव—इतन्मन्त्र के मूलापाय में
 'शुक्राद्युक्तव्यस्य रक्षमाय' इत्यादिक श्लोकों में पानीप-
 थार की विधि का वर्णन किया है ।

अधेतरस्त्रिविधो मृदुर्मन्व्यस्ताम्रजः । तं चिकीर्षुः
 शरदि निरिस्तानुजं शुचिरयोप्य प्रदास्तेऽहनि प्रदा-
 स्तदेशजातमनुपातं सध्यमवयसं मातन्तमनितमु-
 फ्रकनधियास्यापरेशुः पाटयित्वा मण्डशः प्रक-
 स्यावपाटय निर्वाते देशे निचिरेति कृत्वा सुधाश-
 रकस्य प्रक्षिप्य तिलनालंरार्दीपयेत् । अथोपशान्तेऽ-
 भौ तद्वस पृथग्गृहीत्याद्रसशकंराश ॥६॥

प्रतिवारणीय क्षार तीन प्रकार का होता है—मृदु, नख
 और मोक्ष । जो हम क्षार को बनवाना चाहे, वह मरुद प्रत्यु में
 उत्पन्न दिन देखकर कृषि और उपोषित होकर पर्याय के ऊपर
 प्रत्यु मूमि में उत्पन्न हुए, (शूल प्रति विष हूमि इत्यादि से)
 जनहर्षोपे मध्यम आयु के (परिपूर्णोपे) महान् काम-
 मुक्त को अधिवासन कर दूसरे दिन उत्पन्न उत्पन्न से । उसे
 मन्त्रित करके छोटे छोटे टुकड़े बनाने और निर्वात स्थान में
 डकड़ा कर, उसमें चूना डालकर तिल की मक्खियों से उसे
 जता दे । जय (औरपि की) अधि वात हो जाने पर भस्म
 कल्या दवा से और चूना श्रवण कर ले ॥६॥

वृक्तव्य—प्रदानेऽहनि—तिथि करण मुहुतांदि एष्टि से
 उत्पन्न तथा प्रवात मेघपर्णा विरहित । प्रदानेऽहनि—अथ-
 र्कंरादि विरहित तथा अनुरातभेनुरादि गुणयुक्त । अनुपातं—
 शर्मविपर्ययसायनरहणनोपवशाधर्मायनुपकाम् । मध्यमवयस—न
 बहुत नया न बहुत पुराना । नया वृक्ष आयुर्वीर्य, पुराना वृक्ष
 हीनवीर्य और मध्यमवयस वृक्ष परिपूर्णवीर्य होता है ।
 श्रितमुक्तं—पलाश सदृश पर्वत पर होने वाला एक वृक्ष है ।
 दस घंटापारुलि या मोला कहते हैं । इसका श्वेतपुष्प और
 कृष्णपुष्प दो भेद हैं । इन में से श्वेतपुष्प की अपेक्षा कृष्ण-
 पुष्प श्रेष्ठ होने के कारण उसको प्राण करने के लिये कहा है—
 मुक्तः कालमुपारुत करः श्वेतादिपुष्पनः । अधिवास्य—मन्त्र बलिपूजा
 द्वारा आवाहन करके । 'सुरापल्लसुमनोऽशतादिभिश्चतुर्दिशं बलिं
 श्लवा मद्रक्षिणं चाभ्यर्च्यैनमधिवासयेत्' । (अ. संग्रह) । वृक्ष के
 ऊपर रहने वाले भूतों का अपसारण करने के लिये अधिवासन
 किया जाता है—निवसन्तीह भूतानि यान्यस्मिन् कानिचिद् द्रुमे ।
 यप्रकामन्वतव्येयः परार्थे शो शार्थे द्रुमे ॥ निचिरेति कृत्वा—राश्रीकृत्य ।
 सुधाशकंरा—सुधापापाण, चूने के छोटे छोटे टुकड़े । 'शकंरा
 क्षुद्ररसापाणविशेषः' ऐसा अर्थ हाराणचन्द्र की टीका में दिया है ।
 परन्तु सुधा और शकंरा दो भिन्न पदार्थ न समझ कर सुधा की
 शकंरा या पापाण समझना अधिक प्रशस्त है । वाग्भट में सुधा

१ ततोऽपरदुः २ नि चितं.

शकंरा के स्थान में सुधाशक शब्द आया है—नक्षिण मुष्ककल्पे
 सुधाशकतो भ दौषवेर । (अ. ह.) । इत्युक्तः—'शकंराशकंरादीपन
 योमोक्तवर्षेय' । एक—भिन्न प्रयोजन के लिये भिन्न भिन्न
 एकत्रित किया जाता है । भ्रमरान्—भरमीभूत मूधापापाण,
 जोड़े हुए चूने के पथर । शकंरा का दूसरा अर्थ यह है कि मुष्कक
 वृक्ष जलने समय उत्पन्न जो रस भस्म में चूना है, वह भस्म
 संयोग से शकंरा रस्य कठिन हो जाता है—सुष्ककरक्षमानाशु
 रसः मरुतो ह यः । भ्रमरा वा मनुजः कश्चित्तुमन्यच्छति ।
 ता भ्रमराणामपः ॥

अशानेनैव विधानेन कुटजपलाशश्वकर्णपारि-
 भद्रफयिमीतफारगवधतिल्वकार्फस्तुत्रापामार्गपाटला-
 नगामालवुपकदलीचित्रकपृतीकेन्द्रवृक्षास्फोताश्वमा-
 रकसतच्छद्राशिमन्धगुड्राद्यतलक्ष्यकोशातकीः समू-
 लफलपप्रदास्या दृष्टत् ॥७॥

इसी विधि में कुड़ा, ढाक, गाल, गिन्ध, बहड़ा, अमलतास,
 लीम, आक, धोहर, लटगिरा, पाटला, करंज, अरुस्ता, पैला,
 चित्रक, सागरगोडा, देवदार, आरुतोता, कनेर, छातीन,
 बरगी, गुडरा, चारों प्रकार की कोशातकी, इनके मूल, फल,
 पत्र और धारण समेत भस्म कर ले ॥७॥

वृक्तव्य—अनेनैव विधानेन—दृष्णमुष्कक की भाँति
 प्रशस्त दिन देगादि बातों का विचार पर अधिवासन पूर्वक
 निर्वात स्थान में राशि करके जलाना चाहिये । समूलफल
 शरदि—इसका कुटजादि प्रत्येक वृक्ष के साथ संबंध है ।
 श्वकर्ण—चक्र, इसका अर्थ एक प्रकार का 'सर्जवृक्ष' करता है ।
 पारिभद्रक—देवदार (बहण), पारिजातक पांगरा (उदय-
 चंद्रवृक्ष) । इन्द्रवृक्ष—इन्द्रसम्बन्धितपुष्पकुटज (बहण, हाराण-
 चंद्र), अर्जुन वृक्ष (उदयचंद्रवृक्ष) । नदसश कोशातकी—शुद्ध-
 पत्थ, मत्तकला, पीतपुष्पा, श्वेतपुष्पा—इति चतुर्विधा । वाग्भट में
 काकजंवा और सशुकनालयय अधिक हैं ।

ततः क्षारद्रोणमुदकद्रोणैः पद्भिरालोड्य मूत्रैर्वा
 यथोक्तैरेकविंशतिकृत्यः परिस्त्राव्य, महति कटाहे
 शनैर्दर्व्याऽवघट्टयन् विपचेत् । स यदा भवत्यच्छो
 रक्तस्तीक्ष्णः पिच्छिलश्च, तमादाय महति वस्त्रे परि-
 स्त्राव्येतरं विभज्य पुनरज्ञावधिश्रयेत् । तत एव च
 क्षारोदकात् कुडवमध्यर्धं चाऽपनयेत् ॥८॥

फिर द्रोणभर भस्म को छगुने पानी में या यथोक्त मूत्र में
 खूब मिलाकर हकीम यार वस्त्र से छान ले । फिर यही कड़ाही
 में डालकर दर्वा से धीरे धीरे हिलाते हुए विपचन करे । जब
 वह स्वच्छ, लाल वर्ण, तीक्ष्ण और चिकना हो जाय तब उनार
 कर घने कपड़े से छानकर अविस्त किट्टो को अलग करके विसृत
 द्रव को फिर अग्नि पर चढ़ावे । उस विसृत द्रव में से एक या
 डेढ़ कुड़व द्रव निकाल (कर दूसरे पात्र में) रखे ॥८॥

वृक्तव्य—क्षारद्रोणं—दो भाग मुष्कक भस्म और एक
 भाग कुटजादि भस्म मिलाकर एक द्रोण भस्म लेना । मूत्रैर्वा
 यथोक्तः—जहाँ कहीं गोमूत्रादि का उपयोग करने के लिये लिखा
 हो, वहाँ उक्त मूत्र में क्षार का आलोडन करना चाहिये । परंतु

क्षण शक्ति कम हो जाने पर उस क्षार में क्षारोदक छोड़ से उसकी शक्ति फिर बढ़ जाती है । इसका विशेष विवरण पे २१ श्लोक की टीका में देखो ।

भवतश्चात्र—

अतितीक्ष्णो न मृदुः शुक्लः श्लेष्मोऽथ पिच्छिलः ।

विष्यन्दी शिवः शीघ्रः क्षारो ह्यष्टगुणः स्मृतः ॥१२॥

क्षार के आठ गुण—जो न बहुत तीक्ष्ण हो, जो न बहुत मृदु जो श्वेत वर्ण हो, मुलायम हो, चिकना (Soapy) हो, स्थान से अधिक जो न फैलता हो, गुणकारी हो और घ्न प्रभाव करने वाला हो, ये क्षार में आठ गुण होते हैं ॥१२॥

वक्तव्य—अविष्यन्दी—स्पर्शित स्थान से जो चारों ओर धिक न फैलता हो किंवा जिसके लगाने से अधिक साव न ता हो—अनभिष्यन्दी । (अ. सं) । शिव—सौम्य, गुणकारी, धिक पीड़ा न देने वाला—अल्पस्क । (अ. सं) । इन आठ गुणों के अतिरिक्त वाग्भट में शिखरी और सुखनिर्वाप्य ये १ गुण अधिक वर्णन किये हैं ।

अतिमार्दवश्चैत्यौष्ण्यतैद्यप्यपिच्छिल्यल्पिताः ।

अन्द्रताऽपकता हीनद्रव्यता दोष उच्यते ॥१३॥

अतिमृदु, अतिशुक्ल, अतितीक्ष्ण, अतिपिच्छिल, अति फैलने वाला, बहुत गाढ़ा, कच्चा और हीन द्रव्यों से बना हुआ—ये क्षार के दोष हैं ॥१३॥

वक्तव्य—अतिमृदु, अतितीक्ष्ण—जो क्षार एरण्ड नाल का दहन सौ अक्षर के उच्चारण मात्र काल तक करता है, वह योग्य तीक्ष्ण समझना चाहिये—यद्येरण्डजनालमेप दहति क्षारो यो वाक्शतात् । जो इससे कम समय में जलन करता है, वह अतितीक्ष्ण समझना चाहिये और इससे भी अधिक समय में जो एरण्डनाल का दहन करने में समर्थ नहीं होता है, वह क्षार अतिमृदु समझना चाहिये । हीनद्रव्य—खराब द्रव्यों का उपयोग करके बनाया हुआ या कम मात्रा में द्रव्यों का उपयोग करके बनाया हुआ । अतिशैत्य के स्थान में शैत्य ऐसा भी पाठ है । वाग्भट में 'अतितनु' बहुत पतला यह एक क्षार का अधिक दोष वर्णन किया है ।

तत्र क्षारसाध्यव्याधिव्याधितमुपवेश्य निवा-
तात्पे देशेऽसंवाधेऽग्रोपहरणीयोक्तन विधानेनो-
पसंभृतसंभारं, ततोऽस्य तमवकाशं निरीक्ष्यावधृ-
त्पवालिल्य प्रच्छद्यित्वा, शलाकया क्षारं प्रतिस्था-
प्येत्, दत्त्वा वाक्शतमात्रमुपेक्षेत् ॥१४॥

क्षार से साध्य होने योग्य रोग से पीड़ित रोगी को निर्वात, निरातप और विस्तीर्ण स्थान में बिठाकर अग्रोपहरणीय (पचां अध्याय) अध्यायोक्त विधान के अनुसार (क्षारकर्म के लिये उपयोगी) सब सामग्री पास रखकर वैद्य रोगी के क्षारप्रयोज्य स्थान का खूब निरीक्षण करे और उस स्थान पर घर्षण, लेखन या प्रच्छान करके शलाका से क्षार लगाकर सौ अक्षर के उच्चारण मात्र काल तक देखता रहे ॥१४॥

वक्तव्य—निवातात्पे—हवा के भोके-फाटे में तथा धूप से संरक्षित परन्तु आन्धकार रहित और खुली हवायुक्त । अत्रापि—जिस में शस्त्रक्रिया की दृष्टि से किसी प्रकार की बाधा

न हो अर्थात् विस्तीर्ण । अवलिल्य इत्यादि—वातदुष्ट स्थान के लिये लेखन, पिच्छदुष्ट स्थान के लिये घर्षण और कफदुष्ट स्थान के लिये प्रच्छान करके । यह कार्य दोषदुष्टि लक्षणों के अनुसार समझना चाहिये । वाक्शतं—मात्राशतम् । लघु अक्षर उच्चारण के लिये जो समय लगता है, उसे मात्रा कहते हैं । इसको अक्षि-निमेष भी कहते हैं । उपेक्षेत्—कांजिकादि से उस समय तक निर्वापण नहीं करना चाहिए । इसलिये उदासीन या अकर्मण्य होकर बैठना । निरीक्ष्य—दोषविज्ञान के लिये तथा क्षार प्रयोज्य स्थान का आकार मालूम करने के लिये उस स्थान का सूक्ष्म निरीक्षण करके ।

तस्मिन्निपतिते व्याधौ कृष्णता दग्धलक्षणम् ।

तत्राश्लवर्गः शमनः सर्पिर्मधुकसंयुतः ॥१५॥

क्षार लगने से व्याधियुक्त स्थान में कालापन आ जाना क्षारदग्ध का लक्षण है । फिर उस दग्ध स्थान पर घी और मुलहठीयुक्त अश्लवर्ग पीड़ायामक होता है ॥१५॥

वक्तव्य—पहले श्लोकार्ध में सम्यग् दग्ध का लक्षण दिया है । कृष्णता—सम्यग् दग्ध स्थान के कालेपन में जम्बूफल सदृश किञ्चित् नीलिमा होती है और इसके सिवाय दग्धस्थान किञ्चित् अवसन्न हो जाता है—पक्वजम्बूवृत्तं तत्रं सम्यग् दग्धम् । मधुक-संयुतः—वाग्भट में मधुक के स्थान में मधु उपयोग करने के लिये लिखा है—निर्वापयेत् सर्पिर्मधुभ्याम् । अश्लवर्गः—सौवीरक तुषोदक धान्याश्लादि । घृतमधुकयुक्त निर्वापण करने के पहले रुई से लिपटी हुई शलाका द्वारा परिमार्जन करना चाहिये और निर्वापण के पश्चात् शीत घृत का प्रलेप दग्ध स्थान पर करना चाहिये । दग्ध भाग शीघ्र विशीर्ण होने के लिये दही उड़द जैसे अभिष्यन्दी पदार्थों का सेवन करना चाहिये । क्षारं प्रमार्ज-नेनातु परिमृज्यावगम्य च । सुदग्ध घृतमध्वत्तं तत्पथो मस्तुकाञ्जिकैः ॥ निर्वापयेत्ततः साज्यैः स्वादुशीतैः प्रदेहेत् । अभिष्यन्दीनि भोज्यानि भोज्यानि छेदनाय च ॥ (अ. हृदय) ।

अथ चेत् स्थिरमूलत्वात् क्षारदग्धं न शीर्यते ।

इदमालेपनं तत्र समग्रमवचारयेत् ॥१६॥

अश्लकाञ्जिकत्रीजानि तिलान् मधुकमेव च ।

प्रपेष्य तत्रभागानि तेनैनमनुलेपयेत् ॥१७॥

तिलकल्कः समधुको घृताक्तो ब्रणरोपणः ।

यदि दृढ मूल होने के कारण क्षारदग्ध भाग विशीर्ण नहीं होता हो तो अगले श्लोक में दिया हुआ सर्व लेप वहाँ करना चाहिये ॥१६॥ धान्याश्ल का तलछट भाग तिल और मुलहठी समान भाग में पीसकर उसका क्षारदग्ध भाग पर लेप करे ॥१७॥ (इस प्रकार लेप करने से क्षारदग्ध भाग विशीर्ण होने के पश्चात् जो घ्न उत्पन्न होता है) उस घ्न को भर लाने के लिये मुलहठी और घृतयुक्त तिल की लुगड़ी प्रयुक्त करे ।

वक्तव्य—स्थिरमूलत्वात्—क्षारदग्ध भाग अधिक मोटा या दृढ होने के कारण अभिष्यन्दी भोजन करने के पश्चात् भी यदि नहीं गल जाता है । अश्लकाञ्जिकाञ्जिकः—स्थितं द्रव्यम् । दग्ध घ्न घने के लिये तथा उसके रोपण के लिये अष्टाङ्गसंग्रह में निम्न छाद्य और तैल घृत वर्णन किया है—
मधुकसंयुतः सर्पिर्मधुभ्याम् । अश्लकाञ्जिकाञ्जिकः स्थितं द्रव्यम् । दग्ध घ्न घने के लिये तथा उसके रोपण के लिये अष्टाङ्गसंग्रह में निम्न छाद्य और तैल घृत वर्णन किया है—
मधुकसंयुतः सर्पिर्मधुभ्याम् । अश्लकाञ्जिकाञ्जिकः स्थितं द्रव्यम् । दग्ध घ्न घने के लिये तथा उसके रोपण के लिये अष्टाङ्गसंग्रह में निम्न छाद्य और तैल घृत वर्णन किया है—
मधुकसंयुतः सर्पिर्मधुभ्याम् । अश्लकाञ्जिकाञ्जिकः स्थितं द्रव्यम् । दग्ध घ्न घने के लिये तथा उसके रोपण के लिये अष्टाङ्गसंग्रह में निम्न छाद्य और तैल घृत वर्णन किया है—

पचामेव च कल्पायैः सिद्धं सर्पिलैः वा रोषणम् ॥ नागपुष्पनिष्ठा-
चन्दनतिलवर्षिकाम्ना वा ॥

रसेनाम्लेन तीक्ष्णेन धीर्योप्येन च योजितः ॥१८॥

आग्नेयेनाग्निना तुल्यः कथं क्षारः प्रशाम्यति ।

एवं चेन्मन्यसे वत्स ! प्रोच्यमानं निबोध मे ॥१९॥

अम्लवर्जान् रसान् क्षारे सर्वानेव विभावयेत् ।

कटुकस्तत्र भूयिष्ठो लवणोऽनुरसस्तथा ॥२०॥

अम्लेन सह संयुक्तः सतीक्ष्णलवणो रसः ।

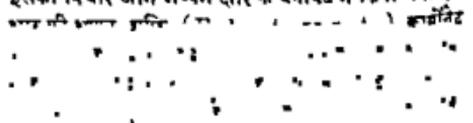
माधुर्यं भजतेऽत्यर्थं तीक्ष्णभावं विमुञ्चति ।

माधुर्योच्छ्रममामोति यद्विद्विद्विरियाप्लुतः ॥२१॥

तीक्ष्ण और उष्ण धीर्य अम्लरस जो (स्वयं) अम्लिरूप है उससे दूसरे अम्लि के तुल्य क्षार की शक्ति ब्योकर हो जाती है । (सुश्रुत के इस प्रश्न का भगवतिर्य धन्वन्तरि ने उत्तर दिया कि) हे पुत्र ! यदि तू यही समझता है तो मेरा वक्षस्य सुन ले ॥१८, १९॥ क्षार में अम्लरस के अतिरिक्त शेष सर्वरस उपस्थित समझ लो । इनमें कटुकरस प्रधान तथा अधिक और लवण अनुरस (अग्रधान) होता है ॥२०॥ तीक्ष्ण लवणरस (क्षार) जब अम्लरस से मिलता है तब तीक्ष्ण भाव को छोड़कर मधुर भाव को प्राप्त हो जाता है और मधुर होजाने से शान्ति को प्राप्त होजाता है जैसे कि जल के छिड़कने से अग्नि की शान्ति हो जाती है ॥२१॥

धृत्वाड्य—आग्नेयेनाग्निना—अम्ल और क्षार कार्य की दृष्टि से दोनों भी आग्नेय हैं, यद्यपि दोनों का कार्य करने का तरीका भिन्न भिन्न होता है । अंग्रेजी में भी कार्य की दृष्टि से दोनों को कोरोसिव (Corrosive) धर्म में समाविष्ट करते हैं । कटुक स्तत्र भूयिष्ठ—प्राचीन में से क्षार में कटुक रस की अधिकता होती है । इत्येष इयं श्लोकार्थे का अर्थ उलटा करते हैं—'तत्र पचरते क्षारे कटुकोऽनुरस, लवणस्तु भूयिष्ठ इति बोध्यम्' । क्षार के प्राचीन रसों में लवण रस प्रधान और कटुक अनुरस है । परंतु इस प्रकार श्लोक का उलटा अर्थ करना निम्न कारणों से अप्रशस्त प्रतीत होता है । (१) इस अध्याय के सूत्र तीन में क्षार के जो गुण कर्म वर्णन किये हैं, वे आगे रसविशेष विज्ञानीय (४२ अध्याय) में वर्णन किये हुए कटुक रस के गुणकर्मों के साथ म्लान, मृत्, मी, अपेक्षा, शक्य, मिलते हैं । म कटुक उष्ण, स्वीक्ष्ण पाचनी निलयन शोथनो रोषण शोथन स्तम्भनो ज्वलन क्षाम्याकफज्वरविषदेहाग्राहना सुखस्य चाग्निनेविन ॥ (क्षारपाक-विधि अध्याय) । कटुको दीपन पाचनी रोचन शोथन स्यूत्यालस्य कफरूमिनिषुडकणदूरशमन स्तन्यशुक्रशेदाग्राहना च ॥ (रसविशेषविज्ञानीय) । (२) चरकसंहिता में भी क्षार में कटु

धीर्यस्पर्धे अम्ल के साथ संयोग होने से मधुरता उत्पन्न होकर क्षार की शान्ति हो जाती है—अम्लो हि शीत स्थेन क्षारलेनो रसहित । यात्याधु स्वादुता तस्मात्स्वेनिर्यायेत्तत्रम् ॥ (वाग्भट) बाल्य में यह एक रासायनिक निर्वर्णिकरण (Neutralisation) की प्रक्रिया है । परंतु इसका आकलन होने के लिये क्षारपाक विधि रासायनिक परिभाषा की दृष्टि से समझना आवश्यक है । क्षारपाक का रासायनिक दृष्टि से विचार—आयुर्वेद में क्षारकर्म (Potential Caustery) के लिये जो क्षार (Caustic) प्रयुक्त होते हैं, उनके लिये धनस्पतियों के भस्म तथा क्षटिक के खनिज और प्राणिज पदार्थ उपयोग में आते हैं । धनस्पतियों के भस्म में अधिकोष्ण सोडियम कार्बोनेट, पोटाशसिअम कार्बोनेट, क्याल्सिअम आक्साइड, म्यागनेसिअम आक्साइड, सिलिका इत्यादि रासायनिक द्रव्य होते हैं । धनस्पतियों का भस्म पानी में मिलाकर, कपड़े से छानकर और अग्नि से पकाकर क्षारोदक में प्रथम परिवर्तित किया जाता है । क्षार-निष्कर्ष की इस विधि को अंग्रेजी में लिक्सीडीकंपन (Lixivation) और क्षारोदक को लाय (Lye) कहते हैं । क्षारोदक बनते समय सिलिका जैसे कुछ पदार्थ अनघुल होने के कारण फेंक दिये जाते हैं, सोडियम और पोटाशसिअम के लवण पानी में विद्रुत होते हैं और कुछ पदार्थ आपस में अदल-बदल (Double decomposition) होने के कारण नये बनते हैं । ये नये पदार्थ सोडियम और पोटाशसिअम के हायड्रोक्साइड हैं परन्तु इनकी राशि अल्प होती है । ये कैसे उत्पन्न होते हैं, इसका विचार आगे मध्यम क्षार के बनावट में किया गया है ।

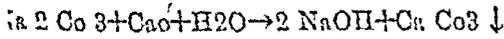


के लिये सुधा (Lime stone), पाषाण (Marble), क्षार-पाक (Chalk), शल (Conch shell), मुक्ति (Oyster shell) इत्यादि चूने के पदार्थ अग्नि में जलाकर प्रयुक्त होते हैं । अग्नि में जलाने के पूर्व ये सब पदार्थ क्याल्सिअम कार्बोनेट (CaCO₃) होते हैं । जलाने से इनका परिवर्तन क्याल्सिअम आक्साइड (CaO) और कार्बन डायोक्साइड (CO₂) में होता है । कार्बन डायोक्साइड वायुरूप होने के कारण हवा में चला जाता है । यह प्रक्रिया निम्न समीकरण से प्रदर्शित होती है ।

CaCO₃ → CaO + CO₂ ↑

इसी समीकरण के अनुसार चूने में जो क्याल्सिअम होता है तथा चूच जलाने समय जो चूना डालते हैं, उसका परिवर्तन क्याल्सिअम आक्साइड में होता है । इस प्रकार चूने के जलाकर बनाये हुए क्याल्सिअम आक्साइड को पानी में घिरी करके क्षारोदक में छोड़ (प्रतीवाप) देते हैं । इसमें क्षारोदक के अधिकोष्ण कार्बोनेट हायड्रोक्साइड में परिवर्तित होकर क्याल्सिअम आक्साइड का किर कार्बोनेट बनता है, जो अनघुल होने के कारण भीषे तानी में बैठता है । यह प्रक्रिया अग्रिम समीकरण के अनुसार होती है ।

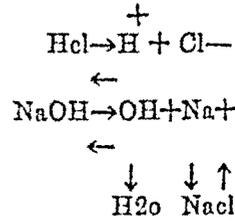
हि तन्नेकलसममुपपन्नमेकरम कटुकलवणभूयिष्ठम् ॥ (सू अ २१) ।
(२) यदि सिन्धुवादि लवणों की छोड़कर केवल यक्षक्षारादिक का स्वाद लिया जाय तो जिह्वा पर कटुरस अधिक प्रतीत होता है । (४) अष्टाङ्गसमूह में भी क्षार का वर्णन 'कटुकलवण भूयिष्ठ' ऐसा ही किया गया है । इसलिये कटुकरस क्षार में प्रधान मानना प्रगल्भ है । वष क्षार प्रशाम्यति—उष्ण क्षार का



इस प्रकार मध्यम क्षार में हायड्रोक्साइड की राशि अधिक के कारण उसकी क्षणन शक्ति भी बढ़ती है। तीक्ष्ण और मस क्षार में हायड्रोक्साइड की राशि में कोई विशेष फर्क हो सकता है। क्योंकि मध्यम क्षार को तीक्ष्ण करने के वे वनस्पतियों का ही चूर्ण अधिक प्रयुक्त होता है। इसलिये स्पतियों की कुछ तीक्ष्णता उन्में आ सकती है। इस प्रकार ये हुए क्षार को लोहे के पात्र में मुग्न बंद (अनुगुप्त या गुप्त) करके कुछ दिन तक रखना चाहिये। अल्पकाली बनाने तथा रखने के लिये लोहे का पात्र आधुनिक वैज्ञानिक ढे से भी उत्तम प्रमाणित हुआ है। मुग्न बंद करके रखने से हा वायुमण्डल के कार्बन टायोक्साइड का संबंध क्षार के लिये नहीं होता है। क्षार की शक्ति कायम रखने के लिये इस प्रकार मुग्न बंद करके रखना आवश्यक है। कुम्भ का एक खुला रखने से हायड्रोक्साइड का परिवर्तन धीरे धीरे कार्बोनेट में होता है और क्षार की शक्ति कम हो जाती है।



क्षार तैयार होने के पश्चात् कुछ दिन तक (तांश्र व्याधिवलतः पर्याप्तार्थं प्रयुज्यते । अ. सं.) रखने से क्यालसिअम कार्बोनेट का अवक्षेपण (Precipitation) उत्तम होकर क्षार की शक्ति अधिक से अधिक हो जाती है। स्तेनान्लेन एनेन कथं क्षारः प्रशाम्यन्ति—अम्ल और क्षार यद्यपि उष्णवीर्य और तीक्ष्ण होते हैं तथापि रासायनिक दृष्टि से वे अत्यन्त भेद प्रकार के पदार्थ होते हैं। क्षार बेसिक (Basic) पदार्थ है, जिस में हायड्रोक्सिल नामक ऋणभाग (OH as a Negative Radical) होता है और अम्ल एसिड (Acid) पदार्थ है, जिस में हायड्रोजन नामक धनभाग (H as a Positive radical) होता है। संयोग होने से दोनों के धन और ऋण भागों में अदल-बदल होकर पानी तथा लवण (Salt) बन जाता है। ये दोनों पदार्थ क्षार और अम्ल से गुण धर्म में अत्यन्त भिन्न और बहुधा शीतवीर्य होते हैं। इस विधि को निर्वीर्यकरण (Neutralization) कहते हैं। इस प्रकार क्षार के स्थान पर अम्ल लगाने से उसका वीर्य नष्ट होकर क्षरण की शक्ति शान्त हो जाती है और दोनों के संयोग से पानी और लवण बन जाता है। निर्वीर्यकरण के लिये अम्ल और क्षार समान राशि में होना आवश्यक है। यदि अम्ल की राशि कम हो तो क्षार का वीर्य पूर्णतया नष्ट नहीं होगा और उसकी क्षणन की शक्ति जारी रहेगी। यदि अम्ल की राशि अधिक हो तो क्षार पूर्ण निर्वीर्य होकर अम्ल अपना प्रभाव दिखला कर शरीर को हानि करेगा। इस आपत्ति को दूर करने के लिये आयुर्वेद में अत्यन्त सौम्य (Weak) स्वरूप के वानस्पतिक अम्ल क्षार धोने के लिये प्रयुक्त किये गये हैं, जो क्षार का निर्वीर्यकरण भली भाँति करते हुए भी शरीर को किसी भी प्रकार से हानि नहीं पहुँचा सकते। निर्वीर्यकरण के उदाहरण के लिये सोडियम हायड्रोक्साइड (NaOH) और हायड्रोक्लोरिक अम्ल (HCl) की प्रक्रिया आगे समीकरण से बतलाई गई है, जिन के संयोग से खाने का नमक (NaCl) और पानी बनता है।



पानीय क्षार—अब तक प्रतिसारणीय क्षार के संबंध में बर्णन किया है। पानीय क्षार के लिये उतनी तीक्ष्णता की आवश्यकता नहीं होती है, जितनी कि बाल प्रयोग के लिये होती है। रासायनिक दृष्टि से यों कह सकते हैं कि पानीय क्षार में हायड्रोक्साइड की आवश्यकता नहीं होती है। इसलिये पीने के क्षार चुने के प्रयोग के सिवाय बनाये जाते हैं। वनस्पतियों से बनाये गये क्षार बहुधा सोडियम और पोट्यासियम के कार्बोनेट होते हैं। जो खनिज होते हैं वे कार्बोनेट के सिवाय फ्लोराइड, नायट्रेट इत्यादि हो सकते हैं। परन्तु पानीय क्षार में हायड्रोक्साइड की राशि नगण्य सी होती है। पानीय क्षार का उपयोग चूर्ण के स्वरूप में होता है। परन्तु प्रतिसारणीय का उपयोग हमेशा द्रवावस्था में ही किया जाता है। क्षारों का कार्य करने का तरीका—बाल-क्षार में जल का शोषण करने की (Dehydrating) अल्यूमिन का घोल करने की (Albumin dissolving) और मेद का साबुन बनाने की (Saponifying) शक्ति होती है। इस त्रिगुणात्मक शक्ति के कारण शरीर के जिन सेलों के साथ क्षार का संयोग होता है, वे जल अल्यूमिन आदिक पोषक द्रव्य नष्ट होने के कारण मर जाते हैं। शरीर में जब अनुपयोगी (यथा—तिलकालक मशक), अधिवृद्ध (सौम्य अर्बुद), विकृत (यथा—दुष्ट व्रण, नाडी, चर्म-कील, भगन्दर, अश्रु), और दुष्ट (दुष्ट अर्बुद क्यान्सर, एपिथेलिओमा) सेल होते हैं, तब उनका नाश करने के लिये क्षार का उपयोग होता है। कृमिदंश विष में क्षार से लाभ होने का कारण यह है कि कृमिविष बहुधा अम्ल स्वरूप के होते हैं और क्षार का प्रयोग करने से वे निर्वीर्य हो जाते हैं। पाश्चात्य वैद्यक में लायकर पोट्याश (Koh), लायकर सोडा (Naoh), लायकर अमोनिया (Naoh), रजतनत्रित (Silver nitrate) और जसद हरिद (Zinc Chloride) ये द्रव्य क्षारकर्म के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं। आयुर्वेदिक पद्धति के अनुसार जो मध्यम क्षार बनाया जाता है, उसका रासायनिक संगठन पाश्चात्य वैद्यक में प्रयुक्त होने वाले 'वीएन्नापेस्ट' (Vienna Paste) के साथ बहुत कुछ मिलता है। इस पेस्ट में पोट्याश और चूना होता है। आभ्यन्तरीय—क्षार का सेवन करने से शरीर के पचनसंस्थान, रक्तसंस्थान और मूत्रसंस्थान पर इसका विशेष प्रभाव पड़ता है। पचनसंस्थान—आमाशय पर क्षार की क्रिया तीन प्रकार की होती है। (१) क्षार भोजन के पहले सेवन करने से आमाशयिक ग्रंथियों (Gastric glands) से पाचक रस का स्राव कुछ समय तक रोक के रखते हैं। इससे भोजन के बाद पाचक रस अधिक मात्रा में और शक्ति में स्रुत होता है। (२) भोजन के पश्चात् सेवन करने से पाचक रस का अम्लापिचय निर्वीर्य करते हैं। (३) आमाशयिक अम्ल कला पर शामक (Sedative) प्रभाव डालते हैं।

इसलिये क्षारों का उपयोग अग्निमान्द्य, अरोचक, वमन, अजीर्ण इत्यादि पेट के रोगों में होता है। अंत्र पर इनका कुछ विरेचक प्रभाव पड़ता है इसलिये आभ्यान, आनाह, गुल्म इत्यादि विकारों में उपयोग होता है। रक्तस्थान—पचन होने के पश्चात् रक्त में मिलकर क्षार रक्त की क्षारीय प्रतिक्रिया (Alkaline-reaction) बढ़ाते हैं और वातरक्त, गठिया रोगों में लाभ करते हैं। मूत्रस्थान—क्षार बहुधा कार्बोनेट के रूप में उत्सर्गित होते हैं। उत्सर्ग के समय वृक्क में उत्तेजना उत्पन्न कर मूत्र की राशि बढ़ाते हैं और मूत्र को क्षारीय बनाते हैं। मूत्र क्षारीय होने के कारण बसि में युरिक एसिड (Uric acid) का अवक्षेपण नहीं हो सकता तथा अवक्षेपित युरिक एसिड का विद्रावन होता है। इसलिये क्षार मूत्रल होते हैं और युरिक एसिड के पथरी और ग्रंथियों में फायदा करते हैं। पाश्चात्य वैद्यक में निम्न क्षार आमन्तरिय उपयोग के लिए प्रयुक्त होते हैं। यथा—पोट्यासिअम सायट्रेट, पोट्यासिअम फ्लोसिडेट, पोट्यासिअम बाय कार्बोनेट, पोट्यासिअम कार्बोनेट, पोट्यासिअम नायट्रेट (घोर), सोडिअम बाय कार्बोनेट, सोडिअम कार्बोनेट, लिथीअम सायट्रेट, लिथीअम कार्बोनेट इत्यादि। आयुर्वेद में वषक्षार, टंक्णक्षार, पंच खण तथा निम्न सूक्षों के क्षार पीने के लिये प्रयुक्त होते हैं—

निम्नापामार्गदन्दीपलरारिभुनेचका ।

मूलार्द्रकृच्छिश्चक्षया वृक्षशाया प्रतीतिता ॥ (रसाणव्य)

तत्र सन्ध्यग्नेषु विकारोपशमो लाघवमनाम्ना यश्च । हीनदग्नेषु तोदकण्डुजाड्यानि व्याधिवृद्धिश्च । अतिदग्नेषु दाहपाकरागस्त्रावाङ्गमर्दङ्गमपिपासाभूच्छ्रौः स्युर्मरणं वा ॥२२॥

(रोग का स्थान) जब क्षार से ठीक जल जाता है तब विकार की शक्ति हो जाती है, (शरीर में) हलकापन आ जाता है और छाव बढ़ हो जाता है। यदि कम जला हो तो पीडा, सुजली, (शरीर में) भारीपन और व्याधि की वृद्धि होती है। अधिक जल गया हो तो जलन, पाक, सुर्खी, छाव, शरीर में पीडा, कषावट, प्यास, मूछों और मूत्रु भी हो जाती है ॥२२॥

क्षारदग्धमयं तु यथादोषं यथाव्याधि चोपक्रमेत् ॥२३॥

क्षारदग्ध के पश्चात् उत्पन्न हुए रोग को वातादि दोष और व्याधि के अनुसार उपचार करे ॥२३॥

चक्रद्वय—इनके प्रक्षालन और रोपण के लिये जो सामान्य ज्ञाप्य वैरादि प्रयुक्त होते हैं, उनका विवरण अष्टागसग्रह के अनुसार श्लोक सोलह की टीका में किया गया है।

अथ नैते क्षारकृत्या । तद्यथा—तुर्धलवालस्य-विरमीरुसर्वाङ्गशुतोद्दरिररकपित्तगर्भिण्युत्तुमर्तप्रवृ-ज्ज्यरिप्रमेहोरःसंतत्तीयावृष्णामूर्च्छोपद्रुतह्नीयापवृ-त्तोद्दत्तफलयोनयः ॥२४॥

निम्नलिखित मनुष्य चारकर्म के लिये योग्य नहीं होते हैं। जैसे—तुर्धल, बालक, बृद्ध, दरोग, सबे शरीर त्रिभका सूज गया हो, जलीदरी, रक्तपित्त रोग से पीडित, गर्भिणी, रजस्वला

स्त्री, तीव्र उ्वर से पीडित, प्रमेही, उरन्त से पीडित, तुष्णा मूर्च्छा रोगवाले, नपुंसक तथा स्त्री जिसका गर्भाण्य उ्वर या नीचे हो गया है ॥२४॥

चक्रद्वय—क्षार के लिये अयोग्य कुछ रोगियों का निर्देश पीछे सूत्र ५ में किया है। इनके सिवाय वाग्मत् में निम्न रोगी क्षार के लिये अयोग्य बतलाये गये हैं—अतिसारी, शिरारोगी, पाण्डुरोगी, वमन और विरेचन सेवन किया हुआ रोगी। इनके सिवाय क्षारयोग्य मनुष्यों में भी अवस्था विशेष के कारण क्षार का उपयोग जहाँ नर्ती करना चाहिये, उनका निर्देश आगे सूत्र २६ में किया गया है। अपचोत्तृत्तरत्थोनि—इस शब्द के अर्थ के सवध में बहुत मतभेद दिखाई देता है। अपच—स्थान से हल हुआ। उद्वृत्त—स्थान से ऊपर गया हुआ। फल का अर्थ कुछ लोग अण्ड या वृषण करते हैं। कुछ लोग फलयोनि का अर्थ गर्भाण्य करते हैं। इसी के अनुसार ऊपर अर्थ दिया गया है। कुछ लोग (अरण्यज, अष्टागहृदय की टीका में) फल का अर्थ रज समझते हैं और उद्वृत्त फलयोनि का अर्थ उदाहृत्ता योनि करते हैं। हाराणचन्द्र अपनी टीका में एकौप मत से फल का अर्थ आन्त्र देते हैं—कविषु फलशब्देनान्नं प्राद्वन्त्युपचारःक्षाराणां धोष इतिवत् । श्लोक—अल-शुक्क, अशुक्क, पद नहीं।

तथा भर्मसिराब्राम्युसन्धितरुणस्थित्सेवनीयम नीगलनाभिनखान्तःशेफ.स्रोतः.स्वल्पमांसेषु च प्रदे शेध्वङ्गोश्च न दद्यादन्यत्र चर्मरोगात् ॥२५॥

तथा मर्म, मिरा, स्रापु, सधि, तरुणास्थि, सेवनी, घमनी गला, नाभि, नाखल, शिरन के भीतर, स्रोतों में, जहाँ मर्म स्वल्प हो वहाँ और फलकों के रोग छोड़ कर नेत्र रोगों में क्षार का उपयोग नहीं करना चाहिये ॥२५॥

चक्रद्वय—मर्म-शरीर के प्राणयुक्त भाग (Vitalparts)। इनका बर्धन शरीरस्थान में होता। तरुणास्थि—नासाक्यी, कण्ठनाडी इत्यादिक में होने वाली कोमल हड्डी (Cartilage)। सेवनी—हड्डी या लवका के संयोग स्थान। अग्नीनी में सेवनी की 'सूचर या रेखी' (Suture or Raphe) कहते हैं।

तत्र क्षारसाध्येष्वपि व्याधिषु शूलनाग्रमस्थि-शलिनमग्नेदेषिणां हृदयसन्धिपीडोपद्रुतं च क्षारो न साधयति ॥२६॥

व्याधियां क्षार साध्य होने पर भी जिसके शरीर पर शोथ हो, जिसकी हड्डियों में पीडा हो, जिसको अक्षेप हो गया हो, जिसके हृदय और सधियों में पीडा हो, उनमें क्षार गुण नहीं करता है ॥२६॥

चक्रद्वय—क्षार का उपयोग विचिर, भीमन और यषां ऋतुओं में तथा मेघवर्षां प्रवान युक्त दिनों में नहीं करना चाहिये। माधाराण लक्षण जो प्रावृट, शरत् और वसन् ऋतु में होते हैं, उनमें दुर्दिन छोड़कर क्षार कर्म करना चाहिये। तथा शीतान्तर्गर्भद्विजन्मनेषु च क्षारो न योक्तव्य । (अ समग्र)

भयति चाग्र—

विपाशिशान्द्राशनिमृत्युकल्पः

क्षारो भयत्यल्पमतिप्रयुक्तः ।

**स धीमता सम्यगनुप्रयुक्तो
रोगान्निहन्त्यादचिरेण घोरान् ॥२७॥**

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने क्षारपाकविधि-
नान्मैकादशीऽध्यायः ॥१२॥

अल्पमति वैद्य से (अयुक्त) उपयोग किया हुआ क्षार अग्निं, शस्त्र तथा वज्र के समान मृत्युकारक होता है और मनु वैद्य से ठीक ठीक उपयोग किया हुआ वही क्षार ही दारुण रोगों को नाश कर देता है ॥२७॥

भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
त्रिभाषाटीकायां सूत्रस्थाने क्षारपाकविधिनान्मैकादशीऽध्यायः ॥१२॥

द्वादशोऽध्यायः ।

अथातोऽग्निर्कर्मविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः
पोषाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से अग्निर्कर्म विधि का व्याख्यान करते हैं, जैसे वान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

चारान्निर्गरीयान् क्रियासु व्याख्यातः, तद्-
गानां रोगाणामपुनर्भावाद्भेजशस्त्राचारैरसाध्यानां
त्साध्यत्वाच्च ॥२॥

दहन कर्मों में क्षार की अपेक्षा अग्नि श्रेष्ठ है । क्योंकि अग्नि दग्ध किये हुए रोगों की फिर उत्पत्ति नहीं होती और औषध, प्र तथा क्षार से जो रोग साध्य नहीं होते, वे अग्नि से साध्य ते हैं ॥२॥

वक्तव्य—त्रिवासु—दहन कर्मों में । दहन कर्म के अति-
क अग्नि की क्षार के साथ तुलना ही नहीं हो सकती है, न
छा सिद्ध की जा सकती है । जिस कर्म में दहन के लिये स्वा-
विक आग्नेय द्रव्यों का उपयोग होता है, उसे क्षार कर्म कहते
। जिस में कृत्रिम उष्णता का उपयोग होता है, उसे दहन कर्म
हते हैं । दहन कर्म को अंग्रेजी में काँटरी (Cautery) कहते
। जिसमें औजार तप्त करने के लिये प्रत्यक्ष अग्नि का उपयोग
ता है, उसे अग्निर्कर्म कहते हैं । इसे अंग्रेजी में अँक्च्युअल
कँटरी (Actual cautery) कहते हैं । इसके सिवाय
श्वेत्य गल्यग्राह्य में दो प्रकार के अग्निर्कर्म प्रचलित हैं—
(१) विद्युदहनकर्म (Galvano Cautery)—इसमें उष्णता की
उत्पत्ति विद्युत्प्रवाह द्वारा की जाती है । इस प्रकार के दहनकर्म
का उपयोग आज कल बहुत ही रहा है । (२) पाक्वीलिन का
दहनकर्म (Paquelin's thermo cautery)—इसमें प्रथम
औजार को अग्निज्वाला पर उत्तप्त करके तत्पश्चात् कर्म करते
मन्य उस पर बेंझोलाइन (Benzoline) की भाप धौंकनी
की सहायता से छोड़ते रहते हैं, जिससे वह औजार भाप के
कारण उत्तप्त रहता है । अग्निर्कर्म की श्रेष्ठता—अग्निर्कर्म की
श्रेष्ठता के दो कारण पाश्चात्य गल्यग्राह्य में माने गये हैं ।
पहला कारण यह है कि जहाँ जहाँ अग्नि का संयोग होता है,
वहाँ के सब विकारी जीवाणु नष्ट होकर वह स्थान विशुद्ध

(Sterile) हो जाता है, जिससे आगे चलकर द्रवध्वनन में
पाक उत्पन्न होने की भीति बहुत ही कम होती है । आयुर्वेद
में भी इस महत्त्वपूर्ण बात का ज्ञान था—अग्निर्कर्म शस्त्रेण
छिन्त्यात् । (सु.) । अन्यथा अतप्तशस्त्रेदने पाकभयं स्यात् ।
(डल्हण) । दूसरा कारण यह है कि अग्निदग्ध स्थान से
रक्तस्राव नहीं होता है । उष्णता के कारण रक्तवाहिनियों का
संकोच हो जाता है । इससे ध्वनन जल्दी भर जाता है । अग्नि
के इस गुण का भी ज्ञान आयुर्वेद में मिलता है—दाहः संकोच-
येत् सिराः । इन दो गुणों के कारण अग्निदग्ध क्षारदग्ध की
अपेक्षा अधिक साध्य होता है ।

अथेमानि दहनोपकरणानि । तद्यथा—पिप्पल्य-
जाशकद्रोदन्तशरशलाकाजाम्बवौष्टेतरलौहाः चौरु-
गुडस्नेहाश्च । तत्र, पिप्पल्यजाशकद्रोदन्तशरशलाका-
स्त्वग्गतानां, जाम्बवौष्टेतरलौहा मांसगतानां, चौरु-
गुडस्नेहाः सिरास्नायुसन्ध्यस्थिगतानाम् ॥३॥

दहन के लिये निम्न उपकरण (काम में लाये जाते) हैं । जैसे—
पिप्पली, बकरी के मँगन, गाय बँल का दाँत, शलाका, जाम्बवौष्ट
तथा अन्य सुवर्णादि धातु एवं मधु, गुड़, तैल, घृतादिक स्नेह ।
उनमें से पिप्पली, बकरी का मँगन, गाय का दाँत, बाण और
शलाका—ये त्वचा में दहन कर्म के लिये उपयोगी होते हैं ।
जाम्बवौष्ट तथा अन्य लोह मांसगत रोगों के दहन में उपयोगी
होते हैं । सिरा, स्नायु, सन्धि और अस्थि के रोगों में मधु, गुड़
और तैलादि स्नेह काम में आते हैं ॥३॥

वक्तव्य—दहनोपकरण—ये उपकरण अग्नि में तप्त करके
काम में आते हैं । शर—बाण । इसका उपयोग ग्रन्थि विस्र्ष की
चिकित्सा में दहन के लिये होता है—अथास्य दाहः क्षारेण शरैर्लो-
हेन वा हितः । (चरक) । इतरलौहाः—शर, शलाका और
जाम्बवौष्ट के अतिरिक्त लोहे के बने हुए अन्य उपकरण, किंवा
लौह से स्वर्णादि अन्य धातु के उपकरण भी हो सकते हैं—
रक्षत्रश्चि दहेत्पद्म तप्तहेशलाकया । पक्ष्मरोगे पुनर्नैवं कदाचिद्रोम-
सभवः ॥ (चक्रदत्त) । अपानमार्गपिटिकां दहेत् स्वर्णशलाकया ।
अग्निप्रतप्तया पश्चात् कुर्यादग्निग्नक्रियाम् ॥ (योगरत्नाकर) । तप्तैर्वा
विविधैर्लोहेर्दहेद्दाहविशेषवित् । (चरक) । हेमतात्रायोरुष्यकांस्त्यैर्मांस-
दाहः । (अष्टांगसंग्रह) । उपर्युक्त उपकरणों के अतिरिक्त वाग्भट
में पिचुवर्ती, सूर्यकान्त और मधुच्छिष्ट अधिक वर्णन किये हैं ।
सिरास्नायुसन्ध्यस्थिगतानाम्—सिरा, स्नायु, सन्धि और अस्थियों
का प्रत्यक्ष दहन उनका छेद होकर जब रक्तस्राव अधिक होता
है, उस समय स्राव को रोकने के लिये किया जाता है—सिरास्ना-
युसन्ध्यस्थिच्छेदशोणितानिप्रशुत्सु...सिरादिदाहः । (अष्टांगसंग्रह) ।
सिरादि के अन्य रोगों में इनके ऊपर के मांस का दहन
करने से कार्य हो जाता है—मांसं दग्धे हि शान्यन्ति सिरास्नाय्व-
स्थिमथिनाः ।

तत्राग्निर्कर्म सर्वतुपु कुर्यादन्यत्र शरद्रीष्माश्र्यां;
तत्राप्यात्ययिकेऽग्निर्कर्मसाध्ये व्याधौ तत्प्रत्यनीकं
विधिं कृत्वा ॥४॥

शरद् और शीष्म ऋतुओं के सिवाय अन्य ऋतुओं में अग्नि-
कर्म करना उचित है । शरद् और शीष्म में भी यदि अग्निर्कर्म

भस्मानिलाभातैर्व्यनेन चोर्ध्वानिर्गच्छज्ज्वालतयापादितापाप-
सुराशिवैर्जम्बवौष्ठादिभिर्व्योषिप्रदेशवशाद्दल्यार्धेनन्द्रस्वस्तिका-
खण्डप्रतिसारणविकल्पेन सुधुमुंहुहितोपहिताभिर्वाग्भिरद्विधा-
मवन् दहेदासम्यग्दाहल्लोत्वतेः । उच्छ्वन्नसुरिप्रलूनदन्तनाडी-
प्रवृत्तेषु तु खेहमधुच्छिद्यमधुगुणुलैः पूरयित्वा दरेव ॥

भवति चात्र—

पोगस्य संस्थानमवेक्ष्य सम्यग्
नरस्य मर्माणि बलावलं च ।

व्याधिं तथर्तुं च समीक्ष्य सम्यक्
ततो व्य्वस्येद् भिपगञ्जिकर्म ॥११॥

ग के स्थान का (मोटाई की दृष्टि से) खूब निरीक्षण
मनुष्य के मर्म स्थान तथा बलावल का विचार कर और
य तथा ऋतु इन सब बातों की अच्छी प्रकार देखकर तत्व-
वैद्य अग्निकर्म (निश्चित) करे ॥११॥

तत्र सम्यग्दग्धे मधुसर्पिर्भ्यामभ्यङ्गः ॥१२॥

जब योजक (लिंगानुसार) ठीक अग्नि से दग्ध हो जाय,
उसके ऊपर मधु और घृत का अभ्यंग करना चाहिये ॥१२॥

वक्तव्य—मधुसर्पिर्भ्यामभ्यङ्गः—अग्निकर्म के कारण जो
रक्त घण उत्पन्न होता है, उस में रक्तपित्त का प्रसादन करने
के लिये, वेदना की शान्ति करने के लिये और घणित भाग का
जल्दी होने के लिये मधुघृत का प्रयोग होता है—क्षतो-
ऽपि निवारणं संधानार्थं तथैव च । सद्योत्रणेव्यायनेषु क्षौरसर्पिर्विधीयते ॥
रक्त के पश्चात् यष्टिमधुयालिमूलादि का स्निग्ध शीत प्रलेप
के ऊपर करना चाहिये । सुदग्धं घृतमध्वक्त स्निग्धशीतैः
शैव । (अष्टांगहृदय) ।

अथेमानग्निना परिहरेत्—पित्तप्रकृतिमन्तः-
णितं भिन्नकोष्ठमनुद्धृतशाल्यं दुर्बलं बालं वृद्धं
रुमनेकव्रणपीडितमस्वेद्यांश्चेति ॥१३॥

इतने मनुष्यों को अग्निकर्म करना उचित नहीं है । जैसे—
प्रकृति, रक्तपित्ती, अतिसारी, जिसके शरीर में से शल्य
निकाला गया हो, दुर्बल, बालक, वृद्ध, भीरु, अनेक व्रणों
पीडित तथा अस्वेद्य ॥१३॥

वक्तव्य—अन्तःशोणित—कुछ लोग इसका अर्थ 'जिनके शरीर
रक्तपित्त तथा दूषित रक्त इकट्ठा हुआ है' ऐसा करते हैं । परन्तु
अर्थ ठीक नहीं है । क्षार के लिये जो अयोग्य हैं, वे अग्नि के
भी अयोग्य होते हैं—न दहेत् क्षारवारितान् । इस तत्त्व के
अन्तःशोणित का अर्थ रक्तपित्ती करना अधिक
है । इसके सिवाय चरक में भी रक्तपित्ती का ही उल्लेख
है—बालदुर्बलवृद्धाना गग्निण्या रक्तपित्तिनाम् । नाशिकमोपे-
भिन्नकोष्ठम्—इस का भी 'शस्त्रादि से जिस का उदर
हो गया है' ऐसा अर्थ कुछ लोग करते हैं । परन्तु इस प्रकार
उदर भेद में अग्निकर्म का निषेध नहीं है, बल्कि अग्निकर्म
के लिये कहा है—उदरान्भेदसो वर्तिर्निर्गता यस्य देहिनः । अग्नि-
शाल्येण छिद्यात् ॥ इसलिये क्षार के लिये अयोग्य लोगों की
रक्तपित्ती इसका अर्थ 'अतिसारी' करना अधिक प्रशस्त है ।
पाण्डुमेंही रक्तपित्ती क्षयार्तः क्षामोऽजीर्णं चोदरार्तो विपारतः ।
तोऽध्यव०

तुच्छृणांतौ गर्भिणी पीतमघो नेते स्वेचा यश्च मर्त्यांऽतिसारी ॥ इनके
अतिरिक्त नेत्ररोग और कुछ में भी अग्नि का उपयोग नहीं करना
चाहिये—नाशिकमोपेदेष्टव्य नेत्रकुष्ठत्रणेषु च । (चरक) ।

अत उर्ध्वमितरथाद्गधलक्षणं वक्ष्यामः । तत्र,
स्निग्धं रूक्षं वाऽऽश्रित्य द्रव्यमग्निर्दहति; अग्नि-
संतप्तो हि स्नेहः सूक्ष्मसिरानुसारित्वात्त्वगादीननु-
प्रविश्यागु दहति; तस्मात् स्नेहदग्धेऽधिका रजो
भवन्ति ॥१४॥

इसके आगे हम अन्य प्रकार से दग्ध के लक्षण कहते हैं ।
अग्नि स्निग्ध या रूक्ष पदार्थों का आश्रय करके (प्राणियों के
धातुओं को) जलाता है । अग्नि से तपाया हुआ स्निग्ध पदार्थ
सूक्ष्म नसों में गमन करने (के अपने स्वभाव) से त्वचा आदि
में प्रवेश कर तत्काल दग्ध कर देता है । इसलिये (घृत तैल आदि)
स्नेह से जले हुए स्थान में अधिक पीडा होती है ॥१४॥

वक्तव्य—इतरथाद्गध—वैद्य के सिवाय या रोगचिकित्सा
के सिवाय अन्य प्रकार से जला हुआ, आकस्मिक । इतरथा-
दग्ध को वाग्भट में प्रमाद दग्ध कहा है । स्निग्धं रूक्ष वा आ-
श्रित्य—तैल घृतादि स्निग्ध रूक्ष अथवा काष्ठ पापाणादि द्रव्यों
का आश्रय करके । अंग्रेजी में द्रव्य के अनुसार दग्ध के दो भेद
करते हैं । जो दग्ध अग्निज्वाला या तप्त पापाण लोह इत्यादि
ठोस पदार्थों से होता है, उसे वर्न (Burn) कहते हैं । जो दग्ध
तप्त जल तैल इत्यादि द्रव पदार्थों या तप्त वायु रूप पदार्थों से
होता है, उसे स्काल्ड (Scald) कहते हैं । आयुर्वेदिक परिभाषा के
अनुसार 'वर्न' को 'रूक्षदग्ध' और 'स्काल्ड' को 'स्निग्धदग्ध'
कह सकते हैं ।

तत्र घृष्टं दुर्दग्धं सम्यग्दग्धमतिदग्धं चेति
चतुर्विधमग्निदग्धम् । तत्र यद्विचरणीं प्लुष्यतेऽतिमात्रं
तत् घृष्टं; यत्रोत्तिष्ठन्ति स्फोटास्तीव्राश्चोषदाहराग-
पाकवेदनाश्चिराच्चोपशाम्यन्ति तदुर्दग्धं; सम्यग्दग्ध-
मनवगाढं तालफलवर्णं सुसंस्थितं पूर्वलक्षणयुक्तं
च; अतिदग्धे मांसावलम्बनं गात्रविश्लेषः सिरास्त्रा-
युसन्ध्यस्थिव्यापादनमतिमात्रं ज्वरदाहपिपासामू-
र्च्छाश्चोपद्रवा भवन्ति व्रणश्चास्य चिरेण रोहति
रूढश्च विचरणी भवति । तदेतच्चतुर्विधमग्निदग्ध-
लक्षणामात्मकमप्रसाधकं(नं) भवति ॥१५॥

अग्निदग्धं प्लुष्ट, दुर्दग्ध, सम्यग्दग्ध और अतिदग्ध ऐसे चार
प्रकार का होता है । उनमें से जिसमें त्वचा का वर्ण पलट जाय,
और कुलस-सा जाय, उसे 'प्लुष्ट' कहते हैं । जिस में दारुण
फफोले पड जायँ, चूसने की-सी पीडा हो, जलन हो, रंग लाल
हो, पक जाय और बहुत काल में जिसकी शान्ति हो, वह 'दुर्दग्ध'
है । जिसमें घाव नीचा न हो, वर्ण ताडफल के समान हो, जिस
में नतोन्नतता न हो और जो पहले कहे हुए लक्षणों से युक्त हो,
वह 'सम्यग्दग्ध' है । 'अतिदग्ध' में मांस (नीचे की तरफ) लट-
कता है । जला हुआ अवयव विकल हो जाता है । उसके सिरा,
स्नायु, सन्धि और अस्थियों का अतिशय नाश हो जाता है । ज्वर,

दाह, प्यास, मूत्रां हत्यादि उपद्रव हो जाते हैं। म्रण बहुत दिन के पश्चात् भरता है और भरने पर भी शरीर के समान वर्ण नहीं होता है। ये चारों प्रकार के अनिदग्ध के लक्षण वैद्य को अपने कार्य में प्रसाधक होते हैं ॥१५॥

चक्रद्वय—प्लुट-हसी को ही चाग्मट में तुथ कहा है। चतुर्विधमशिराग्ध—ये आकस्मिक या प्रमाद दग्ध के चार प्रकार हैं। चोष—आकृषण इव वेदनाशिये'। पूर्वलक्षणयुक्त च—तत्र शब्दप्रादुर्भाव' इत्यादि सूत्र सात में वर्णन किये हुए लक्षणयुक्त। गात्रविक्षेप—दग्ध हुए अवयव का बेडौल और विकलित हो जाना। आत्मकर्मप्रमापक—वैयस्यत्कर्मनिदान चिकित्सकर्म च तयो' प्रयोगे साधक सहायभूत भवति। चतुर्विध दग्ध के लक्षण मालूम होने से अनिदग्ध करने में तथा दग्ध की चिकित्सा करने में बहुत सहायता मिलती है। पाश्चात्य शल्यशास्त्र में दग्ध छ अवस्थाओं में विभक्त किया गया है। (१) प्रथमावस्था—हसमें त्वचा लाल और विवर्ण हो जाती है। परंतु त्वचा का नाश नहीं होता है। आयुर्वेदिक प्लुट और इस प्रथमावस्था में सादृश्य है। (२) द्वितीयावस्था—हसमें त्वचा और ऊपरी पत (Cuticle) इनके बीच में लसिका का संचय होकर फफोले बन जाते हैं। दुर्दग्ध और द्वितीयावस्था में सादृश्य है। (३) तृतीयावस्था—हसमें त्वचा का ऊपरी पत तथा त्वचा का (Cutis vera) भी कुछ भाग नष्ट होता है। परंतु स्फाँडुर (Papillae), स्वेदप्रथि, रोमरूप तथा तेल की प्रथियां नष्ट नहीं होती हैं। इसका कुछ सादृश्य सम्यग्दग्धावस्था के साथ हो सकता है। (४) चतुर्थावस्था—हसमें सम्पूर्ण त्वचा तथा उपत्वचा (Subcutaneous tissue) का भी कुछ भाग नष्ट होता है। (५) पचमावस्था—हसमें त्वचा, उपत्वचा तथा पेशियों का भी नाश होता है। पेशियों के साथ साथ सिरा चायुओं का भी नाश होता है। (६) षष्ठावस्था—हसमें जला हुआ सम्पूर्ण अवयव निराकार्य सम्पत्ति के साथ नष्ट और विघटित (Disorganised) हो जाता है। अन्तिम तीन अवस्थाओं का समावेश अति-दग्धावस्था में हो सकता है।

भवग्नि चात्र—

अग्निना कोपित रक्तं भृशं जन्तोः प्रकुप्यति ।
ततस्तेनैव धेगेन पित्तमस्याभ्युदीर्यते ॥१६॥
तुल्यवीर्ये उमे द्योते रस्तो द्रव्यनस्तथा ।
तेनास्य वेदनास्तीना' प्रकृत्या च विदध्यते ॥१७॥
स्फोटो' शीघ्रं प्रजायन्ते ज्वरस्तृणा च धर्षते ।

अग्नि से विदग्ध हुआ मनुष्य को रक्त अल्प विगुणित हो जाता है। फिर उम विगुणित रक्त में पित्त भी धीमं प्रकुपित होता है ॥१६॥ इन दोनों पित्त तथा अमिकापित्त रक्त के वीर्य, रस तथा द्रव्य की दृष्टि से समान होने के कारण उम दग्ध मनुष्य को तीम वेदना होती है, स्वभाव से ही दाह भी होता है, दारण फफोले षड् जाते हैं, और ज्वर तथा तृणा भी बढ़ जाती है ॥१७॥

चक्रद्वय—दहन के सांख्यिक रूपान्तर और उनकी मर्यादा—
स्थानिक लक्षणों के मित्राप दहन के मरि शरीर पर भी भयानक परिणाम होते हैं। ये परिणाम तीन अवस्थाओं में विभक्त किये जाते हैं। (१) दह की अवस्था—हस अवस्था में दाह की गहराई तथा विस्तार अधिक हो तो निर्घात (Shock) उत्पन्न होता है।

हसमें रोगी मन्थ और मूर्च्छित रहता है। कभी कभी हृदयकि का अवरोध (Inhibition of the heart's action) हो श्यु भी हो जाती है। दाह की गहराई की अपेक्षा विम अधिक भयानक होता है। सामान्यतया यह देखा गया है शरीर के चर्म का तिहाई भाग जप जाने पर रोगी के चर्मी बहुत कम प्राया होती है। परंतु शरीर का यदि दो तिहाई भाग फवल प्लुट हो जाय तो भी दो दिन में रोगी की मृ हो जाती है। (२) रोष की अवस्था—हस अवस्था में त्व रक तथा शरीर के अन्य धातु जल जाने के कारण उपद्रु विष का संचार सर्व शरीर में होता है और उसी से ज्वर, दा तृणा इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं। यदि ज्वलन का रूप छाती, सिर, उदरादि मर्म स्थानों पर हो तो म्युमोनिय पुष्कुमावरणयोध, मलिन्यावरणयोध, उदरकलायोध इत्या रोग उत्पन्न होते हैं। इसी अवस्था में जीवाणुओं का संक्रम दग्धस्थान में होने का विशेष भय रहता है। (३) रोषणत्वसा- यदि विकारी जीवाणुओं का प्रयोग दग्धस्थान में न हुआ। तो म्रण का रोषण होने लगता है। अन्यथा विस्फ, धनुर्ल तथा वृक यकृन् के विविध रोग उत्पन्न होते हैं।

दग्धस्योपशमाधौ चिकित्सा संभवद्वयते ॥१८॥
प्लुटस्याग्निप्रतपनं कार्यमुष्यं तथौपधम् ।
शरीरे स्थिन्नभूयिष्ठे स्थिन्नं भवति शोषितम् ॥१९॥
प्रकृत्या ह्युदकं शीतं स्कन्दयत्यतिशोषितम् ।

तस्मात् सुखयति ह्युष्यं नतु शीतं कथंचन ॥२०॥
प्लुट दग्ध भाग को अग्नि से तपाना चाहिये और बाह तथा आभ्यन्तर भी गरम ओषधि करनी चाहिये। (उष्णोषधा से) शरीर में काफी पसीना आ जाने के कारण रक्त का थिल बन हो जाता है ॥१८-१९॥ जल स्वभाव में ठंडा है और रक्त के टिटरा देता है। इस कारण (प्लुट दग्ध में) गरम आराम क देता है, परन्तु शीत हरगिन आराम नहीं कर सकता ॥२०॥

चक्रद्वय—प्लुट दग्ध में शीतप्रयोग से दग्ध स्थान क उष्णता बाहर नहीं जा सकती, जिस से उम स्थान पर हो रागइत्यादि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं और रोगी को आराम नहीं मिलता। उष्णोषध से रक्त का विलयन होकर दग्ध स्थान क उष्णता कम हो जाती है और रोगी को आराम मिलता है—तब रक्ते हिमेनोष्मा निष्कामनी यतो बहिः। वेदना वर्धते तेन रुषि च विरक्षते। उष्ण निष्कामयतु कुर्वाद्दग्धाना मरदां रुज ॥ (अष्टांगसं)।
शीतामुषणां च दुर्दग्धे क्रियां कुर्याद्भिषक् पुनः ।

धृतालेपनसेकांस्तु शीतानेवावस्य कारयेत् ॥२१॥
दुर्दग्धो मिला—दुर्दग्ध में शीत और उष्ण दोनों प्रकार की क्रिया वैद्य को करनी चाहिये। परन्तु ओषधि घृण का लेप तथा बाधादि से मेचन ठडी अवस्था में ही करना चाहिये ॥२१॥

चक्रद्वय—दुर्दग्ध में जो गहरा जला हुआ भाग होता है उस पर ठडी त्रिया और जो प्लुट सद्य बहुत गहरा नहीं है वहाँ पर उष्ण क्रिया करनी चाहिये। अथवा यदि दाह अधिक हो तो ठडी त्रिया और दाह अधिक न हो तो उष्ण क्रिया करनी चाहिये। अथवा प्रारंभ में उष्ण क्रिया और पश्चात् शीत त्रिया करनी चाहिये।

पद्मगन्धे तुगाक्षीरीप्लवचन्दनगैरिकैः ।

वृत्तैः सर्पिपा स्निग्धैरालेपं कारयेद्विषक् ॥२२॥

यानूपौदकैश्चैनं पिष्टैर्मांसैः प्रलेपयेत् ।

विद्रवधिवच्चैनं सन्ततोष्माणामाचरेत् ॥२३॥

सम्यग्दग्धचिकित्सा—सम्यग्दग्ध में वंशलोचन, अश्वत्थ की रक्त चंदन, गेरू, गुडूची—इन्हें घृत में मिलाकर उसका करे ॥२२॥ अथवा (अश्वत्थिक) ग्राम्यपशु, (वराहमहि-क) आनूप पशु, (कच्छपादिक) जलचर प्राणी—इन का पीसकर लेप करे और यदि हमेशा दाह होता रहे तो पित्त-धि के अनुसार उपचार करे ॥२३॥

तेदग्धे विशीर्णानि मांसान्युद्धृत्य शीतलात् ।

यां कुर्याद्विषक् पश्चाच्छालितण्डुलकण्डनैः ॥२४॥

न्दुकीत्वक्पापैर्वा घृतमिश्रैः प्रलेपयेत् ।

गुडूचीपत्रैर्वा छन्दयेदथवौदकैः ॥२५॥

यां च निखिलां कुर्याद्विषक् पित्तविसर्पवत् ।

अतिदग्ध में (जलने के कारण) लटके हुए मांस को निकाल के ठंडे उपचार करे और शालि चावलों का चूर्ण या तिन्दुकी-चूर्ण घृत से मिलाकर लेप करे, (तत्पश्चात्) व्रण को गिलोय पत्तों से या कमल के पत्तों से आच्छादन करे ॥२४-२५॥

तिदग्ध में वैद्य संपूर्ण क्रिया पित्तविसर्प के समान करे ।
वक्तव्य—तिन्दुकीत्वक्पापैः—तिन्दुकीत्वक्चूर्णैः । तिन्दुकी-त्वक्पापैः तिन्दुकीत्वक्चूर्णम् । (इन्दु) । कुछ टीकाकार कथाय का अर्थ कपाय वृक्ष यथा वट ऐसा करते हैं । 'तिन्दुकीत्वक्पापैः' ऐसा लक्षणसमत पाठ है ।

धूम्रच्छिष्टे समधुकं रोधं सर्जरसं तथा ॥२६॥

गञ्जिष्ठां चन्दनं मूर्वां पिष्ट्वा सर्पिर्विपाचयेत् ।

सर्वेषामग्निदग्धानामेतद् रोपणमुत्तमम् ॥२७॥

मोम, मुलहठी, लोध, राल, मंजीठ, चन्दन और मूर्वा—इन्हें पीस कर घृत पकावे । यह घृत संपूर्ण प्रकार के अग्निदग्ध व्रणों को भर लाने के लिये बहुत उत्तम है ॥२६-२७॥

लोहदग्धे क्रियां रूक्षां विशेषेणावचारयेत् ।

तैलघृतादि स्निग्ध पदार्थों से दग्ध की चिकित्सा रूक्षोप-चार से करनी चाहिये ।

वक्तव्य—दग्ध की आधुनिक चिकित्सा—दग्ध की प्रारंभिक अवस्था में जब रोगी स्तब्ध और बेहोश होता है, उष्णोपचार से बहुत लाभ होता है । उसमें रोगी को गरम कमरे में रखना, गरम कपड़े से ढककर रखना, गरम उत्तेजक पेय पीने के लिये देना और यदि आवश्यक हो तो टंकणाम्ल (Boric acid) के सौम्य गरम घोल में उसको रखना इत्यादि उपाय करना चाहिये । दग्धस्थान पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है । जब रोगी की स्तब्धता नष्ट हो जाती है, तब दग्ध की चिकित्सा करनी चाहिये । दग्धस्थान की चिकित्सा के लिये कपाय रस (Tannic Acid) आज कल बहुत लाभकर प्रमाणित हुआ है । २-५% घोल में कवल्का भिगो कर दग्धस्थान पर रक्ती जाती है । हरीतकी चूर्ण का घोल बना कर उसका उपयोग कर सकते हैं । केवल पानी स्वच्छ उबला हुआ प्रयोग में

लाना चाहिये । जब दग्ध से सड़ा गला मांस हट जाय तब 'मधूच्छिष्ट' मरहम के तौर पर पराफीन का निम्न योग बना कर उसका उपयोग किया जाता है । इस से रोपण का कार्य शीघ्र होता है । मृदु पराफीन ७%, ठोस ६%, जैतून का तेल ५%, युकालिस्टस तैल २%, व्रीटा नैपथाल ३% । परंतु आज कल सब से उत्तम चिकित्सा टैनिक अम्ल द्वारा ही प्रमाणित हुई है । इससे वेदना नहीं होती, बार बार व्रणोपचार बदलना नहीं पड़ता और दग्धस्थान के विष शरीर में नहीं फैलते ।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धूमोपहतलक्षणम् ॥२८॥

श्वसिति क्षौति चात्यर्थमत्याधमति कासते ।

चक्षुषोः परिदाहश्च रागश्चैवोपजायते ॥२९॥

सधूमकं निश्वसिति त्रेयमन्यन्न वेत्ति च ।

तथैव च रसान् सर्वान् श्रुतिश्चास्योपहन्यते ॥३०॥

टृष्णादाहज्वरयुतः सीदत्यथ च मूर्च्छति ।

धूमोपहत इत्येवं, शृणु तस्य चिकित्सितम् ॥३१॥

अब यहां से धुँप से पीड़ित हुए मनुष्य के लक्षण कहते हैं ॥२८॥ श्वास में कठिनता होती है, छींकता है, पेट फूला रहता है, खांसता है आंखों में जलन तथा सुखी होती है ॥२९॥ प्रश्वास में धुँआ निकलता है, (धुँप के सिवाय) अन्य गंध नहीं समझता है, वैसा स्वाद का ज्ञान भी नष्ट हो जाता है, सुनाई नहीं देता है ॥३०॥ तृष्णा, दाह और ज्वर युक्त होकर दुर्बल तथा मूर्च्छित रहता है । इस प्रकार धुँप से पीड़ित मनुष्य के लक्षण होते हैं । अब उसकी चिकित्सा सुनो ॥३१॥

वक्तव्य—धुँप में अधिकांश कार्बन डायोक्साईड होता है । इसके सिवाय कार्बन मानीक्साईड, गंधक का धुँआ, अमोनिया, हायड्रोजन सल्फाईड इत्यादि वायु तथा काजले कण धुँप में होते हैं । इनसे वायु भर जाने के कारण रक्तशुद्धि के लिये प्राणवायु नहीं मिलती है और रक्त की शुद्धि नहीं होती है । इस अवस्था को अँग्रेजी में असफिक्सीएशन (Asphyxiation) कहते हैं । धुँप में से कुछ वायु रक्त के साथ मिल कर उसको और भी दूषित कर देते हैं । इस दूषित रक्त का बुरा प्रभाव मस्तिष्कगत श्वासकेन्द्र (Respiratory centre) पर होता है और बेहोश होकर रोगी की मृत्यु होती है । इसकी तीन अवस्थाएँ होती हैं । (१) श्वासच्छिष्ट की अवस्था—इसमें दूषित रक्त का श्वासकेन्द्र पर कुछ उत्तेजक प्रभाव पड़ता है । (२) आक्षेप की अवस्था—इसमें पहले से ही अधिक उत्तेजक प्रभाव पड़ता है, जिससे रोगी घुँउने लगता है । (३) अवसाद की अवस्था—इसमें दूषित रक्त से मस्तिष्कगत केन्द्रों का कार्यघात हो जाता है और रोगी की संन्यस्त होकर मृत्यु हो जाती है ।

सर्पिरिशुरसं द्राक्षां पयो वा शर्कराम्बु वा ।

मधुराम्लौ रसौ वाऽपि वमनाय प्रदापयेत् ॥३२॥

वमतः कोष्ठशुद्धिः स्याद्भूमगन्धश्च नश्यति ।

विधिनाऽनेन शाम्यन्ति सदनक्षवथुज्वराः ॥३३॥

दाहमूर्च्छाट्टडाध्मानश्वासकासाश्च दारुणाः ।

मधुरैर्लेवणाम्लैश्च कटुकैः कवलग्रहैः ॥३४॥

सम्यग्गृह्णानीन्द्रियार्थान् मनश्चास्य प्रसीदति ।
शिरोविरेचनं चास्मै दद्याद्योगेन शास्त्रवित् ॥३५॥
दृष्टिर्दिशुष्यते चास्य शिरोम्रीयं च वेद्दिनः ।

अधिदाहि लघु क्षिग्धमाहारं चास्य कल्पयेत् ॥३६॥

घृत, ईर का रस, द्राक्षारस, दूध, शरयन या मधुराम्ल
अन्य रस यमन के लिये पिलाने ॥३२॥ यमन से कंठे की शुद्धि
होती है और भ्रूम का गन्ध भी नष्ट होता है । इसी विधि से
रोगी की थकान, टीक, ज्वर, दाह, पेहोपी, मृषा, अकारा,
शामहृच्छ, पासी इत्यादि कारण विकार नष्ट हो जाते हैं ।
मधुर, लवण, अम्ल और कटुक रस के हल्के करने से ज्ञानेन्द्रिय
का ज्ञान ठीक हो जाता है और चित्त भी प्रसन्न होता है ।
शास्त्र जानने वाला वैद्य फिर उसको योग्यमात्रा में शिरो-
विरेचन देवे । इससे रोगी की दृष्टि ठीक हो जाती है और सिर
तथा गला भी साफ हो जाता है । और रोगी को आहार धीनल,
हल्का और क्षिग्ध देना चाहिये ॥३२-३६॥

चक्षुष्य—धूमोपहत की आधुनिक चिकित्सा-रोगी को भ्रूम
स्थान से उठा कर खुली हवा के स्थान में रखना चाहिये ।
गला और छाती पर तग कपड़े हों तो उनको निकालना चाहिये
या ढीठे कर देना चाहिये । कृत्रिम प्रवासा (Artificial resp-
iration) करना चाहिये । इस की पद्धतिया आगे २७ वें
अध्याय में जलमूत्र की चिकित्सा की टीका में वर्णन की
जायगी । उसके साथ साथ शुद्ध प्राणवायु भी सूंघने के लिये
मिल सके तो देना चाहिये । जीभ पकड़ कर बीच-बीच में
खींचना चाहिये । छाती और मुख पर ठंडे और गरम पानी का
छिड़काव करना चाहिये । सूंघने के लिये अमोनिया (Am-
monia) जैसा तीव्र शिरोविरेचन देना चाहिये । छाती की
फ्रेनिक नाडी (Phrenic nerve) बिजली की सहायता से
उत्तेजित करनी चाहिये । यदि रोगी की स्थिति दुःसाध्य मालूम
हो तो सिरा वेधकर ४०-८० तोले तक खराब खून निकाल कर
उतना ही नमक का पानी सिरा द्वारा शरीर में डालना चाहिये ।
सतकुचला जैसी हृदयोत्तेजक औषधि की सुई लगानी चाहिये
और हाथ-पैरों को गरम सेक करना चाहिये । कृत्रिम प्रथसन
की क्रिया हृदय की गति बढ़ होने के पश्चात् दा तीन मिनट
तक करते रहना चाहिये ।

उष्णवातातपैर्दग्धे शीतः कार्यो विधिः सदा ।

शीतवर्षानिलैर्दग्धे क्षिग्धमुष्यं च शस्यते ॥३७॥

तथाऽतितेजसा दग्धे सिद्धिर्नास्ति कथञ्चन ।

इन्द्रयज्ञाग्निदग्धेऽपि जीवति प्रतिकारयेत् ॥

ज्वाहाभ्यङ्गपरिषेकैः प्रदेहैश्च तथा भिषक् ॥३८॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थानेऽधिकमंत्रविधि

नाम द्वादशोऽध्यायः ॥२२॥

रू और भ्रूम से पीड़ित हुए को शीतल किया करनी चाहिये ।
ठंडी हवा और वर्षा से पीड़ित हुए को क्षिग्ध और गरम
चिकित्सा करनी चाहिये ॥३७॥ तथा अति तेजसुक इन्द्रयज्ञ से
दग्ध मनुष्य की (चिकित्सा में) सिद्धि नहीं हो सकती ।

परंतु वह भी यदि कुछ समय तक जीवित रहे तो वैद्य
परिषेक और भ्रूप आदि से उसका प्रतिकार कर
पेष्ट करे ॥३८॥

यक्षुष्य—उष्णवातातपदग्ध रोग की अंग्रेजी
स्ट्रोक, सन स्ट्रोक, हीट अपॉप्लेक्सी या धर्मिक फीवर /
stroke Sun stroke, Heat apoplexy, Thermic
कहते हैं । यह रोग उष्ण प्रदेशों में प्रीष्मकालिक
सूर्य के ताप से या अग्निज्वालादि के अतितीव्र ताप से
होता है । जब तक वायुमण्डल का ताप ११० फा से
न हो और वायु अत्यंत रतन्ध और आर्द्र (Humid)
तब तक यह रोग नहीं होता है । इस रोग के होने में प्र
थिव्य, यकालट, मलावरोध, अधिक और भारी कपड़ों
पहनना, मद्यसेवन, विषम ज्वरादि से उत्पन्न हुई दुर्कट
सिर और म्रीवा पश्चाद्भाग पर सूर्य की किरणें सीधी पा
(Exposure) इत्यादि कारण सहायक होते हैं । इन सहा
कारणों से तथा पश्चा उष्णता से मस्तिष्क सुषुम्नागत उष्ण
नियामक केंद्र (Heat regulating mechanism) के कार्य
बिगाड उत्पन्न होकर शरीर की उष्णता बढ़ने लगती है ।
बहुधा अकस्मात् मूर्च्छित हो जाता है । परंतु कभी कभी प्रारंभ
सिरदर्द, इच्छास, यमन, बेचैनी आदि लक्षण होते हैं और तत्पश्
रोगी मूर्च्छित हो जाता है । श्वास सुष्ठुरयुक्त (Stertorous
नाडी दुर्बल क्षीण और शीघ्र हो जाती है । लवचा शुष्क &
उष्ण होती है । शरीर की उष्णता १०८-११२ फा तक बढ़ती
और यदि शीघ्र ही चिकित्सा न की जाय तो कुछ घंटों तक तो
सन्ध्या अवस्था में रह कर मर जाता है । शीत कार्य विं
तदा—रोगी को तत्काल किसी ठंडे स्थान पर ले जाकर उस
कपड़े उतार कर नम करना चाहिये । तत्पश्चात् उसके मिर
बर्क की धैली रखनी चाहिये । शरीर पर बर्क के मोटे मोटे टुकड़ों
से रगहना चाहिये या हिमजलार्द्र वस्त्र से शरीर लपटन
चाहिये । इन उपायों से यदि शरीर की उष्णता कम न हो वं
शीतजल की बन्धि भी देनी चाहिये । जब शरीर की उष्णता
१०२ फा तक उतर जाती है । तब शीतोपचार कम करन
चाहिये शीतवर्षानिलदग्ध इस अवस्था को अंग्रेजी में फ्रॉस्ट
बाइट (Frostbite) कहते हैं । शीतप्रदेश में शिथिल हुए
के समय ही हृदयप्रायुक्त जति शीत वायु चल्ने से हाथ-पैरों
में रक्तप्रवाह कम होने के कारण तथा नासा और बर्ण सुं
रहने के कारण यह अवस्था उत्पन्न होती है । इस अवस्था में
उक्त अवयवों की लवचा ही अधिक चिकृत होती है । अवयव
सिकुटा हुआ, कठिन और भ्रूम की भांति दिखाने देता है
परंतु उसमें वेदना नहीं होती । इसमें एकाएक रक्तप्रवाह शुरु
होने से तीव्र वेदना शुरु होती है और शोधयुक्त कोष (Infl-
ammatory gangrene) भी होता है । चिकित्सा—शीतदग्ध
भाग का रक्त वाहिनियों में जम जाता है, उसको प्रवाहित
करना चाहिये । इसके लिये दग्धस्थान पर घर्षण करके धीरे
धीरे उष्णता उत्पन्न करना अधिक प्रयत्न है । यदि अकस्मात्
दग्ध भाग उष्ण किया जाय तो रक्तप्रवाह एकाएक शुरु हो
कर शोधयुक्त कोष उत्पन्न होने की संभावना होती है । पहले
रोगी को ठंडे कमरे में रखकर धीरे धीरे कमरे की उष्णता

नी चाहिये । जब थोड़ी प्रतिक्रिया शुरू होती है, तब उसको पेय भी देना चाहिये । कृत्रिम उष्णता का उपयोग दग्ध पर गरम करने के लिये कभी भी नहीं करना चाहिये । मैं उसकी उन या अन्य गरम कपड़े में लपेट कर रखना दूँ । अनितेजता दग्धे—आकाशविद्युत् से (Lightning) जाना । आकाशविद्युत् के तीव्रघात से मस्तिष्कघात (Neuro paralysis) होकर तुरंत मृत्यु हो जाती है । यदि वात मध्यम या सौम्य हो तो शरीर जल जाने के अतिरिक्त तिनाय, अंगवध, दृष्टिमान्द्य, अपस्मार, पागलपन इत्यादि कालीन प्ररिणाम शरीर पर हुआ करते हैं । कृत्रिम द्युत् (Electricity) के भी स्वाभाविक विद्युत् जैसे णाम होते हैं ।

ते भास्करसाम्पत्ता गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यटीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायामभिकर्तृविधिनाम द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

त्रयोदशोऽध्यायः ।

अथातो जलौकावचारणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः

धोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अथ यहाँ से जौक लगाने की विधि नामक अध्याय का स्थान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—जलौका—जौक । अँग्रेजी में जौक को लीच या रूडू (Leech, Hirudu) कहते हैं । अवचारण—उपयोग विधि । जलौका के सिवाय इस अध्याय में शृङ्ग और अलावू का भी थोड़ा उपयोग वर्णन किया है ।

नृपाल्यवालस्थविरभीरुदुर्वलनारीसुकुमाराणा-
पुत्रग्रहार्थं परमसुकुमारोऽयं शोणितवसेचनोपा-
योऽभिहितो जलौकसः ॥२॥

राजा, धनाढ्य, बालक, वृद्ध, डरपोक, दुर्बल, स्त्री तथा अन्य कोमलप्रकृति मनुष्यों के अनुग्रह (दयापूर्वक रोगनिवृत्ति) के लिये जौक से रक्त निकालने का उपाय सब से अधिक श्रेष्ठ (सगहूर) है ॥२॥

वक्तव्य—अनुग्रहार्थम्—उपकारार्थम् । परम सुकुमार—पक्षादि द्वारा प्रच्छान सिरावेध करके रक्त निकालना असुकुमार विधि है, शृङ्ग और अलावू द्वारा निकालना सुकुमार विधि है और जलौका द्वारा निकालना परम सुकुमार विधि होती है ।

तत्र वातपित्तकफदुष्टशोणितं यथासंख्यं शृङ्ग-
जलौकोलावुभिरवसेचयेत्, (स्निग्धशीतरुक्षत्वात्;) विधि सवैर्वा ॥३॥

वात, पित्त और कफ से, बिगड़े हुए रक्त को यथाक्रम शृङ्ग, जलौका और तुंबे से निकाले । क्योंकि शृङ्ग स्निग्ध, जलौका शीत और तुंबे वात हटाता है । अथवा सब स्थानों में सब से काम ले सकते हैं ॥३॥

वक्तव्य—केवल वातादि दोषों के अनुसार, नहीं तो वात रक्त की स्थिति तथा न्यापक स्थान के अनुसार भी शृङ्ग,

जलौका और अलावू का भिन्न भिन्न उपयोग हुआ करता है । अष्टाङ्गहृदय में लिखा है—प्रच्छानेनैकदेशसंश्रयित जलजन्मभिः । हरेच्छृङ्गादिभिः सुप्तमसृग्ध्यापिमिरान्यथैः । प्रच्छान पिञ्जिते वा स्याद-
वगाडे जलौकनः । त्वक्रोऽलावुषटिशृङ्ग, सिरैव न्यापकेऽसृजि ॥ सर्वाणि सर्वैर्वा—यदि दोष वा स्थान के अनुरूप शृङ्गादि न मिल सके अथवा रोगी की दृष्टि से शृङ्गादि में से कोई उपाय विशेष प्रशस्त मालूम हो तो दोषों का विचार न करके उसी के द्वारा रक्त निकालना चाहिये । यथा बालक, वृद्ध, स्त्रियाँ इत्यादि सुकुमारों के लिये दोषों का विचार न करके जौक का ही उपयोग करना अधिक योग्य होता है । 'सर्वाणि सर्वैर्वा' इससे सूत्र दो और तीन में जो विरोध दिखाई देता है, उसका परिहार होता है ।

भवन्ति चात्र—

उष्यं समधुरस्निग्धं गवां शृङ्गं प्रकीर्तितम् ।

तस्माद्वातोपसृष्टे तु हितं तदवसेचने ॥४॥

शीताधिवासा मधुरा जलौका वारिसंभवा ।

तस्मात् पित्तोपसृष्टे तु हिता सा त्ववसेचने ॥५॥

अलावु कटुकं रूक्षं तीक्ष्णं च परिकीर्तितम् ।

तस्माच्छ्लेष्मोपसृष्टे तु हितं तदवसेचने ॥६॥

गाय का सींग उष्ण, मधुर और स्निग्ध होता है । इसलिये वातदूषित रक्त सींग से निकालना अच्छा है ॥४॥ जौक जल में उत्पन्न हुई और शीत स्थान में रहनेवाली होती है । इसलिये पित्तदूषित रक्त जौक से निकालना अच्छा है ॥५॥ तुंबी कड़वी, रूखी और तीक्ष्ण होती है । इसलिये कफदूषित रक्त तुंबी से निकालना अच्छा है ॥६॥

तत्र प्रच्छिन्ने तनुवस्त्रपटलसूत्रावनदेन शृङ्गेण शोणितमवसेचयेदाचूपणात्, सान्तर्दीपयाऽलाव्वा ॥

रक्त निकालने के स्थान पर (नशतर से) प्रच्छान लगा कर सींग के मुख में बारीक कपड़ा सूत्र से बांधकर उस सींग से (मुखद्वारा) चूस के रक्त निकाले । (तुंबी से निकालना हो तो) उसके भीतर जलती हुई बत्ती रख के निकाले ॥७॥

वक्तव्य—तनुवस्त्रपटलसूत्रावनदेन—सींग के मुख पर कपड़ा चूपण के समय रोगी की त्वचा और सींग के किनारे के बीच से वायु का प्रवेश रोकने के लिये रखा जाता है । चूपण के लिये सींग के भीतर कुछ निर्वात स्थिति (Partial vacuum) होना आवश्यक है । यह स्थिति मुख द्वारा भीतर की वायु खींचने से उत्पन्न होती है । सान्तर्दीपयाऽलाव्वा—सींग में दोनों ओर छेद होने के कारण चूसने के लिये मुख का उपयोग ही सकता है । परंतु अलावू केवल एकमुखी होता है । इसलिये वहाँ प्रदीप का उपयोग करके चूपण कार्य किया जाता है । वायुमंडल की वायु में एक पंचमांश (१/५) भाग प्राणवायु और चार पंचमांश (४/५) भाग नैट्रोजन होता है । प्राणवायु को ही शार्ङ्गधर में विष्णुपदामृत कहा है और अँग्रेजी में आक्सीजन (Oxygen) कहते हैं—नाभिस्वः प्राणपवनः सृष्ट्व दत्तमलांतरम् । कण्ठाद्बहिर्विनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम् ॥ यह प्राणवायु ज्वलन में

उपयोगी होता है और इसके सिवाय ज्वलनकर्म नहीं हो सकता। लुंभी के भीतर प्रदीप रखने से जो प्राणवायु भीतर होती है, वह ज्वलन कर्म में नष्ट हो जाती है और कुछ निर्वोत स्थिति उत्पन्न होती है। जब प्राणवायु खतम हो जाती है, तब भीतर का दीप भी आप से आप बुझ जाता है। दीप के स्थान में कश्चर का उपयोग भी कर सकते हैं। घटिका का उपयोग भी भीतर ज्वलन करके ही होता है।

जलमासामायुरिति जलायुकाः, जलमासामोक इति जलीकासः ॥८॥

जलका रक्त की निरक्ति—जल है आयु यानि जीवन जिन का, इससे इनका नाम जलायुका है। या जल है ओक यानि स्थान जिनका, इस हेतु भी इन्हें जलीका कहते हैं ॥८॥

ता द्वादश; तासां सविषाः पद, तावत्य एव निर्विषाः ॥९॥

जौक बारह प्रकार की होती हैं—उन में से छ प्रकार की सविष और छ प्रकार की निर्विष होती हैं ॥९॥

तत्र सविषाः—कृष्णा, कर्बुरा, अलगदां, इन्द्रायुधा, सामुद्रिका, गोचन्द्रना चेति। तासु, अञ्जन चूर्णवर्णां पृथुशिरा कृष्णा; वर्मिमत्स्यवदायता द्विभोक्षतकुत्ति कर्बुरा; रोमशा महापाश्वा कृष्णामुखी अलगदां; इन्द्रायुधवर्णवर्णजभिधिव्रिता इन्द्रायुधा; ईपदसितपीतिका विचित्रपुष्पाकृतविषा सामुद्रिका, गोबुधणवदधोभागे द्विधाभूताकृतिरेणुमुखी गोचन्द्रनेति। तामिदंष्ट्रे पुरवे द्वेरे भ्ययुपतिमात्रं कण्डूर्मूर्च्छां ज्यरो दाहश्छर्दिर्मदः सदनमिति लिहानि भवन्ति। तत्र महागदः पानालेपननस्यकर्मादिवृष्योऽयोज्यः। इन्द्रायुधादष्टमसाध्यम्। इत्येताः सविषाः सचिकित्सिता व्याख्याता ॥१०॥

विषयुक्त जलका ये हैं—कृष्णा, कर्बुरा, अलगदां, इन्द्रायुधा, सामुद्रिका और गोचन्द्रना। उनमें से कजल के चूर्ण समान काली और बड़े तिर वाली कृष्णा होती है। वर्मिमत्स्य की तरह लंबी और बुझ पर ऊँची धारियों वाली कर्बुरा होती है। रोमयुक्त, बड़ी पांशुवापी और काले मुख वाली अलगदां होती है। इन्द्रधनुष के वर्ण के समान विचित्रविचित्र धारियाँ त्रिप पर भी, यह इन्द्रायुधा होती है। विचित्र काली तथा पीली और कई रंग के बिन्दुयुक्त कृष्ण के समान विभिन सामुद्रिका होती है। पैल के अण्डकाय की भांति नीचे से दो फाँक सी जिसके हाँ और मुख छोटा रहे, वह गोचन्द्रना होती है। इन विषयुक्त जलीकाओं से दस पुरष में दसस्थान पर योग तथा अर्धन लुम्पी होती है और अर, दाह, वमन, गद, मूर्च्छा, यकावट ये लक्षण होते हैं। इस विष की शांति करने के लिये महागद नामक मंत्रपत्र का उपयोग पान, लेप, सन्ध्य इत्यादि क्रमों में करना चाहिये। इन्द्रायुध जलीका का दस असाध्य होता है। इस प्रकार विषयुक्त जलीकाएँ उनही चिकित्सा के साथ बयोग की गई ॥९॥

वक्तव्य—वर्मिमत्स्य—सर्वाकार मत्स्य। अन्ये रोहितमात्र। महागद—कलस्थान में स्यैपदद्विविचिकित्सित अभ्यासोत्ति विद्विन्ने म्युक हृदि रक्त गोमरी स्वस्थ वरं। यदुपिदं विचूर्णानि शो निरूप्यगन्धुतुनि ॥ इस अगद का उपयोग पान, लेपन तथा कर्म के सिवाय अभ्यसन अञ्जन के लिये भी करना चाहिये।

अथ निर्विषाः—कपिला, पिहला, शङ्कुमुखी मृषिका, पुण्डरीकमुखी, सावरिका चेति। तत्र मन.शिलारक्षिताभ्यामिव पाश्वाभ्या पृष्ठे स्निग्धमुद्रवर्णा कपिला, किञ्चिद्रक्ता वृत्तकाया पिह्लाऽऽशुगा च पिहला, यल्लवणां शीघ्रपायिनी दीर्घतीक्ष्णमुखी शङ्कुमुखी; मृषिकाकृतवर्णाऽऽनिष्ठगन्धा च मृषिका. सुद्रवर्णा पुण्डरीकतुल्यवक्रा पुण्डरीकमुखी, स्निग्धा पद्मपत्रवर्णाऽऽष्टदशाङ्गुलप्रमाणा सावरिका, सा च पश्वर्थे, इत्येता अविषा व्याख्याताः ॥११॥

निर्विष जलीका ये हैं—कपिला, पिंगला, शंङ्कुमुखी, मृषिका, पुण्डरीकमुखी और सावरिका। उनमें से मन शिला के समान रंग वाले जिस के पत्रवादे होते हैं और पीठ चिकनी मूग के रंग समान होती है. वह कपिला है। निचित्र रक्तवर्ण, गोल, चिद्रलवणी और शीघ्र चलने वाली पिंगला है। यहूत ई समान काले वर्ण वाली, शीघ्र रक्त पीने वाली बड़े और तीक्ष्ण मुख वाली शङ्कुमुखी होती है। मृषिक लांगूल के समान आकृति और वर्ण वाली, दुर्गन्धयुक्त मृषिका होती है। मूग के रंग समान हरिद्वर्ण और कमल के समान विस्तीर्ण मुख वाली पुण्डरीकमुखी होती है। चिकनी पद्मपत्र के समान वर्णवाली अठारह अँगुल लम्बी सावरिका होती है। यह सावरिका पशुओं का रक्त निकालने के काम में आती है। इस प्रकार ये निर्विष जलीकाएँ वर्णन की हैं ॥११॥

वक्तव्य—मृषिकाकृतवर्णा—मृषिकाकृतवर्णा । (इति गोचन्द्र)। मृषिका लांगूलकृतवर्णा चेति। (धनु०)। अष्टागममय में जलीका का निम्न वर्णन अधिक मिलता है। जलीका अधिक

... तां अधिक भेद होते हैं। पुरष जौक का उपयोग चिरकालीन और बुद्धि-युक्त लोगों में और खी जौक का उपयोग अचिरकालीन और अल्पदीपयुक्त लोगों में करना चाहिये—पर्वानां च इत् प्रमथन दत्तइत्युति। तत्र चतुष्पत्रयऽऽशुगा मृषु येवेर। महाविषयता । तस्य इन्द्रमरुत्सुतवैज्यरिक्तक इन्द्रायुधाय म न्निप ॥ इति... उपमेर्जेवमन्त्रपुत्रोत्तम ॥ तत्र कदुग्नेयु रिरेरिपेयु नमउ सुयमे वेरिपिम्बन। विषा विरिरेयु।

तासां यथनपाण्ड्यसहायपौतनादीनि क्षेप्राणि तेषु महाशरीरा यलयय. शीघ्रपायिन्यो महाशाना निर्विष पाद्य विशेषेण भवन्ति ॥१२॥

यवन, पाण्ड्य, सदा और पौतन जलीका के क्षेप होते हैं। इन देशों (के जन्माशयों) में जो जलीकाएँ मिलती हैं, वह अकार

ही, बलवान्, शीघ्र रक्त चूसने वाली और अधिक रक्त पीने । तथा विशेषता से निर्विष होती हैं ॥१२॥

वक्तव्य—यवन—तुरुष्क देश, तुर्कस्थान । पाण्ड्य—
स प्रान्त में चोल देश के नैर्ऋत्य का एक प्रदेश । सख—
रा तीर समीपस्थ सह्यपर्वत । पौतन—मथुरा प्रदेश ।
ना—जलौका साधारणतया आधा से पौन तोला रक्त
(२ ड्राम) प्रत्येक समय चूसती है । जो अधिक से अधिक
प्रत्येक समय चूसती है और अनेक बार चूसने के लिये
र होती है ।

तत्र, सविपमत्स्यकीटदुर्दुरसूत्रपुरीपकोथजाताः
द्रुपेष्वम्भःसु च सविपाः पद्मोत्पलनलिनकुमुद-
गन्धिककुवलयपुण्डरीकशैवलकोथजाता विमले-
म्भःसु च निर्विपाः ॥१३॥

भवति चात्र—

त्रेषु विचरन्त्येताः सलिलाढ्यसुगन्धिपु ।

च संकीर्णचारिण्यो न च पङ्केशयाः सुखाः ॥१४॥

जलौका में से जो विपैले मत्स्य, कीड़े, मेंढक के सड़े गले
मूत्र में तथा खराब पानी में उत्पन्न होती हैं, वह विषयुक्त
ती हैं । जो पद्म, उत्पल, नलिन, कुमुद, सौगन्धिक, कुवलय,
डरीक, शैवल—इनके कोथ से तथा निर्मल जल में उत्पन्न
ती हैं, वह निर्विष होती हैं । ये निर्विष और सुखकारक
सौंकाएँ जहाँ निर्मल जल और सुगन्धित पदार्थों की भरमार
ती है ऐसे क्षेत्रों में विचरती हैं, विपैले पदार्थों का सेवन नहीं
रती तथा कीचड़ में वास नहीं करती ॥१४॥

वक्तव्य—चाग्भट में मूत्रपुरीप कोथ के सिवाय मत्स्या-
क के शवकोथ से भी विषयुक्त जलौका की उत्पत्ति वर्णन
ी है—तत्र दुष्टाम्बुपर्मण्डूकमत्स्यादिशवकोथमूत्रपुरीपजाः । पद्म—
किंचित् श्वेतकमल । उत्पल—किंचित् नीलकमल । नलिन—किंचित्
वतकमल । कुमुद—रक्तकमल । सौगन्धिक—चन्द्रोदयविकासी
गुग्गुली कमल । कुवलय—रक्तकमल । न च संकीर्णचारिण्यः—
न पंपादिविरुद्धाहारभुजः शैवलाद्यशनत्वात् ॥

तासां ग्रहणमार्द्रचर्मणा, अन्यैर्वा प्रयोगैर्गृही-
यात् ॥१५॥

इन जोंकों को गीले चमड़े से या अन्य उपायों से पकड़े ॥१५॥

वक्तव्य—ग्रहण—इनका ग्रहण शरद ऋतु में करना
प्रास्त है । अन्यैर्वा प्रयोगैः—सद्योहत जन्तुमांसपेशी—नवनीतघृत-
शीराद्यभ्यक्तजद्वाद्यवयवैर्वा । (डल्हण) ।

अथैनां नवे महति घटे सरस्तडागोदकपङ्कमा-
वाप्य निदध्यात्; भक्ष्यार्थं चासामुपहरेच्छैवलं
वल्लूरमौदकांश्च कन्दांश्चूर्णीकृत्य; शय्यार्थं तुणमौद-
कानि च पत्राणिः त्र्यहात्यहाञ्चाभ्योऽन्यजलं भक्ष्यं
च दद्यात्; सप्तरात्रात् सप्तरात्राच्च घटमन्यं संक्रा-
मयेत् ॥१६॥

फिर इनको नवीन बड़े घड़े में सरोवर तालाव का जल
और कीचड़ भरकर उसमें रख ले । खाने के लिये शैवाल, सूखा
मांस और जलकंद चूरा करके दे । सोने के लिये तृण और

(कमलादि) जलज ओषधियों के पत्ते रखे । प्रत्येक दूसरे
या तीसरे दिन जल और खाद्य नवीन डालता रहे और प्रत्येक
सातवें दिन इनको नवीन घड़े में बदलता रहे ॥१६॥

वक्तव्य—मलमूत्र लालादिक के कोथ से जोंकों की रक्षा
करने के लिये उनको नये नये घटों में पांच या सात दिन के
पश्चात् रखना चाहिये—अन्यत्राऽन्यत्र ताः स्थाप्या घटे मृत्लांबु-
गभिणी । लालादिकोथनाशार्थं सविपाः स्युस्तदन्वयात् ॥

भवति चात्र—

स्थूलमध्याः परिक्रिष्टाः पृथ्व्यो मन्दविचेष्टिताः ।

अग्राहिण्योऽल्पपायिन्यः सविपाश्च न पूजिताः ॥१७॥

जो जोंक बीच में मोटी, देखने में भद्दी, अधिक लंबी, मंद
चलने वाली, न चिमटने वाली, अल्प रक्त पीने वाली और विष
युक्त होनी हैं, वह (रक्त निकालने के काम में) अप्रशस्त हैं ॥१७॥

वक्तव्य—परिक्रिष्टाः—असनीन्द्रदर्शना, किंवा ग्लान श्रान्त
या क्लान्त ।

अथ जलौकोवसेकसाध्यव्याधितमुपवेश्य सं-
वेश्य वा, विरुक्ष्य चास्य तमवकाशं शूद्रोमयचूर्णैर्य-
द्यरुजः स्यात् । गृहीताश्च ताः सर्पपरजनीकल्कोदक-
प्रदिग्धगात्रीः सलिलसरकर्मध्ये मुहूर्तस्थिता विगत-
क्लमा ज्ञात्वा तामी रोगं ग्राहयेत् । श्लक्ष्णशुक्लार्द्रपि-
चुप्रोतावच्छन्नां कृत्वा मुखमपावृणुयात्; अगृहन्त्यै
क्षीरविन्दुं शोणितविन्दुं वा दद्याच्छ्लेषदानि वा
कुर्वीत; यद्येवमपि न गृहीयात्तदाऽन्यां ग्राहयेत् ॥१८॥

जलौका लगाने की विधि—जलौकाओं से रक्त निकालने योग्य
रोगी को बिठाकर या लिटाकर उसका रक्त निकालने का स्थान
यदि व्रणयुक्त न हो तो मिट्टी और गोबर के चूर्ण से रूखा करे ।
फिर पकड़ी और पाली हुई जोंकें सरस और हलदी के कल्क
से प्रदिग्ध करके जलयुक्त पात्र में थोड़े समय तक रख छोड़े ।
उनकी ग्लानि दूर हुई जानकर रोग के स्थान पर लगावे ।
(लगाते समय) जलौका का शरीर वारीक सफेद गीले कपड़े से
लपेटना और मुख खुला रखना चाहिये; (रोग के स्थान पर)
नहीं लगे तो वहाँ दूध या रक्त का दूँद छोड़ दे अथवा नशतर
से थोड़ा लेखन करे । यदि ऐसा करने पर भी नहीं लगे तो उसे
छोड़कर दूसरी लगावे ॥१८॥

वक्तव्य—गृहीताश्च ताः—जहाँ तक हो सके, नई कोरी
अन्ववहत जलौका का उपयोग करना प्राशस्त होता है । क्योंकि
दूषित (Septic) स्थान पर प्रयुक्त हुई जलौका पुनः उपयोग
के समय अन्य स्थान पर दोष का संक्रमण कर सकती है ।
सलिलसरक—जलपात्र । रोग ग्राहयेत्—रोग के स्थान पर लगावे ।
रोग से रोगाधिष्ठान अभिप्रेत है । जिस समय रोगाधिष्ठान के
एक विशिष्ट विन्दु पर जोंक लगाना है, उस समय उस स्थान
पर पहले छेदयुक्त कागज ऐसा रख दे कि कागज का
छेद अभीप्सित स्थान पर आ जाय । तब जोंक को उस
स्थान पर छोड़कर लगावे । जब गला, गर्भाशयमुख तथा

गुद इत्यादि संकट स्थान में जोंक लगाने की आवश्यकता होती है तब उसका भीतर प्रवेश रोक्ने के लिये उसे काच की नलिका द्वारा लगाना चाहिये, जिस नलिका के एक द्वार से जोंक का केवल मुख प्रवेश कर सकता है ।

यदा च निविशतेऽथस्त्रुरवदाननं कृत्योन्नम्य च स्कन्धं तदा जानीयाद्गृह्णातीति; गृह्णतीं चार्द्रवस्त्रायच्छत्रां धारयेत् सेचयेच्च ॥१९॥

जब घाँटे के गुर के समान अपना मुँह कर, स्कन्ध उंचा करके (स्वचा में) प्रवेश करे तो जान ले कि जोंक लग गई और जब लग गई तब उस पर गीला कपड़ा रख दे और जल टपका दिया करे ॥१९॥

दंशे तोदकण्डुप्रादुर्भावैर्जानीयाच्छुद्धमिम्यमादत्त रतिः । नक्षत्राणां नामान्येव । अथ शोणितगन्धेन न

जान ले

कि अब जोंक शुद्ध रक्त चूसती । फिर शुद्ध रक्त चूसने वाली को छुटा ले । यदि रक्त के छालच से यह नहीं छोड़े तो उसके मुख पर सैषध नामक का पूरा छिड़क दे ॥२०॥

वक्तव्य—शुद्धमिम्यमादत् रति—यह माना जाता है कि जोंक अपने विशेष प्रभाव से शुद्ध और दुष्ट रक्त के मिश्रण से पहले केवल शुद्ध रक्त का ही ग्रहण किया करती है—नक्षत्राणां नामान्येव । अत्राने प्रथम इत् क्षीर क्षीरोदकादि च ॥ (अष्टागहृदय) । दशगण्डुप्रादुर्भावे—जब तक जोंक चिपटी रहती है, तब तक किंचिद् वेदना और कण्डु सदैव होती रहती है । इसलिये जब विशेष अधिक रूप से वेदना और कण्डु होने लगेगी, तब समझना चाहिये कि अब शुद्ध रक्त का ग्रोषण हो रहा है । अपनवेत्—जोंक को खींच करके कभी भी दंशस्थान से नहीं छुटाना चाहिये । हरिद्राचूर्ण वा लवणचूर्ण छिड़कने से दूट जाती हैं । शोणितगन्ध—शोणितलीलात् । आधुनिक जट्टयाद्य से भी जलोंका के शरीर में गंधद्रव्य का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है । इसलिये 'शोणितगन्धेन' का अर्थ 'शोणितलीलात्' ऐसा करना उचित है । अष्टागसग्रह में भी ऐसा ही पाठ है—लीलात्वा दशममुखस्था शौद्र लवणचूर्ण वा मुले दधात् ।

अथ पतितां तण्डुलकण्डनप्रदिग्धगार्भ्रीं तैललवणाभ्यक्तमुखीं वामहस्ताङ्गुष्ठाङ्गुलिभ्यां गृहीतपुच्छां दक्षिणहस्ताङ्गुष्ठाङ्गुलिभ्यां शनः शनैरनुलोममनु मार्जयेदासुखात्, वामयेत् तावचाद्यत् सम्यग्वान्तलिङ्गानीति । सम्यग्वान्ता सलिलसरक्म्यस्ता भोक्तुकामा सती चरेत् । या सीदती न चेष्टते सा दुर्यान्ता, तां पुनः सम्यग्वामयेत् । दुवांन्ताया व्याधिरस्ताभ्य इन्द्रमदो (रक्तमदो) नाम भवति । अध सुयान्तां पूर्ववत् सन्निद्रध्यात् ॥२१॥

जोंक हट जाने के पश्चात् उसका शरीर भावल के कण्डन से और मुख तैल और लवण से मले । फिर बाए हाथ की अँगुली और डंगूटे से पूँछ पकड़ कर दाहिने हाथ के अँगूठे और अँगुली से धीरे धीरे नीचे की मुख तक निचोड़ डाले

और मुख से अच्छी तरह घमत् के चिद्ध आने लगे तब तक (इसी प्रकार निचोड़ कर) रक्त का वमन कराये । सफ धामित की हुई जोंक जलपात्र में छोड़ने पर रक्तने के लिये इधर उधर चलती है । जो तली में हान्त सी बैठ कर इधर उधर चलती नहीं, उसे दुर्यान्त समके और फिर उसे (अच्छी तरह निचोड़ कर) धामित कर । सशेपरक जोंक को 'इन्द्रमद' नामक रोग हो जाता है । उत्तम प्रकार से धामित की हुई जोंक को पहले की भांति (जल के घड़े में) रख दे ॥२१॥

वक्तव्य—इन्द्रमद—यह एक जलोंकाओं का रोग है, जो बार बार रक्त निकालने के लिये प्रयोग करने से तथा प्रत्येक समय दुष्ट रक्त का योग्य वमन न कराने से हो जाता है । वाग्मद में इस रोग का नाम रक्तमद दिया है—ता अल्पसन्ध्यवमनार्त् प्रतल च निपलनात् । सीदन्ती सलिल प्राप्य रक्तमत्ता इति स्वयेद ॥

करना चाहिये—सत्ररात्र च प्रा पुनर्न पातयेत् । (अष्टागसंग्रह) । यदि विकारी जीवाणुओं से दूषित स्थान में इनका उप किया गया हो तो दूसरे समय इनका उपयोग रक्त निका के लिये न करना अधिक प्रशस्त है । अन्यथा पूर्व रोग संक्रमण दूसरे रोगी पर होने की सम्भावना होती है ।

शोणितस्य च योगायोगानवेद्य शतधौतघृत् भ्यङ्गस्तपिचुधरणं वा; जलीकोमखान् मधुनाऽघट्टयेत्, शीताभिरद्भिश्च परिपचयेद्ग्रीत वा, कपाः मधुरस्निग्धशीतैश्च प्रदेहैः प्रदिह्यादिति ॥२२॥

रक्तस्राव का योग तथा अयोग देखकर उसके अनुस शतधौत घृत वा उससे सजुक रई का उपयोग करे वा जलीय द्रवों पर मधु से घर्षण करे वा ठंडा पानी छिड़के वा इ को बांध दे वा उन पर कपाय, मधुर, स्निग्ध और शीत पदा का छेप कर दे ॥२२॥

वक्तव्य—योगायोगान्—सम्यग्योग और 'हीनमिथ्या' योग । सम्यग्योग में रक्तस्राव की राधि रोगीका बल, रक्तद्रुष्टि । तीव्रता तथा स्थानभिन्नता के अनुसार न्यूनाधिक, हुद्ग करती है—नलोममार्णादा जिशुद्धया स्फिरत्य वा । स्फिर स्त्रावयेजन् राक्ष्य प्रसमीक्ष्य वा ॥ (चरक) । सम्यग्योग में द्रवों पर शतधौ घृत प्रयोग करना चाहिये और हीनयोग में स्फिर स्त्रावण । लिये मधु तथा हरिद्रा और गुड़ से द्रवों का घर्षण करत चाहिये—अशुद्धो स्त्रावयेत्तान् हरिद्रागुणाक्षिकैः । (वाग्भट) जलीका द्रवों पर नियुद्धी या नीम की पत्ती का सेक करने में भी रक्त का स्त्रावण होता है । अनियोग—जलीका के प्रयोग । अतियोग होने की संभावना बहुत होती है । कारण यह कि जोंक के सिर में कई छोटी छोटी मंत्रियाँ होती हैं, जिनके रस द्रवों में पहुँचना है । इस रस में हिरुडिन (Hirudin) नामक एक द्रव्य होता है । इस द्रव्य में यह गुण है कि जब वह रक्त के साथ मिल जाता है तो रक्त शीघ्र नहीं जमता । जब जोंक रक्त चूसती है तो यह द्रव्य उसके छाला के साथ दंश स्थान में जाता है । यह द्रव्य यदि जोंक के मुख में न होत

चूसा हुआ रक्त उसके मुख में जम जाता और निगलने दिया जाता है। जब जोंक त्वचा से हटा दी जाती है, तब भी ३ द्रव्य के घनरधान पर मौजूद होने के कारण रक्त का बहाव प्रबंद नहीं होता। उस अवस्था में घटाव बंद करने के लिये तथा रक्त जमाने में मदद करने के लिये तीन द्रव्य का रिपेक तथा घनरधान का उपयोग करना पड़ता है—शीतलक—रिपेचने में रक्त व जल्लोकोत्पन्नरक्त रक्तविलयनम् । (इल्लण) । न उपायों के सिवाय अंगुलिपीडन, कॉलोडियन (Collodi-um) और सोह परिहरिद (Iron perchloride) से आर्द्र होना प्रयोग, फिट्टरी और क्षार का (यथा (Silver nitrate) प्रयोग अम्लितसालाका का प्रयोग और टांका लगाना जैसे रक्त का प्रवाह बंद होता है। निधायोग—इसमें शेषरक्त सादन के लिये कषाय मधुरादि द्रव्यों का लेप करना चाहिये—शेषरक्तं कोलिष्टोभिनोमप्रसादनाय कषायमधुरादिभिः तृणैः भेदैः प्रदिश्यात् । (अष्टांगसंग्रह) ।

भ्रूचि चान्न—

क्षेत्राणि ग्रहणं जातीः पोषणं सावचारणम् ।
जलौकसां च यो वेत्ति तत्साध्यान् स जयेद्भवान् ॥२३॥

इति सुश्रुतसंहितायां सुश्रुताने जलौकावचारणीयो
नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

जलौकाओं के रहने के देश, पकड़ने की विधि, उनकी जाति, पोषण तथा उनको लगाने की विधि जो वैद्य जानता है, वह ही जलौकाओं द्वारा साध्य रोगों को जीतता है ॥२३॥

चक्षुष्य—जाति—जलौका जलवासी और स्थलवासी (Aquatic and Terrestrial) दो प्रकार की होती हैं। रक्ताव-सेक के लिये कैवल जलमंभन जलौका का ही उपयोग होता है। इसी लिये इस अध्याय के प्रारंभ में लिखा है—शीताभिवासा मधुरा जलौका वारिभवा । इसके सिवाय सविष और निर्विष ऐसे भी दो भेद हैं। अवचारणम्—यहाँ तक जोंक लगाने की विधि वर्णन की गई है। इस विधि में जिन उपयुक्त बातों का विचार नहीं हुआ है, उनका कुछ दिग्दर्शन यहाँ किया जायगा। (१) दूध-स्थान पर स्वेद करने से रक्तावसेचन में सौकर्य प्राप्त होता है। इसलिये जहाँ आवश्यक हो, वहाँ जोंक लगाने के पहले उस स्थान को गरम पानी से धोना या उपनाए स्वेद (Poultice) करना प्रयत्न है। (२) जोंक लगाने के लिये सब से उत्तम काल सवेरे होता है। संध्या या रात्रि के समय उनका प्रयोग नहीं करना चाहिये। क्योंकि जोंक लगाने के पश्चात् रक्त का जो प्रवाह होता है, उसका खयाल रात्रि के समय नहीं हो सकता। (३) बालकों में युवा मनुष्यों की अपेक्षा अधिक रक्तत्वाव होने की प्रवृत्ति होती है। इसलिये बड़ी सावधानता से ऐसे स्थान पर जोंक लगानी चाहिये कि जहाँ दबाव से रक्तप्रवाह बंद कर सकते हैं। यथा—हड्डी के ऊपर का भाग। तथा रात्रि के समय भी जोंक नहीं लगानी चाहिये। (४) जलौकाओं का प्रयोग सिरा, नेत्रप्रलक, स्तन, शिश्न, वृषण—इन मृदु स्थानों में नहीं करना चाहिये। क्योंकि सिरा से भयानक रक्तस्राव होने की भीति होती है और अन्य स्थानों में गोथ उत्पन्न होता है। (५) बाल्यावस्था में प्रत्येक दो साल आयु के लिये

एक जोंक पर्याप्त होती है। युवावस्था में साधारणतया छः जोंक और अधिक से अधिक दस तक जोंक लगा सकते हैं। (६) जिस समय आवश्यक संख्या में जोंक नहीं मिल सकती, उस समय निम्न उपाय को अंगीकार करके थोड़ी जोंकों से अधिक जोंकों का कार्य हो सकता है। जोंक लगाने के बाद जब वह रक्त से करीब परिपूर्ण हो जाती है, उस समय उसकी पूँछ के पास सूची द्वारा छेद करना। इससे एक तरफ जोंक रक्त चूसती रहती है और दूसरी तरफ रक्त का प्रवाह होता रहता है। इस उपाय से जोंक रक्त से परिपूर्ण होने के पश्चात् हटाने की तथा उसको निचोड़ कर फिर लगाने की आवश्यकता नहीं होती। तत्साध्यग—जलौका शोथनिवारक (Anti phlogistic) और रक्तसंचयहारक होती है, जो स्थानीय रक्तहरण करके ये कार्य किया करती है। जलौका ग्रंथियां, आवरण कला (Serous membrane), त्वचा, अस्थि—इनके शोथ में बहुत लाभ करती है। इसलिये फुफ्फुसगोथ (Pneumonia), फुफ्फुसावरणगोथ (Pleurisy), हृच्छोथ (Myocarditis), हृदयावरणगोथ (Pericarditis), कर्णामूलग्रंथिगोथ (Parotitis), कर्णगोथ, यकृच्छोथ, मस्तिष्कगोथ, मस्तिष्कावरणगोथ (Meningitis), संधिगोथ, गलान्त्रग्रंथिगोथ (Tonsillitis), विद्रधि, मोच, आघात से रक्त जम जाना—इन रोगों में इसका उपयोग किया जाता है। इनके सिवाय दुःसाध्य चमन कौड़ी प्रदेश पर जोंक लगाने से कभी कभी बंद हो जाता है। शिरःशूल कनपटी पर जोंक लगाने से बंद होता है। अतिसार तथा अर्घ्य में गुदा के पास जोंक लगाने से कुंथन तथा वेदना कम हो जाती है। छाती तथा उदर के शूल में शूल के स्थान पर जोंक लगाने से आराम मिलता है। नेत्रामिष्यंद, श्वेत-मण्डलगोथ (Scleritis), दृष्टिवनिकागोथ (Iritis) इत्यादि नेत्र के रोगों में कनपटी पर अपांग (Outer canthus) के समीप जोंक लगाने से लाभ होता है। अष्टांग-हृदय के निम्न (प्रतिनस) श्लोक में जलौकासाध्य रोगों के नाम दिये हैं—गुल्मार्शोविद्रधिकुष्वातरक्तगलामयान् । नेत्ररुचिपवी-सर्पान् शमयन्ति जलौकतः ॥

इति शास्त्ररश्मिणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतभाषाटीकायां सूत्रस्थाने जलौकावचारणीयो नाम
त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

चतुर्दशोऽध्यायः ।

अथातः शोणितवर्णनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से शोणितवर्णनीय अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

तत्र पाञ्चभौतिकस्य चतुर्विधस्य पद्मस्य द्वि-
विधवीर्यस्याष्टविधवीर्यस्य चाऽनेकगुणस्योपसुक्त-
स्याहारस्य सम्यक्परिणतस्य यस्तेजोभूतः सारः
परमसूक्ष्मः स रस इत्युच्यते ॥२॥

पञ्चभूतात्मक, चतुर्विध, पद्मसूक्ष्म, द्विविध या अष्टविध

वीर्यात्मक और त्रनेकगुणात्मक यथाविधि भोजन किये हुए आहार का योग्य परिपाक होने से जो प्रसादस्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म सार बनता है, वह रस कहलाता है ॥२॥

चक्रव्यय—पाचभौतिक—पृथिव्यादि पञ्चभूत द्रव्ययुक्त—पञ्चभूतात्मक देह अथवा पाचभौतिक ॥ चतुर्विध—पेष, लेष्ट, भक्ष्य और भोज्य । पदरस—मधुरादि पद रस । द्विविधवीर्य—शीत और उष्ण वीर्य । अष्टविधवीर्य—शीत, उष्ण, क्षिप्त, रूक्ष, विण्णद, पिच्छिल, मृदु और तीक्ष्ण वीर्य । अनेक गुण—शीतादि बीमगुण—गुणान्द-दिमस्तिग्मभक्षणसान्द्रशुद्धिसिद्धि । गुणा सम्यग्भविशास विंशति सवि पयंया ॥ (अष्टामहद्वय) । उपयुक्त्य—आहारविधिविधान के अनुसार भोजन किये हुए । तेजोभूत—शुक्र या घृत की भाँति प्रसादाद्य । तत्र आहारप्रसादादयो रस । (चरक) । परमपुत्र्य—यथाविधि सेवन किये हुए भोज्य पदार्थों का शोषण तथा साष्ठीकरण के लिये दो बातों की अत्यन्त आवश्यकता होती है । पहली बात यह है कि उन पदार्थों का अत्यन्त सूक्ष्म कणों में भौतिक विघटन होना चाहिये । यह कार्य दाँतों से चर्बण, पाचक रसों का अलाय तथा आत्र के आकुचन से होता है । जो पदार्थ इस प्रकार महीन नहीं बनते हैं, वे पोषणयोग्य होते हुए भी शोषित नहीं हो सकते और अन्य त्याज्य पदार्थों के साथ गुदद्वारा से बाहर निकल आते हैं । इसका कारण यह है कि इन खाद्य पदार्थों को शरीरपोषण के लिये आन्त्र की शैम्पिक कला में से होकर रक्त में पहुँचना पड़ता है । इसलिये जो पदार्थ उस कला में से प्रवेश करने योग्य सूक्ष्म नहीं बनते हैं, उनका भोजन में होना या न होना बराबर है । सम्यक्परिणतस्व-दूसरी बात यह है कि इन खाद्य पदार्थों की सम्यक् परिणति या पचन होना आवश्यक होता है । यह पचन लाला, जाठर रस, पित्त, आन्त्र रस, अम्लदायक रस—इनकी क्रिया से होता है । पचनक्रिया द्वारा मूल पाच्य पदार्थों का रासायनिक विच्छेपण होकर नये छोटे अणुवाले यौगिक बनते हैं, जो आन्त्र की शैम्पिक कला में से होकर रक्त में पहुँचते हैं । इस प्रकार की विच्छेपण क्रिया के बिना शरीररूपी इमारत नहीं बन सकती है । इसका कारण यह है कि जो पदार्थ हम सेवन करते हैं, उनसे अत्यन्त निम्न प्रकार के पदार्थ शरीर में होते हैं । जब तक उपाद्य पदार्थों की छोटे अणुवाले यौगिकों में परिणति नहीं होती, तब तक शरीर के पदार्थ इनसे नहीं बन सकते । यदि एक पुराने मकान से नया मकान बनाना चाहें तो प्रथम पहले मकान का परिवर्तन हैटें, चूना, मिट्टी इत्यादि यौगिकों में करना चाहिये । तत्पश्चात् उन में से नये मकान के लिये योग्य समाने का उपयोग करके नया मकान बनाकर लाज्य पदार्थों को चँक देना चाहिये । शरीर में ही खाद्य पदार्थों की परिणति होने के पश्चात् वे शैम्पिक कला में से रक्त में पहुँचते हैं । फिर इन परिणत पदार्थों से शरीर के सेत्र अपने विविध प्रकार के पदार्थ बना लेते हैं । परिणति के समय जो शरीर के नये अयोज्य होते हैं, वे मूल्य में शरीर के बाहर उल्लसित होते हैं । तत्र—शरीरपोषण योग्य खाद्य पदार्थों का पाचक रसों द्वारा विच्छेपित अणु । रस का हृदय में पहुँचने का मार्ग—खाद्य पदार्थों में मांस जातीय (Proteins), मेदजातीय (Fat) और शरीराजातीय (Carbohydrates) पदार्थ अधिकांश होते हैं । इनके गिराव

जल और रनिज पदार्थ भी होते हैं । इनमें से मेदजातीय पदार्थों के रस का शोषण शुद्ध आन्त्रस्थ रसाकुलों (Villi) द्वारा होकर वह रस प्रथम रसपत्रा (Cisterna chyli) में पहुँचता है । वहाँ से मुख्य रसकुल्या में जो होकर जहापरा सिरा में (Subclavian vein) रक्त के साथ मिलता है और उसका महासिरा के द्वारा हृदय में पहुँच जाता है । मांस और चर्कराजातीय पदार्थों का रस प्रतिहारिणी सिरा के सूक्ष्म शाखाओं (Portal tributaries) में से होकर रक्त के साथ यकृत में पहुँचता है । वहाँ इस रस के ऊपर यकृत रस का कुछ कार्य होने व पश्चात् वह रस अधरा महासिरा (Inferior vena cava) द्वारा हृदय में मिलता है । रनिज पदार्थ और जल सिरा तथा रक्तिका पाहिनियो द्वारा हृदय में आते हैं । इस प्रकार आहार का रस दो निम्न मार्गों द्वारा हृदय में पहुँचता है ।

तस्य च हृदयं स्थानं; स हृदयाद्युत्तुर्विंशति-धमनीरनुप्रविश्योर्ध्वगा दश दश चाधोगामिन्यथ तद्भ्रष्ट तिर्यग्गाः कृत्स्नं शरीरमहरहस्तपयति वर्धयति धारयति यापयति चाहृष्टहेतुकेन कर्मणा ॥३॥

उस रस का स्थान हृदय है । यह रस हृदय से चौबीस धमनियों में, जो दश ऊपर की, दश नीचे की और चार तिरछी गई हैं, प्रवेश कर किसी अज्ञात कर्म के प्रभाव से सारे शरीर को दिन प्रतिदिन सूक्ष्म करता है, बढ़ाता है, धारण करता है, यापन करता है और सजीव रखता है ॥३॥

चक्रव्यय—स्थान-रस निन्तर यमनवीथी है—अहरहंश्च-तीत्यतो रस । यह एक स्थान से चलकर शरीर भर में घूम घामकर पुन वहाँ लौट आता है, एक जगह नहीं ठहरता । परिभ्रमण का प्रारंभ शरीर के एक विविध स्थान से होता है और उसी स्थान पर रस फिर लौटकर आता है । परिभ्रमण के लिये शक्ति भी उसी स्थान से मिलती है । इसलिये स्थान का अर्थ परिभ्रमण, प्रारंभ का स्थान तथा परिभ्रमण के लिये शक्तिदायक स्थान करना चाहिये । चतुर्विंशतिधमनी—हृदय से निकलने वाली चौबीस धमनियों का विवरण शरीरस्थान के धमनीव्याकरण अध्याय में किया गया है । प्रत्यक्षशरीर की दृष्टि से हृदय से केवल एक महाधमनी (Aorta) निकलती है, जिससे सबे शरीर के लिये छोटी मोटी बरीब छत्तीस धाराएँ निकलती हैं । अष्टहेतु-केन वर्धना—प्राक्तनकर्मणा । पूर्वकर्मप्रभाव के अनुसार रस शरीरपोषण का कार्य विया करता है । जब पूर्वकर्म नष्ट हो जाता है, तब रस से शरीर का धारण नहीं होता और मृषु हो जाती है । मरण प्राणिनां इष्टमायु षष्ठोमवशवात् । (शाम्भट) ।

तस्य शरीरमनुसरतोऽनुमानाद्भक्तिरुपलक्षयितव्या क्षयवृद्धिर्दृष्टते । तस्मिन् सर्वशरीराययवदो-पधानुम्लानशयानुसारिणि रसे जिशासा-किमयं सौम्यमैजस ? इति । अन्रोच्यते—स यानु द्र्यायु-सारी स्नेहनीयनतर्पणधारणाद्विभिर्विदोषैः सौम्य हृदयवगम्यते ॥४॥

(गारे) शरीर में परिभ्रमण करने वाले उम रस की गति (शरीर की) शक्ति, वृद्धि और विरुद्धि के द्वारा अनुमान से

जाननी चाहिये । उस समस्त शरीर के अंग प्रत्यंग, द्रोप, धातु, मल और आशयों में पहुँचने वाले रस के संबंध में यह जिज्ञासा होती है कि यह रस सौम्य है या आम्ल ? इसमें यह कहा जा सकता है कि रस द्रव, भ्रमणशील, स्निग्ध, जीवनीय, वृत्तिकारक और धारक इत्यादि विशेष गुणों से सौम्य ही प्रतीत होता है ॥४॥

वक्तव्य—शरीर के भीतर अत्यंत सूक्ष्म रस की गति का ज्ञान दर्शनेन्द्रिय से नहीं होता । अतः रसगति की सत्यता सिद्ध करने के लिये दूसरा प्रमाण अनुमान पेश किया है । क्षयवृद्धिवैद्यैः—शरीर या शरीर के एक भाग का क्षय होने से रसगति का हीनयोग, शरीर की वृद्धि होने से सम्ययोग और संपूर्ण शरीर में या एक भाग में विकृति होने से गति का अयोग या मिथ्यायोग समझना चाहिये । श्लिष्यमाणः खैवगुण्याद्रसो सज्जति यत्र सः । तस्मिन् विकारं कुल्ले खे वर्षमिव तोयदः ॥ यदि रस गतिमान् नहीं होता तो अनाहार से शरीर का क्षय नहीं होता । यथाविधि आहार करने से शरीर की वृद्धि नहीं होती और रस की गति कुंठित होने पर विकार होने की आवश्यकता नहीं थी । जब ज्ञय, वृद्धि और विकृति शरीर में प्रत्यक्ष है, तब इनका कारणस्वरूप रस भी अनुमान से गतिमान् है । मल—मूत्र, शकृत्, स्वेद । आशय—ये पुरुषों में सात और स्त्रियों में आठ होते हैं—वाताशयः, पित्ताशयः, श्लेष्माशयो, रक्ताशय, आम्लाशयः, पक्वाशयो, मूत्राशयः, स्त्रीणां गर्भाशयोऽष्टम शति । धातु—रसासृज्ज्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः ।

स खल्वाप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य राग-मुपैति ॥५॥

भवतश्चात्र—

रञ्जितास्तेजसा त्वापः शरीरस्थेन देहिनाम् ।

अव्यापन्नाः प्रसन्नेन रक्तमित्यभिधीयते ॥६॥

वह जलरूप रस यकृत् और प्लीहा में प्राप्त होकर लाल हो जाता है ॥५॥ मनुष्यों के शरीर में रहने वाले विशुद्ध तेज से लाल हुआ यही प्रसादरूप अन्नरस रक्त कहलाता है ॥६॥

वक्तव्य—उपर्युक्त वर्णन के अनुसार रस और रक्त का संबंध निम्न समीकरण से प्रदर्शित किया जा सकता है—
आप्यरस+रंजकद्रव्य=रक्त । अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा रक्त की परीक्षा करने पर रक्त के दो भाग दिखाई देते हैं । (१) तरल भाग, इसको रक्तरस (Plasma) कहते हैं । यह एक हल्के पीले रंग का रस होता है । इसमें शरीरपोषक पदार्थ, ल्याज्य पदार्थ, आक्सीजन, कार्बन डायोक्साईड, खनिज पदार्थ, शरीररञ्जक पदार्थ मिले हुए रहते हैं । (२) रक्तकण—ये कण तीन प्रकार के होते हैं—लाल कण, श्वेत कण और सूक्ष्म कण (Platelets) । इनमें लाल कणों की संख्या श्वेत कणों से बहुत अधिक होती है और इन ही के कारण रक्त का वर्ण लाल होता है । अलग अलग कणों का रंग पीला सा होता है । परंतु जब बहुत से कण इकट्ठे हुए देखे जाते हैं, तब रंग लाल दिखाई देता है । ये कण आकार में गोल चपटे विद्वमध्य होते हैं । इनकी मोटाई $\frac{1}{300}$ इंच होती है । एक घन सहस्रांश मीटर

(जो एक बूंद के साठवें अंश के बराबर होता है) रक्त में इनकी संख्या ५४००००० होती है और सर्व शरीर में २५०००००००००००० होती है । यह एक केवल अनुमान है । इसमें प्रकृति बयोमान के अनुसार करोड़ों का फर्क हो सकता है । इन कणों के भीतर एक रंग होता है और इसी रंग के कारण ये कण तथा रक्त भी लाल रंग का दिखाई देता है । इसको कणरंजक या 'हीमोग्लोवीन' कहते हैं । यह ग्लोवीन (Globin) नामक प्रोटीन और हीमाटीन (Haematin) नामक रंगद्रव्य का एक योगिक है । इस में कार्बन, हायड्रोजन, आक्सीजन, नायट्रोजन और लोहा भी होता है । यह रंगद्रव्य आक्सीजन वायु से रासायनिक प्रीति रखता है और रक्त की शुद्धि करके शरीर का स्वास्थ्य चिरंतन करता है । रंजकद्रव्य की उत्पत्ति—आयुर्वेदिक कल्पना के अनुसार रस का रंजन रंजक पित्त से होता है । इस रंजक पित्त का स्थान यकृत् और प्लीहा है—
रजकं तु यकृत्प्लीहोत्तरसं शोणितं नयेत् । पाश्चात्य परिभाषा की दृष्टि से इस का अर्थ यह है कि रक्तकणों की उत्पत्ति यकृत् प्लीहा में हुआ करती है । शरीरकार्य विज्ञान में इस विषय की बहुत खोज करने के पश्चात् यह निश्चित हुआ है कि जन्मोत्तर मनुष्य के शरीर में लाल कणों की उत्पत्ति रक्तमज्जा (Red marrow) में होती है । यह रक्तमज्जा विशेष कर कशेरु, उरःफलक, पशुं क और कपाल की अस्थि में होती है । यकृत् और प्लीहा में रक्त की उत्पत्ति गर्भावस्था के मध्य काल से जन्म के पूर्व एक महीने तक हुआ करती है । तत्पश्चात् यह कार्य रक्तमज्जा में प्रारंभ होता है, जो जन्मभर जारी रहता है । जन्मोत्तर यदि विशेष आवश्यकता हो तो प्लीहा और यकृत् में रक्तोत्पत्ति कार्य फिर हो सकता है (In times of emergency the liver and spleen may resume this blood forming function. Wrights, Applied Physiology) इसके सिवाय रक्तोत्पत्ति के संबंध में यकृत् के एक विशेष कार्य का भी कुछ पता चल गया है । बहुत कुछ खोज करके यह अनुमान किया गया है कि जन्मोत्तर यद्यपि यकृत् प्रत्यक्ष रक्तोत्पत्ति में भाग नहीं लेता तथापि रक्तमज्जा को अपने रक्तोत्पत्ति के कार्य में यकृत् से उत्तेजना मिलती है जिससे रक्तकणों का नाश होने के कारण जो क्षति होती है, उसकी पूर्ति आवश्यकता के अनुसार रक्तमज्जा कर सकती है । The fact that the rate of formation of new red cells keeps pace with the rate of their destruction indicates that there must be some stimulus which acts appropriately on the red marrow, we do not know what the nature of this stimulus is but some facts suggest that it may be of a chemical nature and may emanate from the liver, Starling's Physiology । इसी तत्त्व के अनुसार दुष्प्राणदुरोग में आजकल यकृत् सेवन का प्रयोग बहुत किया जाता है और उस से लाभ भी बहुत होता है । सुश्रुत में भी रक्तपित्त में यकृत् सेवन करने के लिये कहा है—अतिनिश्चुरतत्त्वा वा क्षौद्रयुक्तं पिबेदसकं । यकृदा भक्षयेदाजमामं पित्तसमायुतम् ॥ इस विषय में कुछ और भी यह राय है कि केवल उत्तेजना ही नहीं तो पूर्ण

प्रगल्भ रक्त कर्णों के लिये उपयोगी कुछ द्रव्य भी यहून् दगिता है। (It (liver) may stimulate the marrow to provide mature red cells or it may provide a constituent which is essential for the maturation

परन्तु इस परिवर्तन का मुख्य स्थान अस्थियों की रक्तमज्जा है। प्रवर्धन—प्रकृतिस्थेन। शरीरस्थेन तेजसा—यद्वृत्तहीना (और मज्जा) में होने वाले रक्त पित्त से।

रसादेव स्त्रिया रक्तं रज संशं प्रवर्तते।

तद्वर्षाद्द्वादशादूर्ध्वं याति पञ्चाशतः क्षयम् ॥७॥

आर्तचं शोषित त्वाग्नेयम्, अग्नीपोमीयत्वाद्गर्भस्य ॥

स्त्रियों के रजस्रक्त आतेव रक्त की प्रवृत्ति इसी रस से होती है और यह आर्तच बारह वर्ष की आयु के पश्चात् प्रकट होकर पचास वर्ष की आयु के पश्चात् बंद हो जाता है ॥७॥ परंतु आर्तचयोगित आग्नेय है। क्योंकि गर्भ अग्नि और सोम के संयोग से बनता है ॥८॥

वृत्तव्य—एव सक्त रक्तम्—इसी को आर्तच कहते हैं। आर्तच रक्तमय स्त्राव है जो स्त्री जब जवान होने लगती है तब उसके गर्भाशय से प्रतिमास बहने लगता है। आर्तच का पहली बार निकलना रजोदर्शन कहलाता है। रजोदर्शन इस बात का चिह्न है कि स्त्री अब जवान होने लगी है। उस समय से स्त्री के शरीर पर यौवनारस्था के चिह्न अधिक दृश्यात् होने लगते हैं और भीतर बीजकोष (Ovary) से पक्वीज बाहर आने लगते हैं। रजोदर्शन का काल साधारणतया १२-१४ वर्ष की आयु तक होता है। परंतु इस काल में जलवायु और सभ्यता के अनुसार फर्क होता है। शीतप्रधान प्रदेशों में उष्णप्रधान प्रदेशों की अपेक्षा रजोदर्शन देर में होता है। सामाजिक अबस्था, रहन-सहन का ढंग, शिक्षण इत्यादि बातों में जो लड़कियाँ अमसर होती हैं, उनमें रजोदर्शन शीघ्र होता है। चंचल और नाशुक-प्रकृति लड़कियों की भी रजोदर्शन शीघ्र होता है। जिन्हें शारीरिक परिश्रम कम करना पड़ता है, पंडितिक और उत्तेजक भोजन खूब मिलता है, शहर की गन्दी बत्ती में रहना पड़ता है, उन लड़कियों को विपरीत प्रकार की लड़कियों की अपेक्षा रजोदर्शन जल्दी हुआ करता है। निकल और रोगावरथा में रजोदर्शन देर में होता है। प्रथम रजोदर्शन से ४५-५० वर्ष की आयु तक की प्रतिमास रजत्वला होती रहती है। सगर्भावस्था में और प्रसव के पश्चात् कई महीनों तक स्त्रियाँ रजत्वला नहीं हुआ करतीं। ४५-५० वर्ष के बीच में आर्तच निकलना स्वाभाविक तौर से बंद हो जाता है। प्रतिमास आर्तच निकलने से पहले गर्भाशय की क्षैणिक कला में रक्त अधिक उपचित हो जाता है। इस के कारण गर्भाशय की कला मोटी, शून् और पिलिपिली हो जाती है। फिर उस कला में से रक्त बाहर निकल आता है। यह किंचित् काले रंग का और शारीय होता है। उत्तम क्षैणिक कला के टुकड़े, गर्भाशय संश्रिया का धार और स्ततिक के लक्षण इत्यादि दृश्य होते हैं। प्रतिमास रजस्रक्त तीन से पाँच दिन तक और उमरक प्रतिमास तीन या चार घण्टा तक

होता है—मासेनोपचिन काले धमनीभ्यां तदार्तचम्। ईषत्कृष्ण विग्न च बभूवोनिमुल नयेत् ॥ (सुश्रुत)। मासात्रिषिष्टाहास्तिवच राजानुषिच। नैकानिचहुलात्त्वत्पगतव शुद्धमासिरेत् ॥ (चरक)। रसादेव—रजस् और शुक्र दोनों में कई बातों का सारस्य होता है। रजस् और शुक्र दोनों गर्भात्पादक होते हैं, दोनों एक महीने के बाद उत्पन्न होते हैं—एव मासेन रस शुभीभवति स्त्रीणा चार्तचम् परंतु शुक्र जैसे रस रक्तादि परम्परा में मज्जा से उत्पन्न होता है, वैसा आर्तच नहीं होता। वह स्त्रीधा रस से ही उत्पन्न होता है। इसलिये 'रसादेव' लिखा है। शु—यद्यपि आर्तचयोगित धातुयोगित की भांति सौम्य रस से ही उत्पन्न होता है तथापि वह रस की भांति न सौम्य है, न धातुयोगित की भांति अनुष्णगीत होता है। यह भेद प्रदर्शित करने के लिये 'तु' शब्द का प्रयोग किया है। आग्नेय—गर्भ सौम्य शुक्रकीट और आग्नेय स्त्रीबीज के संयोग से उत्पन्न होता है—'सौम्य शुक्रप्रार्तचमाग्नेयम्'। (घा अ ३)। आर्तचयोगित का गर्भात्पत्ति में प्रत्यक्ष संश्रय नहीं है। परंतु स्त्रीबीज परिपक होने से इसका अवश्य संश्रय होता है। क्योंकि—मासिक स्त्राव अधिकतर उस समय होता है, जब कि परिपक बीजकोष (Ovary) के बाहर निकल आता है। अत आग्नेय बीज के साथ संश्रय रखने के कारण आर्तचयोगित भी आग्नेय होता है। यह भी आर्तच का शुक्र जो सौम्य है, उससे दूसरा भेद है।

पाञ्चभौतिकं त्वपरे जीवरक्तमाहुराचार्याः ॥९॥

विस्त्रता द्रवता रगः स्पन्दनं लघुता तथा।

भूम्यादीनां गुणा ह्येते दृश्यन्ते चात्र शोषिते ॥१०॥

कई आचार्य जीवरक्त को पचमहाभूतात्मक मानते हैं ॥९॥ इस रक्त में भूम्यादि पाँच तत्वों के गुण दिखाई देते हैं। यथा—आमगद्य भूमि का, पतलापन जल का, मुरखी तेज का, स्पन्दन वायु का और हलकापन आकाश का गुण है ॥१०॥

वृत्तव्य—जीवरक्त—इसका अर्थ जीवनपोषकयोगित या

का अर्थ

रसाद्रक्त ततो मांसं मांसान्मेद्. प्रजायते।

मेदसोऽस्थि ततो मज्जा। मज्जा. शुक्र तु जायते ॥११॥

तत्रैषा (सर्वे) धातूनामप्रपानरस प्रीणयिता ॥१२॥

रसज्ञ पुरुषं विद्याद्रसं रसेत्प्रयत्नतः।

अन्नापानान्ध मतिमानाचार्यासायन्तन्द्रित. ॥१३॥

रस से रक्त बनता है, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से शुक्र बनता है ॥११॥ इन सब धातुओं का तंत्रण अन्नपानजनित रस ही करने वाला है ॥१२॥ मनुष्यशरीर को रस ही से उत्पन्न हुआ समझो। इसलिये बुद्धिमान् को आहार, पान और आचार का पालन सावधानता से करके रस की रक्ष रक्षा करनी चाहिये ॥१३॥

शुक्रव्य—प्राणार्थ श्लोक में आहाररस से शरीर के अन्याय धातुओं का पोषण किम क्रम से होता है। इसका वर्णन किया है। इस विषय संबंध में तीन वाद आयुर्वेद में प्रच-

लित हैं—१ क्षीरदधिन्याय, २ केदारीकुल्यान्याय, ३ खलेकपो-
तन्याय । (१) क्षीरदधिन्याय—इस न्याय के अनुसार जो शरीर
के पोषण का क्रम मानते हैं, उनका यह कहना है कि यथा
संघर्षी दूध से दही बनता है, दही से मक्खन बनता है, मक्खन
से घी बनता है और घी से घृतमण्ड बनता है तथा संघर्षी आहार-
रस से रक्त, रक्त से मांस इत्यादि धातु एक के पश्चात् एक
क्रम से उत्पन्न होते हैं । इसलिये हमको 'क्रमपरिणाम पक्ष'
भी कहते हैं । यह क्रम निम्नपद्धति से चलता है । प्रत्येक धातु
के मूल, स्थूल और अणु ऐसे तीन परिणाम हुआ करते हैं ।
भोजन किये हुए अन्न का मूल चिटा और मूत्र होता है और
सार भाग रस होता है । इसको पोषक रस भी कहते हैं ।
अंग्रेजी में इसको काइल (Chyle) कह सकते हैं । इस रस का
पचन होने से मूल कफ उत्पन्न होता है, स्थूल भाग रस होता
है और अणु भाग रक्त बनता है । स्थूल भाग में जो रस बनता
है, उसको पोष्य रस भी कहते हैं । अंग्रेजी में इसको प्लाज्मा
(Plasma) कह सकते हैं । पोषक रस से नवीनोत्पन्न रक्त का
पचन होने के पश्चात् मूल पित्त होता है, स्थूल भाग रक्त
बनता है और अणु भाग मांस होता है । इस नवीनोत्पन्न मांस
का पचन होने से नासा कर्ण नेत्र इत्यादि स्थानों के मूल मल-
रूप में उत्पन्न होते हैं, स्थूल रूप मांस बनता है और अणु
भाग मेद होता है । इस नवीनोत्पन्न मेद का पचन होने से
लेद मूल निकलता है, स्थूल भाग मेद होता है और अणु भाग
अस्थि है । इस अस्थि का पचन होने से केश लोम श्मश्रु मल
स्वरूप निकलते हैं, स्थूल भाग अस्थि होता है और अणु भाग
मज्जा होता है । इस नवीनोत्पन्न मज्जा का पचन होने से
आँखों का कीचड़ और त्वचा का स्नेह मलस्वरूप निकलता
है, स्थूल भाग मज्जा है और अणु भाग शुक्र होता है । इस
शुक्र का पचन होने पर भी मूल नहीं मिलता है, स्थूल भाग
शुक्र होता है और स्नेह भाग ओज होता है । अष्टांगहृदय में
ओज को शुक्र का मूल माना गया है—कफः, पित्तं, मलः, लेपु,
प्रसेदो, नखरोम च । स्नेहोऽक्षित्विवाशामौजो धातूनां क्रमशो मलाः ॥
सुषुप्तरण के लिये ऊपर वर्णन किया हुआ अर्थ श्लोकों से कहा
जाता है—स्थूलसूक्ष्ममलैः सर्वे भिद्यन्ते धातवस्त्रिधा । स्वः स्थूलोऽशः
परः सूक्ष्मरतन्मलं याति तन्मलः ॥ स्वासिभिः पच्यमानेषु मलः पदसु
रसादिषु । न शुक्रे पच्यमानेषु हेमनीवाश्रये मलः ॥ (डल्हण) ।
(२) केदारीकुल्यान्याय—इस न्याय वाले लोगों का यह कहना
है कि जैसे वगीचे का जल की नालियों करके या खेत
का नहरों करके प्रथम समीपवर्ती भाग तत्पश्चात् दूरवर्ती भाग
एक ही जल द्वारा सींचा जाता है, वैसे आहाररस बाहिनियों
द्वारा शरीर में परिभ्रमण करते समय प्रथम रक्त समान अंश
से रक्त का पोषण करता है, मांस समान अंश से मांस का
पोषण करता है । इस प्रकार समान अंश से समान धातुओं का
पोषण उत्तरोत्तर करता रहता है । इस न्याय के अनुसार
आहाररस ही सर्वे धातुओं का पोषण करता है । (३) खलेकपोत-
न्याय—इस न्याय वाले लोगों का यह कहना है कि जैसे धान्य
कटने के स्थान (खलिहान) में इकट्ठा हुए कवृत्तर भिन्न भिन्न
मागों से अपने अपने स्थानों में शीघ्र या देरी से स्थान की
दूरता या समीपता के अनुसार पहुँचते हैं, वैसे आहाररस

भिन्न भिन्न वीतसों द्वारा शरीर के भिन्न भिन्न धातुओं का
पोषण जल्दी या शीघ्र किया करता है ।

इन तीनों का विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि तीनों
में धातुपोषणक्रम के संबंध में एकवाक्यता है, मतभेद केवल
पोषक धातु के संबंध में है । पहले पक्ष में पूर्व धातु उत्तर धातु
का पोषक होता है और दूसरे तथा तीसरे पक्ष में रस धातु
अन्य धातुओं का पोषक है । द्वितीय पक्ष में रस एक ही मार्ग
से सर्वे धातुओं का पोषण करता है और तृतीय पक्ष में भिन्न
भिन्न मार्गों से पोषण करता है । इन में से क्रमपरिणाम पक्ष
चरकसंमत है । इस पक्ष का विशेष विवरण ग्रहणीचिकित्सिता-
ध्याय में 'रसादक ततो मांसम्' इत्यादि से प्रारंभ कर पन्द्रह श्लोकों
में किया गया है । इसके सिवाय 'धातवो हि धात्वाद्धारः प्रकृति-
गनुवर्तन्ते' (सु. अ. २८) । 'स्रोतसां च यथास्वेन धातुः पुष्यति धातुना'
(च. वि. अ. ८) इत्यादि पोषक वाक्य भी मिलते हैं । द्वितीय पक्ष
सुश्रुतसंमत है—'तत्रैषां सर्वधातुनामत्रपानरसः प्रीणयिता' । 'स खडु
शीणि शीणि कशसहसाणि' इत्यादि । तृतीय पक्ष बृह्य पदार्थों के
कार्य विवरण के लिये होता है, अन्यथा उसकी कोई खास
आवश्यकता नहीं है । इन तीनों के अतिरिक्त अरुणदत्त की
सर्वांगसुन्दरी में 'एककालधातुपोषणपक्ष' का उल्लेख किया है ।
इस पक्ष की धातुपोषण की कल्पना पाश्चात्य धातुपोषण उपपत्ति
के साथ मिलती है । पाश्चात्य धातुपोषण की कल्पना—हम जो
अन्न सेवन करते हैं, उसमें शरीरधातुपोषण के लिये उपयोगी
सर्व पदार्थ उपस्थित रहते हैं । इनका जठराग्नि से पचन होने
के पश्चात् जो सार उत्पन्न होता है, उसका शोषण आन्त्र से
होकर वह सिरा तथा लसिका वाहिनियों द्वारा हृदय में
पहुँचता है । वहाँ से वह हृदयसंकोच के साथ सर्व शरीर पर
एक ही समय में फैलता है । जिस धातु के पास यह रस पहुँचता
है, वह धातु अपने पोषण योग्य अंश का ग्रहण करके वर्धित
होता है । इस प्रकार एक ही समय में शरीर के सर्वे धातु अन्न
रस से वर्धित होते हैं । इस प्रकार जो पोषक भाग रस का नष्ट
होता जाता है, उसकी पूर्ति प्रतिदिन अन्नसेवन से की जाती है ।
इसलिये पाश्चात्य कल्पना एक काल धातुपोषण के पक्ष में है,
क्रमपरिणाम पक्ष में नहीं है । अष्टांगसंग्रह में यही कल्पना
एकीय मत से वर्णन की है—'एवमत्ररस एव साक्षात् सर्वधातून्
केनचिदेव कालभेदेन पुष्पाति । न पुनर्धातवो धात्वन्तरतां स्वरूपोप-
मंदनं प्रतिपद्यन्त इति ॥ शरीरके धातु—पाश्चात्य शारीरकार्ये विज्ञान
के अनुसार मनुष्यशरीर की बनावट एक मकान की बनावट
सदृश है । जैसे मकान अनेक छोटी छोटी ईंटों से बनता है, उसी
प्रकार मनुष्य का शरीर भी छोटी छोटी अत्यन्त सूक्ष्म ईंटों से
ही बनता है । इन शरीर के ईंटों को सेल (Cell) कहते हैं ।
आयुर्वेद में भी यही कल्पना है और सेल के लिये आयुर्वेद में
शरीर परमाणु शब्द का प्रयोग किया गया है—शरीरावयवास्तु
परमाणुभेदेनापरिसख्येया भवन्त्यतिवहुत्वादतिसौक्ष्म्यादतीन्द्रियत्वाच्च ।
(चरक. शा. ७) । प्राचीन काल में ये शरीर परमाणु अतीन्द्रिय
थे । परन्तु आज सूक्ष्मदर्शक यंत्र की सहायता से ये सर्वेदृश्य
हो गये हैं । आकार के अनुसार इन सेलों के दस पंद्रह प्रकार
किये गये हैं । एक प्रकार के सेलों के समुच्चय को जो बहुधा
एक विशेष कार्य करता है, धातु (Tissue) कहते हैं । आयुर्वेद

में शरीर के धातु सात माने गये हैं । पाश्चात्य शारीर में केवल चार धातु मानते हैं । शरीर के हर एक अंग में बहुधा सभी धातु थोड़े थोड़े पाये जाते हैं । (१) मांस धातु—आधुनिक मस्य धातु और यह धातु एक है । जिस धातु में आवश्यकता के अनुसार सिकुड़ कर छोटा और फिर लवा होने का गुण होता है, उसे मांस धातु कहते हैं । इसी धातु से शरीर की सब गतियाँ होती हैं । अँग्रेजी में इसको मस्स्युलर टिश्यू (Muscular tissue) कहते हैं । (२) आच्छादक धातु—इसी धातु से हमारे शरीर की बाह्य त्वचा, श्लेष्मिक त्वचा तथा आचर्यों के बाह्य और आन्ध्यन्तर आवरण बने हुए हैं । यह धातु शरीर के भीतरी अंगा की बाँकेने वाला होता है । इसलिये इसको आच्छादक धातु कहते हैं । इसी से हमारा शरीर की रक्षा भी होती है । अँग्रेजी में इसको एपिथेलिअल टिश्यू (Epithelial tissue) कहते हैं । (३) स्योनिक धातु—यह धातु शरीर के भिन्न भिन्न अंगा का सयोग और यथन किया करता है । इसलिये इसको सयानिक धातु कहते हैं । अँग्रेजी में इसे (Connective tissue) कहते हैं । इसके कई उपधातु होते हैं । यथा—रक्त, दन्तकवच (Dentine) अस्थि, रक्तसास्थि, लसिका धातु (Lymphoid tissue), मेद, स्थितिस्थापक धातु (Elastic tissue) तातव धातु (Fibrous tissue) इत्यादि । आधुनिक पाँच धातुओं का समावेश इसी वर्ग में होता है । वान धातु—मस्तिष्क,

भवति चात्र—

अष्टादशसहस्राणि सङ्गृह्याद्वास्मिन् समुच्चये ।
फलानां नवतिः प्रोक्ता स्वतन्त्रपरतन्त्रयोः ॥१६॥
स शब्दाच्चिञ्जलसन्तानप्रदुष्टाना विश्लेषणाधा-
वत्येवं शरीर केवलम् ॥१७॥

रस गतिनाचक धातु है । (अन्नपान का सार) त्रिभिन्न चलता रहता है, इसलिये 'रस' कहलाता है ॥१४॥ वह रस एक एक धातु में ३०१५ कला तक डटता है और इस तरह एक महीने में रस (पुरुषों में) शुरु में परिणत होता है और स्त्रियों में आतेव में परिणत होता है ॥१५॥ इस (रस से बरिय बनने के) समुच्चय में इस तन्त्र तथा अन्य तन्त्रों के अनुसार भी १८०९० कला समय लगता है ॥१६॥ वह रस शब्द, तेज तथा जल के विसार की भाँति ममल शरीर में अल्पतन सूक्ष्मरूप से प्रवेग करता है ॥१७॥

यत्कथय—आहार से शुरु की उत्पत्ति में सुधुन के अनुसार एक महीने की अवधि आवश्यक है । आहाररस से धातु-रस एक ही दिन में उत्पन्न होता है । तपश्चात् प्रत्येक धातु के लिये पाँच पाँच दिन की आवश्यकता होती है । शरीर के भीतर इन धातुओं की उत्पत्ति अट्ठय होने के कारण इस विषय में कई मतभेद दिखाई देते हैं । वई आचार्य आहार-रस से रसादि धातुओं की उत्पत्ति एक दिन में मानते हैं, कई छ दिनों में मानते हैं—केचिदाहारात्पश्चदहस्येरे । मातेन यानि शुक्लवन्नन पाचनमग्निः ॥ (वाग्भट) । आहारोऽप्यनो

से सवेदना तथा सूचनाएँ ले जाने का काम होता है । यह कार्य और दूसर किसी धातु से नहीं होता । आधुनिक में शारीरिककष्टया इस धातु का उल्लेख नहीं है । शरीरकाय विज्ञानकष्टया वात के कार्य इस धातु के कार्य से मिलते हैं । सर्वधानुनाम्—रसादिमेधाधानुनाम् । अन्नपान के पचन से जो रस बनता है, वह पाचक रस है । उसे अँग्रेजी में काल्ड (Chyle) कह सकते हैं । दूसरा रस जो सर्व शरीर में परिभ्रमण करता है, वह प्रथम धातु है । इस धातु का पाषण अन्नपान रस से होता है । इस को रक्त रस या प्लाज्मा (Plasma) कहते हैं । इस रक्त रस से अन्य रसादि धातुओं का पाषण होता है, जिस से इसकी पोषणशक्ति प्रतिदिन घटती जाती है । इस शक्ति की पूर्ति प्रतिदिन सेवन किये हुए अन्नपान के रस से हुआ करती है । इसलिये सत्रय रसादि सप्तधातुओं का पोषण आहाररस से ही जाता है । पाश्चात्य नवीन शारीरकाय विज्ञान के अनुसार भी वह कल्पना ठीक है । चरक में लिखा है—सुध्वनि क्षाणम रणक्षरान्निसन्निधमनस्यनियमप्रगुणी भवति ।

तत्र 'रस' गती धातु, जहद्गर्गच्छतीत्यनो रसः ॥१४॥
स रन्तु त्रीणि त्रीणि कलासहस्राणि पञ्चदश च फला एवैवस्मिन् धाताप्यतिष्ठते; एव मामेन रसं गुणीभवति त्रीणि चार्त्तवम् ॥१५॥

यथाशुक्लवन्नन पाचनमग्निः ॥ (वाग्भट) । आहारोऽप्यनो यथाशुक्लवन्नन पाचनमग्निः । रोगितलव लयीवसि धनुषे मन्नामग्निः । मेदरत्न पचने, शोषे लसियल, महमे वनेत् । नञ्जना, शुक्लमेति दिवसे लट्टमे नृपान् । तस्मादि ध्यानव्याभ्यामाहारान्वा नृणां शुभम् । सप्तारोप्य शुध्वनि प्रदुशान्त च धातुः ॥ (पराशर) । पाश्चात्य शारीर कार्ये विज्ञान के अनुसार रसादि धातुओं की उत्पत्ति के लिये निश्चित काल कहना कठिन है । प्रतिदिन आवश्यकता के अनुसार शरीर में रसादि सर्व धातुओं की उत्पत्ति हुआ करती है, यह मत अधिक प्रचलित है । यही मत इङ्ग्लेण्ड के चरक-सहिता में कुछ पद्यों से लिया है—नन्वा कोशधानुनां परिचि स्तु चरकम् । (चरकसंहिता) । भोगे उपरुके तति धातुनां रसादीनां चरकव परिचिर्त्तवति । अविभज्नां समुत्पत्तिर्गुणो भवति । ता दृष्टान्नेन तु परिचि विज्ञानियम श्रेयति ॥ (चक्रवर्त्तटीका) । मनुष्य का शरीर अनन्त परमाणुओं (Cell) का बना हुआ है । इनमें से सर्व धातुओं के मिल कर असंख्य तैल प्रतिदिन गठ हाते हैं । कई शास्त्रों में यह अनुमान से निरू किया है कि हमारा कुल शरीर सात वर्षों की अवधि में नया बन जाता है अर्थात् हमारा शरीर में सात वर्ष के पन्ने जो धातु थे, उनका लेगमात्र भी आज उनमें मौजूद नहीं है । तथा आज हमारे शरीर में जो धातु है, वे सात वर्ष के बाद इसी शरीर में नहीं पाए जायेंगे । इन गठ हुए धातुओं की प्रति अक्षरतः प्रतिदिन हाती रहती है । कुछ धातुओं का नाश अत्रिक होता है और कुछ धातुओं का कम होता है । यदि केवल रक्त का विचार किया जाय तो प्रतिदिन १००००००००००० लाल कण गठ होते हैं । इतलिये शरीर के सर्व धातुओं की उत्पत्ति सतप्रमाण

आत्मप्रभाव । यदि बिना अपवाद के आहाररस से एक महीने में शुक बनना तो बार्नीकरण औषधियों का सेवन करना न्यय है । इसलिये बतलाया गया है कि वे औषधियाँ अपने प्रभाव और कीर्षे से शुक्रोत्पत्ति का कार्य शीघ्र कराती हैं । यह केवल वार्नीकरण औषधियों के सन्ध में ही नहीं सम्भवता चाहिये । अन्य औषधियाँ भी अपना कार्य अपने विशेष प्रभाव से बहुधा एक दिन में किया करती हैं—भाव बरोत्यहोपाय कर्मान्तरि मेधम् । (वाग्भट) ।

यथाहि पुष्पमुतुलस्यो गन्धो न शम्यमिहा-
स्तीति बहूमयो नैवानैव चास्तीति, अथवाऽ(च)
स्ति, सतां भानानामभिव्यक्तिरिति कृ(शा)त्वा, केवल
सौक्ष्म्यान्नाभिव्यज्यते, स एव पुष्पे त्रिवृतपत्रकेशरे
कालान्तरेणाभिव्यक्ति गच्छति, एवं वालानामपि
घय.परिणामाच्चक्रुत्प्रादुर्भासो भवति, रोमराज्या
दयश्च विशेषा, नारीणां रजसि चोपचीयमाने
शने शने. स्तनगर्भाशययोन्मभिवृद्धिर्भवति ॥१९॥

जैसे फूल की कभी कली में यह नहीं कहा जा सकता है कि इस में गंध है या नहीं है । परन्तु गंध है (यही कहना ठीक है) क्योंकि बसुन्त होने वाले पदार्थों का प्रादुर्भाव हुआ ही करता है । केवल अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण यह व्यक्त नहीं होता है । कुछ काल अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण यह ब्यक्त नहीं होता है । कुछ काल अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण यह ब्यक्त नहीं होता है । तब गंध भी प्रकट हो जाता है । ऐसे ही बालकों की अवस्था बढ़ने पर शुक तथा रोमराज्यादि विशेष प्रकट हो जाते हैं । स्त्रियों में भी अर्धव प्रादुर्भाव होने पर धीरे धीरे स्तन, गर्भाग्य, योनि आदि की वृद्धि होती है ॥१९॥

यत्तद्व्य-विशेष-श्री और पुरुष दोनों जब यौवनावस्था में पहुँचने लगते हैं, तब उनके शरीर पर उम्र अवस्था के निर्दोष विशेष चिह्न दिखाई देते हैं । पुरुषों में दाढ़ी और शूँठे निजलने लगती हैं, कनकल और गुदा भाग पर बाल जमने लगते हैं, स्वरपत्र की वृद्धि होती है और स्वर भी बढ़ जाता है । स्त्रियों में भी स्तनगर्भाग्य वृद्धि के सिवाय भग स्थान पर बाल जमने लगते हैं और मानसिक दशा में भी परिवर्तन होकर हल्का हल्का भाव उत्पन्न होते हैं । शुक और रज शरीर के अति अग्रों में उत्पन्न होते हैं, वे यौवनावस्था के प्रारम्भ से धीरे धीरे कार्यक्षम हो जाते हैं । वे अन्न शुक और रज के अनिश्चित एक एकी बन्य बनते हैं, जो रज के साथ मिलकर शरीर के विविध अग्रों में पहुँचती हैं और उनको प्रकट तथा शुद्ध बनाती हैं । उनी के कारण यौवनावस्था के विशेष भी उत्पन्न होते हैं । उम्र वस्तु को अन्त मार (Internal Secretion) करते हैं ।

स एथाग्ररसो वृद्धानां (जरा)परिपक्वशरीररन्त्वा
द्वीणल्लो भवति ॥२०॥
बरी मध का एक वृद्धाना में मनुष्यों का शरीर परिवर्तन हो जाने के कारण सुष्ठिपक्व नहीं होता है ॥२०॥
यत्तय-वृद्धानां में शरीर परमाणु या गैल पुराने हो जाने के कारण अथवा का प्रदान पक्व और उत्पत्ति के रूप में उम्र में कुछ असमर्थ हो जाते हैं तथा रजवाहनी

धमनियों, धमनिराओं और केशिकाओं में कठिना (Scler) उत्पन्न होती है जिस के कारण रस का संचार शरीर के भागों में नहीं हो पाता ।
कि
The man is as old as his arteries । इस कार्य से वे अक्षरशः शरीर की सुष्ठि नहीं कर सकता ।

त एते शरीरधारणाद्वातव इत्युच्यन्ते । तेषां स
वृद्धी शोणितनिमित्ते, तस्मात्तदधिकृत्य वक्ष्याम ॥
ये शरीर को धारण करते हैं, इस कारण से धातु बढ़ते हैं । इनका सप और वृद्धि रज के अधीन है । इसलिये रज संवध में (अव) कहेंगे ॥१९॥

वक्तव्य-जले-रसादि सप्त पदार्थ । धातु-पदाई । शब्द का यौगिक अर्थ बतलाया गया है । आयुर्वेद में व और उपधातु दो शब्द होते हैं । रसादि सप्त धातु हैं और वे धातु स्वचा बसा इत्यादि सप्त उपधातु होते हैं—रज रजसो रजसव्य कण्डर । मत्स्यस्य तत्र पद च मत्स्युत्पत्त्ये ॥ अरधो दन्तात्पया मन्द क्वा भोपक्ष सान्ध धातुभ्यश्चोपनयने तस्मात्ते उपधातव ॥ दोनों भी शरीर का धारण करते हैं । परतु धातु धारण के साथ साथ पोषण भी करते उपधातु नहीं करते हैं । शिखराम अपनी व्याख्या में लिखते हैं—धातुगम्यवृद्धेर्धोपधोपधनिमित्तत्वात्, तेन मे शरीर धारण धातुधुष्णानि रजसव्यम एव मुख्यतया धातुधरशाया न सन्धरते ते हि शरीर धारणयन्ते ननु विचित्रं पुष्पानि । उक्त हि भोके-नि स्तुरन सन्धतयो गतिविनिता । धातुभ्यश्चोपनयने एव उपधातव ॥ 'धारणात् धातु' इत्यु योगार्थे के अनुमार अंग्रेजी इस का रूपान्तर कनेक्टिव टिश्यु (Connective tissue) होता है और आयुर्वेदिक मधेरातु मास और शुक छोड़ कर इसी वर्ग में आते हैं । शुक एक शरीर के विविध भाग का धारण है । इसको पोषणार्थ वेधक में धातु नहीं मानते । परतु सधे धातुओं का पोषण रज रज से ही होता है । परतु क्रिमाय धातु नहीं मिलता, उस समय शरीर के कुछ धातु बचा मास, मेद, अस्थि, स्वचा इत्यादि शरीर के महत्व के अंश को जस्तु पोषण करते हैं । प्राणियों पर अनुपन्न का प्रयोग के इस बात को प्रत्यक्ष किया गया है । शयुद्धी रजसव्य रसादि धातुओं की वृद्धि तथा क्षति शोणित के उत्तर क्रिया होती है । क्योंकि रज का नाश होने से अरशाभि मेद हो जाती है । हमने आहार का पचन ठीक नहीं होता और रज भी नहीं बनता, क्रियते सधे धातुओं का सप हो जाता है । धातु धारण करने रज मन्द सन्धतयत् । परम्व पर येन वनि तत्सु (सुश्रुत) । नवीन शरीरकार्य विज्ञान के अनुसार शरीर में निर्माण मधेरा (Anabolism) और विधेरा (Katabolism) दो क्रियाएँ होती रहती हैं । मधेरा से शरीर में उत्पत्ति, पुराने तंत्रों के क्षय पुराने पदार्थों के उत्पत्ति इत्यादि शरीर निर्माण की क्रियाएँ अभिन्न होती हैं । विधेरा से मधेरा की विपरीत क्रियाएँ होती हैं । मधेरा और विधेरा भौतिक और जैविक (Biological) क्रियाओं द्वारा होता है ।

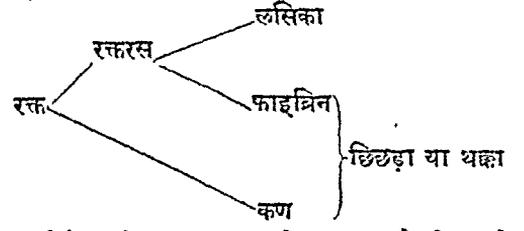
और वृद्धि के लिये दोनों क्रियाओं की आवश्यकता है । तथा में संश्लेषण विश्लेषण की अपेक्षा अधिक होता है, शरीर की वृद्धि होती है । मध्यमावस्था में दोनों होते हैं, जिससे शरीर न घटता है न बढ़ता है । वृद्धा- में संश्लेषण से विश्लेषण अधिक होता है, जिससे शरीर जाता है । इन क्रियाओं से शरीर में कई त्याज्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जिनका शरीर के बाहर निकलना अत्याव- है । इनमें से एक कार्बन डायोक्साईड है । इसका फुफ्फुस के द्वारा होता है । बिना शक्ति के ये क्रियाएँ हो सकती हैं । यह शक्ति पदार्थों के 'आक्सिडेशन' (oxidation) से उत्पन्न होती है । आक्सिडेशन के लिये सज्जन या प्राणवायु की आवश्यकता होती है । यह प्राण- शरीर में वायुमंडल से फुफ्फुसों द्वारा पहुँचती है । आक्सि- से जो शक्ति उत्पन्न होती है, उसका कुछ भाग उपयुक्त करने में व्यय हो जाता है और शेष भाग उष्णता के में रहता है । वायुमंडल से प्राणवायु लेकर शरीर के अंगों पहुँचाना और अंगों में बना हुआ कार्बन डायोक्साईड बाहर वायुमंडल में छोड़ देना, यह कार्य शोणित के लिये नहीं हो सकता । शोणित की रचना पीछे सूत्र पांच शीका में बतलाई गई है । उससे यह मालूम होगा कि रक्त सुखी लाल कणों के कारण होती है और लाल कण भीतरी ग्लोबुलिन के कारण लाल दिखाई देते हैं । यह कणरंजन वायुमंडल से आक्सिजन का ग्रहण फुफ्फुस में करता है । उसी समय ग्रहण करने के पहले कार्बन डायोक्साईड छोड़ देता है । शरीर के अंगों में इसके विरुद्ध क्रिया होती । उस समय आक्सिजन को छोड़ कर कार्बन डायोक्साईड ग्रहण करता है । इस प्रकार यह कार्य शरीर में जारी रहता है । इस द्रव्य की कमी हो जाने से शरीर के भीतर उप- कार्य नहीं हो सकते, जिससे धातुओं की वृद्धि नहीं होती और उनका क्षय प्रारंभ होता है । इसलिये ग्लिवा है कि—

तत्र, फैनिलमरुखं कृष्णं पल्पं तनु शीघ्रगमस्कन्दि च वातेन दुष्टं; नीलं पीतं हरितं श्यावं विस्त्रमनिष्टं पिपीलिकामक्षिकाणामस्कन्दि च पित्तदुष्टं; नैरिको- दकप्रतीकांशं क्षिग्रं शीतलं बहलं पिच्छिलं चिर- स्रावि मांसपेशीप्रभं च श्लेष्मदुष्टं; सर्वलक्षणसंयुक्तं काञ्जिकाभं विशेषतो दुर्गन्धि च सन्निपातदुष्टं; पित्तवद्रकेनातिकृष्णं च;) द्विदोषलिङ्गं संसृष्टम् । (जीवशोणितमन्यत्र वक्ष्यामः) ॥२२॥

वायु से वृषित हुआ रक्त भागदार, किंचित् लाल रंग का, काला, रुखा, पतला, जल्दी बहने वाला और न जमने वाला होता है । पित्त से विगड़ा हुआ रक्त नीला, पीला, हरा, काला, मांसगंधी, चींटी और मक्खियों के लिये अप्रिय तथा न जमने वाला होता है । कफ से विगड़ा हुआ रक्त गेरू के जल के समान, चिकना, ठंडा, गाढ़ा, चिपचिपा, मंदगति से बहने वाला और मांसपेशी के समान दीखने वाला होता है । त्रिदोषों से विगड़ा

हुआ रक्त (उपर्युक्त) सर्व लक्षणयुक्त, कांजी के समान, विशेष कर दुर्गन्धयुक्त होता है । रक्त दोष से विगड़ा हुआ रक्त पित्त से विगड़े हुए रक्त के समान परंतु अधिक काला होता है । जिस में दो दोषों के लक्षण होते हैं, वह दो दोषों से विगड़ा हुआ समझना चाहिये । जीवशोणित का वर्णन दूसरे स्थान में करेंगे ॥२२॥

वक्तव्य—अस्कन्दि—स्थानत्वरहित । स्वस्थावस्था में रक्त शरीर के भीतर अपने आप नहीं जमता, परंतु शरीर से बाहर निकलने के पश्चात् शीघ्र जम जाता है । जब रक्त की यह जमने की शक्ति नष्ट हो जाती है, तब उसको अस्कन्दि कहते हैं । जमने के समय रक्त में विशेष रासायनिक परिवर्तन होकर उसके दो भाग हो जाते हैं । एक भाग रक्त रस या लसिका (Serum) है, जो तरल और किंचित् पीले रंग का होता है । दूसरा भाग थक्का या छिछड़ा है, जो गाढ़ा होता है और रक्तकण तथा फाइब्रिन (Fibrin) से बनता है ।



रक्त जमने के लिये आवश्यक पदार्थ—रक्त जमने के लिये खटिक के लवण (Calcium Salts), फाइब्रिन और थ्रोम्बिन (Thrombin) नामक तीन पदार्थों की जरूरत होती है । इन में से खटिक रक्त में उपस्थित होता है । फाइब्रिनोजेन (Fibrinogen) नामक दूसरा पदार्थ भी रक्त में होता है, जिस का परिवर्तन थ्रोम्बिन की सहायता से फाइब्रिन में होता है । थ्रोम्बिन रक्त में नहीं होता । रक्त शरीर से बाहर निकलने के पश्चात् श्वेतकण और सूक्ष्मकणों (Blood platelet) के बिनाश से एक विशेष पदार्थ उत्पन्न होता है । उसके और खटिक क्षार के संयोग से थ्रोम्बिन उत्पन्न होता है । यह थ्रोम्बिन फाइब्रिनोजेन पर कार्य कर फाइब्रिन बनाता है । यह द्रव्य अनघुल होने के कारण रक्त से बाहर निकल आता है । यही रक्त के जमने का कारण है । शरीर में जब इन पदार्थों की कमी होती है, तब रक्त जमने में देर होती है । शरीर के भीतर रक्त नहीं जमता । इसका कारण यह माना गया है कि यकृत में एन्टीथ्रोम्बिन (Anti thrombin) नामक पदार्थ बनता है, जिस की रक्त में उपस्थिति होने से जमने की क्रिया नहीं हो सकती । चिरस्रावि—इसका एक अर्थ ऊपर दिया है । इसका अर्थ यह भी हो सकता है—देर तक बहने वाला । सामान्यतया त्वचा में सूई से छेद करके जो रक्त का स्राव होता है, वह ढाई मिनट में बंद होता है । इसको रक्तत्वण काल (Bleeding time) कहते हैं । परंतु कई रोगों में (Purpura, Scurvy, Haemophilia) यह स्वण काल आधे घंटे तक या इस से भी अधिक हो जाता है । अस्कन्दन और चिरस्वण बहुधा दोनों बराबर होते हैं । जीवशोणित—शरीरन्द्रियसत्त्वात्म- संयोगाश्रयरक्त (इल्हण) । चिकित्सास्थान के वमन विरेचन व्या- पचिक्रित्तित्त अध्याय में उसके लक्षण और पहचान बतलाई गई है ।

इन्द्रगोपकप्रतीकाशमसंहतमविचर्ये च प्रकृ-
तिस्य जानीयात् ॥२३॥

जो धीरवहूदी के समान लाल रंग का हो, न बहुत पतला
न बहुत गाढ़ा हो, किंचित् विविध वर्ण का हो, उसे स्वामाविर्भू-
शुद्ध रक्त समझना चाहिये ॥२३॥

चक्रदृश्य—अर्धवर्णम्—नात्यच्छ नन्विपनम् । (दृश्यम्) ।
अविचर्यम्—अविकृतवर्णम् (हाराण्यचन्द्र) । रश्मिर्विषवर्णम्, ज्वेन
पथालचक्रप्रतिबिम्बम् । शुक्राण्यवर्णम् च विशुद्धविद्धि रोगिणम् ॥ (धरक) ।
शुद्ध रक्त का रंग लाल होने का कारण यह है कि रक्तकणों में
जो रक्तद्रव्य होता है, उसका प्राणवायु के साथ संयोग
(Oxyhaemoglobin) होने से उसका रंग अधिक लाल
हो जाता है । अब इस रंग का संयोग कार्बन डायोक्साइड के
साथ (HbCO) होता है तब रक्त का रंग काळा हो जाता
है । इस प्रकार का रक्त केवल सिरामों में होता है और शुद्ध
रक्त धमनियों में होता है । शुद्ध रक्त न बहुत पतला, न बहुत
गाढ़ा होता है । इसका गुरुत्व १०५५ के लगभग है । इसका
अर्थ यह है कि जितने जल का भार १००० तोला होगा उतने
रक्त का भार १०५५ तोला होगा । यह अपारदर्शक, स्वाद में
कुछ नमकीन, प्रतिक्रिया में क्षारीय (Alkaline reaction)
और एक विशेष प्रकार के गंध से युक्त होता है ।

विज्ञान्याप्यन्यत्र चक्ष्यामः । अथाविज्ञान्याः—
सर्वाङ्गशोफः, क्षीणस्य चाम्लभोजननिमित्तः, पाण्डु-
रोग्यशोसोदरिश्चोपिगमिरीनां च श्यथयः ॥२४॥

रक्त निकालने योग्य (रोगियों का) निर्द्वय अन्य स्थान में
क्रिया जायगा । निम्न प्रकार के शोथ में रक्त नहीं निकलवाना
चाहिये—क्षीण रोगी में अम्ल भोजन से उत्पन्न हुआ सर्वांग
शोथ, पाण्डुरोग, अर्थ, उदर, राजयश्मा रोग के शोथ तथा
गमिरी के शोथ ॥२४॥

चक्रदृश्य—अन्य-सूत्रस्थान के अर्धविषय शब्दसमाप्ताय ॥ ।

तत्र शस्त्रविज्ञावर्णं द्विविधं—प्रच्छदानं, सिरा-
व्यघ्ननं च ॥२५॥

शस्त्र से रक्त निकालना दो प्रकार का है—एक प्रच्छदान और
दूसरा सिरावेध ॥२५॥

तत्र, ऋज्वत्संकीर्णं सूक्ष्मं सममनवगाढमनुत्तान-
मनाद्यु च शस्त्रं पातयेन्मर्मसिरास्त्रायुसन्धीना-
मनुपघाति ॥२६॥

(इस में से प्रच्छदान के लिये) शस्त्र ऐसे धीरे चलाने कि
शस्त्रपद सल, एक दूसरे से अलग, क्षारीक, समान्तर, न बहुत
गम्भीर न बहुत उत्तान हो तथा स्थानिक मर्म सिरा आयु और
सन्धिबलों को हानि न पहुँचे ॥२६॥

चक्रदृश्य—वाम्भट ने प्रच्छदान की विधि ऐसी वर्णन की
है—गात्र बन्धोपरि इदं रज्ज्वा पट्टेन वा समम् । सायुज्यमभिमर्माणि
स्वल्पं प्रच्छानन्माचरोत् ॥ अर्धेदरप्रविष्टौ परैस्सिरागमिदि । न
गाग्धनत्रियमिर्न परे पदमाचरोत् ॥

तत्र, दुर्दिने दुर्दिन्दे शीतवातयोरस्विप्ने भुक्त-
स्कन्दत्वाच्छोणितं न स्रवत्यस्त्वं वा स्रवति ॥२७॥

मदमूर्च्छाश्रमातानां घातविष्णुमूत्रसंगिनाम् ।
निद्राभिभूतमीतानां नृणां नासृक् प्रवर्तते ॥
दुर्दिने में, अयोग्य शस्त्र लगने से, शीत तथा वात रज्ज्वे
बिना स्वेद दिलाये, बिना भोजन किये हुए (अवस्थाओं
(रक्त) जन जाने से शोणित नहीं निकलता या कम निक
है ॥२७॥ मद, मूर्च्छा तथा परिश्रम से पीड़ित मनुष्यों
अधोघात तथा मलमूत्र की रक्षाघट घाते मनुष्यों का, नी
व्यास तथा भययुक्त मनुष्यों का रश्मि रीक नहीं निकलता ॥

यत्कृत्वा—दुर्दिने—नातवर्षाकुलेष्वग्नि, मेघाच्छतेऽग्नि । न
विप तथा मघ से उपन्न हुआ विकार ।

तदुष्टं शोणितमर्निर्हिममाणं करण्डशोफरामद
पाकवेदना जनयेत् ॥२९॥

यह दुष्ट रक्त जो (उपयुक्त कारणों से शब्दकर्म
पश्चात् भी) नहीं निकला है चुन्की, सृजन, सुर्ली,
पाक और वेदना उत्पन्न करता है ॥२९॥

अत्युष्णेऽतिस्विप्नेऽतिविन्देऽसैर्विज्ञावितमति
प्रवर्तते; तदतिप्रवृत्तं शिरोऽभितापमान्यमधिगन्
तिमिरप्रादुर्भावं धानुत्तयमानेपकं पक्षाघातमेका
विकारं तृष्णादाहै द्विजं कासं श्वासं पाण्डुरो
मरणं चापादयति ॥३०॥

अधिक गरमी से, अधिक पसीना निकलने से, अधि
वेधन करने से तथा मूर्च्छा वैद्य के निकालने से रक्त आवरण
से अधिक निकल जाता है । यह अधिक निकला हुआ र
धिरन्ध्र, अन्धापन, अधिमन्थ, तिमिर, धानुत्तय, आक्षेप
पक्षाघात, एकांगघात, तृष्णा, दाह, द्विषकी, कास, कास
पाण्डुरोग (हृत्पादि रोग उत्पन्न करता है) और (रश्मि-
मयुक्ता कभी होता है ॥३०॥

चक्रदृश्य—अधिक रक्त का स्राव होने से शरीर पर तीव्र
परिणाम विराई देते हैं । पहला शरीर से जलाय नष्ट होता है ।
उसकी प्रति करते के लिये तृष्णा उत्पन्न होती है । दूसरा

... पुर्व्वना ।
... की क्रिया
अतिशीघ्रता से किया करता है । जब रक्त का नाश बहुत
अधिक होता है तब रोगी श्वास लेने के लिये छटपटाने लगता
है । तीव्र परिणाम यह होता है कि शरीर में कुछ अर्धों में
रक्त की कमी हो जाती है । यह अवस्था अधिउत्तर मलिक में
अधिक हुआ करता है । कारण यह होता है कि मलिक हृत्प
से ऊँचा रहता है तथा उसकी वेजिकाएँ अत्यन्त सूख जाती
होने

ह की कमी होने से आंध्य (Amblyopia) उत्पन्न होता प्राज्ञेक (Convulsions) बहुधा मृत्यु के पहले हुआ है और अन्त में संन्यास (Syncope) से मृत्यु भी जाती है । यदि रक्त का साव बहुत अधिक न हो तो पाण्डु धातुक्षय इत्यादि चिरकारी रोग उत्पन्न होते हैं । रक्तसाव लोभ का जो नाश होता है, उसकी पूर्ति थोड़े ही समय में जाती है । परन्तु कर्णों का जो नाश होता है, उसकी पूर्ति नहीं होती । अष्टाङ्गसंग्रह में उपर्युक्त उपद्रवों के अतिरिक्त उपद्रव अधिक वर्णन किये गये हैं । यथा—मूर्च्छा, संज्ञा, शिरःश्लेष्म, अम, चाधिर्घ, मन्यासंभापतानक, हनुभ्रंश । नि सव उपद्रव मस्तिष्क में रक्त की कमी होने से उत्पन्न हैं । क्षीणरक्तस्य हि वायुर्मर्माण्युपसंश्रय मूर्च्छादीन् करोति वा । (अष्टाङ्गसंग्रह) ।

भवन्ति चात्र—

मात्र शीते नात्युष्णे नास्विन्ने नातितापिते ।
तागूं प्रतिपीतस्य शोणितं मोक्षयेद्भिषक् ॥३१॥
इस कारण से न शीतकाल में, न अधिक गरमी में, न थक स्वेद दिलाकर और (भूप में) न बहुत तपाकर रक्त निकाला चाहिये और यवागू मात्रा से पिला कर रक्त निकाले ॥३१॥

म्यग्गत्वा यदा रक्तं स्वयमेवावतिष्ठते ।
इदं तदा विजानीयात् सम्यग्बिस्त्रावितं च तत् ॥३२॥
(वेध से) रक्त का सम्यक् प्रवर्तन करने के पश्चात् जब रक्त आप ही आप बंद हो जाय तब बिस्त्रावण की क्रिया शुद्ध और आशास्त्र ठीक हो गई ऐसा समझना चाहिये ॥३२॥

वक्तव्य—इस श्लोक में योग्यबिस्त्रावण का स्थानिक वर्णन किया है । शुद्ध तदा विजानीयात्—इसका दूसरा अर्थ हो सकता है—जब रक्त आप ही आप बंद हो जाता तब शरीर के भीतरी रक्त की शुद्धि हो गई ऐसा समझना चाहिये ।

प्रथमं वेदनाशान्तिर्व्याधेर्वेगपरिचयः ।
स्यग्बिस्त्राविते लिङ्गं प्रसादो मनसस्तथा ॥३३॥
शरीर में हलकापन, पीड़ा की शान्ति, रोग के वेग का क्षय और मन की प्रसन्नता ये ठीक ठीक रक्त निकलने के लक्षण हैं ॥३३॥
वर्द्धोपाग्रन्थयः शोफा रोगाः शोणितजाश्च ये ।
रक्तमोक्षणाशीलानां न भवन्ति कदाचन ॥३४॥

समय समय पर रक्त का बिस्त्रावण कराने वाले मनुष्यों में स्वचा के रोग, ग्रंथियों के रोग, रक्त के रोग कदापि भी नहीं हुआ करते हैं ॥३४॥

वक्तव्य—स्वदोष—अष्टादश कुष्ठ ग्रीतपित्त उर्द्वं कोट नीलिका न्यग न्यच्छ तिलकालकादि । ग्रंथि—अपची, कण्ठमाला, पल्लंग इत्यादि ग्रंथियों के विकार । शोफ—भिन्न भिन्न प्रकार के स्थानिक शोथ श्लेष्म इत्यादि रोग । शोणितज रोगाः—सुरपाशोऽक्षिरागश्च पूतित्राणास्वगन्धिता । शुष्मोपकुशवीसर्परक्तपित्त-प्रभेद्यः ॥ विद्रवी रक्तमेहश्च प्रदरो वातशोणितम् । वैवर्ण्यमग्निनाशश्च पिपासा सुरगात्रता ॥ सन्नापश्चात्तिदोर्बल्यमरुचिः शिरसश्च रक् । विदा-हश्चापानस्य तिकाश्लोद्विरण क्लमः ॥ क्रोधप्रचरता बुधेः संमोहो लव-

णास्यता । स्वेदः शरीरदौर्गन्ध मरुः कम्पः स्वरक्षयः ॥ तन्द्रानिद्राति-योगश्च तमसश्चातिदर्शनम् । कण्डूरकोठपिउकाः कुष्ठचर्मदलादयः ॥ विकाराः सर्व एवैते विद्रोयाः शोणिनाश्रयाः ॥ शीतोष्णालिग्नभक्ष्यैरुप-क्रान्ताश्च ये गदाः । सम्यक् साध्या न सिध्यन्ति रक्तज्ञानं तान् विभावयेत् ॥ (चरक) ।

अथ खल्वप्रवर्तमाने रक्ते प्लाशीतशिवकुष्ठ-
तगरपाठाभद्राखविडङ्गचित्रकत्रिकटुकागारधूमहरि-
द्रार्काङ्गुरनक्तमालफलैर्यथालामं त्रिभिश्चतुर्भिः सम-
स्तैर्वा चूर्णीकृतैर्लवणतैलग्रहादैर्वाणमुखमवघर्षयेदेवं
सम्यक् प्रवर्तते ॥३५॥

यदि रक्त ठीक न निकले तो प्लायाची, कपूर, कूट, तगर, पाठा, देवदारु, विडंग, चित्रक, त्रिकटु, घर का धूँआं, हलदी, आक की कोंपल, करंज के फल इनमें जो मिले तीन, चार या सत्र को पीसकर तेल और लवण में मिलाकर घण्टा के मुख पर मले । इससे ठीक ठीक रक्त निकल जावेगा ॥३५॥

वक्तव्य—शीतशिव—सैन्धव (हाराणचन्द्र), कर्पूर (उल्हण) । अष्टांगहृदय में प्लादि चूर्णों का लेप घण्टा पर करने के लिये लिखा है—असम्यक्ते सवति वेद्यव्योपनिशानतैः । सागारधूमलवणतैर्लद्विद्याच्छिरामुजम् ॥ अष्टांगसंग्रह में । सम्यक् बिल्लावण के लिये उपर्युक्त स्थानिक उपाय के अतिरिक्त पृष्ठ-पीडन करने के लिये लिखा है—पृष्ठमध्ये चातुरं पीडयेत् । एवं साधु वदति ॥

अथातिप्रवृत्ते रोधमधुकप्रियङ्गुपत्तङ्गैरिकस-
र्जरसरसाञ्जनशालमलीपुष्पशङ्खशुक्तिमापयवगोधूम-
चूर्णैः शनैः शनैर्द्रवाणामुखमवचूर्ण्यारुल्यप्रेणावपीड-
येत्, सालसर्जोर्जुनारिमेदमेपशृङ्गधवधन्वनत्वग्भि-
र्वा चूर्णिताभिः क्षौमेण वा ध्मापितेन समुद्रफेन-
लाक्षाचूर्णैर्वा यथोक्तैर्द्रवाण्यन्धनद्रव्यैर्गाढं वधीयात्,
शीताच्छादनभोजनागारैः शीतैः परिपेकप्रदेहैश्चो-
पाचरेत्, क्षारेणाग्निना वा दहेद्यथोक्तं, व्यंघनाद-
नन्तरं वा तामेवातिप्रवृत्तां सिरां विध्येत् ॥३६॥

जब रक्त निकलना बंद न होता हो तो लोध, मुलहठी, प्रियंगु, पतंग, गेरू, राल, रसोत, शालमलीपुष्प, शंख, सीप, उड़द, जौ और गेहूँ—इनका चूर्ण धीरे धीरे घण्टा के मुख पर बुरका कर अंगुली के अग्र से दवा दे । अथवा साल, राल का वृद्ध, अर्जुन, विटखदिर, मेपशृंगी, धव और धामन—इनकी छाल को पीस कर (घण्टासुख का अवचूर्णन करे) अथवा रेशमी वस्त्र जलाकर उसकी राख से (अवचूर्णन करे) अथवा समुद्रफेन या लाख हमके चूर्ण से (अवचूर्णन करे) तत्पश्चात् यथोक्त घण्टा बांधने के द्रव्यों से कसकर बांध दे । शीतल वस्तुओं से आच्छादन करना, ठंडा भोजन करना, शीत स्थान में रहना, शीतकाथादि से छिड़कना, शीतल लेप करना इत्यादि शीत उपचार करे । अथवा क्षार या अम्ल से यथाविधि दहन करे । अथवा जिस सिरा का रक्त बंद न हो, उसको यथोक्त पहले वेधस्थान के बाद दूसरे स्थान में वेध करे ॥३६॥

घक्तव्य—यदा रक्तप्रवाह बद्ध करने के लिये जो स्थानिक उपाय बतलाये गये हैं, वे ये हैं—१ शीतप्रयोग, २ उष्णप्रयोग, ३ बद्धन, ४ शोणितालम्बापक (Styptics) द्रव्यों का प्रयोग, ५ अवपीडन, ६ बधन। इन उपायों के अतिरिक्त पाश्चात्य शल्यचिकित्सा में निम्न उपायों का भी अवलम्बन होता है। ७ रक्तत्राव के स्थान को ऊँचा करना—इस का उपयोग हाथ पैर के संवध में विशेष होता है। ऊँचे किये हुए स्थान में हृदय से रक्त कम पहुँचता है, जिससे रक्त का स्राव कम हो जाता है। ८ धमनीसंदंध्य (Artery Forceps)—यह एक सरमुल और निग्रह (Catch) युक्त स्वस्तिक यन्त्र होता है। इससे सिरा या धमनी पकड़ कर रक्त का स्राव बंद किया जाता है। थोड़ी देर तक इस प्रकार पकड़ के रखने से बहुधा आप से आप स्राव बंद हो जाता है। गभीर स्थान में जहाँ अन्य उपायों को अवलम्बन करना कठिन होता है, धमनी संदंध्य से रक्तवाहिनी पकड़ कर गणवधन द्रव्यों के साथ सैसा ही एक दिन तक रक्खा जाता है। इससे बहुधा रक्तस्राव बंद ही जाता है। इस विधि को अमेज़ी में फोर्मी प्रेशर (Fore pressure) कहते हैं। (९) पीडन (Torsion)—इसका उपयोग छोटी छोटी वाहिनियों के संवध में होता है। धमनी सद्य से पकड़ कर दो तीन मतेवा वाहिनी का पीडन किया जाता है। (१०) टाँका लगाना (Ligature)—टाँका लगाने के लिये निम्न सीवन द्रव्यों का उपयोग किया जा सकता है। बहुधा आँत से बनाई गई तार का (Cat gut) उपयोग अधिक होता है। पहले सद्य से रक्तवाहिनी पकड़ कर तन्पश्चात् तान से वाहिनी कस के बांधी जाती है। इस विधि का उपयोग आयुर्वेद में होता था यद्यपि यहाँ इसका उल्लेख नहीं किया गया है। अन्य मेघदीनी शुष्कन तौंडर रवाण शकब्ध दानन्तर घनमिथ्यादिस्वनाद्रिषु युज्यन्ते। रक्त सक्तीमशय्य सरोजो निरा मिक्षुः। बद्ध्वा सान्वादिमिण्डं त्रण वक्ष्ये वेत्येयम्॥ स्वथना दन्तरमिथ्यादि—पहले वेधस्थान के समीप दूसरा वेध करने से रक्तवेग का क्षय हो जाता है, जिससे दोनों स्थान संयुचित होकर रक्त का स्राव बंद हो सकता है। परन्तु यह कोई विशेष उपचारी पदधि नहीं है।

काकोल्यादिषाथं या शार्करामधुमधुरं पाययेत्, एणहरिणोरधराशामादियमराहाणां वा रुधिरं, क्षीर-चूरसैः सुस्निग्धैश्चाश्रीयात्; उपद्रवाथ यथास्व-मुपचरेत् ॥३७॥

काकोली आदि शीशियों का हाथ गर्करा और मधु से मधुर करके पिनाये। अथवा कृष्य या ताम्र हरिण, मेंढा, मारगो, भैंसा और सूकर इनका रक्त पिनाये। क्षीर, मुत्रादि घृत और मांसरस इनका चिन्थि पदार्थों के साथ भोजन कराये और (रक्तवायु के कारण जो अन्य) उपद्रव उत्पन्न हुए हैं, उनका यथाविधि उपचार करे ॥३७॥

घक्तव्य—इस मूत्र में रक्त बद्ध करने के लिये तथा रक्त की कमी की पूर्ति कराने के लिये आग्न्तरीय उपचार चलेन किये हैं। कथं चरि—यह मूल जाते प्रथमप्रहरीय अणाय में वर्ण किया है। संन्यूरी—जिसे प्रकृतिक के रोगी में किया विरुद्ध रक्त की अति प्रवृत्ति में क्षीर भोजन देना

चाहिये। श्लेष्म प्रकृति के रोगी में किंवा श्लेष्मदुष्ट रक्त। अति प्रवृत्ति में घृत का भोजन देना चाहिये। धातु प्रकृति रोगी में किंवा वातदुष्ट रक्त की अति प्रवृत्ति में मांसरस भोजन देना चाहिये। (बद्धन)। अन्य लोग दीप्त जठराग्नि क्षीर भोजन, मध्यम जठराग्नि में घृत भोजन और मन्द जठराग्नि में मांसरस भोजन देना चाहिये, ऐसा मानते हैं।

अधिक रक्तत्राव से उत्पन्न हुए विकारों में यहाँ रक्त जो प्रयोग सेवन के लिये बतलाया है, वह बहुत ही उदात्त है। आयुर्वेद का यह एक मूलभूत सिद्धांत है कि समान द्रव्य से समान द्रव्य की वृद्धि होती है और इसलिये रक्तत्राव की अवस्था में रक्त का आध्यायन करने के लिये रक्त के सेवन जितनी शीघ्रता से यह कार्य कर सकता है, उतनी शीघ्रता से दूसरा द्रव्य नहीं कर सकता—एवमेव सर्वभद्रुपगान सामान्ययोग दूर्ध्विष्वर्षवाद्भस्म। तत्सम्बन्धमाध्यायने मतिन मूत्र स्तरमनेत्यं शरीरभानुभ्य। तथा लोहित लेहितेनैव। येदो मेरुता वना वसया। अस्थि तरणाथना। मत्रा मज्जा। शुक्र शुक्रेण। एते स्वामर्षणे ॥ (चरक० शा० ९)। पाश्चात्य वैद्यक में रक्तानुकारी हीमोक्लोबिन के कई योग पीने के लिये प्रयुक्त होते हैं। इसके सिवाय मनुष्यों के रक्त का उपयोग प्रथम सिरा द्वारा रोगी के शरीर में किया जाता है। इस विधि के ट्रांसफ्यूजन (Transfusion) कहते हैं। इसमें एक स्वस्थ मनुष्य की धमनी से शुद्ध रक्त लेकर उसका अन्तर्क्षेप रोगी के शरीर में सिराद्वारा किया जाता है। रक्त का अन्तर्क्षेप करने के पूर्व दाता मनुष्य के रक्त की परीक्षा करके, यदि वह रक्त अविरुद्ध (Compatible) मालूम हो, प्रयोग करना चाहिये। इस रक्त के प्रयोग से बहुत लाभ होता है। यदि योग्य समय पर रक्त के अन्तर्क्षेप का प्रयोग किया जाय तो सहसा रोगी की मृत्यु होने की संभावना नहीं होती। रक्त का सेवन करने से रक्तस्राव बंद होने में भी मदद मिलती है। क्योंकि रक्त में एकन्दन सहायक पदार्थ होते हैं। सांप्रत रक्त के स्थान में घोड़े की छमिका (Serum) मुख्यतया या इन्जेक्शनद्वारा रक्त का स्राव रोकने के लिये दी जाती है। उपद्रवाथ यथास्वमुपचरेत्—रक्तस्राव बंद होने के पश्चात् जो उपद्रव उत्पन्न होते हैं, वे मस्तिष्क में रक्त की कमी के कारण होते हैं। इसलिये तेरी की जितने सर सिराद्वार पर का भाग ऊँचा करके रक्ता का चाहिये, जिसमें अधिक से अधिक रक्त मस्तिष्क में पहुँच सके। यदि रोगी मूर्च्छित हो तो उसके हृत्त और टोंग संस्पर्श पट से बांधके रक्ता चाहिये ताकि धाराला में रक्त न आ सके और मस्तिष्क में संपूर्ण रक्त बना जाय। जब तक स्थानिक रक्त का स्राव तिलकुल बंद नहीं हुआ है, तब तक उष्ण और उत्तेजक औषधियाँ तथा मर्दन्धन करी, कस्तूरी इत्यादि इनका उपयोग नहीं करना चाहिये। अन्यथा हृदय का उत्तेजन होने से रक्तयावण फिर प्रारंभ होने की भीति होती है। धातुशय्यादि औषधिकारी उपद्रव होते हैं, उनको चिकित्सा आगे बतलाये हुए नियमों के अनुसार परिष्क और शोणितार्थक स्वाधोष्यादि द्वारा करना चाहिये।

धातुशय्यात् मृत्यु रजो मन्दः संजायतेऽनलः। पयनस्य परं कोपं याति तस्मान् प्रयदातः ॥३८॥

नातिशीतैर्लघुभिः स्निग्धैः शोणितवर्धनैः ।

दम्भैरनम्लैर्वा भोजनैः समुपाचरेत् ॥३९॥

रक्त का अधिक स्राव होने के पश्चात् रक्त की कमी के पाचकाग्नि मंद होती है और वायु का भी परम कोप होता है । इसलिये बड़े प्रयत्न से रोगी को न बहुत ठंडा, न, स्निग्ध, रक्तवर्धक, किंचित् खटाई युक्त या खटाई भोजन देने ॥३८-३९॥

वक्तव्य—रक्त निकले हुए रोगी की स्थिति ऐसी होती अग्नि की मन्दता, वात का प्रकोप और रक्त की कमी । स्थिति का विचार करके उसको वातगान्ति के लिये शीत और स्निग्ध खाद्य पदार्थ, अग्निमन्दता के लिये न और दीपनीय पदार्थ और रक्त की कमी के लिये ऽनुकारी नातिशीत तथा उष्ण मधुर पदार्थ देने चाहिये—उष्णशीत लघु दीपनीय रक्तेऽपनीते हितमन्नपानम् । तदा शरीर स्थितासृग्निविशेषादिति रक्षितव्यः ॥ (वाग्भट) । शोणित-विशेष कर रक्त बढ़ाने वाले । इसको अंग्रेजी में 'हीम्यास या हीम्याटिनिक्स' (Haematics, Haematinics) कहते हैं । शोणितवर्धन द्रव्यों में सब से उत्तम लोह है, क्योंकि त का रंजक द्रव्य लोह युक्त होता है । इसलिये रोगी को ह के भिन्न भिन्न योग तथा लोह युक्त खाद्य पदार्थ, यथा—आम, टोमाटो, आलू, बादाम इत्यादि देने चाहिये । दूसरा शोणित वर्धक द्रव्य संख्या या सोमल (Arsenic) है । आजकल बाजार में कणरंजक द्रव्यानुकारी कई पेटेंट औषधियाँ बिकती हैं । यथा—हीमोग्लोबिन सायरप, हीमोविन सायरप, सोमोजेन सायरप इत्यादि । इनका भी शोणितवर्धन के लिये तम उपयोग प्रमाणित हुआ है ।

चतुर्विधं यदेतद्धि रुधिरस्य निवारणम् ।

संधानं स्कन्दनं चैव पाचनं दहनं तथा ॥४०॥

ब्रह्म कपायः संधत्ते रक्तं स्कन्दयते हिमम् ।

तथा संपाचयेद्भस्म दाहः संकोचयेत् सिराः ॥४१॥

(अधिक प्रवृत्त हुए) रक्त को बंद करने के चार उपाय हैं—(१) संधान, (२) स्कन्दन, (३) पाचन, (४) दहन ॥४०॥ कपाय रस व्रण को जोड़ देता है, शीत पदार्थ रक्त को जमा देते हैं, भस्म पका देता है और दाह सिराओं को सिकोड़ देता है ॥४१॥

वक्तव्य—संधान—शस्त्र द्वारा त्वचा धमनी सिरा इत्यादि में जो छेद होता है, उसका संयोजन या घाव के किनारों को मिलाना । स्कन्दन—रक्त का जमना या गाढ़ा बनना । पाचन—सूखा करना, पूष उत्पन्न करना यह इस का अर्थ नहीं । कपाय—कपायरसद्रव्य यथा न्यग्रोध, और्दुवर, हरीतकी, लोण इत्यादि । शरीर से जो रक्त का स्राव होता है, वह धमनी, सिरा या स्रोतसँ द्वारा होता है । जब स्राव प्रारंभ होता है, तब प्रकृति अपनी तरफ से स्राव को बंद करने की कोशिश किया करती है । स्राव बंद होने में दो मुख्य कार्य होते हैं । रक्त वाहिनियों के बाहर आते ही गाढ़ा होने लगता है और उसका थक्का वाहिनी के भीतर तथा उसके बाहर जम जाता है, जिससे रक्त बाहर आने में कठिनाई हो जाती है । दूसरा कार्य वाहिनियों के दीवाल में होता है । दीवाल

संकुचित होकर वाहिनी का मुख छोटा हो जाता है । इससे रक्त जमने में मदद मिलती है तथा रक्तप्रवाह का वेग कम हो जाता है । बहुधा मामूली रक्तस्राव उपर्युक्त विधि के अनुसार आप ही आप बंद हो जाया करता है । परंतु जिस समय वह आप ही आप बंद नहीं होता, उस समय उपर्युक्त उपायों द्वारा नैसर्गिक विधि में मदद करने की आवश्यकता होती है । इनमें से कपाय रस द्रव्य रक्तगत तथा प्रणस्रावगत अल्पयूग्मिन् इत्यादि प्रोटीनों को जमाकर रक्त स्राव का निवारण करने में मदद करता है । शीत रक्त वाहिनियों की दीवाल संकोच कर रक्तस्राव का निवारण करने में मदद करता है और दाह अल्पयूग्मिन् इत्यादि प्रोटीनों को जमाकर तथा वाहिनियों को सिकोड़ कर दोनों प्रकार से रक्तस्राव का निवारण करने में मदद करता है ।

अस्कन्दमाने रुधिरं संधानानि प्रयोजयेत् ।

संधाने भ्रश्यमाने तु पाचनैः समुपाचरेत् ॥४२॥

कल्पैरेतैस्त्रिभिर्वैद्यैः प्रयतेत यथाविधि ।

असिद्धिमत्सु चैतेषु दाहः परम इष्यते ॥४३॥

जब रक्त शीतल उपचार से बंद न हो जाय तो (कपाय रस द्रव्य से) संधान क्रिया करनी चाहिये और जब संधान भी भ्रष्ट हो जावे तब (भस्म से) पाचन क्रिया करे ॥४२॥ इन तीन विधियों से ही वैद्य जहाँ तक हो सके (रक्तस्राव निवारण करने का) प्रयत्न करे और जब इनसे कार्यसिद्धि न हो तब रक्तस्राव बंद करने में अचूक ऐसे दाह का उपयोग करना चाहिये ॥४३॥

वक्तव्य—दाहः परम इष्यते—सचमुच रक्तस्राव बंद करने के लिये दाह अत्यंत जोरदार उपाय है । यदि सिरा धमनी जैसे विशिष्ट स्थान से रक्त का स्राव होता हो तो तत्प्रशलाका का उपयोग करना चाहिये और यदि तमाम व्रण से रक्त चूता हो अर्थात् केसिकाओं से रक्त का स्राव होता हो तो उष्ण जल का उपयोग करना चाहिये । इसके लिये जल की उष्णता १३०-१६० फ़ै० तक होना आवश्यक है ।

शेषदोषे यतो रक्ते न व्याधिरतिवर्तते ।

सावशेषे ततः स्थेयं न तु कुर्यादतिक्रमम् ॥४४॥

यदि कुछ दूषित रक्त शेष रह जाय तो व्याधि बढ़ नहीं सकती । इसलिये कुछ दूषित रक्त शेष छोड़ कर ही रोक देना चाहिये परंतु रक्तस्राव का अतियोग करना योग्य नहीं ॥४४॥

वक्तव्य—दूषित रक्त का जो शेष शरीर में रहता है, उसका निर्हरण यथामात्रा सींग से हो सकता है या उसका प्रसादन शीतोपचारादि से सरल हो सकता है । परंतु रक्तस्राव का अतियोग करने से दाह्य रोग उत्पन्न होते हैं—अतिशुद्धी हि मृत्युः स्याद् दाहणा वा चलाभयाः । (वाग्भट) । रक्तं सशेषदोषं तु कुर्यादपि विचक्षणः । न चातिप्रसृतं कुर्याच्छेष संशमनैर्जयेत् ॥ (सु० ब्रा०) । हेरेच्छ्र्यादिभिः शेषं प्रसादमथवा नयेत् । शीतोपचार-पित्तासृक्क्रियाशुद्धिविशोषणैः । दुष्टं रक्तमनुद्विक्तमेवमेव प्रसादयेत् ॥ (अ० हृदय) । शरीर से अधिक से अधिक रक्त निकालने का प्रमाण आयुर्वेद में एक प्रस्थ यानि साढ़े तेरह पल दिया है—

पर प्रमादमिच्छन्ति प्रस्य रोगितमोक्षणे । (सुश्रुत) । तथा रोगिण-
मोक्षणे । सार्धत्रयोदशस्य प्रथमाहूर्गनीषिा ॥ आयुनिक प्रयोगों
द्वारा भी यह प्रमाणित हुआ है कि अधिक से अधिक ६०० स्त्री
सी (करीब ५५ सोला) रक्त निकाल सकते हैं । यह
राशि प्राचीन साढ़े तरह पर के बराबर आती है ।

देहस्य रुधिर मूलं रुधिरैरुष्य धार्यते ।
तस्माद्यत्नेन संरक्ष्य रक्तं जीव इति स्थितिः ॥४५॥

रक्त ही शरीर का मूल है और रक्त से ही शरीर का
धारण होता है । इसलिये यत्न करके रक्त की रक्षा करती
चाहिये । वास्तव में रक्त ही जीव है, यह स्थिति है ॥४५॥

सुतरक्तस्य सेकाद्यैः शीतैः प्रकुपितेऽनिले ।
शोफं सतोदं कोष्पेन सर्पिषा परिपेचयेत् ॥४६॥

रि सुश्रुतसंहितायां घटस्थाने रोगिणवर्गनीषो नाम
चतुर्दशोऽध्यायः ॥१५॥

रक्त निकाले हुए मनुष्य के मणस्थान पर यदि शीतल
उपचार से वायु प्रकुपित होकर शोष और पीडा करे तो गरम
घृल से उस स्थान पर सेचन करना चाहिये ॥४६॥

रि भास्कररत्ननामा गोविन्दरामनेन विरचितायामाहुर्वेदरहस्यदीपिकायां
मुश्रनमापादीकायां रोगिणवर्गनीषो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१५॥

पञ्चदशोऽध्यायः ।

अथातो दोषघातुमलक्षयवृद्धिविघ्नानीयमध्यायं
ध्याख्यास्यामः । यथोपाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब इसके अन्तर दोष, घातु तथा मल इनके क्षय और
वृद्धि का विज्ञान जिस में हो ऐसे अध्याय का व्याख्यान करते
हैं जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

दोषघातुमलमूल हि शरीरं, तस्मादेतेषां लक्षण-
मुच्यमानमुपधारय ॥२॥

दोष, घातु और मल शरीर के मूल हैं । इस कारण इनके
लक्षण, जो यहाँ वर्णन किये जाते हैं, (एकाग्र होकर)
ध्वज करो ॥२॥

यत्कथ्य—दोष—'वायु पित्त कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः' ।
घातु—'रक्षासहस्रमणेशोऽस्त्रियमज्जाशुक्राणि चान्त' । सत इच्छा ॥

मल—मला मूत्ररक्तप्रेत्रादयोऽपि च' ॥ (वाग्मट) । मूल्य—
जैसे कि वृक्ष की वृद्धि और क्षति उसके मूल की अविकृत और
विकृत अवस्थाओं पर निर्भर होती है वैसे ही शरीर की वृद्धि
और क्षति वातादि दोष, रगदि घातु और मूत्रादि मल इनके
अविकृत और विकृत अवस्थाओं पर निर्भर होती है । इसलिये
यहाँ वातादि की मूल की उपमा दी गई है । वैद्यक में मनुष्य
शरीर की मूलना वृक्ष के साथ इमेसा होती है—ऊर्ध्वमूष्यम शल-
मूष्य पुष्पं विदु । मूष्यमशरिणलसमाद् दोगाद् शीघ्रतर केतव (वाग्मट) ।

तत्र, मरुपन्दनोद्ग्रहनपूरणविषेकघोरणलक्षणो
वायुः पञ्चधा प्रविभक्तः शरीरं धारयति ॥३॥

उपमों से प्रस्पन्दन, उद्ग्रहन, पूरण, विषेचन और धारण
हू (पाँच) लक्षणों से पुष्प वायु पाँच प्रकार से विभक्त
होकर शरीर को धारण करता है ॥३॥

यत्कथ्य—लक्षण दो प्रकार के होते हैं—स्वल्पवर्णन
त्मक और कार्ययोगात्मक । इस अध्याय में कर्मानुमेय ता
वृद्धि का ही वर्णन होने के कारण केवल कार्यात्मक लक्षण
का विचार किया गया है । वातपंचवी विशेष विवरण निदा
स्थान के प्रथम अध्याय में हुआ । पञ्चधा प्रविभक्त—(१) व्या
(२) उदान, (३) प्राण, (४) समान, (५) और अपान
प्रस्पन्दन—शरीर के चलन चलनादि कर्म । यह स्थान वायु ५
कार्य है । उद्ग्रहन—घास प्रभास तथा भाषणादि इन्द्रियार्थों के
धारण । यह उदान वायु का कर्म है । पूरण—आहार से उदा
पूरण करना । यह प्राण वायु का कर्म है । विभक्त—रस मू
पुरीष को विभक्त करना । यह समान वायु का कर्म है
धारण—शुक्र मूत्र मलादि का अनेककाल में धारण करना और
योगकाल में उत्सर्ग करना । यह अपान वायु का कर्म है ।

रागपंक्तिजेजोमेधोष्मकृत्पित्तं पञ्चधा प्रविभक्त-
मशिकर्मणाऽनुग्रहं करोति ॥४॥

रागहृत्, पन्तिहृत्, तेज हृत्, मेधाहृत् और ऊष्महृत्
ऐसा पित्त पाँच प्रकार से विभक्त होकर अग्नि का कार्य करने
शरीर को अनुग्रहित करता है ॥४॥

यत्कथ्य—रागहृत्—रस का परिवर्तन रक्त में करनेवाला
इसको 'रजक' पित्त कहते हैं । पन्तिहृत्—आहार का पचन
करने वाला । इसको 'पाचक' पित्त कहते हैं । तेज हृत्—रश्मि
उत्पन्न करने वाला—तेजो इन्द्रित्त स्थान्त । इसको 'आलोचक'
पित्त कहते हैं । मेधाहृत्—बुद्धिहृत् । इसको 'साधक' पित्त कहते
हैं । ऊष्महृत्—शरीर को उष्ण रखने वाला । इसको 'आजक'
पित्त कहते हैं । पञ्चधा प्रविभक्त—रजक, पाचक, आनोचक,
साधक और आजक भेद से पाँच प्रकार का । पाँचों प्रकार के
पित्त का वर्णन आगे पृष्ठीसर्व अध्याय में किया गया है ।
मशिकर्मणाऽनुग्रहं करोति—जैसे शरीर के बाहर अग्नि दहन पच-
नादि कर्म करता है, वैसे पित्त शरीर के भीतर अग्नि की भाँति
दहन पचनादि कार्य करके शरीर पर उपकार करता है । इसका
विशेष विवरण पृष्ठीगर्भ अध्याय के आठवें सूत्र में किया गया है ।

सन्धिघ्नं श्लेषपण्णस्नेहनरोपपुपूराखलस्यैर्यैकच्छे-
प्सा पञ्चधा प्रविभक्त उदककर्मणाऽनुग्रहं करोति ॥५॥

मन्थिमन्थेष्णकरक, शिथिलकरक, रोषक, पूक, बड
और श्लैथैकारक ऐसा कफ पाँच प्रकार से विभक्त होकर जल
की भाँति शरीर को अनुग्रहित करता है ॥५॥

यत्कथ्य—मन्थिसल्लेषण—जोड़ों में रोगन करना—श्लेश
म्यके यथा श्ले च्च सायु भवतेते सथ्य' सायु बनेने सह्य
श्लेषणा तथा ॥ इसको 'श्लेषक' कफ कहते हैं । श्लेहनक्य—मोम्य
पदाओं का श्लेहन या श्लेदन करने वाला । इसको 'श्लेदक' कफ
कहते हैं । रोषक—रोषण करने वाला । पूरणक्य—अतिपूरण
करने वाला । इसको 'तर्पक' कफ कहते हैं । बलस्यैर्यैक्य—बल
तथा शिक संधि की स्थिरता करने वाला । इसको 'जलसतक'
कफ कहते हैं । उदककर्मणाऽनुग्रहं करोति—उदक अथवा प्रका
शीतलता और पुष्टि का कार्य करता है, वैसे कफ भी उदक की
भाँति शरीर के भीतर शैथ्य और पुष्टि का कार्य करता है ।

पित्त, कफ यद्यपि एक एक ही होते हैं तथापि स्थान-
ता और कार्यभिन्नता के अनुसार भिन्न भिन्न नाम से
जाते हैं । जैसे कि एक मनुष्य भिन्न भिन्न स्थान में
भिन्न कार्य करने के कारण रसोईदार, चपरासी,
दार इत्यादि भिन्न भिन्न नामों से कहा जा सकता है ।
। दोषाः प्रत्येक पञ्चभिः प्रकारैर्भिद्यन्ते विशिष्टस्थानाश्रयेण क्रिया-
...यथैकोऽपि देवदत्तो यां यां क्रियां करोति तदनुस्मर्येवानेक
त्वावकादिनाम लभते (इत्यु) ।

रसः प्रीणयति रक्तपुष्टिं च करोति, रक्तं वर्य-
ादं मांसपुष्टिं जीवयति च, मांसं शरीरपुष्टिं
सञ्च, मेदः स्नेहस्वेदौ दृढत्वं पुष्टिमस्त्रां च,
स्थे देहधारणं मज्जाः पुष्टिं च, मज्जा प्रीतिं स्नेहं
शुक्रपुष्टिं पूरणमस्त्रां च करोति, शुक्रं धैर्यं
चनं प्रीतिं देहचलं हर्षं वीजार्थं च ॥६॥

रस शरीर का तर्पण और रक्त की पुष्टि करता है । रक्त
र वर्य का प्रसादन, मांस की पुष्टि और प्राणों का धारण
ता है । मांस शरीर और मेद को पुष्ट बनाता है । मेद
रीर में) स्निग्धता, स्वेद, दृढता और हड्डियों की पुष्टि
ता है । अस्थियाँ शरीर को धारण करती हैं और मज्जा की
ष्टे करती हैं । मज्जा प्रसन्नता, स्निग्धता, बल, शुक्र की पुष्टि
र अस्थियों (के भीतरी पोले स्थान) का भरण करती हैं ।
क (कामोद्वेग के समय पुरुषों में) धैर्यच्युति, (स्त्रियों पर)
ति, शरीर में बल, (मैथुन के समय) हर्ष और (सन्तानो-
त्ति में) वीज का प्रयोजन करता है ॥६॥

चक्रव्यय—सूत्रगत रसरक्त कार्यों का बहुत कुछ विवरण
ल्ले अध्याय में ही सुका है । मेदसञ्च—पुष्टिमिति शेषः । देह-
रण—अस्थियों से शरीर का ढाँचा बनता है, उसकी शकल
कसी रहती है, दबाव पड़ने पर उसकी आकृति में फर्क नहीं
ता तथा शरीर का भार संभाला जाता है । अभ्यंतरगतैः
रिषैषा तिष्ठन्ति भ्रूहाः । अस्विसारैस्तथा देहा धियन्ते देहिनां भ्रुवम् ॥
सुष्ठुत, शरीर) । देहबल—ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन कर वीर्य-
चय बरने से शरीर में एक विशेष प्रकार का बल उत्पन्न
ता है—ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलामः । (पातञ्जलयोगसूत्र) ।
वीजार्थं च—'वीजप्रयोजनं करोति' इति तात्पर्यः 'जैसे कि ऋतु क्षेत्रादि
वी उपस्थिति में वीज अंकुरोत्पत्ति का कार्य करता है, वैसे ही
क्षेत्रों में ऋतु क्षेत्रादि की अनुकूलता में वीर्य गर्भोत्पत्ति का
कार्य करता है । शुक्र क्या है—शुक्र एक दूधिया रंग का गाढ़ा
असदार क्षारीय प्रतिक्रिया युक्त द्रव है; जो शुक्रप्रथियों, शुक्र-
प्यासी, शुक्राशय, अण्डिलान्द्रिधि और शिश्मूलान्द्रिधियों के रसों
के मिश्रण से बनता है । यदि ताजे शुक्र की सूक्ष्मदर्शक यन्त्र
द्वारा परीक्षा की जाय तो उसमें बड़ी फुरती से दृश्य उधर
फिरते हुए असंख्य सूक्ष्म जीव दिखाई देंगे । वीज प्रयोजन का
कार्य करने के लिये शुक्र का यही आवश्यक भाग है । इनको
शुक्राणु (Spermatozoon) कहते हैं । मैथुन के पश्चात् एक
समय में जितना शुक्र निकलता है, उसमें इनकी संख्या दो
से बीस करोड़ के लगभग होती है । शुक्राणु की लंबाई

०.००० से ०.००० इंच तक होती है । उसका अगला सिरा
मोटा और अण्डाकार होता है, पिछला भाग पतला होता है
और पंछ नोकिली होती है । बलवान् शुक्राणु बड़ी तेजी से
फिरते हैं और निर्बल शुक्राणु सुस्ती से फिरते हैं । मैथुन के
पश्चात् जो शुक्राणु सब से प्रबल होता है, वही भीतर स्त्रीबीज
(Ova) तक पहुँचता है । इससे गर्भोत्पत्ति होती है । गर्भाधान
के लिये एक ही शुक्राणु की आवश्यकता होती है । शुक्र में
शुक्राणु कभी कम होते हैं, कभी ज्यादा होते हैं और कभी
होते ही नहीं । शुक्रगत शुक्राणु अनुपस्थित होने से (Azos-
permia), बहुत सुस्त होने के (Oligo spermia) या
निश्चल होने से (Necro spermia) शुक्र बीजप्रयोजक
नहीं होता अर्थात् पुरुष सन्तानोत्पत्ति नहीं कर सकते ।

पुरीषमुपस्तम्भं वाय्वग्निधारणं च, वस्तिपूरण-
विक्रेदकृन्मूत्रं, स्वेदः क्लेदत्वक्सौकुमार्यकृत् ॥७॥

मल शरीर को भीतर से सहारा देता है और वायु तथा
अग्नि को धारण करता है । मूत्र वस्ति का पूरण करता है और
शरीर के त्याज्य जलांश को बाहर निकाल देता है । स्वेद त्वचा
को आर्द्र तथा कोसल बनाता है ॥७॥

चक्रव्यय—उपस्तम्भ—अवष्टम्भ या शरीर को सहारा देना ।
राजयक्ष्मा में मल की इस शक्ति के उपलक्ष्य में लिखा है—
सर्वपातुक्षयार्तस्य बलं तस्य हि विद्वलम् । विक्रेदकृत्—क्लेदविहीन
करने वाला । अन्नक्लेदनिर्वाहणेन मूत्रम् (अ० संग्रह) । स्वेदः—
क्लेदत्वक्त्वेहरोमधारणैः स्वेदः । (अ० संग्रह) ।

रक्तलक्षणमार्तवं गर्भकृच्च, गर्भो गर्भलक्षणं,
स्तन्यं स्तनयोरापीनत्वजननं जीवचनं चेति । तत्र
विधिवत्परिरक्षणं कुर्वीत ॥८॥

स्त्रियों का आर्तव रक्त के समान लक्षणयुक्त और गर्भ-
स्थितिकारक होता है । गर्भ गर्भलक्षण उत्पन्न करने वाला
होता है । स्तनगत दुग्ध स्तन की पुष्टता करने वाला तथा
(सन्तानों का) जीवन होता है । इन (प्रकृतिस्य वातादि दोष,
रसादि धातु, मलादि मल और स्तन्यादि उपधातुओं) की रक्षा
यथाविधि करनी चाहिये ॥८॥

चक्रव्यय—गर्भकृत्—आर्तव के वास्तविक क्या क्या
प्रयोजन हैं इस विषय में आज भी निश्चिति से नहीं कहा जा
सकता । परंतु इसमें संदेह नहीं कि प्रत्यज्ञतया न होने पर भी
अप्रत्यज्ञतया वह जरूर 'गर्भकृत्' है । पहले तो यह है कि
आर्तव का स्त्रीबीज (Ova) के परिपक्व होने से बहुत कुछ
संबंध मालूम होता है । क्योंकि आर्तव अधिकतर उस समय
होता है, जब कि पक्षवीज वीजग्रंथि (Ovary) से वीजवाहि-
नियों (Fallopian tubes) में आता है । आर्तव से पहले
बहुधा वीज परिपक्व नहीं होते हैं तथा उसके पश्चात् वीजग्रंथि
लिङ्ग कर दीज निकलना बंद हो जाता है । दूसरा यह है कि
आर्तवोत्पत्ति के कारण गर्भाशय की श्रुमिक कला गर्भ
चिपकाने योग्य बन जाती है । तीसरा यह है कि आर्तव के ही
कारण उसके पश्चात् दस बारह दिन तक स्त्री के गर्भवती होने
की अधिक संभावना होती है । इसलिये इस काल को 'ग्रह-

काल' कहते हैं—कतु स्वभाविक स्त्रीणां रात्रय पीडता स्यूता । (मनुस्मृति) । चौथा यह है कि गर्भधारणा होने के पीछे आते-व-व-व हो जाता है । गर्भरक्षणम्—गर्भाशय में गर्भस्थिति होने से माता में जो रक्षण हुआ करते हैं, वे—सप्तमयी कृष्ण मुक्ता रोमराशुद्रगमस्तया । अधिपद्मापि चाप्यस्याः सतीत्यने विशेषण ॥ अकामनददर्शयति गन्धादुद्दिजे शुभात् । प्रसेकं सदन चापि गन्धियाः स्त्रियुच्यन्ते ॥ (सुश्रुत शा. अ ३) । आपीनत्वानन नम्—दुग्धावस्था में स्तनों की पुष्टि दुग्धप्रथियों की वृद्धि, दुग्धवाहिनियों की दुग्धशुण्ठता तथा मनगल मेद की वृद्धि इन कारणों से होती है । जन्मन् 'बालानाम्' इति शेष । दूध पीने वाले बच्चों के लिये माता के दूध का महत्त्व याथास्त्य से आयुर्वेद में वर्णन किया है—मातुर्वे पितृवः सत्यं तस्य देहद्वयम् । (वाग्भट) । प्रभृतिभूतवासाः पुष्टिपारोपर्यपर चरि । (चरक) । आयुनिक वैज्ञानिक खान से भी यह सिद्ध हुआ है कि दूध पीने वाले बच्चों की शरीरवृद्धि, स्वास्थ्य तथा जीवन के लिये माता के दूध से बढ़ कर समार भर में दूसरी कोई चीज नहीं है ।

अत ऊर्ध्वमेपां क्षीणलक्षणां वक्ष्यामः; तत्र, घात-क्षये मन्दोच्छ्रिताऽल्पवाक्त्वमप्रदह्यो मूढसंज्ञता च, पित्तक्षये मन्दोष्माग्निता निष्प्रभवं(ता) च, श्लेष्म-क्षये रूक्षताऽन्तर्दाह आमाशयेतरश्लेष्माशयशून्यता सन्धिशीथिल्यं तृष्णा दीर्घव्यं प्रजागरण च । तत्र स्वयोनिवर्धनान्येव प्रतीकारः ॥१९॥

अब यहाँ से इनके क्षीणवस्था के लक्षण वर्णन करते हैं । घातक्षय (की अस्थि) में शारीरिक कार्य में मन्दता, स्वल्प बोलना, अल्प हर्ष और बुद्धि की मन्दता उत्पन्न होती है । पित्तक्षय (की अस्थि) में शरीर की उष्णता कम होती है, जठराग्नि मंद हो जाती है तथा शरीर की कृति घट जाती है । कफक्षय में शरीर में रूक्षता तथा भीतर जलन पैदा होती है, आमाशय के अतिरिक्त अन्य श्लेष्माशय भी शून्य हो जाते हैं, संधियों में शिथिल्य, तृष्णा, दुर्बलता तथा जागरण भी होता है । इन (घातादि दोषों) के क्षय की चिकित्सा स्वयानिवर्धक द्रव्यों के उपयोग से होती है ॥१९॥

घक्तद्वय—आमाशयेरुष्माशयशून्यता—आमाशय श्लेष्मा का प्रधान आगय है । यहाँ अब श्लेष्मा क्षीण हो जाता है तब उरः, कण्ठ, तिर और संधियाँ वे श्लेष्मा के अन्य आगय भी शून्य हो जाते हैं । शून्यशून्य—घातादि दोष जब क्षीण हो जाते हैं तब उनके स्वाभाविक गुण और बर्मे इन की हानि हो जाती है किंवा इनके विरुद्ध गुणकर्मों की वृद्धि हो जाती है । यह सामान्य श्लेष्मा कक्षय है । अतः जो रक्षण वर्णन किये हैं, वे केवल दिग्दर्शात्मक हैं । क्षीण अर्थात् रर निद्रम् । कला प्रवृत्तता भिर्द्विर्वाग् विगर्जनम् । (चरक) । अर्धवर्धनम्—घात की घाति वायु रिक्त की घाति अग्नि और कफ की घाति उदक है । अर्धवर्धनम् अर्थात् नो मधुपानं रर अर्धवर्धनम् तथा कर्मणः सम्यक्ता चाहिये । अतः पुनः शून्यो समनदुग्धो ग्वानदुग्धुर्धुषे क्षीणवाशिरुत्तमस्तनैर्दुग्धं प्रशुनति । कर्णं र कथम् अर्धवर्धनम् इत्येतां शेषम् । शून्यो कर्णं कर्णं कर्णं कर्णं कर्णं । निष्प्रभं

मन्त्रवचकदुःखरोगोन्नीशानाम् । केषामुपे स्त्रियुच्यन्ते मान्द्रिषिद्धि लाना इत्यानाम् । (चरक) ।

रसक्षये हृत्पीडा कम्पः शून्यता तृष्णा च, शोषित-क्षये त्वक्पाच्छयमम्लशीतप्रार्थना सिराशीथिल्यं च, मांसक्षये स्निग्धगर्होष्णोपस्योरवक्षःकक्षापिण्ड कोदरप्रीवाशुष्कता रौक्ष्यतोद्री गात्राणां सद्-धमनीशीथिल्य च, मेद-क्षये ग्रीहाभिबृद्धिः सन्धि शून्यता रौक्ष्यं मेदुरमांसप्रार्थना च, अस्थिक्षयेऽस्थिशूलं दन्तनखभङ्गो रौक्ष्यं च, मज्जक्षयेऽल्पशु-क्रता पर्वमेदोऽस्थिनिस्तोद्रीऽस्थिशून्यता च, शुक्र-क्षये मेदुर्वृषण्यवेदनाऽश्नक्तिर्मथुने चिराद्वा प्रसेक प्रसेके चाल्परक्तशुक्रदर्शनम् । तत्रापि स्वयोनि वर्धनद्रव्योपयोगः प्रतीकारः ॥२०॥

रस की क्षीणता में हृदय में पीडा, कम्प (Palpitation) और शून्यता (A Sense of gono ness) तथा सूना होती है रक्त की क्षीणता में त्वचा में सुरदरापन, अम्ल तथा शीत पदार्थ सेवन करने की इच्छा और सिराओं में शिथिलता होती है । मांस की क्षीणता में कटि, कपोल, होठ, शिदन, जंघा वना स्थल, कान्त, पिंडली, उदर, गला इनमें शुष्कता, रूपापन और दर्द, शरीर में धकान और धमनियों में शिथिलता होती है । मेद की क्षीणता में ग्रीहा की वृद्धि, सन्धियों में शून्यता, रूक्षता और त्रिस्थ मांस पाने की इच्छा होती है । अस्थियों की क्षीणता में अस्थियों में दर्द, नख और दन्त की रराधी तथा रूक्षता उत्पन्न होती है । मज्जा की क्षीणता में वीर्य की अल्पता, जम्बियों और संधियों में पीडा और अरिषियों में पीलापन होता है । शुक्र की क्षीणता में शिथिल वृषण में वेदना, मैथुन के विषे दीर्घव्य, देर से वीर्यपात और उममें कुछ रक्त मिला हुआ अर्धवर्धन होता है । इन रसादि की क्षीणता में भी जिमरी क्षीणता हो, उनकी वृद्धि करने वाले द्रव्यों का उपयोग करना ही चिकित्सा है ॥२०॥

घक्तद्वय—दृग्दोष इत्यादि—दृग् वा सर्वेषु पीडा, कंठ और शून्यता के साथ होता है । रस का स्थान हृदय—अतः हृदय स्थानम्—होने के कारण पीडा, कम्प और शून्यता हृदय के विकार सम्भूता चाहिये । अतः शून्यदर्शनम्—शून्यक्षय के कारण वायु प्रशुनित होकर रक्तयुक्त धमनी में प्रवेश करके शुक्रमाग से वीर्य के साथ रक्त का भी स्वाव कराता है—शुक्रमणि वीर्यमणिरिति मैथुनमाशयस्थानम् न शुक्र प्रवर्ति । अर्धवर्धनम् अर्थात् नो मधुपानं रर अर्धवर्धनम् तथा कर्मणः सम्यक्ता चाहिये । अतः पुनः शून्यो समनदुग्धो ग्वानदुग्धुर्धुषे क्षीणवाशिरुत्तमस्तनैर्दुग्धं प्रशुनति । कर्णं र कथम् अर्धवर्धनम् इत्येतां शेषम् । शून्यो कर्णं कर्णं कर्णं कर्णं कर्णं । निष्प्रभं

तथा शिवामूलप्रंधियों का कुछ रस मिल जाता है । घर्षि इस प्रकार कई रसों का मिश्रण है । कुछ लोगों को यह कल्पना है कि आयुर्वेद के अनुसार शुक्र सर्वशरीरव्यापी है और उसके लिये शरीर में कोई निश्चित स्थान नहीं । परंतु यह कल्पना असत्य है । आज प्रत्यक्ष शरीर की दृष्टि में शुक्रोत्पत्ति और स्थिति में जो जो अवयव भाग लेते हैं, उनका स्पष्ट निर्देश आयुर्वेद में मिलता है—'शुक्रदेशे दे तयोर्मूत्रं वृषणौ' । 'शुक्रचरणानां रोगाणां वृषणौ मूलम्' । 'शुक्रवर्णान्नेशान्मरुतं शैत्यं वा' । 'शुक्रज्यं गर्भगतस्य हत्वा करोति वायुः पवनेन्द्रियस्यम्' । 'शुक्रागतद्वारविद्यमेन संस्कारणां हलनेऽपिलय' । 'शुक्रं प्रचयते न्यानामुनायं भजेऽनिरः' । 'भरण प्राणुयात्तत्र शुक्रान्मानते ज्वरे । भेषजः सत्वता मोक्षः शुक्रस्य तु विमेषः' ॥ 'कौष्यं नानिहयोऽज्ञानां भेदः धनसर्षणम् । शुक्रसमानते त्विं प्रायुक्तानि तथैव च' ॥ 'श्रेयाः पृथक् मनसा वा प्राप्य रेतोः चराः सिराः । शुक्रं सद्पृथक् वायुं तद्व्यतिभिः विभागात्' ॥ 'अनया विप्रवृत्त्या तु तेषां शुक्राणां सिराः । तेषां रक्तत्वगावन्ति पञ्चोऽप्यसतो भवेत्' ॥ 'तत्र स्त्रीपुरुषत्वयोगे चेष्टासकम्पाऽज्जात् । शुक्रं प्रचयते स्थानाज्जलमाद्रि पटाद्रिव' ॥ 'हृद्युते' दक्षिणे पार्श्वे यस्तिहारस्य चाश्वः । मूत्रोत्पत्त्याश्चक्रं पुन्यस्य प्रवर्तते' ॥ इससे यह स्पष्ट है कि 'शुक्रस्य सर्वशरीरगतत्वेन शुक्रान्यानाऽनभवादिति' इत्यादि जो टीकाकार लिखते हैं और वेद मानते हैं, वह प्रत्यक्षविरोधी और शास्त्रविरोधी कल्पना है । इसमें संदेह नहीं कि आयुर्वेद में कुछ ऐसे प्रमाण मिलते हैं, जिनके कारण उपर्युक्त कल्पना प्रसन्न हुई है । यथा—विरास्तेष्वपि देभ्यु यथा शुक्रं न दृश्यते । सर्वदेशाभितलाच्च शुक्रलक्षणमुच्यते ॥ (सुश्रुत निदान अ. १०) । रस इक्षौ यथा क्षिपि सर्पिलालं तिष्ठे यथा । सर्वानामुतं देहे शुक्रस्तरश्चने तथा ॥ यथा पयसि सर्पिलु शुक्रश्चेक्षुरस्ते यथा । शरीरेषु तथा शुक्रं नृणां विषाद भिषग्वरः । (सुश्रुत, शरीर अ. ४) । बाल्यावस्था और वृद्धावस्था में शुक्र की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिये बाल और वृद्ध मनुष्य के शव का विच्छेदन करने पर भी शुक्र का मिलना कठिन है । युवावस्था में भी यद्यपि शुक्र बनता है तथापि उस की राशि डेढ़ तोले से अधिक नहीं होती । मृत्यु के पश्चात् विच्छेदन से इस का ज्ञान होना कठिन है । इसलिये शव-विच्छेदन से शुक्र का दर्शन न होना उसके स्थानाभाव का निर्देशक समझना ठीक नहीं है । शरीरव्यापित्व के लिये दूसरा जो प्रमाण घृत और गुड़ का दिया है, उससे यह मानना उचित होगा कि शुक्र की उत्पत्ति जिस द्रव्य से होती है वह, यानि शुक्र का पूर्वगामी द्रव्य, सर्वशरीरव्यापी है । जैसे कि गुड़ का पूर्वगामी द्रव्य इक्षुव्यापी है या घृत का 'पूर्वगामी द्रव्य दुग्धव्यापी है । पूर्वगामी द्रव्य का अर्थ अन्नरस का 'शुक्रसमान श्रेया' जिस से शुक्र की उत्पत्ति होती है । महामहोपाध्याय चरित्रराज गणनाथसेन सर्वव्यापी शुक्र से 'शुक्रसार' (Internal secretion of the testicles) मानते हैं, जिसके प्रभाव से पुंस्त्वव्यंजक डाढ़ी मूँठें इत्यादि बाह्य चिह्न तथा शरीर की वृद्धि हुआ करती है । 'यथा पयसि सर्पि' रित्याद्यभिधानं तु सर्वशरीर-परं सूक्ष्मतरं शुक्रसारं लक्षयति—यस्मात् पुंस्त्वव्यंजकमशु-पौरुषाद्यति-विशेषाः संभवन्ति । तदेवं शुक्रादेर्विष्ये सिद्धे सूक्ष्मतरं शुक्रमभिप्रेत्य 'यथा पयसि सर्पि' रित्यादि प्राचां वचनं व्याख्येयम्' ॥ परंतु आयुर्वेद में सर्वव्यापी शुक्र से ही स्थूल शुक्र की उत्पत्ति मानी गई है—

तदेव चेद्युववेर्दीनत्वात् मरणादपि । शब्दसंश्रवणान् रसार्थं संदर्भाथ प्रवर्तते ॥ शब्दवेऽर्थाभिते शुक्रं प्रसक्तमनस्तत्तथा । स्त्रीषु न्यायच्छत्रथापि र्णात्तत्तत्प्रवर्तते ॥ शुक्रसारं से स्थूल शुक्र की उत्पत्ति नहीं होती । इसलिये सर्वव्यापी शुक्र से शुक्रसार की अपेक्षा शुक्र का पूर्वगामी द्रव्य मानना अधिक प्रशस्त है । सवोनिवर्धनद्रव्यो-पयोगः—समानगुण तथा समानगुणभूयिष्ठ द्रव्यों का उपयोग । इसके सिवाय धातुवृद्धिकर कर्म भी करना चाहिये । यथा—मानं मांसेन, शोभितं शोभितेनैव, मंदा मेदस्ता, वसा वसया, अस्ति तरणास्थना, मज्जा मज्जा, शुक्र शुक्रेण ॥ समानगुणभूयिष्ठ का उदाहरण—शुक्रक्षये क्षीरसर्पिपोरपयोनी मधुरश्लेष्मसगाख्यातानां चानेराणां द्रव्याणाम् । (चरक) ।

पुरीपक्षये हृदयपार्श्वपीडा सशब्दस्य च वायो-रुर्ध्वगमनं कुक्षौ संचरणं च, सूत्रक्षये वस्तितोदोऽल्पसूत्रता च; अत्रापि स्वयोनिवर्धनद्रव्याणि प्रती-कारः । स्वेदक्षये स्तब्धरोमकूपता त्वकशोपः स्पर्श-वैगुण्यं स्वेदनाशश्च; तत्राभ्यङ्गः स्वेदोपयोगश्च ॥११॥

मल की नीयाता में हृदय और पार्श्व में पीड़ा, शब्दयुक्त वायु का ऊर्ध्वगमन और उदर में वायु का संचार होता है । मूत्र के जय में वस्तिस्थान में पीड़ा और मूत्र की कमी होती है । इनमें भी इनके उत्पत्तिवर्धक द्रव्यों का उपयोग ही उपाय है । स्वेद की क्षीणता में रोमकूप बंद हो जाते हैं, त्वचा शुष्क होती है, स्पर्शज्ञान यथोचित नहीं होता और पसीना आना बंद हो जाता है । इसमें तैल का उबटन करना और स्वेद का उपयोग करना चाहिये ॥११॥

वक्तव्य—मूत्रक्षय के अन्य लक्षण—मूत्रक्षये मूत्रकृच्छ्रं मूत्र-वैवर्धमेव च । पिपासा वापते चास्य मुखं च परिशुष्यति ॥ (चरक) । स्तब्धरोमकूपता—त्वचा में दो प्रकार की ग्रंथियाँ रहती हैं, तैल-ग्रंथियाँ (Sebaceous glands) और स्वेदग्रंथियाँ । इन ग्रंथियों से एक चिकना पदार्थ त्वचा पर निकल आता है, जिसके कारण त्वचा चिकनी, चमकदार और कोमल बन जाती है । इन ग्रंथियों से जो नलियाँ निकलती हैं, वे बालों की जड़ों में पहुँचती हैं । स्वेदक्षय में रोमकूप बंद हो जाने के कारण इन ग्रंथियों का चिकना ज्ञाव त्वचा पर नहीं पहुँचता जिससे त्वचा शुष्क हो जाती है और उसी में छोटे छोटे दरार भी उत्पन्न होते हैं—स्वेदे रोमच्युतिः स्तब्धरोमता स्फुटनं त्वचः । (वाग्भट) । स्वयोनिवर्धन—पुरीप और मूत्र बहाने वाले द्रव्यों का उपयोग—पुरीपक्षये कुलमापमापकुम्भाण्टाऽज्जमध्यवशकाथान्याम्लानाम् । मूत्रक्षये पुनरिक्षुरसवारणीमण्डवमधुराम्लवणोपेक्षेदिनाम् । (चरक) । मलक्षयदर्शक सामान्य लक्षण—मलानामतिसङ्गमाणां दुर्लक्ष्यं लक्षयेत् क्षयम् । स्वमलायनसंशोपतोदश्लेष्मत्वलावर्षे ॥ (वाग्भट) । स्वेदक्षय-चिकित्सा—अभ्यङ्गव्यायाममद्यस्वप्रनिवातशरणस्वैदेः । (अ. संग्रह) ।

आर्तवक्षये यथोचितकालादर्शनमल्पता वा योनि-वेदना च; तत्र संशोधनमाश्रेयानां च द्रव्याणां विधिवदुपयोगः । स्तन्यक्षये स्तनयोर्मलानता स्तन्या-संभवोऽल्पता वा; तत्र श्लेष्मवर्धनद्रव्योपयोगः । गर्भक्षये गर्भास्पन्दनमनुभूतकुक्षिता च तत्र प्राप्त-

यस्मिन्कालायां क्षीररस्तिप्रयोगो मेध्याक्षोपयोग-
श्चेति ॥१२॥

आनेत्र धाय में योग्य समय पर रजोदग्नि न होना अथवा रजभार कम होना और योनि में पीडा होना ये लक्षण होते हैं। इसके लिये यगोपानपूर्वक उष्ण पदार्थों का उपयोग करना प्रगल्भ है। मन्थ के क्षय में गर्भों पर सिद्धुइन होनी हैं, दूध की उत्पत्ति बढ़ हो जाती है किंवा दूध अल्प परिमाण में आता है। हमने लिये कर्णपर्धक द्रव्यों का उपयोग प्रगल्भ है। गर्भ के क्षय में गर्भ का न फिरना या कम फिरना, वृत्त ऊँची न होना ये लक्षण होते हैं। हमने लिये गर्भिणी यन्त्रि देने योग्य काल की दाना क्षीर यन्त्रि का प्रयोग करना और मेधय अन्न का प्रयोग करना हितकर है ॥१२॥

यत्तद्व्य—मरण—रिचयन और यन्त्रि । अथेवद्व्य—
तिलमागदि द्रव्य—यत्र मत्स्यपृथ्व्यभ्यन्तमापुता हित । पने
गुदपुरधिष द्रि शुक्र च भावने ॥ सेषवर्षेन्द्रभोपयोग—
मन्थ रस से उपपन्न होता है हमलिये सेषवर्षक द्रव्यों का उपयोग कहा है—रसमन्थो गुदर पत्रहरनिष्ठित । कृन्देदत्
लानी प्राय लम्बमित्तिभिर्नये ॥ यथा द्राघ्यान्पूर्विक शाक धान्य
मांस, द्रव मधुरासक लक्षण भूयिष्ठ आहार, दुग्धपान दुग्धिका
कालिकादि क्षीर भोपधियौ और धम न करना इत्यादि ।
गर्भस्यन्दन—अस्पन्दन से स्पन्दनाभाव, ईप्सु स्पन्दन या चित्ता
स्पन्दन ये तीन अर्थ समझना चाहिये । प्रातस्त्रिकालाया—
आठवें महीने की गर्भिणी । आठ महीने तक बलि का निषेध
होता है—लेपेत् । तथा रक्तवति शुद्धि बलिना मन्योऽपनात् । (अ
हृदय) । मेधाक्षोपयोग—मेधय वदार्थ हित क्रिये तदेवात्र मेधाक्ष
क्षीर्यादिदद्यादितिभियेत् । (हाराणचन्द्र) । क्षीर सर्वा इहादि
क्रियन् जीवनीय और घृहस्थीय द्रव्यों का उपयोग । इन पदार्थों
के सिवाय चरक और धामट में अण्डों का उपयोग करने के
लिये लिखा है—गर्भस्यन्दनमेव । (चरक) । तथा पशवो रसानामाम
गर्भानां च गर्भशुद्धिकर । कामगर्भस्तेन चाशेषात् । तनेत्र च तत्र
गृह्यन् भयोवेत् । (अ सप्रह) । इस कल्पना के अनुसार
'मेधाक्षोपयोग' ऐसा भी पाठ कहीं होता है। इन दोष धाय
और मलों का क्षय निम्न कारणों से होता है—क्षय उपरोक्तप्रति
सरोधनाग्निशमनवेगत्रिभारणानात्प्या नमनत्प्राप्त्यानामानशान्तिभैपुनै
भवेत् । (इहयण टीका) ।

अत ऊर्ध्वमतिवृद्धानां दोषघातुमलानां लक्षणं
वक्ष्याम । घृद्धि पुनरेषां स्वयोनिवर्धनात्युपसेव-
नाद्रवति ॥१३॥

अब यहाँ मे अतिवृद्ध दोष, घात और मल इनके लक्षण
कहते हैं। इनकी वृद्धि अपनी उत्पत्तिकारक आहार विहार के
अनिमेव से होती है ॥१३॥

तत्र, वातवृद्धौ वांस्वारुष्यं कार्श्यं काण्ण्यं गात्र-
स्फुरणमुष्णकामिता निद्रानाशोऽल्पबलत्व गाढवर्च
स्वंच, पित्तवृद्धौ पीतावभासता संतापः शीत-
कामित्यमल्पनिद्रता मूर्च्छां यलहानिरिन्द्रियदौर्बल्यं

पीतचिन्मूत्रनेत्रत्यं च, श्रेष्मवृद्धौ शीतप्लवं शैत्यं रथीयं
गौरवमवसादस्तन्द्रा निद्रा सन्ध्यास्थिविभेदपथ ॥१४॥

इनमें से वात की वृद्धि में भाष्य की कर्षणता, कृपता,
कागपन, शंतां का स्फुरण, उष्ण आहारविहार में इच्छा,
निद्रानाश, दण की अल्पता और मल का कटापन होता है ।
पित्त की वृद्धि में रक्ता का पीलापन, मंताप, शीत आहार विहार
की अभिलाषा, निद्रा की कमी, मूर्च्छा, वात का वायु, हृदियों की
दुर्बलता, मल मूत्र और नेत्र का पीलापन ये लक्षण होते हैं ।
कफ की वृद्धि में श्वेता, शीतलता, स्थिरता, गुल्मा, (शारीरिक
वर्ण मानसिक) गान्धि, तन्द्रा, निद्रा, संधि और अस्थियों में
निधिलता ये लक्षण होते हैं ॥१४॥

यत्तद्व्य—वृद्धि—उपपन्न या प्रकोप । अल्पनिद्रा—घात
और पित्तकी वृद्धि में निद्रा का नाश होता है । क्योंकि वातचिन्म
से मनोभ्रमण अधिक होता है और पित्तचिन्म से दिमाग में
जलन मालम होती है । निद्रा श्रेष्मतामोभवा है । हमलिये
श्रेष्मा की वृद्धि में निद्रा अधिक हुआ करती है और श्रेष्म
विरुद्ध पित्त और वात की वृद्धि में घट जाती है—श्रेष्मत्वा
श्रेष्ममुद्रता च । 'निद्रा श्रेष्ममोभवा' । श्रेष्मावृत्ते सुप्तता कम
दुराले च । शरीरेषु सर्वमन्मो निद्रा विरति देहिन्व' ॥ (अ. सप्रह) ।
मूर्च्छा—तम और पित्तचिन्म के कारण उत्पन्न होती है—
मूर्च्छां पित्तमप्राया । तन्द्रा—श्रियाधेयतेपतिर्मैत्र वृग्भत इव ।
निद्रास्त्वैव बर्षेण तल तन्द्रां विरिच्छेत् । निद्रा और तन्द्रा में
फर्क यह है कि प्रबोधित होने के पश्चात् निद्रा में मनुष्य
उत्साहयुक्त होता है और तन्द्रा में उत्साह रहित रहता है ।

रसोऽतिवृद्धो हृदयोत्तेदं प्रसेकं चापादयति;
—

च ; अस्थिरस्थीन्यधिदन्तांश्च; मज्जा सवोह्नत्र-
नीर्यं च; शुक्लं शुक्राश्रमरीमतिमाहुर्भायं च ॥१५॥

रस की अतिवृद्धि होने से जी मिचलाना और मुँह से
पानी निकलना ये लक्षण होते हैं । अतिवृद्ध रक्त शरीर और
नेत्रों में मुखों और सिराओं की पूर्ति करता है । अतिवृद्ध मांस
कटि, कपोल, होंड, शिथ, नाँच, भुजा और जंघा इनमें स्थूलता
और शरीर को भारी करता है । अतिवृद्ध मेद शरीर में क्लिष्टता,
उदर और पाँश की वृद्धि, खाँसी और ब्राम करता है तथा
लघा में दुर्गंध पैदा करता है । अतिवृद्ध जस्थि अस्थियों की
अनैसर्गिक वृद्धि करता है और (दाँतों की स्वाभाविक संख्या
से) अधिक दाँत उत्पन्न करता है । अतिवृद्ध मज्जा सर्व शरीर
और नेत्रों में गुल्मा भरती है । अतिवृद्ध शुक्र शुक्राश्रमी और
शुक्र का अधिक स्पन्दन करता है ॥१५॥

यत्तद्व्य—प्रसेक—मुललाव । उदरवृद्धि—मेद का स्थान
उदर होने के कारण उदर की वृद्धि होती है—मेदो हि सर्वभूताना
मुरत्सम् । दौर्गन्धम्—मेदो-पानवेदत सभावात् स्वेदल्लाव ।
(चरक) । भाष्यस्थि—अधिकमलि कथयति स्वाभाविक
आकार से अधिक मोटा होता (Hyper trophy) । किंवा
१ मन्थस्थिरिष्टता

क संख्या में उत्पन्न होना । परंतु द्वितीय कार्य बहुधा गित्तर नहीं हुआ करता है । तीसरा अर्थ अस्थियों में अर्बुद (ony tumour) उत्पन्न होना ।

**पुरीषमाटोपं कुक्षौ शूलं च ; सूत्रं सूत्रवृद्धिं सुहु-
दुः प्रवृत्तिं वस्तितोदमाध्मानं च ; स्वेदस्त्वचो
र्गन्ध्यं कण्डूं च ॥१६॥**

पुरीष की वृद्धि अफारा और कुक्षि में शूल उत्पन्न करती सूत्र की वृद्धि सूत्र का प्रचुर निर्गम, बार बार सूत्र करने की चि, बस्ति विभाग में पीड़ा और आध्मान करती है । स्वेद वृद्धि त्वचा में दौर्गन्ध्य और खुजली उत्पन्न करती है ॥१६॥

वक्तव्य—आटोप—आटोप शब्द के कई अर्थ होते हैं—
(१) उदर में वायु का संचलन, (२) उदर में गुड़गुड़ शब्द ग (Borborygma), (३) ईषत् सशब्दमाध्मानम् ।
(४) आध्मान—साटोपमत्युग्ररुजमाध्मातमुदरं भ्रमम् । आध्मान-
ते तं विद्याद्धेरं वातनिरोधजम् ॥ (सुश्रुत) । पेट में वात का
रोध होकर फूलना (Tympani tis) । सूत्रवृद्धि—पेशाव
समय सूत्र का निकलना । अथवा सूत्र का वेग धारण करने
सूत्रवृद्धि (Hydrocele) का होना ।

**आर्तवमङ्गमर्दमतिप्रवृत्तिं दौर्बल्यं च ; स्तन्यं
नयोरापीनत्वं सुहुर्मुहुः प्रवृत्तिं तोदं च ; गर्भो
ठराभिर्वृद्धिं स्वेदं च ॥१७॥**

आर्तव की वृद्धि अंगमर्द, अधिक मासिक स्राव की प्रवृत्ति
र दौर्बल्य उत्पन्न करती है । दुग्ध की वृद्धि स्तनों की स्थूलता,
ए बार दुग्ध का स्राव होने की प्रवृत्ति और स्तनों में (तनाव
पीसी) पीड़ा उत्पन्न करती है । गर्भ की वृद्धि उदर की वृद्धि
या स्वेद उत्पन्न करती है ॥१७॥

**तेषां यथास्वं संशोधनं क्षपणं च क्षयाद्विरुद्धैः
क्षयाविशेषैः प्रकुर्वीत ॥१८॥**

इव अतिवृद्ध दोष धातुमलों का संशोधन तथा संशमन
त्येक के लिये यथाविहित विशिष्ट क्रियाओं द्वारा इस प्रकार
रे जिससे कि उनका क्षय स्वाभाविक अवस्था से अधिक न
रे जाय ॥१८॥

वक्तव्य—क्षपण—संशमन । अतिवृद्ध धातुओं का तथा
लवान् रोगी का संशोधन और मध्यम वृद्ध धातुओं का और
वृद्ध रोगी का संशमन करना या संशोधन और संशमन का
शक्ति से उपयोग करना । क्षयाद्विरुद्धैः—'धविरुद्धैरिति वृद्धस्य तथा
क्षणं कर्तव्यं यथाऽन्यदोषस्य धातोर्वा वृद्धिः क्षयो वा न भवतीति
मानः । (चक्रः) । क्षयमेपक्ष नाधिकैर्नाऽपि च न्यूनैरित्यर्थः ।
चूनी क्षयिन्निस्कारो भवत्यधिकक्षयार्थं वर्षयित्वाऽऽतुर्वेमापादयतीति
उक्तं क्षयादित्यादि । (हाराणचंद्र) ।

**पूर्वैः पूर्वोऽतिवृद्धत्वाद्धर्षयेद्धि परं परम् ।
तस्मादतिप्रवृद्धानां धातूनां हासनं हितम् ॥१९॥**
प्रत्येक पूर्व धातु अत्यन्त बढ़ने से (परिणाम क्रमपक्ष की
दृष्टि से) अपने समीपवर्ती उत्तर धातु को बढ़ा देता है । इस
लिये अत्यंत बढ़े हुए धातुओं को घटाना हितकर होता है ॥१९॥

वक्तव्य—क्रमपरिणामपक्ष के अनुसार रस से रक्त,
रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा
१ दौर्गन्ध्यं.

और मज्जा से शुक्र उत्पन्न होता है अर्थात् धातु धात्वाहार
होते हैं । इनमें से जब एक की वृद्धि कारणावश हो जाती है तब
उससे उत्तर धातु की वृद्धि हो जाती है । उसकी वृद्धि होने के
कारण उससे उत्तर धातु की वृद्धि होती है । इस प्रकार एक
धातु की अतिवृद्धि होने से शुक्र तक वृद्धि की परंपरा जारी
होती है । इसलिये इस वृद्धिपरंपरा यानि विकारपरंपरा को
रोकने के लिये अतिवृद्ध धातु का क्षय स्वाभाविक मर्यादा तक
करना हितकर होता है । जैसे वृद्धि के संबंध में है, वैसे ही क्षय के
संबंध में भी समझना चाहिये—पूर्वो वृद्धः परं कुर्याद्वृद्धः क्षीणश्च
तद्विधम् । (अ. हृदय) । इसलिये कारणावश क्षीण हुए धातु की
भी वृद्धि करना स्वास्थ्य की दृष्टि से हितकर है—क्षपयेद्वृद्धे-
चापि दोषधातुमलान् भिषक् । तावथावदरोगः स्यान्नरो रोगसमन्वितः ॥
बल्लहण के अनुसार इस श्लोक का यह भी अर्थ होता है कि
एक धातु वृद्ध होने से न केवल उसके उत्तर धातु की वृद्धि
होती है बल्कि इसके पूर्व धातु की भी वृद्धि होती है । वैसे भी
क्षय के संबंध में समझना चाहिये—पूर्वः पूर्व इत्याद्युपलक्षणम् ।
तेन परोऽपि वृद्धः पूर्व वर्षयति, तथा परोऽपि क्षीणः पूर्व क्षपयति,
तथा पूर्वः क्षीणः परं क्षपयति ॥

**बल्लक्षणं बलक्षयलक्षणं चात ऊर्ध्वमुपदे-
क्ष्यामः । तत्र रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत्परं
तेजस्तत् खस्वोऽस्तदेव बलमित्युच्यते, स्वशास्त्र-
सिद्धान्तात् ॥२०॥**

अब यहाँ से बल के लक्षण तथा बलक्षय के लक्षण कहते
हैं । रस से लेकर शुक्रपर्यन्त जो धातु हैं, उनके उल्लेखसारभूत
अंश को ओज कहते हैं और उसे ही हम अपने शास्त्र के
सिद्धान्त के अनुसार बल भी कहते हैं ॥२०॥

वक्तव्य—वास्तव में ओज और बल में भेद है परंतु
चिकित्सा की दृष्टि से दोनों एक हो सकते हैं । ओज कारण है,
बल कार्य है । ओज रूप रस वर्णयुक्त द्रव्य है । बल इस द्रव्य का
कर्म है । शरीर में बल कई कारणों से उत्पन्न होता है परंतु
सब से अधिक बल ओजोऽज्य होता है । क्योंकि ओजोऽज्य से
जितना बल का नाश होता है, उतना अन्य किसी कारण से
नहीं हुआ करता । इसलिये ओज और बल का अभेद माना
गया है । यस्माद्रसादोजो भवति स रसः सर्वधातुस्यांगतत्वात् तत्त-
द्भातुवन्मन्यत इति सर्वधातूनां लेह ओजः । क्षीर घृतमिव तदेव
बलमिति तत्कारणयोरभेदोपचारान् अभेदकथनं च चिकित्सा-
कार्यम् । (भावप्रकाश) ।

**तत्र बलेन स्थिरोपचितमांसता सर्वेष्वेष्टास्वप्रति-
घातः स्वरवर्णप्रसादो वाह्यानामाभ्यन्तराणां च
करणानामात्मकार्यप्रतिपत्तिर्भवति ॥२१॥**

उस बल ही से मांस की स्थिरता और पुष्टि होती है, सर्व
प्रकार के कार्य करने के लिये अमोघशक्ति उत्पन्न होती है, स्वर
और वर्ण में प्रसन्नता आती है और बाह्य तथा आभ्यन्तर
इन्द्रियों की अपने कार्य करने के लिये प्रवृत्ति होती है ॥२१॥

वक्तव्य—स्थिरोपचितमांसता—यह एक उपलक्षण सम-
झना चाहिये । ओज से शरीर के सर्व धातुओं की स्थिरता
तथा वृद्धि होती है—ओजोविकृतौ देहस्य तुष्टिपुष्टिपलेदयः । शक्ति-

॥प्रोपदिश्यते । (चरक) । पाश्चात्त्य शारीरकार्य विज्ञान के प्रनुरोध से ओज का स्वरूप और कार्य देखकर कई पण्डितों ने ओज के कई अर्थ अपने प्रामाणिक मतानुसार दिये हैं । यथा— जीवनीय द्रव्य (Vitamin), अल्ब्यूमिन (Albumin), ग्लैकोजन एक प्रकार की शर्करा (Glycogen), वृणणसार पुरुषों में (Internal secretion of the testicles) स्त्रियों में बीजकोपसार (Internal Secretion of the ovary), अष्ट्रीलासार (Prostatic secretion) इत्यादि । इसमें संदेह नहीं कि उपर्युक्त कल्पनाओं में सत्यांश जरूर है परन्तु ओज की संपूर्ण कल्पना किसी एक शब्द से दिग्दर्शित नहीं होती है । पाश्चात्त्यशारीरशास्त्र के अनुसार ओज के लिये एक प्रतिशब्द, जो उसके संपूर्ण अंगों का निदर्शक हो, देना कम से कम आज की स्थिति में अशक्य है ।

अभिघातात्तत्त्वात्कोपाच्छोकाद्धथानाच्छमात्क्षुधः ।
 ओजः संदीयते ह्येश्यो धातुग्रहणानिःसृतम् ।
 तेजः समीरितं तस्माद्विचलंसयति देहिनः ॥२४॥

आघात, धातुक्षय, क्रोध, शोक, चिंता, परिश्रम और अनशन इनसे ओज का क्षय होता है । हृदय से प्रेरित हुआ ओज (जब) धातुवाही स्रोतों से निःसृत होता है तब मनुष्यों को अपने स्वाभाविक कर्मों से वंचित करता है ॥२४॥

वक्तव्य—क्षय—धातुओं का क्षय । ध्यान—चिंता । श्रुषा—अनशन । धातुग्रहणानिःसृतम्—धातुवाहक स्रोतों से निर्गत—धातुवो गृह्यन्त एमिरिति धातुग्रहणानि वक्ष्यमाणानि स्रोतांसि तेभ्यो निःसृतम् । तस्मात्—हृदयात् । विचलंसयति—अपने पोषक कर्मों से वंचित करता है—संबन्ध एव कर्मैभ्यो वहिष्करोति ।

तस्य विचलंसो व्यापत् क्षय इति लिङ्गानि व्यापत्रस्य भवन्ति ; संन्धिविश्लेषो गात्राणां सदनं दोषच्यवनं क्रियाऽसन्निरोधश्च विचलंसे, स्तब्धशुरुगात्रता चातशोफो वर्णभेदो ग्लानिस्तन्द्रा निद्रा च व्यापन्ने, मूर्च्छा मांसक्षयो मोहः प्रलापो मरणमिति च क्षये ॥२५॥

विगड़े हुए ओज के विचलंस, व्यापत् और क्षय ऐसे तीन चिह्न (अवस्थाएँ) होते हैं । इनमें से विचलंस में संधियों का ढीलापन, अंगों का थक जाना, (वातादि) दोषों का अपने स्थान से भ्रष्ट होना और (शारीरिक मानसिक और वाचिक) क्रियाओं का ठीक न होना (ये लक्षण होते हैं) । विषद में शरीर में म्लान्यता और भारीपन, वातिक शोथ, वर्ण का बदल जाना, ग्लानि, तन्द्रा और निद्रा (ये लक्षण होते हैं) । क्षय में मूर्च्छा स्वादि धातुओं का क्षय, मोह, प्रलाप और मृत्यु (ये लक्षण होते हैं) ॥२५॥

भवन्ति चात्र—

त्रयो दोषा बलस्योक्ता व्यापद्विचलंसनक्षयाः ।
 विश्लेषसादौ गात्राणां दोषविचलंसनं श्रमः ।
 अप्राप्त्युं क्रियाणां च बलविचलंसलक्षणम् ॥२६॥
 शुरुत्वं स्तब्धताऽङ्गेषु ग्लानिर्वर्णस्य सैद्धनम् ।
 तन्द्रा निद्रा चातशोफो बलव्यापदि लक्षणम् ॥२७॥

मूर्च्छा मांसक्षयो मोहः प्रलापोऽज्ञानमेव च ।
 पूर्वोक्तानि च लिङ्गानि मरणं च बलक्षये ॥२८॥

ओज के तीन दोष होते हैं—(१) व्यापद, (२) विचलंस, (३) क्षय । इनमें से विचलंस में शरीर के अंगों का ढीलापन और थकान, दोषों का स्थानभ्रष्ट होना, थक जाना और कार्यों में प्रनुरता न होना ये लक्षण होते हैं ॥२६॥ व्यापद में शरीर के अंगों में स्तब्धता और भारीपन, ग्लानि, वर्ण का अन्यथाभाव, तन्द्रा, निद्रा, वातिक शोथ ये लक्षण होते हैं ॥२७॥ ओज के क्षय में मूर्च्छा, धातुओं का क्षय, बेचैनी, प्रलाप, अज्ञान, तथा (व्यापद व विचलंस के) पूर्वोक्त लक्षण और मृत्यु ये लक्षण होते हैं ॥२८॥

तत्र विचलंसे व्यापन्ने च क्रियाविशेषैरिवरुद्धैर्वलमाप्याययेत् ; ईतरं तु मूढसंज्ञं वर्जयेत् ॥२९॥

इनमें से विचलंस और व्यापद की अवस्था में ओजोनुकूल विशेष क्रियाओं द्वारा बल को बढ़ाना उचित है । क्षयावस्था के नष्टसंज्ञ मनुष्य को छोड़ देना चाहिए ॥२९॥

वक्तव्य—क्रियाविशेषः—जीवनीय खाद्यपेयादि द्वारा—जीवनीयौषधकीरसाधास्तत्र भेषजम् । (वाग्भट) । अवरुद्ध—ओजोनुकूल । मूढसंज्ञं—बलक्षय की अवस्था में जब रोगी मूढसंज्ञ हो जाता है, तब असाध्य समझ कर उस की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये ।

दोषधातुमलक्षणी वलक्षणीऽपि वा नरः ।

स्वयोनिवर्धनं यत्तदन्नपानं प्रकांक्षति ॥३०॥

यद्यदाहारजातं तु क्षीणः प्रार्थयते नरः ।

तस्य तस्य स लामे तु तं तं क्षयमपोहति ॥३१॥

यस्य धातुक्षयाद्वायुः संज्ञां कर्म च नाशयेत् ।

प्रक्षीणं च बलं यस्य नासौ शक्यश्चिकित्सितुम् ॥३२॥

दोषक्षीण, धातुक्षीण, मलक्षीण वा ओजःक्षीण मनुष्य स्वयोनिवर्धक जो अन्न पान होता है, उसकी अभिलाषा किया करता है ॥३०॥ क्षीण मनुष्य जिस जिस आहार की अभिलाषा करता है उसी उसी के लाभ से उसी उसी क्षय का नाश होता है ॥३१॥ धातुओं का क्षय हो जाने से वायु जिसकी संज्ञा और कर्मों का नाश करता है तथा जो अत्यंत दुर्बल हो गया है उसकी चिकित्सा (में यग मिलना) अशक्य है ॥३२॥

वक्तव्य—स्वयोनिवर्धन—जिस जिस धातु या दोष की शरीर में क्षीणता होती है, उसी के बढ़ाने वाले आहारदि पर मनुष्यों का प्रायः मन हुआ करता है । धातुक्षयात्—ओजःक्षय या अन्य धातुओं का क्षय । धातुओं का क्षय वातप्रकोप का कारण है—वायोर्धातुक्षयात् कोषो गार्गन्यावगणेन च । (चरक) । मंत्रा कर्म च सजाग्रान्तरं, कर्म व्यापारः, एतयोन्मरम एव मूर्च्छा । (नन्द) । किस के क्षय में मनुष्य किस की अभिलाषा किया करता है, एतन् विषय के कुछ श्लोक उद्धृतगात्रार्थ ने अपनी टीका में दिये हैं । वे उपर्युक्त होने के कारण नीचे दिये हैं—
 यान्तरं सुप्तं सैद्ये एतं च लुप्तमोजनम् । कायाभ्रष्टविकृत्य यात-
 क्षीणोऽभिरुक्ति ॥ विचलंसवृत्त्यादि विद्यमानिकृति तथा । मनुष्य-

शुक्रात्मन्मूत्राणि रित्तक्षीणस्तथा दधि ॥ मांसं मारिष्यवारद्वयञ्च युञ्ज
 गुरुणि च ॥ श्वेतक्षीणोऽभिन्तपति क्षीरत्वाम्रशीनि च ॥ इधुं मानस
 मन्व मधु सर्पिण्योश्चैवम् ॥ अक्षुद्रमन्व यथायु च रक्षीणोऽभिवान्छति ॥
 द्रोभादाभिन्तमुक्तानि सलेद्वल्णानि च ॥ रत्ननिद्रानि मन्वनि रक्त
 क्षीणोऽभिवान्छति ॥ अन्वनि दधिसिद्धानि तथा चाडनक्रानि च ॥
 रत्नकृष्ण्यदमन्वनि मासक्षीणोऽभिवान्छति ॥ भद्र सिद्धानि मासानि
 अन्वानुदीरवानि च ॥ सक्षाराणि विमेषेण मेद क्षीणोऽभिकाञ्चति ॥
 एतान् सुमिद्रान् साक्षीनि मान्यानीकान्भिक्षानि ॥ अभिर्क्षीणस्तथा मन्व
 मन्वास्त्रिष्विभ्युत्तमम् ॥ स्वाद्वल्णेषु त्रयं मन्वक्षीणोऽभिवान्छति ॥
 मन्वसुत्रकुण्डानि ह्मसरसमेतथा ॥ प्रायानुदीरकानां च सुत्र
 क्षीणोऽभिकाञ्चति ॥ यवनि यवनाजानि शाकानि विविधानि च ॥
 मायूर पाण्डूय च बन्धं भीणोऽभिकाञ्चति ॥ पेषामिष्टुत क्षीरं ह्यु
 बरुणदन्वम् ॥ मूत्रक्षीणोऽभिवान्छति प्रपुष्कोऽभिवान्छति च ॥ अन्वय मर्दन
 मन्व निवानरयानामन्वम् ॥ गुण्वावरुणं चैव स्वेदशीणोऽभिकाञ्चति ॥
 कृष्णकृष्णान्कानि विन्दीनि गुरुणि च ॥ फल्गकानुपानानि क्षी
 वाच्छस्त्रमैत्रक्षये ॥ मृद्याविनारहानां मन्वो वाञ्छति सस्त्रान् ॥
 वमादन्वप्रकण्डीन् भेषुन् गभैपरिक्षये ॥ सुराशास्त्रमन्वनि गौक्षीरं
 रत्नं तथा ॥ अन्व दधि ह्यानि ह्ये सन्वस्य वाञ्छति ॥

रत्ननिमित्तमेव स्वौल्य वादर्यं च । तत्र श्लेष्म
 लाहारसेत्रिनोऽप्यशनशीलस्यान्यायामिनो दिवास्व
 मन्वस्य धाम प्याशरसो मधुरतरश्च शरीरमनुजाम
 प्रतिश्लेहाम्भेदो जनयति, तद्वत्तिस्यौल्यमापादयति;

भांकुभाया-मदस संवाह यास्वसमय, ५.५.मदा-
 निरुद्धमार्गान्वाचास्वप्ययायो भवति, आयुतमानं
 स्वाधिय श्या धातयो नाय्यायन्तेऽप्यथैमतोऽस्व
 प्राणो भजति, प्रमेहपिडकावरभगन्दरविप्रधियात
 विकाराणामन्यतम प्राप्य पञ्चत्वमुपयाति, सर्वे
 पय वास्य रोगा पलवन्तो भवन्त्यायुतमार्गत्वात्
 श्रोतसाम्, अतस्तस्योत्पत्तिहेतु परिहरैत् ॥३३॥

शरीर की स्थूलता और हृग्ना रम ही के कारण होती है ।
 हमें से कफकारक पदार्थ लेवन करने वाले, भोजन के हीर
 टिक पने बिना निरु भोजन करने वाले, परिश्रम न करने वाले,
 दिर में मीं गे वाले मनुष्यों का (अथ हीर नहीं पत्ता है । वह)
 अथर और अर्था मपुत्र अथरग शरीर में परिभामण करना
 ह्मना अनि दिग्ध हने के कारण मेद उपर्य कता है और पत
 मर शरीर को अनि स्थूल बनाता है । उस अतिमूत्र अनुत्प में
 शुद्रधाम, ह्म, शुधा, निरा, री, मरीर से दुर्गतरा, ह्म
 क धाम का एक अजा, भांो का अजा, मरुगण (ह्म)
 मन्व मने कर देते हैं । मेद की ह्मगता हने से तो कथि
 का म दुर्गता जा जाती है । कठ तथा मेद काय (शुक्र
 का) मन्विरुद्ध होने से अतिरि म्पुत्र नहीं कर सकता ।
 अन्व पानुदीर के मन्व एक जा से वे पानु वरिण नहीं
 ह दे । हमसे वह अन्व दुर्ग हो जाता है । प्रमेहपिडका उत्तर,
 भातपूर, निद्रिण और कर्णाश्रमों से ते रित्त रोग मरिण हो
 कर वह म्पुत्र का मन्व हो जाता है । मेद से उपर्य मन्व ग

निरुद्ध होने के कारण प्राय सभी रोग बलवान् हो जाते हैं ।
 इसलिये मेदोत्पत्ति के कारणों का परिहार करना चाहिये ॥३३॥

व्रतकथ्य—अथयान—अक्षीणो गुज्यते यतु ह्यवशं शुभ्रमे ।
 भाम—पावभि से अपक रस । कथन—अकस्मात् आताप
 शोध—भामरोषो दि शोऽकमात् स कथ प्रथन च तत् । दूसरा अ
 निदा में धुरधूर आवाज करना—त्वत्त कठे धुरधूर
 गदरत—अन्वक और अपरिसुट वाक्य धोलना । पिपाना ह्म
 स्वम्वेद—इन्का अतियोत यानि अधिकता होती है । धुरपल
 थोडा भी परिश्रम करने से होयना और आराम लेने से का
 का बढ होना—विचिदारभमाणस्य यन्व आस प्रवर्ति । निष्कल
 शानि च स ह्युद्र शनि सति ॥ मेद दोषों की उपपत्ति चक्रसहित
 में ह्म प्रकार निक्षी है—अतिशूल्य तावदुषुो ह्मो ज्योरोपे
 कृच्छ्रमन्वाया दौर्गथ दौर्गथ स्वरोपाय ह्युदिमिण विषासाविनाशे
 भवन्त्यथो दोषा । तदनिन्वैष्य अन्वायाद इति त्वत्त यथि
 न्दीस्वरमावाक्षोपगन्ते । तस्य ह्यनिमात्रमेदसिनो मेद स्वोपवेधे
 न तपोरे भयव । तस्माद्युषो हास । शैभिल्यात् सौकुमार्यं ह्म
 त्वाच मेदतो ज्योरोपे । शुक्रास्वत्वान्मेदयायुतमार्गत्वात् कृच्छ्रमन्वय
 दौर्गथमममत्वाद्गान्वात् । दौर्गथ मेदोरोपान्मेदस समावात् सेदन
 त्वाच । मदन ह्मगणमार्गिश्चिद्विद्वलाद्विद्याममहत्वात् स्वो
 वाप । हीष्णामिष्यात् प्रभूतवेधपानुत्वस्य ह्युदिमिण विषसिगत
 वेदि ॥ मरुताकृष्णकैवाद्रायु बोध विरोध । चरन् कृष्णकथमिण
 रोपरयथि । तस्मात्तस्यैव वायुचाहार चातिक्रियति ॥ अन्व पाणुओं
 की अपक्षा बल मेदुद्धि का कारण अर्धांगसमह में सिला
 है—वेध एव विप्रेष्य क्षमद्रोपणे रो । सौप्यलभ्यवृत्तिवन् प्रथ
 मेद प्रपीये ॥ तन्वेनोऽप्यनोऽप्यत्वात् त्वात्तुत्तमे । तुमेने
 वाय्वरिचये प्राविकन यीनेतरम् ॥ आमरम तथा उरतं मेदोद्धि
 का कारण अर्धांगसमह में सिला है—गुर्गानुद्धिपत्तये
 निश्रीऽत्रो रम । भाम एव कृष्णवर्णं पानुत्त यौऽन्वपानुते ॥

उत्पत्ते तु शिलाजतुगुग्गुल्लोमूत्रप्रफलाहोद-
 रजोरसाजनमधुयवसुद्रयेरदूयकदयामाकोहोत्तरी
 नां विरुक्षणज्जेदनीयानां द्रव्याणां विधिपुपुषुणो
 दयायामो लेरणवस्यसुपयोगोति ॥३४॥

पातु यदि स्थूलता उपर्य हो जाय तो पिपानातु, गुण्डु
 गोमूत्र, विपला, साद्रमम, रसोप, मपु, जी, ह्म, वेतपूष,
 र्यागाह, उरात्क ह्यपति विष्णुण और उदनीय दानों के
 विजुर्गिक उपपत्ति करना तथा व्यायाम शीर लेराने के
 उपरान करना उचित है ॥३४॥

व्रतकथ्य—अथयान—व्रतकथ्य (मू) । तिस्येव ह्मो
 में वर चेद है—अथयान निरुद्धो वायु (शक) । तिस्ये
 मेदनायक, शरीर का मन्व करने वाला । अन्व—अन्वायि
 थक कि य विप दाता शीरन करन काय—वि
 कर्णिक गुग्गुलुमन्वो ह्यत्त । लेण ह्म (चाईर)
 व्यासत्त—वात्त का पत्ता करने वाला कथि—विष्णुक
 म्पुत्रोऽप्युत्तमे रम । उरतं विष्णुक काये भाम त्वात्
 ह्म उपर्यात् के अतिरि चरक में विम र्यागाह उराव
 मति हने है—मुद्र व न्ने वरुण व न्ने ह्म
 व त्रि वेप्योदरि वि ॥ क लेण कर्णाश्रमो ह्म

। जागरं व्यवचं न न्यायामं चित्तनाम्नि च । स्वौत्वानिच्छन् परि-
क्रमेणाग्निप्रवर्धयेत् । न्यायामन्तिथौ जीर्णाशी यवगोधूमभोजनः ।
कृतेदोषैः स्थौल्ये मुक्त्वा विमुन्यते ॥

तत्र पुनर्वातलाहारसेविनोऽतिव्यायामव्यवया-
नभयशोकध्यानरात्रिजागरणपिपासाशुष्कपाया-
शनप्रभृतिभिरुपशोषितो रसधातुः शरीरम-
कामन्नल्पत्वान्न प्रीणाति, तस्मादतिकार्यं
ति; सोऽतिकृशः श्रुत्पिपासाशीतोष्णवातवर्ष-
पादानेष्वसहिष्णुर्वातरोगप्रायोऽल्पप्राणश्च क्रि-
तु भवति, श्वासकासशोषघ्नीहोदराग्निसाद्गुल्म-
पित्तानामन्यतममासाद्य मरणमुपयाति, सर्व
। चास्य रोगा बलवन्तो भवन्त्यल्पप्राणत्वात् ;
तस्तस्योत्पत्तिहेतुं परिहरेत् ॥३५॥

और रस आहार सेवन करने वाले का रसधातु अति
व्याम, अतिमधुन, अध्ययन, भीति, शोक, चिन्ता, जागरण,
। और क्षुधा (का रोकना), कसैला रस सेवन, अल्प भोजन
ना इत्यादि से शुष्क होकर शरीर में परिभ्रमण करने पर भी
त्व होने के कारण (धातुओं की) वृत्ति नहीं करता जिससे
रीर कृय हो जाता है । वह अतिकृय मनुष्य क्षुधा, तृषा,
त, उष्ण, वायु, वर्षा और भार उठाने में असमर्थ होकर
हुषा वात व्याधियों से पीड़ित रहता है और सब क्रियाओं
निर्वह हो जाता है । श्वास, कास, राजयक्ष्मा, फीहा की
दि, अग्निमांस, गुल्म, रक्तपित्त इनमें से किसी से प्रसित
कर (वह कृय मनुष्य) मर जाता है । अत्यंत दुर्बलता के
रण उसके सर्व रोग बलवान् हो जाते हैं । इसलिये शरीर कृय
रनेवाले कारणों का परिहार करना चाहिये ॥३५॥

उत्पन्ने तु पयस्याश्वगन्धाचिदारिगन्धाशतावरी-
बलातिबलानागवलानां मधुराणामन्यासां चौपधी-
नामुपयोगः, क्षीरदधिघृतमांसशालिपट्टिकयवगो-
धूमानां च, दिवास्वप्नब्रह्मचर्याव्यायामवृंहणवस्त्युप-
योगश्चेति ॥३६॥

यदि कृयता उत्पन्न हो जाय तो क्षीरकाकोली, अश्वगन्धा,
शालिपर्णी, शातावरी, बला, अतिबला, नागबला तथा अन्य
मधुर ओषधियों का उपयोग, दूध, दही, घृत, मांस, शालि,
पट्टिक, यव, गोधूम इनका भोजन, दिन में सोना, ब्रह्मचर्य,
व्यायाम न करना तथा वृंहण वस्ति का उपयोग करना
चाहिये ॥३६॥

चक्रव्य—पयस्या—क्षीरकाकोली । विदारीगन्धा—शालि-
पर्णी । चरकसंहिता में कृश के सद्यःक्षीण और चिरक्षीण ऐसे
दो भेद किये गये हैं और उनके अनुसार चिकित्सा करने के
लिये कहा है—तेषां संतर्पणं तज्ज्ञैः पुनराख्यातमौषधम् । यत्तदात्वे
समर्थं स्यादभ्यासे वा तदित्यते ॥ सद्यःक्षीणो हि सद्यो वै तर्पणेनोपचीयते ।
चिरं संतर्पणाभ्यासाच्चिरक्षीणस्तु पुष्यति ॥ देहाग्निदोषमैष्यमात्राकाला-
नुवर्तिना । कार्यमत्वरमाणेन भेषजं चिरदुर्वैले ॥ हिता मांसस्ता-
नकौ पर्यासि च घृता नि च । खानानि बस्तयोऽभ्यङ्गातर्पणास्तर्पणाश्च ॥
। तस्यो ह्येः सुखायाया मनसो निवृत्तिः शमः । नवानानि नवं मद्यं

ग्राम्यानुपूर्विका रसाः ॥ लिङ्गमुद्धतं स्नानं गंधमात्यनिषेवणम् । शुष्क-
वातो यथाकालं दोषाणामयमं च नम् ॥ रसावनानां वृष्याणां योगानामुप-
सेधनम् । एत्वातिकार्यमादत्ते नृणामुपचयं परम् ॥ अचिन्तनाच्च कार्याणां
धुवं संतर्पणेन च । स्वप्नप्रसंगाच्च नरो वराहः श्व पुष्यति ॥

यः पुनरुभयसाधारणान्यासेवेत तस्यान्नरसः
शरीरमनुक्रामन् समानं धातुनुपचिनोति, समधा-
तुत्वान्मध्यशरीरो भवति सर्वक्रियासु समर्थः
श्रुत्पिपासाशीतोष्णवर्षातपसहो बलवांश्च, स सत-
तमनुपालयितव्य इति ॥३७॥

और जो दोनों प्रकार के साधारण पदार्थों को सेवन करता
है उसके अन्न का रस शरीर में परिभ्रमण करके धातुओं की
वृद्धि साम्यावस्था में करता है और धातु राम होने से उसका
शरीर भी मध्यम रहता है, सब कार्यों में समर्थ होता है, क्षुधा
तृषा शीत उष्ण वर्षा धूप इत्यादि सह सकता है और
बलवान् होता है । इस साम्यावस्था की सदा (स्वस्थानुवृत्ति-
कर साहार विहार से) रक्षा करनी चाहिये ॥३७॥

चक्रव्य—उभयसाधारण—नातिस्निग्धरूक्षद्रव्य तथा नाति
स्निग्धताजनक कर्म । अनुपालयितव्यः—‘स्वस्थवृत्तानुवर्तनेन’ इति
शेषः ॥ रक्षणं नैव मध्यस्य कुर्वीत सततं भिषक् ॥ (सुश्रुत. सूत्र.
अ. ३५) ।

भवन्ति चात्र—

अत्यन्तगर्हितावेतौ सदा स्थूलकृशौ नरौ ।

श्रेष्ठो मध्यशरीरस्तु कृशः स्थूलात्तु पूजितः ॥३८॥

ये अतिस्थूल और अतिकृश दोनों प्रकार के मनुष्य अति
निन्दित होते हैं । मध्यम शरीर का मनुष्य श्रेष्ठ होता है और
कृय मनुष्य स्थूल मनुष्य से (कृश) अच्छा होता है ॥३८॥

चक्रव्य—अत्यंतगर्हितौ—स्थूल तथा कृय मनुष्य सदैव
व्याधियों से पीड़ित होते हैं, इसलिये इनको गर्हित कहा गया
है—सततव्याधितावेतावतिरथूलकृशौ नरौ । सततं चोपचर्यो हि कर्ष-
णैर्वृंहणैरपि । (चरक) । कृशः स्थूलात्तु पूजितः—चिकित्सा की दृष्टि
से कृश मनुष्य स्थूल की अपेक्षा बेहतर होता है । सर्व प्रकार
के रोगों की चिकित्सा वृंहणात्मक और लघनात्मक ऐसी दो ही
प्रकार की हो सकती है—उपक्रमस्य हि द्विवाद् द्विर्बोपक्रमो मतः ।
वृंहणो लघनश्चेति तत्पर्यायावुदाहृतौ ॥ कृश और स्थूल दोनों ऐसे
मनुष्य होते हैं कि उनको साम्यावस्था में पहुँचाने की आवश्यक-
कता वृंहण और लघन की सहायता से होती है । यदि दोनों
तुल्यप्रतिकार रोग से पीड़ित हों तो कृय की अपेक्षा स्थूल में
विरुद्धोपक्रम होने के कारण चिकित्सा कठिन होती है ।
विरुद्धोपक्रम इसलिये होता है कि यदि वृंहण का उपयोग
किया जाय तो वात और अग्नि की शान्ति होगी परंतु मेद की
वृद्धि होगी । यदि लघन का उपयोग किया जाय तो मेद की
शान्ति होगी परंतु वात और अग्नि का प्रकोप और भी बढ़
जायगा । कृश में इस प्रकार का विरुद्धोपक्रम नहीं होता इस
लिये कृशः स्थूलात्तु पूजितः । चरक और वाग्भट में स्पष्ट लिखा
है—स्थौल्यकार्ये वरं कार्यं समोपकर्णौ हितौ । यद्युभौ व्याधिरागच्छेत्
स्थूलमेवातिपीडयेत् । (चरक) । कार्यमेक वरं स्थौल्यत् न हि

रूपस्य भेषजम् ॥ धृगण एतन् नाल्मनिभेदोऽभिवातजिम् ॥ मधुरस्निग्ध
सौहृदियं च सौख्येन च नश्यति । प्रशिमा स्वप्रियात्वन विपरीत-
निवेशने । (अष्टागसंग्रह) ।

दोषः प्रकुपितो धातुन् क्षापयत्यात्मतेजसा ।

इक्षुः स्यतेजसा चक्षुःक्षामगतमिषोदकम् ॥३९॥

कुपित हुआ दोष अपनी शक्ति से धातुओं का क्षय कर
देता है जैसे कि मर्दास अग्नि अपने तेज से स्थानिगत जल का
क्षय कर देता है ॥३९॥

चक्षुःक्षय—दोष—धातु चिच कफ । धातुन्—रसादि सप्त
धातु, क्षान्पादि उपधातु और मलादि मल—दोषा दुष्ट रीतिपात्र
दुष्यन्त्युभये मलय । आत्येतेजसा—अपने शोषक, पाचक और
मार्गावरोषक प्रभाव से । उष्ण—स्थानि । धृगण—धातुपधातुओं
की वृद्धि तथा साम्यावस्था का ह्रास ।

वैलक्षण्याच्छरीराणामस्यापित्याचार्यैव च ।

दोषधातुमलानां तु परिमाणं न विद्यते ॥४०॥

(मनुष्यों के) शरीरों में विमर्यता तथा अस्थिरता होने
से दोष, धातु और मल इनका (निश्चित) परिमाण नहीं हो
सकता ॥४०॥

चक्षुःक्षय—वैलक्षण्यात्—सर्व मनुष्यों के शरीर वातादि
प्रकृति की दृष्टि से, रक्तादि सार की दृष्टि से, संहनन की दृष्टि से,
कैफाई मोटाई के प्रमाण की दृष्टि से, वय की दृष्टि से और भार
सहनादि शक्ति की दृष्टि से समान न होने के कारण । अस्यापि-
त्यात्—'श्रीकैने' इति शरीरम् । प्राशियों के शरीरों का प्रतिक्षण क्षय
होता रहता है । यह शरीर दोष धातु और मलों से ही बना है—
दोषधातुमलमूल दि शरीरम् । अर्थात् यह शरीर का क्षय दोष धातु
मलों का ही समझना चाहिये । जब तक मनुष्य सजीव रहता है
तब तक इस क्षय की पूर्ति आहार द्रव्यों से की जाती है । कभी
क्षय अधिक होता है, कभी पूर्ति अधिक होती है । इस प्रकार यह
क्षयवृद्धि का कार्य सर्वदा जारी होने के कारण 'अस्यापित्यात्'
लिखा है । इसके अतिरिक्त शरीर में वय तथा फलु की अवस्था
के अनुसार भी दोषों का अस्यापिच होता है, जिसके कारण
धातु और मलों का भी अस्यापित्व हो जाता है—'वयोऽवोराधि-
मुक्ताना तैऽनम्यादिणा क्रमात् । चयन्कोपप्रसामा वायोर्गोष्पादितु विपु ॥
वर्षादितु पित्तस्य श्रेणन, शिशिरादितु ॥ (वाग्भट) । परिमाणम्—
सर्वत्र मानम् । शरीरस्थ कुल राशि । चरकसंहिता के शारीरस्थान
के सप्तम अध्याय में यद्यपि दोष धातु और मलों का—'दशोद-
कत्याञ्जय' इत्यादि परिमाण दिया है तथापि इस परिमाण में
भी वय तथा शरीर की स्थूलता और दृढता के अनुसार फर्क
होता है यह स्पष्ट लिखा है—तत्प्रमाणमभिव्यक्तम् । तत्र वृद्धि-
हासयोगि तत्त्वमेव । ते सर्वे एव धातवो मलाख्या प्रसादाख्याश्च रस
महाभ्यां पुष्यन्त स्वमानमनुवर्तन्ते यथावत् शरीरम् । (च सू-
२८) । इसलिये चरकोक परिमाण प्रायिक समझना चाहिये ।
भ्यावहारिक दृष्टि से उक्त परिमाण से कोई लाभ नहीं है ।
व्योंकि—

एषां समत्वं यद्यापि भिषग्भिरवधार्यते ।

न तत् स्वास्थ्यार्हते शक्यं धक्तुमन्येन हेतुना ॥४१॥

वैद्य यद्यपि इनकी समता मानते हैं तथापि स्वास्थ्य के
अतिरिक्त साम्यावस्था के संबंध में अन्य उपाय से न
कठिन है ॥४१॥

चक्षुःक्षय—यद्यपि वैद्य लोग 'रोगतु दोषवैषम्य दोष
मरोगता', 'विद्यते धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिकल्पे', 'सुपनाः ।
सम्' इत्यादि साम्यावस्था की बातें हमेशा किया कर
तथापि साम्यावस्था का वादा विद्ध वा कार्य जो स्वास्थ्य
के अतिरिक्त दोष समता की सिद्धि करने के लिये उनके
कोई नाप या बाँट नहीं होता, यह इस श्लोक का तथा अ
श्लोक का भी मतलब है । अगले श्लोक में असमता का उ
क्ता होता है, उसका उपाय प्रदर्शित किया है ।

दोषादीनां त्वसमत्रामनुमानेन लक्षयेत् ॥

अप्रसन्नोन्द्रियं वीद्य पुच्छं कुशलो भिषक् ॥४२॥

अप्रसन्न इन्द्रिय पाले मनुष्य को देखकर कुशल वैद्य
दोष और धातुवादि की असमता अनुमान से जान ले
चाहिये ॥४२॥

चक्षुःक्षय—अप्रसन्नोन्द्रिय—अप्रसन्नोन्द्रियमना ।

स्वस्थस्य रक्षणं कुर्यादस्वस्थस्य तु बुद्धिमान् ।

क्षापयेद्वृद्धयेद्यापि दोषधातुमलान् भिषक् ।

तावद्यावदरोगः स्यादेतत्साम्यस्य लक्षणम् ॥४३॥

बुद्धिमान् वैद्य स्वस्थ मनुष्य की (समता की) रक्षा
परंतु रोगयुक्त हो जाय तो जब तक वह पूरा पूरा स्वस्थ न
तब तक वृद्ध दोष आदि को घटाता रहे और क्षीण है
आदि को बढ़ाता रहे ॥४३॥

चक्षुःक्षय—चिकित्सा से घटाने बढ़ाने का कार्य दोषों
समता उत्पन्न होने के समय तक करना आवश्यक है ।
भीतरी समता रोगी की प्रसन्नता देखकर अनुमान से जान
पवती है ।

क्षमदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः ।

प्रसन्नान्तोन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥४४॥

इति मुश्लमांवात्वा यज्ञस्थाने दोषधातुमलक्षयवृद्धिविधानीयो
नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

जिसके वातादि दोष सम होते हैं, जठराग्नि सम होती है,
धातु और मलों का कार्य यथोचित होता रहता है और (इन
कारणों से) जिसका आत्मा, मन तथा इंद्रिया प्रसन्न होती है
वह मनुष्य स्वस्थ कहलाता है ॥४४॥

चक्षुःक्षय—स्वास्थ्य की इतनी सुंदर, समर्पक तथा वाया-
तथ्यनिर्दूक व्याख्या अन्यत्र वैद्यकीय वाक्याय में मिलनी
अशक्य है ।

इति भास्कररामेणा योनिव्यवहारेन विरचितायामाज्येदरहस्यदीपिकायां
द्वुष्टमभाषाटीकायां दोषधातुमलक्षयवृद्धिविधानीयो नाम
पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

षोडशोऽध्यायः ।

अथातः कर्णव्यध्वन्धविधिमध्यायं व्याख्या-
मः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अथ यहाँ से कर्णव्यध्वन्धविधि नामक अध्याय का
यान करेंगे जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

रक्षाभूषणनिमित्तं बालस्य कर्णौ विध्येते । तौ
मासि सप्तमे वा शुक्लपक्षे प्रशस्तेषु तिथि-

णमुहूर्तनक्षत्रेषु कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनं धात्र्यङ्के
परधराङ्के वा कुमारमुपवेश्य बालक्रीडनकैः

नेभ्याभिसान्त्वयन् भिषग्वामहस्तेनाकृष्य कर्णं
कृते छिद्र आदित्यकरावभासिते शनैः शनैर्दक्षिण-

तेनर्जु विध्येत्, प्रतनुकं सूच्या, बहलमारया;
दक्षिणं कुमारस्य, वामं कुमार्याः; ततः

सुवर्तिं प्रवेशयेत् ॥२॥

रक्षा और भूषण के लिये बालक के दोनों कान वेधन
ने चाहिएँ । छेदे या सातवें महीने के शुक्ल पक्ष में शुभ
ये, करण, नक्षत्र, मुहूर्त में मंगलाचारपूर्वक स्वस्तिवाचन
के धात्री या कुमारधर की गोद में बालक को बिठा कर
सोने आदि से बहला कर पुचकार कर वैद्य अपने बाएँ हाथ
कान को खींच कर जहाँ सूर्य की किरणों चमकें वहाँ दैवकृत
द्र में धीरे धीरे वेधन करे । कान कोमल हो तो सुई से
र कड़ा मोटा हो तो आरा से वेधन करे । पुत्र का प्रथम
हिना और कन्या का बायाँ कान वेधन करना प्रशस्त है ।
उन के पश्चात् रुई का डोरा डाल दे ॥२॥

वक्तव्य—रक्षाभूषणनिमित्तम्—स्कन्दादि बालग्रहों से
तण करने के लिये तथा शरीर भूषणार्थ अलंकार धारण करने
लिये—कर्णव्यधे कृते बालो न ग्रहेरभिभूयते । भूयते तु सुख
सात् कार्यस्तत् कर्णव्यधे ॥ षष्ठे मासे सप्तमे वा—जन्म से छठे
या सातवें महीने में । आठवें महीने में भी वेधन करने के लिये
गमट तथा धर्मशास्त्र में लिखा है—पदसप्तममासेषु नीरुजस्य
मेऽहनि । (अ. संग्रह) । मासि षष्ठे सप्तमे वाप्यष्टमे मासि सत्वरै ।
वेधे प्रशंसन्ति पुष्ययुःश्रीविद्युदये ॥ (धर्मशास्त्र) । बहलण
न अनुसार कर्णवेधन के लिये छटा या सातवाँ महीना जन्म
न लेकर भाद्रपद से लेना चाहिये । इसके अनुसार माघ
या फाल्गुन महीना आता है । नाथ जन्मकालाद्दूर्ध्वं किन्तु सवस्तरा-
माद्रपदाद्यः षष्ठे मासे माघः सप्तमः फाल्गुनस्तयोर्मैत्र्य एकस्मिन्निति ।
बहलण टीका) । माघ फाल्गुन सुश्रुत के अनुसार शिशिर
रक्तु होता है—तेषां तपस्तपस्यौ शिशिरः । वाग्मट में भी कर्णवेधन
के लिये शीतकाल प्रशस्त माना है—कर्णौ हिमागमे विध्येत् । इस
प्रकार कुछ दूरान्वय करके शीतकाल कर्णवेधन के लिये अधिक
प्रशस्त मानने का एक व्यावहारिक कारण यह मालूम होता है
कि शीतकाल में बालक का स्वास्थ्य उत्तम हुआ करता है,
ब्रह्म में पाक होने की भीति बहुत कम हुआ करती है और

ब्रह्म का रोपण भी शीघ्रता से हुआ करता है । आज भी
अनत्यायिक (ऐच्छिक) शस्त्रकर्म के लिये रोगी तथा डाक्टर
शीतकाल ही अधिक पसंद किया करते हैं । इसी दृष्टि से
प्राचीन काल में भी कर्णवेधन अनत्यायिक शस्त्रकर्म होने के
कारण उसके लिये शीतकाल अधिक पसंद किया होगा ।
कुमारधर—बालक की देखभाल करने वाला मनुष्य—अभियुक्तः
सदाचारो नातिस्थूलो न लोलुपः । कुमारधारः कर्णव्यध्वान्नाथो बालचित्त-
वित् ॥ (अ. संग्रह) । कर्ण—कर्णपाली या लौर (Lobule) ।
दैवकृते छिद्रे—कर्णपाली का मध्य भाग जो सूर्य की किरणों की
तरफ देखने से अत्यंत पतला और सिरादि वर्जित हो, उसमें ।
दैवकृत कहने का मतलब इतना ही मालूम होता है कि वेधन
के लिये कर्णपाली मध्यभाग निसर्गतया अत्यंत योग्य होता है ।
मध्यतः कर्णपीठस्य किञ्चिद् गण्टाशय प्रति । जरायुमात्रप्रच्छेदे रवि-
रश्वयभासिते । विध्येदैवकृते छिद्रे । (अ. संग्रह) । पिचुवर्ति—
रुई का सूत्र । छेद में प्रवेश करने के लिये, रखने के लिये
तथा निकालने के लिये सुकरता होती है, इसलिये सूत्र का
उपयोग किया जाता है ।

शोणितवहुत्वेन वेदनया चान्यदेशविद्धमिति
जानीयात्, निरुपद्रवतया तद्देशविद्धमिति ॥३॥

रक्त अधिक निकलने से तथा वेदना होने से अन्य स्थान
में वेध हुआ ऐसा समझना चाहिये और उक्त उपद्रव न हों तो
दैवकृत छिद्र में वेध हुआ ऐसा समझना चाहिये ॥३॥

वक्तव्य—रक्त-स्त्राव तथा वेदना सिरा, धमनी और
वातनाड़ी में (Nerve) वेध होने से होती है ।

तत्राज्ञेन यदृच्छया विद्धासु सिरासु, कालिका-
मर्मरिकालोहितिकासूपद्रवा भवन्ति । तत्र,
कालिकायां ज्वरो दाहः श्वयथुर्वेदना च भवति;
मर्मरिकायां वेदना ज्वरो ग्रन्थयश्च; लोहितिकायां
मन्यास्तम्भापतानकशिरोग्रहकर्णशूलानि भवन्ति ।
तेषु यथास्वं प्रतिकुर्वीत ॥४॥

अज्ञ वैद्य अपने मन के अनुसार (दैवकृत छिद्र छोड़कर)
जब कालिका, मर्मरिका और लोहितिका नामक सिराओं में
वेध करता है तब उपद्रव उत्पन्न होते हैं । इनमें से कालिका में
वेध होने से ज्वर, दाह, शोथ और वेदना होती है । मर्मरिका
में वेध होने से वेदना, ज्वर और गाँठें हो जाती हैं । लोहितिका
में वेध होने से मन्यास्तम्भ, अपतानक, शिरोग्रह, कर्णशूल हो
जाता है । इनमें रोग के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये ॥४॥

वक्तव्य—अयोग्य कर्णवेधन होने से जो उपद्रव उत्पन्न
होते हैं, उनके तीन विभाग होते हैं । (१) रक्त-स्त्राव—रक्त-
वाहिनी का वेध होने से यह उपद्रव होता है । रक्तवाहिनियाँ
कृष्णवर्ण या सिरा और लोहितवर्ण या धमनी दो प्रकार की
होती हैं । कालिका को कृष्णवर्ण होने के कारण सिरा (Vein)
और लोहितिका को लोहित वर्ण होने के कारण धमनी
(Artery) कह सकते हैं । (२) वेदना—यह उपद्रव नाड़ी
(Nerve) का वेध होने से होता है । यह नाड़ी श्वेतवर्ण या
वर्षाहीन होती है । मर्मरिका को नाड़ी (Nerve) कह सकते
हैं । (३) ज्वर इत्यादि अन्य उपद्रव—ये उपद्रव ब्रह्म में विकारी

१ 'कुमारधराङ्क' रति कश्चित् । २ ततो वर्ति प्रवेश्य सम्यग्विद्वामा-
सत्केन परिषेचयेत् ।

जीवाणु (Pathogenic microbes) प्रविष्ट होने से उपद्रव होने हैं। रक्तवाहिनी किंवा नाडी का वेध होने से ज्वर शोथ इत्यादि उपद्रव नहीं हो सकते। अथवा नक्त—इसको घनुस्तम भी कहते हैं। अंग्रेजी में इसको टेटनस (Tetanus) कहते हैं। इस रोग के जीवाणु का नाम 'बैसीरियस टेटयानस' (Bacillus Tetani) है। कर्णवेधन के पश्चात् यह रोग आत्र कल भी कभी कभी दिखाई देता है। मन्पासम गिरोमह उमरी के ही लक्षण समझन चाहिये। इसका विशेष विवरण निदानस्थान के पहले अध्याय में होगा। यथास प्रतिरुक्ति—प्रत्येक उपद्रव का प्रतिकार का प्रकार से जाना है। (१) पश्चात्प्रतिकार (Curative treatment)—रोग उपद्रव होने के पश्चात् उसके अनुपार उमकी चिकित्सा करना पश्चात्प्रतिकार है। जब आवश्यक हो तत्र पश्चात्प्रतिकार करना चाहिये। (२) पूर्व प्रतिकार—प्रधानादि पदस्य दूरपरगण वर्य' इस न्याय से पूर्वप्रतिकार पश्चात्प्रतिकार से अधिक प्रयास है। पूर्वप्रतिकार को (Preventive treatment) 'प्रिर्वेन्टिव ट्रीटमेंट' कहते हैं। कर्णपाली का सूक्ष्मकाय में सूक्ष्म निरीक्षण करके सिरादि वर्धित कर अत्यंत पतले भाग में येदनादर (बारेन आदि) द्रव्य का उपयोग कर यदि वेधन किया जाय तो रक्त स्राव तथा वदना नहीं हो सकती। वेधन करने के पूर्व यदि कर्णपाली तथा सूची आदि उपकरणों का पूर्ण विधोषण (Sterilization) किया जाय तथा वेधन के पश्चात् पाली को सफाई की तरफ ध्यान दिया जाय तो तीसरे प्रकार के जीवाणुजन्य रोग उपद्रव नहीं हो सकते। इसलिये इन बातों पर पूर्ण ध्यान देकर कर्णवेधन करना प्रयास है।

क्रिष्टिजिह्वाप्रशस्तसूचीव्यधाद्वाद्वाद्तरवर्तित्वाद्दोष समुदायाद्रप्रशस्तव्यधाद्वा यत्र सरम्भो वेदना वा भवति तत्र यतिमुपहृत्वाद्यु मधुकैरण्डमूलमञ्जि घ्रायवतिलकल्कैर्मधुघृतमगाढैरालेपयेत् तावदावत् सुरुढ इति, सुरुढ चैन पुनर्विधयेत्, विधान तु पूर्वोक्तमेव ॥५॥

सुरदरी, वक् और निकमी सूई के वेध से, मोटे सूत्र का उपयोग करने से, वातादि दोषों के कोष से, अयोग्य वेध होने से यदि शोथ और वदना हा ता दोरा निकालकर शीघ्र मुलहठी, पण्डमूल, मनीज, श्व, तिल इन्धे पीसकर मधु और घृत में मिलाकर तब तक (विशदिन) लेप कर द जब तक वह छिद्र न भरा हो। जब भर जाय तब पूर्वाक्त विधान के अनुसार फिर कर्णपाली का वेध करे ॥५॥

वक्तव्य—डिह—माटी तथा सुरदरी । तप्त—राग और शाय का प्रादुर्भाव ।

तत्र सम्भ्यग्विद्धमामतैलेन परिपेचयेत्त्र्यहात् त्र्यहाच्च वर्ति स्थूलतरा दद्यात् परिपेच च तमेव ॥६॥

वायव्य वध होने पर तिल के अपक तैल से परिपेच करे। प्रत्येक तीव्र दिन (कर्णवेध में) थोड़ा माटा सूत्र बदलता रहे और उसी आम तैल से परिपेच करे ॥६॥

अथ व्यपगतदोषोपद्रवे कर्णे वर्धनार्थं लघुवर्धनक कुर्वात् ॥७॥

और जब सब दोष और उपद्रव नष्ट हो जायें तब विधान के लिये छोटे छोटे वर्धनकों का उपयोग करे ॥७॥

वक्तव्य—वर्धनक—कान में डालने के लिए लोहे सरण शलाका—अमामागनिम्बवर्णनीदी का क्रात्रानाम्यवम, अथवा मीमक रिपटिता भरतृणुपाकृति कुर्वात् । (दृश्य) ।

एव विवर्धित कर्णशिक्षयते तु द्विधा नृणाम् । दोषतो वाऽभिघाताद्वा सन्धान तस्य मे शृणु ॥८॥

अब इस प्रकार (वर्धनक डालकर) बढ़ाया हुआ कर्ण वातादि दोषजन्य व्याधियों से अथवा आघात से (कर्म कभी) दो भागों में कट जाता है। (इसलिये) उसके जोड़ना मुझ से श्रवण कर ॥८॥

तत्र समासेन पञ्चदशकार्यवन्धाटृतय । तद्यथा—नेमिसन्धानक उत्पलमेचको यक्षुरव आसक्तिं गण्डकर्ण आहार्यो निर्वेधिमो व्यायोजिम कपाट सन्धिकोऽर्धकपाटसन्धिक सतिप्तो हीनकर्णो वहीकर्णो यष्टिकर्ण काकोष्ठक इति ॥९॥

सन्धेय से कर्णसन्धान के (मुख्य मुख्य) पंद्रह प्रकार हैं हैं। ये ऐसे हैं—१ नेमिसन्धानक, २ उत्पलमेचक, ३ कल्लुक ४ आसक्ति, ५ गण्डकर्ण ६ आहार्य, ७ निर्वेधिम, ८ व्यायोजिम, ९ कपाटसन्धिक, १० अर्धकपाटसन्धिक, ११ सक्षिप्त, १२ हीनकर्ण १३ वहीकर्ण, १४ यष्टिकर्ण, और १५ काकोष्ठक ॥९॥

तेषु, पृथुलायतसमोभयपालिनेमिसन्धानक वृत्तायतसमोभयपालिरुत्पलमेचक; इक्षुवृत्तसमोभयपालिर्यक्षुरक, अभ्यन्तरदीर्घकपालिरासक्तिम् । वाह्यदीर्घकपालिर्गण्डकर्ण, अपालिरुभयतोऽप्याहार्य, पीठोपमपालिरुभयत क्षीणपुत्रिकाश्रितो निर्वेधिम; स्थूलाणुसमविपमपालिव्योयोजिम, अभ्यन्तरदीर्घकपालिरितरात्पपालि कपाटसन्धिक, वाह्यदीर्घकपालिरितरात्पपालिर्धकपाटसन्धिक । तत्र दृश्यते कर्णवन्धविकल्पा साध्या, तेषा स्वनामभिरैवाकृतय प्रायेण व्याख्याता ॥१०॥

उनमें से पालि के दोनों भाग मोटे फैले हुए और समान हों तो नेमिसन्धानक बंध (प्रयोग में लाना चाहिये)। गोल फैली हुई समान दोनों पाली हों तो उत्पलमेचक बंध का उपयोग करना चाहिये। छाटी गाल समान दोनों पाली हों तो कल्लुक बंध का प्रयोग करना चाहिये। जब भीतर की ओर का कर्णपाली का भाग दीर्घ हो ता आसक्ति बंध का प्रयोग करना चाहिये। जब बाहर की ओर का कर्णपाली का भाग दीर्घ हो तो गण्डकर्ण बंध का प्रयोग करना चाहिये। जब दोनों ओर पालि का भाग न हो तो आहार्य बंध का प्रयोग करना चाहिये। जब दोनों पाली मूल से छिन्न हो जाती हैं तब पुत्रिका के शेष भाग का आश्रय करके निर्वेधिम बंध का प्रयोग करना चाहिये। जब पाली का एक भाग स्थूल और मोटा तथा दूसरा भाग अणु और छोटा हो तब व्यायोजिम बंध का प्रयोग करना चाहिये। जब भीतरी पाली का भाग दीर्घ और बाहर

राग अल्प हो तो कपाटसंधिक बंध का प्रयोग करना पड़े। जब पाली का बाहर का भाग दीर्घ और भीतर का हो तब अर्धकपाटसंधिक बंध का प्रयोग करना चाहिये। संंधान के दश भेद साध्य हैं और इनकी आकृतियाँ नाम ही से वर्णित हुई हैं ॥१०॥

वक्तव्य—इनमें से पहले तीन बंधों में पाली के दोनों समसमान होते हैं। अन्तिम तीन बंधों में विपम होते चौथे और पाँचवें बंधों में एक भाग नहीं के बराबर होता और छठे तथा सातवें बंधों में दोनों भाग नहीं के बराबर हैं। नेमि—चक्रधारा। वत्सूरक—शुष्क मांस। आसंगिम—अनात् आसंगिमः। इस बंध में आभ्यन्तरपाली का संंधान पालीमूल के पास किया जाता है। गण्डकर्ण—इस बंध में ल से मांस का भाग निकाल कर बाह्यपाली के साथ जोड़ा है अर्थात् कपोल से मांस निकालते समय उसका संबंध कपोल के साथ रक्तप्रचार के लिये रखना चाहिये। षष्ठ—इसमें दोनों ओर से मांस निकाल कर पाली बनाई गी है। पीठोपमपाली—जब पाली के दोनों भाग मूल से हो जाते हैं तब पीठोपम कहते हैं। व्यायोजिम—लेखन विपमता दूर करके जब संंधान किया जाता है तब योजिम कहते हैं—‘वैपम्यं लिखित्वा वधने योज्यते’ इति व्यायो-। पुनिका—कर्णपाली के ऊपर कर्णकुहर के दोनों तरफ जो ऊपर उभार होते हैं, उनको पुनिका कहते हैं। अंग्रेजी में इन ट्रेगस और अंटी ट्रेगस (Tragus and Anti tragus) कहते हैं।

संक्षिप्तादयः पञ्चासाध्याः। तत्र शुष्कशण्डकुलि-सन्नपालिरितराल्पपालिः संक्षिप्तः; अनधिष्ठान-लिः पर्यन्तयोः क्षीणमांसो हीनकर्णः; तनुविपमा-पालिर्वल्लीकर्णः; ग्रथितमांसस्तब्धसिरासंतत-रामपालिर्यष्टिकर्णः; निर्मांससंक्षिप्ताग्राल्पशोणित-लिः काकौष्टक इति। चक्षेवपि तु शोफदाहराग-कपिडकाप्रावयुक्ता न सिद्धिमुपयान्ति ॥११॥

संक्षिप्तादि पाँच बंध असाध्य हैं। उनमें से जब कर्ण की कुलि शुष्क हो, पाली का एक भाग नष्ट हो और दूसरा भाग भी अल्प हो तब संक्षिप्त बंध का प्रयोग करना चाहिये। जब पाली के दोनों भाग नष्ट हो गये हों और पाली के दोनों भाग गाल पर मांस बहुत कम हो तब हीनकर्ण बंध का प्रयोग करना चाहिये। जब पाली के दोनों भाग पतले, अल्प और विपम हों तब वल्लीकर्ण बंध का प्रयोग करना चाहिये। जब पाली के मांस में ग्रथियाँ हों, सिराओं की कुटिलता तथा सुरता हो और पाली छोटी हो तब यष्टिकर्ण बंध का प्रयोग करना चाहिये। जब पाली मांसरहित हो, उसके अग्र अत्यंत लम्बे हों और उसमें रक्त की कमी प्रतीत हो तब काकौष्टक बंध का प्रयोग करना चाहिये। बंधन करने पर भी यदि सूजन, लाल, सुर्खी, पक जाना, फुंसियाँ होना, और (रक्त का या अन्य) साव होना इत्यादि उपद्रव हों तो संंधान ठीक नहीं होता है ॥११॥

वक्तव्य—कर्णशण्डुलि—यह कान का वह भाग है, जिसमें छिद्र कराकर गिर्या बालियाँ पहनती हैं। साधारण बोलचाल में इसको ही कान कहते हैं। इसका आकार सीप जैसा होता है। इसमें कई उभार और दबाव होते हैं। इसके नीचे वाला मृदु और अवलंबनस्य जो भाग होता है, उसे पाली कहते हैं। पाली मृदु होने का कारण यह है कि उसमें तरुणास्थि नहीं होती, फेबल तांतव (Fibrous) घातु और थोड़ी चरबी होती है। कर्णशण्डुलि के श्रेय भाग में तरुणास्थि होती है, जिससे वह भाग किंचित् कड़ा होता है। अंग्रेजी में कर्ण-शण्डुलि को ‘पिना’ या ‘अरीकुला’ (Pinna, Auricle) कहते हैं। वन्येषुपि—यदि गोफादि उपद्रव उत्पन्न हों तो साध्य बंध भी असाध्य हो जाते हैं।

भवन्ति चात्र—

यस्य पालिद्वयमपि कर्णस्य न भवेदिह।

कर्णपीठं समे मध्ये तस्य चिद्धा विवर्धयेत् ॥१२॥

जिसके कान की दोनों पाली न हों उसका कर्णपीठ ठीक बीच में बंधन करके वर्धन करना चाहिये ॥१२॥

वक्तव्य—इस श्लोक में निर्वेधिम बंध का सन्धानसूत्र वर्णन किया है। निर्वेधिम में अन्य स्थान में वेध किया जाता है, इसलिये निर्वेधिम कहते हैं। कर्णपीठ—कर्णशण्डुलि में जहाँ से पाली का प्रारंभ होता है, वह स्थान। यह स्थान बाह्य-पुनिका (Anti tragus) का समीपवर्ती भाग होता है।

वाह्यायामिह दीर्घायां सन्धिराभ्यन्तरो भवेत्।

आभ्यन्तरायां दीर्घायां वाह्यसन्धिरुदाहृतः ॥१३॥

यदि बाहर की तरफ की पाली बड़ी हो तो भीतर को संंधान करना चाहिये और यदि भीतर की तरफ की पाली बड़ी हो तो बाहर की तरफ संंधान करना होता है ॥१३॥

वक्तव्य—इस श्लोक में अर्धकपाटसंधिक और कपाट-संधिक बंधों का संंधानसूत्र वर्णन किया है। वाह्य—गण्डदूरवर्ती। आभ्यन्तर—गण्डसन्निकृष्ट।

एकैव तु भवेत् पालिः स्थूलापृथ्वी स्थिरा च या।

तां द्विधा पाटयित्वा तु छित्त्वा चोपरि सन्धयेत् ॥१४॥

यदि एक ही और पाली मोटी चौड़ी और स्थिर हो तो उसे (ऊपर की तरफ) बीच से चीर कर (वह चीरा हुआ भाग) दूसरी तरफ जोड़ देना चाहिये ॥१४॥

वक्तव्य—इस श्लोक में आसंगिम और गण्डकर्ण बन्ध का सन्धानसूत्र वर्णन किया है।

गण्डादुत्पाद्य मांसेन सानुबन्धेन जीवता।

कर्णपालीमपालेस्तु कुर्यान्निलिख्य शास्त्रवित् ॥१५॥

शास्त्र जानने वाला (कर्मकुशल) वैद्य यदि पाली न हो तो कपोल-प्रदेश से जीता तथा थोड़ा संबंध रख मांस निकाल कर (पाली संंधान करने के स्थान पर थोड़ा) लेखन करके उससे पाली बना दे ॥१५॥

वक्तव्य—इस श्लोक में आहार्य बंध का संंधान सूत्र वर्णन किया है। सानुबन्धेन—कपोल प्रदेश के साथ कुछ संबंध रखता हुआ। इस संबंध से निकाले जा मांस में रक्त का

सचार होकर उमकी जीवितायम्या आवश्यक काल तक स्थायी हो सकती है । जीवना—रक्त युक्त तथा रसादि भावना युक्त ।

अतोऽन्यतमं वन्धं चिक्रीर्षुंरप्रोपहंरणीयोक्तो-
पसंभृतसंभारं विशेषतश्चात्रोपहरेत् सुरामण्डं
क्षीरमुदकं धान्याम्लं कपालचूर्णं चेति । ततोऽ-
ङ्गनां पुर्यं वा प्रथितकेशान्तं लघु भुक्तधन्तमातै.
सुपरिगृहीतं च कृत्वा वन्धमुपधार्यं छेद्यमेचलेख्य-
व्यधनैरपपद्मैरपपाय - कर्णशोणितमवेह्यं दुष्टम-
दुष्टं वेति; तत्र वातदुष्टे धान्याम्लोष्णोदनाभ्यां
पित्तदुष्टे क्षीतोदकपयोभ्यां श्लेष्मदुष्टे सुरामण्डो-
ष्णोदकाभ्यां प्रचाल्य कर्णौ, पुनरवलित्यानुष्रतमही-
नमविषमं च कर्णसन्धिं सन्निवेद्य, स्थितरक्तं सन्द-
ध्यात् । ततो मधुघृतेनाभ्यज्य पितुष्णोतयोरन्यत-
रेणमधुषुष्य स्त्रेणानवगाढमनीतिशिथिलं च घृत्वा
कपालचूर्णेनावकीर्णचारित्रमुपदिशेद्विभ्रणौयोक्तैः
च विधानेनोपचरेत् ॥१६॥

इनमें से कोई बंध करने की इच्छा हो तो अमोपहरीणीय
अध्यायोंक सामग्री मगान कर, (इमके अतिरिक्त) विशेष
करके सुरामण्ड, दूध, पानी, कानी और ठिक्रों का चूर्ण इन्हें
भी पाम रख ले । तदनंतर पुण्य हो या खी हो, उसके बाल
गुधवाकर, हल्का मोहन कराकर, आसन्ननों में उते ठीक
पकड़वाकर योग्य बंध का निर्णय कर और छेदन, भेदन,
लेपन तथा व्यथन क्रियाओं में से योग्य क्रिया की अगीकार
कर कान के रक्त को देवे कि वह शुद्ध है या किसी दोष से
दूषित है । यदि घान से दूषित हो तो काजी और गरम जल
में, पित्त से दूषित हो तो ठंडे पानी और दूध में, कफ से
दूषित हो तो सुरामण्ड और गरम जल में दोनों कर्णों को धो
कर फिर उसे अवेग्यन करके कर्णसंधि को हम प्रकार स्थापित
करे कि वह न डेंचा न छोटा और न देड़ा रहे और रक्तदाव
बंद करके (सूचीसूत्रादि से) उसका संयान करे । तदनंतर
मधु और तैल लगा कर रहे या कण्ठा उपर रहकर सूत्र से
न बहुत बढा न बहुत ढीला बांध दे और ठिकरी का सूत्र उस
पर हुरका कर आहार विहार का उपदेश करे और द्विजनीयोक
विधान के अनुसार मण की चिकित्सा करे ॥१६॥

वृत्तव्य—सुरामण्ड—मध का उपरितन स्वल्प भाग ।
कण्ठचूर्ण—नवीन मिट्टी के बरतन के टुकड़े का चूर्ण । कण-
मुपधार्य—पाली का निरिक्षण करके छिन्न बंध का प्रयोग करना
चाहिये इसका नियम कर । सन्निवेश—सुपाढ रूप से स्थापित
करके ।

भयपति धारण—

विद्यहृत्नं विषासमं व्यापाममतिमोजनम् ।
व्यापाममिसंस्तापं पाक्ष्ममं च विपजयेत् ॥१७॥

१ अयोधराल-दोलाव-सुतोरेदिरे-धान सुरामण्ड. २ अयोधेउ
ल-दुष्टदुष्टं देउ. ३ अण्ड-मामै-अतिरिक्तं विनावनकरनेउ ।
ल-लैकेन संयं स्त्रेणानवेग रिचु ॥ ४३॥ इति परिच्छेदः ४४.

कान का रगडना, दिन का सोना, परिधम, अति मोह
श्रेयुन, अग्नि के पास बैठना और अति बोलना इनका त
वरना चाहिये ॥१७॥

न चाशुद्धरक्तमतिप्रवृत्तरक्तं क्षीररक्तं वा -
दृष्यात् । स हि वातदुष्टे रक्ते रूढोऽपि परिपुष्ट
क्षान्, पित्तदुष्टे दाहपाकरागवेदनावान्, श्लेष्म
स्तब्धः कण्डूमान्, अतिप्रवृत्तरक्तं श्यावशोफवत्
क्षीणोऽल्पमांसो न वृद्धिमुपैति ॥१८॥

(बंध के समय पाली से) यदि अशुद्ध रक्त निकलना ।
बहुत रक्त निकलना हो या रक्त बिलबुल ही न निकलता ।
तो उसे सफिन नहीं, करना चाहिये । क्योंकि वातदूषित र
से शुद्धने पर भी परिपोट हो जाता है, पित्तदूषित रक्त से रा
पाक और वेदना होती है, कफदूषित रक्त से सुन हो जाता
और खाज हो जाती है, अति रक्त बहने से काला और गोषु
होता है और गूध, श्लेष्मक, न. मोने.ने. उस पर मांस न
उठता न उसकी ठीक वृद्धि होती है ॥१८॥

वृत्तव्य—परिपुष्ट—त्वचा का फट जाना या मिश्र
(वि २५) मन्थायोक १८
हृद्गाप्रभिमर्चने । कर्णरोगो भवेत् पत्वां मरुत् परिपोटवत् ॥ ८

आमतेलेन त्रिरात्रं परिपेचयेत्,
परिचतयेत् । स यदा सुरुढो निरुपद्रवः
भवति तदैवं शनैश्शनैरमिबधयेत् ।
शंरम्भदाहपाकरागवेदनावान्; पुनरिच्छयते वा ॥१९॥

तीन दिन तक कच्चे तेल का परिपेक करे और तीसरे
रहे का फोया भी पलट दे । जब वह ठीक शुद्ध जाव, उन
कुछ भी उपद्रव न रहे और त्वचा के रंग में रंग मिल जाव त
उसके छिद्र को धीरे धीरे बढाये । इसके विपरीत करने से शं-
दाह, पाक, सुखी तथा पीडा हो जाती है अपना फिर क
जाता है ॥१९॥

अथास्याप्रदुष्टस्याभिधर्धनार्धमभ्यङ्गः । तद्यत्
—गोधाम्रतुर्विचिकिरानुषौदकयसामङ्गलौ एव
हृपित्तैले गौरसर्पपत्रं च यथालामं संशुष्यात्क
श्लेष्मतिथलानन्तापामार्गोभ्यगन्धाद्यादिरिगन्धा
शुक्लाजलशूकमधुसर्पगोपयस्याप्रतिघारं तैलं च
पाचयित्वा स्वतुगुप्तं निद्रुष्यात् ॥२०॥

अब शुद्ध कर्णपाली बढाने के लिये वह अर्धमा है ।
गोपा, प्रदुष्ट, विचिकर, आनुष, क्षीरकवरी के प्राक्षिणों
बर्षी, मन्ना तथा दूध, एन और सफेद सरसों का तेल इन
को जितने मिल सके इकट्ठा कर उनको जाक, मन्दा, कण
अतिवला, अनन्ता, मयामार्ग, अथगन्धा, शासिपर्ण, और
कुहा, शम्भूक, क्षीरकाकोनी और मधुराग्री की कोरफियों के
साथ पकाने या अर्कादि कोरफियों को तिलतैल के साथ पकाने
और सुखित रखने ॥२०॥

वृत्तव्य—यदमिभ्यापूर्वक । मधुर—करोड पतल
वृत्तव्य—यदमिभ्यापूर्वक । मधुर—करोड पतल
वृत्तव्य—यदमिभ्यापूर्वक । मधुर—करोड पतल

तक्षेति, प्रभुं प्रभुः सन्ताः । (परक) । मानू—चराह महि-
। औदक—रहित मत्स्यादि । अण्डक—जलनीमिका, शेषाल,
हसी कीट विशेष । मधा, पन्था, पूत और मरुपर्वत इनमें
दि कन्क छंडकर चतुर्गुणा दूध के साथ पकाना चाहिए ।
।—अर्कादि अंगुष्ठियों के साथ चतुःस्रोत का एक अर्धंग
दूसरा अर्धंग तिलसैल के साथ होता है ।

देतोन्मर्दितं फण्यं स्नेहेनैतेन योजयेत् ।
। अनुपद्रवः सम्यग्बलवाञ्छ विवर्धते ॥२१॥
स्नेद और मालिस किये हुए कान पर एग तैल का उप-
करे । इससे उपद्रव रहित कान बलवान् और वर्धित हो
। है ॥२१॥

। श्वगन्धायष्ट्यासैस्तिक्तैश्चोद्धर्तनं हितम् ।
(कान पर अर्धंग करने के पश्चात्) जी, श्वगन्धा,
हरी और तिल-प्राय कर उसका उबदन करना हितकर
। है ।

। त्वयैश्वर्यगन्धाभ्यां पयस्यैरनुजीवनैः ॥२२॥
। चिपकं सक्षीरमभ्यङ्गात् पालिवर्धनम् ।
शतावरी, अश्वगन्धा, क्षीरकाकोनी, एण्ड और जीवनीय
गंधियों के साथ ॥२२॥ दूधयुक्त तैल पकाये और उसकी
लेग करने से कर्णपाली की वृद्धि होती है ।

। तु कर्णा न वर्धन्ते स्वेदस्नेहोपपादिताः ॥२३॥
। तामपाङ्कदेशे तु कुर्यात् प्रच्छानमेव तु ।
। छच्छेदं न कुर्वीत व्यापदः स्युस्ततो ध्रुवाः ॥२४॥
। जो कान स्वेदन और स्नेहन करने पर भी नहीं बढ़ते हैं,
के अर्धंग प्रदेश में प्रच्छान करना चाहिये । याहाप्रदेश में
अन न कर क्योंकि उससे निश्चितरूप से विकार हो
ते हैं ॥२३-२४॥

। वक्तव्य—अर्धंगदेश—दक्षीणुश्रिका के किंचित् नीचे ।
। कान—छोटा या छिद्र—प्रशान्द रूपसे । दाहच्छेद—कर्णकुहर
बाहरी पाली में छेद ।

। इमात्रं तु यः कर्णं सहसैवाभिवर्धयेत् ।
। मकोशी समाध्मातः क्षिप्रमेव विमुच्यते ॥२५॥

। पाली का संधान होते ही यदि पाली को बढ़ाया जाय तो
की अपक होने से सूज कर फिर ग्रीध ही कट जाती है ॥२५॥
। तरोमा सुवर्त्मा च श्लिष्टलन्धिः समः स्थिरः ।
। रुद्धोऽवेदनो यश्च तं कर्णं वर्धयेच्छुनैः ॥२६॥
। जब रोग उत्पन्न हो जायें, छिद्र ठीक हो, लन्धि मिल गई
।, पालि सम और दृढ़ हो, घण का रोपण पूर्ण हो गया हो
। तरे कुछ भी पीड़ा न हो तो कर्ण को धीरे-धीरे पढ़ाया
। हिये ॥२६॥

। वक्तव्य—सुवर्त्मा—शोभनच्छिद्रः ।
। मिताः कर्णवन्धास्तु विदोयाः कुशलेरिह ।
। ते यथा सुविशिष्टः स्यात्तं तथा विनियोजयेत् ॥२७॥

१ विभिनाऽनेन योजिताः. २ तेषामपाङ्कदेशे हि कार्यनाम्नन्तारं
। विव. ३ व्यापयः स्युः. ४ सुनिविष्टः.

। कर्णपालिसंधान के अस्तंग बंध होते हैं । जहाँ जो ठीक
। हो, वहाँ उपद्रव देश उसी की योजना करे ॥२७॥

। कर्णपाल्यामयान्गुणां पुनर्व्यध्यामि सुधुत ! ।
। कर्णपाल्यां प्रकुपिता चातपित्तकफास्तयः ॥२८॥
। द्विधा वाऽप्यथ संश्रुष्टाः कुर्वन्ति विविधा रजः ।
। चिस्फोटः सत्वता शोफः पाल्यां दोषे तु चातिके ॥२९॥
। दाहचिस्फोटजननं शोफः पाकश्च पैत्तिके ।

। कण्डूः सश्वययुः स्तम्भो गुरुत्वं च कफात्मके ॥३०॥
। हे सुधुत ! मनुष्यों के कर्णपाली के रोग फिर हम कहते
। हैं । कर्णपाली में जल, पित्त और कफ एक-एक दो-दो और
। तीतां मिलकर अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न करते हैं । उनमें
। से फोड़ा, स्पर्शाश्व्य और शोथ वान दोष से होते हैं ॥२८-२९॥

। दाह, फोड़ा, शोथ और पाक वे पित्त से होते हैं । कण्डू,
। शोथ, कड़ापन और भारीपन ये कफ से उत्पन्न होते हैं ॥३०॥
। यथादोषं च संशोध्य कुर्यात्तेषां चिकित्सितम् ।
। स्वेदाभ्यङ्गपरीपेकैः प्रलेपान्गुण्विमोक्षणैः ॥३१॥
। मृद्धीं क्रियां वृंहणीयैर्यथास्वं भोजनैस्तथा ।

। य एवं वेत्ति दोषाणां चिकित्सां कर्तुमर्हति ॥३२॥
। दोष के अनुसार उसका संशोधन करके सोदन, अर्धंग,
। परिपेक, प्रलेप और रक्तमोक्षण से चिकित्सा करे ॥३१॥
। तथा वृंहण और यथोचित व्यायाम इनमें से उसका संगमन
। करे । ऐसा जो जानता है, वही दोषों की चिकित्सा कर
। सकता है ॥३२॥

। अत ऊर्ध्वं नामलिङ्गैर्वच्ये पाल्यामुपद्रवान् ।
। उत्पाटकश्चोत्पुटकः श्यावः कण्डूयुतो भृशम् ॥३३॥
। श्वमन्थः सकण्डूको ग्रन्थिको जम्बुलस्तथा ।
। स्रावी च दाहवाञ्छैव शृग्वेषां क्रमशः क्रियाम् ॥३४॥

। अब यहाँ से पाली के उपद्रवों का वर्णन उनके अन्वर्थ
। नामों से करते हैं । उत्पाटक, उत्पुटक, श्याव, कण्डूयुत ॥३३॥
। अवमन्थ, सकण्डूक, ग्रंथिक, जम्बुल, स्रावी और दाहवान् (ये
। दस पाली के उपद्रव हैं) । अब क्रम से इनकी चिकित्सा
। सुनो ॥३४॥

। वक्तव्य—नामलिङ्गैः—नामभिराख्यातानि लिङ्गानि नाम-
। लिङ्गानि तेः । नाम से ही जिनके लक्षण मालूम होते हैं ।
। उत्पाटक—जिसमें भीतर पाक होने के कारण फूटने की सी
। पीड़ा होती है । उत्पुटक—जिसमें मांसवृद्धि अधिक होकर
। उपर पपड़ी आ जाती है । श्याव—जिसमें वर्ण काला नीला हो
। जाता है । अवमन्थ—जिसमें भीतर मंथन की भाँति पीड़ा होती
। है । जम्बुल—जिसमें जम्बुफलसदृश वर्ण हो जाता है । कण्डू-
। युत, दाहवान्, स्रावी इनके अर्थ सरल हैं । इन सब उपद्रवों में
। पाली में शोथ जरूर रहता है और इसके सिवाय जो विशेष
। लक्षण होते हैं, उनके अनुसार नाम रखे गये हैं ।

। अपामार्गः सर्जरसः पाटलालुकुचत्वचौ ।
। उत्पाटके प्रलेपः स्थालैलेभिश्च पाचयेत् ॥३५॥
। उत्पाटक में अपामार्ग, राल, पाटला और लुकुच की त्वचा
। का प्रलेप करे या इनको तैल में पकाकर (लगावे) ॥३५॥

शाम्पाकदिप्रपूर्तीकान् गोधामेदोऽथ तद्वसाम् । -
 वाराहं गन्धमैण्यं पित्तं सर्पिश्च संसृजेत् ॥३६॥
 लेपमुत्पुटके दद्यात्तैलमेभिश्च साधितम् ।
 उत्पुटके उपद्रव में अमलनाम, सैजन, करज, गोधा की
 चरबी और वसा, सूकर गी और हरिण इनका पित्त तथा घृत
 एकत्र करके लेप करे या इनमें तैल साधन करने लगावे ॥३६॥
 गौरीं सुगन्धां सदयामामनन्तां तरुडुलीयकम् ॥३७॥
 श्यामे प्रलेपन दद्यात्तैलमेभिश्च साधितम् ।
 श्याव उपद्रव में इल्ली, सुगन्धा, श्यामसरिवा और
 चीलाई इनका लेप करे या इनमें तैल पकाकर लगावे ॥३७॥
 पाठां रसाज्जनं क्षौद्रं तथा म्यादुष्यकाञ्जिकम् ॥३८॥
 दद्यात्लेपं सरुण्डके तैलमेभिश्च साधितम् ।
 मणीभूतस्य देयं स्यादिदं तैलं विज्ञानता ॥३९॥
 मधुकदीरकाकोलीजीवकाद्यैर्विपाचितम् ।
 गोधावराहसर्पाणां वसाः स्युः शृतवृंहणे ॥४०॥
 सरुण्डके उपद्रव में पाठा, रसांत, मधु और उष्ण काजी
 इनका लेप करे या इनमें तैल पकाकर लगावे । यदि ब्रश्च हुआ
 हो तो विद्राव वैद्य मुल्हटी, क्षीरकाकाली जीवकादि औषधियों
 से पकाया हुआ तैल लगावे और जहाँ (पानी की शुष्कता
 में) वृंहण की प्रयत्नता हो वहाँ गोधा, सूकर और सर्प की
 वसा का अर्घ्यजन करे ॥३८-४०॥
 प्रलेपनमिदं दद्यादवसिष्ठयावमन्यके ।
 प्रपौएडरिक्तं मधुकं समह्रां धनमेव च ॥४१॥
 तैलमेभिश्च संपक्कं—
 अवमन्यके उपद्रव में प्रक्षालन करके कमल, मुल्हटी,
 लज्जानु और धव इनका प्रोष्य करे या इनमें तैल पकाकर
 लगावे ।
 —शृणु कण्डूमतः क्रियाम् ।
 सहदेया विभ्यदेवा अजादीर ससैन्धवम् ।
 पतैरालेपनं दद्यात्तैलमेभिश्च साधितम् ॥४२॥
 कण्डूम् (गण्डूक) उपद्रव में सहदेवा, विभ्यदेवा (बला
 के दो भेद), बरती का दूध और सैन्धव इनका लेप करे या
 इनमें तैल पकाकर लगावे ॥४२॥
 ग्रन्थिके मुटिकां पूर्वं क्षारयेदवपात्य तु ।
 ततः सैन्धवपूर्णं तु घृष्टा लेपं प्रदापयेत् ॥४३॥
 ग्रन्थिक में प्रथम मर्ची का क्षार कर एक निकाने फिर
 सैन्धव माल कर (हनी का) लेप करे ॥४३॥
 लिङ्गिन्या तत्स्थानं घृष्टां चूर्णैर्गोभ्रम्य जम्बुले ।
 क्षीरेण प्रविमार्ज्येन शुद्धं रोगोपयेत्ततः ॥४४॥
 जम्बु में लेपन से एक निकान कर सैन्धव का पूर्ण लेप
 कर दूध से शुद्ध करे और शुद्ध करने पर (मणिकपिन के
 अनुपात) उसका रोग्य करे ॥४४॥
 मधुपर्णा मधूकः च मधुकं मधुना सह ।
 लेपं स्यादिति दातव्यस्तैलमेभिश्च साधितम् ॥४५॥

सावी उपद्रव में गिलोय, महुआ, मुल्हटी इनको पीस व
 मधुमह लेप करे या इनमें तैल पका कर लगावे ॥४५॥
 पञ्चवलकैः समधुकैः पिष्टैस्तैश्च घृतान्वितैः ।
 जीवकाद्यैः ससर्पिकैर्दह्यमानं प्रलेपयेत् ॥४६॥
 दाह में पचवलक्यों को पीस कर मधु और घृत सहित ले
 करे अथवा जीवकादि औषधियों को पीस कर उसका घृत
 लेप करे ॥४६॥
 वृक्तव्य—पचवलक—न्यभीषेदुम्भराक्षन्नुष्णमन्वले
 संरिक्तं मिलिते पचवलक्यमुच्यते ॥ जीवकादि—जीवनीयगण-
 जीवकर्पमर्चौ मेधा महामेधा कावेरी क्षीरकावेरी सुप्रभास
 जीवन्ती मधुकमिनि जीवनीयानि । (चरक) ।
 विश्लेषितायास्त्वथ नासिकाया,
 यस्यामि सन्धानविधि यथावत् ।
 नासाप्रमाणं पृथिवीरहाणां
 पत्रं गृहीत्वा त्वयलम्बि तस्य ॥४७॥
 तेन प्रमाणेन हि गरुडपाभ्यां-
 दुरन्तस्य वरुं त्वय नासिकाग्रम् ।
 विलिख्य चानु प्रतिसंदधीत
 तत् साधुबन्धैर्मिषगप्रमत्तः ॥४८॥
 सुसंहितं सव्यगतो यथाव-
 द्वाहीद्वयेनाभिसमीक्ष्य वज्रा ।
 प्रोप्रम्य चैनामवपूर्णयेत्तु
 पतङ्कयदीमधुकाञ्जतश्च ॥४९॥
 संछाद्य सम्यक् पिचुना सितेन
 तैलेन सिञ्चेदसहस्रतिलानाम् ।
 घृतं च पाय्यः स नरः सुजीर्णं
 क्षिग्धो विरेच्यः स यथोपदेशम् ॥५०॥
 रुद्धं च सन्धानमुपागतं स्यात्
 तदर्धशेषं तु पुनर्निरुन्तेत् ।
 दीनां पुनर्दर्धयितुं यतेत
 समां च कुर्वाणितुष्टमांसाम् ॥५१॥
 लिङ्ग नासिका की सन्धान करने की पद्धति अब व्याजिषि
 वर्णन करते हैं । नासिका के (लिङ्ग अंग के) समान क्षिमी
 दूत का पत्ता लेकर उससे बाधर कपोंब (या ल्याट) से कुछ
 अनुकूष रगने लवङ्गमांस काट कर (वन्दन द्वारा) स्थिर किये
 हुए नासिकाग्र का विन्मेषन करने (कपोल प्रोक्ष से विधान
 द्वारा) लवङ्गमांस का भाग उत (विनैरित नासिकाग्र) के
 साथ (सूषा सूत्रादि) कथन इन्हीं की सहायता से शैल
 सावधान द्वारा मंत्रणवा टीक जोड़े दे ॥४७-४८॥ तदनन्तर
 (नामात्प्रमन्य) दो मणिकपियों से नासिका को उँचा करने
 रोगी का जोड़े टीक और स्वाभाविक नासिका की भूमि देख
 कर बांध दे और उस पर लवकन्दन, मुल्हटी और रसांत
 इनका पूर्ण दूधका दे ॥४९॥ इन पर फिर सरेप कराया इक का
 निरुन्त से कराये की बार बार तर करना रहे । रोगी को दूध

नावे और जब घृत जीर्ण हो जाय तब उस स्निग्ध हुए रोगी को देश के अनुसार विरेचन दे ॥५०॥ जब घण का रोपण होकर इ भी ठीक हो जाय तब (कपोल के साथ संबंध रखने वाले) ना के हिस्से को काट दे । फिर नासा यदि छोटी या बड़ी गई हो तो उसे बढ़ाने का या बराबर करने का यत्न करे ॥५१॥

वक्तव्य—नासाप्रमाणम्—नासिका के विश्लेषित अंश की रमिति का । अवलंबि—मूल त्वचा के साथ संबंध रखने वाला । वलंबन रक्तप्रचार के लिये रक्खा जाता है । इससे ठीक धान होने के समय तक छिन्न त्वचा का पोषण होता रहता और संधान क्रिया में भी सहायता मिलती है । यह वलंबन बहुधा ऐसे स्थान में रक्खा जाता है जहाँ धमनी होती है । इसी कारण से पालि संधान में भी लिखा है—

पृष्ठादुत्पाद्य मांसेन सानुवणेन जीवता ॥ गण्डपाथात्—कपोल या गण्ड प्रदेश से । इन स्थानों से नासासंधान के लिये त्वचा लेने में दो लाभ होते हैं । प्रथम तो यह है कि दोनों स्थानों की त्वचा में समता होने से संधित नासिका स्वाभाविक दिखाई देती है । दूसरा लाभ यह है कि अनुबंध रखने के लिये सुभीता होता है । नासासंधान के लिए एक इटालियन जराह (Tagliscozzi) ने वाहु से त्वचा लेने का नया प्रयोग किया था । परंतु इसमें अनुबंध रखने के लिये रोगी का हाथ सिर पर बांध रखने की जरूरत पड़ती थी, जिससे रोगी को बहुत तकलीफ होती थी । इसलिये सुश्रुत की विधि आज भी उत्तम प्रमाणित हुई है । सानुवणैः—सूई और टाँके लगा के ठीक बंधन करना चाहिये । परंतु इनकी निशाणी स्थायी न होने के लिये दो चार दिन के बाद टाँके निकाल देने चाहिये । पुनर्निष्कन्त—अनुबंध को प्रायः दस से चौदह दिन में तोड़ सकते हैं परंतु यदि नासिका की फिर कुछ मरम्मत करने की आवश्यकता प्रतीत होती हो तो अनुबंध को उसके पश्चात् काटना हितकर होता है । वाग्भट में इस शल्यकर्म का कुछ अधिक स्पष्टीकरण किया है—अथ कुर्याद्व्यःस्यस्य च्छिन्नां शुद्धस्य नासिकाम् । छिन्नानासासंम पत्रं तत्तुद्वयं च कपोलतः । त्वग्मांसं नासिकासंने रक्षंस्तत्तनुतां नयेत् ॥ सीब्येद गण्डं ततः स्र्या सेविन्या मितुयुक्त्या । नासाच्छेदे च लिखितं परिवर्त्योपरि त्वचम् ॥ कपोलबन्धं संदध्यात् सीब्येनासां च यत्नतः । नाडीभ्यामुत्क्षिपेदन्तःसुखोच्छ्वासात् प्रवृत्तये ॥ यदि नासा का सद्यच्छेद हुआ हो तो छिन्नांश का ठीक न्यास करके सीना चाहिये—निवेशिते यथान्यासं सद्यच्छेदेऽप्ययं विधिः ॥ (अष्टांगसंग्रह उत्तर. २२) ।

नाडीयोगं विनौष्ठस्य नासासन्धानवद्विधिम् ।

य एवमेव जानीयात् स राज्ञः कर्तुमर्हति ॥५२॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने कर्णव्यवन्धविधिर्नाम षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

(टिप्पणी) होठ के संधान की विधि नाड़ियों के बिना नासासंधान की तरह होती है । जो इस प्रकार (कर्म नासा और श्रोत्र की विधि) जानता है, वह वैद्य राजचिकित्सा करने के लिये योग्य है ॥५२॥

वक्तव्य—सुश्रुतसंहिता के इस अध्याय में कर्णपाली, नासा तथा होठ के कट जाने पर शरीर के अन्य स्थान से चर्म लेकर उसी के द्वारा फटे हुए अंगों को फिर से बनाने के जो

अपूर्व और कुशल शल्यकर्म वर्णन किये हैं उनका ज्ञान पाश्चात्य देशों में होने के पश्चात् वहाँ शल्यचिकित्सा के संधानीय कर्म के (Plastic Surgery) ग्रंथ में उन्नति हुई है (The plastic Surgery of the 19th century was stimulated by the example of Indian methods. Dr. Neuberger's History of Medicine) । नासा संधानकर्म (Rhins plastic operation) सुश्रुत में ऐसी उत्तमता से वर्णन किया गया है कि पाश्चात्य शल्यशास्त्र में उसी का ही अनुकरण होता है और उस विधि का नाम भी भारतीय पद्धति (Indian method) रक्खा गया है—They have already borrowed from them the operation of Rhino plasty. Weber's History of Medicine. । इटालियन, फ्रेंच इत्यादि अन्य नई पद्धतियाँ कुछ काल तक प्रचलित थीं परंतु उनके दोष अनुभव होने पर त्याग की गई हैं और आज एकमात्र भारतीय पद्धति न्यूनाधिक फर्क करके प्रचलित है । पाश्चात्य देशों में त्वचा की भाँति हड्डी नाड़ी का भी संधान कर्म अब किया जाता है । इति भास्करशर्मणा गोविंदात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां कर्णव्यवन्धविधिर्नाम षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

सप्तदशोऽध्यायः ।

अथात् आमपकैपणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अत्र यहाँ से आमपकैपणीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—आम—आमशब्द से यहाँ आम और पच्यमान दोनों अवस्थाओं का बोध होता है । आमपकैपणीयम्—आमश्च पच्यमानश्च पक्षश्च तेषामेपणं विज्ञानं तद्विद्यते यस्मिन् तम् । आम, अर्धपक्व, और पक्वशोफ का विज्ञान जिस में वर्णन किया है ।

शोफसमुत्थाना ग्रन्थिविद्रध्यलजीप्रभृतयः प्रायेण व्याधयोऽभिहिता अनेकाकृतयः, तैर्विलक्षणः पृथुर्ग्रथितः समो विषमो वा त्वङ्नांसस्थायी दोषसंघातः शरीरैकदेशोत्थितः शोफ इत्युच्यते ॥२॥

छोटे मोटे आकार के उत्सेद्युक्त ग्रंथि, विद्रधि, अलजी इत्यादि प्रायः जो रोग होते हैं उन रोगों के लक्षणों से पृथक् लक्षणयुक्त (किंचित्) फैला हुआ, गाँठदार, सम या विषम आकार का, त्वचा और मांस में स्थित चातादि दोषों का संघात जो शरीर के एक हिस्से में उत्पन्न होता है उसे शोफ कहते हैं ॥२॥

वक्तव्य—शोफसमुत्थाना—शोफः समुत्थान आकार एषामिति अर्थात् उत्सेद्युक्त । अलजी—प्रमेहपिडका, नेत्रसंधिरोग या श्लेकदोषरोग । तैर्विलक्षणः—तेभ्यो ग्रन्थादिभ्यो व्यापिन्यः पृथक् । त्वग्मांसस्थायी—त्वचा मांसादि अष्टविध घणवस्तु के स्थान में स्थित । एकदेशोत्थित—आयुर्वेद में सर्वोपाशोफ, अधोगाशोफ, और वास्तव्यश्ल वा एकदेशोत्थितशोफ देने शोफ

के तीन प्रकार मानते हैं—आगन्तुश्लिथिभिर्निजश्च सर्वाभेगात्रा
 वयवाक्रित्वात् । (चरक) । अर्धों और सर्वांग शोफ का
 निराकरण करने के लिये एकदेशोपस्थित शब्द का प्रयोग किया
 गया है । सर्वांग या अर्धों शोफ हृदय, कृक, यकृत, इत्यादि
 प्रधान अंगों के विकार से उत्पन्न होता है और उस में सूजा
 के अतिरिक्त हृन्मियविकृति के लक्षण भी होते हैं ।
 एकदेशोपस्थित शोफ में स्थानिक लक्षणों का ही प्राधान्य होता
 है, सांघैदिक लक्षण थोड़े होते हैं । एकदेशोपस्थित शोफ को
 अग्नि में 'हृन्कमेटी इदीमा' (Inflammatory oedema)
 या केवल 'हृन्कमेयन' कह सकते हैं ।

स पङ्क्तिधो वातपित्तकफश्लेष्मणिसन्निपाता
 गन्तुनिमित्तः । तस्य शोपरूपव्यञ्जनैर्लक्षणाणि
 व्याख्यास्यामः ॥३॥

यह शोफ वातनिमित्त, पित्तनिमित्त, कफनिमित्त, श्लेष्मि
 त्निमित्त, सन्निपातनिमित्त और आगन्तुनिमित्त ऐसा छ
 प्रकार का होता है । उस शोफ के शोफ रूप की प्रकृता करके
 लक्षणों को वर्णन करते हैं ॥३॥

वक्तव्य—शोपरूपव्यञ्जने—उत्पादक शोफों का स्वरूप
 जिस प्रकार अभिव्यक्त हो जाय, उस प्रकार से स्पष्ट करके ।
 मणशोफ का आधुनिक निदान—नवीन कल्पना के अनुसार प्रत्य-
 शोफ के निम्न कारण माने गये हैं । (१) विकारी जीवाणु, (२)
 दबाव, चोट, मरोह, मोच, आघात इत्यादि । (३) अभि या
 तप्त पदार्थों से जल जाना । (४) रामायनिक पदार्थ । यथा—
 तीव्र अम्ल, क्षार, वनस्पतिज और प्राणिज विष । (५) विद्युत्
 भवाह । इन में से विकारी जीवाणु प्रणयोप' के प्रधान कारण
 होते हैं । ये सर्व कारण आयुर्वेद के अनुसार आगन्तुवर्ग में आते
 हैं—मुक्ताणि हलनायान्ते नखदशनधनातिभारामिताभाभिषक्तामि
 घातवधवधपीडनशुद्धनश्लातानिभूतोसर्पादीनि । (चरक) ।

तत्र, वातशोफोऽरुणः कृष्णो वा परुषो मृदु-
 रनवस्थितास्तोदायश्चात्र वेदनाविशेषो भवन्ति;
 पित्तशोफः पीतो मृदुः सरको वा शीघ्रानुसार्यो
 पादयश्चात्र वेदनाविशेषो भवन्ति, कफशोफः
 पाण्डुः शुक्लो वा कठिनः शीतः क्षिण्यो मन्दासुसारी
 कण्ठवाहयश्चात्र चेट्नाविशेषो भवन्ति, सर्ववर्ण-
 येदनाः सन्निपातजः पित्तवच्छ्लेष्मणिसन्निपातजोऽतिरुण्यश्च;
 पित्तरकलक्षण आगन्तुलौहित्यावमासश्च ॥४॥

इन में वात का शोफ किंचित् छाल वा काला, सुरदरा,
 मृदु होता है और उस की वेदना कभी बड़ी है, कभी घटती
 है । पित्त का शोफ पीला, मृदु, रक्तयुक्त और शीघ्र बढ़ने वाला
 होता है और उस में ज्वरन की सी वेदना विशेषतया अधिक
 होती है । कफ का शोफ हलका पीला वा सफेद, कठिन, शीत,
 क्षिण्य, मन्दा से बढ़ने वाला होता है और उस में श्वास
 खादि की श्रेद्धा अधिक होती है । जिस में सब प्रकार के
 दर्द और सब प्रकार की वेदनाएँ हों, वह सन्निपात शोफ
 है । कठिन के शोफ में पित्त के लक्षण होते हैं और शोफ विशेष
 काला होता है । जिस में पित्तशोफ और रक्तशोफ के लक्षण
 होते हैं और सुरसी चमकती है, वह आगन्तुशोफ है ॥४॥

वक्तव्य—मणशोफ के प्राय स्थाननिरपेक्ष चार
 मुख्य लक्षण होते हैं, जिन में उपर्युक्त सब लक्षणों का समावेश
 होता है—(१) शोफ या सूजन—किसी स्थान में जब 'हृन्क-
 मेयन' उत्पन्न होता है तब प्राय सूजन हुआ ही करती है
 इस साहचर्य का परिणाम यह हुआ है कि भीतरी 'हृन्क-
 मेयन' के लिये बाह्यशोफ शब्द रूढ़ हो गया है । यह शो-
 फो दो कारणों से होता है—रक्ताधिक्य और रक्त
 रक्त रस का निकल कर वहाँ के धातुओं में जमा होना
 पोले स्थान में शोफ होने से सूजन शीघ्र बढ़ने वाली और
 मृदु भी होती है । कठिन स्थान में शोफ होने से सूजन बहु-
 कम, मन्दा से बढ़ने वाली और कठिन भी होती है । कभी
 कभी शोफ के स्थान से दूरी पर सूजन दिखाई देती है
 यथा हस्ततल और पादतल के शोफ में कलाई और टखने
 पर सूजन होती है और कनपुटी के शोफ में आँसों पर सूजन
 आ जाती है । कारण यह है कि शोफ के स्थान पर आवरण
 कड़ा होने से उस का प्रभाव समीपवर्ती मृदु अंगों पर
 दिखाई देता है । (२) लोहितवर्णता—इसका भी मुख्य
 कारण रक्ताधिक्य है । प्रारम्भिक अवस्था में जब रक्तप्रवाह
 की अधिकता होती है और रक्त में प्राणवायु की राशि भी
 अधिक होती है तब शोफयुक्त स्थान का वर्ण छाल सुर्ख होता
 है जो अंगुलि के दबाते पर पीला और अंगुलि हटाने से
 पूर्ववत् छाल सुर्ख हो जाता है । दूसरी अवस्था में जब
 रक्तप्रवाह मंद होता है तथा रक्त का प्राणवायु कम होता है
 तब वर्ण किंचित् कालिमा युक्त हो जाता है और अंगुली के
 दबाने से तथा हटाने से परिवर्तन इतने शीघ्र नहीं होते ।
 (३) उष्णता— इसका भी कारण रक्ताधिक्य है । शोफयुक्त
 स्थान अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक गरम प्रतीत होता
 है । इसका प्रत्यय करने के लिये प्रथम शोफ स्थान पर कुछ
 समय तक हाथ को रखना चाहिये । मत्प्राप्त दूसरे किसी
 स्थान पर रखना चाहिये । परन्तु शोफस्थान का तापक्रम
 रक्त के तापक्रम से अधिक नहीं होता । बाह्यत्वचा की उष्णता
 भीतरी उष्णता से हमेशा कम होती है । जिस स्थान में
 शोफ उत्पन्न होता है, वहाँ रक्त का परिश्रमण उत्तम होने के
 कारण उसकी उष्णता रक्त के बराबर हो जाती है । (४)
 वेदना—शोफयुक्त स्थान में स्थानिकतः, रक्तमार, दर्द, खाते, र
 तथा सतिहा का सर्वत्र अधिक होने से वातनाडियों के अग्रों
 (Nerve terminals) पर दबाव बढ़ता है और उनका क्षोभ
 हो जाता है, जिससे वेदना प्रतीत होती है । यदि स्थान
 पोला हो तो वेदना कम होती है, यदि कठिन हो तो वेदना
 अधिक होती है । शोफ की वेदना की यह विशेषता है कि
 आभ्यन्तर वा बाह्य दबाव बढ़ाने से वेदना की वृद्धि होती
 है । यदि हाथ में शोफ हो तो हाथ नीचे लटका देने से
 आभ्यन्तरीय रक्तमार बढ़ता है और वेदना की वृद्धि होती है ।
 यदि शोफस्थान पर अंगुलि या अन्य पदार्थ से दबाव दिया
 जाय तो भी वेदना की वृद्धि होती है और इसी कारण से
 रोगी सर्वत्र सहन नहीं कर सकता । इस अवस्था को स्पृश्या
 सहेष्णुता वा पीड्याकमता (Tenderness) वदते हैं ।
 (५) इन लक्षणों के अतिरिक्त स्वर्णश्लेष्मणानि यह एक

वां लक्षण भी शोध का माना जाता है । वेदना की वृद्धि से तथा स्थानिक शरीर परमाणुओं (cells) के कार्य में । उत्पन्न होने से यह पाँचवाँ लक्षण उत्पन्न होता है । पुंक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि शोध के सर्व लक्षण धिक्व के कारण उत्पन्न होते हैं । शोध के समय रक्तवाहिनी प्रस्तुत हो जाती हैं । उन में से रक्त का प्रवाह बढ़ता और उस के साथ साथ लसिका का रजन्दन होकर धातुओं वह जमा होती है । शरीर की दृष्टि से ये परिवर्तन आवश्यक है । कारण, रक्त शरीररक्षा का प्रधान साधन रक्त ही के द्वारा शोध के स्थान में शरीरपरमाणुओं के रक्षा द्रव्य, विपनाशक वस्तुएँ, रक्षा और भक्षण सेल जाए जाते हैं । रक्त की कमी से इन आवश्यक पदार्थों की कमी हो जाती है ।

स यदा वाह्याभ्यन्तरैः क्रियाविशेषैर्न संभावितः शमयितुं क्रियाविपर्ययाद्बहुत्वाद्वा दोषाणां तदा कासिमुखो भवति । तस्यासस्य पच्यमानस्य कस्य च लक्षणमुच्यमानमुपधारय ॥५॥

विपरीत क्रिया होने से या दोषों की शक्ति अधिक होने जब शोध (लेपनादि) बाह्य और (काथपानादि) आभ्यन्तरियों से शान्त नहीं होता तब पकने लगता है । उस य के आम, अधपक और पक अवस्था के लक्षण जो हे जाएँगे उन्हें श्रवण करो और समझो ॥५॥

चक्रव्य—पहले ही कहा जा चुका है कि शोध प्रायः क्वारी जीवाणु शरीर में पहुँचने के कारण उत्पन्न होता है । जीवाणु प्रवेशस्थान के सेलों को मारकर तथा खाद्य लेकर पनी संख्या अतिशीघ्रता से बढ़ाते हैं और बढ़ाते समय बैली वस्तुएँ भी बनाते हैं जो स्थानिक सेलों को हानि पहुँचाती हैं । शरीर के सेल इन जीवाणुओं के साथ अपनी रफ से अन्य शरीररक्त सेलों की सहायता लेकर मुकाबला करते हैं और यही शोध है । संक्षेप में शोध जीवाणुओं के त्वि शरीरसेलों के युद्ध का एक लक्षण है । प्रारम्भिक अवस्था में आलेप, परिपेक, सेक, अभ्यंग, उपनाह इत्यादि आनिक (बाह्य) और छायादि (आभ्यन्तर) उपायों द्वारा शोध का परिहार धातुओं का नाश न होते हुए भी हो सकता है । परन्तु जब दोषों की (अर्थात् पर्याय से जीवाणुओं की) शक्ति अधिक होती है या योग्य उपचार योग्य समय में नहीं होते तब दोष शरीर के कुछ अंश का नाश करते हैं और शोध के स्थान में उसी से पीप बनने लगता है । शोध की प्रारम्भिक अवस्था को 'आमावस्था' कहते हैं । जब तक शरीर परमाणुओं का नाश होता है, पूय की वृद्धि होती है और पूय फैलता रहता है तब तक उस स्थिति को 'पच्यमानावस्था' कहते हैं । जब पूयोत्पत्ति बंद हो जाती है, शरीर के धातुओं का नाश होना बंद हो जाता है, पूय के चारों ओर रोक्षणवाह (Granulation tissue) की शक्ति बन कर उसका प्रसार रुक जाता है और पूय परिमित स्थान में एकत्र हो जाता है तब उस स्थिति को 'पच्यवस्था' कहते हैं । इस्का ही दूसरा नाम 'विद्रधि' है । विद्रधि के चारों ओर

शक्ति है वह रक्तवाहिनियों का जाल, श्वेतकण और स्थानिक धातुओं के सेलों से बनती है । शोध जब पाकाभिमुख होता है तब स्थानिक लक्षणों के अतिरिक्त शारीरिक लक्षण भी पाये जाते हैं । ये लक्षण जीवाणुजन्य स्थानिक विप शरीर में व्याप्त होने से उत्पन्न होते हैं ।

तत्र, मन्दोपमता त्वक्स्वरणता शीतशोफता स्थैर्यं मन्दवेदनताऽल्पशोफता चामलक्षणमुद्दिष्टम् ॥६॥

इन में से (शोध का स्थान) किंचित् उष्ण होना, त्वचा का वर्ण अन्य त्वचा के समान होना (त्वचा के वर्ण में परिवर्तन न होना), शोध में ठंडापन और काठिन्य होना, पीड़ा अधिक न होना और सूजन थोड़ी होना ये आमावस्था के लक्षण होते हैं ॥६॥

सूचिभिरिव निस्तुद्यते दृश्यत इव पिपीलिकाभित्ताभिश्च संसेष्यत इव छिद्यत इव शखेण भिद्यत इव शक्तिभिस्ताडयत इव द्रुडेन पीडयत इव पाणिना घटयत इव चाङ्गुल्या, दहते पच्यत इव चाञ्चिचाराग्याम्, ओपचोपपरीदाहाश्च भवन्ति, वृश्चिकविद्ध इव च स्थानासनशयनेषु न शान्तिमुपैति, आध्मातवस्तिरिवाततश्च शोफो भवति, त्वग्वैवर्यं शोफाभिवृद्धिर्ज्वरदाहपिपासा भक्ता-रुचिश्च पच्यमानलिङ्गम् ॥७॥

जैसे सुइयों से वेधा जाता है, चीटियों से काटा जाता है, चीटियाँ चलती हुई मारूम होती हैं, शस्त्र से चीरा जाता है, भाले से धवला जाता है, डण्डे से पीटा जाता है, हाथों से दबाया जाता है, अंगुलियों से मला जाता है, अग्नि से जलाया जाता है, त्तर से पकाया जाता है, स्थानिक पार्श्व में तथा आसमंतात् जलन होती है, विच्छू के दंश के समान पीड़ित होकर खड़े बैठे लेटे किसी प्रकार चैन नहीं पड़ता है, फूली मसक की भाँति तना हुआ शोध होता है, त्वचा का वर्ण बदल जाता है, शोध खूब बढ़ता है, ज्वर दाह प्यास और भोजन में अरुचि होती है, ये लक्षण पच्यमान अवस्था में होते हैं ॥७॥

चक्रव्य—निस्तुद्यते—शूश व्यथते । निःशब्दोऽत्र शूशार्थे । शक्ति—धरती या भाला । गोप—एकदेशिक दाह । चोप—पार्श्व-स्थानि संतापवद्वयथा । परिदाह—परि समंतात् दाह । पच्यमान अवस्था में पूय की वृद्धि होती है और वृद्धि के साथ साथ उस का दबाव चारों ओर के धातुओं पर विशेष करके वातगाण्डियों पर होने से विविध प्रकार की पीड़ा, जैसे कि ऊपर वर्णन की गई है, होती है । यदि पूय ऐसे सूदु स्थान में बनता हो कि जहाँ उसको फैलने के लिये अधिक स्थान आसानी से मिल सके तो अधिक तीव्र स्वरूप की पीड़ा नहीं होती । परन्तु यदि कड़े स्थान में स्थित हो तो थोड़े पूय से भी वृश्चिकदंश की जैसी असह्य वेदना हुआ करती है ।

चिकारी जीवाणुओं के कारण जब पाक बनता है तब ज्वर सर्वदा होता है । ज्वर, जूड़ी दुखार की भाँति, शीत के साथ

मारंभ होता है और पसीना निकल कर उतर जाता है । ज्वर के साथ साथ अरिचि, भूख न लगना, कोष्ठबद्धता, जिह्वा सूखी और मैली, मूत्र गाढ़ा और गहरे रंग का इत्यादि उसके आनुषंगिक लक्षण भी हुआ करते हैं । वाकस्थान से विप रक्त में पड़ुच कर मस्तिक के उष्णताजनक केन्द्रों (Thermogenic centres) को उत्तेजित करके ज्वर उत्पन्न करता है । जब पाक जीवाणु ये अतिरिक्त अन्य प्रकार से बनता है तब ज्वर हल्का होता है या नहीं होता ।

वेदनोपशान्तिः पाण्डुताऽल्पशोफता वली-प्रादुर्भायस्त्वक्परिपुटनं निम्नदर्शनमद्बुल्याऽवपीडिते प्रत्युन्नमनं, यस्ताविवोदकसंचरणं पूयस्य प्रपीड्यत्येकमन्तमन्ते याऽवपीडिते, मुहुर्मुहुस्तोदः करंद्भ्रुरनुप्रतता व्यापेरपद्रव्यशान्तिर्मकाभिकाइच्छा च पकलिङ्गम् ॥८॥

वेदनाओं की शान्ति, त्वचा का वर्ण फीका होना, शोथ का हल्का होना, त्वचा पर कुर्शियाँ पड़ना और दरार होना, अगुलि से दबाने पर गढ़ा पड़ना और फिर अगुलि हटाने पर उसका भर जाना, एक तरफ (अगुलि से) दबाने पर मसक में भरे हुए पानी की तरह पूय के संचार से दूसरे तरफ पीडन (माट्टम) होना, बार बार (बीच बीच में) वेदना होना, खाज, सूजन के उभार का कम होना, उपद्रवों की शान्ति, भोजन में रुचि के लक्षण पकावस्था के हैं ॥८॥

वक्तव्य—पाण्डुता—त्वचा पाण्डुर वर्ण होता । यह निर्जीव त्वचा का लक्षण है । त्वक्परिपुटनम्—त्वचा के छिलके निकलना या उस में व्रण पैदा होना । यह भी त्वचा निर्जीव होने का लक्षण है । जब शोथ पक हो जाता है, तब भीतरी पूय बाह्य त्वचा की धीरे धीरे बढ़कर उस को निर्जीव करता है और कुछ समय के पश्चात् अत्यंत निर्जीव स्थान को फाड़ कर बाहर निकल आता है । शोथस्थान में पूय की अल्पति बढ़ हो जाने पर भीतर का तनाव कम हो जाता है जिस से सूजन हल्की (अल्पशोफता) हो जाती है, त्वचा विकटने लगती है (कमीप्रादुर्भाव) और शोथ का उभार भी (अनुप्रतता व्यापे) कम हो जाता है । निम्नदर्शनमद्बुल्याऽवपीडिते प्रत्युन्नमनम्—शरीर में द्रव के कारण जो सूजन उत्पन्न होती है, वह यदि चिरकालीन न हो तो अंगुली से दबाने पर दब जाती है । कारण यह है कि दबाव के स्थान का द्रव ऊपर उठर हट जाता है । परन्तु उँगली हटाते ही फिर द्रव उसी स्थान में लौट आता है और शोथ पहले जैसा हो जाता है । अंग्रेजी में इसको 'पिटिंग आन प्रेशर'(Pitting on Pressure) कहते हैं । यह द्रवार्भ शोथ का एक प्रधान लक्षण है, जो घनशोथ (Solid Oedema or Myxoedema) में या चिरकालीन शोथ (या श्लीपद का शोथ) में क्विन्ट मिलता है । बली इत्यादि—अन्वय—अने (एकसिन्धु पात्रं) उपपीडिते (तति) बलायुक्त संचरणमिव पूयस्य (पूयस्थाने संचरण) फकमन्तम् (अपर पात्रं) प्रपीडयति (आक्रमणिव वेगेन) । पूय स्थान को एक तरफ दबाय देने से वह

द्रव पूय ही के जटिये दूसरी तरफ प्रतीत होता है । इस को छद्दी या 'तरंगसंचरणप्रतीति' कहते हैं । अंग्रेजी में इस को 'फ्लुक्चुएशन टेस्ट' (Fluctuation test) कहते हैं । शरीर के किसी परिमित स्थान में जब स्वतंत्र द्रव (Free fluid) यत्रित हो जाता है, तब यह प्रतीति मिल सकती है । बया—जबोदर, मूयन वृद्धि, पूयविद्धि, ग्रंथि (cyst) इत्यादि । यदि द्रव त्वचा के समीप हो तो यह प्रतीति बहुत स्पष्ट होती है । प्रत्यु यदि गहराई पर हो या बहुत ही तनाव के साथ भर हो तो प्रतीति मिलने में कठिनाता होती है । तो भी यदि सावधान होकर परीक्षा की जाय तो भीतरी द्रव का पता चल जाता है ।

फफजेपु तु रोगेषु गम्भीरगतिव्यादभिधातजेपु या केपुचिदसमस्तं पक्वलक्षणं हृष्टा पकमपकमिति मन्यमानो भिपद्मोद्मुपैति । यत्र हि त्वक्सयर्थता शीतशोफता स्थौल्यमल्परजताऽदमवद्य घनता, न तत्र मोद्मेमुपेयादिति ॥९॥

कफजन्य रोगों में शोथ गहराई पर स्थित होने से या अभिधातजन्य कई रोगों में पकावस्था के सम्पूर्ण लक्षण न देखकर शोथ पक्व होते हुए भी पक न समझ कर वैद्य (विक्रि ल्या में) चूक जाता है । (इसलिये) जहाँ त्वचा के वर्ण की समता, शोथ में ठंडापन, मोटापन, वेदना की अल्पता, अल्पर की भांति कटापन (ये अपकावस्था के लक्षण) होते हैं वहाँ (अन्य लक्षणों का निरीक्षण करके) पकावस्था का निदान करने में नहीं चूकना चाहिए ॥९॥

वक्तव्य—इसी अवस्था को वामट में 'रक्त पाक' कहा है—रक्तपाकमिति ब्रूयत् त प्राची मुक्तमशय ॥ गभीरगतिव्याद-गहराई पर स्थित होने के कारण । कभी कभी पाक गहराई पर स्थित होने से उसके लक्षणों को देखकर निदान करना कठिन होता है । परन्तु आज कल सूक्ष्मदर्शकयन्त्र द्वारा रोगी के रक्त की परीक्षा करने से निदान में बहुत सहायता मिलती है । रक्त में लाल कणों की भांति श्वेतकण भी होते हैं । इनकी संख्या औसत प्रति घन सहायता मीटर रक्त में ७००० से १०००० तक होती है । यूरोपसि के समय तथा न्युमोनिया विषय इत्यादि रोगों में इन की संख्या प्रति घन सहायता मीटर रक्त में ५०००० तक अधिक होती है । यदि रक्तपरीक्षा करने से इन की संख्या २०००० या इस से भी अधिक मिले और अन्य श्वेतकण वृद्धिजनक रोगों के लक्षण न हों तो पाक का निदान कर सकते हैं ।

भवन्ति चात्र—

आमं विपचयमानं च सम्यक् पकं च यो भिपक् । जानीयात् स भवेद्वैद्यः शेषास्तस्करवृत्तयः ॥१०॥
जो शोथ की आम, पच्यमान धीरे पक अवस्थाओं को ठीक जानता है वही वैद्य हो सकता है, बाकी सब तस्कर-वृत्ति होते हैं ॥१०॥

वातादृते नास्ति रुजा न पाकः
 पित्तादृते नास्ति कफाच्च पूयः ।
 तस्मात् समस्ताः परिपाककाले
 पचन्ति शोफांस्त्रय एव दोषाः ॥११॥
 कालान्तरेणाभ्युदितं तु पित्तं
 कृत्वा वशे वातकफौ प्रसह्य ।
 पचत्यतः शोणितमेव पाको
 मतोऽपरेषां विदुषां द्वितीयः ॥१२॥

वायु के बिना पीड़ा नहीं होती, पित्त के बिना पकने का
 र्थ नहीं होता, कफ के बिना पूय नहीं होता। इसलिये
 रिपाक के समय में तीनों दोष शोध को पका देते हैं ॥११॥
 कालान्तर में प्रचुद्ध हुआ पित्त अपने बल से वात और कफ
 न को विचय कर रक्त को पका देता है और यही पाक होता
 है, ऐसा कई वैद्यों का (पाक के संबंध में) दूसरा मत है ॥१२॥

वक्तव्य—इन श्लोकों में आयुर्वेदिक कल्पना के अनुसार
 रक्त के सम्बंध में दो मत प्रदर्शित किये हैं—पूर्वदर्शने कफात्
 रक्तः, अब दर्शने शोणितात् पूय इति विशेषः । (मधुकोगव्याख्या) ।
 एक मतानुसार कफ से पूय बनता है और दूसरे मतानुसार
 रक्त से पूय बनता है। इस में संदेह नहीं कि शोध के स्थान
 में पाकविधि से जो तरल पदार्थ उत्पन्न होता है, वही 'पूय'
 है। अंग्रेजी में पूय को 'पस' (Pus) और पाकविधि को
 (Suppuration) सप्युरेशन कहते हैं। यदि पूय का परिष्करण
 रासायनिक और सूक्ष्मदर्शक दृष्टि से किया जाय तो पूय
 क्या है, इस का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। शोध का स्थान
 एक दृष्टि से रणभूमि है, जहाँ शरीर के शत्रु और शरीर के
 रक्तकों में घनघोर युद्ध होता रहता है। दोनों अत्यंत सूक्ष्म
 अतएव अप्रत्यक्ष होने के कारण उनके युद्ध का चित्रपट दृष्टि के
 सामने नहीं होता। परन्तु सूक्ष्मदर्शक यन्त्र की सहायता से
 यह अप्रत्यक्ष दृश्य अब प्रत्यक्ष हो गया है। वास्तव में सारे
 रोगोत्पादक जीवाणु शरीर के शत्रु हैं, परन्तु पाकविधि में
 केवल पूयजनक (Pyogenic) जीवाणुओं का सम्बंध
 आता है। पूय के उत्पन्न करने में निम्न जीवाणु भाग लेते हैं—
 स्ट्रेफिलोकोकस, स्ट्रेप्टोकोकस, न्यूमोकोकस, बैसीलस पायो-
 सायनीअस, मेनिंगोकोकस, गोनोकोकस, बैसीलसकोलाइड,
 बैसीलस टायफोसस (आंत्रिकज्वर का जीवाणु), बैसीलस
 न्युवरक्युलोसिस (राजयक्ष्मा का जीवाणु) और अक्विटो-
 माइसीस (मेरा, जीवाणुविज्ञान ग्रंथ ३९ देखो)। इन में से
 स्ट्रेफिलोकोकस, स्ट्रेप्टोकोकस और न्यूमोकोकस पूयस्थान
 में हमेशा पाये जाते हैं। ये जीवाणु जब किसी स्थान में
 प्रविष्ट हो जाते हैं तो प्रथम वहाँ शोध उत्पन्न करते हैं। अब
 उस स्थान में पहले की अपेक्षा रक्त अधिक आता है और
 अधिक शीघ्रता से भ्रमण भी करता है। इसी रक्त द्वारा शोध
 के स्थान में शरीररक्तक सैन्य पहुँचता है। शरीररक्तक के
 लिये सब से महत्त्व के सेल रक्तगत श्वेतकण होते हैं। वे वहाँ
 अधिक संख्या में पहुँच जाते हैं। ये श्वेतकण जीवाणुओं का

भक्षण करते हैं। अतः इनको भक्षक सेल (Phagocytes)
 भी कहते हैं। भक्षण किये हुए जीवाणु इनके शरीर में सूक्ष्म-
 दर्शक द्वारा दिखाई देते हैं। जहाँ जीवाणु होते हैं, वहाँ इनकी
 दौड़ मच जाती है और दोनों में उस स्थान पर युद्ध ठन जाता
 है। यदि जीवाणु निर्बल और कम संख्या में हों तो शरीर के
 सेलों का नाश ही होते हुए भी शोध का परिहार हो जाता है
 और पूय नहीं बनता। इस स्थिति को शमन (Resolution)
 कहते हैं। यदि जीवाणु अधिक संख्या में और अधिक शक्ति-
 मान् हों तो इस युद्ध में असंख्य स्थानिक धातुओं के सेल,
 श्वेतकण तथा जीवाणु भी मृत हो जाते हैं। तब शत्रुओं पर
 विजय मिलता है और शोध का परिहार होता है। इस स्थिति
 को पूयभवन (Suppuration) कहते हैं। पूय क्या है—
 उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट होगा कि पूय मृत सेलों से ही
 बना है। उस में जिस स्थान में शोध होता है उस के मृत
 सेल, मृत पूयजनक जीवाणु और मृत श्वेतकण होते हैं। इन
 के सिवाय कुछ लाल कण और जीवित जीवाणु तथा श्वेतकण
 भी होते हैं। पूय का गाढ़ा भाग इन्हीं चीजों से बनता है।
 पूय का तरल भाग रक्त रस से बनता है और लसिका की तरह
 अल्पयूमिन, जीवाणुविष इत्यादि पदार्थयुक्त होता है। पूय में
 करीब ९०% जलाशय होता है। उसकी गुरुता १.०३० और
 प्रतिक्रिया क्षारीय होती है। उस से एक प्रकार की गंध आती
 है। यदि बैसीलस कोलाइड से पूय बन गया हो तो उसमें मल
 के समान दुर्गंध आती है। इस का रंग बहुधा हलका पीला
 होता है परन्तु यदि बैसीलस पायोसीनिअस से पूय उत्पन्न
 हुआ हो तो उस का रंग नीला हरा होता है। पूयजनक
 जीवाणुओं के विशेष विवरण के लिये ग्रंथकार का 'संक्षिप्त-
 जीवाणु विज्ञान' देखो। कभी कभी जीवाणुओं के सिवा भी पूय
 बनता है। इस प्रकार का पूय यकृतविद्रधि, स्त्रियों के बीज-
 वाहिनी का विद्रधि (Pyosalpinx) और रासायनिक
 द्रव्य से उत्पन्न हुए शोध में मिलता है। इस से यह स्पष्ट
 है कि पूय अधिकांश रक्त से ही बनता है। जिस पूय में
 जीवाणु नहीं होते उस को जीवाणुरहित पूय (Sterilepus)
 कहते हैं।

तत्र, आमच्छेदे मांससिरास्त्रायस्थिसन्धिग्या-
 पादनमतिमात्रं शोणितातिप्रवृत्तिर्वेदनाप्रादुर्भावोऽ-
 वदरणमनेकोपद्रवदर्शनं क्षतविद्रधिर्वा भवति ।
 स यदा भयमोहाभ्यां पक्वमप्यपकमिति मन्यमान-
 श्चिरमुपेक्षते व्याधिं वैद्यस्तदा गम्भीराणुगतो
 द्वारमलभमानः पूयः स्वमाश्रयमवदी(दा)र्योत्सङ्गं
 महान्तमवकाशं कृत्वा नाडीं जनयित्वा कृच्छ्रासाध्यो
 भवत्यसाध्यो वेति ॥१३॥

आम (या अपक) अवस्था में शोध चीरने से मांस, सिरा,
 स्नायु, अस्थि और संधियों का अधिक नाश, रक्त का अधिक
 स्राव, वेदना की उत्पत्ति, विदारण, अनेक उपद्रव अथवा
 क्षतविद्रधि ये उत्पन्न होते हैं। और यदि भय या अज्ञान से
 पक्व शोध को अपक समझ कर वैद्य बहुत समय तक उस को
 रहने दे तो गहराई पर स्थित हुआ पूय बाहर द्वार न मिलने

के कारण अपने स्थान को विदीर्ण कर (अपने चारों ओर) गहरा और बड़ा अवकाश बना कर नाडी पैदा कर देता है, जिस से वह शोथ कष्टसाध्य या असाध्य हो जाता है ॥१३॥

घक्तव्य—क्षतविद्रधि—आग तुविद्रधि । घाग्घट में क्षतविद्रधि के स्थान में क्षतविसर्प दिया है । नाडा—नलिका की तरह पूय का सवा मार्ग । अग्नेजी में नाडी को 'साहस्रस' (Sinus) कहते हैं । शोथ की आमावस्था में शरीर के श्नु तथा रक्त आपस में मिले हुए रहते हैं, रक्त का आधिपत्य होता है, त्याज्य द्रव्य एक स्थान में इकट्ठा नहीं होता और बाह्य त्वचा जिस में से होकर पूय बाहर निकल आता है श्रुत नहीं होती । अतः इस अवस्था में चीरने से शरीर के घातुओं का अधिक नाश, रक्त का अधिक छ्राव, शरीर के लिये त्याज्य पदार्थों का भी शरीर में शोष रहना, वेदना इत्यादि हानिकारक घटनाएँ होती हैं । पक्कावस्था में त्याज्य पदार्थ एक स्थान में पूय के स्वरूप में इकट्ठा हुए मिलते हैं । शरीर इन को बाहर निकालना चाहता है और त्वचा के किसी दुबेल स्थान को फोड़ कर बाहर निकाल देता है । किन्तु जब पूय अधिक गहराई पर स्थित होने से बाह्य त्वचा को फोड़ने में असमर्थ होता है, उस समय यदि अज्ञानी वैद्य त्वचा में नस्तर देकर पूय को बाहर निकालने का यत्न करे तो पूय रक्तवाहिनियों के साथ और आवरणों (Fascia) के नीचे नीचे कई दिशाओं में फैल कर शरीर के अन्य घातुओं को हानि पहुँचाता है । इसलिये शोथ पकड़ते ही नस्तर देकर पूय बाहर निकाल देना प्रयत्न मायों है ।

भ्रगन्ति चात्र—

यश्चिद्धनस्याममज्ञानाद्यश्च पक्कमुपेतते ।
श्वपचायिव मन्तव्यौ तावन्निश्चितकारिणौ ॥१४॥
जो आमावस्था में शोथ का धीर देता है तथा जो पक्का घस्था में उस की उपेक्षा करता है वे दोनों अज्ञान के कारण श्वाधि निश्चय करने में असमर्थ वैद्य चण्डाल के समान समझने चाहिए ॥१४॥

प्राक् शस्त्रकर्मणश्चेष्टं भोजयेदातुर भिषक् ।
मद्यपं पाययेन्मद्य तीक्ष्णं यो वेदनासहः ॥१५॥
ए मूर्च्छत्यङ्गं प्रोक्तान्मत्तः श्वस्रं न तुच्छते ।
तस्मादयद्यं भोक्तव्यं रोगेपून्तेषु कर्मणि ॥१६॥
प्राणौ ह्याभ्यन्तरो नृणां याद्यप्राणमुत्थान्तिव ।
धारत्यविविरोधेन शरीरं पाञ्चभौतिकम् ॥१७॥

शस्त्रकर्म करने के पूर्व रोगी को हितकर भोजन खिलाये और जो वेदना न सह सके उसे, यदि मद्य सेवन का अभ्यास ही तो, तीक्ष्ण मद्य पिलाये ॥१५॥ रोगी मद्य सेवन से मूर्च्छित नहीं होता और मद्य के नश से शस्त्र की पीडा को नहीं जानता । इसलिये उक्त रोगों में अल्प भोजन कराना चाहिए ॥१६॥ मनुष्यों का आम्यन्तरीय प्राण बाह्य प्राण के गुणों से मिल कर दोनों में अविरोध होने के कारण (घटकर्म के समय अग्नी तरह से) वंचभूतात्मक शरीर को धारण करता है ॥१७॥

वृक्षद्वय—इत्य—रिन्धमुर्गमल्पमत्र द्रवभायन् इत्यादि श्वयंके रोग के अनुसार योग्य शरीर हितकर । रोगेपून्तेषु—मूत्र गर्भे, अर्धे, अस्मरी, भगन्दर और मुखरोग के अतिरिक्त सर्व रोगों में । आभ्यन्तर प्राण—अन्नपान रस । तैषां सर्वेषां प्राणान् मत्पानरत्न प्रीणयिता । बाह्यप्राण—अन्न । प्राणो वा भगम् । शरीरमन्त्राद्य् । प्राण शरीर प्रतिष्ठितम् । शरीर प्राण प्रतिष्ठित (सैत्तिरीयोपनिषत्) । शरीर का प्राण अन्न है । हमी अन्न का आम्यन्तररूप अन्नरस वही आभ्यन्तर प्राण और बाह्यरूप ह्राद्य द्रव्य बाह्य प्राण है । अविरोधेन—अन्नपानरस, आहार तथा शरीर सर्ववचमदाभूतात्मक होने के कारण विरोध नहीं भी नहीं होता—एवभूतात्मक रहे आहार पाचभौतिक । निषक, एवम सम्पद्य स्वाद्य शुणानभिषेधे ॥ न मूर्च्छति अन्नस्योगात्—शस्त्रकर्म के पूर्व भोजन करने से रोगी को कुछ अधिक बल प्राप्त होता है और मूर्च्छा नहीं आती । भोजन से शस्त्रकर्म के समय रक्त का श्वय कम होता है । श्वयोंक जय आमावस्य और आन्त्र्य । अन्न होता है, तब शरीर के अन्य स्थान की, विशेष करने त्वचा की, रक्तवाहिनियाँ सङ्कुचित होती हैं और यहाँ क रक्त पचनस्थान की तरह पाचक रस उत्पन्न करने के लिये खींचा जाता है । भोजन से उपरान्त जो कुछ शीत इमेण अनुभव होता है, उस का कारण त्वचागत रक्त की कमी है । मध्य-रोगी को मद्य का सेवन सज्ञा और वेदना का ह्राण करने के लिये करवाया जाता था । मद्य से यद्यपि यह कार्य पूर्णतया नहीं होता था तथापि शस्त्रकर्म में इस से जल्द कुछ सहायता मिलती थी । आधुनिक काल में इसी कार्य के लिये कई वेदनाहर (Anodyne) और संज्ञाहर (Anesthetic) औषधियों का उपयोग होता है । इन में कोरोफार्म, ईयर कोफेन और कोफेन के अन्य योग प्रमुख हैं । इनका उपयोग करने से कठिन से कठिन शस्त्रकर्म भी रोगी को तनिक पीडा न होते हुए ही सकते हैं । पाश्चात्य शस्त्रचिकित्सा की विशेष उन्नति होने के जो अनेक कारण हुए हैं उन में वेदनाहर और संज्ञाहर औषधियों का आविष्कार एक प्रधान कारण है । इसी के अभाव के कारण प्राचीन काल में शस्त्रकर्मों में आधुनिक काल के समान उन्नति न हो सकी ।

अल्पो महान् वा क्रियया विना यः समुच्छ्रितः पाकमुचैति शोफा ।
विशालभूलो विषमो विद्रग्धः
स छृच्छ्रतां यास्यवागदोषः ॥१८॥
जो छोटा या बड़ा शोफ विना (आरेपनादि) क्रिया के बंद कर पक जाता है यह शोफ शरीर में अधिक फैलता है । उर के सब अंगों का पाक ठीक नहीं होता । पूय गहराई तक पहुँचता है और वह कृष्णसाध्य हो जाता है ॥१८॥
घक्तव्य—इस शोफ में यह अर्थ गमिन है कि शरीर के किसी अंग में जत्र शोफ, छोटा या बड़ा, उष्ण होता है तब उस की कदापि भी उपेक्षा न कर श्रावण से ही आरेपन उपनाह इत्यादि योग्य उपायों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये ।

१ यो ह्यविरोधस्तद्व्यथना महात् स्वप्न क्रिया विना पाकमुच्छ्रित शोफ र भिषक ।

आलेपविस्त्रावणशोधनैस्तु
सस्यक् प्रयुक्तैर्यदि नोपशास्येत् ।
पचयेत् शीघ्रं संममल्पमूलः

स पिरिडतश्चोपरि चोन्नतः स्यात् ॥१९॥

आलेप, रक्त स्रवण, संग्रोधन इत्यादि उपाय योग्य (समय
पर विधि द्वारा) प्रयुक्त करने से (बहुधा शोफ का प्रथम
जाता है, वह पकता नहीं परन्तु) यदि प्रगम न हो जाय
तो भी शोफ सब अंगों में समान और ग्रीध्रता से पकता
है, बहुत फैलता नहीं और दोषों को इकट्ठा करके ऊपर
में उठ आता है ॥१९॥

वक्तव्य—पाक होने के पूर्व शोथ के परिहार को
प्रामन (Resolution) कहते हैं ।

फक्षं समासाद्य यथैव वह्नि-
र्वाते (श्वी)रितः संदहति प्रसह्य ।

तथैव पूयोऽप्यविनिःसृतो हि

मांसं सिराः स्नायु च खादतीह ॥२०॥

चायु से प्रेरित हुआ अग्नि जैसे तृणसमूह में प्राप्त होकर
उस को बड़े जोर से (हठात्) जला देता है वैसे ही (दोषों से
भेरित तथा नक्षत्र से) बाहर न निकाला हुआ पूय मांस,
सिरा और स्नायु (आदि में प्राप्त होकर उन को) खा
गलता (नाश कर देता) है ॥२०॥

आदौ विम्लापनं कुर्याद् द्वितीयमवसेचनम् ।

तृतीयमुपनाहं तु चतुर्थी पाटनक्रियाम् ॥२१॥

पञ्चमं शोधनं कुर्यात् षष्ठं रोपणमिष्यते ।

एते क्रमा व्रणस्योक्ताः सप्तमं वैकृतापंहम् ॥२२॥

इति सुश्रुतसंहितायां सप्तस्थाने आमपकैपणीयो

नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥१९॥

प्रथम विम्लापन, द्वितीय दोषावसेचन, तृतीय उपनाह,
चतुर्थ पाटनक्रिया, पंचम शोधन, षष्ठ रोपण और सप्तम
विकृति का दूरीकरण ये व्रणशोध के सात उपक्रम कहे
गये हैं ॥२१-२२॥

वक्तव्य—चिकित्सा स्थान के प्रथम अध्याय में व्रणशोध
के जो साठ उपक्रम निर्दिष्ट किये गये हैं, उन का संक्षेप यहाँ
अत्यंत उपयोगी सात प्रधान उपक्रमों में किया गया है । इन
सात उपक्रमों में सब का समावेश हो जाता है । विम्लापन—
स्वेदन करने के पश्चात् अंगुलियों से शोधस्थान पर मर्दन
करना—अभ्यज्य स्वेदयित्वा तु वेणुना वा शनैः शनैः । विमर्दयेद्
पिपक् प्राशस्तलेनांशुप्रेकेन वा ॥ इस में अपतर्पण से विम्लापन
तक छः उपक्रमों का समावेश होता है । अवसेचन—दोषों को
निकालना । इस में विस्त्रावण, स्नेह, वमन और विरेचन इन
चारों का समावेश होता है । उपनाह—शोध का प्रथम या
पाचन कराने के लिये तीसी आदि उष्ण बर्ष्य द्रव्यों को पीस
कर और गरम करके कपड़े से बांधना । अंग्रेजी में इसे पुल्टिस
(Poultice) कहते हैं । इस में उपनाह और पाचन दोनों
का समावेश होता है । पाटनक्रिया—इस में छेदन से सीवन
तक नौ उपक्रमों का समावेश होता है । शोधन और रोपण—

इन में संधान से व्रणोद्घपन तक तेरह उपक्रमों का समावेश
होता है । वैकृतापंहम्—व्रणस्थानीय तथा सार्वदेहीय विकारों
का निराकरण करना । इस में उत्सादन से रक्षाविधान तक
शेष छत्तीस उपक्रमों का समावेश होता है । व्रणस्थ—व्रणशोफस्य ।
इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतभाषाटीकायानामपकैपणीयो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥१९॥

अष्टादशोऽध्यायः ।

अथातो व्रणालेपनबन्धविधिमध्यायं व्याख्या-
स्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से व्रणालेपनबन्धविधि नामक अध्याय का
व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

आलेप आद्य उपक्रमः, एष सर्वशोफानां
सामान्यः प्रधानतमश्च, तं च प्रतिरोगं वदयामः;
ततो बन्धः प्रधानम्, तेन शुद्धिर्ब्रणरोपणमस्थि-
सन्धिस्थैर्यं च ॥२॥

आलेप प्रथम उपचार है । यह सर्व (प्रकार के) शोफ के
लिए सामान्य और प्रधान है । इसका बर्धन प्रत्येक रोग के
वर्णन के समय करेंगे । तत्पश्चात् बंध प्रधान है । उस से व्रण
का शोधन तथा रोपण होता है और अस्थियों तथा संधियों
में स्थिरता हो जाती है ॥२॥

वक्तव्य—आप—ओपधि द्रव्यों से करने वाले उपचारों
में प्रथम । सामान्य—छः प्रकारों के शोफों में उपयोगी ।
प्रधानतम—शीघ्र पीडा हरण करने के कारण ।

तत्र प्रतिलोममालिम्पेच्चानुलोमम् । प्रतिलोमे
हि सस्यगौषधमवतिष्ठतेऽनुप्रविशति रोमकूपान्
स्वेदवाहिभिश्च सिरामुल्लैर्वीर्यं प्राप्नोति ॥३॥

लेप प्रतिलोम करना चाहिए, अनुलोम नहीं । क्योंकि
प्रतिलोम करने से ओपधि ठीक ठीक लग जाती है, रोमकूपों
में प्रवेश करती है और स्वेदवाही सिराओं के मुखों में प्रवेश
करके अपने गुण को भी करती है ॥३॥

वक्तव्य—प्रतिलोम—थालों का जो रत्न होता है, उसकी
विरुद्ध दिशा में ।

न च शुष्यमाणमुपेक्षेत, अन्यत्र पीडयितव्यात्;
शुष्को ह्यपार्थको रुक्करश्च ॥४॥

पीडन के अतिरिक्त सूखे लेप को नहीं रहने देना चाहिये ।
सूखा लेप निरर्थक और पीडाकर होता है ॥४॥

वक्तव्य—अन्यत्र पीडयितव्यात्—व्रणशोध में जब पीडन
द्वारा भीतर के पूय को बाहर निकालने की आवश्यकता होती
है तब लेप को सूखा रखना चाहिये । क्योंकि पीडन का कार्य
आर्द्रावस्था में नहीं हो सकता—पूयगर्भान्णुद्वारान् व्रणान् मर्मगतान्-
नपि । यथोक्तैः पीडनद्रव्यैः समन्तात् परिपीडयेत् ॥ शुष्यमाणमुपेक्षेत
प्रदेहं पीडनं प्रति । न चाग्निमुखमालिम्पेतथा दोषः प्रसिच्यते ॥ इस के
अतिरिक्त जब अन्य अर्थप्राप्ति करना हो तब लेप सूखा हो

जाने पर निकाल देना चाहिये । अर्पणः—उद्विष्ट अर्ध न करने वाला । आलेप के द्वाविध अर्थ होते हैं—रक्तविध समान्नादलेप । तथ्य—१ स्नेहिक, २ निरोधण, ३ प्रसादन, ४ मन्मन, ५ विलपन, ६ पाचन, ७ पीडन, ८ रोपन, ९ रोषण, १० सवर्णकरणश्च । (अ समग्र) । शुष्कावस्था में पीडन के अतिरिक्त रोष अर्थ सिद्ध नहीं होते । रक्तश्च—अरुणश्च ऐसा भी पाठ है । परन्तु शुष्क रोष से मग्न उष्ण होने का कोई विरोध कारण नहीं है । पीडामात्र हमेशा होती है और उस का प्रत्येक को अनुभव होता है । पीडा के अतिरिक्त अष्टागमग्रह में निम्न दोष बतलाए गये हैं—शुष्क हि दाहोपपागम्यत्वश्चानि वर्षवनि । (उत्तरस्थान, ३०) ।

स त्रिविधः—प्रलेपः, प्रदेह, आलेपश्च । तेषामन्तरम्—प्रलेपः शीतस्तनुविशोपी विशोपी च; प्रदेहस्तृष्णः शीतो वा यहलोऽयहुरविशोपी च; मध्यमोऽत्रालेपः ॥५॥

वह लेप तीन प्रकार का है—१ प्रलेप, २ प्रदेह, और ३ आलेप । इन में यह भेद है । 'प्रलेप' वह है जो ठंडा और पतला प्रयुक्त होता है और जो (हृद को) सुखाने वाला या न सुखाने वाला है । 'प्रदेह' वह है जो गरम या ठंडा, मोटा या पतला प्रयुक्त होता है और जो हृदयोपक नहीं है । 'आलेप' वह है जो सब बातों में मध्यम होता है ॥५॥

तत्र, रक्तपित्तप्रसादरुद्धालेपः; प्रदेहो वातश्लेष्मप्रशामनः संधानं, शोधनो रोषणः शोफवेदनापहश्च; तस्योपयोगं क्षताक्षतेषु, यस्तु क्षतेषूपयुज्यते स भूयः कृक्क इति संज्ञां लभते निरुद्धालेपनसंज्ञां; तेनास्त्राचसन्निरोधो मृदुता पूतिमांसापकरणमनन्तर्दापता व्रणशुद्धिश्च भवति ॥६॥

इन में प्रलेप रक्तपित्तजन्य शोफ को शान्त करने वाला है । प्रदेह वातश्लेष्मजन्य शोफ को शान्त करने वाला, संधानीय, शोधन, रोषण और सूजन तथा पीडा का नाश करने वाला होता है । उस का उपयोग मृण्युक्त शोष या मृणरहित शोष दोनों में होता है । जो घाव पर उपयोग किया जाता है, वह फिर 'कृक्क' कहलाता है । उसे 'निरुद्धालेपन' भी कहते हैं । उस से खाव का निरोध होता है, स्थान मृदु हो जाता है, सड़े गले मांस का अपकर्षण होता है, भीतर निर्दोषता और धण की शुद्धि होती है ॥६॥

घक्तव्य—निरुद्धालेपनम्—खाव का निरोध करने के कारण उसे 'निरुद्धालेपन' कहते हैं । लुगादी (कृक्क) के स्वरूप में प्रयुक्त होता है, इसलिये 'कृक्क' भी कहते हैं । यहाँ प्रदेह और प्रलेप के जो गुणधर्म बयान किये हैं उससे बिल्कुल विरुद्ध गुणधर्म अष्टागमग्रह में मिलते हैं । यस्तु शीतलानुर्मुहुरेव प्रयुज्यते स प्रदेहो रक्तपित्तत्वा प्रसारकः । प्रलेपलूण रीतो वा बहलश्च तथा वातश्लेष्मप्रशामनः ॥ (उत्तरस्थान, अ. ३०) ।

अविदपेषु शोफेषु हितमालेपनं भवेत् ।
ग्रथास्यं दोषशामनं दाहकण्डूरुजापहम् ॥७॥
त्यक्प्रसादनमेवाप्रथं मांसरक्तप्रसादनम् ।
दाहप्रशामनं श्रेष्ठं तोदकएड्विनाशनम् ॥८॥
मर्मदेशेषु ये रोषा गुह्येष्वपि तथा नृणाम् ।
संशोधनाय तेषां हि कुर्यादालेपनं भिषक् ॥९॥
पहभागं पतित्केः स्नेहं चतुर्भागं तु वातिके ।
अष्टभागं तु कफजे स्नेहमात्रां प्रदापयेत् ॥१०॥

शोफ की अविदग्धावस्था में आलेपन ही हित है । आलेपन दोषानुसार उनकी शान्ति करता है, दाह कण्डू और पीर को दूर करता है ॥७॥ खचा की प्रसन्नता के लिये सर्वत्र है, रक्त और मांस को भी प्रसन्न करता है, दाह की शान्ति करने के लिये श्रेष्ठ है और पीडा तथा कण्डू को नाश करत है ॥८॥ मर्म स्थानों पर तथा गुह्य प्रदेशों में जो रोग हैं जाते हैं उन के सगोचन के लिये वैध आलेपन का ही उपयोग करें ॥९॥ पित्त के रोगों में छटा नाग, वायु के रोगों में चौध भाग और कफ के रोगों में आठवाँ भाग घेह की मात्रा (आलेपन के द्रव्यों में) ढालनी चाहिए ॥१०॥

घक्तव्य—अविदग्ध—जो पाकाभिमुख नहीं है । रोष—सर्दभ के अनुसार शोफ समरुक्ता चाहिये । श्लेष्मपि—जननद्रिय तथा उमके समीपवर्ती प्रदेश में ।

तस्य प्रमाणमाद्र्माह्विचर्मोत्सेधसुपदिशन्ति ॥११॥

आलेपन (की मोटाई) का प्रमाण बैसा के गीले चमरे की मोटाई के समान बनलाते हैं ॥११॥

न चालेपं रात्रौ प्रयुञ्जीत, मा भूच्छैत्यपिहितोष्णस्तद्विगमद्दिकारमवृत्तिरिति ॥१२॥

आलेपन की शीतलता से रक्की हुई उष्णता बाहर न निकलने से शोफ की वृद्धि न हो जाय इसलिये रात्रि में आलेप करना योग्य नहीं है ॥१२॥

घक्तव्य—शैत्यपिहितोष्ण—शैत्यपिहितोष्ण 'शोफ' इति शेष । शैत्य का सम्बन्ध कुछ टीकाकार रात्रि के साथ करते हैं—रात्रिशैत्येन शरीरोष्णम् कृत्वापिधानम् (इन्द्र) । रात्रि के समय आलेप न करने का दूसरा भी एक कारण समग्र में दिया है—पुष्कलावनम् फलि । तममा पिहितोष्णमा रोमकूपैरनाह्वे । लेपादि नैव निर्वाति रात्रौ नालेपेदेत ॥ समग्र में रात्रि का निषेध प्रदेह के सम्बन्ध में दिया है । चक्र के अनुसार अन्य प्रकार के जो लेप होते हैं, उनका प्रयोग रात्रि के समय करने में आपत्ति नहीं है । इस में संदेह नहीं कि लेप की परिभाषा में बहुत मतभिन्नता मिलती है, जिस का प्रत्यय समग्र तथा इहयाचार्य की टीका से मालूम होता है ।

प्रदेहसाध्यै व्याधौ तु हितमालेपनं द्या ।
पित्तरक्ताभिधातोत्ये सविधे च विशेषतः ॥१३॥
न च पर्युषितं लेपं कदाचिद्व्यचारेत् ।
उपर्युषितं लेपं तु न कदाचित् प्रदापयेत् ॥१४॥

रप्माणं घेदनां दाहं घनत्वाज्जनयेत् स हि ।

च तेनैव लेपेन प्रदेहं दापयेत् पुनः ।

एकभावात्स निर्वीर्यो युक्तोऽपि स्यादपार्थकः ॥१५॥

प्रदेहसाध्य व्याधियों में, विशेष करके रक्त, पित्त, अमि-
त और विष जन्य व्याधियों में दिन में ही लेप करना
सुस्त है ॥१३॥ वासी लेप कदापि उपयोग नहीं करना
चाहिये तथा (सूखे हुए) लेप के ऊपर दूसरा लेप भी नहीं
करना चाहिये ॥१४॥ क्योंकि कहा हो जाने से वह गरमी,
हा और दाह को पैदा करता है । एक समय सूखे हुए
लेप को गीला करके फिर प्रयुक्त नहीं करना चाहिये क्योंकि
कहा हो जाने से निर्वीर्य वह लेप प्रयुक्त करने पर भी
थी हो जाता है ॥१५॥

वक्तव्य—न चर्धुपित्त लेपम्—लेप के उपयोग के संबंध
में यहाँ जो बातें कतलाई गई हैं वे तीनों प्रकार के आलेप
के विषय में समझनी चाहियें । पाश्चात्य वैद्यक में आलेप की
सर्वांगीण कल्पना प्रदर्शित करने के लिये एक ठीक प्रतिशब्द
नहीं है किन्तु पेस्ट (Paste), पिगमेंट या पेंट (Pigment
or Paint), और प्लास्टर (Plaster) इनका उपयोग लेप
के तौर पर स्थानिक शोफनिवारण के लिये होता है ।

अत ऊर्ध्वं ब्रणवन्धनद्रव्याण्युपदेक्ष्यामः; तद्य-
1—क्षौमकार्पासाविकदुकूलकौशेयपत्रोर्णचीनपट्ट-
मान्तर्वल्कलालावृशकललताविदलरज्जुतूलफल-
न्तानिकालौहानीति; तेषां व्याधि कालं चावेद्यो-
योगः; प्रकरणात्तत्रैषामादेशः ॥१६॥

अब यहाँ से ब्रणवन्धन द्रव्यों का उपदेश करते हैं । (ब्रण-
धन में ये पदार्थ उपयोगी होते हैं)—क्षौम, कार्पास, आविक,
दुकूल, कौशेय, पत्रोर्ण, चीनपट्ट, चर्म, अन्तर्वल्कल, अलाव-
कल, लता, विदल, रज्जु, तूलफलसंतानिका और लौहादि
गुह के उपयोगी पदार्थ । व्याधि और समय को देखकर
उनका उपयोग करे । इनका विशेष दिवरण भिन्न भिन्न प्रक-
रणों में दिया जायगा ॥१६॥

वक्तव्य—क्षौम—अतसी या सन के सूत्रों से बनाया
हुआ वन (Flax) । कार्पास रुई से बनाया हुआ वन ।
आविक—यकरी के रोम से बनाया हुआ वन, ऊन (Wool) ।
दुकूल—अत्यंत महीन रेसम का वन । कौशेय—रेसम । पत्रोर्ण—
अनेक प्रकार की वनस्पतियों के पत्तों से बनाया हुआ वन ।
चीनपट्ट—चीन देश में बनाया हुआ वन । अन्तर्वल्कल—वृक्षों
के भीतर की नरम छाल । विदल—वाँस की खपची । तूलफल-
लता—द्विगुण चतुर्गुण रुई का वन । लौहानि—सुवर्ण,
रौप्य, ताम्र इत्यादि धातुओं के तार, पत्र चगैरह । प्रकरणतः—
भिन्न भिन्न विषयों के अध्यायों में । यथा—सर्पदंश के प्रकरण
में रज्जु का उपयोग—सा तु रज्ज्वादिभिर्वेदा विपप्रतिकरी मता ।
अस्थिभंग के प्रकरण में अन्तर्वल्कलों का उपयोग—मधुको-
दुम्भरावत्तपलाशककुम्भचः । बंशसर्जवदानां च कुशार्थमुपसहरेत् ॥
शास्त्रगत सद्योव्रण के प्रकरण में चर्म का उपयोग—चर्मणा
गोफणकथः कार्यो यो वा हितो भवेत् ॥ इत्यादि ।

तत्र कोशमन्वस्त्रिकानुवेहितमु(प्र)तोली
मण्डलस्थगिकायमयन्वद्वान्चिवन्धवितानगोफणा-
पञ्चाङ्गी चेति चतुर्दश बन्धविशेषाः । तेषां नाम-
भिरेचाकृतयः प्रायेण व्याख्याताः ॥१७॥

बंधों के भेद—१ कोण, २ दाम, ३ स्वस्तिक, अनुवेहित,
५ मुत्तोलौ, ६ मण्डल, ७ स्थगिका, ८ यमक, ९ खट्टा, १०
चीन, ११ विबन्ध, १२ वितान, १३ गोफण और १४ पंचांगी
ये चौदह प्रकार के बंध हैं । नाम ही में इनकी रचना अधि-
कांश स्पष्ट हो जाती है ॥१७॥

वक्तव्य—वाग्भट में 'उत्संग' नामक एक अधिक
बंध वर्णन किया है । बंध का अंग्रेजी में 'बैंडेज' (Bandage)
कहते हैं ।

तत्र कोशमङ्गुष्ठाङ्गुलिपर्वसु विदध्यात्, दाम
संवाधेऽङ्गे, सन्धिर्कूर्चकभ्रूस्तनात्तरतलकणेषु
स्वस्तिकम्, अनुवेहितं तु शाखासु, प्रीचामेद्वयोः
प्रतोलीं, वृत्तेऽङ्गे मण्डलम्, अङ्गुष्ठाङ्गुलिमेद्वयोरेषु
स्थगिकां, यमलक्षणयोर्यमकं, हनुशङ्खगण्डेषु खट्टाम्,
अपाङ्गयोश्चीनं, पृष्ठोदरोरःसु विबन्धं, मूर्धनि
वितानं, चिवुकनालौष्ठांसवस्तिषु गोफणां, जत्रुण
ऊर्ध्वं पञ्चाङ्गीमिति; यो वा यस्मिन् शरीरप्रदेशे
सुनिचिष्टो भवति तं तस्मिन् विदध्यात् ॥१८॥

उन में से अँगूठे और अंगुली के पोरवों में कोशबंध
लगावे । एठन युक्त अंग में दाम बंध लगावे । संधि, कूर्चमर्म,
शुक्रुटा और स्तनों के बीच का भाग, हस्ततल, पायतल और
कान इन स्थानों में स्वस्तिक बंध लगावे । शाखाओं में
अनुवेहित बंध लगावे । गर्दन और लिंग पर प्रतोलीबंध
लगावे । गालस्थान में मण्डलबंध लगावे । अँगूठा, अंगुलि
और लिंग इनके नाक पर स्थगिकाबंध लगावे । दो समीप-
वर्ती बगुनों पर यमक बंध लगावे । ठोड़ी, कनपटी और कपोल
इन पर खट्टाबंध लगावे । अपांग प्रदेशों में चीनबंध लगावे ।
पीठ, उदर और वक्षस्थल पर विबन्धबंध लगावे । सिर पर
वितानबंध लगावे । ठोड़ी की नोक, नासिका, होठ, कंधा
और वस्तिप्रदेश इन स्थानों में गोफणाबंध लगावे । जत्रु के
ऊपर पंचांगीबंध लगावे । अथवा जो बंध शरीर के जिस अंग
में ठीक हो उसे ही वहाँ लगावे ॥१८॥

वक्तव्य—शल्यतन्त्र में बन्धनकर्म (Bandaging)
एक आवश्यक अंग है । प्रत्येक शल्यक्रिया करने के पश्चात्
प्रतिदिन ब्रणोपचार करने के पश्चात्, आघात, चोट, मोच,
रक्तस्राव, अस्थिभंग, संधिविक्षेप इत्यादि अनेक घटनाएँ
हो जाने के पश्चात् विकृत अंग बंधद्वारा बांधना पड़ता है ।
शरीर के भिन्न भिन्न अंगों की रचना भिन्न भिन्न होने के
कारण एक प्रकार का बंध सब स्थानों में उपयोगी नहीं हो
सकता । इसलिये भिन्न भिन्न स्थानों के अनुसार भिन्न भिन्न
प्रकार के बंध लगाने पड़ते हैं । बंध प्रायः पट्टे या एक लंबा
पट्टा होता है । भिन्न भिन्न स्थानों के लिये भिन्न भिन्न लंबाई
और चौड़ाई के पट्ट आवश्यक होते हैं । इन लंबे पट्टों से

शरीर के निम्न निम्न अंगों के अनुरूप बंध सुचारु रूप से बाधने के लिये अम्प्यास की अर्थल आयव्यक्तता होती है। केवल निम्न निम्न प्रकार के बंध बाधने की विधि पढ़ने से या सुखोद्भूत करने से बंध लगाना नहीं आ सकता। प्राचीन काल में बंध लगाने का अम्प्यास पुस्तकमय पुरखों (Dummy) के अंगों पर (सूत्रस्थान अ ९) किया जाता था। परन्तु इससे उत्तम उपाय अपने सहाध्यायी मित्रों पर बंध लगाना है। तीन विद्यार्थी मिलकर यह कार्य उत्तम रूप से कर सकते हैं। एक विद्यार्थी पुस्तक से बंध लगाने की विधि पढ़े और दूसरा विद्यार्थी उभय विधि के अनुसार तीसरे के अंग पर उसको छानने का अम्प्यास करे। इस प्रकार पारी पारी से करने पर सबको अम्प्यास हो जाता है। पाश्चात्य शल्यतन्त्र में जो बंध प्रयुक्त हैं, वे प्रायः इन बंधों के तौर पर होते हैं। अतः उनके आधार पर इन बंधों का स्वरूप निश्चित करना प्राप्त है। यद्यपि 'तेषां नामभिरेव प्रायेणाहृतयो व्याख्याता' पेसा लिखा है तथापि कुछ बंध ऐसे हैं कि उनकी आकृति का बोध नाम से नहीं हो सकता। यथा—विषय दाम, यमक और याम-टोक उत्तम। (१-२) कौरा और स्थगिका बन्ध—कीचयधर तरवार के म्यान सदृश संवा होता है। अंग्रेजी में इसको 'शीथ बैंडेज' (Sheath Bandage) कह सकते हैं। स्थगिकाबंध भी कीचयधर के समान होता है परन्तु इसकी संवाई कुछ कम होती है, इसलिए उसका स्वतंत्र निर्देश किया है। स्थगिका का अर्थ-पान की डब्बी—स्थगिक बंधगिका लम्बमान ताम्बूलकरक (इन्दु)। इस ताम्बूलकरक के दृश्य की भाँति यह बंध होता है। इसको अंग्रेजी में 'स्टंप बैंडेज' (Stump Bandage) कह सकते हैं। (३) स्वस्तिकबन्ध—यह स्वस्तिकाकारबन्ध है—स्वस्तिकाकृति स्वस्तिक यदूर्ध्व दक्षिणादेत्याधो वाम याति पुनः परिक्रम्याधो दक्षिणादूर्ध्व वामम्। (इन्दु)। व्यावहारिक दृष्टि से इसका स्वरूप हिंदी के चार (४) या छगरेजी के आठ (८) अंक के समान होता है। अंग्रेजी में 'क्रॉस बैंडेज' और 'स्पैक बैंडेज' (Cross or spica Bandage) स्वस्तिकबन्ध के ही प्रकार हैं। (४) दामबन्ध—इस बंध से कोई विशेष आकार निर्गमित नहीं हो सकता। पीढायुक्त अंग में पीढा निवारण करने के लिये इसका उपयोग होता है। यह माला के आकार का एक कपड़े का तग पट्ट मालूम होता है। इसका कोई माल प्रतीक पाश्चात्य बंधों में नहीं दिखाई देता। पीढाहरणार्थ यह बंधके बाधा जाता है। (५) अनुपेनितबन्ध—बहुता निमित्त तरह छूज पर ऊपर धनुनी है, उभय तरह यह बंध शरीर पर तीप से ऊपर छेपटा जाता है। इमलिय इसको अनुपेनित बन्धे हैं। इराका सादस्य बैंडेजि स्पैरल बैंडेज (Spiral Bandage) के साथ होता है। (६-७) गुणनिबन्ध, मन्त्रबन्ध—इनकी कोई विशेष आकृति नहीं मालूम होती है। इनके लिये मन्त्र उपाया पीढा हो, जितना यथन का स्थान पीढा हो और स्पेड टीक एक के ऊपर दूसरा लगाया जाय। इनके लिये कोई टीक अर्थात् पाश्चात्यबन्धों में नहीं दिखाई देता। (८) मया बन्ध—यह भी कोई विशेष प्रकार का बंध नहीं है। केवल एक बंध दो बंधों के लिये लगाया जाता है, इसलिए बन्धबन्ध कहलाता है। इसका भी कोई अर्थात् पाश्चात्यबन्धों

में नहीं है। (९) खट्वाबन्ध—यह चार पट्टों का बन्ध बंध है—खट्वा चतुर्बाहुपट्टकम् (इन्दु)। इसको अंग्रेजी में टेलर बन्धेज (Four tailed Bandage) कहते हैं और इसका उपयोग उसी बन्धेज के स्थान पर होत (१०) नीनबन्ध—इससे भी कोई विशेष आकार निर्दिष्ट होता। एक छोटे बन्ध पट्ट से यह बंध लगाया जाता स्तोकविलीर्या आयना पट्टिका चीनम्। (इन्दु)। इसका आधुनिक नेत्रबन्ध (Bandage for the eye) के साथ है। (११) विषयबन्ध—यह बंध अनेक छोटे छोटे बन्ध बनाया जाता है—विषय विषय बन्ध मन्त्र बन्ध चीरक इसके नाम और लगाने के स्थान से आधुनिक 'मैन बन्धेज' (Many tailed Bandage) के साथ अधिक सादृश्य होता है। (१२) विनायबन्ध—गामिआस तरह यह बंध सिर पर फैलाया हुआ छेपटा जाता है। सादस्य आधुनिक 'कैफेलाइन बन्धेज' (Capheline Bandage) के साथ होता है। (१३) गोष्णबन्ध—पश्चिमिवायवर्ण फेंकने के लिये जो एक साधनविशेष होता है उस आकार बन्ध—गोष्ण इव गोष्णगा रुवीवलना पश्चिवायवर्ण म पाचायवर्णम्। (इन्दु)। आकृति की दृष्टि से इसका आधुनिक स्लिंग बन्धेज (Slings Bandage) के साथ है। गुदभ्रम में भी इस बन्ध का उपयोग होता है। इ काये की दृष्टि से टी बन्धेज (T Bandage) के साथ सादृश्य है। परन्तु टी बन्धेज के लिये 'कीपीबन्ध' अधिक योग्य है। (१४) पंचापीबन्ध—इस बंध में पाँच होते हैं—यसिम्न पेटे चत्वारो बाहव, एका चोर्ध पट्टिम्। (इन्दु) इस बंध का कोई टीक प्रतीक आधुनिक बंधों में नहीं दि देता। (१५) उत्सगबन्ध—यामभट में यह एक अधिक निर्दिष्ट किया है और बंधों की सख्या पचदश बन्ध है इसका उपयोग बाहु में करने के लिये कहा है परन्तु इ आकृति इसके वर्णन से स्पष्ट नहीं होती—उत्सगविषय विषय बाह्यान् कण्ठारिखमानम्। (इन्दु)। यह बंध एक म का आर्मी स्लिंग बैंडेज ही (Arm sling Bandage) मालूम होता है।

मुख्य मुख्य बंध बाधने की आधुनिक पद्धतियाँ—हाथ की का केश बन्ध—इसके लिये ३ इंच चौड़ी पट्टी पर्याप्त है। म कलाई के ऊपर एक सिरे को एक या दो बार इस प्रकार स्पेडना चाहिये कि उभय का दो या तीन इंच का भाग से बाहर निकला रहे। पश्चात् पट्टी हाथ के ऊपर से बाँधे के सिरे तक लेकर वहाँ से ऊपर की ओर अनुपेनित बन्ध भाँति अनुपेनित के मूल तक स्पेडना चाहिये। फिर वहाँ से के ऊपर होकर कलाई तक ले जाना चाहिये और अन्त एक या दो स्पेड कलाई पर लगाकर पट्टी के पढ़ने लिये साथ बांध देना चाहिये। मालिक बन्ध—सर्धियों के लिये बंध बहुत उपयोग है। जिन स्थान पर बन्ध बाधना हो तब तीप से पट्टी बाधना प्रारंभ करना चाहिये। प्रथम एक दो स्पेड लगा कर पश्चात् पट्टी को बाँध के एक ओर से के ऊपर होने हुए दूसरी ओर ले जाना चाहिये। फिर पट्टी को बाँध के पीछे से हाकर तीप के ऊपर होने हुए

और उस स्थान तक ले जाना चाहिये जहाँ से पहले पट्टी अंगे का प्रारंभ हुआ था । इस प्रकार अधिक लपेटों द्वारा अंग को पूरा ढक देना चाहिये । अनुवेहितबंध—यह शाखाओं संधि स्थान छोड़ कर अन्य स्थानों के लिये बहुत उपयोगी । जिस स्थान पर बंध लगाना है उसके नीचे की ओर से धना प्रारंभ करना चाहिये । प्रथम दो लपेट एक ही स्थान लगा कर फिर पट्ट ऊपर की ओर इस प्रकार ले जाना चाहिए कि प्रत्येक लपेट पूर्व लपेट के पु ऊपरी भाग को ढक । ऊपर की ओर श्रंग कुछ अधिक मोटा होने के कारण पेट अंग पर ठीक नहीं बैठते । उनको ठीक करने के लिये पेटों को मोड़ देना पड़ता है । उन मोड़ों को लगाते समय प्रारंभ में कुछ कठिनता अवश्य होती है । परंतु निश्चल नियमों पर ध्यान रखते हुए थोड़ा अभ्यास करने से यह कार्य सुकर हो जाता है । (१) जहाँ तक ही सके मोड़ अंग के बाहर की ओर दिये जायें तथा अस्थि के उभार पर न हों । (२) मोड़ के समय पट्टी को ढीली करने के पश्चात् उस हाथ को, जिससे पट्टी पकड़ी हुई है, इस प्रकार घुमाना चाहिए कि यदि पहले श्येनी अंग की ओर थी तो अब वह बाहर की ओर हो जाय और पृष्ठभाग अङ्ग की ओर हो जाय । इससे पट्टी स्वयं अपने ही ऊपर सुड़ जायगी । उसका ऊपर का किनारा नीचे होगा और नीचे का किनारा ऊपर चला जायगा । जिस स्थान पर मोड़ देना है, वहाँ दूसरे हाथ की अंगुलि रखने से यही कार्य होता है । (३) मोड़ देने के समय हाथ अंग से कुछ ऊँचा रक्खा जाय तथा पट्टी अधिक ढीली भी न रक्खी जाय । इस प्रकार मोड़ लगाने के पश्चात् पट्टी को फिर कस कर लपेट लगाना चाहिये । जहाँ मोड़ की आवश्यकता हो, वहाँ मोड़ लगा कर यह बंध दूसरे सिरे तक लगा दिया जाता है ।

स्थगिकाबंध—यह बंध ऊर्ध्व शाखा या अधःशाखा के किसी अंग का छेदन (Amputation) करने के पश्चात् प्रयुक्त होता है । पहले कटे हुए स्थान से पाँच या छः इंच ऊपर बाएँ हाथ के अँगूठे और अंगुलियों के बीच में अंग को पकड़ कर वहाँ ही दो या तीन लपेट लगा दिये जाते हैं । तदनंतर पट्टी को आगे अँगूठे से दबा कर उस को उलट कर हूँट पर से पीछे की ओर लिया जाता है । वहाँ अंगुलियों से दबा कर फिर पहले लपेट के बाहर के भाग को ढकते हुए आगे की ओर लिया जाता है । तीसरा लपेट पहले लपेट के भीतर की ओर रहता । इस प्रकार लपेटों को लगा कर हूँट पूरा ढक दिया जाता और प्रत्येक लपेट आगे की ओर अँगूठे से और पीछे की ओर अंगुलियों से दबा दिया जाता है । अन्त में हूँट को ढकने लिये लपेटों को स्थिर करने के लिये श्रंग के चारों ओर कुछ गोल लपेट लगा दिये जाते हैं । अथवा हूँट के प्रत्येक लपेट के पश्चात् एक गोल लपेट भी लगा सकते हैं, जिस से वह लपेट ढीला न होने पावे और हाथ को भी तकलीफ कम हो ।

इत्याबंध—इस का उपयोग अधोहन्त्रस्थिरंग में होता है । इस के लिये एक गज लंबा और तीन इंच चौड़ा कपड़े का रटा चाहिये । इस का मध्य किनारे से एक इंच छोड़ कर चार इंच तक चीरा जाता है तथा दोनों सिरे भी मध्यच्छेद के दोनों ओर दो दो इंच स्थान छोड़ कर चीरे जाते हैं । इस से यह

पट्टा मध्यच्छिद्र और चतुरंग युक्त हो जाता है । अब मध्यच्छिद्र में डोढ़ी की नोक इस प्रकार से रखे कि पट्टी का रंग भाग नीचे के होठ नीचे और चौड़ा भाग हनु के नीचे आ जाय । तदनंतर तंगभाग के साथ सीधा सम्बन्ध रखने वाले दो सिरे गुद्दी पर और चौड़े भाग के साथ सम्बन्ध रखने वाले दो सिरे माथे पर बांधना चाहिये । अन्त में माथे की गाँठ का सम्बन्ध पिछली गाँठ के साथ किया जाता है, जिस से वह अपने स्थान से न सरक जाय । चीनबंध—इस का उपयोग पीड़ित नेत्र पर कवलिका रखने के लिये होता है । प्रथम पीड़ित नेत्र के ऊपर माथे पर पट्टी के एक सिरे को रख कर वहाँ से दूसरे नेत्र की तरफ माथे पर ही पट्टी ले आओ और गिर, के चारों ओर घुमाते हुए पीड़ित नेत्र के दूसरी ओर के कर्ण के ऊपर तक पहुँचने के पश्चात् नीचे उतरना आरंभ करो । जब पट्टी दूसरी ओर के कान के पास पहुँच जाय तो कान के नीचे से निकाल कर नेत्र के ऊपर से माथे पर लिपेटे हुए पट्टी पर पिन की सहायता से कस देना चाहिये । विबंधबंध—यह बंध उदर और उरःप्रदेश में लगाने के लिये उत्तम है । जब बंध बार बार बदलना होता है तब इस के प्रयोग में सुभीता रहता है । यह बंध कई पट्टियों से बनाया जाता है । पट्टियाँ दो इंच चौड़ी और इतनी लम्बी होनी चाहिये कि वह उदर या वक्ष के चारों ओर ढेड़ बार लपेटे जा सके । उद्देश्य यह है कि बंध लगाते समय एक ओर की पट्टियाँ दूसरी ओर की पट्टियों को अच्छी तरह से ढक ले । इन में से एक पट्टी दूसरी पट्टियों से एक फुट तक अधिक लम्बी रहनी चाहिये । यह पट्टियाँ एक दूसरे के ऊपर इस प्रकार रक्खी जाती हैं कि ऊपर वाली पट्टी नीचे वाली पट्टी के ऊपरी किनारे को अच्छी तरह से ढक दे । पट्टियाँ रखने का प्रारंभ सब से लम्बी पट्टी से होता है । इसके पश्चात् इन पट्टियों का बीच का भाग एक चौकोर कपड़े के टुकड़े के साथ सी दिया जाता है । इस का प्रयोग उदर के लिये होता है । लम्बी पट्टी नीचे की ओर होती है । बंध लगाने का प्रारंभ ऊपर से होता है और अंत में लंबी पट्टी उस के चारों ओर लपेटे जाती है जिस से बंध ऊपर की तरफ न सरक जाय । जब बंध छाती के ऊपर लगाने के लिये बनाया जाता है, तब लंबी पट्टी के स्थान में ऊपर की ओर बीच के कपड़े के साथ दो इंच की दूरी पर दो लंबी पट्टियाँ सी देने चाहिये । यह बंध नीचे से ऊपर की तरफ लगाया जाता है और अन्त में लंबी पट्टियाँ कंधों पर से होकर फिर आगे की ओर ला कर बंध के साथ पिन के द्वारा लगाई जाती है जिस से बंध नीचे न सरक जाय । वितानबंध—यह बंध फैट की तरह सिर को ढक लेता है । इस के लिये दो पट्टियों की आवश्यकता होती है—एक दो इंच चौड़ी और दूसरी तीन इंच चौड़ी । इन दोनों के सिरों को आपस में मी दिया जाता है । परंतु दो पट्टियों के दो स्वतंत्र बेलन बनाये जाते हैं । छोटी पट्टी का बेलन दाहिने हाथ में और बड़ी पट्टी का बेलन बायें हाथ में लेकर वैद्य रोगी के पीछे खड़ा होता है जो कुर्सी या तिपाई पर बिठा दिया जाता है । तदनंतर दोनों पट्टियों का सिया हुआ भाग रोगी के माथे पर जितना भी नीचा, यानि अङ्गुलियों पर, हो सके उतना नीचा रख कर दोनों बेलनों को निम्न स्थान से

कानों के ऊपर लेकर पीछे गुड़ी के नीचे मिलाया जाता है । वदा मिलने के पश्चात् दोनों की दिया फिर बदल जाती है । चौड़ी पट्टी सिर के चारों ओर पहले ही की भाँति घूमती जाती है और छोटी पट्टी पीछे से आगे और आगे से पीछे होती हुई सिर को ढक लेती है । यह कार्य निम्न प्रकार किया जाता है । प्रथम बार गुड़ी पर मिलने के पश्चात् बड़ी पट्टी छोटी पट्टी के ऊपर से उस को दाबनी हुई दाहिनी ओर को घनी जाती है और छोटी पट्टी गुड़ी पर ही मोड़ कर सिर के ऊपर बिलकुल बीच में से माथे की ओर नासामूल तक घनी जाती है । यह करते समय बेलनों को हाथों में अटला-बदल करने की आवश्यकता होती है । माथे पर दाहिनी ओर से आने वाली बड़ी पट्टी छोटी पट्टी के ऊपर से होती हुई सीधी बाईं ओर को खली जाती है और छोटी पट्टी मोड़ कर आगे से पीछे की ओर सिर के दक्षिणार्ध में बीच के लपेट के किनारे को कुछ ढकनी हुई, जहा से प्रारम्भ हुआ था उसके पास खली जाती है । यहाँ फिर बड़ी पट्टी छोटी पट्टी के ऊपर से दाहिनी ओर खली जाती है और छोटी पट्टी मोड़ कर आगे की ओर सिर के वामार्ध में पहले लपेट के किनारे को कुछ ढकती हुई माथे पर घनी जाती है । इस प्रकार अधिक लपेट लगाकर सारा सिर ढका जाता है । लपेट लगाते समय यह ध्यान में रखना चाहिये कि पीछे से आगे की ओर का लपेट सिर के वामार्ध में और आगे से पीछे की ओर का लपेट सिर के दक्षिणार्ध में हो । पूरा सिर ढक जाने के पश्चात् जब दोनों पट्टियाँ पीछे गुड़ी पर मिलनी हैं, तब चौड़ी पट्टी अपने पूर्वक्रम के अनुसार दाहिनी ओर से माथे पर घनी जाती है और छोटी पट्टी भी बड़ी पट्टी के नीचे से होकर बाईं ओर से लिपटी हुई माथे पर बिन्दु दिया में खली आती है और अन्त में पिन लगाकर दोनों को माथे पर स्थिर कर दिया जाता है । यह बंध बांधने के लिये कुछ कठिन होता है तथा रोगी को माथे में कुछ बेचैनी और गरमी पहुँचाता है । इसलिये इसका प्रयोग कम होता है । कौपीन बंध—यह बंध कौपीन मरुध या अंग्रेजी के (T) अक्षर जैसा होता है । इसलिये इसको कौपीन बंध या 'टी बन्धन' कहते हैं । इसका विशेष उपयोग गुद् और हृण्य प्रदेश के लिए होता है । यह बंध दो पट्टियों का बना होता है । दोनों पट्टियाँ प्रायः चार चूच चौड़ी रहनी जानी हैं । उनमें से एक पट्टी को दूसरी पट्टी के बीच में सबाई की ओर सी दिया जाता है । बंध बांधने समय आधी पट्टी रोगी के कमर में बांधी जाती है और दूसरी पट्टी लंगोटी की तरह निचों के बीच से होती हुई अण्डकोष के ऊपर से सामने की ओर पहली पट्टी में बांधी जाती है । कनी कनी हथका गिरा दो भागों में धोर कर दो सिरे घिरन के दोनों तरफ बांधे जाते हैं । अण्डकोष को बाहर रखना ही तो पट्टी के बीच में छेद करके उसमें से अण्डकोष को बाहर निकाल सकते हैं । यदि दो पट्टियों का बनाया हुआ बंध न मिले तो एक लंबी पट्टी से भी यह बंध लगाया जा सकता है । पहले कमर में पट्टी बांध कर उसकी नगद सामने पेट के समीप खानी चाहिये । वहाँ से पट्टी निचों के बीच से होती हुई पीछे कमर के वही में अटकाकर फिर निचों के बीच में

से आगे पेट पर लेकर दूसरी तरफ बांध देना चाहिये । यह बंध—यह बंध किमी चौकोर घब या स्माल से बनाया जाता है । पहले वस्त्र को कर्णोरेखा (Diagonal) में मोड़ त्रिकोणाकार बना लेना चाहिये । फिर इस त्रिकोण को बार छपेट कर आवश्यकता के अनुसार चौड़ी लंबी पट्टी बना जाती है, जो गोकण्य की तरह दोनों सिरों की अपेक्षा भाग में अधिक चौड़ी होती है । इस पट्टी के दोनों सिरों के पीछे दोनों कंधों पर से लेकर बांध दिये जाते हैं और इस जो लटकन बनती है, उसी में अग्रबाहु या हाथ रखा जाता है । जब सारी बाहु और अग्रबाहु का सुरक्षित रखना ही है, तब वस्त्र को केवल त्रिकोणाकार ही बना लेते हैं । इसके दोनों सिरों को दोनों कंधों पर से लेकर गर्दन के पीछे इस प्रकार बांध देना चाहिये कि त्रिकोण का तल हाथ दिया में और अग्र कोहनी की दिया में हो । अन्त में तीनों सिरों को कोहनी के ऊपर से लेकर पहले दो सिरों के स मिलाया जाता है या कोहनी के कुछ ऊपर ही पिन द्वारा बांध दिया जाता है । इस बंध का लगाते समय हलना ध्या रखना चाहिये कि हाथ और अग्रबाहु के सामने से आनेवाले पट्टी का सिरा उसी ओर के कंधे पर होकर मीया के पीछे घनी जाय । जब बंध पट्टी की तरह बनाकर केवल हाथ लटकाने के लिये प्रयुक्त होता है तब हाथ के सामने से आनेवाला सिरा दूसरी ओर के कंधे पर होकर मीया के पीछे बांधा चाहिये । उक्त बंध—यह बंध बाहु अग्रबाहु और हाथ हाथ के समीप पर्याप्त स्थान पर कुछ काल तक स्थिर करने के लिये प्रयुक्त होता है । प्रथम बाहु और अग्रबाहु छाती पर ही रख कर उनके ऊपर से छाती के चारों ओर एक गोल बंध लगा दिया जाता है । इसके पश्चात् दूसरे भाग के समीप कंधे से पट्टी दूसरे ओर के कंधे पर लाई जाती है । वहाँ से पीछे पर होकर पट्टी दूसरे के समीप आकर पहले लपेट को कुछ ढकती हुई छाती के चारों ओर घूमती है । फिर दूसरे के कंधे से दूसरी ओर के कंधे पर खली जाती है । इस प्रकार लपेट छाती के चारों ओर बाहु और अग्रबाहु पर से प्रत्येक समय कुछ ऊपर की तरफ बाँझा हुआ घूमता है और दूसरा दूसरे के नीचे से प्रत्येक समय हाथ के तरफ कुछ बाँझा हुआ दूसरी ओर के कंधे के ऊपर चला जाता है । सारा बाहु और अग्रबाहु इस प्रकार से ढका जाता है । अन्त में पट्टी के निचों का पिन द्वारा स्थिर कर दिया जाता है ।

अब तक सुभ्रुतसहिता चौदह बंध और वागादोष उल्लेख कर शरीर पर बांधने की प्रवृत्तियाँ प्राक्तरण प्रचलित रीतियों में अनुसार वर्णन की गई हैं । इन पत्रद्वय बंधों के अतिरिक्त और भी कई प्रकार के बंध प्रचलित हैं, जिनके नाम प्राक्तरण के अनुसार स्थानों में हैं । यथा—नलन का बंध, शिर का बंध, गुल्फ का बंध, वंशज्यामधिक्य इत्यादि । सुविमान् के उपायक बंध बांधने की रीतियों के अनुसार शरीर के प्रत्येक भाग पर कुछ बंधों के बंध लगा सकते हैं । इन अतिरिक्त बंधों का बंधन नहीं करने की कोई आवश्यकता नहीं है । विज्ञान् वाक् इनके लिये बधित-वाम (Dau lag, and) के अंग्रेजी पुस्तक देखें ।

तद्युक्तिक्रमों में इन विविध बन्धों की बांधने की रीतें नहीं थीं और नियतरूप से परिणत नहीं मिलतीं । तब ये विविध बंध प्राचीन काल में किम्ब प्रकार बांधे थे, इसका निश्चय करना बहुत कठिन हो गया है । परंतु अनुसंधेद कहा जा सकता है कि बंध बांधने की जो विधियाँ बतलाई गई हैं वे एक बंध बंध विधि छोड़कर प्रायः सत्य लगती हैं, पुरानी नहीं । इसको साथ ही साथ यह भी देह कहा जा सकता है कि आयुर्वेद में बंधविन्यास में उपाति हो चुकी थी ।

यत्राणामूर्ध्वमधस्तिर्यक् च ॥१९॥

बन्धों की गाँठ (बन्ध के) ऊपर की ओर नीचे या एक पार्श्व की चाहिये ॥१९॥

वक्तव्य—ब्रह्मण्यमान के ठीक ऊपर गाँठ बांधने में बन्ध बांधा पहुँचती है । इसलिये ब्रह्मस्थान, छोड़ कर दूसरे पर गाँठ बांधना उचित है । आजकल बंध रियर करने लिये 'सेफ्टी पिन' (Safety Pin) का उपयोग है । इसमें बहुत सुविधा होती है और किसी प्रकार की नहीं हो सकती । फेबल पिन लगाते समय नीचे के का ब्याल रख के लगाना चाहिये ।

तत्र घनां कवलिकां दत्त्वा वामहस्तपरिक्षेपमृत्नाविद्धमसंकुचितं मृदु पट्टं निवेश्य यधीयात् ।

च ब्रह्मस्योपस्ति कुर्याद्ग्रन्थिमावाचकरं च ॥२०॥

बन्ध पर गाढ़ी कवलिका रखने के पश्चात् बाएँ हाथ में ता हुआ पट्ट (दाहिने हाथ से) सीधा, बिना मोड़ के और ती भाँति फैलाकर लपेट दे और पट्ट की गाँठ, बन्ध में पीटा के कारण बिलकुल ब्रह्मस्थान के ऊपर न बाँधे ॥२०॥

वक्तव्य—इस सूत्र में बंध बांधने की विधि संक्षेप में लकी गई है । बंध बांधने के पूर्व बखरपट्ट का एक बेलन (roller) बना लेना चाहिये । यह कार्य हाथों से या यन्त्र द्वारा भी हो सकता है । बेलन सखत और एक सा लिपटा होना चाहिये । इससे धरीर पर बंध सीधा (कड़ु), ना मोड़ के (अनाविद्ध), और ठीक फैलाकर (असंकुचित) धने में बहुत ही सुविधा होती है । वाम और दक्षिण त्परिक्षेप फेबल सापेक्ष है । दोनों में भी परिक्षेप की आवश्यकता होती है । यदि रोगी के बाएँ अंग पर बंध बांधना । तो प्रारंभ में बंध का बेलन वैद्य के दाहिने हाथ में और सा बाएँ हाथ में होना चाहिये । यदि रोगी के दाहिने हाथ पर बांधना हो तो बंध का बेलन वैद्य के बाएँ हाथ में और दाहिने हाथ में होना चाहिये । प्रत्यक्ष लपेटते समय अंग को वाम हस्त से दक्षिण हस्त में और दक्षिण हस्त से वाम हस्त में बदलना पड़ता है । बंध सदा अंग के सामने ही और भीतर से बाहर आना चाहिये और अंग के पीछे की ओर बाहर से भीतर की जाना चाहिये । अर्थात् बंध का बेलन अंग के भीतर की ओर से प्रारंभ होकर अंग के ऊपर होता हुआ बाहर की ओर उसके अन्त तक इस प्रकार जाता रहता है । इस सारे प्रयोग में बेलन अंग के संपर्क में रहना चाहिये । अंत में पट्टी के पहले सिरे के साथ अन्तिम सिरा इस प्रकार

से बांध दे कि उसकी गाँठ सीधी ब्रह्मस्थान के ऊपर न आजाय, न उस गाँठ से ब्रह्मस्थान को किसी प्रकार की पीटा हो सके । सेफ्टी पिन लगाना ही तो पहला सिरा गुन्ना रखने की कोई आवश्यकता नहीं होती । अन्तिम सिरे को थोड़ा दोहरा करके पिन लगा सकते हैं ।

न च विदेशिकौप्रथेऽतिनिग्धेऽतिरुद्धे विपरीते वा कुर्वतः यस्मादतिशोभात् हेतो, रौच्याच्छ्रेयो, दुर्न्यासाद्ब्रह्मण्यवर्त्माधर्यसुमिति ॥२१॥

(बन्ध में प्रविष्ट होने वाली) बर्त्ता और ब्रह्म पर लगाने का कल्प अतिस्निग्ध, अतिरुद्ध या विषम प्रविष्ट न करे । क्योंकि अतिस्निग्धता से ब्रह्म में आर्द्रता होती है, अतिरुद्धता से ब्रह्म फट जाना है और विषम रखने से ब्रह्मसार्ग में रगड पैदा होती है ॥२१॥

वक्तव्य—विषम—दुर्न्यस्त । विदेशिका—अन्तर्वर्ती । इसका विशेष विवरण पाँचवें अध्याय में किया गया है । प्रथम—ओपधिकल्पक । संग्रह में बन्ध और बर्त्ता के तीव्र अधिक द्रोप वर्णन किये हैं—न च विदेशिकाभौषण्यतिनिग्धस्त्वमतिशयमतिगाढमद्भ्ये दुर्न्यस्त वा दवात् । अतिरुद्धतादपरिशुक्तिः । नादव्या मंगलः । अर्द्धमत्वाद् गणवर्त्तोपर्यणम् (सूत्रस्थान, अ. ३७) ।

तत्र ब्रह्मण्यतनविशेषाद्ग्रन्थिपरिक्षेपविधौ भवति—गाढः, समः, शिथिल इति ॥२२॥

बन्धों के स्थान (द्रोप और काल) के अनुसार बंधन तीन प्रकार का होता है—गाढ, सम और शिथिल ॥२२॥

पीडयन्नरुजो गाढः सोच्छ्वासः शिथिलः स्मृतः ।

नैव गाढो न शिथिलः समो बन्धः प्रकीर्तितः ॥२३॥

जो कर्मने पर भी ब्रह्मस्थान में पीटा मालूम न हो वह गाढ़ा (फरड़ा) बंध है, जो कुछ मावकाय यानि ढीला हो वह शिथिल बंध है और जो न गाढ़ा न शिथिल हो वह समबंध होता है ॥२३॥

वक्तव्य—पीडयन्नरुजः—पीडयन्नगाढमानोऽपि यो रुजां न करोति । सोच्छ्वासः—असम्बद्ध पीडितत्वेन सान्तर्वातः रुधो नातिमल्लः ।

तत्र स्फिकुत्तिकृत्वावद्धन्तणोरुशिरःशु गाढः, शाखावदनकर्णकार्दमेद्भुसुष्कपृष्ठाश्वेदरोरःशु समः, अक्षणोः सन्धिषु च शिथिल इति ॥२४॥

(स्थान के अनुसार बंधविशेष—) उनमें से नितंब, कुक्षि, बाहुमूल, जंघामूल, जाँघ और सिर इनमें कड़ा बंध लगावे । शाखा, मुख, कान, कण्ठ, लिंग, वृषण, पीठ, पार्श्व, उदर और छाती इनमें सम बंध लगावे । नेत्रों और संधियों पर शिथिल बंध लगावे ॥२४॥

तत्र पैत्तिकं गाढस्थाने समं यधीयात्, समस्थाने शिथिलं, शिथिलस्थाने नैव; एवं शोणितवृष्टं च; श्लैष्मिकं शिथिलस्थाने समं, समस्थाने गाढं, गाढस्थाने गाढतरम्; एवं वातदुष्टं च ॥२५॥

(दोषों के अनुमार बध विशेष—) इनमें से पैत्तिक बध को गाढबध के स्थान में समबध लगावे, सम के स्थान में गिथिल बध लगावे और गिथिल के स्थान में बध न लगावे (या अतिगिथिल लगावे) । इसी प्रकार रक्तदुष्ट बध का भी बधन करना चाहिये । कफ के बध को गिथिलबध के स्थान में सम बध से बाधे । सम के स्थान में गाढे बध से बाधे और गाढे बध के स्थान में अतिगाढ बध से बाधे । इसी प्रकार वातदुष्ट बध का भी बधन करना चाहिये ॥२५॥

तत्र पैत्तिकं शरदि श्रीष्मे द्विरहो वध्नीयात्, रक्तोपद्रुतमप्येव; श्लैष्मिकं हेमन्तवसन्तयोरुच्यहात्, वातोपद्रुतमप्येवम् । प्वमभ्यूह्य बन्धविपर्ययं च कुर्यात् ॥२६॥

(काल के अनुमार बधन—) पैत्तिक बध को शरद और शीष्म ऋतुओं में दिन में दो बार बध पलटकर बाधे । इसी प्रकार रक्तदुष्ट बध का भी बधन करना चाहिये । श्लैष्मिक बध का हेमन्त और वसन्त ऋतुओं में तीसरे दिन बध बाधे । इसी प्रकार वातदुष्ट बध का भी बधन करना चाहिये । इस प्रकार (स्थान, दोष और काल का) विचार करके बध बधन गिथि में विपर्यय (या कुछ फर्के भी) कर सकता है ॥२६॥

तत्र, समशिथिलस्थानेषु गाढं बधे विकेशिकौ-पधनैरर्थक्यं शोफवेदनाप्रादुर्भावश्च, गाढसमस्थानेषु शिथिलं बधे विकेशिकौपधपतनं पट्टसंचाराङ्गणवर्माधिघर्षणमिति; गाढशिथिलस्थानेषु समं बधे च गुणभाय इति ॥२७॥

सम और शिथिल बध के स्थान पर गाढबध बाधने से बर्नि और ओषधि र्म्यं हो जाती है और बधस्थान में सूजन और पीडा पैदा होती है । गाढ और सम बध के स्थान में गिथिल बध लगाने से बर्नि और ओषधि गिर जाती है और पटी समक जाने से बध पर रगड होती है । गाढ और गिथिल (बध के) स्थान पर सम बध लगाने से (कुछ भी) गुण नहीं होता ॥२७॥

अविपरीतबन्धे वेदनोपशान्तिररक्त्प्रसादो मर्दयं च ॥२८॥

योग्य बध का प्रयोग करने से पीडा की शान्ति, रक्त का प्रसादन और बधस्थान में मृदुता उत्पन्न होती है ॥२८॥

अवश्यमानो दंशभशकट्टणकाष्ठोपलपांशुशीत-यानातप्रभृतिभिर्विदोषैरभिदहन्यते ब्रह्मो विविधवेदोपद्रुतश्च दुष्टतामुपैत्यालेपनादीनि चास्य पिशोपमुपयान्ति ॥२९॥

बधन न करने से बध मसिका मच्छर (आदि के काटने से), कृण, लकड़ी, पथर के कण, एलिन पत्तने से तथा बिल वायु और गरमी से पीड़ित हो जाता है । उनमें अनेक प्रकार की पीडा उत्पन्न होकर दुष्ट हो जाता है और उसने लेप आदि औषधियाँ घुल जाती हैं ॥२९॥

धूर्णितं मथितं भग्नं चिन्त्रिष्टमतिपातितम् । अस्थिभ्रातुसिराच्छिन्नमानु यन्धेन रोदति ॥३०॥

सुखमेवं ब्रह्मी शेते सुपुं गच्छति तिष्ठति ।

सुखं शय्यासनस्थस्य क्षिप्रं संरोहति ब्रह्म ॥३१॥

यदि शरीर का कोई अंग चूर्णित, मथित, टूटा नु नष्टच्युत और स्थानच्युत हो गया हो या हड्डी, खादु, टूट गई हों तो बध से अच्छे हो जाते हैं ॥३०॥ बध लगा ब्रह्मी मनुष्य शान्ति से संता है, आराम से चल फिर स है और बैठ सकता है । जो सुख से सो बैठ सकता है, उ बध भी शीघ्र अच्छा हो जाता है ॥३१॥

अबन्ध्याः पित्तरक्ताभिघातविपनिमित्ता यद् शोफदाहपाकरागतोद्वेदनाभिभूताः क्षाराग्निदग् पाकात् प्रकुथितं प्रशीर्णमांसाश्च भवन्ति ॥३२॥

जब बध पित्तजन्य, रक्तजन्य, आघातजन्य, विपजन्य जब बध में सूजन, जलन, पाक, सुरखी और तोड़ादि पै हों, जब अग्नि और क्षार से बध उत्पन्न हुआ हो और पत्ते काष्ठ नीलरी माल, मड कर करता हो तब बध लगाना चाहिये ॥३२॥

कुष्ठिनामग्निदग्धानां पिडका मधुमेहिनाम् ।

फणिकाश्रोन्दुरुचिषे विपजुष्टवणश्च ये ॥३३॥

मांसपाके न चध्यन्ते गुदपाके च दारुणे ।

कुष्ठियों के बध, अग्निदग्धबध, मधुमेहियों की पिडका के बध, मूषकविष से उत्पन्न हुए कर्णिकायुक्त बध तथा अ विपयुक्त बध का यदि माम का पाक हो गया हो तो बध नहीं करने चाहिये तथा गुद पक जाने पर वहाँ भी बधन न करना चाहिये ॥३३॥

स्वदुःखा चापि विभजेत्कृत्याकृत्यांश्च बुद्धिमान् ॥३४॥

देशं दोषं च विज्ञाय ब्रह्म च ब्रह्मकोविद् ।

ऋतूंश्च परिसेव्याय ततो यन्धासिधेदायेत् ॥३५॥

बध जानने वाला बुद्धिमान् बंध शरीरगत बध का स्थान (वातादि) दोष और (शीतादि) ऋतु इन पर ध्यान देकर बध का ज्ञान करके वह बध है या अवश्य है इत्यादि विचार अपनी बुद्धि के अनुमार कर पश्चात् बंध का उपयोग करे ॥३४-३५॥

ऊर्ध्वं तिर्यग्बंधस्ताश्च यन्त्रणा त्रिविधा स्मृता ।

यथा च चष्यते बन्धस्तथा यदयाम्यशेषतः ॥३६॥

घनां कवलिर्कां दत्त्वा मृदु चैवापि पट्टकम् ।

विकेशिकामीपधं च नातिक्रिग्धं समाचरेत् ॥३७॥

भ्रक्षेद्यत्यतिक्रिग्धा तथा रूक्षा क्षिणोति च ।

शुक्रभेदा गोपयति दुर्न्यस्ता यत्नं धरति ॥३८॥

विपमं च ब्रह्मं कुर्यात् सममयेत् स्याययेत्तथा ।

यथाग्रहं विदित्वा तु योमं घैद्यः प्रयोजयेत् ॥३९॥

बध की प्रथि ऊपर की, नीचे की और तिरछी ऐसी तीन प्रकार से बांधी जाती है । अब जिन प्रकार बध बांधा जाता है उन्ही प्रकार की पृष्ण रूप से बंधन करते हैं ॥३६॥ (पहले बध में बंधी या ऊपर औरपधि लगा दे, तदनंतर) गाढ़ी बधनना

१ प्रकुथिता प्रशीर्णमांसम् ।

र स्वर महीन कण्ठ के पट्टे से बांध दे । बिनागिला
 ओरधि अधिक स्नेह युक्त प्रयोग में नहीं लानी चाहिने
 ५ अति पियनी (मरु में) अर्धता कर्त्ता है, अति स्त्र
 ६ नुत्तान पहुँचाती है, यथोचित स्नेहयुक्त मरु का
 ७ कर्त्ता है और अयोग्य स्थिति में स्त्री सुई व्रण मार्ग में
 ८ पैदा करती है ॥३८॥ व्रण को विद्यम बनाती है तथा पात्र
 ९ रोक देती है या अधिक मात्रा पैदा करती है । (हृत्किये)
 १० की चोख परीक्षा कर (कन्त, तर्जित्त इत्यादि का)
 ११ करमा चाहिने ॥३९॥

उजे रक्तजे वाऽपि सहृदेव परिश्रिपेत् ।
 नक्तु कफजे वाऽपि घानजे च विचक्षणः ॥४०॥
 न प्रतिपीड्याथ जाययेदनुलोमतः ।

मोध्य बन्धान् गृह्णान्ताम् सन्धींश्च विनिवेशयेत् ॥४१॥
 पैलिक और रक्तन वर्णों का द्यो पद ही चार दवाकर
 कोले और कफज तथा वातज वर्णों का द्यो करे चार पीटन
 १ घुसुर वैद्य निकाले ॥४०॥ द्यो नीचे की दवाकर रोमगति
 २ अनुसार हृत्तन्त्र से पीटन करके पूष का प्राचया करना
 ३ लिये । सर्व प्रकार के थंथ इय प्रकार गोपे कि उसके निं
 ४ र जोड़ बाहर से न दिगाई (गुह) देये ॥४१॥

५ चक्षुष्य—उद्वेग परिश्रित्य—उत्पन्न धौर हाराणवद के
 ६ सुमार इमका अर्थ 'एक बार पट्टे से पीटन करना चाहिने'
 ७ का है—एकवर्णा पट्टेन वेष्टयेत्ति ।

ओष्टस्याप्येव सन्धाने यथोद्दिष्टो विधिः स्मृतः ।
 बुद्धयोप्रेक्ष्याभियुक्तेन तथा चास्थिषु जानता ॥४२॥
 उत्तिष्ठतो निपण्णस्य शयनं वाऽधिगच्छतः ।
 गच्छतो विविधैर्यनिर्नास्य दुष्यति स द्रव्यः ॥४३॥
 ये च स्युर्मांससंस्था वै त्वग्गताश्च तथा द्रवाः ।
 सन्ध्यस्थिकोष्ठप्रासाश्च सिरास्त्रायुगतास्तथा ॥४४॥
 तथाऽवगाढगम्भीराः सर्वतो विषमस्थिताः ।
 नैते साध्ययितुं शक्या ऋते बन्धाद्भवन्ति हि ॥४५॥

इति सुधनमहितायां सूत्रग्रन्थेन ब्रह्मण्येनवन्धविधि-
 नामाष्टादशोऽध्यायः ॥१२॥

उन्नाही और अपने कर्म में निपुण वैद्य ओष्टमंधान कर्म में
 तथा अस्थि के (भक्त तथा विक्षेप की चिकित्सा) कर्म में अपनी
 बुद्धि से विचार कर उपयुक्त विधि के अनुसार थंथ लगाये
 १ ॥४२॥ इयसे उठते हुए, बैठते हुए, सोते हुए, वाहनों पर
 २ बैठते हुए अवस्थाओं में उसका द्रव्य दूषित नहीं होता
 ३ ॥४३॥ जो मांस, त्वचा सन्धि, अस्थि, कोष्ठ, सिरा, स्नायु
 ४ द्रव्यें द्रव्य हैं तथा जो सर्वप्रकार से विषम, गाढ़े, और गंभीर
 ५ द्रव्य होते हैं वे यथोक्त थंथ के बिना टिक करने अशक्य हैं
 ॥४४-४५॥

इति भास्करशर्मणा गोविंदात्मजेन विनियन्तायामाधुवचरद्वयदीपिकाया
 सूत्रभाषाटीकायां ब्रह्मण्येनवन्धविधिनामाष्टशोऽध्यायः ॥१२॥

एकोनविंशोऽध्यायः ।

अथान्तो ब्रह्मण्योपासनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अथ पाठो मे तदितोपासनीय नामक अध्याय का व्याख्यान
 करते हैं । अमे हि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

चक्षुष्य—अज्ञोपगर्भीय—प्रणित वा उपास्य गानि
 आगत, आगत, सुधृषा इवता विचार नियमं किय हुआ
 है यह अध्याय ।

ब्रह्मण्यस्य प्रथममेवागारमन्विच्छेत् ; तद्वागारं
 प्रशस्तवास्तुवादिक्तं कार्यम् ॥२॥

प्रशस्तवास्तुनि गृहे शुचावातपरिहिते ।

निवाते न च रोगाः स्युः शारीरानगन्तुमानसाः ॥३॥

यस से पहले ब्रह्मण्य के लिये निवास स्थान की तजवीज
 करनी चाहिने । वह निवास स्थान प्रशस्त वास्तु आदि ने युक्त
 होना चाहिये ॥२॥ प्रशस्त प्रदेश में निर्मित, स्वच्छ, कड़ी धूप
 और प्रवात से वर्जित मकानों में निवास करने से शारीर,
 आगन्तुक और मानसिक रोग उत्पन्न नहीं होते ॥३॥

चक्षुष्य—प्रशस्तवास्तुवादिक्तम्—प्रशस्तवास्तु तथा स्वा-
 स्थ्य की दृष्टि से अन्य आवश्यक सुविधाओं और सामग्रियों
 ने सुसज्जित । वास्तु—प्रदेश जिस पर निवासगृह निर्माण
 होता है । वास्तु की प्रशस्तता चरक में निम्नप्रकार से वर्णित
 की है—अपकृताभिराकंटाः श्याले देजे प्रशस्तम्परसभायां भूनी । गुण-
 यति प्रशन्ने भूमिनामे क्षुण्णैस्तिक्तं सुवर्णैस्तिक्तं वा । वास्तुवास्त्र में
 भूमि की प्रशस्तता इय प्रकार वर्णित की है—विलो निम्बध
 निगुण्डी पिण्डितः समपर्णकः । मकराक्ष पद्मशैरास्त्रा या समथथा ॥
 निष्कपाला निरपला बुभ्रिगनीलजिता । अश्विज्यां न सुपिता ननु-
 वात्सालेयुता ॥ अगस्त्यैश्चार्थ्य श्लेशापि पृथग्विधैः । पद्मकक्षकौश
 दाग्निर्ज्यैश्चौरपि ॥ शतंताभिर्युक्ता या भस्मापेसु तुपैरपि । मा शुभा
 सर्ववर्णानां सर्वमालकरी धरा ॥ मननश्चक्षुषो यत्र सतोषो जायते भुवि ।
 नयां कार्यं गृहः नवैरिति गर्गादिमन्मतम ॥ आदिकम्—इसमे
 प्रशस्तता, दृढता, रम्यता, अतमस्कन्ता, प्रवातता, निर्वातता,
 आपददृष्टि मृषिकपतागमच्छर मन्त्रिका विरहितावस्था, महानस
 स्नान सूत्रवकाःस्थान युक्तता, तथा अन्य सामग्रियों से सुस-
 ज्जता अभिप्रत होती है । प्रशस्तवास्तुनि गृहे—इस श्लोक में
 स्वास्थ्य की दृष्टि से एक ऐसे सुन्दर तत्व का उद्देश्य संक्षेप से
 किया है कि इसका विस्तृत विवरण करना अत्यावश्यक है ।
 जिस वास्तु पर मकान होता है, उसका हितकर या अहितकर
 प्रभाव मकान में रहने वालों के स्वास्थ्य पर पड़ता है । यदि
 वास्तु प्रशस्त हो तो स्वास्थ्य चिरंतन होता है, यदि अप्रशस्त
 हो तो स्वास्थ्य बिगड़ जाता है और शारीरिक, आगन्तुक
 और मानस विविध प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं । इसलिये
 भूमि की प्रशस्तता का भली भाँति विचार कर लेना उचित
 है । मकान बनाने के लिए वह स्थान प्रशस्त है, जहाँ की भूमि
 ककरीली, चालुका युक्त, खड़िया युक्त, प्रानाइट या क्ले स्लेट
 (Granilo, Cley-slate) से बनी हुई, सुषिर्, शुष्क और
 शुद्ध हो, जहाँ जल एकत्र न हो सके, जहाँ वायु और सूर्य-

१. ब्रह्मण्ये स्युर्मांससंस्था नित्वजनास्तास्तथा ब्रह्मण्यः

प्रकाश के मार्ग में किसी प्रकार का अवरोध न हो। ऐसी उत्तम भूमि प्राप्त कर चुकने पर मकान ऐसा बनावे कि वह पूर्वा-भिमुख या उत्तराभिमुख (आग्नेयसुदक्षिण वा) हो। उस में सील न हो, शुद्ध वायु का प्रवेश अच्छी तरह से हो (प्रवात)। कमरे गरमियों में छेदे और गीत काल में गरम (ऊनगुने) रहें। प्रकाश सब कमरों में भली भाँति (अतमस्क) पहुँचे। मकान के दरवाजे और छत काफी ऊँचे हों ताकि घर में धूमते समय किसी प्रकार की कठिनाई (सुप्रवचिचार) न हो। उस के चारों ओर खुला स्थान हो तथा उस से अधिक ऊँचाई का कोई भी मकान उस के समीप (अनुपत्यक्त) न हो, इतना विस्तृत (प्रशान) हो कि मकान में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति के पीछे ७०-१०० वर्ग फुट शयनयोग्य स्थान (अष्टहस्तायत चतुर्दशविस्तृत) मिल सके और इतना खुला और ऊँचा हो कि मकान में धूलि धूआँ, और गरमी इन से किसी प्रकार की दूषित (धमानपरज्ज्मा मनभिमगमनीय) न हो। निवाले—स्वास्थ्य का मूल शुद्ध वायु और सूर्यप्रकाश है। शुद्ध वायु जीवन के लिये अत्यंत आवश्यक है। शुद्ध वायु से दूषित रक्त की शुद्धि होती है और शुद्ध रक्त शरीर का धारण और पोषण कर सकता है। यदि शुद्ध वायु न मिले तो स्वास्थ्य की हानि होती है। पाश्चात्य शास्त्रज्ञों ने प्रयोग के द्वारा यह अनुमान किया है कि प्रत्येक स्वस्थ को प्रति घंटा औसत ३००० घन फुट शुद्ध वायु मिलनी चाहिए। रूग्णावस्था में इस से भी अधिक वायु की आवश्यकता होती है। अर्थात् रोगी को अधिक विस्तृत और खुले स्थान में रखना चाहिए। उस की शय्या दो चिकित्सकों के बीच दीवार की ओर रखनी चाहिये जहाँ बाहर से आने वाली वायु उस के शरीर पर सीधी न लग सके। इसी दृष्टि से 'निवात' शब्द का अर्थ करना चाहिए। दुम्भारागर का बर्णन करते समय चरक में 'निवात प्रवातकेत' ऐसा मिलकुल स्पष्ट शब्द प्रयोग किया है। सूर्यप्रकाश—सूर्य अपने चारों ओर किरणों का परिक्षेपण किया करता है। इन किरणों से अनाज को उगने, बढ़ने एवं पकने के लिये शक्ति मिलती है। समुद्र का पानी भाप के रूप में परिवर्तित हो कर फिर वर्षा के रूप में नया जीवन देने के लिए भूमि पर गिरता है। वायु मण्डल में लहरें उठती हैं जिन से वायुमण्डल की शुद्धि होती है, पिकारा जीवाणुओं का नाश होता है। हमें प्रकाश और उष्णता मिलती है तथा हमारे स्वास्थ्य की वृद्धि होती है। सतप में सूर्य स्थावर और अगम सृष्टि का आत्मा है—नाशयुगमुत्पत्तुमालते हि रत रवि । एवं नासा अतमस्तुषुषुषु । भारोग्य भास्वरदि चेत् ॥ सूर्य का प्रकाश हमें रंगविहीन माध्यम पड़ता है। परंतु वास्तविक वह कई प्रकार के रंगों के मेल से बना हुआ है। वर्तमान नदियों में जब सूर्य की किरणें बालों की तरफ जल के छोटे छोटे बिन्दुओं द्वारा प्रतिबिम्बित होती हैं और छिन्नराती जाती हैं, तब ये रंग हमें दिखाई देते हैं और इस मेषगत राविव्याम का हम इन्द्रपञ्चक करते हैं। किरणें कई प्रकार की होती हैं। वैद्यकीय दृष्टि से इस के तीन मुख्य विभाग कर सकते हैं—(१) उष्णदायक किरणें (Heat rays)—इस में उष्णक (Ultra red) और रक्त या शाल (Red) किरणें समाविष्ट होती हैं। उष्णक किरणें अदृश्य और रक्त किरणें दृश्य

हैं। इन का मुख्य कार्य उष्णता देने का है और इन्हीं के प्रभ से आतपपृच्छा, आतपज्वर (Sun stroke, Heat strol Heat fever) इत्यादि रोग उत्पन्न होते हैं। (२) प्रकाश किरणें (Luminous rays)—इस में नारंगी (Orange पीली (Yellow) और हरी (Green) ऐसी तीन प्रकार किरणें समाविष्ट होती हैं। इन का मुख्य कार्य प्रकाश देने है। इन से पकावैधी, सिरदर्द, रतौषी इत्यादि विकार उत्पन्न होते हैं। ये सब किरणें दृश्य होती हैं। (३) रासायनिक किरणें (Chemical rays)—इस में आसमानी (Blue), नी (Indigs), पाटल या बैंगनी (Violet) और अतिपाटल (Ultra violet) ऐसी चार प्रकार की किरणें समाविष्ट रहें हैं। इन में से पहली तीन प्रकार की किरणें दृश्य और आँ पाटल अदृश्य हैं। इन किरणों का विशेषतया अतिपाटल किरणों का मुख्य कार्य रासायनिक क्रिया करने का है। इन अतिपाटल से आतपजन्म स्वप्दाह (Solar dermatitis), ल्पा का रंजन (Pigmentation) तथा कमगोरी इत्यादि विक उत्पन्न होते हैं। पाश्चात्य वैद्यक में किरणचिकित्सा का प्रयोग बहुत हो रहा है। इस चिकित्सापद्धति के तीन मुख्य विभाग हैं। (१) सूर्यरश्मिचिकित्सा (Heliotherapy)—इसमें प्रत्यक्ष सूर्यप्रकाश का उपयोग करते हैं। (२) रश्मिचिकित्सा (Chromo therapy)—इसमें भिन्न भिन्न रंगों व काल की बोल्टों में पानी भर कर सूर्यप्रकाश में दिन भर रक्त दिया जाता है। पश्चात् वह पानी रोगी को पिलाया जाता है। (३) अतिपाटलकिरणचिकित्सा (X-ray Therapy)—सूर्य की किरणों में से चिकित्सायोगी भाग अतिपाटल किरणें हैं विद्युत् की सहायता से ये किरणें कृत्रिम स्रोत पर उत्पन्न कर्ते इनसे अनेक रोगों की चिकित्सा की जाती है। आतपजन्म-उपयुक्त विवेचन से यह स्पष्ट हुआ है कि स्वास्थ्यवृद्धि के लिये सूर्यप्रकाश एक आवश्यक चीज है। परंतु रोगी या स्वस्थ के शरीर पर सूर्य की सीधी किरणें (Direct rays) अभि काल तक पढ़ने से स्वास्थ्य की हानि होती है। इसलिए रोगी का स्थान ऐसा होना चाहिये कि जहाँ रोगी के शयन स्थान पर सीधा सूर्यप्रकाश न आने पावे, परंतु उस स्थान के अन्य हिस्से में सूर्ये श्याम को सूर्ये प्रकाश आता रहे वास्तविक चिकित्सा, दूषा, प्रकाश, (Diffused Light) काफी हो। 'निवाले' का अर्थ जैसा 'निवाते प्रवातकेत' है वैसे 'आतपजन्म' का अर्थ 'आतपजन्म आतपकेत' ऐसा किया 'अतमस्क' ऐसा करना चाहिये।

तन्मिन् शयनमसंघाधं स्वास्तीणं मनोसं प्राश् शिरस्कं स्वस्थं कुर्वीत ॥४॥

वक्ष से आच्छादित, रमणीय, पूर्व को सिराहाना करके शय्या चित्रों और सिराहाने वक्ष रखने ॥३॥ अच्छी, छवी, चौड़ी गय्या पर मणी मनुष्य सुस से पोशाकधार कर सकता है और पूर्व दिशा में देवताओं का वास है, इसलिये उनके सम्मानार्थ गिराहाना पूर्व की तरफ होना चाहिये ॥४॥

वस्तुव्य—असंवापे—ग्रथ्या ऊंची, नीची, सक्त, खटमल
दि वाधाओं से रहित । स्वास्तीणं—यथायोग्य लंबी चौड़ी
ओढ़ने विछौने सक्रिया इत्यादि साफ सामग्रियों सहित ।
प्राप्रचारः—हाथ पैर पल्लाना, करवटें बदलना इत्यादि
जिस पर किसी प्रकार की छठिनाई न होते हुए कर
ते हैं । रोगी के ओढ़ने विछौने आदि सर्व वस्त्र मृदु, सूच्य,
दूधस्वेद विरहित, प्रतिदिन साफ धोये हुए, सूखे, सूर्य-
प्रकाश और गुदुलुसर्षपादि धूपन द्रव्यों से धूपित, तथा
सहित होने चाहिये । शयनास्तरणप्रावरणानि मृदुलुषुचि-
कीनि स्युः । स्वेदमलजन्तुमन्ति मूत्रपुरीषोपसृष्टानि च वर्ज्यानि स्युः ।
ति संभवेऽन्येषां तान्येव च सुप्रक्षालितोपधानानि सुधूपितानि
दुग्धुष्काण्युपयोगं गच्छेत्सु । धूपनानि पुनर्वासां शयनास्तरण-
रणानां च यवसर्षपातनीहिंदियुगुलुवचाचोरकवयःस्थामोलीमी
कामलकपाशोकोहिणीसर्षपनिर्मोकानि घृतसंप्रयुक्तानि स्युः ।
रक्त) । यह घालक के बलों के संबंध में जो लिखा है, वह
भी के बलों के संबंध में भी लागू होता है ।

तस्मिन् सुहृद्भिरनुकूलैः प्रियंवदैरुपास्यमानो
श्रेष्ठप्राप्सीत् ॥६॥

सुहृदो विक्षिपन्त्याशु कथाभिर्नृणवेदनाः ।
आश्वालयन्तो बहुशस्त्रनुकूलाः प्रियंवदाः ॥७॥

ऐसे स्थान में अपने मतानुवर्ती और प्रियवचन कहने वाले
पत्नी से सेवा लेते हुए दृष्टकाल तक रहे ॥६॥ अपने अनुकूल
और मधुरभाषी मित्र कहानियों से और बारबार तसल्ली की
जाते कथन कर व्रण की पीड़ा को दूर करते हैं ॥७॥

न च दिवा निद्रावशागः स्यात् ॥८॥
दिवास्वप्नाद्गणे कण्डूर्गात्राणां गौरवं तथा ।
श्वयथुर्वेदना रागः स्त्रावश्चैव भृशं भवेत् ॥९॥

व्रणी मनुष्य दिन में नहीं सोवे ॥८॥ दिन में सोने से अंगों
में भारीपन, और व्रणस्थान में कण्डू, शोथ, पीड़ा, सुरखी
और अतिस्त्राव होता है ॥९॥

उत्थानसंवेशनपरिवर्तनचङ्क्रमणोच्चैर्माषणाद्या-
स्वात्मचेष्टास्वप्नमत्तो व्रणं संरुद्धेत् ॥१०॥

स्थानासनं चङ्क्रमणं दिवास्वप्नं तथैव च ।
व्रणितो न निषेवेत शक्तिमानपि मानवः ॥११॥
उत्थानाद्यासनं स्थानं शय्या च्चातिनिषेविता ।
प्राभुयान्मास्तादङ्गे रजस्तस्माद्विजयेत् ॥१२॥

उठने, बैठने, करवट बदलने, टहलने, ऊंचे स्तर में घोलने,
बिछाने इत्यादि अपनी (शारीरिक) क्रियाओं में सावधान होकर
व्रण की रक्षा करे ॥१०॥ सामर्थ्य होने पर भी व्रणी मनुष्य बैठने,
फिने, सवारी पर चढ़ने, अधिक बोलने इत्यादि को वर्ज्य करे
॥११॥ उठना, बैठना, पड़े रहना, सोना इनका अतियोग करने
से वात का प्रकोप होकर व्रणस्थान में पीड़ा होती है । अतः
इन का सेवन वर्ज्य करे ॥१२॥

गम्यानां च स्त्रीणां संदर्शनसंभाषणसंस्पर्श-
नानि दूरतः परिहरेत् ॥१३॥

स्त्रीदर्शनादिभिः शुक्रं कदाचिच्चलितं भवेत् ।
श्रास्यधर्मकृतान्दोषान् सोऽसंसर्गोऽप्यचाभुयात् ॥१४॥

मैथुन करने योग्य स्त्रियों के दर्शन, उन से बातें करना
तथा स्पर्श करना इन चेष्टाओं को दूर ही से त्याग करे ॥१३॥
क्योंकि स्त्रियों के दर्शनादि चेष्टाओं से चलायमान हुआ वीर्य
कदाचित् स्वलित हो जाय तो मैथुन के बिना भी मैथुन करने
के दोषों को व्रणी मनुष्य प्राप्त हो जाता है ॥१४॥

वस्तुव्य—गम्या—जिन का समागम करने में पातक
नहीं, ऐसी स्वपत्नी, वंश्या, घेटी प्रभृति स्त्रियाँ । श्रास्यधर्मकृतान्
दोषान्—वास्तव में स्त्री के साथ केवल समागम करने में
शारीरिकदृष्ट्या कोई दोष नहीं हो सकता । परन्तु मैथुनान्त
में वीर्य का जो नाश होता है, उसका शरीर पर विशेष करके
रूग्णावस्था में हानिकारक प्रभाव पड़ता है । यह वीर्यनाश
मैथुन के कारण होने से वीर्यनाश का दोष मैथुन पर आरोपित
किया है । दर्शनादि द्वारा व्रणी मनुष्य के वीर्य का नाश होने
से प्रत्यक्ष मैथुन से उमकी जो हानि होने की संभावना हो
सकती है, वह मैथुन न करने पर भी होती है ।

नवधान्यमापतिलकलायकुलतथनिष्पावहरितक-
शाकाम्ललवणकटुकगुडपिष्टविकृतिवल्लूरशुष्कशंका-
जाविकानूपौदकमांसवसाशीतोदककृशरापायसदधि-
दुग्धतक्रप्रभृतीन् परिहरेत् ॥१५॥

तक्रान्तो नवधान्यादिर्योऽयं वर्ग उदाहृतः ।
दोषसंजननो ह्येष विज्ञेयः पूयवर्धनः ॥१६॥

नवीन धान्य, उड़द, तिल, मटर, कुलथी, चौले, हरितक,
अम्ल लवण कटुक रस, गुड़ और पिष्टी के पदार्थ, शुष्क मांस,
सूखे शाक, बकरी भेड़ी आनूप और जलचर प्राणियों का
मांस और चरबी, ठंडा पानी, खिचड़ी, खीर, दही, दूध,
छाछ इत्यादि को व्रणी मनुष्य त्याग करे ॥१५॥ नवीन धान्य
से तक्र तक्र (खाद्य द्रव्यों का) जो यह वर्ग वर्धन किया है, वह
व्रणस्थान की दुष्टि करने वाला और पूय को बढ़ाने वाला
जानना चाहिये ॥१६॥

वस्तुव्य—नवधान्य—प्रत्यक्ष या एक वर्ष से कम पुराना
शुक्र और शमीधान्य । माप इत्यादि—माषादि धान्य पुराना
होने पर भी वर्ज्य बतलाने के लिये पृथक् उल्लेख किया है ।
कलाय—खेसारी ढाल या मटर वगैरह । हरितक—कुंठेरशिपु-
सुरससुमुखासुरिभूस्त्रुणाः । मूलकं चुम्बिका चेति वर्ग हरितकं विदुः ॥
आनूप—हाथी भैंसा इत्यादि फूलचरवर्ग तथा हंस सारस
चक्रवाक इत्यादि प्लवर्ग इनके प्राणी । औदक—घंस
इत्यादि कोशस्थ, कच्छप आदि पादिन और मच्छ वर्ग के
प्राणी । कृशरा—तिल, चावल और उड़द की खिचड़ी ।
प्रभृति—‘यच्चान्यदपि विदंभि विदादि गुरु शीतलम्’ इन सब
वस्तुओं का समावेश प्रभृतिशब्द से समझना चाहिए । दोषसंज-
ननः—व्रण स्थान की दुष्टि करने वाला ।

मद्यपथ मैरैयारिष्टासवशीधुसुराविकारान् परिहरेत् ॥१७॥

मद्यमम्लं तथा रुचं तीक्ष्णमुष्णं च यीर्यतः ।

आशुमारि च तन् पीतं क्षिप्रं ध्यापादयेद्भ्राम् ॥१८॥

जो मद्य पीने वाले हैं वे भी मैरय, अरिष्ट, वासव, शीघ्र, सुरा तथा इन से बने हुए पदार्थों को त्याग करें ॥१७॥ क्योंकि मद्य अम्ल, रुच, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य और गीघ्रप्रभावी होने से सेवन करने पर मद्यकोतकाल क्षुब्ध कर दायना है ॥१८॥

युक्तव्य—मैरय—मैरय शरीरपुष्पगुणध्यायव्यापितम् । म च नूनोतवाञ्जीमकुडुषानामरम् ॥ विना—अमवस्य सुरावाध द्योक्तेव भावने । स्थान तद्विजनीयाभिरयमुत्तवत्सकम् ॥ अम वणि—दरपदोपपुन्या मिद मद्य स वाचन । अरिष्ट क्षामिद स्वत्व ॥ शीघ्र—हेय शीघ्रम् शीघ्रपक्वमुद्रते । मिद परम मेषु मरुतमुद्रते ॥ सुरा—परिपक्वामुष्णमुष्णानां सुरा ज्यु ॥ मद्यपथ—मद्य पीने वाले तथा न पीने वाले दोनों मद्यों का सेवन न करें । अन्वित्यादि—जो मद्य तीक्ष्ण रुचादि गुणयुक्त होता है केवल उसी का सेवन वर्ज्य समझना चाहिये । अन्य मधुर सौम्य गुण युक्त द्राक्षादिसौत्रव मद्य सेवन करने में कोई निषेध नहीं है, ऐसा कुछ आधायों का मत है—मन्नेह मधुर-प्रत्य नातिनीक्षणकर्कशम् । तनु वलुत्वेव च मर्दिकेपु वदुत्तनम् ॥

यातातपरजोधुमायदयायातिसेयनातिभोजनानि- प्रभोजनाश्रवणदर्शनैर्प्यामर्भयकोधशोऋध्यानरति- जागरणविषममानानरायनोपवासवाग्व्यायामस्थानचङ्- क्रमणशीतयानविरुद्धाध्ययानाजीर्णमक्षिणाद्या वाघाः परिहरेत् ॥१९॥

ग्रहिनः संप्रतप्तस्य कारुण्यैरेवमादिभिः ।

क्षीणशोणितमांसस्य भुक्तं सम्यहन् जीर्यति ॥२०॥

अजीर्णात् पचनादीनां चिभ्रमो चलवान् भवेत् ।

ततः शोफरुजास्त्राबदाहपाकानवानुयात् ॥२१॥

वायु, धूप, प्ली, पुआँ, ओष इनका अति सेवन, अति भोजन, अनिष्ट पदार्थों का सेवन दर्शन और श्रवण, दूसरे का टल्करी सहन न करना, मत्सर, भय, क्रोध, विता, रात में जागना, अधिक कष्ट या अकाल भोजन तथा निद्रा, अनयन, ऊँचे स्वर से बोलना, एक स्थान में हलचल न करते हुए अधिक समय तक ठहरना, धूमना, गीत और उड़ी वाद्य का सेवन, विरुद्ध भोजन, अभयन, अजीर्ण, मक्षिका मत्सर इत्यादि बाधाओं से शरीर मनुष्य बचा रहे ॥१९॥ इन बातों के कारणों से प्रसक्त हो जाने के कारण (पहले से ही) रक्त और मांस क्षीण हुए शरीर मनुष्य का सेवन किया हुआ भोजन ठीक ठीक नहीं पचना ॥२०॥ अन्न का पचन ठीक न होने से वातादि द्रुष्ट होकर शरीर में संचार करते हैं, जिस से ग्रह में गूजन, वेदना, खाव, जलन और पाक होता है ॥२१॥

युक्तव्य—अनिष्ट—इस का सेवक भोजन, श्रवण और दर्शन के माध्य है । श्यां—दूरे के का उल्लेख सहन न करना । विषमप्रशयन—विषममाशन और विषमययन—एतु लोकात्मके वा विषेव विषममाशनम् । विषमययन—आवश्यकता से अधिक

या कम समय तक सोना, अकाल सोना, निम्नोन्नत स्थान (सोना इत्यादि) वाग्वयाम—चिन्तना या ऊँचे स्वर से बहुत बोलना । स्थान—शरीर की एक स्थिति में किसी प्रकार के हलचल न करते हुए अधिक काल तक ठहरना । विरुद्धाशन-विरुद्धाशन और अभयन । विरुद्धाशन का कौन हितादि अध्याय में किया हुआ है, उस के अनुसार विरुद्ध पदार्थों के सेवन । अयन—मुष्णोपरि भोजनम् । मक्षिका—मक्षिकाओं से निकारी जीवाणुओं का संसर्ग होता है तथा रोगों को पचानी भी होती है । इसलिये उनका परिहार करना चाहिये—मक्षिका जगमग्य निक्षिपन्ति वदा क्लीन् । श्वतुर्भक्षिं तेषु वायेन मृदयन् । तीक्ष्ण रुचः विविधाश्च रक्तवत्सकं बन्ने । विभ्रम—वातादिक दोगों की दृष्टि या स्थानान्तर गमन ।

सदा नीचनराटोग्णा शुचिना गुरुवाससा शान्तिमङ्गलदेयताग्राहणगुरुपरेण भवितव्यमिति । तत् कस्य हेतोः ? हिंसाविहागणि हि महावीर्यापि रक्षांसि पशुपतिकुयेरकुमारानुचराणि मांसशोणित-प्रियत्वात् क्षतजननिमित्तं ग्रहिनमुपसर्पन्ति सत्कारार्थं जिघांसुनि वा कदाचित् ॥२२॥

भयति चात्र—

तेषां सत्कारकामानां प्रयतेतान्तराग्मना ।

धूपचक्षुपहारांश्च भक्ष्यांश्चैवोपहारेयत् ॥२३॥

शरीर को सदा नावृत्त और बाल कटवाने चाहिए । पवित्र और साफ वस्त्र पहने हुए रहना चाहिए । शान्तिकर्म, मगना-चरण, देवता माहाण और गुरु इन की भक्ति में तत्पर रहना चाहिए । इस का क्या हेतु है ? हिंसार्थे विहार करने वाले पराक्रमी राजस तथा रुद्र, कुबेर और कार्त्तिकेय के अनुचर मांस और रक्षि प्रिय होने से जखम का निमित्त करके शरीर के समीप अपना सत्कार करने के लिए अथवा क्वचित् उस की हिंसा करने के लिये मूढता करते हैं ॥२२॥ अपने सत्कार की इच्छा करने वाले उन राजमादि के निमित्त (सत्कार करने के लिए) अन्तःकरण से प्रयत्न करना चाहिए तथा उन की धूप, बलि, उपहार और भक्ष्य भोज्यादि प्रदान करना चाहिए ॥२३॥

युक्तव्य—हिंस विहारानि—हिंसार्थे जिन का विहार यानि चेष्टा होती है । शुचिना—अशुद्ध होने पर ही राक्षसों का आग्रहण होता है । इसलिये नावृत्त वस्त्र वस्त्र आदि स्वच्छ रखने चाहिए । अशुचि भिन्नमार्थ क्षत वा यदि काश्रुतम् । हिंसुहिनाविहारार्थं सत्कारार्थमथपि वा ॥ २३॥ हिंसा—आठो प्रकार के ग्रह—देवताया श्चुगाम्भ तथा गणवेशा पिपठे भुज्या । रक्षानि वा नानि विरायकारिषोऽहं देवगणो महास्य ॥ क्षयनिमित्तम्—रक्तसेवनार्थम् । बलि—पशुवर्जिता पूजा । उपहार—पशु-युक्ता पूजा ।

ते तु सन्तर्पिता आत्मयन्तं न हिंस्युः । तस्मात् सततमनन्द्रितो जनपरिवृत्तो नित्यं दीपोदकशस्त्र-स्यन्दामपुष्पलाजायलङ्कृते वेदमनि सम्पन्नङ्गल-मनोऽनुकूलाः कथाः श्रव्यप्तासीत् ॥२४॥

दाद्यनुकूलभिः कथाभिः प्रीतमानसः ।

त्वान् व्याधिमोक्षाय क्षिप्रं सुखमवाप्नुयात् ॥२५॥

स से वृष हुण्ड राक्षसादि नीच नखरोमादि योग्य आचरण वाले ब्रह्मी मनुष्य को बाधा नहीं करते । इसलिए , जल, शस्त्र, माला, रज्जु, पुष्प, धान की लाजा इन से सुसज्जित स्थान में सावधानी से अपने मित्रों सहित अनुकूल मंगल और मनोनुकूल कथाएँ सुनते रहना चाहिए । संपत्ति आदि की अनुकूल बातों से प्रसन्नचित्त होकर व्याधि से छूटने की आशा करता हुआ ब्रह्मी मनुष्य शीघ्र स्व को प्राप्त करता है ॥२५॥

ऋग्यजुःसामाथर्ववेदाभिहितैरपरैश्चाशीर्विधानैः
ध्याया भिषजश्च सन्ध्ययो रक्षां कुर्युः ॥२६॥

ऋग्, यजुः, साम और अथर्व वेदोक्त तथा अन्य आशी-विधानात्मक मन्त्रों के द्वारा उपाध्याय तथा वैद्य रोगी क्षा करे ॥२६॥

सर्पारिष्टपत्राभ्यां सर्पिणा लवणेन च ।

दरुहः कारयेद्भूपं दशरात्रमतन्द्रितः ॥२७॥

राई, नीम की पत्ती, घृत और लवण इन की धूनी दिन में शर दस दिन तक सावधानी से (विला नागा) देना हेतु ॥२७॥

वक्तव्य—दरुहः—सायं प्रातः । धूपन के संबंध में कुछ ऋण पाँचवें अध्याय में किया गया है । निवपत्र सर्पपादिक गंध द्रव्यों के धूम से व्रण वस्त्र गृहादि शुद्ध करने की जो पना आयुर्वेद में स्थान स्थान पर मिलती है, वह आधुनिक वास्तव्य जीवाणुविनाशक ब्रह्मचिकित्सापद्धति (Antiseptic method of treatment) की जननी ही समझनी हिये । क्योंकि आधुनिक जीवाणुनाशक चिकित्सा की भाँति चीन काल में रोगी का व्रण, व्रण बन्धन द्रव्य, शय्यादि वस्त्रों पर मकान इनका धूपन किया जाता था । न केवल व्रणों पर शयनाद्यपि व्रणदोषोप्यापगमार्थं नीलमक्षिकादिपरिहारार्थं च । (इल्लहण) । ब्रह्मो निम्बवचाद्ये च धूपनं संप्रशस्यते । (शाङ्गधर) । विवर्धित्विलाकारशीलनि सर्पपाश्वन्तं च घृतयुक्तम् । धूमो गृहशयनासन-पादियु शस्यते विपनुत् ॥ घृतयुक्तं नतकुष्ठं मुजगपतिशिरःशिरिपपुपं । धूमगदः स्मृतोऽयं सर्वविषघ्नः श्वबन्धुहृत् ॥ जतुसेव्यपत्रगुणु-ल्लोतककुम्भपुपसर्जस्ताः । श्वेता धूमा उरगाखुकीटवस्त्रकृमिहृगः ३ः ॥ (चरक) । इसमें धूपन के दुर्गन्धनाशक (Deodorant) और विपनाशक (Antiseptic) दो गुण भी स्पष्ट रूप से उल्लिखित किये हैं । प्राचीन काल में जिस को विप कहते थे, वह वास्तव में विकारी जीवाणुओं का एक वर्ग है । ये जीवाणु आज सूक्ष्मदर्शक की सहायता से प्रत्यक्ष हो जाने के कारण उनके स्वतंत्र नाम रक्ते गये हैं । परन्तु जो जीवाणु अभी तक अदृश्य अर्थात् सूक्ष्मदर्शकान्त हैं (Ultramicroscopic) वे आज भी विप (Virus) नामक सामान्य यद्यत् से निर्दिष्ट किये जाते हैं ।

छत्रामतिच्छत्रां लाङ्गुलीं जटिलां ब्रह्मचारिणीं
लक्ष्मीं गुहामतिगुहां वचामतिविपां शतवीर्यां सह-
सवीर्यां तिस्रार्थकांश्च शिरसा धारयेत् ॥२८॥

छत्रा, अतिच्छत्रा, लांगली, जटिला, ब्रह्मचारिणी, लक्ष्मी, गुहा, अतिगुहा, वचा, अतिविपा, शतवीर्या, सहस्रवीर्या और सिद्धार्थक इन को सिर पर धारण करे ॥२८॥

वक्तव्य—यहाँ जो गिरोधार्थ ओषधियों के नाम दिये हैं, उन में से अधिकसंख्य ओषधियों के संबंध में मतभेद है । छत्रातिच्छत्रा—द्रोणपुष्पीद्वय । (इल्लहण) । सुश्रुत के अनुसार सोमसमवीर्या दो महौषधियाँ—छत्रातिच्छत्रके विद्याद रक्षोमे कन्दसंभवे । जरामृत्युनिवारिण्यां श्वेतकापोतिसंस्थिते ॥ अरुणदत्त के अनुसार छत्रा—शतपुष्पा और अतिच्छत्रा—विपाणिका । लांगली—कपिकच्छुः (इल्लहण), विप लांगली (हाराणचंद्र) । जटिला—जटामांसी । ब्रह्मचारिणी—मुण्डितिका (इल्लहण), ब्रह्मयष्टी (हाराणचंद्र), ब्राह्मी (उदयचन्द्र तथा अन्य टीकाकार) । लक्ष्मी—शमी, लक्ष्मण-त्यन्ये, विष्णुकान्तेत्यपरे । (इल्लहण) । ऋद्धि (उदयचन्द्र), तुलसी (अन्यटीकाकार) । गुहातिगुहा—शालिपर्णीपुष्पिण्यां ॥ शतवीर्या—शतावरी, नीलदूर्वैत्यन्ये (इल्लहण), श्वेतदूर्वा (हाराण-चन्द्र) । सहस्रवीर्या—श्वेतदूर्वा (इल्लहण), दूर्वा (हाराणचंद्र) । सिद्धार्थक—सर्पप, सरसों ।

व्यज्येत वालव्यजनैर्ब्रह्मं न च विघ्नयेत् ।

न तुदेन्न च कण्डूयेच्छयानः परिपालयेत् ॥२९॥

बालों की चौरी से व्रण पर पंखा करे । उसे न दबावे, न दुखावे, न खुजावे [किन्तु लेटे लेटे उसकी रक्षा करे ॥२९॥

अनेन विधिना युक्तमादावेव निशाचराः ।

वनं केशरिणाऽऽक्रान्तं वर्जयन्ति मृगा इव ॥३०॥

इस विधि के अनुसार जो ब्रह्मी रहता है, पहले से ही निशाचर उसको त्याग देते हैं (यानि पास नहीं आते) जैसे कि सिंहयुक्त वन को मृग त्याग देते हैं ॥३०॥

जीर्णशाल्योदनं क्षिग्धमल्पमुष्णं द्रवोत्तरम् ।

भुञ्जानो जाङ्गलैर्मांसैः शीघ्रं ब्रह्ममपोहति ॥३१॥

तण्डुलीयकजीवन्तीसुनिपरणकवास्तुकैः ।

चालभूलकवातार्कपटोलैः कारवेल्लकैः ॥३२॥

सदाडिमैः सामलकैर्घृतभृष्टैः ससैन्धवैः ।

अन्यैरेवंगुणैर्वाऽपि मुद्रादीनां रस्तेन वा ॥३३॥

शक्तन् विलेपीं कुल्माषं जलं चापि शृतं पिबेत् ।

पुराने चावलों का घृतयुक्त, थोड़ा गरम, पतला भात जांगल प्राणियों के मांस के साथ सेवन करने से ब्रह्मी का व्रण शीघ्र अच्छा होता है ॥३१॥ अथवा चोलाई, जीवन्ती, चो-पतिया शाक, बथुवा, फामल मूली, बैंगन, परवल, करेले ये शाक अनार और आँपलों के रससहित सेंधवयुक्त घृत ने भुने हुण्ड अथवा ऐसे गुण वाले अन्य पदार्थ अथवा मूँग आदि का रस इनके साथ (पुराने चावल का भात) सेवन करे ॥३२-३३॥ सकन्, विलेपी और कुल्माष इनका भी सेवन किया जाय तथा उवाला हुआ जल पीवे ।

वक्तव्य—कुल्माष—यहाँ उदन किया 'यवपिष्टमयाः उत्तिष्ठताः'। यव व्रण के लिये हिनकर है । इसलिये यवों से बनाये जाय ऐसा रसका अर्थ करना चाहिये । ब्रह्मेषु पशवः नित्यम् ॥

दिव्य न निद्रायशमो नियातगृहगोचरः ।
 व्रणी वैद्यवेशे तिष्ठन् शीघ्रं व्रणमपोहति ॥३४॥
 व्रणे श्वयथुरायासात् स च रागश्च जागरान् ।
 तौ च रुद्धं च दिवास्वापात्ताश्च मृत्युश्च मैथुनात् ॥३५॥
 एवंवृत्तसमाचारे व्रणी सम्प्रघाते सुखी ।
 आयुश्च दीर्घमाप्नोति धन्वन्तरिवचो यथा ॥३६॥

इति सुश्रुतसंहिताया सूत्रस्थाने व्रणितोपासनीये
 नामितोत्रविंशोऽध्यायः ॥२६॥

दिन में न सोना हुआ, निर्व्रात स्थान में वैद्य की आज्ञा-
 नुसार रहने वाला व्रणी शीघ्र व्रण से आराम का प्राप्त होता
 है ॥३४॥ परिधम करने से व्रण में सूजन, जागरण करने से
 सूजन और सुरखी, दिन में सोने से सूजन सुरखी और पीडा,
 और मैथुन करने से सूजन सुरखी पीडा और मृत्यु भी हो
 जाती है ॥३५॥ ऐसा आचार रखने वाला व्रणी धन्वन्तरि
 भगवान् के वचनानुसार सुखी होता है और दीर्घायु को प्राप्त
 होता है ॥३६॥

इति भास्कराचार्येण गोविंदात्मनेन विद्विनायामानुजेनैरहस्यरीषिकायां
 सुश्रुतभाष्यटीकायां व्रणितोपासनीये नामिकोत्रविंशोऽध्यायः ॥२६॥

विंशतितमोऽध्यायः ।

अघातो हिताहितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
 यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से हिताहितीय अध्याय का व्याख्यान करने हैं,
 जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

यच्चन्द्र्य—शरीर के लिये पच्यकर और अपच्यकर पदार्थों
 का विचार जिसमें किया हुआ है वह हिताहितीय ।

यद्वायोः पथ्यं तस्य पित्तस्यापथ्यमित्यनेन हेतुना
 न किञ्चिद्ब्रह्ममेकान्तेन हितमहितं याऽस्तीति
 चेन्निद्राचार्यां ह्युचते । तस्य न सम्यक् । इह म्लु
 यस्याद्ब्रह्मस्यै स्वमायतः संयोगतश्चैकान्तहितान्ये
 कान्ताहितानि हिताहितानि च भवन्ति ॥२॥

जो पदार्थ वायु के लिये पच्यकर है, वह पित्त के लिये
 अपच्यकर होता है। इस कारण से कोई भी द्रव्य सर्वकाल
 और सर्वस्थान में न हितकारी हो सकता है, न अहितकारी
 हो सकता है, वेते कई आचार्य कहते हैं। परंतु यह ठीक नहीं
 है। क्योंकि हमारे मतानुसार सर्वत्र द्रव्य अपनी प्रकृति से
 अपना संयोग से (निद्रा तीन प्रकार के) होते हैं—१ नितंतर
 हितकर, २ नितंतर अहितकर, और ३ (अवस्था के अनुसार)
 हितकर तथा अहितकर ॥२॥

यच्चन्द्र्य—अपच्यकर विनाशित्व—जिग द्रव्य का हितकर
 वा अहितकर कार्य अन्य स्थिति के उपर निर्भर न होकर केवल
 अपने ही गुणों के अनुसार सर्वकाल और सर्वस्थानों में हुआ
 करता है, वह द्रव्य एकान्तहित वा एकान्ताहित कहलाता है ।
 इह—यच्चन्द्र्य के मतानुसार अगार गुणुपपन्न में । तथा
 न—अनेक प्राकृतिक वानि जनि और जन्म के साथ उपाय

हुए गुणा में—नच नृहतिभ्यने स्वभावा म । म पुनरात्तैवभ्यः
 गा म्भाभक्तिः गुणोऽप्युपयोगः । तद्यथा—स्वभावात्तैवो मुक्त
 लावकपिण्डः । स्वभावात् गुणो भाषा वराहो महिषमन्था ॥ (चरक
 तथा अग्नि की उष्णता, तैल घृतादिक की स्निग्धता में ।
 स्वाभाविक गुणों के उदाहरण हैं । स्वाभाविक गुण बहु
 निष्प्रतिक्रिय होते हैं—स्वभावा निष्प्रतिक्रिय । (चरक)
 स्वागतश्च—स्वयोग तथा संस्कार, राशि, देश, काल, ये स
 मयोग से यहाँ अभिप्रेत हैं । देहधतुप्रत्येकीभूतानि इत्या
 देहधतुभिर्विरोधमापन्न परस्परगुणविरुद्धानि कानिचिद् का
 निद् सथागत मन्मत्परराशि देशकालमात्रादिभिश्चापपि
 (चरक) । सयोग—दो या अधिक द्रव्यों का मेल । ए
 यहाँ द्रव्यप्रकृति के अतिरिक्त कार्यकारक मेल अभिप्रेत है—
 मयोगी इत्योद्भूता वा द्रव्याणा मंडतीभाव । सविरोधभावेने
 पुनर्नैकशा द्रव्याभ्यारम्भन्ते । तद्यथा । मनुष्यपिण्डेनेगुणत्वस्ययथा
 संयोगः । (चरक) । किन्तु इस प्रकार का एकान्ताहितकर
 एकान्ताहितकर द्रव्य मिलना असंभव है । इस अध्याय
 केवल उन द्रव्यों का विचार किया है जो स्वर्धावस्था में
 स्वास्परवस्था के लिये सेवन किये जाते हैं । इस इष्टि से विचार
 करने पर एकान्तहित वह द्रव्य है, जो स्वास्थ का पालन करता
 है और एकान्त अहित वह द्रव्य है, जो स्वास्थ को बिगाड़ता है

तत्र, एकान्तहितानि जातिसात्म्यात् सलिल
 घृतदुग्धौदनप्रभृतीनि, एकान्ताहितानि तु दहनपच-
 नमारणादियु प्रवृत्तान्यग्निहारविषादीनि, संयोगा
 द्परराशि विपतुल्यानि भवन्ति, हिताहितानि तु
 यद्वायोः पथ्यं तत्पित्तस्यपथ्यमिति ॥३॥

उनमें से जल, घृत, दूध, भात इत्यादि द्रव्य जन्म से ही
 मात्स्य होने के कारण एकान्तहित होते हैं । दहन, पचन,
 मारण इत्यादि कार्यों में प्रयुक्त अग्नि, क्षार, विष इत्यादि द्रव्य
 तथा संयोग में विपतुल्य होने वाले अन्य द्रव्य एकान्त अहित-
 कर होते हैं । हितहित द्रव्य वे हैं जैसे जो वायु को पच्यकर
 है व पित्त के लिये अपच्यकर है ॥३॥

यच्चन्द्र्य—वनिभास्यम्—जन्म से ही शरीर के लिये
 सुरकारक होने के कारण । जनि—जन्म । मात्स्य—मात्स्य नय
 तालम् इत्येतिभास्यत्तन्मण्डोः । (चरक) । हितहितानि—हित-
 कृत द्रव्य वे हैं, जो सेवन करने पर शरीर के एक अंग पर हित
 कर और दूसर अंग पर अहितकर परिणाम एक ही समय में
 किया करते हैं ।

अतः स्वयंप्राणिनामयमाहागर्भं धर्म उपदिश्यते ।
 तद्यथा—एकशालिपट्टिककण्टकानुमुञ्चकपाणकुक-
 पीतकमसोदककालकाम्बनपुष्पककर्ममशुनादित
 शुभगन्धकामनीधारकौद्रयोदालकश्वामासगोभूम-
 येसुंयथादयः, एषद्विरेणुपुङ्कसुगामानुशयर्षी
 कारत्तमत्र एकपतेतलापतिसिक्त्रिपिप्रत्तर्तीर्यति
 कौदीनां मांसानि, मुद्रपनमुद्रमुद्रान्यायमाह-
 मद्रकयययय हरेण्यदादकीमतीना, चिगीयात्रु
 १ दन्तुवेतारत्तः २ कंचिन्नुः

सुनिष्पराणकजीवन्तीतण्डुलीयकमण्डूकपर्ण्यः, गव्यं वृतं, सैन्धवदाडिमामलकमिन्येष वर्गः सर्वप्राणानां सामान्यतः पथ्यतमः ॥४॥

अतः सब प्राणियों के आहार के लिये (पथ्यकर) आहार वर्ग का उपदेश करते हैं । जैसे रक्त शालि, पट्टिक, कंगुक, मुकुन्दक, पाण्डुक, पीतक, प्रमोदक, कालक, असन, पुष्पक, कर्दमक, शकुनाहृत, सुगन्धक, कलम, नीवार, कोद्रव, उद्दालक, श्यामाक, मेहूँ, वेणुवादि (धान्यविशेष); एणु, हरिण, कुर्ग, मृगमावृका, श्वर्दूषा, कराल, ककर, कपोत, लावा, तीतर, कर्पिजल, वर्तीर, वर्तिक इत्यादि प्राणियों का मांस; भृंग, वनभृंग, छुटक, मटर, मसूर, मंगली, चना, हरेणु, अरहर, सतीन; चिह्नी, वास्तुक, सुनिष्पणक, जीवन्ती, तण्डुलीयक, मण्डूकपर्णी, गौ का घृत, सैन्धव, दाडिम, आँवला (इन आहार्य द्रव्यों का) यह वर्ग सब प्राणियों के लिये पथ्यतम प्रायः होता है ॥४॥

वक्तव्य—प्राणिनाम्—मनुष्यों का । यहाँ निर्दिष्ट किये हुए द्रव्यों का वर्णन ४६ वें अध्याय में किया गया है । इन में रक्त शालि से कलम तक शूद्र धान्य हैं; नीवार, कोद्रव, उद्दालक, श्यामाक और वेणुयद कुधान्य हैं; एणु से कराल तक जांगल मृग हैं; ककर और लाव से वर्तिक तक विकिर हैं; कपोत प्रतुदवर्ग का है; मुद्ग से सतीन तक बदल हैं; चिल्ली से मण्डूकपर्णी शाक का है । इन द्रव्यों में से निम्न द्रव्य अपने वर्ग में पथ्यतम हैं—
शेरिनशाल्यः शूद्रधान्यानां पथ्यतमत्वे श्रेष्ठतमाः, मुद्गाः शमीधान्यानाम्, मेन्धव लवणानाम्, जीवन्ती शाक शाकानाम्, वेणयं मृगमांसानाम्, लावः पक्षिणाम्, गव्यं नषिः सर्पिणाम् । (चरक) ।

तथा ब्रह्मचर्यनिवातशयनोष्णोदकस्नाननिशास्त्रप्रव्यायामाश्चैकान्ततः पथ्यतमाः ॥५॥

तथा ब्रह्मचर्य, ऐमे स्थान में मोना जहाँ शुद्ध वायु पर्याप्त होता हुई भी शरीर पर सीधी न लग सके, गरम पानी से स्नान करना, रात्रि में निद्रा लेना, व्यायाम करना ये भी सर्वकाल अत्यन्त हितकर होते हैं ।

वक्तव्य—ब्रह्मचर्य—स्मरण कीर्तन के लिये प्रेक्षण गुह्यभाषणम् । सकलसोऽथ्यवसायश्च क्रियानिर्गृतिरिव च ॥ एतन्मेधुनमष्टाग प्रवदन्ति मनीषिणः । विपरीत ब्रह्मचर्यम् ॥ धर्म्यं यशस्यमायुष्यं लोकद्वय-रसायनम् । अनुमोदामेह ब्रह्मचर्यमेकान्तनिर्मलम् । (वाग्भट) ।
निशास्त्र—रात्रि की निद्रा नैसर्गिक हांती है । विशेष करके रात्रि के मध्य दो प्रहर की निद्रा आवश्यक होती है—रात्रि-सुभवावप्रभा मता या तां भूतधार्मी प्रवदन्ति निद्राम् । (चरक) ।
अहोरात्रे विभजते सर्वौ मानुषदैविके । रात्रिः स्वप्नाय भूतानां नेष्टयै किमेषामहः । (सुबु) । प्रदोषपश्चिमौ यामौ वेदान्यासेन तौ नयेत् । अहोरात्रे शयानो हि ब्रह्मभूयाय कल्पते । (दत्तस्मृति) ।
व्यायाम—आयामो विविधोऽज्ञानां व्यायाम इति सञ्ज्ञितः । (धनुर्वेद) । शरीरव्यायामजनन कर्म व्यायामसञ्ज्ञितम् । (सुश्रुत) ।

एकान्तहितान्येकान्तहितानि च प्राग्गुपदिष्टानि, हितहितानि तु यद्वायोः पथ्यं तत्पित्तस्यापथ्यमिति ॥६॥

एकान्त हितकर और एकान्त अहितकर पहले कह चुके हैं । हितहित तो वे हैं—जैसे जो वायु के लिये पथ्यकर है वह पित्त के लिये अपथ्यकर है ॥६॥

संयोगतस्त्वपराणि विपतुल्यानि भवन्ति । तद्यथा—वह्नीफलकवककरीरास्लफललत्रणकुलतथ-पिण्याकदधितैलविरोहिपिष्टशुष्कशाकाजाविकमांस-मद्यजास्वचन्द्रिन्द्रिंसमस्यगोधावराहांश्च नैकध्य-मश्रीयात् पयस्ता ॥७॥

दूधमे कुल पदार्थ अन्य पदार्थों के साथ मिलकर विष के समान हो जाते हैं । जैसे—(कृष्मांडादि) बल्ली के फल, छत्रक, वंशांकुर, निम्बादि अम्ल फल, लवण, कुल्धी, खलि, दही, तैल, अंकुरित धान्य, पिठ्ठी, सूखे गाक, बकरा और भेड़ का मांस, मद्य, जामुन फल, चिलिचिम मस्य, गोधा और शूकर का मांस इन पदार्थों की दूध के साथ एक समय में नहीं खाना चाहिये ॥७॥

वक्तव्य—विपतुल्यानि भवन्ति—दो हितकर पदार्थों का संयोग तब विपतुल्य हो सकता है, जब दोनों के संयोग में एक तीमरा पदार्थ बन जाय और जो शरीर के लिये अहितकर हो । ऐसे पदार्थों को संयोगविरुद्ध (Chemically incompatible) पदार्थ कहते हैं ।

रोगं सात्स्यं च देशं च कालं देहं च बुद्धिमान् । अवैक्ष्यादश्यादिकान् भावान् रोगवृत्तेः प्रयोजयेत् ॥८॥

रोगी के (रोगवृत्तेः) रोग, साम्य, देश, काल, शरीर, जठराग्नि इत्यादि भावों को देखकर बुद्धिमान् वैद्य (विन्ध पदार्थ भी) प्रयुक्त करे ॥८॥

अवस्थान्तरवाहुल्याद्भोगादीनां व्यवस्थितम् । द्रव्यं नेच्छन्ति भिषज इच्छन्ति स्वस्थरक्षणं ॥९॥

(उपर्युक्त) रोगादिकों की अनेक अवस्थाओं की विविधता होने से बुद्धिमान् वैद्य किसी भी पदार्थ की एकान्तहित या एकान्तहित नहीं समझते परंतु स्वस्थावस्था की रक्षा में (प्रत्येक पदार्थ की एकान्तहितता अथवा एकान्तहितता) मानते हैं ।

वक्तव्य—इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि रूग्णावस्था के लिये कोई भी द्रव्य केवल अपनी प्रकृति से एकान्तहित या एकान्तहित नहीं हो सकता । उसका कार्य वैद्य की योजना पर निर्भर होता है । यथा—तीव्रतम सर्पविष भी योग्य मात्रा में और रोगी के लक्षणों का सूक्ष्म विचार कर देने पर अमृत समान कार्य करता है और अमृत समान दूध ठीक योजना न करने पर विपतुल्य हो जाता है । इसी दृष्टि से लिखा है—योगादपि विष तीक्ष्णमुत्तम भेषज भवेत् । भेषजं वापि दुयुक्त तीक्ष्ण संपद्यते विषम् । (चरक) । जगत्प्रेतमनौषधम् । न किञ्चिद्विद्यते द्रव्यं वशात्तानार्थयोगयोः । (वाग्भट) । नास्ति मूलमनौषधम् । योजकस्तत्र दुर्लभः । (सुभाषित) । परंतु स्वस्थावस्था में प्रत्येक द्रव्य अपनी प्रकृति के अनुसार एकान्तहित या एकान्तहित कार्य शरीर पर करता है । यहाँ किसी योजक की कोई आवश्यकता नहीं होती । अर्थात् स्वस्थावस्था के लिये द्रव्यों के हितकर और अहितकर विभाग मानना जरूरी है । अर्थात् इस अध्याय में जो एकान्तहित, एकान्तहित, संयोगविरुद्ध, मानविरुद्ध इत्यादि प्रकार बतलाये हैं; वे स्वस्थावस्था में मार्गदर्शक होने के लिये हैं । रूग्णावस्था में इन अहितकर प्रकारों का भी उपयोग वैद्य रोगी के हित के

लिये अपने बुद्धिबल के आधार पर कर सकता है । ये अहितकर प्रकार वैद्य के लिये तथा रोगी के लिये बाध्य नहीं हो सकते ।

अथोरन्यतरादाने चदन्ति विषदुग्धयोः ।

दुग्धस्यैकान्तद्विहतां विषमेकान्ततोऽहितम् ॥१०॥

एवं युकरसेत्सेषु द्रव्येषु सलिलादिषु ।

एकान्तद्विहतां विदि वत्स सुश्रुत नान्यथा ॥११॥

पया स्वस्थ मनुष्य के लिये विष और दूध इन में से दूध एकान्त हिनकर और विष एकान्त अहितकर वैद्य कहते हैं ॥१०॥ इस प्रकार वत्स सुश्रुत । स्वास्थ्यानुसृष्टिकर रमयुक्त जलादि द्रव्यों में एकान्तद्विहताकारकता समझो (और) विपरीत रसयुक्त द्रव्यों में मत समझो ॥११॥

वक्तव्य—अन्यतर—स्वस्थ । युकरसेपु—इसप्रकार प्रभाव-सहितस्वस्थानुसृष्टिकरसेपु । (हाराणचन्द्र) । नान्यथा—विपरीत रसयुक्त विषादि में ।

अतोऽन्यान्यपि संयोगाद्विहितानि वक्ष्यामः—

नयविरुद्धधान्यैर्वसामधुपयोगुडमापैर्वा भ्राम्यानुपौद-
कपिशितादीनि नाभ्यवहरेत्, न पयोमधुभ्यां
रोहिणीशाकं जातुकशाकं वाऽश्रीयान्, वलाकां
वारुणीकुलमाभ्यां, काकमाचीं पिप्पलीमिरिचाभ्यां,
नाडीभङ्गशाककुक्कुटदधीनि च नैकध्वं; मधु
चोष्णोदकातुपानं; पिप्पले चाममांसानि; सुराह्वारा-
पायसांश्च नैकध्वं; मौवीरकेण सह तिलशकुली;
मत्स्यैः सहस्रुमिकारान्; गुंडेन काकमाचीं, मधुना
मूलकं, गुंडेन वाराहं मधुना च सह विरुद्धं; क्षीरेण
मूलकमात्रजाम्बवध्याविच्छुक्रगोधाश्च, सर्षपांश्च
मत्स्यान् पयसा विशेषेण चिलिचिमं; कदलीफलं
तालफलेन पयसा दध्ना तक्रेण वा; लकुचफलं
पयसा दध्ना मांससूपेन वा, प्राक् पयसः पयसोऽ-
न्ते वा ॥१२॥

अथ और भी जो अहितकर होते हैं, उन्हें कहते हैं । नवाङ्कुरित धान्य तथा वसा, मधु, दूध, गुड, उदद इनके साथ प्रायः, आनूप और शीतक जीवों का मांस नहीं खाना चाहिये । रोहिणी शाक वा जातुक शाक दूध और गहड़ के साथ नहीं खाना चाहिये । वलाका का मांस मदिरा और उषाले हुए धान्य के साथ नहीं खाना चाहिये । काकमाची को पिप्पली और मिरिच के साथ नहीं खाना चाहिये । नाडी का शाक, सुराणा और हरी एक समय नहीं खाना चाहिये । मधु गरम जल के साथ नहीं खाना चाहिये । निच के साथ मांस सेवन नहीं करना चाहिये । मधु, तिरपरी और गरी एक समय नहीं खाना चाहिये । गरी के साथ निच ही शत्रुणी नहीं खानी चाहिये ।

मछली के साथ ईस के पदार्थ नहीं खाने चाहिये । गुड के साथ काकमाची नहीं खानी चाहिये । मधु के साथ मूली नहीं खानी चाहिये । गुड और मधु के साथ शकर का मांस विरुद्ध है । दूध के साथ मूली, आम, जामुन, शरगोण सूकर और गोधा का मांस नहीं सेवन करना चाहिये । दूध के साथ मय प्रकार की मछली विशेष करके चिलिचिम मत्स्य विरुद्ध है । तालफल, दूध, दही और उदद के साथ केला विरुद्ध है । लकुचफल दूध, दही और उदद के दूध के साथ नहीं खाना चाहिये तथा दूध के पहले या पीछे भी सेवन नहीं करना चाहिये ॥१२॥

वक्तव्य—मधु चोष्णोदकातुपानम्—मधु केवल उष्ण जब के नहीं वरन् प्रायःक उष्ण पदार्थ के विरुद्ध है—द्वयान्येषु भुण्णार्थमववा सविधान्वात् । (चरक) । नानाधुपयकाराणां त, सारात्मक मधु । तच्छैत्यलोक्तुमार्यां च मदेरुणैर्विरुधने । (हारीत) । उष्णयुष्णार्तुषुणे च युक्त चोष्णैर्निहिते त् । (वाग्भट) । मौवीर-काजी का एक प्रकार—वेत्सु निम्बुपे एवं मौवीरं स्थित भवेत् । (शार्ङ्गधर) । सर्षांश्च मत्स्यान् पयसा—दूध के साथ मत्स्य न सेवन करने के कारण चरक (सुश्रुतान अ. २१) में लिखा है—न मत्स्यान् पयसा सहान्यवदोदुग्धय दैर्धमधु मधु विषाकं मशामिन्दि शीतोष्णत्वादिरुद्धीयं विरुद्धीयंशाकंशोणि प्रदूषणाय महाभिष्यन्दिनामार्गोपेतोयम ॥ विशेषेण विरि चिमन्—एक प्रकार का भूमिचर मत्स्य है—म पुन शबरी सर्व लोहितरामिलेहितप्रकार प्रायो भूमी चरति । (चरक) । चिलि चिम दूध के साथ सेवन न करने का कारण—न हि महाभिष्यन्दिनात् स्थूलवृक्षजनमानेनान् (शोणितान् विषांश्च) व्याधेतेपुन यति । कामविषमुदीरवति च । (चरक) । प्राक् पयस पयसोऽन्ते वा—'लकुचफल नाक्षीदात्' इति शेष ।

अतः कर्मविरुद्धान् वक्ष्यामः—क्रपोतान् सर्षपं तैलधृष्टाश्नाद्यात्, कपिजलमयूरलावतिचिरिगोधा श्वैरण्डद्वार्यंशिसिद्धा परण्डतैलसिद्धा वा नाद्यान्; कांस्यभाजने दशरात्रपर्युपितं सर्षपं; मधु चोष्णोदके वा; मांसपरिपचने ऋद्धवेरपरिपचने वा सिद्धां काकमाचीं; तिलफलकसिद्धमुपोदिकाशाकं; नारि-केलेन घराहवन्मापारैरभृष्टां यत्नाकां; भासमद्धारण्यं नार्शीयादिति ॥१३॥

अथ यहाँ से कर्मविरुद्ध द्रव्यों को कहते हैं । सर्षप के तैल में भूने पाराजों को नहीं खाना चाहिये । कपिजल, मीर, हाथ, तीतर और गोधा इन्हें परण्ड की लक्ष्मियों से पकाकर अथवा परण्ड तैल से पकाकर नहीं खाना चाहिये । कांस्य के पात्र में दस दिन का रक्ष्या हुआ पूत सेवन नहीं करना चाहिये । गरम पदार्थों के साथ या गरम त्रपु में मधु सेवन नहीं करना चाहिये । त्रिष पात्र में मछली वा अरस्य पकाया गया हो उस पात्र में यदि काकमाची सेवन नहीं करनी चाहिये । तिलफलक में पकड़ किया हुआ गोध का शाक नहीं खाना चाहिये । शूकर की चार्सी से भूनी हुई

१ 'गुंडेन काकमाचीं, मधुना मूलकं, वाराहं शरीर मूलकं च' ।
'गुंडेन कुक्कुटमधीं, शेषा मूलकं वादात् च'

। नारियल के साथ नहीं रानी चाहिए । लोणजलात् । पर भुजा हुआ भव्य उन सांन सेवन नहीं करना । ॥१३॥

वक्तव्य—रस—संस्कार—स्वभाव—विशुद्धान्तरात्मानसुप्ते । गुणाश्च तेषामिन्द्रियार्थोत्पत्तयेऽप्यन्तःकरणानामभ्यन्तराग्निः संभोजनार्थिभिर्गुणैः । (चरक) । सामान्यतया रसने गर्भर के लिये हिनार गुणों की वृद्धि की जाती है जो संस्कार कल्याण के गुण हैं, उन से गर्भर के लिये खर गुणों की वृद्धि होती है । अतः न संस्कार सिद्ध न होना चाहिए । परिपक्व परिपक्वोदोक्ति परिपक्व । स्वाधी । वृत्तम्—वृत्तान्तरात्मानसुप्ते पक्षे नवगारत्तव्यम् ।

अतो मानविरुद्धान् वक्ष्यामः—मधुसुनी मधु-
विषी मानवस्तुल्ये नाश्रीयात्; तेषौ मधुमेदो
कोहो वाः विशेषान्तरात्तरीचोदकाचुपानौ ॥१४॥
यहाँ से जो मानविरुद्ध हैं उन्हें कहते हैं । मधु और जल । मधु और दूध सम प्रमाण में मिलाकर नहीं राना
है । दो कोह पदार्थ, मधु और अन्य कोई कोह पदार्थ तथा
और अन्य कोई कोह सम प्रमाण में मिलाकर नहीं राना
है । विशेष करके मधु और स्नेह के साथ आंतरीक्ष जल
सेवन नहीं करना चाहिए ॥१४॥

वक्तव्य—मानसि—दो पदार्थों का संगोग जब विग्रह
ण में घातक होता है, तब उसको मानविरुद्ध कहते हैं ।
—सर्पिण्यं वना मना लोभे दृष्टवर्थाभिः । (चरक) ।

अत उर्ध्वे रसद्वन्द्वानि रसतो वीर्यतो विपाक-
श्च विरुद्धानि वक्ष्यामः—तत्र मधुरान्लौ रसवीर्य-
रुद्धौ मधुरलवणौ च, मधुरकटुकौ च सर्वतः,
धुरतिकौ रसविपाकाभ्यां मधुरकपायौ च,
रुद्धलवणौ रसतः, अम्लकटुकौ रसविपाकाभ्याम्,
रुद्धतिचाब्लकपायौ च सर्वतः, लवणकटुकौ
रसविपाकाभ्यां, लवणतिकौ लवणकपायौ च
सर्वतः, कटुतिकौ रसवीर्याभ्यां कटुकपायौ च,
तिककपायौ रसतः ॥१५॥

अब यहाँ से रस, वीर्य और विपाक की दृष्टि में दो दो विरुद्ध
रसों का वर्णन करते हैं । उनमें से मधुर और अम्ल तथा मधुर
और लवण रस और वीर्य में परस्पर विरुद्ध हैं । मधुर और कटु
रस सब बातों में परस्पर विरुद्ध हैं । मधुर और तिक रस तथा
मधुर और कपाय रस और विपाक में परस्पर विरुद्ध हैं ।
अम्ल और लवण रस (केवल) रस में परस्पर विरुद्ध हैं । अम्ल
और कटुक रस रस और विपाक में विरुद्ध हैं । अम्ल और तिक
तथा अम्ल और कपाय रस सब बातों में परस्पर विरुद्ध हैं ।
लवण और कटुक रस और विपाक में विरुद्ध हैं । लवण और
तिक तथा लवण और कपाय रस बातों में विरुद्ध हैं । कटु और
तिक तथा कटु और कपाय रस और वीर्य में विरुद्ध हैं, तिक
और कपाय (केवल) रस में विरुद्ध हैं ॥१५॥

वक्तव्य—सर्वतः—रसवीर्यविपाकतः । यहाँ के रसद्वन्द्व
प्रकरण का ज्ञान निम्न तालिका के उपयोग से सुलभ होगा ।
रस, वीर्य और विपाक का जो विरोध है उसे कार्यविरोध

(Physiological incompatibility) कहते हैं । और एक
प्रकार का विरोध है, उसे न्यस्य निरोध (Physical incompatibility) कहते हैं । जैसे उष्ण और ठंडे पदार्थ, एक साथ राना ।

रस	विपाक	वीर्य
मधुर	मधुर	शीतवीर्य
अम्ल	मधुर	उष्णवीर्य
लवण	मधुर	उष्णवीर्य
तिक	कटु	शीतवीर्य
कटु	कटु	उष्णवीर्य
कपाय	कटु	शीतवीर्य

तरतमयोगयुक्तांश्च भावानतिरुद्धानतिस्त्रिगधा-
नत्युष्णानतिशीनानित्येवमादीन् चिवर्जयेत् ॥१६॥

अति रुध, अति दिग्ध, अति उष्ण, अति शीत द्रव्यादि
विशेष और अति विशेष योग युक्त पदार्थों को आहार से
वर्जित करे ॥१६॥

भवन्ति चात्र—

विरुद्धान्येवमादीनि वीर्यतो यानि कानि च ।

तान्येकान्ताहितान्येव श्रेयं चिद्याद्विताहितम् ॥१७॥

रस वीर्य विपाक से विरुद्ध जो उपर्युक्त तथा अन्य पदार्थ
होते हैं, वे एकान्ताहित समझने चाहिये और श्रेय सर्व कभी
हितकर कभी अहितकर जानने चाहिये ।

वक्तव्य—वीर्यतः—रस विपाक और प्रभाव इनका भी
बोध यहाँ वीर्य से ही समझना चाहिये । क्योंकि जिस से
कार्य होता है वह वीर्य है और द्रव्य रसवीर्य विपाक और
प्रभाव इनके द्वारा अपना कार्य किया करते हैं—येन दुर्वन्ति
तदीर्यम् । क्रियाप्रसेनं कुर्वते कर्म वीर्येण चापरम् । द्रव्यं गुणेन पाकेन
प्रभावेण च क्रियते । (चरक) । यानि कानि च—स्वभाव संस्का-
रादि यहाँ निर्दिष्ट किये हुए विरोधों के अतिरिक्त अन्य विरोधी
पदार्थ । चरक में संपूर्ण विरोध निम्न प्रकार से बतलाये हैं—
यच्चापि देशकालाशिसात्स्यासात्मानिलादिभिः । सरकारतो वीर्यतश्च
कोष्ठवस्थानमैरपि ॥ परिणारोपचारान्भ्यां पाकात् संयोगतोऽपि च ।
विरुद्ध तच्च न हित ह्यमपदिधिभिश्च यत् ॥ (सूत्र. अ. २६) ।

व्याधिमिन्द्रियदौर्बल्यं मरणं चाधिगच्छति ।

विरुद्धरसवीर्याणि भुञ्जानोऽनात्मवाचरः ॥१८॥

जो जिरालोलुप मनुष्य रस वीर्यादि से विरुद्ध पदार्थों
का सेवन करता है, वह (भिन्न भिन्न) रोग, इन्द्रियों की
दुर्बलता तथा मृत्यु को प्राप्त हो जाता है ॥१८॥

वक्तव्य—अनात्मवान्—अजितेन्द्रिय यहाँ जिह्वालोलुप ।
व्याधि—अनेक प्रकार के रोग—पाण्ड्यान्वहीसर्पदकोदराणां विरको-
दकोनमादभगन्दाणां । मूच्छामोऽध्मानगलामयानां पाण्डुमयस्यामविय-
स्य चैव ॥ किलासकुष्ठप्रणीगदानां शोषास्त्रयित्ज्वरपीनसानाम् ।
सन्तानदोपस्य तथैव मृत्पोविरुद्धमत्र प्रवदन्ति हेतुम् ॥ (चरक, सूत्र
स्थान. अ. २६) ।

यत्किंचिदोपसृष्टेः श्यं भुक्तं कायाच्च निर्हरेत् ।
रसादिष्वयथार्थं वा तद्विकाराय कल्पते ॥१९॥

जिस से सेवन से रोगों का प्रकोप होता है परन्तु उनका शरीर के बाहर उत्सर्ग नहीं होता तथा जो रसादि को वृषित करता है वह शरीर में रोग संपादित करता है ॥१९॥

यच्छतय—यत् किंचित्—आपचित्प्रतिरिक्त आहार तथा विहार—यत् किंचिदोषमाद्युष्य न निर्देति वायत । आहारान्मन्मन्ना नत्तन्महिते स्थनम् ॥ रसादियु अवधारणे—यस्यसादि दूषणम् । इस श्लोक में विरुद्ध की सामान्य व्याख्या तथा विरुद्ध सेवन से रोग उत्पन्न होने का हेतु वर्णन किया है । समग्र में लिखा है—अज्ञेय्य दोषात्र हरेद् इव्य यत्तु समागत । विरुद् नदि धातुना प्रत्यनीकतया स्थितम् ॥ (सूत्रस्थान, अ. ९) ।

विरुद्धाशनजान् गेमान् प्रतिहन्ति विरेचनम् ।
यमनं शमन वाऽपि पूर्वं वा हिनसेचनम् ॥२०॥

विरुद्ध पदार्थों का सेवन करने में उपरान्त हुए रोगों का प्रतिकार विरेचन, यमन और शमन द्वारा अथवा (उनके सेवन के) पूर्व ही हिनकर आपथियों के सेवन द्वारा होता है ॥२०॥

यच्छतय—चरक में भी यह श्लोक मिलता है परन्तु वहाँ गद्योक्त अर्थ के उपसहार के लिये लिखा गया है । उसके पूर्व निम्न गद्य है—यथा च यत्तु परां च वैरंतिवनिमित्तानां अर्थतामिन भावा प्रतिकारा मन्ति । यथा यमनं विरेचन च तद्विरापिना च द्रव्याणां समानानुभवयोगस्तर्वाकिश्च इव्ये पूर्वमभि मन्वार शरीरस्थेति ॥ इस में वैरोधिकनिमित्त व्याधियों की दो प्रकार की चिकित्सा बतलाई गई है—(१) आगतस्याधि चिकित्सा (Curative treatment) (२) और अनागत स्याधि चिकित्सा (Prophylactic treatment) । पहली चिकित्सा यमन, विरेचन तथा विरुद्ध पदार्थों के विरुद्ध गुणों द्रव्यों का उपयोग करने द्वारा करना चाहिये । दूसरी प्रति-वेधक चिकित्सा विरुद्ध पदार्थों का ही थोड़ी मात्रा में शरीर पर अभिसंस्कार करके करनी चाहिये । वासन्त में ऐसा ही क्यों किया है—गम वा तद्विरापिभि । इत्येवमेव वा पूर शरीरस्थानि मन्वति । तथापि—इस के अर्थ में कुछ मतभ्रंशता हो सकती है । यथा—रसायनयोगे (चक्रावादिग्रन्थ) । वैरधिक-कुपितदोषप्रतिपक्षभूर्तर्दये । (अरुण्यदत्त) । सुवर्णलाहादिविगाधि रागहृद पूर्वमेव सेवन । तदुक्त । न सज्ज न इत्येवै विष पचन्नेऽनु वत् । (कडम्बक) । ऊपर दिया हुआ अर्थ इन में भिन्न है, परन्तु एक विगिष्ट उद्देश्य से यह किया गया है, जिस का आगे विशेष विवरण होगा । परन्तु यह अर्थ भी प्राचीन काल में कुछ टीकाकार करते थे । समग्र की टीका में इन्तु लिखते हैं—अहुराकेण तु तथापिर्वा इव्ये पूर्वमभिसंस्कार शरीरस्थ इत्यस्य वातयस्य व्याधुपपन्नैकान्तिदोषवर्जनपरवन्गीहस्य तथापिरेरिति च विरुद्धमार्गानि परापूर्व विरुद्धैर् पूर्वसंस्कारे व्याधुपुनर्वात्तुगिति मत्स्यचारप्रत्ययवा द्वितीयोऽपि एषो च उद्गातित सोऽभ्यासिगणित एव ॥ उपर्युक्त चरक के गद्य में विरोधिद्रव्यजन्य रोगों की सामान्य चिकित्सापद्धति वर्णन की गई है, जिस का उपयोग आयुजिक पाश्चात्य वैद्यक में आज प्राप्त हो रहा है । गम अर्थयत्पार्थी में अनेक विकारों जीवाणुजन्य रोगों की चिकित्सा, व्याधिनिर्माचक तथा व्याधिप्रतिवेधक, सीरम तथा वैसीन (Serum or Vaccine) द्वारा कृत हुए हैं और उस से बहुत लाभ भी होता है । हम

पद्धति का आधिकार 'फान वेहरिंग' और 'सर मासोरम राईट' नामक शास्त्रों में किया । सीरम का उपयोग प्राय जीवाणुओं से रोग उत्पन्न होने के पश्चात् उसकी चिकित्सा के लिये होता है । सीरमचिकित्सा का तत्त्व यह है कि सीरम (हसिका) द्वारा मनुष्यों के शरीर में जीवाणुविरोधी वा विषविरोधी द्रव्य प्रविष्ट करके प्रविष्ट हुए जीवाणु या उनके विष का प्रथम करना और रोगों को आराम देना । वैसीन की अतिव्याप (Bacillary dysentary), मलिनकमुगुनाजन्य (Cerebrospinal fever), धनुसन्म और रोहिणी (Diphtheria) इन रोगों में सीरम का उपयोग बहुत फायदेमन्द प्रमाणित हुआ है । वैसीन चिकित्सा का तत्त्व यह है कि जीवाणु या उनके विष अर्थात् विरोधी द्रव्य शरीर में प्रविष्ट कर उनका शरीर पर सम्भार करके शरीर उन्हीं विरोधी द्रव्यों के लिये क्षम बनाया जाता है जिससे भविष्य में शरीर उन विरोधी पदार्थों का शरीर में प्रवेश होने पर भी भली भाँति प्रतिकार कर सकता है और रोग में पीड़ित नहीं होता । इस कारण से वैसीन का उपयोग प्राय रोगप्रतिवेध के लिए किया जाता है और प्रेग, आंत्रिक ज्वर, विमूचिका, प्रतिपार इत्यादि रोगों में बहुत फायदेमन्द प्रमाणित हुआ है । आयुर्वेद में वैसीन और सीरम का उपयोग नहीं दिखाई देता । परतु जिस तत्त्व पर यह आपथिद्रव्य पाश्चात्य वैद्यक में आज प्रयुक्त हो रहे हैं वह तत्त्व आयुर्वेद में स्पष्ट रूप से लिखा है । भविष्य में होने वाले रोगों की चिकित्साद्रव्य सिलसा असमर है तथापि आयुर्वेद में चिकित्सा के लिये सामान्य नियम का लक्षण है कि जिनके अनुसार गये नये रोगों की चिकित्सा नहीं आपथियों द्वारा करना आयुर्वेदमत्त हो सकता है । विकारों जीवाणु या उनके विष हमारे शरीर के लिये विरोधी यानि स्वभावतः प्रत्येकीक स्वरूप के हैं । अतः उनका समायेय आयुर्वेद के अनुसार 'स्वभावविरुद्ध' पदार्थों में होता है । इन पदार्थों के सेवन से वा शरीर प्रवेश से उत्पन्न हुए रोगों की चिकित्सा विरुद्धगुणों पदार्थों से होती है—तद्विरापिना च द्रव्याणां समानानुभवयोग । इदं च न प्रत्यक्षं यद् व्यापीद् मूक-विषयेयोगेपरत्न सम्भ्रजहती स्वापयाम । (चरक) । मूलद्विषये योगेति कारणविषयेवैत, तत्त्व प्रभावार्थितो बोधस्य तेन विषविषयस्य विशेषचरणानन्तरं प्रत्यक्ष चानुपयुगीतमेवति । (चक्रावादिग्रन्थ) । सीरम मे जो आज जीवाणुजन्य रोगों की चिकित्सा हो रही है, यह इसी तत्त्व पर है । यदि विरुद्ध पदार्थों के सेवन से वा शरीर प्रवेश से भविष्य में होने वाले रोगों का प्रतिवेध करना हो तो आयुर्वेद के अनुसार उन विरुद्ध पदार्थों का शरीर पर अभिसंस्कार (जैसा वा पूर्व शरीरस्थानिगन्वति) करना चाहिये । वैसीन में जो आज अनेक रोगों का प्रतिवेध हो रहा है, वह इसी तत्त्व पर है । विमूचिका रोग उदाहरणार्थ व्याधियों द्वारा विमूचिका जीवाणु (अर्थात् विगिष्ट शरीरविरोधी द्रव्य) शरीर में प्रविष्ट होने से होता है । यदि किसी स्थान में इस रोग का मरक फैलने के कारण इसमें सधने की इच्छा हो तो विमूचिका जीवाणुओं का ही शरीर पर अभिसंस्कार (वैसीन का शरीर में प्रवेश करके) किया जाता है, जिससे रोग नहीं हो सकता । उपर्युक्त विवरण में यह स्पष्ट है कि सीरम और

तत्त्वित्वात्तु सुवेदसंगतौ च प्रत्यञ्ज फलदायक है ।
ये वैद्यो को ध्याति कि इनको भी अंगीकार करके जानना
तत्त्व का स्वभाव करें । धैर्यहीन और सीमा के विशेष
ज के लिये ग्रंथकार का 'संक्षिप्त जीवाणुविज्ञान' देखो ।

अथतोऽरुणतया चाऽपि दीप्तयोस्तारुणस्य च ।

अथव्यायामवलिनां विकृष्टं चित्तं भवेत् ॥२२॥
जिसकी शक्ति शक्ति हो, अथवा तरुण हो, शरीर चित्त, शक्ति
शक्ति और धनवान् हो ऐसे मनुष्य में अथवा (विन्द
धैर्य के) शक्ति से अति शक्ति में चित्त पदाथि निष्फल
जाता है ॥२१॥

वक्तव्य—अथ—अभ्यासनात्म्य—आत्म्य नाम तदा
चित्तोपेक्षयात्मसुखे । (चरक) । अथतया—चित्तं पदाथि की
प्रयोगों में है । अथव्यायामवलिनां तथा ध्याति—अथमा-
तानुश्च प्राणाश्चामौर्षादिभिः (चरक) । अथव्यायामवलिनां—
अथव्यायामौर्षादिभिः, व्यायामशौच और धनवान्—
शक्ति सुखे चित्तं चित्तं भोजनम् । अथव्यायामवलिनां या चित्तं
अथव्यायामवलिनां चित्तं चित्तं—निष्फल होता है अथवा शरीर में कुछ
विकार नहीं कर सकता । इस शक्ति में चित्तं अथवा अकार
के लिये जो अथव्यायामवलिनां है, यह जीवाणुशक्ति के बारे
में ही हीन नाम होता है । यह शक्ति चरकचरिता (सू. २६)
में भी मिलता है ।

अथ वातगुणान् चक्षुषामः—

पूर्वः सप्तधुरः क्षिप्रश्चो लक्षणाश्चैव मारुतः ।
गुणविदाहजनो रक्तपित्तमिचर्धनः ॥२२॥
सतानां विप्रजुष्टानां वृग्निः श्लेष्मलाश्च ये ।
तेषामेव विशेषेण सदा रोगविवर्धनः ॥२३॥
वातलानां प्रशस्तश्च श्रान्तानां कफशोषिणाम् ।
तेषामेव विशेषेण प्रसङ्गेदचिचर्धनः ॥२४॥

अथ वायु के गुणों का वर्णन करते हैं । पूर्व दिशा का पवन
मधुर है, चिकना है, नमकीन है, भारी है, दाह करता है, रक्त
पित्त को बढ़ाता है ॥२२॥ वातगुण, विष से पीड़ित, शोथयुक्त
और कफ प्रकृति मनुष्यों के रोग बढ़ाने वाला है ॥२३॥ वातल
प्रकृति, यक हृत् और कफ से पीड़ित मनुष्यों के लिये हिनकर
है । परंतु यदि वृण से पीड़ित ही तो आर्द्रता का बढ़ाने वाला
होता है ॥२४॥

सधुरश्चाविदाही च कपायानुरसो लघुः ।
क्षिप्रो मारुतः श्लेष्मलश्चुष्यो बलवर्धनः ॥२५॥
रक्तपित्तप्रशमनो न च वातप्रकोपणः ।

क्षिप्र का पवन मधुर है, विदाह नहीं करता है, कुछ
कसेला है, हलका है, श्लेष्म है, नेत्रों को हितकारी है, बल को
बढ़ाने वाला है, रक्तपित्त को शमन करने वाला है और वात को
भी प्रकोपित नहीं करता ।

१ अथव्यायाम—व्यायामशौच वलवान् शिथल्य क्षिप्रोऽधिमांथापि
प्रशमनम् । आग्नेति रोगान् विरुद्धजातान्भ्वास्तौ वाऽल्पतया च
चरकः ॥ इति कचिदधिकः पाठः

विशदो रक्तपण्यः खरः क्षौद्रवलापहः ॥२६॥
पथिमो मारुतस्तीक्ष्णः कफमेदोविशोपणः ।

खरः प्राणक्षयकः शोषणस्तु शरीरिणाम् ॥२७॥
पथिम का पवन विशद है, खर है, कठोर है, रसवता है,
स्निग्धता और बल का नाश करने वाला है, तीक्ष्ण है, कफ
और मेद को मुखाने वाला है, नन्काल प्राण का नाश करने
वाला और शरीर को सुखाने वाला है ॥२६-२७॥

उत्तरो मारुतः क्षिप्रश्चो मृदुर्मधुर एव च ।
कपायानुरसः शीतो दोषाणां चाप्रकोपणः ॥२८॥
तस्माच्च प्रकृतिस्थानां हृदयो बलवर्धनः ।
क्षीणक्षयविपारतानां विशेषेण तु पूजितः ॥२९॥
इति मनुष्यवृत्तियां मनुष्यानि शिवादितीयो
नाम विशोऽध्यायः ॥२०॥

उत्तर का पवन स्निग्ध है, मृदु है, मधुर है, कुछ कसेला
है, शीतल है, दोषों का प्रकोप करने वाला नहीं है ॥२८॥ इस
लिये स्वस्थ मनुष्यों का हृदय और बल बढ़ाने वाला है और
क्षीण, क्षय तथा विष से पीड़ित रोगियों के लिये विशेषतया
हितकर होता है ॥२९॥

इति भास्करशर्मणा गोविन्दराजनेन विरचितशायामयुवेदरसस्थीपिकायां
मनुष्यभाषाटीकायां शिवादितीयो नाम विशोऽध्यायः ॥२०॥

एकविंशतितमोऽध्यायः ।

अथातो व्रणप्रश्नमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
यथोचान्ध भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥
अथ यहाँ से व्रणप्रश्न नामक अध्याय का व्याख्यान करते
हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—व्रणप्रश्न—व्रण यानि व्रणोत्पादक वातादि
दोष, उनके संबंध में प्रश्न यानि निरूपण या चर्चा जित
अध्याय में की गई है, वह अध्याय । प्रश्न—अविज्ञात प्रवचन ।

वातपित्तश्लेष्माण एव देहसंभवहेतवः । तीरेवा-
व्यापत्रैरधोमध्योर्ध्वसञ्चिचिष्टैः शरीरमिदं धार्थ-
तेऽनारमिव स्थूणाभिस्तिसृभिरतश्च त्रिस्थूणासा-
हुरेके । त एव च व्यापनाः प्रलयहेतवः । तदेभि-
रेव शोणितचतुर्थैः संभवस्थितिप्रलयेष्वप्यविरहितं
शरीरं भवति ॥२॥

वात, पित्त और कफ ये ही शरीर उत्पत्ति के कारण हैं ।
(शरीर में ही) नीचे, मध्य में, और ऊपर यथाक्रम स्थित
होने वाले इन विकाररहित वात, पित्त और कफ से शरीर
का धारण होता है । जैसे कि तीन संभों से मकान का धारण
होता है । इसलिये कई आचार्य इस देह को त्रिस्थूण कहते
हैं । वे ही जब बिगड़ जाते हैं, तब शरीर के नाश का कारण
होते हैं । उत्पत्ति, स्थिति और विनाश के समय में भी वात,
पित्त और कफ तथा चौथा रक्त इन से विरहित शरीर
नहीं होता है ॥२॥

वृत्तव्य—देहमन्वदेव—शरीर की उत्पत्ति यद्यपि शुक्र और शोणित से होती है तथापि शुक्र का शरीर से बाहर निकलना, गर्भाणय में पहुँचना, स्त्रीबीज के साथ मिलना, तदनन्तर गर्भ की वृद्धि होना इत्यादि कर्म वातादि दोगों पर निर्भर होते हैं। इतना ही नहीं, वातादि दोग शुक्र और शोणित में भी होते हैं—शुक्रार्तवस्थैर्जामादौ विषेण विष क्रमे । तैश्च निष भ्रूजयो हीनमभ्योत्तमा पृष्व् ॥ (वाग्भट) । तत्र स्त्रीपुनया मद्योगे तेज शरीरादायुर्व्युत्पत्ति, तत्संशोणित्यनिपातात्पुन च्युत वीनिमग्निरपचने समुज्यते चार्त्तवेन, तथाऽग्नीषामभ्योवात् सख्यमानो गर्भाणयमनुवपन्ने । शीताभ्यानिःश्रमिप्रपथ्यमानाता महाभुजानां म्वातो घन सत्रायन । (सुश्रुत) । अभ्योप्योर्भमश्रिमिष्टे—वात का स्थान नाभि के नीचे, पित्त का स्थान नाभि और हृदय के बीच में, और कफ का स्थान हृदय के ऊपर होता है—ते ष्यपिनोऽपि इत्थान्योर्धोमभ्योर्धसमथा । (वाग्भट) । निष्ण—चीन स्तनों के ऊपर जिस का धारण हुआ है, ऐसा—धर्ममूलम्प रास विष्णुण पादेवनम् । चेत्रश्रुधि छिन विद्वान् योत्रे वद स वेदविष्णु ॥ शणितवर्गुधि—वास्तव में शरीरदूष्क केवल तीन ही दोग हैं। परन्तु व्रणस्थान की दुष्टि, शोष पूषभवन, रोहण इत्यादि कार्य रक्त ही के द्वारा वातादि दोग करते हैं और रक्त के ही साथ रक्तवाहिनियों में से सर्व शरीर में फैलते हैं। अत धातुओं की अपेक्षा रक्त का प्राधान्य बतलाने के लिये रक्त का निर्देश यहाँ शब्दत्रय में स्वनत्र किया गया है। परन्तु शोणितदुष्टि घृतादिदृश्यवत् वातादि दोगों की दुष्टि ही समझना चाहिये—रसादित्येषु दोषेषु स्वाध्व समवन्ति य । तन्नानित्युपचारेण तानातुङ्गन्तद वः ॥ (समग्र) ।

भवति चात्र—

नतं देह, कफादस्ति न पित्तात्र च मारुतान् ।
शोणितादपि वा नित्यं देह एतैस्तु धार्यते ॥३॥
न कफ के बिना देह है, न पित्त के बिना है और न वात के बिना है तथा शोणित के बिना भी देह नहीं होता। परन्तु इन्हीं के द्वारा शरीर धारण किया जाता है ॥३॥

तत्र 'या' शक्तिगन्धनयोरिति धातु 'तप' सन्तापे, 'क्षिप्य' आलिङ्गने, एतेषां वृद्धिहितैः प्रत्ययेर्वातः पित्तं श्लेष्मेति च रूपाणि भवन्ति ॥४॥
इन में 'वा-यतिगन्धनयो', 'तप-सन्तापे' और 'क्षिप्य-आलिङ्गने' इन धातुओं से कृदन्तवहित प्रत्ययों द्वारा वात, पित्त और श्लेष्मा ये रूप बनते हैं ॥४॥

वृत्तव्य—इय मृय में घान, पित्त और कफ इनकी निरुक्ति बतलाई गई है, जिस से इन का मुख्य कार्य स्पष्ट हो जाता है। वात—गतिगन्धोपदानभ्येस्य वापत्तोरव्युत्पत्तिभ्य रूप-दिश्लोत्रेण सप्रत्यये वात इति रूपम् । पित्त—सतापार्थेस्य तप्यातोऽरिचि प्रत्यये क्कारप्रत्यये कर्णपिपर्थये तस्य च ये इने पित्तमिति रूपम् । कफ—आलिङ्गनार्थव रिषपातोर्भिनित्य प्रत्यये गुणे च इति

१ नतं देह इत्यत्र पूर्वम् 'नतो मदीकत्तार्थेस्य सप्रत्यये' इति अतिरिक्त पाठ

श्लेष्मि रूपम् । इस से शरीर में श्वात प्रथम, तिरकभ्ये, रम रक्तादि धातुओं की गति युक्त कार्य वात के होते हैं—मर्वा हिषेण वनेन । महास्रोत में तथा शरीर के अन्य धातुओं में एव उष्णता उत्पन्न करना पित्त का कार्य है—तिषात्रोप नेपात्पुनत्रयने । (चरक) । शरीर के विविध अंगों में उत्पन्न करके शरीर को स्थिर करना कफ का कार्य है।

दोषस्थानान्यत ऊर्ध्वं चक्ष्यामः—तत्र स यातः श्रोणिगुदसंश्रयः । तदुपर्यधो नामेः पक्वा पक्वामाशयमध्यं पित्तस्य, आमादाय, श्लेष्मणः यदां से आंगे दोगों के स्थानों को कहते हैं। श्लेष्मण से वायु श्रोणि और गुद इन में रहता है। श्रोणि गुद इनके ऊपर नाभि के नीचे पक्वाणय है। पक्वाणय आमाशय के मध्य में पित्त का स्थान है। और आ कफ का स्थान है ॥५॥

वृत्तव्य—रापथानानि—शरीर में वात पित्त और मूत्र तथा स्थूल और प्रमाटरूप तमो मल्लक्ष इव भिन्न अवस्थाओं में मिलते हैं—शरीरपञ्च पुनर्दिश्या मन्भूता प्रमाद्वृत्ताथ । (चरक) । वात, पित्त और मूत्रमावस्था में अथवा प्रसादावस्था में सर्वशरीरव्यापी सर्वशरीरपर होते हैं—ते ष्यपिन । (वाग्भट) । सर्वरी उज्ज वातपित्तश्लेष्माण । (चरक) । परन्तु जहाँ जहाँ ये विहृतं, स्थूल रूप से, मल रूप में वा क्रिया विशेषरूप से उर्ध्व होते हैं, उन स्थानों को वात, पित्त, और कफ के स्थानों कीषसीकरणीय मानते हैं। सममन्त—प्रत्येक दोग के शक्ति कदै स्थान होते हैं। उनमें से सब से प्रधान स्थान निर्देश करने के लिये समातन शब्द का उपयोग किया शरीर का मुख्य आधार आहार होने के कारण उम के प्र पचन और उत्सर्जन की दृष्टि से ही दोगों के प्रधान स्थानों उल्लेख यहाँ किया गया है। श्रणिगुदसंश्रय—कटि । मलाशय जिसका स्थान है। वायु का प्रधान कार्य श्लेष्मण बाहर फेंकना है। यह कार्य सब से अधिक महाश्लेष्म अन्तिम हिस्से में होता है, जहाँ पक्व वस्तुएँ अर्थात् आ ऊपर पाकक्रियापूर्ण होने के पश्चात् यची हुई त्वाण्य क आती है। इसलिये इस हिस्से को पक्वाणय भी कहते प्रमेजी में पक्वाणय को 'लाजे इन्टेस्टाइन' (Large Int Line) यानि स्थूलान्त्र कहते हैं। चरक में वात का स्थान पक्वाणय ही कदा है—अत्रापि पक्वाणय विशेष स्थानम् । कारण यह है कि मलोत्सर्ग के समय सम्पूर्ण स्त्र न्त्र में पुर मारण (Peristalsis) की क्रिया प्रारम्भ हो मल बाहर फेंका जाता है। इस क्रिया में कटिदिशात् वातपात्रादयो भी सहायता करती हैं। इसलिये 'श्रणि मश्रव' ऐसा उल्लेख यहाँ किया गया है। पक्वामाशयमन्त्र स्थूल स्थूलान्त्र और आमाशय के मध्य का स्थान पित्त का है इस से क्षुद्रान्त्र (Small Intestine) अत्रियत है। हा और जाडर इस के अतिरिक्त बाकी सर्व पाचक रस क्षुद्रान्त्र होते हैं। पित्त और अन्त्याशय रस (Pancreatic Juice

पित्त के प्रारंभिक हिस्से में ही आते हैं । तीसरा आंत्र रस (mucus Intericus) प्रायः आन्त्र भर होता है । ये तीन मिलकर अन्न पाचन का कार्य पूरा करते हैं । इसलिये आन्त्र पित्त का प्रधान स्थान माना गया है । चरक में पित्त स्थान आमाशय लिखा है—अत्राप्यामाशयो विशेषेण स्थानम् । परन्तु चरक जितने स्थान को आमाशय कहते उसमें सुश्रुत का बताया हुआ संपूर्ण पित्त का स्थान माविष्ट हो जाता है । नाभिस्तनान्तर जन्तोरामाशय इति स्मृतः । शेत खादित लीढ पीत चात्र विपच्यते ॥ आमाशयश्लेष्मणः—श्लेष्मा स्थान आमाशय है । आमामाना भुक्तद्रव्याणामाशय आमाशयः । इस में भुक्त द्रव्यों का पचन आधा ही होता है, यानि इस में अधेपक भुक्त द्रव्य होते हैं, वह आमाशय है । चरक कफ का प्रधान स्थान 'उरः' बताया है—अत्राप्युरो विशेषेण स्थानम् । वाग्भट में भी कफ का प्रधान स्थान उरः ही था है—कफस्य सुनरामुरः ।

अतः परं पञ्चधा विभज्यन्ते । तत्र वातस्य शतव्याधौ वक्ष्यामः; पित्तस्य यक्ष्ण्णीहानौ हृदयं दृष्टिस्त्वक् पूर्वोक्तं च; श्लेष्मणस्तूरःशिरःकरुणसन्धय इति पूर्वोक्तं च; एतानि खलु दोषाणां स्थानान्य-पिपन्नानाम् ॥६॥

अब फिर इन के पाँच पाँच स्थान प्रकट किये जाते हैं । वायु के स्थान वातव्याधियों में वर्णन करेंगे । पित्त के स्थान यक्ष्ण्णीहा, हृदय, दृष्टि, त्वचा और पूर्वोक्त क्षुद्रान्त्र हैं । कफ के स्थान छाती, शिर, कण्ठ, संधि और पूर्वोक्त आमाशय हैं । दोषों की अविकृतावस्था में ये उन के स्थान होते हैं ॥६॥

वक्तव्य—यहाँ दोषों के जो पाँच भेद होते हैं, उनके अनुसार पाँच पाँच स्थान वर्णन किये हैं । चरक में इस दृष्टि से दोषों का वर्णन न होने के कारण और भी कुछ अविक स्थान बताये हैं—स्वेदो र्मो लसिका रुचिरामाशयश्च पित्तस्थानानि । उरः शिरो जीवा पर्वण्यामाशयो मेदश्च श्लेष्मणः स्थानानि । वस्तिः पुरीषाधान काटिः सन्धिनी पादावस्थानि च वातस्थानानि । (सूत्र. अ. २०) ।

विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा ।

धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा ॥७॥

जैसे चंद्रमा, सूर्य और वायु विसर्ग, आदान और विक्षेप इन कर्मों द्वारा जगत् को धारण करते हैं वैसे ही कफ, पित्त और वायु विसर्ग, आदान और विक्षेप इन कर्मों द्वारा शरीर को धारण करते हैं ॥७॥

वक्तव्य—इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि बाह्य, जगत् के चंद्रमा, सूर्य और वायु और शरीरगत कफ, पित्त और वायु इनका स्वरूप भी एक है तथा क्रियायें भी एक हैं । सुश्रुत तथा चरक में इनकी अभेदता और भी वर्णन की है—तत्र वायोराल्मेवात्मा, पित्तमांश्वयं, श्लेष्मा सौम्य इति । सोम एव शरीर श्लेष्मा न्तर्गतः । अग्निरेव शरीर पित्तान्तर्गतः ॥ चरक का तो यह भी कहना है कि बाह्य जगत् के चंद्रमा, सूर्य और वायु शरीरगत वात, पित्त और कफ तथा बल के कारण हैं—तावेतावर्षवायु सौमश्च कालस्व-भागनार्गपरिशुद्धताः कालतुरमदोपदेहबलनिर्वृत्तिप्रत्ययभूताः समुपदि-

श्यन्ते ॥ विसर्ग—विसर्जति जनयत्याप्यमर्शामिति विवर्गः । चंद्रमा अपनी अमृत तुल्य किरणों द्वारा बाह्य जगत् को स्निग्ध और शीतल रखता है । कफ भी शरीर को अपने प्रभाव से स्निग्ध और शीतल रखता है । आदान—आददाति/क्षपयति पृथिव्याः सौ-म्याशामादानम् । सूर्य अपनी किरणों से पृथिवी का जलान्श ग्रहण करता है । पित्त शरीर में अन्न रस का ग्रहण करता है । पंचत्वा तस्यान्नरमस्याहरणमादानम् । विक्षेप—शीतोष्णवर्षादीनां यथा-योग प्रेरणम् । बाह्य जगत् में वायु शीत, उष्ण, मेघादि का प्रेरण यथा आवश्यक करके जगत् की रक्षा करता है । वायु शरीर में मलमूत्र का विक्षेप तथा पित्तादिक रसों का स्रावण करके रक्षा करता है । सोम का बाह्य जगत् में कार्य—सोमः शिशि-राभिर्भाभिरापूरयन् जगदाप्याययति शश्वत् । (चरक) । शरीर में कार्य—सधिसंश्लेषणस्नेहनरोपणपूरणवलस्यैयकृच्छ्रेण पचथा प्रविभक्त उदककर्मणाऽनुग्रह करोति ॥ सूर्य का जगत् में कार्य—रविर्भाभि-राददानो जगतः स्नेहम् । (चरक) । सहस्रयुगमुत्तल्लष्टमादत्ते हि रस रविः ॥ शरीर में पित्त का कार्य—रागपक्वो जस्तेजोभोष्मकृत् पित्तं पचथा प्रविभक्तमधिकर्मणाऽनुग्रह करोति ॥ वायु का बाह्य जगत् में कार्य—धरणी धारण, ज्वलनो ज्वालन, सृष्टिश्च मेघानाम्, अपां विसर्गः, प्रवर्तन स्रोतसा, पुष्पफलाना चाग्निनिर्वर्तनम्, उद्देवनं चौद्धिदानम् । (चरक) । शरीर में कार्य—तमीरणोऽग्नेः, दोषसशोषणः, चेसा वहिम-लानाम् । विष्णुपित्तादिमलाशयानां विक्षेपसहारकरः । (चरक) ।

तत्र जिज्ञास्यं किं पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निः ? आहोस्वित् पित्तमेवाग्निरिति ? अत्रोच्यते—न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरुपलभ्यते, आग्नेयत्वात् पित्ते दहनपचनादिष्वभिप्रवर्तमानेऽग्निवदुपचारः क्रियतेऽन्तराग्निरिति; क्षीणे ह्यग्निरुपे तत्समान-द्रव्योपयोगादितिवृद्धे शीतक्रियोपयोगादागसाद्य पश्यामो न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरिति ॥८॥

अब यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि पित्त से अग्नि कोई पृथक् है अथवा क्या पित्त ही शारीरिक अग्नि है । इस विषय में यह कहा जा सकता है कि वास्तव में पित्त से अन्य और शारीरिक अग्नि कोई प्रतीत नहीं होती है । क्योंकि आग्नेयभाव के कारण पित्त से दाह पाक आदि कार्य वर्तमान होने पर अग्नि के समान ही उपचार किया जाता है; अतएव पित्त अन्तराग्नि है । तथा अग्नि गुण तुल्य पित्त के क्षीण होने में अग्निसमान (उष्ण) द्रव्यों का उपयोग करने से, पित्त के बढ़ने में शीतल उपचार करने से और शास्त्राधार से इस यह देखते हैं कि पित्त के अतिरिक्त और अग्नि नहीं है ॥८॥

वक्तव्य—आयुर्वेद में अनेक समय पित्त और अग्नि इनका अभेदरूप से उल्लेख होता है—समानेनावधृत्तोऽग्निर्दयः पवनेन तु । काले भुक्त सम मम्यक् पचत्यायुर्विवृद्धये । (चरक) । जाठरी भगवानग्निरीश्वरोऽन्नस्य पाचकः । सौक्ष्माद्रसानाददानो विवेक्तु नैव शक्यते ॥ (सुश्रुत) । सधुक्षितः समानेन पचत्यामाशयस्थितम् । औदर्योऽ-शियथा बाह्यः स्थालिस्थ तोयतडुलम् ॥ (वाग्भट) । इसलिये पित्त या अग्नि आदान कर्म करता है इस प्रकार का प्रथम उपस्थित करके उसका उत्तर आगम, प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा देना है । तत्र—आदान कर्म में । उपचार—व्यपहार ।

सागन—समस्त आयुर्देयाद्यत्र । प्रत्यक्षं प्रमाण—इहान् पचन्त्यादि
 र्ज्ञानं से विष का आदिपच्य प्रत्यक्ष होता है । अनुमान प्रमाण—
 सामान्य बुद्धिकरणम् । हृत्पचुविद्येवत् । इस नियम के अनुसार
 शीघ्र पित्त में उष्ण द्रव्यों का उपयोग और धृक् पित्त में शीतल
 द्रव्यों का उपयोग पित्त का और अग्नि का अर्ध अनुमान से
 सिद्ध करता है । अज्ञानप्रमाण—‘उष्ण दे देह्ये पित्तं श्लिष्टं पच्य
 स पचिनात् स व अग्निः ।’ ‘पचिरूपम् च—सिचरमर्त्तात्पचन् ।
 तथा प्रथम निर्दिष्ट किये हुए परक, सुतुल्य, वायुत दे श्लोक
 ये सब आयाम प्रमाण हैं । इस प्रकार यद्यपि व्यवहार में दोनों
 का अर्थ है तथापि वास्तव में पित्त और अग्नि एक वस्तु नहीं
 है, उनमें भेद है—अपराहश्चमहा र्शिरासां शिरासन् । पित्त
 च केषाञ्च पचति पठित्ते तेन ज्ञेये ॥ श्लेषा तिसासि ॥ अतुल्ये
 विद्याद्यम्लशरादि पित्तमुत्पद्यन् ॥ भाद्रवद्वयमप्यन्यत्र नल तापविज्ञान
 म् ॥ इव श्लिष्टमप्या । च पित्तं बुद्धित्वाज्यम् ॥

तथादृष्टहेतुकेन विशेषेण पक्वामादायमध्यस्थं
 पिचं चतुर्विधमक्षपानं पचति, विवेचयति च दोष-
 रससूक्ष्मपुरीषाणि; तत्रस्थमेव चात्मशक्त्या शेषाणां
 पित्तस्थानानां शरीरस्य चाग्निर्कर्मणाऽनुग्रहं
 करोति, तस्मिन् पित्ते पाचकोऽग्निरिति संज्ञा, यच्च
 यदृष्टदोषोः पित्तं तस्मिन् रज्जकोऽग्निरिति संज्ञा, स
 रसस्य रागलुप्तः; यच्च पित्तं हृद्यसंसंस्थं तस्मिन्
 सायकोऽग्निरिति संज्ञा, सोऽग्निमार्थितमनोरथ
 साधनशुद्धकः; यदृष्टयान् पित्तं तस्मिन्शालोचकोऽग्नि
 रिति संज्ञा, स रूपग्रहणाधिकृतः, यच्च त्वचि
 पित्तं तस्मिन् भ्राजकोऽग्निरिति संज्ञा, सोऽभ्यङ्ग-
 परियेकावगाहावलेपनादीनां क्रियाद्रव्याणां पक्व
 छायाणां च प्रकाशकः ॥११॥

पचाय और आमाशय के मध्य में स्थित हुआ वह पित्त
 ईश्वरीय प्रेरणा से विशेष प्रकार की परिपाटी द्वारा चारा प्रकार
 के लक्षणों को पहचानता है और आहार प्रसाशयत्परस और
 मूलरूप मूल पुरीष इनको शुद्ध शुद्ध करता है और नहीं
 स्थित हुआ अन्य चार पित्तस्थानों तथा समस्त शरीर को अपनी
 दृष्टि से और उष्णवादि कर्म से अनुगृहीत करता है । इसी
 पित्त की सहा पाचकाग्नि है । जो यक्ष्ण और शीघ्रा में रहता है,
 उस पित्त की संज्ञा ‘रज्ज अग्नि’ है । वह रस को रक्त बनाता
 है । जो पित्त हृद्य में स्थित होता है, उसकी संज्ञा ‘साधकाग्नि’
 है । वह पित्त बाधित मनोरथ का साधन बने वाग होता है ।
 जो पित्त त्वचि में रहता है, उसकी संज्ञा ‘शालोच अग्नि’ है ।
 यह रूपग्रहण करने का अधिकारी है । जो पित्त त्वचा में होता
 है, उसकी संज्ञा ‘भ्राजक अग्नि’ है । वह सदेन, संपन, अवगाहन,
 लेपादि क्रियाओं में प्रयुक्त द्रव्यों को पकाता है और कान्ति
 का प्रकाशक है ॥११॥

यत्तदयं—चतुर्विधम्—‘अग्निर्देहोऽपचिन्म’ । (चरक) ।
 विरचयति—सार और स्वाय भाग को शुद्ध करता है । राशेण
 ‘अन्नसूक्ष्मपुरीषाणि’ । ‘अन्नम्—पुरीषाणि’ ।

शुष्पुरीषाणि—आहार प्रमादाय सार तथा मूलरूप मूल
 विष्टा । शेष का अर्थ मूलरूप वात पित्त रक्त रस रं
 सञ्ज्ञा है—अत्र अहाभगाभ्याम्भो रसं श्लिष्टं च मूलरूपमग्नि-
 रितुष्य रेरेरसूक्ष्मपुरीषाणवियेपनाम् । (चरक) । पचयेत्
 पित्त का यह प्रकार मूल है । इसमें अपचयन के लिये उ
 शरित रस उपयोगी होते हैं, ये सारे समाहित होते हैं । प
 रसों का (Digestive juices) मुख्य स्थान धुत्रान्द्र और उ
 भी उगजा प्रथम भाग होता है । इसको आयुर्वेद में प्र
 और अग्नेयी में ‘दुडूदीनम्’ (Duodenum) कहते हैं—
 अिश्चरा नाम या कायपरिरीणिम् । पक्वामादायमम्लशरा
 दिना ॥ परंतु धुत्रान्द्र के अतिरिक्त मध्य में काला और कल
 जाडर रम (Gastric juice) अपचयन में मदद करते
 हैं ॥

अथ मनुष्य जा शरीररसों में लय सवेन पचानां
 पचन इन रसों द्वारा हुआ करता है । चतुर्विध का प्राय
 कल्पना के अनुसार अर्थ ऊपर दिया हुआ है । नवीन कल
 के अनुसार चतुर्विध का अर्थ निम्न चार प्रकार के साधक
 हैं । १ मांसजातीय (Protein), २ मेदजातीय (Fat)
 घातिजातीय (Carbohydrates), और ४ खनिज प
 (Salts) । प्रत्येक रस का कार्य विशिष्ट होता है और सब
 आयम में मिलकर चतुर्विध साधक द्रव्यों का पाचन पूर्ण
 है । तत्पश्चात् सार भाग का शोषण श्लैष्मिक कला से हो
 स्वाय भाग आन्त्र में ही शुष्क हो जाता है । इस प्रकार
 शोषण और शुष्करण के लिये साधक द्रव्यों का विशेषण ही
 छोट अणु योगिक बनना आवश्यक है । क्योंकि साधक
 शहीन होने पर भी जो वे स्वयं शोषित नहीं हो सकते, न इन
 शरीर के धातु बन सकते हैं । पाचक रसों की क्रिया से अन्न रं
 खनिज पदार्थों के अतिरिक्त सर्व पदार्थों का विशेषण होता है
 प्रोटीनों का परिवर्तन सीरम अन्वुमेन, मीरम श्लेष्मि
 फाइब्रिनोजन हृत्वादि अणु योगिकों में होता है । वत
 ग्लिसरीन (Glycenne) और विविध अम्ल के सयोग
 बनती है । अन्वुमाय रस की क्रिया से चरबी के श्लेष्मि
 और अम्ल शुष्क शुष्क हो जाते हैं । तत्पश्चात् अम्ल र
 संयोग द्वारा के साथ होकर सातुन बनता है । अब वे सातु
 और ग्लिसरीन शोषित होते हैं । शालिजातीय पदार्थों
 परिवर्तन फल्टोकेरा और फ्राक्टासकेरा (Fructose and
 Glucose) में होकर उन का शोषण होता है । श्लेष्मि
 पदार्थों पर पाचक क्रिया नहीं होती है । वे ज्यों के त्यों शोषि
 हो जाते हैं । इन चतुर्विध पदार्थों में कुछ चीजें पचने योग
 हैं होती हैं । कुछ पचने योग्य होने पर भी अग्नि की मन्त्र
 के कारण का चर्बय संश्लेषन होने के कारण पच नहीं
 शक्ति यानि उष्ण का कुछ भाग अधपचा ही रह जाता
 है । पचे हुए भाग का पूर्ण शोषण नहीं होता । ये सब चीजें
 विष्टा के रूप में शरीर से बाहर निकल जाया करती हैं ।
 इन के सिवाय विष्टा में सदन के कारण उष्ण हुए हुए
 पदार्थ, अनेक प्रकार के जीवाणु, आन्त्र की श्लैष्मिक कला
 की सहाय हुई सेचें और पाचक रसों के कुछ भाग (वेत

त्त) होते हैं। मूत्र की उत्पत्ति आंत में नहीं होती। सूत्रोत्पत्ति के विषय में विशेष विवरण निदानस्थान के अन्तरी किरसा में किया जायगा। अन्नपचन का कुछ अधिक १४ वें अध्याय के ५२४ वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया। रंजकोऽग्निः—अपचरस का रंजन करने के कारण इस रंजक पित्त या रंजक अग्नि कहते हैं। इस का स्थान अकृत्तर झीहा है और आधुनिक खोज से अस्थिमज्जा है। वाग्भट इसका स्थान आमाशय लिखा है—आमाशयाश्रयं पित्तं रंजकं रंजनात्। इस विषय का विशेष विवरण १४ वें अध्याय में किया गया है। साधकोऽग्निः—इस का स्थान हृदय है। परन्तु एष के रक्तसंचालन के कार्य से इस का कोई संबंध नहीं। वह कार्य हृदयस्थ व्यान वायु का है। प्राचीन कल्पना के अनुसार हृदय रक्तसंचालन तथा सुख, दुःख, बुद्धि और मन का स्थान माना गया है—हृदये चित्तमवित् (योगसूत्र)। हेनां हृदयं देहे सुखदुःखप्रकारणम् । तत्सकोचं विकामं च स्वतः यात् पुनः पुनः ॥ (नाडीज्ञानम्)। आधुनिक वैज्ञानिक खोज सुख दुःखादि कार्य मस्तिष्क में होते हैं, ऐसा सिद्ध हुआ। इस दृष्टि से कुछ लोग हृदय का अर्थ मस्तिष्क भी करते हैं। साधकपित्त बुद्धि मेधा अभिमानादि मानसिक कार्य धन करता है। इसलिये इसे 'साधक पित्त' कहते हैं—विज्ञानाभिमानाद्यैरभिप्रेतार्थसाधनात् । साधकं हृदत पित्तम् (वाग्भट)। अर्थात् साधक पित्त का कार्य मानसिक है और इस से मस्तिष्क के विविध कार्य हुआ करते हैं। लोचकाग्नि—इस का स्थान दृष्टि है और इस का कार्य प्रग्रहण का है। नेत्रगोलक में जो विविध अंग होते हैं, उन में अग्रतरीय दृष्टिपटल में रूपग्रहण का कार्य होता है। इस में अंग्रेजी में रेटीना (Retina) कहते हैं। प्रकाश की यात्रा वस्तु की किरणों नेत्र के भीतर कृष्णमंडल (Cornea), जोजल (Aqueous humour), दृष्टिमंडल (Pupil), लेंस (Lens) और मेदोजल (Vitreous humour) में होकर दृष्टिपटल पर पड़ती है और वहाँ वस्तु का उलटा चित्रित होता है। यह पटल नाडीसूत्रों से और विशेष प्रकार से सेलों से बनता है और इन सूत्रों का और नेलों का सीधा सम्बन्ध दृष्टिनाडी के साथ होता है, जो मस्तिष्क में मिलती है। इस दृष्टिपटल का रंग सेलों के भीतर विशेष प्रकार का रंग रहने के कारण नीललोहित होता है। प्रकाश की किरणों दृष्टिपटल पर पड़ने से वहाँ एक विशेष रासायनिक प्रक्रिया होती है। इस क्रिया से पटल की प्रतिक्रिया अम्ल होती है और उस के रंग में भी फर्क हो जाता है, जिस का प्रभाव दृष्टि की दृष्टि द्वारा मस्तिष्क को पहुँचता है, और इस रंग रूपादिक प्रग्रहण करते हैं। आलोचक पित्त दृष्टिपटलगत प्रक्रिया के साथ सम्बन्ध रखता है। आजकाग्नि—इस का स्थान त्वचा और त्वचा का आजन करने से इस को आजक पित्त कहते हैं—त्वचस्य आजकं आजनात् त्वचः । (वाग्भट)। इस पित्त से त्वचा के विविध कार्य व्यवस्थित रूप से होते हैं। यथा—विंद उत्पन्न करना, तैलअंधियों से तैल उत्पन्न करके त्वचा को मृदु, अन्नत और चमकीली करना, उष्णता का नियंत्रण करना इत्यादि—माद्यमानात्रत्वमूपमः । (चरक)। संक्षेप में

पित्त के कार्य चरक में लिखे हैं—दर्शनं पित्तिरूपमा च ध्रुतुष्णा केसमार्दवम् । प्रभा प्रसादो मेधा च पित्तकर्माविकारजम् । (सूत्रस्थान अ. १८)। अतिकर्माणु अनुग्रहं करोति—शरीर के अन्य स्थानों को अपनी शक्ति से अतिकर्म द्वारा यानि सार शरीर किष्ट भाग को प्रथक् कर के अनुगृहीत करता है। पाचकाग्नि केवल आंत्र में ही नहीं, शरीर के प्रत्येक परमाणु में कार्य करता है और इसी कार्य पर शरीरधातुओं की वृद्धि या क्षति निर्भर होती है—स्वस्थानस्थस्य कायाधेरसा धातुषु सञ्चिताः । तेषां सृष्टातिदीप्तिभ्यां धातुवृद्धिक्षयोद्भवः ॥ (वाग्भट)। समभिदेहधातारो द्विविधाश्च पुनः पुनः । यथास्वमग्निभिः पाक यान्ति किष्टप्रसादवत् ॥ (चरक)। शरीर में जो अग्नि होती है, उसे 'धात्वग्नि' कहते हैं और सात धातुओं की सात अग्नि हैं। छायाना च प्रकाशकः—वर्ण और प्रभा के आश्रित जो शरीर की कान्ति होती है, उसे छाया कहते हैं—छाया वर्णप्रभाश्रया । (चरक)। इस प्रकार की कान्ति का उत्पादक आजक पित्त है।

पित्तं तीक्ष्णं द्रवं धृति नीलं पीतं तथैव च ।

उष्णं कटुरसं चैव विदग्धं चाश्लक्षेयं च ॥१०॥

पित्त तादृश, पतला दुर्गन्धयुक्त, नीला, पीला, उष्ण और कटुरस है। विदग्ध होने पर यह अम्ल भी हो जाता है ॥१०॥

लक्षणम्—इस श्लोक में प्राकृत और वैकृत अवस्था के पित्त के लक्षण लिखे हैं। महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन के अनुसार ये लक्षण केवल पित्त की किष्टावस्था के हैं—किष्टस्वरूपं च यथा—पित्त तीक्ष्णमित्यादि। निर्दूषित यानि निराम पित्त के लक्षण—आताम्र पीतमस्युष्णं रसे कटुकमस्तिरम् । परं विदग्धं विशेषेण रचिपक्त्तिलप्रदम् ॥ साभ यानि दूषित पित्त के लक्षण—दुर्गन्ध हरितं श्याव पित्तमम्लं स्थिरं शुक्र । अम्लिकाकण्टकहृदाहकरं सामं विनिर्दि-
शः ॥ (वृन्दसाधव)। यहाँ जो पित्त के लक्षण वर्णन किये हैं, उन में अम्लता विदग्ध पित्त का लक्षण बतलाया है। परन्तु चरक में अम्लता प्राकृत पित्त का लक्षण दिया है—सलेह-सुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु। इस मतभिरता का परिचय विषाक की मतभिन्नता में हो गया है। इसका वर्णन आगे ४० वें अध्याय में विषाक में किया जायगा।

अत ऊर्ध्वं श्लेष्मस्थानान्यनुव्याख्याख्यायामः ।

तत्र, आमाशयः पित्ताशयस्योपरि घ्राततत्प्रत्यनीकत्वा-
दूर्ध्वगतिव्याजेजसश्चन्द्र इव आदित्यस्य; स
चतुर्विधस्याहारस्याधारः; स च तत्रैव कैशुरौचाहारः
प्रक्षिप्तो भिद्रासंघातः सुखजरश्च भवति ॥११॥

यहाँ आगे कफ के स्थान वर्णन करते हैं। श्लेष्म स्थानों में आमाशय (कफ) अग्निविरोधी और अग्नि ऊर्ध्वगतिक होने के कारण पित्ताशय के ऊपर स्थित है, जैसे कि चंद्रमा सूर्य के ऊपर होता है। यह आमाशय चतुर्विध खाद्य द्रव्यों का आधार है। वहाँ यह आहार (कफ के) जलसंधी गुणों से द्रवरूप पतला और महीन होकर सुखपूर्वक पचने योग्य हो जाता है ॥११॥

वृत्तव्य—नत्र—पाँचो श्लेष स्थानों में । प्रत्यनीकवात्—
कफ कार्य की दृष्टि से पित्त का विरोधी होता है । ऊर्ध्व
तित्वात्—ऊर्ध्वग्वलन स्वभाव के कारण । उपरिहात्—ऊपर
होता है । उपरिदग्नि इति शेष । चद्र स्व आदित्यस्य—लास्यिक
या आलंकारिक दृष्टि से इनका उपयोग समझना चाहिये ।
अन्यथा प्रत्यन्त विरोध होता है । पित्त अग्नि के समान और
कफ चन्द्र के समान कार्य की दृष्टि से होता है । सूर्य के
प्रभाव से पृथिवी तप्त होती है । यदि पृथिवी पर केवल सूर्य
का ही कार्य होता रहेगा तो वह अतितप्त होकर भुलस
जायगी । इसलिये सूर्य के ऊपर यानि सूर्यविरोधी चन्द्र रखा
है, जो अपने शीतल प्रभाव से पृथिवी का ताप शान्त करता
है । वैसे ही शरीर के तैजस्य पित्त से रक्षा करने के लिये उस
के ऊपर कफ रखा है, जो अपन शीतल प्रभाव से शरीर
का ताप शान्त करता है । आहार—आमाशय में सेवन किया
हुआ भोजन सामान्यतया चार घण्टे तक ठहरता है । और
उस की समाप्ति साधारणतया ३ १/२ डेढ़ सेर तक होती है । यदि
आमाशय में आहार का आघार न मिलता तो बारबार और
घोड़ी मात्रा में भोजन मचन करने की आवश्यकता पड़ती ।
प्रक्षिन्नो नित्रमयान् सुखजराश्रमवनि—भोजन सब से पहले मुख में
जाता है । वहाँ चर्चण से वह पीसा (भिन्नसत्वात् किया) जाता
है और लालामिध्रण से गीला (प्रक्षिन्न) हो जाता है । ये
दोनों क्रियायें अन्नपचन की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक हैं ।
यहाँ से अन्न कण्ट और अन्नमार्ग में से होकर आमाशय में
पहुँचता है । आमाशय गतिपुक्त होता है । यह सिञ्चिता है
और फैलता है, जिस से भोजन पर दबाव पड़ता है और वह
खूब मथकर महीन (भिन्नसत्वात्) हो जाता है । इस के
साथ साथ भोजन में आमाशयिक रस मिल कर वह पतला
(प्रक्षिन्न) हो जाता है । जब तक भोजन महीन और पतला
नहीं होता, तब तक आमाशय में गतिर्वाही होती रहती है और
ध्रुव महीन होने के पश्चात् म्रहणी का द्वार खुल जाता है और
अन्नरस म्रहणी में प्रविष्ट होता है । इस प्रकार भोजन का
कुछ भाग आमाशय के वामांश (जो आया हुआ अन्न का
भाण्डार का काम करता है) लेकर उस का संयन द्वारा रस
बनने के पश्चात् म्रहणी में प्रवेश होता है । जब तक भोजन
भिन्नसत्वात् और विशेष प्रक्षिन्न नहीं होता तब तक आमाशय
अन्न को आन्त्र में नहीं जाने देता । परन्तु कठिन परार्थों को
पीसना यह आमाशय जैसे कोमल प्रग का काम नहीं है ।
इसलिये भोजन दृढ़ तथा दबा कर क्षान्त चाहिये । इस
प्रकार जो भोजन आमाशय में पतला और महीन होता है,
उस पर आन्त्रजन पाचक रसों का कार्य भली भाँति होकर
रस का पचन और शोषण मुख से (मुखज) होता है ।

माधुर्यात् पिच्छिलत्वाच्च मृदेदित्वात्तथैव च ।

आमाशये संमचति श्लेष्मा मधुरशीतलः ॥१२॥

(आहार की) मधुरता, पिच्छिलता तथा मृदेता के
कारण आमाशय में कफ भी शीतल और मधुर रसात् रूप
होता है ॥१२॥

एतत्प्रसव एव स्यदात्तया शोषाणां श्लेष्मस्थानानां
दारीरस्य शोदककर्मणाऽनुमर्दं करोति, उर स्पष्टि

कसन्धारणमात्मवीर्याधरससहितेन हृदया
म्यूनं करोति; जिह्वामूलकण्ठस्थो जिह्वेन्द्रि
सौम्यत्वात् सम्यग्रसज्ञाने चर्तते; शिरः
श्लेहसंतर्पणाधिकृतत्वात्
करोति; सन्धिस्थस्तु श्लेष्मा सर्वसन्धिसंश्ले
सर्वसन्धयनुमर्दं करोति ॥१३॥

आमाशय में ही स्थित हुआ वह कफ कफ के
स्थानों को तथा समस्त शरीर को अपने प्रभाव से उदक
के द्वारा अनुपृहीत करता है । वज्रस्थल में स्थित हुआ
अपने पराक्रम से त्रिकस्थान को घास्य करता है, और
रस के साथ मिलकर हृदय को अपने कार्य में सामर्थ्य
देता है । जिह्वा के मूलस्थान कण्ठ में स्थित हुआ कफ प्र
सौम्यता से जिह्वा इन्द्रिय को मधु प्रकार के रसों के ज्ञान
प्रवृत्त करता है । शिर में स्थित हुआ कफ शैलादि सतपेन
अधिकारी होने के कारण अपने प्रभाव से ज्ञानेन्द्रियों
अपने कार्य में सामर्थ्य देता है । सधिगत श्लेष्मा हा
मधियों का श्लेषण करने के कारण सर्वसंधियों का अन्न
करता है ॥१३॥

यत्तव्य—पचविध कफ के नाम—आमाशयगत कफ
अन्न का श्लेदन करने के कारण 'श्लेदक कफ' कहते हैं—
गौरप्रदानश्लेदनात् । उर स्थ कफ को 'अवलंबक' कहते हैं ।
कफस्थानों का अवलंबन करने का कार्य धारिण्ट के मतानु
उर स्थ कफ का है—रूपधर्मात् च शोषाणां वाक्योत्पल्लवन् ।
कफवत्क श्लेष्मा । कण्ठस्थ श्लेष्मा को 'शोषक' कहते हैं
रसशोषनात् । शोषक रमनास्थायी । शिर स्थ कफ को शार्देति
का तर्पण करने के कारण 'तर्पक' कहते हैं—शिर मनोऽन्न
पंगत् । तर्पक । सधिगत श्लेष्मा को 'श्लेषक' कहते हैं—मृ
श्लेषात्श्लेषक मधियु म्पित । (अ हृदय) । त्रिक—शिरो बापुदक
स्वानम् । (इच्छण) । इच्छण के अनुसार चक्र धारि इन्द्रु ति
का अर्थ करते हैं । त्रिक का दूसरा धारि म्माभास्य अर्थ पृथक्
अधोभाग—ग्लिक्मगो पृथक्ताश्लेषं मधिलिक्मक मनम् ॥ यि
मूलकस्थ—जिह्वाया मूल यत्र मधयिषे कण्ठ तिक्मिनि शिर
कण्ठस्थ ॥ उदकतर्पण—अन्न के गुणों से । आधुर्येदं में क
शब्द ज्ञान तत्त्व के लिये प्रयुक्त होता है और इस दृष्टि से क
की श्रुत्यपत्ति निम्न पद्धति से भी की जाती है—केन (क
परति इति कफ ।

श्लेष्मा श्वेतो मधुर, क्षिग्धः पिच्छिल, शीत एव च ।
मधुरस्त्वधिदग्धः स्याद्विदग्धो लघुः स्मृत ॥

कफ शोषण, भारी, पिचला, लमदार और शीतल है
है, तथा प्राकृतावस्था में मधुर और विरतावस्था में लमदार
हो जाता है ॥१४॥

शोषितस्य स्थाने यत्तद्ग्रीहानो, तद्य प्रागभिधि
तम्; तपस्थमेव शोषाणां शोषितस्थानानामनुम
करोति ॥१५॥

रस का रसान चकुर और शीतल है । वह अपने (शोषित
स्थानों के अन्वय में) कहे गये हैं । वहाँ से ही रस शोषित

अन्य स्थानों को अपने कार्य करने में सहायता देता ॥

क्तव्य—रक्तोत्पत्ति के संबंध में विशेष विवरण पीछे अध्याय में हो चुका है । उससे यह स्पष्ट है कि शरीर में उत्पत्ति मज्जा में होती है । परंतु गकृत और हीहा में एक दार्थिक घनता है, जिसके अनुग्रह से मज्जा रक्त की उत्पत्ति में होती है ।

एषाशीतं मधुरं स्निग्धं रक्तं च वर्णतः ।

एते गुरु विस्रं स्याद्विदाहश्चास्य पित्तवत् ॥१६॥

क न गरम न ठंडा, मधुर, चिकना, लाल रंग का, भारी गमगंधी होता है तथा पित्त की भांति (जिस द्रव्य से रसा विदाह होता है वैसा) रक्त का भी (उसी वस्तु से ही) विदाह हो जाता है ॥१६॥

एतानि खलु दोषस्थानानिः एषु संचीयन्ते

१। प्राक् संचयहेतुरुक्तः । तत्र संचितानां खलु एषां स्तब्धपूर्णकोष्ठता पीतावभासता मन्दोष्मता तानां गौरवमालस्यं चयकारणविद्वेषश्चेति ज्ञानि भवन्ति । तत्र प्रथमः क्रियाकालः ॥१७॥

पू (वातादिक) दोषों के स्थान हैं । इन्हीं स्थानों में रक्त का संचय होता है । संचय का कारण पहले ही वर्णन हुआ है । इन स्थानों में संचित दोषों के ये लक्षण होते हैं—
१। भारीपन और पूर्णता, पीला दिखाई देना या त्वचा पर कुछ पीला होना, शरीर में कुछ हरातर मालस होना, रक्त का भारीपन, आलस्य बढ़ना और संचय के कारणों से उत्पन्न होना । इसी संचय के समय (दोषों की) चिकित्सा के का प्रथम काल होता है ॥१७॥

क्तव्य—दोषस्थानानि—वातादि दोष सर्वगरीरव्यापी हैं हुए भी उपर्युक्त स्थानों में अधिक होते हैं अर्थात् इनकी वृद्धि भी इन्हीं स्थानों में प्रथम होती है । सचयहेतु—ऋतु-
अध्याय में ऋतुपरिवर्तन के अनुसार इनकी वृद्धि किस ऋतु से हुआ करती है, इसका वर्णन हो चुका है । उसके अनुसार वात, पित्त और कफ का संचय अनुक्रम से ग्रीष्म, शरत् और शिशिर ऋतु में होता है । इसके सिवाय संचय के कारण अष्टाङ्गहृदय में तिवे हैं—उष्णेन युक्ता रूक्षाद्या वायाः संचयन्ति संचयम् । शीतेन युक्ता स्निग्धाद्याः कुर्वन्ति क्लेष्मणश्चयम् । शीतेन कास्तीक्ष्णाद्याश्च पित्तस्य कुर्वन्ति ॥ सचय—अपने ही स्थान में दोषों की वृद्धि को संचय कहते हैं—स्वस्थानवृद्धिदोषाणां चय इत्यभि-
प्रेयः । चयो वृद्धिः स्वधान्त्वैव । (वाग्भट) । लिगानि—स्तब्ध-
पूर्णकोष्ठता इत्यादि संचयावस्था के विशेष लक्षण हैं । सामान्य चयकारण विद्वेष हैं । वाग्भट में इस लक्षण के साथ विपरीतगुणोच्छ्रा' ऐसा दूसरा भी एक सामान्य लक्षण दिया है और दोनों मिलकर दोषसंचय का निदर्शन करते हैं । एक लक्षण से निश्चयपूर्वक दोष का संचय प्रदर्शित नहीं होता है—
तेन व्यभिचारदर्शनात् प्रदेयो वृद्धिहेतुषु विपरीतगुणोच्छ्रा चेति द्वयमपि क्लेशम् । तेन यदा तुल्यकाल पुरुषस्य वातसमानगुणेषु तद्वृद्धि-
हेतुषु प्रदेयो जायते वातगुणप्रतिपक्षेषु तत्क्षणहेतुषु चाभिलाषस्तदा संशयः

निश्चीयते वातस्योपचितिरिति द्वयमप्येतदुक्तम् । (अर्यादत्त) । जैसे वात के संचय में रुक्षादि वातसामान्य यानि संचयकारक पदार्थों से द्वेष उत्पन्न होना और स्निग्धादि वातविपरीत पदार्थों की अभिलाषा उत्पन्न होना । ये दोनों प्रकार के लक्षण जब होते हैं, तब वात का संचय समझना चाहिये । क्योंकि प्रकृतिवशात् या सांभयवशात् एक प्रकार का लक्षण दिखाई दे सकता है ।
स्तब्धपूर्णकोष्ठता—स्तब्धकोष्ठता और पूर्णकोष्ठता । मन्दोष्मता—शरीर की उष्णता स्वाभाविक उष्णता से कुछ बढ़ना या भीतर से कुछ गरम मालस होना । ऊष्मा पित्तान्ते नास्ति—अर्थात् पित्त का संचय हो जाने पर शरीर की उष्णता कम होने के बजाय थोड़ी बढ़नी ही चाहिये । इसलिये शरीर ठंडा होना, अग्नि मन्द होना इत्यादिक जो मन्दोष्मता के अर्थ दिये हैं, वे अनुचित प्रतीत होते हैं । इन लक्षणों में 'स्तब्धकोष्ठता' और 'पूर्णकोष्ठता' वातसंचय के लक्षण, 'पीतावभासता' और 'मन्दोष्मता' पित्त संचय के लक्षण, तथा 'गौरवम्' 'आलस्यं' ये कफसंचय के लक्षण समझने चाहिये । क्योंकि 'दोषप्रकृतिवैशिष्यं निवर्तं वृद्धि-
लक्षणम् (चरक)' यह वृद्धि का लक्षण है । चयकारण विद्वेष (और विपरीतगुणोच्छ्रा) ये वातादिक दोषों का संचय बतलाने वाले सामान्य लक्षण हैं । प्रथमक्रियाकालः—संचय विप-
मावस्था की प्रारम्भिक स्थिति है । दोषों की समता उत्पन्न करने के लिये जो चिकित्सा करनी चाहिये, उसका आरंभ संचय काल में ही करने से दोषों का प्रगमन शीघ्र हो जाता है । रोगी को भी विशेष दिक्कत नहीं होती और शरीर के धातुओं की भी क्षति नहीं होती । संचय के अनन्तर आने वाली अवस्थाओं में दोष बलवत्तर हो जाते हैं । इसलिये चिकित्सा में सर्व प्रकार की कठिनाई हो जाती है । अतः संचयावस्था में ही दोषों की चिकित्सा प्रारंभ करना चिकित्सा के लिये सर्वोत्तम काल होता है । प्रथम का अर्थ उत्तम तथा प्रधान भी है और यही अर्थ व्यावहारिक दृष्टि से यहाँ अधिक प्रगस्त है—सचयेऽपहना दोषा लभन्ते नीचग गतीः । ते त्तरासु गतिषु भवन्ति बलवत्तराः ॥ (वाग्भट) । अणुहि प्रथम भूत्वा रोगः पश्चात् विवर्धते । न जातमूल्ये मुष्णाति बलमा-
युध दुर्मते ॥ तस्मात् प्रागेव रोगेभ्यो रोगेषु तर्कणेषु वा । भैषजैः प्रति-
कुर्वीत य इन्द्रं सुलमात्मनः ॥ (चरक) ।

अत ऊर्ध्वं प्रकोपणानि वक्ष्यामः । तत्र बलवद्वि-
प्रहातिव्यायामव्यवायाध्ययनप्रपतनप्रधावनप्रपीडना-
भिधातलङ्घनप्लवनतरणरात्रिजागरणभारहरणगज-
तुरगरथपदातिचर्याकटुकपायतिक्तरूक्षलघुशीतवीर्य-
शुष्कशाकवल्लरवरकोदालककोरदूपश्यामाकनीवार-
मुद्गमसृगढकीहरेणुकलयनिष्पावानशनविपमाशाना-
ध्यशनवातमूत्रपुरीषशुक्लच्छर्दिक्ष्वथूद्धारवाष्पवेग-
विधातादिभिर्विशेषैर्वायुः प्रकोपमापद्यते ॥१८॥

यहाँ से आगे (दोषों के) प्रकोपकों (अर्थात् जिन आहार विहारों से दोषों का प्रकोप होता है उन) का वर्णन करेंगे । अधिक बलवान् से लड़ना, अति व्यायाम, अति मैथुन, अति अध्ययन, गिर पड़ना, दौड़ना, मोच होना, चोट लगना, कूड़ना, कूड़ते कूड़ते चलना, तैरना, रात्रि में जागना, बोझा

उठाना, हाथी घोड़े रथ पर वा पैदल अति फिरना, कटु कषाय तिक्त रूक्ष लघु और गीतवीर्य पदार्थों का सेवन, सूखे शाक, सूखा मांस, बरक, उठाशक, कोरकूप, श्यामाक, नीवार, रूंग, मसूर, अरहर, हंगु मटर. निष्याव इन का सेवन, उपवास, विषप्राण अश्वयन्, अशोवायु मूत्र मल वीर्य छर्दि रीक बकार अशु इन के वेगा को राकना इत्यादि विदेष आहार विहार से वायु प्रकुपित होना है ॥१८॥

स शीताभ्रप्रवातेषु घर्मान्ते च विशेषतः ।

प्रत्युपस्यपराहे तु जीर्णोऽप्ये च प्रकुप्यति ॥१९॥

वह वायु शीत काल में, बादल के समय में, अति पवन चलने के समय में, विशेष कर वर्षा ऋतु में, प्रभात समय में, अपराह्न काल में और अन्न का पूर्ण पचन होने के समय में प्रकुपित होता है ॥१९॥

श्लोचशोकभयायासोपवासविदग्धर्मयुनोपगमन-
कटुम्ललघुणतीक्ष्णोष्णलघुविदाहितैलतैलपिण्याक-
कुलरथसर्पपातसीहरितक्रशाकगोधामत्स्याजायिक-
मांसदधितककृच्चिकामस्तुसौवीरकसुराविकाराम्ल-
फलकटुप्रभृतिभिः पित्तं प्रकोपमापद्यते ॥२०॥

श्लोच, शोक, भय, परिश्रम, उपवास, जले हुए पदार्थ, मैथुन, घूमना, कटु, अम्ल, सख्य, तीक्ष्ण, गरम, लघु, दाह उपपन्न करने वाले, तिहरी का तेल, खलि, कुलयी, सरसों, अतसी, हरित शाक, गोधा, मज्जी, बकरा और भेड़ का मांस, दही, मट्ठा, कृषिका, मत्स्य, सौवीरक, मद्य के अनेक प्रकार, सहे फल, कटुर इत्यादि से पित्त प्रकुपित होता है ॥२०॥

घटकथय—विदाहि—विदाहि इत्युत्पन्नमल्लं भ्रूयंतया दृष्याम् ।
इति दाह च अनेकेषु पक्षे गच्छति तच्चिदाहम् । कृषिका—दही या
तत्र के साथ पकाया हुआ दूध—उभ त्रेण वा सूत पकाय
पृथग्पचनद्वयमांश हीर कृषिकेभ्यश्चले । (हेमाद्रि) । जो तत्र
से बनाई जाती है, वह तत्रकृषिका । और जो दही से बनाई
जाती है, वह दहीकृषिका । मत्स्य—दही के ऊपर का पानी—
दशो गच्छन्तु मखिननि । कटुर—लेहयुक्त गरक—सौवीरकमलकाल्य
कांश्चि कटुर विदु । अन्ये तु लघुभोग एव चालम्भा गतम् ।
मलेह दृषिं तत्रमपुनर्ये तु कटुरम् ॥

तदुष्णैरुष्णकाले च मेघान्ते च विशेषतः ।

मध्याह्ने चार्धरात्रे च जीर्णतप्रे च कुप्यति ॥२१॥

वह पित्त उष्ण पदार्थों से, उष्ण काल में, विशेषतया धरतु ऋतु में, मध्याह्न और अर्धरात्र के समय तथा भोजन का पचन होने के समय प्रकुपित हो जाता है ॥२१॥

दिवान्प्रप्राण्यापामालस्वमपुराम्ललघुणशीतवि-
श्वगुणपिच्छिलाभिप्यन्दिहायनकषयकनैपपेत्कट-
मापमहाभापगोधूम तिल पिष्ट विरतिदधिदुग्धघृ-
शाराणपसेभु-चिकारानुपूषिकमांसयस्ताबिसमृपाल-
हसेककमृत्हाटकमयुए-पद्मी-फलसमदानाप्यदान-
प्रभृतिभिः श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते ॥२२॥

दिन में सोना, शारीरिक परिश्रम न करना, आलस मधुर, अम्ल, लवण, शीत, स्निग्ध, पचने में भारी, छन्द अभिप्यन्दी पदार्थों का सेवन, हायनन, यव, नैषध इक उडद, महाभाप, गेहूँ, तिल और पिष्टी के पदार्थ, दही, दू तिल, चावल और उडद की खिचडी, खीर, ईच के पदा आनूप और औदक प्राणियों का मांस, वसा, कमलक कंठी, सिंगाड, मधुर फल, वल्लीफल, समयान और अल्प इत्यादि से कफ प्रकुपित होना है ॥२२॥

वक्तव्य—अभिप्यन्दि—दोषानुमन्तोक्तानविरपकात् अनकम् । (इहहण) । पैच्छिलाश्रीकम् इत्यं कुरुत्तरा निरा । पंचे यश्रीव लव्यदभिप्यन्दि यथा दधि ॥ (शार्ङ्गध) नैषध—'कोरक' इत्याचारान्ते, स च धान्यविशेषः । (इहहण) निपधरेपीय शानिधान्यः । श्वत्—समामी (इहहण) । धान विशेष । मधुरवलीफल—मधुर फल यथा ताल कारिकेर्न और वल्लीफल अलाव कुमांड प्रभृति । न्मान—हित और अहित मिला हुआ भोजन । कषयान—पहले का किवा दुस मोजव बिना पचे और भोजन करना ।

स शीतैः शीतकाले च यस्मन्ते च विशेषतः ।

पूर्वाह्ने च प्रदोषे च भुक्तमात्रे प्रकुप्यति ॥२३॥

वह कफ शीतल पदार्थों से, शीतकाल में, विशेष कर वस्त्र ऋतु में, पूर्वाह्न और प्रदोष के समय तथा भोजन करते ही प्रकुपित हो जाता है ॥२३॥

वक्तव्य—शीतकाले—हेमन्त ऋतु में । पूर्वाह्ने—पूर्वाह्न वनन्त्य लिंगम् । इसलिये-पूर्वाह्न में कफ का प्रकोप होता है । वातादि दोषों का प्रकोपकाल ऋतु, दिन रात्रि और भोजन के सम्बन्ध में ध्यान में रखने के लिये काष्ठ के दिन शोक बहुत उपयोगी हैं—वयस्येवप्रथमा वायोर्मीणाति पितु । वर्षादि तु तिसय श्लेष्मण सिनिगादिषु । वयोऽरोपितुत्रत्त देऽनमन्यदिगा इत्यम् ॥

पित्तप्रकोपपर्येव चामीदृशं द्रवक्षिग्धगुरुमिरी-
हार्पैर्दिव्यास्वमत्रोष्णानलातपथमामिघाताजीर्णविठडा
ध्वनानादिभिर्विशेषैरसृक् प्रकोपमापद्यते ॥२४॥

जिन आहार विकारों से पित्त प्रकुपित होता है उमा शोचन, पाषाण दूध, स्निग्ध, गरिष्ठ पदार्थों का सेवन, दिन में सोना, शोच, अग्नि और गृह्य का ताप, चोट लगना, अजीर्ण, विरहायन, अस्वपान इत्यादि कारणों से कफ प्रकुपित हो जाता है ॥२४॥

यस्मात्तर्कं विना दोषेनै कदाचित् प्रकुप्यति ।

तस्मात्तस्य यथादोषं कालं विद्यान्प्रकोपये ॥२५॥

इसके रक बातादि दोषों के बिना कभी प्रकुपित नहीं होता है, इसलिये उस के दोर का काल दोषों के अनुसार समकथा चादिये ॥२५॥

तेषां प्रकोपाय कोष्ठतोदसंयत्तगामिः कपिपामा-
परिदादाभ्येपहृदयोक्ते दाध जायन्ते । तत्र जिरीप
क्रियाकालः ॥२६॥

इन दोषों के प्रकोप से पेट में गन्धा और वायु का संचार, इकार, प्लान्, दात, अन्नरूप और जी सचलागा ये चिह्न हैं । यह कोप का समय चिकित्सा का दूसरा काल है ॥२६॥

चक्षुःशून्य—प्रकोप—संचय और प्रकोप दोनों अग्रन्थायों की वृद्धि के भेद हैं—वृद्धि रूपा चयप्रतिपभेदेन । (शास्त्रसंग्रह) । चय वृद्धि की प्रारंभिक अवस्था है, जिसमें तों का केवल संचय होता है और प्रकोप दूसरी अवस्था जिसमें दोषों का विलयन होकर स्थानांतर करने स्थिति उत्पन्न होती है—त्रयो वृत्तिः रजधान्ये चोपस्थानांगानात् । (वाग्भट) । ३० इति चक्षुःशून्यः । विलयनरूपा वृत्तिः त्रयोः । (बृहत्संह) । चयावस्था में रोग के दोष रसाय लक्षण ही दिखाई देते । परन्तु प्रकोपावस्था में चात्तादि दोषों के लक्षण रसाय लक्षण और रोग का प्रारंभ होता है—लिंगाना नि रवेपामस्वस्वरा रोगनभवः । (वाग्भट) । यह प्रकोप का समय चिकित्सा करने के लिये दूसरा काल है अर्थात् यदि चयावस्था दोषों का प्रगसन नहीं किया गया हो तो प्रकोपावस्था में रना चाहिये ।

अत ऊर्ध्वं प्रसरं चक्षुःशून्यः—तेषामभिः सतः चक्षुःशून्यैः प्रकुपितानां पर्युपितकिण्वोदकपिष्टसमवायत्वोद्विक्तानां प्रसरो भवति । तेषां वायुर्गतिमत्त्वात् प्रसरणहेतुः सत्यप्यचैनन्ये । स हि रजोभूयिष्ठः रजश्च प्रवर्तकं सर्वभावानाम् । यथा—महानुदकसंचयोऽतिवृद्धः सेतुमवदार्यापरेणोदकेन व्यामिश्रः सर्वतः प्रधावति, एवं दोषाः कदाचिदेकशो द्विशः समस्ताः शोणितसहिता वाऽनेकधा प्रसरन्ति । तद्यथा—वातः, पित्तं, श्लेष्मा, शोणितं, वातपित्ते, वातश्लेष्मारौ, पित्तश्लेष्मारौ, वातशोणिते, पित्तशोणिते, श्लेष्मशोणिते, वातपित्तशोणितानि, वातश्लेष्मशोणितानि, पित्तश्लेष्मशोणितानि, वातपित्तकफाः, वातपित्तकफशोणितानि; इत्येवं पञ्चदशधा प्रसरन्ति ॥२७॥

यहाँ से आगे दोषों का प्रसर वर्णन करते हैं । जैसे—सुरावीज, जल और पिष्ट मिलके रात भर रहने से उनमें उफान पैदा होता है (और वे पात्र के बाहर निकल आते हैं) जैसे (बलवद्विग्रहादि) विशेष कारणों से प्रकुपित दोषों में (कुछ काल के बाद) उद्रेक उत्पन्न होकर प्रसर होता है । चक्षुःशून्य दोष अचेतन्य हैं तथापि वायु गतिमान होने से इनके प्रसरण का कारण होता है । रजोगुण सर्वभावों का प्रवर्तक है और वायु रजोगुणप्रधान है । जैसे जल का भारी संचय और अधिक बढ़न ये सेतु को तोड़कर दूसरे जलों में मिलकर सर्वत्र फैलता है, इसी भाँति दोष भी (बहुत बढ़ने से अपने स्थान की मर्यादा का उल्लंघन कर) कभी अकेले, कभी दो मिलकर, कभी तीनों मिलकर, कभी रक्त को भी साथ लेकर अनेक प्रकार से प्रसरित होते हैं । जैसे—१ वात, २ पित्त, ३ कफ, ४ शोणित, ५ वातपित्त, ६ वातकफ, ७ पित्तकफ, ८ वातशोणित, ९ पित्तशोणित,

१० कफशोणित, ११ वातपित्तशोणित, १२ वातकफशोणित, १३ पित्तकफशोणित, १४ वातपित्तकफ, १५ वातपित्तकफशोणित । इस भाँति पन्द्रह प्रकार से प्रसरित होते हैं ॥२७॥

चक्षुःशून्य—आतल—इसका मूल अर्थ भीति, रोग या क्लेश जीवन है—'आतलः क्लेशजीवने' । परंतु यहाँ 'रुज' समय जीवन यानि रोग का कारण समझना चाहिये—'कार्यकारणभेदात्' । पर्युपितकिण्वोदकपिष्टसमवाय रज—किण्व को सुरावीज या रमीर कहते हैं । श्लेष्मी में इसको गण्ट (Yeast) कहते हैं । यह एक ननरपतिश्रणी का (Bacillus) जीवाणु है । यह एक गोल का रना दृशा और आकार में गोल, दीर्घवृत्त या लंबा होता है । इनका एक प्रकार जिसका साक्ष्यारोमाईस (Saccharomyce) कहते हैं, पिष्टसम पदार्थों में और शर्करा में अभिर्षण (Fermentation) उत्पन्न करके श्वित भिन्न प्रकार के रस बनाता है । अतः इस प्रकार के किण्व का उपयोग भ्रष्ट की उत्पत्ति करने में बहुत किया जाता है । कुछ सुरावीज स्वचा में रोग उत्पन्न करते हैं । इसका नाम 'ब्लास्टोमाइकोसीस' (Blastomyces) है । क्वचित् ये कैंसर साकोमा जैसे कुछ अर्बुदों में भी पाये जाते हैं । इसलिये कुछ शास्त्रज्ञ इनको कुछ अर्बुदों का कारण भी मानते हैं । जैसे सुरावीज पिष्ट और जल मिलाकर एक पात्र में कुछ काल तक रखने से आपसे आप अपने ही स्वभाव से पात्र के बाहर आने लगते हैं, वैसे दोष प्रकुपित अवस्था में अपने स्थान में कुछ काल तक रहने के पश्चात् स्थान के बाहर अपने आप फैलने लगते हैं । वायुर्गतिमत्त्वात्—वायु गतिमान है और अन्य दोष पंगु हैं । इसलिये उनका स्थानांतर वायु के बिना कभी नहीं हो सकता—स्वातन्त्र्याश्रित्यभावाच्च सर्वगत्वात्तथैव च । अन्वित्यवीर्यो दोषाणां नेता रोगममूहराट् ॥ (सुश्रुत) । विशुत्वादाशुकारित्वाद्बलित्वादन्यकोपनात् । स्वातन्त्र्याद्दहुरीगत्वाद्दोषाणा प्रबलोऽनिलः ॥ (वाग्भट) । पित्तपशुः कफः पशुः पशवो मलगतवः । वायुना चत्र नीयन्ते तत्र वर्पन्ति मेघवत् ॥ (शास्त्रधर) । वातपित्तकफा देहे सर्वश्रोतोऽनुसारिणः । वायुरेव हि सधमत्वाद् दयोस्त्रान्प्युदीरणः ॥ (चरक) । रजोभूयिष्ठः—रजोगुणप्रधान—तिर्यङ्गो दिगुणश्चैव रजोबहुल एव च । (सुश्रुत) । रजश्च प्रवर्तकम्—सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणों में प्रवर्तन का कार्य केवल रजोगुण करता है—सत्त्व लघुप्रकाशकमिष्टमुपधम्भक च ल च रजः । गुरुवरणकमेव तमःप्रदीपकचार्थतो वृत्तिः ॥ प्रीत्यप्रीतिविपादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिःनियमार्थाः । अन्योन्याभिभववाश्रयजननमिधुनवृत्तयश्च गुणाः ॥ (सांख्यकारिका) । रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णामगममुद्भवम् । तन्निरभाति कौन्तेय कर्मसंगेन देखिनम् ॥ (गीता) । अष्टांगसंग्रह में भी लिखा है—मत्त्वबहुलम् आकाश, रजोबहुलो वायुः । तेषामप्रतिघातश्चलत्व . क्रमाहिंगानि ॥

कृत्स्नेऽर्धेऽवयवे वाऽपि यत्राङ्गे कुपितो भृशम् । दोषो विकारं नभसि मेषवत्तत्र वर्पति ॥२८॥ नात्यर्थं कुपितश्चापि लीनो मार्गेषु तिष्ठति । निष्प्रत्यनीकः कालेन हेतुभासाद्य कुप्यति ॥२९॥ जिस भाँति आकाश में जहाँ बादल होता है वहाँ ही वर्षा होती है, उसी भाँति शरीरांग के संसृष्ट, आधे अथवा एक हिस्से में जहाँ अत्यंत कुपित दोष फैलते हैं, वहाँ ही

विकार करते हैं ॥२८॥ परन्तु जो दोष अत्यन्त कुपित नहीं हैं, उनकी यदि चिकित्सा न की जाय तो शरीर के श्वेत में ये दृक्की मारके स्थित होते हैं और कालान्तर में अपने प्रकोपक कारण को प्राप्त करके फिर कुपित हो जाते हैं ॥२९॥

यत्कठ्य—अथ—गिर, मध्य, बाहु और जघा । दाह—
 नरा कुपितो दोषो यथा 'प्रमार्श' इति शेष । शीत—अधिक कुपित
 न हुआ दोष अर्थात् हीनगनिक दोष रोगोपादन में समर्थ
 नहीं होता । तथा चिकित्सा के बिना वह दोष मम भी नहीं
 हो सकता है । ऐसी अवस्था में (निष्प्रतिजिम्) यह दाह कुपित
 परन्तु रोग उत्पन्न करने में अममर्थ हुआ शरीर के एक आधे
 छोटस में दृक्की मारके (शीत) स्थित होता है और अविद्य
 कारण में सहायक कारण मिलने से पूर्णतया प्रकुपित होकर
 विकार उत्पन्न कर सकता है । अर्थात् इस समय अल्प हेतु में
 भी पूर्ण प्रकुपित होकर प्रबल विकार उत्पन्न कर सकता है ।
 वाग्मट में निम्ना है—**गन्धपाद्य विज्वरन् भूयो देवुपरीक्षित ।**
 ने पाहादिबन ह्यन्वा कुपयन्मात्रेपधि ॥

तत्र घापोः पित्तस्थानगतस्य पित्तयन् प्रतीकारः,
 पित्तस्य च कफस्थानगतस्य कफयत्, कफस्य च
 पातस्थानगतस्य घालयत् । एष क्रियात्रिभागः ॥३०॥

उनमें से पित्त के स्थान में पहुँचे हुए वायु की चिकित्सा
 पित्त की भाँति करनी चाहिये । कफ के स्थान में पहुँचे हुए
 पित्त की चिकित्सा कफ की भाँति करनी चाहिये । वायु के
 स्थान में प्राप्त हुए कफ की चिकित्सा वायु की भाँति करनी
 चाहिये । इस प्रकार से (अन्य स्थान में प्राप्त हुए) दोषों
 की चिकित्सा होती है ॥३०॥

यत्कठ्य—अथ स्थानगत रोगों की चिकित्सा तीन
 प्रकार से होती है । इनमें से पहले प्रकार की चिकित्सा पदार्थ
 बर्धन की है । इन चिकित्सा का लक्ष यह है कि जब एक दोष
 (आग्नि) दूसरे के स्थान में प्राप्त होता है, तब उस स्थान
 के दोष (स्थानिदोष) की चिकित्सा करनी चाहिये । वाग्मट
 में यह बतलाया है कि यदि प्राण गु दोष विवर्त हो तो
 स्थानिक दोष की चिकित्सा करनी चाहिये—**अत्राप्यत्राप्येव
 तन्निवृत्तयेव च । इति चिकित्सा ॥ इत्यत्र प्रकृति यत् है कि
 आग्न्यु दोष बलवान् हो तो उसकी चिकित्सा प्रथम करनी
 चाहिये—**यत् चिकित्सा इति शेष । अत्राप्यत्राप्येव च ।** तीसरी
 पदवि यह है कि प्रथम स्थानिदोष की चिकित्सा कर
 बन्ना प्रथम दोष की भी चिकित्सा करनी चाहिये—**अथ च
 पूर्णं तु च अत्राप्यत्राप्येव च । अत्राप्यत्राप्येव च । अत्राप्यत्राप्येव च ।**
 वाग्मट । आर्य में स्थानिदोष दोषों की विशेष
 चिकित्सा के विषे सूचीय पदवि की प्रतीक्षा किया है—
अत्राप्यत्राप्येव च । अत्राप्यत्राप्येव च । अत्राप्यत्राप्येव च ।
 सूचिदेव च ॥**

एवं प्रकुपितानां प्रारम्भार्त्तं च घापोः प्रारम्भमना
 दोषी, शोषयोगार्त्तं दाहोपायनानि पित्तमध्य, शरीर
 पक्वादिनाहमारोपित्तिभ्यो चोपमान्ने निष्प्रादि
 भवति; तत्र सूचीय विवाकाटः ॥३१॥

इस प्रकार प्रकुपित और फैलने वाले (दोषों में) विम
 गमन और बफारा वायु के लक्षण हैं; गरमी, पसले की
 पीडा, दाह और धूम की सी प्रकार पित्त के लक्षण हैं; ५
 अरुचि, अपरिपाक, थकावट और घमन ये कफ के लक्षण ।
 यह चिकित्सा का तीसरा समय है ॥२१॥

यत्कठ्य—विमर्शगमनम—अथवा स्वाभाविक मार्ग से
 कर अन्य मार्ग में प्रवेश करना । शोथ—पेट में वेदना
 साथ गुग्गुलु गन्ध होता—भाटग गुग्गुलुभाटग सेवे ५
 मभव । अंग्रेजी में इसको 'बोर्बोरिगमन' (Borborygmi-
 कहते हैं । मभव प्रगत और मभव की अवस्थानों में से
 तुलना—सद्य की अवस्था में दाह ठोस पूर के समान हो
 हैं । प्रकोप की अवस्था में उष्णता से उत्पन्नविदु त
 पहुँचे हुए पहले घन के समान होते हैं । प्रसर की अवस्था
 में उष्णत हुए पूर (जिम् में से फेन बुद्बुद् और टीट्ट ह
 उधर उठ रही हैं) के समान होते हैं । इन तीनों अवस्थाओं
 चिकित्सा हेतुविपरीत होती है ।

अत ऊर्ध्वं स्थानसंश्रयं वषयाम् । एवं प्रकुपिता
 नांस्तान् शरीरप्रदेसानामग्नय तांस्तान् ध्याधीन्
 जनयन्ति । ते यदोदरसन्निवेशं कुर्वन्ति तदा शुन्म
 विद्मभ्युद्रासितज्ञानाहयिम्बिकातिमारप्रभृतीन्
 जनयन्ति; यस्त्रिगताः प्रमेहाश्मरीमूत्राघातमूर्त्र-
 दोषप्रभृतीन्; गृण्यगता गुर्मी; मेदुगता निरु-
 प्रकशोपपंशयकदोषप्रभृतीन्; शुद्गता भगन्दरादीः
 प्रभृतीन्; ऊर्ध्वजगतास्वर्ध्रजान्; त्वह्नांश्च
 शोणितस्थाः शुद्रोगान् पुष्टानि विनपीधः
 मेदोगता ग्रन्थयपत्तुमुद्गतागण्डालजीमभृतीन्;
 भस्त्रिगता विद्मभ्यनुशारीप्रभृतीन्; पाद्गताः
 त्रीरस्थानमोजिनयातकण्टकप्रभृतीन्; सर्वाङ्गता
 ज्वरभ्रान्द्रोगप्रभृतीन्; तेषामिधमनिनिविष्टार्त्त
 पूर्णरूपमाहुर्घापोः; तै प्रतिगोमं वषयामः । तत्र
 पूर्णरूपगतेषु चतुर्धः त्रियाकाटः ॥३२॥

एवं इत्यने मार्ग स्थानमध्य बर्धन करने हैं । इन लक्षण
 प्रकृति हुए शरीर के भिन्न भिन्न स्थानों में प्रवेश का
 भिन्न भिन्न रोग उत्पन्न करते हैं । जब ये उत्पन्नाना में
 स्थित होते हैं तब गुग्गु, विद्रधि, उरु, महागि की मरुत्,
 भाटग, विमर्शक, अतिवारा इत्यादि रोग उत्पन्न करते हैं ।
 अतिवारा में स्थित होने से प्रमेह, अश्मरी, गुग्गुलु,
 अथ शुद्गता इत्यादि रोग उत्पन्न करते हैं । बुद्बुद में स्थित
 होने पर (गर्भित) बुद्बुद उत्पन्न करते हैं । शोथ में स्थित
 होने पर शिथिलवक्त्र, ज्वर, शुक्लपुष्प इत्यादि रोग उत्पन्न
 करते हैं । गुग्गु में स्थित होने से आग्नि अथ इत्यादि रोग
 उत्पन्न करते हैं । जन्तु के प्रकार विभाग में स्थित होने से
 ऊर्ध्वजग रोग उत्पन्न करते हैं । त्वह्ना, शोथ और शोणित में
 स्थित होने से शुद्गता बुद्बुद और शोणित उत्पन्न करते हैं । इदं

स्थित होने से ग्रंथि, अपचयी, अर्बुद, गलगण्ड, अलजी आदि रोग उत्पन्न करते हैं । अस्थि में स्थित होने से विद्रधि, श्वयी इत्यादि रोग उत्पन्न करते हैं । पाद में स्थित होने लीपद, वातरक्त, वातकण्ठक इत्यादि रोग उत्पन्न करते हैं । ऋग में फैलने से ज्वर सर्वांगरोग इत्यादि रोग उत्पन्न होते इस प्रकार (उदरादि भिन्न भिन्न स्थानों में) निविष्ट, हुण, तौ से (गुल्मादि व्याधियों का) पूर्वरूप (भ्रंश्रय की अवस्था) उत्पन्न होता है । उसका वर्णन प्रत्येक व्याधि के समय में । रोगों के पूर्वरूप के समय चौथा चिकित्सा काल ता है ॥३२॥

वक्तव्य—स्थानसंश्रय—कुपित दोषों का प्रसार शरीर में गायत्री द्वारा होता है और जहाँ कुछ वैगुण्य होता है, वहाँ प स्थित होकर रोग उत्पन्न करते हैं, यह स्थानसंश्रय है—तेरोगमिति ह्यद्वा रोगाधिष्ठानगामिनीः । स्नायनीः प्रपचाशु दोषा ये कुर्वते ॥ (वाग्भट) । न्यानेन रसपातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा । अप्त सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा ॥ क्षिप्यमाणस्तु वैगुण्याद्रसः जति यत्र सः । तरिमन् विकार कुन्ते वे वर्षमिव तोयदः । दोषाणामपि वं स्वादेकदेशप्रकोपणम् ॥ (चरक) । कुपितानां हि दोषाणां शरीरं रिभावताम् । यत्र संनः ख्वैगुण्याद्वाधिस्तत्रोपजायते ॥ (सुश्रुत) । दिः—वातपित्तकफशीणितमेद्रामूत्रान्ननिमित्ताः सप्त वृद्धयः ॥

तेरुदप्रकश—यह एक शिशु की प्रायः स्वाभाविक निवृत्ति होती है, जिसमें शिशु के ऊपर के चर्म का छिद्र इतना छोटा ही जाता है कि उस छेद में से मणि याहर नहीं आ सकता । इसको अंग्रेजी में 'फायमोसिस' (Phimosi) कहते हैं । ऊर्ध्वजान्—शीर्ष, नासा, अक्षि, गिर इनके रोगों को । क्षुद्ररोग—यह रोग वा एक समुदाय है जिसमें अजगल्लिकादि चौवालीस प्रकीर्ण छोटें मोटे रोगों का समावेश (निदान अ. १३) किया गया है । अपचयी—कण्डमाला । इसको अंग्रेजी में स्कोफ्यूला (Scrofula) कहते हैं । अनुशयी—क्षुद्ररोगान्तर्गत एक रोग । शीघ्र—भीलपाच (Elephantiasis) । वातशीणित—वात रक्त, नकरस (Gout) । पूर्वरूपम्—व्याधि उत्पन्न होने के पूर्व होने वाले व्याधि के सूक्ष्म दोषज या अदोषज, सामान्य या विशेष जो लक्षण दिखाई देते हैं, उनको पूर्वरूप कहते हैं । पूर्वरूप नाम प्रागुत्पत्तिलक्षणं व्याधिः । (चरक) । इस सूत्र के व्याख्यान में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—उत्पत्तेः प्राक् प्रागुत्पत्ति, पत्तेन उत्पत्तेः पूर्वं यद् भविष्यद्व्याधेरलक्षणं तत्पूर्वरूपमित्यर्थः । प्रायः यह पूर्वरूप कुपितदोष विगिष्टस्थान में संश्रित होने के ही समय उत्पन्न होते हैं—स्थानसंश्रयिणः क्रुद्धा भाविव्याधिप्रबोधकम् । दोषाः कुर्वन्ति यद्द्विगं पूर्वरूपं तदुच्यते ॥ अंग्रेजी में पूर्वरूप को प्रोड्रोम (या प्रीमोनिटरी सिम्पटन (Prodrome Premonitory Symptom) कहते हैं । क्रियाकाल—इस अवस्था में दोष स्थानाश्रित होने के कारण चिकित्सा प्रकुपित दोष तथा स्थान (दोष) दोनों की भी करनी चाहिये ।

अत ऊर्ध्वं व्यापेर्दर्शनं वदयामः—शोफार्बुदग्रन्थि-विद्रधिविसर्पप्रभृतीनां प्रव्यक्तलक्षणता ज्वराती-सारप्रभृतीनां च । तत्र पञ्चमः क्रियाकालः ॥३३॥

अब इसके आगे व्याधियों का दर्शन कहते हैं । शोफ, अर्बुद, ग्रंथि, विद्रधि, विसर्प इत्यादि तथा ज्वर, अतिसार

आदि रोगों के लक्षण स्पष्ट रूप से प्रकट होना (यही व्याधि दर्शन या व्यक्ति है) । यही व्यवहारस्था चिकित्सा का पाँचवाँ काल है ॥३३॥

वक्तव्य—व्यापेर्दर्शनम्—जिस अवस्था में प्रत्येक व्याधि के खास खास लक्षण उत्पन्न होकर व्याधि की जाति निश्चित हो जाती है, उस अवस्था को व्याधिदर्शनकाल या व्यक्तिकाल कहते हैं । यथा—ज्वर का संताप, अतिसार का मलतिसरण, उदर का पेट फूलना, कामला का त्वचा पीली होना, विसृचिका का उदर में तीव्र वेदना होना इत्यादि । इस अवस्था में व्याधि की चिकित्सा करनी चाहिये ।

अत ऊर्ध्वमेतेषामवदीर्णानां व्रणभावमापन्नानां पद्यः क्रियाकालः, ज्वरातिसारप्रभृतीनां च दीर्घ-कालानुबन्धः । तत्राप्रनिक्रियमाणेऽसाध्यतासुप-यान्ति ॥३४॥

इससे आगे जब ये शोथादि विदीर्ण होकर व्रण भाव को प्राप्त होते हैं, तब छठा चिकित्सा का काल होता है । ज्वर, अतिसार आदि रोगों में बहुत काल व्यतीत होने पर छठा क्रिया काल होता है । इस समय प्रतिकार न करने से वे रोग असाध्य हो जाते हैं ॥३४॥

वक्तव्य—इस सूत्र में चिकित्सा की दृष्टि से अन्तिम अवस्था का वर्णन किया है । इसको भेदावस्था कहते हैं । कारण यह है कि इस अवस्था में शोथयुक्त रोगों में प्रधान-तया दोष त्वचा का भेद करके बाहर निकल आते हैं और व्रण उत्पन्न होते हैं । ज्वरादिक सर्वांग रोग, जहाँ इस प्रकार का भेद होगा असंभव है, दीर्घकालानुबन्धी हो जाते हैं । परन्तु यह दीर्घकालानुबन्ध प्रत्येक रोग में असंभव है । अतः सर्वांगरोगों के संबंध में यह समझना अधिक प्रशस्त है कि जैसे व्यक्ता-वस्था में व्याधि की जाति का स्पष्ट बोध होता है वैसे भेदा-वस्था में लक्षणों के अनुसार वातिक, पैत्तिक, सान्निपातिक इत्यादि भेद स्पष्ट हो जाते हैं । मूलग्रंथ से इस प्रकार का अर्थ नहीं होता है । परन्तु कायचिकित्सा में भी संचयादिक अवस्थाओं का उपयोग करने की दृष्टि से भेदावस्था का उपयुक्त अर्थ करना अयोग्य नहीं है । इस भेदावस्था में यदि प्रतिक्रिया न हो तो रोग दीर्घकालानुबन्धी (Chronic) या असाध्य हो जाते हैं ।

भवन्ति चात्र—

संचयं च प्रकोपं च प्रसरं स्थानसंश्रयम् ।

व्यक्तिं भेदं च यो वेत्ति दोषाणां स भवेद्भियक् ॥३५॥

दोषों के संचय, प्रकोप, प्रसर, स्थानसंश्रय, व्यक्ति और भेद इन अवस्थाओं को जो जानता है, वही (वास्तव में) वैद्य हो सकता है ॥३५॥

वक्तव्य—संचयादि छः अवस्थाएँ विकृतिनिर्दर्शक हैं । क्योंकि 'विकारो धातुवैषम्य' है और वैषम्य संचयावस्था से ही प्रारंभ होता है । परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इन अवस्थाओं के दो विभाग होते हैं । पहले विभाग को 'अप्रकट काल' कह सकते हैं जिसमें संचय, प्रकोप और प्रसर का समावेश होता है । इस काल में यद्यपि मनुष्यशरीर के भीतर रोगोत्पत्ति का

कृत् ॥ नासुध कण्ठेऽवश्य यात्वहस्तु ततः क्षये । ज्वराशितारयो-
 दिप दोषज्वं क्रमः ॥ (५) कफपित्तानिघ्नान्ये क्रमाद्वाहस्तथोरपि ।
 दामाशयोद्वेशात् भृथिष्ठं तत्सुन्दरः ॥ (सूत्र. अ. २१) ।
 में संग्रहकार लिखते हैं कि ग्रंथे की भांति क्रम के अनुसार
 की चिकित्सा न कर । रोगी को अच्छी तरह से देखकर
 ही प्रकृति के अनुसार उपयुक्त क्रमों में से जो योग्य प्रतीत
 उस क्रम का उपयोग करना चाहिये, जिससे व्याधि का
 ऽस हो जाय—विनाय कर्मणिः रथैः रथदोषोद्वेगं यथावलम् ।
 नं योर्ज्येष्ठान् तन्त्री कुर्यान्नुत् क्रमम् ॥ प्रयोगः शमयेदसाधि योन्यमन्यु-
 येत् । नासौ विशुद्धः शुद्धस्तु शमयेथो न कोपयेत् ॥

प्राप्ति यस्मात् रूढेऽपि प्रणवस्तु न नश्यति ।
 गदेहधारणात्तस्माद्ग्राह्य इत्युच्यते बुधैः ॥३९॥

इति सुश्रुतसंहितायां चरकधनेन ग्रणप्रधीयो
 नामैकविंशोऽध्यायः ॥२१॥

वह भर जाने पर भी अपने स्थान को आच्छादन करता
 और उसका चिह्न यावज्जीव नाश नहीं होता । इसलिये
 में से वह ग्रण कहलाता है ॥३९॥

वक्तव्य—इस श्लोक में विदीर्णा हुए शरीर एकदंयो-
 त दोषसंवात को ग्रण क्यों कहते हैं उसका निरुक्ति के
 उसार दो कारण दिये हैं । तीसरा कारण चिकित्सास्थान
 प्रथम अध्याय में दिया है—ग्रण गात्रविचूर्णने, ग्रणयतीति ग्रणः ।
 वस्तु—ग्रण होने के स्थान—त्वदमःमंसिरासायस्थिसधि-
 धमर्माणीत्यष्टौ ग्रणवस्तुनि । किंवा ग्रणवस्तु का अर्थ ग्रणचिह्न
 । ग्रणकिण भी हो सकता है । ग्रणवस्तु को अंग्रेजी में
 'सेक्युट्रिक्स' या 'स्कार' (Cicatrix or Scar) कहते हैं ।
 ग—आरान्तु या निज कारणों से स्थानिक शरीरपरमाणुओं
 का नाश होकर त्वचा या श्लैष्मिक त्वचा के पृष्ठ पर जो खुला
 आ घाव बन जाता है, उसको ग्रण कहते हैं । अंग्रेजी में
 या को 'अलसर' (Ulcer) कहते हैं । ऊपर ग्रण की जाँ
 तीन विशेषताएँ बतलाई हैं, उनकी यथार्थता मालूम होने के
 लिये नष्ट-हुए शरीरपरमाणुओं की पूर्ति कैसी होती है, उसका
 वैचरण नीचे किया जाता है । यदि नष्ट हुए शरीरपरमाणुओं
 का स्थान में उसी जाति के परमाणु फिर बन जायेंगे तो ग्रण
 का पूर्ण रोपण हो जाने के पश्चात् उसका लांछन यावज्जीव
 दिखाई देने का कोई कारण नहीं है । परंतु रोपण के समय
 ऐसा नहीं होता । मनुष्य का शरीर अनन्त परमाणुओं का
 बना हुआ है । ये परमाणु यानि सेल (Cell) अनेक जाति
 के होते हैं । एक जाति के सेलों का संघात 'धातु' (Tissue)
 कहलाता है । प्रत्येक जाति के सेलों में अपनी ही जाति के
 सेल उत्पन्न करने की यानि पुनर्जनन (Regeneration) की
 शक्ति एक ही नहीं होती । यथा—धारीदार मांस (Striped
 Muscle), अस्थि, कण्डरा (Tendon), वातनाडी
 (Nerves) और कतिपय ग्रंथियाँ इनके सेलों में पुनर्जनन
 की शक्ति होती है । त्वचा और उपत्वचा (Subcutaneous
 tissue) के सेलों में अल्प होती है और सुषुम्ना के सेलों में
 नहीं होती । ग्रण, प्रायः बाह्यत्वचा में होता है परंतु त्वचा
 के सेलों में पुनर्जनन की शक्ति न होने के कारण नष्ट हुए सेलों
 के स्थान पर जो ग्रणवस्तु बनती है वह अन्य प्रकार के

से उत्पन्न होती है । उसका परिणाम यह होता है कि घाव
 का स्थान ग्रणसूत्रसन्निभ तंतुनिर्मित (Fibrous) धातु से
 आच्छादित होता (वृणोति) है । नवीनायस्या में इस
 धातु में रक्तवाहिनियाँ होती हैं परंतु धीरे धीरे तंतुओं का
 बाहुल्य होकर रक्तवाहिनियाँ नष्ट हो जाती हैं, जिससे यह
 धातु चारों ओर की त्वचा की अपेक्षा श्वेतवर्णी (गात्रविचूर्णने)
 हो जाता है । इस धातु में रसायनियाँ, नादियों के अन्न,
 रंसकूप, स्वेदग्रंथियाँ, नैल्यग्रंथियाँ भी नहीं होती । यदि वृणोष्ठ
 का मीलन ठीक हुआ हो तो वह धातु बहुत ही थोड़ी बनती
 है, जो समागने से जलदी नहीं आती । परंतु यदि अधिक
 स्थान का नाश हुआ हो तो वृणित हुआ सब आम केवल इतनी
 धातु से आच्छादित होता है और ग्रण का चिह्न यावज्जीव
 नष्ट नहीं होता ।

इति भास्करशर्मणा गोविन्दारमणेन विरचितायामानुवंदरस्यदीपिकायां
 सुश्रुतभाषाटीकायां ग्रणप्रधीयो नामैकविंशोऽध्यायः ॥२१॥

द्वाविंशतितमोऽध्यायः ।

अथातो द्रणास्त्रायचितानीयमध्यायं व्याख्या-
 स्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से द्रणास्त्रायचितानीय अध्याय का व्याख्यान
 करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

त्वज्जांसिरास्त्राव्यस्थिसन्धिकोष्ठमर्साणीत्यष्टौ
 ग्रणवस्तुनि । अत्र सर्वद्रणसन्निवेशः ॥२॥

त्वचा, मांस, सिरा, कान्तु, अस्थि, सन्धि, कोष्ठ और
 मर्सा ये द्रण के आठ अधिष्ठान हैं । इन्हीं में सर्व प्रकार के
 द्रण स्थित होते हैं ॥२॥

वक्तव्य—कोष्ठ—स्थानान्नामाधिपकानां मूत्रस्य रथिरस्य च ।
 हृदण्डुकः फुफुसस्य कोष्ठ इत्यभिधीयते ॥ ग्रणवस्तु—द्रणोपादान-
 भूतवस्तु, द्रण के अधिष्ठान । चरक में संधि के स्थान में मेद
 दिया है—त्वक्शिरामांसमेदोऽस्थिरसायुगमान्तराश्रयाः । (चिकि-
 त्सा अ. २५) ।

तत्र, आद्यैकवस्तुसन्निवेशी त्वग्मेदी द्रणः सूफ-
 चरः, शेषाः स्वयमवहीर्षमाणा दुरुपचाराः ॥३॥

उनमें से आरम्भ के एक ही वस्तु (त्वचा) में प्राप्त होने
 वाले और त्वचा ही को भंग करने वाले द्रण सुखसाध्य
 (सूफचर) होते हैं और शेष (मांसदिसन्निविष्ट) तथा स्वयं
 फट जाने वाले द्रण दुःसाध्य होते हैं ॥३॥

वक्तव्य—स्वयमवहीर्षमाणाः—चैत्र के आलेपनादि उप-
 चार के बिना पके हुए और प्राय के बिना स्वयं फटें हुए ।

तत्रायतश्चतुरस्रो वृत्तास्त्रिपुटक इति द्रणाकृति-
 सप्तान्, शेषास्तु विद्वानाहतयो दुरुपक्रमा
 भवन्ति ॥४॥

उनमें से दीर्घ, चतुष्कोण, गोल और त्रिकोण ये (सुख-
 साध्य) द्रण के आकार हैं । इनके अतिरिक्त विद्वान आकार के
 द्रण दुःसाध्य होते हैं ॥४॥

सर्व एव वग्नाः क्षिप्रं संगोहन्त्यात्मवतां
 सुभिपग्भिश्चोपक्रान्ताः, अनात्मवतामद्वैश्वोपक्रान्ताः
 प्रदुष्यन्ति, प्रवृद्धत्वाच्च दोषाणाम् ॥५॥

यद्योक्तं पथ्यकर आहार-विहार करने वालों (आत्मवता) के
 और उत्तम वैधों से चिकित्सा किये हुए सभी वण ग्रीध ही
 भर जाते हैं । अपथ्यकर आहार विहार सेवन करने वालों के
 तथा कुंघों से चिकित्सा किये हुए वण दोषों की वृद्धि हो
 जाने से दूषित हो जाते हैं ॥५॥

वक्तव्य—सुभिषग्—जिसको वणसाव, वणदूषण और
 वणोपचार का उत्तम ज्ञान है । प्रदुष्यन्ति—दूषित हो जाते हैं ।
 दूषित का अर्थ नवीन कपना के अनुसार 'सेप्टिक' (Septic)
 यानि पूषोपादक जीवाणुदूषित करना अधिक प्रयत्न है ।
 जो वण सेप्टिक नहीं होता, वह जलदी भर जाता है । यह
 अनुभवविद् है । इन जीवाणुओं का प्रवेश होने से आगे
 सूत्र में वर्णित किये हुए प्राय सभी रक्षण उपपन्न होते हैं ।
 इनका प्रवेश न होने से प्रत्येक वण अपने नियत समय में
 तथा अपने स्वाभाविक क्रम में ग्रीध ही भर जाता है ।
 इस क्रम का वर्णन भागे २३ वें अध्याय के १९ वें श्लोक
 की दिव्यशी में किया गया है । यदि वण की दुष्टि न हो तो
 वह प्रथम अवस्था से दूसरी में, दूसरी से तीसरी में अपने
 स्वाभाविक क्रम से चलकर भर जाता है ।

तत्रातिसंचृतोऽतिविद्यृतोऽतिकटिनोऽतिमृदुः
 त्सघ्नोऽवसघ्नोऽतिशीतोऽत्युष्णः कृष्णरक्तपीत-
 शुक्लादीनां वर्णानामन्यतमवर्णो भैरवः पूतिपूयमांस-
 सिराम्नायुप्रभृतिभिः पूयैः पूतिपूयास्त्रान्युन्माग्यु-
 त्सङ्गमनोश्चदशनगन्धोऽत्यर्थं वेदनावान् दाहपाक-
 रागकण्डूशोफपिडकोपद्रुतोऽत्यर्थं दुष्टशोणिता-
 स्त्रावी क्षीर्षकालानुबन्धी चेति दुष्टप्रणलिङ्गानि ।
 तस्य दोषोच्छ्रायेण पदद्वं विभज्य यथास्वं प्रतीकारे
 प्रयतेत ॥६॥

अति छोटा मुख, अति चौड़ा मुख, अति कठिन, अति मृदु,
 उन्नत मांस, मांसहीन, अति ठंडा, अति गरम, काला लाल
 पीला संकेद इनमें से एक रंग का, अनिश्चित रक्षण युक्त,
 दुर्गंध युक्त पूय, माम, सिरा, स्त्रायु आदि से पूय, दुर्गंध युक्त
 पूय बहता हुआ, ऊर्ध्वमुख, ऊर्ध्वगामी, देखने में भीरु गंध में
 खराब, अतिदैनानुबन्धी, जलन, पाक, सुरसी, कण्डूशोथ,
 पिडका इनसे स्फुल्ल, अत्यंत दुष्ट रक्त का स्वाव करने वाला
 और चिकित्सीय ये दुष्ट वण के लक्षण हैं । दोषाधिक्य के
 अनुसार छ भेद करके उनकी यथोचित चिकित्सा करने का
 प्रयत्न करना चाहिये ॥६॥

वक्तव्य—उन्नत—मांस अधिक बढ़ने के कारण उभरा
 हुआ । भवयत्—मांस का भाग होने के कारण भीतर धँसा
 हुआ । अन्यथ—उन्मत्त युक्त, कंडरवात् । भैरव—अनपचा-
 रितमित्य । दोषोच्छ्रायेण—शोषकावयेन । वदन्वत्—वदितकर
 रक्तविरागमशुभमेव ।

अत ऊर्ध्वं सर्वज्ञानान् यक्ष्यामः—तत्र घृष्टा
 लिप्तासु वा त्यश्चु स्फोटेषु भिन्नेषु विदारितेषु
 मलिलप्रकाशो भवत्याद्यावः किंचिद्विन्नः पीतात्
 भासंश्च; मांसगतः सर्पिःप्रकाशः सान्द्रः श्वेत
 पिच्छिलश्च; सिरागतः सयश्चिन्नासु सिरा
 रक्तातिप्रवृत्तिः पक्कासु च तोयनाडीभिरिव तोयान
 मर्न पूयस्य, आद्यावश्चात्र तनुविच्छिन्नः पिच्छि
 लोऽचलमयी श्यावोऽवश्यायप्रतिमश्च; स्त्रायुगत
 क्षिग्धो घनः सिंघाणकप्रतिमः सरक्तश्च; अस्थि
 तोऽस्थन्यभिहते स्फुरिते भिन्ने दोषावदारिते च
 दोषमक्षितत्वादस्थि निःसारं शुक्तिधौतमिवाभति
 आस्त्रावश्चात्र मज्जामिश्रः सरुधिरः क्षिग्धश्च; संधि
 गतः पीड्यमानो न प्रवर्तते, आकुञ्चनप्रसारणे
 क्षमनविनमनप्रधावनोत्कासनप्रधाहणैश्च क्षयति
 आद्यावश्चात्र पिच्छिलोऽचलमयी सफेनपूयकधि
 रोन्मथितश्च; कोष्ठगतोऽसृद्धमूत्रपुरीषपूयोदकादि
 क्षयति; मर्मगतस्त्वगादिष्ववच्छेदत्वात्प्रोच्यते ॥७॥

इसके आगे सधे प्रकार के खाव का वर्णन करने हैं ।
 किसी वा छिली हुई खचा में से तथा रज्य वा खल से फट
 हुई फुसी में से कुछ पानी सा प्राय तथा कुछ दुर्गंधयुक्त
 पीला सा खाव निकलता है । मर्मगत वण से निकलने वाल
 खाव घृत के समान, गाढ़ा, संकेद और रमदार होता है ।
 सिरागत वण से यदि तत्काल मिरा कटी हो तो बहुत सा
 रक्त का खाव होता है । पक हो जाने पर जैसे पानी की नलिका
 में जल बहता है वैसा पूय का सार होता है । यह खाव पतल,
 खडित, रमदार, गाढ़ा, काला आदि के समान होता है ।
 स्त्रायुगत वण का खाव चिकना, गाढ़ा, नासिका से निक
 हुए पीने श्लेष्मा के समान और रक्तयुक्त होता है । इसी
 प्रकार संधि गत वण से निकलने वाला खाव भी हल्की और
 मज्जामिश्रित,

रुधिरयुक्त, चिन्नता प्राय होता है । संधिगत वण से खाव
 दवाने से नहीं खंचता परन्तु अग विकासना, फैलावना, उन्न
 को करना, नीचे की करना, चलना फिरना, और से सांसना,
 धँसना इत्यादि के समय खाव होता है और वह खाव लयदार,
 घायनी के समान तार टूटने वाला और पेन, पूय तथा
 रक्त से आलोडित शैमा होता है । कोष्ठगत वण से रक्त, मूत्र,
 मल, पूय और जल इनका खाव होता है । मर्मगत वण का
 खाव खचादि के मज्जासत्व में ही जाता है । अत उम्का वर
 नहीं कहा जाता है ॥७॥

वक्तव्य—भिन्नयु सिरारिणयु वा—वद भिन्नेषु संकेत विर
 रिणयु । विनाश—नासिकायुक्त पिच्छिल पीत घन कठ ।
 शुक्तिवीर्य—सूर्यव्यवसायात्वात्, पूतिविनो म्मयवन, पीतनुक्तिवीर्य
 त्वेव । (ख) । त्वात्मन—बार बार और से खासनम् ।
 नत्र त्यगादिगतानामास्त्रायाणां यथात्मन पादरज्य
 श्यावावश्यावश्चिमस्तुत्तारोदकमांसधापनपुलायो

१ वेदभक्तिकलाप्रतिपदं । २ दोषोच्छ्रायेणवेद ।

दंक्षत्रिभत्वानि मास्नाद्भवन्तिः पित्ताद्गोमेद-
गोमूत्रमस्नाद्गुणकपायोदकमाध्वीकृतैलसन्निभत्वानि;
पित्तवद्रक्तादितिचिस्त्वं चः कफाद्यवनीतकासीस-
मजापिप्रतिलनारिकेलोदकपराहवसासन्निभत्वानिः
सन्निपातात्रािकेलोदकैर्वाककरसकाशिकप्रसादारु-
कोदकप्रियंगुफल्यकुन्मुद्गयूपसवर्गन्वानीति ॥८॥

पूर्वोक्त जी वर्णों के आठ स्थान कहे हैं. उनमें से मर्म के अतिरिक्त जो शेष सात स्थान हैं उनमें यथाक्रम वात के कारण (त्वचा से) परुष, (मांस से) काले रंग का, (रासु से) दधिमस्तु के समान, (मिरा से) कूडर के समान. (अस्थि से) क्षारीयक के समान, (शंथि से) मान्धावन के समान और (कोष्ठ से) पुलाकोदक के समान स्त्राव होते हैं । पित्त के कारण यथाक्रम गोमेदक, गोमूत्र, शंख, भग्म, कपायोदक, माध्वीक और तैल के समान स्त्राव होते हैं । रक्त के कारण पित्त के समान ही स्त्राव होते हैं । परन्तु उनमें कच्चे मांस के समान दुर्गंध अधिक होती है । कफ के कारण मन्थन, कामीय, मजा, पिष्टी, निल, नारियल जल के समान और शूकर की चरबी के समान यथाक्रम से स्त्राव होते हैं । मन्नि-पात के कारण नारिकेलोदक, ककड़ा का जल, कांजी का स्वच्छ जल, अस्कोदक, प्रियंगुफल, यकृतस्य और मुद्गयूप इनके समान यथाक्रम स्त्राव होते हैं ॥८॥

युक्तद्वय—पुलाकोदकसन्निभ—पेयागदश । पुलाक एक प्रकार का सुच्छ धान्य होता है । गोमेदक—किंचित लाल या पीला मणि । कपायोदक—कपायसरसयुक्त द्रव्यों का कषाथ किंवा केवल कषाथ । माध्वीक—मन्धासव । शंकु—एक प्रकार का वृक्ष है ।

श्लोकौ चात्र भवतः—

पक्षाशयादसाध्यस्तु पुलाकोदकसन्निभः ।
जारोदकनिभः स्रावो वर्ज्यो रक्ताशयात्भवन् ॥९॥
आमाशयात् कलायाम्भोनिभश्च त्रिकसन्धिजः ।
स्रावानेतान् परीक्ष्यादौ ततः कर्माचरोद्भिपक् ॥१०॥

पक्षाण्य से पुलाकोदक के समान स्त्राव असाध्य होता है । रक्ताशय से ज्वर के पानी के समान स्त्राव वर्जित है । आमाशय तथा त्रिकसन्धि से मटर के यूप तुल्य स्त्राव असाध्य होता है । (इमलिये) प्रथम इन स्त्रावों की परीक्षा करके पश्चात् वैद्य इनका उपचार करे ॥९-१०॥

अन ऊर्ध्व सर्ववर्णवेदना वक्ष्यामः—
तोदनभेदनताडनच्छेदनायमनमन्थनचिक्षेपणचुम्-
चुमायननिर्दहनावधजनस्फोटनविदारणोत्पाटन-
कम्पनविचिथशूलविश्लेषणविकिरणपूरणस्तस्यान्-
स्वप्राकुञ्चनाङ्गुशिकाः संभवन्ति, अनिमित्तविचिथ-
वेदनाप्रादुर्भावो वा मुद्गुर्मुद्गुर्भागच्छन्ति वेदना-
विशेषास्तं वातिकमिति विद्यात्; ओषधोपपन्निहाह-
धूमायनानि यत्र गात्रमदागवकीर्णशिव

यत्र चोष्माभिवृद्धिः क्षते क्षारावसिक्तवक्ष्य वेदना-
विशेषास्तं पैत्तिका मिति विद्यात्; पित्तवद्रक्तसमुत्थं
जानीयात्; कण्डूगुरुत्वं सुप्तत्वमुपदेहोऽल्पवेदनत्वं
स्तम्भः शैत्यं च यत्र नं श्लैष्मिकमिति विद्यात्; यत्र
सर्वान्मां वेदनानामुत्पत्तिस्तं सान्निपातिकमिति
विद्यात् ॥११॥

इसके आगे सर्वप्रकार के वर्णों की वेदना को कहते हैं । जहाँ तोदन (गूचीवेधन की पीड़ा), भेदन (त्वक्खिदारण की पीड़ा), ताडन (डंटे से मारने की पीड़ा), छेदन (काटने की पीड़ा), आयमन (मंकुचिन अंग को खींचने से होने वाली पीड़ा), मन्थन (पाणिमन्थन से वर्ण के भीतर मानो मन्थन हो रहा है ऐसी पीड़ा), चिक्षेपण, चुम्चुमायन (सरसों का लेप करने से होने वाली चुम्चुमाट । (Tingling), जलन, अवभंजन (टुकड़े टुकड़े से होना), स्फोटन (पथर से जैसा फूटा जाता हो), विकिरण (नख से चीरने की पीड़ा), उत्पाटन (ऊपर खींचने की पीड़ा), कंपन (हिलने की पीड़ा), नाना प्रकार के शूल, विश्लेषण (अलग अलग करना), विकिरण (वर्णस्थान जैसे अनेक स्थानों में फैका जा रहा है), पूरण (भरण), स्तम्भन (अंग का गिकुट जाना), स्वम (त्वचा मुञ्च हो जाना), आकुंचन (अकड़ाव), अंकुशिका (अंकुश के आघात से होने वाली विशेष प्रकार की पीड़ा)— ये पीड़ाएँ हों और बिना कारण नाना प्रकार की वेदना उत्पन्न हों और जहाँ बर बर विशेष प्रकार की व्यथा का दौरा आता हो, वह वातदूषित वर्ण है, ऐसा मानो । जहाँ जलन, चूसने के समान पीड़ा, सर्व शरीर का दाह, धूमायन (वर्ण से धुआँ सा निकलना हो ऐसा मालूम होना), शरीर पर अग्नि पड़ने से शरीर जलता हुआ मालूम होना, बहुत गरमी बढ़ना, घाव पर क्षार डालने की सी पीड़ा इत्यादि वेदना विशेष हो, वह पित्तदूषित वर्ण समझना चाहिये । रक्तदूषित वर्ण को पित्तदूषित के समान जानना चाहिये । कण्डू, भारीपन, सुन्नता, शरीर लिस ना रहना, अल्पपीडा, स्तब्धता, ठंडापन, ये जहाँ हों, वह कफदूषित जानना चाहिये । जहाँ सर्व प्रकार की पीड़ा की उत्पत्ति हो, वह सान्निपातिक वर्ण जानना चाहिये ॥११॥

अत ऊर्ध्व सर्ववर्णान् वक्ष्यामः—भस्मकपोता-
स्थिवर्णः परुषोऽरुणः कृष्ण इति मास्तजस्य; नीलः
पीतो हरितः श्यावः कृष्णो रक्तः कपिलः पिङ्गल
इति रक्तपित्तसमुत्थयोः; श्वेतः श्लिग्धः पाण्डुरिति
श्लैष्मजस्यः सर्ववर्णोपेतः सान्निपातिक इति ॥१२॥

इसके आगे वर्णों के वर्णों का वर्णन करते हैं । वातदुष्ट वर्ण का वर्ण भस्म के समान, कपोत के समान, अस्थि के समान, सुगन्धरा, किंचित लाल और काला होता है । पित्तदूषित और रक्तदूषित वर्ण का वर्ण नीला, पीला, हरा, शास्मानी, काला, लाल, कपिल और पिङ्गल होता है । कफदुष्ट वर्ण का वर्ण सफेद, चिकना और फीका होता है । सर्व दोषों से दूषित वर्ण का वर्ण सर्व प्रकार के वर्णों से मिश्रित होता है ॥१२॥

भगति चन्द्र—

न केवलं प्रणेषुक्तो वेदनायार्णसंग्रहः ।

सर्वशोकविदारेषु प्रयवहृतस्यैद्धिप्रहः ॥२३॥

एते सुखप्रदिकाः सुखानि तत्राप्यवतिष्ठन्ति चेत्
नाम इति चिन्तयेत् ॥ २३ ॥

यहाँ जो पीड़ा और दर्द का संग्रह वर्णन किया गया है, वह केवल प्रणेषों के ही लिये नहीं कहा है। भग की भक्ति सत्य शोक युक्त विकारों के लिये भी वेदना और वर्ण समझना चाहिये (और उनके अनुसार योगों का ज्ञान कर लेना चाहिये) ॥२३॥

एते सुखप्रदिकाः सुखानि तत्राप्यवतिष्ठन्ति चेत्
नाम इति चिन्तयेत् ॥ २३ ॥

त्रयोविंशतितमोऽध्यायः ।

अघातः कृत्याकृत्यविधिभिर्ध्यायं व्याख्यास्यामः ।

यथोपाच भगवान् धन्वन्तरि ॥१॥

अब यहाँ मैं कृत्याकृत्यविधि नामक अध्याय का व्याख्यान करता हूँ, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

यत्कृत्य—कृत्याकृत्यविधि—कृत्याकृत्यविधि नामक अध्याय, नदिर्गतेत्येवमप्येव । इतका विधि यानि प्रकार । साध्य सुखसाध्य और कृत्यासाध्य दो प्रकार का है और असाध्य साध्य और प्रत्यासाध्य दो प्रकार का होता है । साध्यसाध्य इति व्याख्यायित्वा । इत्येव इत्येवमप्येव यत्कृत्याकृत्यम् ॥ (संग्रह) । त्रिय अध्याय में साध्यविधि चतुर्विध साध्य का वर्णन किया है, वह कृत्याकृत्यविधि अध्याय है ।

तत्र, यथ.स्थानां हृदानां प्रणयनां सरायनां च सुचिचिन्त्या मणाः पक्वमिन् या पुण्ये यथैतदहण्य चतुष्टयं तस्य सुगमाधनीयतमा । तत्र, यथ.स्थानां प्रत्यप्रधातुत्वादानु प्रया गेहन्ति, हृदानां स्थिरचतुर्मासवाच्छ्रममचार्यमाणा सिखायाख्या द्विविशेषात् प्राप्नोति; प्राण्यतां वेदनाभिघाताहाराधन्यादिभिर्न सगतिरप्यपने, सरायनां दारुणैरपि क्रियाविरोधैर्न ध्यया भवति; तस्मादेतेषां सुगमाधनीयतमा ॥२॥

तत्र, यथ.स्थानां हृदानां प्रणयनां सरायनां च सुचिचिन्त्या मणाः पक्वमिन् या पुण्ये यथैतदहण्य चतुष्टयं तस्य सुगमाधनीयतमा । तत्र, यथ.स्थानां प्रत्यप्रधातुत्वादानु प्रया गेहन्ति, हृदानां स्थिरचतुर्मासवाच्छ्रममचार्यमाणा सिखायाख्या द्विविशेषात् प्राप्नोति; प्राण्यतां वेदनाभिघाताहाराधन्यादिभिर्न सगतिरप्यपने, सरायनां दारुणैरपि क्रियाविरोधैर्न ध्यया भवति; तस्मादेतेषां सुगमाधनीयतमा ॥२॥

यत्कृत्य—इह—सुखप्रदिकाः सुखानि तत्राप्यवतिष्ठन्ति चेत् नये धातु उत्पन्न होने के कारण । युवानस्था में मन्वायः । ही गति की वृद्धि नहीं अधिक धातु उत्पन्न होना ही प्रती है । इसी लिये चरण में युवानस्था का वर्णन विशेषतः धातुत्वात् ऐसा किया है । अथ न प्रणेषि—अधिक भोगों के कारण मिरादि को भग्य नहीं वाटता है । अथप्रणेष—आहार और व्यय या आहारभोग ही व्ययत् । मन्वात्—सुखमा । मन्व का अर्थ मन है । सुनिमित्तप्रणेषीर्गतेषां कृत्याकृत्यविधिः मन्वत्तरेषु च । सत्यसात् मनुष्य अपने प्रणेषों के साथ चार्त् के गार्त्तिक तथा मानसिक अघात भक्ति से रहित करता है—एतत् तु व्ययसात्सुखप्रदिकाः सुखानि तत्राप्यवतिष्ठन्ति चेत् नाम इति चिन्तयेत् ॥ २३ ॥ (सुख) । ते चिन्तयेत् ॥ २३ ॥ (चरक) ।

त एव विपरीतगुणा वृद्धरुशात्प्रणयनीयसु द्रष्टव्याः ॥३॥

वे ही मण्य वृद्ध, हृण, निर्धन और कातर मनुष्यों में उपर्युक्त गुण विपरीत (कल्याण) होते हैं ॥३॥

यत्कृत्य—तत्र, एह, वन्वात् और मासिक मनुष्यों में जो गुण ऊपर कल्याण हैं, उनमें विपरीत गुण वृद्ध, हृण, निर्धन और भीम मनुष्यों में होने के कारण उर्ध्व मण्य कृत्यासाध्य वा असाध्य हो जाते हैं । मृष्ट दो और भीम में रोगी के गुणों के अनुसार यहाँ वा साध्यासाध्य प्रणयन किया है । इसमें आगे स्थान के अनुसार साध्यासाध्य बताने करते हैं ।

स्विकृष्यापुत्रजननलाटगण्डौष्ठगुह्यवर्गफलफोणे-द्रज्जुमुखाभ्यन्तरमंस्थाः सुतरोपरीया मणा ॥४॥
निनव, गुह्य, निग, माथा, कपाड, हंठ, टट, कान, उर्र कोर, उर्र, मीवागुन और सुत के अंतर्गत वे मण्य सुख में लाने योग्य होते हैं ॥४॥

अर्द्धिदन्तगाम्नापाहश्रोत्रनाभिजठरमेतनीनिनव पादरंशुद्विपदा कक्षासनामन्धिमागता सकेन पूयरत्नानिलसाहितोऽन्तःप्रकाशश्च दुधिविन्त्या । अधोमत्ताधोऽधोमगनिर्वाहितो, गोमन्तोपनयनमं जटान्ध्रियसंनिताश्च, भगन्दरमणि पान्तमुंसां मेरीगी कुट्टेराभ्यन्तमधिगतम् ॥५॥

अर्द्धिदन्त, गाम्ना, पाह, श्रोत्र, नाभि, जठर, मेतनी, निनव, पाद, रंशु, द्विपदा, कक्षा, सना, मन्धि, मागता, सकेन, पूय, रत्न, अनिल, साहितो, अन्तः, प्रकाश, श्च, दुधिविन्त्या, अधो, मत्ता, अधो, अधो, मगनि, र्वाहितो, गोमन्तो, पनयन, मं, जटान्, ध्रिय, सं, निता, श्च, भगन्दर, मणि, पान्त, मुंसां, मेरीगी, कुट्टेरा, अभ्यन्त, मधिगतम् ॥५॥

अर्द्धिदन्त, गाम्ना, पाह, श्रोत्र, नाभि, जठर, मेतनी, निनव, पाद, रंशु, द्विपदा, कक्षा, सना, मन्धि, मागता, सकेन, पूय, रत्न, अनिल, साहितो, अन्तः, प्रकाश, श्च, दुधिविन्त्या, अधो, मत्ता, अधो, अधो, मगनि, र्वाहितो, गोमन्तो, पनयन, मं, जटान्, ध्रिय, सं, निता, श्च, भगन्दर, मणि, पान्त, मुंसां, मेरीगी, कुट्टेरा, अभ्यन्त, मधिगतम् ॥५॥

एवमयतोभागमणुखेषु पूयरक्तनिर्वाहियः;
(क्षीणमांसानां च) सर्वतोगतयश्चाणुमुखा मांस-
सुदुग्धवन्तः; सशब्दवातवाहिनश्च शिरःकण्ठस्थाः;
क्षीणमांसानां च पूयरक्तनिर्वाहियोऽरोचकाविपाक-
कासश्वासोपद्रवयुक्ताः; भिन्ने वा शिरःकपाले यत्र
मस्तुलुङ्गदर्शनं त्रिदोषलिङ्गप्रादुर्भावः कासश्वासौ
वा यस्येति ॥११॥

इसके आगे असाध्य वर्णों का वर्णन करते हैं । मांसपिंड
के समान ऊँचे हुए, बहुत बहने वाले, जिनके भीतर पीप और
पीड़ा बहुत हो, घोड़ी के भगीष्ठ के समान (गुद के समान)
ऊँचे किनारे वाले । कोई अधिक कटे, गी के सींग के समान
कोमल मांस प्ररोह युक्त । कोई दुष्ट रक्त या पतला ससदार
छाव बहने वाले और बीच में ऊँचे हुए । जिनके किनारे नीचे
और भीतर धँसे हुए । जिनके ऊपर शब्दसूत्र की भाँति खाद्य
तन्तु का जाल फैला हुआ हो और जो देखने में भयानक हो ।
बसा, मेद, मज्जा, मस्तिष्क के मुख्य छाव वाले दोषोत्थित मण ।
पीला, काला, मलमूत्र और वायु इनका छाव होने वाले कोष्ठ-
गत मण । मुख, गुद तथा मण से पूर और रक्त का छाव होने
वाले भी कोष्ठगत मण । कृष्ण मनुष्यों के सब तरह फैलने वाले,
छोटे मुख के और मांस के प्ररोह युक्त मण । शब्द के साथ
वायु निकलने वाले शिर और कण्ठ के मण । कृष्ण दुर्बल, अरुचि-
अजीर्ण, कास और श्वास उपद्रवों से पीड़ित वर्णों के पूर और
रक्त बहने वाले मण । खोपड़ी फट जाने पर जहाँ मस्तिष्क
धीसने लगा जाय, त्रिदोषों के लक्षण उत्पन्न हो जाय अथवा
खाँसी और श्वास हो ऐसे मण असाध्य समझने चाहिये ॥११॥

यक्तव्य—अथापानवत्—घोड़े के गुदीष्ठ के समान ऊँचे
(elevated edges) । घोड़ी की योनि के होठ के समान
ऊँचे—वदधोनिवत् । (बड़हन) । इस प्रकार के मण बहुधा
साकॉमा, केसर इत्यादि दुष्ट अर्बुदों में दिखाई देते हैं । भवसात्र-
श्रविरपर्यन्ता—जिनके किनारे निम्न और पोले (Under
mined edges) हो गये हैं । दोषसमुत्था—जिन, आगन्तु जो
मर्हीं हैं । अमयोभागमणुखेषु—गुद, मुख से तथा मण से
पूरादि बहने वाले । श्वासकाली—जैव तिष्ठन्ति वीर्यपञ्चरा-
तीसारकसिनाम् । विषादनामनिद्रापाम् । (वामभट) ।

भवन्ति चात्र—

वसां मेदोऽथ मज्जानं मस्तुलुङ्गं च यः शयेत् ।
आगन्तुस्तु मणः सिष्येथ सिष्येहोपसंभयः ॥१२॥
अमर्मोपहिते देशे सिरासन्ध्यस्थिवर्जिते ।
विकारो योऽनुपप्यति तद्साध्यस्य लक्षणम् ॥१३॥
बसा, मेद, मज्जा और मस्तिष्क इनका छाव जिस मण
से होता है, वह यदि आगन्तुक कारणों से उत्पन्न हुआ हो तो
सिद्ध हो सकता है । परंतु यदि वातादिक दोषों से उठा हुआ
हो तो (विक्रिया से) निरु नहीं होता ॥१२॥ मर्म से दूर
सिरा, सन्धि और अस्थि वर्जित स्थान में हुआ मण (जब
विक्रिया करने पर भी धातुओं में) फैलना है तब यह
असाध्यता का लक्षण समझना चाहिये ॥१३॥

क्रमेणोपचयं प्राप्य धातून्नुगतः शनैः ।
न शक्य उन्मूलयितुं वृद्धो वृक्ष इवामयः ॥१॥
स स्थिरत्वान्महत्त्वाच्च धात्वनुक्रमणेन च ।
निहन्त्यौपधवीर्याणि मन्त्रान् दुष्टप्रदो यथा ॥१॥

जैसे वृक्ष बढ़ा होने पर नहीं उखाड़ सकता, वैसे धीरे
बाधकर सर्वाधातुओं में फैला हुआ रोग धीरे से निर्मूल
हो सकता ॥१॥ वह विकार स्थिर होने से, बढ़ जाने से
धातुओं पर आक्रमण करने से ओषधियों की कार्य क्रम-
शक्ति को विकल कर देता है जैसे दुष्टप्रद मंत्र के प्रभाव
निष्फल करता है ॥१५॥

अतो यो विपरीतः स्यात् सुखसाध्यः स उच्यते ।
अवस्त्वमूलः क्षुपको यद्दुर्गुपाटने सुखः ॥
इसलिये उपरोक्त गुणों के विपरीत गुणयुक्त रोग मुख्य
कहालाता है, जैसे कि जमीन में थोड़ा ही गाढ़ हुआ
पौधा सुख से उखाड़ आता है ॥१६॥

यक्तव्य—विपरीत—नया, अस्थिर, अल्प और घट
में न फैला हुआ—स्वहमासन सुखे देते तरुणस्यानुग्रह । धीम-
ऽनितर कले सुखसाध्य सृष्टो मण ॥ (चरक) । युक्त—अ-
बाल वृक्ष । धरक में भी लिखा है—अगुरि प्रथम मूला
पथादिवर्धते । स अतमूले मुष्णति नल्मायुश्च दुर्गो ॥ यथा स्व-
वलेन छिपते तरुणस्तम् । स पथादिप्रयुक्तु छिन्नेऽतिप्रवक्तम् ॥

त्रिनिर्दिष्टैरनाक्रान्तः श्यावौष्ठः पिडकी समः ।
अवेदो निरास्त्रावो मणः शुद्ध इहोच्यते ॥१॥
कपोतवर्णप्रतिमा यस्यान्ताः क्लेदवर्जिताः ।
स्थिराश्चिपिटिकावन्तो रोहतीति तमादिशेत् ॥१॥
रुदयत्मानमग्रन्धिमशूतमरुजं मणम् ।
त्यक्तसवर्णं समतलं सम्यग्मूढं विनिर्दिशेत् ॥१॥

जो मण तीनों दोषों से निर्मुक्त है, जिसके किनारे वं
(श्याव) रंग के हैं, जो सूक्ष्म मांसाकुर युक्त हो गया है, जिस
तल सम है, जिसमें वेदना और छाव अल्प होता है, व
शुद्ध कहालाता है ॥१०॥ जिस मण का वर्ण कपोत के समान
पांडुभूत होता है, जिसमें आर्द्रता नहीं होती, जो स्थि
और सूक्ष्म मृदु स्वचा से युक्त होता है, वह भर रहा है रूप
समझना चाहिये ॥१६॥ जिसका मुँह भरकर साक हो गय
हो, जिसमें मांस की गाँठें न हों, जिसमें स्थान और पीप
न हो, जिसका रंग चारों ओर की स्वचा के रंग से मिल
जाय, जो स्यात हो, उपको ठीक ठीक भरा हुआ मण समझ
चाहिये ॥१७॥

यक्तव्य—मण गंध उत्पन्न होने के पश्चात् विनिर्दिष्ट होने
के समय से पूर्वतया रूढ़ होने के समय तक तीन अवस्थाओं
में विभक्त किया जाता है । अर्थात् प्रत्येक मण की तीन
अवस्थाएँ होती हैं । प्रथम अवस्था को दुष्ट अवस्था या दुष्ट
मण की अवस्था कहते हैं । इस अवस्था का वर्णन वहाँमें
अध्याय के छठे सूत्र में 'तत्रनिर्गन्त' इत्यादि में किया गया

माधवनिदान में इसी अवस्था का संक्षेप में वर्णन किया प्रतिः पूयातिदुष्टसङ्घान्युत्तंगी निरस्थितिः । दुष्टो व्रणोऽति-
देः शुद्धिगविपर्ययः ॥ अंग्रेजी में इस अवस्था को 'अल्ट-
ः प्रापर या एक्स्टेन्शन स्टेज (Stage of ulceration
per or extension) कहते हैं । इस अवस्था में दोषों
राज्य होता है, धातुओं का नाश होता है, व्रण में पूय
इत्यादि उपस्थित होते हैं, दुर्गंधयुक्त स्राव होता है, व्रणों
और शोथयुक्त होते हैं, व्रण के चारों ओर का भाग भी
और शोथयुक्त होता है और उसका तल निचले धातुओं
चिपका हुआ रहता है । द्वितीय अवस्था में व्रण शुद्ध
है । उसका लक्षण ऊपर १७ वें श्लोक में वर्णन किया है ।
वे चिकित्सा स्थान के पहले अध्याय में भी उसका लक्षण
है—जिह्वातलमो मृदुः किन्धः श्लेष्मो विगतवेदनः गुण्यवस्थितो
स्त्रावथेति शुद्धो व्रण इति । चरक में इसका लक्षण ऐसा
है—नातिरक्तो नातिपाण्डुरोतिद्रव्यो न चातिरक्तः । न
स्रो न चोत्तंगी शुद्धो रोप्यः परं व्रणः ॥ इस शुद्धावस्था को
ती में 'स्टेज आफ ट्रांन्सीशन' (Stage of transition)
ते हैं । इस अवस्था में दोषों का प्राबल्य नष्ट होता है और
रक्तिक धातुओं का नाश बंद होकर व्रण के रोपण की तैयारी
ने लगती है । इसलिये इसमें प्रतिमांसादि वस्तुओं (Slou-
is) का निकलना तथा दुर्गंधयुक्त पूय और दुष्ट रक्त का
कलनी बंद होकर घोड़ा लाल रंग का पानी निकलता है,
ण की सुखी कम होकर वह गुलाबी रंग का होता है और
रक्त तथा स्वस्थ दिखाई देता है । उसके तल से, छोटे
टे मांसांश या पिटकाएँ (Granulations) उगने
गती हैं, जो उत्तरोत्तर आकार और संख्या में बढ़ती जाती
। तृतीय अवस्था में व्रण का रोहण प्रारंभ होता है । इस
वस्था का वर्णन श्लोक १८ में किया गया है । इस अवस्था
में 'स्टेज आफ रीपेअर' (Stage of repair) कहते हैं ।
इसमें रोहणधातु (Granulation tissue) अधिक बनती
है और सारे तल पर छा जाती है । प्रथमभाग मृदु, किंचित्
निम्नमध्य, लाल और वेदना से रहित होता है । छूने से रक्त
निकलता है, परन्तु शीघ्र नहीं निकलता । व्रण के चारों ओर
का भाग शीथ रहित हो जाता है, किनारे कपोतवर्ण यानि
श्वेत, नील और रक्तवर्ण के तथा स्वस्थ दिखाई देते हैं । ये
तीन अवस्थाएँ बहुधा स्वतन्त्र होती हैं और प्रत्येक क्रम से
इन तीन अवस्थाओं में से होता हुआ रूढ़ हो जाता है ।
परन्तु व्रण यदि बहुत विस्तृत हो तो एक ही समय व्रण के
भिन्न भिन्न स्थानों में तीनों अवस्थाओं का दर्शन हो सकता
है । रूढ़ावस्था में व्रण के नये उत्पन्न हुए रोहण धातु का
परिवर्तन तल से तंतुजालक धातु (Fibrociatricial
tissue) में होकर उस पर एक अत्यंत पतला खचा का पर्त
(स्क्वैसवर्ण) बन जाता है । यही व्रण वस्तु है । इसका वर्णन
२१ वें अध्याय के ३९ वें श्लोक के वक्तव्य में पीछे किया गया है ।
व्रणों की परीक्षा करते समय निम्न बातों को ध्यानपूर्वक देखना
चाहिये । १ अधोभाग या तल (Base), २ प्रथमभाग (Surface),
३ स्राव, ४ व्रणों के (Edges), ५ व्रणान्त (Margins),
६ व्रण के चारों ओर की धातु, ७ व्रण के स्थान ।

दोषप्रकोपाद् व्यायामाद्भिघातादजीर्णतः ।
हर्पात् क्रोधान्द्रव्याद्वाऽपि व्रणो रूढोऽपि दीर्यते ॥२०॥

इति कुशुतनंहितायां सूत्रस्थाने कृत्याकृत्यविधिनाम
त्रयोविंशोऽध्यायः ॥२३॥

(वातादि) दोषों के प्रकोप से, परिश्रम से, चोट लग जाने
से, अजीर्ण से, हर्ष से, क्रोध से, अथवा भय से अच्छा हुआ
व्रण फिर फट जाया करता है ॥२०॥

वक्तव्य—व्रण अच्छा हो जाने पर भी कुछ काल तक
इन बातों से परहेज रखना चाहिये । इसी लिये पीछे छठे
अध्याय में लिखा है—स्तेऽप्यजीर्णव्यायामन्यवायादीन् विवर्जयेत् ।
हर्ष क्रोधं भयं चापि यावत्स्थैर्योपक्रमवात् ॥

इति भारकुरारमणा गोविन्दात्मर्जन विरचितायामासुर्वेदरहस्यदीपिकायां
सुशुभभाषादीकायां कृत्याकृत्यविधिनाम त्रयोविंशोऽध्यायः ॥२३॥

चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ।

अथातो व्याधिसमुद्देशीयमध्यायं व्याख्या-
स्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से व्याधिसमुद्देशीय अध्याय का व्याख्यान करते
हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—व्याधिसमुद्देशीय—व्याधीनां समासेन संक्षेपेणोद्देशः
कथनम्, तदधिकृत्य कृतोऽध्यायः । समासकथनमुद्देशः । (तन्त्रयुक्ति
अध्याय) । जिसमें समस्त व्याधियों का संक्षेप से कथन
किया गया है, वह अध्याय ।

द्विविधास्तु व्याधयः—शस्त्रसाध्याः, स्नेहादि-
क्रियासाध्याश्च । तत्र शस्त्रसाधयेषु स्नेहादिक्रिया न
प्रतिषिध्यते; स्नेहादिक्रियासाधयेषु शस्त्रकर्म न
क्रियते ॥२॥

व्याधियाँ दो प्रकार की हैं—शस्त्रसाध्य और स्नेहादिक्रिया-
साध्य । उनमें से शस्त्रसाध्य व्याधियों में स्नेहादि क्रियाएँ
निषिद्ध नहीं होतीं, (परंतु) स्नेहादि क्रियासाध्य व्याधियों में
शस्त्रकर्म नहीं किया जा सकता ॥२॥

वक्तव्य—शस्त्रसाध्य—शस्त्रानुशास्त्र प्रविधानसाध्य—
शस्त्रप्रणिधानं पुनरेवेदनमेदनव्यथनदारणलेखनोत्पादनप्रच्छन्नसीवनै-
पणक्षारजलैकसंश्लेथि । (चरक) । स्नेहादिक्रियासाध्य—अन्तः-
परिमार्जनं बहिःपरिमार्जनसाध्य—तत्रान्तःपरिमार्जनं यदन्तः शरीर-
मनुप्रविश्यौषधमाहारजातव्याधीन प्रमाष्टि; यत्पुनर्बहिःस्पर्शमाश्रित्याभ्यङ्ग-
स्वेदप्रदेहपरिपेकोन्मर्दनार्थैरामयान् प्रमाष्टि तद्वहिः परिमार्जनम् ।
(चरक) । न प्रतिषिध्यते—शस्त्रसाध्य रोगों में स्नेहादि क्रियाएँ
कदापि भी विरूढ़ नहीं हो सकतीं, बल्कि उपकारक होती हैं ।
कई बार ऐसा भी होता है कि केवल स्नेहादि क्रियाओं द्वारा
शस्त्रसाध्य रोग आराम हो जाते हैं । यथा—विद्रधि और शोथ
स्वेद से वैठ जाते हैं या बिना चीरा लगाये फूट जाते हैं;
आन्त्रपुच्छशोथ बाह्य स्वेद और उष्ण वस्त्र से ठीक हो
जाता है; वरुणयवक्षारादि के सेचन से पथरी फूट जाती है;
विरिचन से उदरस्थ जल नष्ट होता है; सूर्य के सेचन से अर्ध

यत्तैरेव गुणैर्युक्तः सवर्णः श्रोत्रियो वरः । यत्नात् परीक्षितः पुंस्त्वे युवा
धीमान् जनप्रियः ॥ (याज्ञवल्क्यस्मृतिः) । अथ खलु पुमानेक-
वैशित्येः कन्यामसचारिरोक्कुलप्रसूतामरोगप्रकृतिमहीनाधिकारिणीं
विधेनोद्देहेत् ॥ (अष्टांगसंग्रह शारीर १) । A man or
women who intends marrying is now more than
justified in carefully examining the personal and
medical histories of the families of his or her
intended mate (*Preventive Medicine and Hygiene*
by Rosenaw) परंतु निर्दोष बीजयुक्त दो व्यक्तियों का मिलना
परम कठिन है, इसलिये कम से कम यह देखना चाहिये कि
दोनों में दोषों की समानता न हो । संतति में संचार करने
वाले रोगों से पीड़ित माता-पिता के सब सन्तान समदोषी
होते हैं । ऐसे समदोषी स्त्री-पुरुष के संयोग से होने वाली सब
संतति में उक्त दोषों का उत्कर्ष होता है, यह शास्त्र और प्रयोग
से सिद्ध हुआ है । इसलिये अत्यंत प्राचीन काल से सगोत्र
और सपिण्ड (Cosanguineous) विवाह शास्त्रविद्द,
माने गये हैं—असपिण्डा च या मातुर्मगोत्रा च या पितुः । सा
प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥ (मनुस्मृतिः) । इस प्रकार
माता-पिता के शुक्रशोणित दोषों के कारण संतति में प्रवेश
करने वाले व्याधियों को आदिवलप्रवृत्त, संचारी (याज्ञवल्क्य),
कुलज (चरक), कुलोद्भव और सहज (वाग्भट), प्रकृति-
प्रभव (भेल) इत्यादि नाम दिये गये हैं । इस आदिवल-
प्रवृत्त रोगों के नाम अब बतलाते हैं—कुष्ठार्शःप्रभृतयः—कुष्ठ और
अर्शे के अतिरिक्त आयुर्वेद में राजयक्ष्मा, मधुमेह, श्वित्र और
अपस्मार आदिवलप्रवृत्त माने गये हैं, और इसके अनुसार
स्मृति में भी विवाह के लिये इन रोगों से पीड़ित कुल निषिद्ध
हैं—दौतानि कुलानि परिवर्जयेत् । हीनक्रिय निष्पुरुषं निश्छदो रोम-
शर्षासम् । क्षयामयान्यपस्मारिश्चित्रिकुष्ठिकुलानि च ॥ (मनुस्मृतिः) ।
कुष्ठ—पाश्चात्य वैज्ञानिक इन आदिवलप्रवृत्त रोगों के संबंध
में बहुत कुछ अन्वेषण करके इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि कोई
भी जीवाणुजन्य रोग आदिवलप्रवृत्त नहीं होता । कुष्ठ
जीवाणुजन्य रोग है । इसके जीवाणु का विचार कुष्ठनिदान
में किया गया है । अर्थात् कुष्ठ आदिवलप्रवृत्त नहीं हो सकता
है । अन्वेषण से यह सिद्ध हुआ है कि कुष्ठित माता-पिता के
घनिष्ठ सम्बन्ध से यह रोग उन की सन्तान में संचार करता
है । यदि जन्म के पश्चात् शीघ्र उनको माता-पिता से पृथक्
करके दूसरे किसी के पास रख दिया जाय तो वे उत्तर काल
में कुष्ठ से पीड़ित नहीं होते । It is now generally
recognised that hereditary transmission of the
disease has not been proved to occur. and,
although it is a remote possibility in rare cases,
it is of no practical importance. Moreover, in
India hundreds of children who have been
separated from their parents at birth have
remained healthy to the second generation, so
that we may safely discard the paralyzing theory
of hereditary transmission (*Tropical medicine*
by Rogers and Megaw)

राजयक्ष्मा रोग भी जीवाणुजन्य है, और पाश्चात्य
वैज्ञानिक उसको कुष्ठ की भाँति आदिवलप्रवृत्त न
समझकर राजयक्ष्मी माता-पिता के घनिष्ठ सम्बन्ध
से होने वाला रोग मानते हैं । यद्यपि राजयक्ष्मा
और कुष्ठ रोग आदिवलप्रवृत्त कहने का शास्त्रीय रिवाज
पाश्चात्य वैद्यक में नहीं है तथापि ये रोग खानदानी होते हैं
और कुष्ठी तथा राजयक्ष्मी माता-पिता की संतति में कुष्ठ और
राजयक्ष्मा के लिये औरों की अपेक्षा एक विशेष प्रकार की
सहजानुकूलता (An inherited predisposition to the
disease or diathesis) हुआ करती है । यह पाश्चात्य
वैज्ञानिकों को भी मानना पड़ता है । यह सहजानुकूलता कैसे
होती है, इसके सम्बन्ध में उनको अभी तक निश्चित परिज्ञान
नहीं है—

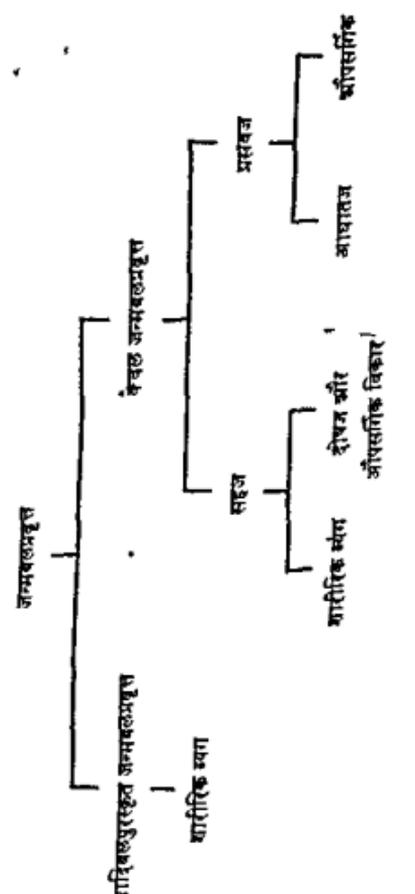
While the disease itself may not be
transmitted, a tendency to a disease, Known as
a diathesis, may be transmitted through succes-
sive generations. The reason that tuberculosis
runs in a family is twofold. (1) An inherited
predisposition to the disease, and (2) increased
chances of infection. Just what the tendency or
predisposition is, is not well understood. (*Preventive
Medicine and Hygiene by Rosenaw.*) अर्श—
पाश्चात्य वैज्ञानिक अर्शे को आदिवलप्रवृत्त नहीं मानते ।
परंतु यह उनका कथन असत्य है, क्योंकि अर्शे में जिस प्रकार
की सिराविकृति (जिसको Varix or Varicosity कहते
हैं) होती है, उस प्रकार की सिराविकृति उत्पन्न होने के लिये
सिराओं की आदिवलप्रवृत्त रचना विशेषता और प्राचीर-
दौर्बल्य ही प्रधान कारण होता है—

Piles consist in a varicose condition of
the veins surrounding the anus and lower
inch or two of the rectum. Varix is due, in
the first place, to some inherited weakness
of the venous wall or irregularity in the
arrangement of the valves, though possibly this
produces no effect until some exciting cause
comes into action and throws strain on the
circulation. The facts that varix sometimes
appears quite early in life and without adequate
cause and often involves the same vein in-
different members of the family, confirm this
statement (Inherited weakness of the venous
walls). *Manual of Surgery by Rose and carless.*

इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि अर्शे के सम्बन्ध में आयुर्वेद
का कथन विलकुल सत्य है । श्वित्र, अपस्मार और मधुमेह
पाश्चात्य अन्वेषण के अनुसार भी आदिवलप्रवृत्त सिद्ध हुए
हैं । इन रोगों के अतिरिक्त निम्न रोगों में भी आदिवलप्रवृत्ति
होती है । यथा—कैन्सर, मेदोर्डिद, हीमोफायल्लिआ (Haemo-
philia रक्तपित्त का एक प्रकार), दधिरमूकता, वातरक्त,

अस्थिमगुरता (Fragilitas ossium), अधोवभेदक, छाजन (Eczema) शीतपित्त श्वास, मृण्मुष्णालस्य ज्वर (Hay fever), नासान्नाव, हटिंगटन्म कोरिआ (Huntington's chorea), मस्तिष्कदोषित्य, उन्माद के कई प्रकार, अपतन्त्रक (Hysteria), अदूरदृष्टि रगान्धता, मोतियाबिन्दु, रक्तभा राधिक्य (High blood pressure) अन्तःश्रायी ग्रंथियों के दोष के कारण उत्पन्न होने वाली स्थूलता, हृयता और मेदोवृद्धि, आमाशयिक मय हृत्वादि अनेक रोग तथा कटा हाँठ फटा तालु, अगुलियों का जुड़ा रहना, अगुलियों का अधिक या कम होना, पैरों का मुड़ा हुआ और टेढ़ा होना इत्यादि शारीरिक भ्यग। इन रोगों में से कुछ रोग प्रत्येक पीढ़ी की सतति में होते हैं। यथा—मोतियाबिन्दु। कुछ रोग एक दा पीढ़ी के बाद दिखाई देते हैं। यथा—वातरक्त। इस अवस्था को अटेविमम (Atavism) कहते हैं। कुछ रोग केवल पुरुषों में ही होते हैं और उनकी कन्या की पुरुष सतति में फिर दिखाई देते हैं। परन्तु रोगी पुरुष के कन्यापुत्र स्वयं उस रोग से पीड़ित नहीं होते। इस प्रकार के रोगों को लिंग सबद्ध (Sex limited) रोग कहते हैं। यथा—हीमोफायलिया, रंगान्धता इत्यादि। चरक में आदिवलप्रवृत्त रोगों की उत्पत्ति के संबन्ध में लिखा है—यस्य यस्यावयवस्य बीजे बीजभाग उपतले भवति तस्य तस्यावयवस्य विकृतिरुपजायते ॥ (शारी अ ३) । जन्मबलप्रवृत्त—गर्भाभवकान्ति के समय उत्पन्न हुई व्याधियाँ। यह व्याधियाँ दो प्रकार की होती हैं। (१) अस्वाभाविक वृद्धि—इसको विकृताकार या भ्यग और थैमेजी में मालफार्मेशन या देहद्वलपमेटल प्रर (Malformations or Developmental error) कहते हैं, और अस्वाभाविक वृद्धियुक्त गर्भ की विकृताकृति या वियोनियार्भे प्रीर अग्रेजी में मान्स्टर (Monster) कहते हैं—वियोनिकृताकारा आयत्ने विकृतेर्भले । (अष्टांगहृदय) । सर्वेधिकरूपाण्डविकृताकृतयश्च ये । गर्भावस्थेने त्वियाश्वेय देया पापकृता भ्रातः । (सुश्रुत) । ये विकृताकार कुछ आदिवलप्रवृत्त और कुछ केवल जन्मबलप्रवृत्त होकर कई प्रकार के हाते हैं। यथा—अर्गों की अधिकता (जैसे अगुलियों की सख्या बीज से अधिक होना, शरीर की अत्यधिक स्थूलता, जुदे गर्भे इत्यादि), अर्गों की कम वृद्धि होना (जैसे—कटा हाँठ, फटा तालु, गुदद्वार न हाना, शीघ्र की कमी इत्यादि), अर्गों का विपर्यास (जैसे हृदय और स्त्रीहा दक्षिणार्ध में और यकृत वामार्ध में इत्यादि), गर्भज धातुओं का शेष रहना इत्यादि। (२) माता के उपसर्ग से उत्पन्न हुए औपसर्गिक रोग—यथा क्लिग, अतिरक्त ज्वर, मस्त्रिका इत्यादि। अनीधसर्गिक रोग—यथा तीम कामला, पाण्डुरोग, सीम विष इत्यादि। अब तक कर्णत किये सब रोगों को कान्जेनिटल (Congenital) कहते हैं। जन्मबलप्रवृत्त व्याधियों में जन्म अर्थात् प्रसव के समय आघात या उपसर्ग से उत्पन्न हुई व्याधियों का भी समावेय हो सकता है। यथा—उपसर्गिक (Cephal haematoma) अर्दित, नवजात नेत्राभिम्यन्द इत्यादि। इनकी अग्रजी में नेटल या पार्टुरीअल (Natal or Parturial) कहते हैं।

जन्मबलप्रवृत्त व्याधियों का वर्गीकरण—



रमरुता—रस तथा विशेष प्रकार का अन्न निरन्तर सेवन करने से होने वाले विकार—मधुरनित्या प्रमेहिण मूकनित्यत्वा वा, लघ्वनित्या शीघ्रवलीपलिन साद्विद्वरीणिग वा, आन्तनित्या रक्त पित्तिन त्वगक्षिरोणिग वा, कडुकनित्या दुर्बलमत्स्यशुभमनपास वा, तिक्तनित्या शक्तिमबलननुपचित वा, कषायनित्या प्रवावमानादिनयुग वर्तन वा, मधनित्या विषामानुमत्स्यत्तिमनवस्थितचित वा, गोषामत्स्य मियाशार्करिणमरमदिण शनैर्मिणिग वा, सधस्य वस्य स्य व्योतेनिगन युक्त तत्तण सेवमानाऽ तर्भुकी तन्निमित्तविकारदुर्लभमत्स्य जनयति ॥ (चरक, शारी अ ८) । रीहनापचारकृता—गर्भ के भीतरी जीवन का असर होने से माता के मन में जो विविध काम नाएँ और झट्टाएँ उत्पन्न होती हैं, उनका विघात होने से उत्पन्न हुई व्याधियाँ। अर्थात् रीहदापचार में अद्वाक्वितल तथा अन्य प्रकार के मासिक आघात के कारण उत्पन्न होने वाली सब व्याधियाँ समाविष्ट होती हैं। आयुर्वेद में इस विषय के संबन्ध में निम्न विचार प्रकट किये गये हैं—रक्षिषा धातु वाग् वाग् सा सोऽपुमिच्छति गर्भिणी । गर्भावभवपातास्ताव भिषगाइत्य दापयेत् ॥ सा प्रासदीइरा पुत्र जनयेत् सुगुणान्वितम् । कक-भरीइरा गर्भे क्लेतायति वा भवन् ॥ येन देविन्द्रियायेषु दोहरे ई

निता । प्रजापेत सुतस्यातिस्तस्मिस्तस्मिन्स्तपेन्द्रिये ॥ (सुश्रुत) ।
 २ः प्रियहितैर्भर्त्रा भृत्यैश्च गर्भधृक् । क्रोधशोकमयोद्वेगवेगश्रद्धाविधा-
 । स्यजेत् । मातृजं हास्य हृदयं मातृशु हृदयेन तत् । सबद्ध तेन
 या नेष्टं श्रद्धाविधारणम् ॥ देयमप्यहितं तस्मै हितोपहितमल्पकम् ।
 विधाताद्गर्भस्य विकृतिश्च्युतिरेव वा ॥ (अष्टांगहृदय) । दौहृद्
 का एक प्रकार है और यदि माता श्रद्धालु हो तो श्रद्धा
 विधात करने से उसके मन पर जो आघात होता है उससे
 एष बालक में शारीरिक या मानसिक विकार उत्पन्न हो
 ते हैं, यह उपर्युक्त उद्धरणों का संक्षिप्त तात्पर्य है । आधुनिक
 ज्ञान को भी मानना पड़ता है कि गर्भवती स्त्री की भली
 मनःस्थिति का भला बुरा परिणाम गर्भ के शरीर और
 पर होता है—An impression upon the mother,
 any kind, acts upon the child. Children are
 not happy or miserable, according to the
 state of their mothers during Pregnancy, just
 as they are born healthy or diseased. The
 most extraordinary peculiarities are inflicted
 upon children by some temporary condition of the
 mother. There is abundant proof that this may
 extend to the body as well as mind. (*Esoteric
 Anthropology by Dr. Nicholas*) । माता की मनः-
 स्थिति के कारण गर्भ में शारीरिक विकृति हो सकती है, इस
 प्रधान के पुष्टार्थ नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं । ये उदा-
 हरण 'लान्सेट' नामक प्रसिद्ध अंग्रेजी वैद्यक मासिक पत्र के
 आधार पर सिविल सर्जन डॉ. सरकार ने मद्रास के अॅपिटोसेप्टिक
 मासिक मासिक पत्र में प्रसिद्ध किये थे । (१) एक गर्भवती स्त्री
 एक खरगोश पाला था । एक दिन बिल्ली ने उसपर हमला
 कर उसके पैर को काट लिया । वह बहुत दिनों तक उस घाघ
 ने मरहम पट्टी करती थी । प्रसूत होने पर देखा तो उसके
 बालक के दोनों पैर विकृत थे । एक पैर में दो अँगुलियाँ, दूसरे
 में तीन अँगुलियाँ थीं और दोनों में पंजी थी नहीं । (२) एक
 किसान ने एक सूअर पाला था । वह सूअर बीमार होने से
 किसान ने उसके कान के पास फस्त खोलकर खून निकाला ।
 किसान की स्त्री गर्भवती थी । उसने यह शस्त्रकर्म देखा ।
 प्रसूत होने पर देखा तो उसके बच्चे में कान की पाली अपूर्ण
 थी । (३) एक गर्भवती स्त्री पर एक कुत्ते ने हमला किया ।
 वह स्त्री किसी तरह से बच गई, परंतु कुत्ते ने उसकी पीठ
 और जांघ को घसीट लिया । उस दिन से वह स्त्री सोचती
 थी कि उसके गर्भ में जरूर कुछ विकृति होगी । प्रसूत होने
 पर देखा तो बच्चे की पीठ और जांघ पर कुत्ते के रंग का धब्बा
 और बाल हैं । इत्यादि । इससे यह स्पष्ट होगा कि श्रद्धाविधात
 या अन्य मानसिक आघात के कारण गर्भविकृति की आयुर्वेद
 की कल्पना असंभवनीय नहीं है । आतङ्कसमुत्पत्ताः—रोग के
 उपद्रव स्वरूप में उत्पन्न हुआ । इसको अप्रधान, अनुबंध या
 अस्वतन्त्र व्याधि कहते हैं । प्रधान रोग का जो कारण होता
 है, वही कारण अप्रधान का भी होता है । अर्थात् उपद्रव रूप
 रोग का भी कारण त्रिदोष ही होते हैं । 'निदानार्थकरो रोगो
 रोगस्यायुपलभ्यते' । इसकी टीका में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—

व्याधिना व्याध्यन्तरे क्रियमाणेऽपि मूलभूतव्याधिजनक एव हेतुव्या-
 धिजन्येऽपि व्याधी । (चरकनिदान अ. ८) । दोषवलप्रवृत्ता—
 घातादि शारीर दोषों के कारण तथा रज और तम इन मानसिक
 दोषों के कारण उत्पन्न हुए विकार—वायुः पित्त कफश्चेति शारिरो
 दोषसमूहः । मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च ॥ (चरक) ।

संघातवलप्रवृत्ता य आगन्तवो दुर्बलस्य घल-
 वद्विग्रहात्; तेऽपि द्विविधाः—शस्त्रकृता, व्याल-
 कृताश्च । एते आधिभौतिकाः ॥६॥

जो आगन्तुक रोग दुर्बल को बलवान के साथ लड़ने
 (आदि) से होते हैं, वे संघातवलप्रवृत्त (कहलाते) हैं । वे
 भी दो प्रकार के हैं—शस्त्रकृत और व्यालकृत । ये (दोनों
 प्रकार के रोग) आधिभौतिक हैं ॥६॥

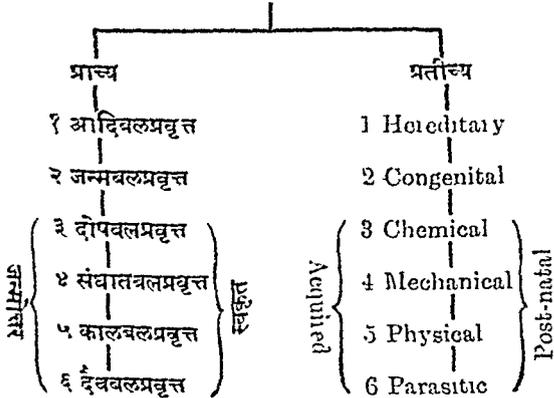
चक्रव्य—संघातवलप्रवृत्त—आघात, प्रहार, पीटन इत्यादि
 के बल से उत्पन्न हुए रोग । अंग्रेजी में संघातवलप्रवृत्त को
 (Due to mechanical cause) कह सकते हैं । सघातवल—
 (Mechanical Cause) । आगन्तवो दुर्बलस्य बलवद्विग्रहात्—
 आगन्तुक रोग अनेक कारणों से होते हैं—ये भूतविषवायुभि-
 संप्रहारादिसंभवाः । नृणामागन्तवो रोगाः । (चरक सूत्र. अ. ८) ।
 इनमें से केवल संप्रहारादि संभव रोग । शस्त्रकृता—मनुष्यकृत
 लाठी, तीर, तरवार, पर्यर इत्यादि शस्त्रों द्वारा हुए । व्याल-
 कृता—ज्याग्रसिंहादि क्रूर पशु, उन्मत्त हाथी, सर्प इत्यादि
 पशुओं के दाँत, नख, शृंग इत्यादि से उत्पन्न हुए रोग । इनमें
 पतनप्रपीडनादि का भी समावेश करना चाहिये ।

कालवलप्रवृत्ता ये शीतोष्णवातवर्षाप्रभृति-
 निमित्ताः; तेऽपि द्विविधाः—व्यापन्नर्तुकृता, अव्या-
 पन्नर्तुकृताश्च । दैववलप्रवृत्ता ये देवद्रोहादभिश-
 ष्टकां अथर्वणकृता उपसर्गजाश्च; तेऽपि द्विविधाः—
 विद्युद्दशनिकृताः, पिशाचादिकृताश्च; पुनश्च
 द्विविधाः—संसर्गजा, आकस्मिकाश्च । स्वभाववल-
 प्रवृत्ताः क्षुत्पिपासाजराभृत्युनिद्राप्रभृतयः; तेऽपि
 द्विविधाः—कालकृता, अकालकृताश्च; तत्र परिरक्ष-
 णकृताः कालकृताः, अपरिरक्षणकृता अकालकृताः ।
 एते आधिदैविकाः । अत्र सर्वव्याध्यवरोधः ॥७॥

जो सर्दी, गरमी, वायु, वर्षा इत्यादि कारणों से होते हैं
 वे कालवलप्रवृत्त (कहलाते) हैं । वे भी दो प्रकार के हैं—
 विकृत ऋतुओं के कारण उत्पन्न हुए और प्राकृत ऋतुओं के
 कारण उत्पन्न हुए । देव, गुरु, विप्र इत्यादि का अभिद्रोह करने
 के कारण उनके अभिशाप से उत्पन्न हुए, अथर्ववेद (के
 भारणात्मक मन्त्रों के प्रयोग) से उत्पन्न हुए और उपसर्गज
 जो रोग होते हैं वे दैववलप्रवृत्त (कहलाते) हैं । वे भी दो
 प्रकार के हैं—विद्युत् और उल्कापात से हुए तथा पिशाचादि
 से हुए । फिर भी दो प्रकार के होते हैं—संसर्गज और आक-
 स्मिक । क्षुधा, तृषा, वाधेक्य, मृत्यु, निद्रा इत्यादि स्वभाव
 बलप्रवृत्त होते हैं । वे भी दो प्रकार हैं—कालकृत और अकाल-
 कृत । इनमें से शरीर की योग्य रक्षा करने पर (योग्य समय

द्रव्यक पोषक पदार्थों की कमी इत्यादि का समावेग होता । यद्यपि उपर्युक्त सात प्रकारों में इसका प्रत्यक्ष उल्लेख ही है, तथापि ये सब मिथ्याहार के उदाहरण हैं । इसलिये यका समावेग 'दोषबलप्रवृत्त' में होता है । (४) मनुष्यो-जीवी जीव (Parasites)—उद्यमें जात और अज्ञात विषाणु, कृमि (Worms) और कीटकों का समावेग होता । जीवाणु अत्यंत सूक्ष्म होते हैं, और उनका दर्शन सूक्ष्म-शक के सिवाय नहीं होता । कुछ जीवाणु सूक्ष्मदर्शक के भी परे हैं । आयुर्वेद के महर्षि इन जीवाणुओं के तथा उनकी गोत्पादक शक्ति के साथ पूर्ण परिचित थे, परन्तु प्राचीन ज्यना के अनुसार संक्रामक रोगों की उत्पत्ति में दैविक शक्ति प्रधान कारण मानते थे । यह फल परिभाषा का है, वस्तुस्थिति का नहीं है । सन् १९१०-१८ में एन्फुएन्जा का जो संसारव्यापी महामारी आई थी, उसके कारणों का यन्त्रोपजनक उत्तर आज का विज्ञान भी नहीं दे सकता । ऐसी अवस्था में यदि कोई श्रद्धालु मनुष्य उम महामारी को देवबलप्रवृत्त माने तो उद्यमें कोई अवेज्ञानिक बात नहीं है । अतः इस कारण को देवबलप्रवृत्त में समावेग करना चाहिये । उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि सुश्रुत में रोगों के कारणों का जो सप्तविध (वास्तविक पट्टिध) वर्गीकरण दिया है वह बहुत उत्तम और व्यापक है तथा पाश्चात्य वर्गीकरण के साथ मिलता है । नीचे दोनों का तुलनात्मक नक्शा दिया जाता है ।

रोगों का वर्गीकरण



अष्टांगसंग्रह में भी सुश्रुत के अनुसार रोगों के सात प्रकार किये हैं—मसविधा खलु रोगा भवन्ति । मह-गर्भ-जात-पीडा-काल-प्रभाव-स्वभावजाः । इनके अर्थ सुश्रुतक्रमानुसार हैं ।

सर्वेषां च व्याधीनां वातपित्तश्लेष्माण एव मूलं, तल्लिङ्गत्वाद्द्रूपफलत्वादागमाच्च । यथा हि कृत्स्नं विकारजातं विश्वरूपेणावस्थितं सत्त्वरजस्तमांसि न व्यतिरिच्यन्ते, एवमेव कृत्स्नं विकारजातं विश्वरूपेणावस्थितमव्यतिरिच्य वातपित्तश्लेष्माणो वर्तन्ते । दोषधातुमलसंसर्गादायतनविशेषाच्च-मित्ततश्चैषां विकल्पः । दोषदूषितेष्वत्यर्थं धातुषु

१ विकल्पा भवन्ति.

संजा क्रियते रसजोऽयं, शोणितजोऽयं, मांसजोऽयं, मेदोजोऽयम्, अस्थिजोऽयं. मज्जजोऽयं. शुक्रजोऽयं व्याधिरिति ॥८॥

(रोगों में) उन (वात, पित्त और कफ) के लक्षण होने के कारण, (उन लक्षणों के अनुसार चिकित्सा करने से रोगशान्ति रूप) फल प्रत्यक्ष होने के कारण, तथा शाखा-धार के कारण समस्त व्याधियों का मूल वात, पित्त और कफ ही (प्रजात होता) है । जैसे कि विश्व के रूप में प्रकट हुए मात्रा के संपूर्ण विकारसमूह से सत्वगुणा, रजोगुणा और तमोगुणा पृथक नहीं होते, वैसे ही विविध रूप में प्रकट हुए समस्त विकारसमूह को न छोड़कर वात, पित्त और कफ होते हैं । दोषों, धातुओं और मलों के संयोग से, स्थानभेद से तथा निमित्तभेद से इन (रोगों) के अनेक प्रकार होते हैं । दोषों से अत्यंत दूषित हुए धातुओं की ही संज्ञा की जाती है कि यह व्याधि रसज है, रक्तज है, मांसज है, मेदोज है, अस्थिज है, मज्जज है और शुक्रज है ॥८॥

वक्तव्य—मूल—आदिकारण । रोगों के लिये त्रिदोषों का आदिकारणत्व प्रत्यक्षादि चतुर्विध प्रमाणों द्वारा यहाँ सिद्ध किया है । १ अनुमान—तल्लिङ्गत्वात् । जिसमें वातादि दोषों के लक्षण न हों तथा जिसमें वातादि दोषों के लक्षणों के अतिरिक्त अन्य लक्षणा हों ऐसा कोई भी रोग नहीं दिखाई देता; इसलिये कार्य कारण न्याय से यह कहा जा सकता है कि समस्त रोगों का आदि कारण त्रिदोष है—कारणानुविधायित्वात् कार्याणां तत्त्व-भावता । इसी सिद्धान्त पर आगे ३५वें अध्याय में अज्ञात रोगों की चिकित्सा दोषानुसार करने के लिये लिखा है—अनुक्तमपि दोषाणां लिंगैर्व्याधिमुपाचरेत् ॥ २ प्रत्यक्ष—दोषों के अनुसार लक्षण प्रकट होते हैं । उनको देखकर कार्य कारण भाव से विकृत दोषों का निर्णय करके जब चिकित्सा की जाती है तब रोग की शान्ति हो जाती है, यह प्रत्यक्ष प्रमाण है । आयुर्वेद के निदान पंचक में से उपशय इस प्रत्यक्ष प्रमाण के ऊपर अधिष्ठित है । यथा—स्नेहोष्णमर्दनाभ्याञ्च यः प्रणश्येत् स वातिकः । (त्वरक. सूत्र. अ. १८) । ३ आगम—वेद, ज्योतिष, उपनिषद्, योगशास्त्र और आयुर्वेद के विविध ग्रंथों में भी रोगों का कारण त्रिदोष ही माना गया है । यथा—त्रिणो अश्विना दिव्यानि मेपजा त्रिः पार्थिवानि त्रिरे द्रुतमद्भयः । ओमान शयोर्ममकाय सृजने त्रिधातु शर्म बहत शुभस्पतीः ॥ (ऋग्वेद) । त्रिधातु वातपित्तश्लेष्मधातुत्रयशमन-विषय सुख बहतम् । (सायणाचार्य भाष्य) । नौध्यां दौत्यसुहृदयुरु-द्विजधन विद्वत्प्रसायशोयुक्तिद्रव्यसुवर्णवितरमहीसौभाग्यसौत्यातयः । हान्योपासनकौशल मतिचयो धर्मक्रियासिद्धयः पारुष्यं श्रमवन्धमान-मशुचः पीटा च धातुत्रयात् ॥ (वराहमिहिर) । हृदयेभ्योन्तराग्नि-रग्निस्थाने, पित्तं पित्तस्थाने, वायुर्वायुस्थाने, हृदय प्राजापत्यात्मकात् । पित्तप्रस्थं कफस्याढकम् । (गर्भोपनिषद्) । नाभिचक्रे संयम कृत्वा काय-ब्यूह विजानीयोह । वातपित्तश्लेष्माणस्त्रयो दोषाः । धातवः सप्त त्वरलो-हितमांसस्नायुस्त्रिमज्जाशुक्राणि । पूर्व पूर्वमेपां बाह्यमित्येष विन्यासः । ('नाभिचक्रे कायब्यूहज्ञानम्' इस पर का व्यासभाष्य) । ४ उपमान—'यथा हि कृत्स्नं विकारजातम्' इत्यादि । विकारजातम्—(१) प्रकृति से उत्पन्न हुए महदादि तेईस विकार—मूलप्रकृति-रविकृतिर्महदायाः प्रकृतिविकृतयः सप्त । गोटशकत्तु विकारो न प्रकृति-

नै विकृतिं पुरष । (साल्यकारिका) । (२) रोगसमूह—विकारी धातुवैषम्यम् । रोगस्तु दोषवैषम्यम् ॥ विश्वरूपेण—(१) सर्वेषां जगत् के स्वरूप में । (२) नानाविधरूपेण । न भ्यतिरिच्यन्ते—न पृथक् भवन्ति । अग्र्यतिरिच्य अपरित्यज्य । समर्ण—सयोग । विकल्प—भेद । भावनन—स्थान । निमित्त—बाह्यकारण—येनाहारविहारेण रोगानामुद्भवेत् । क्षये वृद्धिश्च दोषाणां निदानं हितदुच्यते ॥ (चक्रसेन) । तेषां विकल्पा भवन्ति—दोषादि के कारण इन रोगों के असत्य भेद होते हैं । जैसे—दोषों के कारण सप्तविध विसर्प, धातुओं के कारण सप्तविध कुष्ठ, मूल के कारण आनाह या अतिसार, स्थान के कारण हृद्रोग, मुखरोग, नेत्ररोग और निमित्त के कारण स्युत्पाण्डु रोग, क्षीमाज्वर, शोकातिसार, भयातिसार, कृमिज शिरारोग, विषमदास्य कोष ज्वर इत्यादि—तत् पञ्चपरिसंख्येया नियमाना भवन्ति हि । स्ववर्णस्तु स्थानस्थानसंस्थाननामनि ॥ (चरक) । म पूव कुपितो दोष सगु स्थानविशेषतः । स्थानान्तरणदक्षैश्च विकारान् कुले बहव ॥ (वाग्भट) । एतेषोऽयमिति—यद्यपि रसज शब्द से रोग की उत्पत्ति रस से मालूम होती है, तथापि वास्तव में वह रसस्थित दोष से हीनी है । व्यवहार में जिस धातु में दोष का अवस्थान होता है उसका नाम घृतदग्ध की भाँति रोग के लिये दिया जाता है, परंतु धातु मूलों की रोगहेतुकत्व कल्पना औपचारिक है । रोगकृत्व दोषों के अतिरिक्त और कहीं नहीं हो सकता—रसादिस्थेयु दोषेषु व्याप्य समवन्ति ये । तत्रानित्युपचारेण तानाद्युत्पत्तदहा वद ॥ (अष्टांगसंग्रह) ।

तत्र, अक्षाध्वजारोचकायिपाकाङ्गमर्द्वज्यरहृत्सास्त्वृत्तिगौररहृत्पाण्डुरोगमार्गोपरोधकार्श्यैरस्याङ्गसादाकालवलिपलितदर्शनप्रभृतयो रक्तदोषजा विकाराः ॥९॥

(रसज विकार—) उनमें अक्षद्वेष, अस्वि, अजीर्ण, वदन में पीड़ा, ज्वर, हृत्साल, तृप्ति, भारीपन, हृद्रोग, पाण्डुरोग, खोतोवरोध, कृण्णता, मुख की रुचि में फर्क होना, धकान, योग्य काल के पहले शरीर पर कुर्रियाँ पड़ना और बाल सफेद होना इत्यादि रसस्थ दोष के विकार हैं ॥९॥

घृत्तदग्ध—भक्षाभक्षारोचक—भ्रमकायां मुखमविहृत्स्वाहारस्याभ्रवहरण भ्रवरेष परस्वनिष्ठा भरुषौ तु मुखमविष्टं नाम्ब्रलीति भेद । (चक्रपाण्डित) । ब्रह्मण—मितली (Nausea) । एति—संदेह घेट भरा सा मालम होना—उग्रारसुजातयि भक्त काक्षा न आवये । (सुश्रुत) । (Sense of Satiety) । मार्गोपरोध—अन्न, मूल, मूत्र इत्यादि खोतलों के कार्य में रुकावट उत्पन्न होना ।

कुष्ठविषसर्पिष्टकामशकनीलिकातिलकालकन्य ष्टद्वयङ्गद्रुमसहस्रीहृदिप्रधिगुचमयातशोणितारोऽर्षुदाङ्गमर्द्वज्यरक्तकपिसप्रभृतयो रक्तदोषजा युद्-सुखमेकूपाकाश्च ॥१०॥

(रक्तज विकार—) सप्त प्रकार के कुष्ठ, विसर्प, विस्कोट मारक, भीसिका, तिलकालक, स्वपथ, भ्रम, इन्द्रपुत्र, मूत्रा (की वृद्धि), विप्रधि, (रक्त) गुग्गुलु, वातरक्त, अर्ष, मधुद, अङ्गमर्द, इन्द्रप्रर, रक्तपित्त इत्यादि विकार तथा गुग्गुलाक, मुक्ताक, और शिंगपाक रक्तज्य दोष से होते हैं ॥१०॥

अधिमांसार्बुदार्शोऽधिजिह्वोपजिह्वोपकुशागल शुण्डिकालजीमांससंघातोऽष्टप्रकोपगलगण्डगण्ड-मालाप्रभृतयो मांसदोषजाः ॥११॥

(मांसज विकार—) अधिमांस, अर्बुद, अर्ष, अधिजिह्वा-उपजिह्वा, उपकुश, गलगण्डिका, अलजी, मांससवाल, अ-प्रकोप, गलगण्ड, गण्डमाला इत्यादि मांसस्थ दोषज विकार हैं ॥११॥

प्रन्थिवृद्धिगलगण्डार्बुदमेदोजौष्टप्रकोपमधुमे तिस्थौल्यातिस्वेदप्रभृतयो मेदोदोषजा ॥१२॥ (मेदोज विकार—) मेदोप्रन्थि, मेदोवृद्धि, गलगण्ड, अर्ष मेदोज ओष्टप्रकोप, मधुमेह, अतिस्थीर्य, अतिसंवेद प्रभ-मेदस्थित दोषों के विकार हैं ॥१२॥

घृत्तदग्ध—मधुमेह—मधुमेह शब्द से यहाँ सर्व प्रमेहों में भी प्रवृत्त हो सकता है । क्योंकि सर्व प्रमेहों में मेदोवृद्धि प्रवृ होती है—वहवर्द्ध मेदोमांस दूष्यविशेषा । (चरक) । मधुमे शब्द का प्रयोग भी कभी कभी सर्वप्रमेहों के लिये ही रक्त है—मधुमेहरक्त सर्वप्रमेह मधुमेदविशेषे च वर्तते, तथा दूषण सर्वतुल्ये वृणविशेषे च वर्तते । (चक्रपाण्डित) ।

अध्यस्थधिदन्तास्थितोद्गूलकुनखप्रभृतयोऽस्थिदोषजाः ॥१३॥

(अस्थिविकार—) अध्यस्थि, अधिदन्त, अस्थितोद, अस्थि दूल, कुनख इत्यादि अस्थिगत दोषों के विकार हैं ॥१३॥

घृत्तदग्ध—अध्यस्थि—अस्थि का अर्बुद । इसको (Exostosis) या (osteoma) कहते हैं । अधिदन्त—दाँत के अर्बुद । इसको ओडंटोमा (Odantome) कहते हैं । ये दोनों विकार अस्थि की अतिवृद्धि के निर्दोषक हैं ।

तमोदर्शनमूर्च्छार्धमपर्वस्थूलमूलारुर्जन्मनेत्राणि स्पन्दप्रभृतयो मज्जदोषजाः ॥१४॥

(मज्जज विकार—) अंधेरी आना, बेहोशी (बकर आना) भ्रम, अंगुलियों के पर्वों पर बड़े बड़े मख होना, नेत्रानिष्पन्न इत्यादि मज्जास्थित दोषों के विकार हैं ॥१४॥

घृत्तदग्ध—भ्रम—चक्र के उपर आरूढ होने के समान सदैव आभास होना । सर्वसंभ्रमहर्षणम्—सर्वसु स्थूलहानन रूपा जन्म—भ्रमणां स्थूलमानां पर्वानां च दर्शनम् । (चरक) । स्थूलहानानाम्—गभीरपरिणाशानाम् । (शिवदाससेन) ।

क्षिण्यापहर्षणाम्भ्रमरीनुममेहनमृदोपाद्यश्च तद्दोषजाः ॥१५॥

(शुक्रज विकार—) पण्डता, अग्रहर्षण, शुक्रासरी, शुक्रमेह और (अन्य) शुक्रदोष ये शुक्रस्थित दोषों से होते हैं ॥१५॥

घृत्तदग्ध—क्षिण्य—क्षीर (Sperm या ovam) का अभाव होना । क्षिण्य क्षी और पुरष दोनों में भी होता है । इसको चरक में 'नरनारिषण्ड' (श्रा अ २) कहा है । इसकी शीका में चक्रपाण्डित लिखते हैं—एनी त्वरीयायेव हेतौ । वृत्तं दृष्टौ—'मधुकरुतेव वन्दक' (श्रा अ २) । धीमेनी में इसको स्त्र

ऽ (Sterility) कहते हैं । इसमें ध्वजोच्छ्राय हो सकता
 मेथुन भी होता है परन्तु संतान नहीं होती । अप्रहर्ष—
 शिङ्गिता या लिंगशैथिल्य । इसको इम्पोटन्स (Impote-
 nce) कहते हैं । शुक्रदोषादयश्च—चरक में शुक्रस्थित दोषों
 नेत्र विकार अधिक वर्णन किये हैं—रोगि वा क्षीत्रमल्पायु-
 र्वा वा प्रजायते । न चास्य जायते गर्भः पतति प्रसवत्यपि । शुक्र
 उष्टे सापत्यं मदारं वाप्यते नरम् ॥ (सू. अ. २८) ।

त्वग्दोषाः सङ्गोऽतिप्रवृत्तिरयथाप्रवृत्तिर्वा
 शयतनदोषाः ॥१६॥

(मलज विकार—) त्वचा के विकार, (मलों का) सत्सर्ग
 होना, अत्यधिक होना या न्यूनाधिक होना ये मलस्थानगत
 तों के विकार हैं ॥१६॥

चक्षुष्य—मलों में दोषों का अवस्थान होने से तीन
 र के विकार होते हैं । १ अप्रवृत्ति—जैसे, मलावरोध या
 नाह, मूत्रावरोध या मूत्राघात और स्वेदावरोध । २ अति-
 त्ति—जैसे, अतिसार या प्रवाहिका, बहुमूत्रमेह या उदक-
 और स्वेदाधिक्य । ३ अयथाप्रवृत्ति—अस्वाभाविक वर्ण गंध
 से युक्त मलों की प्रवृत्ति । जैसे—‘पक्वाम्रवसंकाश यक्षु-
 र्निभं तनु’ इत्यादि माधवनिदान में अतिसारोक्त वर्णन किये
 मल का उत्सर्ग होना, वर्णादिभेद के प्रमेह और दुर्गंध-
 फसीना आना । चरक लिखा है—मलानाश्रित्य कुपिता
 शोषप्रदूषणम् । दोषा मलानां कुर्वन्ति सङ्गोत्सर्गावतीव च ॥
 सू. अ. २७) । प्रदूषणम्—प्रदूषण तु प्रदुष्टवर्णादियुक्तत्वेन
 क्तवर्णाद्युपघातः । (चक्रपाणिदत्त) । त्वग्दोषाः—त्वक्स्फुटन,
 रौक्ष्य, त्वग्दोर्गन्ध इत्यादि त्वचा के क्षुद्ररोग । इन रोगों
 समावेश मलज रोगों में करने का कारण स्वेद है । क्योंकि
 चा की सुस्थिति स्वेद की योग्य प्रवृत्ति पर निर्भर होती है—
 दः छेदत्वस्कीकुमार्यद्वत् । (सू. सू. अ. १५) ।

इन्द्रियाणामप्रवृत्तिरयथाप्रवृत्तिर्वेन्द्रियायतन-
 दोषाः; इत्येपं समास उक्तः; विस्तरं निमित्तानि
 षां प्रतिरोगं वक्ष्यामः ॥१७॥

(इन्द्रियायतन विकार—) इन्द्रियों की अपने कार्यों में
 इत्ति न होना, या ठीक ठीक प्रवृत्ति न होना इन्द्रियस्थानगत
 षों के विकार हैं (धातुगत विकारों का) यह संज्ञित
 धन किया गया है । इनका विस्तर और (आहारविहा-
 दि उत्पादक) निमित्त आगे (निदान, चिकित्सा और
 तरतन्त्र में) प्रत्येक विकार के (वर्णन) के समय कहेंगे ॥१७॥

चक्षुष्य—अप्रवृत्तिरयथाप्रवृत्तिर्वा—विनाश अथवा वैकल्य—
 ंद्रियाणि समाश्रित्य प्रकुप्यन्ति यदा मलाः । उपघातोपघातपाभ्यां
 ञपन्तीन्द्रियाणि ते ॥ (चरक) । इन धातुज विकारों में अंगमर्द,
 क्षुद्र, गलगण्ड इत्यादि विकार अनेक धातुओं में निर्दिष्ट किये
 ये हैं । इसका कारण यह है कि ये विकार अनेक धातुओं
 दोषों का अवस्थान होने से ही सकते हैं ।

अब रसज, रक्तज विकार कैसे उत्पन्न होते हैं उनकी संप्राप्ति
 णन कर रहे हैं—

भवति चात्र—

कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम् ।

यत्र सङ्गः स्ववैगुण्याद्वाधिस्तत्रोपजायते ॥१८॥

शरीर में संचार करने वाले कुपित दोषों का स्रोतवैगुण्य
 के कारण जहाँ अवस्थान होता है वहाँ व्याधि उत्पन्न होती
 है ॥१८॥

चक्षुष्य—परिधावताम्—व्यान वायु की प्रेरणा से रस
 की भांति समस्त शरीर में परिभ्रमण करने वाले दोषों का ।
 अष्टांगहृदय में लिखा है—व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा ।
 युगपत् सर्वतोऽनसं देहे विक्षिप्यते सदा ॥ क्षिप्यमाणः स्ववैगुण्याद्दसः
 सञ्जति यत्र सः । तस्मिन् विकारं कुस्ते से वर्षभिव तोयदः । दोषा-
 णामपि चैवं स्यादेकदेशप्रकोपणम् ॥ (शा. अ. ३) । इसकी
 टीका में अस्यादत्त लिखते हैं—एवमनेन न्यायेन दोषाणामपि वाता-
 दीनां व्यानेन विक्षिप्यमाणानामेकदेशप्रकोपणं विकारकरणं स्यात् ।
 संगः—संयोग या अवस्थिति । यत्र—धातु मल इन्द्रियों में से
 जिसमें ।

भूयोऽत्र जिज्ञास्यं, किं वातादीनां ज्वरादीनां च
 नित्यः संश्लेषः परिच्छेदो वा ? इति; यदि नित्यः
 संश्लेषः स्यात्तर्हि नित्यातुराः सर्व एव प्राणिनः
 स्युः अथोप्यन्यथा वातादीनां ज्वरादीनां चान्यत्र
 वर्तमानानामन्यत्र लिङ्गं न भवतीति कृत्वा यदुच्यते
 वातादयो ज्वरादीनां मूलानीति तन्न ॥१९॥

फिर अब यहाँ यह भी जानना चाहिये कि वातादि दोषों
 का और ज्वरादि रोगों का नित्यसंबंध है या पृथक्त्व है ?
 यदि नित्य संबंध हो तो समस्त प्राणिमात्र सदा रोगी ही होते ।
 यदि वातादि का और ज्वरादि का अन्यथा संबंध (परिच्छेद)
 हो तो ‘एक स्थान में होने वालों का चिह्न दूसरे स्थान में नहीं
 मिल सकता’ इस न्याय से वातादि दोष ज्वरादि के मूलकारण
 हैं यह कथन नहीं (हो सकता) ॥१९॥

चक्षुष्य—अत्र—रोगोत्पत्ति के संबंध में । नित्यः संश्लेषः—
 समवायी सम्बन्ध, जैसे सूर्य और आतप, चंद्र और ज्योत्स्ना
 तथा अग्नि और उष्णता का होता है । परिच्छेद—विश्लेष या
 पृथक्त्व, जो पट और तन्तुवाय, घट और कुम्भकार तथा कुण्डल
 और स्वर्णकार का होता है । अथ—पदान्तररूपन्यायसार्थ
 अथ का प्रयोग किया है । अन्यथा—‘सम्बन्धः स्यात्तर्हि’ इति शेषः ।
 यदि परिच्छेद हो तो । ‘अथापि वातादीनां ज्वरादीनामन्यथा
 सम्बन्धः स्यात्तर्हि’ इत्यन्यथः । इति कृत्वा—इति न्यायात् । तन्न—तन्न
 ‘उपपद्यते’ इति शेषः । वातादि दोषों को समस्त व्याधियों का
 मूलकारण मानने पर इनका आपस में सम्बन्ध किस प्रकार
 होता है ? नित्य अपृथक्त्व होता है या नित्य पृथक्त्व होता
 है ? यदि नित्य/अपृथक्त्व हो तो समस्त प्राणियों पर सदा
 रोगग्रस्त होने की आपत्ति आ जाती है । यदि नित्य पृथक्त्व
 हो तो वातादि दोषों को रोगों का कारण मानने में ही आपत्ति
 आ जाती है । इस प्रकार का पूर्वपक्ष इस सूत्र में किया
 गया है ।

अत्रोच्यते दोषान् प्रत्याख्याय ज्वरादयो न भवन्ति; अथ च न नित्य. संबन्धः; यथाहि विद्युद्वाताशनिचर्याण्याकारं प्रत्याख्याय न भवन्ति, सत्यप्याशयो कदाचित्त भवन्ति, अथ च निमित्ततस्त एवोत्पत्तिरिति; तरङ्गुद्भवाद्यधोदरुचियेषाम् एव. वानादीनां ज्वरादीनां च नाप्येवं संश्लेषो न परिच्छेद. शाश्वतिकाः. अथ च निमित्तत एवोत्पत्तिरिति ॥२०॥

इस पर कहा जाता है कि दोगों को छोड़कर ज्वरादि नहीं होते, न इनका नित्य सम्बन्ध है। जैसे कि विजली, वायु, वज्र और वर्षा आकाश को छोड़कर (अन्यत्र) नहीं होते, आकाश के सदा वर्तमान होने पर भी कभी कभी नहीं होते, किन्तु निमित्त होने पर वहाँ ही उत्पन्न होते हैं, जैसे कि लहरी, बुलबुले इत्यादि जल के विशेष (जल को छोड़कर अन्यत्र नहीं होते, निमित्त मिलने पर जल ही से उत्पन्न होते हैं,) वैसे ही वातादि दोगों और ज्वरादि रोगों का न नित्य सम्बन्ध है न नित्य पृथक्त्व है, किन्तु निमित्तों के कारण वातादि दोगों से ही उत्पन्न होते हैं ॥२०॥

यत्कल्प—पूर्व सूत्र में जो पूर्वपक्ष किया गया था इसका समाधान इस सूत्र में किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि तरगादि उदक विशेष जैसे उदक के अतिरिक्त नहीं होते, उदक ही से उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होने के लिये वात-प्रचिचारादि निमित्तों की आवश्यकता होती है, वैसे ही ज्वरादि रोग त्रिदोषों के अतिरिक्त नहीं होते, त्रिदोषों से ही उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होने के लिये मिथ्याहाराचारादि निमित्तों की आवश्यकता होती है। अर्थात् ज्वरादि रोग शरीर में सर्वदा न होने के कारण वातादि दोगों और ज्वरादि रोगों का नित्य सम्बन्ध नहीं हो सकता, तथा वातादि दोगों के लक्षणों के अतिरिक्त कोई भी रोग न होने के कारण इनका नित्य पृथक्त्व भी नहीं हो सकता। सन्धेय में आहाराचारकालादि रोगों का निमित्त कारण या बाह्य निदान है और वातादि दोष तथा रसरक्तादि धातु रोगों का समवायी कारण या आभ्यन्तरीय निदान होता है। निमित्त कारण को ही निदान कहते हैं—वेनाहारविहाण रोगानामुद्भवे भवेत्। क्षुभी वृद्धिश्च दोषानां निदान हि तदुच्यते ॥ (यद्रत्नेन)। इमं व्याधिमुद्देशीय अध्याय में व्याधिमुत्पत्ति की जो सुन्दर, सरल, और गवेषणापूर्ण परंपरा बर्णन की है वह पाश्चात्य विज्ञान के कौन्सी पर भी प्रसृत्य नहीं हो सकती। सुसावबोध के लिये उस परंपरा का क्रम सन्धेय में नीचे दिया जाता है—
१ बाह्य निदान या निमित्त कारण। जैसे—असाधयेन्द्रियार्थ संयोग प्रज्ञापरार्थ और परिणाम—२ दोषवैषम्य, जैसे एक दो या तीनों दोगों का प्रकोप—३ दृष्यवुष्टि, जैसे एक या अनेक धातुओं तथा एक या अनेक अंगों में उन दोगों के वैषम्य के कारण सरावी उत्पन्न होना—४ रूपव्यति, जब धातुओं और अंगों की स्वभावी, पूर्वतया वा अधिकता, होती है, तब उनके गुणों और कमों की हानि वा अधिकता होती है। यह ही रूप होते हैं (५) व्याधि रूप पूर्णतया प्रकट होने पर

उनके समुदाय विशेष को व्याधि कहते हैं—ननु कोऽपि रोगो भवेत्, न च रूपव्यतिरेकं व्याधिप्रकल्पने, यतो विविधं रूपं व्याधय एव ज्वर, वातादिनादिरूपव्येदं रात्रयश्ना। उच्यते—नैव, तथापि दोषरूपमूठेनाविशेषं ज्वरादिभ्यो व्याधि । व्याधय । त्रिंवा अत्रव्याधय एव प्रत्येकं रोगं नित्यमुद्गरो व्याधि यत् समुदायिभ्योऽप्य एव समुदाय, यथा—यद्विरलक्षणं नवति (धीकण्डूतत मयुर्काशम्यारया)।

भवति चाप्र—

विवारपरिमाणं च संख्या चैषां पृथक् पृथक् । विस्तरेणोत्तरे तन्त्रे सर्वावाधाश्च वक्ष्यते ॥

इति सुश्रुतसंहिताया मध्यस्थाने व्याधिमुद्देशीयं नाम चतुर्विंशतिवमोऽध्यायः ॥२१॥

विकारों की पूर्ण संख्या, उनके भेदों की पृथक् पृथक् संख्या और सबे उपद्रव विस्तारपूर्वक उत्तरतन्त्र में सब किये जायेंगे ॥२१॥

यत्कल्प—विकारपरिमाण—स्वीय सदनुसंगकथा—यथी तु मध्य वच्छन् विरलित च । (उत्तरतन्त्र अ ६६)। पृथक्—अवयवसख्या । यथा—पदशानि, चतस्रोऽवयव भवन्तु शानि इत्यादि । बाधा—उपद्रव । उत्तरे तन्त्रे—सुवस्थान आगे निदानस्थान में तथा उत्तर स्थान में ।

सुश्रुतसंहिता में जितने रोग वर्णन किये हैं, स्थानानुसंग संख्यासहित उनके श्लोकबद्ध नाम बह्वर्थाचार्य ने उत्तरतन्त्र के ६६ वें अध्याय में 'व्याधीनां तु सहस्र वच्छन् विरलित च' इसकी टीका में दिये हैं ।

इति भास्कर(शर्मणा गोविन्दरायणेन विरचितयामाधुर्वेदरेखसरीरिक्त मधुप्रभाषटीकायां व्याधिमुद्देशीयो नाम चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ॥२१॥

पञ्चविंशतितमोऽध्यायः ।

अथातोऽध्वयिधशस्त्रकर्मयमध्यायं व्याख्यायाम् । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब कहाँ से अष्टविंशतितमोऽध्याय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

छेद्या भगवन्दरा ग्रन्थिः ऋषिपिकस्तिलकालकः । प्रणयत्तर्मातुर्दान्यशर्मकीलोऽस्थिमांसगम् ॥२॥ शल्यं जनुमण्मिमांससंघातो गलशुष्टिका । स्नायुमांससिराकोथो बल्मीकं शतपोनकः ॥३॥ अधुपञ्चोपद्रवाश्च मांसकण्ठधिमामंसकः ।

भगवन्दर, ऋषिक प्रधि, तिलकालक, नाडीबद्ध, कवासी, अशुंठ, चर्मकील, अस्थि और मांसगत शल्य, जनुमणि (शुभ्र रोग), मांससंधान (मुलरोग), गलशुष्टिका, छातु मांस और सिरामो का सड़ा हुआ भाग, बल्मीक (शुद्ररोग), शतपोनक (भगवन्दरभेद) अधुप (मुलरोग), उपद्रव मांसकटी और अधिमांस (मुलरोग) छे विकार प्रेदन करने योग्य है ॥२-३॥

ग्रा विद्रधयोऽन्यत्र सर्वजाद्ग्रन्थयस्त्रयः ॥४॥

दितो ये विसर्पाश्च वृद्धयः सविदारिकाः ।

हापिडंकाशोफस्तनरोगावमन्थकाः ॥५॥

स्मीकानुशयीनाड्यो वृन्दौ पुष्करिकालजी ।

यशः क्षुद्ररोगाश्च पुष्पुटौ तालुदन्तजौ ॥६॥

रेडकेरी गिलायुश्च पूर्वं ये च प्रपाक्रिणः ।

स्तस्तथाऽश्मरीहेतोर्मेदोजा ये च केचकू ॥७॥

सन्निपातिक के अतिरिक्त अन्य सब विद्रधि, वातज पित्तज कफज ग्रंथि, वातज पित्तज और श्लेष्मज विसर्प, वृद्धिरोग, रिफिका (क्षुद्ररोग), प्रमेहपिडका, ब्रणशोथ, स्तनविद्रधि, शैथक (शूकरोग), कुम्भीका (शूकरोग), अनुशयी (द्रोम), नाडीब्रण, दोनों प्रकार के वृन्दरोग (कण्ठरोग), रिफिका और अलजी (शूकरोग), प्रायः सर्व क्षुद्र रोग, पुष्पुट और दन्तपुष्पुट, तुण्डिकेरी (तालुरोग), गिलायु (गण्ठरोग), (मुखरोगों में) अन्य पकने वाले रोग, अश्मरी इरण के लिये बस्ति और कई मेदोरोग ये भेदन करने के विकार हैं ॥४-७॥

ऋष्याश्चतस्रो रोहिण्यः किलासमुपजिहिका ।

मेदोजो दन्तवैदर्भो ग्रन्थिवर्त्माधिजिहिका ॥८॥

अर्शांसि मण्डलं मांसकन्द्री मांसोन्नतिस्तथा ।

वातज पित्तज कफज और सन्निपातज रोहिणी (कण्ठरोग), लास (श्वेतकुष्ठ), उपजिहिका (Ranula), मेदोज दन्त-भि, ग्रंथि, वर्त्मरोग, अधिजिहिका (Epiglottitis), बवा-पर, मंडल (कुष्ठभेद), मांसकंद, मांसोन्नति (दुष्टमांसभि-द्धि) ये विकार लेखन करने योग्य हैं ।

वेध्याः सिरा बहुविधा मूत्रवृद्धिर्वकोदरम् ॥९॥

बहुत प्रकार की सिराएँ, मूत्रवृद्धि (Hydrocele) और लोदर ये रोग वेधन करने योग्य हैं ॥९॥

एण्या नाड्यः सशल्याश्च व्रणा उन्मार्गिणश्च ये ।

नाडीब्रण, गल्ययुक्त व्रण और तिर्यग्गति युक्त व्रण आलाका द्वारा एण्या करने योग्य हैं ।

आहार्याः शर्करास्तिस्रो दन्तकर्णमलोऽश्मरी ॥१०॥

शल्यानि मूढगर्भाश्च वर्चश्च निचितं गुदे ।

तीनों प्रकार की शर्कराएँ दंतशर्करा (Tarter), पाद-शर्करा, मूत्रशर्करा (Gravel), दांत और कान का मेल, अश्मरी, सब प्रकार के गल्य (Foreign body), मूढगर्भ, और गुदा में जमा हुआ कड़ा मल ये आहरण करने योग्य हैं ॥१०॥

स्नाय्वो विद्रधयः पञ्च भवेयुः सर्वजादते ॥११॥

कुष्ठानि वायुः सरुजः शोफो यश्चैकदेशजः ।

पाल्यामयाः श्लीपदानि विपजुष्टं च शोणितम् ॥१२॥

अर्बुदानि विसर्पाश्च ग्रन्थयश्चादितस्तु ये ।

त्रयस्त्रयश्चोपदेशाः स्तनरोगा विदारिका ॥१३॥

सुपिरो गलशालकं कण्टकाः कृमिदन्तकः ।

दन्तवेष्टः सोपकुशः शीतादो दन्तपुष्पुटः ॥१४॥

पित्तासृक्कफजाश्चौष्ठ्याः क्षुद्ररोगाश्च भूयसाः ।

सन्निपातज विद्रधि के सिवा पाँचों विद्रधि, कुष्ठ, शूलयुक्त वायु, एक स्थान में उत्पन्न हुआ शोथ, कर्णपाली के रोग, श्लीपद (Elephantiasis), विपयुक्त रक्त, अर्बुद, विसर्प, प्रारंभिक तीन ग्रंथि और तीन उपदेश, स्तनरोग, विदारिका (क्षुद्ररोग), सौपिर (दन्तरोग), कण्टक (पादरोग), गल-शालक, कृमिदन्तक, दन्तवेष्ट, उपकुश, शीताद, दन्तपुष्पुट, पित्त रक्त और कफ जन्य ओष्ठ रोग और बहुत से क्षुद्ररोग रक्त-स्रवण करने योग्य होते हैं ॥११-१४॥

वक्तव्य—कुष्ठ विकार अनेक शस्त्रकर्मों के लिये योग्य बतलाये गये हैं । इसका कारण यह है कि विकार की स्थिति तथा रोगी की स्थिति के अनुसार अनेक शस्त्रकर्मों का प्रयोग उस विकार की चिकित्सा के लिये करना पड़ता है—कर्मणा कश्चि-देकेन द्वाभ्यां कश्चित्त्रिभिस्तथा । विकारः साध्यते कश्चित्तुभिरपि कर्मभिः ॥ (सु.) ।

सीव्या मेदःसमुत्थाश्च भिन्नाः सुलिखिता गदाः ॥१५॥

सद्योव्रणाश्च ये चैव चलसन्धिव्यपाश्रिताः ।

मेदोभव रोग जिनका भेदन और लेखन ठीक किया गया है, ताजे घाव (जो धूलि आदि से दूषित हों) और चलाय-मान संधियों के आश्रित जो घाव हों वे सीवन करने योग्य हैं ।

वक्तव्य—अष्टांगहृदय में निम्न व्रण सीवन करने योग्य बतलाये हैं—सद्यः सद्योव्रणान् सीन्येद्विद्वत्तानभिवातजान् । मेदोजान् लिखितान् ग्रंथीन् ह्रस्वाः पालिश्च कर्णयोः ॥ शिरोक्षिकूटनसौ-ष्ठगण्टकर्णोश्चाहुषु । श्रीवाललाटमुष्करिफडमेढ्रपायूरारिषु । गंभीरेषु प्रदेशेषु मांसलेष्वनलेषु च ॥ (सूत्रस्थान अ. २९) ।

न क्षाराग्निविषैर्जुष्टा न च मास्तवाहिनः ॥१६॥

नान्तलोहितशल्याश्च तेषु सम्यग्विशोधनम् ।

क्षार, अग्नि और विष से उत्पन्न हुए, पवनवाही तथा जिनके भीतर रक्त तथा शल्य हों ऐसे व्रणों का सीवन नहीं करना चाहिये । इनके बारे में (प्रथम) शोधन करना आवश्यक है ।

वक्तव्य—न तु वक्षणकक्षादावलयमांसचले व्रणान् । वायुनिर्वा-हिनः शल्यगर्भान् क्षारविषाग्निजान् ॥ (अष्टांगहृदय) । मास्त-वाहिनः—वायुजनक जीवाणुओं का प्रवेश होने से व्रण में वायु उत्पन्न होती है और बाहर निकला करती है । ये जीवाणु वात भी (Anaerobes) हैं और इनमें बैसीलस वेलची और विब्रिओ सेप्टिक (B. Welchii and Vibrio Septic) प्रधान हैं ।

पांशुरोमनखादीनि चलमस्थि भवेच्च यत् ॥१७॥

अहतानि यतोऽमूनि पाचयेयुर्भृशं व्रणम् ।

रुजश्च विविधाः कुयुस्तस्मादेतान् विशोधयेत् ॥१८॥

धूलि, बाल, नाखून इत्यादि वस्तु तथा हड्डी के चलाय-मान टुकड़े यदि व्रण से न निकाले जायें तो व्रण को बहुत पका देते हैं तथा नाना प्रकार की पीडा करते हैं । इसलिये धूलि आदि से व्रण का विगोधन करना चाहिये ॥१७-१८॥

यक्तव्य—ग्रथ को सब से पहले सीने के पूर्व पूर्वतया मुद्र करने की आवश्यकता होती है। उसके भीतर धूल आदि जो जुड़ हो उसको निकाल देना चाहिये। हड्डी के छोटे छोटे टुकड़ों को जो हड्डी से टूटकर हो गये हैं, निकाल देना चाहिये। बड़े बड़े टुकड़े जो हड्डी के साथ जुड़े हुए हैं जहाँ तक हो सके नहीं निकालना चाहिये। क्योंकि आवश्यकता से अधिक भाग निकालने से वह हड्डी कमजोर हो जाती है। त्वचा तथा मांस जो फटकर इनस्तन हो गया हो उसे पयास्थान स्थापित करके ग्रथगोषक घोल से मुद्र करने के पश्चात् सीना चाहिये। यदि त्वचा और मांस बहुत ही खराब हो गया हो कि जिसके स्वस्थ होने की आशा नहीं हो सकती तो उसको काटकर निकाल देना ही उचित है। सीमेचकारिधनुषप्रत्यग्रोपासीय तु । प्रथम मंस विच्छिन्न निवेश सन्निवेशे ॥ (अष्टांगहृदय) ।

ततो ग्रथं समुद्रम्य स्थापयित्वा यथास्थितम् ।

सीव्येत सूक्ष्मेण सूत्रेण धरकेनाश्मन्तकस्य वा ॥१९॥

शणजक्षीमसूत्राभ्यां स्नाय्वा यालेन वा पुनः ।

मूर्वागुह्वृचीतानैर्वा—

फिर ग्रथ को किंचित् ऊँचाकर यथास्थान स्थापन करके महीन सूत्र, अश्मन्तक बालक, सनसूत्र, क्षौमसूत्र (रगम), स्नायुतान, (घोटे के) बाल, मूर्वा अथवा गिलोय के तन्तु इनमें से एक द्वारा सी दे।

यक्तव्य—ग्रथ—मर्णीष्ठ । यथास्थित स्थापयित्वा—दोनों तरफ के मर्णीष्ठ के किनारों का ठीक मिलन करके । अश्मन्तक—'मन्थोत्कमद्वी वृक्ष' । (इच्छया) । अन्ये कीविदारसदृशसुगम पत्रं स्नाविशेषमस्मन्तकमाश्वने ॥ स्नायु—शणजकर उपधातुविशेषो येन पन्थि नयाने । अंग्रेजी में इसको टेंडन (Tendon) कह सकते हैं। आधुनिक शल्यशास्त्र में मीने के लिये 'कागुरु' नामक प्राणी के ख्यातु का उपयोग किया जाता है। तान—तन्तु । आधुनिक काल में सीने धीरे धीरे टाँके लगाने के लिये

प्रयोग किया जाता है। प्रयोग करने से पूर्व इन वस्तुओं का पूर्ण विधोषण करना चाहिये अन्यथा ग्रथ दूषित होने की सम्भावना होती है।

—सीव्येद्भेदितकं शनैः ॥२०॥

सीव्येद्भोफणिकां वाऽपि सीव्येद्वा तुप्रसेवनीम् ।

ऋजुग्रन्थिमयो वाऽपि यथायोगमथापि वा ॥२१॥

(उपर्युक्त वस्तुओं से) धीरे धीरे वेहिनक, गोफणिका, तुप्रसेवनी अथवा ऋजुग्रथ इनमें से एक प्रकार का सीवन स्थान के अनुसार जैसा योग्य हो वैसा लगा दे ॥२०-२१॥

यक्तव्य—यहाँ सीवन के चार प्रकार आकार के अनुसार वर्णन किये गये हैं—(१) वेहिनक, (२) गोफणिका, (३) तुप्रसेवनी, और (४) ऋजुग्रथ । वेहिनक—वृक्ष के स्तम्भ पर चढ़े हुए बेल की आकृति एक ही ओर से देखने पर जैसी

दियाई देती है, वैसी आकृति इस सीवन की दिखाई देती है। इसका सादृश्य आधुनिक 'ग्लोवरर्स कंटी'सूत्र (Glover's continuous Suture) के साथ होता है। ग्रथ के एक ओर से दूसरे ओर एक ही सूत्र से अविच्छेद लगाये जाते हैं। इस सीवन का उपयोग ताँबे (Aseptic) ग्रथों के संबंध में ही होता है। (२) गोफणिका—इसका सीवन गोफण्य के समान होता है। इसका आधुनिक 'ब्लान्केट सूचर' (Blanket Suture) के होता है। इसमें भी वेहिनक की भाँति एक ही सूत्र से विच्छेद टाँके लगाये जाते हैं परन्तु रचना भिन्न होती है। (३) वेह चिमटी से ग्रथ के ओष्ठों को पकड़कर सुई को एक ओर से दूसरी ओर को निकाल कर यहाँ ही पहला टाँका लगाता है। तत्पश्चात् सुई को सूत्र के साथ फिर अपनी ओर से पूर्ववत् अपनी ओर से दूसरी ओर सुई को निकाल देता है। परन्तु इस समय सुई सहायक के द्वारा पकड़े हुए ऊपर से निकल आती है, जिससे एक प्रकार का फटाका होता है। इस प्रकार सारा ग्रथ का भाग सी दिया जाता है। इस उपयोग अधिक विस्तृत ग्रथ को बंद करने के लिये होता है। (३) तुप्रसेवनी—धीरे हुए बाल के किनारों को मिलाने के लिये करने वाला जिस प्रकार से सुई और सूत्र द्वारा करता है उसी प्रकार के टाँके यहाँ लगाये जाते हैं। सीवन भी अविच्छेद है। इसका सादृश्य 'हालस्टेड्स सबक्यूलर स्टिच' (Halstead's Subcuticularstitch) साथ है। इससे ग्रथ के ओष्ठ पूर्वतया मिल जाते हैं, जिससे ग्रथ बन्धु नहीं के बराबर हो जाती है। (४) ऋजुग्रथ—सविच्छेद सीवन है। इसके टाँके एक दूसरे से पृथक् पृथक् हैं। अंग्रेजी में इस प्रकार के सीवन को 'इन्टरटेड्ड सूचर' (Interrupted Suture) कहते हैं। इसमें चिमटी से किनारों को पकड़कर दोनों किनारों में से सुई के सूत्र प्रविष्ट किया जाता है। पश्चात् सुई को सूत्र से पृथक् गाँठ बाँध दी जाती है। गाँठ बाँध चुकने पर ग्रथ के दोनों ओर आधा इंच के लगभग सूत्र छोड़कर शेष काट दिया जाता है। इस प्रकार उचित अन्तर पर एक एक ओर से दूसरी ओर टाँके लगाये जाते हैं। ऋजुग्रथ का उपयोग बाह्य त्वचा के सीवन में अधिक होता है। अंग्रेजी में अविच्छेद सीवन होने के कारण किनारों के मिलने में अश्वि नताव होता है, वहाँ ऋजुग्रथसीवन अधिक उपयोगी होता है। तथा यदि ग्रथ में पूरा उत्पन्न हो जाय तो इस प्रकार सीवन में एकाध टाँके को काटकर पूरा को निकालने में सुगमता होती है और समस्त ग्रथ का सीवन डीला नहीं होता है। देशोऽल्पमांसे सन्धौ च सूची वृक्षाऽङ्गुलद्वयम् । आयता व्यङ्गुला व्यञ्जा मांसले वाऽपि पूजिता । धनुर्वक्रा हिता मर्मफलकोशोद्दोषपरि । इत्येतास्त्रिभिधा सूचीस्तीक्ष्णाम्रा सुसमाहिता । कारयेन्मालतीपुष्पवृन्ताप्रपरिमण्डलाः

घोड़े मांस वाले अंग में तथा संघियों में दो अंगुल और गोलसूत्र सुई चाहिये, अधिक मांस वाले अंग में

अंगुल लंबी और तिधारी सुई होनी चाहिये तथा मर्मस्थान, वृषण कोष और उदर इन में धनु के समान वक्र सुई होनी चाहिये । इस प्रकार मालती पुष्प के वृत्ताग्र के समान मोटी सुई, सुनिष्पन्न (साफ, मुलायम और मजबूत) और तीक्ष्ण अप्रवाली तीन भाँति की सुई बनवानी चाहिये ॥२२-२३॥

वक्तव्य—आधुनिक पाश्चात्य शल्यशास्त्र में भी तीन प्रकार की सुई प्रयोग होती हैं—सीधी, धनुर्वक्रा और वक्रमुखा । इनका वर्णन पीछे शस्त्राध्याय (आठवें) में किया गया है ।

नातिदूरे निरुष्टे वा सूचीं कर्मणि षतयेत् ।
दूराद्गुजो ब्रह्मैष्टस्य सन्निरुष्टेऽवलुञ्चनम् ॥२४॥

सीवन करते समय टाँके किनारे से अत्यंत दूर दूर या अत्यंत निकट निकट नहीं लगाने चाहिये । क्योंकि अति दूर टाँके लगाने से (तनाव के कारण) व्रण के किनारों में पीड़ा होती है और अति समीप लगाने से किनारा टूट जाने की संभावना होती है ॥२४॥

अथ क्षौमपिचुच्छन्नं सुस्यूतं प्रतिसारयेत् ।
प्रियङ्ग्वञ्जनयष्ट्याद्दुरोधचूर्णैः समन्ततः ॥२५॥

शालकीफलचूर्णैर्वा क्षौमध्यामेन वा पुनः ।
ततो ब्रह्मं यथायोगं बद्ध्वाऽऽचारिकमादिशेत् ॥२६॥

भली भाँति सीवन करने के पश्चात् व्रण को रेशमी वस्त्र तथा रुई के फोड़े से ढक्कर उस पर प्रियंगु, सौवीरांजन, सुलहदी, लोभ्र इनका चूर्ण अथवा शाल के फल का चूर्ण अथवा अलसी के वस्त्र की राख डुरका दे । फिर व्रण को ठीक बांधकर (ब्रह्मितीपासनीय अध्यायोक्त) आचरण का उपदेश करे ॥२५-२६॥

एतदष्टविधं कर्म समासेन प्रकीर्तितम् ।
चिकित्सितेषु कात्स्न्येन विस्तरस्तस्य वक्ष्यते ॥२७॥

यह आठ प्रकार का शस्त्रकर्म संक्षेप यहाँ कहा है । पूर्णता से इसका विस्तार (विविध रोगों की) चिकित्सा में किया जायगा ॥२७॥

हीनातिरिक्तं तिर्यक् च गात्रच्छेदनमात्मनः ।
एताश्चैतन्नोऽष्टविधे कर्मणि व्यापदः स्मृताः ॥२८॥

आठों प्रकार के शस्त्रकर्मों में ये चार व्यापत्तियाँ (हो सकती) हैं—१ हीनच्छेद (आवश्यकता से कम काटना), २ अतिच्छेद (आवश्यकता से अधिक अंग को काटना), ३ तिर्यक्छेद, और ४ आत्मगात्रच्छेद (अपने ही शरीर में शस्त्र से घाव करना) ॥२८॥

अज्ञानलोभाहितवाक्ययोग-
भयप्रमोहैरपरैश्च भावैः ।

यदा प्रयुञ्जीत भिषक् कुशलं
तदा संशेषान् कुरुते विकारान् ॥२९॥

अज्ञान से, लोभ से, अहितकर वाक्य के योग से, भय से, मोह से तथा अन्य भावों से यदि वैद्य शस्त्र का प्रयोग अल्प करे तो वह विकारों को सशेष करता है ॥२९॥

१ एता हि तिस्रो. २ संशेषान्.

वक्तव्य—अहितवाक्य—इष्ट मित्रों से प्रेम के कारण जो अयोग्य सलाह दी जाती है, वह रोगी की दृष्टि से अहितकर है । इसलिये उसे अहितवाक्य कहा गया है । प्रमोह—कर्म के समय शानी मनुष्य का भी चित्तविभ्रम होना । कु—ईपदर्थोऽयं कुशब्दः क्रियाविशेषणम् । (हाराणचंद्र) । सशेषान्—उपर्युक्त कारणों से यदि वैद्य शस्त्रपद आयत विशाल न करके अल्प करे तो दोषों का ठीक ठीक उत्सर्ग नहीं होता और विकार सशेष हो जाते हैं ।

तं क्षारशस्त्राग्निभिरौषधैश्च
भूयोऽभियुञ्जानमयुक्तियुक्तम् ।
जिजीविषुर्दूरत एव वैद्यं
विवर्जयेद्ब्रुविविषाहितुल्यम् ॥३०॥

ऐसा अयुक्ति से (शस्त्रादि का) अभियोग करने वाला वैद्य यदि फिर क्षार, शस्त्र, अग्नि और औषधियों का उपयोग करना चाहे तो जीवन की इच्छा करने वाला रोगी उसे तीव्र विष या सर्प के समान परित्याग करे ॥३०॥

तदेव युक्तं त्वति मर्मसन्धीन्
हिंस्यात् सिराः स्नायुमथास्थि चैव ।
मूर्खप्रयुक्तं पुरुषं क्षणेन
प्राणैर्वियुञ्ज्यादथवा कथंचित् ॥३१॥

मूर्ख वैद्य से अधिक (आवश्यकता से अधिक गहरा, लंबा, टेढ़ा या अस्थान में) प्रयुक्त किया हुआ शस्त्र मर्म, संधि, सिरा, स्नायु, अस्थि इनको छेदन कर देता है अथवा कभी क्षण भर में पुरुष के प्राणों का नाश कर देता है ॥३१॥

भ्रमः प्रलापः पतनं प्रमोहो
विचेष्टनं संलयनोष्णते च ।

स्वस्ताङ्गता मूर्च्छेनमूर्ध्वात्-
स्तीव्रा रुजो वातकृताश्च तास्ताः ॥३२॥

मांसोदकामं रुधिरं च गच्छेत्
सर्वेन्द्रियार्थोपरमस्तथैव ।

दशार्धसंख्येष्वपि हि क्षतेषु
सामान्यतो मर्मसु लिङ्गमुक्तम् ॥३३॥

पंच (प्रकार के) मर्म स्थान में वेध होने से सामान्य-तया भ्रम, प्रलाप, शक्तिपात, मोह, शरीर की चेष्टा बंद होना, ग्लानि, उष्णता, अंगों की थकान, मूर्च्छा, श्वास, वातजन्य नाना प्रकार की पीड़ा, मांस धोवन के समान रक्त का निकलना और सर्वेन्द्रियों का कार्य बंद होना ये लक्षण होते हैं ॥३२-३३॥

वक्तव्य—भ्रम—चक्कर या अन्यथा ज्ञान । प्रलाप—असंबद्ध भाषण करना । विचेष्टन—विगतकायपरिस्पन्दनम् अथवा विरुद्धवेधन करचरणादिक्षेपादिकम् । संलयनं—सुषुप्तावस्थस्येव चित्त-स्याकर्मण्यता अर्थात् ग्लानिः । माधवनिदान में 'ग्लानिर्योष्णता च' ऐसा पाठ है । ऊर्ध्वात्—श्वास, ऊर्ध्वात् रोग यहाँ अभिप्रेत नहीं है । सर्वेन्द्रियार्थोपरमः—अपने विषयों का ग्रहण करने की

१ संलयनोष्णते च.

शक्ति का नाम । रश् भंग्यु—साम, मिरा, घ्रायु, अस्थि और सधि इन पाँच मर्मा में ।

सुरेन्द्रगोपप्रतिमं प्रभूतं रक्तं स्रवेद्द्रं क्षततश्च वायु ।

करोति रोगान् विनिघ्नान् यद्योक्तान्- शिष्टेभ्यस्तु भिन्नास्वध्या सिरास्तु ॥३५॥

कौन्ज्य शरीरायववावसादः क्रियाम्बशक्तिस्तुमुला रुजश्च ।

चिराद्गणो रोहति यस्य चापि तं स्यादुचिद्धं मनुजं व्यवस्येत् ॥३५॥

शोफातिवृद्धिस्तुमुला रुजश्च बलक्षयं पर्वसु भेदशोफौ ।

क्षतेषु सन्धिष्वचलाचलेषु स्यात् सन्धिकर्मोपरतिश्च लिङ्गम् ॥३६॥

घोरा रजो यस्य निशादिनेषु सर्वास्ववस्यासु न शान्तिरस्ति ।

तृष्णाऽङ्गसादौ श्वययुश्च रक्षतः तमस्थिविद्धं मनुजं व्यवस्येत् ॥३७॥

सिराओं के छेदन तथा भेदन होने में इन्द्रगोप के समान (खाल रंग का) रक्त घाव से बहुत निकलता है और वायु (प्रकृषित होकर) अनेक प्रकार का रोग कर देता है ॥३५॥

शरीर के अंग में चकता, म्लच्छता, स्वकार्य करने की शक्ति न होना, तीव्र पीड़ा और घाव का देर से भर आना ये लक्षण जिसमें होते हैं, उस पुरुष के स्राय का घेद्य हुआ है ऐसा समझना चाहिये ॥३५॥ अतिशय शोष, दास्य पीड़ा, बलक्षय, जोड़ों में स्कोटन की पीड़ा और शीघ्र तथा विद्ध सधि की कार्य हानि ये लक्षण चल या अचल सधि के छेदन में होते हैं ॥३६॥

जिमको रात दिन तीव्र पीड़ा हो, किमी भी अवस्था में चैन न पड़े, तृष्णा और अंगों का थकान हो और (ज्ञान के स्थान में) शोष तथा पीड़ा हो उस मनुष्य का अस्थि कट गया ऐसा समझना चाहिये ॥३७॥

यक्तद्वय—इन श्लोकों में मर्मरहित मिरा, घ्रायु, सधि और अस्थि इनके वेध के लक्षण वर्णन किये हैं । वायु—रक्त का अधिक स्राव होने से वायु प्रकृषित होता है—वायुस्राय सुते रक्ते मन्द स्यात्नेऽमलः । पवनश्च पर कोषे शान्ति ॥ माघवनिदान में इसलिये इस श्लोक का पाठ ऐसा है 'रक्तं स्रवेत्प्रसृज्यश्च वायु ।

बयोक्तव्यं शान्तिवर्धनीयाप्यायोक्तव्यं तथा—तरतिप्रवृत्तं शिरो भिन्नपमाम्बमक्षेपादींश्च करोति' ॥ कौन्ज्य—जिस अंग में स्नायु वेध हुआ है उसीकी बकला । म्द—विदारणवन् पीड़ा विशेष । मधिष्वचलाचलेषु—स्थिर तथा हिलने वाले सधियों में—शय्यासु हनी कर्त्यां च चेष्टावन्श्च तथैव । शेषान्तु मय्य मने विवेका हि शिया दुषे' ॥ (सुश्रुत) । अचल (Immovable), चल (Movable) । क्रियास्वरुति—उल्लेख्य, अवक्षेप्य, आ

कुचन, प्रसारण इत्यादि क्रिया करने की शक्ति न होना । कर्मोपरति—कर्म हानि (Loss of Function) ।

रक्तं च

यथास्वमेतानि विमारयेयुः • लिङ्गानि मर्मस्वभिताडितेषु ।

स्पर्शं न जानाति विषाण्ड्वर्णं यो मांसमर्मण्यभिताडितः स्यात् ॥३८॥

मर्म स्थाना के अभिघात में उपरोक्त लक्षण स्थान अनुसार जानने चाहिये । जो मांस मर्म में ताकित हुआ वह मनुष्य स्पर्श नहीं जानता है तथा वर्ण में कौटका पीला जाता है ॥३८॥

यक्तद्वय—उपर चार श्लोकों में मर्म से सिरा, सधि और अस्थि इनके वेध के जो लक्षण वर्णन किये हैं ही लक्षण (यथास्वमेतानि) सिरामर्म, घ्रायुमर्म, सधि और अस्थिमर्म इनमें अभिघात होने में क्रमशः हानि है पहले श्लोकार्थ का तात्पर्य है । दूसरे श्लोकार्थ में अतुल्य मांस मर्म के वेध से होने वाले लक्षण दिये गये हैं । माघवनिदान में 'विभाबवेधे' ऐसा पाठ है और उसके अनुसार अत्रापि पादिक सामान्य तथा सुरेन्द्र गोपादिक विशेष लक्षण मर्म वेध में समझना चाहिये—चरारोष्य भिन्नक्रमे । एतन्नि क्त्त द्रव्य । नेन न क्वचत् भ्रमरगन्धादीनि पूर्वोक्तानि विन्मर्मविविद्धिदिग्निगान्यपि यवाम्ब बोद्धव्यानीत्यर्थः । (बृहत्संहिता) ।

आत्मानमेवाय जघन्यकारी शत्रेण यो हन्ति हि फर्मं हुर्वन् । तमात्मवानात्महन् बुवैद्य विचर्जेयदायुरभीप्समान ॥३९॥

जो हीनकर्म करने वाला वैद्य शस्त्रकर्म करता हुआ अफ को शस्त्र से छेदन करता है उस आत्मघाती मूर्ख वैद्य का समीच रहने की इच्छा करने वाला बुद्धिमान् रोगी, दूर से ही परित्याग करे ॥३९॥

यक्तद्वय—जघन्यकारी—स्वगात्रच्छेदन जैसा हीन कर्म करने वाला । तिर्यक्प्रसिद्धिते शस्त्रं दोषा पूर्वमुदाहृत । तस्मात् परिहरन् दोषान् कुर्याच्छस्त्रनिपातनम् ॥४०॥

तिरछा शस्त्रपद करन से जो दोष उत्पन्न होते हैं, वे अपने (पाँचवें अध्याय में 'अभ्यधातुसिरास्नायुविचक्षणम् अस्तिमात्र वेदत' इत्यादि से) वर्धन हो चुके हैं । इसलिये एक दोषों के (सिरास्नायुच्छेदन, अस्तिमात्रवेदना, मांसवन्भीप्रादुर्भावं) परिहार जिस प्रकार से हो, उस प्रकार शस्त्रकर्म करना चाहिये ॥४०॥

मातरं पितरं पुत्रान् वान्धवानपि चातुर । अप्येतानभिराङ्केत वैद्ये विश्वासमेति च ॥४१॥

विस्तृजत्यात्मनाऽऽत्मानं न चैनं परिशङ्केत । तस्मात् पुनश्चदेवेनं पालयेदातुर भियक् ॥४२॥

रोगी मनुष्य माता, पिता, पुत्र और बांधवों से भी दूर करता है परन्तु वैद्य से पूरा पूरा विश्वास रखता है ॥४१॥ और अपनी सुखी से अपने शरीर को वैद्य के हाथों में सौंप देता है परन्तु उस पर शका नहीं करता । इसलिये वैद्य को भी चाहिये कि वह पुत्र की तरह से रोगी की रक्षा और देख

भाल करे ॥४२॥

रक्तं च

वक्तव्य—विसृजति—अर्पण करता है । आत्मना—
स्वयमेव । आत्मानम्—अपने शरीर को ।

धर्माथी कीर्तिमित्यर्थं सतां प्रहणमुत्तमम् ।
शाम्भुयात् स्वर्गवासं च हितमारभ्य कर्मणा ॥४३॥
हितकर यानि दोषरहित कर्म करने वाले वैद्य को धर्म,
अर्थ, कीर्ति, सज्जनों में आदर (ग्रहण) और स्वर्गवास प्राप्त
होता है ॥४३॥

कर्मणा कश्चिदेकेन द्वाभ्यां कश्चिद्विभिस्तथा ।
विकारः स्नाध्यते कश्चिच्चतुर्भिरपि कर्मभिः ॥४४॥
इति सुश्रुतसंहितायां सप्तस्थानेऽष्टविधशस्त्रकर्मण्यो
नाम पञ्चविंशतितमोऽध्यायः ॥२५॥

कोई विकार एक कर्म करके, कोई दो कर्म करके, कोई
तीन कर्म करके और कोई चार कर्म करके स्नाध्य होता
है ॥४४॥

वक्तव्य—कर्म—विशेष अर्थ अष्टविध शस्त्रकर्म, सामान्य
अर्थ चिकित्सा कर्म यथा वसन विरेचनादिक अन्तःपरिमार्जन
कर्म, लेह, स्वेद, अभ्यंग इत्यादि बहिःपरिमार्जन कर्म और
अष्टविध शस्त्रकर्म । इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि विकार
साध्य करने के लिये चिकित्सा कर्मों की कोई इयत्ता नहीं हो
सकती । रोग, रोगी इनके बलाबल के अनुसार जितने उपायों
को अंगीकार करना वैद्य को उचित मालूम हो, उतने उपायों
को अंगीकार करके विकार साध्य कर लेना चाहिये ।
इति मास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतभाषाटीकायामष्टविधशस्त्रकर्मण्यो नाम
पञ्चविंशतितमोऽध्यायः ॥२५॥

षड्विंशतितमोऽध्यायः ।

अथातः प्रनष्टशल्यविज्ञानीयमध्यायं व्याख्या-
स्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से प्रनष्टशल्यविज्ञानीय नामक अध्याय का
व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—प्रनष्टशल्यविज्ञानीय—शरीर के भीतर प्रविष्ट
होने के कारण अष्ट हुण् शल्य की उपस्थिति जानने का विज्ञान
जिसमें वर्णन किया है, ऐसा अध्याय ।

'शल' 'श्वल' आशुगमने धातुः; तस्य शल्यमिति
रूपम् । तद्विद्विधं शारीरमागन्तुकं च ॥२॥

'शल' 'श्वल' ये शीघ्रगमनाथक धातु होते हैं । इनसे यह
प्रत्यय होने से शल्य रूप सिद्ध होता है । वह दो प्रकार का
है—१ शारीरिक, और २ आगन्तुक ।

वक्तव्य—शल्य—'शल' धातु गच्छति वेगेनान्तःशरीरमनु-
प्रविशति' इति शल्यम् । इसके सिवाय और दो अर्थ शल्य के
होते हैं—'शल' हिंसायां धातुस्तस्य शल्यमिति रूपम् । 'शल' रनायां
धातुस्तस्य वा शल्यमिति रूपम् ।

१ कीर्तिमित्यर्थं, कीर्तिमित्यर्थं, २ 'शल' हिंसायां धातुस्तस्य शल्य-
मिति रूपम्, 'शल' रनायां,

सर्वशरीराबाधकरं शल्यं, तदिहोपदिश्यते
इत्यतः शल्यशास्त्रम् ॥३॥

समस्त शरीर में जो पीड़ा करता है, वह शल्य है । उसी
का प्रतिकार यहाँ कहा जाता है । इसलिये यह शल्यशास्त्र
कहलाता है ॥३॥

वक्तव्य—सर्वशरीर—समनस्क शरीर—चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः
शरीरम् । (न्यायसूत्र) । तदिहोपदिश्यते—तत् (शल्यम्) इह
(असुष्यां सहितायाम्) उपदिश्यते 'प्रतिकारार्थम्' इति शेषः ।
तत्र शारीरं रोमनखादि धातवोऽन्नमला दोषाश्च
दुष्टाः; आगन्तवपि शारीरशल्यव्यतिरेकेण यावन्तो
भावा दुःखमुत्पादयन्ति ॥४॥

उनमें से दुष्ट बाल, नाखून इत्यादि (धातुओं के मूल),
दुष्ट (रसादिक) धातु, (सूत्रादिक) अन्न के मूल और दुष्ट
(वातादिक) दोष शारीरिक शल्य कहलाते हैं । और शारीरिक
शल्य से व्यतिरिक्त जितने भाव दुःख उत्पन्न करते हैं, वे सब
आगन्तुक शल्य कहलाते हैं ॥४॥

वक्तव्य—दुष्टाः—शरीर धारण करने वाले सब धातु
जब मूलस्वरूप होते हैं, तब शल्य बन जाते हैं । इसलिये दुष्ट का
सम्बन्ध रोम नखादि से दोष तक समझना चाहिये । शारीरिक
शल्य कायचिकित्सा की परिभाषा में मूलस्वरूप धातु कहलाता
है—शरीरधातवः पुनर्द्विधाः संग्रहेण—मलभूताः प्रसादभूताश्च । तत्र
मलभूतास्ते ये शरीरस्य बाधकराः स्युस्तथा—शरीरच्छिद्रेषूपदेहाः
पृथग्जन्मानो बहिर्मुखाः परिपकाश्च धातवः प्रकुपिताश्च वातपित्तश्लेष्माणः,
ये चान्येऽपि केचित् शरीर तिष्ठन्तो भावाः शरीरस्योपघातायोपघन्ते
सर्वान्तान् मलान् संचक्ष्मेहे । (चरक) । भावाः—तृण, काष्ठ,
पाषाण, लोह, लोष्ट इत्यादि पदार्थ । अंग्रेजी में आगन्तुक शल्य
को 'फॉरिन बॉडी' (Foreign body) कह सकते हैं ।

अधिकारो हि लोहवेणुवृक्षतृणशृङ्गास्थिमयेषु,
तत्रापि विशेषतो लोहेष्वेव, विशासनाथोपपन्नत्वा-
द्लोहस्य, लोहानामपि दुर्चौरत्वाद्दण्डसुखत्वाद्दूर-
प्रयोजनकरत्वाच्च शर एवाधिकृतः ॥५॥

शल्यत्व का अधिकार लोह, बाँस, वृक्ष, तृण, सींग, अस्थि
इनके पदार्थों में ही होता है । परन्तु उनमें भी हिंसार्थप्रयुक्त
होने के कारण लोह के पदार्थों में ही विशेष करके होता है ।
लोह के पदार्थों में भी दुर्निवारक, सूक्ष्म मुख और दूर से ही
प्रयुक्त होने पर भी कार्यकारी होने के कारण बाण ही (विशेष
करके शल्यपद के लिये) अधिकारी है ॥५॥

वक्तव्य—सूत्र तीन और चार में शल्य की जो व्यापक
व्याख्या की गई है, उसके अनुसार शल्य अनंत होते हैं, जिनका
प्रतिकार की दृष्टि से इस अध्याय में वर्णन करना असंभव है ।
इसलिये शल्य कहने योग्य पदार्थों का प्रथम निर्देश करके
तत्पश्चात् लोह के शर का ही विचार इस अध्याय में क्यों किया
गया है, इसके कारण बतलाये हैं । अत्यंत प्राचीन काल में
सुश्रुत के समय तक युद्ध के लिये बाणों का ही उपयोग अधिक
हुआ करता था । ये बाण अत्यंत कठिन, तीक्ष्ण मुख वाले होते

१ लोहमेवैव, २ 'निर्वाहित्वात्' 'निर्वात्तिवात्'.

पे और दूर से ही अत्यंत वेग के साथ आते हुए ढक्क आदि का प्रतिबन्ध तोड़कर शरीर के भीतर (द्वारंस्वत्, दूरप्रयोगनकरत्वात्) प्रविष्ट होकर अत्यंत पीड़ा देते थे। शल्य शब्द की विशेष निरुक्ति (सूत्र २) बाणों की शरीर के भीतर प्रवेश करने की क्रिया की दृष्टि से की गई है और सामान्य निरुक्ति पीड़ा या हिंसा करने की क्रिया की दृष्टि से की गई है। शल्यविज्ञान और चिकित्सा का उदय प्रथम इन बाणों के लिये ही हुआ है। इसलिये समस्त मन्त्रचिकित्सा की शल्यचिकित्सा या शल्यतंत्र कहते हैं। शब्द—प्रथम और द्वितीय लोहशब्द सुवर्णादिक पञ्चलोह पर है। तृतीय और चतुर्थ लोहशब्द आयसपर (Iron) है। विश्रमनायौपपत्रत्वात्—हिसार्यौपयोगित्वात्। द्वारंस्वत्—निष्पत्ति-रूपेणान्त शरीरप्रवेशित्वात्। दूरप्रयोगनकरत्वात्—दूरादपि हिंसाकार्यमपादकत्वात्। शर एवाधिकृत—'शल्यत्वेन अस्मिन्न प्यत्वे' इति शेषः।

स द्विविधः कर्णौ, शूद्रक्षणाश्च; प्रायेण विविध-
वृक्षप्रभुप्पफलतुल्याकृतयो व्याख्याता व्यालमृग-
पक्षिवक्रसदृशाश्च ॥६॥

यह शर दो प्रकार का होता है—१ कर्णयुक्त, और २ कर्णरहित। ये बाण बहुधा अनेक प्रकार के वृक्षों के पर्तों के और फूलों के आकार के सद्य तथा सर्प शृंग पक्षियों के मुख के आकार के सद्य होते हैं ॥६॥

यत्कथ्य—कर्णौ लक्षणम्—जिनके पिछाड़ी में कुछ लगा हुआ है, वह कर्णों और जो बिलकुल सीधा है, वह सद्य कहलाता है। इन बाणों के मुख (शरीर में प्रवेश करने वाली सिर) विविध आकार के होते हैं। इसलिये उनका संक्षेप से और सामान्य रूप से वर्णन किया गया है 'विविधवृक्ष' इत्यादि। यथा कुछ पीपल के पर्तों के समान चौड़ी और चपटी नोक वाले, कुछ कनेर के पर्तों के समान लंबी और चपटी नोक वाले, कुछ मालती कलिका के समान गोल नोक वाले कुछ एलाफन के समान त्रिभुजा नोक वाले और कुछ सिंह, व्याम, हरिय, काक, कङ्क इत्यादि प्राणियों के मुख के समान नोक वाले होते हैं।

सर्वशस्त्रानां तु महतामणूनां या पञ्चविधो
गतिविशेष ऊर्ध्वमधोऽर्थावीनस्तिर्यग्शुचुरिति ॥७॥

छान्दे वेद सद्य शरों की पाँच प्रकार की गतिविशेष होती है—१ ऊपर को, २ नीचे को, ३ नियत ४ तिर्यक, और ५ माल ॥७॥

यत्कथ्य—नीचे से आने वाले शर की गति शर में ऊपर की ओर होती है। ऊपर से आने वाले की नीचे की ओर होती है, पाँच से आने वाले की तिर्यक होती है, भ्रमप्रदेश से नीचे आने वाले की माल होती है और बाकी कर्णौ शरीर की ओर आने वाले निगा के निम्न या विपरीत निगा में भी शरीर की गति शरीर के भीतर होती है। यथा—पाँच से आकर शरीर में मलय प्रवेश करना इत्यादि। इस गति को अर्थावीन गति कहते हैं।

तानि वेगक्षयात् प्रतिघाताद्वा त्वगादिषु अ-
यस्तुष्यतिघ्नन्ते, धमनीक्षोतोऽस्थिविवरपेरीप्र-
तित्तु वा शरीरप्रदेशेषु ॥८॥

य शल्य वेग का क्षय होने से या प्रतिघात से त्वगा अ मय के अधिष्ठानों में तथा धमनी, खोन और अस्थियों विवरों में तथा मांसलगादि शरीर के प्रदेशों में बि होते हैं ॥८॥

यत्कथ्य—वेगक्षयात्—बाण की गति कम होने से बाण की गति अधिक दूर से आने के कारण कम हो जाती अथवा समीप होने पर भी धनुराकर्षण बहुत न करने कम रहती है। प्रतिघाताद्वा—अस्थि जैसे कठिन अथवा मो ल्द जैसे श्लु परन्तु मोटे पदार्थ के प्रतिघात से। मलय-
प्रदेश के आठ अधिष्ठान—त्वगाभिचमिरात्मोत्तुस्यस्थीनिष्कार-
योक्षो मन्त्र च तान्यष्टौ। (वाग्भट)। धमनीक्षोतोऽस्थिविवर—धमनी विवर, पोतोविवर और अस्थिविवर। शरीरप्रदेशेषु—धमनी शरीरप्रदेशेषु 'भवतिघ्नन्ते' इति शेषः।

तत्र शल्यलक्षणमुच्यमानमुपधारय । त-

द्विविधं—सामान्यं, वैशेषिकं च । द्वायं विद्व-
चितं शोफवेदनायन्तं मुहुर्मुहुः शोषितास्त्रवि-
शुद्धवदुभ्रतं श्लुमांसं च ग्रहं जानीय-
सशल्योऽयमिति । सामान्यमेतल्लक्षणमुक्तम् ॥९॥

यहाँ (स्थित होने पर) शल्य के लक्षण जैसे बड़े आने हैं भ्रमण करो। ये लक्षण दो प्रकार के होते हैं—१ सामान्य और २ विशेष। यदि ग्रहण श्यामवर्ण हो, पिटका शोष की वेदनायुक्त हो, चारवार ऊपर निकलता हो, इसलिये के तुल्य ऊँचा उठता हो, कोमल मांस युक्त हो तो सम्भवता बर्तने यह शल्ययुक्त है और यही शल्ययुक्त मल का सामान्य लक्षण है ॥९॥

यत्कथ्य—सामान्य से ग्रह की सत्यता प्रतीत होने और विशेष से शल्य का अधिष्ठान मालूम होता है।

वैशेषिकं तु—त्यगते विषये, शोषो भयत्वात्
कठिनश्च; मांसगतौ शोफाभिवृद्धिः शन्यमार्गात्
संरोहः पीडनासह्यिप्युता चोपपादौ च; पेरयत्
स्थेऽप्येतदेव शोषशोफवर्ज; सिरागतौ मिराप्र-
सिराश्ले सिराशोफश्च; स्यायुगतौ ज्ञायुजानो लो-
मंरम्भश्चोप्रा कृ च; श्रोतोगतौ श्रोतसौ स्वर्ग-
शुण्दानि ॥१०॥

(श्यान के अनुसार) विशेष लक्षण में है—स्वभा-
व शल्य हो या त्वगा का कर्ण बदन जाना है तथा शरीर विगुण और कड़ा होता है। मांसगत शल्य हो तो शल्य श्लुद्धि, शल्य के ग्रहण का न भरना, शर्गनासामना (T-
ness), दाह और पाक से लक्षण होते हैं। पत्नी में हल्य हो तो शोष और शोष के प्रतिरिक्त सामान्य शल्य के लक्षण होते हैं। मिरा में शल्य होने से (मलमल्य कहते हैं) मिरा का वृत्तता, मिरा में वेदना तथा श्ले (Phlebs) होता है। धनु में शल्य हो तो धनु में

त्व (और उसी के कारण ऊपर को होना), तीव्र शोथ [दाख्य वेदना होती है । स्रोत में शल्य हो तो स्रोत के नीचे की हानि हो जाती है ॥१०॥

धमनीस्थे सफेनं रक्तमीरयन्निलः सशब्दो गच्छत्यङ्गमर्दः पिपासा हृह्लासश्च; अस्थिगते विधवेदनाप्रादुर्भावः शोफश्च; अस्थिविवरगतेऽ-थपूर्णताऽस्थितोदः संहर्षो चलवांश्च; सन्धि-त्रेऽस्थिवच्छेष्टोपरमश्च; कोष्ठगत आटोपानाहौ त्रपुरीपाहारदर्शनं च व्रणमुखात्; मर्मगते मैविद्धवच्छेष्टे । सूक्ष्मगतिषु शल्येष्वेतान्येव ज्ञानान्यस्पर्शानि भवन्ति ॥११॥

धमनीगत शल्य हो तो भाग्युक्त रक्त को बाहर निकालता प्रा वायु शब्द के साथ निकलता है तथा अंगमर्द, तृषा और स्काई होती है । अस्थि में शल्य हो तो विविध प्रकार की झा और सूजन उत्पन्न होती है । अस्थि के छिद्र में शल्य हो । उसका भर जाना, अस्थियों में पीड़ा और व्याकुल हो जाना ये लक्षण होते हैं । संधि में शल्य हो तो अस्थिगत शल्य लक्षण होते हैं तथा संधिचेष्टा बंद हो जाती है । कोष्ठ में ल्य हो तो आटोप, आनाह तथा व्रण के मुख से मूत्र, पुरीप और आहार का दर्शन होता है । मर्मगत शल्य हो तो मर्मवेध हो भाँति चेष्टा करने लगता है । सूक्ष्म शल्य में ये ही लक्षण स्पष्टता से होते हैं ॥११॥

वक्तव्य—धमनीस्थे—धमनी में रक्त के साथ वायु भी होता है, ऐसी प्राचीन काल में कल्पना थी—देहिनां हृदय देहे खडुःखप्रकाशकम् । तत्संकोचं विकास च स्वतः कुर्यात् पुनः पुनः ॥ किञ्चने बहिर्याति वायुरंतर्विकासतः । ततो नाड्यश्चलन्त्यस्रग्भरायाः फुरणं ततः ॥ (उमामहेश्वरसंवादे नाडीज्ञानम्) । अस्थिविवर—अस्थियों के बीच की नाली (Medullary Cavity) । अस्थिपूर्णता—अस्थि के विवर का रक्त लसिकादि से भर जाना । संहर्षः—आकुलत्वम् (इन्दु), अत्यन्त व्याकुल होना वेदना के कारण । चेष्टोपरमः—प्रसारण, आकुंचन, उत्क्षेपण अवक्षेपणादि क्रियाओं का बंद हो जाना । आटोप—उदर में वात के कारण गुद्गुद् शब्द होना । आनाह—मलावरोध—मूत्रपुरीपा-हारदर्शनम्—बस्ति में शल्य प्रविष्ट होने से मूत्रदर्शन, स्थूलान्त्र में प्रविष्ट होने से मल का दर्शन और आमाशय में प्रविष्ट होने से आहार का दर्शन हो सकता है—कोष्ठस्थे शल्ये व्रणमुखात् स्थान-विशेषण यथासंभवं मूत्राद्विदर्शनादि भवति । (इन्दु) । यहाँ कोष्ठ से केवल उदर विभाग (Abdomen) अभिप्रेत है यद्यपि उसमें वन्नविभाग का भी समावेश किया जाता है—स्थानान्यामाश्रिकानां मूत्रस्य रुधिरस्य च । हृदुण्डुकः फुफ्फुमश्च कोष्ठ शय्यभिधीयते ॥ मर्मविद्धवत्—मर्म का वेध होने से जो लक्षण होते हैं, वैसे लक्षण रोगी में दिखाई देते हैं—मर्मवेध के सामान्य लक्षण संग्रह में ये दिये हैं—सामान्यलक्षणं पुनर्मर्मणां पीडिते रजोवृत्तिविषमं च स्पन्दनम् । सामान्येनैव च—देहप्रसुतिरि-स्ता संमोहः शीतकामिता । स्वेदो मूर्च्छा वमिः श्वासे मर्मविद्धस्य लक्षणम् ॥ स्थान के अनुसार विशेष लक्षण । शरीरस्थान के छठे अध्याय में वर्णन किये हैं । परंतु मर्मवेध में विशेष लक्षणों की अपेक्षा

सामान्य लक्षण अधिक महत्त्व के हैं । यह जो मर्मवेध का लक्षण समूह होता है, उसे अंग्रेजी में शॉक (Shock) कहते हैं । मर्म के ऊपर भारी चोट लग जाने से अथवा शल्य प्रविष्ट होने से तीव्र पीड़ा होती है जिससे मस्तिष्क का कार्य थोड़े समय के लिये विरत हो जाता है और इस कारण शरीर की सारी शक्तियाँ और कार्य अत्यंत मन्द हो जाते हैं और रक्त का भार (Blood pressure) भी कम हो जाता है । सूक्ष्म-गतिषु शल्येषु—सूक्ष्मगतिषुक्त शल्यों में अर्थात् सूक्ष्म आकार के शल्यों में—सूक्ष्मशल्येषु । (इन्दु) ।

महान्त्यल्पानि वा शुद्धदेहानामनुलोमसन्निवि-ष्टानि रोहन्ति विशेषतः कण्ठस्रोतःसिरात्वक्पेश्य-स्थिविवरेषु; दोषप्रकोपव्यायामाभिघाताजीर्णैर्भ्यः प्रचलितानि पुनर्वाघन्ते ॥१२॥

। वातादि से अदूषित देह वालों के अनुलोम रूप से प्रविष्ट हुए छोट या बड़े शल्ययुक्त व्रण, विशेष करके कण्ठ, सिरा, त्वचा, पेशी और अस्थिविवर इन स्थानों के व्रण भर जाते हैं । परंतु दोषप्रकोप से, व्यायाम से तथा अभिघात से प्रचलित होने पर फिर पीड़ा करने लगते हैं ॥१२॥

वक्तव्य—इस सूत्र में शरीर के भीतर शल्य होने पर भी व्रण भर जाने से शल्य प्रनष्ट यानि अदृश्य होने का कारण तथा अदृष्ट होने पर शल्य को निकालने की क्यों आवश्यकता है, उसका कारण बतलाया है । महान्त्यल्पानि वा रोहन्ति—महान्ति, अल्पानि वा शल्यानि रुद्धव्रणानि भवन्ति । अनुलोमसन्नि-विष्टानि—स्वत्पावाधं सन्निविष्टानि । अनुलोम का अर्थ कभी कभी अनुकूल होता है—अनुलोमसुखो वायुरनुसारयतीव माम् । (रामायण) ।

तत्र, त्वक्प्रनष्टे क्षिग्धस्विन्नायां मृन्मापयव-गोधूमगोमयमृदितायां त्वच्चि यत्र संरम्भो वेदना वा भवति तत्र शल्यं विजानीयात्, स्त्यानघृतमृच्चन्दन-कल्कैर्वा प्रदिग्धायां शल्योष्मणाऽऽशु विसरति घृतमुपशुण्यति वा लेपो यत्र तत्र शल्यं विजानी-यात्; मांसप्रनष्टे स्नेहस्वेदादिभिः क्रियाविशेषैरविरु-द्धैरातुरमुपपादयेत्, कर्शितस्य तु शिथिलीभूतम-नचवद्धं क्षुभ्यमाणं यत्र संरम्भं वेदनां वा जनयति तत्र शल्यं विजानीयात्; कोष्ठास्थिसन्धिपेशीविवरे-ष्ववस्थितमेवमेव परीक्षत ॥१३॥

उनमें से त्वचा में यदि शल्य गुप्त हो तो स्नेहन स्वेदन करने पर मृत्तिका, उड़द, जौ, गेहूँ, गोबर इनका चूर्ण त्वचा पर मर्दन करने से जहाँ सुखी, शोथ और पीड़ा हो वहाँ शल्य की उपस्थिति जाननी चाहिये । (दूसरी परीक्षा यह है कि) जमे हुए घृत का लेप या मृत्तिका और चन्दन के कल्क का लेप करने पर जहाँ शल्य की ऊष्मा से घृत पतला होकर भरने लगता है अथवा चंदन का लेप शीघ्र सूखने लगता है, वहाँ शल्य की उपस्थिति जाननी चाहिये । यदि मांस में शल्य गुप्त

त्यल्पानि.

हो तो स्नेह न स्वेदनादि अनुगुण क्रिया विरोधों द्वारा रोगी को उपचार करे और कृत्रु हुये रोगी का डीला, अपने स्थान से विमुक्त और सोमित क्रिया हुआ शल्य जहाँ सुर्यो, शोध और वेदना उपपन्न करता है वहाँ ही (उसका स्थान) जानना चाहिये। कोष्ठ, अस्थि, मधि, पेयी और विवर में स्थित हुआ शल्य इसी प्रकार देखना चाहिये ॥१३॥

युक्तद्वय—युग्मापयवगोभूमगोमयवृद्धितापाम्—युग्मापयवगोभूमगोमयवृद्धितापाम्। विमरति—द्वय होकर वहाँ से फेलने लगता है। त्रिपानिरोधै—वसन विरेचनादि सगोधनात्मक विशेष क्रियाओं द्वारा—मांसप्रणष्ट सनुद्वया करोगात् श्वधनां गन्तु। (वाग्भट)। ध्रुव्यमाणम्—यानारोहण, व्यायाम, प्रतरण, आकुचन, प्रसारण, मर्दन इत्यादि क्रियाओं द्वारा सोमित किया हुआ।

सिराधमनीश्रोत छायाप्रनष्टे खण्डचक्रसंयुक्ते याने व्याधितमारोप्यानु विपमेऽध्वनि यायाधत्र संरम्भो वेदना या भवति तत्र शल्यं जानीयात्, अस्थिप्रनष्टे स्नेहस्वेदोपपन्नान्यस्वीनि चन्धनपीडनाभ्यां भृशमुपाचरेधत्र संरम्भो वेदना वा भवति तत्र शल्यं जानीयात्; सन्धिप्रनष्टे स्नेहस्वेदोपपन्नान् सन्धीन् प्रसरणाकुञ्चनचन्धनपीडनैर्भृशमुपाचरेत्, यत्र संरम्भो वेदना वा भवति तत्र शल्यं विजानीयात्; मर्मप्रनष्टे त्यनन्यभाधान्मर्मणामुक्त परीक्षणं भवति ॥१४॥

सिरा, धमनी, श्रोत और छाया इनमें शल्य गुप्त हो तो दूटे पहिये की गाड़ी में रोगी को बिठा कर विषम मार्ग में शीघ्र चलाने। (उसके ऋतकों से) जहाँ सुर्ली, शोध अथवा वेदना होती है, वहाँ शल्य जानना चाहिये। अस्थि में शल्य नष्ट हुआ हो तो स्नेह और स्वेद युक्त अस्थियों की चयन और मर्दन द्वारा शल्य उपचार करे। जहाँ सुर्ली, शोध अथवा वेदना हो, वहाँ शल्य जानना चाहिये। संधियों में नष्ट हुआ हो तो स्नेह स्वेद युक्त संधियों को प्रसारण, आकुचन, चयन और पीड़न द्वारा शल्य उपचार करे। जहाँ सुर्ली शोध अथवा वेदना हो वहाँ शल्य जानना चाहिये। सिरा, मांस इत्यादि वस्तुओं से मर्म पृथक् न होने के कारण यदि उन (मर्मों) में शल्य नष्ट हुआ हो तो उपर्युक्त (स्वगादस्थित शल्य) परीक्षा विधि द्वारा मर्म स्थित शल्य की भी परीक्षा होती है ॥१४॥

युक्तद्वय—अनन्यभाधान्मर्मणाम्—मर्मणि नाम मांसमित्स्त्वाम्बन्धिसिक्तिकात्। अयान् मांस आदि से मर्म पृथक् नहीं हो सकते हैं इसलिये।

सामान्यलक्षणमपि च हस्तिस्वन्धाभ्यष्टपर्वत दुमारोहणधनुर्व्यापामद्रुतयाननियुक्ताभ्यगमनलङ्घन-प्रतरणप्रत्यनव्यायामैर्जुम्भोद्गारकासत्त्वयुष्टीवनहसन प्राणायामैर्वातमूत्रपुटीपशुकोत्सर्गैर्वा यत्र संरम्भो वेदना वा भवति तत्र शल्यं जानीयात् ॥१५॥

और (गुप्तशल्य का) सामान्य लक्षण (यह है कि हाथी के कंधे, घोड़े की पीठ, पहाड़, पृथ्वी इन पर चढ़ना, प राकप्या का न्यायाम करना, शीघ्र चलने वाली गाड़ी में बैज कुत्ती लड़ना, मार्ग चलना, दूदते दूदते चलना, तैरना, ऊँ चूदना, न्यायाम इत्यादि से तथा जंभाई, डकार, खोली, धौत धूदना, हँसना, प्राणायाम इनसे तथा अधोवात, मूत्र, म और शुक्र इनके उल्लेख से जहाँ सुर्ली शोध अथवा वेद होती है वहाँ शल्य जानना चाहिये ॥१५॥

युक्तद्वय—अष्टांगद्वय में प्रणष्टशल्य का सामान्य लक्षण सक्षेप में ऐसा दिया है—सामान्येन सशल्यं तु ह्येभिन् क्रियया सक्त्। और शल्य के आकार का अनुमान क्या कृति से करने के लिये कहा है—दृष्ट पशु चतुष्केण विदुः सामान्। अदृश्यशल्यं परधानं जगादृष्या विभावयेत् ॥

भवन्ति चात्र—
यस्मिंस्तोदादयो देशे शुसता गुरुताऽपि च।
घट्टिते बहुशो यत्र च्युते तुघतेऽपि च ॥१६॥
आतुरश्चापि यं देशममीक्षणं परिरक्षति।
संघाद्यमानो बहुशस्तत्र शल्यं विनिर्दिशेत् ॥१७॥
शरीर के जिस अवयव में पीड़ा (रोग शोध इत्यादि), शुसता (स्पर्शज्ञान की कमी) तथा भारीपन मात्स्य होता हो, जहाँ पथेय से खाव होता हो और बहुत पीड़ा होती हो ॥१६॥ तथा आतुर जिस स्थान की छेदने लूने दवाने (संबाह मान) इत्यादि से बारबार रक्ता करता हो, वहाँ शल्य जानना चाहिये ॥१७॥

अहंपायाधमशत च नीरुजं निरुपद्रवम्।
प्रसन्नं मुदुपर्यन्त निराघट्टमनुघतम् ॥१८॥
एषण्वा सर्वतो दृष्ट्वा यथामार्गं चिकित्सकः।
प्रसाराकुञ्चनाभ्रं नि शल्यमिति निर्दिशेत् ॥१९॥
जिसमें थोड़ी बाधा हो, सूजन न हो, पीड़ा न हो, कोई उपद्रव न हो, जो (देखने से) प्रसन्न हो, जिसके किनारे खुदु हों, जो निराघट्ट हो, ऊँचा भी न हो ॥१८॥ ऐसे ऋष को वैद्य शल्यमार्ग सर्व प्रकार से एषण्वा द्वारा देखकर और प्रसाह्य तथा आकुचन करके फिर निश्चित रूप से नि शल्य ऐसा कहे ॥१९॥

अस्थ्यात्मकं भज्यते तु शल्यमन्तत्र शीर्यते।
प्राप्यो निर्मुञ्ज्यते शाङ्गमायसं चेति निश्चयः ॥२०॥
अस्थिरूप शल्य शरीर के भीतर लपट्टा पृथक् है तथा कण्ठ पृथक् है और सींग तथा सोड़े का शल्य प्रायः एक ही जाता है, यह निश्चय है ॥२०॥

यार्श्वैवेण्यतार्णानि निर्दिशन्ते तु नो यदि।
एचन्ति ऋतं मांसं च क्षिप्रमेतानि देहिनाम् ॥२१॥
पृष्ठ, बाँस और धुन इनके (शरीर के भीतर घुसे हुए) शल्य यदि नहीं निकाले जायें तो शीघ्र ही रक्त और मांस को पका देते हैं ॥२१॥

ज्ञानकं राजतं ताम्रं रैतिकं त्रपुसीसकम् ।
 चेरस्थानाद्विलीयन्ते पित्ततेजःप्रतापनात् ॥२२॥
 त्रभावशीता मृद्वो ये चान्येऽपीदृशा मताः ।
 श्वीभृताः शरीरेऽस्मिन्नेकत्वं यान्ति धातुभिः ॥२३॥
 सुवर्णं, चांदी, तांबा, पित्तल, रांगा और मीसा इनके
 त्र शरीर में अधिक काल तक रह जाने पर पित्त के तेज में
 ३ होकर विलीन हो जाते हैं (यानि मात्स्य हो जाते हैं)
 २॥ स्वभाव से शीतल मृदु जो ऐसे ही और भी शल्य होत
 वे भी (पित्त के तेज से) पिघल कर धातुओं के साथ
 त्ता को प्राप्त हो जाते हैं ॥२३॥

विषाणदन्तकेशास्थिवेणुदारुपलानि तु ।
 शल्यानि न विशीर्यन्ते शरीरे मृन्मयानि च ॥२४॥

सींग, दंत, केश, अस्थि, घ्रांस, लकड़ी, पत्थर और मिट्टी
 नके शल्य शरीर में (अधिक काल अवस्थित होने पर भी)
 र्गयोग नहीं होते (यानि कणगः छिन्न भिन्न होकर सान्य
 ही होते) ॥२४॥

चक्रान्य—शरीर के भीतर प्रविष्ट हुए शल्य की चतुर्विध
 ति होती है—(१) यदि शल्य अमात्म्य परन्तु शुद्ध (Sterile)
 में तो धातुओं में वैसा ही चिरकाल तक रह सकता है ।
 क्यल उसके ऊपर तांतव धातु का कोश बन जाता है ।
 (२) यदि शल्य असात्म्य परन्तु दूषित हो तो पाक होकर
 त्वा फूटने से पूय के साथ बाहर निकल आता है । (३) यदि
 शल्य सात्म्य और शुद्ध हो तो पित्त तेज से पाचन और शोषण
 होकर शरीर के धातुओं के साथ एकता प्राप्त करता है । (४)
 यदि शल्य सात्म्य परन्तु दूषित हो तो पाक होकर पूय के साथ
 बाहर निकल आता है या रक्त के द्वारा शरीर में ही शोषित
 होकर बृहत्त्वचादि इन्द्रिय मार्ग से मल के रूप में बाहर
 फेंका जाता है ।

द्विविधं पञ्चगतिमैतत् त्वगादिष्वणवस्तुषु ।
 त्रिच्छिद्रं वेत्ति यैः शल्यं स राज्ञः कर्तुमर्हति ॥२५॥

इति मुहूर्तसहितायां सूत्रस्थाने प्रनष्टशल्यविशानीयो
 नाम पद्धतिशतितमोऽध्यायः ॥२६॥

जो वैद्य शल्य के दो (कुर्याँ और श्लक्ष्ण) प्रकार, उनकी
 (अर्धांशोभेद से) पाँच गतिर्याँ तथा त्वगादि अधिष्ठानों में
 (स्पष्ट या गुप्त स्थिति में) स्थित हुए उनके लक्षण जानता है,
 वही राजा की चिकित्सा करने योग्य है ॥२५॥

इति भास्करशामणा गोविन्दरात्मनेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
 सुश्रुतभाषाटीकायां प्रनष्टशल्यविशानीयो नाम
 पद्धतिशतितमोऽध्यायः ॥२६॥

सप्तविंशतितमोऽध्यायः ।
 अथातः शल्यापनयनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
 यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अत्र यहाँ मैं शल्यापनयनीय नामक अध्याय का व्याख्यान
 करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

शल्यं द्विविधमत्रयद्मनवदं च ॥२॥
 शल्य दो प्रकार का होता है—(१) अयद्वद् (विशेष रूप
 से संसक्त गढ़ा हुआ), (२) अनयद्वद् (विच्छिन्नरूप से स्थित
 हुआ) ॥२॥

तत्र समामेनानयद्वद्शल्योद्धरणार्थं पञ्चदश
 हेतून् वक्ष्यामः । नद्यथा—स्वभावः, पाचनं, भेदनं,
 दारणं, पीडनं, प्रमार्जनं, निर्धर्माणं, वमनं, विरेचनं,
 प्रक्षालनं, प्रतिमर्शः, प्रवाहणम्, आचूषणम्, अय-
 स्कान्तो, हर्षयति ॥३॥

उनमें से अनयद्वद् शल्य निकालने के लिये संक्षेप
 में पंद्रह उपाय वर्णन करते हैं । वे ये हैं—१ स्वभाव,
 २ पाचन, ३ भेदन, ४ दारण, ५ पीडन, ६ प्रमार्जन, ७ निर्धर्माण,
 ८ वमन, ९ विरेचन, १० प्रक्षालन, ११ प्रतिमर्श, १२ प्रवाहण,
 १३ आचूषण, १४ अयस्कान्त, १५ हर्ष ॥३॥

वक्तव्य—शु—तापन या उपाय । स्वभाव—शरीर के
 स्वाभाविक षेग । पाचन—अतर्मा कुछ अगुरु प्रभृति तथा
 'शणमूलक' प्रभृति द्रव्यों द्वारा शल्यवृक्त स्थान का पाक
 करना । भेदन—पक्कस्थान को शस्त्र से खीरना । दारण—बड़े
 हुए स्थान को चिरविल्लादि मिश्रकौक द्रव्यों द्वारा फोड़ना ।
 पीडन—पके तथा फूटे हुए स्थानस्थित शल्य को हाथ के
 दबाव से या शाल्मल्यादि पिच्छिल द्रव्यों के शुष्क हुए ठेप के
 दबाव से निकालना । प्रमार्जन—बलादि से पीटना ।
 निर्धर्माण—प्रथमन नस्य का एक प्रकार है । इसमें नासा के
 भीतर नलिका द्वारा नस्य चूर्ण छोड़ा जाता है । इस चूर्ण का
 प्रयोग होने से जो छींक या वेगविशेष आता है, वह निर्धर्माण
 है । प्रतिमर्श—अंगुलि से धर्षण । प्रवाहण—कुन्थन । आचूषण—
 सुख, सींग या अन्य वस्तु के द्वारा चूसना । अयस्कान्त—सोष्ट
 आकर्षण करने की जिसमें स्वाभाविक शक्ति होती है, ऐसा
 खनिज (Load stone) पदार्थ ।

तत्राशुक्षयधृद्धारकासमूत्रपुरीषानिलैः स्वभाव-
 वलप्रवृत्तैर्नयनादिभ्यः पतति; मांसावगाढं शल्यम-
 विदह्यमाणं पाचयित्वा प्रकोपा(था)त्स्य पूयशोषित-
 वेगाद्दौरवाद्वा पतति । पक्षमभिद्यमानं भेदयेद्दाल-
 येद्वा । भिन्नमनिरस्यमाणं पीडनीयैः पीडयेत्
 पारिभिर्वा । अपून्यक्षशल्यानि परिषेचनाध्यापनै-
 र्पालवस्त्रपारिभिः प्रमार्जयेत् । व्याहारशेषश्लेष्म-
 हीनाखुशल्यानि श्वसनोत्कासनप्रथमचैर्निर्धमेत् ।
 अन्नशल्यानि वमनाङ्गुलिप्रतिमर्शप्रभृतिभिः । विरे-
 चनैः पक्काशयगतानि । जणदोषाशयगतानि प्रक्षाल-
 नैः । वातसूत्रपुरीषगर्भसङ्गेषु प्रवाहणसुकम् ।
 शरुतोदकसविषरुधिरदुष्टस्तन्येष्वानूषणमास्त्येन
 विपारोर्वा । अनुलोममनवचक्रमर्कसमनलपक्ष्णसुश-
 मयस्कान्तेन । हृद्यजलिस्थितामदेककारणोत्पन्नं ह्योक्त-
 शल्यं हर्षयेति ॥४॥

१ कृष्णायस्त्रपुसीसकम्, २ पञ्चगतिकं, ३ यो वेत्यधिष्ठितं.

उनमें अशु, छींक, डकार, खाँसी, मूत्र, विज्ञा, वायु इन स्वभावबलप्रयुक्त वेगों से नयनादि (इन वेगों के अधिष्ठानों से शल्य निकल आता है। मांस में गहराई पर स्थित हुआ शल्य यदि न पकता हो तो उसे पकाये। पकने से वह पच और रधिर इनके नेत्र के साथ या अपने ही भारीपन से निकल जाता है। पकने पर भी जो नहीं फूटता है, उसे (शल्य द्वारा) भेदन करे या (उष्ण औषधि के रूप से) विदारण करे। फूटने पर भी उसमें से शल्य न निकले तो पीड़न द्रव्यों के रूप में या हाथ से दबा दे और शल्य निकाले। नेत्रादि इन्द्रियों के सूक्ष्म शल्यों की परिषेचन, आभ्यापन, माल, कपटा और हाथ इनसे पोंछ कर निकाले। आहारोप, श्लेष्मा और (बाहर निकले हुए शल्य के बचे हुए) सूक्ष्म सूक्ष्म टुकड़े भास लेने, खाँसने और प्रष्मापन से निकाले। साथे हुए अन्न का शल्य वमन (द्रव्य का उपयोग) करके या (गले में) अंगुली से घरेष्य करके निकाले। पकावयवत शल्य विरेचन से निकाले। मग के भीतरी शल्य जल द्वारा प्रक्षालन करके निकाले। अधोजात, मूत्र, मल और गर्भ इनके अटक जाने में (जो शल्य उत्पन्न होता है, उसको निकालने के लिये) प्रवाहण कर्म कहा है। वायु, जल, दूषित रक्त तथा सनगत वृष (रूपगल्य की) मुख या सींग के द्वारा चूस कर निकाले। अनुलोम, मिथिल, कर्णदीन (रुद्रण) और चौंटे मुख के मग में स्थित हुआ (घर) मोहसुंबक से निकाले। अनेक कारणों से हृदय में उत्पन्न हुआ शल्य हृदय उत्पन्न करके दूर करे ॥४॥

घक्तय—अशुभ—इंद्रियगत शल्य। आभ्यापन—वायु से भरना। अग्नेजी में इसको 'इन्फ्लेशन' (Inflation) कहते हैं। इसका विषेय उपयोग कर्णशल्य निकालने के लिये होता है। इसकी सीन पद्धतियाँ हैं। (१) वैल्साल्वा की पद्धति (Valsalva's method)—इसमें हँड तथा नासा बंद करके निश्वास की क्रिया जोर से की जाती है, जिससे श्रुतिसुरंगा (Eustachian tube) में से वायु मध्यकर्ण में चली जाती है। (२) पोलिटर भर की पद्धति (Politzer's method)—इसमें रबर की थैली (Rubber bag) से एक नासिका में वायु भरी जाती है जिस समय दूसरी नासिका तथा मुख बंद होना है। (३) श्रुतिसुरंगा नाडीपत्र (Eustachian catheter) के द्वारा सीपी हवा मुख से श्रुतिसुरंगा में प्रविष्ट की जाती है। आभ्यापन का दूसरा अर्थ मुख से सूँटना भी होता है। इसका उपयोग म्यवहार में हमेशा नेत्रगत शल्य निकालने के लिये होता है। आहारोपश्लेष्मादीनपुनश्चाति—स्वाद्य द्रव्यों के कण, धूक और नासा तथा मुख से निकले या गिरे हुए मांस शल्य के सूक्ष्म भाग यह एक अर्थ है। दूसरा अर्थ श्लेष्मादीन बाह्य द्रव्यों के ही कणनामागत सूक्ष्म कण—नासिक कण्डलकामकदि श्लेष्मादीनपुनश्चाति तन्मूलदिनि का अक्षर श्लेष्मादीनपुनश्चाति। अथ श्लेष्मादीन विरेचण लक्ष्मणदीन विरेचण कर्म के साथ आभ्यापन वा अन्ननासिका (Oculi agus) में स्थित हुआ शल्य। पकवयवनि—द्वन्द्वी (Duolenuis) से लेकर गुदा तक महाधोल का जो भाग है, उसमें स्थित

हुआ शल्य। जगदीप शयनानि—मग का दोष जो पूर उस आशय में स्थित हुए अर्थात् मग भीतर स्थित हुए शल्य प्रवाहण—विशेष जोर लगाकर कुंभता (Straining)। म तोरक—अस्थिरगत वायु और कर्षीगत जल—निस्संभ्रनि। वायो पाणिमन्थेन दारिते। नार्थी दत्वात्सनि शिष्य चूपेत् ॥ बली ॥ (सुश्रुत)। कणेऽनुपूणे इमेन मखिला नैवति शिष्येभोमुल कर्ण हन्याद् वाचुवेन वा ॥ (अष्टांगहृदय)। शिष्य श्य यन्त्र तथा आवश्यकता के अनुसार चूपण के लिये हृत् नाडीयन्त्र। अनुलोम—कजुम्बिन—अवखानेन निकर्ण विज्ञान मृजुरिषतम्। (वाग्भट)। शीघ्रशय्य होणे—यहाँ शोक भी हृत् दीनों उपलक्षण समझ कर शोक से सामान्यतया मातल शल्य और हृत् से मानवशय्याहरण उपाय समझना योग्य है।

सर्वशल्यानां तु महतामथूनां वाद्वावेधाहरणहृदय भयतः—प्रतिलोमोऽनुलोमश्च। तत्र प्रतिलोममर्मा चीनमानयेत्, अनुलोमं पराचीनम्। उचुषिदं द्विस्त्या निर्धातयेच्छेदनीयमुसम्। छेदनीयमुसाम्पि कुक्षियत्तःकक्षावन्तणपशुं कान्तरपतितानि च हस्त शस्यं यथामागंश हस्तेनैवापहर्तुं प्रयतेत। हस्तेन पहर्तुंमशक्यं विशस्य शस्त्रेण यन्त्रेणापहरेत् ॥५॥

भवति चात्र—

शीतलेन जलेनैव मूच्छन्तमवसेचयेत्।

संरक्षेदस्य मर्माणि मुहुराभ्वासयेद्य तम् ॥६॥

सब छोटे वा बड़े शल्यों के निकालने के दो ही उपाय होते हैं—१ अनुलोम और २ प्रतिलोम। उनमें से जो शल्य अर्वाचीन हो, उसे प्रतिलोम करके निकाले। जो शल्य पराचीन हो, उसे अनुलोम करके निकाले। जो शल्य उचुषिद और तीक्ष्ण धारा मुख हो, उसने (निकालने के लिये) दूसरी ओर छेदन करके। इधर उधर डिलाये। परतु इति (Sides) पक्ष, कर्ण, वंक्षण और पशुकान्तराय स्थान (Intercoastal spaces) इनमें प्रविष्ट हुए तीक्ष्णधारामुख शल्यों की भी जो हाथ से निवृत्त संके उन्हें उन्नी मार्ग में (प्रतिनाम) हाथ से निकालने का धन करे। जो हाथ से निकालना संभव हो, उसे (पहले) शल्य से चूरे कर (वशात्) धन्य में पकड़ कर निकाले ॥५॥

(शल्य निकालने समय) मूर्च्छित हुए शल्य मुख बाह्य पर छेद पायी का (मोटा धोड़ा) शिष्यन करे, (छेदन करने समय) उभयें मर्मा की रक्षा करे तथा (मर्मा शल्य के प्रारभ में अस्त तक) उसे धारवा (इषणात्मक चर्चनी में) समझी देता रहे ॥६॥

घक्तय—अशुभ—जिस छेद में से शल्य भीतर के भीतर प्रविष्ट हुआ है, उन्नी छेद में से वा मार्ग में (परधामनी)

१ अर्थेऽनुपूणे इमेन मखिला नैवति शिष्येभोमुल कर्ण हन्याद् वाचुवेन वा ॥ (अष्टांगहृदय)। शिष्य श्य यन्त्र तथा आवश्यकता के अनुसार चूपण के लिये हृत् नाडीयन्त्र। अनुलोम—कजुम्बिन—अवखानेन निकर्ण विज्ञान मृजुरिषतम्। (वाग्भट)। शीघ्रशय्य होणे—यहाँ शोक भी हृत् दीनों उपलक्षण समझ कर शोक से सामान्यतया मातल शल्य और हृत् से मानवशय्याहरण उपाय समझना योग्य है।

रुना अथवा शल्य की शरीरप्रवेश दिशा के विरुद्ध दिशा कालना। अनुलोम—प्रवेशमार्ग ने न निकाल कर दूसरी नया मार्ग करके निकालना अथवा शरीर में जिस दिशा ल्य प्रविष्ट हुआ उसी दिशा में आगे बढ़ाकर निकालना ।

गिन—नातिदूर प्रविष्ट अथवा जिस शल्य का अग्रभाग के मध्यभाग तक गहरा नहीं पहुँचा है । 'अर्धन्तमवरम-इति अर्वाचीनम् । पराचीन—दूर प्रविष्ट अथवा जिस का अग्रभाग दूसरी ओर के पृष्ठभाग के समीप पहुँचा 'परा बहुलञ्जाञ्जति' इति पराचीनम् । शल्य निकालने के उत्तम विधि वह कही जा सकती है, जिसमें निकालते य शरीर के धातुओं का नाश बिलकुल न हो या अत्यल्प तथा शल्य का बाहर आने का मार्ग भी अत्यल्प हो ।

दृष्टि से नातिदूर स्थित शल्य प्रतिलोम निकालना और स्थित शल्य दूसरी ओर थोड़ा छेद करके निकालना ही एक प्रशस्त होता है । पराचीन शल्य प्रवेशमार्ग से ही हलने में पूर्व ब्रणमार्ग होने पर भी शल्य के मुख का उला हिस्सा स्थूल तथा नोकीला होने के कारण बहुत ठेकाई होती है, ब्रणमार्ग के चारों ओर के धातु में वह लभाग अटक जाने से उस धातु का नाश होता है और रक्त के संघर्ष से पीड़ा भी बहुत होती है । उजुण्डित—इसके अर्थ होते हैं—(१) पृष्ठ भाग के ऊपर मुँह दिखाता हुआ ल्य—दृश्यमानमुखम् (इन्दु) । बाह्ये बुदबुदवदुक्तम् । (अरुणदत्त) ।

१) कटकयुक्तमुख—उद्धतकटकचित्तमुखम् । (हाराणचंद्र) ।

दनीयमुखम्—इसके भी दो अर्थ किये गये हैं—(१) छेदनाई-खेदम् । (चक्र) । (२) धारामुखम् । (हाराणचंद्र) । छित्वा—शल्य की मोटाई के अनुसार आयत और विशाल दूसरा छेद करके—शल्यद्वैव्यपरिणाहसवर्षकृतोपतापशकाजिहासार्थमिदं छेदनं तावत्संशे कर्तव्यं यावत्संशे छिन्ने सुखं शल्यं पराचीनं भवति । (हाराण-चंद्र) । इस प्रकार यद्यपि दो प्रकार के अर्थ उच्युण्डित और श्रदनीय मुख के होते हैं तथापि 'उच्युण्डित छित्वा निर्घातयेच्छेदनीय-मुखम्' इस सूत्र के अर्थ में विशेष फर्क नहीं होता । पहले मतानुसार इस सूत्र का अर्थ यह है कि जो शल्य शरीर में प्रविष्ट होकर दूसरी ओर मुँह दिखाता है वह शल्य अनुलोम विधि से निकालने के लिये उस स्थान का छेदन करके सुद्धर ल्यादिक से इधर उधर हिलाना चाहिये । हाराणचंद्र के अनुसार इसका अर्थ यह है कि जो शल्य कटकचित्त और धारामुख है, वह अर्वाचीन होने पर दूसरी ओर छेदन करके अनुलोम विधि से निकाले । विशल्य श्लेष्मण—यंत्र प्रवेश निरो-धक यथा शल्य निर्गम निरोधक प्रदेश शस्त्र से छेदित करके ।

अष्टांगहृदय में यन्त्रों के द्वारा शल्यों के आहरण का निम्न प्रकार से किया गया है—दृश्यं सिंहादिमकरवमिक-कान्तैः । अष्टमप्रणसत्स्थानाद् ग्रहीतुं शक्यते यतः ॥ कंकमृगाह-ररशरीरीवायसान्निः । संदशाभ्यां त्वगादिस्थ तालाभ्यां शुपिरं हरेत् । शुपिरस्थं तु नल्लैः शेष शेषैर्वयायथम् ॥ जो शल्य विशाल्यंत्र में स्थानों में प्रविष्ट हुए हैं तथा जो शोफ वेदनादि से विर-हते हैं ऐसे शल्य निकालने की जरूरत नहीं है—नैवाहरेत्-द्वि-त्वमे नष्टं वा नित्यदवम् । (अष्टांगहृदय) । नैवाहरेत्...शोफ-दिनापाकविरहितम् । (अष्टांगसंग्रह) ।

ततः शल्यमुद्धृत्य निर्लोहितं व्रणं कृत्वा स्वेदाहंमग्निघृतप्रभृतिभिः संस्वेद्य चिदह्य प्रदिह्य सर्पिर्मधुभ्यां वज्राऽऽचारिकमुपदिशेत् ॥७॥

(उपर्युक्त विधि के अनुसार हाथ से अथवा शस्त्र द्वारा छेदन करके यंत्र से) तदनंतर शल्य निकाल कर व्रण के रक्त को साफ करके स्वेदन योग्य व्रण को अग्नि घृत आदि से स्वेद करके, अग्निदाह योग्य व्रण को दाह करके पश्चात् मधुयुक्त घृत से लेप करे और व्रण का बंधन करके (त्रयितोपात्मनी-योक्त पथ्यादि) आचार का उपदेश करे ॥७॥

वक्तव्य—निर्लोहितम्—शल्य प्रविष्ट होने के समय तथा शल्य निकालते समय व्रण से निकले हुए रक्त को पोंछकर । स्वेदाहं—छेदनयोग्यव्रण—अग्निकृत्या व्रणा ये तु तेष्वग्निमवचारेयत् । स्वेदेयत् सकुपिण्डीभिः स्वेदकृत्यान् समन्ततः ॥ (भोज) ।

सिरास्त्रायुचिलघ्नं शलाकादिभिर्विमोच्यापनयेत् ; श्वयथुग्रस्तवारङ्गं समवपीड्य श्वयथुं; दुर्बलवारङ्गं कुशादिभिर्वज्रा ॥८॥

सिरास्त्रायु से उलभे हुए शल्य को सलाई आदि से छुड़ा कर निकाले । शोथ में ग्रसित हुए व्रण को शोथ को दबाकर निकाले । यदि बाण का पकड़ने का स्थान दुर्बल हो तो कुशादि से बांधकर निकाले ॥८॥

हृदयमभितो वर्तमानं शल्यं शीतजलादिभिर्रुद्धे-जितस्यापहरेद्यशामागं; दुरुपहरमन्यतोऽपवाध्य-मानं पाटयित्त्वोद्धरेत् ॥९॥

हृदयसमीपवर्ती भाग में स्थित हुआ शल्य उद्भिन्न हुए मनुष्य को ठंडे पानी से आश्वासित करके प्रतिलोमविधि से निकाले । यदि यथामार्ग न निकल सके तो उस मर्मपीडाकर (अपवाध्यमान) शल्य को अन्यस्थान में थोड़ा छेदन करके निकाले ॥९॥

अस्थिविवरप्रविष्टमस्थिविदष्टं वाऽवगृह्य पादा-भ्यां यन्त्रेणापहरेत्, अशक्यमेवं वा बलवद्भिः सुप-रिगृहीतस्य यन्त्रेण प्राहयित्वा शल्यवारङ्गं प्रविभुज्य धनुर्गुणैर्द्वैकैतश्चास्य पञ्चाङ्ग्यामुपसंयतस्याश्वस्य वक्त्रकविके वधीयात्, अथैनं कशया ताडयेद्यथो-च्चामयन् शिरो वेगेन शल्यमुद्धरेत्; दृढां वा वृक्ष-शाखामवनस्थ तस्यां पूर्ववद्बद्धोद्धरेत् ॥१०॥

अस्थि के छिद्र में प्रविष्ट हुए अथवा अस्थि में संसक्त हुए शल्य को यन्त्र से (मजबूत पकड़कर और शल्यस्थित भाग पर) दोनों पाँवों की रोक लगाकर खींच ले । यदि ऐसे नहीं खींच सके तो चलवान् मनुष्यों से पकड़े हुए मनुष्य को शल्यवारंग यन्त्र से पकड़ कर टेढ़ा करे और उसे एक तरफ से धनुष की डोरी से बांध दे और दूसरी ओर पंचांगी बंध में बद्ध किये हुए घोड़े के मुख चूड़े में बांधे और उसको पेशी रीति से चाबुक मारे कि वह शिर को झटके से ऊँचा

१ धनुर्गुणैर्द्वैकैतोऽश्ववक्त्रकविके. २ मुद्धरति, नामितायां पञ्चाङ्ग्यां-कृशशाखायां वा पूर्ववद्बद्धोद्धरेत्.

करता हुआ शल्य को निकाले । अथवा पूर्ववत् (धनुष की डोरी बांधे हुए शल्य चारंग को घोंटे के बनाये) घृत की मजबूत घासा को नवाकर बांध दे (और फिर शाला को भटके से छोड़ कर) शल्य निकाले ॥१०॥

वक्तव्य—पादाभ्यामवगृह्य—शल्य के दोनों तरफ दोनों पाँव रख शल्ययुक्त शंख को स्थिर करके । प्रविमुञ्च्य—वक्र करके । धनुष की डोरी मजबूत धाधने के लिये शर का चारंग घटा किया जाता है । पंचांगी—घोंटे को निश्चल करने का एक विशेष ढंघ होता है, जिसमें घोंटे के चारों पाँव धीरे मुख कसके बांध दिये जाते हैं—मुष्यन्य मृगु शीमने कृत्वा बद्धव्य । कथं सुमयतस्य । पंचांग्या । पचानामगानां चतुर्णां पदानां मुखमार्शितानां सनाहार पंचागी बन्धविशेष । (अष्टपदच) । कुछ टीकाकार तथा हारायचन्द्रकवर्ती 'पचान्यामुपनयतस्य' का संबंध मनुष्य के साथ करके पंचांगी से सारयुक्त बंध ऐसा करते हैं—उपनयनमूल फलमेकस्य शास्त्रिनः । एकत्र मिलित वैश्व पंचांगमिति सतिनम् ॥ (राजनिघण्टु) । पंचागीसन्धेन चंद्र वृत्तस्योपदेशे वेपथुहस्ताजगतमारत्वेनेन प्राहयितुमिति निश्चीयते । जात एव हि सारे पुष्पफलागमात् पंचांगानि पूर्वने । (हारायचंद्र) । दूसरे अर्थ की अपेक्षा पहला अर्थ अधिक उचित है ।

अदेशोत्तुष्टितमष्टीलादमभुद्रराणामन्यतमस्य प्रदारेण विचाल्य यथामार्गमेव यन्त्रेण ॥११॥

इत्यादि अच्छेदनीय प्रदेश में स्थित हुए उत्तुष्टित शल्य को अष्टीला, पथर या मुद्र इनमें से किसी के प्रहारों द्वारा हिलाकर प्रवेगमार्ग से ही निकाले ॥११॥

(यन्त्रेण) विमृदितकर्णानि कर्णयन्त्रनाशोधकर-देशोत्तुष्टितानि पुरस्तादेव ॥१२॥

मर्मादिस्थित शल्यकर्म योग्य प्रदेश में स्थित हुए उत्तुष्टित कर्णयान्त्र शरयन्त्र से कर्ण को संकुचित करके अनुनीम विधि से निकालें ॥१२॥

वक्तव्य—मनावारकदेश—मर्मादि बाधा विरहित प्रदेश । विमृदितकर्णानि—'हृत्वा' इति शेष । कर्ण को संकुचित करके । पुरस्ताद—'आकर्षयेत्' इति शेष ।

जातुपे फण्टासक्ते फण्टे नाहीं प्रवेदयाम्निततां च शलाकां तथाऽवगृह्य शीताभिरद्भिः परिपिच्य स्थिरीभूतामुदरेत् ॥ अजातुपे जतुमधूच्छिष्टप्रलिसया शलाकाया पूर्वकल्पनेत्येके ॥१३॥

कण्ट में छाव का शल्य यदि फैल जाय तो कण्ट में एक नलिका और (उसमें से) तपाई हुई सलाह को प्रवेश करे और उसने शल्य को पकड़ ले । फिर उस पर ठंडे पानी से तीस कर स्थिर हुए शल्य को निकाले । छाव के सिवा और किसी वस्तु का शल्य हो तो छाव और मीग छगी हुई शलाका से पूरे कल्पना के अनुसार निकाले, ऐसा कई एक का मत है ॥१३॥

वक्तव्य—नाडी प्रवेश—यह कण्टव्यावयवोन्मिनी नाडी-यन्त्र (Oculoperiagoscope) है, जिसमें कण्टाल शल्य का अवलोकन करने में सुभीता होता है तथा ताराशलाका से कण्ट की रक्षा होती है । पचाऽवगृह्य—छाव के साथ सस्यशलाका का संबंध होते ही यह उसमें गड़ जाती है और फिर ढंढी करते

से लाक्षा उसमें चिपक जाती है । पूर्वकल्पना—पूर्ववत् गड़े नाली प्रवेश करे । उसमें से सस्यशलाका को मोम या शल्य कर गले में प्रवेश करे । जब उसमें शल्य विभट जाय तो पानी से शलाका ढंढी करे, जिससे शलाका पर छाव कड़े होने से चिपका हुआ शल्य लीच ले । जतुपे—आ काल में बालकों के लिये छाव के बनाये हुए खिलौने जाते थे । इसलिये छावशाल्य का यहाँ बहुरे किया गया आज बल इसका प्रचार नहीं है—जतुपे यौवचित्रमेषः । इदम् । अनीक्षणाय गवाऽभ्यादिमग्न्यमथथा फलम् ॥ (अष्टांगमर्म) ।

अस्थिशाल्यमन्यद्या तिर्यक्कण्टासक्तमवेष्यकेः ण्डुकं हटैकस्रयवकं द्रयभक्तोपहितं पाययेद्राकण्ट पूर्णकोष्ठं च धामयेत्, यमतश्च शल्यैकदेशस शायवा मूत्रं सहसा त्याक्षिपेत्; मृदुया दन्तधावनकूर्चकेनापहरेत् मृगुदेवाऽन्तः । ए कएदाय च मधुसर्पिणी लेढुं प्रयच्छेत्रिफलाचूर्णं मधुशार्कराविमिश्रम् ॥१४॥

अस्थि का टुकड़ा या धीरे कोई वस्तु तिरछी कट में है हुंके टुकड़कर बालों से बनी हुई गेंद छद सूत्र के एक तिर बाध कर पतले भात के साथ निगलवा दे और भात तक भर दे । फिर भरपेट उस मनुष्य को बमन करावे । के समय बालों की गेंद शल्य के एक आध हिस्से में फैली जानकर शीघ्रता से सूत्र को सींच ले (जिसके साथ बाह्य निकल आवेगा) । अथवा हर्तान के मधु पूरे (अटकाकर) निकाले या भीतर को धकेल दे । यदि बल शत हो जाय तो उसे मधु और घृत मिलाकर अथवा त्रिफला का चूर्ण मधु और शर्करा में मिला कर चटाने के लिये प्र करे ॥१४॥

वक्तव्य—अस्थिशल्य—भाजन के समय भांग परा में से मछली या अन्य प्राणि की हड्डी का टुकड़ा । कर्णोत्तुष्टित वेयोऽपयगुदकमिव इति वेगोण्डुकम् । उत्तुष्टिसस्य वेग । यथाया हुआ मीला । उदुक—शुद्ध और स्थूल आंग के लिये स्थान का आंग का एक भाग (Coecum) है—गुदके निपत्रने मल मरपत्र फल । गले में अटके हुए अस्थिशल्य निकालने के लिये पाश्चात्य शल्यचिकित्सा में आज भी के बालों का यथा हुआ प्रोबंग (Probang) नामक प्रयोग होता है । यह एक नाडीगत शलाका ढंघ है, जिसके अगले सिरे में शलाका के चारों ओर घोंटे के बाल त्रि की मणि लगाये हुए होते हैं । गले में डालते समय परा का भाग शलाका को तीस बद रहता है, जो शल्य के परा पीठे धकेल दिया जाता है । सस्यशाल्य यन्त्र को बाहर ही जाता है । उस समय भीतर के बाल चारों ओर फैलकर वे पोती गेंद सी (वेयोऽदुक) बन जाती है, जिसमें बर्षा पर मणि हुआ शल्य फैल जाता है अथवा बाहर लीचने के समय बा को गेंद के भागे आगे फिलतला हुआ बना जाता है ।

उदकचूर्णोदरमयाकृशिरसमयवीर्योद्दीनीयाम् । येष्टा मसाराश्री या निचरनेद्रामुपात्त ॥१५॥

जिसके पेट में जल गरा हुआ है, ऐसे मनुष्य को १५

चा करके रखे । उसका पीछन करे, झिलाने, घमन करा दे
क्या रात के ठेर में सुख तक दवाया रहे ॥१५॥

वक्तव्य—इस सूत्र में जल में डूबने के कारण पानी
में हुए मनुष्य की चिकित्सा वर्णन की है । कुछ लोग (डॉ.
इपचन्द्र) इस सूत्र का संबंध कंडगततन्त्र्य निर्हरण विधि
साथ समझते हैं । परंतु यह संबंध अयोग्य मालूम होता है ।
रण, अरुणदत्त और इन्द्र इत्यादि प्राचीन टीकाकार इस
त्र में जलनृत या जलनिमज्जित की ही चिकित्सा वर्णन की
ई है, ऐसा समझते हैं । अथाश्वास—सिर नीचे करके ।
व्ये—छाती और उदर पर पीठन करे । पुनर्वायु—रोगी के
नों पाँच रखने के पास पकड़कर और सिर नीचा करके उसे
रों और घुमाये अथवा चाक के ऊपर उसे लिटाकर चाक
ने घुमाये—उत्कृष्टतन्त्र्य चक्राचारोपेनेनोदकनिःसारः कार्यं प्रति ।

अरुणदत्त) । अस्मराग्नि—इसमें रोगी को रखने का कोई
वैद्य उद्देश्य कहीं भी लिखा नहीं है । परंतु यह अनुभव से
सिद्ध हो गया है कि पेट का पानी निकालने के तथा रोगी होश
र आने के पश्चात् रोगी की बाह्य श्रित से रक्षा के लिये तथा
भीतरी उष्णता का नाम वंद करने के लिये उप्योपचार की
आवश्यकता होती है और यही कार्य अस्मराग्नि में रखने से
जाता होगा । आज भी साधु लोग शीत से रक्षा करने के लिये
अस्म का शरीर पर उपयोग करते हैं । चेष्टांग जलनिमज्जित
में आधुनिक सिद्ध चिकित्सा निम्न प्रकार से होती है—जल से
किनारे पर निकालते ही उसके कपड़े विशेष करके छाती और
पेट के पास जो हों उतारने चाहिये और यदि आवश्यक हो
तो चौर के उतारना चाहिये । तत्पश्चात् उसको भूमि पर अधो-
मुख लिटाकर कृत्रिम श्वास क्रिया (Artificial respiration)
करानी चाहिये । यह क्रिया आधा घंटे से घंटों तक करनी पड़ती
है । इस क्रिया के साथ रोगी का मुख साफ करना चाहिये,
उसको सूखा करना चाहिये, उसके पास गरम पानी की बोतलें
रखनी चाहिये, शरीर पर घर्षण करना चाहिये, सूँघने के लिये
अमोनिया जैसी तीव्र गंध युक्त वायु नाक के पास रखनी
चाहिये और सत्कुचला (Strychnine) जैसे हृदयोत्तेजक
और श्वासकेन्द्रोत्तेजक ओपधि की सुई लगानी चाहिये । पुनर्वा-
यन (Resuscitation) होने के पश्चात् रोगी की पीठ पर
सुलाकर उसके गीले कपड़े पूरे निकाल देने चाहिये और उसको
गरम कपड़ों में लपेट कर गरम विस्तरे पर लिटा देना चाहिये ।
होश पर आने के पश्चात् उसको गरम पेय मद्य इत्यादि पीने
के लिये देना चाहिये । यदि फिर श्वास प्रश्वास की क्रिया बंद
हो जाय तो लावार्दे (Laborde's method) की कृत्रिम श्वासन
की पद्धति का प्रयोग करना चाहिये । होश में आने के पश्चात्
रोगी के न्युमोनिया (श्वासनक ज्वर), दीर्घत्व इत्यादि विकारों
से मरने की संभावना होती है; इसलिये उसको पथ्याचार से
रखना आवश्यक है । अष्टांगसंग्रह में जलनिमज्जित मनुष्य के
लिये निम्न उपद्रव बतलाये गये हैं—अन्या धूम्रमार्गामिभिरकि-
राभानकासश्वासपीनसेन्द्रियोपवातजनरादयः श्लेष्मदिकारा मृत्युश्च । तत्र
यथासं कके प्रतिकुर्यात् । कृत्रिम श्वासन की कई विधियाँ प्रचलित
हैं जो धूमोपहत, जलनिमज्जन, पाश्चात्त इत्यादि प्राणाचरोध-
जनक (Asphyxia) अनेक अवस्थाओं में पुनर्वायन के लिये

प्रयोग होती हैं । शेफर की विधि (Schafer's method)—यह
विधि सब से उत्तम और आसान है । इसमें रोगी को भूमि पर
उसका मुँह नीचे करके लिटा दिया जाता है और उसके
वक्षःप्रदेश का निचला हिस्सा एक छोटे तकिया पर रखला
जाता है । तत्पश्चात् कार्यकर्ता रोगी की पीठ पर दोनों ओर
जमीन में घुटने टेक कर सवार होता है परन्तु वह रोगी के
शरीर पर नहीं बैठता । तदनंतर वह अपने दोनों हाथों को
रोगी के पीठ के नीचे के दोनों ओर की अन्तिम पसलियों पर
रखता हुआ आगे को झुककर अपने शरीर के भार को धीरे
धीरे हाथों पर डालकर रोगी की छाती को खूब दबाता है
जिससे फुफ्फुस संकुचित हो जाता है । तत्पश्चात् वह अपने
शरीर को फिर पीछे की ओर पूर्वस्थिति में लौटा लाता है
जिससे छाती पर का दबाव हट जाता है और फुफ्फुस का
विकास होता है । इस प्रकार कृत्रिम पद्धति से छाती का
संकोच और विकास कराने से भीतर से वायु बाहर की जाती
है और बाहर से वायु भीतर की जाती है । इस प्रकार छाती
का संकोच और विस्तार प्रति मिनिट बारह से पंद्रह दफा
करना चाहिए । इस शेफर की विधि से फुफ्फुस में अधिक से
अधिक वायु की राशि प्रविष्ट होती है तथा इससे फुफ्फुस
विश्रांति होने की भी भ्रंति नहीं होती । बीच बीच में रोगी
को पीठ पर उलटा करके उसके हृदयप्रदेश पर दबाव देने से
हृदय को भी उत्तेजना मिलती है । सिल्वेस्टर की विधि—
(Silvester's Method)—प्रथम रोगी के मुख से जितना
पानी निकल जाता है उतना निकल जाने के पश्चात् उसको
भूमि पर पीठ पर लिटा दिया जाता है । उसका छाती का
निचला हिस्सा एक छोटे तकिया पर रक्खा जाता है और
उसकी जिह्वा को आगे की ओर सूत्र से, संध्य से या अन्य
प्रकार से सींचा जाता है । तत्पश्चात् कार्यकर्ता सिरहाने की
ओर जमीन में घुटने टेक कर कुहन से रोगी के दोनों बाहुओं
को पकड़कर धीरे धीरे रोगी के सिर के ऊपर की ओर ले जाता
है और वहाँ दो सेकण्ट तक ठहरता है । इससे छाती चौड़ी
होती है, फुफ्फुस फैलते हैं और वायु बाहर से भीतर प्रवेश
करती है । तत्पश्चात् बाहुओं को वहाँ से नीचा करके छाती
के दोनों ओर रखकर अपने पूरे वल से दायता है जिससे
छाती दब जाती है, फुफ्फुस का संकोच होता है और भीतर
प्रविष्ट हुई वायु बाहर की ओर निकल आती है । यह क्रिया
प्रति मिनिट १५ बार करनी चाहिये । सिल्वेस्टर की विधि जल-
निमज्जित की चिकित्सा के लिये विशेष उपयोगी नहीं होती ।
लवार्दे की विधि (Laborde's method)—इस विधि में
रोगी की जिह्वा को स्माल की सहायता से पकड़कर प्रति मिनिट
पंद्रह बार आगे की ओर पूर्णतया खींच लिया जाता है । इस
क्रिया से मस्तिष्कगत श्वासकेन्द्र (Respiratory centro)
उत्तेजित हो जाता है । इस विधि का उपयोग स्वतंत्र या अन्य
विधियों के साथ हो सकता है ।

श्रासशल्ये तु करणसक्ते निःशङ्कमनवबुद्धं
स्कन्धे मुष्टिनाऽभिहन्यात् छेहं मद्यं पानीयं वा
पाययेत् ॥१६॥

प्रास यदि शरं में अटक जाय तो निश्चय होकर, सहसा रोगी के कंधे पर मुष्टि में प्रहार करे अथवा खेद, मद्य या पानी पिलारे ॥१६॥

घक्तव्य—ग्रामशल्य—ग्राम शल्यमिदं ग्रामशल्यम्, प्रास रूपी शल्य निररक्त—मुष्टिप्रहार का आगे क्या परिणाम होगा, इसकी शक्यता मन में न करके । अनृतउदर—रोगी को मुष्टि-प्रहार करने की सूचना न देते हुए अर्थात् प्रकाणक ।

वाटुरज्जुलतापाशैः कण्ठपीडनाद्वायुः प्रकुपितः
 क्लेषमाणं कोपयित्वा स्रोतो निररुद्धि लालास्रावं
 फेनागमनं सशानाशं चापादयति, तमभ्यज्य
 सस्वेद्यं शिरोविरेचनं तस्मै नीच्य दद्यान्न च
 यातमं विदध्यादिति ॥१७॥

हाथ, डोरी या लता इनका पाश में कण्ठ घुट जाने के कारण वायु प्रकुपित होकर कफ की प्रकुपित करती है और मार्ग को रोक देती है तथा मुख से लाला का स्राव, भाग का निकलना और घेंघोली ये लक्षण उत्पन्न करती है । उसे अभ्यग्न कराकर स्वेद दिलाकर तीक्ष्ण शिरोविरेचन देने और वायुनाशक रस प्रदान करे ॥१७॥

घक्तव्य—बाहुज्जुलतापाश—बाहुपाश, रज्जुपाश और लतापाश । बाहुपाश से जो कण्ठ पीडन किया जाता है, उसे अमेठी में 'थोटलिंग' (Throtling) कहते हैं । रज्जु या लता का पाश लगाकर जो कण्ठ का पीडन होता है या किया जाता है, उसे स्ट्रैंग्युलेशन (Strangulation) कहते हैं । जो रज्जु या लता का पाश लगाकर मनुष्य स्वयं टांग लेता है या उसे टांग देते हैं तो उसको 'हैंगिंग' (Hanging) कहते हैं । तीनों अवस्थाओं में कण्ठ का पीडन होने के कारण शुद्ध वायु का भीतर जाने का मार्ग बंद हो जाता है तथा अशुद्ध वायु बाहर नहीं जा सकती—नासिस्थ प्राणपवन शुद्धा इत्यमलम्बम् । कण्ठद्विनिर्विषीति पातु विष्णुवदाम्बुम् ॥

पीरवा चावरीकृष पुनरुपायि वयम् । प्रीणयन् देहमरिणं जीवयन् जयजानकम् ॥ (शांतिपर) । प्राण वायु का अभाव और अशुद्ध वायु की शरीर में उपस्थिति इन कारणों से सशानाशादि लक्षणा उत्पन्न होते हैं । इन अवस्था की चिकित्सा में भी कृत्रिम श्वसन वाले के फॉर्म को निकाल देना, रोगी को सुखे स्थान में रखना और यदि शक्य हो तो शुद्ध प्राणवायु (Pure Oxygen) ही सूक्ष्मे के लिये देना य प्रथम उपाय है । उपयुक्त शल्यों के अतिरिक्त वाष्पट ने निम्न कर्ण के शल्य यौग्य किंये हैं—**सिं** बर्णभान परिष्णे नादो गौर्ये अमरपण्य च भवति सन्मने चाप्यथिरे वरना । तत्र सन्वयेनानुना मप्रदुत्केन मनेन वा सुगन्धेन पूर्यम् ॥ अथपूर्णे धर्मे इत्यान्नाभियेनैलांनुना पूर्यम् । पश्वपनन वा इत्यां इत्यान्नाभ्यन्त्या वा पूषवर् ॥ (अष्टांगसमप्र) ।

भवन्ति चात्र—

शुच्यारतिपिशोपांशु स्थानान्यायेद्य शुद्धिमान् ।
 तथा यन्मृधक्य च सस्यक शल्यमधादरेत् ॥१८॥

कर्णवन्ति तु शल्यानि तु साहार्याणि यानि च ।
 आर्द्रीतमिपक् तस्मात्तानि युक्त्या समाहितम् ॥
 पतैरुपायैः शल्यं तु नैव निर्यात्यते यदि ।
 मत्या निपुण्या वैद्यो यन्त्रयोगैश्च निहरेत्
 शोयपाको रजश्चोप्राः कुर्याच्छल्यमनिहृतम् ।
 वैकल्यं मरणं चाऽपि तस्माद्यत्नादिनिहरेत् ॥

इति सुश्रुतसंहितायां चतुस्थाने शल्यपनवनीये
 नाम मातृशिशुवैद्यशास्त्रेऽध्यायः ॥२७॥

शल्यों की आकृति के विविध भेद, शल्यप्रयोग के ल (शल्य तथा स्थान इनकी भिन्नता के अनुसार) आह्वय लिये यंत्रों की भी भिन्नता इनका विचार करके बुद्धि वैद्य शल्य को निकाले ॥१८॥ जो कर्णयुक्त शल्य निकालने बहुत पीडा होती है, उन्हें वैद्य सावधानी करके बुद्धि निकाले ॥१९॥ यदि उन उपायों से शल्य नहीं निकले तो अपनी प्रवीण बुद्धि के अनुसार (अनुक्त) यन्त्रा तथा उप को आगीकार करके जैसे बने वैसे उसे निकाले ॥२०॥ निकाला हुआ शल्य शीघ्र, पाक, दारुण पीडा, विकलता इ शल्य भी करता है । इमलिये (सब प्रकार का) यत्न करके य को (अवश्यमेव) निकाले ॥२१॥

घक्तव्य—यन्त्रयुक्तशल्य—इस विधुमुल्लेखेत् गूढ कर्मदु दिभि । निहरेत्तु शल्यं शास्त्रयुक्तियोगेनैवम् ॥ (सुश्रुत) । म हार करपाय्य कोणैवैतत्तदुपन । इष्य सिंहादिमकरादिभिरुक्तकानने अद्वय मण्यस्थानाद् महीतु शक्ये यत् । कर्तृभूगाद्गुरुररगारिब सानने ॥ सेरशभ्यां लगार्दिष्य तावभ्यां सुचिरं हेरत् । कुपि तु नर्कं रोषं रोवैर्वायवम् ॥ (अष्टांगहृदय) । यन्त्रयोगैश्च—य तथा योग यानि उपाय इनके द्वारा । कीसर्तै श्लोक का तात् यह है कि अगर इस अध्याय में प्रत्येक प्रकार का श निकालने के लिये जो यंत्रों और उपायों की परिपाटी बर्ष की है, उससे यदि कार्य न हो तो अपनी बुद्धि के बल से अ अनुक्त यन्त्रों तथा उपायों की खोज करके उनसे शल्य विष लना चाहिये जैसे कि चिकित्सा के संघर्ष में धरकरीडिता कहा गया है—न चैकालेन निर्दिष्टे तत्राभिनिविष्टेऽपि न । स्व पत्र वंशेन तस्य बुद्धिमान् भवेत् ॥ यत्तादिनिहरेत्—प्रत्येक शल्य व से निकालना चाहिये । परन्तु इस नियम के दो अपवाद वाक्य में मिले हैं—**नैवाहोदिशक्तम् न च निष्पदम् ।** विशल्य मर्मों में स्थित हुए शल्य तथा गुप्त उपद्रव रहित शल्य मा निकालना चाहिये । विशल्यम मर्म से शल्य निकालने पर **सर्** ईर्त्ता है—शल्यमुत्पन्नकरो वाचननवीनितर्कान हास्यमेवति उद्गे मने तु शल्ये मर्मस्थानाभिनी वायुनिष्कामति, मन्मन् मरालो मीरि उद्गमण्यो मिवने । (सुश्रुत) ।

इति भास्करनेमा गोविन्दायमेन विरचितयाम्युदेररररररीपिठवा
 शुभभाषाटीकायां शल्यपनवनीये नाम
 मातृशिशुवैद्यशास्त्रेऽध्यायः ॥२७॥

अष्टाविंशतितमोऽध्यायः ।

यथातो विपरीताविपरीतवर्णविदानीयमध्यायं
व्यास्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥
अथ यहाँ से विपरीताविपरीत वर्णविदानीय नामक
य का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने
॥१॥

घक्तव्य—विपरीताविपरीतवर्णविदानीय—गन्ध, स्पर्श, रूप,
इनकी दृष्टि से विपरीत यानि विकृत और अविपरीत यानि
ज वषों का विशेष ज्ञान जिसमें वर्णन किया है, ऐसा
गय ।

लाग्निजलवृष्टीनां पुष्पधूमाम्बुदा यथा ।
व्यापयन्ति भविष्यत्वं तथारिष्टानि पञ्चताम् ॥२॥

होने वाले फल, अग्नि और जल की वृष्टि का यथाक्रम से
। पुष्प, धूम और मेघ सूचित करते हैं, वैसे ही रिष्ट होने
की मृत्यु की सूचना देते हैं ॥२॥

घक्तव्य—रिष्ट—आयुष्य का जयसूचक लिंग । इसी
ही अरिष्ट भी कहते हैं—तंगिणो मरणं यन्मात्रव्यंभावि लक्षणम् ।
श्वणमरिष्टं स्याद्विष्टं चापि तदुच्यते ॥ (भावप्रकाश) । ये रिष्ट दो
रूप के होते हैं । (१) पुरुषमनाश्रित यानि जिनका संबंध रोगी
साथ नहीं होता । यथा—दूताधिकार, पथि चोत्पातिक, आनुर-
ले भावावस्था इत्यादि । (२) पुरुषसंश्रय यानि जिनका
बंध रोगी के साथ होता है । इसलिये इस प्रकार के रिष्ट
में अष्टांगसंग्रह में 'आनुराश्रयरिष्ट' कहा है । इस पुरुषसंश्रय
रिष्ट के कई आचार्य दो भेद करते हैं—(१) स्थायिरिष्ट या
रिष्ट । (२) अस्थायिरिष्ट या रिष्टामाम । वेधितु तददिष्ट्याहः स्था-
यस्थाविविभेदतः । (अष्टांगहृदय) । इनमें शरीर के प्राकृतिक
मात्रों में शारीरिक और मानसिक दोष असाध्य होने के कारण
अकस्मात् और निर्निमित्त जो विपर्यास उत्पन्न होते हैं, वे स्थायि-
रिष्ट कहलाते हैं—स्वस्थानामातुराणां वा पुष्पाणां देहान्तराशिलापि-
णामौपविषयमतीनाः सकलशरीरव्यापिनो दोषा घनाघना एव वर्षमा-
नुषः क्षय सूचयन्तोऽकस्मात् स्वभावविपर्यास जनयन्ति । तस्मात्सतो
रिष्टमित्याहः । (अष्टांगसंग्रह) । त्रिपाथमन्निदान्ताः केवल देहमा-
ष्टनाः । चिह्न कुर्वन्ति यद्योपात्तरिष्टं निगद्यते ॥ श्वणेन हि प्राटुर्भवन्ति
अरिष्टानि, अनिमित्तान्शारिष्टप्राटुर्भावः । (चरक) । रूपेन्द्रियस्वरूपाया
प्रतिच्छाया क्रियादियु । अन्येऽपि न भावेण प्राकृत्यनिमित्ततः ॥ वि-
श्रुतिर्था ममासेन रिष्टं तद्विनि लक्षयेत् ॥ (अष्टांगहृदय) । ये स्थायि
रिष्ट निश्चित रूप से मृत्यु की सूचना देते हैं तथा इनका हेत्वादि
भेद अव्यक्त, अज्ञात और अदृष्ट होता है । इसलिये ये
नियतारिष्ट' या 'अनिमित्तारिष्ट' भी कहलाते हैं । इनका दर्शन
होने पर मृत्यु का निवारण कदाचित् दैविक शक्ति से ही सकता
है, अन्यथा असंभव है । इसी लिये आगे लिखा है—प्राग्भूतत्
विलासैः । रसायनतपोजप्यतत्परैर्वा निवार्यते ॥ (सुश्रुत) । कदाचिद्
द्वेषयोगेन दृष्टरिष्टोऽपि जीवति । (योगरत्नाकर) । अस्थायिरिष्ट
ज्ञातनिमित्त और दोषों के बाहुल्य से उत्पन्न होते हैं । यदि
चिकित्सा न की जाय तो मृत्यु होती है । यदि निमित्त का
परिहार करके दोषों की उचित चिकित्सा की जाय तो रिष्टों का

नाश होकर मृत्यु का निवारण होता है । इसलिये इनको
'अनियत रिष्ट' भी कहते हैं—दोषाणामपि बाहुल्याद्विष्टामासः सगु-
श्चेत् । तपोपणां जग्रे शान्धेय । (अष्टांगसंग्रह) । ये रिष्टभास
ज्ञातनिमित्त और प्रतिक्रियाक्रम होने के कारण इनका
विचार रिष्ट विभाग में नहीं किया जाता है । रिष्ट विभाग में
केवल उन लक्षणों का निर्देश किया जाता है, जिनका निमित्त
अज्ञात है, जिनकी चिकित्सा असंभव है तथा जिनका दर्शन
रोगी की मृत्यु सूचित करता है । चरकसंहिता के इंद्रियस्थान
में इसी दृष्टि से लक्षणों का समावेश किया गया है—निमित्ता-
नुरूपा (विदग्धिः) तु निमित्तायानुकारिणी । यामनिमित्तां निमित्तमा-
नुषः प्रमाणजनयेच्छब्दं विषजो भूयश्चायुषः क्षयनिमित्तां प्रेतलिंगा-
नुरूपां यामानुषोऽन्तर्गतस्य मानार्थमुपदिशन्ति धीराः । यां चाधिकृत्य
पुरुषसंश्रयानि मुमूर्षतां लक्षणानुपदेक्ष्यामः । (हृद्युद्देशः) । ये रिष्ट
रोगी की मृत्यु के पूर्व उत्पन्न होने पर भी उनका ज्ञान कभी
कभी क्यों नहीं होता है, इसके कारण वर्णन करते हैं—

तानि सौक्ष्म्यात् प्रमादाद्वा तथैवाशु व्यतिक्रमात् ।

मृत्यन्ते नोद्गतान्येषामुसूर्पोर्नि त्वसंभवात् ॥३॥

वे अरिष्ट उत्पन्न होने पर भी सूक्ष्म होने से, (धैर्य के)
अज्ञान से, शीघ्र पलट जाने से मृत्यु वैश्यों से ग्रहण नहीं होने ।
इसलिये नहीं कि मरने वाले के शरीर में इनकी उत्पत्ति
नहीं हुई ॥३॥

घक्तव्य—आशुव्यतिक्रमात्—अरिष्टों का शीघ्र नाश होने
से या रोगी की शीघ्र मृत्यु होने से । मुमूर्षोः—'शरीर' इति
शेषः । मृत्यु के पूर्व अरिष्ट का दर्शन निरपवाद होता है । ऊपर
रिष्ट और मृत्यु का संबंध बतलाने के लिए जो पुष्प और फल
का दृष्टान्त दिया है, उसमें कभी कभी व्यभिचार हो सकता है
परंतु रिष्ट और मृत्यु के संबंध में कदापि नहीं होता है—अप्येवं
तु भवेत् पुष्पं परेऽनानुवधि यत् । फल चापि भवेत् किंचिद् यस्य
पुष्पं न पूर्वजम् ॥ नत्तरिष्टस्य जानस्य नाशोऽस्ति मरणादृते । मग्धं
चापि तद्वास्ति यत्तारिष्टपुरःसरम् ॥ (चरक) ।

ध्रुवं तु मरणं रिष्टे ब्राह्मणैस्तत् किलामलैः ।

रसायनतपोजप्यतत्परैर्वा निवार्यते ॥४॥

रिष्ट उत्पन्न होने पर मृत्यु निश्चित है (तथापि) ऐसा
कहा जाता है कि निर्मल ब्राह्मणों से अथवा रसायन, तप और
जप इनमें तत्पर ऐसे ब्राह्मणों से मृत्यु का निवारण हो
सकता है ॥४॥

घक्तव्य—किल—यह शब्द यहाँ आगम, वार्ता या
ऐतिय इस अर्थ से प्रयुक्त हुआ है और उसका अर्थ 'ऐसा
कहा जाता है, ऐसा शास्त्र में प्रतिपादित किया है' इत्यादि
होता है । वार्तामभाव्योः किल । (अमर) । किलशब्दोऽज्ञागमार्थ
सूचयति, एव किल आगमे प्रतिपादितमित्यर्थः । (डल्हन) ।
अमलैः—मलरहित । मल का अर्थ मानस दोष । राग्द्वेषादि
मानस दोषों से निर्मुक्त । रसायनपराः—यज्जराव्याधिविध्वंसि भेषज
तद्रसायनम् । इस प्रकार स्वभावव्याधिनिकारक श्रोषधिचित्तक ।
आत्रेय महर्षि के मतानुसार रिष्ट और मरण का अव्यभिचार
होता है परंतु महर्षि सुश्रुत आगम प्रामाण्य मानते हुए दोनों
में व्यभिचार होने की संभावना पर विश्वास करते हैं ।

नक्षत्रपीडा चण्डा यथा फोले विपच्यते ।

तथैवारिष्टपाकं च द्रव्यते यद्वैद्यो जना ॥५॥

जैसे—(विषिष्ट) नक्षत्र (पर स्थित हुए ग्रहों की) पीड़ा विषिष्ट काल पर फजरी है वैते अरिष्ट का फल भी विषिष्ट काल पर होता है, ऐसा बहुत लोगों का मत है ॥५॥

पक्षद्वय—नक्षत्रपीडा—नक्षत्रविशेषग्रहस्थान जन्मापीडा ।

कालात्—कालविशेषमाश्रित्य—द्वारायां नरमे एवं सप्तमे च शनिश्चर ।
एकादशे शुक्र शुक्रो मानमेक न जीवति ॥ अशुभे सप्तमप्रातः पश्चादमे
निशाकर । शनिश्चरस्तु ऋषुत्थो दिमाने पृथुपृथुविति ॥

असिद्धिमाभ्याहोके प्रतिकुर्वन् गतायुषः ।

अतोऽरिष्टानि यत्नेन लक्षयेत् कुशलो भिषक् ॥६॥

जिसकी आयु क्षीण हो गई है, उस मनुष्य की चिकित्सा करने से संसार में असिद्धि को प्राप्त हो जाता है । इसलिये कुशल वैद्य विशेष ध्यान देकर अरिष्टों का निरीक्षण करे ॥६॥

वक्तव्य—असिद्धि—धर्मापं कामादि की हानि—स्वार्थ

विवावशोऽशानिदुपक्रीशमवग्रहम् । अशुभानिपत नैवा याऽन्वय
समुपाचरेत् ॥ (चरक) ।

गन्धवर्णरसादीनां विशेषाणां स्वभावतैः ।

वैकृतं यत् तदाचष्टे मखिनः पकलक्षणात् ॥७॥

गन्धवर्ण रसादिक (प्रत्येक द्रव्य के दौष के अनुसार) जो विशेष भाव होते हैं, उनमें विकृति होने से मणी मनुष्य की मरणोन्मुखता समझनी चाहिये ॥७॥

वक्तव्य—आदि—स्वार्थ शब्द का भी समावेश आदि

से होता है । स्वभावतः—दोषों के स्वभाव के अनुसार ।
पकलक्षणम्—विनाशोन्मुखता ।

कटुस्तीक्ष्णश्च विस्त्रश्च गन्धस्तु पचनादिभिः ।

लोहगन्धिस्तु रक्तेन द्यामिश्रः साक्षिपातिकः ॥८॥

लाजातसीतैलसमा किंचिद्विस्त्रश्च शान्धतः ।

श्लेयाः प्रकृतिगन्धाः स्युरतोऽन्यद्रन्धवैकृतम् ॥९॥

वात से कटु गन्ध, पित्त से तीक्ष्ण गन्ध, कफ से आम गन्ध, रक्त से लोह गन्ध और सक्षिपात से मिश्र गन्ध आती है ॥८॥ (वात पित्त से) लाजा गन्ध, (वात कफ से) अतसी तैल गन्ध और (पित्त कफ से) निल तैल गन्ध आती है । ये तीनों द्रव्य किंचित् आमगन्धी होते हैं । ये गन्ध (दोषों के) स्वाभाविक गन्ध समझने चाहिये और इनसे विपरीत विकृत गन्ध समझना चाहिये ॥९॥

मद्यागुर्वीज्यसुमन पञ्चचन्दनचम्पकैः ।

सगन्धा दिव्यगन्धाश्च मुमुर्षूणां ग्रणाः स्मृता ॥१०॥

श्ववाजिमुष्पिकध्वाश्च पृथिवहृत्पूरमत्सुषेः ।

सगन्धाः पङ्कगन्धाश्च भूमिगन्धाश्च गर्हिता ॥११॥

(गन्धविकृति—) मरणोन्मुख मनुष्य के द्रव्य मद्य, अणु, प्लत, जाति (सुमन), कमल, चन्दन, चम्पक इनके समान गन्ध युक्त (सर्पण) और अलौकिक गन्धयुक्त (दिव्यगन्ध) होते हैं ॥१०॥ कुचा, घाङ्गा, चूडा, बीजा (ज्वाहृत), पूषयुक्त शुष्क

मांस, लटमल इनके समान गन्धयुक्त द्रव्य, कीचर के मरण गन्धयुक्त द्रव्य तथा भूमि के समान गन्धयुक्त द्रव्य प्रकृत समझने चाहिये ॥११॥

दृश्यन्ते चाऽपि दृश्यन्ते भिषक् तान् परिवर्जयेत् ॥१॥

छृणास्तु ये तनुस्त्रावा घातजा मर्मतापिन ।

स्वल्पामपि न कुर्वन्ति रजं तान् पण्डितैर्जयेत् ॥२॥

जो पित्तज द्रव्य ईर्ष्य दृष्ट्या (ध्याम), केशर और कटुर्ष्य तुल्यवर्ण होते हुए भी दाह और चोप उत्पन्न नहीं करते उनको वैद्य त्याग दे ॥१२॥ जो कफज द्रव्य कण्डूयुक्त, मिश्र श्वेतवर्ण, सिन्धु होते हुए भी पीडा और दाह उत्पन्न करते हैं, उनको वैद्य त्याग दे ॥१३॥ जो वातज द्रव्य कृष्णवर्ण क्लृप्त धाव्युक्त, मर्म पर होते हुए घोर्षी भी पीडा नहीं करते उनको त्यागना चाहिये ॥१४॥

वक्तव्य—इन श्लोकों में वातादि द्रव्ययुक्त द्रव्यों की वर्णविकृति वर्णन की गई है । रसविकृति स्वमेव होने के कारण उसका वर्णन नहीं किया गया है । कटु—सुवर्णशीर पीलियों, उसारे रेवन्द, रेवाचिनी, Gamboge tree Garcinia mollia । जुलु लोण कटु से पार्वतीय वृक्षिका मुदारीसग भी मानते हैं । तान्—येसे विपरीतगन्धयुक्त द्रव्यों से पीडित रोगियों को ।

द्वेडन्ति घुर्घुतयन्ते ज्वलन्तीव च ये ग्रणाः ।

त्यङ्मांसस्याश्च पचनं सशब्दं विस्त्रजन्ति ये ॥१५॥

(शब्दविकृति—) जो द्रव्य खटखट, घुर्घुत इत्यादि स्वन करते हैं, जो जलनयुक्त प्रतीत होते हैं और स्वभाव, मांस में होने पर भी शब्द के साथ वायु को छांटेते हैं (उन्हे गर्हित समझना चाहिये) ॥१५॥

वक्तव्य—पचनं विस्त्रजन्ति—इसके लिये पीठे २५ के अध्याय के १६ वें श्लोक का वक्तव्य देखो ।

ये च मर्मस्वसंभूता भयन्त्यत्यर्थवेदनाः ।

दृश्यन्ते चान्तरत्यर्थं बहिः शीताश्च ये ग्रणाः ॥१६॥

दृश्यन्ते पहरित्यर्थं भयन्त्यन्तश्च शीतलाः ।

(स्पर्शविकृति—) जो द्रव्य मर्मस्थान पर न होते हुए भी अत्यन्त पीडा करते हैं, भीतर से अत्यन्त गरम और बाहर से ठंडे होते हैं तथा जो द्रव्य बाहर से गरम और भीतर से ठंडे होते हैं (उन्हे असाध्य समझना चाहिये) ॥१६॥

शक्तिध्वजरथा कुन्तवाजिचारणगोवृषाः ॥१७॥

येषु चाप्यवमासेरन् प्रासादाद्यतयस्तथा ।

चूर्णायकीर्णा इयं ये भान्ति घान च चूर्णिताः ॥१८॥

(रूपविकृति—) शक्ति (आयुषविशेष), श्वजा, भाला, घोडा, हाथी, गौ, वृषभ इनकी आकृति तथा राजमदक की आकृति जितमें आभासित होती है और जो धूर्ण न छोटे

र भी शूर्पी से अवकीर्ण हुए दिग्बाह्य देते हैं (वे व्रण असाध्य होते हैं) ॥१७-१८॥

शामासक्त्यश्वासकासारोच्चकपीडिताः ।

प्रवृद्धपुयलधिरा व्रणा येषां च मर्मसु ॥१९॥

जो व्रण प्राणनाश (Lowered vitality) मांसनाश, मांस, कास, अरोचक इन (उपद्रवों) से युक्त होते हैं, जिनमें र और दूध रक्त काफी होता है तथा जिनका अवस्थान मर्मों में होता है, वे व्रण (असाध्य होते हैं) ॥१९॥

क्रियाभिः सम्यगारुघान स्थिर्यन्ति च ये व्रणाः ।

वर्जयेत्तान् मित्रकं प्राहः संरक्षणात्मनो यदाः ॥२०॥

इति सुश्रुतसंहितायां स्रक्स्थाने विपरीताविपरीतव्रणविद्यानीयो

नामाष्टाविंशतितमोऽध्यायः ॥२८॥

जो व्रण (प्रारंभ से ही), योग्य उपचारों से चिकित्सा होने पर अच्छे नहीं होते, उनको सुश्रुतान् वैद्य अपने यम की रक्षा करने के लिये त्याग दे ॥२०॥

वक्तव्य—इस अध्याय में शब्द, स्पर्श, रूप और गंध इन चार भावों का रिष्टवर्णन किया है। इनके सिवाय अनुक्त अशेष रिष्टों का संग्रह करने के लिये यह श्लोक लिखा गया है। जब शरीरगत धातुओं की प्राणव्यक्ति नष्ट हो जाती है, योग्य औषधियों द्वारा चिकित्सा करने पर भी यश नहीं मिलता। इस विषय का विशेष विवरण आगे ३२ वें अध्याय के छठे श्लोक के वक्तव्य में किया गया है।

इति भास्करशर्मणा गोविन्दालयेन विरचितायामसुवैदरहस्यटीपिकायां

सुश्रुतभाष्यटीकायां विपरीताविपरीतव्रणविद्यानीयो

नामाष्टाविंशतितमोऽध्यायः ॥२८॥

एकोनविंशतितमोऽध्यायः ।

अथातो विपरीताविपरीतस्वप्ननिदर्शनीयमध्यायं
व्याख्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

प्रथम यहाँ से विपरीताविपरीत स्वप्ननिदर्शनीय नामक
अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि
ज्या ॥१॥

तद्दर्शनसंभागा वेप्राश्चेष्टितमेव च ।

त्वं वेला तिथिश्चैव निमित्तं शकुनोऽनिलः ॥२॥

शो वैद्यस्य चाग्देहमनसां च विचेष्टितम् ।

ऽथयन्यान्तुरगतं शुभं वा यदि वाऽशुभम् ॥३॥

दूत का दर्शन, संभाषण, वेप और चेष्टा, नक्षत्र, (मध्या-
देह) वेला, (चतुर्थादि) तिथि, निमित्त, शकुन, वायु,
का देश, शारीरिक मानसिक और वाचिक चेष्टा ये रोगी
शुभ या अशुभ की सूचना देते हैं ॥२-३॥

गण्डाश्रमवर्णानां सपत्ताः कर्मलिङ्गये ।

त एव विपरीताः स्युर्दूताः कर्मविषयये ॥४॥

नपुंसकं स्त्री बहवो नैककार्या असूयकाः ।

गर्वभोऽपूरथप्राप्ताः प्राप्ता वा स्युः परस्परः ॥५॥

वैद्यं य उपसर्पन्ति दूतास्ते चापि गर्हिताः ।

(अथ दूतदर्शन के सम्बन्ध में कहते हैं—) (वेद्यबाह्य
बौद्ध कापालिक इत्यादि) नान्दिक मत, (मातृचर्यादिक)
आश्रम, (प्राणाणादि) वर्षे इनमें से जिस मत, आश्रम या
वर्षे का रोगी हो उसी मत, आश्रम या वर्षे का दूत होने से
चिकित्सा में सफलता होती है और इससे विपरीत मत,
आश्रम या वर्षे का होने से चिकित्सा में अपयश होता है ॥४॥
नपुंसक, स्त्री, अनेक दूत एक समय आये हुए, अनेक कार्यों के
लिये आये हुए, निन्दक, गर्वों और लंटाई के वाहन में आये
हुए, (एक के पीछे एक) परंपरा से प्राप्त हुए ॥५॥ जो दूत
वैद्य के पास आते हैं, उन्हें गर्हित समझना चाहिये ।

वक्तव्य—पार्श्वः—पण्यवतिग्रेभिशो वात्यविशेषः । (अरुण-
दत्त) । कर्मविपत्ति-चिकित्सानिष्फल्य । प्राप्ता वा स्युः परस्परः—वैद्य
को जलदी बुलाने के लिये एक के पीछे एक इस क्रम से
आये हुए ।

पाशदरुण्डायुधधराः पाण्डुरेतरवासरुः ॥६॥

आर्द्रजीर्णसन्धैकमलिनोद्भूतवासरुः ।

न्यूनाधिकान्ना उद्विज्ञा विकृता रौद्ररूपिणः ॥७॥

(अथ दूतों के वेप के सम्बन्ध में लिखते हैं—) पाश, डंडा,
गण्ड धारण करने वाले, श्वेत रंग के अतिरिक्त हृत्तर रंग के वस्त्र
धारण करने वाले, गीले पुराने अपतन्य गंदे फटे हुए वस्त्र
धारण करने वाले, (शरीर का एकाग्र) अवयव न्यून होने
वाले, (अंगुल्यादि एकाग्र) अवयव अधिक होने वाले,
उद्विग्नचित्त, (लंगड़ा कुन्ज आदि) विकृतशरीरी, भयानक
रूप वाले (दूत भी गर्हित समझने चाहिये) ॥६-७॥

रुजनिष्ठुरचैदाश्रान्यमाङ्गल्याभिधायिनः ।

(दूतसंभाषा के सम्बन्ध में लिखते हैं—) रुद्ध, कठोर
और अमांगलिक शब्द बोलने वाले दूत भी (गर्हित समझने
चाहिये) ।

छिन्दन्तस्त्वृणाष्ठाणि स्पृशन्तो नासिकां स्तनम् ॥८॥

वखान्तानामिकाकेशनखरोमदशास्पृशः ।

स्रोतोवरोधहृद्गण्डमूर्धोरःकुचिपाणयः ॥९॥

कपालोपलभस्मास्थितुपाङ्गरकराश्च ये ।

विलिखन्तो महीं किञ्चिन्मुञ्चन्तो लोष्टमेदिनः ॥१०॥

तैलकर्मदिग्धाङ्गा रक्तस्रगनुलेपनाः ।

फलं पकमस्तारं वा गृहीत्वाऽन्यच्च तद्विधम् ॥११॥

नखैर्नखान्तरं वाऽपि करेण चरणं तथा ।

उपानर्त्तमहस्ता वा विकृतव्याधिपीडिताः ॥१२॥

वामाचारा रुदन्तश्च श्वासिनो विकृतेक्षणः ।

याम्यां दिशं प्राञ्जलयो विप्रमैकपदे स्थिताः ॥१३॥

वैद्यं य उपसर्पन्ति दूतास्ते चापि गर्हिताः ।

(अथ दूतचेष्टित के सम्बन्ध में लिखते हैं—) कृष्ण और
काष्ठ इनको तोड़ने वाले, नाक, स्तन, वक्ष के सिरे, अनासिका
अंगुलि, सिर के बाल, नख, शरीर के बाल, दाँत इनको छूने
वाले, कर्णच्छिद्र (जोत), स्कंधदेश (अपरोध), हृदय,

कपाल, तिर, छाती आदि कृत्ति इनके ऊपर हाथ रखने वाले ॥८-१॥ टिड्डी, पत्थर, अस्म, हड्डी, भूमि, अंगार इनमें से कोई वस्तु हाथ में लेने वाले, (अपने नाखून से) जमीन को खुरीचने वाले, (हाथ में) जो कुछ हो उसको छोड़ देने वाले, मिट्टी के डेले को फोड़ने वाले ॥१०॥ तैल या कीचड़ धरीर पर मले हुए, लाल रंग की माला या तिलक धारण करने वाले, पका हुआ फल, निवार फल या अन्य कोई क्षुद्र वस्तु हाथ में लिये हुए ॥११॥ नाखून से नाखून और हाथ से पाँव रगड़ते हुए, हाथ में जूता लिये हुए, (गल्लघुडादि) धरीर विकृत करने वाले रोगों से पीड़ित हुए ॥१२॥ अधम आचार करने वाले, रोते हुए, हाँफते हुए, चिड़न नेत्र वाले, दक्षिण दिशा को अंजलि किये हुए, देहे या एक पैर से खड़े हुए ॥१३॥ इस प्रकार के जो दूत वैद्य के पास आते हैं, उन्हें गदित समझना चाहिये ।

दक्षिणाभिमुखं देशे त्वशुचौ वा हुतादानम् ॥१४॥

ज्वलयन्तं पचन्तं वा मूरफर्मणि चोद्यतम् ।

नग्नं भूमौ शयानं वा वैगोत्सर्गेषु वाऽशुचिम् ॥१५॥

प्रकीर्णकेशमभ्यक्तं स्विघ्नं विकल्पमेव वा ।

वैद्यं य उपसर्पन्ति दूतास्ते चापि गदिताः ॥१६॥

(अब वैद्य के धारीरिक भानतिक घेष्टा के सम्बन्ध में लिखते हैं—) दक्षिणाभिमुख, अशुद्ध स्थान में घेष्टा हुआ, अग्नि ॥१४॥ जलाला हुआ या कोई वस्तु पकासा हुआ, (पशुवपादि) कूरकर्म में उद्यत हुआ, नंगा, भूमि पर लेटा हुआ, (गल्लघुडादि) वैगोत्सर्ग से अशुद्ध हुआ ॥१५॥ बाल बिखरा हुआ, तैल का अभ्यंग किया हुआ, खेदित और विद्वल हुआ ऐसे वैद्य के पास जो दूत जाते हैं, उन दूतों को भी गदित समझना चाहिये ॥१६॥

वैद्यस्य पैश्ये दैवे वा कार्यं चोत्पातदर्शने ।

मध्याह्ने चार्धरात्रे वा सन्ध्ययोः कृत्तिकासु च ॥१७॥

आर्द्राश्लेगामघामूलपूर्वास्तु भरणीषु च ।

चतुर्थ्यां वा नवम्यां वा पृथग्ं सन्धिदिनेषु च ॥१८॥

वैद्यं य उपसर्पन्ति दूतास्ते चापि गदिताः ।

(अब घेष्टा, नक्षत्र और तिथि इनके सम्बन्ध में लिखते हैं—) जब वैद्य (श्राद्धादि) पितृकार्य, (हवनादि) दैव-कार्य करता हो, (उन्कापात भूमिक्रम्यादि) उपात दर्शन के समय, मध्याह्न, अर्धरात्र, प्रभात और सायंकाल के सधिकाल इन समय में (जो दूत आते हैं, उन्हें गदित समझना चाहिये) । कृत्तिका ॥१७॥ आर्द्रा, आश्लेया, मघा, मूल, पूर्वा, (पूर्वाका-स्तुनी, पूर्वाषाढा, पूर्वाभाद्रपदा), भरणी इन नक्षत्रों में (जो दूत आते हैं, उन्हें गदित समझना चाहिये) । चतुर्थी, नवमी अथवा पक्षी और (पौर्णिमा, अमावस्या, प्रतिपदा इत्यादि) क्षत्रि दिनों में ॥१८॥ जो दूत वैद्य के पास आते हैं, उन्हें भी गदित समझना चाहिये ।

स्विन्नाभितप्त मध्याह्ने ज्वलनस्य भूमिपतः ॥१९॥

गदिताः पित्तोत्सर्गेषु दूता वैद्यमुपागताः ।

न एव कफरोगेषु कर्मसिद्धिकराः स्मृता ॥२०॥

पतेन शेषं व्याख्यातं युष्मत् संविभजेषु तत् ।

रक्तपित्तातिसारेषु प्रमेहेषु तथैव च ।

प्रशस्तौ जलरोधेषु दूतवैद्यसमागमः ।

विश्रायैवं विभातं तु शेषं बुध्यते परिदृतः ।

पसिने से तर हुए, तप्त, मध्याह्न के समय, तथा अपि समीप से ॥१९॥ जो दूत वैद्य के पास आते हैं, उन्हें पित्त रोगों में निहित समझना चाहिये । परंतु कफ के रोगों में ही दूत चिकित्सा की सिद्धि सूचित करते हैं ॥२०॥ इससे अनुक पातों का व्याख्यान समझकर अन्य स्थानों अपनी बुद्धि से शुभाशुभ का विचार जानना चाहिये । पित्त, अतिवार तथा प्रमेह रोगों में ॥२१॥ जहाँ पानी हुआ हो, ऐसे स्थान में वैद्य और दूत का समागम भेद है । हस्त से अनुक बाँते बुद्धिमान् वैद्य जान ले ॥२२॥

धत्तत्रय—पतेन शेषं व्याख्यातं—तपसा—पुनरेकस्मिन्

समीपस्थमतिशीतस्थं प्रत्युपति श्रेष्ठाभ्येषुशुभं । पित्तमेव शुभं । (अष्टागसंग्रह) । बतारोने परपरुक्षसिद्धापापानकर्म निश्चिते देशे काले मयादे दूतोऽशुभं । विपरीतलु शुभं । (अष्टागसंग्रह) । जलरोधेषु—जहाँ जल का प्रवाह रोकने के लिये बनाया गया है, ऐसे स्थान में । किंवा आगे बरकमहिता जो श्लोक दिया है, उसके अनुसार 'मेघ बरस कर ब' के समय में' ऐसा भी अर्थ हो सकता है । अष्टागसंग्रह केवल प्रथम अर्थ ही दिया है—तथा सेतुभने छद्विद्वेदितिलक पशुभ सेतुवने तु शुभ शेष बुध्यते—यथा उदावते, मूषह इत्यादि अवरोधक रोगों में जल प्रवाह युक्त स्थानों में अथ मेघ बरसते समय में दूत का आना शुभकारक होगा । प दूतवैद्य समागम के संबंध में रोगों की दृष्टि से जो शुभस्थान और काल बतलाये गये हैं, उनका सामान्य ग्रहण के लिये चरकमहिता में निम्न सुन्दर श्लोक दिया है—निक सामान्यग्रहणे देशे कालेऽथवा भिक्षक । दूतमभ्यागतं दृष्ट्वा ननुः पाचरेत् ।

शुक्लयासां शुचिर्गारः द्रयामो वा प्रियदर्शनः ।

स्वस्यां जातौ स्वगोत्रो वा दूतः कार्यकरः स्मृतः ॥२१॥

गोयानेनागतस्तुष्टः पादाभ्यां शुभचेष्टितः ।

स्मृतिमान् विधिकालज्ञः स्वतन्त्रः प्रतिपत्तिमान् ॥२२॥

अलंछितो मङ्गलयान् दूतः कार्यकरः स्मृतः ।

स्वस्थं प्राञ्जुखमासीनं समे देशे शुचौ शुचिम् ॥२३॥

उपसर्पन्ति यो वैद्यं स च कार्यकरः स्मृतः ।

जो दूत शुक्ल उज्ज्वल वस्त्र पहना हुआ, पवित्र, गौरव साँवला, देखने में मनोहर और रोगी की अपनी जाति अथ गोत्र का ही वह कार्यसिद्धि करने वाला होता है ॥२१॥

(या अन्य शुभ पशु की) गाड़ी से आया हुआ, संतुष्ट, पैदल आया हुआ, शुभ चेष्टा करने वाला, जिनकी स्तुति उत्तम है ऐसा, शास्त्रविधि और काल (के अनुसार) के पतेन करना चाहिये (इस) को जानने वाला, स्वतंत्र, प्रगत बुद्धि का ॥२२॥ अलंछन, मंगलकारक ऐसा दूत कार्यसिद्धि

होता है । जव वैष स्वस्थ, पूर्वाभिमुख, लग्न और पवित्र देग में शुद्ध होकर बैठा हुआ हो ॥२५॥ ऐसे समय उसके पास जो वृत जाता है, वह कार्यसिद्धिकर होता है ।

वक्तव्य—चरकसंहिता में प्रगस्त वृत के निम्न लक्षण दिये हैं—स्वानारं हृत्प्रमथं यशस्यं शुक्रवामसम् । अमुष्णगजरं वृतं गतिवेशक्रियासमम् ॥ अनुष्णारयानरथमसंभारसमेषु न । वृतं प्रशान्तमन्यमं निद्रीशेदागतं भिषक ॥ अयं इसके आगे शुभाशुभ शुक्रुन चर्चान करते हैं—

मांसोदकुम्भमातपत्रविप्रवारणगोवृष्याः ॥२६॥
शुक्रवर्णाश्च पूज्यन्ते प्रस्थाने दर्शनं गताः ।
स्त्री पुत्रिणी सवत्सा गौरवर्धमाना स्वलंकृता ॥२७॥
कन्या मत्स्याः फलं चामं स्वस्तिकं मोदका दधि ।
हिरण्याक्षतपात्रं वा रत्नानि सुमनो नृपः ॥२८॥
अप्रशान्तोऽनलो वाजी हंसश्चापः शिखी तथा ।

मांस, जलपूर्ण घड़ा, छत्र, ब्राह्मण, हाथी, गौ, वृषभ ॥२६॥
श्रीरं श्वेत वस्तु इनका प्रस्थान के समय दर्शन शुभ होता है । अपने बालक के सहित स्त्री, अपने बछड़े के सहित गौ, यौवनावस्था में पहुँची हुई अलंकार युक्त ॥२७॥ कुमारिका, मत्स्य, कपे फल, स्वस्तिक, मोदक, दही, सुवर्ण, अक्षतपूर्ण पात्र, रत्न, पुष्प, राजा ॥२८॥ जलती हुई अग्नि, घोड़ा, हंस, चापपत्नी तथा मयूर (इनका भी प्रस्थान के समय दर्शन शुभ होता है) ।

वक्तव्य—मांस—सद्योमांस । उदकुम्भ—जलपूर्णकुम्भ—रत्नानां पूर्णकुम्भानाम् (चरक) । वर्धमाना—जिनके शरीर पर यौवन झिलने लगा है—कन्यानां वर्धमानानाम् (चरक) । इसके निम्नार्थ भी किये गये हैं—(१) शरन्व (डल्हण) । (२) अकारोपिनं जारं कुमारीं वा वर्धमानमाहुः । (चक्र) । (३) अलंकारविशेष । इन्दु) । शुक्रवर्णाः कार्पासासितक्रमस्मशारादिव्यतिरिक्ताः सुमनोदयक्षतमौक्तिकादयः पदार्थाः । (डल्हण) । स्वस्तिक—(स्वस्ति शुभाय स्त् तत्) स्वस्तिकचिह्न, तण्डुल पिष्ट । मुक्तादामविशेषः, अन्ये स्वस्तिकं स्वस्तिकाकारं दूर्वाशकलमण्डितं धवलं दर्पणसकं मृग्मयं गौमयकृतं वा मङ्गल्यमवतारणकार्यं कुर्यते मांगलिककृतश्चियः । (डल्हण) । अक्षता—लाजा (डल्हण) । यवाः, अक्षुण्डितास्तण्डुला इत्यन्ये, धान्यमेवाखंडिनमक्षतशब्दवाच्यमित्यपरे (अस्यादत्त) ।

ब्रह्मदुन्दुभिजीमूतशङ्खवेणुरथखनाः ॥२९॥
सिंहगोवृषनादाश्च हेपितं गजवृंहितम् ।
शस्तं हंसरुतं नृणां कौशिकं चैव वामतः ॥३०॥
प्रस्थाने यायिनः श्रेष्ठा वाचश्च हृदयङ्गमाः ।
पत्रपुष्पफलोपेतान् सक्षीरात्रीरुजो द्रुमान् ॥३१॥
आश्रिता वा नभोवेशमध्वजतोरणवेदिकाः ।
दिक्षु शान्तासु वक्तारो मधुरं पृष्टतोऽनुगाः ॥३२॥
वामा वा दक्षिणा वाऽपि शकुनाः कर्मसिद्धये ।
वेदध्वनि, नगारा, मेघ, शङ्ख, वंशी, रथ इनकी ध्वनि

१ वर्धमानमलंकृता. २ सुमना.

॥२९॥ तथा सिंह, गौ, बैल का शब्द घोड़े का हिनसना, हाथी की आवाज, हंस का शब्द शौर वार्यों को उल्लू का शब्द इनकी मनुष्यों के प्रस्थान में शुभ समझना चाहिये ॥३०॥ तथा राजभवन में जाने वाले लोग और श्रेष्ठ तथा हृदयंगम वाणी भी प्रस्थान के समय शुभ होती है । पत्र, पुष्प, फल युक्त रसदार नीरोग वृक्षों पर ॥३१॥ बैठे हुए, अर्काग में उड़ते हुए, गृह, ध्वजा, तोरण, वेदिका इन पर स्थित हुए, शांत दिशाओं में मधुर आवाज करने वाले, पीछे से आने वाले ॥३२॥ तथा बाईं अथवा दक्षिणी तरफ से आने वाले पक्षी कार्यसिद्धिसूचक होते हैं ।

शुष्केऽशनिद्वतेऽपत्रे वल्लीनन्दे सकण्टके ॥३३॥
वृक्षेऽथवाऽश्मभस्सास्थिविद्वत्तुपाद्धारपांशुषु ।
चैत्यवल्मीकविपमस्थिता दीप्तस्वरस्वराः ॥३४॥
पुरतो दिक्षु दीप्तासु चत्कारो नार्थसाधकाः ।

सूखे हुए, बिजली के मारे हुए, पत्र रहित, बेल से जकड़े हुए, फटक युक्त ॥३३॥ वृक्ष पर अथवा पत्थर, भस्म, अस्थि, विद्या, हुप, कोयला, भूलि, चैत्य, वल्मीक, विपन स्थान इन पर बैठे हुए, उग्र कर्करा शब्द करते हुए ॥३४॥ तथा (तीव्र आतप के कारण) दिशाएँ जव प्रदीप्त हों उस समय संमुख बोलने वाले पक्षी अर्थसाधक नहीं होते ।

पुत्रामानः खगा वामाः स्त्रीसंज्ञा दक्षिणाः शुभाः ॥३५॥
दक्षिणाद्दामगमनं प्रशस्तं श्वश्रृगालयोः ।
पामं नकुलचापाणां नोभयं शशसर्पयोः ॥३६॥
भासकौशिकयोश्चैव न प्रशस्तं किलोभयम् ।
दर्शनं वा रुतं चापि न गोधाकफलासयोः ॥३७॥

पुँहिंगी पक्षी बाँयें को और स्त्रीलिंगी पक्षी दाहिने को शुभदायक होते हैं ॥३५॥ कुत्ते और गीध का दाहिने से बाँयें को जाना शुभ होता है । नकुल और चाप पक्षी इनका (दक्षिण की अपेक्षा) वामगमन (अधिक) प्रशस्त होता है । खरगोश और सर्प इनका दोनों तरफ की भी गमन प्रशस्त नहीं है ॥३६॥ भास पक्षी और उल्लू इनका भी दोनों तरफ की गमन प्रशस्त नहीं है और गोधा तथा गिरगिट इनका दर्शन और शब्द शुभ नहीं है ॥३७॥

दूतैरनिष्टैस्तुल्यानामशस्तं दर्शनं नृणाम् ।
कुलत्थतिलकार्पासतुपपापाणभस्वनाम् ॥३८॥
पात्रं नेष्टं तथाऽङ्गारतैलकर्दमपूरितम् ।
प्रसन्नेतरमद्यानां पूर्णं वा रक्तसर्पयैः ॥३९॥
शवकाष्ठपलाशानां शुष्काणां पथि सङ्गमाः ।
नेष्यन्ते पतितान्तस्थदीनान्धरिपवस्तथा ॥४०॥
मृदुः शीतोऽनुकूलश्च सुगन्धिश्चानिलः शुभः ।
खरोष्णोऽनिष्टगन्धश्च प्रतिलोमश्च गर्हितः ॥४१॥

अनिष्ट दूतों के समान अन्य (अनिष्ट) मनुष्यों के दर्शन (भी) अशुभ होते हैं । कुलथी, तिल, कपास (के पदार्थ), तुप, पत्थर, भस्म तथा ॥३८॥ कोयला, तैल और कीचड़ इनसे भरा पात्र शुभ नहीं है अथवा प्रसन्ना के अतिरिक्त अन्य सब

प्रकार के मर्चों से या लाल सरसों से भरा हुआ पात्र शुभ नहीं है ॥३९॥ गव (जलाने के लिये) सूती एकड़ी और पत्ती (लिये हुए मनुष्य), तथा दुराचारी, चाण्डाल, दीन, अंधे और शत्रु इनका मार्ग में संगम होना भी अनिष्ट है ॥४०॥ कोमल, शीतल, अनुकूल तथा सुगंधित वायु शुभ होती है और तीक्ष्ण, गरम, दुर्गंधित तथा विरुद्ध दिशा की वायु अशुभ होती है ॥४१॥

ग्रन्थ्यर्बुदादिषु सदा छेदशब्दस्तु पूजितः ।
विद्रभ्युदरगुल्मेषु मेघशब्दस्तथैव च ॥४२॥
रक्तपित्तातिसारेषु रुद्धशब्दः प्रशस्यते ।
एवं व्याधिचिशेषेषु निमित्तमुपधारयेत् ॥४३॥
तथैवाकुपट्टाकष्टामाफन्दरुदितस्वनाः ।

छर्द्या घातपुरीषाणां शब्दो वै गर्दभोद्भूयोः ॥४४॥
ग्रंथि, अर्बुद, आदि रोगों में सर्वदा छेदवाचक शब्द शुभ होता है । विद्रधि, उदर गुल्म इनमें भेद अर्थात् चक शब्द शुभ होता है ॥४२॥ रक्त पित्त, अतिसार इनमें अवरोधवाचक शब्द शुभ होता है । इस प्रकार विविध व्याधियों में (विशिष्ट शुभ सूचक) निमित्त समझना चाहिये ॥४३॥ ऐसे ही आक्रोश (जोर से चिल्लाना), हा कष्ट (हाथ हाथ करके दुःख के शब्द), आक्रन्द (जोर से रोना), रोने के शब्द तथा वमन, अपान वायु और पुरीष का शब्द तथा गधे का और ऊँट का शब्द (ये वैद्य के चिकित्सार्थ जाने के समय शुभ नहीं है) ॥४४॥

यत्कथ्य—इन श्लोकों में व्याधि के अनुसार विशेष तथा सामान्य धार्मिक शुभाशुभ निमित्त वर्णन किये हैं । इससे यह मालूम होता है कि जिस रोग में चिकित्सानुकूल शब्द सुनाई देते हैं उसके लिये उन्हें शुभ समझना चाहिये और इससे विपरीत को अशुभ समझना चाहिये । अष्टागसंग्रह में निम्न शब्दनिमित्त अधिक वर्णन किये हैं—अश्वत्थुरादिषु प्रवेन शब्द । सर्वत्र च स्थिरस्थानवर्धमानशान्तकल्पवृक्षेऽपि वृक्षेऽपि । हन्ता भयवद्विप्रस्वराश्च श्रेष्ठाः । क्षतवदनपित्तान्त्रेणशारज्वरेभेददाहशब्दा पतिषेधादिशब्दा चिकित्साप्रतिषेधाय । हन्तु अपनी टीका में निम्न निमित्त वर्णन करते हैं—यथा पाण्डुगणे श्वशब्द । कासे शब्द । धासे छिन्न ।

प्रतिपिद्धं तथा भ्रंशं श्रुतं स्वलितमाहृतम् ।
दौर्मनस्यं च वैद्यस्य याग्भ्यां न प्रशस्यते ॥४५॥
प्रवेशेऽप्येतदुद्देशादवेच्यं च तथाऽऽतुरे ।
प्रतिद्वारं गृहे वाऽस्य पुनरेतन्न गण्यते ॥४६॥
केशमस्त्रिधिकाश्रमनुपकार्पासकण्टकाः ।
खड्गोर्ध्वापादा मघापो वसा दैलं तिलास्तृणम् ॥४७॥
नपुंसकव्यङ्गभ्रमज्ञानद्रुणुण्डासिताभ्यराः ।
प्रस्थाने या प्रवेशे या नेष्यन्ते दर्शनं गताः ॥४८॥
(चिकित्सार्थ) वात्रा करते समय वैद्य को (छिड़ी में जाने के लिये) मना करना, शरीर में कहीं भ्रम होना (या कोई चीज भ्रम होना), धीक माना, हाथ पैर से कोई चीज गिर जाना, आघात होना, विमानस्कता होना इत्यादि शुभ नहीं हैं ॥४५॥

संक्षेप से रोगी के घर में (प्रथम) प्रवेश करते मन्वः प्रकार (क शुभाशुभ) लक्षणों को देखना चाहिये । प्रवेश करने के पश्चात् प्रत्येक दरवाजे पर इनका विचार की आवश्यकता नहीं है ॥४९॥ वेग, भ्रम, क्रिय पत्थर, तुप, कषाम (के पदार्थ), कंडक, उरार पाँव के छटिया, मघापी, चरबी, तैल, तिल, घास घूम, ॥४७॥ न पृकाष अवयव भंग होने वाला, पृकाष अवयव दूदा नंगा, सिर मुंडा हुआ, काले यज्ञ धारण किया हुआ । दर्शन वैद्य को घर से प्रस्थान करते समय तथा रोगी के में प्रवेश करते समय शुभ नहीं है ॥४८॥

भारहानां संकरस्थानां स्थानात् संचरणं तथा निखातोत्पाटनं भङ्गः पतनं निर्गमस्तथा वैद्यासनागवसादो वा रोगी वा स्यादधोमुप ।
वैद्यं संभाषमाणोऽङ्गं कुड्यमास्तरणानि वा ।
प्रमुञ्ज्याद्वा धुनीयाद्वा करौ पृष्ठं शिरस्तथा ।
हस्तं चाकृष्य वैद्यस्य न्यसेच्छिरसि चोरसि ।
यो वैद्यमुन्मुखः पृच्छेदुन्मार्ष्टि स्वाङ्गमातुरः ।
न स सिध्यति वैद्यो वा गृहे यस्य न पूज्यते ।
भयने पूज्यते वाऽपि यस्य वैद्यः स सिध्यति ।
शुभं शुभेषु दूतादिष्वशुभं ह्यशुभेषु च ।
आतुरस्य ध्रुवं तस्माद् दूतादीन् लक्षयेद्विप्रम् ।

(रोगी के घर में) इकट्ठे धरे हुए पात्रों का गिरना, र को खोदना, कोई वस्तु उखाड़ना, दूटना या गिर पना (मांगलिक) पदार्थों का घर से बाहर जाना (ये भी शु नहीं हैं) ॥४९॥ वैद्य के आसन का दूटना अथवा रोगी के को मुख किये हुए सोना, वैद्य से बातचीत करते समय में भित्ति, विडोना ॥५०॥ हाथ, पीठ, गिर इनकी रोगी का र या हिलाना और वैद्य का हाथ खींचकर अपने सिर या हा पर रखना ॥५१॥ (ये भी निमित्त शुभ नहीं हैं) जो रोग ऊपर को मुख करके वैद्य से प्रश्न करता है अथवा अपने हा को माफ करता है तथा जिसके घर वैद्य का पूजन नहीं होता वह रोगी सिद्धि को प्राप्त नहीं होता ॥५२॥ जिसे घर में वैद्य का पूजन होता है, वह रोगी सिद्धि को प्राप्त होता है । दूत आदि शुभ होने से शुभ और अशुभ होने से अशुभ फल ॥५३॥ रोगी के लिये आवश्यक होता है । एभिरे वै दूतादिषु का परिशुष्य करे ।

यत्कथ्य—ऊर्ध्वपादा—ऊर्ध्वका एव वेगाम (हस्त) । एवं पाद शरमास्वी गमाकृति पशुभेद (हाराण्यकम्) । संकरस्थानं—श्लेदीर्दने भण्डव्यवेति सकते भण्डापर, तत्रस्थानां कथ्य संचरण पतनम्, परिकेऽपि उक्तम्—आतुरस्य गृहे वन निके वा पतति वा । गतिमाभयमपानि दुर्धमे तस्य जीविनम् ॥ (एव चन्द्र) । निर्गम—एषि पूत साऽप्युणादिक संगत पदार्थो वा घर से बाहर जाना—यथेते पशुतुराण्य पूर्णोत्पत्तिः (मर्दागर्भे इ) । भ्रमेते पूर्णोत्पत्तिः पूर्णोत्पत्तिः । हाथक रत्नात्रेणतानी विविदिन् ॥ (परक) ।

स्वप्नानतः प्रवक्ष्यामि मरणाय शुभाय च ॥५४॥
सुहृदो यांश्च पश्यन्ति व्याधितो वा स्वयं तथा ।

अब इसके बाद मरणसूचक या शुभसूचक स्वप्नों को वर्णन करते हैं ॥५४॥ जिन्हें रोगी के मित्र तथा रोगी स्वयं देखे ।

वक्तव्य—निद्रिणावस्था में ही स्वप्न उत्पन्न हो सकते हैं । जब इन्द्रिय तथा मन इज्जन्त हीकर वाह्य विषयों से पूर्ण निवृत्त हो जाते हैं, तब निद्रा उत्पन्न होती है । निद्रा में मन निरिन्द्रिय प्रदेश में अवस्थित होता है—यदा गु भनमि ह्याने कर्मात्मानः क्लमान्विताः । विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः ॥

(चरक) । परन्तु जब केवल इन्द्रियों की विषयों से निवृत्ति होती है और मन अनिवृत्त होता है, उस समय मन कार्य पर होने के कारण मनुष्य निद्रिणावस्था में नाना प्रकार के स्वप्न देखा करते हैं—सर्वेन्द्रियव्युपरतो मनोऽनुपरत यदा । विषयेभ्यस्तदा स्वप्ने नानारूपं प्रपश्यति ॥ (अष्टांगसंग्रह) । नातिप्रसुप्तः पुरुषः सफलानफलानपि । इन्द्रियेशेन मनसा स्वप्नान् पश्यत्यनेकधा ॥ (चरक) । मन दोषपूर्ण होने से स्वप्न दिखाई देते हैं । ये स्वप्न सात प्रकार के होते हैं—मनोवहानां पूर्णत्वाद्योपैरतिवै-
क्लिभिः । स्रोतसां दारुणाच्च स्वप्नान् काले पश्यति दारुणे ॥ इष्टं श्रुतानु-
भूतं च प्रार्थितं कल्पितं तथा । भाविकं दोषजं चैव स्वप्ने सप्तविधं विदुः ॥

(चरक) । इन सात प्रकार के स्वप्नों का विवरण अरुणदत्त अपनी टीका में करते हैं—(१) यश्चक्षुषा जाग्रदवस्थायां किंचिद् वस्तुजातं दृष्ट्वा तदानीं सुप्तावस्थायां तादृशं वस्तुजातं संवित्तिरूपतया-
ऽनुभूयते स 'दृष्ट' उच्यते ॥ (२) यश्च शब्दमात्रेण वस्तुजातं श्रोत्रे-
न्द्रियेण गृह्यते तदिदानीं सुप्तावस्थायां तादृक्संवित्तिरूपतयाऽनुभूयते स 'श्रुत' उच्यते ॥ (३) यस्तु जाग्रदवस्थायां यथायथमिन्द्रियैरनुभूयते
वस्थायां तादृगन्तःसंवित्तिरूपतयाऽनुभूयते तो 'ऽनुभूत' उच्यते ॥

। यस्मिन् दृष्टे श्रुतेऽनुभूते वा यत्पूर्वं जाग्रदवस्थायां वस्तुजातं साऽभ्यर्थात् तथैव च सुप्तावस्थायामन्तःसंवित्तिरूपतयाऽनुभूयते प्रार्थित' उच्यते ॥ (५) यस्तु पशुभिः प्रत्यक्षानुमानादिभिरेव दृष्टो पं श्रुतो नाप्यनुमनो दृष्टश्रुतानुभूतत्वाभावादेव न च प्रार्थितोऽपि तु लं मनसा यथेच्छमुत्प्रेक्ष्य यत्किञ्चनरूपाभिः कल्पनाभिः कल्पितो यदवस्थायां वस्तुजातान्तःसंवित्तिरूपतयाऽनुभूयते सुप्तावस्थायां अनुभूयते स 'कल्पितः' ॥ (६) यश्च दृष्टश्रुतादिभ्यः स्वप्नेभ्योऽप्यो-
क्षणाः स्वप्ने यथा दृश्यते सुप्तावस्थायां सुप्तावस्थायां तथैव स्वप्नदर्शना-
त् तन्मुखावगततदर्थैरपि प्रत्यक्षतो दृश्यते स 'भाविकः' ॥ (७) जिः स स्वप्ने यो वातजः पित्तजः कफजो वा यथायथं दोषाणामनुत्-
न्तःसंवित्तिरूपतयाऽनुभूयते स 'दोषज' उच्यते ॥ इनमें से पहले पांच प्रकार के स्वप्न, यथाप्रकृति दोषज स्वप्न (जैसे पिच्छप्रकृति पित्तानुकूल स्वप्न), दिवास्वप्न, विस्मृतस्वप्न, अतिदीर्घस्वप्न, तिलवृत्तस्वप्न ये निष्फल होते हैं—तेष्वर्था निष्फलाः पच यथास्व-
ग्निदिवा । विस्मृतो दीर्घहस्वोऽपि । (अष्टांगहृदय) । यहाँ भी योगे 'यथास्व' प्रकृतिस्वप्ने विस्मृतो विहनस्था । चिन्ताकृतो दिवादृष्टो वन्त्यफलदास्तु ते ॥' ऐसा लिखा है । रात्रि के पहले प्रहर में खा हुआ स्वप्न अल्पफल होता है परन्तु स्वप्न देखने के पश्चात् यदि पुनर्निद्रा न मिले तो वह स्वप्न महाफल करने वाला होता । अशुभ स्वप्न देखने के पश्चात् यदि उसी समय दूसरा शुभ सूचक स्वप्न देखा जाय तो पहले का अशुभ फल नष्ट होकर

शुभ ही फल मिलता है—दृष्टः प्रथमरात्रे यः स्वप्नः सोऽल्पफलो भवेत् । न स्वपेपः पुनर्दृष्ट्वा न सद्यः स्वान्महाफलः ॥ अकल्याणमपि स्वप्ने दृष्ट्वा तत्रैव यः पुनः । पश्येत् सौम्यं शुभाकारं तस्य विधात् शुभं फलम् ॥ (चरक) । इन नियमों के अनुसार शुभाशुभ स्वप्नों की निष्फलता, अल्पफलता अथवा महाफलता समझनी चाहिये ।

स्नेहाभ्यक्तशरीरस्तु करभ्रव्यालगर्दभैः ॥५५॥
वराहेर्महिपैर्वाऽपि यो यायाद्दक्षिणामुखः ।

रक्तास्वरघरा कृष्णा हसन्ती मुक्तमूर्धजा ॥५६॥
यं वा कर्षति बद्धा स्त्री नृत्यन्ती दक्षिणामुखम् ।

अन्तावसायिभिर्यां वाऽऽकृष्यते दक्षिणामुखः ॥५७॥
परिष्वजेरन् यं वाऽपि प्रेताः प्रव्रजितास्तथा ।

मुंहुराघ्रायते यस्तु श्वापदैर्विकृताननैः ॥५८॥
पिवेन्मधु च तैलं च यो वा पङ्केऽवसीदति ।

पङ्कप्रदिग्धगात्रो वा प्रनृत्येत् प्रहसेत्तथा ॥५९॥
निरस्वरश्च यो रक्तां धारयेच्छिरसि स्रजम् ।

यस्य वंशो नलो वाऽपि तालो घोरसि जायते ॥६०॥
रां वा मत्स्योऽश्लेषो वा जननीं प्रविशेन्नरः ।

पर्वताग्रात् पतेद्यो या श्वभ्रे वा तससाऽऽवृते ॥६१॥
ह्रियते स्रोतसा यो वा यो वा मौल्यमवाप्नुयात् ।

पराजीयेत वध्येत काकाधैर्वाऽभिभूयते ॥६२॥
पतनं तारकादीनां प्रणाशं दीपचक्षुषोः ।

यः पश्येद्देवतानां च (वा) प्रकम्पमचनेस्तथा ॥६३॥
यस्य छर्दिद्विरेको वा दशानाः प्रपतन्ति वा ।

शालमल्लीं किंशुकं यूपं चल्मीकं पारिमद्रकम् ॥६४॥
पुष्पाढ्यं कोविदारं वा चित्तं वा योऽधिरोहति ।

कार्पासतैलपिण्याकलोहानि लवणं तिलान् ॥६५॥
लभेताशीत वा पक्कमद्यं यश्च पिवेत् सुराम् ।

स्वस्थः स लभते व्याधिं व्याधितो मृत्युमुच्छति ॥६६॥
(तैलादिक) स्नेह से शरीर अभ्यंग करके जो ऊँट, हिंन पशु,

गधा ॥५५॥ अथवा सूकर, महिष इनके साथ (या इन पर सवार) होकर दक्षिणाभिमुख गमन करता है । लाल चूड़ परिधान की हुई, कृष्णवर्णी, हँसती हुई, मुक्तकेशा ॥५६॥ ऐसी स्त्री जिसकी बाँधकर दक्षिण दिशा की ओर नृत्य करती हुई खींचती है । अथवा जो मनुष्य अन्त्यजों से दक्षिण दिशा की ओर खींचा जा रहा है ॥५७॥ मृत मनुष्य अथवा संन्यासी जिसको आलिंगन करते हैं, अथवा जिसको बार बार

(व्याघ्रादिक) भयानक मुख वाले श्वापद सुँघते हैं ॥५८॥ जो मधु और तैल पीता है, कीचड़ में फँस जाता है, शरीर पर कीचड़ मल कर नाचता है, तथा हँसता है ॥५९॥ जो नंगा होकर शिर पर लाल रंग की माला धारण करता है, अथवा जिसकी छाती पर घाँस, नल अथवा तालवृत्त आदि उगता है ॥६०॥ जिसको मत्स्य भक्षण करता है, जो माता के उदर में प्रवेश करता है, जो पर्वत के शिखर से गिरता है अथवा

वैषेरे गर्भे में गिर जाता है ॥६१॥ नदी आदि पौष में तो बह जाता है, जिसे तिर का मुहन होता है, जिसरा पराजय होता है, जो बंद होता है, या जो बन्द आदि पक्षियों से पराभूत होता है ॥६२॥ जो (धृत् रूवे आदि) कारिकाओं का पना, दीप और नेत्रों का नाथ अथवा देवताओं का नाथ तथा भूकल्प देवता है ॥६३॥ जो अपने को बमन विंग्घन से पीड़ित करता है, जिसे दान गिर जाने हैं, जो ममत्, पलाय, धूप (यजन्ताम), यन्मीर, नीम का दूत ॥६४॥ दूत हुआ कृषार अथवा किला दूत पर चढ़ता है । जिसे रई, रंग, पलि, लोह, नमक और तिर ॥६५॥ इतने 'धर्म्ये गितो' हैं, अथवा जो पनास खाता है और सुग का पान करता है । (इन उपरोक्त घटनाओं को यदि मनुष्य स्वयं से देते) यदि वह स्वयं हो तो रोगी होता है, और रोगी हो तो मृत्यु को प्राप्त होता है ॥६६॥

घृत्तद्वय—अन्त्यात्मविधि—घाण्डाल से भी दूध संक-
र्षण जाति—निषङ्गके तु चण्डालान्पुत्रमन्वासात्तन्निम् । इत्यन
गेचर एते बाह्यान्मपि नर्दिश्य ॥ (मनुस्मृति) । मन्वासा—
मुष्टिपरिरत्नम् । दूध—वयं अथवा गदिर घृत्त का बनाया हुआ
यजपशुबंधन स्तम्भ ।

यथास्वं प्रकृतिस्रग्मो विस्मृतो निहतास्नथा ।
चिन्ताहृतो दिवा दृष्टो भवन्त्याफलदास्तु ते ॥६७॥
अपनी प्रकृति के अनुसार दगा हुआ स्वयं, जिसरा स्मरण नहीं होता तो ऐसा स्वयं, जो हमसे स्वयं से कयाया गया है ऐसा स्वयं, चिन्ताजन्य स्वयं, दिन में देखा हुआ स्वयं ये सब निष्फल होते हैं ॥६७॥

घृत्तद्वय—पथान प्रवृत्तवत्—जैसे पथप्रवृत्ति का आकाश समतल—यिनि च गति मधमग द्रव । पित्तप्रवृत्ति का अग्नि, विशुद्ध उष्णतादि देवता—सय मत् बन्कपथान कथितारोप सपदेरपि य हुनारिगुल्का । कर्मप्रवृत्ति का हम चक्रवाकादि की देवता, जन्मवमजान करना—सम मत् मन्वासात्तन्निम् मपदेरपि च जन्मवमजान गनाह्वय ॥ विद्वत्—द्वेषो विधिष्ट शुभ स्वयं से जिसका प्रभाव हल यानि पराभूत हो गया है—अक्रान्तामपि स्वयं दृष्टा तत्रैव व पुन । पश्येत् मौष्य शुभकार त्वत् विवाच्युम पश्य ॥ (चरक) । चिन्ताहृत शब्द से दृष्ट, धुन, अनुभूत, प्रायित और कल्पित पक्षों प्रकार के धरकोक स्वर्ग का ग्रहण किया जाता है ।

उररितानां शुभा मरत्य कपिसरयं तु शोफिणाम् ।
उन्नात् राक्षसे प्रेतैरपस्मारे प्रजर्तनम् ॥६८॥
मेहातिसारिणां तोयपान रोहस्य बुष्टिनाम् ।
गुल्मेषु स्वापरोत्पत्ति कोष्ठे, मूर्ध्नि शिरोरुजि ॥६९॥
शङ्खलीमधर्षणं द्यार्थमध्या श्वासपिपामयो ।
हारिद्रं भोजन वाऽपि यस्य म्याः पाएट्टोसिगु ॥७०॥
रक्तपिपी पिदेचस्तु शोषित स धिनश्यति ।

उपर रोत बालों की बुद्धों से मित्रता, उपरोक्त बालों की वानर से मित्रता, उन्नाट, रोष से तथा अपस्मारे में राक्षस

और प्रेतों से मित्रता ॥६८॥ प्रमेह और अतियार में जठर कुंड रोग में शैत पीना, गुन्म रोग में कोष्ठ पर और शिरों में तिर पर दूत की उपचि ॥६९॥ बमन रोग में धा भजन, खाम और पिपाया रोग में मांगे प्रवाय, पांडु रोग पीला भोजन गतान ॥७०॥ और रक्तपिपी जो रक्त पान से नाग हो जाते हैं ।

घृत्तद्वय—इय शोर्कों में विधिष्ट रोगों के क्रिये वि प्रकार के अनुभ स्वयं वर्णन क्रिये हैं । स्वावरोपति—वश शीतनुपति—यथा बण्टिनी दस्य दाग्णा इति जषणे । स्वमशु-
मन्वय ग्नी विरनिमानरम् ॥ (चरक) । हारिद्रम्—हृदिज्योत्-
स्मानम् । (हल्दिया) । प्रानात्—नाच गान इत्यादि में मिलन गृह्यन् शोषणे मरम् । (चरक) ।

स्वमानेयविधान् दृष्ट्वा प्रातरस्थाय यजानान् ॥
दद्यान्नापांस्तिलांस्तोह विप्रेभ्यः काञ्चनं तथा ।
अपेक्षापि शुमान् मयान् गायत्रीं विपदां तथा ॥
दृष्ट्वा तु प्रथमे यामे स्वप्याद् ध्याना पुनः शुभम् ।
अपेक्षाऽन्यतमं देव' प्रसन्नवारी समाहितः ॥
न चात्रधीत कस्मैचिद् दृष्ट्वा स्वममशोभनम् ।
देवतायतने शैव' पसेद्वात्रिप्रथयं तथा ।
विप्रांश्च पूजयेदित्यं दुःस्वमात् प्रविमुच्यते ॥

(अनुभ स्वयं का परिहार—) इस प्रकार के अनु स्वयं को देखकर प्रयत्नशील पुण्य प्राप्त का उदर ॥७ उद्द, तिल, लोह तथा सुवर्ण इनका दान ब्राह्मणों को और मंगलकारक मन्त्रों को तथा त्रिपदा गायत्री को जपे ॥७ रात्रि के पहले प्रहर में (अनुभ स्वयं) देखने पर शुभचित्त करके फिर सो जाने अथवा साजपान होकर और मङ्गलवर्षण कर अन्य दृष्ट देवता का जप करे ॥७३॥ अनुभ स्वयं देखने तक कथन किसी को भी न करे । तीन रात्रि देवता के मन्त्र में वाग करे और नित्य ब्राह्मणों का पूजन करता रहे । इस दुःस्वयं के अनुभ पल से मनुष्य मुक्त होता है ॥७४॥

अत ऊर्ध्वे प्रचक्ष्यामि प्रशस्तं स्वप्नदर्शनम् ।
देवान् द्विजान् गोवृषभान् जीवनः सुहृदो नृपान् ॥७५॥
समिद्धमग्निं सौधुंध निर्मलानि जलानि च ।
पश्यन् कल्याणलभाय व्याघरेपगमाय च ॥७६॥
मान् मन्स्यान् मज्जः श्वेता धारांसि च फलानि च ।
लभन्ते धनलाभाय व्याघरेपगमाय च ॥७७॥
महामासात्सफलवृत्तवारपर्वतान्
धारोहेद् द्रव्यलाभाय व्याघरेपगमाय च ॥७८॥
नदीनदसमुद्राद्य शुभितान् कलुषोदहनम् ।
तरेत् कल्याणलाभाय व्याघरेपगमाय च ॥७९॥
उरगो धा जलौकी वा भ्रमरो वाऽपि य द्देशेत् ।
आरोग्य निर्दिशेत्तस्य धनलाभ च बुद्धिमान् ॥८०॥
पर्वकृपाः शुभान् स्वमात् य पश्येत्प्रतिभो नरः ।

१ नद २ पवित्र्यत ३ विनाथ

स दीर्घायुरिति क्षेत्रस्तस्मै कर्म समाचरेत् ॥८१॥

इति सूत्रनिरुक्तिर्वायं स्यात्सामे विपरीताविपरीतत्वप्रतिदर्शनीयो

नामैकोनविंशत्तमोऽध्यायः ॥२६॥

अब इसके आगे शुभदायक स्वप्नों का दर्शन वर्णन करते हैं । जो मनुष्य स्वप्न में देवता, द्विज (वाहणा, क्षत्रिय और वैश्य), गौ, बैल, अपने सजीव मित्र, राजा ॥७५॥ प्रवृत्त अग्नि, साधु लोग, निर्मल जल इनको देखे, उमकों व्याधि का नाश होकर कल्याण की प्राप्ति होती है ॥७६॥ सांस, सरस्य, श्वेत माला तथा उज्ज्वल वस्त्र, फल ये स्वप्न में प्राप्त हों तो धन का लाभ होता है और व्याधि का नाश होता है ॥७७॥ नदः राजमहल, फल युक्त वृक्ष, हाथी, पर्वत इन पर जो स्वप्न में चढ़ता है; वह द्रव्य लाभ की प्राप्ति होकर व्याधि से छूटता है ॥७८॥ क्षुब्ध तथा क्लृप्तोदक नदी, नद तथा समुद्र इनको जो स्वप्न में तैर कर पार हो जाता है; वह कल्याण की प्राप्ति कर रोग से मुक्त होता है ॥७९॥ सर्प, जोंक या भ्रमर जिसको स्वप्न में दंश करे, उसको बुद्धिमान् वैद्य रोग का नाश और द्रव्य का लाभ बतलाने ॥८०॥ इस प्रकार के शुभ स्वप्नों को जो रोगी देखे, वह दीर्घायु समझ कर उसकी चिकित्सा करनी चाहिये ॥८१॥

इति मास्करार्षाणां गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां

सुश्रुतभाषाटीकायां विपरीताविपरीतत्वप्रतिदर्शनीयो

नामैकोनविंशत्तमोऽध्यायः ॥२६॥

त्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथातः पञ्चेन्द्रियार्थविप्रतिपत्तिमध्यायं व्याख्यास्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से पञ्चेन्द्रियार्थविप्रतिपत्ति नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—पञ्चेन्द्रियार्थविप्रतिपत्तिः—पञ्चेन्द्रियाणि 'चक्षुः, श्रोत्रं, घ्राणं, रसनं, रश्मिनमिति' । तेषामर्थाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः । तेषामर्थानां विप्रतिपत्तिः हीनातिवियोगेन रिष्टाद्यो विपरीतावबोधः । इह ज्ञानेन्द्रियों के साथ मन का भी ग्रहण होता है । क्योंकि मन के बिना इन्द्रिय अर्थग्रहण करने में असमर्थ होते हैं—मनःपुरःसराणि चेन्द्रियाण्यर्थसंग्रहसगर्धानि भवन्ति । नदर्थोत्संप्रदायत्तनेष्टं चेष्टाप्रत्ययभूतमिन्द्रियाणाम् । (चरक) ।

शरीरशीलयोर्थस्य प्रकृतेर्विकृतिर्भवेत् ।

तस्वरिष्टं समासेन व्यासतस्तु निबोध मे ॥२॥

मनुष्य के शरीर, शील और प्रकृति इनमें (अकस्मात्) विपरीत भाव उत्पन्न होना यही संज्ञेय से अरिष्ट (का लक्षण) है । विस्तार से अब मुझ से सुनो ॥२॥

वक्तव्य—इस श्लोक में पुरुषसंश्रय रिष्ट का संक्षिप्त लक्षण वर्णन किया है । इस विषय का विशेष विवरण पीछे २८वें अध्याय के दूसरे श्लोक के वक्तव्य में किया गया है । शरीर—अथेन्द्रियादिसमुदायात्मकायां च भौतिकचेतनाधिष्ठानभूतप्राणिकायः । शील—नैसर्गिक स्वभाव । प्रकृति—प्रकृति वातादि द्वाप, सन्वादि गुण और जात्यादिक भेद से सात प्रकार की होती है—सप्त प्रकृतयो दौषः पृथक् संसर्गं साम्येन च भवन्ति । दौषवच्च शुभैरपि सत्वादिभिः

सप्त प्रकृतयो भवन्ति । तथा पुनः सप्त प्रकृतयो जानिकुल्लेगकालव्योषल-प्रत्यावाक्षश्रवाः । दृश्यन्ते हि पुष्पाणां जात्यादिनिगतास्ते ते भावविशेषाः । (अष्टांगसंग्रह) । द्वाप तथा गुण द्वन्द्वे अनुसार प्रकृति का वर्णन आगे शरीरस्थान के चौथे अध्याय में किया गया है । जात्यादि प्रकृति चरक में केवल छः प्रकार की वर्णन की है । यथा—क्षत्रिय जाति में गौरव, किंचित् क्लृप्त में शूरता, किसी देश में शूरता, हिमकाल में बलाधिक्य, शौचानवस्था में बलाधिवन, कोई पुरुष जन्म से ही शूरप्रकृति (प्रत्यात्म-नियन्त्र) होता है । विकृति—शरीर, शील और प्रकृति इनमें निर्निमित्तक और अकस्मात् विपरीत भाव उत्पन्न होना । इससे चरकोक्त 'निमित्तान्तरा विकृति' अभिप्रेत है, जिसका वर्णन ऐसा किया गया है—यामनिमित्तां निमित्तमायुषः प्रमाणानत्येच्छन्ति शिष्यो भूयथायुषः क्षयनिमित्तां प्रेतलिपानुसूपां यामायुषोऽन्तर्गतस्य ज्ञानार्थसुप्रदिशन्ति धीराः । सां चाधिक्यं पुरुषसंश्रयाणि सुपूर्तां लक्षणा-न्युपदेश्यामः । अर्थात् यह रिष्टरूपा विकृति है, सामान्य विकृति नहीं है । अब इसके पश्चात् विकृति का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए प्रथम आहुरत्राय विरुद्ध शब्दप्रतिपत्ति का वर्णन करते हैं—

शृणोति विविधान् शब्दान् शो दिव्यानामभावतः ।

समुद्रपुरसेधानामसंपत्तौ च निःस्वनान् ॥३॥

तान् स्वनाम्नावगृह्णाति मन्यते खान्यशब्दवत् ।

शाम्यारस्यस्वसांश्चापि विपरीतान् शृणोति च ॥४॥

द्विषच्छब्देषु रपते छुच्छब्देषु कुप्यति ।

न शृणोति च शोऽकस्मात्तं भवन्ति गतायुषव् ॥५॥

जो नामा प्रकार के (सिद्ध किन्नर गंधर्वों के) दिव्य शब्द तथा समुद्र, चमर और भेव इसके शब्द विद्यमान न होने पर भी (असंपत्तौ) सुनता है ॥३॥ अथवा शब्द (विद्यमान होने पर भी) जिसको सुनाई न दे या और प्रकार का शब्द सुनाई दे । तथा जो माभवामी प्राणियों के शब्दों को वन्य प्राणियों के शब्दों की भाँति सुनता है और वन्य प्राणियों के शब्दों को ग्राम्य प्राणियों के शब्दों के से सुनता है ॥४॥ जो शत्रु को शब्दों से रमता है और मित्र के शब्दों से क्रुद्ध होता है अथवा जिसकी अक्षयशक्ति अकस्मात् (सदा के लिये) नष्ट होती है, उसे विद्वान् लोग गतायु कहते हैं ॥५॥

वक्तव्य—द्विषच्छब्देषु—सबे मित्रों के वचनों पर अविश्वास और शत्रुओं के वचनों पर विश्वास करने की प्रवृत्ति जब मनुष्य में उत्पन्न होती है तब उसका चिनाशकाल धहुत दूर नहीं है, ऐसा समझना चाहिये—परान्तकाले हि गतायुषो नरा हित न गृह्णन्ति सुदिरिरीरित् ॥ (शारायण) ।

यस्तूष्णानि च शृणोति शीतसुष्णं च शीतवत् ।

संजातशीतपिडको यश्च दाहेन पीडयते ॥६॥

उष्णगानोऽतिराजं च यः शीतेन प्रदेयते ।

प्रहारास्त्राभियजानति योऽङ्गच्छेदमथापि च ॥७॥

(स्वर्गविप्रतिपत्ति—) जो शीतल पदार्थ को उष्ण समझता है और उष्ण को भीत समझता है, जिसके शरीर में शीतल विजय (सर्वाधिक्य) होने पर भी जो दाह दे पीडित होता

॥६॥ शरीर बहुत गरम होने पर भी जो गीत से क्वायमान होता है तथा शरीर पर लगी हुई चोट को या शरीर के छेदन को नहीं जानता (उसे गतायु कहते हैं) ॥७॥

पांडुनेवावकीर्णानि यश्च गान्नापि मन्यते ।

वर्णान्यथा वा रज्यो वा यस्य गात्रे भवन्ति हि ॥८॥

(रूपविप्रतिपत्ति—) जो अपने अवयवों को धूलि रेत आदि से (न भरने पर भी) भरा हुआ मानता है तथा जिसके शरीर का वषा पलट जाता है और जिसके शरीर पर (नीललौहित आदि) रखाड़ें उद्वह होती हैं (उसको गतायु कहते हैं) ॥८॥

स्नातानुलिप्तं यं चापि भजन्ते गीलमक्षिकाः ।

सुगन्धिव्योऽपि योऽकस्मात्तं म्रुन्ति गतायुषम् ॥९॥

(रस और गन्ध विप्रतिपत्ति—) स्नान कर अनुलेपन करने पर भी जिसके शरीर पर नील मखिलियाँ पैरती हैं तथा जिसके शरीर से अकस्मान् सुगंध आने लगती है, उसे गतायु कहते हैं ॥९॥

चक्रव्य—रसविप्रतिपत्ति के संबंध में चक्र में लिखा

है—यो रस पृथित्त्याना गणना देहभजन । स एषा चतुरे कले विचार मजने दयम् ॥ कथिदेनास्य वैरस्यस्यवर्धमुपचले ॥ स्वादुत्वमपर-श्रापि विपुल भवने रस ॥ तन्नेनानुमानेन विचादिदृष्टिर्तां गतम् ॥ मनुष्यो हि मनुष्यस्य कश्च रसमवाप्नुवात् ॥ गदिकाश्चैव सूक्ष्मश्च दशाश्च मयाके सह ॥ विरमादपमन्ति जन्तो कायानुमुर्वत ॥ अल्पवैरसिके कथं कालवत्सल गदिका । अपि खलानुलिप्तस्य भ्रुमगापानिदे सर्वत ॥ गन्धविप्रतिपत्ति—जिसमें शरीर से भिन्न भिन्न प्रकार के गंध आने लगते हैं, उसको चक्र में 'पुष्पित' कहा है—नानापुष्पो-पयो गन्धो वस्य भासि दिवानिशम् ॥ पुष्पितस्य वनस्येव नागाहुमन्त्रा-वत् ॥ तमाहु पुष्पित पीरा नर मरणलक्षणे ॥ स ता सबलरादेई जय' तीति विनिश्चय ॥ बाहुलानुपुना कामे वस्य गन्धा शुभाशुभा । व्यत्यानेनाऽप्रिमिता सु स च पुष्पितानुष्ये ॥

विपरीतेन गृह्णाति रसान् यश्चोपयोजितान् ।

उपयुक्ताः क्रमादस्य रसा दोषाभिवृद्धये ॥१०॥

यस्य दोषान्निस्त्रास्यं च कुपुमिथ्योपयोजिताः ।

यो वा रसात्तं संवेत्ति गतायुं तं प्रचक्षते ॥११॥

जो सेवन किये हुए रसों का विपरीत रूप से ग्रहण करता है तथा क्रम से क्षोभना किये पर भी रस जिसमें दोषों की वृद्धि करते हैं ॥१०॥ मिथ्योपयोग से भी जिसमें रस दोष और अग्नि की समता करते है अथवा जो रसों को जानता ही नहीं, उसे गतायु समझते हैं ॥११॥

चक्रव्य—विपरीतेन—वृद्धे का कड़वा, कड़वे को मीठा, मीठे को चरपरा इत्यादि । क्रमात्—रसा ध्यादन्मूलवर्णान्तिकोषण कश्चका । तत्राया मास्त भन्ति वयमित्ताय कश्चम् ॥ वधायनिकं मधुरा पित्तम् ॥ इत्स क्रम से प्रयुक्त करने पर भी उलटा कार्य करते हैं । यह अरिष्ट मायिक माना जाता है ।

सुगन्धं वेत्ति दुर्गन्धं दुर्गन्धस्य सुगन्धिताम् ।

गृह्णाति वाऽन्यथा गन्धं शान्ते दीपे च नीरजः ॥१२॥

यो वा गन्धात्तं जानाति गतायुं तं विनिर्दिशेत् ।

जो सुगन्ध को दुर्गन्ध और दुर्गन्ध को सुगन्ध समझता अथवा जो विषमाल गंध को निष प्रकार की गंध समझता । अथवा (पीनयादि नामा) रोग से पीड़ित न होने पर जो दीप नष्ट होने पर (उष्ण होने वाले बर्तन की) दुर्गन्ध नहीं जानता है, उसे गतायु समझना चाहिये ।

द्वन्द्वानुष्णहृदिमादीनि कालावस्था दिशस्तथा ॥१३॥
विपरीतेन गृह्णाति भावानन्यांश्च यो नरः ।

जो शीत उष्ण आदि द्वन्द्व, काल अवस्था दिया तथा अन्तर्भावों का विपरीत ग्रहण करता है (उसे गतायु समझना चाहिये) ।

चक्रव्य—गीत को उष्ण, उष्ण को शीत, सुख को दुःख दुःख को सुख, प्रभात को मध्याह्न मध्याह्न को संध्या, बाल्या वस्था को वृद्धावस्था, वृद्ध को बाल, पूर्व को पश्चिम, पश्चिम को पूर्व इत्यादि विपरीत ग्रहण करना । गीत उष्णादि द्वन्द्वों का विपरीत ग्रहण मायिक अरिष्ट और दिशाओं का विपरीत ग्रहण प्रेमासिक अरिष्ट है ।

द्विधा ज्योतीषि यश्चापि ज्वलितानीच पश्यति ॥१४॥
रात्रौ सूर्यं ज्वलन्तं वा दिवा वा चन्द्रवर्चसम् ।

अमेघोपप्लवे यश्च शक्रचापतडिहृणान् ॥१५॥

तडित्त्वतोऽसितान् यो वा निर्मलं गगने धनान् ।

विमानयानप्रासादैर्यश्च संकुलमम्बरम् ॥१६॥

यश्चानिलं भूतिमन्तमन्तरिक्षं च पश्यति ।

धूमनीहारवासीभिर्पावृतामिव मेदिनीम् ॥१७॥

प्रदीप्तमिव लोकं च यो वा हुतमिवाम्भसा ।

भूमिमष्टापदाकारां लेखाभिर्भ्यश्च पश्यति ॥१८॥

न पश्यति सनत्त्रां यश्च देवीमरुन्धतीम् ।

ध्रुवमाकाशगङ्गां वा तं वदन्ति गतायुषम् ॥१९॥

(रूपग्रहणविप्रतिपत्ति—) तर्पा जो दिन में तल्लों को चमकता हुआ देखता है ॥१७॥ रात्रि में सूर्य को चमकता हुआ देखता है और दिन में सूर्य को चंद्रतेज के समान गीतल देखता है, निरञ्ज आकाश में जो इन्द्रधनुष और विजली देखता है ॥१५॥ जो निर्मल आकाश में काले बिजली शुक मेघ देखता है । जो आकाश विमान, रथ, रात्राम्नाद् इनसे व्याप्त देखता है ॥१६॥ जो वायु और आकाश इनको साकार देखता है । जो धुआँ, ओम और वज्र इनमें पृथ्वी बर्फी हुई देखता है ।

गद् की जगत् की विषेक नक्षत्र, ध्रुव तारा तथा आकाश गया नहीं देखता, उसको गतायु कहते हैं ॥१९॥

ज्योत्स्नादशोष्णतोयेषु छायां यश्च न पश्यति ।

पश्यत्येकाङ्गदीनां वा विहतां वाऽन्यसत्त्वजाम् ॥२०॥

श्वक्रारुकद्गृध्राणां प्रेतानां यत्तरत्तसाम् ।

पिशाचोरगनाणामां भूतानां त्रिष्टामपि ॥२१॥

यो वा मयूरकण्ठाभं विधूमं वह्निमीक्षते ।

धातुरस्य भवेन्मृत्युः स्वस्थो व्याधिमचाग्रयात् ॥२२॥

इति सुश्रुतसंहिताया सूत्रस्थाने-पञ्चेन्द्रियार्थविप्रतिपत्ति-
नाम त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३०॥

जिसे चांदनी, दर्पण, धूप (उष्ण) और जल में अपनी छाया (या प्रतिबिम्ब) नहीं दिखाई देती अथवा एक अंग हीन, विकृत अथवा अन्य प्राणियों की जैसी दिखाई देती है ॥२०॥ (जैसे) कुत्ता, कौआ, कंक, गीध, प्रेत, यक्ष, रानस, पिशाच, उरग, नाग अथवा भूत इनकी जैसी विकृत छाया दीखती है ॥२१॥ जो धूमहीन अग्नि को मयूरकंठ की भाँति (नीलवर्ण) देखता है, वह मनुष्य रोगी हो तो मृत होगा और स्वस्थ हो तो रोगी होगा ॥२२॥

वक्तव्य—यहाँ छायाशब्द प्रतिच्छाया (Shadow or Image) अर्थ से उपयुक्त हुआ है—प्रतिप्रमाणसंस्थाना जलादर्श-
त्पादियु । छाया या सा प्रतिच्छाया ॥ (चरक) ।

। भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
सुश्रुतभाषाटीकायां पञ्चेन्द्रियार्थविप्रतिपत्तिनाम
त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३०॥

एकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथातश्छायाविप्रतिपत्तिमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
धोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से छायाविप्रतिपत्ति नामक अध्याय का व्याख्यान
ते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—इंद्रियविज्ञान या रिष्टविज्ञान में वर्ण, छाया,
भा और प्रतिच्छाया ये चार शब्द हमेशा प्रयुक्त होते हैं ।
तमें से प्रतिच्छाया का वर्णन पिछले अध्याय के अन्त में
क्या गया है । वर्ण—शरीर का स्वाभाविक रंग (Colour) ।
ह वर्ण चार या पाँच प्रकार का होता है—कृष्णः कृष्णश्यामः,
समावदातः, अवदातश्चेति प्रकृतिवर्णाः शरीरस्य भवन्ति । (चरक) ।
व गौरः, श्यामः, कृष्णः, गौरश्यामः कृष्णश्यामः इति देहप्रकृतिवर्णाः ।
अष्टांगसंग्रह) । ये प्रायः शरीर के स्वाभाविक वर्ण होते
। इनके अतिरिक्त जो वैकारिक वर्ण बतलाये हैं, वे भी
चित् प्राप्त हो सकते हैं । छाया—इसको शरीर की कांति
(Complexion) कह सकते हैं—छाया वर्णप्रभाश्रया । (चरक) ।
ह पाँच प्रकार की होती हैं—सादीनां पच पचानां छाया विविध-
श्रणाः । नामसी निर्मला नीला सत्त्वेशा सप्रभेव च ॥ रूक्षा श्यावा-
ह्ण ॥ तु चायवी सा हतप्रभा । विशुद्धरक्ता त्वामेथी श्रीताभा दर्शन-
प्रिया ॥ शुद्धैवदूर्ध्वमिमला सुखिन्धा चाममी मना । स्थिरा स्थिन्धा
पना श्यावा इमामा श्रेता च पायिवी ॥ प्रभा—शरीर का जो तेज
(Lustre) होता है, वह प्रभा है । प्रभा और वर्ण दोनों के संयोग
से शरीर की जो विशेषता होती है, वह छाया है । प्रभा सात
प्रकार की है—स्वातंत्र्यी प्रभा मवां मा तु महाविधा स्यात् । रक्ता पीता
पिन्धा श्यावा हरिता पाण्डुराऽसिना ॥ तामां याः स्युर्दिकान्द्रियः स्थिन्धाश्च
सिन्धुनाथ वाः । ताः शुभा रूक्षमलिनाः मक्षिप्ताश्चाशुभोदयाः ॥ (चरक) ।
छ या और प्रभा में भेद—छाया वर्ण पर अपना प्रभाव डालती
है यानि वर्ण की गरायी को प्रच्छन्न करती है, प्रभा वर्ण को

अधिक प्रकाशित करती है । छाया नजदीक से दिखाई देती है,
प्रभा दूर से ही दिखाई देती है । छाया पंचमहाभूतात्मिका है
और प्रभा तेजःप्रभवा है—तथोविणेपाः । छाया वर्णमाक्रामत्यात्मना च
लक्ष्यते पञ्चभूतात्मिका च । प्रभा तु वर्ण प्रकाशयति विप्रकृष्टालक्षते ।
तेजःप्रभवेव च । (अष्टांगसंग्रह) । वर्णमाक्रामतिच्छाया प्रभा वर्ण-
प्रकाशिनी । आसन्ना लक्ष्यते छाया विकृष्टाभाः प्रकाशने ॥ (चरक) ।

श्यावा लोहितिका नीला पीतिका वाऽपि मानवम् ।
अभिद्रवन्ति यं छायाः स परासुरसंशयम् ॥२॥

जिस मनुष्य पर काली, लाल, नीली अथवा पीली छाया
आक्रमण करती है, उसको निश्चय से गतप्राण ही समझना
चाहिये ॥२॥

वक्तव्य—प्रत्येक व्यक्ति प्रभा और छाया से युक्त होता है
और जब उसकी मृत्यु समीप आती है तब प्रभा और छाया
में भी अनुभूतव्यवहार परिवर्तन होते हैं और वह श्याव आदि
बन जाती हैं—वर्णन प्रमया तथा । छाया विवर्तते यस्य स्वस्थोऽपि प्रेत
एव सः ॥ नाऽच्छायो नाऽप्रभः कश्चिद्विशेषाश्चिह्नयन्ति हि । नृणां
शुभाशुभोत्पत्तिं काले छायाः प्रभाश्रयाः ॥ (चरक) ।

हीरपक्रमते यस्य प्रभाधृतिस्मृतिश्रियः ।

अकस्माद्यं भजन्ते वा स परासुरसंशयम् ॥३॥

जिस मनुष्य की लजा अकस्मात् नष्ट होती है अथवा प्रभा,
धृति, स्मृति और शोभा अकस्मात् बढ़ती है, उसको निश्चय से
गतप्राण समझना चाहिये ॥३॥

वक्तव्य—प्रभा—दीप्ति किंवा तेज । इसका ऊपर वर्णन
हो चुका है । धृति—निश्चयात्मिका बुद्धि—धृतिर्हि नियमात्मिका
(चरक) । स्मृति—अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः । (योगसूत्र) ।
आत्ममनसोः क्षेपणविशेषात् मस्काराच्च स्मृतिः । (वैशेषिकदर्शन) ।

यस्याधरौष्ठः पतितः क्षिप्तश्चोर्ध्वं तथोत्तरः ।

उभौ वा जाम्बवाभासौ दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥४॥

आरक्ता दशना यस्य श्यावा वा स्युः पतन्ति वा ।

खञ्जनप्रतिमा वाऽपि तं गतायुपमादिशेत् ॥५॥

कृष्णा स्तब्धाऽवलिप्ता वा जिह्वा शूना च यस्य वै ।

कर्कशा वा भवेद्यस्य सोऽचिराद्विजहात्यसून् ॥६॥

कुटिला स्फुटिता वाऽपि शुष्का वा यस्य नासिका ।

अचस्फूर्जति मग्ना वा न स जीवति मानवः ॥७॥

संक्षिप्ते विपमे स्तब्धे रक्ते च्चस्ते च लोचने ।

स्यातां वा प्रस्युते यस्य स गतायुर्नरो ध्रुवम् ॥८॥

जिमका नीचे का होठ लटकता है, ऊपर का होठ ऊपर को
चढ़ता है अथवा दोनों होठ जामुन के मद्य (नीलवर्ण) हो
जाते हैं, उस मनुष्य का जीना दुर्लभ है ॥४॥ जिसके दाँत लाल
या काले होते हैं, अथवा गिर जाते हैं अथवा खंजन की भाँति
(नीलवर्ण) होते हैं, उसको गतायु समझना चाहिये ॥५॥
जिमकी जिह्वा काली, संक्षिप्त (गतिहीन), लप युक्त, शीथ
युक्त और कर्कश होती है, वह शीघ्र ही प्राणों का त्याग करना
है ॥६॥ जिमकी नासिका टेढ़ी होती है, फट जाती है, सूखी
होती है, सूख करती है (अचस्फूर्ज) या निम्न (मग्ना)

होती है, यह मनुष्य नहीं जीता है ॥१०॥ निम्ने दोनों ने प्र
संकुचि, विषम, म्लिखित, एत, नीचे की लटके हुए होने हैं
या दूने हैं, उस मनुष्य को निश्चय से मरणप्राय समझना
चाहिए ॥८॥

चक्रव्य—उत्पन्नान्—उन्मूल्यसद्य भीष्मर्षण । इस
प्रकार की नीलिमा को अंग्रेजी में सायनोसिस (Cyanosis)
कहते हैं । यह अवस्था हृदय और पुष्पुम रोग में रक्त की
सुद्धि ठीक न होने के कारण उत्पन्न होती है और विद्येन करके
हीमें पर तथा नासून, नासिका, कर्णपालि इन स्थानों पर
दिखाई देती है । इसका वर्ण ईषसीनलोहित (Family
purple) से परन्मूलक मद्य होता है । वर्ण की तीव्रता
बहिर्ति की गभीरता निर्णयक हार्ता है । चर्क में भी वैकारिक
वर्ण में इस घटना का वर्ण किया है—अन्य भीलकुमचेरी
पत्रवचनप्रथिपे । सुनुप्रति न विद्यते शरीरे म्नातुपुम् ॥ सत्रन—
हृदय के ऊपर लगाने की दानी स्थानि—मदनातिभिरंग
भूमनुरविग्रहलक्षण सत्रनमुच्यते । य सत्रनविचरुर्दृशक रक्त
(दहण) । दूसरा अर्थ खरतीट परी । यह प्रतोदर्य का
है । इसने कण्ठमद्य धम्य का । जिह्वा—जिह्वा की स्थिति
ऊपर रोग, ज्वर तथा अन्य गभीर रोगों में बहुधा खरब हो
जाती है । अचिन्त—लालप्लाव कम होने के कारण जिह्वा
सूख जाने से उस पर मैल का एक पतल बन जाता है । अंग्रेजी
में इस प्रकार की जिह्वा को 'कोटेड या फ्लैटेड टंग' (Coated,
Plastered tongue) कहते हैं । कर्करा—खुरदरी । जिह्वा
के ऊपर के घृष्टभाग की रचना देखने से उसमें तीन प्रकार के
दाने या अक्षुर दिखाई देते हैं । इनमें जो नीकीले अक्षुर
(Conical and filiform papillae) होते हैं, वे सारे घृष्ट-
भाग पर समान्तर पत्तियों में फैले हुए होते हैं । जब जिह्वा
मैली, झुफ और इन उभरे हुए अक्षुरों से युक्त हो जाती है,
तब उसका वर्ण कर्कश होता है । इसको अंग्रेजी में 'फर्डे टंग'
(Furred tongue) कहते हैं । जिह्वा की यह स्थिति सन्ध्यास
अर्धरुध दुष्टमासासुद (Cancer), राजवन्धा की अन्तिमाव-
स्था, तीमपाण्डुरोग तथा अन्य गभीर रोगों की निर्दर्थक
होती है ।

केशा. सीमन्तिनो यस्य संक्षिप्ते चिन्ते भुवौ ।
लुगन्ति चाक्षिपक्ष्माणि सोऽचिराचाति श्लथ्वे ॥९॥
नादरत्यन्नमास्यस्यं न धारयति यः शिरः ।
एनाप्रदष्टिर्मुद्धानां सद्यः प्राणान् जहाति सः ॥१०॥
बलवान् दुर्बलो वाऽपि संमोहं योऽधिगच्छति ।
उत्थाप्यमानो घृष्टयस्तं पंक्तं भिषगादिशो ॥११॥
उत्तानः सर्वस्य शैले पादौ विक्षुरते च यः ।
विप्रसारणशीलो वा न स जीयति मानयः ॥१२॥
क्षीतपादकरोच्छ्रासश्चित्तोच्छ्रासस्य यो भयेन् ।
काकोच्छ्रासश्चो यो मर्यस्तं धीरः परिवर्जयेत् ॥१३॥
निद्रा न द्विचते यस्य यो वा जागति सर्वदा ।
मुष्टेदा घृष्टकामश्च प्रत्याख्येयः स जानता ॥१४॥

उत्तरीष्टं च यो लिटादुत्कारांश्च करोति यः ।
प्रेतेर्षा भापते सार्धं प्रवरूपं तमादिशो ॥
शोभ्यः सरोमधूपेभ्यो यस्य रक्तं प्रवर्तते ।
पुण्यस्यानिर्घर्तस्य सद्यो चक्षान् स जीयितम् ॥

जिमके वेद्यसामन्त युक्त हो जाते हैं, भीहें मिट्टी !
धौर नीचे की होंती हैं और पलक के थाल गिर जाते हैं,
मनुष्य धीर शत्रु को प्राप्त होता है ॥९॥ जो मुल में डाले हुए
अन्न को नहीं निगल सकता, अपने शिर को धारण नहीं न
सकता और जो मूठ होकर एक ही तरफ दृष्टि बांध कर रहता
है, वह धीर ही प्राणों का त्याग करता है ॥१०॥ बलवान् ।
अथवा दुर्बल हो जो उठते समय प्राय (बहुत) मुष्टि
होता है, उसे वैद्य पक (शत्रु के समीप पहुँचा हुआ) सम
॥११॥ जो सर्वदा पीठ पर सोता है, अपने पाँवों की संकुचि
और प्रसारित करता है अथवा सदा के लिये फैलाये हुए रहता
है, वह मनुष्य नहीं जीता ॥१२॥ जिसके हाथ पैर औ
उच्छ्वास ठडे होते हैं, श्यामप्रभास की क्रिया दृष्टी हुई होती
अथवा जो काक की भाँति मुल खोल के भास लेता है, उसका
उद्दिमान् वैद्य त्याग करे ॥१३॥ जिसकी निद्रा कमी सुलन
नहीं या जो सर्वदा जागता रहता है तथा बोलने के समय अं
मुष्टित होता है, वह रोगी उद्दिमान् वैद्य से त्याग करने योग्य
है ॥१४॥ जो ऊपर के होठ की चूमता है, ढकार देता है औ
प्रेतों से भाग्य करता है, उसको प्रेररूप ही समझना चाहिये
॥१५॥ (आगन्तुक) विष से पीड़ित न होने पर भी जिमके
रोम पूर्वों से तथा (धरीर के अन्य) द्वारों से रक्त बहता है,
वह धीर ही प्राणों को छोड़ता है ॥१६॥

चक्रव्य—उत्पन्नान्—रोगी चित्तं पर से जब उठकर
बैठता है, तब उसने मस्तिष्क में अकरम रक्त की कमी (Cer-
ebral anaemia) हो जाती है, जिमने उसे रमोद (Giddi-
ness, Fainting) उत्पन्न होता है । मस्तिष्क में उठने पर
रक्त की कमी उत्पन्न होने का प्रधान कारण हृदय का दीर्घत्व
है । यह दीर्घत्व प्रत्येक चिरकालीन रोग में विद्योप करके ज्वरों
में उत्पन्न हुआ करता है और इससे मामूली उत्तर ही हुआ
करता है । इसलिये आगे जराधिक्रिया म आता है—ज्वरे
प्रमोदी भवति स्वल्पेपचनेति । निषण्ण भोजने मन्मोदीवारी च
कालेन ॥ परलु कुठ रोगों में और विशेष करके हृदय के रोगों
में यह दीर्घत्व अधिक होता है, जिससे उठने पर बार बार
चक्कर लगाता करता है । यह चक्कर आना हृदय की कमजोरी
का बाह्य लक्षण है, और हृदय चेतना का स्थान होने के कारण
उमका अतिदीर्घत्व एक रिष्ट ही समझना चाहिये । रीतपाद-
करोच्छ्रास—जिमके हाथ, पैर और उच्छ्वास भी शीत होता
है । उच्छ्वास का अर्थ उच्छ्वसित (Expired air) यानि पुष्पुम
से बहार आई हुई हवा । मनुष्य अपने भीतर जो हवा
लेता है, वह किनी भी ठंडी क्यों न हो बाहर आते समय
मनुष्यशरीर की उष्णता के बराबर गरम हुआ करती है और
शरीर उष्ण रहना सजीववस्था का एक मुख्य लक्षण है ।
कमजोरी के कारण हाथ पैर नासाम आदि हृदय से दूरवर्ती

१८२ परिचर्येय, २ शिरःप्रथम

१ जिह्वाउन्मूलक

और बाह्य वायु के लिये अनावृत (Exposed) स्थान ढंके हुआ करते हैं परंतु केवल इनका ठंडापन मृत्युसूचक नहीं हो सकता । जब हाथ पैर के साथ साथ फुफ्फुस से बाहर निकली हुई हवा भी ठंडी होती है तब यह समझना चाहिये कि हृदय-समीपवर्ती फुफ्फुस जैसे ग्रहण के स्वरुगुप्त स्थान भी ठंड होने लगे हैं और यह जरूर मृत्यु का लक्षण है । छिन्नोच्छ्वासः—जिस की श्वास प्रश्वास की क्रिया बीच बीच में खंडित यानि कुछ काल तक बंद रहती है । इस प्रकार की स्थिति को अंग्रेजी में 'पीरियोडिक ब्रीथिंग' (Periodic breathing) कहते हैं । जन्म से मृत्यु तक जाग्रतावस्था में अनैच्छिक छिन्न श्वास हर्गिज नहीं होता । बाल्य तथा वृद्धावस्था में क्वचित् निद्रा में होता है । रग्णावस्था में यह अवस्था जरूर रिष्टसूचक होती है । आधुनिक खोज से इस अवस्था के दो प्रकार मालूम हुए हैं—

(१) चेन स्टेक्स रसिपेरेशन (Cheyne-stokes respiration)— इस प्रकार के छिन्न श्वास की खोज 'चेन' और 'स्टोकेस' नामक दो वैज्ञानिकों ने की है । इसलिये उनके ही नाम से यह मशहूर है । इस अवस्था में कुछ काल तक श्वास प्रश्वास की क्रिया बंद होती है (Apnoea) । तत्पश्चात् धीरे धीरे श्वास प्रश्वास की गति और गंभीरता बढ़ने लगती है । फिर धीरे धीरे घटने लगती है और कुछ काल तक श्वास प्रश्वास बंद हो जाता है । इस तरह से यह चक्र जारी रहता है । यह अवस्था हृद्रोग, मूत्रविषमयावस्था (Uraemia), मस्तिष्कगत रक्तस्राव या संन्यास (Apoplexy), मस्तिष्कावरण शोथ (Meningitis) और सूर्यातपदग्धावस्था (Sun stroke) इन रोगों में दिखाई देती है और जरूर अशुभसूचक होती है तथा मृत्यु के पूर्व कुछ घंटों तक होती है । (२) बियट्स रेरिपेरेशन (Biot's respiration)—इसमें भी कुछ काल तक श्वासप्रश्वास बंद होता है । तत्पश्चात् स्वाभाविक अवस्था के अनुसार श्वास प्रश्वास प्रारंभ होता है, फिर कुछ काल तक बंद होता है । इस तरह यह श्वासप्रश्वास का कार्यचक्र जारी रहता है । इसमें फर्क यह है कि पहले प्रकार की भाँति जब श्वासकर्म प्रारंभ होता है तब श्वास की गंभीरता और ग्रीवता में बढ़ा बढ़ी नहीं होती है । यह अवस्था मस्तिष्कावरण शोथ में दिखाई देती है । लेभ्यः—कर्ण्य, नासिका गुद आदि शरीर के रंध्रों से—मागों पुनरस्य द्वावृष्वं चापश्च, ततः... ऊर्ध्वं प्रपद्यमानं कर्गनासिकानेत्रास्येभ्यः... मधःप्रपद्यमानं मूत्रपुरीषमागोभ्यां प्रच्यवते । तौ मागौ प्रपद्यमानं संवेभ्य एव यथोक्तोभ्यः लेभ्यः प्रच्यवते शरीरस्य । (चरक) । इस श्लोक में वर्णन किया हुआ रिष्ट रक्तपित्त रोग में मिलता है—यदा तु मर्दच्छिद्रेभ्यो रोमदूमेभ्य एव च । वर्तते तामसंस्थेयां गतिं तस्याहुगन्ति-कीन् ॥ (चरक) । यह अवस्था निम्न औपसर्गिक रोगों में दिखाई देती है—मसूरिका, टैफस ज्वर (Typhus), मस्तिष्क सुपुष्पा ज्वर (Cerebrospinal fever), हेम पर्यूरा (Purpura) ।

वाताष्टीला तु हृदये यस्योर्ध्वमनुयायिनी ।
रुजाऽघ्नविद्वेषकरी स परासुरसंशयम् ॥१७॥
अनन्योपद्रवकृतः शोफः पादसमुत्थितः ।
पुरुषं हन्ति नारीं त मखजो गणजो ह्यस्य ॥१८॥

अतिसारो ज्वरो हिक्का छर्दिः शून्याण्डसेद्धता ।
श्वासिनः कासिनो वापि यस्य तं क्षीणमादिशेत् ॥१९॥
स्वेदो दाहश्च बलवान् हिक्का श्वासश्च मानवम् ।
बलवन्तमपि प्राणैर्वियुञ्जति न संशयः ॥२०॥

वायु की गाँठ जिसके हृदय में ऊपर को चढ़कर अन्न से विद्वेष उत्पन्न करे, उसको निःसंशय रातप्राण समझे ॥१७॥ स्वतंत्र रूप से पुरुष के पाँव में उत्पन्न हुआ शोथ (जब ऊपर को फैलता है तब) उसका नाश करता है, स्त्री के मुख में उत्पन्न हुआ शोथ (जब नीचे को फैलता है तब) उसका नाश करता है और गुल्म प्रदेश में उत्पन्न हुआ शोथ स्त्री और पुरुष दोनों का भी नाश करता है ॥१८॥ श्वास या कास से पीड़ित मनुष्य को जब अतिसार, ज्वर, हिचकी, बमन और वृषण तथा शिश का शोथ ये उपद्रव उत्पन्न होते हैं, तब उसको क्षीण समझना चाहिये ॥१९॥ अतिगम्य स्वेद, दाह, हिक्का और श्वास ये बलवान् मनुष्य को भी प्राणों से विद्युक्त कर देते हैं ॥२०॥

वृत्तद्वय—अनन्योपद्रवकृतः—इसके दो अर्थ होते हैं । (१) जो अन्य विकारों से उत्पन्न नहीं हुआ यानि जो शोथ-जनक निदान से स्वतन्त्र उत्पन्न हुआ है । (२) जो शोथ के सिवा अन्य रोग के उपद्रवों से नहीं उत्पन्न हुआ है यानि जो शोथ के ही उपद्रवों से उत्पन्न हुआ है—अन्यमुपद्रवं करोति इति अन्योपद्रवकृत्निदानम, नान्योपद्रवकृतन्योपद्रवकृत, ततः स्वनिदानात्, 'जातः' इति शेषः । तेन शोथजनकनिदानादेवोत्पन्न इत्यर्थः । अथवा, अनन्योपद्रवकृत इति अन्यस्य उपद्रवा अन्योपद्रवास्तद्विपरीता अनन्योपद्रवाः । एतेनायमर्थः—शोथस्यैव ये उपद्रवास्तैः कृतः । ते च—'श्वासः पिपामा दौर्बल्यं ज्वरश्छर्दिरोचकः । हिक्कातिसारकासाश्च शोथिनं क्षययन्ति हि' ॥ (मधुकोशव्याख्या) । पादसमुत्थितः—पाद में उत्पन्न हुआ और ऊपर को फैलता हुआ । मुखजः—मुख में उत्पन्न हुआ और नीचे को फैलता हुआ । गुल्मजो—वस्ति प्रदेश में उत्पन्न हुआ—पादप्रकृतः श्वशुर्गुणां यः प्राप्नुवान्मुखम् । स्त्रीणां वज्राद्यथे याति वस्तिजश्च न तिथ्यति ॥ ऊर्ध्वगामी नरं पदभ्यामधोगामी मुखान् स्वियम् । उभयं वस्तिजजातः शोभो हन्ति न संशयः ।

श्यावा जिह्वा भवेद्यस्य सव्यं च्याक्षि निमज्जति ।
मुखं च जायते पूति यस्य तं परिवर्जयेत् ॥२१॥
वक्रमापूर्यतेऽशुभिः स्विद्यतश्चरणावुभौ ।
चक्षुश्चाकुलतां याति यमराष्ट्रं गमिष्यतः ॥२२॥

जिसकी जिह्वा काली होती है, वामनेत्र गड़ जाता है, मुँह में बदबू आने लगती है, उसका परित्याग करे ॥२१॥ यमलोक में जाने वाले का मुख आँसुओं से भरता है, दोनों पाँवों पर पसीना आ जाता है और नेत्र व्याकुल हो जाते हैं ॥२२॥

अतिमात्रं लघूनि स्युर्गात्राणि शुरुकाणि वा ।
यस्याकस्मात् स विलेयो गन्ता वैवस्वतालयम् ॥२३॥
पद्ममत्स्यवसातैल्लघूतगन्धांश्च ये नराः ।
मृष्टगन्धांश्च ये वान्ति गन्तारस्ते यमालयम् ॥२४॥

जिसका शरीर एकामक अत्रिगण हलका या भारी होता है, उसको यमलोक में जाने वाला समझना चाहिये ॥२३॥
जिनके शरीर से कीचड़, मल्य, चर्बी, तैल, घृत इनकी गंध आती है या अन्य सुगंध (सुगन्ध) आती है, वे मनुष्य यमलोक में जाने वाले होते हैं ॥२४॥

यूका ललाटमायान्ति यन्ति नाश्रन्ति चापसाः ।
येषां वाऽपि रतिर्नाम्नि यातारस्ते यमालयम् ॥२५॥
ज्वरातिमारशोफाः स्युर्यस्यात्योन्म्यावसादिनः ।
प्रचीणवल्गमांसस्य नासौ शक्यधिक्रिसितुम् ॥२६॥
हीणस्य यस्य ध्रुवृष्णे हृद्यमिष्टैर्हितैस्तथा ।
न शाम्यतीऽप्रपानैश्च तस्य मृत्युरुपस्थितः ॥२७॥
प्रवाहिका शिरःशूलं कोष्ठशूलं च दाहयाम् ।
पिपासा बलहानिश्च तस्य मृत्युरुपस्थितः ॥२८॥

जिसके जुँड़े हलकाट में आजाती हैं, काक जिनकी बलि नहीं खाते तथा जिनकी कर्हीं भी चैन नहीं पड़ता है, वे यमलोक में जाने वाले होते हैं ॥२५॥ जिस बहुराज्य और मान-क्षीण मनुष्य में ज्वर, अतिमार और शीघ्र वे एक दूसरे के उपद्रव स्वरूप में उत्पन्न होते हैं, उसकी चिकित्सा करना असंभव है ॥२६॥ जिस हीण मनुष्य की धुषा तथा व्याधुष, मिष्ट और हितकर स्वाद तथा पेय द्रव्यों से शान्त नहीं होती, उसकी मृत्यु समीप होती है ॥२७॥ जो मनुष्य प्रवाहिका, दाह्य शिरःशूल तथा कोष्ठशूल और प्यास से पीड़ित है, और जिसकी शक्ति क्षीण हो गई है, उसकी मृत्यु समीप होती है ॥२८॥

चक्रव्य—अन्वेषणमदिन्—परस्परोपद्रवियः । एक दूसरे के उपद्रव स्वरूप में उत्पन्न होते हैं—उदग्निमारो रोकान्ते स्वधुर्वां वने. ह्ये । दुर्लभ्य विविधेन नररथान्मय कल्पे ॥ (चरक) ।
विषमोपचारैः कर्मभिश्च पुराहृतैः ।
अनित्यत्वाच्च जन्तूनां जीवितं निधनं मज्जेत् ॥२९॥

विषमोपचार से, पूर्वोपार्जित कर्मों से तथा प्राणियों की अनित्यता से मनुष्यों का जीवन नष्ट होता है ॥२९॥

चक्रव्य—इस श्लोक में मृत्यु के कारण और अप्रत्यक्षतया रिष्ट की उत्पत्ति के कारण बतलाये गये हैं । ये कारण तीन हैं—१ विषमोपचार, २ पूर्वकर्म, और ३ स्वभाव । विषमोपचार—प्रकृतिरैतनी भावान्तरं घृत उपचार. (अनुराग) मनोपचारः, हृदयैः विषमोपचार. (अच्छुद्धि) । विद्वेषाप्रारिष्ट हितं पशु, उदग्धान्त चण्डबलयोगजोऽस्वस्तुरा प्राणी, सरीसृपोत्पादिक विविध विषयुक्त मनु इतसे शरीर की रक्षा न करना, बुधबाध, जल और भूमि का सेवन; घृत पवन प्रपान, विषमवर्णीक दुष्ट वाजी कुञ्जर संदिर्य नाव ह्यादि के ऊपर शारीर्य करना; पूर्ण नदी समुद्रविदिन पत्तल इरप्ररूप भूमि से तैरना; नाना प्रकार के साहस कर्म करना; देश कालानुसार आहारविहारदिक् सेवन न करना, श्यामल ध्वजादि कर्म अपनी शक्ति के बाहर करना; अविज्ञापे वेणों की रोकना और विज्ञापे वेणों को नहीं रोकना; रोग उत्पन्न होने पर योग समय पर योग चिकित्सा न करना ह्यादि सब प्रकार के ॥ का यमवेश विषमोपचार में होता है । संसार में

बहुधा लोगों की मृत्यु इन विषयों का परिहार न करने से होती है । पूर्वकर्म—पूर्व जन्माजित कर्म या पुण्य । पुण्य कृत्य हो जाने से मृत्यु एकामक हो जाती है । इस कर्मज मृत्यु के कारण बहुधा अपरिहार्य तथा अप्रतिपेक्षणीय हुआ करते हैं । भूकल्प से मृत्यु, विद्रा में सर्पदंश होने से मृत्यु, घृत के नीचे बैठने समय घृत या उसके फल गिर जाने से मृत्यु समुद्र या नदी में तूकान के कारण नाव उलट जाने से मृत्यु रेल गाड़ियों की टपर से मृत्यु, ये सब कर्मज मृत्यु के उदाहरण हैं । अनित्यत्व—शरीर विनाशी होने के कारण युगानुरूप योग्य आयुर्मर्यादा के अन्त में जो मृत्यु होती है, वह स्वाभाविक या कालमृत्यु है । अल्पमदय लोगों की मृत्यु इस प्रकार से होती है । अष्टागहृदय में ये ही मृत्यु के तीन कारण भिन्न प्रकार से वर्णन किये हैं—मरण प्राणिना इदमातु पुण्योभव-क्षयम् । तपोत्पन्नयद् बुध विषमपरिहारिणम् ॥ इस विषय का अधिक विवरण युक्तसेनीय (३४ वें) अध्याय के पाँचवें श्लोक के वक्ष्य में दिया गया है ।

प्रेता भूताः पिशाचाश्च रक्षांसि विविधानि च ।
मरणाभिमुखं नित्यमुपसर्पन्ति मानवम् ॥३०॥
तानि मेपजवीयाणि प्रतिगन्ति जिघांसया ।
तस्मान्मोघाः क्रियाः सर्वो भवन्त्येव गतायुषाम् ॥३१॥

इति मुमुक्षुशिक्षायां युज्यमाने एव विप्रतिपत्ति-
नामैकविंशत्तमोऽध्यायः ॥३१॥

जिनकी मृत्यु होने वाली है, उस मनुष्य के समीप भ्रत, भूत, पिशाच तथा विविध राक्षस आते हैं ॥३०॥ वे (उस मनुष्य की) मारने की इच्छा से ओपधियों की कार्य करने की शक्ति को गण कर देते हैं । इसलिये गतायु मनुष्य के लिये (किये हुए) समस्त उपाय निष्फल हो जाया करते हैं ॥३१॥
श्रिभक्तस्वर्गयोगो विविन्दत्येतेन विरतिनायाम्—मरणस्य हीनिकर्मा मुमुक्षुभाय—वीकं ह्यविप्रतिपत्तिनामैकविंशत्तमोऽध्यायः ॥३१॥

द्वात्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अर्थातः स्वभावविप्रतिपत्तिमध्यायं व्याख्यास्यामः । यद्योवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥३॥

अथ यहाँ से स्वभावविप्रतिपत्ति नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥३॥

स्वभावमसिद्धानां शरीरैकदेशानामन्यभावित्वं मरणाय । तद्यथा—शुक्रानां कृष्णत्वं, कृष्णानां शुक्रता, रक्तानामन्यवर्णत्वं, स्थिराणां मृदुत्वं, मृदूनां स्थिरता, चलानामचलत्वम्, अचलानां चलता, पृथूनां संक्षितत्वं, संक्षितानां पृथुता, दीर्घाणां द्वसन्त्यं, द्वसानां दीर्घता, अपतनधर्मिणां पतनधर्मित्वं, पतनधर्मिणामपतनधर्मित्वम्, अकस्माच्च शैत्याप्यद्योग्यरीत्यप्रस्तम्भवैषण्यावसादनं चादानानाम् ॥२॥

१ अविपत्ति. २ अरुणवर्णता. ३ अल्पमदय.

स्वाभाविक विक्षेपों से प्रसिद्ध शारीरिक अवयवों का अन्यथाभाव होना मृत्यु के लिये होता है। यथा—(नेत्र का शुक्ल मंडल, दाँत आदि) शुक्ल पदार्थों का काला पड़ना, (केशादि) काले पदार्थों का श्वेत होना, (हॉठ जीभ आदि) रक्तवर्ण पदार्थों का वर्ण बदल जाना, (अस्थि आदि) कठिन पदार्थों का मृदु होना, (त्वचा मांस आदि) मृदु पदार्थों का कठिन होना, (संधि जिह्वा आदि) चल पदार्थों का जकड़ जाना, (अस्थि आदि) स्थिर पदार्थों का चलायमान होना, (छाती ललाट आदि) चौड़े पदार्थों का संकोच होना, (दृष्टि-मण्डल Pupil आदि) संकुचित पदार्थों का चौड़ा होना, (जंघा बाहु आदि) लंबे पदार्थों का छोटा होना, (ग्रीवा आदि) छोटे पदार्थों का लंबा होना, (नख केश आदि) न गिरने वाले पदार्थों का गिरना, (मूत्र पुरीष आदि) पतन-धर्मी पदार्थों का रुक जाना और एकाएक (विना कारण) शरीर के अंगों का टंडा होना, गरम होना, चिकना होना, रुक्त होना, जकड़ जाना, वर्ण बदल जाना और शक्ति नाश होना ॥२॥

स्वेभ्यः स्थानेभ्यः शरीरैकदेशानामवस्रस्तो-
त्क्षिप्तभ्रान्तावक्षिप्तपतितविमुक्तनिर्गतान्तर्गतशु-
लघुत्वानि, प्रवालवर्णव्यङ्गप्रादुर्भावो वाऽप्यकस्मात्,
सिराणां च दर्शनं ललाटे, नासावशे वा पिड-
कोत्पत्तिः, ललाटे प्रभातकाले स्वेदः, नेत्ररोगा-
द्विना वाऽश्रुप्रवृत्तिः, गोमयचूर्णप्रकाशस्य वा
रजसो दर्शनमुत्तमाङ्गे निलयनं वा कपोत-
कङ्ककाकप्रभृतीनां, मूत्रपुरीषवृद्धिरभुञ्जानानां,
तत्प्रणाशो भुञ्जानानां वा स्तनमूलहृदयोरःसु-
च शूलोत्पत्तयः, मध्ये शूनत्वमन्तेषु परिम्लायित्वं
विपर्ययो वा, तथाऽर्धाङ्गे श्वयथुः, शोभोऽङ्ग-
पक्षयोर्वा, नप्रहीनविकलविकृतस्वरता वा, विवर्ण-
पुष्पप्रादुर्भावो वा दन्तमुखनखशरीरेषु ॥३॥

शरीर के अंगों का (श्रु, पलक, हॉठ आदि) अपने अपने स्थान से नीचे अथवा ऊपर को होना, (नेत्रादि में) चंचलत्व होना, टेढ़ा होना, (गिर ग्रीवा आदि) धारण करने की शक्ति नष्ट होना, (संधियों का) ढीला पड़ जाना, (जिह्वा नेत्र आदि) बाहर को निकल आना या भीतर की ओर ब्राना, (बाहु, सक्थि आदि अंगों का) भारी हो जाना या हलका हो जाना, प्रवाल के रंग का व्यंग (एक प्रकार का छुद्ररोग) अकस्मात् उत्पन्न होना, ललाट प्रदेश पर सिराओं का दर्शन होना, नासिका के ऊपर फुन्सियां उत्पन्न होना, प्रभात काल में ललाट पर पसीना आना, रोग के विना आँखों से अश्रु का प्रवाह होना, सिर पर गोबर चूर्ण जैसी धूलि दिखाई देना, कपोत, काक, कङ्क प्रभृति पक्षियों का सिर पर बैठना, न भोजन करने वालों के मूत्र और विष्टा की वृद्धि होना, भोजन करने वालों के मूत्र और विष्टा का क्षय होना, स्तनमूल, हृदय और छाती इनमें शूल उत्पन्न होना, शरीर के मध्य भाग में शोध और (हस्तपादादि)

अन्त प्रदेश में पतलापन अथवा मध्यभाग में पतलापन और अन्तभाग में शोध उत्पन्न होना। तथा शरीर के आधे अंग पर शोध उत्पन्न होना। शरीर के एक-एक अवयव में अथवा आधे अंग में शुष्कता उत्पन्न होना। स्वर नष्ट, हीन, विकल या विकृत हो जाना। अथवा दाँत, मुख, नाखून या शरीर के अन्य अंगों पर विकृत वर्ण के फूल (चिह्न) उत्पन्न होना (ये मरणासूचक चिह्न हैं) ॥३॥

यस्य वाऽप्यु कफपुरीषरेतांसि निमज्जन्ति,
यस्य वा दृष्टिमण्डले भिन्नविकृतानि रूपाण्या-
लोक्यन्ते, स्नेहाभ्यक्तकेशाङ्ग इव यो भाति, यश्च
दुर्बलो भक्तद्वेषातिसाराभ्यां पीड्यते, कासमानश्च
तृष्णाभिभूतः, क्षीणश्च्छर्दिभक्तद्वेषयुक्तः, सफेन-
पूयवधिरौद्धामी हतस्वरः शूलाभिपन्नश्च मनुष्यः,
शूनकरचरणवदनः क्षीणोऽन्नद्वेषी सस्तपिरिडकां-
सपाणिपादो ज्वरकासाभिभूतः, यस्तु पूर्वाह्ने
भुक्तमपराह्णे छर्दयत्यविद्यधमतिसार्यते वा ज्वर-
कासाभिभूतः स श्वासान्निद्रयते ॥४॥

जिसका कफ, विष्टा और वीर्य पानी में डूब जाता है। जिसके दृष्टिमंडल में छिन्नभिन्न विकृतरूप दिखाई देते हैं। केश और शरीर स्नेह से अभ्यक्त किया हुआ जो प्रतीत होता है। जो दुर्बल मनुष्य अन्नद्वेष और अतिसार से पीड़ित होता है। जो खांसी से पीड़ित होकर तृष्णा से भी पीड़ित होता है। जो क्षीण होकर वमन तथा अन्नद्वेष से पीड़ित होता है। जो फेन, पूय और रक्त युक्त वमन, स्वरअंग और शूल से पीड़ित हुआ है ऐसा मनुष्य। जो क्षीण मनुष्य हाथ पैर और मुख में शोध से पीड़ित है, जिसको अन्नद्वेष हुआ है, जिसकी पिंडली, कंधा, हाथ और पांच शिथिल हो गये हैं और जो ज्वर और खांसी से पीड़ित है। जो पूर्वाह्न में सेवन किया हुआ अन्न अपराह्न में वमन करता है अथवा जिसकी अर्धपक अन्न के ही दस्त होते हैं और जो ज्वर तथा खांसी से पीड़ित है, वह श्वास का रोगी (तथा ऊपर वर्णन किये हुए लक्षणों वाला मनुष्य) मर जाता है ॥४॥

वस्तवद्विलपनं यश्च भूमौ पतति सस्तमुष्कः,
स्तब्धमेढ्रो भग्नग्रीवः प्रनष्टमेहनश्च मनुष्यः,
प्राग्वि-
शुष्यमाणहृदय आर्द्रशरीरः, यश्च लोष्टं लोष्टेनाभि-
हन्ति काष्ठं काष्ठेन, तृणानि वा छिनत्ति, अधरोष्टं
दशति, उत्तरोष्टं वा लेदि, आलुञ्चति वा कर्णौ
केशांश्च, देवद्विजगुरुसुहृद्देवांश्च द्वेष्टि,
यस्य वक्रानुवक्रगा ग्रहा गहिंतस्थानगताः पीडयन्ति
जन्मर्क्षं वा यस्योल्काशनिभ्यामभिहन्यते होरा वा,
गृहदारशयनासनयानवाहनमणिरत्नोपकरणगहिंत-
लक्षणानिमित्तप्रादुर्भावो वेति ॥५॥

वकरी के बच्चे की भाँति जो भूमि पर विलाप करता हुआ पड़ता है अथवा जिसका अण्डकोप सख्त हुआ, शिक्ष स्तंभित हुआ, ग्रीवा अन्न हुई और मूत्र नष्ट हो गया है, ऐसा मनुष्य।

जिनका शरीर गीला होने पर प्रथम हृदयप्रदेश शुष्क होता है। जो डेले से डेले को, काष्ठ से काष्ठ को मारता है। जो मूत्र को तोड़ता है। जो नीचे के हाँड की पाठता है या ऊपर के ऊँट को घूमता है। अथवा कानों और बालों को नोचता है। देवता, माह्यज, गुरु मित्र तथा वैश्यों का हृष करता है। यत्र श्वीर अनुपन्नग्राह जिष्मकं निन्दितं स्थानं मे प्राह हाँडर जन्मनक्षत्र को पीडा करते है अथवा जिनका जन्मनक्षत्र उरु और अयनी इनमें वेधित होता है। (ये मूत्र मनुष्य मर जाते है) अथवा जिनके घर, रूम, गयन, आवाग यात्रा करना मखि, रव तथा अन्य उपकरण इनमें गर्हितरूप मय (अयु भयसी) निमित्तों का प्रादुर्भाव होता है (वह मनुष्य भी मर जाता है) ॥५॥

चक्षुष्य—वसवः—यत्र मे यान्तिको मे गोरे मूत्र पयु की भाँति। प्रत्यभेदन—जिसमें मूत्राघात (Narrowing of urine) हो गया है। प्राक्निष्पन्नगणय—यस्य उत्पत्तिलिपस्य पूर्व शुष्यत्युरो यत्रम् । अद्रुय भवगयत्र मेऽर्धमन न जावति । (चरक) । वभावनामग—ये प्रहो क गति विशेष है—वक्रानु वक्रा कुटिला मन्दा मन्दतर मया । तथा शीतलरा शीघ्रा घटानमपथा गति । (सूर्यसिद्धान्त) । रागिनक स्थणने मे प्रनिनित्यु गन्तुप्रवृत्ता से वक्रा । तनेऽपि हुन्यार्थेष्टा स्यमार्थमनुभासा अनुपक्रा । (इन्द्र) । गर्हितस्थान—निम्नितस्थान। गर्हितस्थानमनुपचरारिणोपभगम् । अनु पचयश्च राशय सूत्रमनश्चरान् प्रथमदिीवचतुर्थचमनमममममनवम दारगराय । (इन्द्र) । होर—जन्मरागि, जन्मनक्षत्र ।

भवन्ति चात्र—
चिकित्स्यमानः सम्यक् च विकारो योऽभिवर्धते ।
प्रक्षीण्यलमांसस्य लक्षणं तद्रतापुप ॥६॥
नियतते महाव्याधिः सहसा यस्य देहिनः ।
न चाहारफलं यस्य दृश्यते स चिन्तयति ॥७॥

जब क्षीण्यलमांस रोगी का चिन्तन यथार्थ चिकित्सा करने पर भी बढ़ता जाता है तब यह लक्षण उमर्की प्रायु का नाशदर्शक समकना चाहिये ॥६॥ जिसकी महान्याधि गीम (अधातु अकारण) निवृत्त होती है तथा जिसके शरीर में भोजन का फल प्रकट नहीं होता, वह मनुष्य मर जाता है ॥७॥

चक्षुष्य—चिकित्सा में प्रयुक्त हुई औषधियों का शरीर पर कार्य होने के लिए शरीरगत धातुओं तथा इन्द्रियों में प्राणवृत्ति या प्रतिक्रियात्मकता उपस्थित होने की अत्यन्त आवश्यकता होती है। क्योंकि धातुओं तथा इन्द्रियों द्वारा श्रुतक औषधियों का प्रवेश, पचन, उत्पन्न होने के पश्चात् उनका उत्तम कार्य प्रकट हुआ करता है। औषधियों चिकित्सी ही गुणकारी क्यों न हो क्वल अपने बल पर धातुओं के सहयोग के बिना कार्य करने में असमर्थ होती हैं। शरीरगत धातुओं की इस प्रतिक्रियात्मकता की भिन्नता के कारण ही भिन्न भिन्न रोगियों में एक ही औषधि का भिन्न भिन्न परिणाम दिखाई देता है। रण्यावस्था में शरीर के धातु तथा इन्द्रियों रोगविष के बलात्क के अनुसार क्षीण होकर कम प्रतिक्रियात्मक होती हैं जिससे औषधियों का कार्य होने में नाश उत्पन्न होती है। परन्तु जब तक धातुओं की प्राय

शक्ति पूर्णतया नष्ट नहीं होती तब तक औषधियाँ अपना कार्य करने में आगिरकार सफल होती हैं। प्राणवृत्ति पूर्णतया नष्ट होने के पश्चात् उत्तमोत्तम औषधियाँ भी कार्य करने में निष्फल होती हैं यहाँ प्रतिक्रियात्मकता का पूर्णनाश रोग की असाध्यता का निर्देशक या अरिष्टचिह्न समझना चाहिये । इन्हीं दृष्टि मे छे श्लोक हैं कि उत्तमोत्तम औषधियों द्वारा व्यापारवाद्य चिकित्सा करने पर भी यदि रोग बढ़ता जाता हो तो यह समझना चाहिये कि रोगविषाधिक्य के कारण शरीरगत धातुओं की प्राणवृत्ति पूर्णतया नष्ट हो चुकी है जिस से चिकित्सा में सफलता मिलना असंभव हो गया है। औषधियों के संश्लेष में जो तत्त्व ऊपर वर्णन किया है वही तत्त्व आहार के संश्लेष में लागू होता है। औषधियाँ तथा आहार तब शरीर के लिये फायदेमन्द हो सकते हैं कि जब शरीर में उत्तम फायदा उठाने की शक्ति उपस्थित हो, अन्यथा वे निष्फल हैं। चरक में भी औषधि और आहार संश्लेष में लिखा है—विशानं वपुश निद्र विविधचक्रपारिणाम । न विचरत्योषधं यस्य मांसि तस्य चिकित्सितम् ॥ बाह्यगुणपुत्रानो भिन्ना गुणकरिणाम् । य फल तस्य गाम्नि तुर्गम मय्य मे प्रीतिनम् ॥ (इन्द्रियस्थान, अध्याय १२) ।

पदान्यरिष्टरूपानि सम्यग् बुध्येत यो भिषक् ।
साध्यासाध्यपरीक्षायां स गामः संमतो भवेत् ॥८॥
 इति सुश्रुतसंहितायां गुत्रस्थाने स्वभावविपरिणामिनिर्णय द्वाविंशत्तमाध्यायः ॥३३॥

जो वैद्य (अर्थात्सर्वे) अध्याय के प्रारम्भ से लेकर इस अध्याय के अन्त तक पठित किये हुए) इन अरिष्ट लक्षणों को भली भाँति जानता है, वह (रोगों की) साध्यासाध्यता (Prognosis) बतलाने की परीक्षा में राजप्रयत्न (उत्तीर्ण) होता है ॥८॥
 इति चारुकरसमीपां गृह्यसिद्धन्तमेनेन विरचितानामनुसुवैदिकसंहिताविकाराय सुश्रुतनापदीकाया स्वभावविपरिणामिनिर्णय द्वाविंशत्तमाध्यायः ॥३३॥

त्रयस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथातोऽवारक्षीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरि ॥१॥

अब यहाँ से अवारक्षीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते है जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥
चक्षुष्य—अवारणाय—उपदर्शों से मुक्त होने के कारण जिनकी चिकित्सा (चारुय) नहीं होती, ऐसे रोगों के सम्बन्ध में चिकित्सा हुआ अध्याय ।

उपद्रवैस्तु ये जुष्टा व्याधयो यान्त्यवार्थताम् ।
रसायनादिना वस ! नान् शृण्वेकमना मम ॥२॥
 जो व्याधियाँ उपद्रवों में मयुक्त होकर रसायन के बिना उपचार हो जाती है, उनको है वस सुश्रुत ! एकाग्रचित्त होकर मुझ से श्रवण करो ॥२॥

वृक्तव्य—उपद्रव—सूक्ष्मरोग उत्पन्न होने के पश्चात् उत्पन्न हुआ रोग—उपद्रवस्तु खल रोगोत्तरकालजी रोगाश्रयी रोग एवं स्थूलोष्णवा रोगात्पश्चाज्जायत इति उपद्रवसंज्ञः । (चरक) । यः पूर्वोत्पन्नं व्याधिं जघन्यकालजातो व्याधिरुपसृजति स तन्मूल एवोपद्रवसंज्ञः । (सुश्रुत) । अंग्रेजी वैद्यक में जिनको कॉम्प्लिकेशनस् और सीक्वेली (Complication and Sequelae) कहते हैं, वे सब उपद्रव में समाविष्ट होते हैं । रसायन—रसामयं सप जप आदि उपाय—धुवं तु मरणं रिष्टे ब्राह्मणस्तत् किञ्चमलैः । रसायन-नपो जप्यतपरैस्तन्निवायंते ॥

वातव्याधिः प्रमेहश्च कुष्ठधर्मो भगन्दरम् ।

अश्मरी सूक्ष्मश्च तथैवोदरमष्टमम् ॥३॥

अष्टावेते प्रकृत्यैव दुश्चिकित्स्या महागदाः ।

वातव्याधि, प्रमेह, कुष्ठ, अर्थ, भगन्दर, अश्मरी, सूक्ष्मश्म और आठवां उदररोग ॥३॥ ये आठ महारोग स्वभाव से ही चिकित्सा के लिये कठिन होते हैं ।

प्राणमांसक्षयश्वासतृष्णाशोषवमीज्वरैः ॥४॥

मूर्च्छातिसारहिक्काभिः पुनश्चैतैरुपद्रुताः ।

वर्जनीया विशेषेण भिषजा सिद्धिमिच्छता ॥५॥

फिर जब ये रोग प्राणक्षय (बलक्षय), मांसक्षय, श्वास, तृष्णा, शोष (शरीर के सर्वधातुओं का क्षय), वमन, ज्वर, मूर्च्छा, अतिसार, हिक्का इन उपद्रवों से युक्त हो जाते हैं तब सिद्धि की इच्छा करने वाले वैद्यों से विशेषतया त्याग करने योग्य होते हैं ॥४-५॥

शूलं सुप्तत्वचं भयं कम्पाध्माननिपीडितम् ।

नरं रुजातिममृतं च वातव्याधिर्विनाशयेत् ॥६॥

वातव्याधि—शोथ, स्फांसत्व, अस्थिमन, कंप, आप्मान और वेदना तथा दुःख से पीड़ित मनुष्य को वातव्याधि नाश करती है ॥६॥

यथोक्तोपद्रवाविष्टमिति प्रस्तुतमेव वा ।

पिडकापीडितं गाढं प्रमेहो हन्ति मानसम् ॥७॥

प्रमेह—जो यथोक्त उपद्रवों से पीड़ित है, जो (प्रतिदिन) मूत्र की अधिक राशि त्याग करता है, जो (शरादिकादि) पिडकाओं से अनिवाय पीड़ित हो गया है, उन्मत्ता प्रमेह नाम करना है ॥७॥

वृक्तव्य—यथोक्तोपद्रव—अविषाकोऽरुचिद्वर्दिनिद्रा कामः स-
र्गिनसः । उपद्रवाः प्रजायन्ते मेहानां कफजन्यानाम् ॥ वस्तिमेहनयोस्तोदो
मुकावशरण ज्वरः । दाहस्तृष्णाम्लकी मूर्च्छा विद्भेदः पित्तजन्मनाम् ॥
वातिकानामुदावर्तकण्ठद्वयहोलोत्नाः । शूलमुचिद्रना शोषः कातः
श्वसश्च नायते ॥ (अष्टांगहृदय) । पिडका—वाराविका, नर्व-
पिका, कच्छपिका, जालिनी, विन्ता, पुत्रिया, मसूरिका,
अलजी, विदारिका, विद्रधिका ये दस पिडकार्णः ।

प्रमिश्रं प्रस्तुताङ्गं च रक्तनेत्रं हतखरम् ।

पञ्चकर्मगुणातीते कुष्ठं हन्तीह कुष्ठिनम् ॥८॥

१ अष्टावेते महान्तान्तु व्यापयो दुस्तगाः सदा. २ ०र्ध्वतरपद्रवैः.
३ रजतमन्तय.

कुष्ठ—जिसका शरीर फट गया है, झंग भिरने लगा है, नेत्र लाल हो गये हैं, आवाज विगड़ गई है और जो पंचकर्म गुणातीत हो गया है, उस कुष्ठी का कुष्ठ रोग नाश करता है ॥८॥

वृक्तव्य—पंचकर्मगुणातीतम्—इसके कई अर्थ होते हैं । इनमें प्रथम अर्थ अधिक संयुक्तिक और सुश्रुतसत्तादुसार है—
(१) 'पञ्चमधात्वस्थितं कुष्ठं, तस्य कुष्ठस्य कर्माणि गुणाश्च नासाभेगाद-
यसैरतीतम्, अतीतगुणप्राप्तम्' इत्यर्थः । पंचम धातु जो अस्थि उत्तरमें स्थित हुए कुष्ठ के जो नासाभेगादिगुण इनसे भी अधिक गुणों से युक्त जो मनुष्य है उसको कुष्ठ मारता है, यह इसका अर्थ है । ये निम्न अधिक गुण हैं—नासाभेगोऽक्षिरागश्च क्षते च कृमिसंभवः । भवेत् स्वरोपधातश्च ह्यस्थिमज्जतमाश्रिते । कौण्यं गति-
क्षयोऽजानां समेदः क्षनसर्पणम् ॥ संक्षेप में अस्थि मज्जा और शुक्रगत कुष्ठ के लक्षणों से पीड़ित मनुष्य को कुष्ठ मारता है । निदानस्थान में लिखा है—मेदोगतं भवेद्याप्यमसाध्यमत उत्तरम् । चिकित्सास्थान में पंचम नैव चोपक्रमेत् । इसी प्रकार की शूकरचना चिकित्सास्थान में भी मिलती है—चतुर्थ-
कर्मगुणप्राप्तं वाध्यमात्मवतः संविधानवत्तश्च ॥ (२) डल्हण के अनु-
सार अस्त्रिगत कुष्ठ की जो संगोधन, संवमन, अर्थ्यंग गुगुलु शिलाजतु प्रभृति चिकित्सा है, उससे भी जिस रोगी को आराम नहीं मिलता है । (३) वमन, विरेचन, आस्थापन, गिराविरेचन और शोणितावसेचन ये जो पंचकर्म इनसे भी जिस रोगी को आराम नहीं मिलता है ।

तृष्णारोचकशूलार्तमतिप्रस्तुतशोणितम् ।

शोफातीसारसंयुक्तमर्शोऽव्याधिर्विनाशयेत् ॥९॥

अर्थ—जो तृष्णा, अरुचि, और शूल इनसे पीड़ित है, जिससे रक्त का साध बहुत होता है तथा जो शोथ और अतिसार से भी युक्त है, उस मनुष्य को अर्थव्याधि नाश करती है ॥९॥

वातमूत्रपुरीषाणि क्रिमयः शुक्रमेव च ।

भगन्दरात् प्रस्रवन्ति यस्य तं परिवर्जयेत् ॥१०॥

भगन्दर—वायु, मूत्र, विष्टा, कृमि और वीर्य जिसके भगन्दर में से निकलते हैं, उसे त्याग कर देना चाहिये ॥१०॥

वृक्तव्य—भगन्दर का अन्तर्मुख जब गुदसंकोचनी पेगी (Sphincter Ani) के ऊपर होता है तब उसमें से विष्टा और वायु निकलती है, जब भगन्दर का संबंध यस्ति के साथ होता है तब मूत्र निकल सकता है और जब वीर्या-
गय के साथ होता है तब शुक्र निकल सकता है । क्रमयः—
ह्ययि युक्तं पूय ।

प्रशूननाभिचूपणं रूद्धमूत्रं रुगन्वितम् ।

अश्मरी क्षपयत्याशु सिक्तताशर्करान्विता ॥११॥

अश्मरी—जिसकी नाभि और घृषण पर शोथ उत्पन्न हुआ है, जिसका मूत्र बंद हो गया है और जिसके शरीर में शूल हो रहा है, ऐसे मनुष्य को अश्मरी क्षीघ्र ही नाश कर देती है । शर्करायुक्त सिक्ततामेह भी उपर्युक्त लक्षणायुक्त रोगी का नाश करता है ॥११॥

वृक्तव्य—शर्करा—मा (अश्मरी) भिन्नमूर्तिवन्ति शर्करा-
निपीयते ।

गर्भकोपपरस्त्रो मङ्गलो योनिस्त्रुतिः ।

हस्यात् स्त्रियं मूढगर्भं यथोक्ताध्याप्युपद्रवाः ॥१२॥

मूढगर्भे—गर्भमूढ होने के समय यर्भांगय का परास्यत, मङ्गलशूल, योनिस्त्रुति अथवा यथोक्त उपद्रव स्त्री का नाश करते हैं ॥१२॥

यत्कथ्य—गर्भकोपपरस्त्रो—गर्भांगपरय परोऽप्यर्धमासग क्रियादीनाम् । गर्भांगय की अत्यन्त संकोचनीयता (Uterine inertia) । मङ्गल—गर्भांगय संकोच क कारण उपपन्न हुआ शूल । योनिस्त्रुति—गर्भांगय का अधिक काल तक संकोच की स्थिति में अवस्थान (Tone Spasm of the uterus or Tetanus Uteri) । यथोक्त उपद्रवाः—विभिन्न-विभिन्न योनिरोगनिग्रह यथोक्तप्रमाणम् । (सुश्रुत, निदान, अ. ८) ।

पार्श्वमङ्गलान्नविद्वेषरोफानीसारपीडितम् ।

विरिकं पूर्यमाणं च यज्ञेयदुद्रादितम् ॥२३॥

उदर—जिभके पार्श्वभाग में (Sides) बड़े हुए जैमी पीड़ा होती है, जिभको अग्र से द्वेष उत्पन्न हुआ है, जो शीघ्र (विशेष करके सर्वगर्भोप) और अतिथार से पीडित है और (संदेव) विरिचि करने पर भी जिभका उदर (जल से) भरा हुआ होता है (अथवा मीदिमुखवर्ध से पानी का विरेचन करने पर भी जिभका उदर फिर रीम भर जाता है) ऐसे उदररोगी को त्याग करे ॥१३॥

यस्तामयति विसंश्लथ शते निपतितोऽपि वा ।

शीतादितोऽन्तरुष्णश्च ज्वरेण स्त्रियते नरः ॥१४॥

यो हृष्टरोमा रक्ताक्षो हृदि संघातशूलयान् ।

नित्यं वक्रैण चोच्छ्वासं च ज्वरो हन्ति मानवम् ॥१५॥

द्विक्वाश्वासपिपासातं मूढं विश्रान्तलोचनम् ।

सन्ततोच्छ्वासिनं क्षीणं नरं क्षपयति ज्वरः ॥१६॥

आविलासं प्रताम्यन्तं निद्रायुक्तमतीथ च ।

क्षीणशोणितमांसं च नरं नाशयति ज्वरः ॥१७॥

ज्वर—जो (बार बार) मूर्च्छित या वेदोग होकर सोना है या पड़ा रहता है तथा जिसको बाह्यग से शीत और भीतर से दाह की अनुभूति होती है, ऐसा मनुष्य ज्वर से मरता है ॥१४॥ जिभके शरीर पर रौंगे खड़े होते हैं, जिभके नेत्र लाल होते हैं, जिसके हृदयप्रदेश में महान् शूल होता है और जो सर्वदा मुस से श्वास की क्रिया करता है, ऐसे मनुष्य को ज्वर नाश करता है ॥१५॥ जो द्विक्वा, श्वास और पिपासा से अत्यन्त पीडित है, जिसका मन मोहयुक्त हो गया है, नेत्र विघ्नान्त हो गये हैं और जो सर्वदा जोर से हाँफता है, ऐसे क्षीण मनुष्य को ज्वर नाश करता है ॥१६॥ जिभके नेत्र अशु से भरे हुए हैं, जो अत्यन्त मोह और निद्रा से युक्त होता है तथा जिसका रक्त और मांस क्षीण हो गया है, ऐसे मनुष्य को ज्वर नाश करता है ॥१७॥

श्वासशूलपिपासातं क्षीणं ज्वरंनिपीडितम् ।

विशेषेण नरं हृद्यमतीसारो विनाशयेत् ॥१८॥

अतिसार—थाय, शूल और पिपासा से अत्यन्त पीडित दुर्बल, ज्वरयुक्त मनुष्य को विशेष करके हृद्य को अतिस नाश करता है ॥१८॥

शुक्राक्षमश्लेष्मणामूर्ध्वश्यासननिपीडितम् ।

शुक्रश्लेष्मणं यद्दु मेहन्तं यद्दमा हन्तीह मानवम् ॥१९॥

रात्रयदमा—जिभके नेत्र शेत हो गये हैं, जिभको अग्र क द्वेष उत्पन्न हुआ है, जो उर्ध्वधाम से पीडित है और अशु कंध से मूत्र का त्याग करता है, उस मनुष्य को रात्रयदमा नोप करता है ॥१९॥

श्वासशूलपिपासात्रविद्वेषप्रस्थिमूढताः ।

मथन्ति दुर्बलत्वं च शुम्भिनो मृत्युमेष्यतः ॥२०॥

शुम्भ—श्वास, शूल, पिपासा, अश्लेष्म, ककत्साम् गुण का लय होना (प्रस्थिमूढता) और दुर्बलता ऐसे लक्षण मृत्यु की प्राप्ति होने वाले शुम्भ रोगी के होते हैं ॥२०॥

आध्मानं यद्वनिष्यन्द् छर्दिद्विक्वातुङ्घनितम् ।

रक्ताश्वाससमाविष्टं विद्रधिर्नाशयेन्नरम् ॥२१॥

अर्त्ताद्विधि—जो (विद्रधिषुक्त) मनुष्य आध्मान, मूढ का बन्ध होना, छर्दि, द्विक्वा, मूत्रा, वेदना, श्वास इनसे पीडित होता है, उसे विद्रधि नष्ट करता है ॥२१॥

पाण्डुरदन्तनस्यो यश्च पाण्डुनेत्रश्च मानवः ।

पाण्डुसंघातदर्शो च पाण्डुरोगी विनश्यति ॥२२॥

जिभ मनुष्य के दाँत, नाखून और नेत्र शेत हो गये हैं तथा जिभको सब पर्याय (संघात) शेत ही दीखते हैं, ऐसा पाण्डु रोगी मनुष्य मर जाता है ॥२२॥

लोहितं छर्दयेस्तु बहुशो लोहितेक्षणः ।

रक्तानां च दिशां द्रष्टा रक्तपिनी विनश्यति ॥२३॥

जो बार बार रक्त का वमन करता है, जिभके नेत्र लाल हैं तथा जिभको मूत्र दिशाएँ लाल ही दीखती हैं, ऐसा रक्तपित्त का रोगी नष्ट होता है ॥२३॥

अवोद्गुणस्त्रन्मुक्षो वा क्षीणमांसवलो नरः ।

जागारिष्युरसन्देहमुन्मादेन विनश्यति ॥२४॥

जो (उन्माद से पीडित) क्षीणमांस, क्षीणवज मनुष्य अपना मुख नीचे को या ऊपर की रकता है तथा निरन्तर जागता है, वह उन्माद से निःसन्देह नष्ट होता है ॥२४॥

यद्दुशोऽपसरन्तं तु प्रक्षीणं चलितशुभवम् ।

नेत्राभ्यां च विकुर्याणमपस्मारो विनाशयेत् ॥२५॥

इति सुश्रुतसंहितायां शतसन्निवेशात्परीतो नाम

अपस्माररोगोऽध्यायः ॥२४॥

जो बारबार अपस्मार के वेग से पीडित होता है, जो क्षीण है, जिभकी शुद्धि चलायमान होती है और जो नेत्रों की बुरी तरह से फेरता है, उस (अपस्मारयुक्त मनुष्य) को अपस्मार रोग नाश करता है ॥२५॥

इति भस्कररामा नेचिन्द्रन्त्रेन विरचितायाम्पुत्ररहस्यटीकया सुश्रुतसंहितायाम्बारातीतो नाम अष्टादशोऽध्यायः ॥२४॥

चतुर्विंशत्तमोऽध्यायः ।

अथातो युक्तसेनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से युक्तसेनीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—युक्तसेनीयः—युक्ता सप्रामार्थं नियुक्ता सेना यस्य स युक्तसेनी राजा । तमधिकृत्य कृतोऽध्यायः ॥ संग्राह के लिये ससैन्याः प्रयाण करने वाले राजा के संग्रह का अध्याय ।

युक्तसेनस्य नृपतेः परानभिजिगीषतः ।

भिषजा रक्षणं कार्यं यथा तदुपदेक्ष्यते ॥२॥

विजिगीषुः सहामात्यैर्यात्रायुक्तः प्रयत्नतः ।

रक्षितव्यो विशेषेण विपादेव नराधिपः ॥३॥

शत्रुओं को जीतने की इच्छा करने वाले ससैन्य राजा को रक्षा वैद्य को किस प्रकार करनी चाहिये, उसका उपदेश (अब) किया जाता है ॥२॥ विजय की इच्छा से (सेनापति तथा अन्य) कामदारों सहित जब राजा प्रयाण करता है तब (सर्व प्रकार की आगन्तुक मृत्यु के कारणों से) विशेषतया विप से भरसक प्रयत्न करके उसकी रक्षा करनी चाहिये ॥३॥

पन्थानमुद्रकं छायां भक्तं यवसमिन्धनम् ।

दूषयन्त्यरयस्ताच्च जानीयाच्छोधयेत् तथा ॥४॥

तस्य लिङ्गं चिकित्सा च कल्पस्थाने प्रवक्ष्यते ।

(युद्ध के समय राजा जय शत्रु के प्रदेश में प्रवेश करता है तब) शत्रु मार्ग को, (मार्ग में होने वाले जलाशयों के) जल को, वृक्षों की छाया (से युक्त स्थान को, जहाँ राजा के सैन्य की छावनी हो सकती है), खाद्य द्रव्यों को, (अश्व-गजादि के) चारों को और लकड़ी को विप से दूषित कर दिया करते हैं। वैद्य (लक्षणों से) उनकी दुष्टि जाने और उनका विधोषण करे ॥४॥ उन (की दुष्टि) के लक्षण और चिकित्सा कल्पस्थान में वर्णन की जायगी ।

एकोत्तरं मृत्युशतमथर्वाणः प्रचक्षते ।

तत्रैकः कालसंज्ञस्तु शेषा आगन्तवः स्मृताः ॥५॥^३

अथर्ववेदनेत्ता एक सौ एक मृत्यु मानते हैं । उनमें एक कालसंज्ञक और बाकी आगन्तु मृत्यु होती है ॥५॥

वक्तव्य—एकोत्तर शतम्—मनुष्य के जीवन में उसके जीवन का नाश होने के कई प्रसंग आते हैं । उनकी इयत्ता करना असंभव है । इसलिये शत का अर्थ इयत्तादर्शक न करके असंभवतावाचक करना उचित है । तथापि इन मृत्यु-कारक प्रसंगों की न्यूनाधिकता मनुष्य की रहन सहन (निजी कारण) तथा ब्राह्म जगत् के साथ संबंध (आगन्तु कारण) के ऊपर निर्भर होती है । कालमृत्यु केवल एक होती है, और उसकी मर्यादा युग के अनुसार बदलती (पीढ़े पृष्ठ ४ पर अल्पायुष्टम् का अर्थ देखो) है । कलियुग में कभी एक सौ

बीस (शार्ङ्गधर १-६-२०), कभी एक सौ सोलह (जैमिनि उपनिषद् ब्राह्मण ४-२-१) और प्रायः सौ साल की उसकी मर्यादा मानी जाती है । परन्तु इसमें भी कुछ फर्क व्यक्ति की प्रकृति के अनुसार होता है । चरकसंहिता में कालमृत्यु और अकालमृत्यु का अतिसुन्दर याथातथ्यदर्शक वर्णन किया है, जिससे भी कालमृत्यु एक और अकालमृत्यु अनेक कैसे होती हैं, इसका बोध हो जाता है—श्रूयतामश्विवेश ! यथा यानसमायुक्तोऽश्वः प्रकृत्यैवाक्षगुणैरुपेतः सर्वगुणोपपन्नो वाद्यमानो यथा-कालं स्वप्रमाणक्षयादेवावसानं गच्छेत्, तथाऽऽयुः शरीरोपगतं बलवत् प्रकृत्या यथावदुपचर्यमाणं स्वप्रमाणक्षयादेवावसानं गच्छति । स मृत्युः काले ॥ यथा च स एवाक्षोऽतिभाराधिष्ठितत्वाद्विपमपथादपथा-दक्षचक्रभंगाद्वात्सवादकदोषादणिमोक्षात् पर्यसनादनुपांगाच्चान्तरा-व्यसनमापद्यते तथायुरप्ययथावल्मारभ्रादयथाप्यभ्यवहारादतिमैशुना-दुदीर्घैवैगविधारणाद्विभार्यैवैगविधारणाद्विपमशरीरन्यासादत्सत्संश्रयान्कृत-विषवाय्वग्न्युपतापप्रद्विषातादाहारभ्रतीकारविवर्जनाच्चान्तराऽऽवसानमेवा-पद्यते । स मृत्युरकाले । तथा चरगदीनप्यातंकान्मिथ्योपचरितान-कालमृत्युन् पश्याम इति ॥ (विमानस्थान. अ. ३.) । इस वर्णन से यह स्पष्ट होगा कि मनुष्यों का आयुष्य प्रायः स्वाभाविक मृत्यु से नहीं परन्तु अपमृत्यु से ही समाप्त होता है । पाश्चात्य वैद्यक में भी कालमृत्यु और अकालमृत्यु के सम्यग्बोध में यही कल्पना प्रचलित है । हेलिबर्टन शारीरकार्यविज्ञान नामक अपनी पुस्तक में (Halliburton's Physiology) लिखते हैं कि 'युवावस्था पूर्ण हो जाने के पश्चात् वृद्धावस्था के चिह्न दीखने लगते हैं, आँखों की रोशनी कम होती है, केश सफेद होते हैं, तरुणास्थि कठिन होती हैं, पेशियाँ दुर्बल होती हैं, पाचनशक्ति क्षीण होती है और शरीर की क्रियाएँ सर्वप्रकार से दिन प्रतिदिन विकल होती जाती हैं । इस प्रकार शरीर का कार्य जारी रहने से अन्त में शरीर की परिसमाप्ति स्वाभाविक मृत्यु से होती है, जिसमें शरीरकार्य क्षीण होते होते बंद हो जाते हैं । परन्तु वृद्धावस्था से मृत्यु होना परम दुर्लभ है । मृत्यु के सामान्य कारण प्रायः आगन्तुक होते हैं, जिन कारणों में रोगों का भी समावेश हम करते हैं' । 'As the prime of life is past, signs of old age begin to appear, the eyes become feeble, the hair becomes grey, the cartilages calcify, the muscles become weaker, digestion gets feebler, and metabolism in every way more and more imperfect. If this continues, life is ultimately terminated by natural death, in which the functions get weaker and weaker and finally cease. Death from old age is, however comparatively rare; the common cause of death is accident, in which term we include disease.' पाश्चात्य वैद्यक में भी चरक के अनुसार रोगों का समावेश अकालमृत्यु के कारणों में किया गया है, यह चिन्त्य है । इसलिये प्रत्येक मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह अपमृत्यु के कारणों का परिहार करके स्वाभाविक आयुर्मर्यादा के अन्त तक जीने का प्रयत्न करे । इसका सामान्य उपाय चरकसंहिता में लिखा है—श्वामिवेश ! भूतानामायत्किमपेक्षते ।

१ नृपतेर्युक्तसेनस्य. २ कालमृत्युक्तः. ३ पतद्वये—'विष्वक्वातादि-भिर्यद्दीर्घो चलोदिसुतः । निर्वात्यते क्षणादेही तथेवागन्तुमृत्युनि. ॥' इति कचिदधिकः पाठः.

च सिद्धं क्षयं नडावबन्ध ॥ तयोद्धारयोर्व्युक्तिर्विषय च सुख्यम् च ।
नियतस्ययुधो हेतुर्विनीतस्य केनरा ॥ अत्र राजा के सम्बन्ध में
इन आगन्तुक कारणों का परिहार कैसे करना चाहिये, इससे
लिये लिखते हैं—

दोषागन्तुजमृत्युभ्यो रसमन्त्रविशारदौ ।

रक्षोतां नृपतिं नित्यं यज्ञाद् वैद्यपुरोहितौ ॥६॥

(वातादि) दोषों और (अविचार अगिपय विष आदि)
आगन्तुक कारणों में जो प्रपञ्च्य होती हैं, उनसे रसविचारद
वैद्य और मन्त्रविचारद पुरोहित यत्पूर्वक नित्य राजा की
रक्षा करें ॥६॥

यत्कथ्य—रसविचार—रस, बीज, विपाक और प्रभाव-
युक्त विविध औषधियों तथा रसायनों द्वारा वातादि दोषजन्य
रोगों की युक्तिव्यपारथ्य चिकित्सा करने में विचक्षण । मन्त्र
विचारद—मन्त्रोपधिमायि मंगलकल्पपुहार होम नियम प्राय-
श्चित्तोपवास स्वल्पयजन प्रक्षिपात गमनादि द्वारा दैव्यव्यापथ्य
चिकित्सा करने में विचक्षण । राजरक्षा के सम्बन्ध में वैद्यों
का कर्तव्य इस प्रकार कौटिलीय अर्थशास्त्र में बखीन किया
है—तत्सादस्य जामलोवित्रो निषनश्चासुरास्त्रसु । निषन्मेषन्वापरादा-
स्वादविशुद्धमौषधं मूर्च्छति । पाचकौषधस्त्राभ्यामात्मनान् च प्रतिस्थाप रात्रौ
प्रयच्छेत् पात्र पानीय चौषेन चौरुवाताम् ॥ (अध्याय २१) ।

ग्रहा देवाङ्गमष्टाङ्गमालुपेदमभापत ।

पुरोहितमते तस्माद्धर्तेत मियगात्तयान् ॥७॥

ग्रहा जी में वेदाङ्गरूप अष्टाङ्ग आलुपेद बखीन किया है,
इतलिये बुद्धिमान् वैद्य पुरोहित के सत्तानुसार कर्तव्य करते हैं ॥७॥

यत्कथ्य—इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि आलुपेद की
उल्लिखित वेद में होने के कारण धार्तरि वेदों, विशेष करके सम्पूर्ण
अर्षय वेद का यज्ञ जो पुरोहित उसके मार्गदर्शित्व में अथवा
दैविक उपायों की अगीवार करके युक्तिव्यपारथ्य चिकित्सा
करना वैद्य के लिये अधिक भयंकर और निन्दितकर होता है ।

संकरः सर्वयज्ञानां प्रशोयो धर्मकर्मणाम् ।

प्रजानामपि चोच्छिन्नसिन्धुप्यसनहेतुतः ॥८॥

राजा का नाम होने से (माङ्गणादि) सर्व यज्ञों का
संकर, धर्म कर्मों का नाश और (श्वपार, हृषि तथा पशुशाल
नादि श्वयमार्यों का नाश होने के कारण) प्रजा का भी क्षय हो
जाता है ॥८॥

यत्कथ्य—संकर—धार्तरि यज्ञों का नाश होकर विविध प्रजा
होना । यह संकर अनुष्णोम प्रतिष्णोम विवाद और वर्णविहित
कर्मों का त्याग करने से होता है—अभिचारण वर्णानामपेया
वेदेन च । इत्यर्चनो च ह्यनेन वर्णभेदा ॥ (मनुस्मृति) ।
धर्मकर्मणाम्—संकरयज्ञ, शुद्धय, धामप्रथ्य और सन्नास इत
का आशयों के धर्मकर्म । ध्वनन—रोगरूप या मृत्युरूप
संघट । राजा कुशल या रोगी होने से दम्भारण द्वारा प्रजा
का संकर करने में अत्यारथ होता है, जिससे और छोटे
मानिक छोटे मर्भ प्रकार से प्रजा का नाश करते हैं । इतलिये
दंष्टिनीय अर्थशास्त्र में लिखा है—यवराजनागर्भे सिन्धुदा
दन्तकण्ठ । सुविन्तस्त्रीने हि दष्ट प्रजधर्मैर्धेदेत्यति ।

अपयौर्नो हि मात्सन्वावयुद्गावयात । नगीकानकल हि प्रसते दृष्ट
भावे । तेन युष् प्रभवतीति । चतुर्वर्णांशो लेने राजा दृष्टने पालि
रत्पथैर्माभिरतो वरते खेदु कर्मनु ॥ (अध्याय ४) ।

पुरुषाणां नृपाणां च देवलं तुल्यमूर्धिता ।

आशा त्यागः क्षमा धेर्दे विक्रमश्चाप्यमातुषः ॥९॥

तस्मादेवमिवामीक्ष्यं वादहन.कर्मभिः शुभैः ।

चिन्तयेन्नृपतिं वैशः श्रेयांसीच्छन्न चिचक्षुः ॥१०॥

साधारण मनुष्यों और राजाओं की शरीर की आकृति
ही केवल समता होती है । परंतु आज्ञा, त्याग, क्षमा, सर्व
के समय की धीरता और पराक्रम ये सब दैविक (साधार
मनुष्यों के इन गुणों से अधिक तथा प्रगाथवाली) होते हैं ॥९॥
इसलिये सुख की इच्छा करने वाला पशुर वैद्य राजा को
देवता समक कर निरन्तर शुभवाचिक, कायिक और मानसि
कर्मों से उसके (स्वास्थ्य की) चिन्ता करे ॥१०॥

यत्कथ्य—अमातुष—राजा चन्द्रसूर्यादिक देवताओं में
अग्रे में उत्पन्न होने के कारण मनुष्यरूप होने पर भी देवता
स्वरूप होता है, तथा उसके आसुरादिक गुण भी दैविक ही
हैं—सर्वभूतस्य सर्वस्य राजानमसुन्दरं प्रभु । इन्द्रानित्यमातृण
मन्त्रैश्च यत्नस्य च । चन्द्रवितेहोयोश्चैव मात्रा निर्द्वेष शाश्वती ॥ वस
देवा सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मिते नृप । तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतार्ति
तेजसा ॥ कालोऽपि नावगन्तव्यो मनुष्य इति भूमिप । महती देवा
क्षेप नररूपेण निर्धन ॥ (मनुस्मृति, अ ७) ।

स्कन्धावारे च महति राजगोहादनन्तरम् ।

भवेत्सन्निहितो नित्यं सर्वोपकरणान्वितः ॥११॥

तत्रस्थमेतं ध्वजवधश.ख्यातिसमुच्छ्रितम् ।

उपसर्पन्त्यमोहेन चिपशस्यामयादिताः ॥१२॥

सतन्त्रशुशलोऽन्येषु शाराथेष्ववहिष्कृतः ।

यैद्यो ध्वज इवाभाति नृपतद्विधपूजितः ॥१३॥

एडर की घटी छावनी में राजनिवास में अत्यन्त समीप
अपनी राय साधनसामग्री में साथ वैद्य को सुव्यजित रहना
चाहिये ॥११॥ वहाँ ध्वजा की भांति यद्य और ख्याति से
विख्यात ऐसे वैद्य के समीप विष, ब्रह्म और रोगों से पीडित
मनुष्य निश्चित मग से पहुँचने हैं ॥१२॥ अपने (वैद्यक)
शास्त्र में प्रवीण हो तथा (द्वैतधर्मयोगी) अन्य शास्त्रों से
भी जो अपरिचित नहीं, ऐसा वैद्य राजाओं तथा यैतों से
समानित होकर ध्वजा की तरह (सबसे ऊँचे स्थान में)
विख्यात होता है ॥१३॥

यत्कथ्य—कथ्य शर—राज्य अथे मेघ गंगवार । बुदायंयु
कुतना ३ नता सञ्चोस । एडर की छावनी वा कैम्प (Camp) में
स्कन्धावार की रचना के लिये कौटिलीय अर्थशास्त्र का
'स्कन्धावार विनय' नामक १२९ वें अध्याय देखो । सर्वे
कथयिन्त—य नामक सामान्य वग यथा इत्यादि साधन
सामग्री में साथ । कौटिलीय अर्थशास्त्र में ऐनिकों की सेवा
शुष्णा करने के लिये, उनके पर्व, उत्सवना देने के लिये
दियों की भी योजना (Liberation) लिखी है—विश्वया

शसन्यगामरुतेऽनरुहस्ताः शिपश्चापानरुहिणः पुरुषाणांशुर्गोपीयाः
 श्रुतस्तिष्ठेयुः ॥ (अध्याय १३१) । पादाय देगों में सुत के
 समय नर्सेस की योजना १९ वें शताब्दी के उत्तरार्ध में प्रारंभ
 हुई है । पञ्चमप्रायःन्यानिस्तुनिर्णय—इन पद में प्राचीनकाल
 में भी भंडे का कितना महत्व था, इसकी जरूरत होती ।

वैद्यो व्याध्युपसृष्टश्च शैजं परिचारकः ।
 एते पादाधिकित्वायाः कर्मसाधनहेतवः ॥१४॥
 गुणवद्विस्त्रिभिः पादैश्चतुर्थी गुणवान् शिष्यक् ।
 व्याधिप्रत्येक कालेन गह्वान्तमपि साधयेत् ॥१५॥

(चिकित्सापादचतुष्टय—) १ वैद्य, २ शैज, ३ औषध और
 ४ परिचारक ये चिकित्सा के (चार) पाद हैं और धातुव्याय
 (आरोग्य) रूप कर्मसिद्धि के हेतु हैं ॥१४॥ (रोगी, औषध
 और परिचारक) इन तीन (निष्पन्न) गुणों में सुत
 पादों की सहायता से चतुर्थ पाद गुणी बना धोड़े ही समय में
 दारुणव्याधि को भी अच्छा कर देता है ॥१५॥

वैद्यहीनारोगः पादा गुणघन्तोऽध्यपरिष्ठाः ।
 उद्गाहोत्सृष्टयाणो यथाऽध्ययं विनाऽध्यये ॥१६॥

वैद्यस्तु गुणवानेकस्तारयेदातुषान् सदा ।
 ह्यं प्रतिरैहीनं कर्णधार इवारभस्ति ॥१७॥

(वैद्य की महत्ता—) जैसे कि यज्ञ में (यदुर्वैद्यिद)
 अध्यु (उपाध्याय) के बिना उद्गाता (नामवित्), होना
 (करवेदवित्) और ब्रह्मा ये तीनों निरर्थक हो जाते हैं, वैसी ही
 (रोगी, औषध और परिचारक ये) तीनों पाद यथोक्त गुणयुक्त
 होने पर भी वैद्य के बिना निरर्थक हो जाते हैं ॥१६॥ जैसे कि
 जलमें फेंदी हुई चौका का तारण (छयाल) कर्णधार अन्य मत्तानों
 की सहायता के बिना करता है, वैसी ही (यथोक्त) गुणयुक्त
 अकेला वैद्य (रोगरूप जलार्थव में फेंके हुए) रोगियों का
 तारण करता है ॥१७॥

वक्तव्य—उपर्युक्त पादचतुष्टय की महत्ता से रोगों
 का जो प्रतिकार किया जाता है, उसे 'चिकित्सा' कहते हैं—
 चतुर्णां सिपगादीनां गस्ताना धातुवैद्येण । प्रवृत्तिर्वातुमाभ्यायो
 चिकित्सेत्वभिधीयते ॥ (चरक) । चिकित्सा में सफलता प्राप्त
 होने के लिये पादचतुष्टय गुणवान् होना आवश्यक है—
 भिषग्द्रव्याणुपस्थाता रोगी पाञ्चतुष्टयम् । गुणवत् कर्णं मय विकार-
 न्युपशान्तये ॥ (चरक) । तथापि इनमें भी वैद्य का महत्त्व
 सब से अधिक है, यह कल्पना इन शंकाओं में अनेक दृष्टान्तों से
 प्रदर्शित की गई है । चरक में भी लिखा है—विगाना शान्तिता
 योक्ता प्रधान निपगत्र तु । पत्तो हि कारण पवतुर्थेना पोषेन्धनानलाः ॥
 विजेतुर्विकये भूमिश्रमूः प्रहरणानि च । आतुरायन्त्या सिद्धौ पादाः
 कारणसंशिताः ॥ मृदण्चक्रगुणान्याः कुम्भकारादृते यथा । न वदन्ति गुणं
 वैधादृते पादवयं तथा ॥ (सूत्रस्थान अ. ९) ।

तत्त्वाधिगतशास्त्रार्थो दृष्टकर्मा स्वयंरुती ।
 लघुहस्तः शुचिः शूरः रुखोपस्करभेषजः ॥१८॥
 प्रत्युत्पन्नमतिर्धीमान् व्यलसारी विशारदः ।
 सत्यधर्मपरो यश्च स सिष्यक् पाद उच्यते ॥१९॥

१ तीर्थाधिगतशास्त्रार्थः..

(रोगीयुक्त—) जो प्रारंभिक के तब में प्रारंभ हो, मिलने
 प्रियिष्ठा के कर्म देने हुए हैं, स्वयं कर्म किये हुए हैं,
 कितना तब फलज हो, जो (अन्तर्गत) स्वच्छ रहता हो,
 जो शूर हो, राग प्रकाश की नाधननामत्री सज रहता हो
 ॥१८॥ जो समयमूचक हो, बुद्धिमान् हो, उन्साहयुक्त
 (Energetic) हो, विद्वान् हो और सत्य तथा धर्म पर हो,
 ऐसा (मनुष्य काम्य में) 'भिषक्पाद' कहा जाता है ॥१९॥
 आयुष्मान् स्वस्ववान् साध्यो द्रव्यवानान्मघानपि ।
 आस्तिको वैद्यनाप्यस्थो व्याधितः पाद उच्यते ॥२०॥

(रोगीयुक्त—) आयुष्मान्, स्ववान्, साध्य, श्रीमान्,
 आत्मवान् (मनःसंयमी), आस्तिक (ईश्वर गुरु देवताओं
 पर श्रद्धा करने वाला) और वैद्य के वाक्यों में विश्वास करने
 वाला ऐसा (मनुष्य) 'व्याधितपाद' कहा जाता है ॥२०॥

प्रशस्तदेशसंभृतं प्रशस्तेऽहनि चोद्धृतम् ।
 युक्ताभावं मनस्कान्तं मन्ध्वर्षारत्नान्वितम् ॥२१॥
 दोषघ्नमग्लानिकरसविचारि विपर्यये ।
 समीक्ष्य दत्तं काले च शैजं पाद उच्यते ॥२२॥

(आपत्सिद्धि—) उत्तम भूमि में उत्पन्न हुआ, शुभ दिन
 में उगाड़ा हुआ, योग्य मात्रा में दिया हुआ, मनःप्रसन्नकर,
 संघ वर्ग और रत्न से युक्त ॥२१॥ दोषनाशक, ग्लानि न करने
 वाला, (दने में कुछ) विपर्यय होने पर भी विकार न करने
 वाला, (रोगी की) परीक्षा करके योग्य समय पर दिया
 हुआ (द्रव्य चिकित्सा का) 'भिषजपाद' कहलाता है ॥२२॥

वक्तव्य—प्रशान्देशसंभृत—३० वें अध्याय के २ सूत्र
 में वर्णित भूमि में उत्पन्न हुआ । दोषघ्न—जातादि दोषों और
 रतादि धातुओं की दृष्टि दूर करने वाला । समीक्ष्य—२५ वें
 अध्याय के दृग्भेद सूत्र में वर्णित विषयों के अनुसार परीक्षा
 करके ।

विचारोऽजुगुप्सुर्बलवान् युक्तो व्याधितरक्षणे ।
 वैद्यनाप्यकृदभ्रान्तः पादः परिचारः स्मृतः ॥२३॥
 इति सुश्रुतसंहिताया मूत्रस्थाने युक्तसेनीयो
 नाम चतुस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३४॥

(परिचारकगुण—) प्रेम करने वाला, हिन्दा न करने
 वाला, गलवान्, रोगी की रक्षा में (तन मन से) लगा
 हुआ, वैद्य की आज्ञानुसार कार्य करने वाला और अविभ्रान्त
 भ्रम करने वाला (मनुष्य) 'परिचारकपाद' कहलाता
 है ॥२३॥

वक्तव्य—अजुगुप्सुः—रोगी का स्वभाव या रोग कितना
 ही घृणाजनक क्यों न हो, रोगी की एक शब्द से भी दुरस्तर
 न करने वाला । बलवान्—दूसका विवरण पीछे २२वें पृष्ठ
 पत्र ५ के सूत्र की टीका में किया गया है । युक्तो व्याधितरक्षणे—
 रोगी की 'सूयस्तादिकरण' संवाहन स्वापनादि' परिचर्या
 (Nursing) में निपुण, यह भी इस पद का अर्थ हो सकता
 है । क्योंकि रोगी की रक्षा करने के लिये उत्तम परिचर्या बहुत
 ही आवश्यक होती है । चरक में हस्तलिये 'उपचारज्ञता' गुण
 परिचारक के गुणों में पहले निर्दिष्ट किया है—उपचारज्ञता
 क्षामतुगमथ भर्तारि । शौचं चित्ति चतुष्कोऽयं गुणः परिचरे न्तं ॥

(सू अ ९)। पाश्चात्य देशों में परिचर्या के लिये पुरखों की अपेक्षा परिचारिकाओं (Nurses) का प्रचार अधिक है। क्योंकि उनमें पुरखों की अपेक्षा परिचर्या के लिये आवश्यक गुणों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। चरक तथा चाण्डक के अनुसार उपर्युक्त प्रत्येक बाद के केवल चार गुण होते हैं और इस प्रकार चिकित्सा पोद्भागुण होती है—वरुण वाधरगुण त्रिकोप पदचतुष्टयम्। चतुष्टयं पीडककण भेषजनिमित्त भिन्नो भवति।

इति भास्कराचार्यो गोविन्दस्मृतौ विरचितानामनुवेदग्रहणदीपिकायां सुश्रुतभाष्यटीकायां सुश्रुतमेतयो नाम चतुष्टयस्योपनिषत् ॥३१॥

पञ्चत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथात आतुरोपक्रमणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरि ॥१॥

अब यहाँ से आतुरोपक्रमणीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

युक्तव्य—आतुरोपक्रमणीय—चिकित्सा प्रारंभ करने के समय रोगी के विषय में जिन बातों का ज्ञान आवश्यक होना चाहिये, उनके सबध में लिखा हुआ अध्याय ।

आतुरमुपक्रममाणेन भिषजाऽऽयुराज्ञावेव परीक्षितव्यः सत्यायुषि व्याध्यूत्वग्निप्रियोदेहद्वयलसत्य-सात्म्यप्रवृत्तिमेवजदेशान् परीक्षेत ॥२॥

(आयु परीक्षणमहाय—) रोगी की चिकित्सा प्रारंभ करने वाले वैद्य को प्रथम (रोगी की) आयु की परीक्षा करनी चाहिये। यदि आयु (वैद्य) ही तो व्याधि, कृत्व, अग्नि, वय, देह, बल, सत्व, साम्य, प्रकृति, भेषज और देय इन (सब बातों) की परीक्षा करे ॥२॥

युक्तव्य—मनुष्य अल्पायु, मध्यमायु या दीर्घायु है। इस विषय की परीक्षा मनुष्य के शरीर के सामान्यलक्षण, शरीर का प्रमाण (अंगुलियों के हिसाब से), वातादिक प्रकृति और चिकित्सा के समय अरिष्टदर्शन इन चार उपायों से होती है—प्रमाणानुभवत्वेधिरियमनोविकिचेत्दीना विट्मिलक्षणे स्वल्पवेदनिमित्तं । देहप्रकृतिव्यक्तमिच्छन् चैपरिष्टमात्र प्रमा णमालुर्देहं (चरक) । इनमें से अरिष्टों का विचार प्रीति हो चुका है। देहलक्षण और शरीरायाम इन दोनों का विचार नीचे किया है। चरक और चाण्डक के अनुसार यहाँ आयु परीक्षा की दृष्टि से देहप्रकृति का महत्त्व यद्यपि नहीं धनलाया है, तथापि शरीरस्थान में प्रकृतियों का वर्णन करते समय कम से कम पित्तप्रकृति के संबंध में लिखा है—मध्यमानुष भवति। प्रकृति के अनुसार आयुमान केमा हाता है—भेषाण आयुमानश्च भवति। पित्ता मध्ययुगो भवति । वनला मध्ययु पक्ष भवति ॥ (चरक) ॥ इसलिये रोगी की प्रकृति का विचार करके भी आयु की परीक्षा करना उपकारक होगा। रोगी की आयु की परीक्षा सभ प्रकार से इसलिये करना आवश्यक है कि उस परीक्षा के उपर चिकित्सा में गय अपथय निर्भर

होता है—भौषधे भंगत मन्यो ह्यथाथ विविधा क्रियाः । यत्त्व युनयन निष्यन्ति न निष्यन्ति गन्तव्यि ॥ (चोगरवाकर) ।

तत्र स्वन्धललाटं

विस्तीर्णभ्रूस्तनान्तरोरस्कं ह्रस्वजह्नुमेदूमीयं गम्भीरं सत्यस्तरनाभिमुद्यौबद्धस्तनमुपधिपतमहारीमशकण्ठे पश्चान्मस्तिष्कं स्नातानुलितं मूर्धोऽनुपूर्या विनुप्य-माणशरीरं पश्चाच्च विनुप्यमाणद्वयं पुरणं जानी-याद्दीर्घायुः सत्ययमिति । तमेकान्तेनोपक्रमेत् । एभिलक्षणीयैरिपीरितैरल्पायुः मिथैर्मध्यमायुस्ति ॥३॥

(आयु लक्षण—) उनमें जिसके हाथ, पाँव, पार्श्व, पीठ, स्तनाग्र, दूँत, चेहरा, कंधा और ललाट (स्वाभाविक आकार से अधिक) बड़े हों, अंगुलियों के पोंरें, श्वास, नेत्र और भुजा (स्वाभाविक लंबाई से अधिक) लंबे हों, जिसकी भ्रुजिटी, स्तनमध्भाग तथा छाती विस्तीर्ण हो, जिसकी ऊँचा, लिंग और गर्दन छोटी हो, निमका सत्व (स्वभाव), स्वर और नाभि गंभीर हो, जिसके स्तन का भाग न बहुत ऊँचा न बहुत कटा हो, जिसके कान भासज विस्तीर्ण और लोमयुक्त हों, जिसकी खोपड़ी का पिठला भाग (गुदी Occipital region) अधिक उन्नत हो, छान कर अनुलेपण करने के पश्चात् मस्तक से जिसका शरीर सूखने लगता हो और हृदयप्रदेश का भाग म्व से पीछे सूखता हो, इन लक्षणों से युक्त मनुष्य को निश्चय से दीर्घायु समझना चाहिये और उसकी चिकित्सा निश्चित मन से करनी चाहिये। इनमें विपरीत लक्षणों से अल्पायु और मिश्र लक्षणों में मध्यमायु समझना चाहिये ॥३॥

भवन्ति चात्र—

गूढसन्धिसिराहायुः संदताद्गः स्थिरेन्द्रियः । उत्तरोत्तरसुक्षेत्रो यः स दीर्घायुरुच्यते ॥४॥ गर्मात्प्रभृत्यरोगो यः शनैः समुपचीयते । शरीरज्ञानविज्ञानैः दीर्घायुः समासतः ॥५॥

(दीर्घायु लक्षण) (शरीर मांसल होने के कारण) जिसमें सन्धि, सिरा और छाया गूढ होते हैं, जिसका शरीर हृद्द है, जिसकी इन्द्रियाँ स्थिर हैं, जिसका शरीर पैरों से लेकर शिर तक उत्तरोत्तर अधिकधिक सुगूढ है, यह मनुष्य दीर्घायु कहलाता है ॥४॥ सज्ञेय में माता के उदर में जन्म होने के दिन में जो नीरोग है, तथा निचका शरीर, ज्ञान और विज्ञान इनकी धीरे धीरे (बचोद्वय) वृद्धि होती है, उसे दीर्घायु समझना चाहिये ॥५॥

युक्तव्य—गूढमिनिराहायु—शरीर मांसज होने के कारण जिसमें सफावि भाग ऊपर को नहीं दिखाई देते। इय मनुष्य में ये रोग बाहर दिखाई देते हैं—सूक्ष्मता मिलान । उन्नेदनिश । (समह) । उत्तरोत्तरक्षेत्रे—इसका अर्थ हृदय के अनुसार ऊपर किया है। वही अर्थ संदीर्घ की दृष्टि में अधिक योग्य है। दूमरा अर्थ चक्र के अनुसार ऐसा है ।

जिसके खानदान में एक से एक अधिक दीर्घायु पूर्वज हो गये हैं—उत्तरोत्तरदीर्घायुःपुरुषकुलजातः, तेषु प्रभवस्थानमिह कुल-पुरुषाः ॥ कल्पना सुन्दर और नवीन है । ज्ञान—अध्यात्म ज्ञान । विज्ञान—भौतिक शास्त्रों का ज्ञान—शतैः समुपचीयते—शरीर की वृद्धि और ज्ञान विज्ञान की योग्यता अल्पवय में अधिक होना अल्पायु का लक्षण है—व्यंजनादिशुभा विद्या मेदोमेधादयो यशः । अल्पे वयसि यस्यैतन्न स जीवेत् कदाचन ॥ इसका अनुभव व्यवहार में अनेक बार मिलता है ।

मध्यमस्यायुषो ज्ञानमत ऊर्ध्वं निबोध मे । अधस्ताद्द्वयोर्यस्य लेखाः स्युर्व्यक्तमायताः ॥६॥ द्वे वा तिस्रोऽधिका वाऽपि पादौ कर्णौ च मांसलौ । नासाग्रमूर्ध्वं च भवेद्दूर्ध्वं लेखाश्च पृष्ठतः ॥७॥ यस्य स्युस्तस्य परममायुर्भवति लसतिः ।

(मध्यमायुलक्षण—) इसके पश्चात् मध्यमायु का ज्ञान मुझ से समझ लो । जिसके आँखों के नीचे दो, तीन या अधिक लंबी और स्पष्ट रेखाएँ दिखाई देती हैं, जिसके कान और पाँव मांसल होते हैं, नासाग्र ऊपर की ओर उठा हुआ होता है और पीठ पर ऊर्ध्वमुख रेखाएँ होती हैं ॥६-७॥ उसकी अधिक से अधिक आयुर्मर्यादा सत्तर वर्ष की होती है ।

जघन्यस्यायुषो ज्ञानमत ऊर्ध्वं निबोध मे ॥८॥ ह्रस्वानि यस्य पूर्वाग्नि-सुमहच्चपि मेहनम् । तथोरस्यवलीढानि न च स्यात्पृष्ठमायतम् ॥९॥ ऊर्ध्वं च श्रवणौ स्थानाशास्त्रा-चोच्चाशरीरिणः । हसतो जल्पतो वाऽपि दन्तमांसं प्रहृश्यते । प्रेक्षते यश्च विभ्रान्तं स जीवेत्पञ्चविंशतिम् ॥१०॥

(अल्पायुलक्षण—) इसके पश्चात् कनिष्ठ प्रकार की आयु का ज्ञान (लक्षण) मुझ से श्रवण कर ॥८॥ (आगे प्रदर्शित किये हुए प्रमाण की दृष्टि से) जिसके पोंवें छोटे और शिथ दूर्ध्व हो, तथा जिसकी छाती की पसलियाँ दबी हुई और पृष्ठ संकुचित हो ॥९॥ जिसके कान अपने स्थान से कुछ ऊँचे और नासा भी कुछ ऊपर चढ़ी हुई हो, हँसने या बोलने के समय जिसके दाँतों का मांस दिखाई देता हो और जो आँखों को फेरता हुआ दीखता हो, वह पच्चीस वर्ष की आयु तक जीता है ॥१०॥

वक्तव्य—अवलीढानि—यह पर्व का विशेषण है । पर्व संधियों के बीच का भाग । छाती की दृष्टि से पसलियाँ पर्व होती हैं । अवलीढ का अर्थ भङ्गित और पर्याय से निम्न या दबी हुई । स्वस्थ छाती साधारणतया अण्डाकार या दीर्घवृत्त होती है । इसका पार्श्विक परिमाण आगे पीछे के परिमाण की अपेक्षा अधिक होता है । जो बाल्यावस्था में अस्थिवक्रता (Rickets) आदि हड्डी के रोगों से बीमार होते हैं, उनकी छाती विकृत हो जाती है । कुछ लोगों में जन्म से ही छाती का आकार अस्वाभाविक होता है । छाती के अस्वाभाविक आकारों में पंखवत् (Mar), चपटी (Flat), कबूतर की भाँति (Pigeon), कुबड़ी (Rickety), बेलनाकार (Barrel shaped) इत्यादि आकार प्रधान हैं । विकृत छाती वाले

मनुष्यों में बढ़ता होने की अधिक संभावना होती है, जिससे कारण उनकी आयु अल्प हो जाया करती है ।

अथ पुनरायुषो विज्ञानार्थमङ्गप्रत्यङ्गप्रमाणसारा-नुपदेक्ष्यामः । तत्राङ्गान्यन्तराधिसकृथिवाहुशि-रांसि, तदवयवाः प्रत्यङ्गानीति । तत्र, स्वैरङ्गलैः पादाङ्गुष्ठप्रदेशिन्यौ द्व्यङ्गुलायते; प्रदेशिन्यास्तु मध्य-मानासिकाकनिष्ठिका यथोत्तरं पञ्चमभागहीनाः; चतुरङ्गुलायते पञ्चाङ्गुलविस्तृते प्रपदपादतलेः पञ्च-चतुरङ्गुलायतविस्तृता पाणिः; चतुर्दशाङ्गुलायतः पादः; चतुर्दशाङ्गुलपरिणाहानि पादगुल्फजङ्घाजालु-मध्यानि; अष्टादशाङ्गुला जङ्घा, जानूपरिघ्नच-द्वात्रिंशदङ्गुलमेवं पञ्चाशत्; जङ्घायाग्रसमावूरु ॥११॥

(शरीर प्रमाण—) अब आयुष्य के ज्ञान के लिये अंग और प्रत्यंग के प्रमाण तथा सार इनका उपदेश करते हैं । उनमें शरीर का मध्यभाग (अंतराधि), (दो) सन्धि, (दो) बाहु और शिर ये (छः) अंग हैं और उनके अवयव प्रत्यंग कहलाते हैं । उनमें अपने अंगुलों से पाँव के अँगूठे और प्रदेशिनी की लंबाई (नासून छोड़कर) दो दो अंगुल की होती है । प्रदेशिनी से मध्यमा, मध्यमा से अनामिका और अनामिका से कनिष्ठिका क्रम से पाँचवाँ भाग कम होती जाती है । प्रपद और पादतल चार अंगुल लम्बे और पाँच अंगुल चौड़े होते हैं । पाणि (पृष्ठी) पाँच अंगुल लंबी और चार अंगुल चौड़ी होती है । पाँव चौड़े अंगुल लंबा होता है । पादमध्य, गुल्फमध्य, जंघामध्य तथा जानुमध्य चौदह अंगुल परिणाह के होते हैं । जंघा अठारह अंगुल लंबी होती है । जानुसंधि से ऊपर (कटिसन्धि तक) का भाग बत्तीस अंगुल लंबा होता है और इस प्रकार (जंघा, जानु और ऊपर का भाग मिलकर) लंबाई पचास अंगुल होती है । जंघा के ससान ऊरु (अठारह अंगुल) लंबे होते हैं ॥११॥

वक्तव्य—अंग प्रत्यंग प्रमाण का नाप दर्शाने के लिये निम्न तीन शब्द प्रयुक्त होते हैं—१ आयाम—दैर्घ्य, लम्बाई, (Length) । २ विस्तार—व्यास, चौड़ाई (Breadth या greatest diameter) । परिणाह—परिवर्तुलता, घेरा, (Circumference) । परिणाह के सम्बन्ध में चक्रदन्त की निम्न टिप्पणी ध्यान में रखनी चाहिए—परिणाहपरिमाणं च यदुच्यते तन्मध्यस्थानस्य, तेनात्मपरिणाहयानेपु जंघाद्विपु मध्यस्थान-मेतज्ज्यम् ॥ शिर—सप्रीव शिर या शिरोप्रीव । यथोत्तरं पंचम भागहीनाः—अन्यास्तिस्रोऽणुल्यः क्रमेण द्व्यङ्गुलस्य पंचमभागेन हीनाः । (इन्दु) । मध्यमिका ६ अंगुल लंबी, अनामिका ६ और कनिष्ठिका ६ लंबी होगी । पाद—पाद के तीन विभाग होते हैं—१ प्रपद—अंगुल्यन्तरं पादाग्रम् । (इन्दु) । Part of the foot anterior to the arch । २ पादतल—पादतलम्, Arch of the foot । ३ पाणि—सुष्ठिका भाग पृष्ठी । इस पाद की लंबाई चौदह अंगुल इस प्रकार होती है—२ अंगुल-प्रदेशिनी, ४ प्रपद, ४ पादतल, और ४ पाणि ।

द्व्यङ्गुलानि चतुरङ्गुलिचतुर्दशान्नासापुटभागकर्तु-सूलतयनान्तराणि; चतुरङ्गुलानि मेहनचदनान्तर-

नासाकण्ठललाटप्रीयोच्छ्रयदृष्ट्यन्तराणि, द्वादशाङ्गुलानि भगविस्तारमेहननाभिहृदयप्रीवास्तनान्तरमुखायाममणिवन्धप्रकोष्ठस्यौल्यानि, इन्द्रयस्तिपरिणादांसपीठकूर्परान्तरायाम षोडशाङ्गुल, चतुर्विंशत्यङ्गुलो हस्त, द्वात्रिंशदङ्गुलपरिमाणौ मुञ्जी, द्वात्रिंशत्परिणादावूर्तु, मणिवन्धकूर्परान्तरं षोडशाङ्गुलं, तल पदचतुष्कुलायामविस्तारम् । बहुष्टमूलप्रदेशिनी ध्रुवपापाङ्गान्तरमध्यमाङ्गुल्यौ पञ्चाङ्गुले, अर्धं पञ्चाङ्गुले प्रदेशिन्यनामिके, सार्धत्रयङ्गुलौ कनिष्ठाङ्गुलौ ॥१२॥

दृष्य (अण्डगोळक), ठोरी, दाँत, (प्रत्येक) नासापुट का बाह्यभाग, कर्ण्यूल और आँसों का मध्यभाग ये दो दो अंगुल के होते हैं । शिभ्र (उष्णमरिहत्, उष्णययुक्त पदंगुल), व्यासमुख (पूर्वतया खुला हुआ मुख), नासाबंध, कर्षी, ललाट, प्रीवा और दृष्टिमंडल के बीच का अन्तर ये सब चार अंगुल होते हैं । योनिविस्तार, शिभ्र और नासिका का अन्तर, नासिका और हृदय का अन्तर, हृदय से प्रीवा मूल तक का अन्तर, दोनों सनों के बीच का अन्तर, चिबुक से ललाट के अन्त तक मुख का वैश्व तथा मणिवन्ध और प्रकोष्ठ का परिणाह ये सब बारह बारह अंगुल के होते हैं । अंधामध्य ('जवामध्ये इन्द्रबलिर्नाम') का परिणाह, कंधा और कोहनी के बीच का अन्तर ये सोलह अंगुल के होते हैं । कोहनी से मध्यमांगुलि के अग्र तक बीबीन अंगुल का हाथ होता है । दोनों भुज बचीस अंगुल के होते हैं । दोनों ऊरु प्रत्येक बचीस अंगुल परिणाह (पेरा) की होती हैं । मणिवन्ध से कोहनी तक की लम्बाई सोलह अंगुल की होती है । हथेली चार अंगुल चौड़ी और छ अंगुल लम्बी होती है । अग्रुप के मूल से तर्जनी का अन्तर, कान से नेत्र के बाह्यकोण का अन्तर तथा मध्यमांगुलि की लम्बाई प्रत्येक पाँच पाँच अंगुल की होती है । प्रदेशिनी और अनामिका साढ़े चार अंगुल की तथा मँगठा और कनिष्ठिका साढ़े तीन अंगुल की होती है ॥१२॥

चतुर्विंशतिविस्तारपरिणाह मुखप्रीव त्रिभागाङ्गुलविस्तारा नासापुटमर्यादा; नयनत्रिभागपरिणाहा तारका; नवमस्तारकायो दृष्टि, केशान्तमस्तकान्तरमेकादशाङ्गुल, मस्तकाद्वदुकेशान्तोदशङ्गुल, कर्णोवद्वन्तर चतुर्दशाङ्गुल, पुरुषोरप्रमाणविस्तीर्णास्त्रीश्रोणि, अष्टादशाङ्गुलविस्तारमुर; तत्रप्रमाणा पुरुषस्य कटी सविंशमङ्गुलशत पुरुषायाम इति ॥१३॥

चार अंगुल विस्तार का मुख और बीस अंगुल परिणाह की प्रीवा होती है । नासापुट का विस्तार १३ अंगुल का होता है । नेत्र का तिहाई कृष्णमंडल होता है । कृष्णमंडल का नवमांस दृष्टिमंडल होता है । (शलप्रदेश स्थित) केय

२ सार्धचतुर्गुले

मर्यादा से यिरोमध्यभाग ग्यारह अंगुल होता है । मस्तक मध्यभाग से प्रीवात्रिभाग का वेद्यान्त दशांगुल होता है । पिच्छली तारक से (अवदुन्दर्य से) दोनों कानों के बीच का अन्तर बीस अंगुल होता है । पुरुष क छाती के ममान विस्तार की बियों की श्रेणि हाती है । (स्त्रियों का) वक्षभाग अठारह अंगुल के विस्तार का होता है । और पुर्यों की कटि भी अठारह अंगुल के प्रमाण की (स्त्रीवश के प्रमाण के समान) होती है । (इस प्रकार) पुरुष की संवाई एक सौ बीस अंगुल की होनी है ॥१३॥

धृक्वन्ध—तारका—कृष्णमण्डल । इसको कोर्निआ (Cornea) कहते हैं—नेत्रायामविभाग तु कृष्णमण्डलमुच्यते । (उत्तरतन्त्र, अ०-१) । दृष्टि—पुतली, इसको प्यूपिल (Pupil) कहते हैं । दृष्टिमण्डल आँस के पर्दे (Iris) का छेद है । उत्तरतन्त्र में इसका परिमाण ३ दिया है—कृष्णाय सप्तमिच्छन्ति दृष्टि दृष्टिविराटा ॥ इस मनभिन्नता का कारण दृष्टिमण्डल की परिवर्तनशीलता माहस्य पदता है । जिसमें दृष्टिमण्डल है, वह आँस का पर्दा मरततन्तुओं से बना है । इनमें कुछ तन्तु चक्रवर्तुलकारक लगे हैं और कुछ पहिये के अरों के समान लगे रहते हैं । चक्राकार तन्तुओं के संकोच से पुतली छोटी और अराकार तन्तुओं के संकोच से मोटी हो जाती है । दृष्टिमण्डल के परिमाण का परिवर्तन द्रव्य वस्तु की दूरता, समीपता तथा प्रकाश की तीव्रतादृष्टता के अनुसार सदैव बदलता रहता है । इच्छयाचार्य के अनुसार सप्तमांस दृष्टिमण्डल सामान्य मनुष्यों के लिये और नवमांस दृष्टिमण्डल महापुरुष और पृणायुवों के लिये है—येष्वे तदिं भातुरोपकमणीये नवमस्तारकायो दृष्टि' इति कथमुक्तवाद् । सत्यम्, महापुरुषाणां पूर्णायुषां भिन्नविषयमभिधानमिति न दीप ॥ अथ—गुही (Nape of the neck) । सविशमगुलशत पुरुषायाम—चरक में पुरुष की संवाई चौरासी अंगुल वर्णन की है—केवल पुत्र शरीरगुलि-पर्याणि चतुरशीति । तदयामविस्तारमयम समुच्यते । (विमान, अ ८) । अष्टांगसप्तह तथा अष्टांगहृदय में भी पुरुषायाम का बड़ी परिमाण दिया है—सर्व पुत्र शरीरगुलानि चतुरशीति । स्व स्व इत्ययं सार्धं वयु पात्र सुबाधुषो । स्वयद्धार में नाप के लिये चौरासी अंगुल का ही पुरुष का परिमाण होता है—चतुरशीत्युलो व्यासो रजतमान सातपौष च । (कीटिलीय अर्थशास्त्र, अ ४१) । इससे एक सौ बीस अंगुल का सुधुत का पुरुष चरकदि क चौरासी अंगुल के पुरुष से बिलकुल निम्न है, ऐसा आभास होता है । परन्तु यदि केवल आयाम (Length या Height) के आवश्यक सुधुतगत प्रत्यंगमार्गों की तुलना चरकोक उन प्रत्यंगमार्गों के साथ की जाय तो (नीचे काहक देखो) यह विरोधाभास दूर हो जाता है ।

प्रत्यंग मानतुलना

प्रत्यंग नाम	सुधुत	चरक
पार्श्वि	५	४
जंवा	१८	१८
जातु	४	४
ऊरु	१८	१८
मेहनग्यन्तर (बलिगिर)	१२	१०

नाभिहृदयान्तर	१२	१२
हृदयप्रीवान्तर	१२	१२
प्रीवा	४	४
आनन या मुख	१२	१२
सिर	११	६
प्रत्यंगायाम योग	१०८	१००

इनमें केवल सिर के मान में फर्क मालूम पड़ता है, परन्तु वह भी वास्तविक नहीं है। क्योंकि सुश्रुत का नाप देवा है और चरक का सीधा $\frac{1}{2}$ है—केशान्तमस्तकान्तरमेकादशांगुलम् । (सुश्रुत) । पदंगुलितेभ्यः शिरः । (चरक) । भूमिति की दृष्टि से सुश्रुतोंक एकदशांगुल चरकोंक पदंगुल ही हो जाते हैं। चक्रपाण्डित सुश्रुत की भानुमती टीका में पुरुष का आयाम १२० अंगुलि सही समझते हैं और चरक-सुश्रुत-विरोध का परिहार सुश्रुतोंक अंगुलिमान अल्प मानकर करते हैं—सुश्रुतेन समं योऽत्र मानविरोधः सोऽत्रांगुलिमानभेदाच्छमयितव्यः । तत्र हि सर्विरामंगुलिशतं पुरुषमानमुक्तम् । तेन तत्रांगुलिमानमेवात्सं शेषम् । (चरकटीका) । परन्तु ऊपर कोष्टकस्थ नौनों के प्रत्यंगमान की तुलना करने से चक्र का कथन अर्थार्थ है, इसमें कोई संदेह नहीं होगा। क्योंकि परिमाण अल्प होने पर सुश्रुत का प्रत्येक प्रत्यंग मान चरक के मान से अधिक होना आवश्यक है। ऊपर कोष्टक देखने से यह स्पष्ट होगा कि प्रत्यंग मान जोड़ने से पुरुषायाम चौरासी अंगुल से अधिक होता है। यह अधिकता प्रत्यंगसीमाप्रान्त दोहरा नाप जाने से उत्पन्न होती है, वान्धिक नहीं है। यदि प्रत्यंगों के मान का ख्याल न रखकर केवल पुरुषायामनापाजायतीवहचौरासी अंगुल ही होगा—अत्र च प्रत्यवयवोत्सेवेन चतुरशीत्यंगुलादधिकं यच्छरीरं भवति तदवयवानामवयवान्तदैर्घ्यानुप्रविष्टानां ग्रहणात्, तेन प्रत्यवयवदैर्घ्यमानेन न चतुरशीत्यंगुलं गणनीयं किन्तु समुदितमेव शरीरम् । (चक्रपाण्डित, चरकटीका) । अब प्रश्न यह उठता है कि जब चरक और सुश्रुत के पुरुषायाम में अन्तर है तब सुश्रुत के एक सौ बीस अंगुल का क्या अर्थ है ? इसके उत्तर में बल्ह्याचार्य लिखते हैं कि पादाग्र पर खड़े हुए और ऊपर हाथ उठाये हुए पुरुष का पादाग्र से लेकर हस्ताग्र तक का यह आयाम है—विशत्या अंगुलैः सह शतं सर्विशमहृत्शतं पुरुषायामः पादाग्रावस्थितस्योर्ध्वबाहोः पुरुषस्य दैर्घ्यम् ॥ यह विरोधपरिहार यथार्थ है, क्योंकि पादाग्र पर खड़े होने से करीब दस अंगुल आयाम बढ़ सकता है और हाथ ऊपर उठाने से छत्तीस अंगुल के लगभग फिर बढ़ता है। इस तरह छत्तीस अंगुल चौरासी में मिलाने से पुरुष का आयाम एक सौ बीस अंगुल हो जाता है।

भवन्ति चात्र—

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे ।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक् ॥१४॥
पुरुष (अपनी आयु की) पच्चीस वर्ष की अवस्था में और स्त्री सोलह वर्ष की अवस्था में परिपूर्ण वीर्य होते हैं, ऐसा कुशल वैद्य समझे ॥१४॥
वक्तव्य—समत्वागतवीर्यौ—जिनका वीर्य यानि शक्ति या रसरक्तादि सप्तधातु समत्व को परिपूर्णता को प्राप्त हुए हैं।

ऊपर दीर्घायु स्त्री पुरुष के अंग प्रत्यंग के जो प्रमाण दिये हैं, वे इस परिपूर्ण धातु की अवस्था को प्राप्त हुए लोगों के लिये लागू होते हैं। इसके पहले शरीर धातु अपरिष्कृत होते हैं। स्त्री और पुरुष जब यौवनावस्था में पदक्षेप करते हैं तब स्त्रियों में आर्तव और स्त्रीबीज (Ova) और पुरुषों में वीर्य धनना आरंभ होता है। इसका साधारण काल स्त्रियों में चारह वर्ष का और पुरुषों में सोलह वर्ष का होता है। इस अवस्था में स्त्री और पुरुषों की बीजप्रणियों में ऐसी वस्तु बनती है, जो रक्त के साथ शरीर के विविध अंग प्रत्यंगों में पहुँचकर उनको प्रयत्न और पुष्ट बनाती है। इस कार्य के लिये कुछ वर्षों का काल आवश्यक होता है। इसके पहले यदि सन्तानोत्पत्ति का कार्य किया जाय तो स्त्री और पुरुष दोनों अपरिपूर्ण धातु होने के कारण उनकी संतति निर्बल होती है और स्वयं उनके शरीर की वृद्धि भी कमी पूर्ण नहीं हो सकती है—Several years after puberty neither the male nor the female has arrived at sufficient maturity to produce healthy offspring. There is no doubt the first activity of the generative function should be expended in energising the individual rather than in propagation of the species, *Esoteric Anthropology*. अन्य प्राणियों के समन्वय में जो अनुभव है, वह मनुष्यों के समन्वय में भी है और इसी अनुभव के आधार पर आगे शरीर के १० वें अध्याय में लिखा है—जनपोदशवर्षायामप्राप्तः पंचविंशतिम् । यथापत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिः स विपद्यते ॥

देहः स्वैरकुलैरेष यथावदनुकीर्तितः ।

**युक्तः प्रमाणेनानेन पुमान् वा यदि वाऽङ्गना ॥१५॥
दीर्घमायुरवामोति वित्तं च महदृच्छति ।**

मध्यमं मध्यमैरायुर्वित्तं हीनेस्तथाऽवरम् ॥१६॥

अपने अपने अंगुलों से देह (का प्रमाण) सम्पूर्णतया वर्णन किया गया है। जो पुरुष अथवा स्त्री शरीर के इस योग्य प्रमाण से युक्त होती है ॥१५॥ वह दीर्घ आयु को और संपत्ति को (अथवा शरीर में संपत्ति को) प्राप्त होती है, मध्यम प्रमाणाँ से युक्त मध्यमायु और मध्यम राशि में धन को प्राप्त होती है और हीन प्रमाणाँ से युक्त अल्पायु और अल्पवित्त को प्राप्त होती है ॥१६॥

वक्तव्य—चरक में सम, अधिक और हीन ये तीन शरीर के प्रमाणाँ वर्णन किये हैं। सुश्रुत में जिसको युक्तप्रमाण कहा है, उसको चरक में समप्रमाण कहा है—तदायामविस्तारसमं समुच्यते । तत्राशुर्वल्लोमजः सुखमैश्वर्यं वित्तमिष्टाश्वापरे भावाभवन्त्यायत्ताः प्रमाणवति शरीर । निरर्पयस्त्वतो हीनेऽधिके वा ॥ यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि आजकल शरीर नापने के लिये जो 'इंच' (Inch) का नाप प्रयोग होता है, वह व्यक्ति निरपेक्ष है। इसलिये इंच की दृष्टि से जिनका शरीर समप्रमाण है, ऐसे व्यक्ति देखने में भी सम होते हैं। परन्तु यहाँ वर्णन किया हुआ अंगुलि का नाप व्यक्तिसापेक्ष यानि प्रत्येक व्यक्ति में बदलने वाला होने के कारण जिनका शरीर समप्रमाण है ऐसे दो व्यक्तियों में से एक व्यक्ति

छोटा और नाटा तथा दूसरा मोटा और ऊँचा हो सकता है। पुरुष की एगुं ऊँचाई एक ही बीस अंगुलि जो ऊपर वर्धन की है, वह पादाग्र से हाथ ऊपर उठामे हुए पुरुष की है। वैसी ऊँचाई केवल बीसवीं अंगुलि की होती है—केवल पुन शरीरगुलि-प्राप्ति चतुरशीतिसप्तदशमविसारमम समुच्यते ॥ (चरक) ।

यथ सारान् यद्ययामः—स्मृतिभक्तिप्रज्ञाशौच-शौचोपेतं कल्याणमिनिवेशं सत्त्वसारं विधातः; क्षिग्धसंहतश्वेतास्थिदन्तनखं बहुलकामप्रजं शुकेण; अकृशमुत्तमयलं क्षिग्धगम्भीरस्वरं सौभाग्योपपन्नं महानैत्रं च मज्जा; महाशिरःस्कन्धं हृददन्तहृन्व-स्थिनखमस्थिमिः; क्षिग्धमूरस्वेदस्वरं बृहच्छरीर-मायासासद्विष्णुं मेदसा; अच्छिद्रगात्रं गूढास्थि-सन्धिं मांसोपचितं च मांसिन, क्षिग्धताघ्ननखनयन-तालुजिह्वौष्ठपाणिपादतलं रकेन, सुप्रसन्नमृदुत्वप्रो-माणं त्वक्सारं विधादिति । यथां पूर्वं पूर्वं प्रधान-मायुःसौभाग्ययोरिति ॥१७॥

(सार—) सब सार का वर्धन करते हैं । जो स्थिति, भक्ति, बुद्धि, शौच और पावित्र्य इन गुणों से युक्त तथा शुभ कार्यों में यत्नशील होता है, वह मनुष्य 'सत्त्वसार' समरूना चाहिये । चिन्त, धन और श्वेत अस्थि दंत और नखयुक्त, प्रबल काम वासना युक्त और अधिक सतान युक्त मनुष्य 'शुक्र सार' का होता है । कृपातरहित, उत्तम बल युक्त, क्षिग्ध और गंभीर स्वर युक्त, सौभाग्ययुक्त और महानेत्र मनुष्य 'मज्जासार' का होता है । जिसका शिर और कंधा बड़ा है, जिसके दाँत, हनु, अस्थि और नासुत मज्जुत हैं, ऐसा मनुष्य 'अस्थिसार' का होता है । जिसके मूत्र, स्वेद और स्वर में क्षिग्धता होती है, शरीर बड़ा होता है और परिश्रम सहने का सामर्थ्य नहीं है, वह मनुष्य 'मेदुसार' का है । जिसके शरीर पर कहीं भी निम्नता नहीं होती, जिसके अस्थि और संधि (मांस से) पूर्णतया गूढ़ होते हैं, तथा जिसका शरीर मांसल होता है, वह मनुष्य 'मांससार' का होता है । जिसके नख, नेत्र, तालु, जिह्वा, होंठ, हृत्प्ली और पाँव के तलुओं क्षिग्ध ताक्षर्य होते हैं, वह 'रक्तसार' का मनुष्य होता है । जिसकी त्वचा और रोम सुमयत्र और कोमल होते हैं, वह मनुष्य 'त्वक्सार' का समरूना चाहिये । इनमें से पहले पहले सार आयु और सौभाग्य की दृष्टि से प्रधान होते हैं ॥१७॥

यत्कथ्य—सार—'निद्रुद्वयो वापुस्त्वयो' । (चक्रपाणि) । सत्त्वसार—सत्त्वगुणविशिष्ट मनुष्य । सत्त्वमुच्यते मन, तद्व त्रिविधं ब्रह्मेतन् प्रवर प्रथममदरं वेत्ति । तत्र प्रवत्सालो हारुपुदिता । ते निब्रह्मन्निमित्तगुण इहैतथवि धीवास्तत्त्वापा हृत्पन्ते सत्त्वगुणवैशेष्यम् । (चरक) । पूर्व पूर्व प्रधान—इसमें त्वक्सार से रक्तसार, रक्तसार से मांससार, मांससार से मेदुसार, मेदुसार से अस्थिसार, अस्थिसार से मज्जासार, मज्जासार से शुक्रसार और शुक्रसार से सत्त्वसार मनुष्य आयु सौभाग्य की दृष्टि से अधिकाधिक प्रबल समरूना चाहिये । जो सर्वसारों से युक्त

होते हैं, वे निद्रु गुणों से परिपूर्ण होते हैं—तत्र सर्वे. सारस्वत पुरुषा भवन्त्यपिक्ता. परमौत्कृष्टका कैशसता सर्वारम्भेष्वर्थात् अतप्रत्यया कल्याणमिनिवेशिन मन्दब्रह्मे मन्दविकारा प्राय सुखगुणविशीर्णपापक्षिरजीविनश्च प्रायो भवन्ति ॥ (चरक) ।

विशेषतोऽङ्गप्रत्यङ्गप्रमाणाय च सारतः । परीक्षायुः सुनिपुणो भिषक् स्थिच्यति कर्मसु ॥१८॥ विशेष करके अंगप्रत्यंग के प्रमाय से तथा (धात्वादि के) सार से आयु की परीक्षा करके कृपाल वैद्य चिकित्सा में सिद्धि प्राप्त करता है ॥१८॥

यत्कथ्य—विशेष—दूत, पथि धौत्यादिक, ज्ञाना शरीर स्वभावविप्रतिपत्ति इत्यादि रिष्टाधिकार में वर्णन किये हुए लक्षणों के अनुसार आयुर्मर्यादा की सामान्य परीक्षा होती है । विशेष परीक्षा अंग प्रत्यंग प्रमाण और सार से होती है । चरकसंहिता में सार परीक्षा का महत्व बल विज्ञान के शिपे भी वर्णन किया है—साप्यष्टौ पुरुषाणां बलमानविशेषज्ञानार्थमु-द्रियन्ते । इत्यन्ते बलशरीरा कृशाक्षैके बलवन्त । तत्र पिपीलिका-मारुत्तलान्द सिद्धितश्च सारत परीचेत ॥

व्याधिविशेषास्तु प्रागभिहिताः; सर्वे पवैते त्रिविधाः—साध्या, याप्याः, प्रत्याख्येयाश्च । तत्रै-तान् भूयस्त्रिधा परीक्षेत—किमसावौपसर्गिकः; प्राक्षेयलोऽन्यलक्षण इति ॥१९॥

(व्याधि के तीन प्रकार—) व्याधियों के विशेष पहले ही (अध्याय १, सूत्र २३) वर्णन हो चुके हैं । ये सर्व विशेष तीन (में से एक) प्रकार के होते हैं—१ साध्य, २ याप्य, और ३ असाध्य । इन व्याधियों की फिर आतुरोपक्रम्य के समय (तत्र) तीन प्रकार से परीक्षा करे कि वह व्याधि (१) औपसर्गिक है, या (२) प्राक्षेयल है, या (३) अन्य लक्षण है ॥१९॥

यत्कथ्य—विशेष—भेद । यथा शारीरादिक चतुर्विध और आदिकलप्रवृत्तादिसमविध । साध्य, याप्य और प्रत्याख्येय—इनका निर्देश तथा याप्य व्याधि का लक्षण कृत्याकृत्यविधि नामक तेहसवें अध्याय में वर्णन हो चुका है । साध्य और प्रत्याख्येय का लक्षण चरकसंहिता में ऐसा दिया है—देवत पूर्वकृपाणि कृपाण्यत्वानि तस्य च । न च तुल्यगुणो दूषो न दोषः प्रकर्मिर्भेदः ॥ न च बालपुत्रालुलो नदरो दुःखप्रम । गनिरका नवस्य च ऐगस्यो बदरो न च ॥ दीर्घश्च. मनुष्यो देहः सशौचशुभ । चतुर्धाशौपरतिथ सुलभस्यैव लक्षणम् ॥ सुलभाय मुक्तोप्य कामेनत्वेन सार्था ॥ प्रत्याख्येय विशेषम् ॥ क्रियाधमभिक्रान्त सर्वमार्गानुमारिणः । भौतुत्कारनिगमेहकर्मनिश्चिनरानम् । दुर्बल्य सुगुण्य व्याधि साधे हेतव्ये च ॥ यतोऽप्याथ किना सर्वा प्रत्याख्येयोऽनितर्भे ॥

तत्र, औपसर्गिको यः पूर्वोत्पद्यं व्याधिं अपन्य-कालज्ञातो व्याधिरुपसृजति स तन्मूलमूलक एयो-पद्रयसंज्ञः; प्राक्षेयलो यः प्रागेवोत्पन्नो व्याधिरपूर्व-रूपोऽनुपद्रयश्च; अन्यलक्षणो यो भविष्यद्ग्राधि-क्यापकः; स पूर्वरूपसंज्ञः ॥२०॥

(तीनों के लक्षण—) उनमें जो पहले उत्पन्न हुई व्याधि के उत्तर काल में उत्पन्न होता है, उसी व्याधि के साथ मिलता है, तथा पहले व्याधि के मूल में ही जिसका मूल है, वह औपसर्गिक या उपद्रव संज्ञक व्याधि है। प्राक्केवल व्याधि वह है, जो पहले ही उत्पन्न होकर पूर्वरूप संज्ञक व्याधि नहीं है, तथा उपद्रव संज्ञक व्याधि नहीं है। अन्य लक्षण व्याधि वह है, जो भविष्य में होने वाली व्याधि की सूचना देता है। वही पूर्वरूप भी कहलाता है ॥२०॥

वक्तव्य—औपसर्गिक—इस प्रकार के व्याधि को 'अनुबंध' 'अप्रधान' या 'परतन्त्र' भी कहते हैं। अंग्रेजी में इसको सेकण्डरी (Secondary) कहते हैं। चरक में इसका लक्षण ऐसा दिया है—उपद्रवस्तु खलु रोगोत्तरकालो रोगाश्रयो रोग एव स्थूलोऽणुर्वा रोगात्पश्चाज्जायत इति उपद्रवसंश्रुः ॥ तन्मूलकः—पूर्वोत्पन्न व्याधि के जो असात्म्येन्द्रियार्थादि यास्य कारणा तथा वातादि आभ्यंतर कारण, उन कारणों से ही उत्पन्न हुआ। उपद्रव की व्याख्या कई स्थानों में इस अर्थ की दृष्टि से की गई है—'रोगारम्भकद्रोपप्रकोपजन्योऽन्यो रोग उपद्रवः' । रोगारम्भकः पश्य प्रकोपादुपजायते । योऽन्यो विकारः स शुभे रूपद्रव श्लोदितः ॥ भावप्रकाश) चक्रपाणिदत्त भी उपरोक्त चरकसंहिता के रोगाश्रय शब्द की टीका में लिखते हैं—रोगोत्पादकद्रोपप्रकोपजन्यतया रोगेण समनुत्पत्त्यकारणः ॥ 'तन्मूल' ऐसा भी पाठ है। यह गठ व्यावहारिक दृष्टि से योग्य है और इसी दृष्टि से चरकसंहिता के निदानस्थान में लिखा है—निदानार्थकरो रोगो रोगाश्रयुपलभ्यते । कश्चिद्वि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति । न प्रशाम्यति चाप्यन्यो हेत्वर्थं कुरुतेऽपि च ॥ परंतु वहाँ भी चक्रपाणिदत्त अपनी टीका में लिखते हैं—रोगजन्येऽपि रोगे मूलभूतासात्म्येन्द्रियार्थादिकारणत्रयमेव कारणं भवतीति । न च चतुर्थकारणान्तिरिति प्रसंगो वाच्यः ॥ प्राक्केवलः—इसी को 'प्रधान', 'स्वतन्त्र', 'अनुबन्ध' ऐसा भी कहते हैं। अंग्रेजी में इसको 'प्राथमरी' (Primary) कहते हैं। अपूर्वरूपोऽनुपद्रवश्च—इसका अर्थ 'पूर्वरूप और उपद्रव रहित तिलकालकन्यच्छादिक व्याधि' ऐसा किया गया है, परंतु वह योग्य नहीं है। क्योंकि इससे उपद्रव और पूर्वरूप युक्त अनेक व्याधियों का समावेश यहाँ निर्दिष्ट किये हुए किसी भी वर्ग में नहीं होता। इसके सिवाय प्राक्केवल व्याधियों से ही उपद्रव रोग उत्पन्न होते हैं, ऐसा चरक में स्पष्ट लिखा है—ते पूर्वं केवल रोगाः पश्चाद्वैत्वर्थकारिणः ॥ इसलिये शास्त्र और व्यवहार इनका विरोध न रखते हुए इस शब्दसमूह का अर्थ निम्न प्रकार से करना अधिक सयुक्तिक है। जो जन्म से ही (प्रागेव) अपूर्वरूप (पूर्वरूपेतर, जो पूर्वरूप वर्ग का व्याधि नहीं है, ऐसा) और अनुपद्रव (उपद्रवेतर, जो उपद्रव वर्ग का व्याधि नहीं है) ऐसा व्याधि प्राक्केवल होता है। अन्यलक्षण—शरीर के भीतर रोग पूर्ण प्रगल्भ होने के पहले उसकी उत्पत्ति सूचक लक्षण युक्त रोग। इसको अंग्रेजी में 'प्रोडोम' या 'प्रीमानिटरी स्टेज' (Prodrome or Premonitory Stage) कहते हैं। यह वास्तव में रोग न होकर रोग की पूर्वावस्था है। पाश्चात्य वैद्यक में व्याधि के केवल दो ही भेद किये जाते हैं—(१) प्राक्केवल और (२) औपसर्गिक। यहाँ यद्यपि अन्यलक्षण व्याधि का तीसरा भेद

कहा गया है तथापि साधारणतया आयुर्वेद में भी अन्यलक्षण व्याधि का महत्त्व पूर्वरूप से अधिक नहीं होता।

तत्र, सोपद्रवमन्योन्याविरोधेनोपक्रमेत, धलन्तमुपद्रवं वा; प्राक्केवलं यथास्वं प्रतिकुर्वीत; अन्यलक्षणे त्वादिव्याधौ प्रयतेत ॥२१॥

(तीनों की चिकित्सा विधि—) उनमें उपद्रवयुक्त व्याधि की चिकित्सा दोनों का (मूल व्याधि और उपद्रव) विरोध जिस प्रकार से न हो, उस प्रकार से करनी चाहिये। अथवा धलवान् उपद्रव की चिकित्सा (प्रथम) करनी चाहिये। प्राक्केवल व्याधि में उसी की विशेष चिकित्सा करे। अन्यलक्षण व्याधि में व्याधि की प्रथमावस्था की चिकित्सा करे ॥२१॥

वक्तव्य—अन्योन्याविरोधेन—उपद्रवयुक्त व्याधि की चिकित्सा उपद्रव के बलायल के अनुसार की जाती है। परंतु चिकित्सा में कदापि भी उपक्रम विरोध नहीं होना चाहिये। यदि उपद्रव दुर्बल हो तो मुख्यतया चिकित्सा मूल व्याधि की उपद्रव से विरोध न करते हुए करनी चाहिये। इसी दृष्टि से चरक में लिखा है—तस्य प्रायः प्रधानप्रसंगे प्रशमो भवति । परंतु जय उपद्रव बलवान् होता है और दुर्बल शरीर को बहुत पीड़ा देता है तब मुख्यतया और प्रथम उसी की चिकित्सा मूल रोग से विरोध न करते हुए करनी चाहिये। त्वरित वा बलवन्तमुपद्रवं प्रधानाविरोधेन । (अष्टांगसंग्रह) । कभी कभी प्रधान रोग का उपशम होने पर भी उपद्रव शांत नहीं होता, तब पश्चात् उपद्रव की ही स्वतंत्र चिकित्सा करनी चाहिये—तेषामनुपशाम्यतो वा पश्चात्तानुपक्रमेत् । (अष्टांगसंग्रह) । आदिव्याधिः—व्याधेरादिः प्रथमावस्था इति आदिव्याधिः । व्याधि की प्रथमावस्था। इस अवस्था में भविष्यद् व्याधि के अनुसार चिकित्सा करने से रोगी को आराम मिलता है या रोग रूक जाता है—ज्वरस्य पूर्वरूपेषु वर्तमानेषु बुद्धिमान् । पाययेत घृत स्वच्छं ततः स लभते सुखम् ॥ विधिर्माल्तिजेषु पित्तिकेषु चिरंचनम् । गृध्र प्रच्छेदनं तद्वत् कफेषु विधीयते । (सुश्रुत) । पूर्वरूप विकारणां दृष्ट्वा प्रादुर्भविव्यताम् । या क्रिया क्रियते सा च वेदनां हन्यनगताम् ॥ (चरक) । पाश्चात्य वैद्यक में भी प्रधान, अप्रधान और पूर्वरूप इन रोगों की चिकित्सा करने की यही पद्धति होती है।

भवति चात्र—

नास्ति रोगो विना दोषैर्यस्मात्तस्माद्विचक्षणः ।

अनुक्तमपि दोषाणां लिङ्गैर्व्याधिमुपाचरेत् ॥२२॥

(अनुक्त रोग चिकित्सा—) चूँकि दोषों के बिना रोग नहीं होता। इसलिये अज्ञात रोग की चिकित्सा दोषों के लक्षणों के अनुसार चतुर वैद्य करे ॥२२॥

वक्तव्य—अनुक्त—रोग अज्ञात दो प्रकार से हो सकता है—(१) ज्ञात रोग जिसका निदान (Diagnosis) हुआ नहीं। ऐसे उदाहरण व्यवहार में बहुत हुआ करते हैं। (२) वैद्यक में अनिर्दिष्ट नामधेय व्याधि या विलकुल नई व्याधि, जिसका जिक्र कहीं भी मिलता नहीं। ऐसे उदाहरण बहुत थोड़े होते हैं। परंतु इस प्रकार की संभावना की कल्पना प्राचीन आयुर्वेद के ग्रंथों में स्पष्ट वर्णन की है। त एवापरिख्येया भियमाना भवन्ति हि । रूपावर्णसमुत्थानस्थानसंस्थाननामभिः

विकारनमपुरले न मिथीया कदाचन । न हि सर्वविकारणां नभोऽस्ति भ्रवा किति ॥ (चरक) ॥ वास्तव में रोगों के नाम व्यवहार प्रयोजन के लिये जितने उपयोगी होते हैं, उतने चिन्ता या प्रयोजन के लिये नहीं होते । चिकित्सा में दोष विज्ञान या 'मृकृति विकारज्ञान' (Pathology) उपयोगी होता है । उसके अनुसार चिकित्सा करने से रोग अज्ञात होते हुए भी सफलता मिल सकती है । पाश्चात्य वैद्यक में भी जब तक रोग का निदान नहीं होता है, तब तक आचार्यिकी या लक्षणिक चिकित्सा (Symptomatic treatment) ही की जाती है ।

प्राग्भिहिता क्रतवः ॥२३॥

शीते शीतप्रतीकारमुष्णे क्षौष्णनिवारणम् ।
 कृत्वा कुर्यात् क्रियां प्राप्तां क्रियाकालं न ह्यपयेत् ॥२४॥
 अम्राते या क्रियाकाले प्राप्ते या न कृता क्रिया ।
 क्रिया हीनाऽतिरिक्त्वा या साध्येष्वपि न सिध्यति ॥२५॥
 या ह्यूर्ध्वे शमयति नान्यं व्याधिं करोति च ।
 सा क्रिया न तु या व्याधिं ह्यत्यस्यमुदीरयेत् ॥२६॥

(क्रतु के अनुसार चिकित्सा—) क्रतुओं का वर्णन पहले (कृत्यवर्णनाय में शीतोष्णादि की दृष्टि से) कर चुके हैं ॥२३॥ (इसके अनुसार) शीतकाल में शीत का प्रतिकार और उष्ण काल में उष्ण का निवारण करके प्राप्त क्रिया कभी चाहिये और योग्य क्रिया काल का उल्लंघन नहीं करना चाहिये ॥२४॥ क्रिया करने के योग्य समय के पहले की हुई क्रिया, समय के पश्चात् की हुई क्रिया, (आव-दकता से) हीन या अतिरिक्त क्रिया (और मिथ्या क्रिया) साध्य रोगों में भी सफल नहीं होती ॥२५॥ (यद्यपि) क्रिया बड़ी है, जो बड़े हुए दोष को शांत करे और अन्य (नये) व्याधि को उत्पन्न न करे । किन्तु जो एक व्याधि को दूर करती हुई अन्य व्याधि को उत्पन्न करे, वह यथाथे क्रिया (चिकित्सा) नहीं है ॥२६॥

वृत्तव्य—उ क्रतुओं में प्राहुद्, यरद् और वसन्त साधारण क्रतु होते हैं । इनमें वसन्तविरिचनदि तथा अग्नि श्वादादि क्रिया करना श्रेयस्कर होता है । बाकी ग्रीष्म, वर्षा और शिशिर क्रतुओं में उष्णता, वर्षा और शीत अधिक होने के कारण इन क्रियाओं से रोगी को दुःख होता है । इसलिये यह क्रियाएँ प्रायः वर्ज्य होती हैं । परन्तु आत्ययिक और कर्म साध्य रोगों के लिये जब इन क्रियाओं को ग्रीष्मादि क्रतुओं में भी करना पड़ता है तब आच्छादन भोजन प्रदेहादि यष्टु विपरीत विधान करके योग्य समय पर इनकी करना ही चाहिये । इस विषय पर चरक में लिखा है—मनुष्यवर्णनां हि ग्रीष्मवर्षादिमगमा । तन्तरे प्राशुशालीषां साधारणालय ॥ साधारणव्यवस्था हि अन्तरीतोष्णवर्षेत्वर । सुसप्तमात्रव भवन्ति शरीरैष धान्वा । श्वरे पुनरन्वरीतोष्णवर्षेत्वार । सुसप्तमात्रव भवन्ति शरीरैष धान्वा ॥ आत्ययिके पुनः कर्मणि कामश्रुत विकल्प इतिमनुलापया भेदः अशुशुणविपरीतेन भेदेन संयोगप्रमाणविकल्पेनोपपाद्य भगवन्तीर्यं स्य कृत्वा ततः प्रयोक्तेषुक्रमेण चोक्तवानिति । कालो हि भेदव्यपयोग्यार्था ॥ क्रियां प्राप्तां—रोगी की जवस्था के अनुसार

उचितकर्म । क्रियाकाल—उस उचित कर्म के लिये उचित काल—मानुषवस्थास्वर्गि तु कर्णान्वर्यं प्रति कालकल्पत्वा । तथा वा मत्स्यमवस्थायास्य भेदमत्स्यकालः कालः पुनरन्वरेवेति । एतदा भवति भवत्वातिशयेन ॥ (चरक) ॥ श्लोक २५ में योग्यकाल ने अतिरिक्त की हुई क्रिया तथा न्यूनार्थिक क्रिया व्यर्थ होती है, यह बतलाया है—नद्यतिनातिघटमप्रातःकाल वा भेदव्युत्पत्त्युपमानं यौगिकं भवति । (चरक) ॥ अम्राते कृते—इसके उदाहरण—(१) भेषज क्षाम्पेक्षस्य भूयो ज्वलति अरम् । (२) नृ सम्पन्न देव पूर्वमायानिमार्गिने । विभ्रममानः प्राप्नोषा जनपत्यामवारः बहून् ॥ (३) आमन्थरे मांसतिरिक्तयुग्मिन्विषयादानमतिनाप्ररोधिताः शिववृत्तिरेवनाप्रादुर्भावे भवति ॥ प्रातः का न क्रिया इत्या—इसका उदाहरण—यदा एकमन्थकमिति मन्थमानरिचरुषुषुके ध्यापि वैषल्यो दारमलममान पूय स्वाश्रयमवदालोक्ष्य मरुत्समवकता नाहीं जनयि ता कृष्णतन्धो भवति ॥ हीनाऽतिरिक्त—रोगी के दोषबल प्रमाय की दृष्टि से अल्पबल या अधिक बल क्रिया—तरला इतिरिक्त और शमयणीकृत्युत्पन्नमन्थवत्मातुरमभिप्रायरे । तथा बलवति बलवद् व्यापिरिगिने स्वत्यक्तभ्योपधमपरीक्षकप्रकृत्यभाषक भवति ॥ (चरक) ॥ श्लोक २६ में योग्य और अयोग्य क्रिया की व्याख्या वर्णन की है । वातभट में भी लिखा है—प्रयोगः रमयेद् व्याधिं वीज्यमन्वयु दीरेत् । नाज्ञौ विद्युः शुद्धसु शम्पेयो न क्षेपयेत् ॥

प्राग्भिहितोऽग्निरक्षय पाचकः । स चतुर्विधो भवति—दोषानभिपन्न एक ; विक्रियामापन्नत्रिविधो भवति—विषमो घातेन, तीक्ष्णः पिच्छेन, मन्दः कृष्णणा, चतुर्थं समः सर्वसाम्प्रादिति ॥२७॥

(जठराग्नि के प्रकार—) पहले (मध्यप्रथम नामक २१ वें अध्याय में) वर्णन किया गया है कि (पाचक) अग्नि अन्न का पकाने वाला है । वह (दोषों के अनुसार) चार प्रकार का होता है दोषरहित (दोषानभिपन्न) एक और विकार युक्त तीन प्रकार का होता है । वायु से विषम, पित्त से तीक्ष्ण, कफ से मन्द और सबे दोषों की समानता से सम (दोषानभिपन्न) होता है ॥२७॥

तत्र, यो यथाकालमुपयुक्तमन्नं सम्यक् पचति स समः, समीर्ये, यः कदाचित् सम्यक् पचति, कदाचिदाध्मानश्लोदावतातिसारजठरगौरवाग्भृक्-जन्तप्रवाहणानि कृत्वा, स विषमः । यः प्रभूतमप्युपयुक्तमन्नमाशु पचति स तीक्ष्णः, स यथाभिवर्धमानोऽप्यग्निरित्याभास्यते, स मुहुर्मुहुः प्रभूतमप्युपयुक्तमन्नमाशुतर पचति, पाकान्ते च गलतात्वोष्ण-शोषदाहसन्तापाजनयति, यस्यल्पमप्युपयुक्तमुदरिशोःगौरवकासश्वासप्रसेकच्छदिगात्रसदनानि कृत्वा महता कालेन पचति स मन्दः ॥२८॥

(उनके लक्षण—) उनमें जो योग्य समय पर सेवन किये हुए अन्न को अच्छे प्रकार पचावे वह 'सम' अग्नि है, और वह दोषों के साम्य से होती है । जो कभी कभी अन्न का ठीक पाचन कर देती है, और कभी कभी अकारा, पेट में शूल, मलावरोध, अतिसार, पेट में भारीपन, अर्तों में गुह-

गुड़ाहट, कुन्थन इत्यादि विकार उत्पन्न करके अन्न का परिपाक कर देती है, वह विषम अग्नि है । जो मात्रा से अधिक सेवन किये हुए अन्न को शीघ्र पचाती है, वह तीक्ष्ण अग्नि है । वही अधिक बढ़ जाने से 'अत्यग्नि' कहलाती है । वह बारबार अधिक मात्रा में सेवन किये हुए अन्न को भी अत्यंत शीघ्रता से पचाती है, और पाककार्य हो जाने के पश्चात् गला, तालु, होंठ इनमें शुष्कता, दाह और संताप उत्पन्न करती है । जो यथाविधि सेवन किये हुए अल्प भोजन को भी पेट और शिर में भारीपन, खाँसी, श्वास, हल्लास, वमन और अंगों में थकान इत्यादि विकार उत्पन्न करके बहुदर में पचाती है, वह मन्द अग्नि होती है ॥२८॥

वक्तव्य—आन्नकृजन—आन्न में वायु संचित होने के कारण पेट में गुड़गुड़ शब्द होना (Borborygmus) । आशु—साधारण समय से थोड़े समय में । अष्टांगसंग्रह में तीक्ष्णादि अग्नि से अन्न पचन के काल ऐसे दिये हैं—यामैश्व-तुभिर्द्राभ्यां च भोज्यभेषज्ययोः समे । पाकोऽग्नौ युक्तयोर्द्राक् च तीक्ष्णे मन्दे पुनश्चिरात् । आधुनिक वैज्ञानिक खोज से भी प्राकृतिक अवस्था में अन्न पचन के लिये तीन से चार याम का ही समय प्रमाणात् हुआ है । अत्यग्नि—इसी को ही 'भस्मकाग्नि' तन्त्रान्तर में कहते हैं—वर्षमानो भवेत्तीक्ष्णो भस्मकारण्यो महानलः । (बृन्दमाधव) । भुक्तं क्षणाद्भस्म करोति यस्मात्तस्मादयं भस्मकसंज्ञकोऽभूत् ॥ (योगरत्नाकर) । अमिवर्षमानः—तीक्ष्णाग्नियुक्त मनुष्य जब कटुतिक्तकपाय रसों का तथा रुक्ष पदार्थों का सेवन करता है तब अग्नि निरोधक कफ क्षीण हो जाता है और योगवाही अग्निपोषक वायु (दाहकृतेजसा युक्तः) वर्धित होती है । इससे तीक्ष्णाग्नि का परिवर्तन भस्मकाग्नि में होता है—कट्वादिरूक्षाश्चभुजां नराणां क्षीणे कफे मास्तपित्तवृद्धौ । अतिप्रवृद्धः पवनान्वितोऽग्निः क्षणाद्रसं शोषयति प्रसन्न ॥ (योगरत्नाकर) । नरे क्षीणकफे पित्तं कुपितं मास्तानुगम् । स्त्रोभग्ना पावकस्थाने बलभग्नेः प्रयच्छति ॥ तथालब्धबले देहे विरुद्धे सानिलोऽनलः । परिभूय पचत्यन्नं तैक्ष्ण्यादाशु मुहुर्मुहुः ॥ (चरक) । पाकान्ते इत्यादि—अन्न का पचन होने के पश्चात् वह अग्नि धातुओं का पचन करने लगता है, जिससे गलतालुशोषदाहादि लक्षण उत्पन्न होते हैं—आहारमग्निः पचति दोषानाहारवर्जितः । धातून् क्षीणेषु दोषेषु न जीवद्-धातुसंक्षये ॥ (शिवदास) । पक्त्वान्नं सततं धातून्शोणितादीन् पचत्यपि । (चरक) । भस्मक रोग एक प्रकार की वातविकृति (Neurosis) के कारण हो सकता है । भस्मक रोग को बुलीमिया (Bulimia) या पॉलीफेगिया (Polyphagia) कहते हैं । भस्मकाग्नि आमाशयिक रस की अधिकता (Hyperchlorhydria), मधुमेह और हिस्टीरिया तथा क्वचित् आन्त्रस्थ कृमि इनके कारण होते हैं ।

विषमो वातजान् रोगांस्तीक्ष्णः पित्तनिमित्तजान् । करोत्यग्निस्तथा मन्दो विकारान् कफसंभवान् ॥२९॥

(जठराग्नि भेद जन्य विकार—) विषमाग्नि वातजन्य रोगों को, तीक्ष्णाग्नि पित्तजन्य रोगों को, और मन्दाग्नि कफजन्य रोगों को उत्पन्न करती है ॥२९॥

तत्र, समे परिच्छरणं कुर्वीत; विषमे स्निग्धांस्त्व-लवणैः क्रियाविशेषैः प्रतिकुर्वीत; तीक्ष्णे मधुर-

स्निग्धशीतैर्विरेकैश्च; पवमेवात्यग्नौ, विशेषेण माहि-पैश्च क्षीरदधिसर्पिभिः; मन्दे कटुतिक्तकपायै-र्वमनैश्च ॥३०॥

इनमें से सम अग्नि की रक्षा करनी चाहिये । विषम अग्नि हो तो स्निग्ध (द्रव्यों) से, अम्ल, लवण (रसों से) तथा (वातनाशक अन्य आहार विहारादि) क्रियाविशेषों से उसका प्रतिकार करे । अग्नि तीक्ष्ण हो तो मधुर, स्निग्ध, शीत (स्वाद्यपयों से) तथा विरेचन से उसका प्रतिकार करे । इसी प्रकार विशेष करके भैस के दूध, दही और घृत से अत्यग्नि का प्रतिकार करे मन्द अग्नि में कटु, तिक्त और कपाय द्रव्यों से तथा वमन से प्रतिकार करे ॥३०॥

जाठरो भगवानग्निरीश्वरोऽन्नस्य पाचकः ।

सौदम्याद्रसानाददानो विवेकुं नैव शक्यते ॥३१॥

अन्न का परिपाक करने वाला, रसों का ग्रहण करने वाला, महावीर्यवान्, शरीर का मालिक जो जठराग्नि उसका विशेष विवेचन करना, सूक्ष्म होने के कारण असंभव है ॥३१॥

वक्तव्य—ईश्वरः—आयुरादिक प्रदान करने के कारण शरीर का जो ईश्वर होता है—आयुर्वर्णों बल स्वास्थ्यमुस्ताहोपचयौ प्रभा । औजस्तेजोऽन्नयः प्राणाश्वीक्ता देहाग्निहेतुकाः ॥ शान्तेऽग्नौ त्रियते युक्ते चिरं जीवत्यनामयः । रोगी स्याद्विकृते मूलमग्निस्तस्मात्त्रिरुच्यते ॥ (चरक) ।

प्राणायानसमानैस्तु सर्वतः पवनैस्त्रिभिः ।

ध्मायते पाच्यते चापि र्वे स्वे स्थाने व्यवस्थितैः ॥३२॥

अपने अपने स्थानों में व्यवस्थित (प्रकृतिस्थ) प्राण, अपान और समान वायुओं से यह जठराग्नि प्रज्वलित होती है, तथा उसका परिपालन होता है ॥३२॥

वक्तव्य—जठराग्नि यद्यपि शरीर का ईश्वर है, तथापि अपना ईश्वर नहीं है । वह प्राण, अपान और ध्यान वायु के अधीन होती है । प्राणवायु अन्न का ग्रहण करके, अपानवायु मलमूत्रादिक का उत्सर्ग योग्यकाल पर करके और समानवायु साथ करके जठराग्नि का परिपालन और प्रज्वलन करती है । अर्थात् इनमें विकृति उत्पन्न होने से जठराग्नि में भी विकृति उत्पन्न हो जाती है । आधुनिक शरीरकार्य विज्ञान (Physiology) की दृष्टि से जठराग्नि के कार्य को समस्त शरीर का पचन व्यापार (Mechanism of digestion) कह सकते हैं । यह पचन का व्यापार अधिकांश वात के अधीन (Nervous control) है, यह भी सिद्ध हुआ है । वातसंस्थान की विकृति के कारण पचन व्यापार में भी कई बिगाड़ (Neurosis) उत्पन्न होते हैं ।

वयस्तु त्रिविधं—बाल्यं, मध्यं, वृद्धमिति । तत्रोनषोडशवर्षा बालाः । तेषु त्रिविधाः—क्षीरपाः, क्षीरान्नादा, अन्नादा इति । तेषु संवत्सर-पराः क्षीरपाः, द्विसंवत्सरपराः क्षीरान्नादाः, परतोऽन्नादा इति ॥३३॥

विकारनामपुराणे न क्रियात् कदाचन । न हि सर्वविकारणां नान्येऽपि प्रजा स्थिति ॥ (चरक) । वास्तव में रोगों के नाम व्यवहार प्रयोजन के लिये जितने उपयोगी होते हैं, उतने चिकित्सा प्रयोजन के लिये नहीं होते। चिकित्सा में दोष कितान या 'प्रकृति विकारज्ञान' (Pathology) उपयोगी जाना है। उसके अनुसार चिकित्सा करने से रोग अज्ञात होते हुए भी सफलता मिल सकती है। पाश्चात्य वैद्यक में भी अब तक राग का निदान नहीं होता है, तब तक आवास्थिकी या व्याप्यिक चिकित्सा (Symptomatic treatment) ही की जाती है।

प्रागभिहितोऽग्निरग्रस्य पाचकः ॥२३॥

शीते शीतप्रतीकारमुष्णे चोष्णनिवारणम् ।
 कृत्वा कुर्यात् क्रियां प्रासां क्रियाकालं न हापयेत् ॥२४॥
 अग्निं वा क्रियाकाले प्रासे या न कृता क्रिया ।
 क्रिया हीनाऽतिरिक्ता वा साध्येष्यपि न सिध्यति ॥२५॥
 या ह्युदीर्णं शमयति नान्यं व्याधिं करोति च ।
 सा क्रिया न तु या व्याधिं हरत्यन्यमुदीरयेत् ॥२६॥

(ऋतु के अनुसार चिकित्सा—) ऋतुओं का वर्णन पहले (ऋतुचर्चाध्याय में शीतोष्णादि की दृष्टि से) कर चुके हैं ॥२३॥ (उसके अनुसार) शीतकाल में शीत का प्रतिकार और उष्णकाल में उष्ण का निवारण करके प्रास क्रिया करनी चाहिये और योग्य क्रिया काल का उद्घोषन नहीं करना चाहिये ॥२४॥ क्रिया करने के योग्य समय के पहले की हुई क्रिया, समय के पश्चात् की हुई क्रिया, (आवश्यकता से) शीत या अतिरिक्त क्रिया (और मिथ्या क्रिया) साम्य रोगों में भी दृष्टफल नहीं होती ॥२५॥ (यथायं) क्रिया बंदी है, जो बड़े हुए दोष को शांत करे और अन्य (नये) व्याधि को उत्पन्न न करे। किन्तु जो एक व्याधि को दूर करती हुई अन्य व्याधि को उत्पन्न करे, वह यथायं क्रिया (चिकित्सा) नहीं है ॥२६॥

घट्टज्य—उ ऋतुओं में प्राग्दू, शरद और वसन्त साधारण ऋतु होते हैं। इनमें यमनविरचनावृत्ति तथा अग्निधारि क्रिया करना वैयक्तिक होता है। बाकी ग्रीष्म, वर्षा और शिशिर ऋतुओं में उष्णता, वर्षा और शीत अधिक होने के कारण इन ऋतुओं से रोगों की उत्पत्ति होता है। इसलिये वह क्रियाएँ प्रायः बर्ण्य होती हैं। परन्तु आवास्थिक और कर्म साम्य रोगों के लिये जब इन ऋतुओं को प्रीत्यदि ऋतुओं में भी करना पड़ता है तब साधारण भोजन प्रदेहादि यथोचित विधान करके योग्य समय पर इनको करना ही चाहिये। इस विषय पर चरक में लिखा है—अत्यन्तवर्षायां हि ग्रीष्मवर्षायां च । उन्नेते प्रवृत्तान्तेऽपि साधारणत्वात् ॥ साधारण्यया हि मन्दीनिवर्तनत्वात् सुखमभव भवति रीतीव चनात् । शरे पुनरत्यर्थीनिवर्तनत्वात् प्राग्दूभव भवति रीतीव चनात् । अत्यधिक पुनः कर्मिणः कल्पयुक्त विकल्प इतिमनुनेपवादेन चर्कमुपविष्टीनेन मेघव क्लेशप्रयत्नविच्छेदेनोपचय यथायंतीर्णं इयं कृत्वा तत्र प्रवीणवेदोपयेन बधेतावहित । कलेहि मेघप्रयदेणयं विपनिनिवर्तयति ॥ किंवा प्रासां—रोगी की अवस्था के अनुसार

उचितकर्म । किंवाकाल—उस उचित कर्म के लिये उचित काल—आतुरावस्थावपि तु कार्यावयं प्रति कालावस्था । तथा अस्थानवस्थापानुभव भेषजसाधकाल . काल पुनरत्यसेति । एतद भवति अवस्थाविरोधेन ॥ (चरक) । श्लोक २५ में योग्यकाल है अतिरिक्त की हुई क्रिया तथा न्यूनधिक क्रिया बर्ण्य होते हैं, यह बतलाया है—नद्यतिरातिनकल्पप्रसक्तकाल वा भेषजानुपयन्यमान यौक्तिक भवति । (चरक) । अग्नि कच्चे—इसके उदाहरण—(१) भेषज क्षाम्प्रोपस्य भूयो ज्वल्यति ज्वरम् । (२) न सप्रदा देव पूर्वमागामिपारिणे । विवन्धमाना प्राग्दोषा जनयन्धामयात् बहून् ॥ (३) भामश्चेदे माससिरासातुगन्धिव्यापादनगतिनाशो गितव निप्रवृत्तिर्वेदनाप्रादुर्भावो भवति ॥ प्रासे वा न क्रिया कृता—इसका उदाहरण—यद्यपि पकान्ययकर्मिणः मन्वयाविरचयुक्तोष्णे व्याधिं वैपत्यस्य क्षारमेलममान पूय स्वाश्रयमवराजोत्सगा मशन्तमवकारा नार्ही जनयित्वा कृच्छ्रमाथी भवति ॥ हीनाऽतिरिक्ता—रोगी के दोषद्वल प्रमाण की दृष्टि से अल्पबल या अधिक बल क्रिया—सहसा शक्तिवर्धनोपचयपरीक्षकयुक्तमन्वयवलातुमभिधातयेत् । तथा बलवति बलवत् व्याधिपरिणे स्वल्पबलमौपचयपरीक्षकयुक्तमसाक भवति ॥ (चरक) । श्लोक २६ में योग्य और अयोग्य क्रिया की व्याख्या वर्णन की है। वाग्मत् में भी लिखा है—अयोग्य इत्येदं व्याधिं दोष्यमन्यमुदीरयेत् । नाश्रौ विमुक्त सुश्रुतु शमयेपो न चोपयेत् ॥

प्रागभिहितोऽग्निरग्रस्य पाचकः । स चतुर्विधो भवति—दोषानभिपक्ष एकः, विक्रियामापन्नस्त्रिविधो भवति—विषमो घातेन, तीक्ष्णः पित्तेन, मन्दः श्लेष्मणा, चतुर्थः समः सर्वसाम्यादिति ॥२७॥

(जलाग्नि के प्रकार—) पहले (प्रथमप्रश्न नामक २१ वें अध्याय में) वर्णन किया गया है कि (पाचक) अग्नि अन्न का पकाने वाला है। वह (दोषों के अनुसार) चार प्रकार का होता है दोषरहित (दोषानभिपक्ष) एक और विकार युक्त तीन प्रकार का होता है। वायु से विषम, पित्त से तीक्ष्ण, कफ से मन्द और सर्व दोषों की समानता से सम (दोषानभिपक्ष) होता है ॥२७॥

तत्र, यो यथाकालमुपयुक्तमग्रं सम्यक् पचति स समः, समैर्दोषैः, यः कदाचित् सम्यक् पचति, कदाचिदाव्यन्तःशुद्धोदयत्वात्तिसामज्ज्वलौघाच्छूजनप्रवाहणानि कृत्वा, स विषम . यः प्रभूतमन्युपयुक्तमग्रमानु पचति स तीक्ष्ण , स एवाभिवर्धमानोऽत्यग्निरित्याभाष्यते, स मुहुर्मुहुः प्रभूतमन्युपयुक्तमग्रमानुतरं पचति, पाकान्ते च गलतास्योष्ठशोषवाहसन्तापाञ्जनयति . यस्त्वल्पमन्युपयुक्तमुदरशिरोगौरयकासभ्यासप्रसेकच्छर्दिगात्रसदनानि कृत्वा महता कालेन पचति स मन्द . ॥२८॥

(उत्तरे लक्षण—) उत्तरे जो योग्य समय पर सेवन किये हुए अन्न को अच्छे प्रकार पचाये जो 'सम' अग्नि है, और वह दोषों के साम्य से होता है। जो कमी कमी अन्न का ठीक पाचन कर देती है, और कमी कमी अकार, पेट में शूल, मलाशय, अतिसार, पेट में मारिष, आँतों में गुद-

कलियुग में आयुष्य की अधिकाधिक मर्यादा एक सौ बीस वर्ष की होती है—समाः षष्टिर्द्विधा मनुजकरिणां पच च निशा । फ्लोरिन्स आदि आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार भी मनुष्य का आयु एक सौ पचीस वर्ष की होती है । परन्तु इससे अधिक आयुष्मान् लोगों के कई उदाहरण प्राचीन और अर्वाचीन काल में मिलते हैं ।

तत्रोत्तरोत्तरासु वयोवस्थासूत्रोत्तरा भेषज-मात्राविशेषा भवन्ति, ऋते च परिहाणैः; तत्राद्या-पेक्षया प्रतिकुर्वीत ॥३६॥

(वय के अनुसार ओषधिमात्रा—) वृद्धावस्था के अतिरिक्त उत्तरोत्तर बढ़ती हुई वयोवस्थाओं में श्रौषधप्रमाणविशेष भी उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है । वृद्धावस्था में बाल्यावस्थोपयोगी भेषजमात्रा से (रोगों का) प्रतिकार करना चाहिये ॥३६॥

वक्तव्य—उत्तरोत्तरा भेषजमात्रा—क्रम से बढ़ाया हुआ औषधों का प्रमाण । यह क्रमवृद्धि निम्न प्रकार से होती है—बाल्य प्रथमे मासि देया भेषजरक्तिका । श्वलेहीकृतैकैव क्षीरक्षौद्रसिता-दृशैः ॥ वर्षेयैस्तावदेकैकां थावद्भवति वत्सरः । मापैर्द्विस्तदूर्ध्वं स्याथावत्-पोदशवत्सरः ॥ ततः स्थिरा भवेत्तावथावद्वर्षाणि सप्ततिः ॥ (शार्ङ्गधर) । विद्यगफलमात्रं तु जातमात्रस्य भेषजम् । एतेनैव प्रमाणेन मासि मासि प्रवर्षितम् ॥ कोलास्थिमात्र क्षीरादेः दद्याद्भिषज्यकोविदः । क्षीरान्नादे कोल-
ज्जादे दुग्धरोपमम् ॥ (विश्वामित्र) । आद्यापेक्षया—आद्य जो बाल्यावस्था, उसकी दृष्टि से । सत्तर वर्ष के पश्चात् शनैः शनैः ओषधि प्रमाण कम करना चाहिये—ततो बालकवन्मात्रा हासनीया शनैःशनैः । (शार्ङ्गधर) । बाल्य और वृद्ध अवस्थाओं का कई बातों में साम्य होता है । इसलिये लिखा है 'आद्या-पेक्षया' । अंग्रेजी में भी कहते हैं कि Old age is second childhood । पाश्चात्यवैद्यक में बीस वर्ष से साठ वर्ष की आयु के लिये जो मात्रा होती है, उसे पूर्णमात्रा (Adult dose) कहते हैं । एक वर्ष से बारह वर्ष तक यंग या कौलिंग के नियमानुसार मात्रा का प्रमाण होता है । यंग (Young's rule) का नियम—रोगी की आयु में बारह मिलाकर उससे आयु को भाग देने पर जो फल मिलेगा, उतना पूर्ण मात्रा का अंश रोगी को देना चाहिये । जैसे—

१ वर्ष के बालक के लिये $\frac{1}{1+12} = \frac{1}{13}$ पूर्ण मात्रा का अंश

४ " " " $\frac{4}{4+12} = \frac{1}{8}$ " " "

" " " " $\frac{6}{6+12} = \frac{1}{4}$ " " "

कौलिंग का नियम (Cowling's rule)—रोगी की आयु में एक मिलाकर उस संख्या को चौबीस से भाग देकर जो फल मिलेगा, उतना पूर्ण मात्रा का अंश रोगी को देना चाहिये ।

यथा—१ वर्ष के बालक के लिये $\frac{1+1}{24} = \frac{1}{12}$ पूर्ण मात्रा का अंश

४ " " " $\frac{4+1}{24} = \frac{5}{24}$ " " "

७ " " " $\frac{7+1}{24} = \frac{2}{3}$ " " "

१ अन्यापेक्षया ।

बारह से सोलह वर्ष तक $\frac{1}{2}$ से $\frac{2}{3}$ और सोलह से बीस वर्ष तक $\frac{2}{3}$ से $\frac{4}{5}$ तक पूर्णमात्रा का अंश दिया जाता है । आयुर्वेदिक ओषधियों के लिये भी इस उपर्युक्त नियम का उपयोग करना उचित है, क्योंकि माप वृद्धि का नियम सर्वत्र लागू नहीं हो सकता ।

भवन्ति चात्र—

वाले विवर्धते श्लेष्मा मध्यमे पित्तमेव तु ।

भ्रूयिष्ठं वर्धते वायुवृद्ध तद्दीक्ष्य योजयेत् ॥३७॥

अग्निक्षारविरेकैस्तु बालवृद्धौ विवर्जयेत् ।

तत्साध्येषु विकारेषु मृद्धौ कुर्यात् क्रियां शनैः ॥३८॥

बाल्यावस्था में कफ बढ़ता है, मध्यमावस्था में पित्त बढ़ता है और वृद्धावस्था में वायु बढ़ती है । इसलिये इसको देखकर श्रौषधादि की योजना करनी चाहिये ॥३७॥ अग्नि, क्षार, क्षारकर्म तथा विरेचनकर्म तो बालक और वृद्धों को नहीं कराने चाहिये । यदि अग्नि, क्षार और विरेचन से ही रोग साध्य हो तो मृदु (ओषधियों द्वारा) क्रिया करनी चाहिये ॥३८॥

वक्तव्य—मृद्धौ क्रियाम्—अजाराकृदादि मृदु द्रव्य संश्रय अग्नि, मृदु क्षार तथा चतुरंगुलादि मृदु विरेचन से की हुई क्रिया ।

देहः स्थूलः, कृशो, मध्य, इति प्रागुषदिष्टः ॥३९॥

कर्शयेद् वृंहयेच्चापि सदा स्थूलकृशौ नरौ ।

रक्षणं चैव मध्यस्य कुर्वीत सततं भिषक् ॥४०॥

देह स्थूल, कृश और मध्य (तीन प्रकार का) पहले (दोषघातु मूल क्षय वृद्धि विज्ञानीय नामक पन्द्रहवें अध्याय में) वर्णन हो चुका है ॥३९॥ उसमें वैद्य स्थूलशरीर मनुष्य का सदा कर्शन करे, कृशशरीर मनुष्य का सदा वृंहण करे और मध्यमशरीर मनुष्य की सदा रक्षा करे ॥४०॥

बलमभिहितशुणं; दौर्बल्यं च स्वभावदोषजरा-दिभिरवेक्षितव्यम् । यस्माद्बलवतः सर्वक्रियाप्रवृत्ति-स्तस्माद्बलमेव प्रधानमधिकरणानाम् ॥४१॥

केचित् कृशाः प्राणवन्तः स्थूलाश्चाल्पबलानराः ।

तस्मात् स्थिरत्वव्यायामैर्बलं वैद्यः प्रतर्कयेत् ॥४२॥

(बलविचार—) बल के गुणों का विचार (पहले ही पन्द्रहवें अध्याय में) हो चुका है । दौर्बल्य का विचार स्वभाव, वातादि दोष तथा वार्धक्य आदि दृष्टि से करना चाहिये । चूंकि चिकित्सा की सर्वक्रियाओं की प्रवृत्ति (प्रयोग Applicability) बलवान् रोगी के सम्बन्ध में ही (सफल) हो सकती है । इसलिये चिकित्सोपयोगी सर्वक्रियाओं के आधारों में बल ही प्रधान है ॥४१॥ कुछ कृश भी बलवान् होते हैं और कुछ मोटे भी दुर्बल होते हैं । इसलिये (शरीर की) दृढता तथा व्यायाम (की शक्ति) इनके द्वारा बल का अनुभव वैद्य को करना चाहिये ॥४२॥

वक्तव्य—स्वभावदोषजरादिभिः—शुक्रशोणितजन्य यानि अनुवंशज है या वातादि दोषजन्य है या वयोनुरूप है, इसकी परीक्षा करनी चाहिये । बलमेव प्रधानमधिकरणानाम्—बलवर्णोपचयी-

(वय—) वयसिस्था तीन प्रकार की होती है—१ बाल्या-
वस्था, २ मध्यमावस्था, और ३ वृद्धावस्था । उनमें पाँचव
वर्ष तक बाल है । वे भी तीन प्रकार के होते हैं—१ दूध पीने
वाले, २ दूध और अन्न सेवन करने वाले, और ३ अन्न सेवन
करने वाले । इनमें एक वर्ष की अवस्था तक दूध पीने वाले,
दो वर्ष की अवस्था तक (दूसरे और तीसरे वर्ष में) दूध
और अन्न दोनों का आहार करने वाले, और इससे उपरान्त
अन्न खाने वाले ॥३३॥

चक्रव्य—चरकसंहिता में वय की प्यालया निम्न प्रकार
से की गई है—कालप्रमाणविशेषादिषु हि शरीरावस्था बवोऽभिधीयते ।
यहाँ वय के तीन विभागों की जो वर्षमर्यादा दर्शान की है, वह
स्पष्टरूप से ही समझनी चाहिये । क्योंकि कई कारणों से
उपयुक्त वर्षमर्यादा में परिवर्तन होता है । अत ध्वबहार की
दृष्टि से वर्षमर्यादा की अपेक्षा इनके विविध लक्षणों के
अनुसार ही वाक्यादिक अवस्थाओं की निश्चित करना अधिक
योग्य होता है—तद्वयो यथाव्युक्त त्रिविधम् । अत्रैव काल पुनरधि-
शेनवर्षप्रमाणविधो मनुष्या । तेषा विकृतिवत् प्रकृत्यादिविविशेषै-
रायुषो लक्षणतश्च प्रमाणमुपलभ्य बवसंज्ञित विभेदेत् ॥ (चरक) ।

वाक्य—चरकसंहिता में बाल्यावस्था की वर्षमर्यादा तीस वर्ष
की बतलाई है और उसके दो विभाग किये हैं—सोलह वर्ष
की अवस्था तक अपरिपक्व धातु का काल—तत्र बालमपरिपक्वधनु
मज्जामात्रेण सुकुमारमेतद्वहममपूर्णवत्क्य श्लेषधातुप्रायवायोऽवस्थावत्,
विकर्षमाणधनुषु पुन प्रपिणानवसिन्नमत्त्वमात्रिशद्वर्षमुपरिद्वम् ॥
क्षीरया इत्यादि—यहाँ दूध और अन्न सेवन की दृष्टि से बाल्या
वस्था के जो तीन विभाग किये हैं, उसमें बालक-पीपण के
संघ में बड़ा भारी तत्त्व है । अन्न से यहाँ उस प्रकार का अन्न
अभिप्रेत है, जिसको चबय करके ही आवश्यकता होती है ।

चबय के लिये दाँतों की जरूरत होती है । पहले वर्ष में गिजु
के केवल छ दाँत होते हैं, जो काटने के काम में आने वाले
(इन्सेक-Incisor) होते हैं । इसलिये पहले वर्ष में गिजु
का आहार अपिच्छाया माता और माँ के दूध का ही होना
चाहिये । इसके सिवाय अन्नप्राशनविधि के पश्चात् दाँत
निकलना आरंभ होने के पश्चात् जो प्राय ६-७ महीने की
आयु से आरंभ होते हैं—गिजु को चूय, पेय, लेह्य, चाय द्रव्य
यादी मात्रा में दे सकते हैं । परत इन द्रव्यों की राशि अल्पव्य
होनी चाहिये और इस दृष्टि से पहले वर्ष के बालक को क्षीरप
क्या है—अपेक्षानु भूयता । पहले वर्ष में मध्यमोष्णतादि साध
द्रव्य, जिनके लिये चबय की आवश्यकता है, बालक को देना
स्वास्थ्यविघातकर है । क्योंकि बालक इन द्रव्यों की वसा ही
लिया है । द्वितीय और तृतीय वर्ष में गिजु के बाकी
सब दाँत निकल आते हैं । इसलिये इस दो वर्ष की अवस्था में
धीरे धीरे अन्न की मात्रा तथा मध्यमोष्णतादि प्रकार बढ़ाकर
तीसरे वर्ष के अन्त में उसकी पूर्ण अद्याहारी बना सकते हैं ।

परी अन्नप्रदान के साथ साथ उसको अन्न अच्छी तरह से
खना खना कर खाने के समय में धीरे धीरे बन्दय करते रहना
चाहिये । शिशुमत्पण—गिजु के दूसरे और तीसरे वर्ष की
अपेक्षित है । परत—पीपे वर्ष के प्रारम्भ से । ये दूध धीरे
अन्न सेवन के काल स्पष्टरूप से दिये हैं । इसमें थोड़ा फर्क

हो सकता है । राबर्ट हथीसन लिखते हैं—'दूसरे महीने
पश्चात् गिजु को दूध के अतिरिक्त रोटी वगैरह का कुछ भा
चबाने के लिये देना चाहिए और तीसरा वर्ष अन्त होने ।
पश्चात् उसको युवा मनुष्य की तरह सर्व प्रकार का अन्न दे-
ना चाहिये' । From about the tenth month onward
something to chew should be given occasionally;
such as a rusk or a crust or a piece of sponge cal
or stale bread and butter After the third year
child should be fed much like a grown up person
Lectures on diseases of children ॥ इससे वा
स्पष्ट है कि सुश्रुत का मन आधुनिक मत के साथ बिल्कुल
मिलता है ।

**पोडशासप्तत्योरन्तरे मध्य वयः । तस्य विकल्पे
वृद्धिर्यौवनं संपूर्णता हानिरिति । तत्र, आर्षिदाते
वृद्धिः, आर्षिदातो यौवनम्, आर्षिदात्तारिण्यतः सर्व-
धार्त्विन्द्रिययल्लवीर्यसंपूर्णता, अत ऊर्ध्वमीपत्परि-
हाणिर्यावत् सप्ततिरिति ॥३४॥**

(मध्यमायु—) सोलह वर्ष की अवस्था से लेकर सप्त
वर्ष की अवस्थापर्यन्त मध्य वय होता है । उसके वृद्धि, यौवन,
संपूर्णता और हानि ये भेद हैं । इसमें बीस वर्ष की अवस्था
तक (शरीर के अंग प्रत्यंगों की) वृद्धि, तीस वर्ष की अवस्था
तक यौवन, चालीस वर्ष की अवस्था तक सर्व धातु इन्द्रिय,
बल और वीर्य इनकी संपूर्णता और इसके उपरान्त सप्त वर्ष
की आयु तक थोड़ी थोड़ी हानि (क्षति) होने लगती है ॥३४॥

चक्रव्य—चरकसंहिता में मध्यमयु साठ वर्ष की
अवस्था तक लिखा है—मध्य पुन पित्तधातुप्रायवायवर्षमुपरिद्वम् ।
वृद्धि—शरीर की वृद्धि चरक में तीस वर्ष की अवस्था तक
लिया है—विकर्षमाणधनुषुगमात्रिशद्वर्षमुपरिद्वम् । आधुनिक
कल्पना के अनुसार शरीर की वृद्धि पचीस वर्ष अवस्था तक
होती रहती है । यहाँ वृद्धि का विशेष सम्बन्ध अस्थियों के
साथ है । मासादि अन्य धातुओं की वृद्धि पचीसवें साल के
बाद भी हो सकती है ।

**सप्तत्योरुध्वं क्षीयमाणधार्त्विन्द्रिययल्लवीर्योत्साह-
मह्यवहति घलीपलितपाकित्यनुष्ट यासश्वासमभु-
न्निभिरुपद्रवैरभिभूयमान सर्वैर्किंयासस्वमर्थं जीर्णा-
गारमिधाभिद्रुष्टमवसीदन्तं वृद्धमावस्यते ॥३५॥**

(वृद्धावस्था—) सप्त वर्ष के उपरान्त जिनके सब धातु,
इन्द्रिय, बल, वीर्य और उष्णता दिन दिन क्षीण हो रहा है,
(यथा में कुर्वी वृद्ध रही है, बाल संपद या नष्ट हो रहा
है, लीची, आम आदि उपद्रवों से जो पीड़ित है, सब कार्यों
में आगम्य हो रहा है और भोग करने पर पुराने मकान की
गति जो गिर रहा है, ऐसे मनुष्य को वृद्ध कहते हैं ॥३५॥

वृद्धावस्था—प्राक में वृद्धावस्था की मर्यादा साठ से
सौ वर्ष तक लिखी है—अत पर धातुप्रायवयवर्षमुपरिद्वम्
वैभवावयवः (चरक) । भारतीय धार्त्विजों के मतानुसार

जाने से बलवान् नहीं होते ॥५१॥ देश के अनुसार त गुण आहार विहार निद्रादि बातों में व्यवहार करने के लिये देश के गुण होने पर भी देशजन्य रोग होने का नहीं होता ॥५२॥

वक्तव्य—इन श्लोकों में जलवायुचिकित्सा (Climatic abtment) का तत्त्व वर्णन किया है । वा—(१) यथा । जलचर जीव बलयुक्त होने पर भी जमीन पर बलहीन जाते हैं, उस प्रकार—नक्रः स्वस्थानमासाद्य गजेन्द्रमपि कर्षति । प्र प्रच्युतः स्थानाच्छुनापि परिभूयते ॥ (२) 'स्थलजा वा जलाः' इस प्रकार भी अर्थ हो सकता है । स्वदेशे—अनुगुण- । यथा—आनूपोपचितः कफः । अन्यस्मिन्—विरुद्धगुणदेशे । यथा—गल्देशे कुपितः कफः । इल्लह्याचार्य तथा चक्रपाणिदत्त प्रथम कार्ध रोगसंबंधी और द्वितीय श्लोकार्थ दोषसंबंधी मानते—तुल्यगुणदेशजातस्य रोगस्य विपरीतगुणे देशे सुचिकित्स्यतां पत्राह—न तपेत्यादि । जलजा इति आनूपदेशजाताः क्षीपदादयः । इल्लह्या । न केवल व्याधय एव पर विरुद्धदेशगता दुर्बला भवन्ति न्तु दोषा अपि विरुद्धदेशप्राप्तिकुपिता न बलवन्त इत्याह—स्वदेशे यादि । (चक्र) । परन्तु इस प्रकार दोष और व्याधि या रोग थक् करने की कोई आवश्यकता नहीं है । चिकित्सा की दृष्टि से दोनों एक ही होते हैं—दोषा रोगशब्द लभन्ते । (चरक) । अस्तु दोषवैषम्य दोषसाम्यरोगता । (अष्टांगहृदय) । वास्तव में दोनों श्लोकार्ध में एक कल्पना है, और उस कल्पना को बुद्धि-मय करने के लिये 'जलजा वा स्थलाहताः' करके दृष्टान्त दिया है । अर्थात् इस श्लोक का विस्तृत अर्थ इस प्रकार है—तुल्यगुण देश में संचित हुए दोष यानि रोग जितने बलवान् यानि दुरुपक्रम होते हैं, उतने स्वप्रतिकूलगुण देश में कुपित होने पर बलवान् नहीं होते । जैसे कि जलचर प्राणी जल में जितने बलवान् होते हैं, उतने जमीन पर नहीं होते । इसी तत्त्व के आधार पर देशवैपरीत्य सुखसाध्यता का एक लक्षण होता है—न च कालगुणस्तुल्यो न देशो दुरुपक्रमः । (चरक) । देशप्रकृतिसात्म्यैरुविपरीतोऽचिरोत्थितः । (सुश्रुत) । अतुल्यदृष्यदेश-तुप्रकृतिः पादसंपदि । (अष्टांगहृदय) । उचिने—देशगुण विपरीत गुण युक्त आहार विहारादि बातों में । इस व्यवहार को देश-सात्म्य कहते हैं—देशानामामयानां च विपरीतगुणैः । सात्म्य-मिच्छन्ति सात्म्यश्चाक्षिप्तं चाधमेव च । (चरक) । तदशस्य गुणैः सति—प्रत्येक देश के विशेष गुण होने पर भी । जैसे—जांगल देश के रौक्ष्य श्रोण्य इत्यादि गुण, आनूप देश के क्षिब्धता, शैत्य इत्यादि गुण । गुणशब्द से देश के समस्त धर्मों का भी ग्रहण होता है । इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि किसी भी देश के गुण जैसे ही तीव्र क्यों न हों, यदि उनकी तीव्रता का विचार कर उतने प्रमाय में देशगुणविपरीत आहारविहार को मनुष्य अंगीकार करे तो उसको देशजन्य रोग से पीड़ित होने का कोई भी डर नहीं हो सकता ।

देशप्रकृतिसात्म्यैरु विपरीतोऽचिरोत्थितः ।
संपत्तौ भिषगादीनां बलसत्त्वायुषां तथा ॥५३॥
केवलः समवेहाग्नेः सुखसाध्यतमो गदः ।
अतोऽन्यथा त्वसाध्यः स्यात् कृच्छ्रो व्यामिश्रलक्षणः ॥
१ ० सात्म्ये तु. ० सात्म्यैर्विषो.

(साध्यासाध्यविचार—) देश, प्रकृति, सात्म्य और ऋतु के विपरीत, नवीन, वैद्य आदि सामग्री से समृद्ध, बलसत्त्व और आयु से समृद्ध ॥५३॥ निरुपद्रव, समदेह और समजठ-राग्नि युक्त रोगी का रोग अत्यन्त सुखसाध्य होता है । इन लक्षणों से विपरीत लक्षण युक्त असाध्य होता है और मिश्र-लक्षण युक्त कृच्छ्रसाध्य होता है ॥५४॥

वक्तव्य—देशविपरीत—जांगल देश में कफरोगोत्पत्ति । प्रकृतिविपरीत—पित्तप्रकृति के रोगी में कफरोगोत्पत्ति । सात्म्य-विपरीत—कटुसात्म्य मनुष्य में कफरोगोत्पत्ति । ऋतुविपरीत—शरद ऋतु में वातरोगोत्पत्ति । इनके सिवाय दृष्य वैपरीत्य भी सुखसाध्य का ही लक्षण है । यथा श्लेष्मा से रक्त की दृष्टि । कुछ रोगों में तुल्य दृष्यादिक सुखसाध्य का लक्षण होता है—ज्वरे तुल्यतुंदोपत्वं प्रमेहे तुल्यदृष्यता । अचिरोत्थित—नवीन । रक्तगुल्म पुराना सुखसाध्य होता है—रक्तगुल्मे पुगण-त्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम् । बलसत्त्वायुषाम्—'संपत्तौ' इति संबन्धते । बलसंपत्तियुक्त—सर्वौषधक्षम । सत्त्वसंपत्तियुक्त—पीड़ा सहन करने वाला । आयु की संपत्तियुक्त—यस्यायुस्तस्य सिध्यन्ति न सिध्यन्ति गतायुषि । समदेह—सममांसप्रमाणस्तु समसंहननो नरः । इडेन्द्रियत्वाद् व्याधीनां न वधेनाभिभूयते ॥ क्षुत्पिपासातपसहः शीतव्या-यामससहः । समपक्ता समजरः सममांसचयो मतः ॥ (चरक) । इन लक्षणों के सिवा चरकमतानुसार जो सुखसाध्य के लक्षण हैं, वे १९ वें सूत्र के वक्तव्य में दिये गये हैं । इन दोनों के अतिरिक्त वाग्भट में अमर्मगतत्व, युवावस्था और सूर्यादि ग्रहों की अनुकूल राशिस्थिति ये सुखसाध्य के अधिक लक्षण दिये हैं ।

क्रियायास्तु गुणालामे क्रियामन्यां प्रयोजयेत् ।
पूर्वस्यां शान्तवेगायां न क्रियासंकरो हितः ॥५५॥
(क्रियासंकरनिषेध—) एक क्रिया के प्रयोग से यदि गुण की प्राप्ति प्रतीत न हो तो उस क्रिया का वेग शान्त हो जाने पर दूसरी क्रिया प्रारंभ करनी चाहिये । परन्तु दोनों क्रियाओं का प्रयोग एक समय करना हितकर नहीं है ॥५५॥

वक्तव्य—शान्तवेगायाम्—पूर्व क्रिया का शरीर पर जो परिणाम होता है, वह नष्ट हो जाने पर दूसरी औषधि प्रारंभ करनी चाहिये । क्योंकि पहिली औषधि की क्रिया दूसरी औषधि की क्रिया में बाधा उत्पन्न कर सकती है । क्रियासंकर—एक ही काल में दोनों का प्रयोग ।

गुणालामेऽपि सपदि यदि सैव क्रिया हिता ।
कर्तव्यैव तदा व्याधिः कृच्छ्रसाध्यतमो यदि ॥५६॥

(इस प्रकार अन्य क्रिया प्रारंभ करने पर) रोग अत्यंत कृच्छ्रसाध्य होने के कारण यदि तुरन्त गुण की प्राप्ति प्रतीत न हो तो वही क्रिया, यदि (उस प्रकार के रोगों में) लाभकर हुआ करती हो तो, (कुछ दिनों के लिये) जारी रखनी चाहिये ॥५६॥

वक्तव्य—इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि औषधि के परिवर्तन में कभी कभी जो उतावली की जाती है, वह कम से कम कृच्छ्रसाध्य और चिरकारी रोगों में करनी उचित नहीं । कारण यह है कि इन रोगों में औषधि का शरीर पर परिणाम

पवित्रे दि सहात्वात् श्चभौतकत्वात् कम इव उच्छिद्यन्त्यस्ति एव मन्त्रम् । (शक) ।

सत्त्वं तु व्यसनाभ्युदयक्रियादिस्थानेष्वधिक्वं-
कारम् ॥४३॥

सत्त्ववान् सहते सर्वे संस्तभ्यात्मानमात्मना ।

राजसः स्वभ्यमानोऽन्यैः सहते नैव तामसः ॥४४॥

(सत्त्वविचार—) सत्त्वगुण विपत्ति के, उर्ध्व के तथा (छेदन भेदनादि विक्रिसंप्रयोगी विविध) क्रियाओं के समुप पर (मय की) अभ्याकुल रहता है ॥४३॥ सत्त्वगुणयुक्त मनुष्य स्वयं अपने मन को दृढ करके (शारीरिक और मानसिक) सर्व दुःख को सह सकता है, रवेगुणयुक्त मनुष्य दूसरों से सहारा मिलने पर दुःख को सह सकता है और तमोगुण युक्त मनुष्य (किमी भाँति भी) नहीं सह सकता है ॥४४॥

यत्कथं—स्वप्न—अधिकरकाल । अतिक्रम—दुःख के समय मन की अनुश्रुति रखने वाला, सुख के समय हर्ष रहित करने वाला और शारीरिक पीडा के समय स्थानि रहित रखने वाला ।

सात्म्यानि तु देशकालजात्युत्पत्तौगव्यापामोदक-
दिव्यास्वप्नप्रभृतीनि प्रकृतिविरुद्धान्यपि यान्य-
याधकरादि भवन्ति ॥४५॥

यो रसः कल्पते यस्य सुखायैव निषेवितः ।
व्यापामजातमन्यद्वा तत् सात्म्यामिति निर्दिशेत् ॥४६॥

(सात्म्य—) देश, काल, जाति, ऋतु, रोग, व्यापाम, उदक, दिवास्वप्न इत्यादि जो प्रकृति विरुद्ध होने पर भी पीडाकर नहीं होते, उन्हें सात्म्य कहते हैं ॥४५॥ जो सेवन किया हुआ रस, व्यापाम या अन्य पदार्थ जिसके सुख के लिये कारण होता है, वह उसके लिये साम्य कहलाता है ॥४६॥

यत्कथं—सात्म्य—सह भवना भवति इति सात्म्यम् ।
सात्म्यं नाम तद् दृक्कल्पयते । सात्म्यं नाम तद्, यत्कथंवेदेन-
तेष्वनन्तुते ॥ (शक) । यह साम्य देशकालादि भेद से कई प्रकार का होता है । यत्कथं—अन्य से ही सेवन करने के कारण सुखकर । वया—'यत्कथं' उच्छिद्यन्त्यस्ति इत्यादि-
तीनि ॥ ऋतुसत्त्व—उत्तमत्र में स्वयंभूत अध्याय में जो ऋतुवर्षा वर्षण की गई है, वह ऋतुसत्त्व है । रोगसत्त्व—
रोगानभवन्तः स विरीत्येण गुणः । सत्त्वनिष्ठवि सात्म्यं भे-
दि च यत्कथं च ॥ (शक) । रोगसत्त्व—जलवेगेनेभ्यः विरते-
ति विरीत्येणैरिति शरीररहिते इत्युच्यते । स हि स्थितिगत्य-
स्य ॥ (अष्टांगसंग्रह) । स्वप्नसत्त्व—शारीरिक मानसिक और भाविक सुखकर वेदा । उदकसत्त्व—खाद्यपेय द्रव्यों का साम्य । दिवास्वप्नसाम्य दिव में सोना और रात्रि में जाग-
र्य इनका साम्य—निद्रा स्वप्नैः एव दैतु एव च द्वि वा दित्वा ।
न तेन सान्निध्ये अत्रात् नपि बन्धे ॥ (सुश्रुत) । प्रकृतिविरुद्ध—
तेष्व पदार्थ का ही प्रकृतिविरुद्ध बानि एकाकारितकर होता ।
वया—विष किया सेवन करने वाले की ओ भागादिक स्वस्विक

प्रकृति उससे विरुद्ध होता । वया—वातिक प्रकृति के ।
स्वाहाहार इत्यादि । में सब प्रकार के विरुद्ध पदार्थ अभ्यास
सात्म्य हो जाते हैं ।

प्रकृति भेषजं चोपरिष्ठाद्भवामः ॥४७॥

प्रकृति और भेषज आगे बर्णन करेंगे ॥४७॥

यत्कथं—प्रकृति शरीरस्थान के चौपे अध्याय में
भेषज भूमिप्रविभागादि स्वस्थान के अन्तिम अध्याय में
बर्णन किया गया है ।

देशस्त्वानूपो जाह्नवः साधारण इति । त
यद्दृक्कनिष्ठोत्तमदीवर्षगहनो मृदुशीतानिलो ब
महापर्वतवृत्तो मृदुसुकुमारोपचितशरीरमनुप
प्रायः कफवातपोगभूयिष्ठश्चानूपः ॥४८॥

(भूमिभेद—) आनूप, जांगल और साधारण तीन प्रकार का देश होता है । उनमें से जहाँ पानी बहुत हो, भूमि गूनीची और ऊँची हो, बहुत नदी नाले हों, बहुत वर्षा । कोमल और शीतल पवन चलना हो, बहुत और बड़े । पर्वत तथा वृक्ष हों, जहाँ के अधिकस्त्व शीत मृदु, सुगन्ध और पुष्ट शरीर वाले हों और जहाँ कफ तथा वात के हैं अधिक हों, उसे आनूप देश कहते हैं ॥४८॥

आकाशसमः प्रविरलात्पकण्डकित्तुसमाप्रयोऽद
वर्षप्रसवणोद्पानोदकप्राय उष्णदारुणवातः प्रति
रलात्पथैः स्थिरकृशशरीरमनुष्यप्रायो वातपिप
रोगभूयिष्ठश्च जाह्नवः उभयदेशलक्षणः साधारण
इति ॥४९॥

आकाश के समान (जो ऊँचाई और नीचाई रहित सम हो, जहाँ के वृक्ष अत्यन्त विरल छोटे और कंटकयुक्त हों, वर्षा बर्षा बहुत मोटी होती हो, जहाँ भरने हुए आदि में पानी मोटा हो, जहाँ उष्ण और वेगयुक्त हवा बहुत चलती है जहाँ छोटे छोटे पहाड़ इषिद्ध होते हों, जहाँ अधिकतर मनुष्य दृढ़ और कृश शरीर वाले होते हैं तथा जहाँ वात और पित्त रोग अधिक होते हैं, उस देश को जांगल देश कहते हैं । जहाँ दोनों के लक्षण पाये जाते हैं, वह साधारण देश कहलाता है ॥४९॥

भवन्ति चात्र—

समा साधारणे यस्मान्छीतवर्षोष्णमारताः ।
दोषाणां समता जन्तोस्तस्मात्साधारणो मतः ॥५०॥

(साधारणभूमि—) धृक् साधारण देश में शीत, पृथ्वी, गरमी और वायु सम होने हैं, तथा शीतों के दोष साम्यावस्था में होने हैं, इसलिये वह देश साधारण कहलाता है ॥५०॥

न तथा षडवन्तः स्युर्जलजा या स्थलाहताः ।
स्वदेशे निचिता दोषा अन्यसिन्धु कोषमागताः ॥५१॥

उचिते वर्तमानस्य नास्ति देशकृतं भयम् ।
आहारस्वप्नचेष्टादौ तद्देशस्य गुणे सति ॥५२॥

स्वदेश में संचित हुए दोष अन्य देश में कुपित होने पर उतने बचान् नहीं होते, जैसे कि अन्धर अंध जनीन

जाने से बलवान् नहीं होते ॥५१॥ देश के अनुसार ३ गुण आहार विहार निद्रादि बातों में व्यवहार करने के लिये देश के गुण होने पर भी देशजन्य रोग होने का नहीं होता ॥५२॥

वक्तव्य—इन श्लोकों में जलवायुचिकित्सा (Climatic treatment) का तत्त्व वर्णन किया है । वा—(?) यथा । जलचर जीव बलयुक्त होने पर भी जमीन पर बलहीन जाते हैं, उस प्रकार—नक्रः स्वस्थानमासाद्य गजेन्द्रमपि कर्षति । त्र प्रच्युतः स्थानाच्छुनापि परिभूयते ॥ (२) 'स्थलजा वा जलाः' इस प्रकार भी अर्थ हो सकता है । स्वदेशे—अनुगुण- । यथा—आनूपोपचितः कफः । अन्यस्मिन्—विरुद्धगुणदेशे । यथा— । त्वदेशे कुपितः कफः । डल्हणाचार्य तथा चक्रपाण्दिन प्रथम कार्थ रोगसंबंधी और द्वितीय श्लोकार्थ दोषसंबंधी मानते—तुल्यगुणदेशजातस्य रोगस्य विपरीतगुणे देशे सुचिकित्स्यातां यत्राह—न तथेत्यादि । जलजा इति आनूपदेशजाताः शीपदादयः । ल्हणा) । न केवलं व्यापय एव परं विरुद्धदेशगता दुर्बला भवन्ति नु दोषा अपि विरुद्धदेशप्राप्तिकुपिता न बलवन्त इत्याह—स्वदेशे ादि । (चक्र) । परन्तु इस प्रकार दोष और व्याधि या रोग प्रक करने की कोई आवश्यकता नहीं है । चिकित्सा की ष्टे से दोनों एक ही होते हैं—दोषा रोगशब्द लभन्ते । (चरक) । ऋतुदोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता । (अष्टांगहृदय) । वास्तव में णों श्लोकार्थ में एक कल्पना है, और उस कल्पना को बुद्धि- म्य करने के लिये 'जलजा वा स्थलाहताः' करके दृष्टान्त दिया है । अर्थात् इस श्लोक का विस्तृत अर्थ इस प्रकार है— । ल्यगुण देश में संचित हुए दोष यानि रोग जितने बलवान् ानि दुरुपक्रम होते हैं, उतने स्वप्रतिकूलगुण देश में कुपित णे पर बलवान् नहीं होते । जैसे कि जलचर प्राणी जल में जेतने बलवान् होते हैं, उतने जमीन पर नहीं होते । इसी तत्त्व के आधार पर देशवैपरीत्य सुखसाध्यता का एक लक्षण होता है—न च कालगुणस्तुल्यो न देशो दुरुपक्रमः । (चरक) । देशप्रकृतिसाल्म्यर्तुविपरीतोऽचिरोत्थितः । (सुश्रुत) । अतुल्यदूष्यदेश- र्तुप्रकृतिः पादसंपदि । (अष्टांगहृदय) । उचिते—देशगुण विपरीत गुण युक्त आहार विहारादि बातों में । इस व्यवहार को देश- साल्म्य कहते हैं—देशानामामयानां च विपरीतगुणं गुणैः । साल्म्य- मिच्छन्ति साल्म्यक्षिष्टितं चाधमेव च । (चरक) । तदशस्य गुणे सति— प्रत्येक देश के विशेष गुण होने पर भी । जैसे—जांगल देश के रौक्ष्य औष्ण्य इत्यादि गुण, आनूप देश के जिग्घता, शैत्य इत्यादि गुण । गुणशब्द से देश के समस्त धर्मों का भी ग्रहण होता है । इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि किसी भी देश के गुण जैसे ही तीव्र क्यों न हों, यदि उनकी तीव्रता का विचार कर उतने प्रमाण में देशगुणविपरीत आहारविहार को मनुष्य अंगीकार करे तो उसको देशजन्य रोग से पीड़ित होने का कोई भी डर नहीं हो सकता ।

देशप्रकृतिसाल्म्यर्तु विपरीतोऽचिरोत्थितः ।
संपत्तौ भिषगादीनां बलसत्त्वायुषां तथा ॥५३॥
केवलः समदेहाग्नेः सुखसाध्यतमो गदः ।
अतोऽन्यथा त्वसाध्यः स्यात् कृच्छ्रो न्यामिश्चलक्षणः ॥

(साध्यासाध्यविचार—) देश, प्रकृति, साल्म्य और ऋतु के विपरीत, नवीन, वैद्य आदि सामग्री से समृद्ध, बलसत्त्व और आयु से समृद्ध ॥५३॥ नित्यद्रव, समदेह और समजठ- राग्नि युक्त रोगी का रोग अत्यन्त सुखसाध्य होता है । इन लक्षणों से विपरीत लक्षण युक्त असाध्य होता है और मिश्र- लक्षण युक्त कृच्छ्रसाध्य होता है ॥५४॥

वक्तव्य—देशविपरीत—जांगल देश में कफरोगोत्पत्ति । प्रकृतिविपरीत—पित्तप्रकृति के रोगी में कफरोगोत्पत्ति । साल्म्य- विपरीत—कटुसाल्म्य मनुष्य में कफरोगोत्पत्ति । ऋतुविपरीत— शरद् ऋतु में वातरोगोत्पत्ति । इनके सिवाय दूष्य वैपरीत्य भी सुखसाध्य का ही लक्षण है । यथा श्लेष्मा से रक्त की दृष्टि । कुछ रोगों में तुल्य दूष्यादिक सुखसाध्य का लक्षण होता है—ज्वरे तुल्यर्तुदोषत्वं प्रमेहे तुल्यदूष्यता । अचिरोत्थित— नवीन । रक्तगुल्म पुराना सुखसाध्य होता है—रक्तगुल्मे पुगण- त्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम् । बलसत्त्वायुषाम्—'संपत्तौ' इति संबन्धते । बलसंपत्तियुक्त—सर्वौषधक्षम । सत्त्वसंपत्तियुक्त—पीड़ा सहन करने वाला । आयु की संपत्तियुक्त—यस्यायुस्तस्य सिध्यन्ति न सिध्यन्ति गतायुषि । समदेह—सममांसप्रमाणस्तु समसहननो नरः । शृङ्गेन्द्रयत्वाद् व्याधीनां न बलेनाभिभूयते ॥ क्षुत्पिपासातपसहः शीतन्या- यामसंसहः । समपक्ता समजरः सममांसचयो मतः ॥ (चरक) । इन लक्षणों के सिवा चरकमतानुसार जो सुखसाध्य के लक्षण हैं, वे १९ वें सूत्र के वक्तव्य में दिये गये हैं । इन दोनों के अतिरिक्त वाग्भट में अमर्मगतत्व, युवावस्था और सूर्यादि ग्रहों की अनुकूल राशिस्थिति ये सुखसाध्य के अधिक लक्षण दिये हैं ।

क्रियायास्तु गुणालामे क्रियामन्यां प्रयोजयेत् ।
पूर्वस्यां शान्तवेगायां न क्रियासंकरो हितः ॥५५॥

(क्रियासंकरनिषेध—) एक क्रिया के प्रयोग से यदि गुण की प्राप्ति प्रतीत न हो तो उस क्रिया का वेग शान्त हो जाने पर दूसरी क्रिया प्रारंभ करनी चाहिये । परन्तु दोनों क्रियाओं का प्रयोग एक समय करना हितकर नहीं है ॥५५॥

वक्तव्य—शान्तवेगायाम्—पूर्व क्रिया का शरीर पर जो परिणाम होता है, वह नष्ट हो जाने पर दूसरी औषधि प्रारंभ करनी चाहिये । क्योंकि पहिली औषधि की क्रिया दूसरी औषधि की क्रिया में बाधा उत्पन्न कर सकती है । क्रियासंकर— एक ही काल में दोनों का प्रयोग ।

गुणालामेऽपि सपदि यदि सैव क्रिया हित्ता ।
कर्तव्यैव तदा व्याधिः कृच्छ्रसाध्यतमो यदि ॥५६॥

(इस प्रकार अन्य क्रिया प्रारंभ करने पर) रोग अत्यंत कृच्छ्रसाध्य होने के कारण यदि शुरन्त गुण की प्राप्ति प्रतीत न हो तो वही क्रिया, यदि (उस प्रकार के रोगों में) लाभकर हुआ करती हो तो, (कुछ दिनों के लिये) जारी रखनी चाहिये ॥५६॥

वक्तव्य—इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि औषधि के परिवर्तन में कमी कमी जो उतावली की जाती है, वह कम से कम कृच्छ्रसाध्य और चिरकारी रोगों में करनी उचित नहीं । यह है कि इन रोगों में औषधि का शरीर पर

होने के लिये समय की आवश्यकता होती है । अतः रोग का निदान करके योग्य और हितकर औषधि का प्रयोग तुरन्त लाभकारी न हो तो भी सात दिन तक कम से कम इसका अनुभव देखना आवश्यक है—यद्यपि पल न इत्यथे साऽपि समस्तत्र प्रतिकर्ष्या । (इहहृष्य) । तदनन्तर दूसरी क्रिया कर सकते हैं ।

य एवमेनं विधिमेकरूपं
विभर्ति कालादिवशेन धीमान् ।
स मृत्युपाशान् जगतो गदौघान्
द्विनन्ति भैषज्यपरश्वघेन ॥१७॥

इति सुश्रुतसंहितायां धेनस्थाने आतुरोपक्रमणीयो
नाम पञ्चविंशत्तमोऽध्यायः ॥३५॥

जो बुद्धिमान् वैद्य ऋतु, अग्नि इत्यादि का विचार करके इस प्रकार की मुख्य विधि की चिकित्सा के समय यथायावत् व्यवहार में लाता है, वह मृत्यु के पाशस्वरूप जगत् के रोगसमूह को धीरेधीरे कुठार से छेदन करता है ॥१७॥

वक्तव्य—एकरूप—मुख्य । विभर्ति—कार्यकाले यथावद् व्यवहरति । कालदिवशेन—कालान्वादिदिविधेनेन । गदौघ—विकारसमूह । परश्व—पारशु या कुठार—भार शिला रामपरश्व पशु समावयत्युत्पलप्रसारान् । (रघुवंश) ।

इति भास्करशर्मणा ये विन्द्यात्मनेन विरचितयामातुरोपक्रमणीयिकायां
सुश्रुतभाषाटीकयामातुरोपक्रमणीयो नाम पञ्चविंशत्तमोऽध्यायः ॥३५॥

षट्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथातो मिश्रकमध्यायं व्याख्यास्यामः । ययो-
याच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से मिश्रक नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—मिश्रक—विस्लापनादि मर्णों के आठ उपक्रमों का मिश्र व्याख्यान करने के कारण, अथवा मृण और शोफ दोनों के मिश्र दौगों का व्याख्यान करने के कारण मिश्रक कहते हैं ।

मातुलुद्गाग्निमन्थौ च भद्रदास महौषधम् ।
अहिंसा वैद्य राज्ञा च प्रलेपो यातशोफजित् ॥२॥
दूर्वा च नलमूलं च मधुकं चन्दनं तथा ।
शीतलाश्च गण्डाः सर्वे प्रलेपः पित्तशोफहृत् ॥३॥
आगन्तुजे रक्तजे च होष पय विधिः स्मृतः ।
विधिविधायो पिपजे पित्तप्रोऽपि हितस्तथा ॥४॥
अजगन्धाऽभ्यगन्धा च काला सरलया सह ।
पर्कैपिकाऽजगृह्णी च प्रलेपः त्रेष्वमशोफहृत् ॥५॥
एते धर्माश्चो लोभं पश्या पित्तेहीतकानि च ।
अनन्ता चेति लपोऽयं सात्रिपातिशोफहृत् ॥६॥

विजोरा, अरणी, देवदारु, गुण्ठी, अहिंसा (कण्ठकपालं वृत्तं), राक्षा इनका लेप वातशोष का हरण करता है ॥२॥
दूर्वा, नरसल की जड़, मुलहठी, रक्त चन्दन क्षीर शीतल गन्ध की औषधियाँ इनका लेप पित्तजन्य शोष का हरण करता है ॥३॥
आगन्तुज मद्यशोष और रक्तज मद्यशोष में भी यह (पित्त के समान) विधि करनी चाहिये । और विषजन्य शोष में विषनाशक विधि तथा पित्त विधि हितकर होती है ॥४॥
वन की अजगन्ध, असगन्ध, मंजिष्ठा, अल्हा त्रिवृत्, शेर त्रिवृत्, अजशर्णी (ककैट शर्णी किंवा मेघशर्णी) इनका लेप कफजन्य शोष को हरण करता है ॥५॥
इन तीन वर्गों के (वातज, पित्तज और कफज) द्रव्य तथा लोच, हरदे, मैनफल, अनन्तमूल (साहसा) इनका लेप साक्षिपातिक शोष दूर करता है ॥६॥

वक्तव्य—चन्दन—रक्त चन्दन—कथायजेयो प्रायो बुज्यो रक्तचन्दनम् । (शाङ्ग्य) । शीतलान्न—काकोल्यादि, उत्पलादि और न्यग्रोधोपादि गण ।

क्रिग्धाभल्लवण्यो वाते कोष्णः, शीतः पयोयुतः ।
पित्ते, चोष्णः कफे चारमूत्राण्यस्तत्प्रशान्तये ॥७॥
वात के शोष में छेद, अम्ल और लवण युक्त तथा क्षिपित् उष्ण लेप करना चाहिये, पित्त के शोष में दूध में किया हुआ लेप करना चाहिये और कफ के शोष में गरम तथा चारबहुल और मूत्रबहुल लेप करना चाहिये । इससे इनकी शान्ति हो जाती है ॥७॥

शण्मूलकशिप्रणां फलानि तिलसर्पपाः ।
संकवः किण्वमतसी द्रव्याण्युष्णानि पाचनम् ॥८॥
शण के बीज, मूली के बीज, सहेजन के बीज, तिल, सरसों, सज, सुराही, तीसी तथा अन्य उष्ण पदार्थ इनका लेप मृण शोष का पाचन करता है ॥८॥

वक्तव्य—मन्त्र—यवतपुष्कलादिभ्यो सन्तु प्रकीर्तित् ॥
उष्ण द्रव्य—कुष्ठ अगुरु प्रभृति । पाचन—इन द्रव्यों का उपयोग उपनाह (Poultice) के स्वरूप में करने से शोष जल्दी पक जाता है ।

विरवित्योऽग्निको दन्ती चित्रको हयमारकः ।
कपोतगृध्रकङ्काणां पुरीपाणि च दारणम् ।
चारद्रव्याणि वा यानि चारो वा दारणं परम् ॥९॥
(दारण—) बहा करज, महातक, दन्ती, चित्रक, कनेर तथा कपोत शोष और कक इनकी विद्या मृणशोष का दारण करती है । अथवा (मुक्कशुद्ध पलाशादि) चार द्रव्य वा चारो ये भी विद्वार्य करने में परम समर्थ हैं ॥९॥
द्रव्याणां पिच्छिलानां तु त्वद्मूलानि प्रपीडनम् ।
ययगोधूममागणां चूर्णानि च समासतः ॥१०॥
पिच्छिल द्रव्यों की छाल या जड़ तथा यव, गेहूँ और उड़द इनका चूर्ण ये सत्रोप में (मर्णों के) पीड़न करने वाले होते हैं ॥१०॥

वक्तव्य—पिच्छिल द्रव्य—शाल्मलि, सेष्पातक, बर, मागकला इत्यादि द्रव्य । प्रपीडनम्—मद्यशोष चूटने के पश्चात् १ हृत्पत् ।

र्गत पूय को बाहर निकालने के लिये इन द्रव्यों को पीसकर के अतिरिक्त सर्व शोध स्थान पर लेप किया जाता है । लेप लेने के पश्चात् जो खिंचाव उत्पन्न होता है, उससे पीप बाहर ढल आती है—पूर्यगर्भानणुद्वारान् व्रणान् ममेगतानपि । यथोक्तैः नद्रव्यैः समन्तात् परिपीडयेत् ॥ शुभ्रमाणमुपेक्षेत् प्रदेहं पीडनं प्रति । वभिमुद्वमालिन्पेत्था दोषः प्रसिच्यते ॥ (चिकित्सा अ. १) ।

गुह्यिन्धुकोष्ठसुमनःकरवीरसुवर्चलाः ।

शोधनानि कषायाणि वर्गश्चारग्वधादिकः ॥११॥

(शोधन कषाय—) शंखिनी (यवतिका), अंकोठ, लती, कनेर, सूर्यमुखी और आरग्वधादि वर्ग के द्रव्य इनके राय व्रणशोधक होते हैं ॥११॥

वक्तव्य—व्रणों का शोधन आठ प्रकार से किया जाता—१ कषाय, २ वर्ति, ३ कल्क, ४ घृत, ५ तैल, ६ रसक्रिया, अवचूर्णन, और ८ धूपन । प्रथम शंखिन्यादि द्रव्यों का कषाय (Lotion) के स्वरूप में व्रण धोने के लिये प्रयुक्त होता । धोने के पश्चात् सूत्रवर्ति पर निम्न द्रव्यों का लेप करके वह वर्ति व्रण के भीतर डाली जाती है ।

अजगन्धाऽजशृङ्गी च गवाक्षी लाङ्गलाह्वया ।

पूतीकश्चित्रकः पाठा विडङ्गैलाहरेणवः ॥१२॥

कटुत्रिकं यवन्नारो लवणानि मनःशिला ।

कासीसं त्रिवृता दन्ती हरितालं सुराष्ट्रजा ॥१३॥

संशोधनीनां वर्तीनां द्रव्याण्येतानि निर्दिशेत् ।

अजगंधा, कर्कटशृंगी, इन्द्रवास्णी, लांगली, बड़ा करंज, चित्रक, पाठा, विडङ्ग, बड़ी इलायची, रेणुका ॥१२॥ त्रिकटु (सोंठ, मिरच, पिप्पली), यवन्नार, सैन्धवादि पंच लवण, मनशिल, हरा तुतिया, त्रिवृत, दंती, हरिताल और फिटकरी ॥१३॥ संशोधन वर्तियों (को ऊपर लगाने) के लिये ये द्रव्य उपयुक्त होते हैं ।

पतैरवैषधैः कुर्यात्कल्कानपि च शोधनान् ॥१४॥

कासीसकटुरोहिण्योर्जातीकन्दहरिद्रयोः ।

पूर्वोद्दिष्टेषु चाङ्गेषु कुर्यात्तैलघृतानि वै ॥१५॥

इन (अजगन्धादि) द्रव्यों से ही शोधनकल्क करने चाहिये ॥१४॥ कासीस, कटुकी, चमेली की जड़ और हलदी इनके काथ और कल्क में तैल अथवा घृत पकाकर तैयार करना चाहिये ॥१५॥

वक्तव्य—पूर्वोद्दिष्टेषु चाणेषु—संशोधन के लिये पूर्वोक्त निर्दिष्ट कल्क और काथ में—यत्राधिकरणेनोक्तिर्गणे स्यात् स्नेह-संविधौ । तत्रैव कल्कनिर्घृहाविधेने स्नेहवादिना ॥ कल्काच्चतुर्युगः स्नेहः स्नेहात् काथश्चतुर्युगः ॥

अर्कोत्तमां स्नुहीक्षीरं पिष्ट्वा क्षारोत्तमानपि ।

जातीमूलं हरिद्रे द्वे कासीसं कटुरोहिणीम् ॥१६॥

पूर्वोद्दिष्टानि चान्यानि कुर्यात् संशोधनं घृतम् ।

आक की जड़, त्रिफला (उत्तमा), सेहुन्ड का दूध, (मुक्क, पलाश, कुटज, अश्वकर्णादि) क्षारश्रेष्ठ द्रव्य, जाति-मूल, हलदी और दारु हलदी, कासीस, कटुकी ॥१६॥ और

१ सुधाश्रीर.

पूर्वोक्त शोधनवर्तिनिर्दिष्ट द्रव्यों को पीसकर उनमें संशोधन घृत साधित करे ।

मयूरको राजवृक्षो निम्बः कोशातकी तिलाः ॥१७॥

बृहती कण्टकारी च हरितालं मनःशिला ।

शोधनानि च योज्यानि तैले द्रव्याणि शोधने ॥१८॥

अपामार्ग, अमलतास, निम्ब, कोपातकी, तिल ॥१७॥ बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, हरिताल, मनशिल और अन्य (शोधनवर्तिनिर्दिष्ट) शोधन द्रव्य इनका उपयोग शोधन द्रव्य के लिए करना चाहिये ॥१८॥

कासीसे सैन्धवे किण्वे वचायां रजनीद्वये ।

शोधनाङ्गेषु चान्येषु चूर्णं कुर्वीत शोधनम् ॥१९॥

कासीस, सैन्धव, सुरावीज, वच, हलदी, दारु हलदी तथा अन्य शोधन द्रव्य लेकर उनसे शोधन चूर्ण बनावे ॥१९॥

वक्तव्य—कासीसे सैन्धवे इत्यादि—ये सब ससमी के प्रयोग घटकतानिदर्शनार्थ प्रयुक्त हुए हैं ।

सालसारादिसारेषु पटोलत्रिफलासु च ।

रसक्रिया विघातव्या शोधनी शोधनेषु च ॥२०॥

(रसक्रिया—) सालसारादि गण के द्रव्य, पटोल, त्रिफला तथा अन्य शोधक द्रव्य इनसे व्रण शोधन के लिये रसक्रिया करनी चाहिये ॥२०॥

वक्तव्य—रसक्रिया—अष्टगुण या षोडशगुण पानी डाल कर उसका अष्टमांश या षोडशांश काथ बनाया जाता है । तत्पश्चात् फिर उस काथ को काकवी या चाशनी की भाँति अग्नि से गाढ़ा बनाया जाता है । शोधनेषु—शोधनाङ्गेषु ।

श्रीवेष्टके सर्जरसे सरले देवदारुणि ।

सारेष्वपि च कुर्वीत मतिमान् व्रणधूपनम् ॥२१॥

(धूपन द्रव्य—) श्रीवेष्टक (गुग्गुलु-सरलनिर्यास या तार्पिन), राल, सरल वृक्षत्वचा, देवदार और सालसारादि द्रव्य इनके धूप से बुद्धिमान् वैद्य व्रण का धूपन करे ॥२१॥

कषायाणामनुष्णानां वृक्षाणां त्वक्षु साधितम् ।

शृतं शीतं कषायं वा रोपणार्थेषु शस्यते ॥२२॥

सोमामृताश्वगन्धासु काकोल्यादौ गणे तथा ।

क्षीरप्ररोहेष्वपि च वर्तयो रोपणाः स्मृताः ॥२३॥

(रोपण द्रव्य—) अनुष्ण वीर्य और कसैले वृक्षों की छाल से साधित काथ या शीत कषाय व्रण रोपण के लिये प्रशस्त होता है ॥२२॥ सोम वनस्पति (Sarcostemma Brevis-tilium), गिलोय, असगंध, काकोल्यादि गण के द्रव्य तथा क्षीरी वृक्षों के अंकुर इनके कल्क से लितवर्ति व्रण का रोपण करने वाली होती है ॥२३॥

वक्तव्य—कषायाणामनुष्णानाम्—न्यग्रोध, औटुवर, छत्र इत्यादि अनुष्ण और वजाय वर्ग के वृक्षों की छाल से । शीत-कषाय—द्रव्याद्रोपोत्थितात् तीये तत्पुनर्निशि सस्थितात् । कषायो योऽभि-निर्याति स शीतः समुदाहृतः ॥ क्षीरवृक्षाः—अभ्युद्योऽन्वरक्ष्वक्षवटपिप्ल-सगिताः । पत्रैरे क्षीरिणे वृक्षाः समाख्याता विचक्षणैः ॥ (अरुणादत्त) ।

समङ्गा सोमसरला सोमवल्कः सचन्दनः ।

काकोल्यादिश्च कल्कः स्यात् प्रशस्तो व्रणरोपणे ॥२४॥

हीने के लिये समय की आवश्यकता होती है । अतः रोग का निदान करके योग्य और हितकर औषधि का प्रयोग तुम्हें लाभकारी न हो तो भी सात दिन तक कम से कम इसका अनुभव देखना आवश्यक है—यद्यपि फल न दृश्यते साऽपि सप्तत्रयं प्रतिकर्तव्यम् । (इच्छव्यम्) । तदनन्तर दूसरी क्रिया कर सकते हैं ।

य एवमेतं विधिमेकरूपं
विभक्तिं कालादिवशेन धीमान् ।
स मृत्युपाशान् जगतो गदौघान्
छिन्नन्ति भ्रैपज्यपरश्वघ्नेन ॥१७॥

इति सुश्रुतसंहितायां श्लेष्मन्ते आतुरोपक्रमणीयो
नाम पञ्चत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३५॥

जो बुद्धिमान् वैद्य भ्रतु, अग्नि इत्यादि का विचार करके इस प्रकार की मुख्य विधि को चिकित्सा के समय पक्षाघात व्यवहार में लाता है, वह मृत्यु के पाशस्वरूप जगत् के रोगसमूह को भीषणरूप कुठार से छेदन करता है ॥१७॥

यक्तव्य—एकरूप—मुप्य । विभक्ति—कार्यकाले यथावद् व्यवहरति । कालादिवशेन—कालान्यादिविवेकेन । गदौघ—विकारसमूह । परश्व—परशु या कुठार—भारं शिलां रामपरश्व पश्य समावयत्युत्पन्नमप्यमाम् । (स्युर्वेद्यम्) ।

इति भास्करार्भंगा गोविन्दराज्येन त्रिपरिभाषामाशुषेन्द्रस्वदीपिकायां
सुश्रुतभाषायादीक्यामातुरोपक्रमणीयो नाम पञ्चत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३५॥

षट्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथातो मिश्रकमध्यायं व्याख्यास्यामः । यद्यो-
पाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से मिश्रक नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

यक्तव्य—मिश्रक—विम्बापनादि वृक्षों के आठ उपवृक्षों का मिश्र व्याख्यान करने के कारण, अथवा ऋण और शोक दोनों के मिश्र योगों का व्याख्यान करने के कारण मिश्रक कहते हैं ।

मातुलुङ्गाग्निमन्थौ च भद्रद्राव महौषधम् ।
अहिंसा चैव राज्ञा च भ्रलेपो वातशोफजित् ॥२॥
धूर्वा च नलमूलं च मधुकं चन्दनं तथा ।
शीतलाश्वा गणाः सर्वे भ्रलेपः पित्तशोफहृत् ॥३॥
आगन्तुजे रक्ते च श्लेष्मण्ये विधिः स्मृतः ।
विधिविपन्नो विपजे पित्तघ्नोऽपि हितस्तथा ॥४॥
अजगन्धाऽध्वगन्धा च काला सरलया सह ।
एकैपिकाऽजगन्धा च भ्रलेपः श्लेष्मण्योफहृत् ॥५॥
एते वर्गास्तयो लोभ्रं पथ्या पिप्लैकीतकानि च ।
अनन्ता चेति श्लेषोऽयं सात्रिपातिकशोफहृत् ॥६॥

विजोरा, अरणी, देवदारु, गुण्ठी, अहिंसा (कण्टकपा वृत्), राज्ञा इनका लेप वातशोफ का हरण करता है ॥
धूर्वा, नरसल की अड़, मुलदही, रक्त चन्दन और शीतल ग की औषधियाँ इनका लेप पित्तजन्य शोथ का हरण करता ॥३॥ आगन्तुज भ्रमणशोथ और रक्तज भ्रमणशोथ में भी य (पित्त के समान) विधि करनी चाहिये । और विपन्न शोथ में विपनायक विधि तथा पित्तज विधि हितकर होती ॥४॥ वन की अजवायन, असगंध, मेजिष्ठा, अरुण त्रिवृत्, त्रिवृत्, अजश्लेष्मी (कंकट श्लेष्मी किंवा मेपश्लेष्मी) इनका लेप कफजन्य शोथ को हरण करता है ॥५॥ इन तीन वर्गों (वातज, पित्तज और कफज) द्रव्य तथा श्लेष्म, हरेद्रे, मैनफर अनन्तमूल (सालमा) इनका लेप साक्षिपातिक शोथ द हरता है ॥६॥

यक्तव्य—चन्दन—रक्त चन्दन—कण्ठापलेपो—प्रसो गुग्गुलु स्तम्बचन्दनम् । (शाङ्खेयम्) । शीतलान्न—काकोल्यादि, उषलां और न्यग्रोधोपादि गण ।

श्लेष्मामल्लवणो वाते कोष्णः, शीतः पयोयुतः ।
पित्ते, चोष्णः कफे क्षारमूत्राद्यस्तप्रशान्तये ॥
वात के शोथ में श्लेष्म, अम्ल और लवण युक्त तथा क्षिपि उष्ण लेप करना चाहिये, पित्त के शोथ में दूध में किया हुआ लेप करना चाहिये और कफ के शोथ में गरम तथा क्षारबहु और मूत्रबहु लेप करना चाहिये । इससे इनकी शान्ति हो जाती है ॥३॥

शारमूलकशिग्रुणां फलानि तिलसर्षपाः ।
संततवः किण्वमतस्वी द्रव्याण्युष्णानि पाचनम् ॥४॥
शण के बीज, मूली के बीज, सहजजन के बीज, तिल, सरसों सजु, सुराबीज, तीसी तथा अन्य उष्ण पदार्थ इनका लेप वा शोथ का पाचन करता है ॥४॥

यक्तव्य—मक्तु—धनवण्डुललाजदिर्वृक्षैः सक्तु प्रकीर्तित । उष्ण द्रव्य—कुण्ड अगुरु प्रभृति । पाचन—इन द्रव्यों का उपयोग उपनाह (Poultice) के स्वरूप में करने से शोथ जलदी पव जाता है ।

चिरवित्त्वोऽग्निशो दन्ती चित्रको हयमारकः ।
कपोतगृध्रकङ्काणां पुरीषाणि च क्षारणम् ॥
क्षारद्रव्याणि धा यानि क्षारो वा क्षारणं परम् ॥९॥
(क्षारणम्) बड़ा करज, महातक, दन्ती, चित्रक, कनेर तथा कपोत गीध और कक इनकी विष्ठा भ्रमणशोथ का क्षारण करती है । अथवा (मुष्ककट्टज पलाशादि) क्षार द्रव्य या क्षार ये भी विदारण करने में परम समर्थ हैं ॥९॥
द्रव्याणां पिच्छिलानां मुख्यमूलानि प्रपीडनम् ।

॥१०॥

यक्तव्य—पिच्छिल द्रव्य—बाजसलि, श्लेष्मानक, बदर, नागबला इत्यादि द्रव्य । प्रपीडनम्—भ्रमणशोथ छूटने के पश्चात्

अन्तर्गत धूप की बाहर निकालने के लिये इन द्रव्यों को पीसकर मुख के अतिरिक्त सर्व शोध स्थान पर लेप किया जाता है । लेप धुलने के पश्चात् जो खिंचाव उत्पन्न होता है, उससे पीप बाहर निकल आती है—पूर्वगर्मानुद्वारान् व्रणान् मर्मगतानपि । यथोक्तैः पीडनद्रव्यैः समन्तात् परिपीडयेत् ॥ शुष्यमाणमुपेक्षेत प्रदेहं पीडनं प्रति । न चाभिसुखमालिम्बेतया दोषः प्रसिच्यते ॥ (चिकित्सा अ. १) ।

शङ्खिन्यङ्गोत्सुमनःकरवीरसुवर्चलाः ।

शोधनानि कपायाणि वर्गश्चारग्वधादिकः ॥११॥

(शोधन कपाय—) शंखिनी (यवतिका), अंकोठ, मालती, कनेर, सूर्यमुखी और आरग्वधादि वर्ग के द्रव्य इनके कपाय व्रणयोधक होते हैं ॥११॥

वक्तव्य—वर्णों का शोधन आठ प्रकार से किया जाता है—१ कपाय, २ वर्ति, ३ कल्क, ४ घृत, ५ तैल, ६ रसक्रिया, ७ अवचूर्णन, और ८ धूपन । प्रथम शंखिन्यादि द्रव्यों का कपाय धावन (Lotion) के स्वरूप में व्रण धोने के लिये प्रयुक्त होता है । धोने के पश्चात् सूत्रवर्ति पर निम्न द्रव्यों का लेप करके वह वर्ति व्रण के भीतर डाली जाती है ।

अजगन्धाऽजशृङ्गी च गवाक्षी लाङ्गलाहया ।

पृतीकश्चित्रकः पाठा विडङ्गैलाहरेणवः ॥१२॥

कटुत्रिकं यवद्वारो लवणानि मनःशिला ।

कासीसं त्रिवृता दन्ती हरितालं सुरापृजा ॥१३॥

संशोधनीनां वर्तानां द्रव्याण्येतानि निर्दिशेत् ।

अजगन्धा, कर्कटशृङ्गी, इन्द्रवारुणी, लंगली, बड़ा करंज, वेत्रक, पाठा, विडङ्ग, बड़ी इलायची, रेणुका ॥१२॥ त्रिकटु सोंठ, मिरच, पिप्पली, यवद्वार, सैन्धवादि पंच लवण, लशिल, हरा तुतिया, त्रिवृत, दन्ती, हरिताल और फिटकरी ॥१३॥ संशोधन वर्तियों (को ऊपर लगाने) के लिये ये द्रव्य उपयुक्त होते हैं ।

पतैरेचौषधैः कुर्यात्कल्कानपि च शोधनान् ॥१४॥

कासीसकटुरोहिण्योर्जातीकन्दहरिद्रयोः ।

पूर्वोद्दिष्टेषु चाङ्गेषु कुर्यात्तैलघृतानि च ॥१५॥

इन (अजगन्धादि) द्रव्यों से ही शोधनकल्क करने चाहिये ॥१४॥ कासीस, कटुकी, चमेली की जड़ और हलदी इनके काथ और कल्क में तैल अथवा घृत पकाकर तैयार करना चाहिये ॥१५॥

वक्तव्य—पूर्वोद्दिष्टेषु चाङ्गेषु—संशोधन के लिये पूर्वोक्त निर्दिष्ट कल्क और काथ में—यथाधिकरणेनोक्तिर्गणे स्यात् स्नेह-सिद्धौ । तत्रैव कल्कनिर्घृहाविष्येने स्नेहवादिना ॥ कल्काच्चतुर्युगः स्नेहः स्नेहात् काथश्चतुर्युगः ॥

अर्कोत्तमां स्नुहीक्षीरं पिष्ट्वा क्षारोत्तमानपि ।

जातीमूलं हरिद्रिं द्वे कासीसं कटुरोहिणीम् ॥१६॥

पूर्वोद्दिष्टानि चान्यानि कुर्यात् संशोधनं घृतम् ।

आक की जड़, त्रिफला (उत्तमा), सेहुन्ड का दूध, (सुक्क, पलाश, कुटज, अधकणादि) क्षारश्रेष्ठ द्रव्य, जाति-मूल, हलदी और दारु हलदी, कासीस, कटुकी ॥१६॥ और

१ सुभाषीर.

पूर्वोक्त शोधनवर्तिनिर्दिष्ट द्रव्यों को पीसकर उनमें संशोधन घृत साधित करे ।

मयूरको राजवृक्षो निम्बः कोशातकी तिलाः ॥१७॥

बृहती कण्टकारी च हरितालं मनःशिला ।

शोधनानि च योज्यानि तैले द्रव्याणि शोधने ॥१८॥

अपामार्ग, अमलतास, निम्ब, कोपातकी, तिल ॥१७॥

बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, हरिताल, मनशिल और अन्य

(शोधनवर्तिनिर्दिष्ट) शोधन द्रव्य इनका उपयोग शोधन द्रव्य के लिए करना चाहिये ॥१८॥

कासीसे सैन्धवे किण्वे वचायां रजनीद्वये ।

शोधनाङ्गेषु चान्येषु चूर्णां कुर्वीत शोधनम् ॥१९॥

कासीस, सैन्धव, सुरावीज, वच, हलदी, दारु हलदी तथा अन्य शोधन द्रव्य लेकर उनसे शोधन चूर्ण बनावे ॥१९॥

वक्तव्य—कासीसे सैन्धवे इत्यादि—ये सब सप्तमी के प्रयोग घटकतानिदर्शनार्थ प्रयुक्त हुए हैं ।

सालसारादिसारेषु पटोलत्रिफलासु च ।

रसक्रिया विधातव्या शोधनी शोधनेषु च ॥२०॥

(रसक्रिया—) सालसारादि गण के द्रव्य, पटोल, त्रिफला तथा अन्य शोधक द्रव्य इनसे व्रण शोधन के लिये रसक्रिया करनी चाहिये ॥२०॥

वक्तव्य—रसक्रिया—अष्टगुण या षोडशगुण पानी डाल कर उसका अष्टमांश या षोडशांश काथ बनाया जाता है । तत्पश्चात् फिर उस काथ को काकनी या चाशनी की भाँति अग्नि से गाढ़ा बनाया जाता है । शोधनेषु—शोधनाङ्गेषु ।

श्रीवेष्टके सर्जरसे सरले देवदारुणि ।

सारेष्वपि च कुर्वीत मतिमान् व्रणधूपनम् ॥२१॥

(धूपन द्रव्य—) श्रीवेष्टक (गुग्गुलु-सरलनिर्घात या तार्पिण), राल, सरल वृक्षत्वचा, देवदार और सालसारादि द्रव्य इनके धूप से बुद्धिमान् वैद्य व्रण का धूपन करे ॥२१॥

कपायाणामनुष्णानां वृक्षाणां त्वष्टु साधितम् ।

शृतं शीतं कपायं वा रोपणार्थेषु शस्यते ॥२२॥

सोमामृताश्वगन्धासु काकोल्यादौ गणे तथा ।

क्षीरिप्ररोहेष्वपि च वर्तयो रोपणाः स्मृताः ॥२३॥

(रोपण द्रव्य—) अनुष्ण वीर्य और कसैले वृक्षों की छाल से साधित काथ या शीत कपाय व्रण रोपण के लिये प्रशस्त होता है ॥२२॥ सोम वनस्पति (Sarcostemma Brevis-tigma), गिलोय, असर्गंध, काकोल्यादि गण के द्रव्य तथा क्षीरी वृक्षों के अंकुर इनके कल्क से लिप्तवर्ति व्रण का रोपण करने वाली होती है ॥२३॥

वक्तव्य—कपायाणामनुष्णानाम्—न्यग्रोध, औदुंबर, प्लव इत्यादि अनुष्ण और दवाय वर्ग के वृक्षों की छाल से । शीत-कपाय—द्रव्याद्रामोत्थितात् तौये तत्पुनर्निशि सस्थितात् । कपायो योऽभि-निर्याति स शीतः समुद्राहतः ॥ क्षीरिवृक्षाः—अश्वत्थोदुम्बरप्लवक्षवटपिप्ल-सजिताः । पत्रेने क्षीरिणो वृक्षाः समाख्याता विचक्षणैः ॥ (अरुणादत्त) ।

समङ्गा सोमसरला सोमवल्कः सचन्दनः ।

कल्कः स्यात् प्रशस्तो व्रणरोपणे ॥२४॥

लज्जालु, सोमलता, साल, श्वेतस्रदि (सोमवल्क—*Acacia Polycantha*), रक्तचन्दन और काकोल्यादि गण के द्रव्य इनका च्छक (छुवादी) घण का रोपण करने में प्रयत्न होता है ॥२४॥

पृथक्पार्याप्तमगुप्ता च हरिद्रे मालती सिता ।

काकोल्यादिश्च योज्यः स्याद्भिषजा रोपणे घृते ॥२५॥

पृथक्पूर्णां, कवच बीज, हल्दी और दारु हल्दी, जाती, मिर्ची और काकोल्यादि गण के द्रव्य रोपण घृत बनाने के लिये वैद्य को प्रयोग करने चाहिये ॥२५॥

कालानुसार्यागुक्षी हरिद्रे देवदारु च ।

प्रियङ्गुवच्च रोध्रं च तैले योज्यानि रोपणे ॥२६॥

तगर, अगुरु, हरिद्रा और दाहस्रदि, देवदारु और प्रियङ्गु तथा लोध इनका उपयोग रोपणतैल बनाने के लिये करना चाहिये ॥२६॥

कङ्कका त्रिकला रोध्रं कासीसं धवलाह्वया ।

घयाश्वकर्णयोस्त्वक् च रोपणं चूर्णमिष्यते ॥२७॥

प्रियङ्गुका सर्जरसः पुष्पकासीसमेव च ।

त्वक्चूर्णे घवजं चैव रोपणार्थं प्रशस्यते ॥२८॥

कङ्कघान्य, त्रिकला, लोध, कासीस, गोरक्षमुष्ठी, घव, राल वृक्ष की छाल इनका चूर्ण रोपण करने वाला है ॥२७॥ (अथवा) प्रियंगु, राल, पुष्प कामीम और घव वृक्ष की छाल इनका चूर्ण घण रोपण के लिये प्रयत्न है ॥२८॥

यत्तद्व्य—पुष्पकसीस—किञ्चिद् पीत, या श्वेत या कृष्ण वर्ण का कामीम—दीर्घे पुष्पकसीसमभि च निन च त् । (रत्नमाला) । कामीस पशुक्षमीम पशुकासीसमित्यपि ।

पदेव विकिन्दिनं तु पुष्पकसीसमुच्यते ॥ (आयुर्वेदप्रकाश) ।

त्वष्टु न्यस्रोधयर्गस्य त्रिकलायास्तथैव च ।

रसक्रियां रोपणार्थं विदधीत पथाक्रमम् ॥२९॥

त्वष्टुयादिवर्ग के द्रव्यों की छाल और त्रिकला इनसे पथक विधि (द्विविधोप विधि) के अनुसार पगरोपण के लिये रसक्रिया करनी चाहिये ॥२९॥

अपामार्गोऽश्वगन्धा च तालपत्री सुपर्चला ।

उत्सदान्ते प्रशस्यन्ते वाकोल्यादिश्च यो गणः ॥३०॥

(अथगदान् द्रव्य—) अश्वगन्ध, अश्वगंध, मुष्ठी, वाङ्गी (अथवा गुर्भाश्वे) तथा काकोल्यादिगण (इनका लेप) मांसवर्धन के लिये (अथ में) प्रयत्न होता है ॥३०॥

वासीर्गं निन्धयं विषयं बुद्धयिन्दो मन शिल्प ।

बुद्धबुद्धाण्डकपालानि शुभनोमुपुलानि च ॥३१॥

फले शीरीषकारञ्जे घानुचूर्णानि यानि च ।

घणेपूराश्रमांसेषु प्रशस्तान्यपथगदान्ते ॥३२॥

(अथपूराश्रम—) कर्मास, सैन्य, गुराहीन, पहराग, मन्वित, मुर्गा के अंडे का कच, आनिकलिका ॥३१॥ शीरीष और शरीष का फल तथा (हरिताकदि) अथ घानुचूर्णों के

१ विदुषः

चूर्ण ये द्रव्य (घण के अतिबुद्धमांसकृतों का) अवसा करने के लिये प्रयत्न होते हैं ॥३२॥

समस्तं वर्गमर्थं वा यथाशक्तिमथापि वा ।

प्रयुञ्जीत भिषक् प्राक्षो यथोद्विष्टेषु फर्मसु ॥३३॥

रति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने निष्कण्डाऽध्यायो नाम

पट्टविंशत्तमोऽध्याय ॥३६॥

बुद्धिमान् वैद्य (विष्णोपनादि) कार्यों में निर्दिष्ट कि हुए सर्पयं या आषे या उनमें से जो मिल सके उन द्रव्य का उपयोग यथोक्त विधि से करे ॥३३॥

रति भास्करस्थाने गोविन्दराजनेन विरचितनामामुवेदरत्नसूचीषिक्यां सुश्रुतभाषाटीकायां निष्कण्डाऽध्यायो नाम पट्टविंशत्तमोऽध्याय ॥३६॥

सप्तत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथातो भूमिप्रविभागीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से भूमिप्रविभाग नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

यत्तद्व्य—भूमि की परीक्षा दो दृष्टि से की जाती है । पहली परीक्षा शीत, उष्ण, वर्षा आदि महामूर्तों के कार्यों से अनुसार होती है और दूसरी परीक्षा पंचमहामूर्तों के गुणों के अनुसार होती है । इस परीक्षा से भोपधियां के गुणधर्म, इनकी सीमासीमा तथा प्रशस्ताप्रशस्तता जानने में तथा रोगिपरिज्ञान में सहायता होती है । इनलिये विक्रिप्ता में द्रव्यका उपयोग होता है । चरक में लिखा है—न भूमिपरीक्षा आनुपरिष्कारनेनेका स्वतंत्रपरिष्कारनेनेका ।

श्वशयनं रादमविषमवल्मीकं शमशानापातनदेयतायतनसिकतामिरनुपहतामनूपरामभङ्गुरामदूरोदकां क्षिण्णां प्ररोहयतीं मूर्द्धीं स्थिरां समा कृष्णां गीरीं लोहिं वा भूमिमौषधार्थं परीक्षेत ॥२॥

जो श्वि, कंडर, पथर, निर्मलता, वल्मीक, श्मशान, यथमान, देवतावतन और वायु इत्यादि से कृषित न हो, त्रिपकी मिठी क्षायुक्त न हो, जो (भरी आदि समीर होने के कारण) कटने वाली न हो, जिसमें पानी बहुत गहरा न हो, जो क्षिण्य हो, जिसमें (घास घूम आदि हमेशा) उगते हों, जो शुद्ध श्विर और समतल हो, जो काने सरेख या एक बर्य की हो, ऐसी भूमि शीतघ्न द्रव्य के लिये त्रिः क्षय करे (भ्रांत करके ऐसी भूमि पर्यट करे) ॥२॥

तस्यां ज्ञानमपि धूमिधियदाशानापयवतन्वदनतोयसराबाधमार्गीनुपहनमेकरन्तं पुष्टं पृथ्वयगाढमूलमुरीच्यां योषधमार्दीनेर्योषधभूमिपरीक्षापिशोषः परामान्यः ॥३॥

नाममन्वभूमिपरीक्षा—वराह (उग्रम) भूमि में कण्डर हुई शोषधि भी जो कीड़े न भे जाई हो, जिस पर विष न

१ भूमिपरिष्कारनेनेका २ अमिषपरिष्कारनेनेका ३ अनेनेप भूमि०

गिर गया हो, जो शख से न कटी हो, जो धूप से न मुरझा गई हो, जो वायु से न सूख गई हो, जो आग से न जल गई हो, जो जल से न गल गई हो, जो अन्य आपत्ति से न भ्रष्ट हुई हो, मार्ग में होने से जिसको उपसर्ग न पहुँचा हो, जो उत्तम रसयुक्त और पुष्ट हो, जिसकी जड़ भूमि में बहुत गहराई तक गई हो, ऐसी ओषधि को उत्तमाभिमुख होकर ग्रहण करे । यह ओषध और भूमि परीक्षा का सामान्य भेद वर्णन किया है ॥३॥

विशेषतस्तु तत्र, अश्मवती स्थिरा गुर्वी श्यामा कृष्णा वा स्थूलवृक्षशस्यप्राया स्वगुणभूयिष्ठा; स्निग्धा शीतलाऽऽसन्नोदका स्निग्धशस्यतृणकोमलवृक्षप्राया शुक्लाऽऽम्बुगुणभूयिष्ठा; नानावर्णा लघ्वश्मवती प्रविरलालपपाण्डुवृक्षप्ररोहाऽग्निगुणभूयिष्ठा; रूक्षा भस्मरासभवर्णा तनुरूक्षकोटरालपरसवृक्षप्रायाऽनिलगुणभूयिष्ठा; मृद्धी समा श्वभ्रवत्यव्यक्तरसजला सर्वतोऽसारवृक्षा महापर्वतवृक्षप्राया श्यामा चाकाशगुणभूयिष्ठा ॥४॥

विशेष भूमि परीक्षा—विशेष कर जो परयर वाली, स्थिर, मृत्ती, सांवली या काली तथा मोटे मोटे वृक्ष और घास युक्त होती है, वह भूमि अपने (पृथ्वी के) गुण वाली होती है । जो स्निग्ध, शीतल, निकट जल वाली, स्निग्ध गुण विशिष्ट धान्य और तृण युक्त, कोमल वृक्ष युक्त और श्वेतवर्णी होती है, वह भूमि जलतत्त्वप्रधान होती है । जो भाँति भाँति के रंग युक्त, छोटे छोटे परयर युक्त, कहीं कहीं छोटे छोटे श्वेतवर्णी वृक्ष और तृणांकुर युक्त होती है, वह भूमि अम्लितत्त्वप्रधान है । जो रूक्ष, भस्म या गंधे के रंग वाली, जहाँ के अधिकांश वृक्ष पतले, रुखे, गह्वरयुक्त, थोड़े रस वाले होते हैं, वह भूमि वायुगुणप्रधान होती है । जो मृदु, समतल, बिलयुक्त होती है, जहाँ रस और जल (अल्प होने के कारण) प्रकट नहीं होता है, जहाँ सर्वत्र सारहीन बड़े बड़े वृक्ष होते हैं तथा जहाँ बड़े बड़े पहाड़ होते हैं और जो श्याम वर्ण होती है, वह भूमि आकाशगुणप्रधान होती है ॥४॥

अत्र केचिदाहुराचार्याः—प्रावृद्धपरिशरद्धेमन्तवसन्तग्रीष्मेषु यथासंख्यं मूलपत्रत्वक्कीरसारफलान्याददीतेति; तच्च न सम्यक्, सौम्याग्नेयत्वाजगतः । सौम्यान्यौषधानि सौम्येष्वृतुष्वदाददीत्यान्याग्नेयेषु; एवमव्यापन्नगुणानि भवन्ति । सौम्यान्यौषधानि सौम्येष्वृतुषु गृहीतानि सोमगुणभूयिष्ठायां भूमौ जातान्यतिमधुरस्निग्धशीतानि जायन्ते । एतेन शेषं व्याख्यातम् ॥५॥

इस विषय में कई आचार्य ऐसे कहते हैं कि (सब ओषधियों की) जड़ प्रावृद्ध ऋतु में, पत्ती वर्षा ऋतु में, छाल शरद ऋतु में, दूध हेमन्त ऋतु में, सार (काष्ठान्तर्भूत परिणत अंग) वसन्त ऋतु में और फल ग्रीष्म ऋतु में ग्रहण करने चाहिये । परंतु यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि जगत् सौम्य और

आग्नेय (दो प्रकार का ही) होता है । इसलिये सौम्य (शीतवीर्य) ओषधियों की सौम्य ऋतुओं में और आग्नेय (उष्णवीर्य) ओषधियों को आग्नेय ऋतुओं में ग्रहण करना चाहिये । इस प्रकार (ग्रहण की हुई) ओषधियाँ निर्दोष गुणों से युक्त होती हैं । सौम्यगुणभूयिष्ठ भूमि में उत्पन्न हुई सौम्य ऋतु में ग्रहण की हुई सौम्य ओषधियाँ अत्यंत मधुर, स्निग्ध और शीतल होती हैं । ऐसे ही आग्नेय ओषधियों के संयंत्र में समझना चाहिये ॥५॥

तत्र पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठायां भूमौ जातानि चिरेचनद्रव्याण्यदादित, अद्रव्याकाशमारुतगुणभूयिष्ठायां वमनद्रव्याणि, उभयगुणभूयिष्ठायामुभयतोभागानि, आकाशगुणभूयिष्ठायां संशमनानि, एवं धलवत्तराणि भवन्ति ॥६॥

चिरेचन की ओषधियाँ पृथिवी और जलगुण भूयिष्ठ भूमि में उत्पन्न हुई ग्रहण करनी चाहिये । वमन की ओषधियाँ अग्नि, आकाश और वातगुण भूयिष्ठ भूमि में उत्पन्न हुई ग्रहण करनी चाहिये । वामक और विरेचक (दोनों गुणों से युक्त) ओषधियाँ दोनों प्रकार की मिश्र भूमि में उत्पन्न हुई लेनी चाहिये । संशमन ओषधियाँ आकाशगुणभूयिष्ठ भूमि में उत्पन्न हुई ग्रहण करनी चाहिये । इस प्रकार (गुणों के अनुसार विशिष्ट प्रकार की भूमि से ग्रहण की हुई) ओषधियाँ (अपने गुणों में) बलवत्तर हुआ करती हैं ॥६॥

वक्तव्य—इस विषय का अधिक विवरण आगे एकतालीसवें अध्याय के ८, ९, १० सूत्र में किया गया है ।

सर्वाण्येव चाभिनवान्यन्यत्र मधुघृतगुडपिप्पलीविडङ्गेभ्यः ॥७॥ भवति चात्र—

विडङ्गं पिप्पलीं चौरुद्रं सर्पिश्चाप्यनवं हितम् ।

शेषमन्यत्त्वभिनवं गृहीयाद्दोषवर्जितम् ॥८॥

सर्वाण्येव सत्तीराणि वीर्यवन्ति, तेषामसम्पत्तावनतिक्रान्तसंवत्सराण्याददीतेति ॥९॥

मधु, घृत, गुड, पिप्पली और वायविडंग इनके अतिरिक्त समस्त ओषधियाँ नवीन प्रयुक्त करनी चाहिये ॥७॥ यहाँ श्लोक है—विडंग, पिप्पली, शहद, घृत ये पुराने ही हित होते हैं । शेष सब ओषधियाँ नवीन और दोषरहित लेनी चाहिये ॥८॥ सर्व सरस ओषधियाँ वीर्यवान् होती हैं । उनके न मिलने पर एक वर्ष के भीतर की ग्रहण करनी चाहिये ॥९॥

वक्तव्य—अभिनव—नई ताजी आर्द्र या कम से कम एक वर्ष के भीतर की सूखी । निम्न ओषधियाँ सदैव आर्द्रावस्था में प्रयोग करनी चाहिये—गुडची कुटजो नासा कृष्माण्ड च शतावरी । अश्वगन्धा सहचरी शतपुष्पा प्रसारणी । प्रयोक्तव्या सदैवार्द्रा ॥ (शार्ङ्गधर) । वासानिम्बपटोलेकेतकवलकृष्माण्डकेन्द्रीवरी, वर्षाभूकृतजाम्बा कन्दसहिताः सा पूतिगन्धामृताः । ऐन्द्री नागबलाकुरण्डकपुरो क्षत्रामृता सर्वदा सार्द्रा एव तु न कचिद्द्विगुणिताः कांयेषु योज्या युवैः ॥ (भावप्रकाश) ।

अन्यत्र—विडंगादि द्रव्यों के अतिरिक्त विडंगादि द्रव्य एक वर्ष से अधिक पुराने ग्रहण करने चाहिये । इन विडंगादि द्रव्यों में धान्यक का भी समावेश होता है—नवान्येव हि योज्यानि द्रव्या-

स्वखिलनमस्तु । विना विद्यगृह्याभ्यां गृह्याभ्यान्मासाद्भिरे ।
 (शार्ङ्गधर) । मधुर्न शर्वरायाश्च गुडस्थायि विशेषतः । एकवत्सरे
 वृषि पुराणत्वं स्मृतं नृपे ॥ (भावप्रकाश) । जैसे अन्य द्रव्य
 साधारणतया नवीन व्यवहृत होते हैं तथा घृतादि द्रव्य साधा-
 रणतया पुराने व्यवहृत होते हैं । परंतु अवस्था विशेषों में ये
 नवीन भी व्यवहृत होते हैं । क्या रूंहण के लिये नवीन मधु—
 श्वद्वीय मधु नव नातिसेमहर सरम् । (सुश्रुत) । पूत निम्न रोगों
 में नवीन व्यवहृत होता है—श्लेष्मप्रवमेवात्र्य भोजने तर्षणे श्मे ।
 बलक्षये पाण्डुतोमे कामवनेत्ररोगो ॥ (भावप्रकाश) । अनतिमान्त-
 मवत्सराणि—एक वर्ष का समय मूल स्वरूप की ओपधियों के
 लिये है । जब ओपधियों से चूर्ण गुटिका घृतादि योग बनते
 जाते हैं, तब एक वर्ष के पहले ही उनका वीर्य नष्ट हो जाता
 है । गुणहीन भवेद्वर्षादूर्ध्वं तद्रूपमौषधम् । मानदवाचसा चूर्णं हीनवीर्यं
 त्वमासुवायत् ॥ हीनत्व गुटिकालेहो लभेते वत्सरात्परम् । हीनां स्फुर्नतैका-
 याश्चतुर्मासाधिकतया ॥ (शार्ङ्गधर) ।

भयन्ति चात्र—

गोपालास्तापसा व्याधा ये चान्ये वनचारिणः ।
 मूलाहाराश्च ये तेभ्यो भेपजव्यक्तिरिष्यते ॥१०॥
 (बकरी, भैंस), गौ चराने वाले, तपस्वी, शिकारी तथा
 अन्य (कन्दुकल) मूल का आहार करने वाले वनचारी
 लोक, उनसे ओपधियों की पहचान (सीखना) इष्ट है ॥१०॥
 व्यक्त्य—भेपजव्यक्ति—नामरूप से ओपधियों की पह-
 चान । परन्तु केवल नामरूप से ओपधियों का ज्ञान वैद्य के
 लिये पर्याप्त नहीं है । रोग और रोगी की दृष्टि से उनका
 उपयोग कैसे करना चाहिये, उसका भी ज्ञान आवश्यक है—
 ओषधीनांमरूपाभ्यां जानते ह्यजगन्ने । न नामज्ञानमात्रेण रूपमात्रेण
 वा पुन ॥ ओषधीनापरा प्रासिकभिदितेनुर्भवेति । योगविज्ञानरूपप-
 रतासा तत्त्वविदुच्यते ॥ (चरक) ।

सर्वावयवसाध्येषु पलाशलवणादिषु ।
 व्ययस्थितो न कालोऽस्ति तत्र सर्वो विधीयते ॥११॥
 (मूल, पत्र, फल आदि) सर्व अवयवों से बनने हुए जो
 पलायकारादि हैं, उनमें (ओपधि प्रहण के लिये) कोई काल
 नियत (होने की आवश्यकता) नहीं है । उसके प्रहण के
 लिये सब समय उचित होता है ॥११॥
 गन्धपर्णरसोपेता पद्म्यध्या भूमिरिष्यते ।
 तस्माद्भूमिस्वभावेन वीजिन पद्मसायुताः ॥१२॥
 अव्यक्तः किल तोयस्य रसो निश्चयनिश्चितः ।
 रसे पय स चाध्यक्तो व्यक्तो भूमिरसाद्भवेत् ॥१३॥
 वैकि भूमिस्वभावात्पुमार ही वनहरतियाँ (मधुरादि)
 पद्मसुक्त होती हैं, इसलिये गन्धवर्षी और रसयुक्त भूमि भी
 छ प्रकार की होती है ॥१२॥ प्लिङ्गत्वं से यह निर्णीत हुआ
 है कि जल का रस अव्यक्त (अतभिष्यक्तपद्म) होता है । यह
 अव्यक्त रस पृथ्वी के रस से व्यक्त (रस) हो जाता है ॥१३॥
 सर्वैलक्षणसम्पन्ना भूमिः साधारणा स्मृता ।
 द्रव्याणि यत्र तत्रैव तद्गुणानि विशेषतः ॥१४॥

(पाँचों प्रकार की भूमि के) सर्वलक्षणों से युक्त व
 साधारण कहलाती है । जिस प्रकार की भूमि में द्रव्य उ
 होते हैं, उसी के ही गुणों से युक्त विशेष करके वे होते हैं ॥
 चिगन्धेनापरामृष्टमविषजं रसादिभिः ॥
 नवं द्रव्यं पुराणं या प्राद्यमेव चिनिर्दिशेत् ॥
 जङ्गमानां वयःस्थानां रकरोमेनखादिकम् ।
 तीरमूत्रपुरीपाणि जीर्णाहारेषु संहरेत् ॥
 (ओपधिप्राहाराप्राशयिचार—) ओपधि चाहे नई हो च
 पुरानी हो, वही प्राद्य समकनी चाहिये जो दुर्गंध से न ह
 हो (अर्थात् दुर्गंध रहित हो) तथा जिसके रसादि
 विगाह न हुआ हो ॥११॥ जिनकी शरीर की दृष्टि पर्ये हो चु
 है ऐसे प्राणियों का रक्त, बाल, नख आदि अंग प्रहण कर
 चाहिये और क्षीर मूत्र और विद्य अन्न पचन हो जाने
 पश्चात् प्रहण करना उचित है ॥१२॥

व्यक्त्य—विगन्धेनापरामृष्टम्—जिस द्रव्य की गन्ध स
 उत्पन्न होने के कारण नष्ट न हुई हो अथवा जिसमें सड़न
 कारण दुर्गंध न आती हो । अविषज रसादिभिः—जिसका र
 और क्रीय अविषज अर्थात् अविहृत हो । जगमान्—वि
 प्रसूता गौ का दूध लेना चाहिये और रसादिभाग स्व
 प्राणियों के लेने चाहिये—क्षीर वाक्पयग माकं विष्ण्वं तच्च नी
 जान् । बवोबलवतां धनुषिष्यद्गुरादिकम् ॥ (अष्टांगक
 कल्प ८) ।

श्लोतमूद्गाएडफलकशङ्खुविन्यस्तभेपजम् ।
 प्रदास्तायां दिशि शुचौ भेपजागारमिष्यते ॥१५॥
 इनि सुश्रुतसंहिताया मूलखाने भूमिप्रविभागीया
 नाम सप्तविंशतौऽध्याय ॥१३॥

(भेपजागार—) जिसमें (समस्त) ओपधियाँ कपड़ों में,
 मिट्टी के पात्रों में, (काठ के) तख्तों पर और छँटियों पर
 सुरक्षित रखली हुई हैं, ऐसी ओपधियाँला प्रयत्न और पवित्र
 स्थान में (वास्तुविदा की दृष्टि से बनाई हुई) होनी
 चाहिये ॥१५॥

व्यक्त्य—उत्सम भूमि से यथोक्तविधि द्वारा रसवती
 ओपधियाँ समर्पित करने पर यदि सुरक्षित न रखी जायें तो
 उनमें दुर्गंध, रमन्व्यापत्ति इत्यादि हुए उत्पन्न होते हैं । अत
 उनकी स्थापना कैसी करनी चाहिये तथा स्थापना के लिये
 ओपधियाँला कैसी होनी चाहिये इनकी विधि संक्षेप से इस
 श्लोक में बर्णित की है । प्राय ओपधियाँ टीक न रखने से,
 धूर्या, धारा, सील, धूलि, मूषक, दीमग इत्यादि के समर्थ से
 विगन्धित दोगयुक्त होती हैं । इसलिये ओपधियाँ पकी इ
 में कपड़ों में बांधकर या मिट्टी के पात्रों में भरके कपड़े से
 ढँक कर रखने तथा पर या छँटियों पर रखकी हुई रखनी
 चाहिये—पुनवर्णिलेहैर् गर्तुपनभिरुवे । प्रादिविना श्वे न्यवेद
 विधिनौपममवन् ॥ (सुश्रुत, सूत्र २८) । ओपधियाँला जहाँ तक
 हो सके, ऐसे देश में होनी चाहिये जहाँ ओपधियाँ प्रचुर
 मिलती हैं । इसके अतिरिक्त ओपधियाँला का अगवाड़ा एवं
 या उत्तर (प्रयत्न) दिया में होना चाहिये तथा उसमें
 ओपधि के नाप, बाँट, धरल इत्यादि उपकरण भी होनी

चाहिये । श्लो०—चमूखण्ड । गूढ—सूँटी । प्रशस्तीवां विधि—
पूर्वस्वायुजरसां वा । अष्टांगसंग्रह में और चरक में औषधियों
की ग्रहण और स्वापन की विधि निम्न प्रकार से वर्णन की
है—**वथ महत्वाचारः कल्याणवृत्तः शुनिः शुद्रवानाः संपूज्य च देवताम-**
धिनौ गोनामनांश्च शूतोपवासः प्राशसुप्य उदरसुखो वा गृहणीवाय ।
गृहीत्वा चानुरूपशुणवद्राजने संस्थाप्य पूर्वोत्तरदिशि निवासपलातक-
देशेषु नित्यसुषोपहारवलिर्कर्मत्त्वमिस्तदिलोपश्चेद्भूमरजेमुषिकचतुश्चदा-
मनमिगमनीयानि स्वतच्छत्रानि शिष्येष्व्यासज्य स्वपथेव ॥ (चरक,
कल्पस्थान, अध्याय १) ।

इति भास्करसामेणा गोविन्द्यात्मजेन विरचितानामानुवंशरस्यधीपिकायां
सुश्रुतभाषादीकायां भूमिप्रविभागीयो नाम सप्तत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३७॥

अष्टत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथातो द्रव्यसंग्रहणीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अथ यहाँ से द्रव्यसंग्रहणीय नामक अध्याय का व्याख्यान
करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

चक्रव्य—द्रव्यसंग्रह—चिकित्सोपयोगी द्रव्यों का संक्षेप
से ग्रहण (प्रतिपादन) ।

समालेन सप्तत्रिंशद्द्रव्यगणा भवन्ति ॥२॥ तद्यथा—
संक्षेप से द्रव्यों के सैंतीस गण्य होते हैं ॥२॥ जैसे—

(१) विदारिगन्धा विदारी विश्वदेवा सहदेवा
श्वदंष्ट्रा पृथक्पर्णी शतावरी सारिवा कृष्णसारिवा
जीवकर्पमकौ महासहा क्षुद्रसहा वृहत्स्यो पुनर्नवैरखण्डो
हंसपादी वृश्चिकाल्युपभी चेति ॥३॥

विदारिगन्धादिर्यं गणः पित्तानिलापहः ।
शोषगुल्माङ्गमर्दोर्ध्वश्वासकासविनाशनः ॥४॥

(विदारिगन्धादिगण—) विदारिगन्धा (शालपर्णी—
Hedysarum Gangeticum), विदारी (भूमिकृष्मांड, हिं.
विलाई कन्द, Ipomoea Digitata), विश्वदेवा (नागबला,
हिं. गंगेरन, गुल्सकरि, Sida Spinosa), सहदेवा (पीत-
पुष्पावला, Sida Cordifolia), श्वदंष्ट्रा (गोक्षुरक, हिं.
गोखर Tribulus Terrestris), पृथक्पर्णी (पृश्निपर्णी,
हिं. पिठवन, Uraria Lagopoides), शतावरी (Aspar-
agus Racemosus), सारिवा (अनन्तमूल, हिं. सालसा,
Hemidesmus Indicus), कृष्णसारिवा (श्यामलता, Ioh-
nocarpus Frutescens), जीवक, करपमक (ये दोनों अष्ट-
चर्ग की वनस्पतियाँ हैं । इनका इस समय ठीक ज्ञान नहीं है ।
इनके अभाव में गुहूची और वंशलीचन का ग्रहण किया जाता
है—जीवकपमकामावे गुहूचीवंशलीचने । भावमिश्र दोनों का
प्रतिनिधि विदारीकंद लिखते हैं ।), महासहा (माषपर्णी,
Glycine Labialis), क्षुद्रसहा (सुद्धपर्णी, Phaseolus
Trilobus), वृहत्स्यो (स्थूलफला और सूक्ष्मफला वृहती—
वृहत्स्यो सूक्ष्मफला स्थूलफला च । द्वे वृहत्स्यौ इति एका वृहत्फला अपरा
स्वल्पफला । वृहतीद्वयं ध्रुववती महावती । महावती से 'महावती' और

कण्टकारी) यह जो अर्थ दिया जाता है वह अनुचित है, यह
अपर्युक्त टीकाकारों के पक्षों से स्पष्ट है । Solanum Indic-
um), पुर्नवा (Boerhavia Diffusa हिं. साँट, गदहफला),
दरुण्ड (Ricinis Communis), हंसपादी (हंसराजकरपत्रा
पीतपुष्पा अल्पयुक्तदेशात् 'हंसपादी' इति लोक प्रसिद्धा । कुछ
टीकाकार इसको 'गोषापादी' मानते हैं । इसकी बंगला में
'गोषापेलता' कहते हैं । Vitis Pedata । कुछ लोग इसको
'रक्त लज्जालु' भी समझते हैं ।), वृश्चिकाली (श्रेष्ठोमशा केत-
द्रुपशुण्डा दक्षिणावतं वही मेपंश्रीमेदः । Trigia involucreta.
हिं. चरहंटा. चं. विछातु), करपभी (कपिकच्छू, कंचचीज,
Mucuba Pruriens) ॥३॥ यह विदारिगन्धादिगण पित्त
और वायु को शांत करता है तथा राजयक्ष्मा, गुल्म, अंगमर्द
ऊर्ध्वश्वास और खाँसी को नाश करता है ॥४॥

(२) आरग्वधमदनगोपघोण्टाकण्टकीकुटजपाठा-
पाटलामूर्ध्वेन्द्रयवसप्तपर्णानिस्त्रकुरेण्टकदासीकुरेण्टक-
शुहूचीचित्रकशाङ्गैः(३)शक्ररज्ज्वयपटोलकिराततिक-
कानि सुपची चेति ॥५॥

आरग्वधादिरित्येष गणः श्लेष्मविपापहः ।
मेहकुष्ठज्वरयमीकएहृमो मणशोधनः ॥६॥

(आरग्वधादिगण—) आरग्वध (अमलतास, Cassia
Fistula), मदन (मैनफल, Randia Dumetorium),
गोपघोण्टा (ककौटी, यदरभेद इत्यन्ये, पूगभेदमपर), कण्टकी
(सं. विककृतः, चं. वैची Flacourtia Ramontchi),
कुटज (कुर्ची, Holarrhe a Antidysenterica), पाठा (इस
श्लेष्मि के संबंध में योद्धा मतभेद है), पाटला (वसन्तद्वती,
StercoSpurmum Suaveolens), मूर्धा ('घसुगुणो-
पयोग्या' मर्हरी, Sansovicia zeylanica), इन्द्रयव (कुटज
फल), सप्तपर्ण (छातीन, Alstonia scholaris), निम्ब
(Molia Azadirachta), कुरण्टक दासीकुरण्टक (पीले
फूल का पियावासा और नीले फूल का पियावासा, Barleria
Prionitis), गुहूची (गिलोय, Tinospora Cordifolia),
चित्रक (Plumbago Zeylanica), शाङ्गैः (काकजंघा,
Leea Hirta । कुछ लोग शाङ्गैः को 'काकमाची' और 'गुंजा'
भी समझते हैं ।), करंजद्वय (? करंज, Pongamia Glabra
र पृत्तिकरंज, सागरनोटा, Caesalpinia Bonduo), पटोल,
किराततिकक (चिरायता Swertia Chirata), सुपची
(करेला, Momordica Charantia) (इन एकांस औषधों
का आरग्वधादिगण होता है) ॥५॥ यह आरग्वधादिगण
कफ और विप का हरण करता है; प्रमेह, कुष्ठ, ज्वर,
वमन और कण्डु इनका नाश करता है तथा मण का शोधन
करता है ॥६॥

(३) वरुणातर्गलशिशुमधुशिशुतकारीमेपश्री-
पूतीकनक्तमालमोरटाशिमन्यलैरेयकह्वयविस्वील्लु-
कचसिरचित्रकशतावरीबिल्वाजश्टङ्गीवर्भा शहवी-
द्वयं चेति ॥७॥

दद्यादिगंघो ह्येष कफमेदोनिवारणः ।

विनिहन्ति शिरःशूलगुल्माभ्यन्तारविद्वधीन् ॥८॥

(वरुणादिगण—) वरुण, (वरुणा, Cretaeva Religiosa), आर्तगल (नीले फूल का पियावासा, Barleria Cristata), घिणु (सोमांजन, सोहनन, Moniga Pterygospema), मधुघिणु (लाल सोहनन), तर्कारी (अस्मिन्ध, अरणी, Promna Spinosa), मेघश्रेणी (मेघासिगी, Gymnema Sylvestre), पूर्वीक (पृथिवरंज), नक्षमाल करंज, मोरट (मूलां या अञ्जोला या हस्तिर्क्यपलाय), अग्निमय (अगेमू, घरी अरपी), सैरेकद्वय (द्वी निष्ठ रंग के कुरटक), विषी (त्रिदुरी, तेला कुशासता, Cephalandra indica), वसुक (वसुपुत्र या अर्के), वसिर (अपामार्गी, रक्त अपामार्गी, गजपिण्डी या सुर्वावर्त), चित्रक, घटावरी, किल्व (Aegle Marmelos), अजवृगी (जिगिनी, Odina wodier), दर्भ (शृषुल, सरपत्रीदीधि, Eragrostis Cynosuroides), बृहतीद्वय (रघुपलरा और सुदमफला बृहती) ॥९॥ यह वरुणादिगण कफ और भेद का हरण करता है तथा सिरदर्दे, गुल्म, और आभ्यन्तर विद्वधि का नाश करता है ॥८॥

(४) वीरतरुसहचरद्वयदर्भवृक्षादनीगुन्द्रानल-
कुशाकाशास्मभेदकान्निमन्धमोरटावसुफवसिरभल्लू-
ककुण्टकेन्द्रीवरकपोतपद्माः श्वदंशू चेति ॥९॥

वीरतरुवादिस्त्रियेष गणो यातविकारनुत् ।

अश्वरीशर्करामृन्मूत्रहृच्छ्रायातरुजापहः ॥१०॥

(वीरतरुवादिगण—) वीरतरु (अर्जुन, Terminalia Arjuna), सहचरद्वय (पीत और नील फूल की पियावासा, पीतनीलसुष्पभेदाद्व किटीद्वय), दर्भ, वृक्षादनी (बंदा, बॉबगुल Lanthanum Longi folia), गुन्द्र (एक प्रकार का वृक्षभेद, Saccharum Arundinaceum), नल (नरसल Arundo Karika), कुण्ड (Poa Ciliaris), काय Saccharum Spontaneum), अस्मभेद (पापायभेद, पापरूत Coleus Aromaticus), अग्निमय, मोरट, वसुक, वसिर, भल्लूक (श्योनाक, सोणापाटा, Oroxyllum Indicum), कुण्टक (पीले फूल का पियावासा—पीत कुण्टको लैय । घन ।), इन्द्रीवर (नीलकमल Nelumbium Speciosum), कपोतपद्मा (बाही Herpestis Monniera), श्वदंशू (गोरख) ॥९॥ यह वीरतरुवादिगण वातविकारों को हरण करता है और पथरी, शर्करा, मूत्रकृच्छ्र और मूत्रापात की पीड़ा को दूर करता है ॥१०॥

(५) सालसाराजककुण्डविरेकदरकालस्कन्धक-
मुकभूर्जमेघट्टकीतिनिशचन्दनकुचन्द्रगरीशपाशिरी-
पासनघयार्जुनतालशाकनक्षमालपृतीकाश्वकण्ठागु-
रुयि कालीयकं चेति ॥११॥

सालसारादिरित्येष गणः कुण्डयिनतरानः ।

मेघपाण्ड्यामयहरः कफमेदोयिरोपणः ॥१२॥

(सालसारादिगण—) सालसारा (साण्डूरा, Shorea Robusta इसका सार), अजकण (घालवृक्ष Vateria In

dica—का ही एक भेद), खदिर (खैर जिससे कथा निकाला जाता है, Acacia Catechu), कालस्कन्ध (त्रिदुकृत्त, Diospyros Embryopteris । इसके मिवाय उदुंबावृक्ष विदुखदिर, समालयवृक्ष ये भी अर्थ इसके होते हैं ।), मसु (पूष, सुपारी का वृक्ष, Aroca Catechu), भूर्ज (भूर्ज Betula Bhojpattra), मेघश्रेणी (मेघासिगी), तिनि (सादन, Dalbergia Oojoinsensis), चन्दन (यतचन्दन Santalum Album), कुचन्दन (रक्त चन्दन Pterocarpus Santalinus), घिषया (सीसम, Dalbergia Sissoo), यिरीय (थिरस, Albizzia Lebbeck), असन (Terminalia Tomentosa), पय (धावड़ा Anogeissus Latifolia) अर्जुन, ताल (ताड़, Borassus Flabelliformis), शात (सागवान, शेगुन Tectona Grandis), नक्षमाल पूर्वीय (करंज और पृथिवरंज), अश्वकणी (साल वृक्ष का ही एक भेद), अगुह (अगर, Aquilaria Agallocha), कालीयक (मलयपर्वतोपर उत्तम पीतचन्दन—कालीयक वृक्ष कालीय पीतम हरिचन्दनम् । भावप्रकाश । मलयोप पीतकाष्ठ चतुर्ष हरिचन्दनम् । चन्दनवर्तिनिचंद्र ।) ॥११॥ यह सालसारादिगण कुष्ठों का नाश करता है, प्रमेह और पाण्डुरोग का हरण करता है और कफ तथा मेद का शोषण करता है ॥१२॥

(६) रोध्रासावररोध्रपालाशकुटप्रदाशोकफञ्जी-
कटफलैलबालुकशालुकीजिङ्गिनीकदम्बसालाः कदली-
चेति ॥१३॥

एष रोध्रादिरित्युक्तो मेदःकफहृते गणः ।

योनिदोषहरः साम्मी यण्यो विपविनाशनः ॥१४॥

(रोध्रादिगण—) रोध्र (लोच, Symplcoos Racemosa), सावर रोध्र (पठाणीलोच, यह लोच का ही एक भेद है जिसकी लवा स्थूल और भेद होती है), पलाय (बाक Butea frondosa), कुटपट (श्योनाक), अयोक (Saraca Indica), फञ्जी (भार्गी, भारंगी, Clerodendron Serratifolium), कदफल, (कायकल Myrica Sapida), पलबालुक (एक प्रकार का ककौलसदृश कुष्ठयुधि गन्धद्रव्य), शलुकी साल का एक भेद, Boswellia) जिगिनी (कासमल, Odina Wodier । इसके निम्न अर्थ भी किये गये हैं,— सजिष्ठ, कृष्णवाल्मीकी), कदम्ब (Anthocephalus Kadamba), साल, और कदली (केला, Musa Sapientum) ॥१३॥ यह लोधादिगण मेद और कफ का हरण करने वाला, योनि के दोषों को दूर करने वाला, (अतिसारादि रोगों में) सम्भन करने वाला, मज में हितकर और विष का नाश करने वाला है ॥१४॥

(७) अकालिकंकरद्वयनागदन्तीमयूरकभार्गी-
राशेन्द्रपुष्पीसुदश्वेतामहाश्वेतावृथिकास्यलवणास्ता-
पसवृक्षश्चेति ॥१५॥

अर्कोदिको गणो ह्येष कफमेदोविपापहः ।

रुमिकुण्डप्रशमनो विदोपाङ्गशोधनः ॥१६॥

(अर्कोदिगण—) अर्के (आक, Calotropis Gigant-
ea), अलर्के (रक्तैक आक), करंजद्वय, नागदन्ती (Croton

oblongifolius), मयूरक (तपामार्ग Achyranthes Aspera), भार्गी (भारंगी), राक्षा (Vanda Roxburghii), इन्द्रपुष्पी (लंगली Gloriosa Superba), ध्रुवश्वेता (श्वेतस्यदा श्वेतपुष्पा 'सफेन्द' । उल्हास । २ अतिदिपा, ३ विद्यारीन्द ।), महाश्वेता (नीलपुष्पः सफेन्दः, संभाल-ककोंटी इत्यन्ये, श्वेतापराजिता इत्यपरे), वृक्षिजाती (जेल-सिंगी का भेद), अलवणा (ज्योतिष्मती यर्तुलपकरकफरता पीतवैला 'काकमर्दनिका' इति लोके प्रसिद्धा । उल्हास । हरीतकी । हाराणघंदा ।), तापसवृक्ष (ध्रुवद्री, Balanitis Roxburghii, हिमोल । तपस्वी लोण हस्तेः तैट का अधिक उपयोग किया करते थे । इसलिये तापसवृक्ष कहलाता है— मा कस्यापि तपस्विन ध्रुवद्रीतैश्चिकित्सनीर्षस्य एते पतियन्ति । कालिदास ।) ॥१५॥ यह गकोंदिगण कफ, मेद और विप इनका नाशक है, कृमि और कुछ इनका घसन करने वाला है और विशेष करके म्रण का शोधक है ॥१६॥

(८) सुरसाश्वेतसुरसाफणित्जकार्जकमूरुस्तृण-सुगन्धकसुमुखकालमालकासमर्दक्षवकखरपुष्पावि-
डङ्गकदफलसुरसीनिर्गुण्डीकुलाहलोन्दुरुफणिकाफ-
फ्रीप्राचीवलकाकामाच्यो विपसुष्टिकश्चेति ॥१७॥

सुरसादिर्गणो ह्येष कफहृत् कृमिसूदनः ।
प्रतिश्यायारुचिश्वालकासघ्नो व्रणशोधनः ॥१८॥

(सुरसादिगण—) सुरसा, श्वेत सुरसा (दृष्य और श्वेत-
र्ण तुलसी, Ocimum Sanctum), फणित्जक (मखरक, मरवा, Ocimum caryophyllatum), अर्जक (आजवला Ocimum gratissimum), मूरुस्थ (रोहिसतृण, Andro-
gopon citratis), सुगन्धक (बृहत्सुगन्धक), सुमुख (तुलसी का ही भेद है), कालमाल (काला आजवला, इष्याजिकः), कासमर्द (कसौंदी, Calfia Sophora), चवक (नाकछिड़नी Centipeda orbicularis), खरपुष्पा (छिड़नी का भेद, वनदर्वेरिकाभेद इत्यन्ये), विडंग (वाय-
विडंग, Embelia Ribes), कदफल, सुरसी (कपिलपत्रा तुलसी, श्वेतनिर्गुण्डी इत्यन्ये), निर्गुण्डी (नीलपुष्पनिर्गुण्डी, संभाल, Vitex Negundo), कुलाहल ('सुष्टिका' 'इक्षुरसुंगा'), उंदुरुफणिका (मूसकर्या, Ipomoea Reniformis), फफ्फु (भारंगी), प्राचीवल (यद्यपि प्राचीवलश्वेदेन काकजवा गण्ड-
द्वयो जलपिपली चोच्यते तथापि अत्र काकजंघेय केचिदाचार्या वदन्ति । उल्हासदीका), काकमाची, विपसुष्टि (राजनिम्बः, बृहदलम्बु-
पत्राभेद, ककोंटीमन्ये) ॥१७॥ यह सुरसादिगण कफहर्ता, कृमि-
नाशक प्रतिश्याय, श्वास, कास तथा अरुचि इनका हरण करने वाला और व्रण का शोधक है ॥१८॥

(९) सुष्ककपलाभाचचित्रकमदनवृक्षकार्शिसपा-
चञ्चवृक्षास्त्रिफला चेति ॥१९॥

सुष्ककादिर्गणो ह्येष श्वेदोद्भूतः शुक्रदोषहृत् ।
मैद्यार्थोपाण्डुरोगघ्नः शर्करानाशनः परः ॥२०॥

(सुष्ककादिगण—) सुष्कक (मोस Schrebra Swi-
etenoides), पलाय (ढाक), धव, चित्रक, मदन, वृक्षक

(वृद्धा, हुटज), त्रिषप (सीसम), यमरुह (सेहुंड या यूहर Euphorbia Antiquorum), त्रिपत्ता (हरीतकी, बहेड़ा और बाँवला) ॥१९॥ यह सुष्ककादिगण मेद का नाश करने वाला, शुक्रदोषों को दूर करने वाला, प्रमेह अर्थ और वाण्डु रोगों का नाश करने वाला और मूत्रवर्धक (पथरी) का परम नाशक है ॥२०॥

(१०) पिप्पलीपिप्पलीमूलपत्रचित्रकटुहृदेर-
मरिचहस्तिपिप्पलीहरेणुकैलाजमोवेन्द्रयवपाठाजी-
रकसर्षपमहानिस्यफलद्विभुभार्गीमधुरसातिविषा-
वचाविडङ्गानि कटुरोहिणी चेति ॥२१॥

पिप्पल्यादिः कफहरः प्रतिश्यायानिलारुचीः
निहन्त्याहीपनो शुलमशूलघ्नश्चामपाचनः ॥२२॥

(पिप्पल्यादिगण—) पिप्पली (Piperlongum पिप्पलीमूल (पिप्पली की जड़), चय (Piperohaba), चित्रक, ग्ङ्गनेर (सेंग, Zingiber officinalis), मरिच (काली मिरच, Piper 'Nigrum'), हस्तिपिप्पली (गजपिप्पली, चित्रका का फल—चविकायाः फलं प्रायैः कथिता गजपिप्पली), हरेणुका (Piper Aurantiacum), प्ला (छोटी इलायची, Elettaria Cardamomum), अजमोदा (Sesoli Ind-
icum), इन्द्रयव, पाठा, जीरक (जीरा Cuminum oymi-
num), सर्षप (सरसों, Brassica Alba), महाविडङ्ग (चकाचन का फल, Melia Sempervirens), हिणु (हींग Assa foetida), भार्गी, मधुरसा (मूवा), अतिविषा (अतीस, Aconitum Heterophyllum), यचा (चच, Acorus Calamus), विडंग, कटुरोहिणी (कुट्टी Picro-
rhiza Kurroa) ॥२१॥ यह पिप्पल्यादिगण कफ का हरण करने वाला है, प्रतिश्याय घात और अरुचि का नाश करता है, अग्नि का दीपक है, गुल्म और शूल का घातक है और आम रस का पाचन करने वाला है ॥२२॥

वक्तव्य—गामरस—जठरानलदोषैस्त्वादविपकस्तु यो रसः ।
स आमसंज्ञको देहे सर्वदोषप्रकोपकः ॥

(११) पलातगरकुष्ठमांसीध्यामकत्वचपञ्चनाग-
पुष्पप्रियङ्गुहरेणुकाव्याघ्रनखशुक्तिचरडास्यौषेयकक्षी-
वेष्टकचोचचोरफवालुकशुभ्रुसर्जरसतुरुष्ककुन्दुरु-
कागरुस्पृकोशीरभद्रवारुङ्गुमानि पुञ्जागणेश्वरं
चेति ॥२३॥

पलादिको वातकफौ निहन्त्याद्विषश्वेव च ।
वर्णप्रसादनः करहृषिडिकाफोढनाशनः ॥२४॥

(पलादिगण—) पला (छोटी इलायची), तगर (Ta-
bernaemontana Coronaria), कुष्ठ (Saussurea La-
ppa), मांसी (जटामांसी Nardostachys Jatamansi), ध्यामक (कटुण, रोहिलकृण Andropogon Laniger), त्वक (दालचीनी, Cinnamonum Zeylanicum), पत्र (तमालपत्र, तेजपत्र Cinnamomum Tamal), नागपुष्प (नागकैसर, Mesua ferrea), त्रियङ्गु (Aglaia Roxb-
a), हरेणुका, व्याघ्रनख (बृहदाल, ३

हृत्पुष्प), शुक्ति (तन्नेदोऽननस, इल्लण), चण्डा (ईपक
प्या घोरकभेदः अजमोदाकारा, सुरासानी अजवायन),
स्वर्णोयक (धुणेर, Taxus Baccatta), श्रीवेष्टक (सरल
पूर, Pinus Longifolia), चोष (दालचीनी का एक भेद),
घोरक (प्रथिपश्चिभेद, गण्डोडा), घालुक (राय, Pavonia
Odorata), गुग्गुलु (गुग्गुलुवृक्ष Balsamodendron Mukul
का निर्वास), सर्जरस (राठ), गुरुक (सिन्धुक, शिला
रस, Liquidamber Orientalis नामक वृक्ष का निर्वास),
कुन्दुरक (लोबन Boswellia Serrata), अगुर, एष्टका
(बुशियुष्पा सुगन्धिद्रव्यनौउरपथिकय Anisomeles Malaba
rica), उधीर (Andropogon Muricatus), भद्रदारु
(देवदार), कुडूम (केसर Crocus Sativus), पुत्रागकेयर
(पुत्राग Calophyllum Inophyllum का केसर पुष्प-
किञ्जल्क) ॥२१॥ यह पलादिगण दात, कफ और विष का नाश
करता है, वयो का प्रसादन करता है, और खाज, फुन्सियाँ
तथा कोट (Urticaria) का नाश करता है ॥२१॥

(१२) यचामुस्तातिविषाभयामभद्रदारुण्यि नाग-
केशरं चेति ॥२५॥

(१३) हरिद्रादारुहरिद्राकलशीकुटजबीजानि
मधुकं चेति ॥२६॥

एतो यचाहरिद्रादी गणौ स्तन्यविशोधनौ ।

आमातिसारशमनौ विशेषाहोपपाचनौ ॥२७॥

(यचादिगण—) यचा (यच), मुस्ता (नागरमोथा
Cyperus rotundus), अतिविषा, अभया (हरडा),
भद्रदारु (देवदार), नागकेसर ॥२५॥ (हरिद्रादिगण—)
हरिद्रा (Curcuma Longa), दारुहरिद्रा (दारु हलदी
Berberis Asiatica), कलशी (वृषिपर्णी), कुटजबीज
(इन्द्रयव), मधुक (मुलहदी Glycyrrhiza Glabra)
॥२६॥ ये यचादिगण और हरिद्रादिगण वृक्ष का शोधन करते
हैं, अतिसार में आम का शमन करते हैं और विशेष करके
(साम) दोषों का पाचन करते हैं ॥२७॥

(१४) श्यामामहाश्यामाश्विबृहन्तीशक्तिनीतिल्व-
ककम्पिलकरम्यकमकुपुत्रध्रेयीगयाक्षीराजवृद्ध-
करञ्जवृक्षगुडूचीसप्तलाच्छगलान्त्रीसुधाः सुवर्ण-
क्षीरी चेति ॥२८॥

उक्त श्यामादिरित्येष गणो गुल्मविपाहः ।

आनाहोदरविद्भेदी तथोदावर्तनाशनः ॥२९॥

(श्यामादिगण—) श्यामा (काला निसेत, Ipomoea
Turpethum), महाश्यामा (बृद्धदारु, विधारा Argyreia
Speciosa), त्रिवृ (रक्त निर्मोय), दन्ती (Croton Poly
andrum), शक्तिनी (यवतिका, कालमेघ या काला दाना),
तिल्वक (लोध), कम्पिलक (कपीला Mallotus Philipp-
ensis) रम्यक (महानिब अथवा पटोलमूल), कमुक
(सुपारी), पुत्रध्रेयी (हन्तीभेद), गयाक्षी (इन्द्रवारणी
Cucumis Trigonus), राजवृक्ष (अमलतास), करंजवृक्ष
(करंज), गुडूची (गिलोय), सप्तला (विके

काई A cacia Concinna, सप्तला चर्मसादा च
च सा । शक्तिनी तिल्वक यैव यवतिकाशिवीरक ॥ २८
छगलान्त्री (बृद्धदारु भेद, Ipomoea Peseaprae)
(सेकुण्ड), सुवर्णक्षीरी (कंकुट, उसारे रेवन्द, Ga.
Morella) ॥२८॥ यह उक्त श्यामादिगण गुल्म और वि
हरण करता है, आनाह और उदररोग में मल का भेद क
तथा (सर्व प्रकार के) उदावर्त का नाश करता है ॥२९॥

(१५) वृहतीकण्टकारिकाकुटजफलपाठाः
चेति ॥३०॥

पाचनीयो वृहत्यादिगणः पित्तानिलापहः ।

कफारोचकहृद्रोगमूत्ररुच्छुक्ररुजापहः ॥३१॥

(वृहत्यादिगण—) वृहती, कण्टकारिका (कटेरी, B
um XanthoCorpum), कुटजफल (इन्द्रयव),
और मुलहदी ॥३०॥ यह वृहत्यादिगण पित्त और वा
नाशक तथा कफ, अरोचक, हृद्रोग और मूत्ररुच्छुक्र रोग
नाश करता है ॥३१॥

(१६) पटोलचन्दनफुचन्दनमूर्वागुडूचीपाठ
कटुरोहिणी चेति ॥३२॥

पटोलादिगणः पित्तकफारोचकनाशनः ।

ज्वरोपशमनो मण्यरुद्धिकरुडूविपापहः ॥३३॥

(पटोलादिगण—) पटोल, चन्दन, कुचन्दन,
गुडूची, पाठा और कटुरोहिणी ॥३२॥ यह पटोलादिगण
कफ और अरोचक हर्ष नाश करता है, ज्वर को शमन
है, मण को हितकर होता है और वमन, कण्ड और वि
दूर करता है ॥३३॥

(१७) काकोलीक्षीरकाकोलीजीवकपर्पमकमु
पर्णीमापपर्णीमेदामहामेदाच्छिन्नरुहाककट्टशुद्धी
क्षीरीपत्रकप्रपौएडीरिकाधिबृद्धिमृद्धीकाजीवन्यो
धुकं चेति ॥३४॥

काकोल्यादिरयं पित्तशोषितानिलनाशनः ।

जीवनो बृंहणो धृष्यः स्तन्यश्लेष्मकरस्तया ॥

(काकोल्यादिगण—) काकोली, क्षीरकाकोली, च
क्षुपमक (इनके संघ में कोई निश्चित नहीं है), मु
(बनवैली), मापपर्णी (बन उद्द), मेदा, महामेदा
दोनों भी अनिश्चित हैं), छिन्नरुहा (गिलोय), कर्कट
तुगाक्षीरी (बगलोचन Bamboo Mann), पत्रक
(काष्ठ, पत्रक Prunus Padum), प्रपौण्डरीक (क
न्यादीपत्तल मयुरसे नेत्राक्षीतनाथ द्रव्यन् बन्ने श्रीपुष्पमाह ॥
gueria spinosa—पुण्डरिया), शक्ति, वृद्धि (ये दोनों
अनिश्चित हैं), मृद्धीका (दास्ता Vitis Vinifera
जीवन्ती, मधुक (मुलहदी) ॥३४॥ यह काकोल्यादि
पित्त रक्त और वायु को नाश करता है, जीवन के लिये वि
है, शरीर की पुष्टि करता है, वीर्यवर्धक है और दुग्ध तथा
को बढ़ाता है ॥३५॥

वक्तव्य—इस वर्ग में जो आठ अनिर्णीत वनस्पतियाँ, वह 'अष्टवर्ग' कहलाती हैं। उनके अभाव में निम्न औषधियों का ग्रहण होता है—कृद्धयमावे बला त्राहा वृद्धयमावे महा-
 मेदाभावे चाश्वगंधा महामेदे तु शारिवा ॥ जीवकर्षमकाभावे
 इहूचीवंशलोचने । काकोलीयुगलाभावे निक्षिपेच शतानरीम् ॥

(१८) ऊषकसैन्धवशिलाजनुकासीसद्वयहिङ्गुनि
 मूत्रकं चेति ॥३६॥

ऊषकादिः कफं हन्ति गणो भेदोविशेषणः ।

अश्मरीशर्करामूत्रकृच्छ्रगुल्मप्रणाशनः ॥३७॥

(ऊषकादिगण—) ऊषक (क्षारवृत्तिका), सैन्धव (सैंधानमक), शिलाजतु, कासीसद्वय (कासीस और पुष्प-कासीस, हिराकष Ferrus sulphate), हिङ्गु (हींग), तुल्यक (नीला वृत्तिया, Copper Sulphate) ॥३६॥ यह ऊषकादिगण कफ को शान्त करता है, मेद को शोषण करता है तथा अश्मरी, शर्करा, मूत्रकृच्छ्र और गुल्म इनका नाश करता है ॥३७॥

(१९) सारिवामधुकचन्दनकुचन्दनपद्मकफशम-
 तलमधुकपुष्पाप्युशीरं चेति ॥३८॥

सारिवादिः पिपासाघ्नो रक्तपित्तहरो गणः ।

पित्तज्वरप्रशमनो विशेषाहाहनाशनः ॥३९॥

(सारिवादिगण—) सारिवा (अनंतमूल), मधुक (मुल-), चन्दन, कुचन्दन (रक्तचन्दन), पद्मक, काश्मरीफल (भारी) का फल, Fruit of Gmelina Arborea), कपुष्प (महुवे के Bassia Latifolia—फूल), उशीर (अस) ॥३८॥ यह सारिवादिगण तृषा का नाश करता है, पित्त का हरण करता है, पित्तज्वर का शमन करता है तथा विशेषतया दाह को शांत करता है ॥३९॥

(२०) अञ्जनरसाञ्जनागपुष्पप्रियङ्गुनीलोत्पल-
 लदनलिनकेशराणि मधुकं चेति ॥४०॥

अञ्जनादिर्गणो ह्येष रक्तपित्तनिवर्हणः ।

विषोपशमनो दाहं निहन्त्याभ्यन्तरं तथा ॥४१॥

(अञ्जनादिगण—) अञ्जन (सौवीराञ्जन, Sulphide of lead), रसाञ्जन (रसाञ्जन द्विविधं—स्रोतोञ्जनं कृष्णपापाणाकृति Antimony Sulphide । धातुद्रव्यं, अन्यदास्वरद्रिकापयेन अग्निं पीतलोहितम् । डल्लह्य । दार्वाकायसमं क्षीरं पादं त्यक्त्वा पथायनम् । तदा रसाञ्जनाख्यं तत् । भाचप्रकाश ।), नागपुष्प (नागकेसर), प्रियङ्गु, नीलोत्पल (नीलकमल), नलद (उशीर, खस—वीरणस्य तु मूलं स्यादुशीरं नलद च तत् । भाव-प्रकाश), नलिनकेशर (पद्मकिंजल्क कमलकेशर), मधुक (मुलहटी) ॥४०॥ यह अञ्जनादिगण रक्तपित्त का नाश करता है, विष को शांत करता है तथा भीतर के दाह को शमन करता है ॥४१॥

(२१) परूषकद्राक्षाकदफलदाडिमराजादनकतक-
 फलशाकफलानि त्रिफला चेति ॥४२॥

परूषकादिरित्येष गणोऽनिलविनाशनः ।

मूत्रदोषहरो हृद्यः पिपासाघ्नो रक्षिप्रदः ॥४३॥

(परूषकादिगण—) परूषक (फालसा, Growia Asiatica), द्राक्षा, कदफल, दाडिम (अनार, Punica Granatum), राजादन (खिरसी Mimosa Indica), कतकफल (निर्मली—Strychnos Potatorum—का बीज), शाकफल (सागवान का फल), और त्रिफला (हरड़ा, बहेड़ा, आंवला) ॥४२॥ यह परूषकादिगण वात का नाश करता है, मूत्र दोषों को हरण करता है, हृदय को हितकर होता है, तृषा को शांत करता है और (मुख में) रक्षि उत्पन्न करता है ॥४३॥

वक्तव्य—इस गण के सर्व द्रव्यों के फल उपयोग के लिये ग्रहण करने चाहिये ।

(२२) प्रियङ्गुसमझाघातकीपुष्पागनागपुष्पचन्दन-
 कुचन्दनमोचरसरसाञ्जनकुम्भीकस्रोतोञ्जनपद्मकेसर-
 योजनवल्ल्यो दीर्घमूला चेति ॥४४॥

(२३) अम्बष्ठाघातकीकुसुमसमझाकद्वङ्गमधुक-
 चिल्वपेशिकासावररोध्रपलाशनन्दीवृत्ताः पद्मकेश-
 राणि चेति ॥४५॥

गणौ प्रियङ्गुवम्बष्ठादी पक्वातीसारनाशनौ ।

सन्धानीयौ हितौ पित्ते व्रणानां चापि रोपणौ ॥४६॥

(प्रियङ्गादिगण—) प्रियङ्गु, समझा (लज्जालु, Mimosa Pudica), घातकी (धाय के फूल, Woodfordia Floribunda), पुष्पाग, नागपुष्प (नागकेसर), चन्दन, कुचन्दन, मोचरस (रक्तशात्मली—Bombax Malabaricum—वृत्त का रस—तद्रसस्तद्गुणो ग्राही स च मोचरसः स्मृतः । धन्वन्तरि निषण्ड), रसाञ्जन, कुम्भीक (जलकुम्भी, Pistia Stratiotes), स्रोतोञ्जन, पद्मकेसर (कमल केसर), योजनवल्ली (मंजिष्ठा, मजीठ, Rubia Manjista), और दीर्घमूला (शालपर्णी या दुरालभा) ॥४४॥ (अम्बष्ठादिगण—) अंबष्ठा (पाठा), घातकी, कुसुम, समझा, कद्वङ्ग (श्योणाक, सोष्णापाठा), मधुक (मुलहटी), चिल्वपेशिका (बाल-चिल्वगिरी), सावरलोध्र (पठाणीलोध), पलाश (ढाक), नन्दीवृत्त (नून Cedrela Toona) और पद्मकेसर ॥४५॥ यह प्रियङ्गादि और अम्बष्ठादिगण पक्वातीसार का नाश करते हैं, (अन्न अस्थि का) संधान करने वाले हैं, पित्त के लिये हितकर हैं और व्रणों के रोपण करने वाले हैं ॥४६॥

(२४) न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्ष्ममधुकफपीलन-
 ककुभाप्रकोशाश्रचोरकपत्रजम्बूद्वयपियालमधूक-
 रोहिणीवञ्जुलकदम्बवदरीतिन्दुकीसल्लकीरोध्रसा-
 वररोध्रभल्लातकपलाशा नन्दीवृत्तश्चेति ॥४७॥

न्यग्रोधादिर्गणो व्रण्यः संघाही भग्नसाधकः ।

रक्तपित्तहरो दाहसेदोघ्नो योनिदोषहत् ॥४८॥

(न्यग्रोधादिगण—) न्यग्रोध (बड़ Ficus Bengale-nsis), श्रौंदुवर (गूल, Ficus Glomerata), अश्वत्थ

(पीरल Ficus Religiosa), झूझ (पाकड़ Ficus Infectoria), कपीतन (आघ्रातक, आमड़ा, Spondias Mangifera), कड़म (अजून), आम्र (आम Mangifera Indica), कोंपास (आम का भेद, Mangifera Syletica), चोरफन (छाहापुस), अन्ध्रप (महाअम्र, बड़ी आमन Eugenia gambolana और काकनम्, छोटी आमन Eugenia Caryophyllifolia), पिपाल (शिरोत्रयुश Buchanania Latifolia), मधुक (महुआ), रोहिणी (कटुकी), यन्तुल (वेत Calamus Rotung), कदम्ब, बड़ी (बेर, Zizyphus jujuba) तिन्दुकी (तेन्दु), रौहणी (साल-भेद, साफई, Boswellia Serrata). सोम, साबर सोम, महातक (मिलाया Semicarpus Anacardium), पलाय (डाक), मन्दीबुध ॥२०॥ यह न्यमोपादिगण प्रण को हितकर है, संग्राही है, भ्रम अस्त्रि को खोचने वाला है, रक्षित का हराय करने वाला है और दाह, मेद तथा योनि के दोषों को दूर करता है ॥२०॥

(२५) गुह्रवीनिम्बकुस्तुम्बुचन्दनानि पन्नकं चेति ॥२५॥

एष सर्वज्वरहृदग्निगुह्रच्याविस्तु दीपनः ।

हृत्सासारोचकयमीपिपासादाहनाशनः ॥२०॥

(गुह्रच्युपादिगण—) गिलोय, नीम, कुस्तुम्बु (धनिया Coriandrum Sativum), चन्दन और पिपास ॥२५॥ यह गुह्रच्युपादिगण सर्व प्रकार के ज्वरों को नाश करता है, दीपन है और हृत्सास, अरुचि, वमन, गृवा, दाह को नाश करता है ॥२०॥

(२६) उत्पलरकोरपलकुमुदसौगन्धिकुपलय-पुण्डरीकाणि मधुकं चेति ॥२१॥

उत्पलादिरयं दाहपित्तरक्तविनाशनः ।

पिपासाधिपहृद्रोगच्छर्दिमूर्च्छाहरो गणः ॥२२॥

(उत्पलादिगण—) उत्पल (नीलकमल), रकोरपल (लाल कमल), कुमुद (बेतकमल), सौगन्धिक (चन्दोदय विकासी अत्यंत सुरभि नील कमल), कुबलय (केत और नील वर्य कमल), पुण्डरीक (अत्यंत बेत कमल) और पश्चिमधु ॥२१॥ यह उत्पलादिगण दाह रक्त पित्त का नाश करता है और गृवा, विष, हृद्रोग, वमन और मूर्च्छा इनका हराय करने वाला है ॥२१॥

चक्रवर्त्य—उत्पलादिगण में कमल के जो भिन्न भिन्न नाम विभिन्न क्रिये हैं, उनके वर्णों के संघर्ष में न केवल भिन्न भिन्न प्राचीन आचार्य परस्पर विरोधादी दिखाई देते हैं अपितु दृष्ट्याचार्य भी अपनी टीका में स्वयं विरोधादी हैं । यथा जडौकावचरणीय (१३वें) अध्याय में 'पयोपलनसिनकुमुद' सूत्र की टीका में लिखा है—उत्पलमीपील, पुण्डरीकमतिशेनप्रम, कुनक्य रकोरकम् । और यहाँ टीका में लिखते हैं—उत्पल नीले रंग, पुण्डरीक श्वेतप्रम, कुनक्यमीपीपीलप्रम ।

(२७) मुस्ताहरिद्रादाहहरिद्राहरीतक्यामलक-विभीतककुष्ठहैमवतीचकाम्पाठाकटुरीह्विणीरागर्हृत्पाति-नि चित्रनयेति ॥२३॥

एष मुस्तादिको गाढा गणः श्रेष्मनिपूतः ।

योनिदोषहरः स्तन्यशोधनः पाचनस्तथा ॥२४॥

(गुन्धारिगण—) मुस्ता, हल्दी, दाग हल्दी, हर आंरला, योहा, कुट, हैमवती (वेत घचा), घचा, पा कटुकी, शार्ङ्गठा (काकन्या, काकनाची, काकादनी), अ विषा, द्वविषी (छोटी इलायची), महातक (मिलाय और चित्रक ॥२३॥ यह गुन्धारिगण क्व का नाशक है, यं दोषों का हराय करने वाला है, दूध का शोधक है ॥२४॥

(२८) हरीतक्यामलकविभीतकानि त्रिफला ॥२५॥

त्रिफला कफपित्तघ्नी मेदकुष्ठविनाशनी ।

चक्षुष्या दीपनी चैव विषमज्वरनाशनी ॥२६॥

(त्रिफला—) हरीतकी (हरडा Terminalia Cheula) आमलक (आंबला Emblica Officinalis), विं विभीतक (बड़ेडा Terminalia Belerica) यह त्रिफला है ॥२५॥ यह त्रिफला कफ और पित्त नाशक है, प्रमेह और कुष्ठ को नष्ट करती है, नेत्र के लिये हितकर है, अग्नि दीपक है तथा विषमज्वर नाशक है ॥२६॥

यक्तव्य—इस त्रिफला के अतिरिक्त दासरी खर्बू और परूषक इनकी दूसरी त्रिफला होती है—पय्या विभीतकानी मरनी निरला गता । स्वर्गा कान्यवर्षलद्वैपरूषकफलेभ्येत् । त्रिफला में तीनों के प्रमाय के संघर्ष में जनेभेद है—यथा हरी तकी योस्या द्वै च योस्या विभीतकौ । यत्तयांमिलकान्येव त्रिफलाया मयी निता । (शार्ङ्गधर) । पय्या विभीतकानीं फले स्यात् त्रिफला सौ । (भावप्रकाश) ।

(२९) पिप्पलीमरिचशृङ्गवेराणि त्रिकटुकम् ॥२७॥

श्रुपुष्णी कफमेदोघ्नं मेदकुष्ठव्यगामयान् ।

निहन्त्यादीपनं गुल्मपीनसाध्यव्यपतामपि ॥२८॥

(त्रिकटु—) पिप्पली (Piper Longum), मरिच (काली निरच Piper Nigrum) और शृङ्गेर (सॉल Zingiber Officinalis), ये तीन त्रिकटु अथवा श्रुपुष्पा कहलाते हैं ॥२७॥ यह श्रुपुष्ण कफ और मेद को नष्ट करता है, प्रमेह, कुष्ठ और त्वचा के रोगों को नाश करता है, दीपन है और गुल्म, पीनस तथा मन्दाग्नि को दूर करता है ॥२८॥

(३०) आमलकीहरीतकीपिप्पत्यध्निकश्वेति ॥२९॥

आमलक्यादिरित्येष गणः सर्वज्वरापहः ।

चक्षुष्यो दीपनो वृष्यः कफारोचकनाशनः ॥३०॥

(आमलक्यादिगण—) आंबला, हरडा पिप्पली और चित्रक (यह आमलक्यादिगण है) ॥२९॥ यह आमलक्यादिगण सर्व ज्वरों को हराय करता है, नेत्र को हितकर है, दीपन है, शरीर वृद्धिकर है और कफ तथा अरुचि को नाश करता है ॥३०॥

यक्तव्य—शृष्य—यत् विचि मधुर लिप्य जीवन हराय श्रु । हर्षो मनसथैव सर्वं तद् वृष्यमुच्यते ॥ (चरक) ।

(३१) श्रुपुसीसताम्ररजतशृण्णलोहसुवर्णानि लोहमलयेति ॥३१॥

गणस्रज्ज्वादिरित्येष गरक्तिमिहरः परः ।

पिपासाविपहृद्रोगपाण्डुरमेहहरस्तथा ॥६२॥

(त्रपवादिगण—) त्रपु (बंग, रांगा, Tin), सीस सीसा Lead), तांब्र (तांबा Copper), रजत (रौप्य, चांदी Silver), कृष्णलोह (कान्तलोह, लोहलोह, Iron), स्वर्ण (सोना Gold) और लोहमल (लोहकृदि, मण्डुर) इह त्रपवादिगण है ॥६१॥ यह त्रपवादिगण विष और कृमियों का परम नाशक है तथा तृषा, विष, हृद्रोग, पाण्डुरोग और मेह इनका हरण करने वाला है ॥६२॥

वक्तव्य—लोहमल—ओषधि के लिये सर्वत्र पुराने किट्ट हा ही उपयोग करना चाहिये—शताब्दसुतम किट्ट मध्यव्याप्ति-शक्तिम् । अधमं पृथिवीयं ततो हीनं विषोपमम् ॥ गर—कृत्रिम वेप—नानाप्रणयज्ञशमलविरुद्धौषधिमरमनाम् । विषाणां चाक्षवीर्याणां योगो गर इति स्मृतः ॥ (अष्टांगहृदय) ।

(३२) लाक्षावेतकुटजाश्वमारकदफलहरिद्रा-
इयनिम्बसप्तच्छदमालत्यस्त्रायमाणा चेति ॥६३॥

कषायस्तिक्रमधुरः कफपित्तार्तिनाशनः ।

कुष्ठक्रिमिहरश्चैव दुष्टघ्नणविशोधनः ॥६४॥

(लाक्षादिगण—) लाक्षा (लाख), आरेवत (आरम्बज, मलतास), कुटज (कुड़ा), अश्वमार (करवीर, कनेर, Nerium Odorum), कदफल, हरिद्रा और दासहरिद्रा, नेम्ब, सप्तच्छद (सप्तपर्णी, छतिवन), मालती (जाती) और त्रायमाणा (Delphinium Zalil) ॥६३॥ यह (लाक्षादिगण) कषाय, तिक्र और मधुर है, कफ और पित्त की पीड़ा को नाश करता है, कुष्ठ और कृमियों का हरण करता है और दुष्ट घ्नण को शोधन करता है ॥६४॥

पञ्च पञ्चमूलान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः ॥६५॥

यहाँ से आगे पाँच प्रकार के पंच मूलों का वर्णन करते हैं ॥६५॥

वक्तव्य—अष्टांगसंग्रह में यहाँ वर्णन किये हुए पाँच प्रकारों के अतिरिक्त 'मध्यम' और 'जीवन' नामक दो अधिक पंचमूल वर्णन किये हैं—बलापुनर्नवैरण्डस्यपर्णाद्वयेन च । मध्यमं कफघातनं नातिपित्तकरं लघु ॥ अभीरुवीराजीवन्तीजीवकर्पभकैः स्मृतम् । जीवनाख्यं तु चक्षुष्यं वृष्यं पित्तानिलापहम् ॥

(३३) तत्र त्रिकण्टकवृहतीद्वयपृथक्पृथग्योर्नि
विदारिगन्धा चेति कनीयः ॥६६॥

शोथतिक्रमधुरं कनीयः पञ्चमूलकम् ।
घातनं पित्तशमनं घृहणं बलवर्धनम् ॥६७॥

(लघुपंचमूल—) उनमें से त्रिकण्टक (गोखर), लोदी वृहती और वृहती, पृथिवीय, विदारिगन्धा (शाकपर्णी) यह लघुपंचमूल है ॥६६॥ यह लघुपंचमूल कषाय, तिक्र और मधुर है, घातनाशक है, पित्तशामक है, पुष्टिकारक है और शरीर का बल बढ़ाने वाला है ॥६७॥

(३४) विल्वान्निमन्थट्टिरहृकपाटलाः क्षारमर्य-
ञ्चेति महत् ॥६८॥

सत्तिकं कफघातनं पाके लघ्वन्निदीपनम् ।

मधुरानुरसं चैव पञ्चमूलं महत् स्मृतम् ॥६९॥

(वृहत् पंचमूल—) विल्व, अग्निमन्थ (गरुकारिका), डंडुक (श्योनाक), पाटला (पाखल, पाठर डूब, Stereospermum Suaveolens) और काश्मरी (Gmelina Arboorea), यह महत् पंचमूल है ॥६८॥ यह महत् पंचमूल तिक्र रस, कफ घात नाशक, हलका, अग्नि को दीपन करने वाला और अनुरस में मधुर है ॥६९॥

वक्तव्य—द्वयों का जो रस प्रायः स्पष्टतया प्रतीत नहीं होता अथवा पश्चात् थोड़ा प्रतीत होता है, वह अनुरस है—व्यक्तः शुष्कस्य चादौ च रसो द्रव्यस्य लक्ष्यते । विपर्ययेनानुरसः । (चरक) । अनुरसस्तु रसेनाभिभूतत्वादव्यक्तो व्यक्तो वा किञ्चिदन्ते ॥ (अष्टांग-संग्रह) । विशेष विवरण के लिये ४०वें अध्याय के पहले सूत्र का वक्तव्य देखो ।

अनयोर्द्वयमूलमुच्यते ॥७०॥

गणः श्वासहरो ह्येष कफपित्तानिलापहः ।

आमस्य पाचनश्चैव सर्वज्वरविनाशनः ॥७१॥

(द्वयमूल—) ये दोनों लघु और महत् पंचमूल वक्ष्यमूल कहलाते हैं ॥७०॥ यह द्वयमूलगण माल का हरण करता है, घात पित्त और कफ को शांत करता है, आम रस का पाचन करता है और सर्व प्रकार के ज्वरों का नाशक है ॥७१॥

(३५) विदारीसारिवाजनीशुद्धच्योऽजम्बूदी
चेति बह्वीसंज्ञः ॥७२॥

(बह्वीपंचमूल—) विदारीकन्द, सारिवा, हरिद्रा, गिलोय और मेढासींगी यह बह्वी संज्ञक पंचमूल है ॥७२॥

(३६) करमर्दत्रिकण्टकसैरीयकशतावरीगृध्र-
नख्य इति करण्डकसंज्ञः ॥७३॥

(करण्डकपंचमूल—) करमर्द (करोंया Capparis Corundus), त्रिकण्टक (गोखर), सैरीयक (झुरण्टक, पिप्पामासा), शतावरी और गृध्रनखी (करण्डकपाली वृक्ष Capparis Separia, अथवा पपरवृक्ष) । यह करण्डक संज्ञक पंचमूल है ॥७३॥

रक्तपित्तहरी ज्ञेतौ शोफत्रयविनाशनौ ।

सर्वमेहहरौ चैव शुक्रदोषविनाशनौ ॥७४॥

बह्वीपंचमूल और करण्डकपंचमूल ये दोनों गण रक्तपित्त हरण करने वाले, तीन प्रकार के शोथ को नष्ट करने वाले, सर्व प्रमेहों को हरण करने वाले तथा वीर्यदोषों को नाशक होते हैं ॥७४॥

(३७) कुशकाशनलवर्षकारलेक्षुका इति क्षुण-
संज्ञकः ॥७५॥

सूत्रदोषविकारं च रक्तपित्तं तथैव च ।

सन्त्यः प्रयुक्तः क्षीरेण शीतमेव विनाशयेत् ॥७६॥

(क्षुणपंचमूल—) क्षुण (Pos oiliaris), क्षाय (Saesha-
rum Spontanum), नल (परतल, Arundoo Karka).

(पीपल Ficus Religiosa), ग्लान (पाडुङ्ग Ficus Infectoria), कपीतन (वाग्नासक, आमड़ा, Spondias Mangifera), कटुम (अर्जुन), आम्र (आम Mangifera Indica), कोयात्र (आम का भेद, Mangifera Sylvania), चोरकपत्र (छातावृक्ष), जम्बूद्वय (महाजम्बू, बड़ी जामुन Eugenia gambolana और काकजम्बू, छोटी जामुन Eugenia Caryophyllifolia), पियाल (चिरोजीवृक्ष Buchanania Latifolia), मधुक (महुआ), रोहिणी (कटुकी), चन्दूल (वेत Calamus Rotung), कदम्ब, बदरी (बेर, Zizyphus jujuba) तिन्दुकी (तेन्दु), सैलुकी (साल-भेद, साकई, Boswellia Serrata), शोष, सावर शोष, भङ्गातक (मिलावा Semicarpus Anacardium), पलाय (ढाक), नन्दीवृक्ष ॥१९॥ यह न्यग्रोपादिगण ढण को हितकर है, संग्रही है, भ्रम अस्थि को जोड़ने वाला है, रक्तपित्त का हरण करने वाला है और दाह, भेद तथा योनि के दोरों को दूर करता है ॥१८॥

(२५) गुहृचीनिम्बकुस्तुम्बुरुचन्दनानि पत्रकं चेति ॥४९॥

एष सर्वज्वरान् हन्ति गुहृच्यादिस्तु दीपनः ।

हृष्टासातोचकवमीपिपासादाहनाशनः ॥५०॥

(गुहृच्यादिगण—) गिलोय, नीम, कुस्तुम्बुरु (धनिया Conandrum Sativum), चन्दन और पत्राक्ष ॥४९॥ यह गुहृच्यादिगण सर्व प्रकार के ज्वरों को नाश करता है, दीपन है और हृष्टास, अरुचि, वमन, श्वा, दाह को नाश करता है ॥५०॥

(२६) उत्पलरक्तोत्पलकुमुदसौगन्धिककुचलय-
पुराहरीकाणि मधुकं चेति ॥५१॥

उत्पलादिरय द्राहपित्तरक्तविनाशनः ।

पिपासाविषहृद्रोगच्छर्दिमूर्च्छाहरो गणः ॥५२॥

(उत्पलादिगण—) उत्पल (नीलकमल), रक्तोत्पल (लाल कमल), कुमुद (श्वेतकमल), सौगन्धिक (चन्द्रोदय विनासी अत्यंत सुरभि नील कमल), कुचलय (श्वेत और नील वर्षा कमल), पुण्डरीक (अत्यंत श्वेत कमल) और यष्टिमधु ॥५१॥ यह उत्पलादिगण दाह रक्त पित्त का नाश करता है और कुच, पित्त, हृद्रोग, वमन और मूर्च्छा इनका हरण करने वाला है ॥५२॥

वक्तव्य—उत्पलादिगण में कमल के जो भिन्न भिन्न नाम निर्दिष्ट किये हैं, उनके बगैरे के संभव में न केवल भिन्न भिन्न प्राचीन आचार्य परस्पर विरोधवादी दिखाई देते हैं अपितु द्रव्यगोचारी भी अपनी टीका में स्वयं विरोधवादी हैं । यथा जलीकावचरणीय (१३१) अध्याय में 'पत्रोत्पलरक्तकुमुद' सूत्र की टीका में लिखा है—उत्पलनीपत्रील, पुण्डरीकमिथिलपत्र, कुचलय रक्तोत्पलम् । और यहाँ टीका में लिखते हैं—उत्पल नीपत्रील, पुण्डरीक श्वेतपत्र, कुचलयमीप्रीश्वेतपत्रम् ।

(२७) मुस्ताहरीद्रादाहहृद्रादीरतफ्यामलक-
विभीतककुमुदमैवतीयचाम्पाढाकटुपीहृषीशाङ्गष्टाति-
पिपादाविडीमहातकानि चित्रवधेति ॥५३॥

एष मुस्तादिको नासा गणः श्लेष्मनिघ्ननः ।

योनिदोषहरः स्तन्यशोधनः पाचनस्तथा ॥५४॥

(मुस्तादिगण—) मुस्ता, हल्दी, दाह हल्दी, हर आंबला, मोड़वा, कुष्ठ, हैमवती (श्वेत बचा), पचा, पा कटुकी, घाईटा (काकजंपा, काकमाषी, काकादनी), मां विषा, दाविडी (छोटी इलायची), भङ्गातक (मिलावा और चित्रक ॥५३॥ यह मुस्तादिगण कफ का नाशक है, यो दोरों का हरण करने वाला है, दूध का शोधक है अं पाचक है ॥५४॥

(२८) हरीतक्यामलकविभीतकानि त्रिफला ॥५५॥

त्रिफला कफपित्तम्री मेहकुष्ठविनाशनी ।

चक्षुष्या दीपनी वैद्य विषमज्वरनाशनी ॥५६॥

(त्रिफला—) हरीतकी (हरड़ा Terminalia Chelula) आमलक (अंबला Emblica Officinalis), वी विभीतक (बड़वा Terminalia Belerica) यह त्रिफल है ॥५५॥ यह त्रिफला कफ और पित्त नाशक है, प्रमेह और कुष्ठ को नष्ट करती है, नेत्र के लिये हितकर है, अग्नि दीपन है तथा विषमज्वर नाशक है ॥५६॥

वक्तव्य—इस त्रिफला के अतिरिक्त काश्मरी खर्द और परूचक इनकी दूसरी त्रिफला होती है—पथ्या विभीतक वमी मदी त्रिफला मता । स्वस्वा कार्मर्यखर्दपरूचकलेभैरे ॥ त्रिफला में तीनों के प्रमाण के संबंध में मतभेद है—एक हरी-तकी योग्या द्वौ व योज्यौ विभीतकौ । पत्थाविभीतकान्येव त्रिफलेषा प्रकीर्तिता । (घाईपर) । पथ्या विभीतकयोर्णी कले स्वात् त्रिफला सर्वे ॥ (भावप्रकाश) ।

(२९) पिप्पलीमरिचशङ्खवेराणि त्रिकटुकम् ॥५७॥

द्रूपयणं कफमेदोघ्नं मेहकुष्ठत्वगामयान् ।

निहन्यादीपनं गुल्मपीनसाङ्ग्यव्यतामपि ॥५८॥

(त्रिकटु—) पिप्पली (Piper Longum) मरिच (काली निरिच Piper Nigrum) और शङ्खेर (सोंठ Zingiber Officinalis), ये तीन त्रिकटु अपना द्रूपयण कहलाते हैं ॥५७॥ यह द्रूपयण कफ और मेद को नष्ट करता है, प्रमेह, कुष्ठ और त्वचा के दोरों को नाश करता है, दीपन है और गुल्म, पीनल तथा सन्दाग्नि को दूर करता है ॥५८॥

(३०) आमलकीहरीतकीपिप्पल्यश्विप्रकश्चेति ॥५९॥

आमलक्यादिरित्येष गणः सर्वज्वरापहः ।

चक्षुष्यो दीपनी वृष्यः काफारोचकनाशनः ॥६०॥

(आमलक्यादिगण—) आंबला, हरदा पिप्पली और चित्रक (यह आमलक्यादिगण है) ॥५९॥ यह आमलक्यादिगण सर्व ज्वरों को हरण करता है, नेत्र को हितकर है, दीपन है, शरीर शुद्धिकर है और कफ तथा अरुचि को नाश करता है ॥६०॥

वक्तव्य—वृष्य—वयं विचित्रपुर सिन्धु जीवन वृषण पुर । हर्षण मनगंधेव सर्वं तद् वृष्यद्रव्येण ॥ (चारक) ।

(३१) प्रपुसीसताघ्नरजतहृण्यलोदसुवर्णानि
लोहमलधेति ॥६१॥

गणस्यस्त्रिधादिरित्येष गरक्रिमिहरः परः ।
 पिपासाविषहृद्भोगपाण्डुरोहहरस्तथा ॥६२॥
 (त्रिधादिगण—) त्रिषु (वंग, रांगा, Tin), सीस
 (सीसा Lead), तांज (तांबा Copper), रजत (रौप्य,
 चांदी Silver), कृष्णलोह (कान्तलोह, तीक्ष्णलोह, Iron),
 सुवर्ण (सोना Gold) और लोहमल (लोहकण्टिका, मण्डूर)
 यह त्रिधादिगण है ॥६१॥ यह त्रिधादिगण विष और कृमियों
 का परम नाशक है तथा तृषा, विष, हृद्भोग, पाण्डुरोग और
 प्रमेह इनका हरण करने वाला है ॥६२॥

वक्तव्य—लोहमल—ओषधि के लिये सदैव पुराने किट्ट
 का ही उपयोग करना चाहिये—शताब्दमुत्तम किट्ट गन्धवाशीति-
 चार्पिकम् । अथमं षष्टिवर्षीयं ततो हीनं विशेषमम् ॥ गर—कृत्रिम
 विष—नानाप्राण्यह्मशमलविरुद्धौषधिमन्मनाम् । विपाणां चाल्मवीणां
 योगो गर इति स्मृतः ॥ (अष्टांगहृदय) ।

(३२) लाक्षाश्चतुष्टयजाम्बवामरकदफलहरिद्रा-
 द्वयनिम्बसप्तच्छदमालत्यस्त्रायमाणा चेति ॥६३॥

कषायस्तिक्रमधुरः कफपित्तनिनाशनः ।
 कुष्ठक्रिमिहरश्चैव दुष्टत्रणविशोधनः ॥६४॥
 (लाक्षादिगण—) लाक्षा (लाख), अम्बमार (अरुणध,
 मलतास), कुष्ठज (कुड़ा), अम्बमार (करवीर, कनेर,
 Serium Odorum), कदफल, हरिद्रा और दारुहरिद्रा,
 तैम्य, सप्तच्छद (सप्तपर्ण, छतिवन), मालती (जाती)
 और त्रायमाणा (Delphinium Zalil) ॥६३॥ यह
 लाक्षादिगण कषाय, तिक्र और मधुर है, कफ और पित्त
 की पीड़ा को नाश करता है, कुष्ठ और कृमियों का हरण करता
 है और दुष्ट त्रण को शोधन करता है ॥६४॥

पञ्च पञ्चमूलान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः ॥६५॥
 यहाँ से आगे पाँच प्रकार के पंच मूलों का वर्णन करते
 हैं ॥६५॥

वक्तव्य—अष्टांगसंग्रह में यहाँ वर्णन किये हुए पाँच
 प्रकारों के अतिरिक्त 'मध्यम' और 'जीवन' नामक दो अधिक
 पंचमूल वर्णन किये हैं—बलापुनर्नैवेण्डसप्तपर्णीद्वयेन च ।
 मध्यमं कफवातघ्नं नातिपित्तकरं लघु ॥ अमीरवीराजीवन्तीजीवकर्मभकैः
 च्युतम् । जीवनाख्यं तु चक्षुष्यं वृष्यं पित्तानिलापहम् ॥

(३३) तत्र त्रिकण्टकबृहतीद्वयपृथग्पृथग्यो
 विदारिगन्धा चेति कनीयः ॥६६॥

शोयतिक्रमधुरं कनीयः पञ्चमूलकम् ।
 वातघ्नं पित्तशमनं बृंहणं बलवर्धनम् ॥६७॥

(लघुपंचमूल—) उनमें से त्रिकण्टक (गोखर), छोटी
 बृहती और बड़ी बृहती, पृथिवर्षी, विदारिगन्धा (शालपर्णी)
 यह लघुपंचमूल है ॥६६॥ यह लघुपंचमूल कषाय, तिक्र और
 मधुर है, वातनाशक है, पित्तशामक है, पुष्टिकारक है और
 शरीर का बल बढ़ाने वाला है ॥६७॥

(३४) बिल्वामिन्धट्टिरदुकपाटलाः क्षास्मर्य-
 श्चेति महत् ॥६८॥

सत्तिकं कफवातघ्नं फाले लघ्वश्चिदीपनम् ।
 मधुरानुरसं चैव पञ्चमूलं महत् स्मृतम् ॥६९॥

(बृहत् पंचमूल—) बिल्व, अस्मिन्ध (गणकारिका),
 टुंडुक (झ्योनाक), पाटला (पाखल, पाखर हृत्क, Stereosp
 armum Suaveolens) और कास्मरी (Gmelina Arbo-
 rea), यह महत् पंचमूल है ॥६८॥ यह महत् पंचमूल तिक्र
 रस, कफ वात नाशक, हलका, अग्नि को दीपन करने वाला
 और अनुरस में मधुर है ॥६९॥

वक्तव्य—द्रव्यों का जो रस प्रायः स्पष्टतया प्रतीत नहीं
 होता अथवा पश्चात् थोड़ा प्रतीत होता है, वह अनुरस है—
 व्यक्तः शुष्कस्य चादौ च रतो द्रव्यस्य लक्ष्यते । विपर्येयानुरसः । (चरक) ।
 अनुरसस्तु रसेनाभिभूतत्वादव्यक्तो व्यक्तो वा किञ्चिदन्ते ॥ (अष्टांग-
 संग्रह) । विशेष विवरण के लिये ४०वें अध्याय के पहले सूत्र
 का वक्तव्य देखो ।

अनयोर्दशमूलमुच्यते ॥७०॥

गराः श्वासहरो ह्येष कफपित्तानिलापहः ।
 आमस्य पाचनश्चैव सर्वज्वरविनाशनः ॥७१॥

(दशमूल—) ये दोनों लघु और महत् पंचमूल वक्षुभूल
 कहलाते हैं ॥७०॥ यह दशमूलगण श्वास का हरण करता है,
 वात पित्त और कफ को शांत करता है, आम रस का पाचन
 करता है और सर्व प्रकार के ज्वरों का नाशक है ॥७१॥

(३५) विदारिसारिवारजनीशुद्धच्योऽजभृङ्गी
 चेति बह्वीसंज्ञः ॥७२॥

(बह्वीपंचमूल—) विदारिकन्द, सारिका, हरिद्रा, गिलोय
 और भेड़ासींगी यह बह्वी संज्ञक पंचमूल है ॥७२॥

(३६) करमर्दंभिफरटकसैरीयकशरावरीशुद्ध-
 नख्य इति करटकसंज्ञः ॥७३॥

(कण्टकपंचमूल—) करमर्द (करोंदा Capparis Coru-
 ndas), त्रिकण्टक (गोखर), सैरीयक (करण्टक, विजावाला),
 शरावरी और शुभ्रनखी (कण्टकपाली वृक्ष Capparis
 Sepiaria, अथवा पदरहृत्क) । यह कण्टक संज्ञक पंचमूल
 है ॥७३॥

रक्तपित्तहरो ह्येतौ शोफत्रयविनाशकौ ।
 सर्वसैहहरी चैव शुक्रदोषविनाशनौ ॥७४॥

बह्वीपंचमूल और कण्टकपंचमूल ये दोनों गण रक्तपित्त
 हरण करने वाले, तीव्र प्रकार के शोथ को घट करने वाले, सर्व
 प्रमेहों को हरण करने वाले तथा पीरिदोषों के नाशक
 होते हैं ॥७४॥

(३७) कुशाकारानलदर्भफारलेक्षुफा इति वृष्य-
 संज्ञकः ॥७५॥

मूत्रदोषविकारं च रक्तपित्तं तथैव च ।
 अन्त्यः शयुक्तः क्षीरेण शीघ्रमेव विनाशयेत् ॥७६॥

(वृष्यपंचमूल—) इन्ध (Poa ciliaris), काष्ठ (Sacoh-
 arum Spontaneum), नट (नरसत, Arundo Kerke),

(पीपल Ficus Religiosa), दूध (पाड़ू Ficus Infectoria), कपित्थ (आम्रातक, आमड़ा, Spondias Mangifera), ककुभ (अर्जुन), आम्र (आम Mangifera Indica), कोयास (आम का भेद, Mangifera Sylvatica), चोरकपत्र (छासाइस), अम्बूद्वय (महाजम्बू, यही जामुन Eugenia gambolana और काकड़म्बू, छोटी जामुन Eu-

Zizyphus jujuba), तिलुकी (तेन्दु), सैछकी (साल-भेद, साकई, Boswellia serrata), क्षौद्र, सावर क्षौद्र, महातक (मिलावा Semicarpus Anacardium), पलाय (डाक), नन्दीवृक्ष ॥४७॥ यह न्यग्रोधादिगण ऋण को हितकर है, संप्राप्ती है, भ्रम अस्थि को जोरने वाला है, रक्तपित्त का हार्य करने वाला है और दाह, भेद तथा यौनि के दोषों को दूर करता है ॥४८॥

(२५) गुहृचीनिम्बकुस्तुम्बुरुचन्दनाणि पन्नकं चेति ॥४९॥

पप सर्पज्वरान् दग्धित गुहृच्यादिस्तु दीपनः ।
हृह्लासारोचकयमीपिपासादाहनाशनः ॥५०॥

(गुहृच्यादिगण—) गिलोय, नीम, कुस्तुम्बुरु (धनिया Coriandrum Sativum), चन्दन और पन्नास ॥४९॥ यह गुहृच्यादिगण सर्व प्रकार के ज्वरों को नाश करता है, दीपन है और हृह्लास, अरुचि, वमन, गुषा, दाह की नाश करता है ॥५०॥

(२६) उत्पलरकोत्पलकुमुदसौगन्धिककुचलय-
पुण्डरीकाणि मधुर्कं चेति ॥५१॥

उत्पलादिरयं दाहपित्तरक्तविनाशन ।
पिपासाविपहद्रोगच्छर्दिमूर्च्छाहरो गणः ॥५२॥

(उत्पलादिगण—) उत्पल (नीलकमल), रकोत्पल (लाल कमल), कुमुद (श्वेतकमल), सौगन्धिक (चंद्रोदय विकासी अर्थात् सुरभि नील कमल), कुचलय (श्वेत और नील कौश कमल), पुण्डरीक (अर्थात् श्वेत कमल) और यहिमधु ॥५१॥ यह उत्पलादिगण दाह रक्त पित्त का नाश करता है और गुषा, विष, हृद्रोग, वमन और मूर्च्छा इनका हरण करने वाला है ॥५२॥

वक्तव्य—उत्पलादिगण में कमल के जो मिश्र मिश्र नाम निर्दिष्ट किये हैं, उनके बर्ण के संवध में न केवल मिश्र मिश्र प्राचीन आचार्य परस्पर विरोधादी दिसाई देते हैं अपितु बहुराधाया भी अपनी टीका में स्वयं विरोधादी हैं । यथा षष्ठीकावचलसीय (१३७) अध्याय में 'पद्मोत्पलनिलकुमुद' स्तु की टीका में लिखा है—उत्पलनीकमल, पुण्डरीकमणिभेदगण, सुवन्ध रकोत्पलम् । और यहाँ टीका में लिखते हैं—उत्पल नीने-रल, पुण्डरीक श्वेतपत्र, सुवन्धनीपत्रीन्यवन्धम् ।

(२७) मुस्ताहरिद्रादाहहरिद्राहरीतक्यामलक-
विभीतककुष्ठहैमवतीवचामांठाककुपीहिषीशाङ्गघ्राति-
चिपाद्राविडीमहातकानि चित्रकश्चेति ॥५३॥

पप मुस्तादिको नासा गणः श्लेष्मनिघ्ननः ।
योनिदोषहरः स्तन्यरोधनः पाचनस्तथा ॥५४॥
(मुस्तादिगण—) मुस्ता, हल्दी, दाह हल्दी, हा आंबला, यहेदा, कुष्ठ, हैमवती (श्वेत वचा), वचा, प कुटुकी, शाङ्गैष्टा (काकजंघा, काकमाषी, काकादनी), ३ विषा, प्राविडी (छोटी इलायची), महातक (मिलाव और चित्रक ॥५३॥ यह मुस्तादिकगण कफ का नाशक है, सं दोषों का हरण करने वाला है, दूध का शोधक है : पाचक है ॥५४॥

(२८) हरीतक्यामलकविभीतकानि त्रिफला ॥५५॥
त्रिफला कफपित्तघ्नी मेहकुष्ठविनाशनी ।

चक्षुष्या दीपनी चैव विपमज्वरनाशनी ॥५६॥
(त्रिफला—) हरीतकी (हरड़ा Terminalia Che-
ula), आमलक (आंबला Emblica Officinalis), चं विभीतक (बहेदा Terminalia Belerica) यह त्रिफ-
ले है ॥५५॥ यह त्रिफला कफ और पित्त नाशक है, प्रमेह अं कुष्ठ को नष्ट करती है, नेत्र के लिये हितकर है, जगति दीप-
न है तथा विपमज्वर नाशक है ॥५६॥

वक्तव्य—इस त्रिफला के अतिरिक्त काश्मरी खर्बे और परूषक इनकी दूसरी त्रिफला होती है—पथ्या विभीत-
कानी मन्दी त्रिफला मता । स्वया कार्मर्यवन्तैरुपरूषकफलेभ्यैव-
त्रिफला में तीनों के प्रमाण के संवध में मतभेद है—यक रत्-
तकी योग्या द्वी च योजी विभीतकी । चक्षुष्यामलकान्येव त्रिफलेषां प्रव-
र्तिता । (शाङ्गैष्टर) । पथ्या विभीतकाकीर्णां कले स्यात् त्रिफला इमे
(भावप्रकाश) ।

(२९) पिप्पलीमरिचमृद्भवेराणि त्रिकटुकम् ॥५७॥
द्रुपयं कफमेदोघ्नं मेहकुष्ठत्वग्गामपान् ।
निहन्त्यादीपनं गुल्मपीनसाध्यत्वतामपि ॥५८॥

(पिप्पलीमरिचमृद्भवेराणि त्रिकटुकम्—) पिप्पली, मरिच, मृद्भवेराणि त्रिकटुकम् (कर्क-
शुन्ध, पीनस तथा मन्दासो को दूर करता है ॥५८॥

(३०) आमलकीहरीतकीपिप्पल्यश्चित्रकश्चेति ॥५९॥
आमलक्यादिरित्येव गणः सर्वज्वरापहः ।
चक्षुष्यो दीपनो वृष्यः कफारोचकनाशनः ॥६०॥

(आमलक्यादिगण—) आंबला, हरदा पिप्पली और चित्रक
(यह आमलक्यादिगण है) ॥५९॥ यह आमलक्यादिगण
सर्व ज्वरों को हरण करता है, नेत्र को हितकर है, दीपन है,
शरीर वृद्धिकर है और कफ तथा अरुचि को नाश करता है ॥६०॥

वक्तव्य—वृष्य—पर किंचिन्मधुर लिण्ण जीवन बृहण शुक ।
हर्षण मनसश्चेव सर्वं तद् वृष्यमुच्यते ॥ (चरक) ।

(३१) भ्रपुसीसताम्ररजतरुष्णलीहसुवर्णानि
लोहमलश्चेति ॥६१॥

वक्तव्य—भ्रपुसी—भ्रपु किंचिन्मधुर लिण्ण जीवन बृहण शुक ।
हर्षण मनसश्चेव सर्वं तद् वृष्यमुच्यते ॥ (चरक) ।
(३१) भ्रपुसीसताम्ररजतरुष्णलीहसुवर्णानि
लोहमलश्चेति ॥६१॥

गणस्रज्ज्वादिरित्येष गरक्रिमिहरः परः ।

पिपासाविषहृद्रोगपाण्डुरोगेहहरस्तथा ॥६२॥

(त्रन्वादिगण—) त्रुषु (वंग, रांगा, Tin), लीस (सीसा Lead), ताञ्ज (तांबा Copper), रजत (रौप्य, चांदी Silver), कृष्णलोह (कान्तलोह, तीक्ष्णलोह, Iron), सुवर्ण (सोना Gold) और लोहमल (लोहकिट्ट, मण्डूर) यह त्रन्वादिगण है ॥६१॥ यह त्रन्वादिगण विष और कृमियों का परम नाशक है तथा तृषा, विष, हृद्रोग, पाण्डुरोग और प्रमेह इनका हरण करने वाला है ॥६२॥

वक्तव्य—लोहमल—ओषधि के लिये सदैव पुराने किट्ट का ही उपयोग करना चाहिये—शताब्दमुत्तम किट्ट गन्धञ्जाशीतिवार्षिकम् । अधमं षष्टिवर्षीयं ततो धीनं विषोपमम् ॥ गर—कृत्रिम विष—नानाप्राण्यङ्गमलविरुद्धौषधिमरमनाम् । विषाणां चात्सवीर्याणां येनो गर इति स्मृतः ॥ (अष्टांगहृदय) ।

(३२) लाक्षारेवतकुटजाश्वमारकदफलहरिद्रा-
द्वयनिम्बस्तच्छदमालत्यस्त्रायमाणा चेति ॥६३॥

कपायस्तिक्तमधुरः कफपित्तार्तिनाशनः ।

कुष्ठक्रिमिहरश्चैव दुष्टघ्नविशोधनः ॥६४॥

(लाक्षादिगण—) लाक्षा (लाख), आरेवत (आरम्बध, ममलतास), कुटज (कुड़ा), अश्वमार (करवीर, कनेर, Nerium Odorum), कदफल, हरिद्रा और दारुहरिद्रा, नेम्ब, सप्तच्छद (सप्तपर्णा, छतिवन), मालती (जाती) और त्रायमाणा (Delphinium Zalil) ॥६३॥ यह (लाक्षादिगण) कपाय, तिक्त और मधुर है, कफ और पित्त की पीड़ा को नाश करता है, कुष्ठ और कृमियों का हरण करता है और दुष्ट घ्न को शोधन करता है ॥६४॥

पञ्च पञ्चमूलान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः ॥६५॥

यहाँ से आगे पाँच प्रकार के पंच मूलों का वर्णन करते हैं ॥६५॥

वक्तव्य—अष्टांगसंग्रह में यहाँ वर्णन किये हुए पाँच प्रकारों के अतिरिक्त 'मध्यम' और 'जीवन' नामक दो अधिक पंचमूल वर्णन किये हैं—बलापुनर्नवैरण्डस्यपण्णद्वियेन च । मध्यमं कफवातघ्नं नातिपित्तकरं लघु ॥ अभीरुवीराजीवन्तीजीवकर्मभैः स्मृतम् । जीवनारख्यं तु चक्षुष्यं वृष्यं पित्तानिलापहम् ॥

(३३) तत्र त्रिकण्टकवृहतीद्वयपृथक्पण्योर्विदारिगन्धा चेति कनीयः ॥६६॥

शोथित्तमधुरं कनीयः पञ्चमूलकम् ।

घातघ्नं पित्तशमनं वृंहणं बलवर्धनम् ॥६७॥

(लघुपंचमूल—) उनमें से त्रिकण्टक (गोखर), छोटी वृहती और बड़ी वृहती, पृथिवर्षी, विदारिगन्धा (शालपर्णी) यह लघुपंचमूल है ॥६६॥ यह लघुपंचमूल कपाय, तिक्त और मधुर है, वातनाशक है, पित्तशामक है, पुष्टिकारक है और शरीर का बल बढ़ाने वाला है ॥६७॥

(३४) चित्वाशिमन्थटिरहुकपाटलाः काशमर्ष-
श्चेति महत् ॥६८॥

स्तित्कं कफवातघ्नं पाके लण्वग्निदीपनम् ।

मधुरानुरसं चैव पञ्चमूलं महत् स्मृतम् ॥६९॥

(वृहत पंचमूल—) गिल्ल, अशिमन्थ (गन्धकारिका), डेंडुक (झोनाक), पाटला (पाखल, पायर वृक्ष, Stereocarpum Suaveolens) और काशमरी (Gmelina Arborescens), यह महत् पंचमूल है ॥६८॥ यह महत् पंचमूल तिक्त रस, कफ वात नाशक, हलका, अग्नि को दीपन करने वाला और अनुरस में मधुर है ॥६९॥

वक्तव्य—द्रव्यों का जो रस प्रायः लघुत्वका प्रतीत नहीं होता अथवा पश्चात् थोड़ा प्रतीत होता है, वह अनुरस है—व्यक्तः शुक्लस्य चादौ च रसो द्रव्यस्य लक्ष्यते । विषयेणानुरसः । (चरक) । अनुरसस्तु रसेनाभिभूतत्वादन्यतो व्यक्तो वा किञ्चिदन्ते ॥ (अष्टांगसंग्रह) । विशेष विवरण के लिये ४०वें अध्याय के पहले सूत्र का वक्तव्य देखो ।

अनयोर्द्वैदासूलमुच्यते ॥७०॥

गणः श्वासहरो ह्येष कफपित्तानिलापहः ।

आमस्य पाचनश्चैव सर्वज्वरविनाशनः ॥७१॥

(दशमूल—) ये दोनों लघु और महत् पंचमूल दशमूल कहलाते हैं ॥७०॥ यह दशमूलगण श्वास का हरण करता है, वात पित्त और कफ को शांत करता है, आम रस का पाचन करता है और सर्व प्रकार के ज्वरों का नाशक है ॥७१॥

(३५) विदारीसारिवारजनीगुडूच्योऽजम्बुती
चेति बह्नीसंज्ञः ॥७२॥

(बह्नीपंचमूल—) विदारीकन्द, सारिवा, हरिद्रा, गिलोय और मेढासींगी यह बह्नी संज्ञक पंचमूल है ॥७२॥

(३६) करमर्दं त्रिकण्टकसैरीयकशतावरीगुडु-
नख्य इति करण्टकसंज्ञः ॥७३॥

(करण्टकपंचमूल—) करमर्द (करौदा Capparis Corundas), त्रिकण्टक (गोखर), सैरीयक (कुरण्टक, पिश्यामासा), शतावरी और गुग्गुली (करण्टकपाली गुग्गु Capparis Sepiaria, अथवा बदरवृक्ष) । यह करण्टक संज्ञक पंचमूल है ॥७३॥

रक्तपित्तहरी ह्येतौ शोफत्रयविनाशकौ ।

सर्वश्लेहहरी चैव शुद्धदोषविनाशनौ ॥७४॥

बह्नीपंचमूल और करण्टकपंचमूल ये दोनों गण रक्तपित्त हरण करने वाले, तीन प्रकार के शोथ को नष्ट करने वाले, सर्व प्रमेहों की हरण करने वाले तथा वीर्यदोषों के नाशक होते हैं ॥७४॥

(३७) कुशकाशनलवर्षकारुडेक्षुक्ता इति सृण-
संज्ञकः ॥७५॥

सूत्रदोषविकारं च रक्तपित्तं तथैव च ।

अन्त्यः प्रयुक्तः क्षीरेण शीघ्रमेव विनाशयेत् ॥७६॥

(सृणपंचमूल—) कुब (Poa oiliaris), काप (Saccharum Spontaneum), नल (नरसल, Arundo Karika),

(पीपल Ficus Religiosa), ह्रस्व (पाकुड़ Ficus Infectoria), कपीतन (आम्रावक, आमड़ा, Spondias Mangifera), कडुम (अजुन), आम्र (आम Mangifera Indica), कोंयास (आम का भेद, Mangifera Sylvania) कोरकपत्र (छात्रापत्र), अम्वद्वय (महावज्र, बड़ी जामुन Eugenia gambolana और काकजम्बू, छोटी जामुन Eugenia Caryophyllifolia), विषाल (चिरीमंडू Buchanania Latifolia), मधुक (मधुआ), रोहिणी (कडुकी), चम्बुल (बेत Calamus Rotung), कडुब, बदरी (बेर, Zizyphus jujuba) तिन्तुकी (तेन्दु), सलुकी (साल-भेद, साकई, Boswellia Serrata) तोम, सापर तोम, मल्लतक (मिलावा Semicarpus Anacardium), पलाय (दाक), नन्दीवृक्ष ॥३॥ यह ज्योतिषादिगण मण की हितकर है, संप्राप्ती है, भ्रम अल्प को जीकने वाला है, रक्तपित्त का हारण करने वाला है और दाह, भेद तथा योनिक के दोषों को दूर करता है ॥३८॥

(२५) गुहृचीनिम्बकुस्तुम्बुरुचन्दानि पत्रकं चेति ॥४५॥

एष सर्वज्वरान् हन्ति गुहृच्यादिस्तु दीपनः ।
हृहासारोचकवमीपिपासादाहनाशनः ॥५०॥
(गुहृच्यादिगण—) गिलोय, भीम, कुस्तुम्बुरु (पनिपा Coriandrum Sativum), चन्दन और पत्रास ॥४५॥ यह गुहृच्यादिगण सर्व प्रकार के ज्वरों को नाश करता है, दीपन है और हृहास, अरुचि, पमन, पृषा, दाह को नाश करता है ॥५०॥

(२६) उत्पलरकोत्पलकुमुदसौगन्धिककुपलय-
पुण्डरीकाणि मधुक चेति ॥५१॥

उत्पलादिरयं दाहपित्तरक्तविनाशनम् ।
पिपासापिपहद्रोगच्छर्दिमूर्च्छाहरो गणः ॥५२॥
(उत्पलादिगण—) उत्पल (नीलकमल), रकोत्पल (लाल कमल), कुमुद (श्वेतकमल), सौगन्धिक (चन्द्रोदय विकासी अथवा सुरभि नील कमल), कुपलय (श्वेत और नील बर्ये कमल), पुण्डरीक (अल्प श्वेत कमल) और पश्चिमपु ॥५१॥ यह उत्पलादिगण दाह रक्त पित्त का नाश करता है और पृषा, विष, हृद्रोग, वमन और मूर्च्छा इनका हारण करने वाला है ॥५२॥

वृक्तव्य—उत्पलादिगण में कमल के जो मित्र मित्र नाम निर्दिष्ट किये हैं, उनके बर्ये के सेषध में न केवल मित्र मित्र प्राचीन आचार्य परस्पर विसंवादी दिखाई देते हैं अपितु हल्लगणाचार्य भी अपनी टीका में स्वयं विसंवादी हैं । यथा जलीकावचरणीय (१३वें) अध्याय में 'पत्रोत्पलनसिन्धुसुव' सूत्र की टीका में लिखा है—उत्पलनीवरील, पुण्डरीकनविशेषध, कुपलय रकोत्पलम् । और बर्ही टीका में लिखते हैं—उत्पल नीले रत्न, पुण्डरीकं श्वेतपत्रं, कुपलयमीपिपलवत्तम् ।

(२७) मुस्ताहरिद्रादाहहरिद्राहरितक्यामलक-
विभीतककुष्ठमैयतीवचापीठाकटुरीहिणीशाङ्गंघाति-
चित्रवधेति ॥५३॥

एष मुस्तादिको नाम्ना गणः श्लेष्मनिपृदनः ।
योनिदोषहरः स्तम्पशोधनः पाचनस्तथा ॥५४॥
(मुस्तादिगण—) मुस्ता, हल्दी, दारु हल्दी हर आंवला, बरेहा, कुट्ट, हैमवती (बेत बचा), चला, पा कडुकी, शाङ्गंघा (काकजंपा, काकमाची, काकादनी), अ विषा, द्राविडी (छोटी हलायची), महातक (मिलाव और चित्रक ॥५३॥ यह मुस्तादिगण रुफ का नाशक है, पं दोषों का हारण करने वाला है, दूध का शोधक है ॥५४॥

(२८) हरीतक्यामलकविभीतकानि त्रिफला ॥५५॥
त्रिफला कफपित्तघ्नी मेहकुष्ठविनाशनी ।
चक्षुष्या दीपनी चैव विषमज्वरनाशनी ॥५६॥

(त्रिफला—) हरीतकी (हरड़ा Terminalia Cheula) आमलक (आंवला Emblica Officinalis), विभीतक (बोहा Terminalia Belorica) यह त्रिफला है ॥५५॥ यह त्रिफला कफ और पित्त नाशक है, प्रमेह और कुष्ठ को नष्ट करती है, नेत्र के लिये हितकर है, अग्नि दीपक है तथा विषमज्वर नाशक है ॥५६॥

वृक्तव्य—इस त्रिफला के अतिरिक्त काश्मरी खर्द और परुषक इनकी दूसरी त्रिफला होती है—पृष्या विभीतक प्राची महाती त्रिफला मता । स्वया काश्मर्यखर्दोत्पलककालभेद । त्रिफला में तीनों के प्रमाण के सबब में मतभेद है—एक हरी तकी योज्या द्वौ च योज्या विभीतकौ । चालासामलकान्वये त्रिफलाया प्रथी तिता । (शाङ्गंघर) । पृष्या विभीतकाधीनां फले स्वाद विफला सवे । (भाष्यकाय) ।

(२९) पिप्पलीमरिचशृङ्गवेराणि त्रिकटुकम् ॥५७॥
त्र्युपसं कफघ्नोन्नं मेहकुष्ठत्वगामयान् ।
निहन्त्यादीपनं गुल्मपीनसाश्रयस्फतामपि ॥५८॥

(त्रिकटुक—) पिप्पली (Piper Longum), मरिच (काली मिर्च Piper Nigrum) और शृङ्गवेर (सोड Zingiber Officinalis), ये तीन त्रिकटुक अथवा त्र्युपस्य कहलाते हैं ॥५७॥ यह त्र्युपस्य कफ और भेद को नष्ट करता है, प्रमेह, कुष्ठ और त्वचा के रोगों को नाश करता है, दीपन है और गुल्म, पीनल तथा मन्दाग्नि को दूर करता है ॥५८॥

(३०) आमलकीहरीतकीपिप्पल्याद्यित्रकश्चेति ॥५९॥
आमलक्यादिरित्येष गणः सर्वज्वरपहः ।
चक्षुष्यो दीपनो वृष्यः कफारोचकनाशनम् ॥६०॥
(आमलक्यादिगण—) आंवला, हरदा पिप्पली और चित्रक (यह आमलक्यादिगण है) ॥५९॥ यह आमलक्यादिगण सर्व ज्वरों को हारण करता है, नेत्र को हितकर है, दीपन है, शरीर वृद्धिकर है और कफ तथा अरुचि को नाश करता है ॥६०॥

वृक्तव्य—वृष्य—यद् विचि तपुर् शिष्य जीवन वृद्ध गृह ।
वर्षण यनमश्वे सर्वं तद् वृष्यमुच्यते ॥ (चरक) ।

(३१) त्रपुलीसताम्रजतङ्गपुलोदसुवर्णानि
लोहमलधेति ॥६१॥

गणखण्डादिरित्येष गरुक्तिमिहरः परः ।

पिपासाविपहद्रोगपाण्डुमेहहरस्तथा ॥६२॥

(त्र्यम्बादिगण—) त्र्यम्बा (वंग, रांगा, Tin), सीस (सीसा Lead), तांब्र (तांबा Copper), रजत (रौप्य, चांदी Silver), कृष्णलोह (कान्तलोह, लोहलोह, Iron), सुवर्ण (सोना Gold) और लोहमल (लोहकिट्ट, मण्डूर) यह त्र्यम्बादिगण है ॥६१॥ यह त्र्यम्बादिगण विष और कुमियों का परम नाशक है तथा तृषा, विष, हृद्रोग, पाण्डुरोग और प्रमेह इनका हरण करने वाला है ॥६२॥

वक्तव्य—लोहमल—ओषधि के लिये सदैव पुराने किट्ट का ही उपयोग करना चाहिये—शताब्दमुत्तम किट्ट मध्यञ्चाशीति-वार्षिकम् । अथम षष्टिवर्षीयं ततो हीनं विषोपमम् ॥ गरु—कुत्रिम विष—नानाप्राण्यद्रामलविरुद्धौषधिभस्मनाम् । विषाणां चात्मवीर्याणां योगो गरु इति स्मृतः ॥ (अष्टांगहृदय) ।

(३२) लाक्षारेवतकुटजाश्वमारकदफलहरिद्रा-
द्वयनिम्बसप्तच्छदमालत्यस्त्रायमाणा चेति ॥६३॥

कपायस्तिकमधुरः कफपित्तातिनाशनः ।

कुष्ठक्रिमिहरश्चैव दुष्टत्रणविशोधनः ॥६४॥

(लाक्षादिगण—) लाक्षा (लाख), आरेवत (आरमन्ध, मलतास), कुटज (कुड़ा), अश्वमार (करवीर, कनेर, erium Odorum), कदफल, हरिद्रा और दारुहरिद्रा, त्र्यम्ब, सप्तच्छद (सप्तपर्ण, छतिवन), मालती (जाती) और त्रायमाणा (Delphinium Zalil) ॥६३॥ यह लाक्षादिगण कपाय, तिक्त और मधुर है, कफ और पित्त को पीड़ा को नाश करता है, कुष्ठ और कुमियों का हरण करता है और दुष्ट घण को शोधन करता है ॥६४॥

पञ्च पञ्चमूलान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः ॥६५॥

यहाँ से आगे पाँच प्रकार के पंच मूलों का वर्णन करते हैं ॥६५॥

वक्तव्य—अष्टांगसंग्रह में यहाँ वर्णन किये हुए पाँच प्रकारों के अतिरिक्त 'मध्यम' और 'जीवन' नामक दो अधिक पंचमूल वर्णन किये हैं—बलापुनर्नवैरण्डस्यपर्णाद्वयेन च । मध्यमं कफवातघ्नं नातिपित्तकरं लघु ॥ अभीरुवीराजीवन्तीजीवकर्पभकैः स्मृतम् । जीवनाख्यं तु बद्धुष्यं वृष्यं पित्तानिलापहम् ॥

(३३) तत्र त्रिकण्टकवृहतीद्वयपृथक्पृथक्यो
विदारिगन्धा चेति कनीयः ॥६६॥

कपायतिक्तमधुरं कनीयः पञ्चमूलकम् ।

वातघ्नं पित्तशामनं बृंहणं चलवर्धनम् ॥६७॥

(लघुपंचमूल—) उनमें से त्रिकण्टक (गोखरु), छोटी बुरती और बड़ी बृहती, पृथिवर्षी, विदारिगन्धा (शालपर्णी) और लघुपंचमूल है ॥६६॥ यह लघुपंचमूल कपाय, तिक्त और मधुर है, वातनाशक है, पित्तनाशक है, पुष्टिकारक है और शरीर का मूल बढ़ाने वाला है ॥६७॥

(३४) विल्वाशिमन्धटिरहुकपाटलाः काश्मर्य-
श्चेति महत् ॥६८॥

सत्तिकं कफवातघ्नं पादौ लघ्वशिमदीपनम् ।

मधुरानुरसं चैव पञ्चमूलं महत् स्मृतम् ॥६९॥

(बृहत् पंचमूल—) बिल्व, अशिमन्ध (गणकारिका), टिरहुक (श्यानाक), पाटला (पाखल, पाखर वृक्ष, Stereospermum Suaveolens) और काश्मरी (Gmelina Arboorea), यह महत् पंचमूल है ॥६८॥ यह महत् पंचमूल तिक्त रस, कफ वात नाशक, हलका, अग्नि को दीपन करने वाला और अनुरस में मधुर है ॥६९॥

वक्तव्य—द्रव्यों का जो रस प्रायः स्पष्टतया प्रतीत नहीं होता अथवा पश्चात् थोड़ा प्रतीत होता है, वह अनुरस है—व्यक्तः शुक्लस्य चादौ च रसो द्रव्यस्य लक्ष्यते । विपर्ययेनानुरसः । (चरक) । अनुरसस्तु रसेनाभिभूतत्वादन्यक्तो व्यक्तो वा किञ्चिदन्ते ॥ (अष्टांगसंग्रह) । विशेष विवरण के लिये ४०वें अध्याय के पहले सूत्र का वक्तव्य देखो ।

अनयोर्दशमूलमुच्यते ॥७०॥

गणः श्वासहरो ह्येष कफपित्तानिलापहः ।

आमस्य पाचनश्चैव सर्वज्वरविनाशनः ॥७१॥

(दशमूल—) ये दोनों लघु और महत् पंचमूल दशमूल कहलाते हैं ॥७०॥ यह दशमूलनाम खास का हरण करता है, वात पित्त और कफ को घात करता है, आम रस का पाचन करता है और सर्व प्रकार के ज्वरों का नाशक है ॥७१॥

(३५) विदारीसारिदारजनीशुद्धच्योऽजश्टरी
चेति बह्वीसंज्ञः ॥७२॥

(बह्वीपंचमूल—) विदारीकन्द, सारिवा, एरिद्रा, गिठोय और मेढासींगी यह बह्वी संज्ञक पंचमूल है ॥७२॥

(३६) करमर्दन्त्रिकण्टकसैरीयकशातावरीगृध्र-
नख्य इति कण्टकसंज्ञाः ॥७३॥

(कण्टकपंचमूल—) करमर्द (करौंदा Capparis Corundas), त्रिकण्टक (गोखरु), सैरीयक (दुष्टण्टक, पिनामास), शातावरी और गृध्रनखी (कण्टकपाली घृषा Capparis Sepiaria, अथवा पदरघृषा) । यह कण्टक संज्ञक पंचमूल है ॥७३॥

रक्तपित्तदरी ह्येतौ शौकत्रयविनाशकौ ।

सर्वमेहहरौ चैव शुभ्रदोषविनाशकौ ॥७४॥

बह्वीपंचमूल और कण्टकपंचमूल ये दोनों नख रक्तपित्त हरण करने वाले, तीन प्रकार के शौच जो मूत्र करने वाले, सर्व प्रमेहों को हरण करने वाले तथा बीरुशैर्षों के नाशक होते हैं ॥७४॥

(३७) कुशकारानलदर्भकारलेक्षुका इति क्षु-
संज्ञफः ॥७५॥

मूत्रदोषविकारं च रक्तपित्तं तपैव च ।

घनस्यः प्रसुक्तः रीरेण शीघ्रमेव विनाशश्चेत् ॥७६॥

(क्षुसंज्ञमूल—) क्षुस (Poa ciliaris), काक (Saccharum Spontaneum), नख (गरसत, Arundo Karika),

(पीपल Ficus Religiosa), हृत्त (पाड़ड़ Ficus Infectoria), कपीतन (आत्रावफ, आमड़ा, Spondias Mangifera), कडुम (अरुन), आम्र (आम Mangifera Indica), कोषाग्र (आम का भेद, Mangifera Sylvatica), घोरकपत्र (लासावृक्ष), जम्बूद्वय (महाजम्बू, बरी जामुन Eugenia gambolana और काकजम्बू, छोटी जामुन Eugenia Caryophyllifolia), पिचाल (चिरीजीरुख Buchanania Latifolia), मधुक (महुआ), रोहिणी (कडुकी), पन्जुल (वेत Calamus Rotung), कदम्ब, बदरी (बेर, Zizyphus jujuba), तिन्दुकी (तेन्दु), सल्लकी (साल-भेद, साकई, Boswellia Serrata), लोम, सावर लोम, भल्लातक (भिलावा Semicarpus Anacardium), पलाय (ढाक), मन्दीवृक्ष ॥४७॥ यह न्यग्रोधादिगण ऋण को हितकर है, संप्राप्ति है, भ्रम अग्नि को जोड़ने वाला है, रक्पित्त का हरण करने वाला है और दाह, मेद तथा योनि के दोषों को दूर करता है ॥४८॥

(२५) गुड्डीनिम्बकुस्तुम्बुरुचन्दनानि पक्कं चेति ॥४९॥

एष सर्वज्वरान् हन्ति गुड्डीयादिस्तु दीपनः ।

इल्लासरोचकवमीपिपासादाहनाशनः ॥५०॥

(गुड्डीयादिगण—) गिलोय, नीम, कुलुम्बुर (धनिया Coriandrum Sativum), चन्दन और पत्राख ॥४९॥ यह गुड्डीयादिगण सर्व प्रकार के ज्वरों को नाश करता है, दीपन है और इल्लास, अरुचि, वमन, पृण, दाह को नाश करता है ॥५०॥

(२६) उत्पलरक्तोत्पलकुमुदसौगन्धिककुचलय-
पुराहरीकाणि मधुकं चेति ॥५१॥

उत्पलादिरयं दाहपित्तरक्तचिनाशनः ।

पिपासाचिपटद्रोगच्छदिमूर्च्छाद्वेदो गणः ॥५२॥

(उत्पलादिगण—) उत्पल (नीलकमल), रक्तोत्पल (लाल कमल), कुमुद (श्वेतकमल), सौगन्धिक (चन्दोदय विज्ञानी प्रथम सुरभि नील कमल), कुचलय (श्वेत और नील वर्षा कमल), पुराहरीक (अल्पत श्वेत कमल) और पथिमधु ॥५१॥ यह उत्पलादिगण दाह रक्त पित्त का नाश करता है और रुषा, विष, हृद्रोग, वमन और मूर्च्छा इनका हरण करने वाला है ॥५२॥

वृक्तव्य—उत्पलादिगण में कमल के जो भिन्न भिन्न नाम निर्दिष्ट किये हैं, उनके फलों के संवध में न केवल भिन्न भिन्न प्राचीन आचार्य परस्पर विरोधादी दिसाई देते हैं अपितु बड़गाचार्य भी अपनी टीका में स्वयं विरोधादी हैं । यथा बड़ीकाचरथीय (१३वें) अध्याय में 'पयोपलनसिनकुस्तुद' सूत्र की टीका में लिखा है—उत्पलनीचशील, पुराहरीकमतिवधपथ, मुनरुय रक्तोत्पलम् । और यहाँ टीका में लिखते हैं—उत्पल नीले रत्न, पुराहरीकं भेनरुपं, कुचलयमीचनीचरथवत् ।

(२७) मुस्ताहृत्त्रिदादाहरीतक्यामलक-
चिमीतककुष्ठहैमयतीवचाप्योडाकडुरीहिर्षीशाङ्गघाति-
चिपद्राघिडीमहातकानि चित्रकधेति ॥५३॥

एष मुस्तादिको नाद्या गणः श्लेष्मनिपूदनः ।

मोनिदोषहरः स्तन्यशोचनः पाचनस्तथा ॥५४॥

(मुस्तादिगण—) मुस्ता, हल्दी, दाह हल्दी, हरण आवला, यहदा, बुष्ट, हैमवती (श्वेत कचा), कचा, पाठा कडुकी, शाईंटा (काकजया, काकमाची, काकादनी), अति विरग, द्रविडी (छोटी हलायची), भल्लातक (भिलावा) और चित्रक ॥५३॥ यह मुस्तादिकगण ऋण का नाशक है, योनि दोषों का हरण करने वाला है, दूध का शोषक है और पाचक है ॥५४॥

(२८) हरीतक्यामलकचिमीतकानि त्रिफला ॥५५॥

त्रिफला कफपित्तघ्नी मेहकुष्ठविनाशनी ।

चक्षुष्या दीपनी चैव विषमज्जरनाशनी ॥५६॥

(त्रिफला—) हरीतकी (हरडा Terminalia Chebula) आमलक (आवला Emblica Officinalis), और त्रिफलिक (बहेदा Terminalia Belerica) यह त्रिफला है ॥५५॥ यह त्रिफला कफ और पित्त नाशक है, प्रमेह और कुष्ठ को नष्ट करती है, नेत्र के लिये हितकर है, अग्नि दीपक है तथा विषमज्जर नाशक है ॥५६॥

वक्तव्य—इस त्रिफला के अतिरिक्त काश्मरी सर्जर और परुषक इनकी दूसरी त्रिफला होती है—पन्था विनीतक धानी मल्ली त्रिफला मना । स्वशा काश्मरकजैरुपरुषककैरुमैरु । त्रिफला में तीनों के प्रमाय के संवध में मतभेद है—पक्क हरी-तकी योग्या ही च योज्यो विनीतकी । चत्वार्यामलकान्येव त्रिफलाया प्रदी-
तिता । (शाईंशर) । पन्था विनीतयाभीया फले स्वाद त्रिफला समे ॥
(भावप्रकाश) ।

(२९) पिप्पलीमरिचशृङ्गवेराणि त्रिकटुकम् ॥५७॥

त्र्युपणं कफमेदोघ्नं मेहकुष्ठव्यागमयान् ।

निहन्त्यादीपनं शुल्मपीनसाश्रयत्पतामपि ॥५८॥

(त्रिकटु—) पिप्पली (Piper Longum) मरिच (काली मिरच Piper Nigrum) और शृङ्गवेर (सेंट Zingiber Officinalis), ये तीन त्रिकटु अथवा त्र्युपण कहलाते हैं ॥५७॥ यह त्र्युपण कफ और मेद को नष्ट करता है, प्रमेह, बुष्ट और ल्प्या के रोगों को नाश करता है, दीपन है और शुल्म, पीनस तथा मन्दाग्नि को दूर करता है ॥५८॥

(३०) आमलकीहरीतकीपिप्पल्यधियकधेति ॥५९॥

आमलक्यादिरित्येष गणः सर्वज्वरपहः ।

चक्षुष्यो दीपनो घृष्यः कफारोचकनाशनः ॥६०॥

(आमलक्यादिगण—) आवला, हरडा पिप्पली और चित्रक (यह आमलक्यादिगण है) ॥५९॥ यह आमलक्यादिगण सर्व ज्वरों को हरण करता है, नेत्र को हितकर है, दीपन है, घरीर शृङ्गिक है और कफ तथा अरुचि को नाश करता है ॥६०॥

वक्तव्य—इस—यप विविगमधुर सिग्ध जीवन हरण गुर ।

हृणं प्रवसथेव सर्वं तद् दृष्युच्यते ॥ (धरक) ।

(३१) भ्रुतुरीसताम्रतजतटण्णलीहृदुवणोनि
लोहमलधेति ॥६१॥

गणस्रग्वादिरित्येष गरक्तिमिहरः परः ।
 पिपासाविपहृद्रोगपाण्डुरोगेहहरस्तथा ॥६२॥
 (त्रन्वादिगण—) त्रपु (वंग, रांगा, Tin), लीड (लीड Lead), ताँबा (ताँबा Copper), रजत (रौप्य, चाँदी Silver), कृष्णलोह (कान्तलोह, तीक्ष्णलोह, Iron), सुवर्ण (सोना Gold) और लोहमल (लोहकित्त, मण्डूर) यह त्रन्वादिगण है ॥६१॥ यह त्रन्वादिगण विप और कृमियों का परम नाशक है तथा तृषा, विप, हृद्रोग, पाण्डुरोग और प्रमेह इनका हरण करने वाला है ॥६२॥

वक्तव्य—लोहमल—ओषधि के लिये सदैव पुराने किट्ट का ही उपयोग करना चाहिये—शताब्दमुत्तम किट्ट मध्यञ्चाशीति-वार्षिकम् । अथम षष्टिवर्षीयं ततो हीनं विशेषमम् ॥ गर—कृन्निम विप—नानाप्रण्यद्वयशमलविश्वैषधिमरुतनाम् । विपाणां चाख्यवीर्याणां योगो गर इति स्मृतः ॥ (अष्टांगहृदय) ।

(३२) लाक्षावेतकुटजाश्वमारकटफलहरिद्रा-
 द्वयनिम्बसप्तच्छदमालत्यलायभाणा चेति ॥६३॥

कपायस्तिकमधुरः कफपित्तानिनाशनः ।
 कुष्ठमिहरश्चैव दुष्टव्रणविशोधनः ॥६४॥

(लाक्षादिगण—) लाक्षा (लाख), आरेवत (आरम्बध, मेलतास), कुटज (कुट्टा), अश्वमार (करवीर, कनेर, Serium Odorum), कटफल, हरिद्रा और दारुहरिद्रा, नेम्ब, सप्तच्छद (सप्तर्षी, छतिवन), मालती (जाती) और भायमाणा (Delphinium Zalil) ॥६३॥ यह लाक्षादिगण कपाय, तिक्त और मधुर है, कफ और पित्त से पीड़ा को नाश करता है, कुष्ठ और कृमियों का हरण करता है और दुष्ट व्रण को शोधन करता है ॥६४॥

पञ्च पञ्चमूलान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः ॥६५॥
 यहाँ से आगे पाँच प्रकार के पंच मूलों का वर्णन करते हैं ॥६५॥

वक्तव्य—अष्टांगसंग्रह में यहाँ वर्णन किये हुए पाँच प्रकारों के अतिरिक्त 'मध्यम' और 'जीवन' नामक दो अधिक पंचमूल वर्णन किये हैं—बलापुनर्नैवेण्डस्यपर्णाद्वयेन च । मध्यमं कफवातघ्नं नातिपित्तकरं लघु ॥ अभीरुवीराजीवन्तीजीवकपर्भकः स्मृतम् । जीवनाख्यं तु चक्षुष्यं कृष्यं पित्तानिलापहम् ॥

(३३) तत्र त्रिकण्टकवृहतीद्वयपृथग्रूपण्यो
 पिसृगिगन्धा चेति कनीयः ॥६६॥

...गोयतिकमधुरं कनीयः पञ्चमूलकम् ।
 घातघ्नं पित्तशमनं बृंहणं बलवर्धनम् ॥६७॥

(लघुपंचमूल—) उनमें से त्रिकण्टक (गोखर), छोटी बृहती और बड़ी बृहती, पृथिवीर्षा, विदारिगन्धा (शालपर्णी) यह लघुपंचमूल है ॥६६॥ यह लघुपंचमूल कपाय, तिक्त और मधुर है, घातनाशक है, पित्तनाशक है, पुष्टिकारक है और शरीर का बल बढ़ाने वाला है ॥६७॥

(३४) धिल्व्याग्निमन्थटिरदुकपाटलाः काश्मर्य-
 श्चेति महत् ॥६८॥

स्तित्तं कफवातघ्नं फाके लघ्वग्निदीपनम् ।
 मधुरानुरसं चैव पञ्चमूलं महत् स्मृतम् ॥६९॥

(बृहत् पंचमूल—) बिल्व, अग्निगन्ध (गन्धकारिका), डुंडुक (झोनाक), पाटला (पाखल, पाठर वृक्ष, Stereospermum Suaveolens) और काश्मरी (Gmelina Arboorea), यह महत् पंचमूल है ॥६८॥ यह महत् पंचमूल तिक्त रस, कफ वात नाशक, हलका, अग्नि को दीपन करने वाला और अनुरस में मधुर है ॥६९॥

वक्तव्य—द्रव्यों का जो रस प्रायः स्पष्टतया प्रतीत नहीं होता अथवा पश्चात् थोड़ा प्रतीत होता है, वह अनुरस है—व्यक्तः शुष्कस्य चादौ च रसो द्रव्यस्य लक्ष्यते । विपर्येयानुरसः । (चरक) । अनुरसस्तु रसेनाभिभूतत्वादव्यक्तो व्यक्तो वा किञ्चिदन्ते ॥ (अष्टांगसंग्रह) । विशेष विचरण के लिये ४०वें अध्याय के पहले सूत्र का वक्तव्य देखें ।

अनयोर्दशमूलमुच्यते ॥७०॥

गणः श्वासहरो ह्येष कफपित्तानिलापहः ।
 आमस्य पाचनश्चैव सर्वज्वरविनाशनः ॥७१॥

(दशमूल—) ये दोनों लघु और महत् पंचमूल दशमूल कहलाते हैं ॥७०॥ यह दशमूलगण श्वास का हरण करता है, वात पित्त और कफ को शांत करता है, आम रस का पाचन करता है और सर्व प्रकार के ज्वरों का नाशक है ॥७१॥

(३५) विदारीसारिवाजनीशुद्धच्योऽजम्बरी
 चेति बह्वीसंज्ञः ॥७२॥

(बह्वीपंचमूल—) विदारीकन्द, सारिवा, हरिद्रा, गिलोय और मेढासिंगी यह बह्वी संज्ञक पंचमूल है ॥७२॥

(३६) करमर्दत्रिकण्टकसैरीयकशतावरीजृङ्ग-
 नख्य इति कण्टकसंज्ञः ॥७३॥

(कण्टकपंचमूल—) करमर्द (करोंदा Capparis Corundas), त्रिकण्टक (गोखर), सैरीयक (इरुण्टक, शिवादास), शतावरी और गुग्गुली (कण्टकपाली वृक्ष Capparis Sepiaria, अथवा पदरवृक्ष) । यह कण्टक संज्ञक पंचमूल है ॥७३॥

रक्तपित्तहरो ह्येतौ शोफजयदिगाहनी ।
 सर्वमेहहरो चैव शुभ्रदोषविनाशकौ ॥७४॥

बह्वीपंचमूल और कण्टकपंचमूल ये दोनों गन्ध रक्तपित्त हरण करने वाले, तीन प्रकार के शोफ को गट करने वाले, सर्व प्रमेहों को हरण करने वाले तथा बीरदोषों से नाशक होते हैं ॥७४॥

(३७) कुशकाशनलघ्वर्षकाराण्डेभुज इति सृण-
 संराफः ॥७५॥

सूत्रदोषविकारं च रक्तपित्तं तर्क्ष्य च ।
 वन्त्यः प्रयुक्तः क्षीरेण शीममेव विनाशयेत् ॥७६॥

(सृणपंचमूल—) सृण (Pongilias), काण्ड (Saccharum Spontaneum), गट (गरल, Arundoo Karka),

(पीपल Ficus Religiosa), इक्षु (पाड़ड़ Ficus Infectoria), कपीतन (आम्रातक, आमड़ा, Spondias Mangifera), कडुग (अर्जुन), आम्र (आम Mangifera Indica), कोषाग्र (आम का भेद, Mangifera Sylvestica), चोरकपत्र (टासाहूत), अम्बुद्वय (महाजम्बू, बड़ी जामुन Eugenia gambolana और काकजम्बू, छोटी जामुन Eugenia Caryophyllifolia), पिपल (चिरीगैरुस Buchanania Latifolia), मधुक (महुआ), रोहिणी (कडुकी), चण्डूल (येत Calamus Rotung), कदम्ब, बदरी (बेर, Zizyphus jujuba), तिन्दुकी (तेन्दु), सलकी (साल-भेद, साकई, Boswellia Serrata). लोम, सावर लोम, महालक (मिलावा Semicarpus Anacardium), पलाय (डाक), मन्दीवृक्ष ॥४०॥ यह न्यमोपादिगण मग को हितकर है, संप्रादी है, अन्न अस्थि को ओढ़ने वाला है, रक्तपित्त का हरण करने वाला है और दाह, मेद तथा दोषों के दोषों को दूर करता है ॥४०॥

(२५) गुडूचीनिम्बकुस्तुम्बुरुचन्दनानि पत्रकं चेति ॥४१॥

एष सर्वज्वरान् हन्ति गुडूच्यादिस्तु दीपनः ।

इष्टासारोचकवमीपिपासादाहनाशनः ॥५०॥

(गुडूच्यादिगण—) गिलोय, गीम, कुस्तुम्बुरु (धनिया Coriandrum Sativum), चन्दन और पद्माल ॥४१॥ यह गुडूच्यादिगण सब प्रकार के ज्वरों को नाश करता है, दीपन है और इष्टास, अरचि, वमन, तृषा, दाह को नाश करता है ॥५०॥

(२६) उत्पलरक्तोत्पलकुमुदसौगन्धिककुवलय-पुण्डरीकाणि मधुकं चेति ॥५१॥

उत्पलादिरयं दाहपित्तरक्तविनाशनः ।

पिपासाविषहृद्रोगच्छर्दिमूर्च्छाहरो गणः ॥५२॥

(उत्पलादिगण—) उत्पल (नीलकमल), रक्तोत्पल (लाल कमल), कुमुद (श्वेतकमल), सौगन्धिक (चंद्रोदय विक्रांती अल्पत सुगन्धि नील कमल), कुवलय (येत और नील वर्षा कमल), पुण्डरीक (अल्पत श्वेत कमल) और पश्चिमपु ॥५१॥ यह उत्पलादिगण दाह रक्त पित्त का नाश करता है और तृषा, विष, हृद्रोग, वमन और मूर्च्छा इनका हरण करने वाला है ॥५२॥

यत्कण्य—उत्पलादिगण में कमल के जो भिन्न भिन्न नाम निर्दिष्ट किये हैं, उनके वर्ण के संबंध में न केवल भिन्न भिन्न प्राचीन आचार्य परस्पर विरोधवादी दिखाई देते हैं अथि कुडुणाचार्य भी अपनी टीका में स्वयं विरोधवादी हैं । यथा अलीकाचरचरणीय (१३वें) अध्याय में 'पद्मोत्पलनलिनकुमुद' शब्द की टीका में लिखा है—उत्पलनीलनील, पुण्डरीकमतिशेनपत्र, कुनल्य रक्तोत्पलम् । और यहाँ टीका में लिखते हैं—उत्पल जीने उत्पल, पुण्डरीकं श्वेतपत्र, कुनल्यनीलनीलपत्रम् ।

(२७) मुस्ताहरिद्रादाहृदिहरीतक्यामलक-विमीतककुष्ठैर्मयतीचचामाठाकटुरीहिरीसार्ङ्गशक्ति-विपाद्राविडीमहातकानि चित्रकश्चेति ॥५३॥

एष मुस्तादिको नासा गणः श्लेष्मनिपूदनः ।

शोनिदोषहरः स्तन्यदोघनः पाचनस्तथा ॥५४

(मुस्तादिगण—) मुस्ता, हल्दी, दाह हल्दी, हर औरला, यहैरा, कुठ, हैमवती (श्वेत चन्ना), चन्ना, पा कडुकी, गार्डोटा (काकजंपा, काकमाची, काकादनी), अ विष, द्रायिडी (छोटी हलायची), महातक (मिलाव और चित्रक ॥५३॥ यह मुस्तादिगण कफ का नाशक है, शो दोषों का हरण करने वाला है, दूध का शोधक है र पाचक है ॥५४॥

(२८) हरीतक्यामलकविमीतकानि त्रिफला ॥५५

त्रिफला कफपित्तघ्नी मेहकुष्ठविनाशनी ।

चक्षुष्या दीपनी चैव विषमज्वरनाशनी ॥५६॥

(त्रिफला—) हरीतकी (हरड़ा Terminalia Chelula) आमलक (औबला Emblica Officialis), श्री विभीतक (बहेदा Terminalia Belerica) यह त्रिफला है ॥५५॥ यह त्रिफला कफ और पित्त नाशक है, प्रमेह और कुष्ठ को नष्ट करती है, नेत्र के लिये हितकर है, अग्नि दीपक है तथा विषमज्वर नाशक है ॥५६॥

यत्कण्य—इस त्रिफला के अतिरिक्त काश्मरी खर्जूर और पल्पक इनकी दूसरी त्रिफला होती है—पथा विमीतक पानी महीनी त्रिफला मता । स्वस्वा काश्मरखर्जूरपल्पकालेभेदे ॥ त्रिफला में तीनों के प्रमाद्य के संबंध में मतभेद है—कफ हरी-तकी शोय्या दो व शोय्यो विभीतकी । चत्वार्यामलकान्येव त्रिफला प्रकी-र्तिता । (गार्डोटा) । पथा विभीतकजीनां पले स्वाद्य त्रिफला सर्वे ॥ (भावप्रकाश) ।

(२९) पिप्पलीमरिचशृङ्गवेराणि त्रिकटुकम् ॥५७॥

श्रुपणं कफमेदोघ्नं मेहकुष्ठत्वग्गामयान् ।

निहन्त्यादीपनं गुल्मपीनसांन्यल्पतामपि ॥५८॥

(त्रिकटु—) पिप्पली (Piper Longum), मरिच (काली मिरच Piper Nigrum) और शृङ्गवेर (सॉड Zingiber Officinale) । ये तीन त्रिकटु अथवा श्रुपण्य केशलाते हैं ॥५७॥ यह श्रुपण्य कफ और मेद को नष्ट करता है, प्रमेह, कुष्ठ और तृषा के रोगों को नाश करता है, दीपन है और गुल्म, पीनस तथा मन्दाग्नि को दूर करता है ॥५८॥

(३०) आमलकीहरीतकीपिप्पल्याक्षिप्रकश्चेति ॥५९॥

आमलक्यादिरित्येष गणः सर्वज्वरपहः ।

चक्षुष्यो दीपनो वृष्यः कफारोचकनाशनः ॥६०॥

(आमलक्यादिगण—) औबला, हरदा पिप्पली और चित्रक (यह आमलक्यादिगण है) ॥५९॥ यह आमलक्यादिगण सर्व ज्वरों को हरण करता है, नेत्र को हितकर है, दीपन है, शरीर वृद्धिकर है और कफ तथा अरचि को नाश करता है ॥६०॥

यत्कण्य—शृष्य—यद् विचिन्मधुर लिम्ब जीवन वृद्धय उपर । र्पणं मनसश्चैव सर्वं तद् वृष्यमुच्यते ॥ (चरक) ।

(३१) श्रुपुसीसताम्ररजतरुष्णलोहसुवर्णानि लोहमलश्चेति ॥६१॥

गणखज्वादिरित्येष गरुक्तिमिहरः परः ।
पिपासाविषहृद्दोगपाण्डुमेहहरस्तथा ॥६२॥

(त्रपदादिगण—) त्रपु (वंग, रांगा, Tin), सीस (सीसा Lead), ताम्र (तांबा Copper), रजत (सौंध्य, चांदी Silver), कुण्डलोह (कान्तलोह, तीक्ष्णलोह, Iron), सुवर्ण (सोना Gold) और लोहमल (लोहकिट्ट, मण्डूर) यह त्रपदादिगण है ॥६१॥ यह त्रपदादिगण विष और कुम्भियों का परम नाशक है तथा तृषा, विष, हृद्दोग, पाण्डुरोग और प्रमेह इनका हरण करने वाला है ॥६२॥

वक्तव्य—लोहमल—ओषधि के लिये सर्वैव पुराने किट्ट का ही उपयोग करना चाहिये—शताब्दमुत्तमं किट्टं मध्यब्राश्रीति-वार्तिकम् । अथमं षष्टिवर्षीयं ततो हीनं विशेषमम् ॥ गरु—कृत्रिम विष—नानाप्राण्यद्गशमलविरुद्धौषधिभरमनाम् । विषाणां चाख्यवीर्याणां योगो गर इति स्मृतः ॥ (अष्टांगहृदय) ।

(३२) लाक्षारेवतकुटजाश्वमारकदफलहरिद्रा-
र्यानिम्बसप्तच्छदमालत्यस्त्रायमाणा चेति ॥६३॥

कषायस्तिकप्रधुरः कफपित्तानिनाशनः ।
कुष्ठकिमिहरश्चैव दुष्टघ्नविशोधनः ॥६४॥

(लाक्षादिगण—) लाक्षा (लाख), आरेवत (आरबख, प्रमलतास), कुटज (कुड़ा), अश्वमार (करवीर, कनेर, Nerium Odorum), कटफल, हरिद्रा और दाहुरिद्रा, निम्ब, सप्तच्छद (सप्तपर्ण, छतिवन), मालती (जाती) और त्रायमाणा (Delphinium Zalil) ॥६३॥ यह (लाक्षादिगण) कषाय, तिक और मधुर है, कफ और पित्त की पीड़ा को नाश करता है, कुष्ठ और कुम्भियों का हरण करता है और दुष्ट घ्न को शोधन करता है ॥६४॥

पञ्च पञ्चमूलान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः ॥६५॥

यहाँ से आगे पाँच प्रकार के पंच मूलों का वर्णन करते हैं ॥६५॥

वक्तव्य—अष्टांगसंग्रह में यहाँ वर्णन किये हुए पाँच प्रकारों के अतिरिक्त 'मध्यम' और 'जीवन' नामक दो अधिक पंचमूल वर्णन किये हैं—बलापुनर्वैरण्डस्यपर्णाद्वयेन च । मध्यमं कफवातघ्नं नातिपित्तकरं लघु ॥ अमीरुवीराजीवन्तीजीवकर्षभकैः स्मृतम् । जीवनाख्यं तु चक्षुष्यं व्यर्थं पित्तानिलापहम् ॥

(३३) तत्र त्रिकण्टकवृहतीद्वयपृथक्पृथग्यो
विदारिगन्धा चेति कनीयः ॥६६॥

तत्रोपतिक्तमधुरं कनीयः पञ्चमूलकम् ।
घातघ्नं पित्तशमनं वृंहणं बलवर्धनम् ॥६७॥

(लघुपंचमूल—) उनमें से त्रिकण्टक (गोखर), लोटी वृहती और बड़ी वृहती, पृथिवर्णी, विदारिगन्धा (धालपर्णी) यह लघुपंचमूल है ॥६६॥ यह लघुपंचमूल कषाय, तिक और मधुर है, वातनाशक है, पित्तनाशक है, पुष्टिकारक है और शरीर का बल बढ़ाने वाला है ॥६७॥

(३४) विल्वाश्लिमन्थदिरुदकपाटलाः काश्मर्य-
श्चेति महत् ॥६८॥

सत्तिकं कफवातघ्नं पाके लघ्वग्निदीपनम् ।
मधुरानुरसं चैव पञ्चमूलं महत् स्मृतम् ॥६९॥

(वृहत पंचमूल—) विल्व, अश्लिमन्थ (गदाकारिका), डुंडुक (श्योनाक), पाटला (पारुल, पावर डूक, Stereosp armum Suaveolens) और काश्मरी (Gmelina Arbo-rea), यह महत् पंचमूल है ॥६८॥ यह महत् पंचमूल तिक रस, कफ वात नाशक, हलका, अग्नि को दीपन करने वाला और अनुरस में मधुर है ॥६९॥

वक्तव्य—द्रव्यों का जो रस प्रायः स्पष्टतया प्रतीत नहीं होता अथवा पश्चात् थोड़ा प्रतीत होता है, वह अनुरस है—व्यक्तः शुष्कस्य चादौ च रसो द्रव्यस्य लक्ष्यते । विपर्ययेणानुरसः । (चरक) । अनुरसस्तु रसेनाभिभूतत्वादव्यक्तो व्यक्तो वा किञ्चिदन्ते ॥ (अष्टांग-संग्रह) । विशेष विवरण के लिये ४०वें अध्याय के पहले सूत्र का वक्तव्य देखो ।

अनयोर्दशमूलमुच्यते ॥७०॥
गणः श्वासहरो लोष कफपित्तानिलापहः ।
आमस्य पाचनश्चैव सर्वज्वरविनाशनः ॥७१॥

(दशमूल—) ये दोनों लघु और महत् पंचमूल दशमूल कहलाते हैं ॥७०॥ यह दशमूलगण श्वास का हरण करता है, वात पित्त और कफ को शांत करता है, आम रस का पाचन करता है और सर्व प्रकार के ज्वरों का नाशक है ॥७१॥

(३५) विदारीसारिवाजनीशुद्धूच्योऽजम्बूती
चेति बह्वीसंज्ञः ॥७२॥

(बह्वीपंचमूल—) विदारीकन्द, सारिवा, हरिद्रा, बिलोय और मेढ़ासीनी यह बह्वी संज्ञक पंचमूल है ॥७२॥

(३६) करमर्दत्रिकण्टकसैरीयकशातावरीगृह-
नख्य इति कण्टकसंज्ञः ॥७३॥

(कण्टकपंचमूल—) करमर्द (करोंदा Capparis Coru-ndas), त्रिकण्टक (गोखर), सैरीयक (कुरण्टक, बिनामासा), शातावरी और गुहनसी (कण्टकपाली वृक्ष Capparis Sepiaria, अथवा बदरहृत्) । यह कण्टक संज्ञक पंचमूल है ॥७३॥

रक्तपित्तहरी चेतौ शोफशयविनाशकौ ।
सर्वमेहहरौ चैव शुक्रदोषविनाशकौ ॥७४॥

बह्वीपंचमूल और कण्टकपंचमूल ये दोनों गण रक्तपित्त हरण करने वाले, तीन प्रकार के शोथ को नष्ट करने वाले, सर्व प्रमेहों को हरण करने वाले तथा बीर्यदोषों के नाशक होते हैं ॥७४॥

(३७) कुशकारानलवर्धकारुलेक्षुका इति एष-
संज्ञकः ॥७५॥

सूत्रदोषविकारं च रक्तपित्तं तदेष च ।
अन्त्यः प्रयुक्तः क्षीरेण शीघ्रमेव विनाशयेत् ॥७६॥

(हृत्पंचमूल—) हृत् (Poa ciliaris), काण्ड (Saccha-ram Spontanum), नल (गरजल, Arundo Kerka),

(पीपल Ficus Religiosa), श्या (पाकुड़ Ficus Infectoria), कपीतन (आम्रातक, आमड़ा, Spondias Mangifera), कजुम (अरुण), आम्र (आम Mangifera Indica), कोयात्र (आम का भेद, Mangifera Sylvatica), चोरकपत्र (छासात्रुत), अम्बूय (महाजम्बू, चडी जामुन Eugenia gambolana और काकजम्बू, छोटी जामुन Eu

Zizyphus jujuba), तन्दुकी (तेन्दु), सहाफ़ी (साल-भेद, साकई, Boswellia Serrata) सोम, साबर सोम, भहातक (मिलावा Semicarpus Anacardium) पलाय (डाक), मन्दीवृत्त ॥४७॥ यह न्यमोघादिगण मण को हितकर है, संमारी है, अम अस्थि को जोड़ने वाला है, रक्तपित्त का हारण करने वाला है और दाह, भेद तथा योनि के दोषों को दूर करता है ॥४८॥

(२५) गुहूचीनिम्बकुस्तुम्बुरुचन्दनानि पत्रकं चेति ॥४९॥

एष सर्वज्वरान् दग्धि गुहूच्यादिस्तु दीपनः ।
 इहासारोचकवमीपिपासादाहनाशनः ॥५०॥
 (गुहूच्यादिगण—) मीलोय, भीम, कुस्तुम्बुरु (धनिया Coriandrum Sativum), चन्दन और पत्राक्ष ॥४९॥ यह गुहूच्यादिगण सर्व प्रकार के ज्वरों को नाश करता है, दीपन है और इहास, अरचि, वमन, रुषा, दाह को नाश करता है ॥५०॥

(२६) उत्पलरकोत्पलकुमुदसौगन्धिककुपल्य-पुण्डरीकाणि मधुक चेति ॥५१॥

उत्पलादिरयं दाहपित्तरक्तविनाशनः ।
 पिपासाविपहद्रोग्च्छदिमूर्च्छाहरो गणः ॥५२॥
 (उत्पलादिगण—) उत्पल (नीलकमल), रकोत्पल (लाल कमल), कुमुद (श्वेतकमल), सौगन्धिक (चन्द्रीदय विक्रांती अथवा सुमि नील कमल), कुपल्य (श्वेत और नील वर्ण कमल), पुण्डरीक (अत्यंत श्वेत कमल) और यहिमधु ॥५१॥ यह उत्पलादिगण दाह रक्त पित्त का नाश करता है और रुषा, विष, हृदय, वमन और मूर्च्छा इनका हारण करने वाला है ॥५२॥

यत्कथ्यं—उत्पलादिगण में कमल के जो भिन्न भिन्न नाम निर्दिष्ट किये हैं, उनके वर्णों के संघर्ष में न केवल भिन्न भिन्न प्राचीन आचार्य परस्पर विरोधादी दिखाई देते हैं अपितु इहोपाचार्य भी अपनी टीका में स्वयं विरोधादी हैं । यथा कर्लीकावचरदीप (१३३) अध्याय में 'पयोत्पलनलिनकुमुद' ज्यों की टीका में लिखा है—उत्पलपीपली, पुण्डरीकमतिथेयपत्र, कुपल्य रकोत्पल्य । और यहाँ टीका में लिखते हैं—उत्पल नीले रत्न, पुण्डरीकं श्वेतपत्र, कुपल्यपीपलीरत्नवत् ॥

(२७) मुस्ताहृद्रिद्रादाहृद्रीहरीतक्यामलक-विमीतक कुष्ट्रैमपतीयचायाठाकट्टरीहृषीशाङ्गंष्टाति विपादाविडीमहातकानि चित्रवथेति ॥५३॥

एष मुस्तादिको नाम्ना गणः श्रेष्मनिपूतनः ।
 योनिदोषहरः स्तन्यशोधनः पाचनस्तथा ॥५४॥
 (मुस्तादिगण—) मुस्ता, हलदी, दाह हलदी, हर एंजिला, योड़ा, कुष्ट, हैमवती (श्वेत वचा), वचा, पार कटुकी, शाङ्गंटा (काकज्या, काकमाची, काकादनी), अर्चि विषा, द्राविडी (छोटी इलायची), भहातक (मिलावा और चित्रक ॥५३॥ यह मुस्तादिगण कफ का नाशक है, यो दोषों का हारण करने वाला है, दूध का शोधक है और पाचक है ॥५४॥

(२८) हरीतक्यामलकविमीतकानि त्रिफला ॥५५॥
 त्रिफला कफपित्तघ्नी मेहकुष्टविनाशनी ।
 चक्षुष्या दीपनी चैव विषमज्वरनाशनी ॥५६॥

(त्रिफला—) हरीतकी (हरदा Terminalia Chebula) आमलक (आंबरा Emblica Officinalis), अर्चि विमीतक (बड़ेदा Terminalia Belerica) यह त्रिफल है ॥५५॥ यह त्रिफला कफ और पित्त नाशक है, प्रमेह और कुष्ट को नष्ट करती है, नेत्र के लिये हितकर है, अग्नि दीपक है तथा विषमज्वर नाशक है ॥५६॥

यत्कथ्यं—इस त्रिफला के अतिरिक्त काश्मीरी खरैर और परूषक इनकी दूसरी त्रिफला होती है—पथ्या विमीतक धानी महती त्रिफला मता । स्वल्पा काश्मीरखरैरूषकपरूषकैर्भेदे ॥ त्रिफला में तीनों के प्रमाण के संघर्ष में मतभेद है—पथा हरी तकी योज्या ही च योज्या विभीतकौ । चल्पागामलकान्येव त्रिफलेषा प्रकीर्तिता । (शाङ्गंघर) । पथ्या विभीतपात्रीणी परै स्यात् त्रिफला सम ॥ (भावप्रकाय) ।

(२९) पिप्पलीमरिचशृङ्गवेराणि त्रिकटुकम् ॥५७॥
 श्यूषणं कफमेदोमं मेहकुष्टव्यगामयान् ।
 निहत्यादीपनं शुल्मपीनसाध्यस्वत्पामपि ॥५८॥

(त्रिकटु—) पिप्पली (Piper Longum) मरिच (काली मिरच Piper Nigrum) और शृङ्गवेर (सॉल Zingiber Officinalis) ये तीन त्रिकटु अथवा श्यूषण कहलाते हैं ॥५७॥ यह श्यूषण कफ और मेद को नष्ट करता है, प्रमेह, कुष्ट और त्वचा के रोगों को नाश करता है, दीपन है और शुल्म, पीनस तथा मन्दाग्नि को दूर करता है ॥५८॥

(३०) आमलकीहरीतकीपिप्पल्यश्चित्रकश्चेति ॥५९॥
 आमलक्यादिरित्येष गणः सर्वज्वरापहः ।
 चक्षुष्यो दीपनो वृष्यः कफारोचकनाशनः ॥६०॥

(आमलक्यादिगण—) आंबला, हरदा पिप्पली और चित्रक (यह आमलक्यादिगण है) ॥५९॥ यह आमलक्यादिगण सर्व ज्वरों को हारण करता है, नेत्र को हितकर है, दीपन है, शरीर वृद्धिकर है और कफ तथा अरचि को नाश करता है ॥६०॥

यत्कथ्यं—श्यूषण—यत् किंचिभ्युर स्तिष्य जीवन वृषण युः । हर्षा मंगलश्च सर्वं तद् वृथमुच्यते ॥ (चरक) ।

(३१) त्रुपुसीसताम्ररजतरुष्यलोहदुसुयर्षाणि लोहमलयेति ॥६१॥

गणस्रज्ज्वादिरित्येष गरक्तिमिहरः परः ।
 पिपासाविपहृद्रोगपाण्डुसेहहरस्तथा ॥६२॥
 (त्रिधादिगण—) त्रुषु (वंग, रांगा, Tin), लीस (सीसा Lead), तात्र (तांबा Copper), रजत (रौप्य, चांदी Silver), कृष्णलोह (कान्तलोह, तीक्ष्णलोह, Iron), सुवर्ण (सोना Gold) और लोहमल (लोहकिट्ट, मण्डूर) यह त्रिधादिगण है ॥६१॥ यह त्रिधादिगण विष और कृमियों का परम नाशक है तथा तृषा, विष, हृद्रोग, पाण्डुरोग और प्रमेह इनका हरण करने वाला है ॥६२॥

वक्तव्य—लोहमल—ओषधि के लिये सदैव पुराने किट्ट का ही उपयोग करना चाहिये—शताब्दमुत्तम किट्ट मध्यज्वाशीति-चार्पिकम् । अथमं पष्टिवर्षीयं ततो हीनं विषोपमम् ॥ गर—कृत्रिम विष—नानाप्राण्यद्रुशमलविरुद्धौषधिमत्तनान् । विपाणां चाव्यवीर्याणां योगो गर इति स्मृतः ॥ (अष्टांगहृदय) ।

(३२) लाक्षारेवतकुटजाश्वमारकदफलहरिद्रा-
 निस्त्रसप्तच्छदमालत्यस्त्रायमाणा चेति ॥६३॥
 प्रायस्त्रिकमधुरः कफपित्तार्तिनाशनः ।
 पुष्टिक्तिमिहरश्चैव दुष्टव्रणविशोधनः ॥६४॥

(लाक्षादिगण—) लाक्षा (लाख), आरेवत (आरबद्रव, लितास), कुटज (कुड़ा), अश्वमार (करवीर, कनेर, rium Odorum), कदफल, हरिद्रा और दाहहरिद्रा, च, सप्तच्छद (सप्तपर्ण, छतिवन), मालती (जाती) र त्रायमाणा (Delphinium Zalil) ॥६३॥ यह त्रिधादिगण कफाय, तित्त और मधुर है, कफ और पित्त पीड़ा को नाश करता है, कुष्ठ और कृमियों का हरण करता और दुष्ट व्रण को शोधन करता है ॥६४॥

पञ्च पञ्चमूलान्यत ऊर्ध्वं वर्धयामः ॥६५॥
 यहाँ से आगे पांच प्रकार के पंच मूलों का वर्धन करते ॥६५॥

वक्तव्य—अष्टांगसंग्रह में यहाँ वर्धन किये हुए पांच जारों के अतिरिक्त 'मध्यम' और 'जीवन' नामक दो अधिक मूल वर्धन किये हैं—बलापुननवेरण्डस्यपर्णाद्वयेन च । त्वमं कफवातघ्नं नातिपित्तकरं लघु ॥ अमीरुवीराजीवन्तीजीवकर्पभकैः त्रम् । जीवनात्यं तु चक्षुष्यं वृथ्यं पित्तानिलापहम् ॥

(३३) तत्र त्रिकण्टकवृहतीहृद्यष्टशृण्णपर्णो
 वेदारिगन्धा चेति कनीयः ॥६६॥
 प्रायस्त्रिकमधुरं कनीयः पञ्चमूलकम् ।
 घातघ्नं पित्तशामनं वृंहणं बलवर्धनम् ॥६७॥

(लघुपंचमूल—) उनमें से त्रिकण्टक (गोखर), लोटी इती और बड़ी बृहती, पृथिपर्णी, विदारिगन्धा (शालपर्णी) यह लघुपंचमूल है ॥६६॥ यह लघुपंचमूल कफाय, तित्त और मधुर है, वातनाशक है, पित्तशामक है, पुष्टिकारक है और शरीर का बल बढ़ाने वाला है ॥६७॥

(३४) विल्वशिमन्थदिरहृकपाटलाः फाण्डमर्थ-
 श्रेति महत् ॥६८॥

सत्तिकं कफवातघ्नं पाके लष्वशिमदीपनम् ।
 मधुरानुरलं चैव पञ्चमूलं महत् लघुतम् ॥६९॥
 (बृहत् पंचमूल—) विल्व, अशिमन्थ (गदाकारिका), हृदक (श्योनाक), पाटला (पारल, पायर हृदक, Stereospermum Suaveolens) और काश्मरी (Gmelina Arbo-roa), यह महत् पंचमूल है ॥६८॥ यह महत् पंचमूल तित्त रस, कफ वात नाशक, हलका, अग्नि को दीपन करने वाला और अनुरस में मधुर है ॥६९॥

वक्तव्य—द्रव्यों का जो रस प्रायः स्पष्टतया प्रतीत नहीं होता अथवा पश्चात् थोड़ा प्रतीत होता है, वह अनुरस है—व्यक्तः शुण्ठक्य चादौ रसो द्रव्यस्य लक्ष्यते । विपर्येणानुरसः । (चरक) । अनुरसस्य रसेनाभिभूतत्वादव्यक्तो व्यक्तो वा किञ्चिदन्ते ॥ (अष्टांग-संग्रह) । विशेष विवरण के लिये ४०वें अध्याय के पहले सूत्र का वक्तव्य देखो ।

अनयोर्दशमूलमुच्यते ॥७०॥
 गणः श्वासहरो ह्येष कफपित्तानिलापहः ।
 आमस्य पाचनश्चैव सर्वज्वरविनाशनः ॥७१॥

(दशमूल—) ये दोनों लघु और महत् पंचमूल दशमूल कहलाते हैं ॥७०॥ यह दशमूलगण खास का हरण करता है, वात पित्त और कफ को शांत करता है, आम रस का पाचन करता है और सर्व प्रकार के ज्वरों का नाशक है ॥७१॥

(३५) विदारीसारिचरजनीशुद्धच्योऽजम्बूदी
 चेति षड्वीसंज्ञः ॥७२॥
 (षड्वीसंज्ञमूल—) विदारीकन्द, सारिवा, हरिद्रा, शिलीय और मेदासींगी यह षड्वी संज्ञक पंचमूल है ॥७२॥

(३६) करमर्दत्रिकण्टकसैरीयकशतावरीशृ-
 नख्य इति कण्टकसंज्ञः ॥७३॥

(कण्टकपंचमूल—) करमर्द (करोंदा Capparis Coru-ndas), त्रिकण्टक (गोखर), सैरीयक (कुरण्टक, पिपावाला), शतावरी और गुग्गुली (कण्टकपाली वृक्ष Capparis Sepiaria, अथवा बदरगुच्छ) । यह कण्टक संज्ञक पंचमूल है ॥७३॥

रक्तपित्तहरी खेतौ शोफत्रयविवाहनी ।
 सर्वमेहहरी चैव शुक्रदोषविनाशनी ॥७४॥
 षड्वीसंज्ञमूल और कण्टकपंचमूल ये दोनों गण रक्तपित्त हरण करने वाले, तीन प्रकार के शोथ को मट्ट करने वाले, सर्व प्रमेहों को हरण करने वाले तथा वीर्यदोषों के नाशक होते हैं ॥७४॥

(३७) कुशकारानलदर्शकारण्डेक्षुका इति दृषा-
 संज्ञकः ॥७५॥
 सूत्रदोषविकारं च रक्तपित्तं तत्रैव च ।
 अन्त्यः प्रयुक्तः क्षीरेण शीघ्रमेव विनाशयेत् ॥७६॥
 (दृषापंचमूल—) कुश (Poa ciliaris), काण (Saccha-rum Spontanum), नल (गरलज, Arundoo Kerka),

(पीपल Ficus Religiosa), इष (पाड़ड़ Ficus Intectoria), कपीतन (आम्रातक, आमड़ा, Spondias Mangifera), ककुभ (महुआ), आम्र (आम Mangifera Indica), कोयात्र (आम का भेद, Mangifera Sylvatica), चोरकपत्र (छात्राह्वर), जम्बूज (महाजम्बू, बरी जामुन Eugenia gambolana और काकजम्बू, छोटी जामुन Eugenia Caryophyllifolia), पिपल (शिरोमोक्ष Buchanania Latifolia), मधुक (महुआ), रोहिणी (कडुकी), पन्थुल (वेत Calamus Rotung) कम्ब, बरुनी (बेर, Zizyphus jujuba) तन्दुकी (तन्दु), सलुकी (साल-भेद, साकई, Boswellia serrata), लोय, सावर लोय, महातक (मिलावा Semicarpus Anacardium), पलाय (वाक), मन्दीरुच ॥४७॥ यह न्यमोषादिगण ऋण को हितकर है, संघर्षी है, अन्न अस्थि को जोड़ने वाला है, रक्षित का हाथ बन्दे बाधा है और दाह, मेद तथा योनि के रोगों को दूर करता है ॥४८॥

(२५) शुद्धचीनिम्बकुस्तुम्बुचन्दनानि पद्मकं चैति ॥४९॥

एष सर्वज्वरान् हन्ति शुद्ध्यादिस्तु दीपनः ।

इह्यासारोचकवमीपिपासादाहनाशनः ॥५०॥

(शुद्ध्यादिगण—) गिलोय, नीम, कुस्तुम्बु (धनिया Coriandrum Sativum), चन्दन और पद्मरस ॥४९॥ यह शुद्ध्यादिगण सर्व प्रकार के ज्वरों को नाश करता है, दीपन है और इह्यास, अरुचि, वमन, रुपा, दाह को नाश करता है ॥५०॥

(२६) उत्पलरूपोत्पलकुमुदसौगन्धिककुचलय-पुण्डरीकाणि मधुक चैति ॥५१॥

उत्पलादिरयं दाहपित्तरक्तविनाशनः ।

पिपासाविषहृद्रोगच्छर्दिमूच्छाहरो गणः ॥५२॥

(उत्पलादिगण—) उत्पल (नीलकमल), रक्तोत्पल (लाल कमल), कुमुद (बेतकमल), सौगन्धिक (चन्दोदय विकसित अथवा सुरभि नील कमल), कुचलय (वेत और नील वर्ण कमल), पुण्डरीक (अल्पन वेत कमल) और पश्चिमपु ॥५१॥ यह उत्पलदिगण दाह रक्त पित्त का नाश करता है और रुपा, विष, हृद्रोग, वमन और मूच्छा इनका हरण करने वाला है ॥५२॥

शुक्रव्य—उत्पलादिगण में कमल के जो भिन्न भिन्न नाम निर्दिष्ट किये हैं, उनके धर्मों के संवध में न केवल निम्न निम्न प्राचीन आचार्य परस्पर विरोधवादी दिखाई देते हैं अपितु इह्याचार्य भी अपनी टीका में स्वयं विरोधवादी हैं । यथा अष्टौकाचार्यीय (१३वें) अध्याय में 'प्रमोषलनलिनकुमुद' सूत्र की टीका में लिखा है—उत्पलपीपली, पुण्डरीकानिर्गणक, कुचलं च प्रमोषलम् । और यहाँ टीका में लिखते हैं—उत्पल नीले लन, पुण्डरीकं श्वेतं, कुचलयमीप्रीं पवलयम् ।

(२७) मुस्ताहृदिदाहहृदिदाहरीतक्यामलक-विमीतक्यु शुद्धैमवतीचक्राकाकटुरीहिणीशार्ङ्गघ्राति पिपादाविडीमहातकानि चित्रवधैति ॥५३॥

एष मुस्तादिको नासा गणः श्लेष्मनिपूतः ।

योनिदोषहरः स्तन्यशोधनः पाचनस्तथा ॥५४॥

(मुस्तादिगण—) मुला, हलदी, दाह हलदी, हरड़ आंवला, बोरुवा, कुट, ईमवती (वेत वचा), वचा, पाली कडुकी, शार्ङ्ग (काकर्मधा, काकमाची, काकादनी), अति विषा, दाविडी (छोटी हलायची), महातक (मिलावा) और चित्रक ॥५३॥ यह मुस्तादिगण रक्त का नाशक है, योनि रोगों का हरण करने वाला है, दूध का शोधक है और पाचक है ॥५४॥

(२८) हरीतक्यामलकविमीतकानि त्रिफला ॥५५॥

त्रिफला कफपित्तघ्नी मेहकुष्ठविनाशनी ।

चक्षुष्या दीपनी चैव विषमज्वरनाशनी ॥५६॥

(त्रिफला—) हरीतकी (हरड़ा Terminalia Chebulis) आमलक (आंवला Emblic Officinalis), और विमीतक (बोरुवा Terminalia Belerica) यह त्रिफला है ॥५५॥ यह त्रिफला कफ और पित्त नाशक है, प्रमेह और कुष्ठ को नष्ट करती है, नेत्र के लिये हितकर है, अति दीपक है तथा विषमज्वर नाशक है ॥५६॥

चक्षुष्य—इस त्रिफला के अतिरिक्त काश्मिरी खर्बूत और परुषक इनकी दूसरी त्रिफला होती है—यथा विमीतक शारी मन्दी विफला मना । स्वल्पा कारमर्दवर्षरूपवर्षाकैरिव ॥ त्रिफला में तीनों के प्रमाण के संवध में मतभेद है—एका हरी-तकी योस्या दी च योज्यो विमीतकी । चक्षुष्यामलकान्येव विकलेषा प्रथी विता । (शार्ङ्गधर) । यथा विमीतकीणां फले स्वाद विषन्वा तमे ॥ (भावप्रकाश) ।

(२९) पिपलीमरिचशुद्धवेराणि त्रिकटुकम् ॥५७॥

व्यूष्ये कफमेदोश्च मेहकुष्ठवृग्गामयान् ।

निहन्त्यादीपनं शुष्मपीनसाहयत्पतामि ॥५८॥

(त्रिकटु—) पिपली (Piper Longum), मरिच (काली मिरच Piper Nigrum) और शुद्धवेर (सोंठ Zingiber Officinalis) ये तीन त्रिकटु अथवा त्र्यूष्य कहलाते हैं ॥५७॥ यह त्र्यूष्य कफ और मेद को नष्ट करता है, प्रमेह, कुष्ठ और ल्वाचा के रोगों को नाश करता है, दीपन है और शुष्म, पीनस तथा मन्दाग्नि को दूर करता है ॥५८॥

(३०) आमलकीहरीतकीपिप्लव्यश्चित्रकश्चेति ॥५९॥

आमलक्यादिरित्येष गणः सर्वज्वरपहः ।

चक्षुष्यो दीपनो वृष्यः कफारोचकनाशनः ॥६०॥

(आमलक्यादिगण—) आंवला, हरड़ा पिपली और चित्रक (यह आमलक्यादिगण है) ॥५९॥ यह आमलक्यादिगण सर्व ज्वरों को हरण करता है, नेत्र को हितकर है, दीपन है, शरीर वृद्धिकर है और कफ तथा अरुचि को नाश करता है ॥६०॥

शुक्रव्य—वृष्य—यद् विचित्रपुरु सिष्य जीवन इत्यं शुभ । हर्षा मनश्चैव सर्वं तद् वृष्यवृष्ये ॥ (चरक) ।

(३१) त्रुपुसीसताम्रजतकृष्णलोदुमुषयोनि लोहमलश्चेति ॥६१॥

गणखण्डादिस्त्रियेषु गरक्रिमिहृदः परः ।
पिपासाविषहृद्रोगपाण्डुमेहहरस्तथा ॥६२॥

(द्रव्यादिगण—) द्रुपु (दंग, रांगा, Tin), सीस (सीसा Lead), द्वात्र (तांबा Copper), रजत (रौप्य, चांदी Silver), कृष्णलोह (कान्तलोह, तीक्ष्णलोह, Iron), सुवर्ण (सोना Gold) और सोहमक (मोहमिद, मण्डूर) यह द्रव्यादिगण है ॥६१॥ यह द्रव्यादिगण विष और कुमियों का परम नाशक है तथा नृपा, चिप, हृद्रोग, पाण्डुरोग और प्रमेह इनका हरण करने वाला है ॥६२॥

वक्तव्य—लोहमल—गोपधि के लिये सर्वे पुराने किट का ही उपयोग करना चाहिये—शास्त्रमुक्तं किटं गण्यद्रोहीनि-
चार्पिकम् । अपमं गृह्णिवीयं ततो रीति विधेयम् ॥ गर—द्रुपिग
विष—नानाप्रण्यहसमलविष्यदौषधिभयनान् । विषानां चाद्यादीनां
योगो गर इति स्मृतः ॥ (अष्टांगहृदय) ।

(३२) लाक्षारेवतकुटजश्वमारकदफलहरिद्रा-
द्वयनिम्बस्तच्छदमालत्यत्रायमाणा चेति ॥६३॥

कपायस्तिकमधुरः कफपित्ताग्निनाशनः ।
कुष्ठक्रिमिहरश्चैव दुष्टद्वेषविशोधनः ॥६४॥

(लाक्षादिगण—) लाक्षा (लार), आरेवत (आरुग्ध, अमलतास), कुटज (कुड़ा), श्वमार (करवीर, कोर, Nerium Odorum), कदफल, हरिद्रा और दारुहरिद्रा, निम्ब, सप्तच्छद (सप्तपर्ण, छतिवग), मालती (जाती) और श्रायमाणा (Delphinium Zalil) ॥६३॥ यह (लाक्षादिगण) कपाय, तिक और मधुर है, कफ और पित्त की पीटा को नाश करता है, कुष्ठ और कुमियों का हरण करता है और दुष्ट द्रव्य को शोधन करता है ॥६४॥

पञ्च पञ्चमूलान्यत ऊर्ध्वं चक्षुषामः ॥६५॥

यहाँ से आगे पाँच प्रकार के पंच मूलों का वर्णन करते हैं ॥६५॥

वक्तव्य—अष्टांगसंग्रह में यहाँ वर्णन किये हुए पाँच प्रकारों के अतिरिक्त 'मध्यम' और 'जीवन' नामक दो अधिक पंचमूल वर्णन किये हैं—बलापुनर्नैरेण्डस्यपर्णादिवेन च । मध्यमं कफनातमं नातिपित्तकरं लघु ॥ अभीरुवीराजीवन्तीजीवकर्पमकैः चक्षुषम् । जीवनाख्यं तु चक्षुष्यं वृष्यं पित्तानिलापहम् ॥

(३३) तत्र त्रिकण्टकवृहतीद्वयपृथग्पर्यायौ
विदारिगन्धा चेति कनीयः ॥६६॥

शायतिक्रमधुरं कनीयः पञ्चमूलकम् ।
घातमं पित्तशमनं बृंहणं बलवर्धनम् ॥६७॥

(लघुपंचमूल—) उनमें से त्रिकण्टक (गोखर), छोटी बृहती और बड़ी बृहती, पृथिवीर्षी, विदारिगन्धा (शाकपर्णी) यह लघुपंचमूल है ॥६६॥ यह लघुपंचमूल कपाय, तिक और मधुर है, घातनाशक है, पित्तनाशक है, पुष्टिकारक है और शरीर का बल बढ़ाने वाला है ॥६७॥

(३४) विल्वशिमन्थटिण्डुकपाटलाः काष्ठमर्ष-
श्चेति महत् ॥६८॥

सत्तिकां कफघातमं पाके लघ्वग्निदीपनम् ।
मधुरानुरजं चैव पञ्चमूलं महत् स्मृतम् ॥६९॥

(शुभ्र पंचमूल—) विन्ध, अशिमन्थ (गद्यनरिका), टुंडुक (श्योनाक), पाटला (पाटल, पाठर हृद, Stereospermum Suaveolens) और काञ्चरी (Gmelina Arbo-
rea), यह महत् पंचमूल है ॥६८॥ यह महत् पंचमूल तिक रस, कफ घात नाशक, एतया, अग्नि को दीपन करने वाला और अनुरज में मधुर है ॥६९॥

वक्तव्य—द्रव्यों का जो रस प्रायः स्वच्छता प्रतीत नहीं होता अथवा पक्षान् शोभा प्रतीत होता है, यह अनुरज है—
व्यक्तः शुक्लवर्णः न रसो द्रव्यस्य लक्षणे । विषयैषानुरजः । (चरक) ।
अनुरजसु रसेनाग्निभूतावाग्भ्यस्तौ व्यक्तौ वा विच्छिन्ते ॥ (अष्टांग-
संग्रह) । विज्ञेय विपरण के लिये १०वें अध्याय के पहले सूत्र का वक्तव्य देखो ।

अनयोर्दशमूलमुच्यते ॥७०॥

गणः श्वासहरो टोय कफपित्तानिलापकः ।

आमस्य पाचनधैव सर्वज्वरविनाशनः ॥७१॥

(दशमूल—) ये दोनों लघु और महत् पंचमूल दशमूल कहलाते हैं ॥७०॥ यह दशमूलगण श्वास का हरण करता है, घात पित्त और कफ को घात करता है, आम रस का पाचन करता है और सर्व प्रकार के ज्वरों का नाशक है ॥७१॥

(३५) विदारीसारिवारजानीशुद्धच्योऽजष्टरी
चेति पट्टीसंज्ञः ॥७२॥

(पट्टीपंचमूल—) विदारीकन्य, सारिवा, हरिद्रा, मित्रोप और मेदार्सानी यह पट्टी संज्ञक पंचमूल है ॥७२॥

(३६) कररादीभिकण्टकसैरीयकशतावरीशुद्ध-
नख्य इति कण्टकसंज्ञः ॥७३॥

(कण्टकपंचमूल—) करमर्द (करोंदा Capparis Coru-
ndas), त्रिकण्टक (गोखर), सैरीयक (कण्टक, विषायासा), शतावरी और गुग्गुली (कण्टकपाली शुद्ध Capparis
Soparia, अथवा वयरगुग्गु) । यह कण्टक संज्ञक पंचमूल है ॥७३॥

रक्तपित्तहरी छेतो शोफत्रयविनाशनौ ।
सर्वसैहहरी चैव शुक्रदोषविनाशनौ ॥७४॥

दक्षीपंचमूल और कण्टकपंचमूल ये दोनों गण रक्तपित्त हरण करने वाले, सीध प्रकार के शोफ को हट करने वाले, सर्व प्रमेहों को हरण करने वाले तथा रीधियों के नाशक होते हैं ॥७४॥

(३७) कुशकाशनलवर्षकाण्डेषुका इति छण-
संज्ञकः ॥७५॥

सूत्रदोषविकारं च रक्तपित्तं तथैव च ।
अन्त्यः प्रयुक्तः क्षीरेण शीघ्रमेव विनाशयेत् ॥७६॥

(छणपंचमूल—) छण (Poa ciliaris), काण्ड (Saccha-
rum Spontaneum), नल (गरसल, Arundoo Karka),

(पीपल Ficus Religiosa), दुस्र (पाङ्कड़ Ficus Infectoria), कपीतन (आम्रातक, आमड़ा, Spondias Mangifera), ककुभ (अरुण), आम्र (आम Mangifera Indica), कोयात्र (आम का भेद, Mangifera Sylvatica), चोरकपत्र (छात्रावृक्ष), जम्बूद्वय (महाजम्बू, बड़ी जामुन Eugenia gambolana और काकजम्बू, छोटी जामुन Eu

Zizyphus jujuba) तिन्दुकी (तेन्दु), सैलकी (साल-भेद, साकई, Boswellia Serrata), लोम, साबर लोम, महातक (निहावा Semicarpus Anacardium), पलाय (ढाङ), मन्दीवृक्ष ॥१७॥ यह न्यम्बोपादिगण षण्णको हितकर है, संग्राही है, भ्रम अस्थि को जोड़ने वाला है, रक्तपित्त का हरण करने वाला है और दाह, भेद तथा योनि के दोषों को दूर करता है ॥१८॥

(२५) गुह्यचीनिम्यकुस्तुम्युरुचन्दनानि पत्रकं चेति ॥१९॥

एष सर्वज्वरान् हन्ति गुह्यच्यादिस्तु दीपनः ।
हृत्पासारोचकचमीपिपासादाहनाशनः ॥२०॥

(गुह्यच्यादिगण—) गिलोय, नीम, कुल्लुन्दुव (धनिया Conandrum Sativum), चन्दन और पशाल ॥१९॥ यह गुह्यच्यादिगण सर्व प्रकार के ज्वरों को नाश करता है, दीपन है और हृत्पास, अरुचि, वमन, तृषा, दाह को नाश करता है ॥२०॥

(२६) उत्पलरक्षोत्पलकुमुदसौगन्धिककुचतज्य-पुण्डरीकराणि मधुकं चेति ॥२१॥

उत्पलादिरथ दाहपिचरक्षविनाशनः ।
पिपासाविपहद्रोगच्छर्दिमूच्छाहरो गणः ॥२२॥

(उत्पलादिगण—) उत्पल (नीलकमल), रक्षोत्पल (शाल कमल), कुसुम (श्वेतकमल), सौगन्धिक (चन्दोदय विकासी जम्बू सुरभि नील कमल), कुचतज्य (श्वेत और नील वर्ण कमल), पुण्डरीक (अथन श्वेत कमल) और पश्चिमपु ॥२१॥ यह उत्पलादिगण दाह रक्त पित्त का नाश करता है और तृषा, विर, हृदोग, वमन और मूर्च्छां हटाकर हरण करने वाला है ॥२२॥

यत्तज्य—उत्पलादिगण में कमल के जो भिन्न भिन्न नाम निर्दिष्ट किये हैं, उनके वर्ण के संबंध में न केवल भिन्न भिन्न प्राचीन आचार्य परस्पर विरोधारी दिग्गह देते हैं अथिपु कन्याचार्य भी अपनी टीका में स्वयं विरोधारी हैं । क्या कर्त्तव्यकरवीर (१३वें) अध्याय में 'पद्मोत्पलकलिनकुमुद' शब्द की टीका में लिखा है—उत्पल-नीलकमल, पुण्डरीकनीलकमल, कुसुम रक्षोत्पल । और वही टीका में लिखते हैं—उत्पल-गिलोय, पुण्डरीक-वमन, कुचतज्य-नीलकमल ।

(२३) मुस्ताहृत्प्राशपट्टाहृत्प्राशरीतकयामलक-बिमीनकषुष्टदीपयतीयचाम्पाटाङ्कट्टरीहितीगामाङ्गणति विपादापिडीमहापानि चित्रकचेति ॥२३॥

एष मुस्तादिको नाम्ना गणः श्लेष्मनिपूदनः ।
योनिदोषहरः स्तन्यशोचनः पाचनस्तथा ॥२४॥

(मुस्तादिगण—) मुस्ता, इल्वी, दाह इल्वी, हरण आंवला, बहेडा, कुड, हैमवती (श्वेत चचा), चचा, पाप कड़की, चाङ्गेठा (काकजया, काकमाषी, काकादनी), अग्नि विषा, द्वाविटी (छोटी इलायची), महातक (निहावा) और चित्रक ॥२३॥ यह मुस्तादिकगण कफ का नाशक है, यों दोषों का हरण करने वाला है, दूध का शोषक है और पाचक है ॥२४॥

(२८) हरीतक्यामलकविमीतकानि त्रिफला ॥२५॥
त्रिफला कफपित्तमी मेहकुष्ठविनाशनी ।
चक्षुष्या दीपनी चैव विषमज्वरनाशनी ॥२६॥

(त्रिफला—) हरीतकी (हरड़ा Terminalia Chebula), आमलक (आंवला Emblica Officialis) और विमीतक (बहेडा Terminalia Belerica) यह त्रिफला है ॥२५॥ यह त्रिफला कफ और पित्त नाशक है, प्रमेह और कुष्ठ को नष्ट करती है, नेत्र के लिये हितकर है, अग्नि दीपक है तथा विषमज्वर नाशक है ॥२६॥

यत्तज्य—इस त्रिफला के अतिरिक्त काश्मिरी खर्दूर और परूपक इनकी दूसरी त्रिफला होती है—पन्था विमीतक वाली महनी त्रिफला महा । स्वला काश्मिरीतद्वैपुष्पकालेर्मेद्वै ॥ त्रिफला में तीनों के समान्य के संबंध में मतभेद है—पन्था हरी-तकी योग्या ही च योज्यौ विमीतकौ । चक्षुषामलकान्येव त्रिफला प्रकीर्तिता । (चाङ्गेठर) । पन्था विमीतपत्नीणां पठे स्वल्प त्रिफला समे ॥ (भावप्रकाश) ।

(२९) पिप्पलीमरिचकृष्टवेराणि त्रिकटुकम् ॥२७॥
द्रूपणं कफमेदोमं मेहकुष्ठवृत्तवगामयान् ।
निहन्त्यादीपनं गुल्मपीनसाङ्ग्यस्फतामपि ॥२८॥

(त्रिकटु—) पिप्पली (Piper Longum) मरिच (काठी मिरच Piper Nigrum) और शङ्खेर (सेंट Zingiber Officialis) ये तीन त्रिकटु अथवा द्रूपण्य कहाते हैं ॥२७॥ यह द्रूपण्य कफ और मेद को नष्ट करता है, प्रमेह, कुष्ठ और तृषा के रोगों को नाश करता है, दीपन है और गुल्म, पीनस तथा मन्दागि को दूर करता है ॥२८॥

(३०) आमलकीहरीतकीपिप्पल्याद्यिषयथेति ॥२९॥
आमलक्यादिरित्येष गणः सर्वज्वरपहः ।
चक्षुष्यो दीपनो मूष्यः बफारोचकनाशन ॥३०॥

(आमलक्यादिगण—) आंवला, हरड़ा पिप्पली और चित्रक (यह आमलक्यादिगण है) ॥२९॥ यह आमलक्यादिगण सर्व रोगों को हरण करता है, नेत्र को हितकर है, दीपन है, यथि वृद्धिकर है और कफ तथा अरुचि को नाश करता है ॥३०॥

यत्तज्य—इष—यद् विविचयुर सिम्भं नवन इराण गुण ।
रानं नलादेर सर्वां ह्य द्रुपमुष्णे ॥ (चरक) ।

(३१) ऋषुमीसतामरजतशृण्णलोहपुष्यपानि रौद्रमलथेति ॥३१॥

(विरेचक—) रक्तत्रिवृत् (निगोध), श्यामात्रिवृत्, दन्ती, ब्रधन्ती, ससला (शिकेकाई, *Acacia Concinna*), श्विनी (यवतिका), विषाणिका (वृश्चिकाली, मेपशुकी भेद—द्वितीया दक्षिणवर्ती वृश्चिकाली विषाणिका । ध्रन्वन्तरि-निघंटुः), गवाक्षी (इन्द्रवाक्षी), छालान्त्री (वृद्धदारुक-भेद *Ipomoea Pescaprae*), छुङ्ग (थोहर, *Euphorbia Ligularia*), सुवर्णनीरी (उसारेरेवन्द), चित्रक, किण्विही (अपामार्ग, *Achyranthes Aspera*), कुंया, काश, तिल्वक (लोध), कम्पिलुक, रस्यक (पटोल—*Tri-chosanthes Dioica*—का मूल), पाटला, पूग (सुपारी), टीरीतकी, आमलक, विभीतक, नीलिनी (नील, *Indigo-fera, Tinctoria*), चतुरंगल (अमलतास), पुरण्ड, पूतीक (पूतीकरंज), महावृज (वृजक, सेटुण्ड का भेद; *Eupho-bia Antiquorum*), ससच्छदा (ससर्पा) अर्क (आक) और ज्योतिष्मती (मालकांगनी, *Cardiospermum, Heli- cacabum*) यह औषधियाँ अधोभागगत दौषों की हरण करने वाली (विरेचनकारक) हैं । इनमें से तिल्वक से पूर्व निर्दिष्ट हुई औषधियों की जड़ लेनी चाहिये; तिल्वक से लेकर पाटलायुक्त औषधियों की छाल लेनी चाहिये; कम्पिलुक के फल के ऊपर संचित हुआ रज लेना चाहिये; सुपारी से लेकर पुरण्डयुक्त के फल लेने चाहिये; पूतीकरंज और अमल-तास के पत्ते लेने चाहिये; और बाकी औषधियों का क्षीर लेना चाहिये ॥३॥

कोशातकी ससला शङ्खिनी देवदाली कार-
वेल्लिका चेत्युमयतोभागहराणि । एषां स्वरसा
इति ॥४॥

(उभयभागहर—) कोशातकी, ससला, शंखिनी, देव-
दाली (कोशातकीभेद), कारवेल्लिका (करेला, *Momordi-
ca Charantia*) ये ऊर्ध्वभाग और अधोभाग से दौषों को
हरण (चामक और विरेचक) करने वाले हैं । इनका स्वरस
लेना चाहिये ॥४॥

पिप्पलीविडङ्गामामार्गशिशुसिद्धार्थकशिरीषम-
रिचकरवीरविन्वीगिरिकर्णिकाकिण्विहीवचाज्योति-
ष्मतीकरञ्जाकालर्कलशुनातिविषाशुङ्गवेरतालीश-
तमालसुरसार्जेकेडुदीमेपशुङ्गीमातुलुङ्गीसुरङ्गीपीलु-
जातीशालतालमधूकलान्नाहिङ्गुलवणमद्यगोशकद्रस-
मूत्राणीति शिरोविरेचनानि । तत्र करवीरपूर्वाणां
फलानि, करवीरादीनामर्कान्तानां मूलानि, तालीश-
पूर्वाणां कन्दाः, तालीशादीनामर्कान्तानां पत्राणि,
इङ्गुदीमेपशुङ्गयोस्त्वचः, मातुलुङ्गीसुरङ्गीपीलुजातीनां
पुष्पाणि, शालतालमधूकानां साराः, हिङ्गुलाञ्छे
निर्घासौ, लवणानि पार्थिवविशेषाः, अद्यान्यासुत-
संयोगाः, शकृद्रंसमूत्रे मलाविति ॥५॥

(शिरोविरेचक—) पिप्पली, विडंग, अपामार्ग (चिरचिरा),

पिपु (सोहजन), सिद्धार्थक (सरसों), गिरीष (शिरस)
मरिच, करवीर (कनेर), विन्वी (कुन्दरू), गिरिकर्णिका
(अपराजिता), किण्विही (कटभी), वचा, ज्योतिष्मती
(मालकंगुनी), करंज, अर्क, अलर्क (श्वेतपुष्प अर्क), लशुन
(लहशुन, *Allium Sativum*), अतिविषा, शङ्खवेर
(सोंठ), तालीग, तमाल, सुरसा (तुलसी), अर्जक
(तुलसीभेद), इंगुदी (हिजन), मेपशुङ्गी (मेहारीगी),
मातुलुङ्गी (बिजीरा का भेद), सुरंगी (रक्तगिण्ड), पीलु
(*Salvadora Persica*), जाती, शाल, ताल, मधूक, लान्ना,
हिंगु, लवण, मद्य, गोबर का रस और गोमूत्र ये पदार्थ
गिरःस्थ दौषों का विरेचन करने वाले हैं । इनमें से कनेर से
पहले निर्दिष्ट हुए द्रव्यों के फल लेने चाहिये; कनेर से लेकर
अर्कयुक्त द्रव्यों की जड़ लेनी चाहिये; (अलर्क से
लेकर) तालीगपूर्व द्रव्यों के कन्द लेने चाहिये; तालीग से
लेकर अर्जकयुक्त द्रव्यों के पत्ते लेने चाहिये; इंगुदी और मेप-
शुङ्गी की छाल लेनी चाहिये; मातुलुङ्गी, सुरंगी, पीलु और
जाती इनके पुष्प लेने चाहिये; शाल, तमाल और मधूक
इनका सार लेना चाहिये; हिंगु और लान्ना निर्घास होते हैं;
लवण खनिज विशेष होते हैं; संधान संयोग से मद्य होते हैं;
गोबररस और गोमूत्र ये मल होते हैं (इनकी पथारूप ही
लेना चाहिये) ॥५॥

संशामनान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः—तत्र भद्रदारुकुष्ठ-
हरिद्रावरुणामेपशुङ्गीवलातिवलातगलकच्छुरासलुकी-
कुवेराक्षीवीरतरुसहचराग्निमन्थवत्सादन्येरगडाशम-
भेदकालर्काकशतावरीपुनर्नवावसुकवशिरकाञ्चनक-
भार्गीकार्पासीवृश्चिकालीपत्तूरयदरयवकोलकुलत्थ-
प्रभृतीनि विदारिगन्धादिश्च द्वे चाद्ये पञ्चमूल्यौ
समासेन चातसंशामनो वर्गः ॥६॥

(वातसंशामन वर्ग—) अब यहाँ से आगे संशामन
वर्ग को वर्णन करते हैं—देवदारु, कुष्ठ, हरिद्रा, वरुण (वरुणा),
मेपशुङ्गी, बला (खिरैटी, *Sida Cordifolia*), अतिबला
(कंची, *Sida Rhombifolia*), आर्तगल (नील पियावासा
किंवा ककुभ, *Terminalia Tomentosa*), कच्छुरा (कपि-
कच्छु, कवचवीज), सलुकी (*Boswellia Serrata*), कुवेराक्षी
(पाटला), वीरतरु (अर्जुनवृक्ष), सहचर (पियावासा),
अग्निमन्थ (बड़ी अरुणी), वत्सादनी (गिलोय), पुरण्ड,
अशमभेदक (पाथरचूर), अलर्क (श्वेतार्क), अर्क, शतावरी,
पुनर्नवा (साठी, *Boerhavia Diffusa*), वसुक, वसिर,
काञ्चनक (कचनार, *Bauhinia Variegata*) उल्लेख इसका
अर्थ धत्तूर करते हैं), भार्गी (भाङ्गी), कार्पासी (वनकपास,
Gossypium Herbaceum), वृश्चिकाली, पत्तूर (कुचन्दन),
बदर (वेर *Zyzythus Jujuba*), यव, कोल (मध्यमाकार
के वेर—पच्यमान सुमथुर सौवीर 'बदर' महत् । सौवीराण्डु
संपकं मथुरं 'कोल'मुच्यते ॥ भावप्रकाश), कुलत्थ (कुलथी
Dolichos Biflorus) इत्यादि औषधियाँ विदारिगन्धादि-
गण और लघु तथा महत् पंचमूल संक्षेप से वातशान्तिकारक
वर्ग हैं ॥६॥

१. गोमूत्रशकृद्रसौ.

दर्भ (*Poa cynosuroides*), और काण्डेसुक (लागद *Saccharum fuscum*) यह दृणसंज्ञक पंचमूल है ॥७५॥ यह अन्तिम (दृणसंज्ञक) पंचमूल दूध के साथ उपयोग करने से मूयदीप, मूयविकार तथा रक्तपित्त इनको खरित माय कर देता है ॥७६॥

घक्तव्य—चरक के अनुसार 'प्रपंचमूल' में निम्न औषधियाँ होती हैं—शेखरमकराणां शालीनी मूलेव च ॥ (चिकित्सा, अ ?) ।

एषां घातहरायाघावन्यः पित्तघिनानाम् ।
पञ्चको श्लेष्मशामनावित्तरी परिकीर्तिता ॥७७॥

इनमें पहले दो (रघुपञ्चमूल और शूदरंघमूल) घात नाशक हैं, अन्तिम (दृण पचमूल) पित्तनाशक हैं और अन्य (बह्नीपचमूल और कटकपचमूल) कफनाशक होते हैं ॥७७॥

त्रिवृतादिकमन्यत्रोपदेश्यामः ॥७८॥

त्रिवृतादिक गण का अन्य स्थान पर उपदेश करेंगे ॥७८॥

समासेन गणा होते प्रोक्तास्तेषां तु विस्तरम् ।

चिकित्सितेषु घक्ष्यामि—

ये गण संज्ञेय से र्थान किये गये हैं । इनके द्रव्यों का विस्तार चिकित्सा में (रोगचिकित्सा के साथ) किया जायगा ।

—शात्या दोषबलावलम् ॥७९॥

एमिलेपान् कयायांश्च तैल सपीपि पानकान् ।

प्रविमज्य यथान्यायं धूर्वात मतिमान् मिषक् ॥८०॥

दोषों का तथा (रोगी के) बलाबल का विचार कर बुद्धिमान् वैद्य इन गणोंक औषधियों से ही लेप, (पच) कषाय, तैल, घृत तथा पानक बनाकर जिसके लिये जो उचित हो, उसे प्रयोग करे ॥७९-८०॥

धूमयर्पानिलेक्रेदैः सर्वतुंष्यनभिद्रुदैः ।

प्राहयित्वा गृहे न्यस्येद्विधिनीपघसंस्रहम् ॥८१॥

(औषधिरक्षणविधि—) (वैद्य को चाहिये कि) विधिपूर्वक औषधियों का संग्रह करके उनकी धूम, वर्षा, बायु और सील इनसे सब ऋतुओं में सुरक्षित ऐसे स्थान में रखे ॥८१॥

समीक्ष्य दौषमेदांश्च मिथ्यान् मिथ्यान् प्रयोजयेत् ।

पृथक्प्राशान् समस्तान्या गण् घा द्यस्तसहत् ॥८२॥

इति सुश्रुतसंहितायां मूलस्थाने द्रव्यप्रवर्णनीये नामाह्वित्तमोऽध्यायः ॥३८॥

दोषों के मिश्रित या मिश्र भेदों का विचार कर (बुद्धिमान् वैद्य) पृथक् पृथक् औषधियों का उपयोग करे या (एक ही गण के अनेक) मिश्र औषधियों का उपयोग करे या (गण के) सारे के सारे औषधियों का उपयोग करे या (दीपका—दि के अनुसार अनेक गर्तों से उचित) दो दो चार चार चार गर्तों पर उचित ठनका उपयोग करे ॥८२॥

इति माहुरासेना भोविन्दतन्त्रेन विरचितयामागुर्वैरहस्यदीपिकायां सुश्रुतमाषादीनां द्रव्यप्रवर्णनीये नामाह्वित्तमोऽध्यायः ॥३८॥

एकोनचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ।

यथात. संशोधनसंशामनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से संशोधनसंशामनीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि. भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

घक्तव्य—प्रशोधन—यदीरवेदरिदोषान् पचया होषन च दद (याघाट) । यहाँ केवल घमन, विरेचन और शिरोविरेचनीनों का ही विचार किया है । प्रशोधन—न शीघ्रवति यशेन समाशेदीरयत्परि । समीकृतीप विषमन् शमनं तच्च ॥ (वाग्मत्) ।

मदनकुटजजीमूतकेद्याकुधामार्गवकृतवेधनसर्पपविडङ्गपिप्पलीकरजप्रपुत्राडकोविदारकबुंदाररिष्टाश्वगन्धाविदुलयन्धुजीवकध्वेताशाणपुष्पीविर्मियचामुगेवांशुक्षिप्रा चेत्यूर्ध्वभागहराणि । तत्र, कोविदारपूर्वाणां फलानि, कोविदारादीनां मूलानि ॥२॥

(ऊर्ध्वभागहर—) मदन (मैनफल), कुटज (इहा), जीमूतक (देवदाली *Luffa Pentandra*), इ्वाकु (कदवी रूषी, *Legenaria Vulgans*) धामार्गव (पीत पुष्प कोयलकी *Luffa Acutangula*) शूतवेधन (कोशातकीमेद *Luffa Echinata*), सर्पप (श्वेत सरसों, *Brassica Campestris*) विडंग, पिप्ली, कज, प्रपुत्राड (चट्मर्द, *Cassia Tora*), कोविदार (काचनार, कचनार, *Bathinus Variegata*), कबुंदार (कुमान्तक, लतोड़ा *Cordia Maru*) चक्रपाण्डि चरक की टीका में कबुंदार का अर्थ 'श्वेतकांचन' करते हैं), अरिष्ट (तिम्व), अश्वगन्धा, विदुल (वेतल, *Calamus Rotung*) चक्रपाण्डित चरक की टीका में विदुल का अर्थ 'हिजल' करते हैं *Barringtonia Acutangula*) बधुजीवक (दुपहरिया, *Pentapetes Phoenicea*) श्वेता (श्वेतवचा, *Acorus Calamus*) श्यापुष्पी (वन्यपच), विन्वी (कंदूरी *Cephalandra Indica*) वचा (वच), शूगेवांशु (इन्द्रवायसी, *Citrullus Colocynthis*) और क्षिया (प्रबन्दी, *Jatropha Montana*) यह औषधियाँ वमनकारक हैं । इनमें से कोविदार से पूर्व औषधियों के फल और कोविदार जिनमें प्रथम हा उन औषधियों की जड़ (घमन के लिये) लेनी चाहिये ॥२॥

इतीतक्यामलकविमीतकनीलीनीचतुरङ्गलैरपडपूनी कमहायुजससच्छदार्कां ज्योतिष्मती चेत्यधोभागहराणि । तत्र तिल्वकपूर्वाणां मूलानि, तिल्वकादीना पाटलागन्तानां न्वच, फणिङ्गकफळरज, पूगादीनामेरगदन्तानां फलानि, सूतीकारत्यधयोः पत्राणि, शेषाणां क्षीराशीति ॥३॥

(विरेचक—) रक्तत्रिवृत् (निशोध), श्यामात्रिवृत्, इन्दी, द्रवन्ती, सप्तला (शिकेकाई, *Acaia Concinna*), श्विनी (यवतिक्ता), विपाणिका (वृश्चिकाली, मेपशृङ्गी भेद—द्वितीया दक्षिणवर्ती वृश्चिकाली विपाणिका । धन्वन्तरि-निघंटुः), गवाक्षी (इन्द्रवास्पाणि), उगलान्त्री (वृद्धदारुक-भेद *Ipomoea Pescaprae*), छुङ्ग (थोहर, *Euphorbia Ligularia*), सुवर्णक्षीरी (उसारे-रेवन्द), चित्रक, किण्विही (अपामार्ग, *Achyranthes Aspera*), कुश, काश, तिल्वक (लोध्र), कम्पिलुक, रम्यक (पटोल—*Tri-chosanthes Dioica*—का मूल), पाटला, पूग (सुपारी), दहीतकी, आमलक, विभीतक, नीलिनी (नील, *Indigo-fela Tinctoria*), चतुरंगुल (अमलतास), एरण्ड, पूतीक (पूतीकरंज), महेशृङ्ग (उन्नक, सेहण्ड का भेद; *Euphorbia Antiquorum*), सप्तच्छदा (सप्तपर्ण) अर्क (आक) और ज्योतिष्मती (मालकांगनी, *Cardiospermum Heli-cacabum*) यह औषधियाँ अधोभागगत दोषों की हरण करने वाली (विरेचनकारक) हैं । इनमें से तिल्वक से पूर्व निर्दिष्ट हुई औषधियों की जड़ लेनी चाहिये; तिल्वक से लेकर पाटलायुक्त औषधियों की छाल लेनी चाहिये; कम्पिलुक के फल के ऊपर संचित हुआ रज लेना चाहिये; सुपारी से लेकर एरण्डयुक्त के फल लेने चाहिये; पूतीकरंज और अमल-के पत्ते लेने चाहिये; और बाकी औषधियों का क्षीर चाहिये ॥३॥

कोशातकी सप्तला शङ्खिनी देवदाली कार-द्रुका चैत्यभयतोभागहराणि । एषां स्वरसा ॥४॥

(उभयभागहर—) कोशातकी, सप्तला, शंखिनी, देव-दाली (कोशातकीभेद), कारवेहिका (करेला, *Momordi-Charantia*) ये ऊर्ध्वभाग और अधोभाग से दोषों को (वामक और विरेचक) करने वाले हैं । इनका स्वरसा ॥४॥

पिप्पलीविडङ्गपामार्गशिथुसिद्धार्थकशिरीषम-चकरवीरचिन्वीगिरिकर्णिकाकिण्विहीवचाज्योति-तीकरञ्जाकालकैलशुनातिविषाशृङ्गवेरतालीश-मालसुरसार्जकेङ्गुदीमेपशृङ्गीमातुलुङ्गीसुरङ्गीपीलु-तीशालतालमधुकलाञ्जाहिङ्गुलवणमद्यगोशकद्रस-त्राणीति शिरोविरेचनानि । तत्र करवीरपूर्वाणां लानि, करवीरादीनामर्कान्तानां मूलानि, तालीश-पूर्वाणां कन्दाः, तालीशादीनामर्कान्तानां पत्राणि, ङ्गुदीमेपशृङ्गयोस्त्वचः, मातुलुङ्गीसुरङ्गीपीलुजातीनां पुष्पाणि, शालतालमधुकानां साराः; हिङ्गुलाञ्जे नैर्यासौ, लवणानि पार्थिवविशेषाः; अद्यान्यासुत-संयोगाः, शकृद्रससूत्रे मलाविति ॥५॥

(शिरोविरेचक—) पिप्पली, विडंग, अपामार्ग (चिरञ्चिरा),

१ गोमूत्रगकृद्रसौ.

थिथु (सोहजन), सिद्धार्थक (सरसों), शिरीष (शिरस) मरिच, करवीर (कनेर), त्रिन्वी (कुन्दरू), गिरिकर्णिका (अपराजिता), किण्विही (कटभी), वचा, ज्योतिष्मती (मालकंगुनी), करंज, अर्क, अलर्क (श्वेतपुष्प अर्क), लशुन (लहशुन, *Allium Sativum*), अतिविषा, शृङ्गवेर (सोंठ), तालीश, तमाल, सुरसा (तुलसी), अर्जक (तुलसीभेद), इंगुदी (हिंजन), मेपशृङ्गी (मेढासीगी), मातुलुङ्गी (विजीरा का भेद), सुरंगी (रक्तथिथु), पीलु (*Salvadora Persica*), जाती, शाल, ताल, मधुक, लान्जा, हिंगु, लवण, मद्य, गोबर का रस और गोमूत्र ये पदार्थ शिरःस्थ दोषों का विरेचन करने वाले हैं । इनमें से कनेर से पहले निर्दिष्ट हुए द्रव्यों के फल लेने चाहिये; कनेर से लेकर अर्कयुक्त द्रव्यों की जड़ लेनी चाहिये; (अलर्क से लेकर) तालीशपूर्व द्रव्यों के कन्द लेने चाहिये; तालीश से लेकर अर्कयुक्त द्रव्यों के पत्ते लेने चाहिये; इंगुदी और मेप-शृङ्गी की छाल लेनी चाहिये; मातुलुङ्गी, सुरंगी, पीलु और जाती इनके पुष्प लेने चाहिये; शाल, तमाल और मधुक इनका सार लेना चाहिये; हिंगु और लान्जा निर्यास होते हैं; लवण खनिज विशेष होते हैं; संधान संयोग से मद्य होते हैं; गोबररस और गोमूत्र ये मल होते हैं (इनको पथारूप ही लेना चाहिये) ॥५॥

संशमनान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः—तत्र भद्रदारुकुष्ठ-हरिद्रावरुणमेपशृङ्गीवलातिवलातगलकच्छुरासलुकी-कुबेराक्षीवीरतरुसहचराशिमन्थवत्सादन्येराडाशम-भेदकालर्ककैशतावरीपुनर्नवावसुकवशिरकाञ्चनक-भार्गीकार्पासीवृश्चिकालीपत्रूरवदरयवकोलकुलत्थ-प्रभृतीनि विदारिगन्धादिश्च द्वे चाद्ये पञ्चमूल्यौ समासेन वातसंशमनो वर्गः ॥६॥

(वातसंशमन वर्ग—) अब यहाँ से आगे संशमन वर्ग की वर्णन करते हैं—देवदारु, कुष्ठ, हरिद्रा, वरुण (वरुणा), मेपशृङ्गी, वला (खिरैटी, *Sida Cordifolia*), अतिवला (कंधी, *Sida Rhombifolia*), आर्तगल (नील पियावासा किंवा ककुभ, *Terminalia Tomentosa*), कच्छुरा (कपि-कच्छु, कवचवीज), सलुकी (*Boswellia Serrata*), कुबेराक्षी (पाटला), वीरतरु (अर्जुनवृक्ष), सहचर (पियावासा), अशिमन्थ (घड़ी अरणी), वत्सादनी (गिलोय), एरण्ड, अशमभेदक (पाथरचूर), अलर्क (श्वेतार्क), अर्क, शतावरी, पुनर्नवा (साठी, *Boerhavia Diffusa*), वसुक, वसिर, काञ्चनक (कचनार, *Bauhinia Variegata*. डल्हन इसका अर्थ धचूर करते हैं), भार्गी (भाडंगी), कार्पासी (वनकपास, *Gossypium Herbaceum*), वृश्चिकाली, पत्रूर (कुचन्दन), बदर (बेर *Zyzyphus Jujuba*), यव, कोल (मध्यमाकार के बेर—पञ्चमान सुमधुर सौवीर 'बदर' महत् । सौवीराद्यु संपर्क मधुर 'कोल'मुच्यते ॥ भावप्रकाश), कुलत्थ (कुलथी *Dolichos Biflorus*) इत्यादि औषधियाँ निदारिगन्धादि-गण और लघु तथा महत् पंचमूल संक्षेप से धानशान्तिकारक वर्ग हैं ॥६॥

दर्भ (Poa cynosuroides), और काण्डेशुक (खागद Sa cocharum fuscum) यह नृगसंज्ञक पचमूल है ॥१५॥ यह अन्तिम (नृगसंज्ञक) पचमूल दूध के साथ उपयोग करने से मूत्रदोष, मूत्रविकार तथा रक्तपित्त इनको खरित नाश कर देता है ॥१६॥

चक्रव्य—चरक के अनुसार गुण्यमूल में निम्न औषधियाँ होती हैं—शेखुरभृङ्गकान्त शालीना मूत्रोपथ (चिकित्सा, अ. १) ।

एषां घातहरावाद्यावन्त्यः पित्तघ्नानाशनः ।
पञ्चकौ श्रेष्ठशामनावितरौ परिकीर्तितौ ॥१७॥

इनमें पहले दो (लघुपञ्चमूल और बृहत्पचमूल) वात-नाशक हैं, अन्तिम (नृग पचमूल) पित्तनाशक हैं और अन्य (वहीपंचमूल और कटकपचमूल) कफनाशक होते हैं ॥१७॥

त्रिवृतादिकमन्यत्रोपदेश्यामः ॥१८॥
त्रिवृतादिक गण का अन्य स्थान पर उपदेश करेंगे ॥१८॥

समासेन गणा होते प्रोक्तास्तेषां नु विस्तारम् ।
चिकित्सितेषु वक्ष्यामि—

ये गण संक्षेप से बयान किये गये हैं। इनके द्रव्यों का विस्तार चिकित्सा में (रोगचिकित्सा के साथ) किया जायगा ।

—धात्वा दोषवलायलम् ॥१९॥
यमिलेंपान् कषयायांश्च तैलं सपीपि पानकान् ।
प्रविभज्य यथान्यायं कुर्वीत मतिमान् भिषक् ॥२०॥

दोनों का तथा (रोगी के) बलायन का विचार कर बुद्धिमान् वैद्य इन गणोंक औषधियों से ही लेप, (पंच) कषाय, तैल, शत तथा पानक बनाकर जिसके लिये जो उचित हो, उसे प्रयोग करे ॥१९-२०॥

धूमयर्षानिलहृद्गैः सर्वतुष्यनभिद्रुते ।
प्राहयित्वा शुद्धे न्यस्येद्विधिनापधर्षप्रहम् ॥२१॥

(ओषधिरक्षणविधि—) (वैद्य को चाहिये कि) विधिपूर्वक ओषधियों का संग्रह करके उनकी धूम, वर्षा, वायु और सील इनसे सब कतुओं में सुरक्षित पेटे स्थान में रखे ॥२१॥

समीक्ष्य दोषभेदांश्च मिथान् भिद्रान् प्रयोजयेत् ।
पृथग्निधान् समस्तान्वा गणं वा व्यस्तसंहतम् ॥२२॥

रवि शुभ्रमहिलाणां गृहस्थने द्रव्यमपहणीवो नामाहविज्ञानमोऽध्याय ॥३८॥

दोनों के मिश्रित वा मिश्र भेदों का विचार कर (बुद्धिमान् वैद्य) पृथक् पृथक् अर्णवों का उपयोग करे वा (एक ही गण के अनेक) मिश्र अर्णवों का उपयोग करे वा (गण के) सारे के अनेक अर्णवों का उपयोग करे वा (दोषक-दिवे अनुसार मूलक गणों से उचित) दो दो चार चार चारों छोटकर उभका उपयोग करे ॥२२॥

रवि मत्करभंगा के पिन्दाभयेन विभिन्न्यमनुरेतरावपीरिकाणां दृष्टमपहणीवो इत्यपहणीवो नामाहविज्ञानमोऽध्याय ॥३८॥

एकोनचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथातः संशोधनसंशमनीयमध्यायं व्याख्ये स्यामः । यथोच्यते भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से संशोधनसंशमनीय नामक अध्याय । व्याख्यान करते हैं, जैसे कि. भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

चक्रव्य—शरीरघ्न—यदीत्येदृशियोंपान् पचया शोषन च क्र (वाग्मट) । यहाँ केवल वमन, विरेचन और शिरोविरेत्तीनों का ही विचार किया है । परामन—न शोषयति बन्धेन समाश्लेषेदीरत्वल्पि । समीवजोन उपेयमान् शक्ये तत्र ॥ (वाग्मट)

मदनकुटजजरीमूतकैश्चाकुप्यामार्गवकृतवैद्यन- सर्पपविडङ्गपिप्पलीकरक्षप्रपुत्राडकोविदारकडुंदार

रिद्राश्वगन्धाविदुलयन्धुजीवकश्वेताशणुपुष्पीविम्व- वचामृगेर्वाकश्चित्रा चेत्यूर्ध्वभागहरणि । तत्र कोविदारपूर्वाणां फलानि, कोविदारादीनि मूलानि ॥२॥

(ऊर्ध्वभागहर—) मदन (मैनाफल), कुटज (कृदा) जीमूतक (देवदाली Luffa Pentandra), इन्धाकु (कडवंदूची, Lagenaria Vulgans), धामार्गव (पीत गुण कोयातकी Luffa Acutangula) कृतवैद्यन (कोपातकीमि Luffa Echinata), सर्पप (श्वेत सरसों, Brassica Campostri), विडम्, पिप्पली, करज, प्रपुत्राड (चक्रमडै, Cassia Tora), कोविदार (कांचनार, कचनार, Bauhinia Variegata), कडुंदार (शेखान्तक, समोडा Cordia Ma xia चत्रपाणि चरक की टीका में कडुंदार का अर्थ 'श्वेतकांचन' करते हैं), अरिष्ट (निम्ब), अश्वगन्धा, विदुल (देतल, Calamus Rotung चक्रपाणिदत्त चरक की टीका में विदुल का अर्थ 'हिन्जल' करते हैं Barningtonia Acutangula), श्णुजीवक (दुपहरिया, Pentapetes Phoenicea) श्वेता (श्वेतवचा, Acorus Calamus), गणपुष्पी (बन्धयश), बिन्धी (कंदूरी Cephalandra Indica), धचा (वच), मृगेर्वाक (इन्द्रवारुणी, Citrullus Colocynthis) और चित्रा (द्रवन्ती, Jatropha Montana) यह ओषधियाँ वमनकारक हैं। इनमें से कोविदार से पूर्व ओषधियों के फल और कोविदार जिनमें प्रथम हो उन ओषधियों की अङ्ग (वमन के लिये) लेनी चाहिये ॥२॥

विद्युताद्यामादन्तीद्रव्यन्तीसत्तलासङ्गिनीविपा- लिषागयादीच्छगलान्नीसुखसुखदीरीचिन्नककि- णिदीकुशकादिनिव्यककिपुत्रहृषभय्यकपाटलापुगा हरतिप्रयामलकविभीतवनीलिनीचनुपुलेरएद्रपृती- कामहापुष्टसत्तच्छदायां ज्योतिष्मती चेत्यपोभाग- हरणि । तत्र दिल्यकपूर्वाणां मूलानि, तिन्वका दीनां पाटलान्तानां म्वच, पश्विपुष्टकफलत्ज, पूगादीनामरएदान्तानां फलानि, दूतीनारण्यघयोः पत्राणि, शियाणां शीरसीति ॥३॥

और बल कम हो तो हीन मात्रा प्रयुक्त करनी चाहिये । वास्तव में मात्रा तथा कपाय कल्पना के संबंध में कोई निश्चित नियम नहीं हो सकता । प्रत्येक रोगी की स्थिति और रोग का विचार कर अपने अनुभव के अनुसार मात्रा का प्रमाण निश्चित करना चाहिये—मात्राया न व्यवस्थाऽस्ति व्याधिं कोष्ठं वलं वयः । आलोच्य देशकालौ च योज्या तद्वच्च कल्पना ॥ (अष्टांगसंग्रह) । मात्रा के संबंध में पीछे ३५वें अध्याय के ३६वें श्लोक के वक्तव्य में कुछ विवरण किया है, उसे देखो ।

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां संशोधनसंशमनीयो नामैकाचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥३६॥

चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथातो द्रव्यरसगुणवीर्यविपाकविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से द्रव्य-रस-गुण-वीर्य-विपाक-विज्ञानीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—द्रव्यादिविज्ञानीय अध्याय—द्रव्यादीनां विशिष्टं ज्ञानं तदधिकृत्य कृतोऽध्याय इत्यर्थः । इस अध्याय में औषधियों के वैद्यकीय उपयोगों की उपपत्ति (Rationale) का ज्ञान होने के लिए द्रव्यादि आवश्यक बातों का विशेष विवरण किया गया है । वैद्यक के इस विभाग को पाश्चात्य वैद्यकीय परिभाषा में 'फार्माकोलॉजी' (Pharmacology) कहते हैं । अधिकांश औषधियों की वैद्यकीय उपयोगिता इन द्रव्यादि बातों की सहायता से सिद्ध होती है । आयुर्वेद में और पाश्चात्य वैद्यक में प्रयुक्त हुई कुछ औषधियाँ ऐसी हैं कि जिनकी उपयोगिता की उपपत्ति सिद्ध करने में उपर्युक्त द्रव्यादिविज्ञान असफल हुआ है । ऐसी औषधियों की कार्य करने की पद्धति प्रदर्शित करने के लिये चरक तथा वाग्भट में 'प्रभाव' शब्द का प्रयोग किया है । सुश्रुतसंहिता में औषधियों की इस शक्ति का निर्देश 'प्रभाव' के नाम से यद्यपि नहीं किया गया है तथापि अप्रत्यक्षतया उसी का ही वर्णन इस अध्याय के 'अमीमांस्थान्यचिन्त्यानि' इत्यादि अन्तिम श्लोकों में किया गया है । प्रभाव का विवरण इसलिये इन श्लोकों के वक्तव्य में ही किया जायगा । द्रव्य—औषधियों की सीक्वोपकर्ष पंचमहाभूतात्मक रचना—प्रमाणतः प्रभावतश्चावयवानामुत्कर्षोपकर्षसद्भावः । इस पंचमहाभूतात्मक रचना के अनुसार औषधियों का वर्णन आगे ४१वें अध्याय (द्रव्यविशेषविज्ञानीय) में किया गया है । इस अध्याय में 'तद् द्रव्यमात्मना किञ्चित्' इस श्लोक में 'आत्मना' शब्द से औषधियों की पंचमहाभूतात्मक रचना ही अभिप्रेत है । आधुनिक परिभाषा के अनुसार द्रव्य को औषधियों का संगठन (Composition of drugs) कह सकते हैं । रस—रस्ये आस्वाद्यत इति रसः । रसानार्थो रसः । (चरक) । औषधियों का जिह्वाप्राण अर्थ । इस अर्थ के अनुसार समस्त औषधियाँ मधुरादि छः रसों में विभक्ते की गई हैं । यद्यपि 'रसानायाल' ऐसी रस की व्याख्या की गई है तथापि औषधियों के रसों का प्रमाण जिह्वा के अतिरिक्त अन्य अंगों से भी होता है; फर्क

इतना ही है कि जिह्वा पर रस की संवेदना अन्य अंगों की अपेक्षा अधिक और विशेष रूप से प्रतीत होती है । जैसे कटु या कपाय रस का ज्ञान जैसे जिह्वा पर होता है वैसे ही गले में होता है, आमाशय में होता है, त्वचा पर होता है । शरीर में रस का कार्य निपातस्थान के साथ संबंध होते ही होता है, उसमें रूपान्तर की आवश्यकता नहीं होती—रसो निपाते द्रव्याणाम् । (चरक) । रसं विद्यात्रिपातेन । (अष्टांगसंग्रह) । रस का यह कार्य बहुधा निपात-स्थान के ऊपर प्रत्यक्षतया हुआ करता है और उसी स्थान पर मर्यादित रहता है । यथा फिटकरी जैसी कपाय रस युक्त औषधि का प्रयोग त्वचा पर करने से स्थानिक लसिकास्राव तथा रक्तस्राव बंद होता है, आँखों में करने से पानी का स्राव बंद होता है और सुख द्वारा सेवन करने पर आमाशय तथा आन्त्र का स्राव (अतिसार) कम होता है । कभी कभी रस स्थानिक वातनादियों के अग्रों (Nerve terminals) द्वारा प्रत्यावर्तन (Reflex action) से भी कार्य करता है । 'अम्लः क्षालयते मुखम्', 'लवणः स्यन्दत्य्वास्यम्', 'कटुः स्रावयत्यक्षिमासास्यम्' ये सब उदाहरण प्रत्यावर्तन के हैं । पाश्चात्य वैद्यक में आयुर्वेद की भाँति यद्यपि रस की कल्पना नहीं है तो भी सुविधा के लिये तिक्त (Bitters), कपाय (Astringents) और अम्ल (Acids) ऐसे रसों के अनुसार औषधियों के कुछ वर्ग किये गये हैं । पाश्चात्य वैद्यक में रस के लिये कोई ठीक पदार्थ नहीं दिखाई देता जो रस के पूरे अर्थ को बतला सके, क्योंकि रुचि (Taste) के अतिरिक्त रस में आधुनिक परिभाषा के अनुसार औषधियों की स्थानिक, प्रत्यक्ष तथा प्राथमिक क्रिया (Local, direct and primary action of drugs) भी अन्तर्भूत होती है । रस और अनुरस—उपर्युक्त छः रस औषधियों में व्यक्त और अव्यक्त द्विविध प्रकार से उपस्थित रहते हैं । इन्हीं को क्रम से 'रस' और 'अनुरस' कहते हैं । औषधियों का जो रस जिह्वा के साथ संबंध होते ही विशेषरूप से प्रतीत होता है वह 'व्यक्तरस' और जो पीछे तथा अस्पष्टतया प्रतीत होता है वह 'अनुरस' कहलाता है—तत्र व्यक्ती रसः स्युतः । अव्यक्तोऽनुरसः किञ्चिदन्ते व्यक्तोऽपि चेत्यते ॥ (अष्टांगहृदय) । व्यक्तः शुष्कस्य चादौ च रसो द्रव्यस्य लक्ष्यते । विपर्ययेणाऽनुरसः । (चरक) । चक्रपाण्डित के मतानुसार अनुरस सदैव कार्यानुमेय होता है—शुष्कस्य वाऽऽर्द्रस्य वा प्रथमजिह्वासंबन्धे वाऽऽदावासादान्ते वा यो व्यक्तत्वेन मधुरोऽयमम्लोऽयमित्यादिना विकल्पेन गृह्यते स व्यक्तः । यस्तूक्तावस्थाचतुष्टयेऽपि व्यक्तो नोपलभ्यते, किन्तुहि अव्यपदेश्यतया छायामात्रेण कार्यमात्रेण वा मीयते सोऽनुरस इति वाक्यार्थः । (चक्रपाण्डितटीका) । रस और अनुरस का बलावलविचार ४२वें अध्याय के अन्तिम श्लोक के वक्तव्य में और किया गया है । गुण—औषधियों के वैद्यकीय कार्यों के धोतक गुण होते हैं । गुणों को 'फार्माकोलॉजिकल अ्रैक्शन' (Pharmacological actions) कह सकते हैं । ये संख्या में साधारणतया बीस हैं; परन्तु विकासी व्यवधी इत्यादि अन्य गुण भी होते हैं—गुरुमन्दहिमस्त्रिषष्टक्षणातान्द्रमृदुत्थिराः । गुणाः सुखश्मविशदा विशतिः सविपर्ययाः ॥ इन्द्रियार्था व्यवधी च विकासी चापरे गुणाः ॥ (अष्टांगसंग्रह) । इनके संबंध में विशेष विवरण ४६ वें

चन्दनकुचन्दगह्विषेरोशीरमञ्जिष्ठापयस्याविदारी-
शतानरीगुन्द्रायैवलरह्वारकुमुदोत्पलरुन्द(द)लीदूर्वा-
मूर्वाप्रभृतीनि काकोल्यादिः सारियादिरञ्जना-
दिरुत्पलादिन्यप्रोधादिस्तृणपञ्चमूलमिति समासेन
पित्तसंशामनो धर्मः ॥३॥

(पित्तसंशामन—) चन्दन (श्वेतचन्दन), कुचन्दन
(रक्तचन्दन), हर्षर (कालावाला), उर्गार (रस),
मनिष्ठा, पयस्या (क्षीरकाकोली वा अकेपुत्री), विदारी
(विदारी कन्द), शतावरी, गुन्द्रा (लृणभेद, Saccharum
Sara), गैरल (काई), काह्वार (श्वेत, नील, वा रक्त कमल),
कुमुद (श्वेतकमल), उत्पल (किञ्चित् नील कमल—ईयस्वीलम-
योर्नर्मम्), केन्द्री (वनप्रधान), दूर्वा (C. nodon Dactylon)
मूर्वा इत्यादि औषधियां, काकोल्यादिगण, सारियादिगण,
अञ्जनादिगण, उत्पलादिगण, न्यमोषादिगण और लृणपञ्चमूल
पह संक्षेप से पित्तशान्तिकारक धर्म हैं ॥३॥

कालेयकानुरनिलपर्णीकुण्डलित्वादीतशिवशत
पुष्पासखलाप्राप्रकीर्षदीकीयैहुदीसुमन.काकादीनी
लाङ्गलकीदीस्तिकर्णमुञ्जातकलामञ्जप्रभृतीनि
पह्लाकण्टकपञ्चमूलायै पिप्ल्यादिपुष्ट्यादिमुक्क-
वादिद्यंवादि. सुरसादिरास्यधादिगिति समासेन
श्लेष्मसंशामनो धर्मः ॥८॥

(कफशामन—) कालेयक (हरिचन्दन वा पीतचन्दन),
अमर, तिन्त्री (रक्तचन्दन), कुड, हरिद्रा, गीतमिर्च
(कर्पूर वा तैलच या शालय्या का भेद), शतपुष्पा (नीक,
Peucilanum Sova) मर्या (त्रिभूत वा राल का वृत्त),
राक्षा, प्रकीर्ष (लूनिफल), उदकीर्ष (कर्ज), इगुरी (हिमोद),
सुमन (आरि), काकादीनी (गुग्गा), सौमन्दी (कलि-
हारी, Gloriosa Superba), इतिरुय्य (मर्यासिंदीकरव
'भृशय' इति क. मीरुद इति) गुग्गुलुक, लामजक
(लम का एक भेद) इत्यादि औषधियां बर्हिपंचमूल, कण्टक-
पंचमूल, पिप्ल्यादिगण, पुष्ट्यादिगण, मुक्ककादिगण, कणा-
दिगण, सुरसादिगण और आर्यवादिगण पह संक्षेप से
श्लेष्मसंशामन धर्म हैं ॥८॥

सत्र मूर्वायैपौषधानि ध्याप्यसिपुण्डरधलापयमि
सर्मीकण विदुष्याम् । सत्र, व्याधिपयादधिपयमीयध
मुपपुण्डं समुदासय व्याधि व्याधिभयमापहति ।
अग्निपन्नाधिपयमीयि पिष्टय या पचयमे, पुष्टय
कण्डलिन्य मन्मिमुष्ट्यामदानापहति संशामनम्, पयं
समोषनमिपिपययि । हीमभेभयो द्वापमरिगिवापटे
अपयि । मन्मामरमेय विदुष्याम् ॥९॥

(औषधि माया विचार—) सर्व प्रकार की औषधियां
सर्वत्र, समुदासय और समुदासय व्याधि (औषधियुक्त
माया से व्याधि) बर्हिपंचमूल से अग्निपन्नाधिपय की रिति
विधि कण्डलिन्य का अर्थ करनी है । अग्निपि की

शक्ति से अधिक मात्रा में प्रयुक्त औषधि अजीर्ण उत्पन्न करती
है, वा (श्लेष्मादिक उत्पन्न करके) देर से पचती है । रोगी के
बल से अधिक मात्रा में प्रयुक्त संशामन औषधि म्लानि, मूर्च्छा,
श्रौर मग उत्पन्न करती है । संशोधन औषधि भी व्याधि, अग्नि
और रोगी के बल से अधिक प्रयोग करने पर अधिक हानि
करती है । व्याधि, अग्नि और रोगी की शक्ति की रिति से न्यून
मात्रा में प्रदत्त औषधि निष्फल हो जाती है । इसलिये व्याधि,
अग्नि और रोगी इनके बल के समान (अनुमार) औषधि
की मात्रा प्रदान करनी चाहिये ॥९॥

धृत्तद्वय—संशामन तथा संशोधन की औषधियां व्याधि
बलादि देवकर देनी चाहिये । इनमें अधिक मात्रा में दी
हुई संशोधक औषधि संशामन की अपेक्षा अधिक हानि किया
करती है । मिष्टये—विश्वे शुभान्पाल विविधा वानोरना । मन
वत्तप्रवृत्तिश्च सन्धो मोहोऽप्रवीकनम् ॥ (अष्टांगसमग्र) ।

भयन्नि चात्र—
रोगे शोधनसाधे तु यो भयेदोषदुर्बलः ।
तस्य द्वाध्विपक् प्राप्ते दोषप्रचयायनं मृदु ॥१०॥
संशोधनमात्र रोग से पीड़ित रोगी यदि दोषों के कारण
दुर्बल हो गया हो तो उसे बुद्धिमान् वैध मृदुवीर्य (वननिदि-
पनादि) शोधकारक औषधि प्रदान करे ॥१०॥

चले दोषे मृद्वी कोष्ठे न्नेतोत्पन्न यलं लृणाम् ।
अध्याधिदुर्बलम्यापि शोधनं हि तदा भयेत् ॥११॥
स्यं प्रवृत्तदोषस्य मृदुकोष्ठस्य शोधनम् ।
भयेदरूपलम्यापि प्रयुक्तं व्याधिनाशनम् ॥१२॥
दोष संशामन और काष्ठ मृदु ऐसी अथवा में मनुष्यवत्
देवता नहीं चाहिये, इसलिये कि दोषों के अतिरिक्त
(उपपत्त्यादि अन्य) कारणों से दुर्बल हुए मनुष्य के लिये भी
संशोधन विचार होता है ॥११॥ (इगका कारण यह है कि)
जिनके दोष स्वयं अपने स्वयं से संशामन हुए हैं और
जिनका काष्ठ मृदु हुआ है ऐसे अथवा रोगी में भी प्रयुक्त
किया हुआ संशोधन व्याधिनाशक होता है ॥११॥

व्याप्यादिपु तु मायेपु वाधममप्रलिच्छियते ।
विशालापरये चूर्णे देयः वरुकोऽशाममिगः ॥१३॥
ही शुभकरिण्य भयानो रोगी मनेमने
मनेदेववप विदुष्याम् ॥१३॥

(औषधिमाया—) जब व्याधि अग्नि और पुण्ड्र का
बल प्रबल हो तो काष्ठ की मात्रा अत्रिपि होनी चाहिये, पूर्व
विशालापरक भर और कण्ड अत्र भर देना चाहिये ॥१३॥

पुण्डरपु—अग्नि—पार वल, ११ गोत्रा । विदुष्याम्—
कने, एक गोत्रा । कण्ड—कने, कण्ड—काय में मूल, नील
और कौट नीरी का नामानेक कथा चाहिये । कण्ड का प्रमाण
भी कायट से काय वल ही। कण्डावा है—अथ तु वल विधि
संशामन मृदुवत्त मृदुवत्त में व्याधि का प्रमाण अत्राल बहा
है—अथान् मृदुवत्त कण्ड ३०००० । अथ मृदु मृदुवत्त—
व्याधि, कौट, रोगी का कण्ड प्रमाण होने पर उपयुक्त माया
प्रयुक्त करनी चाहिये । इससे अग्नि कण्ड होनी भी अत्रिपक माया

प्रधानम् । द्रव्यलक्षणं तु 'क्रियागुणवत् समवायिकारणम्' इति ॥२॥

कई आचार्य कहते हैं कि (द्रव्य, रस, गुण, वीर्य और विपाक इनमें) द्रव्य प्रधान है । किस हेतु से ? (१) द्रव्य स्थिर (अपरिवर्तनशील) होने के हेतु से, प्रधान है । क्योंकि द्रव्यरसवीर्यविपाकादि में द्रव्य ही स्थिर होता है न रसादि, जैसे कच्चे फल में जो रसादि होते हैं वे पक फल में नहीं होते । (२) नित्य होने से द्रव्य प्रधान है । द्रव्य नित्य (शाश्वत) है और उसके गुण अनित्य होते हैं, जैसे उसके कत्कादि कषणविभाग नित्य होते हैं परन्तु उनके रसगन्धादि गुण कभी उत्तम (प्रगन्त) होते हैं कभी दूषित होते हैं । (३) अपनी (पार्थिवादि विनिष्ट) जाति में स्थिर रहने से द्रव्य प्रधान है, जैसे कि पार्थिवद्रव्य अन्य (आप्यादि) जाति में परिवर्तित नहीं होते, इसी प्रकार आप्यादि द्रव्य अन्य जाति में परिवर्तित नहीं होते हैं । (४) पाँचों इन्द्रियों द्वारा भी ग्रहण होने से द्रव्य प्रधान है, द्रव्यों का ग्रहण पाँचों इन्द्रियों द्वारा होता है परन्तु रसादि का ग्रहण पाँचों इन्द्रियों द्वारा नहीं किया जा सकता । (५) (रसादि का) आश्रयस्थान होने से द्रव्य प्रधान है, रसादि द्रव्य के आश्रय-भूत होते हैं (स्वतन्त्र नहीं हो सकते) । (६) (आहरण कुट्टनादि विविध प्रकार के) कर्म द्रव्यों पर ही हो सकते हैं इसलिये द्रव्य प्रधान है, जैसे चिदारिगन्धादि (गण के द्रव्यों) को लाकर छूटे और फिर पकाये इत्यादि सब क्रियाओं का आरंभ द्रव्यों में ही होता है रसादि में नहीं हो सकता । (७) शास्त्र के प्रमाणों से भी द्रव्य प्रधान है; शास्त्र में योगों के उपदेश में द्रव्य ही प्रधान माना गया है, जैसे कि (वात-शोधहर प्रलेप का योग वर्णन करते समय) मातुलंग अग्नि-मय आदि द्रव्यों का ही उपदेश किया गया है न रसादि का । (८) द्रव्य के क्रम (स्थित्यन्तर) के अनुसार रसादिकों की क्रमापेक्षा होने से द्रव्य ही प्रधान है, क्योंकि रसादि द्रव्य के स्थित्यन्तर की अपेक्षा करते हुए रहते हैं, जैसे अपक पदार्थ में रसादि अपक (अप्रशस्त) होते हैं और पूर्ण (पक) पदार्थ में पूर्ण (प्रशस्त) होते हैं । (९) एकदेशाभाष्यत्व होने से, द्रव्यों का एक एक अंग उपयोग करके व्याधियों का साधन हो जाता है, जैसे थोहर के दूध से (कई रोग साधन होते हैं) इसलिये द्रव्य ही प्रधान है । द्रव्य का लक्षण ऐसा है—जिसमें क्रिया और गुण (दोनों) हैं तथा (जो क्रिया और गुण दोनों का) समवायिकारण है ॥२॥

वक्तव्य—यहाँ दिया हुआ द्रव्य का लक्षण वैशेषिक दर्शन का है । क्रियागुणवत्—क्रियांश्च गुणांश्च सन्त्यस्मिन्निति । समवायिकारणम्—यत्समेतं कार्यमुत्पद्यते, यथा तन्तवः पदस्य । उपादान कारण जैसे वस्त्र का तन्तु और घट का मृत्कपाल इत्यादि ।

नेत्याहुरन्ये, रसास्तु प्रधानं; कस्मात् ? आगमात्, आगमो हि शास्त्रमुच्यते; शास्त्रे हि रसा अधिकता; यथा—रसायत्त आहार इति, तस्मिंश्च प्राणाः; उपदेशाच्च, उपदिश्यन्ते हि रसाः, यथा—मधुराम्ललवणा वातं शमयन्ति: अनुमानाच्च, रसेन

ह्यनुमीयते द्रव्यं, यथा—मधुरमिति: ऋषिवचनाच्च, ऋषिवचनं वेदो यथा—किञ्चिदिन्द्रियार्थं मधुरमाहरेदिति: तस्माद्रसाः प्रधानं; रसेषु गुणसंज्ञा । रसलक्षणमन्यत्रोपदेश्यामः ॥३॥

अन्य कई आचार्य कहते हैं कि द्रव्य प्रधान मानना प्रगन्त नहीं है । (वे कहते हैं कि) रस ही प्रधान है । किस हेतु से ? (१) आगम के आधार से रस ही प्रधान होते हैं । आगम ही शास्त्र हैं और शास्त्र (आयुर्वेद) में रस ही अधिकृत किये हैं, जैसे रसों के अधीन आहार है और आहार में प्राण रहते हैं । (२) (शास्त्र में रसों का ही) उपदेश होने से रस ही प्रधान है । रसों का ही उपदेश किया जाता है, जैसे मधुर, अम्ल और लवण रस वात का शमन करते हैं । (३) अनुमान से रस ही प्रधान होते हैं । रस ही के द्वारा द्रव्य का अनुमान किया जाता है, जैसे यह द्रव्य मधुर है । (४) ऋषियों के वचन से भी रस प्रधान है । वेद ऋषियों का वचन है—जैसे 'यज्ञ के लिये कुछ मधुर (द्रव्य) लाओ' इत्यादि । इन कारणों से रस ही प्रधान है । रस के लिये ही दूसरी संज्ञा गुण होती है (इसलिये रसप्राधान्य हेतुओं से गुणप्राधान्य भी सिद्ध होता है) । रस का लक्षण अन्य स्थान (रसविशेषविज्ञानीय अध्याय) में वर्णन करेंगे ॥३॥

नेत्याहुरन्ये, वीर्यं प्रधानमिति । कस्मात् ? तद्वशेनौषधकर्मनिष्पत्तेः । इहौषधकर्मायुर्ध्वाधोभागो-भयभागसंशोधनसंशमनसंग्राहकाग्निदीपनपीडन-लेखनबृंहणरसायनवाजीकरणश्वयथुकरविलयन-दहनदारणमादनप्राणघ्नविषप्रशमनानि वीर्यप्राधान्याद्भवन्ति । तच्च वीर्यं द्विविधमुष्णं शीतं च, अग्नीपोमीयत्वाज्जगतः । केचिदष्टविधमाहुः—शीत-मुष्णं स्निग्धं रूक्षं विशदं पिच्छिलं मृदु तीक्ष्णं चेति । एतानि वीर्याणि स्वबलगुणोत्कर्षाद्रसमभि-भूयात्मकर्म कुर्वन्ति । यथा तावन्महत्पञ्चमूलं कषायं तित्कानुरसं वातं शमयति, उष्णवीर्यत्वात्; तथा कुलत्थः कषायः, कटुकः पलाण्डुः, ज्ञेह-भावाच्च; मधुरश्चेशुरसो वातं वर्धयति, शीतवीर्य-त्वात्; कटुका पिप्पली पित्तं शमयति, मृदुशीत-वीर्यत्वात्, अम्लमामलकं लवणं सैन्धवं च; तित्का काकमाची पित्तं वर्धयति, उष्णवीर्यत्वात्, मधुरा मत्स्याश्च; कटुकं मूलकं श्लेष्माणं वर्धयति, स्निग्ध-वीर्यत्वात्; अम्लं कपित्थं श्लेष्माणं शमयति, रूक्षवीर्यत्वात्, मधुरं चौरं च; तदेतन्निदर्शनमात्र मुक्तम् ॥४॥

अन्य आचार्य (द्रव्य, या रस की प्रधानता) नहीं मानते (वे कहते हैं कि) वीर्य प्रधान है । किस हेतु से ? ओषधि के कर्म की सिद्धि वीर्य के अधीन होने से । यहाँ पर ऊर्ध्वभा-संगोधन (चमन), अधोभाग संगोधन (विरेचन), उभ

अध्याय के अन्त में किया गया है । कुछ आधुनिक विद्वान् गुण से भौतिकगुण (Physical properties) समझते हैं, परन्तु यह मत ठीक नहीं है । ४६ वें अध्याय में गुणों का विवरण करते समय लिखा है—**कर्म्मभित्त्वनुदीयन्ते नानाद्रव्याभवा गुणा । भौतिक धर्म प्रत्यक्ष होते हैं, परन्तु वैद्यकीयगुण कर्मानुमेय होते हैं ।** इसलिये रस वीर्यादि द्वारा औषधियों के जो जो कार्य शरीर में होते हैं वे सब उनके गुण होते हैं । औषधियों के इन गुणों का उत्करोपरकर्म भी संस्कार तथा भावनाओं द्वारा किया जाता है—**गुरुणा लाघवं विपातं तत्कारण्यं सविपर्ययम् । श्रीहेलांजा यथा च स्यु सकृन्तां गिद्धपिण्डका ॥ (चरक) ।** इसमें संदेह नहीं कि गुरु, लघु, द्रव, कठिन इत्यादि प्रबन्ध औषधियों की भौतिक स्थिति (Physical state) परद्विगत करने के लिये भी प्रयुक्त होते हैं, परन्तु औषधि विज्ञान की परिभाषा में गुण मुख्यतया शरीरगत विविध क्रियाओं के द्योतक होते हैं । प्रकृतिक्रियाविचारदर्शकालवशात्—**प्राशयेयु द्रव्यसहस्रेषु गुणा गुरुत्वसुशीतोष्णत्वस्त्रिपक्षेषु ॥ (चरक) ।** वीर्य—इसके दो अर्थ होते हैं । (१) वीर्यं तु त्रिपते येन वा त्रिणा । नावीर्यं कुस्ते किंचित् सर्वा वीर्यकृता त्रिणा ॥ (चरक) । येन कुर्वन्ति तदीर्यम् । (सुश्रुत) । केनेति रसेन वा विपाकन वा प्रभवेण वा गुणविरपरवादिभिर्वा शुभैर्वा त्रिणा लक्षणानुसन्नादि रूपा कृत्स्ना क्रियन् इत्युपदिश्यते तस्या त्रिणाया तद्वत्सदि वीर्यम् । (चक्रपाणिदत्तटीका) । सन्नेष में जिसके द्वारा औषधि का कार्य निष्पन्न होता है, वह वीर्य है । औषधियों तरुण होने पर वीर्य अल्प होता है, पक होने पर वीर्य परिणत होता है और पुरानी होने पर वीर्य धीरे धीरे घटता जाता है—**नववर्षांशु औषधवलरन्ध्रोत्सवीर्या । ता एव औषधय कालपरिणामत् परिणतवीर्या भवन्ति । (सुश्रुत) ।** वर्षातीत सर्वथान्य परित्वजति गौरवम् । ननु त्यजति तदीर्यं वीर्यं युक्तयन क्रमत् ॥ यह वीर्य का साधारण अर्थ है, इसके लिये अंग्रेजी में पोटन्सी (Potency) कह सकते हैं । (२) 'रमाविपाकवभावातिरिक्ते प्रभूतसर्ग्यकारिणीगुणे वीर्यम्' इति संज्ञा । रस, विपाक, प्रभाव इनके गुणा के अतिरिक्त द्रव्य का जो विशेष कार्यकारीगुण होता है उसे वीर्य कहते हैं । यह वीर्य की 'पारिभाषिक' संज्ञा है । इस अध्याय में यही दूसरा अर्थ अभिप्रेत है और इसी का ही वर्णन आगे सूत्र चार में किया गया है । आधुनिक वैद्यशास्त्र वैद्यकीय परिभाषा में इस वीर्य के लिये कोई भी योग्य पर्यायशब्द नहीं दिखाई देता । शीत और उष्ण कालके वीर्य दो प्रकार का होता है । इसलिये औषधियों के वीर्य का संबंध शरीरगत Biochemical और Metabolic processes के साथ मालूम करना है । जैसे हरहा और आँवला दोनों गुण और कर्म में समान होने पर भी वीर्य में विरुद्ध होते हैं । हरहा गरम होता है और आँवला शीतल होता है । उष्ण और शीतवीर्य के लक्षण—**नजोष्ण शमगुरुकठिनैवेदरवागुपाकित्वा । शम च वातवयवो वराणि शिरांश्च पुन ॥ एवादन जीवन सन्ध प्रमदे रकपित्तयो ॥ (अष्टांगहृदय) ।** विपाक—महाश्वेत में अठारहरी के संयोग से रस कारणभूत द्रव्यों का पचन होने के पश्चात् शरीर में जो रसात्तर उष्ण होता है वह विपाक है—**अठोराश्रित्वा योषा यदुमेति एतन्नरम् । रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृत ॥**

(अष्टांगहृदय) । विपाक का 'निष्ठापाक' भी कहते हैं । रसों के मधुर, अम्ल और कटु ऐसे तीन विपाक चरक । अनुसार और मजुर तथा कटु दो ही विपाक सुश्रुत के अनुसार होते हैं । इन विपाकों का कार्य रससदृश (रसैरसो तुल्यफल-होता है, फलक हतना ही है कि विपाक का कार्य सार्वदेहिय अप्रत्यक्ष या अनुमेय और द्वितीयक (Systemic, indirect and Secondary) तथा रस से बलवन्तर है । विपाक व बलाबल द्रव्यगत रस के बनावल पर निर्भर होता है । रस द्रव्य अत्यंत मधुर हो तो विपाक भी उत्कृष्ट होता है, रस मध्यम मधुर हो तो मध्यम होता है और यदि अल्पमधु हो तो अल्पलक्ष्य होता है—**विपाकं क्षणवलात्प्रमधुमविष्प्र प्रति । द्रव्याणा गुणैस्तिथ्याद्य तत्रापलक्षयेत् ॥ (चरक) ।** औषधि के रस, वीर्य और विपाक की उपलब्धि—**रस का ज्ञान जिह्व के साथ संबंध होते ही होता है; विपाक का ज्ञान शरीर औषधियों का पचन होने के पीछे दोनों की वृद्धि, प्रकोप य सधमन देखकर होता है और वीर्य का ज्ञान कभी शरीर के साथ संबंध होते ही, कभी शरीर पर जो कार्य होता है उसमें और कभी उच्च दोनों प्रकार से होता है । संज्ञेय में रस क ज्ञान प्रत्यक्ष, विपाक का अप्रत्यक्ष या कार्यानुमेय और वीर्य का प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से होता है—**में निपाते द्रव्याणा विपाक कर्मनिष्ठा । वीर्यं यावदधीवाम्नाश्रितयो पलक्षयेत् ॥ (चरक) । अधिवास का अर्थ शरीर में निवास कर लेखन वृहणादिकार्य के द्वारा । चक्रपाणिदत्त अधिवास का अर्थ 'भक्षण करने के पीछे परिपाक होने के पूर्व क्षण तक' (एतच्च पाक्वात् पूर्वं निपाताखीञ्चं षेयम्) करते हैं परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि इस अधिवास से आगे वीर्य सूत्र में निर्दिष्ट क्रिये लेखनवृहणादिकार्य नहीं हो सकते ।

केचिदाचार्या नुवृते—**द्रव्यं प्रधानं, कस्मात् ? व्ययस्थितत्वात्, इह खलु द्रव्यं व्ययस्थितं न रसा द्यः, यथा—आमे फले ये रसाद्यस्ते पकेन सन्तिः नित्यग्व्याच्च, नित्यं हि द्रव्यमनित्या गुणाः, यथा—कल्कादिप्रविभाग., स एव सपन्नरसगन्धो व्यापन्न-रसगन्धो वा भवति, स्वजात्यवस्थानाच्च, यथा हि पार्थिवं द्रव्यमन्यभावं न गच्छत्येवं शोषाणि; पञ्चेन्द्रियप्रद्वणाच्च, पञ्चभिरिन्द्रियैर्गृह्यते द्रव्यं न रसा द्यः, आश्रयत्वाच्च, द्रव्यमाधिता रसाद्यो भवन्ति, आरम्भसामर्थ्याच्च, द्रव्याधित आरम्भः, यथा—विदारिगन्धादिमाहृत्य सक्षुच विपचेदित्येवमादिषु न रसादिप्वारम्भः; शास्त्रप्रामाण्याच्च, शास्त्रे हि द्रव्यं प्रधानमुपदेशो हि योगानां, यथा—मातुलुङ्गाग्नि-मन्यौ चेत्यादौ न रसाद्य उपदिश्यन्ते; क्रमापेक्षि तत्वाच्च रसादीनां, रसाद्यो हि द्रव्यक्रममपेक्षन्ते, यथा—तरुणे तरुणाः संपूर्णं संपूर्णा इति; परु-देशाश्रयत्वाच्च, द्रव्याणामेकदेशोनापि व्याधयः साध्यन्ते, यथा—महादुहाक्षीरेणैति; तस्माद्द्रव्यं**

प्रधानम् । द्रव्यलक्षणं तु 'क्रियागुणवत् समवायिकारणम्' इति ॥२॥

कई आचार्य कहते हैं कि (द्रव्य, रस, गुण, वीर्य और विपाक इनमें) द्रव्य प्रधान है । किस हेतु से ? (१) द्रव्य स्थिर (अपरिवर्तनशील) होने के हेतु से, प्रधान है । क्योंकि द्रव्यरसवीर्यविपाकादि में द्रव्य ही स्थिर होता है न रसादि, जैसे कच्चे फल में जो रसादि होते हैं वे पके फल में नहीं होते । (२) नित्य होने से द्रव्य प्रधान है । द्रव्य नित्य (शाश्वत) है और उसके गुण अनित्य होते हैं, जैसे उसके कल्कादि कपायविभाग नित्य होते हैं परन्तु उनके रसगन्धादि गुण कभी उत्तम (प्रशस्त) होते हैं कभी दूषित होते हैं । (३) अपनी (पार्थिव्यादि विशिष्ट) जाति में स्थिर रहने से द्रव्य प्रधान है, जैसे कि पार्थिवद्रव्य अन्य (आप्यादि) जाति में परिवर्तित नहीं होते, इसी प्रकार आप्यादि द्रव्य अन्य जाति में परिवर्तित नहीं होते हैं । (४) पाँचों इन्द्रियों द्वारा भी ग्रहण होने से द्रव्य प्रधान है, द्रव्यों का ग्रहण पाँचों इन्द्रियों द्वारा होता है परन्तु रसादि का ग्रहण पाँचों इन्द्रियों द्वारा नहीं किया जा सकता । (५) (रसादि का) आश्रयस्थान होने से द्रव्य प्रधान है, रसादि द्रव्य के आश्रय-भूत होते हैं (स्वतन्त्र नहीं हो सकते) । (६) (आहरण कुटनादि विविध प्रकार के) कर्म द्रव्यों पर ही हो सकते हैं इसलिये द्रव्य प्रधान है, जैसे विदारिगन्धादि (गण के द्रव्यों) को लाकर कूटे और फिर पकावे इत्यादि सब क्रियाओं का आरंभ द्रव्यों में ही होता है रसादि में नहीं हो सकता । (७) शास्त्र के प्रमाणों से भी द्रव्य प्रधान है; शास्त्र में योगों के उपदेश में द्रव्य ही प्रधान माना गया है, जैसे कि (वात-शोथहर प्रलेप का योग वर्णन करते समय) मातुलंग अग्नि-मंथ आदि द्रव्यों का ही उपदेश किया गया है न रसादि का । (८) द्रव्य के क्रम (स्थित्यन्तर) के अनुसार रसादिकों की क्रमापेक्षा होने से द्रव्य ही प्रधान है, क्योंकि रसादि द्रव्य के स्थित्यन्तर की अपेक्षा करते हुए रहते हैं, जैसे अपक पदार्थ में रसादि अपक (अप्रशस्त) होते हैं और पूर्ण (पके) पदार्थ में पूर्ण (प्रशस्त) होते हैं । (९) एकदेशसाध्यत्व होने से, द्रव्यों का एक एक अंग उपयोग करके व्याधियों का साधन हो जाता है, जैसे थोहर के दूध से (कई रोग साधन होते हैं) इसलिये द्रव्य ही प्रधान है । द्रव्य का लक्षण ऐसा है—जिसमें क्रिया और गुण (दोनों) हैं तथा (जो क्रिया और गुण दोनों का) समवायिकारण है ॥२॥

वक्तव्य—यहाँ दिया हुआ द्रव्य का लक्षण वैशेषिक दर्शन का है । क्रियागुणवत्—क्रियांश्च गुणाश्च सन्त्यस्मिन्निति । समवायिकारणम्—यस्मैवेतं कार्यमुत्पद्यते, यथा तन्वयः पटस्य । उपादान कारण जैसे वस्त्र का तन्तु और घट का मृत्कपाल इत्यादि ।

नेत्याहुरन्ये, रसास्तु प्रधानं; कस्मात् ? आगमात्, आगमो हि शास्त्रमुच्यते; शास्त्रे हि रसा अधिष्ठताः, यथा—रसायत्त आहार इति, तस्मिंश्च प्राणाः; उपदेशाच्च, उपदिश्यन्ते हि रसाः, यथा—मधुराम्ललवणा वातं शमयन्ति; अनुमानाच्च, रसेन

हानुमीयते द्रव्यं, यथा—मधुरमिति; ऋषिवचनाच्च, ऋषिवचनं वेदो यथा—किंचिदिज्यार्थं मधुरमाहरेदिति; तस्माद्रसाः प्रधानं; रसेषु गुणसंज्ञा । रसलक्षणमन्यत्रोपदेक्ष्यामः ॥३॥

अन्य कई आचार्य कहते हैं कि द्रव्य प्रधान मानना प्रशस्त नहीं है । (वे कहते हैं कि) रस ही प्रधान है । किस हेतु से ? (१) आगम के आधार से रस ही प्रधान होते हैं । आगम ही शास्त्र हैं और शास्त्र (आयुर्वेद) में रस ही अधिकृत किये हैं, जैसे रसों के अधीन आहार है और आहार में प्राण रहते हैं । (२) (शास्त्र में रसों का ही) उपदेश होने से रस ही प्रधान हैं । रसों का ही उपदेश किया जाता है, जैसे मधुर, अम्ल और लवण रस वात का शमन करते हैं । (३) अनुमान से रस ही प्रधान होते हैं । रस ही के द्वाग द्रव्य का अनुमान किया जाता है, जैसे यह द्रव्य मधुर है । (४) ऋषियों के वचन से भी रस प्रधान हैं । वेद ऋषियों का वचन है—जैसे 'यज्ञ के लिये कुछ मधुर (द्रव्य) लाओ' इत्यादि । इन कारणों से रस ही प्रधान हैं । रस के लिये ही दूसरी संज्ञा गुण होती है (इसलिये रसप्रधान्य हेतुओं से गुणप्रधान्य भी सिद्ध होता है) । रस का लक्षण अन्य स्थान (रसविशेषविज्ञानीय अध्याय) में वर्णन करेंगे ॥३॥

नेत्याहुरन्ये, वीर्यं प्रधानमिति । कस्मात् ? तद्वशेनौषधकर्मनिष्पत्तेः । इहौषधकर्माण्यूर्ध्वाधोभागो-भयभागसंशोधनसंशमनसंग्राहकाग्निदीपनपीडन-लेखनवृंहणरसायनवाजीकरणश्वयथुकरविलयन-दहनदारणमादनप्राणप्रविषप्रशमनानि वीर्यप्राधान्याद्भवन्ति । तच्च वीर्यं द्विविधमुष्णं शीतं च, अशीधोमीयत्वाजगतः । केचिदप्रविधमाहुः—शीतमुष्णं स्निग्धं रूक्षं विशदं पिच्छिलं मृदु तीक्ष्णं चेति । एतानि वीर्याणि स्ववलगुणोत्कर्षाद्रसमभिभूयात्मकर्म कुर्वन्ति । यथा तावन्महत्पञ्चमूलकषायं तिक्तानुरसं वातं शमयति, उष्णवीर्यत्वात्; तथा कुलत्थः कषायः, कटुकः पलाण्डुः, स्नेहभावाच्च; मधुरश्चेक्षुरसो वातं वर्धयति, शीतवीर्यत्वात्; कटुका पिप्पली पित्तं शमयति, मृदुशीतवीर्यत्वात्, अम्लमामलकं लवणं सैन्धवं च; तिक्ताकाकमाची पित्तं वर्धयति, उष्णवीर्यत्वात्, मधुरा मत्स्याश्च; कटुकं मूलकं श्लेष्माणं वर्धयति, स्निग्धवीर्यत्वात्; अम्लं कपित्थं श्लेष्माणं शमयति, रूक्षवीर्यत्वात्, मधुरं चौद्रं च; तदेतन्निदर्शनमात्रमुक्तम् ॥४॥

अन्य आचार्य (द्रव्य, या रस की प्रधानता) नहीं मानते (वे कहते हैं कि) वीर्य प्रधान है । किस हेतु से ? औषधि के कर्म की सिद्धि वीर्य के अधीन होने से । यहाँ पर ऊर्ध्वभा-संशोधन (वमन), अधोभाग संशोधन (विरेचन), उभ

भाग समीचन, समान, संपाहक, अग्नि दीपन, पीडन, लम्बन, बृहण, रसायन, वाजीकरण, गोपहरण, गोपविलयन, दहन, शारदा, मादन (भक्त्याहार), प्रायानाशन तथा विषप्रगमन इत्यादि औषधियों के कर्म धीरे धीरे प्रधानता में होते हैं । समस्त जगत् अतिव्यापामात्र होने से यह धीरे धीरे ही प्रकार का होता है—उष्ण और शीत । कई आचार्य इगरो आठ प्रकार का मानते हैं । यथा—शीत, उष्ण, छिन्न, रुचा, विगद, पिच्छिन, मृदु और तीक्ष्ण । य धीरे अपने बल और गुण की उच्छ्रिता से रस के कार्य का निराकरण करके अपना कार्य किया करते हैं । जैसे—बृहत् पचन्या रस में कषाय और अनु-रस में तिन हान पर भी उष्णधीरे होने से वायु का शान्त करता है । वैसे ही कषायरसयुक्त पुत्र्यी (उष्ण धीरे होने में) और कटुक रस युक्त प्याज छिन्नधीरे होने से (वायु को शान्त करता है) । गन्धे का रस मधुर होने पर भी शीत-धीरे होने से वायु को बढ़ाता है । कटुर रस युक्त पिप्पली मृदु-शीतधीरे होने से पित्त को शांत करती है, तथा अम्ल रस युक्त अजला और लवण रस युक्त मैथा नामक भी शीतधीरे होने से तिन को शान्त करते हैं । तिन रस काकमाषी उष्णधीरे होने से पित्त को बढ़ाती है, वैसे ही मल्ली मधुर होने पर भी उष्ण धीरे होने से पित्त को बढ़ाती है । (मंटी) मूली कटुरस युक्त होने पर भी छिन्नधीरे होने से श्लेष्मा को बढ़ाती है । अम्ल रस कषिप्य रुचवीरे होने से श्लेष्मा का शान्त करता है, वैसे ही मधुररस मधु भी रुचवीरे होने से कफ को शान्त करता है । धीरे के कार्य की दिशा प्रदर्शित करने के लिये यह थोड़ा सा वर्णन कर दिया है ॥४॥

चक्षुःशय—उपर्युक्त पदार्थों में रस का कार्य वीरेविरुद्ध होता है—रसा स्वादस्त्ववगनिचोपकनायका । तथा मात प्रनि प्रवनिक्तद्वय कश्चम् । कषायनिकमधुर विषमये तु बुक्ते ॥ (अष्टांगसूत्र) । परन्तु उष्ण पदार्थों का धीरे रस कार्य का नाश करके उसके विरुद्ध कार्य करता है ।

भयन्ति चान—

ये रसा घातशमना भयन्ति यदि तेषु च ।
रौक्ष्यलाघवशैत्यानि न ते ह्यस्य समीरणम् ॥५॥
ये रसाः पित्तशमना भयन्ति यदि तेषु च ।
तैर्घ्नवौष्ण्यलघुताश्चैव न ते तत्त्वमकारिणः ॥६॥
ये रसाः श्लेष्मशमना भयन्ति यदि तेषु च ।
स्नेहवीर्यशैत्यानि न ते तत्कर्मकारिणः ॥७॥
नस्माद्धीरेयं प्रधानमिति ॥८॥

जा रस वायु की शान्त करने वाले हैं यदि उनमें रुचता, लघुता और ठंडापन ही तो वे वायु को शान्त नहीं कर सकते हैं ॥५॥ जो रस पित्त की शान्त करने वाले हैं उनमें यदि तीक्ष्णता, उष्णता और लघुता ही तो वे (पित्तशमन का) वह कार्य नहीं करते हैं ॥६॥ जा रस कफ की शान्त करने वाले हैं उनमें यदि छिन्नता, रीरत्व और घटापन ही तो वे (कफ शमन का) वह कार्य नहीं करते हैं ॥७॥ इसलिये (रस की अपेक्षा) धीरे ही प्रधान है ॥८॥

नेत्याहुरन्ये, विपाकः प्रधानमिति । कस्मात् ?

सम्यङ्निर्दिष्ट्याविपाकत्वात् । इह सर्वद्रव्याण्यभ्यय हृतानि सम्यङ्निर्दिष्ट्याविपाकानि गुण दोष य जनयन्ति ॥९॥

कई कूर्मे आचार्य (द्रव्य, रस, धीरे की प्रधानता को) नहीं मानते । (ये कहते हैं कि) विपाक ही प्रधान है । कि-हेतु में ? सब द्रव्यों का योग या अयोग विपाक होने (पर ही उनकी शरीर पर क्रिया निर्भर होने) के हेतु में । सेवन कि-हुए सर्व द्रव्य शरीर में योग या अयोग विपाक होने पर गुण या दोष उत्पन्न करते हैं ॥९॥

चक्षुःशय—इसमें सन्देह नहीं कि औषधियों का शरीर पर कार्य सम्यक् विपाक होने के पश्चात् ही प्राय होता है और इस हेतु से विपाक प्रधान हो सकता है । जैसे कुर्नीन (Quinine) विषम उत्र के लिये बड़ी प्रभावी औषधि है परन्तु जब उसकी शर्करावपुष्टि मोली (Sugar coated) सेवन की जाती है तब उसका विषम उत्र पर कभी कभी प्रभाव योग विपाक न होने के कारण नहीं पड़ता । तथापि रस, धीरे, विपाक और प्रभाव में से किसी एक की सर्वप्रथमा सर्वोपर्या में और सब औषधियों में नहीं हो सकती है न देखने में आती है । इसलिये आचार्यों में इस विषय पर एकमत नहीं होता है । चक्रसंहिता में तथा इसी अध्याय के १४-१५ श्लोकों में इस मतभिन्नता का सत रूप बहुत सपुष्टिक किया गया है—किंचिद्वन बुक्ते कर्ष वीरेय चापत्सु । द्रव्यं गुणेन पकन प्रयत्नेन च त्विन ॥ जैसे तिन, उष्णधीरे और प्रभावी कुर्नीन अरोचक पीडित रोगी में केवल रस से रचि उपलब्ध करता है, प्रतिद्रव्यय एषुल्लङ्घना आदि कफोत्पन्न रोग से पीडित रोगियों में उष्ण-धीरे से रोग नाशन करता है, ज्वरनिमुक्त अवस्था की दुर्बलता में विपाक में शक्ति देता है और विषम उत्र से पीडित रोगी में प्रभाव में ज्वरनाशन करता है ।

तत्राहुरन्ये—प्रति रसे पाक इति । केचिच्चि विध मिच्छन्ति—मधुरमम्लं कटुकं चेति । तस्य न सम्यक, भूतगुण्यदामाश्चान्योऽम्लो विपाको नास्ति, पित्त हि विदग्धमम्लतामुपैत्यमम्लन्दरत्वात् ; यद्येवं लवणोऽप्यन्य पाको भविष्यति, श्लेष्मा हि विदग्धो लघुतामुपैतीति ॥९॥

इसमें कई आचार्य ऐसा कहते हैं कि रसादि छ रसों के यथाक्रम रसादि छ विपाक होते हैं । कई (आचार्य केवल) तीन प्रकार का विपाक मानते हैं । परन्तु यह (प्रविष्य) ठीक नहीं है, क्योंकि पचनहामूर्तों के गुणा में और गात्र से अम्ल विपाक मिद नहीं होता है । अग्नि की मन्ता में विदग्ध होकर पित्त ही अम्लता को प्राप्त होता है । इसलिये यदि अम्ल विपाक माने तो बीधा लवण विपाक भी (प्रदण करना) होगा, क्योंकि कफ विदग्ध होकर लवणमाय को प्राप्त होता है ॥९॥

मधुरो मधुरस्याम्लोऽम्लस्यैवं सर्वेषामिति केचिद्वाहुर, एष्टान्तं औषदिशान्ति, यथा—तावत् क्षीरमुखागतं पच्यमान मधुरमेव स्वासथा शालि-

यवमुदादयः प्रकीर्णाः स्वभावमुत्तरकालेऽपि न परित्यजन्ति तद्वदिति । केचिद्द्वन्द्वन्ति—अवलवन्तो चलवतां वशमायन्तीति । एवमनवस्थितिः; तस्माद-
सिद्धान्त एवः ॥११॥

कष्ट आचार्य कहते हैं कि मधुर का मधुर, अम्ल का अम्ल, इसी प्रकार प्रत्येक रस का वही पाक होता है । दधान्त देते हैं कि, जैसे स्थालि में पकता हुआ दूध (गुरु से आखिर तक) मधुर ही होता है और चावल यव, मूँग वाने पर अरौहण के समय भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं, वैसे रस भी (अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते) । कई आचार्य कहते हैं कि (मधुरादि रसों में) जो अवलवान् होते हैं वे (विपाक के समय) चलवान् (रस के) वश में आ जाते हैं । इस प्रकार सब बातें अव्यवस्थित (अनिर्णीत) हैं । इसलिये उपरोक्त विपाक विषयक बातें सिद्ध नहीं मानी जा सकतीं ॥११॥

आगमे हि द्विविध एव पाको मधुरः कटुकश्च ।
तयोर्मधुराख्यो गुरुः, कटुकाख्यो लघुरिति । तत्र
पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां द्वैविध्यं भवति गुण-
साधर्म्याद्गुरुता लघुता च; पृथिव्यापश्च गुर्व्यः,
पाणि लघूनि; तस्माद्द्विविध एव पाक इति ॥१२॥

आयुर्वेदशास्त्र से तो दो ही प्रकार का विपाक है, मधुर और कटुक । उनमें से मधुरविपाक गुरु होता है और कटु-
पाक लघु होता है । पृथिवी, आप, तेज, वायु और आकाश न पंच महाभूतों के (गुरुत्व और लघुत्व) गुणों के साध-
र्म्य से गुरुता और लघुता ऐसे दो भेद होते हैं । इनमें पृथिवी और जल गुरु हैं और शेष (तेज, वायु और आकाश) लघु होते हैं । इससे विपाक भी दो प्रकार का ही होता है ॥१२॥

भवन्ति चात्र—

द्रव्येषु पच्यमानेषु येष्वम्बुपृथिवीगुणाः ।

निर्वर्तन्तेऽधिकास्तत्र पाको मधुर उच्यते ॥१३॥

तेजोऽनिलाकाशगुणाः पच्यमानेषु येषु तु ।

निर्वर्तन्तेऽधिकास्तत्र पाकः कटुक उच्यते ॥१४॥

जिन पचन होने वाले द्रव्यों में पृथिवी और जल के गुण अधिक होते हैं वहाँ विपाक मधुर होता है ॥१३॥ जिन पचन होने वाले द्रव्यों में तेज, वायु और आकाश के गुण अधिक होते हैं वहाँ विपाक कटुक होता है ॥१४॥

चक्रव्य—ऊपर विपाक के संबंध में चार मत निर्दिष्ट हैं—(१) प्रतिरसपाक, (२) अनवस्थितपाक, (३) त्रिविधपाक और (४) द्विविधपाक । इनमें से प्रतिरसपाक और अनवस्थितपाक इनका यहाँ विचार करने की आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि उनका ग्रहण करने से विपाक को रस से स्वतंत्र मानने की भी आवश्यकता नहीं होती । त्रिविधपाक चक्र तथा चरकमतानुसारी वाग्भट का मत है—कठुतिक्तकपा-
याणां विपाकः प्रायशः कटु । अम्लोऽम्लं पच्यते स्वादुर्भुवं लवणस्था ॥

१ निर्वर्तने.

(सूत्रस्थान अध्याय २६) । पराशरमुनि यद्यपि तीन विपाक मानते हैं तथापि उनका वर्गीकरण भिन्न है—पराशरमु पठति । पाकाग्रयो रसानामम्लोऽम्लं पच्यते कटुः कटुकम् । चत्वारोऽन्ये मधुरं संकीर्णरसास्तु संकीर्णम् ॥ कटुतिक्तकपायाणां कटुको येषां विपाक इति पशुः । तेषां पित्तविधाते तित्तकपायौ कथं भवतः ॥ (अष्टांग-संग्रह सूत्र, १७) । सुश्रुत के मतानुसार केवल मधुर और कटु दो ही विपाक होते हैं । इस मतभिन्नता का कारण यह है कि चरक में त्रिविध पाक रसपाक के अभिप्रायानुसार तथा त्रिदोषों के तीन रसों (वायु कटु, पित्त अम्ल और कफ मधुर) के अनुसार माना गया है । सुश्रुत में द्विविधपाक भूतगुणपाक के अभिप्रायानुसार तथा दोषों के रसानुसार माना गया है । फर्क यही है कि चरकमतानुसार प्रकृतिस्थ पित्त अम्ल है—सस्तेऽगुणं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु । सुश्रुत के मतानुसार प्रकृतिस्थ पित्त कटु है और विदग्ध पित्त अम्ल है—उष्णं कटुसं चैव विदग्धं चान्द्रमेव च ॥ इसलिये पित्त के अम्लत्व को अंगीकार न करने के कारण अम्ल-विपाक भी अंगीकार करने की कोई आवश्यकता सुश्रुत को मालूम नहीं हुई ।

पृथक्त्वदर्शिनामेव वादिनां वादसंग्रहः ।

चतुर्णामपि सामर्थ्यमिच्छन्त्यत्र विपश्चितः ॥१५॥

तद्द्रव्यमात्मना किञ्चित्किञ्चिद्वीर्येण सेवितम् ।

किञ्चिद्रसविपाकाभ्यां दोषं हन्ति करोति वा ॥१६॥

(इस अध्याय के प्रारंभ से यहाँ तक जो लिखा गया है, वह केवल द्रव्यादि के प्राधान्य के संबंध में) पृथक् पृथक् प्राधान्य मानने वाले विवादी आचार्यों के वादविवाद का संग्रह है । परन्तु तत्त्वदर्शी लोक (द्रव्य, रस, गुण और वीर्य इन) चारों के समुदाय को (कार्य की दृष्टि से एकत्र) मानते हैं ॥१५॥ (वास्तव में) सेवन किया हुआ द्रव्य दोष-प्रकोप या दोषहरण का कार्य थोड़ा अपने (द्रव्यात्मक) सामर्थ्य से, थोड़ा अपने वीर्य (के सामर्थ्य) से और थोड़ा रस विपाक (के सामर्थ्य) से करता है (यानि प्रत्येक द्रव्य का शरीर पर जो कार्य होता है वह द्रव्य रस, वीर्य और विपाकों के मिश्रसामर्थ्य का फल होता है) ॥१६॥

चक्रव्य—आरमना—पृथिवी, आप, तेज, वायु और आकाश इनके गुणों के सामर्थ्य से । इनका वर्णन आगे १४ वें अध्याय के ८ से लेकर १३ सूत्र तक किया गया है—एवमेतद्गुणाधिक्यं द्रव्ये द्रव्ये विनिश्चितम् । द्विशो वा बहुशो वाऽपि शाल्वा दोषेषु चाचरेत् ॥ चरक में और वाग्भट में भी द्रव्य के कार्य सामर्थ्य के संबंध में ऐसा ही लिखा है—किञ्चिद्रसेन कुंठते कर्म वीर्येण चापरम् । द्रव्यं गुणेन पाकेन प्रभावेण च किञ्चन ॥ (चरक) । रस, वीर्य, विपाक और प्रभाव के स्वाभाविक बल के संबंध में चरक और वाग्भट में लिखा है—यद्यद् द्रव्ये रसादीनां बलवत्त्वेन वर्तते । अभिभूयैतरास्तत्तत् कारणत्वं प्रपद्यते ॥ विरुद्धगुणसंयोगे भूयसात्वं हि जीयते । रसं विपाकतौ वीर्यं प्रभावस्तान् व्यपोहति ॥ बलसाम्ये रसादीना-
मिति नैसर्गिकं बलम् । विरुद्धा अपि चान्योन्यं रसाथाः कार्यसाधने ॥ नावश्यं स्वविधाताय गुणदोषा मिथो यथा । रसवीर्यप्रभृतयो भूतोक्त-

१ सामर्थ्यं.

पंचकर्म । एकस्या विरुपा वा त्र्ये मम ज्योते ॥ (अष्टांगसंग्रह, सुखस्थान १० अध्याय) ।

पाको नास्ति विना वीर्याद्वीर्यं नास्ति विना रसात् ।

रसो नास्ति विना द्रव्याद्रव्यं श्रेष्ठतमं स्मृतम् ॥१७॥

वीर्य के विना पाक नहीं, रस के विना वीर्य नहीं और द्रव्य के (आश्रय के) विना रस नहीं, इयलिये द्रव्य ही सब से श्रेष्ठ है ॥१७॥

जन्म तु द्रव्यरसयोरन्योन्यापेक्षिकं स्मृतम् ।

अन्योन्यापेक्षिक जन्म यथा स्याद्देहदेहिनेः ॥१८॥

वीर्यसंज्ञा गुणायैऽष्टौ तेषुपि द्रव्याध्रया स्मृताः ।

रसेषु न भवन्त्येते निर्गुणास्तु गुणाः स्मृताः ॥१९॥

द्रव्ये द्रव्याणि यस्माद्धि विपच्यन्ते न पट्टसा ।

श्रेष्ठं द्रव्यमतो ज्ञेयं, शेषा भावास्तदाध्रया ॥२०॥

जैसे शरीर और आत्मा का जन्म अन्योन्याश्रित होना है, जैसे ही द्रव्य और रस का जन्म एक दूसरे के आश्रित होना है ॥१८॥ वीर्यसंज्ञक (शीतादि) जो आठ (तथा सूत्रमादि अन्य) गुण होते हैं वे भी द्रव्य के आश्रित होते हैं, रसों में अधिष्ठित नहीं हो सकते, क्योंकि गुण (स्वयं) निर्गुण होते हैं ॥१९॥ (पट्टसात्मक, द्विविध या अष्टविध वीर्यात्मक एवं विद्यतिगुणात्मक द्रव्यज्ञातों जो मनुष्य सेवन करते हैं उस) द्रव्यज्ञात में (विविध) द्रव्यों का ही परिपाक होता है, न छ रसों का (अथवा अष्टविध वीर्य का अथवा विद्यति गुणों का), इसलिये द्रव्य को ही श्रेष्ठ समझना चाहिये और (द्रव्य के अतिरिक्त) शेष (रस वीर्य गुणात्मक) भावों को उस द्रव्य के अधीन समझना चाहिये ॥२०॥

यत्कव्य—रस, वीर्य और विपाक इनका अधिष्ठान द्रव्य होने के कारण वही सब से श्रेष्ठ है, यह इन श्लोकों में सिद्ध किया है । अठारहवें श्लोक में यह बतलाया है कि, जैसे शरीर के अधिष्ठान क विना आत्मा प्रकट नहीं हो सकती, जैसे ही द्रव्य के अधिष्ठान के विना रस प्रकट नहीं हो सकता । उन्नीसवें श्लोक में यह बतलाया है कि यद्यपि व्यवहार में 'काशय रस रूक्ष है' 'अम्लरस उष्ण है' 'मधुर श्लिष्ण है' ऐसी परिभाषा प्रयुक्त होती है, तथापि वास्तव में ये रूक्षादि गुण रसों के न होकर रसाधार द्रव्य के ही होते हैं । उपर्युक्त परिभाषा प्रयुक्त होने का कारण रस और गुणों का 'साहचर्य' है—गुणार्थो गुणा द्रव्ये पृथिव्यादी त्वाश्रये । तेषु व्यपदिश्यन्ते माहचर्योपपातः । (अष्टांगहृदय सू ९) । रस स्वयं गुण होते हैं (रसु गुण मत्वा) सुश्रुत और गुण स्वयं निर्गुण होते हैं (अथ द्रव्या शिवा यथा निर्गुणा निष्किया गुणः । भाषापरिच्छेद) इसलिये शीतादि गुण जो रसों के बतलाये जाते हैं उन्हें द्रव्य के ही समझना चाहिये—गुणा गुणाभवा नास्त्वस्मात्साम्यगुणान् मिषरु । विद्यान् द्रव्यगुणान्, कतुरभिप्राय पृथक्पि ॥ (चरक सू २९) । गुणों का द्रव्य के विना दूसरा आश्रय नहीं हो सकता । इत्ये—आहार तथा ओषधियों के लिये प्रयुक्त समस्त द्रव्यवर्गों, उषधों । अष्टांगदत्त के अनुसार 'पञ्चभूतात्मक देहे' । द्रव्याणि—'पचमहाभूतद्रव्याणि' ऐसा भी इनका अर्थ हो सकता है और

विपाक की दृष्टि से यह भी अर्थ प्रगट है, क्योंकि विपाक द्रव्यगत पचमहाभूतों का ही परिपाक होता है ऐसा लिखा गया है—ओषध्याश्चैव श्रावण्या एवोष्णान सनाभवा । पचाहाद्युष्ण्ये स्तान् पचिकतीन् पचन्तनु ॥ रथाभ्य ते च पुष्पानि कथं पुष्पानाम् पृथक् । पचिवा पचिवेव शेषा शेषाश्च दहमन् (अष्टांगहृदय गा २) ।

अमीमांसान्यचिन्त्यानि प्रसिद्धानि स्वभावतः ।

आगमेनोपयोज्यानि मेपजानि विचक्षणैः ॥

प्रत्यक्षलक्षणफलाः प्रसिद्धाश्च स्वभावतः ।

नौपधीर्हेतुभिर्विद्वान् परीक्षित कथं(दा)चन ॥२

सहस्रेणापि हेतूनां नाम्यष्टादिविरेचयेत् ।

तस्मात्तिष्ठेसु प्रतिमानागमे न तु हेतुषु ॥२

एते सुश्रुतविद्वानां सूत्रस्यैते द्रव्यगुणरसवीर्यविपाकविद्यानीयो नाम चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४०॥

जो ओषधियाँ (अर्थात् जिन ओषधियों की कार्यक्षमता) भीमांसा और तर्क से सिद्ध नहीं होती, परन्तु अ (भद्र) स्वभाव से ही प्रसिद्ध हैं वे ओषधियाँ व्यवहार उद्देश्य वृत्तियों में शास्त्र के आधार पर ही प्रयुक्त होनी चाहियें ॥२१॥ जिन ओषधियों के गुण और फल प्रत्यक्ष हैं तथा जो स्वभाव से ही मजहूर हैं उन ओषधियों को विद्वान् वैद्य तर्कवितर्कदि से न परखें ॥२२॥ अष्टादशिराज की ओषधियाँ (विरेचन करती हैं यह) हजारों तर्कवितर्कों से (यदि लिख किया जाय तो) भी विरेचन नहीं करती (क्योंकि यह शास्त्र और प्रत्यक्ष विरुद्ध है) । इसलिये बुद्धिमान् वैद्य (कृद्ध्य ओषधियों के विषय में) शास्त्र के आधार पर भरोसा रखे और हेतुओं में नहीं (अथवा कायकारण भाव से उन ओषधियों का कार्य सिद्ध करने में मिर न पचावे) ॥२१॥

यत्कव्य—आयुर्वेद में ओषधियों के वैद्यकीय उपयोगों की भीमांसा या उपपत्ति उनके पचनशास्त्रिक संगठन, रस, गुण, वीर्य और विपाक की सहायता से की जाती है । रसादि द्रव्य चिकित्सा में प्रयुक्त हुई अधिकमहत्त्व ओषधियों के उपयोगों की कार्य कारणभीमांसा ज्ञात हो जाती है । तथापि सूत्रि सुखर विषमणि प्रवृत्ति कुछ द्रव्य ऐसे ही प्रयुक्त होते हैं जिनके उपयोगों की भीमांसा रसादिद्वारा न हो सकती है । इसलिये इन ओषधियों को 'अमीमांस' या 'अचिन्त्य' कहा है । अमीमांस्य या अचिन्त्य का अर्थ 'पंचवीर्यविपाकवाडिन्त्य वाडिमीमांस्य वा' ऐसा है । ओषधियाँ अचिन्त्य कार्यक्षमता का विवरण इन अन्तिम श्लोकों में किया है । चरक और वाग्भट में द्रव्यगत इस अचिन्त्यव्यक्ति की 'प्रभाव' कहा है । रसवीर्यविपाकनां नामान्य यत्कव्ये विरेच, कर्णां चैव प्रभावमन्य च स्मृन् ॥ प्रमथोऽचिन्त्य उच्यते (चरक, सू २९) । सर्वांशिराशी द्रव्यस्वभाव प्रभाव हस्तागत (अष्टांगहृदय, सू १०) । रसादिभ्यो कथं च विरेच त प्रभावम् ॥ स्त्रीराम्येहेतुत्वापि चिद्वयस्य विरेचनी । मधुह्वय शरीरका धन शीतस्य दीपनम् ॥ कटुपाकमभिव्यक्तुश्चैव कतवाजित् एतुषु वातकफकृत्तुनेव दृष्टौ ॥ मियो विरुद्धान् बलान्तेनैवैषि तथा कथंति यत् । कुर्वन्ति नवकाय क्ष तदप्रभावविप्रमिताम् ॥ रिरी

पादिविष हन्ति स्वप्नात् तद्विद्वद्भ्ये । गणितमन्त्रौषधीनां च यत् कर्म विविधात्मकम् । शल्याहरणपुंजन्मरक्षासुद्धीवशादिकम् । दर्शनाचैरपि विषं यन्नियच्छति चागदः ॥ विरेचयति यद्वृष्यमाशु शुक्रं करोति वा । रं शोभागिकं यच्च द्रव्यं यच्छमनादि च ॥ मात्रादि प्राप्य तत्तच्च यत् प्रपञ्चेन वर्णितम् । तच्च प्रभावजं सर्वमतोऽचिन्त्यः स उच्यते ॥ रसेन वीर्येण गुणैश्च कर्म द्रव्यं विपाकेन च यद्विद्वद्भ्यात् । सर्वोऽन्यथा तत्कुरते प्रभावाद्धेतोरतस्तत्र न गोचरोऽस्ति ॥ (अष्टांगसंग्रह, सूत्र, अ. १७) । यत् सोपपत्तिकं कार्यं न तत् प्रभावकृतमिति व्यपदिश्यते; उक्तं हि प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते । (चक्रपाणिदत्त) । पाश्चात्य औपधिगुणविज्ञान में भी औपधियों के वैद्यकीय उपयोगों के संबंध में मीमांस्य और अमीमांस्य ऐसे दो भेद किये जाते हैं । जिनके उपयोग की मीमांसा उपलब्ध वैज्ञानिक तत्त्वों के अनुसार की जा सकती है, उनको मीमांस्य या रथाणनल (Rational) कहते हैं । जिनके उपयोग की मीमांसा लब्ध वैज्ञानिक तत्त्वों के अनुसार नहीं की जा सकती, या तो जिनका उपयोग केवल अनुभवों पर निर्भर होता है तो 'अमीमांस्य' या एम्पीरिकल (Empirical) इतें हैं । विषमज्वर के लिये क्विनिन (Quinine), कालाजार निद्वारोग इत्यादि के लिये अंजन तथा उसके योग Antimony and its preparations), राजयक्ष्मा के लिये इत्यादि कई शर्तिया दवाइयाँ इसी अमीमांस्यवर्ग की । इस अमीमांस्यकार्य को आयुर्वेद में प्रभाव कहते हैं और पाश्चात्य कल्पना के अनुसार (Empirical action) हो सकते हैं, यद्यपि प्रभाव का पूरा पूरा अर्थ इससे निदर्शित नहीं होता ।

श्वेत भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां सूत्रतभाषाटीकायां द्रव्यगुणरसवीर्यविपाकविज्ञानीयो नाम चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४०॥

एकचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथातो द्रव्यविशेषविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से द्रव्यविशेषविज्ञानीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—द्रव्यविशेषविज्ञानीय—द्रव्यों के विशेष यानि पार्थिववादि भेद उनके संबंध में विस्तृत रूप से विवरण करने वाला अध्याय ।

तत्र पृथिव्यसेजोवात्वाकाशानां समुदायाद्द्रव्याभिनिर्युक्तिः, उत्कर्षस्त्वभिव्यञ्जको भवति—इदं पार्थिवमिदमाप्यमिदं तैजसमिदं वायव्यमिदमाकाशीयमिति ॥२॥

(द्रव्योत्पत्ति—) पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँचों तत्त्वों के अग्रथक संयोग से सब पदार्थों की उत्पत्ति हुआ करती है, परंतु (किसी तत्त्व की) अधिकता द्रव्य का विशेषक होती है; यह पार्थिव है, यह आप्य है, यह तैजस है, यह वायव्य है और यह आकाशीय है ॥२॥

वक्तव्य—अभिनिर्युक्ति—उत्पत्ति । यद्यपि पाँचों तत्त्वों से प्रत्येक द्रव्य उत्पन्न होता है तथापि प्रत्येक तत्त्व का कार्य उत्पत्ति के संबंध में विशेष होता है । इस विषय में वाग्भट लिखते हैं कि द्रव्य का आधार पृथिवी है, जल योनि है और अग्नि, वायु तथा आकाश ये तीन तत्त्व द्रव्य की विशेषता बनाने वाले होते हैं—इह हि द्रव्यं पंचमहाभूतात्मकम् । तस्याधिष्ठानं पृथिवी, योनिरदक, खानिलानलसमवायाविर्युक्तिविशेषौ । (अष्टांगसंग्रह) । अभिव्यञ्जकः—परस्पर असादृश्य करने वाला । यद्यपि रचना की दृष्टि से (Qualitatively) सब पदार्थ एक यानि पंचतत्त्वात्मक होते हैं तथापि पदार्थों में उपस्थित इन तत्त्वों के प्रमाण में (Quantitatively) भेद होने के कारण पदार्थों में भी भेद होता है । यथा जिसमें पृथिवीतत्त्व का प्रमाण अधिक होता है वह पार्थिव कहलाता है, जिसमें जल का प्रमाण अधिक होता है वह आप्य कहलाता है इत्यादि—व्यपदेशस्तु भूयसा । इस सोत्कर्षोपकर्षे युक्त पंचतत्त्वात्मक संगठन का निर्देश कभी कभी 'द्रव्य' शब्द से किया जाता है । ४० वें अध्याय के पहले सूत्र के वक्तव्य में 'द्रव्य' देखो ।

तत्र स्थूलसारसान्द्रमन्दस्थिरगुरुकठिनं गन्धवहलमीषत्कषायं प्रायशो मधुरमिति पार्थिवं; तत् स्थैर्यबलगौरवसंघातोपचयकरं विशेषतश्चाद्योगतिस्वभावमिति ॥३॥

(पार्थिव द्रव्य—) इनमें जो स्थूल (मोटा), सार (मजबूत), सान्द्र (ठोस), मन्द, स्थिर, गुरु (भारी), कठिन होता है, जिसमें गंध बहुत होती है, जो किंचित् कसैला परंतु प्रायः अधिक मीठा होता है वह पार्थिव द्रव्य है । वह पार्थिव द्रव्य (शरीर की) स्थिरता, शक्ति, गुरुता, कठिन्य और वृद्धि करने वाला होता है, विशेष करके उसका स्वभाव नीचे की ओर गमन करने का है ॥३॥

शीतस्तिमितस्निग्धमन्दगुरुसरसान्द्रमृदुपिच्छिलं रसबहुलमीषत्कषायाः ललवणं मधुररसप्रायमाप्यं; तत् स्नेहनह्लादनक्लेदनबन्धनघ्नियन्दनकरमिति ॥४॥

(आप्य द्रव्य—) शीतल, स्तिमित (गीला या जड़), चिकना, मन्द, भारी, सर (फैलने वाला), सान्द्र (गाढ़ा), मृदु, पिच्छिल (लसलसा), अधिक रस युक्त, किंचित् कषाय अम्ल और लवण रस युक्त और अधिक मधुर रस युक्त द्रव्य आप्य होता है । वह आप्य पदार्थ शरीर में स्नेहन (चिकनाई), प्रह्लादन (वृत्ति), आर्द्रता, बंधन और विज्ञापण करता है ॥४॥

उष्णतीक्ष्णसूक्ष्मरुक्षरलघुविशदं रूपगुणवहलमीषदम्ललवणं कटुककरसप्रायं विशेषतश्चोर्ध्वगतिस्वभावमिति तैजसं; तद् स्नेहनपचनदारणतापनप्रकाशनप्रभावरणकरमिति ॥५॥

(तैजस द्रव्य—) जो पदार्थ गरम, (मिरच या सरसों की भाँति) तीक्ष्ण, सूक्ष्म, रुक्ष, खरस्पर्शी, हलका, विशद (स्वच्छ), रूप गुण की अधिकता युक्त, किंचित् अम्ल और लवण रस युक्त, कटुक रस भूयिष्ठ और विशेष करके ऊर्ध्वगमन

ने के कारण दोनों ही ऊपर की ओर गमन करते लिये वमन द्रव्य ऊर्ध्वगामीतत्त्व (अग्निवायु) गुण- होता है ॥१०॥

मयगुणभूयिष्ठमुभयतोभागम्; आकाशगुण- संशमनं; सांग्राहिकमनिलगुणभूयिष्ठम्, प्रस्य शोषणात्मकत्वात्; दीपनमग्निगुण- (तत्समानत्वात्); लेखनमनिलानलगुण- ३; वृंहणं पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठम्; एवमौषध- एत्यनुमानात्साधयेत् ॥११॥

स पदार्थ में दोनों प्रकार के (अघोगामी औरामी) गुण हों वह दोनों तरफ गमन (वमन और उका कार्य) करता है । आकाश के गुणों की अधि- होने वाला द्रव्य संशमन होता है । वायु के गुणों अधिकता होने वाला द्रव्य संग्राहक होता है, क्योंकि वायु करने वाला है । अग्नि के समान कार्य करने वाले होने रण दीपनद्रव्य अग्नितात्त्व की अधिकता वाले होते हैं । द्रव्य अग्नि और वायु इनकी अधिकता वाले होते हैं । द्रव्य पृथिवी और जल इनकी अधिकता वाले होते इस प्रकार औषधियों के कार्यों को अनुमान से सिद्ध चाहिये ॥११॥

वक्तव्य—उभयगुणभूयिष्ठ—पृथिवी, अग्नि, जल और इनके गुणों की अधिकता युक्त । संशमन—दोनों का उ शमन करने वाला—न शोषयति यदोषान् समान् नोदी- पि । समीकरोति कुड्रांश्च तत् संशमनमुच्यते ॥ (शाङ्गधर) । शी—द्रवांश का शोषण करके मल का संग्रहण करने वाला ।—आग्नेयगुणभूयिष्ठात् तोयांशं परिशोष्य यत् । सग्रहणाति मलं ग्राही शुष्ण्वाद्यो यथा ॥ (भावप्रकाश) । भावप्रकाश की । शाङ्गधर की व्याख्या में संग्राहक द्रव्य आग्नेयगुणभूयिष्ठ न किये हैं; परन्तु सुशुभ्र में वातगुणभूयिष्ठ वर्णन किये इस विरोध का परिहार आढमल्ल शाङ्गधरदीपिका में । प्रकार से करते हैं—ग्राहकद्रव्य उष्णग्राहक और शीत- हक दो प्रकार के होते हैं । उष्णग्राहकद्रव्य आग्नेयगुण- यिष्ठ और शीतग्राहकद्रव्य वातगुणभूयिष्ठ होते हैं—पकाम- हकत्वेन द्विविधं हि संग्राहकत्वं तत्र यत् ग्रहणायामां संपाच्य वहि जा तन्मथ द्रव च शोषयित्वा रतम्भन करोति तदुष्णग्राहक श्रेयम् । इत्यमृतिसारद्रौ पकमलादिकं संस्तम्य संग्रह करोति तच्छीतग्राहकं भेनदनिलगुणभूयिष्ठमित्यदोषः ॥ दीपन—जठराग्निप्रदीपक । अनु- धातुमलो का शोषण करके शरीर को कृश करने ।—धातु मलान् वा देहस्य विशोष्योद्धेयवेद्य यत् । लेखन तत् । (शाङ्गधर) । वृंहण—शरीर की पुष्टि करने वाला—वृहत्त्व शरीरस्य ननयेत्तच्च वृंहणम् । (चरक) । वृंहण और विरेचन दोनों के संगठन का विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि दोनों में भी पृथिवी और जल तत्त्व की अधिकता है । परन्तु दोनों की क्रिया में अत्यंत फर्क होता है । इसलिये यह समझना चाहिये कि यद्यपि दोनों में अन्य तत्त्वों की अपेक्षा पृथिवी और जल तत्त्वों की अधिकता है तथापि विरेचन द्रव्य में जलतत्त्व अधिकतर और वृंहणद्रव्य में पृथिवीतत्त्व अधिकतर होता है ।

भवन्ति चात्र—

भूतेजोवारिजैर्द्रव्यैः शमं याति समीरणः ।
भूम्यम्बुवायुजैः पित्तं क्षिप्रमाप्नोति निर्वृतिम् ॥१२॥
खतेजोनिलजैः श्लेष्मा शममेति शरीरिणाम् ।
वियत्पवनजाताभ्यां वृद्धिमाप्नोति मारुतः ॥१३॥
आग्नेयमेव यद्द्रव्यं तेन पित्तमुदीर्यते ।
वसुधाजलजाताभ्यां बलासः परिवर्धते ॥१४॥
एवमेतद्गुणाधिक्यं द्रव्ये द्रव्ये विनिश्चितम् ।
द्विशो वा बहुशो वाऽपि ज्ञात्वा दोषेषु चाचरेत् ॥१५॥
पृथिवी, अग्नि और जलभूयिष्ठ द्रव्यों से वायु शांत होती है; पृथ्वी, जल और वायु भूयिष्ठ द्रव्यों से पित्त शीघ्र शांत होता है ॥१२॥ और मनुष्यों का कफ आकाश, अग्नि और वायुभूयिष्ठ द्रव्यों से शांत होता है; आकाश और वायुगुण भूयिष्ठ द्रव्यों से वायु वृद्धि को प्राप्त होता है ॥१३॥ आग्नेयगुण भूयिष्ठ द्रव्य से ही केवल पित्त वृद्ध होता है और पृथिवी जलभूयिष्ठ द्रव्यों से कफ की वृद्धि होती है ॥१४॥ इस प्रकार द्रव्य द्रव्य में जिस जिस तत्त्व के गुणों की अधिकता निश्चित है उसे जानकर (एक दोष), द्विदोष या बहुत दोषों (की चिकित्सा) में उनका उपयोग करे ॥१५॥

तत्र य इमे गुणा वीर्यसंज्ञकाः शीतोष्णस्निग्ध- रूक्षमृदुतीक्ष्णपिच्छिलविशदास्तेषां तीक्ष्णोष्णा- वाग्नेयौ, शीतपिच्छिलवम्बुगुणभूयिष्ठौ, पृथिव्यम्बु- गुणभूयिष्ठः श्लेहः, तोयाकाशगुणभूयिष्ठं मृदुत्वं, वायुगुणभूयिष्ठं रौक्ष्यं, क्षितिसमीरणगुणभूयिष्ठं वैशद्यम् ॥१६॥

शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मृदु, तीक्ष्ण, पिच्छिल और विशद ये जो वीर्यसंज्ञक (आठ) गुण होते हैं उनमें तीक्ष्ण और उष्ण आग्नेय हैं; शीत और पिच्छिल जलगुणभूयिष्ठ हैं; श्लेह पृथिवी और जल गुण की अधिकता से होता है; मृदुता जल और आकाश की अधिकता से होता है; रौक्ष्य वायु गुण की अधिकता से होता है और वियदता पृथिवी और वायु गुण की अधिकता से होती है ॥१६॥

गुरुलघुविपाकावुक्तगुरौ; तत्र, उष्णस्निग्धौ वातघ्नौ, शीतमृदुपिच्छिलाः पित्तघ्नाः, तीक्ष्णरूक्ष- विशदाः श्लेष्मघ्नाः; गुरुपाको वातपित्तघ्नः, लघु- पाकः श्लेष्मघ्नः ॥१७॥

गुरु और लघु विपाक के गुण पहले कह चुके हैं । इनमें उष्ण और स्निग्ध वातनाशक हैं । शीत, मृदु और पिच्छिल पित्तनाशक हैं । तीक्ष्ण, रूक्ष और विशद श्लेष्मनाशक हैं । गुरुविपाक वातपित्तनाशक है । और लघुपाक श्लेष्म- नाशक है ॥१७॥

१ वृद्धिमन्येति. २ दोषेऽवचारयेत्. ३ गुरुलघुमृदुतीक्ष्णा. ४ गुरुशीतौ पृथिव्यम्बुगुणभूयिष्ठौ. ५ अम्बुगुणभूयिष्ठः. ६ अश्याकाश- समीरणगुणभूयिष्ठ लघुत्वन्. ७ गुरुष्णस्निग्धा वातघ्नाः, मृदुशीतौ पित्तघ्नौ, लघु- श्लेष्मघ्नाः

न ६३ भेदों का वर्गीन उत्तरतन्त्र के ८३वें अध्याय में
या गया है) ॥३॥

तत्र, भूम्यग्निगुणवाहुल्यान्मधुरः, भूम्यग्निगुण-
वाहुल्यादस्लः, तोयाग्निगुणवाहुल्याल्लवणः, वांच्वग्नि-
गुणवाहुल्यात्कटुकः, वाय्वाकाशगुणवाहुल्यात्तिकः,
धिव्यनिलगुणवाहुल्यात्कषाय इति ॥४॥

इनमें से पृथिवी और जल के गुणों की अधिकता से मधुर
होता है; पृथिवी और अग्नि के गुणों की अधिकता से
स्ल रस होता है; जल और अग्नि के गुणों की अधिकता से
लवण रस बनता है; वायु और अग्नि के गुणों की अधिकता
कटु रस होता है; वायु और आकाश के गुणों की अधिकता
त्तिक (कटुवा) रस होता है; और पृथिवी तथा वायु के
गुणों की अधिकता से कषाय रस होता है ॥४॥

वक्तव्य—महाभूतों के अनुसार छः रसों की घटना
पान में रखने के लिये अष्टांगहृदय का निम्न श्लोक बहुत
उपयोगी है—क्षामोऽग्निघ्नाऽतुजःनवाद्यन्वनिःश्वोऽनिः ।
श्वोत्वयैः क्नाद्भूर्तैर्मधुरादिरसोद्भवः ॥

तत्र, मधुरास्ललवणा वातघ्नाः, मधुरतिक-
कषायाः पित्तघ्नाः, कटुत्तिककषायाः श्लेष्मघ्नाः ॥५॥

इनमें मधुर, अस्ल और लवण रस वातनाशक होते हैं;
त्तिक और कषाय रस पित्तनाशक होते हैं; और कटु,
त्तिक तथा कषाय रस कफनाशक होते हैं ॥५॥

तत्र, वायु(यो)रात्मैवात्मा, पित्तमाग्नेयं, श्लेष्मा
सौम्य इति । त एते रसाः स्वयोनिवर्धना अन्य-
योनिप्रशमनाश्च ॥६॥

इनमें से वायु की आत्मा (योनि) वायु ही होती है;
पित्त अग्न्यात्मक होता है और कफ सौम्यात्मक है । वे (मधु-
रादि) रस स्वयोनि (जो दीप होता है उस) का वर्धन
करते हैं और अन्य योनि (जो दीप है उस) का प्रशमन
करते हैं ॥६॥

वक्तव्य—स्वयोनि—समान योनि, यथा कषाय रस
। समान योनि वायु, कटुक रस का समान योनि पित्त, मधुर
का समान योनि श्लेष्मा इत्यादि । वर्धनाः—इनकी वृद्धि
करने वाले । अन्ययोनिप्रशमनाः—विपरीत योनि, यथा कटुक
त का अन्य योनि श्लेष्मा उसका प्रशमन करने वाला इत्यादि ।

कैचिदाहुरशीपोमीयत्वाज्जगतो रसा द्विविधाः—
सौम्या आग्नेयाश्च । तत्र मधुरतिककषायाः सौम्याः;
कटुल्लवणा आग्नेयाः । तत्र मधुरास्ललवणाः
सौम्या गुरवश्च, कटुत्तिककषाया रूक्षा लघवश्च;
सौम्याः शीता, आग्नेयाश्चोष्णाः ॥७॥

कई आचार्य कहते हैं कि जगत् अग्निरूप और सौम्यरूप होने
के कारण रस भी दो ही प्रकार के हैं—१ सौम्य, और २ आग्नेय ।
उनमें मधुर, तिक्त और कषाय रस सौम्य होते हैं; और
कटु, अस्ल और लवण रस आग्नेय होते हैं । मधुर, अस्ल और
लवण रस क्षिण्व तथा भारी होते हैं; और कटु, तिक्त तथा

कषाय रस रुद्ध और हृल्लवः होते हैं । सौम्य रस, छेद हैं और
आग्नेय रस उष्ण होते हैं ॥७॥

तत्र शैत्यरौक्ष्यलाघववैशद्यवैष्टभ्यगुणलक्षणो
वायुः तस्य समानयोनिः कषायो रसः; सोऽस्य
शैत्याच्छैत्यं वर्धयति, रौक्ष्याद्द्रौक्ष्यं, लाघवाद्लाघवं,
वैशद्याद्द्वैशद्यं, वैष्टभ्याद्द्वैष्टभ्यमिति ॥८॥

उनमें शीतता, रुक्षता, लघुता, विषदता और विष्टभ्यता
इन गुणों से युक्त लक्षणों वाली वायु है, और उसके समान
योनि कषाय रस है । वह अपनी शीतलता से (वायु के)
शैत्य को बढ़ाता है, रुक्षता से रौक्ष्य को बढ़ाता है, लाघव से
लघुता को बढ़ाता है, विषदता से वैशद्य को बढ़ाता है और
विष्टभ्यता से विष्टभ्यत्व (कवजीयत्व) को बढ़ाता है ॥८॥

औप्यतैर्द्वयरौक्ष्यलाघववैशद्यगुणलक्षणं पित्तं,
तस्य समानयोनिः कटुको रसः; सोऽस्यौष्ण्याद्दौष्ण्यं
वर्धयति, तैर्द्वयत्तैर्द्वयः रौक्ष्याद्द्रौक्ष्यं, लाघवा-
द्लाघवं, वैशद्याद्द्वैशद्यमिति ॥९॥

उष्णता, तीक्ष्णता, रुक्षता, लघुता और विषदता इन
गुणों से युक्त लक्षणों वाला पित्त है । उसके समान योनि कटु
रस है । वह कटुक रस अपनी उष्णता से पित्त की उष्णता
को बढ़ाता है, तीक्ष्णता से तीक्ष्णता को, रुक्षता से रुक्षता
को, लघुता से लघुता को और विषदता से विषदता को
बढ़ाता है ॥९॥

माधुर्यत्सेहगौरवशैत्यपैच्छिल्यगुणलक्षणः श्ले-
ष्मा, तस्य समानयोनिर्मधुरो रसः; सोऽस्य माधु-
र्यान्माधुर्यं वर्धयति, स्नेहात् स्नेहं, गौरवाद्गौरवं,
शैत्याच्छैत्यं, पैच्छिल्यात्पैच्छिल्यमिति ॥१०॥

मधुरता, जेह, गुल्ता, शैत्य और पिच्छिलता इन गुणों से
युक्त लक्षणों वाला कफ है । उसके समान योनि मधुर रस
होता है । वह मधुर रस अपनी मधुरता से कफ की मधुरता
को बढ़ाता है, क्षिण्वता से क्षिण्वता को, भारीपन से भारीपन
को, शैत्य से शैत्य को, और पिच्छिलता से पिच्छिलता को
बढ़ाता है ॥१०॥

तस्य पुनरन्ययोनिः कटुको रसः; स श्लेष्मणः
प्रत्यनीकत्वात् कटुकत्वान्माधुर्यमभिभवति, रौक्ष्यात्
स्नेहं, लाघवाद्गौरवम्, औष्ण्याच्छैत्यं, वैशद्यात्पैच्छि-
ल्यमिति । तदेतद्विदर्शनमात्रमुक्तम् ॥११॥

फिर कफ की अन्य योनि कटुक रस होता है । यह कफ के
विपरीत होने से कटुक स्वाद से कफ की मधुरता को घटा
करता है । रुक्षता से स्नेह का नाश करता है, लाघव से
भारीपन का नाश करता है, उष्णता से शीतलता का नाश
करता है और विषदता से पिच्छिलता का नाश करता है । यह
केवल विदर्शन करने के लिए दर्शान किया है ॥११॥

वक्तव्य—यहाँ रस के जो गुणवादि गुण दर्शन किये
हैं वे समस्त युक्त शब्द के ही समानने चाहिये—उष्ण शून्याभ्या
वीक्षा तस्माद्रसगुणान् मिवक् क्षियाद्द्रव्यगुणान् । [पाठक] कटु
शून्याभ्यां नित्यम् है कि सप्तसप्तयोनि इति दो हीप धातुओं का

१ तोयाग्निगुणवाहुल्यादस्लः, भूम्यग्निगुणवाहुल्याल्लवणः

वृद्धि होती है और विपरीतयोनि द्रव्य से क्षति होती है—
वृद्धि समाने लक्षण विपरीतैर्विपर्यय । (वाग्भट) ।

रसलक्षणमत ऊर्ध्वं चक्ष्यामः—तत्र, यः परि-
तोषमुत्पादयति प्रह्लादयति तर्पयति जीवयति
मुखोपलेपं जनयति श्लेष्माणं चामिवर्धयति स
मधुरः ॥१२॥

(मधुररसलक्षण—) इनके आगे अब रसों के लक्षण
कहते हैं—द्रव्यमें जो सतोष उत्पन्न करता है, आइलाद देता है,
वृत्ति करता है, प्राणों का धारण करना है, मुर में मालिन्य
उत्पन्न करता है और कफ को घटाता है वह मधुर रस है ॥१२॥

यो दन्तहर्षमुत्पादयति मुखास्त्रार्थं जनयति
श्रद्धां चोत्पादयति सोऽम्लः ॥१३॥

(अम्लरसलक्षण—) जो दाँतों में हर्ष उत्पन्न करता
है, मुख में लालास्राव उत्पन्न करता है और (सेवन करने की)
इच्छा उत्पन्न करता है वह अम्ल रस है ॥१३॥

यत्कव्य—श्रद्धा—अन्य रस युक्त पदार्थों की अपेक्षा
अम्ल रस युक्त पदार्थ ऐसा होता है कि जिसको देखते ही
खाने की श्रद्धा हो जाती है ।

यो भक्तरुचिमुत्पादयति कफप्रसेकं जनयति
मार्दवं चापादयति स लघुः ॥१४॥

(लघुरस—) जो भाजन में रुचि उत्पन्न करता है,
कफ का स्राव करता है और कोमलता उत्पन्न करता है वह
लघु रस है ॥१४॥

यो जिह्वाप्र घाधते उद्वेगं जनयति शिरो गृहीते
नासिका च स्रावयति स कटुकः ॥१५॥

(कटुकरस—) जो जिह्वा के अग्रभाग पर कनकनगद
उत्पन्न करता है, उद्वेग उत्पन्न करता है, (उद्वेग में) शिर में
भारीपन करता है और नासिका से स्राव उत्पन्न करता है
वह कटुक रस है ॥१५॥

यो गले चोपमुत्पादयति मुखवैशद्यं जनयति
भक्तरुचिं चापादयति हर्षं च स तिक्तः ॥१६॥

(तिक्तरस—) जो गले में स्त्रिबाव (चूपणवत् वेदना),
मुख में सफाई, भोजन में रुचि और आनन्द उत्पन्न करता है
वह तिक्त (कड़वा) रस है ॥१६॥

यो चक्रं परिशोषयति जिह्वां स्तम्भयति कण्ठं
यद्भाति हृदयं कर्पति पीडयति च स कषायः ॥१७॥

(कषायरस—) जो मुख का शोषण करता है, जिह्वा
को स्तम्भन (चलन चलन में कठिनाई) करता है, कण्ठ का
सर्कोष करता है और हृदय प्रदेश में आकर्षण और पीडा
करता है वह कषाय रस है ॥१७॥

रसगुणान्त ऊर्ध्वं चक्ष्याम—तत्र, मधुरो रसो
रसरक्तमांसमेदोद्विधमज्जीज शुक्रसन्त्यवधेनश्चक्षुष्यः
केदयो घण्यो घलहृत्सन्धानः शोणितरसप्रसादनो
पालवृक्षक्षतक्षीणहितः पदपदपिपीलिकानामिष्टम-
रुष्णामूर्च्छादाप्रशमनः पडिन्द्रियप्रसादनः धमि-

कफकरश्चेति; स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमां
व्यमानः कासम्बास्तालसकयमधुवदनमाधुर्वस्वरो
घातकृमिगलगण्डानापादयति तथाऽर्षुदक्षीण
वस्तिगुदोपलेपाभिम्यन्दप्रभृतीजनयति ॥१८॥

(मधुररसगुण—) इसके आगे रसों के गुणों
वर्णन करते हैं—इनमें मधुररस रस, रक्त, मांस, मेद, अरि
मन्ना, ओत्र, शुक्र (पुररों में), वृष (खियों में) इन
बढ़ाने वाला, नेत्र केश और शरीर वषों के लिये हिनक
बल देने वाला, टूटी हुई हड्डी को जोड़ने वाला, रक्त अं
रस को प्रमथ करने वाला, बाल घृद्ध और जतक्षीण रोगि
के लिये हितकारक, शृंग और चींटियों के लिये अत्यन्त प्रि
कृष्णा मूत्रों दाह को घात करने वाला, पच शान्तिद्विप अं
मन को प्रमथ करने वाला और कृमि तथा कफ को उत्प
करने वाला है । वह मधुर रस इतने गुण करने वाला होने
भी अकेला ही अत्यन्त (अधिक मात्रा में या अधिक का
तक लगातार) सेवन करने में खारसी, श्याम, अलम
(अजीर्ण का एक प्रकार), यमन, मुख का मीठा स्वा
स्वर भग, कृमि, गणगण्ड तथा अर्बुद, क्षीपद (फील पाव),
बलि और गुद विभाग में भारीपन और अभिष्य
(नेत्ररोग) इत्यादि रोग उत्पन्न करता है ॥१८॥

अम्लो जरणुः पाचनो दीपनः
लोमनः कोष्ठचिदाही चहिःशीतः क्लेदनः प्रायशं
हृद्यश्चेति; स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानं
दन्तहर्षनयनसंमीलनरोमसेवेजनकफविलयनशरीर
शीथिल्यान्यापादयति तथा क्षताभिहतदग्धदृष्टमम
शूनरुग्णप्रत्युतावमृत्रितविसर्पितच्छिप्रमिभ्रविद्धो-
त्पिष्टादीनि पाचयत्याग्नेयस्वभावात् परिद्रहति कण्ठ
सुरो हृदयं चेति ॥१९॥

(अम्लरसगुण—) अम्लरस आहार का पचाव कर
वाला, (शोथ आम दोषों का) पाचक, अग्निदीपक, वायु क
निग्रहण करने वाला, अनुलोमक (Carminative) को
में दाह करने वाला, बाहर मे टडा, शरीर मे क्लेद सखि
करने वाला और प्रायः अम्ल के लिये विषकर होता है । यह
अम्लरस इतने गुण वाला होने पर भी अकेला ही अधि
सेवन करने से दन्तहर्ष, नेत्रों का सर्कोष, शरीर पर रोमाघ
कफ का विलयन और शरीर का ढीलापन उत्पन्न करता है
तथा क्षत (शस्त्रादि से घाव), अभिहत (हडे के प्रहार से
घाव), दग्ध (जला हुआ), दृष्ट (सर्पादि से टना हुआ)
भन्न (टूटा हुआ), रुष्य (टेढ़ा हुआ), प्रत्युत (अर्पन
स्थान से भ्रष्ट), अवमृत्रिन (मूत्रविष जन्तुओं के मूत्र से
दूषित), विसर्पित (स्पर्श विष जन्तुओं के स्पर्श से दूषित),
लिख (कटा हुआ), भिन्न (भेदन किया हुआ), विद्ध
(मृदम गत्यादि से वेधित), उर्लघट (घृषित, सधियुक्त
का एक प्रकार), इत्यादि स्थानों को पकाता है तथा
अग्नेय स्वभाव के कारण कण्ठ, छाती और हृदय में दाह
करता है ॥१९॥

(अम्लरसगुण—) अम्लरस आहार का पचाव कर
वाला, (शोथ आम दोषों का) पाचक, अग्निदीपक, वायु क
निग्रहण करने वाला, अनुलोमक (Carminative) को
में दाह करने वाला, बाहर मे टडा, शरीर मे क्लेद सखि
करने वाला और प्रायः अम्ल के लिये विषकर होता है । यह
अम्लरस इतने गुण वाला होने पर भी अकेला ही अधि
सेवन करने से दन्तहर्ष, नेत्रों का सर्कोष, शरीर पर रोमाघ
कफ का विलयन और शरीर का ढीलापन उत्पन्न करता है
तथा क्षत (शस्त्रादि से घाव), अभिहत (हडे के प्रहार से
घाव), दग्ध (जला हुआ), दृष्ट (सर्पादि से टना हुआ)
भन्न (टूटा हुआ), रुष्य (टेढ़ा हुआ), प्रत्युत (अर्पन
स्थान से भ्रष्ट), अवमृत्रिन (मूत्रविष जन्तुओं के मूत्र से
दूषित), विसर्पित (स्पर्श विष जन्तुओं के स्पर्श से दूषित),
लिख (कटा हुआ), भिन्न (भेदन किया हुआ), विद्ध
(मृदम गत्यादि से वेधित), उर्लघट (घृषित, सधियुक्त
का एक प्रकार), इत्यादि स्थानों को पकाता है तथा
अग्नेय स्वभाव के कारण कण्ठ, छाती और हृदय में दाह
करता है ॥१९॥

लवणः संशोधनः पाचनो विश्लेषणः क्लेदनः
 तैथिल्यकृदुष्णः सर्वरसप्रत्यनीको मार्गविशोधनः
 सर्वशरीरावयवमार्दवकरश्चेति; स एवंगुणोऽप्येक
 स्वार्थमासेव्यमानो गात्रकण्डूकोटशोफवैचरण्य-
 पुस्त्योपघातेन्द्रियोपतापमुखाक्षिपाकरक्तपित्तवात-
 शोणिताम्लिकाप्रभृतीनापादयति ॥२०॥

(लवणरसगुण—) लवणरस (वमन विरेचनादि द्वारा
 दोषों का) संशोधक, पाचक, (संधियों का) विश्लेषक,
 (व्रण में) क्लेद उत्पन्न करने वाला, शरीर में हीलापन उत्पन्न
 करने वाला, गरम, सर्व रसों का विरोधी (लवण से सर्व रसों
 का स्वाद नष्ट हो जाता है इसलिये विरोधी), (मल
 मूत्रादि) मार्गों का विनाशक और सर्व शरीर के अवयवों
 को कोमल करने वाला है । यह लवण रस इतने गुण युक्त
 होने पर भी अकेला ही अत्यंत सेवन करने से शरीर में खाज,
 कोठ (चकड़े), शोथ, वर्षा का नाश, पुरुषत्व का नाश,
 (नेत्रादि) इन्द्रियों की शक्ति का नाश, मुखपाक, अग्निपाक,
 रक्तपित्त, वातरक्त, अम्लिका (Heartburn) इत्यादि रोग
 उत्पन्न करता है ॥२०॥

कटुको दीपनः पाचनो रोचनः शोधनः
 ल्यालस्यकफकृमिविपकुष्ठकण्डूपशमनः सन्धि-
 ध्विच्छेदनोऽवसादनः स्तन्यशुक्रमेदसामुपहन्ता
 ते; स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो
 मद्गलताल्वोष्ठशोपदाहसंतापवल्बिघातकम्प-
 दमेदहृत् करचरणपार्श्वपृष्ठप्रभृतिषु च वात-
 शानापादयति ॥२१॥

(कटुकरसगुण—) कटुक रस अग्निदीपक, पाचन, मुख
 क्षि उत्पन्न करने वाला, दोषों का शोधन करने वाला,
 लता, आलस्य, कफ, कृमि, विष, कुष्ठ और कण्डू इनको
 त करने वाला, संधिवंधों को डीले करने वाला, अनुत्साह
 श्म करने वाला, (स्त्रियों में) दूध, (पुरुषों में) शुक्र
 र मेद का नाश करने वाला है । यह कटुक रस इतने गुण
 ला होने पर भी अकेला ही अत्यंत सेवन करने से भ्रम
 चक्कर), मद्, गला तालु और होंठ इनमें खुस्की, दाह,
 ताप, थल का नाश, कम्प, तोड़ (पीड़ा) और भेद
 भेदन की पीड़ा) करने वाला और हाथ, पैर, पार्श्व पीठ
 यादि अवयवों में वातशूल उत्पन्न करता है ॥२१॥

तिक्तश्छेदनो रोचनो दीपनः शोधनः कण्डूकोट-
 शोमूर्च्छाज्वरप्रशमनः स्तन्यशोधनो विण्मूत्रक्लेद-
 मदीषसाप्योपशोपणश्चेति; स एवंगुणोऽप्येक
 एवात्यर्थमुपसेव्यमानो गात्रमन्यास्तम्भाक्षेपका-
 रितशिरःशूलभ्रमतोदमेदच्छेदास्यचैरस्यान्यापाद-
 यति ॥२२॥

(तिक्तरसगुण—) तिक्त रस (कड़वा रस) कफ का
 शोधन करने वाला, (स्वयं रुचिकर न होकर भी अन्य भक्ष्य
 वस्तुओं के लिये) रुचि उत्पन्न करने वाला, अग्निदीपक,

(दोषों का) शोधक, कण्डू, कोठ, तृष्णा, मूर्च्छा और ज्वर
 का शमन करने वाला, स्तन्य दोषों को दूर करने वाला, मल,
 मूत्र, आर्द्रता, मेद, चरबी (शुद्ध मांस का छेद) और पूय
 इनका शोषण करने वाला है । यह तिक्तरस इतने गुण वाला
 होने पर भी अकेला अत्यंत सेवन करने से शरीर के अवयवों
 और शीवा में जकड़न, आक्षेप (पेंडन), अर्दित (लकवा
 Facial paralysis), गिर में दर्द, भ्रम, तोड़, भेद, छेद
 (भिन्न भिन्न प्रकार की वेदनाएँ) और मुख में विरसता
 उत्पन्न करता है ॥२२॥

कषायः संग्राहको रोपणः स्तम्भनः शोधनो
 लेखनः शोषणः पीडनः क्लेदोपशोपणश्चेति; स
 एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो हृत्पीडास्य-
 शोपोदराध्मानवाक्यग्रहमन्यास्तम्भगात्रस्फुरणचुर्म-
 चुमायनाकुञ्चनाक्षेपणप्रभृतीञ्जनयति ॥२३॥

(कषायरसगुण—) कषायरस संग्राही, व्रण का रोपक,
 स्तम्भन (रक्त या अन्य साव को रोकने वाला), दोष शोधन,
 लेखन (व्रणगत द्रुष्ट मांस का नाश करने वाला), शोषक,
 पीड़ा करने वाला और क्लेद का शोषण करने वाला है । यह
 कषाय रस इतने गुण वाला होने पर भी अकेला ही अत्यन्त
 सेवन करने से हृदय में पीड़ा, मुख में खुस्की, उदर, आध्मान,
 वाक्यग्रह (बोलने में कठिनाई), मन्यास्तम्भ (Stiff neck),
 गात्रस्फुरण, चुमचुमायन (Tingling sensation), गात्र
 संकोच और आक्षेप (Convulsions) इत्यादि रोग उत्पन्न
 करता है ॥२३॥

वक्तव्य—पाश्चात्य वैद्यक में रसों के अनुसार औषधियों
 के गुणधर्म वर्णन करने की पद्धति नहीं है । तथापि तिक्त
 (Bitters) और कषाय (Astringents) रस युक्त जो
 वनौषधियाँ हैं उनका वर्णन आयुर्वेद के अनुसार तिक्तवर्ग
 (Vegetable bitters) और कषायवर्ग (Vegetable Astr-
 ingents) ऐसा ही किया गया है और उनके गुण धर्म भी
 उपयुक्त गुण धर्मों के साथ बहुत कुछ मिलते हैं ।

अतः सर्वेषामेव द्रव्याण्युपदेक्ष्यामः । तद्यथा—
 काकोल्यादिः क्षीरघृतवसामज्जशालिपट्टिकयव-
 गोधूममापशृङ्गाटकसेरुकत्रपुसैर्वास्करार्कसकालाबु-
 कालिन्दकतर्गिलोड्यपियालपुष्करवीजकाश्मर्य-
 मधूकद्राक्षाखजूरराजादनतालनालिकेरेक्षुविकार-
 चलातिवलात्मगुताविदारीपयस्यागोधुरकक्षीरमोरट्ट-
 मधूलिकाहूपमाण्डप्रभृतीनि समासेन मधुरो
 वर्गः ॥२४॥

(मधुरवर्ग—) अब सब रसों के द्रव्यों का उपदेक्ष्य करते
 हैं । वे ऐसे हैं—काकोल्यादिराण, दूध, घृत, चरबी, मज्जा,
 शालि (चावल), पट्टिक (एक प्रकार के चावल), यव,
 गेहूँ, उट्ट, सिंघाटे (*Trapa Bispinosa* नामक वनस्पति
 का फल), कसेर (*Scirpus Kysoor* नामक वनस्पति के
 कन्द), त्रपुस (क्षीरा *Cucumis Sativus*), पर्वार

(ककड़ी Cucumis utihisimus), ककईक (खरबूजा, Cucumis Melo), अलाबु (तुंबी, Lagenaria Vulgaris), कालिन्ध (खरबूज का ही एक प्रकार, म कलिंगा), कतक (निर्मली का बीज), मिठोइव (कालकलक शिगेइव कन्द मधुद्रमात गुणपरिकाकारो वरिष्ठुको गिलेठीति लोके । इच्छा । गिन मधुवरीरलम, उदय जिहामित्यम् । हाराण-चन्द्र), पियाल (चित्रीजी), पुष्करबीज (कमलबीज), कास्परी, मधूक (महुवा), प्राजा, खगैर (Phoenix Sylvestria नामक वृक्ष का फल), राजान (खिरनी), साल (Borassus Flabelliformis नामक वृक्ष का फल), नारिकेर (नारियल Cocos Nucifera नामक वृक्ष का फल), हृद्यविकार (ईस के पदार्थ यथा गुड, चीनी, काकवी इत्यादि), बला, अतिबला, आमगुग्गु (कवचबीज) । विदारी, वयस्या (विदारीभेद), गोधुरक, क्षीरमोद (किल्लमसु, भीष्टुपर्णित्येके । इच्छा । प्रध्याया गो सप्ततया परमप्रथम क्षीरमिहृमूल वा । हाराणचन्द्र), मण्डिका (ककटक वा मूवा), कृष्णांड (पेठा, Beninkasa Centifera), इत्यादि द्रव्य संक्षेप से मधुरवर्ग के होते हैं ॥२३॥

कांडिमा मलकमातुलुङ्गाप्रातककपित्थकरमर्द्वदर-कोलभाचीनामलकतित्तिडीककोशाक्षकभस्वपारा-यतवेप्रफललकुचाम्लवेतसदन्तशटदधितकसुरा-शुकसौवीरकतुपोदकधान्याम्लप्रभृतीनि समासे-नाम्नो वर्गः ॥२४॥

(अम्लवर्ग—) अनार, आंवला, नींबू आघ्रातक (आमहा, Spondias Mangifera), कपित्थ (कवठ Feronia Elephantum), करमंदे (करोंदा), बदर, कोल (बदे और छोटे घेर), प्राचीनामलक (पानी आंवला, Flacourtia Catapbracta), तित्तिडी (इमली, Tamarindus Indicus) कोयाप्रक (आम का भेद), भय्य (कमरल Dillenia Indica), पारावत (तिन्दुक भेद, हाराणचन्द्र) वेप्रफल (वेत का फल), लकुच (Artocarpus Lakoocha), आम्लवेतस (Rumex Vesicarus) दन्तशठ (जंबीर मीठु), दही, छाछ, मध, झुन, सौवीरक, तुषांदक, धान्याम्ल (कांजी) इत्यादि द्रव्य संक्षेप से अम्लवर्ग के होते हैं ॥२४॥

धक्तुव्य—सुरा से लेकर धान्याम्ल तक मध के प्रकार हैं । उनके रक्तज शार्कर में ऐसे दिवें—गरिप्राकृतपानससु तत्रां सुरां जय । कन्दमूलवर्गानि सखहवगानि च ॥ यत्र देवदन्धिपुत्रो तन्मुपुत्रमिधीये ॥ तुनाम्नपित्थेयमामेविदल्लेवैः । पंचेसु निरुपै पंचे सौवीर सपित मवेत् ॥ कुसामपधान्यकडादि मपित काञ्जि विदु ॥

सैन्धवसौधर्षेलेयिहपाकयरोमकसामुद्रवपत्रिम ययशातोयप्रमृतसुवर्षिकामभृतीनि समासेन लयणो वर्गः ॥२५॥

(लवणवर्ग—) सैधा ममक, कालाममक, बिह लवण, पाष्य (उदित लवण), रोमक (सभार लवण), सामुद्रक (समुद्र के पानी से बना हुआ ममक), पत्रिम (ममकीन द्रव्य का पाक करके बनाया हुआ), ववसार, ऊपर प्रमृत

(ज्ञारसृत्तिका से बनाया हुआ), सुवर्षिका (सभीसार), प्रभृति द्रव्य संक्षेप से लवणवर्ग के होते हैं ॥२५॥

पिप्पल्यादिः सुरसादिः शिशुमधुशिशुमूलकल शुनसुमुखनीतेशिवकुष्ठदेवदारुहरेणुकापायसुजपन् चण्डागुगुलुमुस्तलाङ्गलकीशुकनासापीलुप्रभृतीनि सालसारादिश्च प्रायशः कटुको वर्गः ॥२६॥

(कटुकवर्ग—) पिप्पल्यादि गण, सुरसादि गण, सोहजना, छाक सोहजना, मूलक (मूली, Raphanus Sativus) लजुन, सुसुष (तुलसी भेद), धीतयिष (कपूर), कुष्ठ, देवदारु, हरेणुका (समालु का बीज, Piper Aurantiacum), अजगुज फल (थावची, Vernonia Anthelmintica), चण्डा (अजमोदाकप्रसुगधिद्रव्यम्, इच्छा । शंख पुष्पीभेद, हाराणचन्द्र), गुगुलु, मुल (नागरमोषा), छांग-लकी (कलिहारी), शुकनासा (खोनाक), पीलु इत्यादि द्रव्य तथा सालसारादि गण प्राय कटुकवर्ग के होते हैं ॥२६॥

आरग्वधादिगुहृद्यादिमैण्डकपर्णवैत्रकरीरहरि-द्राद्येन्द्रयवयकणस्यादुकण्टकसप्तपर्णवृहतीद्वयश द्विनीप्रयन्तीत्रिचूरकृतवेधनकफोटककारयेहृकयार ककरीरकरीरसुमनःशङ्खपुण्यपामार्गं प्रायमाण्णाऽशोकरोहिणीवैजयन्तीसुवर्षलापुनर्नवाशुधिकाली, ज्योतिष्मतीप्रभृतीनि समासेन तित्तो वर्गः ॥२७॥

(तिक्तवर्ग—) आरग्वधादि गण, गुहृद्यादि गण, मधू-पर्णी (धाड़ी भेद), येत्रकरीर (वेत के अंडुर), हरि और दाहृदिद्रा, इन्द्रयव, वरण, स्वादुकण्टक (विकक Flacourtia Ramontchi), सप्तपर्ण (छातीन), वृहत् द्रव (छोटी धीर बड़ी वृहती), श्विनी, द्रवन्ती, त्रिष (निघोष), हृतवेधन (कोयालकी), कफोटक (Momordica Dioica) कारयेहृक (करेला), धातक (वैगल), करी (Capparis Aphylla), करवीर (कनेर), सुप (जाती, चोमेली), शङ्खपुष्पी, अपामार्ग, प्रायमाण्णा, अशोष रोहिणी (कडुकी), वैजयन्ती (अशिमन्य), सुवर्षल (मूवावने, या माह्नी), पुननेवा, वृषिकाली (मेदासिती) ज्योतिष्मती (मालकांगनी) इत्यादि द्रव्य संक्षेप से तिक्त वर्ग के होते हैं ॥२७॥

न्यमोधादिरेम्बष्ठादिः म्रियह्वयादी रोधादि स्त्रिफला शङ्खकीजम्ब्याद्यथुलतिन्दुकफलानि कतकशाकपाणामेदकयनस्पतिफलानि साल-सारादिश्च प्रायशः कुरयककोविदारकजीवन्तीत्रिषी पालङ्कासुनिपण्यकप्रभृतीनि भीवारकाद्रयो सुप्रो-द्वयधे वैदला. समासेन कषायो वर्गः ॥२८॥

(कषायवर्ग—) न्यमोधादिगण, अम्बष्ठादिगण, म्रिये-व्यादिगण, रोधादिगण, त्रिफला, शङ्खकी, जामुन, आम, बडुप (Mimusops Llongi) तिन्दुक इनके फल, कतक, शाक, पाषाण भेद इनके फल, सालसारादिगण, प्राय कुरयक (छात्र पुष्प का विशावासा), कोविदार (कचनार),

जीवन्तीशाक (Dendrobium Macraei), चिल्लीशाक (Chenopodium Album), पालंकी (Spinaceaoleracca पालक शाक), सुनिपण्णक (चौपत्थिया शाक) इत्यादि तथा नीवार धान्यादि और मुद्गादि (वैदल धान्य) मिलकर संक्षेप से कपाय वर्ग होता है ॥२९॥

तत्रैतेषां रसानां संयोगास्त्रिषष्टिर्भवन्ति । तद्यथा—पञ्चदश द्विकाः, विंशतिस्त्रिकाः, पञ्चदश चतुष्काः, षट् पञ्चकाः, एकशः पञ्चसाः, एकः पदक इति । तेषामन्यत्र प्रयोजनानि वक्ष्यामः ॥३०॥

(रससंयोग—) इन छः रसों के संयोग से ६३ भेद होते हैं । जैसे—दो दो रसों के पंद्रह संयोग होते हैं, तीन तीन रसों के बीस, चार चार रसों के पंद्रह, पाँच पाँच रसों के छः, एक एक रस के छः और छः रसों का एक (ऐसे ६३ संयोग होते हैं) । इनका प्रयोजन अन्य स्थान में (उत्तरस्थान के ६३ अध्याय में) वर्णन किया जायगा ॥३०॥

भवति चात्र—

जग्धाः षडधिगच्छन्ति बलिनो वरातां रसाः ।

यथा प्रकुपिता दोषा वरां यान्ति बलीयसः ॥३१॥

इति सुश्रुतसंहितायां सूत्रस्थाने रसविशेषविज्ञानीयो नाम द्वाचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४२॥

जैसे कि प्रकुपित हुए दोष बलवान् मनुष्य के वश में हो जाते हैं (यानि अपनी प्रकटता नहीं करते) वैसे ही सेवन किये हुए (द्रव्यों के) छर्छों रस (उन द्रव्यों का जो) बलवान् (व्यक्त) रस होता है उसके वश में हो जाते हैं ॥३१॥

वक्तव्य—सर्वकार्यद्रव्य पंचमहाभूतात्मक होने के कारण केवल एक रस युक्त नहीं हो सकते—तस्मान्नैकरसं द्रव्यं भूतसंघातसंभवात् । (वाग्भट) । प्रत्येक द्रव्य में एक या दो बलवान् यानि व्यक्तरस होते हैं और कई अल्प बल यानि अन्यक्तरस होते हैं । ये अन्यक्तरस अपना अस्तित्व व्यक्तरस के सामने नहीं प्रकट कर सकते—तत्र व्यक्तो रसः । अनुरसस्तु रसेनाभिभूतत्वादव्यक्तः । (संग्रह) । इसलिये प्रत्येक द्रव्य के रस का निर्देश उसके बलवान् रस के अनुसार ही किया जाता है । ऊपर मधुरादि वर्गों में द्रव्यों का जो निर्देश किया गया है वह 'भूयसाऽप्यं हि जीयते' के तत्त्वानुसार ही किया गया है यह इस श्लोक का तात्पर्य है । चरक विमानस्थान के आठवें अध्याय में पडास्थापनवर्ग का वर्णन करते समय ऐसा ही लिखा है—यत्तु षड्विधमास्थापनमेकरसमित्वाचक्षते भिषजस्तद्दुर्लभतमं संसृष्टरसभूषितत्वाद् द्रव्याणाम् । तस्मान्मधुराणि च मधुर-प्रायाणि च मधुरविपाकानि च मधुरप्रभावाणि च मधुरस्कन्धे मधुराप्येव कृत्वोपदेक्ष्यन्ते तपेतराणि द्रव्याण्यपि ॥

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां रसविशेषविज्ञानीयो नाम द्वाचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४२॥

त्रिचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथातो वमनद्रव्यविकल्पविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । यथोक्ताच्च भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से वमनद्रव्यविकल्पविज्ञानीय नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—वमनद्रव्यविकल्पविज्ञानीय—मदनादि अनेक वमनद्रव्यों के विविध प्रयोग करने का विज्ञान जिसमें वर्णन किया है ।

वमनद्रव्याणां फलादीनां मदनफलानि श्रेष्ठतमानि भवन्ति । अथ मदनपुष्पाणामातपपरिशुष्काणां चूर्णप्रकुञ्चं प्रत्यक्षपुष्पीलदापुष्पीनिम्बकपायाणा-मन्यतसेनालोच्च मधुसैन्धवयुक्तां पुष्पचूर्णमात्रां पाययित्वा वामयेत् ॥२॥

मदनादि वमनद्रव्यों में मदनफल सब से श्रेष्ठ है । धूप में सुखाये हुए मदन के फूलों का एक पल भर (चार तोला) चूर्ण अपामार्ग, आक या नीम के (चूर्ण से चौगुने) छाथ में मिलाकर उसमें मधु और सैन्धा नमक डालकर यथोचित मात्रा में पिलाकर वमन करावे ॥२॥

वक्तव्य—फलादीनाम्—फल यानि मदन जिसमें आदि यानि प्रथम निर्दिष्ट किया गया है । ३९ वें अध्याय का द्वितीय सूत्र देखो । मदनपुष्पाणाम्—मदनफलानाम्—अत्र पुष्पशब्दः फले वर्तते, कारणे कार्योपचारात् । (डल्हण) ।

मदनशालाहुचूर्णान्येवं वा बकुलरस्यकोपयुक्तानि मधुलवणयुक्तान्यभिप्रतप्तानि; मदनशालाहुचूर्णसिद्धां वा तिलतण्डुलयवागूम् ॥३॥

मदन के कच्चे फल के चूर्ण को उसी प्रकार (एक पल प्रमाण चतुर्गुण प्रत्यक्षपुष्पी, सदापुष्पी अथवा निम्ब के छाथ में) पिलावे अथवा बकुल, महानिम्ब (वकायन), इनके छाथ में मधु और सैन्धानमक मिलाकर गरम करके पिलाकर वमन करावे । अथवा मदन के कच्चे फल के चूर्ण से सिद्ध की हुई तिल और चावलों की यवागू को पिलाकर वमन करे ॥३॥

वक्तव्य—शालाहु—आम फल । मधु उष्ण सेवन करना अयोग्य है, परन्तु वमन तथा निरूह में उष्ण सेवन करने में आपत्ति नहीं होती—प्रच्छर्दने निरूहे च मधूष्णं न निवार्यते । अल्पपाकमाश्वेव तयोर्धस्मान्निवर्तते ॥ (अष्टांगहृदय) ।

निर्वृत्तानां वा नातिहरितपाण्डूनां कुशामूढाव-चङ्गमृदोमयप्रलितानां यवनतुपमुद्गभापशाल्यादि-धान्यराशावष्टरात्रोपितक्लिष्टमिन्नानां फलानां फल-पिप्पलीरुद्धृत्यातपे शोपयेत्, तासां दधिमधुपल्ल-विमुदितपरिशुष्काणां सुभाजनस्थानामन्तर्ग-मुष्टिसुष्णे यष्टीमधुककपाये कोविदारादीनामन्यतसे वा कपाये प्रमृद्य रात्रिपर्युषितं मधुसैन्धवयुक्त-

माशीभिर्भिमन्त्रितमुदबुधुतः प्राड्मुपमातुरं पायये-
दनेन मन्त्रेषामिभ्यन्त्य—

“ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रभूचन्द्रार्कानिलानिलाः ।
क्रपयः सौषधिप्रामा भूतसंघाश्च पान्तु ते ॥१॥
रसायनमिवर्षीणां देवानाममुतं यथा ।
सुधेषोत्तमनामानां भ्रैषज्यमिदमस्तु ते ॥२॥”
विशेषेण श्लेष्मज्वरप्रतिश्यायान्तविद्रधिषु ॥३॥

(मदनफल का अथ प्रधान योग कहते हैं—) पके हुए मदन फलों को, जो न बहुत हरे हों न बहुत पीले पड़ गये हों, कुण से लपेट कर ऊपर गोबर लगाकर यवतृण, मूँग, उडद, चावल इत्यादि धान्यों की राशियों में आठ अहोरात्र तक रखें, जब क्लेशित होकर फूटे तब फलों से धीज निकाल कर धूप में सुखा लें । फिर उन बीजों को दही, मधु और तिलकक में मूदित कर (भिगोकर) सुखावे और एक सुरक्षित पात्र में रख ले । फिर उसमें से जिनके नख भीतर की ओर किये गये हैं ऐसी सुधिभर गिरी लेकर गरम सुलइटी के बाथ में अथवा कोंविदारादि (सशोधनसगमनीय अध्यायिक) गण में से किसी के काथ में दिन रात भिगोकर मलकर मधु और सेंधा नमक मिलाकर वेदोक्त आर्यविचरों से पूर्वाभिमुख बैठे रोगी को अभिमन्त्रित करके उत्तराभिमुख बैठा हुआ वैश इन (निम्न) मन्त्रोच्चारणपूर्वक पिलावे—**मद्गा, दत्त, अधिनीकुमार, रुद्र, इन्द्र, पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य, अग्नि, वायु, सोषधिषो** के समूह सहित ऋषिगण तथा भूतमगूह तेरी रक्षा करें ॥१॥ जैसे कि ऋषियों के लिये रसायन, देवताओं के लिये अमृत और उत्तम मागों के लिये सुधा (आरोग्यदायक) होती है, वैसे तुम्हारे लिये यह औषध (आरोग्यदायक) हो ॥२॥ विशेष करके (उपर्युक्त योग) कफज्वर, जुकाम और अन्त विद्रधि इनमें प्रदान करना चाहिये ॥३॥

वक्तव्य—निवृत्त—पक्व । योग्य पक्ववस्था निदर्शित करने के लिये ‘नानिहरितापट्टना’ का प्रयोग किया है । कुणमूद—कुणविरचितपुटक । फलपिप्पली—मदनफलमध्यगानि पिपलीमेथानि बीजानि । (चक्रपाणि) । पल्ल—तिलकक (इन्दु) । सुभाजनयानां—योग्य रक्षा से पात्र में रखे हुए—नवकेश मुपमहातुष मरुतकमाशुष्ट पूषित्वा न्ववच्छत्र व्तु सुतं शिष्ये श्वतस्य न्यापयेत् । (चरक) । अभिमन्त्रय—इन मन्त्रों का वचन पढ़ा कर भाग्यंतर दिया है तथापि उनका प्रयोग मूल संस्कृत में ही करना चाहिये । विशेषेण—श्लेष्मज्वरारिषु ‘देव’ इत्यन्याहार ॥ अन्तर्भागमुक्ति—अन्तरीकृतमन्त्रमुक्तिपरिमाणम् । (चक्रपाणिदत्त) अन्तर्त्वा सुधिसिम्पु मधुं नपानि न इदयन्ते । (इन्दु) । वमन के लिये यह जो मात्राप्रमाण दिया है, वह अधिक है । चरक में इसके सिवाय ‘यावदा माषु मन्त्रेन’ ऐसा दूसरा प्रमाण दिया है । यवहार में सूते हुए फलबीज की १०—२० रसी मात्रा वामक होनी है ।

अप्रयतमाने या दोषे पिप्पलीयचगौरसंप
कक्तोन्मिधैः सलवणैस्तुपाम्बुभिः पुनः पुनः
प्रयतयेद्वासम्यग्वान्तलक्षणदिति ॥५॥

(इस प्रयोग से) यदि दोनों का प्रवर्तन न हो तो पिप्पली, चचा और श्वेत सरसों के बरक के साथ नमक मिला कर गरम जल के ग्राथ बार बार पिलाकर वमन करावे, जब तक कि ठीक वमन हुए के लक्षण दिखाई दे ॥५॥

वक्तव्य—आमगमनवान्तलक्षणान्—पित्त दर्शन होने पर सम्भवान्त लक्षण समझना चाहिये—पित्तान्निमित्त वमन तभी धैर्य । (चरक) ।

मदनफलमज्जचूर्णं वा तत्काथपरिभाषितं मदन-
फलकपायेण; मदनफलमज्जसिद्धस्य वा पयसः
सन्तानिकां क्षौद्रयुक्तां, मदनफलमज्जसिद्धं वा
पयः, मदनफलमज्जसिद्धेन वा पयसा यवागूम्,
अधोभागाम्बुक्षुपिचद्वाहयोः, मदनफलमज्जसिद्धस्य
वा पयसो दधिभायमुपगतस्य द्रष्युत्तरं दधि वा
कफप्रसेकच्छर्दिमूर्च्छातमकेषु, मदनफलमज्जस
मह्यतमन्त्रेहवदादाय फाण्णतीभूतं लेहयेत्,
आतपरिद्रुक्त्वा वा तमेव जीवन्तीकपायेण पित्ते
कफस्थानगते, मदनफलमज्जकाथं वा पिप्पल्यादि-
प्रतीचापं, तच्चूर्णं वा निम्बरूपिकाकपाययोरन्यतरेण
संतर्पणकफज्वयाधिहरं, मदनफलमज्जचूर्णं वा
मधुकफार्मयद्राक्षाकपायेण । मदनफलविधान-
मुक्तम् ॥६॥

यैन फल की गिरी का चूर्ण उसी के काथ की भावना देकर उसके काथ के साथ पिलाकर वमन करावे । अथवा मदन फल की गिरी दूध में उबाल कर उस दूध की मलाई को चाटने के लिये देकर वमन करावे । अथवा मदन फल की गिरी से निम्ब दूध को देकर वमन करावे । मदन फल की गिरी से दूध सिद्ध करने के लिये यवागूम बनाकर अधोभागत रक्त पित्त और हृदय के दाह में पिलाए । कफ से मुख में लार आती हो, वमन होता हो, मूर्च्छा आ जाती हो, तमक थाम हो तो मदन फल की गिरी से सिद्ध दूध का दही बनाकर उस दही का रस या दही ही चाटने के लिये प्रदान करे । जैसे भिलात्रे का तेल निकालते हैं उसी प्रकार मदन फल की गिरी का तेल निकाल कर उसे पकाकर फाणित की अग्नि गाड़ा कर चाटने के लिये प्रदान करे अथवा धूप में सुखाये हुए मदन फल की गिरी का चूर्ण जीवन्ती काथ के साथ दे, यदि पित्त कफस्थान में चल गया हो । मदन फल की गिरी के काथ में पिप्पल्यादि डालकर पीने । अथवा मदन फल की गिरी का चूर्ण नीम या आक (रूपिका) के काथ में पीवे; यह सन्तर्पणजन्य तथा कफजन्य म्याधिर्यो का हरण करने वाला योग है । अथवा मदन फल की गिरी का चूर्ण महुआ, काश्मीर और दास्ता इनके काथ के साथ सेवन करे । यह मदन फल का वमन सबंध में विधान सर्वान किया है ॥१॥

जीमूतकजुसुमचूर्णं पूर्वयदेव क्षीरेण, निर्वृत्तेषु
क्षीरपवागूं, रोमशेषु सन्तानिकाम्, अरोमशेषु द्रष्यु-
त्तरं, हरितापिण्डेषु दधि तत्कपायवर्चुषां वा सुरां,

कफारोचककासश्वासपाण्डुरोगयक्ष्मसु; पर्यागतेषु
मदनफलमज्जवदुपयोगः । तद्देव कुटजफलविधान-
नम् । कृतवैधनानामप्येव एव कल्पः । इक्ष्वाकु-
कुसुमचूर्णं वा पूर्ववत्, एवं क्षीरेण, कासश्वास-
च्छर्दिकफरोगेषूपयोगः ॥७॥

देवदाली के (सूखे हुए) पुष्पों का चूर्ण पहले की तरह
(प्रत्यक्षपुष्पादि तीन द्रव्यों के साथ के साथ) अथवा
दूध के साथ देकर वमन कराये । फल परिपक्व हो जाने पर
उससे दूध यवागू बनाकर देवे । बहुत रोम युक्त हो तो दूध
में उबाल कर मलाई को प्रदान करें । रोम भङ्ग जाने पर
(उससे दूध सिद्ध कर दही बनाकर) दही का जल प्रदान
करें । जब फल हरित पाण्डु वर्ण हो तो उनसे दही बनाकर
दे अथवा उसके साथ से सिद्ध की हुई सुरा प्रदान करें; (इन
योगों से) कफ, अरुचि, कास, श्वास, पाण्डुरोग और
राजयक्ष्मा (इतने रोगों में वमन के द्वारा लाभ होता है) ।
परिपक्व फल हो जाने पर इनकी गिरी का उपयोग मैनफल
की गिरी की तरह करें । इसी तरह कुटज फल (इन्द्रयव)
का भी विधान समझो । कृतवैधन (कड़वी तोरी) का भी
ऐसा ही (देवदाली फल के अनुसार) उपयोग करें । तथा
इक्ष्वाकु (कड़वी तुन्बी) के फूल का चूर्ण पहले की तरह
दूध के साथ ले । इससे कास, श्वास, वमन और कफ रोगों में
बहुत उपयोग होता है ॥७॥

धामार्गवस्यापि मदनफलमज्जवदुपयोगो विशेष-
तस्तु गरगुल्मोदरकासश्वासश्लेष्माभयेषु वायौ च
कफस्थानगते ॥८॥

धामार्गव (राजकोशातकी, पीले फूल की कड़वी तोरी,
Luffa Amara) का भी मदन फल की गिरी की तरह
उपयोग विशेष करके गर (कृत्रिम विप), गुल्म, उदर, कास,
श्वास, कफ रोग और कफ स्थान में पहुँचे हुए वात रोगों में
होता है ॥८॥

कृतवैधनफलपिप्पलीनां वमनद्रव्यकपायपरि-
पीतानां बहुशश्रूणांमुत्पलादिषु दत्तमाघ्रातं वामयति,
तत्त्वनववद्धदोषेषु यवागूमाकण्ठात्पीतवत्सु च
विद्ध्यत् । वमनविरेचनशिरोविरेचनद्रव्याण्येवं
वा प्रधानतमानि भवन्ति ॥९॥

कृतवैधन (धैतपुष्प की कड़वी तोरी, Luffa Echinata)
के फल की मज्जा को अन्य वमन द्रव्यों के कपाय से बहुत
भावना देकर (सुखाकर) चूर्ण करें । फिर उस चूर्ण को कमल
आदि पुष्पों में रखकर सुँघाने से वमन हो जाता है । जिसके
दोष बहुत प्रकुपित हो गये हैं तथा जो आकण्ठ यवागू पान
किया है ऐसे पुरुष में इस योग का उपयोग होता है । इसी
प्रकार (तुल्यगण द्रव्यों के कपाय से भावना देने पर) वमन,
विरेचन और शिरोविरेचन द्रव्य बलवत्तर हो जाते हैं ॥९॥

वक्तव्य—परिपीत—भावित । प्रधानतमानि भवन्ति—
अपना कार्य करने में बलवान् बन जाते हैं । भावना के संबंध
१ पूर्ववदेव.

में दृढबल चरकसंहिता में लिखते हैं—भूयक्ष्मां बलाधानं कार्यं
स्वरसभावनेः । सुभावितं पल्पमपि द्रव्यं स्याद्द्रुक्मिदृत् ॥ स्वरसस्तु-
ल्यवीर्यं तस्माद् द्रव्याणि भावयेत् ॥ (कल्पस्थान, अध्याय १२) ।

भवत्तथाच—

वमनद्रव्ययोगाणां द्विगियं संप्रकीर्तिता ।
तां त्रिभज्य यथाव्याधि कालशक्तिचिनिश्चयात् ॥१०॥
कपायैः स्वरसैः कल्कैश्चूर्णैरपि च बुद्धिमान् ।
पेयलेह्याद्यभोज्येषु वमनान्युपकल्पयेत् ॥११॥

इति मुश्रुतसंज्ञितायां वमनस्थाने वमनद्रव्यविकल्पविज्ञानीयो
नाम त्रिचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४३॥

वमन द्रव्यों के योगों का यह केवल दिग्दर्शनमात्र यहाँ
वर्णन किया है । इस (सूत्ररूप से वर्णन किये हुए वमनद्रव्य-
विकल्पविज्ञान) को बुद्धिमान् वैद्य विभक्त करके फिर भिन्न
भिन्न रोगों में (रोग) काल और (रोगी की) शक्ति का
निर्णय कर फिर वामक द्रव्यों को कपाय, स्वरस, कल्क, चूर्ण
(तथा अन्य घृतादि) के स्वरूप में खाद्य पेयादि भोज्य द्रव्यों
के साथ प्रयुक्त करे ॥१०,११॥

वक्तव्य—विभज्य—विभेचनात्मक अधिक गाढ़ा अभ्यास
करके ।

इति भास्करशर्मणा गोविन्दरामेन विरचितायामासुर्वेदरहस्यदीपिकायां
मुश्रुतभाषाटीकायां वमनद्रव्यविकल्पविज्ञानीयो
नाम त्रिचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४३॥

चतुश्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथातो विरेचनद्रव्यविकल्पविज्ञानीयमध्यायं
व्याख्यास्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से विरेचनद्रव्यविकल्प (भेद) विज्ञानीय
नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान्
धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

अरुणाभं त्रिवृन्मूलं श्रेष्ठं मूलविरेचने ।

प्रधानं तिल्वकस्त्वक्षु फलेष्वपि हरीतकी ॥२॥

तैलेष्वेरेण्डजं तैलं स्वरसे कारवेष्टिका ।

सुधापयः पयःसूक्तमिति प्राधान्यसंग्रहः ॥३॥

तेषां विधानं वक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥४॥

(श्रेष्ठविरेचनद्रव्य—) विरेचनीय मूलों में रक्तवर्ण
त्रिवृत् का मूल श्रेष्ठ है; (विरेचनीय) त्वचाओं में तिल्वक
(स्वल्पोत्र) की त्वचा प्रधान है; (विरेचनीय) फलों में
हरीतकी प्रधान है; (विरेचनीय) तैलों में एरण्ड का तैल
श्रेष्ठ है; (विरेचनीय) स्वरसों में करेले का स्वरस श्रेष्ठ है;
(विरेचनीय) दुग्धों में सेहुण्ड का दूध प्रधान है ।
यह (विरेचनीय द्रव्यों का) प्रधान संग्रह है । इनके विधान
को क्रम से यथाविधि वर्णन करते हैं ॥२,३,४॥

विरेचनद्रव्यरसानुपीतं

मूलं महत्रैवृत्तमस्तदोषम् ।

१ वान्तिद्रव्यविकल्पानां । २ विधानमेषां वक्ष्यामि । ३ विरेचन-
स्वरसकायपीतां गाढमूलां त्रिवृतां कालपुष्टाम् । चूर्णकृतां नागर-
सैन्धवाढ्यां पिबेदसैरनिलव्याधिजुः ॥

चूर्णीकृतं सैन्धवनागराद्य-
मल्लैः पिबेन्मास्यतरोगजुष्टः ॥१॥
इक्षोर्विकारैर्मधुरै रसैस्तत्
पैत्ते गदे क्षीरयुतं पिबेद्यं ।
गृह्यचरिण्यफिलारसेन
सव्योपमूयं फफुजे पिबेत्तत् ॥६॥

अन्य विरेचनीय द्रव्यों के रस में भावना दिया हुआ मोंटे निगोय का निर्दोष मूल (मूल के ऊपर की छाल) चूर्ण करके उसमें मिथा नामक धौर सोंठ (का चूर्ण) मिलाकर अम्लरस से यातरोग से पीड़ित मनुष्य सेवन करे ॥१॥ पिप्पली से पीड़ित हो तो इस के पदार्थों के साथ या मधुर रसों के साथ अथवा दूध के साथ उस चूर्ण का सेवन करना चाहिये, और कफ दोष से पीड़ित हो तो निगोय का चूर्ण गिलोय, नीम और त्रिफला इनके काथ में त्रिकटु और गोमूत्र डालकर पीना चाहिये ॥६॥

त्रिवर्णकद्रव्ययुक्तमेतद्
गुडेन लिष्टादनवेन चूर्णम् ।
प्रस्ये च तन्मूलरसस्य द्रव्या
तन्मूलकल्कं कुडयप्रमाणम् ॥७॥
कपोन्मिते सैन्धवनागरे च
विपाच्य कल्कीकृतमेतदपात् ।
तत्कल्कभागः समहौपधार्थः
ससैन्धवो मूत्रयुतश्च पेयः ॥८॥

त्रिवर्णक (त्रिजातक—दालचीनी, तेजपत्र और हला यची) और त्र्युषण (त्रिकटु—सोंठ, मिरच और पिप्पली) इनके साथ पूर्वोक्त निगोय का चूर्ण पुराने गुड़ के साथ मिला कर (त्रिवर्णक, त्रिकटु और गुड़ का एक भाग और त्रिवृत् चूर्ण का एक भाग) सेवन करे । अथवा निगोय का स्वस एक प्रस्य (१२८ तोला) लेकर उसमें निगोय का कल्क एक कुडव (१६ तोला) डाले और सैन्धा नामक तथा सोंठ एक एक कर्प (१ तोला) छोड़कर पकावे । जब गाग्ना (कल्क की भाँति) हो जाय तब उसमें से (दोषबलानुरूप) सेवन करे । अथवा एक भाग त्रिवृत्कल्क में आधा भाग सोंठ मिलाकर सैन्धव और गोमूत्र के साथ सेवन करे ॥७,८॥

सर्माखिवृषागराकामयाः सु
मार्गार्थं पूगफलं सुपकम् ।
विडङ्गसारो मरिचं सदारु
योगः ससिन्धुद्रवमूत्रयुक्तः ॥९॥
विरेचनद्रव्यमयं तु चूर्णं
रसेन तेषां भिषजा विमृद्य ।

१ स्वाध्वपैशावि नौषेविको पैते द्राक्षाक्षीरयुक्तं पिबेत् २ क्षौद्रादित्रिफलाकल्कयुक्तं मूत्रैः पेया कफजे म्बीषगादा. ३ कायप्रत्ये कुडव तस्य द्वापुष्या द्वापुष्यार सैन्धव च । ४ चैत्र सर्वं वायव्ये तदन स्वाडिभीतं तत्र प्रयोज्य ततलु ५ त्रिकटुकल्के नागरभागयुक्तं सैन्धवो मूत्रयुतं प्रयेय . ६ सने त्रिकटुपरि

तन्मूलसिद्धेन च सपिपाऽऽसं
सैव्यं तदाज्ये गुटिकीकृतं च ॥१०॥
गुडे च पाफामिमुदे निघाय
चूर्णीकृतं सम्यगिदं विपाच्य ।
शीतं त्रिजानाकमथो विमृद्य
योगानुरूपा गुटिकाः प्रयोज्याः ॥११॥

निगोय, सोंठ और हरहा प्रत्येक एक भाग, सुपक सुगरी, विडङ्गधीन, मरिच और देवदार, आधा आधा भाग इनका चूर्ण सैन्धव और गोमूत्र के साथ सेवन करे ॥१०॥ विरेचद्रव्यों के चूर्णों की उर्ध्वकि रस की भावना देकर उम चूर्ण में उनकी जड़ से सिद्ध किये हुए घृत को डालकर गोली बनाने और विरेचन के लिये घृत के साथ सेवन करे ॥१०॥ अथवा घामनी होते हुए गुड़ में उम चूर्णों को घानर पकाने और ठंडा होते समय उसमें दालचीनी, तेजपत्र और हलायची (का चूर्ण सुगंध उत्पन्न होने के लिये कितना आवश्यक हो उतना) मिलाकर भैमी चाहिये वैसी गुटिका बनाकर उपयोग करे ॥११॥

वैरेकीयद्रव्यचूर्णस्य भागं
सिद्धं सार्धं काथभागेश्चतुर्भिः ।
आमृद्गीयात् सपिपा तच्चतृतेन
तत्कायोम्भस्वेदितं सामितं च ॥१२॥
पाफाप्रते फाणिते चूर्णितं सत्
क्षितं पकं चाघतार्यं प्रयत्नात् ।
शीतीभूता मोदका हृद्यगन्धा.

फार्पास्वेते भक्ष्यकल्पाः सामानात् ॥१३॥
(त्रिवृत्प्रयामादि) विरेचन द्रव्यों का चार भाग काथ लेकर उसमें सिद्ध किया हुआ विरेचन द्रव्य का एक भाग चूर्ण तथा विरेचनद्रव्य के काथ से (स्वेदनीयत्र में) स्वेदित किया हुआ गेहूँ का चूर्ण इनको विरेचनद्रव्यकाथ में सिद्ध किये हुए घृत में मर्दन कर जब गुड़ की चाणनी पकाव पर आवे तब उसमें उस (घृत में मर्दन किये हुए) चूर्ण को डाल दे और पक हो जाने पर यह से उतार ले और जब ठंडा होने लगे तब (उसमें दालचीनी, तेजपत्र इत्यादि सुगंधित द्रव्य छोड़कर) उसके हृद्यगन्धमादक बनावे । ये सत्रोप में विरेचन के लिये भक्षण करने के योग होते हैं ॥१२,१३॥

घृत्तद्वयं—भातिन-मोक्षसचूर्णं-नैषुवा-धवला धौता-कुडिवा शोषितात्मन । प्रोक्षिताय विनिद्राशाशालिना समिता स्यूता । (राजनिघण्टु) । गेहूँ का भैदा ।

रसेन तेषां परिभाष्ये मुद्गान्
यूयः ससिन्धुद्रवसपिपरिष्टः ।
वैरेचनेऽन्यैरपि वैदलैः स्या-
देवं विदध्याद् यमनीपद्यैश्च ॥१४॥

विरेचनद्रव्यों के रस (स्वस तथा काथ) में मूँगों की भावना देकर उनका घृत सैन्धा नामक और घृत के साथ (विरेचन के लिये) हृद्य होता है । तथा अन्य विदलधान्यों की

१ रसे च तेषां परिभाष्ये

भी विरेचनद्रव्यरस की भावना देकर चिरेचन के लिये मधु के स्वरूप में प्रयुक्त कर सकते हैं । वमन के लिये वमनद्रव्यों की भावना देकर मधु प्रयुक्त कर सकते हैं ॥१४॥

मिन्त्वा द्विवेधुं परिलिभ्य कल्कै-

स्त्रिभरिउज्जातैः प्रतिबध्य रज्ज्वा ।

पक्वं च सस्यम् पुटपाकयुक्त्या

खादेत्तु तं पित्तगदी सुशीतम् ॥१५॥

गन्धे की बीच से दो भागों में चीरकर उसके बीच में निग्रोथ के कल्क का लेप कर और डोरी से बांधकर पुटपाक विधि से उन्हे ठीक फकाकर ठंडे होने पर पित्त का रोगी उसको सेवन करे ॥१५॥

चक्तव्य—पुटपाकविधि—पुटपाकस्य भाद्रिय लेपस्यांगारवर्णता ।

लेप च द्रव्यस्य स्थूलं कुर्मादौपुटपाकम् ॥ काण्ठीवदजम्ब्याद्विषैवेष्टन-
सुसमम् ॥ (नार्द्धकर) ।

सिताजगन्धात्पक्वक्षीरीविदारीत्रिवृतः समाः ।

लिह्यान्मधुघृताभ्यां तु तृद्दाहज्वरशान्तये ॥१६॥

शर्करा, वन अजपायन, वंगलोचन, शूलिङ्गनाम्ब और निग्रोथ मधु समभाग लेकर घृता, दाह और ज्वर की शांति करने के लिये मधु और घृत के साथ सेवन करे ॥१६॥

शर्कराक्षौद्रसंयुक्तं त्रिवृच्चूर्णावचूर्णितम् ।

रेचनं सुकुमाराणां त्वक्पत्रमरिचंशकम् ॥१७॥

शर्करा और शहद के साथ निग्रोथ का चूर्ण मिलाकर उसमें चौथा भाग डालचीनी, तेजपत्र और मिरच का चूर्ण मिलावे; यह सुकुमार मनुष्यों के लिये विरेचन है ॥१७॥

पचेत्लेहं सिताक्षौद्रपलार्धकुडवान्वितम् ।

त्रिवृच्चूर्णयुतं शीतं पित्तघ्नं तद्विरेचनम् ॥१८॥

शर्करा एक पल (चार तोला) और मधु आधा कुडव (१६ तोला) लेकर उसमें निग्रोथ का चूर्ण (सय का चौथाई) डालकर अवलेह बनावे और ठंडा होने पर उसका सेवन करे । यह पित्त को नाश करने वाला विरेचन है ॥१८॥

चक्तव्य—प्रथम मिश्री में पानी डालकर उसकी चाशनी बनावे । फिर उसमें त्रिवृत का चूर्ण छोड़ दें । तत्पश्चात्

जब चाशनी ठंडी हो जाय, तब उसमें मधु डाले ।

त्रिवृच्छ्यामाक्षारशुण्ठीपिप्पलीर्मधुनामुयात् ।

सर्वश्लेष्मपिकाराणां श्रेष्ठमेतद् विरेचनम् ॥१९॥

निगोत्तर, वृद्धदाक, यवक्षार, सोंठ और पिप्पली इनका चूर्ण शहद के साथ चाटे । यह लेह सर्व प्रकार के कफविकारों के लिये श्रेष्ठ विरेचन है ॥१९॥

बीजाढ्यपथ्याकाश्मर्यधात्रीदाडिमकोलजात् ।

तैलभृष्टान् रसान्मूलफलेरावाप्य साधयेत् ॥२०॥

घनीभूतं त्रिसौगन्धं त्रिवृत्क्षौद्रसमन्वितम् ।

लेहमेतत् कफप्रथैः सुकुमारैर्विरेचनम् ॥२१॥

१ श्लेष्मि विषा पादनिताडवस्थिय त्रिवृत्कल्कैः प्रतिमन्वय चान्ति ।
पक मन्व्यक् पुटपाक तमेय खादेच्छीन पित्तोगाभिमतः ॥

पूर्ण पक (बीजाढ्य) दुग् हस्टे, काश्मरी, आँवले, अनार और बेर इनके (एक प्रस्थ) रसों (स्वरस या काथ) को एरण्ड के (चार पल) तैल में भर्जित करके उसमें (बीज-पूरादि) अम्ल फलों का कल्क (चार पल) डाल दे ॥२०॥

जय गाढ़ा हो जाय तब उसमें त्रिसुगन्ध (दालचीनी, तेजपत्र और इलायची का चूर्ण एक कर्ष) और त्रिवृत (का चूर्ण चार पल) छोड़ दे और ठंडा होने पर शहद (दो पल) मिला दे । यह अवलेह कफभ्रूयिष्ठ रोगों से पीड़ित कीमल मनुष्यों को विरेचन के लिये चाटना चाहिये ॥२१॥

नीलीतुल्यं त्वगेळं च तैस्त्रिवृत्ससितोपला ।

चूर्णं संतर्पणं क्षौद्रफलास्त्रिपातचुत् ॥२२॥

नीली के समान दालचीनी और इलायची को ले और सब के समान शर्करायुक्त निग्रोथ का चूर्ण मिलाकर मधु और (बीजपूरादि) अम्ल फल के रस के साथ सेवन करे । यह लेह तृप्तिकारक और सन्निपात को नाश करने वाला (विरेचन) है ॥२२॥

त्रिवृच्छ्यामासिताकृष्णात्रिफलामाक्षिकैः समैः ।

मोदकाः सन्निपातोर्ध्वरक्तपित्तज्वरापहाः ॥२३॥

निग्रोथ, विधारा, पिप्पली और त्रिफला (इनका चूर्ण) समान भाग में लेकर शर्करा और मधु से उसके मोदक बनावे । ये विरेचक मोदक सन्निपात, ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त और ज्वर का नाश करते हैं ॥२३॥

चक्तव्य—इहणाचार्य के मतानुसार मधु और शर्करा

सब ओषधियों से दुगुनी लेनी चाहिये ।

त्रिवृद्भागान्त्रयः प्रोक्तास्त्रिफला तत्समा तथा ।

क्षारकृष्णाविडङ्गानि संचूर्ण्य मधुसर्पिषा ॥२४॥

लिह्याहुडेन गुट्टिकाः कृत्वा वाऽप्यथ भक्षयेत् ।

कफघातकृतान् गुडमान् ग्रीहोदरहलीमकान् ॥२५॥

हन्त्यन्यानपि चाप्येतन्निरपायं विरेचनम् ।

त्रिवृत तीन भाग, त्रिफला तीन भाग, यवक्षार एक भाग, पिप्पली एक भाग, विडंग एक भाग इनका चूर्ण करके मधु और घृत के साथ चाटे, या गुड़ से गुट्टिका बनाकर सेवन करे । यह चूर्ण या गोली कफजन्य तथा वातजन्य गुल्म, ग्रीहोदर, हलीमक (पाण्डु रोग का भेद) तथा अन्य रोगों को भी नाश करती है । यह विरेचन किसी भी प्रकार से उपद्रव नहीं करता है ॥२४, २५॥

चूर्णं श्यामात्रिवृत्नीली कट्वी मुस्ता दुरालभा ॥२६॥

चन्द्येन्द्रवीजं त्रिफला सर्पिर्मांसरसास्त्रुभिः ।

पीतं विरेचनं तद्वि रुद्राणामपि शस्यते ॥२७॥

विधारा, निग्रोथ, नीलिनी, कटुरोहिणी, नागरमोथा, दुरालभा (धमासा Alhagi Maurorum), चन्द्य, इन्द्रयव और त्रिफला इनका चूर्ण घृत, मांसरस और जल के साथ सेवन करे । यह विरेचन रक्तप्रवृत्ति मनुष्यों के लिये भी प्रधान होता है ॥२६, २७॥

चक्तव्य—रक्तप्रवृत्ति मनुष्यों को घृत और मांसरस

के साथ और शिथिलमृति मनुष्यों का जल व माघ दना चाहिये ।

वैरेचनिकनि काथभागा शीतलखयो मता ।

द्वौ फाणितस्य तद्यापि पुनरज्ञावधिधयेत् ॥२०॥

तत्साधुसिद्ध विज्ञाय शीत श्रुत्या निधापयेत् ।

कलसे कृतसस्कारे विभज्यते हिमाहिमी ॥२१॥

मासादूर्ध्वं जातरस मधुगन्ध घरासवम् ।

पिबेदसावेय विधि क्षारमूत्रासवेष्वपि ॥३०॥

न्यातर का ठंडा हुआ काथ तीन भाग और गुठ की राब (काकवी) दो भाग मिलाकर अग्नि पर पकाय । जब ठीक सिद्ध (अर्धावशिष्ट) हुआ मालूम हो तब सस्कार किये हुए कलसे में डालकर सदे या गरम मत्तु व अनुमान नधान करे । एक मास से ऊपर काल होने पर जब उसमें रस तथा मधु की सी गंध उत्पन्न हो जाय तब उसका रचन करे । क्षार मूत्र तथा अन्य आसर्वों क सक्थ में भी इसी प्रकार बनान की विधि जाननी चाहिये ॥२० ३०॥

वक्तव्य—सस्कार—कलमी को धारण सुलाकर मधु पिप्ली का लेपन कर और अन्न में अगुर स भूषण कर । विभज्यां हिमाहिमी—शीतकाल में कलमी धारणामि में एक महीना भार रखनी चाहिये और गरमी क काल में पंद्रह दिन रखनी चाहिये

वैरेचनिकमूलाना काये मापान् सुभाषितान् ।

सुधौतास्तत्कपायेण शालीना चापि तण्डुलान् ॥३१॥

अवशुष्यैकत पिण्डान् श्रुत्वा शुष्कान् सुचूर्णितान् ।

शालितण्डुलचूर्णं च तरुकायोष्मसाधितम् ॥३२॥

तस्य पिष्टस्य भागास्त्रीन् क्वात्रभागविमिश्रितान् ।

मण्डोदकार्यै काथ च द्यास्तस्त्पमेकत ॥३३॥

निदध्यात्कलसे ता तु सुरा जातरसा पिबेत् ।

एष एव सुराकल्पो यमनेष्वपि कीर्तित ॥३४॥

विरचनद्रव्यों की जड़ क काड़ में भावना दिये हुए उददां

की तथा उसी विरेचनकाथ से साफ़ धाये हुए चाबलों को

एक करके (ओम्बली में) सूट्टे के और उस पिण्ड का सुलाकर

चूर्ण करे फिर (दूसरे) शालि व चाबलों का चूर्ण लेकर

उसी विरचनीयकाथ की भाप में पकाय । फिर उष् (मापयुक्त

शालितण्डुलचूर्ण तथा कपायस्यदिनशालिचूर्ण की) पिष्टी व

तीन भाग लेकर उसमें सुरावीज एक भाग मिलाय और सुरा

बनाने के लिये काथ भी उसी क साथ मिलाकर कल्पा में

रख द । जब सुरा सिद्धरस हो जाय तब उसका पान कर ।

इसी प्रकार यमन के लिये थाय सुरा भी यमनद्रव्यों व काथ

में साधन करके सिद्ध हो सकती है ॥३१ ३४॥

मूलानि शिवुदादीना प्रथमस्य गणस्य च ।

महत पञ्चमूलस्य मूर्वाशार्ङ्गप्योरपि ॥३५॥

सुधा हैमवती चैव त्रिफलातिविषे वचाम् ।

सहचैतानि भागौ द्वौ कारयेदेकमेतयो ॥३६॥

कुर्यान्नि काथमेकस्त्रिषेकसिध्वर्णमेन तु ।

शुष्णास्तासिस्तु नि काथे भावयेद्बहुशो यवान् ।

शुष्काणा मृदुभृशना तेषा भागास्त्रयो मता ।

चतुर्थे भागमावाप्य चूर्णानामनु(त्र)कीर्तितम् ।

प्रक्षिप्य कलसे सम्यक् समन्त तदनन्तरम् ।

तेषामेव कपायेण शीतलेन सुयोजितम् ॥

पूर्ववत्सन्निदध्यात्तु ह्य सौवीरक हि तत् ।

(सहाधन मयमनीयोक) त्रिगुणादि की जड़ प्रथम (विदारिगयादिगण) क औषधों की जड़ वदस्यचमूल, मृ शार्ङ्ग (पूतिकरन) इनकी जड़ ॥३५॥ सुधा (सेहद हैमवती (उद्यारे रेवद) त्रिफला अतिरिप और वच । सब को लेकर इनके दो भाग कर । उनमें से एक भाग ॥३६॥ निकाथ बनाने और एक भाग का चूर्ण कर के । ३ निकाथ में सूट्ट हुए जीओं को कई बार भावना के ॥३॥ फिर उनको सुलाकर धोहा भूय ले और उनका तान भ क साथ (पूर्वक) चूर्ण का एक भाग मिलाय ॥३८॥ नि उस चूर्ण को (पूर्वक पद्धति क अनुसार मरुत्त) प घट में डालकर उसमें (त्रिगुणादि क) काथ को ठंडा कर छोड़ द ॥३९॥ और पूर्वाक रीति से सधान कर । इससे सौवीरक कहते हैं ।

वक्तव्य—भ वन विधि—द्रव्यों को भावना मामान्यतः निम्न प्रकार से दी जाती है—निवा त्वितप शुष्क रात्रौ रात्रे निवस्येत् । शुष्क चूर्णित द्रव्य मसह भावन विधि द्रव्येन दावत द्रव्यमभीभूयादता त्रयेत् । द्रव्यमात्र निष्ठि निषग्निभावनविधौ भाव्यद्रव्यमम काथ व श्याट्टगुण जलम् । अष्टाशोषित काथे भाव्याना तेन भावना

पूर्वाक वर्गमाहृत्य द्विधा कृ वैकमेतयो ॥४०॥

भाग सशुद्य ससृज्य यैवे स्याल्यामधिश्रयेत् ।

अजश्रुद्ध्या कपायेण तमेभ्यासिच्य साधयेत् ॥४१॥

सुसिद्धाश्चायतार्थतानीपधिभ्यो विवेचेयेत् ।

त्रिमृद्य सतुपान् सम्यक् ततस्तान् पूर्ववन्मितान् ॥४२॥

पूर्वातीपधभागस्य चूर्णं दद्यात् तु पूर्ववत् ।

तेनैत्र सह यूयेण कलसे पूर्ववत् क्षिपेत् ॥४३॥

ज्ञात्वा जातरस चापि तसुयोदकमादिदोत् ।

तुपाम्बुसौवीरकयोविधिरेप प्रकीर्तित ॥४४॥

पट्टामात् सस्तरात्राद्वा ते च पये प्रकीर्तिते ।

पूर्वाक (सौवीरक साधन में कहे हुए त्रिगुणादि विचारि

गणागिण्य महत्त्वचमूल मूर्वा और शार्ङ्ग) यर्ग लेकर

उमक दो भाग करे । उनमें से एक भाग का सूट्टकर हुए सुक

जीयों क साथ मिलाकर एक स्थालि में रखे और मेढ़ाशिवी

का काथ उसमें डालकर साधन कर (पकाय) ॥४० ४१॥ जब

यव भिद्ध हो जायै (पक जायै) तब उगको औषधियों से

छाँट के । पट्टान् उबले हुए उन सतुप यवों को अग्नी तरह

से सूट्टकर उनमें (उनक तीन भाग में) पूर्वाक औषधियों का

हे ॥५८॥ श्लेष्म और पित्तजन्य रोगों से पीड़ित मनुष्यों को इसे खाकर उपर दूध पीना चाहिये । (अणु लड्डू आदि) भक्ष्य पदार्थों की तरह होने से अमीर रागियों म भी इसका प्रयोग ही सकता है ॥५९॥

तिस्यकस्य त्यच्च शुष्णामन्तर्वेत्कविवर्जिताम् ।
चूर्णयित्वा तु द्वौ भागौ तत्कपायेण मालयेत् ॥६०॥

तृतीय भाषित तेन भाग शुष्क तु भाषितम् ।
दशमूलीकपायेण त्रिवृद्धत् सप्रयोजयेत् ॥६१॥

साध (मूल) की अन्तर्वेत्क छाहरक सूखी छाल को चूर्ण करके उस चूर्ण के नौ तिहाई भाग का उसी क छाध में भिगोकर वह छाध छान ले ॥६०॥ और हम छाध स शेष चूर्ण को भावना देकर सुखा ले । फिर उस दशमूलकाय में भावना म्बे और त्रिविध की भाति प्रयोग करे ॥६१॥

विधान त्वशु निर्दिष्ट फलानामथ चक्ष्यते ।
(विरेचनीय) त्वचाओं की विधि (अब तक) वर्णन की गई है । अब आग (विरेचनीय) फलों की विधि वर्णन की जायगी

हरीतक्या फल त्वस्थियमुक्त दोषवर्जितम् ॥६२॥
योज्य त्रिवृद्धिधानेन सर्वव्याधिनियर्हणम् ।

रसायन पर मेध्य दुष्टात्मणशोधनम् ॥६३॥
गुठली निकाले हुए दापरहित हरट क फल निशोथ की विधि के अनुसार उपयोग करने से सब रोगों का नाश होता है हरीतकी का प्रयोग परम रसायन बुद्धि क लिये हितकर और दुष्ट तथा अन्तर्वेद्य की शोधन करने वाला है ॥६२ ६३॥

वक्तव्य—नेषवर्जित—आपूर्तरमवीर्षणि काले कले यवाविधि भास्त्रिवपवन—प्राप्तमिल्लीपिणानि च वायजन्वा यूप—नि निजप यग्नानि च (चरक) । रसायन—क भाषावो डि रसनां रसादीना रभायनम् (चरक) ।

हरीतकी विडङ्गानि सैध्व्य नागर त्रिवृत् ।
मरिचानि च तस्य गोमूत्रेण विरेचनम् ॥६४॥

हरटा विडंग सैध्व संठ निशोथ और मिरच इन सबों का सबन गाम्भ्य के साथ करने से विरेचन होता है ६४ ।

हरीतकी भद्रदाय कुष्ठ पूगफल तथा ।
सैन्ध्य शृङ्गेरं च गोमूत्रेण विरेचनम् ॥६५॥

हरटा नेवनार कुष्ठ सुपारी सैध्व और संठ इनको गोमूत्र के साथ सेवन करने से विरेचन होता है ॥६५॥

नीलिनीफलचूर्णं च नागरामययोस्तथा ।
लिह्याद् गुडेन सलिल पश्चादुष्ण पित्रेभ्र ॥६६॥

नीलिनीफल संठ और हरटा इनका चूर्ण गुष्ठ के साथ सबन कर और पीछे गरम पानी पीते ॥६६॥

पिप्पल्यादिकपायेण पित्रेत्पिष्टा हरीतकीम् ।
सैध्वयोपहिता सद्य एव योगो विरेचयेत् ॥६७॥

सैधानामक मिलाकर इस्के का चूर्ण पिप्पल्यादिगाय के साथ क साथ सबन कर । यह योग तत्काल विरेचन करता है ॥६७॥

हरीतकी भक्ष्यमाणा नागरेण गुडेन वा ।
सैन्ध्योपहिता वाऽपि सातत्येनाग्निदीपनी ॥६८॥
वातानुलोमनी धृष्या चेन्द्रियाणा प्रसादनी ।

सन्तर्पणकृता रोगान् प्रायो हन्ति हरीतकी ॥६९॥
संठ गुड़ या सैधानामक के साथ निरन्तर सेवन करने । हरीतकी अग्नि का दीपन करती है ॥६८॥ हरीतकी प्राय वातानुलोमक शरीरशुद्धिकर इन्द्रियों में प्रसाद उत्पन्न कर वाली और (दिवास्वप्न क्षिण भोजन आदि) सतर्पण आहार विहार से उत्पन्न होने वाले रोगों का नाश करने वाला होती है ॥६९॥

वक्तव्य—धृष्य—शरीरशुद्धि करने वाली—यत्किञ्चिन्मु क्षिण जीवन बृद्धगुरु । हर्षण मनसैव्य तत्त्वं धृष्यमुच्यते (चरक) । धृष्य का सामान्य अर्थ धीर्यबुद्धिकर होता है परा यह अर्थ हरीतकी के सबंध में प्रयुक्त नहीं है क्योंकि हरीतकी धीर्यवृत्ति लोगों के लिये अहितकर है—अजीर्णिनो रुग्णान् क्षीण विषर्षिणा सवेरत्ताभयामेते (चरक) । चरक र्म भी हरीतकी को पीष्टिकी कहा है । सतर्पणकृत रोग—प्रमेहकण्डूषुद्धक शोथ पश्चात्तयज्वर कुष्ठान्यामप्रणेष श्व मूलरु द्यमरोचक । तत्रा क्रेमणमिरस्यौ बमालस्य गुम्फावृता । श्दिव्यलोतता श्लेथे दुद्रमोह प्रमीलक । (चरक) ।

शीतमामलक रुत पित्तमेद् कफापहम् ।
विभीतकमनुष्ण तु कफपित्तनियर्हणम् ॥७०॥

शीतल अमलक रुत पित्तमेद् कफापहम् ।
विभीतकमनुष्ण तु कफपित्तनियर्हणम् ॥७०॥

शीतल अमलक रुत पित्तमेद् कफापहम् ।
विभीतकमनुष्ण तु कफपित्तनियर्हणम् ॥७०॥

शीतल अमलक रुत पित्तमेद् कफापहम् ।
विभीतकमनुष्ण तु कफपित्तनियर्हणम् ॥७०॥

शीतल अमलक रुत पित्तमेद् कफापहम् ।
विभीतकमनुष्ण तु कफपित्तनियर्हणम् ॥७०॥

शीतल अमलक रुत पित्तमेद् कफापहम् ।
विभीतकमनुष्ण तु कफपित्तनियर्हणम् ॥७०॥

शीतल अमलक रुत पित्तमेद् कफापहम् ।
विभीतकमनुष्ण तु कफपित्तनियर्हणम् ॥७०॥

शीतल अमलक रुत पित्तमेद् कफापहम् ।
विभीतकमनुष्ण तु कफपित्तनियर्हणम् ॥७०॥

शीतल अमलक रुत पित्तमेद् कफापहम् ।
विभीतकमनुष्ण तु कफपित्तनियर्हणम् ॥७०॥

शीतल अमलक रुत पित्तमेद् कफापहम् ।
विभीतकमनुष्ण तु कफपित्तनियर्हणम् ॥७०॥

शीतल अमलक रुत पित्तमेद् कफापहम् ।
विभीतकमनुष्ण तु कफपित्तनियर्हणम् ॥७०॥

शीतल अमलक रुत पित्तमेद् कफापहम् ।
विभीतकमनुष्ण तु कफपित्तनियर्हणम् ॥७०॥

में सुलाकर उनकी गिरी निफाल ले । फिर पानी का या तिलों की तरह कोलू में पेरकर उस गिरी से लाले ॥७३,७४॥ इस तेल का उपयोग बारह वर्ष तक होने के लिये होता है । इसको परण्डनैव तथा कुष्ठ कटु मिलाकर चाटे ॥७५॥ ऊपर से सोहाता जल पीये । विरेचन करता है ।

इतैलं त्रिफलाकाथेन त्रिगुणेन तु ॥७८॥

पीतं तथा क्षीरसाभ्यां तु विरेचयेत् ।

वृद्धव्रतक्षीणसुकुमारेषु योजितम् ॥७७॥

इसका तैल त्रिगुण त्रिफला के हाथ के साथ या दूध या मांसरस के साथ पीये । इससे भी विरेचन है । बालक, वृद्ध, ज्ञतनीण तथा सुकुमार प्रकृति वाले के लिये यह योग प्रमात्त होता है ॥७६,७७॥

ग्राणां विधिरुद्दिष्टः क्षीराणां शृणु सुश्रुत ! ।

सुश्रुत ! (विरेचनीय) फलों का उपयोग कैसे करना है, इसकी विधि वर्णन की गई । अथ दुग्धों की विधि करो ।

रेचनानां तीक्ष्णानां पयः सौधं परं मतम् ॥७८॥

प्रयुक्तं तद्धन्ति विषवत् कर्मविभ्रमात् ।

ज्ञानता प्रयुक्तं तु महान्तमपि संचयम् ॥७९॥

अन्त्याश्वेव दोषाणां रोगान् हन्ति च दुस्तरान् ।

तीक्ष्ण विरेचक द्रव्यों में सुहीक्षीर सर्वश्रेष्ठ है ॥७८॥

के कर्म का ज्ञान न होने के कारण अज्ञ के हाथ का योग किया हुआ उसका क्षीर विष के समान नाश करता परन्तु ज्ञानी वैद्य के द्वारा उपयोग करने से वह क्षीरों के भारी संचय को भी तुरन्त भेदन कर देता है तथा अज्ञ रोगों को भी दूर करता है ।

सक्तयः—सुधावृद्ध दो प्रकार का होता है, एक बहु-दक और दूसरा तीक्ष्णाल्पकण्टक । बहुकण्टक को सुद्ध, वा या सुही (Euphorbia Ligularia) कहते हैं ।

क्ष्णाल्पकण्टक को सेहुण्ड (Euphorbia Antiquorum) कहते हैं । इनमें से सुही या बहुकण्टक अधिक तीक्ष्ण होता

—द्विविधः स मतो वैद्य बहुमिश्रैव कण्टकैः । सुतीक्ष्णैः कण्टकैरत्यैः चो बहुकण्टकः ॥ (चरकसंहिता) । ऐसे द्विवर्ष या त्रिवर्ष आयु के वृद्ध का क्षीर शिशिरकृत के अन्त में ग्रहण करना

शहिये—तं विपाठ्याहरेव क्षीरं श्लेष्म मतिमान् भिषक् । द्विवर्षं वा त्रिवर्षं वा शिशिरान्ते विशेषतः ॥ (चरक) ।

पश्याः पञ्चमूल्यास्तु बृहत्पञ्चैकशः पृथक् ॥८०॥

कषायैः समभागं तु तर्दङ्गारैर्विशोषितम् ।

अम्लादिभिः पूर्ववच्चु प्रयोज्यं कोलसंमितम् ॥८१॥

महतपंचमूल, स्थूलवृहती और सूक्ष्मवृहती इन (सात) मूलों का पृथक् पृथक् कषाय बनाकर एक साथ मिला दे और उसमें एक के तुल्य (एक सप्तमांश) थोहर का दूध डालकर उसे अंगारों पर सुला ले और एक कर्ष की मात्रा में

अम्ल पदार्थों (सौवीरक, तुषोदक, सुरा, मातुलंगरस, आम-

१ तद्वारेषु शोषितम् ।

लकरस इत्यादि के) साथ पूर्ववत् (नियोज्य की विधि के अनुसार) प्रयुक्त करे ॥८०,८१॥

महावृद्धपयपीते यैवायूस्तरुद्दलैः कृता ।

पीता विरेचयत्याशु गुडेनोत्कारिका कृता ॥८२॥

लेहो वा साधितः सम्यक् क्षुहीक्षीरसिताधृतैः ।

भायितास्तु क्षुहीक्षीरे पिप्पल्यो लवणान्विताः ॥८३॥

चूर्णं काम्पिहृकं वाऽपि तत्पीतं गुटिकीकृतम् ।

थोहर के दूध में भावना दिये हुए पायलों से बनाई हुई यवागू; अथवा (भावना दिये हुए गेहूँ के) गुड़ में बनाई हुई उत्कारिका (लप्पी); अथवा थोहर का दूध, शर्करा और पूत इनसे योग्य विधि द्वारा सिद्ध किया हुआ लेह; अथवा थोहर के दूध में भावना दी हुई लवण युक्त पिप्पली; अथवा थोहर के दूध में भिगोकर बनाई हुई कमीले की गोली सेफन

करने पर तत्काल विरेचन होता है ॥८२,८३॥

सप्तला शङ्खिनी दन्ती त्रिवृदारग्वधं गवाम् ॥८४॥

मूत्रेणाप्लाव्य सप्ताहं क्षुहीक्षीरे ततः परम् ।

कीर्णं तेनैव चूर्णं माल्यं वसनमेव च ।

आघ्रायावृत्य वा सम्यक्शुद्धुकोष्ठो विरिच्यते ॥८५॥

शिकेकाई, शंखिनी, दन्ती, नियोध, अमलतास इनकी

(पहले) सात दिन तक गोमूत्र में भावना दे; फिर (सात दिन) थोहर के दूध में भावना दे । पश्चात् (चूर्ण करके) उस चूर्ण को फूल पर डालकर सुंधने से या उसी चूर्ण से वस्त्र को भावना देकर परिधान करने से (आवृत्य) शुद्धकोष्ठ मनुष्यों को विरेचन हो जाता है ॥८४,८५॥

क्षीरत्वक्फलमूलानां विधानैः परिकीर्तितैः ।

अन्वेक्ष्य सम्यगोगादीन् यथावदुपयोजयेत् ॥८६॥

रोगादि (बातों के बलावल) को देखकर (विरेचनीय) क्षीर, त्वचा, फल और मूल इनके वर्णन किये हुए विधानों को जहाँ जिसका प्रयोग उचित हो, वहाँ उपयोग करे ॥८६॥

त्रिवृच्छाणमितास्तिस्तिस्त्रश्च त्रिफलात्वचः ।

विडङ्गपिप्पलीक्षारशाणास्तिस्त्रश्च चूर्णिताः ॥८७॥

लिङ्गात् सर्पिर्मधुभ्यां च मोदकं वा गुडेन वा ।

भक्षयेत्पिप्परीह्वारमेतच्छ्रेष्ठं विरेचनम् ॥८८॥

गुल्मान् झीहोदरं कासं हलीमकमरोचकम् ।

कफवातरुतांश्चान्यान् ज्याधीनेतद्यपोहति ॥८९॥

नियोध तीन शाण (डूँ ताला), त्रिफला की छाल तीन

शाण, विडंग, पिप्पली और यवक्षार तीनों (मिलकर) तीन शाण लेकर उनका चूर्ण करे ॥८७॥ और घृत तथा मधु के साथ चाटे या गुड़ से मोदक बनाकर सेवन करे । यह योग्य निधेय और श्रेष्ठ विरेचन है ॥८८॥ जो गुल्म, झीहोदर, कास, हलीमक, अरुचि तथा कफवातजन्य अन्य रोगों को नाश करता है ॥८९॥

घृतेषु तैलेषु पयःसु चापि

मधेषु मूत्रेषु तथा रसेषु ।

घृतेषु तैलेषु पयःसु चापि मधेषु मूत्रेषु तथा रसेषु ।

१ सुहीक्षीरपयोधृतैः ।

है ॥५८॥ श्लेष्म शीत पित्तजन्य रोगों से पीड़ित मनुष्यों को इसे साकर ऊपर दूध पीना चाहिये । (अणु लड्डू आदि) भक्ष्य पदार्थों की तरह होने से अमीर रोगियों में भी इसका प्रयोग हा सकता है ॥५९॥

तिल्यकस्य त्वच शुष्मामन्तर्वेदकयिजिताम् ।
चूर्णयित्वा तु द्वौ भागौ तत्कपायेण गालयेत् ॥६०॥
तृतीय भावित तेन भाग शुष्क तु भावितम् ।

दशमूलीकपायेण त्रिवृद्धत्त सप्रयोजयेत् ॥६१॥
साध (मूल) की अन्तर्क छापकर सूखी छाल को चूर्ण करके उस चूर्ण के दो तिहाई भाग का उसी क काय में भिगाकर वह काय छान ले ॥६०॥ और इस काय में शेष चूर्ण का भावना दकर सुगा छ । फिर उस दशमूलकाय में भावना दन और त्रिगोव की भाति प्रयोग कर ॥६१॥

विधान त्वन्मु निद्रिण फणानामथ घृद्यते ।
(विरचनीय) त्वचाओं की विधि (अब तक) वर्णन की गई है । अब आग (विरचनीय) कर्णों की विधि वर्णन की जायगी ।

हरीतकीया फल त्वस्थिविमुक्त दोषयजितम् ॥६२॥
योज्य त्रिवृद्धिधानेन सर्वव्याधिनिवर्द्धणम् ।
रसायन पर मेष्य दुष्टात्मणशोधनम् ॥६३॥

गुल्मी निकाल हृण दाहरहित हरद क फल नियोज की विधि क अनुसार उपयोग करन से सब रोगों का नाश होता है । हरीतकी का प्रयोग परम रसायन बुद्धि क लिये हितकर शीत दुष्ट तथा अन्तर्मय का शोधन करने वाला है ॥६२ ६३॥

घक्तदय—नेत्रनिर्जन—शुष्कत्वशीथानि कले बले यथाविधि ।
आग्निवपननगण्यमल्लिखीजिगानि च । यान्यग्रन्थ न्वनृन्नि निर्देश्यभ्यगतानि च (चरक) । रस वन—लाभोपायो दि शब्दानां रसाणां रसायान् (चरक) ।

हरीतकी विडङ्गानि मैथय तामर त्रिवृत् ।
मरिचानि च तस्यैर्गोमूषण विरेचनम् ॥६४॥
हरदा विडंग मैथय सडं निगण और मिरष इन सबों का सवन गाम्पू क साथ करन न विरचन होता है ६४॥

हरीतकी मद्भद्राक बुध पूषणक तथा ।
मैथय श्टकवेरं च गोमूषेण विरेचनम् ॥६५॥
हरदा मन्नाक, बुध गुप्ताती मैथय और सडं इनका गाम्पू क साथ सवन करन न विरचन होता है ॥६५॥

नीलिनीच उचूर्ण च तामरामययोस्ताथा ।
लिहाद् गुडेन सन्निः पश्चात्पुण्य पिषेदरः ॥६६॥
नीलिनीचक सडं और हरदा इनका चूर्ण गुड क साथ सवन कर और पीडं गरम पानी पीन ॥६६॥

विण्यदपार्दिक्पायेण विषेत्पिष्टां हरीतकीम् ।
मैथयशोधिता सध पद योगो विरेचयत् ॥६७॥
विण्यदपार्दिक्पायेण विरेचन करके का चूर्ण विण्यदपार्दिक्पायेण क साथ सवन कर । यह वाग तत्काल विरचन करता है ॥६७॥

हरीतकी भक्ष्यमाणा नागरेण गुडेन वा ।
सैन्धवोपहिता वाऽपि सातत्येनाग्निदीपनी ॥
चातानुलोमनी घृष्या चेन्द्रियाणां प्रसादनी ।
सन्तपणशृता रोगान् प्रायो हन्ति हरीतकी ॥
सडं गुड वा सैन्धवा नमक क साथ निरन्तर सेवन करने हरीतकी अग्नि का दीपन करती है ॥६८॥ हरीतकी प्र चातानुलोमक शरीरशुद्धिकर इन्द्रियों में प्रसाद उत्पन्न क वाली और (दिवास्वप्न श्लिष्य भोजन आदि) संतं आहार विहार से उत्पन्न होने वाले रोगों का नाश करने वा हानी है ॥६९॥

घक्तदय—दृग्—शरीरशुद्धि करने वाली—यद्यकिचिन्म विन्ध शीतने बृहण गुक । हर्षण मनमद्वैत तत्सर्वं वृष्यमुष्यने (चरक) । घृष्य का सामान्य अर्थ शरीरशुद्धिकर होता है; पर यद् अर्थ हरीतकी क संबंध में प्रयुक्त नहीं है क्योंकि हरीतकी वीर्यशयि लोगों के लिये अहितकर है—अग्निनिनो रुध्रमुन शीत विषकषिना । सवेरत्राभवामने ॥ (चरक) । चरक में भी हरीतकी को पीछि की कहा है । सन्तपणशृता रोग—अमेहकण्डूपित्त शठपाण्यनाम वरा । बुध—यामप्रपाश्व मूत्रकृत्स्नमतेच ॥ तत्र हेभ्यमनिरुचौचमालम्ब गुस्त्राववा । इदियशोतसां श्लेो बुद्धर्मो प्रतीक । (चरक) ।

हरीतमामलक रूक्ष पित्तमेद कफापहम् ।
विभीतकमनुष्य तु कफपित्तनिवर्द्धणम् ॥७०॥
श्रीगण्यप्यम्लव्यायाणि सतिनमधुराणि च ।

आंवला ठंडा रुक्ष और पित्त मेद तथा कफ का नाश है । बड़हा अनुष्य (न गरम न ठंडा) और कफ तथा पित्त का नाशक है ॥७०॥ य तीनों मी (त्रिकला) अम्ल कषाय तिज और मधुररसयुक्त होते हैं ।

त्रिकणा सर्वरोगाग्नी त्रिभानघृतमूर्च्छिता ॥७१॥
घयस स्थापन चापि कुर्यात् सततसेविता ।
(त्रिकला के गुण—) त्रिकला (हरदा बोड़ा जी आमलक) तिगुने घृत के साथ मिलाकर निरन्तर सेवन करने से सब रोगों का नाश करती है और वय को स्थापन करती है ।

हरीतकीविधानेन फणायेय प्रयोजयेत् ॥७२॥
विरेचनानि सर्वाणि—
सब विरचनीय कर्णों का उपयोग इन प्रकार हरीतकी विधि क अनुसार करे ।

—विशेषाद्यतुरगुणात् ।
फण वाले समुज्ज्वल मिश्रणाया पिषापयेत् ॥७३॥
समाह्मातप पुष्प ततो मज्जानमुद्धरेत् ।
मैल प्राय जले पचया तिलपट्टा प्रपीडय च ॥७४॥
तस्योपयोगो चाग्नात् यापद्वयापि द्वादश ।
लिहादरपट्टलेन शुष्कशिकटुकान्पितम् ॥७५॥
गुणाद्व चानुपिषेदेय योगो विरेचयेत् ।

विण्यदपार्दिक्पायेण (अम्लनाय) बुध न वरिष्ठा पचया में पानी का अन्तर सवन दिन तक चालुका में सवन ।

में सुखाकर उनकी गिरी निकाल ले । फिर पानी लेकर या तिलों की तरह कोल्हू में पेरकर उस गिरी से काले ॥७३,७४॥ इस तेल का उपयोग बारह घर्ष तक कर्णों के लिये होता है । इसको एरण्डतैल तथा कुष्ठ श्रेकटु मिलाकर चाटे ॥७५॥ ऊपर से सोहाता जल पीवे । यह विरेचन करता है ।

एडतैलं त्रिफलाकाथेन त्रिगुणेन तु ॥७६॥

तं पीतं तथा क्षीररसाभ्यां तु विरेचयेत् ।

वृद्धक्षतक्षीणसुकुमारेषु योजितम् ॥७७॥

एण्ड का तैल त्रिगुने त्रिफला के काथ के साथ या दूध या मांसरस के साथ पीवे । इससे भी विरेचन है । बालक, वृद्ध, क्षतक्षीण तथा सुकुमार प्रकृति वाले पों के लिये यह योग प्रशस्त होता है ॥७६,७७॥

लानां विधिरुद्धिः क्षीराणां शृणु सुश्रुत ! ।

हं सुश्रुत ! (विरेचनीय) फलों का उपयोग कैसे करना है, इसकी विधि वर्णन की गई । अब दुग्धों की विधि ब्र करो ।

विरेचनानां तीक्ष्णानां पयः सौधं परं मतम् ॥७८॥

इह प्रयुक्तं तद्धन्ति विषवत् कर्मविभ्रमात् ।

ज्ञानता प्रयुक्तं तु महान्तमपि संचयम् ॥७९॥

भेनत्याश्वेच दोषाणां रोगान् हन्ति च दुस्तरान् ।

तीक्ष्ण विरेचक द्रव्यों में स्नुहीक्षीर सर्वश्रेष्ठ है ॥७८॥

के कर्म का ज्ञान न होने के कारण अज्ञ के हाथ का योग किया हुआ उसका क्षीर विष के समान नाश करता । परन्तु ज्ञानी वैद्य के द्वारा उपयोग करने से वह क्षीर पों के भारी संचय को भी सुरन्त भेदन कर देता है तथा एण्ड रोगों को भी दूर करता है ।

घक्तव्य—सुधावृक्ष दो प्रकार का होता है, एक बहु-

ण्डक और दूसरा तीक्ष्णाल्पकण्टक । बहुकण्टक को सुकु,

या या स्नुही (Euphorbia Ligularia) कहते हैं ।

तीक्ष्णाल्पकण्टक को सेहुण्ड (Euphorbia Antiquorum)

कहते हैं । इनमें से स्नुही या बहुकण्टक अधिक तीक्ष्ण होता

है—दिविधः स मतो वैश्व बहुभिश्चैव कण्टकैः । सुतीक्ष्णैः कण्टकैरत्यैः

श्वरो बहुकण्टकः ॥ (चरकसंहिता) । ऐसे द्विवर्ष या त्रिवर्ष

आयु के वृक्ष का क्षीर शिशिरकृतु के अन्त में ग्रहण करना

चाहिये—त विपाठ्याहरेव क्षीर श्लेष्ण मतिमान् भिषक । द्विवर्षं वा

त्रिवर्षं वा शिशिरान्ते विशेषतः ॥ (चरक) ।

पश्याः पञ्चमूल्यास्तु बृहत्पयोश्चैकशः पृथक् ॥८०॥

कपायैः समभागं तु तदङ्गैरैर्विशोषितम् ।

अम्लादिभिः पूर्वचक्षु प्रयोज्यं कोलसंमितम् ॥८१॥

महत्पंचमूल, स्थूलवृहती और सूक्ष्मवृहती इन (सात)

पशुओं का पृथक् पृथक् कपाय बनाकर एक साथ मिला दे

और उसमें एक के तुल्य (एक सप्तमांश) थोहर का दूध

डालकर उसे अंगारों पर सुखा ले और एक कर्ष की मात्रा में

अम्ल पदार्थों (सौवीरक, तुषोदक, सुरा, मातुलुंगरस, आम-

लकरस इत्यादि के) साथ पूर्ववत् (नियोय की विधि के अनुसार) प्रयुक्त करे ॥८०,८१॥

महावृक्षपयपीतै र्यवागूस्तएडुलैः कृता ।

पीता विरेचयत्याशु गुडेनोत्कारिका कृता ॥८२॥

लेहो वा साधितः सम्यक् स्नुहीक्षीरसिताघृतैः ।

भावितास्तु स्नुहीक्षीरे पिप्पल्यो लवणान्विताः ॥८३॥

चूर्णं काम्पिप्लकं वाऽपि तत्पीतं शुटिकीकृतम् ।

थोहर के दूध में भावना दिये हुए चावलों से बनाई हुई यवागू; अथवा (भावना दिये हुए गेहूँ के) गुड़ में बनाई हुई उत्कारिका (लप्सी); अथवा थोहर का दूध, शर्करा और घृत इनसे योग्य विधि द्वारा सिद्ध किया हुआ लेह; अथवा थोहर के दूध में भावना दी हुई लवण युक्त पिप्पली; अथवा थोहर के दूध में भिगोकर बनाई हुई कमीले की गोली सेवन करने पर तत्काल विरेचन होता है ॥८२,८३॥

सप्तला शङ्खिनी दन्ती त्रिवृदारचवधं गवाम् ॥८४॥

मूत्रेणाप्लाव्य सप्ताहं स्नुहीक्षीरे ततः परम् ।

कीर्णं तेनैव चूर्णेन माल्यं वसनमेव च ।

आघ्रायावृत्य वा सम्यङ्मृदुकोष्ठो विरिच्यते ॥८५॥

शिकेकाई, शंखिनी, दन्ती, नियोय, अमलतास इनको (पहले) सात दिन तक गोमूत्र में भावना दें; फिर (सात दिन) थोहर के दूध में भावना दे । पश्चात् (चूर्ण करके) उस चूर्ण को फूल पर डालकर सूंधने से या उसी चूर्ण से वस्त्र को भावना देकर परिधान करने से (आकृत्य) मृदुकोष्ठ मनुष्यों को विरेचन हो जाता है ॥८४,८५॥

क्षीरत्वक्फलमूलानां विधानैः परिकीर्तितैः ।

अवेक्ष्य सम्यग्रोगादीन् यथावदुपयोजयेत् ॥८६॥

रोगादि (बातों के बलाबल) को देखकर (विरेचनीय)

क्षीर, त्वचा, फल और मूल इनके वर्णन किये हुए विधानों को

जहाँ जिसका प्रयोग उचित हो, वहाँ उपयोग करे ॥८६॥

त्रिवृच्छाणमितास्तिस्त्रस्त्रश्च त्रिफलात्वचः ।

विडङ्गपिप्पलीक्षारशाणास्तिस्त्रश्च चूर्णिताः ॥८७॥

लिङ्गात् सर्पिर्मधुभ्यां च मोदकं वा गुडेन वा ।

अभयेन्निष्परीहारमेतच्छ्रेष्ठं विरेचनम् ॥८८॥

गुल्मान् प्रीहोदरं कासं हलीमकमरोचकम् ।

कफवातरुतांश्चान्यान् व्याधीनेतद्वापोहति ॥८९॥

नियोय तीन शाण (३ तौला), त्रिफला की छाल तीन शाण, विडंग, पिप्पली और श्वक्षार तीनों (मिलकर) तीन शाण लेकर उनका चूर्ण करे ॥८७॥ और घृत तथा मधु के साथ चाटे या गुड़ से मोदक बनाकर सेवन करे । यह योग निर्यत्रण और श्रेष्ठ विरेचन है ॥८८॥ जो गुल्म, प्रीहोदर, कास, हलीमक, अरुचि तथा कफवातजन्य अन्य रोगों को नाश करता है ॥८९॥

घृतेषु तैलेषु पयःसु चापि

मधेषु मूत्रेषु तथा रसेषु ।

भक्ष्यान्नलेद्येषु च तेषु तेषु

विरिचनान्यप्रमतिर्विद्येष्यात् ॥९०॥

एत, तैल, दूध, मद्य, मूत्र, स्वरस, (मोक्ष आदि) भक्ष्ये पदार्थ, (भात आदि) अन्न पदार्थ और अन्नेह इनमें से जो उचित हो उमी में (मिलाकर) बुद्धिमान् वैद्य विरिचन द्रव्यों का उपयोग करे ॥९०॥

शीरं रमः कस्कमयो कपायः

शृतञ्च शीतञ्च तथैव फाण्टम् ।

कल्पाः पडेते खलु मेघजातानि

यद्योत्तरं ते लघयः प्रदिष्टाः ॥९१॥

इति मधुमहितावां युरवस्थे विरिचनद्रव्यविकल्पविज्ञानोद्यो नाम चतुश्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥९१॥

(बुद्ध्यादि का) दूध, स्वरस, कस्क, शृत कपाय, शीत कपाय तथा फाण्ट ये औषधियों के छ कल्प होते हैं और ये उत्तरोत्तर हलके हैं ॥९१॥

घक्तद्वय—स्वरस—भाहवात्तुगुणाहृष्टाद् द्रव्यास्तुष्णान्तसमुद रेत् । बन्धनिष्पीडितो य सरस स्वरत उच्यते ॥ (शाङ्खधर) । कस्क—य निरुद्धादिपिष्टानां स कस्क परिकीर्तित ॥ शृत कपाय—काडा—पानीय रोद्धशुण्णं शुण्णे द्रव्यपले शिषेत् । शृतान्ने कापयेद् प्राणनष्टमांशावशेषिनम् ॥ काय की अंग्रेजी में डीकोक्शन (Decoction) कहते हैं । शीत कपाय—शुण्णं द्रव्यपल समक्त्वं शिर्निरीर-पले प्लुन्म् । निशोषिन हिम स स्वापथा शीतकपायकं ॥ फाण्ट—शुण्णे द्रव्यपले सत्यम्बलशुण्ण विनिर्दिशेत् । शृतान्ने कुञ्चोन्मान ततस्तु सावनेत्तद्वत् ॥ अंग्रेजी में शीत तथा फाण्ट दोनों की भी इन्फ्यूजन (Infusion) कहते हैं । फाण्ट के स्थान में कहीं चूर्ण ऐसा भी पाठ है परन्तु चूर्ण का समावेश कस्क में ही हो जाता है—चूर्ण कस्क एवान्भवनीयम् । द्विविधे हि कस्क म द्वाहोऽन्वभेति क्स्ता । (चक्रपाण्डित्य, चरकटीका) । लघय—शीर से स्वरस हलका, स्वरस से कस्क हलका, कस्क से काय हलका इत्यादि और फाण्ट सबसे हलका—नेत्रां यथापूर्वं बलाधिक्यम्, अन्न कपायकल्पनां ग्याध्यातुरबलापक्षिणी । नलेव खलु सर्वाणि सर्वानि पयोपीनि भवन्ति । (चरक) । शरीर पर अपना कार्य करने की दृष्टि से हलका ।

शीत मास्करांमिणा गेतिव्यात्मनेजनविरीचनार्थामापूर्वद्वरत्स्वरदिपिकाया मधुमभाष्यीकार्या विरिचनद्रव्यविकल्पविज्ञानोद्यो नाम चतुश्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥९१॥

पञ्चचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथातो द्रवद्रव्यविधिभ्रमभ्यायं व्याख्यास्याम् ।

यद्योवाच भगवान् धन्वन्तरि ॥१॥

अब यहाँ से द्रवद्रव्यविधि नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

घक्तद्वय—द्रवद्रव्यविधि—पतले पदार्थों के प्रकार (विधि) जिसमें बर्षान किये हैं, ऐसा अध्याय ।

१ चूर्णम्

धारणमाध्यासजननं

निद्रावाहप्रशामनमेकान्ततः पच्यतमं च ॥२॥

आन्तरिक्ष जल अन्तरिक्ष, अश्रुत के समान जी लिये हितकर, गुच्छिकर, शरीर धाराय करने वाला, सुल करने वाला, धम, ह्रम, प्यास, भद्र, मूर्च्छा, तन्द्रा, तथा दाह की शांत करने वाला और निरपचाद् पच्य है ।

घक्तद्वय—आन्तरिक्ष—भूषोक और सूर्यलोक के बर्ति आकाश प्रदेश में स्थित । भूरुष्ट पर जो जल हो उसकी भाप सूर्य की उष्णता से बनकर आकाश प्रदेश स्थित होती है, वही आन्तरिक्ष जल है । अन्तिरेवम—अरस यानि जिमका स्वाद् लेने से किसी एक प्रकार के रस भी प्रकटस्व से मोघ नहीं होता । अश्रुत—अश्रुति जीवन—जीने के लिये आवश्यक और हितकर । ह्रम—यास श्मो रेहे मयूद् श्मन्वक्ति । ह्रम स इति विवेव शि प्रबाषक ॥ (सुश्रुत) । तन्द्रा—श्रित्वायेष्वम्प्राप्तिगौरव बुम्भन स निद्रात्लेव यत्पेरा तत्त्व तन्द्रा विनिर्दिशेत् ॥ तन्द्रा को धर्म 'टापकाइ स्टेट' (Typhoid State) कह सकते हैं । क्त पथगम च—प्रकृति में जो जल मिलता है, उसमें वर्ष के समान विद्युद् और पथक दूरा जल नहीं है । हल चरकमहिता में 'आन्तरिक्षमुदकानाम्' ऐसा ह्रमका उ वर्णन किया है । नवीन दृष्टि से आन्तरिक्ष जल की दो शि तार्ह होती हैं—(१) इसमें चूना और म्याग्नेशियम (Magnesium) के लवण नहीं होते जिससे यह अल्पत (Soft) या उल्का होता है । (२) इसमें रोगोप जीवाणु, विशेष करके अत्रिकण्वर, विस्चुचिका के जी नहीं होते हैं । इन दो कारणों से आन्तरिक्ष जल स्व के लिये सर्वैव हितकर होता है ।

तदेवावनिपतितमन्यतमं रसमुपलभते स्थान शोषाभदीनदृसरस्तडागवापीकूपसुएटीप्रस्त्रवणोदि विचिकरेकेदारपल्वलादिषु स्थानेष्ववस्थितमिति ॥

पृथिवी पर गिरा हुआ वही आन्तरिक्ष जल (गंगा नदी, (सिन्धु शाल्यादि) नद, (मानसादि स्वाभाविक स्रोत, (कुम्भिक,) तालाब, बावड़ी, कूट, चीखा (आ कूप), प्रवण (पहाड से नीचे गिरने वाला अनर उन्नित (पृथिवी से जहाँ पानी निकलता हो यथा कुण विकिर (जहाँ बालु सोदने से पानी निकलता है), के तथा पल्वल (आनूदेशानुगादिच्छत्र मर) इत्यादि स्थ में स्थित हुआ स्थानगुण के अनुसार किसी न किसी रूप प्राप्त होता है ॥३॥

घक्तद्वय—आन्तरिक्ष जल के गुणधर्म तमाम दुनिया एक से ही हुआ करते हैं, परन्तु भूमिगत जल के गुणधर्म पर स्थान में भिन्न भिन्न हुआ करते हैं । वस्तुत आन्तरिक्ष और भूमिगत जल दोनों एक ही हैं । आधुनिक भौतिकविज्ञ से दोनों भी प्रकार का पानी एक रासायनिक यौगिक है जिस दो भाग हायड्रोजन वायु और एक भाग आक्सीजन व (H₂O) होती है । परन्तु भूमिगत पानी में भूमि की ज

सार भिन्न भिन्न पदार्थ मिलने से पानी के गुणों में त भिन्नता हो जाती है । इसका प्रधान कारण यह है नी में अन्य पदार्थों को अपने में विलीन (Dissolve) विभोग धर्म है, जिससे जिस भूमि में पानी स्थित है उस भूमि के कई पदार्थ पानी में विद्रुत हो जाते हैं पानी के गुण धर्मों में फेर फार हो जाता है । इसी प्रकार में लिखा है—जलमेकविधं सर्वं पतत्येन्द्रं नभस्तलात् । पतितं चैव देशकालानपेक्षते ॥ रास्यतस्मीमवाच्यैः स्पष्टे कालानु- ३ः । शीतोष्णस्त्रिगुणश्चापेयभासन्न महीगुणैः ॥ शीत शुचि शिव रमल लघु पद्गुणम् । प्रकृत्या दिव्यमुद्रकं भ्रष्टं पात्रमपेक्षते ॥ ३, २७) । इसके सिवाच भूमिगत पानी में फेर होने का कारण यह है कि आन्तरिक जल के वायुमण्डल में से भूमि पर गिरते समय उसमें हवा के कई वायुरूप धर्म, दूसरे ठोस अवलंबनस्थ सूक्ष्मांश, धूलि के कण इत्यादि धर्म मिल जाते हैं । सामान्यतः एक लिटर (१० तोला) जल में २५ सी. सी. (२ तोला) वायुरूप पदार्थ होते जिसमें ६४०/० नायट्रोजन, ३४०/० आक्सीजन और २०/० केन बायोक्साइड होती है । समुद्रसमीपवर्ती नगरों के जल में नमक भी मिलता है । बड़े बड़े व्यापारी नगरों में भी कल कारखाने बहुत होते हैं, उनसे निकले हुए जहरीले पदार्थ, धूलि तथा अन्य पदार्थ वर्षाजल में मिले जाते हैं । वर्षा ऋतु के प्रारंभ में वायुमण्डल इन अशु- र्णों से भरा रहता है, इसलिये उस समय का वर्षाजल कल करने योग्य नहीं होता—अनातं च यदिव्यमातं प्रथम च ॥ तदादितन्तुविष्मद्विपसंक्षेपदधितम् । न पिबेत् ॥ (वाग्भट) । इसलिये यदि वर्षाजल साक्षात् पीने के लिये इकट्ठा करना तो उपर्युक्त बातों पर ध्यान देकर इकट्ठा करना चाहिये ।

तत्र, लोहितकपिलपाण्डुनीलपीतशुक्लेश्ववनि- षु मधुराम्ललवणकटुतिक्तकपायाणि यथा- षमुद्रकानि संभवन्तीत्येके भाषन्ते ॥४॥

उन्में लाल, कपिल, पाण्डु, पीत, नील तथा श्वेत (रंग) पृथिवी के प्रदेशों में मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त कषाय (रस का) पानी यथाक्रम होता है, इस प्रकार आचार्य कहते हैं ॥४॥

वक्तव्य—यथासंख्य—लोहितवर्ण की भूमि में मधुर, लवण की भूमि में अम्ल, पाण्डुरवर्ण की भूमि में लवण, नील भूमि में कटु, नीलवर्ण भूमि में तिक्त और श्वेतवर्ण भूमि में कषाय रस का पानी होता है । इस मत से भिन्न मत अष्टांगसंग्रह में मिलता है—श्वेत कषाय भवति पाण्डुरे तत्कम् । कपिले क्षारसंसर्गमुपरे लवणान्वितम् । कटु पर्वत- त्तरे मधुरं कृष्णवृत्तिके ॥

तसु न सम्यक् । तत्र पृथिव्यादीनामन्योन्या- विभाकतः सलिलरसो भवत्युत्कर्षापकर्षेण । तत्र, लवणभूयिष्ठायां भूमावम्लं लवणं च; अम्युगुण- भूयिष्ठायां मधुरं; तेजोगुणभूयिष्ठायां कटुकं तिक्तं

लघुगुणभूयिष्ठायां,

च; वायुगुणभूयिष्ठायां कषायम्; आकाशगुणभूयिष्ठा- यामव्यक्तरसम्, अव्यक्तं श्वाकाशमित्यतः; तत् प्रधानमव्यक्तरसत्वात्, तत्पेयमान्तरिक्षालामे ॥५॥

(धन्यन्तरि भगवान् कहते हैं कि) यह मत ठीक नहीं है । पृथिव्यादि महाभूतों के पंचीकरण से उत्पन्न हुए जल के रस का भेद (भूमिगत महाभूतों के) उत्कर्ष या अपकर्ष के अनुसार हुआ करता है । उनमें से पृथिवी के गुण अधिक होने वाले भूमि में अम्ल या खारा जल होता है । जल के गुण अधिक होने वाले भूमि में मीठा जल होता है । अग्नि के गुण अधिक होने वाले भूमि में कटु या तिक्त रस का जल होता है । वायु के गुण अधिक होने वाले भूमि में कषाय रस का जल होता है । आकाश के गुण अधिक होने वाले भूमि में जल का रस अव्यक्त अर्थात् अप्रकट होता है । इसलिये कि आकाश अव्यक्त होता है । वही जल अव्यक्त रस होने के कारण इतर जल की अपेक्षा प्रधान है । आन्तरिक जल के अभाव में वही आकाशगुणभूयिष्ठ भूमि का जल पीने योग्य होता है ॥५॥

तत्रान्तरिक्षं चतुर्विधम् । तद्यथा—धारं, कारं, तौषारं, हैममिति । तेषां धारं प्रधानं, लघुत्वात्; तत् पुनर्द्विविधं—गाङ्गं, सामुद्रं चेति । तत्र गाङ्ग- माश्वयुजे मासि प्रायशो वर्षति । तयोर्द्वयोरपि परीक्षणं कुर्वीत—शाब्दोदनपिण्डमक्षुधितमविदग्धं रजतभाजनोपहितं वर्षति देवे वहिष्कुर्वीत, स यदि मुहूर्ते स्थितस्तादृश एव भवति तदा गाङ्गं पततीत्य- वगन्तव्यं; वर्णान्यत्वे सिक्थप्रकृदे च सामुद्रमिति विधात्, तन्नोपादेयम् । सामुद्रमप्याश्वयुजे मासि गृहीतं गाङ्गवद्भवति । गाङ्गं पुनः प्रधानं, तदुपाद- दीताश्वयुजे मासि । शुचिशुक्लविततपटैकदेशच्युत- मथवा हस्यतलपगिभ्रष्टमन्यैर्वा शुचिभिर्भाजनैर्गृहीतं सौवर्णं राजते मृगमये वा पात्रे निदध्यात् । तत्सर्व- कालमुपयुञ्जीत, तस्यालामे भौमम् । तच्चाकाशगुण- वहुलम् । तत् पुनः सप्तविधम् । तद्यथा—कौषं, नादेयं, सारसं, ताडागं, प्रास्त्रवणम्, औद्भिदं चोष्णमिति ॥६॥

आन्तरिक जल चार प्रकार का होता है । जैसे—१ धार (जो धारा से वर्षा हो उसका जल), २ कार (कर अर्थात् ओले गिरें उसका जल), ३ तौषार (अर्थात् ओस की बिन्दुओं से उत्पन्न हुआ जल), ४ हैम (वर्ष गिरता है वह पिघल कर उत्पन्न हुआ जल) । इन (चारों) में हलका होने के कारण मेघ धारा का जल प्रधान है । फिर वह दो प्रकार का है—१ गांग और २ सामुद्र । इनमें से गांग जल प्रायः आश्विन के महीने में बरसता है । फिर भी उन-दोनों की परीक्षा करनी चाहिये—जो न सड़ा हुआ है या न जिसका वर्ण बदल गया है ऐसे पकाये हुए शालि चावलों का पिण्ड बनाकर चाँदी के पात्र में रखकर मेघ बरसते समय बाहर रख दे । वह धदि

मध्याप्रलेहोपु च तेषु तेषु

विरेचनान्यप्रमतिर्विद्वेषान् ॥१०॥

घृत, तैल, दूध, मद्य, मूत्र, स्त्रास, (मोरक आदि) भक्ष्ये पदार्थ, (भान आदि) अन्न पदार्थ और अन्वैह इतमें से जो उचित हो उसी में (मिलाकर) बुद्धिमान् वैद्य विरेचन द्रव्या का उपयोग करे ॥१०॥

शीरं रभः कल्कमद्यो कपायः

शृतञ्च शीतञ्च तथैव फाल्गुम् ।

कल्पाः पक्षेते क्षतु मेघजानां

यद्योत्तरं ते लघयः प्रदिष्टाः ॥११॥

इति सुधुतसंहितायां विरेचनद्रव्यविकल्पविधानोपो नाम चतुश्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥१०॥

(दूध आदि का) दूध, स्त्रास, कल्क, शृत कपाय, शीत कपाय तथा फाल्गु में अंगवर्धिका के छ कल्प होते हैं और ये उत्तरोत्तर हल्के हैं ॥११॥

घृत, दूध—रस—मधुरताउष्णगारुहृत् द्रव्याण्युष्णरसमुदरेत् । शरीरिणीकितो व सरस स्त्रास उष्णते ॥ (शार्ङ्गपर) । कल्क—य विरुधार्द्रविष्टानां स कल्क परिधीनित ॥ शृत कपाय—काडा—पानीय शोथसुणो गुण्ये द्रव्यफले विरेद्ये । शृताने कापवेद् प्राप्तमताशातवेधिन ॥ छाद्य को अंग्रेजी में डीकोक्शन (Decoction) कहते हैं । शीत कपाय—सुष्णो द्रव्यजन समहृष्वग्निनीरपले क्षुत्तम् । निशेषित हिम स स्वातथा शीतकपायक ॥ फाल्गु—गुण्ये द्रव्यफले सम्यग्गुण्य विनिर्गुण्ये । शीताने कुशोष्णान ततस्तु सावयेरगदाय ॥ अंग्रेजी में शीत तथा फाल्गु दोनों को भी द्रव्ययुजन (Infusion) कहते हैं । फाल्गु के स्थान में कहीं चूर्ण पेसा भी पाठ है परन्तु चूर्ण का समावेश कल्क में ही हो जाता है—चूर्ण कल्क पचानभावेनीयम् । विविधो वि कल्क स द्रवोऽत्रभेति श्ला । (चक्रपाण्डित, चरकटीका) । लघय—शीर से स्त्रास हलका, स्त्रास से कल्क हलका, कल्क से काप हलका इत्यादि और फाल्गु सबसे हलका—नेपां यथापूर्वं बलाधिक्यम्, अन्न कपायकल्पना म्याभ्यास्तुल्यकाश्रिणी । प्रत्येव क्षतु सर्वाणि सर्वेषो पयोपीनि भवन्ति । (चरक) । शरीर पर अपना कार्य करने की दृष्टि से हलका ।

इति भास्करसर्मणा गोविन्दारम्भेन विरचिनयामानुवेदरत्नवटीकितयां सुधुतमाषादीकायां विरचनद्रव्यविकल्पविधानोपो नाम चतुश्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥१०॥

पञ्चचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथातो द्रयद्रव्यविधिप्रध्यायेऽथ्याख्यास्याम् ।

यद्योवाच भगवान् धन्यन्तरिः ॥१॥
अब वहाँ से द्रवद्रव्यविधि नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्यन्तरि ने किया ॥१॥
घृत, दूध—द्रवद्रव्यविधि—यत्ने पदार्थों के प्रकार (विधि) जिसमें धर्तन किये हैं, ऐसा अध्याय ।

धारणमाध्यामजननं श्रमह्यमपिपासामद्रमूत्सुर्कानि निद्रादादप्रशामनमेकान्ततः पट्युत्तमं च ॥२॥

आन्तरिक्ष जल प्रत्यक्षरस, मद्युन के समान जीव जिये हितकर, मृत्तिका, शरीर धारण करने वाला, सुख करने वाला, श्रम, झुम, प्यास, मद्य, मूच्छा, तन्द्रा, तथा दाह को शांत करने वाला और निद्रापाद पच्ये है पर यत्नव्य—आन्तरिक्ष—भूयोक और सूर्यलोक के बर्तन आकाश प्रदेश में स्थित । मृच्छ पर जो जल होत उसकी भाष सूर्य की उष्णता से बनकर आकाश स्थित होती है, वही आन्तरिक्ष जल है । बनिरेश्वरस—अन्न रस पानि मिश्रका स्वाद लेने से किसी एक प्रकार के रस भी प्रकटह्य से बोध नहीं होता । मद्युन—अत्युत्तम जीवन—जीने के लिये आवश्यक और हितकर । श्रम—श्रीः शान्त अयो देहे प्रयुक्त श्रमजनित । श्रम म इति निवेद्य शीत प्रयापक ॥ (सुसुप्त) । तन्द्रा—विद्रव्यविधयतिगीव गुण्यन स्य निद्रावैलेन यत्नेया तय तन्द्रो विनिर्दिष्ट ॥ तन्द्रा को अंग्रेजी 'टाइफाइड स्टेट' (Typhoid State) कह सकते हैं । श्रान पच्यत य—मृद्धि में जो जल मिलता है, उसमें वर्षा के समान विद्युत् और पच्यकर दूरमा जल नहीं है । इसी चरकसंहिता में 'आन्तरिक्षानुरकानम्' ऐसा इयका व मयोन किया है । नवीन दृष्टि से आन्तरिक्ष जल की दो किं ताएँ होती हैं—(१) इसमें चूना और म्याग्नेसि (Magnesium) के लवण हैं होते जिससे यह अत्यंत । (Soft) या ढलका होता है । (२) इसमें रोमांसा जीवाणु, विशेष करके अंत्रिकजन्य, विसृष्टिका के जीव नहीं होते हैं । इन दो कारणों से आन्तरिक्ष जल स्वाद के लिये सर्वैव हितकर होता है ।

तद्देवाचनिपतितमन्यतमं रसमुपलभते स्थानि शेषाप्रदीनद्रसस्तडागावापीकूपेषुएटीप्रक्षयणोक्तिः विकिरकेदारयत्वादादिषु स्थानेष्ववस्थितमिति ॥३॥

पृथिवी पर गिरा हुआ वही आन्तरिक्ष जल (गंगादि नदी, (सिन्धु गंगादि) नद, (मानसादि स्वाभाविक सरोवर, (झुमि) तालाव, बावरी, कूप, खोड्य (अन्न कूप), प्रसवण (पहाड़ से नीचे गिरने वाला जरना उन्निय (पृथिवी से जहाँ पानी निकलता हो यथा कुण्ड बिकिर (जहाँ बालू खोदने से पानी निकलता है), केव तथा पत्थल (मानुषेस्तनयुपरिच्छन्न मर) इत्यादि स्थान में स्थित हुआ स्थानगुण्य के अनुसार किसी न किसी रूप में प्राप्त होता है ॥३॥

घृत, दूध—आन्तरिक्ष जल के गुणधर्म तमाम बुविवा । एक से ही हुआ करते हैं, परन्तु भूमिगत जल के गुणधर्म प्रत्ये स्थान में विशि मिश्र हुआ करते हैं । वस्तुत आन्तरिक्ष ज और भूमिगत जल दोनों एक ही हैं । आधुनिक भौतिकविद्या से दोनों भी प्रकार का पानी एक रासायनिक यौगिक है जिसमें दो भाग हायड्रोजन वायु और एक भाग ऑक्सीजन वायु (H₂ O) होती है । परन्तु भूमिगत पानी में भूमि की जगति

र मिश्र मिश्र पदार्थ मिलने से पानी के गुणों में मिश्रता हो जाती है । इसका प्रधान कारण यह है कि अन्य पदार्थों को अपने में विलीन (Dissolve) विशेष धर्म है, जिससे जिस भूमि में पानी स्थित उस भूमि के कई पदार्थ पानी में विद्रुत हो जाते पानी के गुण धर्मों में फेर फार हो जाता है । इसी चरक में लिखा है—जलमेकविधं सर्वं पतत्येन्द्रं नभस्तलात् । तितं चैव देशकालानपेक्षते ॥ खात्पतत्सोमवाय्वर्कैः स्पष्टं कालानु- : । शीतोष्णस्निग्धरुक्षार्थैर्यथासन्न महीगुणैः ॥ शीतं शुचि शिबं मल लघु पद्गुणम् । प्रकृत्या दिव्यमुद्रकं भ्रष्टं पात्रमपेक्षते ॥ (२७) । इसके सिवाय भूमिगत पानी में फर्क होने का कारण यह है कि आन्तरिक जल के वायुमण्डल में से भूमि पर गिरते समय उसमें हवा के कई वायुरूप , दूसरे ठोस अवलंबनस्थ सूक्ष्मांश, धूलि के कण इत्यादि मिल जाते हैं । सामान्यतः एक लिटर (९० तोला) जल में २५ सी. सी. (२ तोला) वायुरूप पदार्थ होते हैं ६४०/० नायट्रोजन, ३४०/० आक्सीजन और २०/० न डायोक्साईड होती है । समुद्रसमीपवर्ती नगरों के जल में नमक भी मिलता है । बड़े बड़े व्यापारी नगरों में कल कारखाने बहुत होते हैं, उनसे निकले हुए जहरीले धुँकजली, धूलि तथा अन्य पदार्थ वर्षाजल में मिले जाते हैं । वर्षा ऋतु के प्रारंभ में वायुमण्डल इन अशु- तीं से भरा रहता है, इसलिये उस समय का वर्षाजल न करने योग्य नहीं होता—अनातं च यद्विव्यमातं प्रथमं च । क्तादितन्तुविष्मूत्रविषसंश्लेषितम् । न पिबेत् ॥ (चारभट) । लिये यदि वर्षाजल साक्षात् पीने के लिये इकट्ठा करना तो उपयुक्त बातों पर ध्यान देकर इकट्ठा करना चाहिये ।

तत्र, लोहितकपिलपाण्डुनीलपीतशुक्लेश्ववनि- शेषेषु मधुराम्ललवणकटुतिक्तकपायाणि यथा- ष्यमुद्रकानि संभवन्तीत्येके भाषन्ते ॥४॥

उनमें लाल, कपिल, पाण्डु, पीत, नील तथा श्वेत (रंग) पृथिवी के प्रदेशों में मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त कपाय (रस का) पानी यथाक्रम होता है, इस प्रकार आचार्य कहते हैं ॥४॥

वक्तव्य—यथासंख्य—लोहितवर्ण की भूमि में मधुर, कपिल की भूमि में अम्ल, पाण्डुवर्ण की भूमि में लवण, नील की भूमि में कटु, नीलवर्ण भूमि में तिक्त और श्वेतवर्ण में कपाय रस का पानी होता है । इस मत से भिन्न मत अष्टांगसंग्रह में मिलता है—श्वेत कपायं भवति पाण्डुरे कटुम् । कपिले क्षारसंसंघमूरे लवणान्वितम् । कटु पर्वत- त्तु मधुरं कृष्णप्रतिके ॥

तत्तु न सम्यक् । तत्र पृथिव्यादीनामन्योन्या- ष्यशाहृतः सलिलरसो भवत्युत्कर्षापकर्षण । तत्र, लवणभूमिभूयिष्ठायां भूमावम्लं लवणं च; अम्बुगुण- भूमिभूयिष्ठायां मधुरं; तेजोगुणभूयिष्ठायां कटुकं तिक्तं सगुणभूयिष्ठायां,

च; वायुगुणभूयिष्ठायां कपायम्; आकाशगुणभूयिष्ठा- यामव्यक्तरसम्, अव्यक्तं ह्याकाशमित्यतः; तत् प्रधानमव्यक्तरसत्वात्, तत्पेयमान्तरिचालामे ॥५॥

(धन्वन्तरि भगवान् कहते हैं कि) यह मत ठीक नहीं है । पृथिव्यादि महाभूतों के पंचीकरण से उत्पन्न हुए जल के रस का भेद (भूमिगत महाभूतों के) उत्कर्ष या अपकर्ष के अनुसार हुआ करता है । उनमें से पृथिवी के गुण अधिक होने वाले भूमि में अम्ल या खारा जल होता है । जल के गुण अधिक होने वाले भूमि में मीठा जल होता है । अग्नि के गुण अधिक होने वाले भूमि में कटु या तिक्त रस का जल होता है । वायु के गुण अधिक होने वाले भूमि में कपाय रस का जल होता है । आकाश के गुण अधिक होने वाले भूमि में जल का रस अव्यक्त अर्थात् अप्रकट होता है । इसलिए कि आकाश अव्यक्त होता है । वही जल अव्यक्त रस होने के कारण इतर जल की अपेक्षा प्रधान है । आन्तरिक जल के अभाव में वही आकाशगुणभूयिष्ठ भूमि का जल पीने योग्य होता है ॥५॥

तत्रान्तरिकं चतुर्विधम् । तद्यथा—धारं, कारं, तौपारं, हैममिति । तेषां धारं प्रधानं, लघुत्वात्; तत् पुनर्द्विविधं—गाङ्गं, सामुद्रं चेति । तत्र गाङ्ग- माश्वयुजे मासि प्रायशो वर्षति । तयोर्द्वयोरपि परीक्षां कुर्वीत—शाल्योदनपिराडमकुथितमविदग्धं रजतभाजनेपहितं वर्षति देवे बहिष्कुर्वीत, स यदि मुहूर्तं स्थितस्तादृश एव भवति तदा गाङ्गं पततीत्य- वगन्तव्यं; वर्णान्यत्वे सिक्थप्रक्रेदे च सामुद्रमिति विद्यात्, तन्नोपादेयम् । सामुद्रमप्याश्वयुजे मासि गृहीतं गाङ्गवद्भवति । गाङ्गं पुनः प्रधानं, तदुपाद- दीताश्वयुजे मासि । शुचिशुक्लविततपटैकदेशच्युत- मथवा हर्म्यतलपरिभ्रमन्त्यैर्वा शुचिभिर्भाजनैर्गृहीतं सौवर्णं राजते मृगमये वा पात्रे निदध्यात् । तत्सर्व- कालमुपयुञ्जीत, तस्यालामे भौमम् । तच्चाकाशगुण- बहुलम् । तत् पुनः सप्तविधम् । तद्यथा—कौपं, नादेयं, सारसं, ताडागं, प्रास्त्रवणम्, औद्भिदं चौण्ड्यमिति ॥६॥

आन्तरिक जल चार प्रकार का होता है । जैसे—१ धार (जो धारा से वर्षा हो उसका जल), २ कार (कर अर्थात् ओले गिरे उसका जल), ३ तौपार (अर्थात् ओस की बिन्दुओं से उत्पन्न हुआ जल), ४ हैम (बर्फ गिरता है वह पिघल कर उत्पन्न हुआ जल) । इन (चारों) में हलका होने के कारण मेघ धारा का जल प्रधान है । फिर वह दो प्रकार का है—१ गांग और २ सामुद्र । इनमें से गांग जल प्रायः आश्विन के महीने में बरसता है । फिर भी उन दोनों की परीक्षा करनी चाहिये—जो न सड़ा हुआ है या न जिसका वर्ण बदल गया है ऐसे पकाये हुए शालि चावलों का पिण्ड बनाकर चाँदी के पात्र में रखकर मेघ बरसते समय बाहर रख दे ।

एक मुहूर्ते (४८ निमिष) (बरसते पानी में) वैसा ही (अविषर्ण और अकुपित) रहे तो जानना चाहिये कि गांग जल बरसता है और यदि वर्षा पलट जाय तथा पिण्ड में कौय वैसा हो जाय तो समझना चाहिये कि सामुद्र जल बरसता है । वह ग्रहण करने योग्य नहीं है । सामुद्र जल भी आश्विन के महीने में ग्रहण किया हुआ गांग जल के समान होता है । गांग जल आन्तरिक जल में प्रधान है; वह आश्विन के महीने में इकट्ठा कर लेना चाहिये । वही जल स्वच्छ, सफेद, बड़े फैले हुए वस्त्र के एक देश से गिरा हुआ, अथवा पके मकान की स्वच्छ छत से गिरा हुआ, अथवा स्वच्छ पात्रों में इकट्ठा किया हुआ सोने, चाँदी या मिट्टी के पात्र में रले और सब काल में उसका उपयोग करे । यदि वह न मिले तो आकाशगुणभूयिष्ठ श्रुषिबी से निकाला हुआ जल ग्रहण करे । वह भीम जल फिर सात प्रकार का होता है । जैसे—१ कौप (झूप का जल), २ नादेय (नदी का जल), ३ सारस, ४ तालाव का जल, ५ करुने का जल, ६ जमीन से निकालने वाला जल, और ७ चोण्ड्य (कच्चे कुए का जल) ॥६॥

घृतकव्य—चर्कसहिता में आन्तरिक जल के गांग और सामुद्र भेद नहीं दिखाए देते । गांग और सामुद्र पारिभाषिक शब्द हैं । गांग का अर्थ गंगाजल के समान शुद्ध और हितकर हो सकता है और सामुद्र का अर्थ समुद्र के पानी के समान खराब होता है । हारीतसंहिता में सामुद्र जल का लक्षण ऐसा दिया है—आजिलं सल्ल मील वन नीलमवापि वा । सशर पिच्छल वैव सामुद्र तन्निरपते ॥ मकानों के छतों से वर्षा जल इकट्ठा करने के लिये आज कल विरोप प्रकार के मंत्र (Robert s or Gibb's rain water Separator) होते हैं जो प्रारंभिक दूषित जल को छोड़कर केवल शुद्ध पानी को ग्रहण करते हैं । तत्कालमे भीमम्—आन्तरिक जल सब से उत्तम होता है इसलिये उसी का ही सेवन सदैव करना हितकर है । वस्तु वर्षाजल शरदों मास मिलना दुर्लभ है इसलिये इसके समान गुण जिसके होते हैं ऐसे आकाशगुणभूयिष्ठ मृगित जल का सेवन करना चाहिये । चोण्ड्यम्—पर्वतादी वापणनिर्गलिनम् । (हनु) ।

तत्र वर्षारित्यन्तरिचमीन्द्रिदं च संवेद्य, नहान्गुण-त्यात्; शरदि सर्वं, प्रसन्नत्यात्; हेमन्ते सारसं तादागं या; यस्तन्ते कौपं प्रास्त्रवणं या; प्रीष्मेऽप्येवं; प्रावृषि चौरष्टयमनमिभृष्टं सर्वं चेति ॥७॥

इनमें से वर्षा जल में आन्तरिक अथवा औजिद जल महागुणवान् होने के कारण सेवन करना चाहिये । शरद्वर्ष में वर्षाजल प्रसन्न हो जाने के कारण सेवन करना चाहिये । हेमन्तजल में सरोवर या तालाव का पानी पीना चाहिये । वसन्तजल में दूध या करुने का जल पीना चाहिये और इसी प्रकार प्रीष्मजल में भी । प्रावृष्मजल में शुष्की का पानी तथा वर्षा के पानी से जो दूषित नहीं हुआ है ऐसा (अनमिभृष्टं) सर्व प्रकार का जल पीना चाहिये ॥७॥

घृतकव्य—वर्षा—आश्विनमास । वर्षाजल के प्रारंभिक

महीने में वायुमण्डल धूलि तथा अन्य जीव जन्तुओं से रहने के कारण वर्षा का जल भी इनसे दूषित हो जाता बलहकाया समदा कीटा वृक्षाश्च सेवत । तद्विषोत्सर्गस्तर्गा-तसदा जलम् ॥ प्रसन्नत्यात्—शरद्वर्ष में आकाश निरभ्र है और अगस्तिस का उदय होता है । सूर्य और अमलिक किरणों पानी में पबने के कारण वर्षाजल में खराब । सव जल शरद्वर्ष में प्रसन्न हो जाता है । चर्कसहिता लिखा है—दिवा यर्षाशुभतत निशि चन्द्रांशुशीतलम् । कालेन निर्दोषमगस्त्येनाविरीकृतम् ॥ ह्योरकमिति ह्यतः शास्त्र विमन् शु-खानपानावगाहेषु हिनमनु यथामृतम् ॥

कीटमूत्रपुरीषाण्डशक्वकोधप्रदूषितम् ।
तृणपर्षोत्करयुतं कलुषं विपसंयुतम् ।
योऽवगाहेत वर्षासु पिबेद्योऽपि नवं जलम् ।
स याह्याभ्यन्तरान् रोगान् प्राप्नुयात् क्षिप्रमेव तु ॥

कीटे, मूत्र, विषा, (कीटों के) अंश, सड़े गले मृत व इनसे दूषित और तृण, वृक्षों के पत्ते, कूड़ा इनसे संयुक्त व गंदे विषयुक्त वर्षा के पानी में जो मनुष्य खान करता है उस नये पानी को पीता है वह मनुष्य (फोड़े, कुत्सियाँ व इत्यादि लघुपाशंघवी) बाह्य रोगों को तथा (अजीर्ण, मष वर्रोध आदि) आभ्यन्तर रोगों को तत्काल प्राप्त ॥८९॥

घृतकव्य—कीट मूत्रादि पानी की अशुद्धियाँ हैं । यह तं प्रकार की होती हैं—? वनस्पतिज, २ खनिज या पार्ष्णि और ३ प्रायिज । प्रथम प्रकार की अशुद्धि वनस्पतियों मुखे पत्ते तथा सुखे पेश आदि के पानी में सड़ जाने से हो है । दूसरे प्रकार की अशुद्धि जिन जिन स्थानों में से पा आता है या जिन स्थानों में कूबा तालाव इत्यादि को जाता है उन स्थानों की अन्तर्गत प्रकृति पर निर्भर होती है इस अशुद्धता से पानी के बाह्य स्वरूप में विशेष कर्कष होता । इसमें लोहा, जसद, स्रटिक, म्याग्रेसिप्रम अन्न इत्यादि खनिज पदार्थ होते हैं । तीसरे प्रकार की अशुद्धि स्वास्थ्यहानि की दृष्टि से सब से महत्त्व की है । इससे अने संक्रामक रोग उत्पन्न होते हैं । यह अशुद्धता पार्ष्णियों (विरोप करके मनुष्यों के) मलमूत्र का पानी के सा संमर्ग होने से उत्पन्न होती है । व्यापित मनुष्यों के मलमूत्र में अनेक रोगों के जीवाणु उपस्थित होते हैं जो जल के सा मिलकर दूसरे स्वस्थ मनुष्य के शरीर में प्रवेश कर ते उत्पन्न करते हैं । नाहाभ्यन्तरान् रोगान्—लघुषा के रोग अक्षिमास्य अतिमारादि आभ्यन्तरीय रोग—खानेन लघु-रोगान् कण्डूकुडनिर्गस्य । पानेन कफगुणमानां कुनीनां बरंभग-करोति विविधान् रोगान् ॥ (हारीतसंहिता) । नवीन वैज्ञानिक शोध के अनुसार वनस्पतिज अशुद्धि से दल्ल मरीछ, खनिज अशुद्धि से अक्षिमास्य, मलोजोवर्ष और दन्त तथा गल्लमय (Gostre), प्रायिज अशुद्धि से विषुधिका, (Typhoid fever) तथा मित्र मित्र प्रकार के पया गण्डूद कृमि (Round worm), सूत्रकृमि (worm), चपटे कृमि (Tape worm) अंडुगुण

ook worm), प्रतोदकृमि (Whip worm), स्नायुक (Guinea worm) इत्यादि उत्पन्न होते हैं ।

तत्र यत् पङ्कशैवालहट्टवृणपद्मपत्रप्रभृतिभिरव-
न्न शशिसूर्यकिरणानिलैर्नाभिजुष्टं गन्धवर्णरसो-
ष्टं च तद्यापन्नमिति विद्यात् । तस्य स्पर्शरूप-
गन्धवीर्यविपाकदोषाः पद संभवन्ति ॥१०॥

इनमें जो जल काई, हट्टवृण (जलकृमिका—Pistia
atiotes), पद्मपत्र इत्यादि के पत्तों से व्याप्त है, जिसे
और सूर्य की किरणों का तथा वायु का स्पर्श नहीं होता
जो गन्धवर्ण और रसयुक्त है उसे दूषित जल समझना
हिये । उसके छः दोष होते हैं—१ स्पर्शदोष, २ रूपदोष,
३ रसदोष, ४ गन्धदोष, ५ वीर्यदोष, और ६ विपाकदोष ॥१०॥

तत्र, खरता पैच्छिल्यमौष्ण्यं दन्तप्राहिता च
शर्शदोषः; पङ्कसिकताशैवालबहुवर्णता रूपदोषः;
स्पर्शरसता रसदोषः; अनिष्टगन्धता गन्धदोषः;
दुपयुक्तं तृणागौरवशूलकफप्रसेकानापादयति स
र्वदोषः; यदुपयुक्तं चिराद्विपच्यते विष्टम्भयति
स विपाकदोष इति । तं पते आन्तरिक्षे न
जित ॥११॥

उनमें से खरता (तीक्ष्णस्पर्शता), पिच्छिलता (धिक्-
हट्ट), उष्णता और दन्तप्राहिता (अतिशीतता) ये दोष
पर्यं के होते हैं । पङ्क, सिकता और शैवाल के (संसर्ग से
प्रकृते) वर्ण का दर्शन या (अन्य दोष के कारण नील
पीतादि) अनेक वर्ण का दर्शन यह रूप के दोष हैं । (किसी
भी प्रकार के) रस की प्रकृता रस का दोष है । घुरी गंध
शाना गन्ध दोष है । यदि उपयोग करने से तृषा, भारीपन,
दूध, कफ, प्रसेक (इत्यादि विकार) उत्पन्न हों तो वीर्य दोष
है । जिसके सेवन से अन्न देर से पचे और पेट में विट्भ
(मलावरोध, वायु का गुडगुड शुरु इत्यादि) हो तो यह
विपाक दोष है । ये (ऊपर कहे हुए छः प्रकार के) दोष
आन्तरिक्ष जल में (तथा आकाशगुणभूयिष्ठ भूमिगत जल में
भी प्रायः) नहीं होते ॥११॥

व्यापन्नस्य चाश्लिष्यं सूर्यातपप्रतापनं तप्तायः-
पिण्डसिकतालोम्राणां वा निर्वापणं प्रसादनं च
कर्तव्यं नागचम्पकोत्पलपाटलापुष्पप्रभृतिभिश्चाधि-
वासनमिति ॥१२॥

दूषित जल का वियोधन अग्नि पर पानी ओटाने से, सूर्य
की धूप में गरम करने से तथा लोहे, रेती या मिट्टी के पिण्ड
जिसमें लाल करके पानी में छोड़ने से करना चाहिये और
पानी को सुगंधित करने का काम नागकेशर, चम्पक, कमल,
पाटल इत्यादि पुष्पों से करना चाहिये ॥१२॥

वस्तव्य—दूषित जल के सेवन से अनेक रोग उत्पन्न
होने के कारण उन रोगों से रक्षा करने के लिये पानी का
प्रसादन करना बहुत आवश्यक है । पानी में जो अवलंबनस्थ
वस्तु, विदूत पदार्थ तथा जल बाध रोगों के जीवाणु होते
हैं उनकी पानी से अलग करना यह पानी के प्रसादन या

विशुद्धि (Purification) का अर्थ है । यहाँ प्रसादन की
तीन विधियाँ प्रदर्शित की हैं । इनमें पहली उल्कथन की विधि
सबसे उत्तम है और वैज्ञानिक दृष्टि से भी उत्तम प्रमाणित
हुई है । क्योंकि जो विधि जलस्थित रोगोत्पादक जीवाणुओं
का नाश करती है, वही उत्तम कहलाती है । पानी उबालने
के पश्चात् उसमें स्थित हुए सर्व विकारी जीवाणु तथा कृमि
नष्ट हो जाते हैं, उसमें विलीन हुए अमोनिया आदि सर्व वायु
रूप पदार्थ निकल जाते हैं और खटिक तथा अन्य मैला तली
में बैठता है । संक्षेप में उबालने से स्वास्थ्यहानिकारक जल के
प्रायः सर्व दोष दूर हो जाते हैं । केवल जल यदि बहुत मटीला
हो तो वह निर्मल नहीं हो सकता । सूर्यप्रकाश में जल
तपाने की दूसरी विधि बहुत व्यावहारिक नहीं है, तथा इस
विधि के ऊपर अधिक विश्वास भी नहीं कर सकते; तथापि
यह निःसंदेह सिद्ध हुआ है कि सूर्य की किरणों में जीवाणु-
नाशन की बहुत शक्ति है और प्रकृति में नैसर्गिक जल की
(नदी, तालाब, सरोवर इत्यादि की) शुद्धि करने में सूर्य
की किरणों बहुत सहायता करती हैं । तप्त पिण्डों का निर्वापण
करके जलप्रसादन करने की तीसरी विधि स्वस्थ मनुष्यों का
पीने का पानी शुद्ध करने के लिये प्रचलित नहीं है । इसका
उपयोग शष्पायस्था में तृषा हरण करने के लिये होता है—
शुक्ता पर्यटकं जरे, तृषि जलं मूचनृणोद्योद्भवम् । (अष्टांगहृदय) ।
आधुनिक काल में जलप्रसादन की विधियों में बहुत कुछ
सुधार हुआ है और जहाँ जहाँ इनका प्रयोग जारी हुआ है वहाँ
वहाँ जल दोषोत्पन्न रोग विलकुल नष्ट हो गये हैं या दगड़ी
रुग्णता बहुत घट गई है । आधुनिक काल में पानी की शुद्धि
निम्न विधियों द्वारा की जाती है—(१) भौतिक विधि—(अ)
तिथिकृपातन (Distillation)—(आ) उल्कथन, (इ)
नील लोहित किरणें (Ultra-violet-rays)—ये किरणें कृत्रिम-
तया उत्पन्न करके पानी में प्रविष्ट की जाती हैं । (२)
रासायनिक विधि—(अ) प्रक्षेपण (Precipitation)—
इसमें निम्न रासायनिक पदार्थ जल में विधिष्ट मात्रा में डाले
जाते हैं जिनकी क्रिया से पानी में जो मैला होता है वह तली
में बैठ जाता है—यथा चूना, फिटकरी इत्यादि । (आ)
जन्तुनाशन—इसमें निम्न रासायनिक पदार्थ जल में विधिष्ट
मात्रा में छोड़ दिये जाते हैं जिनकी क्रिया से पानी में जो
विकारी जीवाणु होते हैं वे मर जाते हैं । यथा—पोट्यासिअम
फर्मैगानेट, नीला लूतिया, क्लोरीन वायु इत्यादि । (३)
यांत्रिक निवारक (Mechanical filtration)—इसमें छोटे
या बड़े नितारक द्वारा जल की शुद्धि की जाती है । इन सब
विधियों में विकारी जीवाणुओं का पूर्णतया नाश करने की
दृष्टि से उल्कथन के सिवा दूसरी कोई विश्वसनीय विधि नहीं
है । इन विधियों के विशेष विवरण के लिये अर्थकार का
'स्वास्थ्यविज्ञान' (पृष्ठ ७५-९०) देखो ।

सौवर्णे राजते तास्रे कांस्ये यण्णियेऽपि वा ।
पुष्पावतंसं भौमे वा सुगन्धि ललिलं पित्रेत् ॥१३॥
व्यापन्नं चर्जयेन्नित्यं तोयं यद्वाप्यनार्तवम् ।
दोषसंजननं ह्येतस्माददीतादितं तु सख ॥१४॥

एक मुहूर्त (४८ मिनट) (बरसते पानी में) वैसा ही (अविद्येनं श्रीर अकुपित) रहे तो जानना चाहिये कि गाँव लक्ष बरसता है और यदि वर्षे पलट जाय तथा पिण्ड में कोय पैदा हो जाय तो समझना चाहिये कि सामुद्र जल बरसता है। वह ग्रहण करने योग्य नहीं है। सामुद्र जल भी आधिन के महीने में ग्रहण किया हुआ गाँव जल के समान होता है। गाँव जल अन्तरिक्ष जल में प्रधान है; वह आधिन के महीने में इकट्ठा कर लेना चाहिये। वही जल स्वच्छ, सफेद, नडे फोले हुए कप के एक देय से गिरा हुआ, अथवा पके मकान की स्वच्छ छत से गिरा हुआ, अथवा स्वच्छ पात्रों में इकट्ठा किया हुआ सोने, चाँदी या मिट्टी के पात्र में रसे और सब काल में उसका उपयोग करे। यदि वह न मिले तो आकाशगुणभूविष्ट शुधिवी से निकाला हुआ जल ग्रहण करे। वह भीम जल फिर सात प्रकार का होता है। जैसे—१ कौप (हृद्य का जल), २ मादिय (नदी का जल), ३ सारस, ४ तालाब का जल, ५ करने का जल, ६ जमीन से निकालने वाला जल, और ७ चौण्ड्य (कचे हृद्य का जल) ॥१॥

घकडय—घकसहिता में आन्तरिक जल के गाँव और सामुद्र भेद नहीं दिखाई देते। गाँव श्रीर सामुद्र पारि भाषिक घन्ट हैं। गाँव का जय गंगाजल के समान शुद्ध और हितकर हो सकता है श्रीर सामुद्र का जय समुद्र के पानी के समान खराब होता है। हारीतसंहिता में सामुद्र जल का हकण ऐसा दिया है—आविर्त्त समल नील वन पीतमपापि वा। सवार पिण्डल चैन सामुद्र तत्रिगपते ॥ मकानों के छतों से वर्षा जल इकट्ठा करने के लिये आज कल विशेष प्रकार के यंत्र (Robert's or Gibbs rain water Separator) होते हैं जो प्रारंभिक दूषित जल की छोटकर केवल शुद्ध पानी को ग्रहण करते हैं। दस्तावेजे औमन्—आन्तरिक जल सब से उत्तम होता है इसलिये उसी का ही सेवन सदैव करना हितकर है। दग्धु वर्षाजल बारहों मास मिलना दुर्लभ है इसलिये इसके समान गुण जिनके होते हैं ऐसे आकाशगुणभूविष्ट मृगिगत जल का सेवन करना चाहिये। चौण्ड्य—पर्वतानी पाणानिखलिनम् । (हन्तु) ।

तत्र वर्षास्वान्तरिक्षमौद्भिद्भिं वा सेयेत, महागुण त्वात्; शरदि सर्वे, प्रसन्नत्वात्, हेमन्ते सारसं ताहागं वा, वसन्ते कौपं प्राक्षधण वा, प्रीष्मेऽप्येव; प्रावृष्यि चौएट्यमनभिवृष्ट सर्वे चेति ॥७॥

इनमें से वर्षा जल में आन्तरिक अथवा औद्भिद् जल अहागुणवान् होने के कारण सेवन करना चाहिये। शरद्वृष्ट में छक्कल प्रसन्न हो जाने के कारण सेवन करना चाहिये। हेमन्तकाल में सरोवर या तालाब का पानी पीना चाहिये। वसन्तकाल में हृद्य या करने का जल पीना चाहिये और हली प्रकार प्रीष्मकाल में भी। प्रावृष्टकाल में शुष्दी का पानी तथा वर्षा के पानी से जो दूषित नहीं हुआ है ऐसा (अनभिवृष्ट) सर्व प्रकार का जल पीना चाहिये ॥१॥

घकडय—वर्षा—आधिनमास। वर्षाकाल के प्रारंभिक

महीने में वायुमण्डल धूलि तथा अन्य जीव जन्तुओं से रहने के कारण वर्षा का जल भी इनसे दूषित हो जाता बल्कि कपा समदा कीय द्युताभ सेवरा। तद्विरोत्सर्गमणं तत्पदा जन्तुम् ॥ प्रमत्रतात्—शरद्वृष्टु में आकाश निरन्न है और अगस्ति का उदय होता है। सूर्य और अगस्ति क्षिरयों पानी में पड़ने के कारण वर्षाकाल में खराब सब जन्तु शरद्वृष्टु में प्रसन्न हो जाता है। धरकसहित लिखा है—दिवा स्यात्शुभगतं निशि च द्रांशुगीतन्म् । कलेन निर्दोषमग्रस्थेनाविगीकृतम् ॥ हमेदकनिशि ख्यान शरद्विभक्तं शु खानपानावपासेु दिनमग्नु वषावृत्तम् ॥

कीटमूत्रपुरीपाण्डशायकोयप्रदूषितम्
गुणपर्णोत्करसुतं कलुषं विपसंसुतम्
योऽवगाहेत वर्षासु पिबेद्वाऽपि नवं जलम्
स याद्याभ्यन्तरान् रोगान् प्रामुयात् क्षिप्रमेव तु ।

कीड़े, मूत्र, विष्टा, (कीड़ों के) अंडे, सड़े गले शूत व इनसे दूषित और गुण, धूलों के पत्ते, कृदा इनसे संयुक्त व यदि विषयुक्त वर्षा के पानी में जो मनुष्य खान करता है उस नये पानी को पीता है वह मनुष्य (फोटे, कुन्सियाँ व हृत्पादि स्वपासंक्षयी) बाह्य रोगों को तथा (अजीर्ण, म परोध आदि) आभ्यन्तर रोगों को तत्काल प्राप्त है ॥८,९॥

घकडय—कीट मूत्रादि पानी की अशुधियाँ हैं। वह व प्रकार की होती हैं—१ वनस्पतिज, २ हविज या पार्मि और ३ प्राणिक। प्रथम प्रकार की अशुद्धि वनस्पतियों सूते पत्ते तथा सूखे पेड़ आदि के पानी में सड़ जाने से हो है। दूसरे प्रकार की अशुद्धि जिन जिन स्थानों में से पा जाता है या जिन स्थानों में कृदा तालाब हृत्पादि को जाता है उन स्थानों की अन्तर्गत प्रकृति पर निर्भर होती है इस अशुद्धता से पानी के बाह्य स्वरूप में विशेष कर्क न होता। इसमें लोहा, जसद, स्फटिक, म्याग्नेसियम अत्र हृत्पादि खनिज पदार्थ होते हैं। तीसरे प्रकार की अशुद्धि स्वास्थ्यहानि की दृष्टि से सब से महत्व की है। इस्ते अने संक्रामक रोग उत्पन्न होते हैं। यह अशुद्धता प्राणियों (विशेष करके मनुष्यों के) मलमूत्र का पानी के सा ससर्ग होने से उत्पन्न होती है। व्याधित मनुष्यों के मलमू में अनेक रोगों के जीवाणु उपस्थित होते हैं जो जल के सा मिलकर दूसरे स्वस्थ मनुष्य के शरीर में प्रवेश कर के उत्पन्न करते हैं। बाह्याभ्यन्तरान् रोगान्—स्वचा के रोग अग्निमान्द्य अतिमारादि आभ्यन्तरीय रोग—स्नानेन तं रोगान् कण्टकदुर्निर्जह्यम् । पानेन कण्टकमानां कृमीनां वरमपवर्त्त करोति विविधान् रोगान् ॥ (हारीतसंहिता) । मध्वीन वैज्ञानिक खोज के अनुसार वनस्पतिज अशुद्धि से दस्त मरोह, लक्ष्मि अशुद्धि से अग्निमान्द्य, मलोवरोध और दस्त तथा गलाम्ब (Goitre) प्राणिक अशुद्धि से विस्त्विका, आन्त्रिक (Typhoid fever) तथा मित्र मित्र प्रकार के यथा गण्डूयद कृमि (Round worm), सूत्रकृमि (Tape worm), चपटे कृमि (Tape worm) मंजुयसुप

१ वर्षास्वान्तरिक्षमौद्भिद् कौप वा.

Hook worm), प्रतोदकृमि (Whip worm), स्नायुक कृमि (Guinea worm) इत्यादि उत्पन्न होते हैं ।

तत्र यत् पङ्कशैवालहट्टवृणपद्मपत्रप्रभृतिभिरव-
ल्लभ शशिसूर्यकिरणानिलैर्नाभिजुष्टं गन्धवर्णरसो-
पसृष्टं च तद्व्यापन्नमिति विद्यात् । तस्य स्पर्शरूप-
रसगन्धवीर्यविपाकदोषाः पदं संभवन्ति ॥१०॥

इनमें जो जल काई, हट्टवृण (जलकृमिका—Pistia stratiotes), पद्मपत्र इत्यादि के पत्तों से व्याप्त है, जिसे चंद्र और सूर्य की किरणों का तथा वायु का स्पर्श नहीं होता तथा जो गन्धवर्ण और रसयुक्त है उसे दूषित जल समझना चाहिये । उसके छः दोष होते हैं—१ स्पर्शदोष, २ रूपदोष, ३ रसदोष, ४ गन्धदोष, ५ वीर्यदोष, और ६ विपाकदोष ॥१०॥

तत्र खरता पैच्छिलयमौष्ण्यं दन्तग्राहिता च स्पर्शदोषः; पङ्कसिकताशैवालवहुवर्णता रूपदोषः; व्यकरसता रसदोषः; अनिष्टगन्धता गन्धदोषः; यदुपयुक्तं तृणागौरवशूलकफप्रसेकानापादयति स वीर्यदोषः; यदुपयुक्तं चिराद्विपच्यते विष्टप्रभयति वा स विपाकदोष इति । तं पदे आन्तरिक्षे न ज्ञेयं ॥११॥

उनमें से खरता (तीक्ष्णस्पर्शता), पिच्छिलता (चिक-
नाइट), उष्णता और दन्तग्राहिता (अतिशीतता) ये दोष स्पर्श के होते हैं । पङ्क, सिकता और शैवाल के (संसर्ग से उनके) वर्ण का दर्शन या (अन्य दोष के कारण नील पीतादि) अनेक वर्णों का दर्शन यह रूप के दोष हैं । (किसी भी प्रकार के) रस की प्रकृता रस का दोष है । बुरी गंध आना गन्ध दोष है । यदि उपयोग करने से तृषा, भारीपन, शूल, कफ, प्रसेक (इत्यादि विकार) उत्पन्न हों तो वीर्य दोष है । जिसके सेवन से अन्न देर से पचे और पेट में विष्टभ (मलावरोध, वायु का गुड़गुड़ शुरु इत्यादि) हो तो यह विपाक दोष है । ये (ऊपर कहे हुए छः प्रकार के) दोष आन्तरिक जल में (तथा आकाशगुणभूयिष्ठ भूमिगत जल में भी प्रायः) नहीं होते ॥११॥

व्यापन्नस्य चाग्निक्थनं सूर्यातपप्रतापनं तप्तायः-
एडसिकतालोष्णतां वा निर्वापणं प्रसादनं च तैर्व्यं नागचम्पकोत्पलपाटलापुष्पप्रभृतिभिश्चाधि-
वासनमिति ॥१२॥

दूषित जल का विशेषण अग्नि पर पानी औटाने से, सूर्य की धूप में गरम करने से तथा लोहे, रेती या मिट्टी के पिण्ड अग्नि में लाल करके पानी में छोड़ने से करना चाहिये और पानी को सुगन्धित करने का काम नागकेशर, चम्पक, कमल, पाटल इत्यादि पुष्पों से करना चाहिये ॥१२॥

व्यक्तव्यं—दूषित जल के सेवन से अनेक रोग उत्पन्न होने के कारण उन रोगों से रक्षा करने के लिये पानी का प्रसादन करना बहुत आवश्यक है । पानी में जो अवलंबनस्थ पदार्थ, विद्युत पदार्थ तथा जल बाह्य रोगों के जीवाणु होते हैं उनको पानी से अलग करना यह पानी के प्रसादन या

विशुद्धि (Purification) का अर्थ है । यहाँ प्रसादन की तीन विधियाँ प्रदर्शित की हैं । इनमें पहली उष्णक्थन की विधि सबसे उत्तम है और वैज्ञानिक दृष्टि से भी उत्तम प्रमाणित हुई है । क्योंकि जो विधि जलस्थित रोगीत्पादक जीवाणुओं का नाश करती है, वही उत्तम कहलाती है । पानी उबालने के पश्चात् उसमें स्थित हुए सर्व विकारी जीवाणु तथा कृमि नष्ट हो जाते हैं, उसमें विलीन हुए अमोनिया आदि सर्व बाहु रूप पदार्थ निकल जाते हैं और खटिक तथा अन्य मैला तली में बैठता है । संक्षेप में उबालने से स्वास्थ्यहानिकारक जल के प्रायः सर्व दोष बुर हो जाते हैं । केवल जल यदि बहुत मटीला हो तो वह निर्मल नहीं हो सकता । सूर्यप्रकाश में जल तपाने की दूसरी विधि बहुत व्यावहारिक नहीं है, तथा इस विधि के ऊपर अधिक विश्वास भी नहीं कर सकते; तथापि यह निःसंदेह सिद्ध हुआ है कि सूर्य की किरणों में जीवाणु-नाशन की बहुत शक्ति है और प्रकृति में नैसर्गिक जल की (नदी, तालाब, सरोवर इत्यादि की) शुद्धि करने में सूर्य की किरणें बहुत सहायता करती हैं । तप्त पिण्डों का निर्वापण करके जलप्रसादन करने की तीसरी विधि स्वस्थ मनुष्यों का पीने का पानी शुद्ध करने के लिये प्रचलित नहीं है । इसका उपयोग रूग्णावस्था में मृषा हरण करने के लिये होता है—मुस्ता पर्यटकं ज्वरे, तुपि जलं मृदमृष्टलोष्टोद्भवं । (अष्टांगहृदय) । आधुनिक काल में जलप्रसादन की विधियों में बहुत कुछ सुधार हुआ है और जहाँ जहाँ इनका प्रयोग जारी हुआ है वहाँ वहाँ जल दोषीत्पन्न रोग बिलकुल नष्ट हो गये हैं या उनकी संख्या बहुत घट गई है । आधुनिक काल में पानी की शुद्धि निम्न विधियों द्वारा की जाती है—(१) भौतिक विधि—(अ) तिथिष्पातन (Distillation)—(आ) उष्णक्थन, (इ) नील लोहित किरणें (Ultra-violet-rays)—ये किरणें इन्फ्राम-तया उत्पन्न करके पानी में प्रविष्ट की जाती हैं । (२) रासायनिक विधि—(अ) प्रक्षेपण (Precipitation)—इसमें निम्न रासायनिक पदार्थ जल में विधिष्ठ मात्रा में डाले जाते हैं जिनकी क्रिया से पानी में जो मैला होता है वह तली में बैठ जाता है—यथा चूना, फिटकरी इत्यादि । (आ) जन्तुनाशन—इसमें निम्न रासायनिक पदार्थ जल में विधिष्ठ मात्रा में छोड़ दिये जाते हैं जिनकी क्रिया से पानी में जो विकारी जीवाणु होते हैं वे मर जाते हैं । यथा—प्रोट्यालिअस परमैंगानेट, नीला तृतिया, क्लोरीन वायु इत्यादि । (३) यांत्रिक निधारक (Mechanical filtration)—इसमें छोटे या बड़े नितारक द्वारा जल की शुद्धि की जाती है । इन सब विधियों में विकारी जीवाणुओं का पूर्णतया नाश करने की दृष्टि से उष्णक्थन के सिवा दूसरी कोई विश्वसनीय विधि नहीं है । इन विधियों के विशेष विवरण के लिये ग्रंथकार का 'स्वास्थ्यविज्ञान' (पृष्ठ ७५-९०) देखो ।

सौवर्णे राजते ताम्रे कांस्ये मणिमयेऽपि वा ।
पुष्पावतंसं भौमे वा सुगन्धि सलिलं पिबेत् ॥१३॥
व्यापन्नं वर्जयेन्नित्यं तोयं यथाप्यनार्तवम् ।
क्षेतभाददीताहितं तु तत् ॥१४॥

व्यापनं सलिलं यस्तु पियतीहाप्रसाधितम् ।
श्वयं पण्डुरोगं च त्वग्दोषमविपाकताम् ॥१५॥
श्वसकासप्रतिद्रव्यायश्चलुगुग्मोदराणि च ।

अन्यान्या विषमान् रोगान्प्रायुदाचिरेण सः ॥१६॥

पुत्रों से सुगन्धिन किया हुआ जल सुवर्ग, चांदी, तांबा कांसा, स्फटिक (या कौंच) अथवा मिट्टी इनके कर्नेन में पीना चाहिये ॥१५॥ दोष युक्त (भीम) जल तथा बरों जल के अतिरिक्त दूसरे जल का (आन्तरिक) जल सदा त्यागना चाहिये । यह दोष उपशम करने वाला है इसलिये ग्रहण नहीं करे । उसका ग्रहण अहितकर होता है ॥१५॥ दूषित जल को बिना प्रसाधन किये जो पीता है वह शोष, पाण्डुरोग, त्वचा की व्याधियाँ, अर्जियाँ ॥१५॥ धाम, कास, जुकाम, दण्ड, गुल्म, उदर और अन्यान्य प्रकार के विषम रोगों को प्राप्त हो जाता है ॥१६॥

चक्रव्य—बराब जल के सेवन से उत्पन्न होने वाले रोगों में गलबद्ध श्वयु का उदाहरण है; अकुपमुक्त कृमि रोग (Hook worm disease) पाण्डुरोग का उदाहरण है; स्पायुक्त इमि, दाद, फोड़े कुनिसियाँ त्वग्दोष के उदाहरण हैं । अविपाकता, शूल इत्यादि लक्षण केंचप के (Intestinal worms) कास्य उत्पन्न होते हैं । धाम, कास, प्रतिश्याय प्रायः अमप्यक्षतया उत्पन्न होते हैं ।

तत्र सप्त कलुपस्य प्रसादानानि भवन्ति ।
तद्यथा—कतकगोमेदकयिसप्रग्निदोवालमूलघब्रा-
ण्यि मुक्तामण्येति ॥१७॥

मैले जल को निर्मल करने की सात वस्तुएँ हैं । जैसे—
१ कतक, २ गोमेदक (एक प्रकार का मणि), ३ विसप्रग्नि (कमल की जड़), ४ पैवालमूल, ५ घब, ६ मुक्ता और ७ स्फटिकमणि ॥१७॥

चक्रव्य—वृक्ष के निंबा इन सब पदार्थों के पानी में डालने से जल निर्मल हो जाता है । कतक—यह एक प्रकार का फल (Strychnos potatorum) है । पानी के साथ राग कर पानी में मिला देने से थोड़ी देर में पानी की सारी मैल नीचे तली में बैठकर पानी निर्मल हो जाता है । इसलिये इसको 'निर्मली' भी कहते हैं । वृक्ष—वृक्ष में डालने से जल निर्मल और सुदृढ जीवजन्तु रहित हो जाता है । डालने के लिये वृक्ष घन (गड़दर) होना आवश्यक है । जहाँ नारु की (Guinea worm) बीमारी है वहाँ गड़दर कपड़े में से जल डालने पर रोग से रक्षा होती है—वनवन्धपरिजाते सुद-जन्वनिहरणम् ॥ (अष्टांगसंग्रह), वल्लूत विभक्तम् ॥ (मनु स्मृति ६, ४६) ।

पञ्च निक्षेपणानि भवन्ति । तद्यथा—फलकं,
व्यष्टकं, मुञ्जवलयं, उदकमञ्जिका, शिष्यं चेति ॥१८॥

जलपात्र रखने के लिये पाँच वस्तुएँ होती हैं । जैसे—
१ फलक, २ व्यष्टक, ३ मुञ्जवलय (मज नामक घास का बनाया हुआ कण, मराठीभाषा में पुंजल), ४ उदकमञ्जिका,

और ५ शिष्य (मुंज के बने हुए छीक जो घटों में लटकें हैं) ॥१८॥

चक्रव्य—शूमिगत पुलि आदि से रक्षा करने के लिये इन वस्तुओं का उपयोग किया जाता है । निक्षेपण—नि-रखावनेके लिये निक्षेपणमप्यनम् ॥ व्यष्टक—अष्टकोनी निष भवात्परिषदवयवयोगे । (इन्द्रव्य) । उदकमञ्जिका—पानी के लिये विशेष पद्धति से बनाया हुआ उच्च स्थान (form)—आकारान्तरे निरन्तरनिहितवैश्रीगवादिदिवरिणा के परिधाना । (इन्द्रव्य) ।

सप्त शीतीकरणानि भवन्ति—प्रवातस्याप-
उदकप्रक्षेपणं, यष्टिकाधामणं, व्यजनं, यल्लोद-
पालुकाप्रक्षेपणं, शिष्यावलम्बनं चेति ॥१९॥

जल ठंडा करने की सात पद्धतियाँ हैं । १ प्रवात (चौड़े मुल के पात्र में पानी भरकर हवा में रखना) उदकप्रक्षेपण (ठंडे जल से भरे पात्र में उदकपात्र रख ३ यष्टिकाधामण (लकड़ी से पानी की हिलाना) व्यजन (चौड़े पात्र में पानी भरकर पंखे से पवन कर ५ यल्लोदरण (भीगे कपड़े में लपेट कर रखना), ६ वा प्रक्षेपण (जल से भरे मिट्टी के पात्र को बाल में आ गाड़कर रखना), ७ शिष्यावलम्बन (जलपात्र की छीकें रखकर हिलाने रखना) ॥१९॥

निर्गन्धमन्थकरसं स्पृष्टान् शुचि शीतलम् ।

अच्छं लघु च हृद्यं च तोयं गुणवदुच्यते ॥२०॥

गंधरहित, निरगंध कोई भी रस प्रकट नहीं है पेय, जो शीत करने वाला, सुदृढ, शीतल, स्वच्छ, हलका (सेवन करने पर) मन में प्रसन्नता उत्पन्न करने वाला ; जल प्रशस्तगुणयुक्त कहलाता है ॥२०॥

तत्र नद्यः पश्चिमाभिमुखानाः पद्याः, लघून्
त्वात्; पूर्वाभिमुखानस्तु न प्रशस्यन्ते, गुरुदकत्वा-
दक्षिणाभिमुखा नाऽतिदोषलाः, साधारणत्वात्
तत्र सह्यप्रभवाः कुष्ठं जनयन्ति, विन्ध्यप्रभवाः पु-
पाण्डुरोगं च, मलयप्रभवाः कृमीन्, महेंद्रप्रभ-
रुदीपदोदराणि, हिमवत्प्रभवा हृद्रोगश्वययुशि-
रोगरुदीपदुग्मलगण्डान्, प्राच्यावन्त्या अप-
यन्त्याध्याशांस्युपजनयन्ति, पारियात्रप्रभवाः पर-
बलारोग्यकर्ये इति ॥२१॥

पश्चिम को बहने वाली नदियों का जल हलका होने कारण पथ्यकर होता है । पूर्व को बहने वाली नदियों का, भारी होने के कारण पथ्यकर नहीं है । दक्षिण को बहने वाली नदियों का जल साधारण होने के कारण बहुत दोष उत्पन्न करने वाला नहीं है । इनमें से सह्यात्रि पर्वत से निकली नदियों का जल कुछ उत्पन्न करता है । विन्ध्यपर्वत से निकलने वाली नदियों का जल कुछ और पाण्डुरोग उत्पन्न करता है मलयपर्वत से निकली हुई नदियों का जल कृमि रोग उत्पन्न करता है । महेंद्रपर्वत से निकली हुई नदियों का जल क्षी और उदर रोग उत्पन्न करता है । हिमालयपर्वत से निक

नदियों का जल हृद्रोग, शोथ, गिरोरोग, श्लेष्म और पण्ड उत्पन्न करता है । उज्जयिनी से पूर्व और पश्चिम नदियों का जल अर्ध उत्पन्न करता है । पारियात्र से हुई नदियों का जल पप्यकर, बलकर और आरोग्यकर है ॥२१॥

वक्तव्य—पश्चिमाम्बुजाः—पश्चिमोदधिगाः । पूर्वपश्चिमा-
मुख नदियों के जल के पय्यापथ्य के संबंध में चाग्भट में एक स्पष्टरूप से लिखा है—पश्चिमोदधिगाः शीघ्रवहा याश्चामलो-
ः । पथ्याः समासात्ता नवो विपरीतास्ततोऽन्यथा ॥ हिमवत्प्रभवा—
पालय और मलय पर्वत से निकली हुई प्रत्येक नदी अपप्यकर
होती । चरक और चाग्भट के मतानुसार केवल नदी अपप्यकर होती है जो मन्दवह अर्थात् उपत्यका-
वह है । जो शीघ्रवह है अर्थात् अधित्यकाप्रभव है वह
कर होती है—उपलास्फालनात्तेपविच्छेदः सेदितोदकाः । हिम-
लयोद्भवाः पथ्याः, ता एव च स्थिराः । कृमिश्लेष्मद्वारुणशिशो-
रु प्रकुर्वते ॥ (अष्टांगसंग्रह) । प्राच्यावन्त्या अपरावन्त्याश्च—
आदत्त और हन्तु के अनुसार इसका अर्थ वेगाल, मालवा
र कोंकण (महाराष्ट्र) होता है । श्लेष्मद्वारुण—ये रोग
मलय के तराई प्रदेश में अधिक होते हैं । इनमें श्लेष्मद्वारुण
जल के सेवन से नहीं होता । यह रोग 'मायानो फाय-
रु' नामक सूक्ष्म कृमि मरुद्वारुण के काटने से शरीर में
होने के पश्चात् होता है । गलगण्ड रोगनिदान के संबंध
अभी तक ठीक निर्णय नहीं हुआ है । कुछ शास्त्रज्ञ मलमूत्र
से खाद्यपेय के सेवन से, कुछ खाद्यपेय में आयोडिन
(Iodine) की कमी से, कुछ जीवनीयद्रव्य ए, बी, (Vita-
in A, B.) और फास्फेट की कमी से, कुछ मकई,
पत्ली और गोभी (Cabbage) इत्यादि पदार्थों में मिलने
ले गलगण्डजनक पदार्थ (Goitrogenous) के सेवन से
गण्ड की उत्पत्ति समझते हैं । कुछ शास्त्रज्ञ इसका कारण
वाणु भी मानते हैं जिसका अभी तक ठीक ठीक ज्ञान नहीं
है । इसमें संदेह नहीं है कि गलगण्ड अनेक कारणों से
ता है परन्तु आयोडिन की कमी उसका प्रधान कारण है ।

नद्यः शीघ्रवहा लघ्वयः प्रोक्ता याश्चामलोदकाः ।
गुर्वयः शैवालसंच्छन्नाः कलुषा मन्दगाश्च याः ॥२२॥
प्रायेण नद्यो मरुषु सतिक्ता लवणान्विताः ।
इत्येकपाया मधुरा लघुपाका बले हिताः ॥२३॥
जो नदियाँ शीघ्र बहने वाली तथा निर्मल जल वाली
होती हैं वे हल्की होती हैं । (यानि उनका पानी हल्का होता
है) जो कोई सवार से भरी हुई, मैली और मन्द बहने
वाली होती हैं वे (उनका पानी) भारी होती हैं ॥२२॥ प्रायः
श्लेष्म (मारवाड़) की नदियों का जल तिक्त, लवण, कुछ
वाणु और मधुररसयुक्त होता है और पचने में हल्का तथा
के लिये हितकर होता है ॥२३॥

वक्तव्य—शीघ्रवह—नदी, नद, तालाव इत्यादि जला-
नों का पानी कई कारणों से निरन्तर खराब होता रहता है,
पि उस खराब पानी को शुद्ध करने के लिये प्रकृति में

कई साधन होते हैं । उनमें से सूर्यप्रकाश का उदोख पीछे
किया गया है । इसके सिवाय निम्न साधन भी प्रकृति में
खराब पानी की शुद्धि करने में सहायता करते हैं । यथा—
पानी का प्रवाह, कोई सीवार इत्यादि जलवासी वनस्पतियाँ,
जलवासी मछली, आक्सिजन (प्राणवायु) और जीवाणु
(Saprophytic Bacteria Bacteriophage) । प्रवाह के
कारण पानी में जो गंदगी होती है वह एक स्थान में इकट्ठा
न होकर तमाम पानी में मिलकर नीचे निकल जाती है और
पानी साफ हो जाता है—नदी वेगन शुष्यति । (मनुस्मृति) ।

तत्र सर्वेषां भौमानां ग्रहणं प्रत्यूषसि । तत्र
ह्यमलत्वं शैत्यं चाधिकं भवति, स एव चापां परो
गुण इति ॥२४॥

भूमिगत सब जलों का ग्रहण प्रभात समय में करना
चाहिये, क्योंकि प्रभात जल में निर्मलता और शीतलता
अधिक होती है और यही जल का परम गुण है ॥२४॥

दिवाकंकिरयैर्जुष्टं निशायामिन्दुरश्मिभिः ।
अरुक्षमनभिष्यन्दि तत्तुल्यं गगनाम्बुना ॥२५॥
गगनाम्बु त्रिदोषघ्नं गृहीतं यत् सुभाजने ।
बल्यं रसायनं मेधं पात्रापेक्षितं ततः परम् ॥२६॥

जो जल दिन में सूर्य की किरणों से और रात्रि में चंद्रमा
की किरणों से संस्कृत होता है तथा जो रुद्ध और अभिष्यन्दी
नहीं है यह जल (गुण की दृष्टि से) आन्तरिक्ष जल के
समान है ॥२५॥ अच्छे पात्र में ग्रहण किया हुआ आन्तरिक्ष
जल त्रिदोषनाशक, बलकारक, रसायन और बुद्धिवर्धक होता
है । इसके सिवा जैसे पात्र में उसका ग्रहण किया हुआ हो,
उसके अनुसार भी जल के गुण होते हैं ॥२६॥

वक्तव्य—अनभिष्यन्दि—हृदयसाधननिर्यासवाहिनोतुमुखानि
यत् । युक्तं लिम्पति पैच्छिद्यत्तदभिष्यन्दि तदुच्यते ॥ वैश्यात् कफहन्तृत्वात्
तान्वेव विवृणोति यत् । तदुक्तमनभिष्यन्दि द्रव्यं द्रव्यविशारदः ॥
रसायन—लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम् ॥ (चरक) ।
मेध्य—मेधा धारणाशक्तिस्तस्यै हितम् ॥

रक्षोघ्नं शीतलं ह्लादि ज्वरदाहविपापहम् ।
चन्द्रकान्तोद्भवं वारि पित्तघ्नं विमलं स्मृतम् ॥२७॥
चन्द्रकान्त मणि का जल राक्षसों का भयहारक, आह्लाद-
दायक, ज्वर, दाह तथा विष इनको दूर करनेवाला, पित्त-
नाशक और निर्मल होता है ॥२७॥

वक्तव्य—चन्द्रकान्त मणि के संबंध में प्राचीन कल्पना
यह है कि चन्द्र किरणों का संस्पर्श होने पर उससे जल खवता
है—द्रवति च हिमरश्माद्भ्रते चन्द्रकान्तः । (भवभूति) ।

मूर्च्छापित्तोष्णादाहेषु विषे रक्ते मदात्यये ।
भ्रमक्लमपरीतेषु तमके वमथौ तथा ॥२८॥
मूर्च्छा, पित्त के रोग, उष्ण काल, दाह, विष के रोग,
मदात्यय, भ्रम और क्लम युक्त अवस्था, तमके (चकर आना),

१ लघ्वयः समधुराश्चैव पौरुषेया बले हिताः.

धमन और कर्ष्यगामी रक्तपित्त इनमें धीतल जल प्रयत्न होता है ॥२८॥

पार्श्वशूले प्रतिश्याये घातरोगे गलग्रहे ॥२९॥
आप्माने स्तिमिते कोष्ठे सद्यःशुद्धे नयज्वरे ।

द्विजायां ज्वेदपिते च शीतान्म्यु परियज्येत् ॥३०॥

छाती की वेदना (कुक्कुल और उसमें आवाण के रोगों) में, लुकाम में, वायु के रोगों में, गले के रोगों में, पेट अकर माने में, कोष्ठस्थित आहार की आमाशय्या में, जिस दिन (यमन विरंचनादि) संशोधन सेवन किया हो उस दिन में, श्वर के प्रथम सप्ताह में, दिक्की में और ज्वेदपान करने के लिये धीतल जल का त्याग करना चाहिये ॥२९,३०॥

नादेयं घातलं रुदं दीपनं लघु लेखनम् ।

तद्विमप्यन्दि मधुरं सान्द्रं गुण कफापहम् ॥३१॥

दृष्यामं सारसं पल्यं कषायं मधुरं लघु ।

ताड्यागं घातलं स्वादु कषायं कटुपाकि च ॥३२॥

घातश्लेष्महरं घान्यं सक्षारं कटु पित्तलम् ।

सक्षारं पित्तलं कौषं श्लेष्मामं दीपनं लघु ॥३३॥

शौण्ड्यमग्निहरं रुदं मधुरं कफरूप च ।

कफमं दीपनं हृद्यं लघु प्रक्षयणोद्भयम् ॥३४॥

मधुरं पित्तशामनमयिदाहौद्भिन्नं स्मृतम् ।

वैकिरं कटु सक्षारं श्लेष्मामं लघु दीपनम् ॥३५॥

कैदारं मधुरं प्रोक्तं विपाके गुण दोषलम् ।

तद्रत्पात्यलमुदिरिं विशेषादोषले तु तत् ॥३६॥

सामुद्रमुदकं विस्त्रं लयणं सर्वदोषहृत् ।

नदी का जल—वातक, रुध, दीपक, हल्का और लेखन (घात को पतना करने वाला) है । यदि वह गाढ़ा और मीठा हो तो अमिष्यन्दि भारी और कफकारक होता है ॥३१॥ मरोधर का जल—तृष्णाहर, कफहार, कषाय, मधुर और हल्का होता है । ताड्याग का जल—वातक, मीठा, कषाय और विराक में कटु होता है ॥३२॥ बावली का जल—वातहर, कफहर, क्षारा, कटु और विनहर होता है । कृत् का जल—क्षारा, पित्तहर, कफहर, दीपक और हल्का होता है ॥३३॥ कुटी का जल—अग्निकारक, रुध, मीठा और कफ करने वाला नहीं होता है । अरुं के का जल—कफहर, दीपक, हृद्य के लिये विनकर और हल्का होता है ॥३४॥ अक्षिर जल—मीठा, विन्यामक, और अविदाहि होता है । विहर जल (रोगों से निवृत्तता)—कटु, क्षारा, कफहर, हल्का और दीपन होता है ॥३५॥ कैदार का जल—मीठा, विराक में भारी, और दीपक कारक होता है । हनी के जलवार कषय का भी जल होता है वसु स्थित करने के लिये (अक्षिर) दीपकारक है ॥३६॥ समुद्र का जल—दुर्लभ गुण, क्षारा और सर्वदोषकारक होता है ।

अनेकदोषमानुरं पार्ष्णिपयन्दि गर्हितम् ॥३७॥

पनिर्दोषैरनुपुष्टं मितपद्यं तु ज्ञाननम् ।

पाकेऽविरादि दृष्यामं प्रशामनं मीतिपार्ष्णम् ॥३८॥

दीपनं स्वादु शीतं च तोयं नाधारणं लघु ।

आनूप देश का जल—अनेक दोष गुण, अमिष्यन्दि : (उपयोग की दृष्टि से) निम्न होता है ॥३७॥ आनूप देश पानी—(पूर्वोक्त स्वर्ग आदि के) दोषों से रहित और मृ होता है । साधारण देश का जल—विपाक में अविन न्यागामक, प्रयत्न, आहुलाद् बढ़ाने वाला ॥३८॥ दी मीठा, टेढा और हल्का होता है ।

कफमेदोऽनिलाममं दीपनं यस्तिशोधनम् ॥३९॥

श्वामकासज्वरहरं पथ्यमुष्णोदकं सदा ।

यत् काश्यमानं निर्घमं निष्केनं निर्मलं लघु ॥४०॥

घन्तुर्मागन्धेशं तु तत्तोयं गुणवत् स्मृतम् ।

उष्ण जल—कफरोग, मेदोरोग, वातरोग और आम इन नाशक, दीपक, मूत्र शोधक, क्षाम, क्षाम और श्वर का ना तथा सदा पथ्यकर होता है । जो मीठाया हुआ जल वेगवर्धित, निर्मल, हल्का और घुनपूर्ण रहा हो नहीं । बापा कहलाता है ।

न च पर्युषितं देयं कदाचिद्दारि जानता ॥४१॥

अम्लीभूतं कफोक्लेष्टि न हितं तत् पिपासवे ।

जानने वाले वैद्य को चाहिये कि वह रात्रि का पानी उ करावि भी (पीने के लिये नृनिन मनुष्य को) न दे, क्योंकि वह अम्लतायुक्त और कफ का उष्ण करने वाला (होने) कारण नृनिन मनुष्य को हितकर नहीं होता ।

मद्यपानात्समुन्मते रोगे पित्तोरिपते तथा ॥४२॥

शनिपातसमुत्थे च श्रुतशीतं प्रशाम्यते ।

दाहानीसारपित्ताग्निहृत्सुष्णोष्णमद्यपिपासिषु ॥४३॥

श्रुतशीतं जले शस्तं दृष्याच्छदिभ्रमेषु च ।

मद्यपान अतिव रोगों में, पित्त के रोगों में और मद्यपन के रोगों में मीठाकर टेढा किया हुआ जल प्रयत्न होता है दीपक, अग्निसार, पित्त रोग, मूत्ररोग, मद्य और विन । पृथक् इनमें तथा मूत्ररोग, धमन और धम इन रोगों में । गुण मीठल जल भेद्य होता है ।

श्लिग्धे म्नादु हिमं हृद्यं दीपनं यस्तिशोधनम् ॥४४॥

शुष्यं पित्तपिपासामां भारिकेनोदकं गुण ।

भारिपल का जल—श्लिग्ध, मीठा, टेढा, हृद्य को मनुष्य देने वाला, दीपक, मूत्रमार्ग का विनाशक, शुष्य, विन । पान का शान करने वाला तथा भारी होता है ।

शुष्णोष्ण—भारिपल का जल नहीं उन्नकारी कीज है

यह जल अम्लन विमुक्त होता है जो श्लिग्ध की अम्लन के लिये मीठे की अक्षारकर कर करने के लिये अथवा भारी का हलका । यह पचने में अम्लन हल्का है और अति में शुष्ण श्लिग्ध हो जाता है । अम्लन में यह बढ़ा कफकर है श्वर और विनृत्तता में रोगों की गुण हानन करने के लिये हल्का बहुत उन्नकारी होता है । यह मूत्रशोधक है हल्का हल्का, मूत्रहृत्, प्रमेह, मूत्रक हल्का मूत्र के रोगों में बहुत कारकाला है । इनमें किञ्च उन्नकार्य विनने की

ते १२.३२, प्रोटीन ०.६२, कार्बोहाइड्रेट (शर्कराजातीय)
० और क्षार ०.२६ । इसमें जेहजातीय कोई द्रव्य
होता ।

रोचके प्रतिश्याये प्रसेके श्वयथौ क्षये ॥४५॥

इन्देऽग्नाबुदरे कुष्ठे ज्वरे नेत्रामये तथा ।

पिने च मधुमेहे च पानीयं मन्दमाचरेत् ॥४६॥

इति जलवर्गः ।

अरुचि, प्रतिश्याय, प्रसेक (Catarrhal Conditions),
प (सर्वांग या अर्धांग), क्षय, मन्दाग्नि, उदररोग, कुष्ठ,
नेत्रविकार, व्रण और मधुमेह इतने रोगों में पानी बहुत
पीना चाहिये ॥४५, ४६॥

वक्तव्य—उपर्युक्त रोगों में से ज्वर और मधुमेह में
सेवन की कमी आधुनिक पाश्चात्य चिकित्सा की दृष्टि
प्रशस्त नहीं होती । अन्य रोगों में कम से कम पानी का
सेवन करने से नुकसान नहीं होगा । इति जलवर्गः ।

अथ क्षीरवर्गः ।

आव्यमाजं तथा चौर्यमाचिकं माहिषं च यत् ।

अश्वयाश्वैव नार्याश्च करेणूनां च यत्पयः ॥४७॥

क्षीरवर्ग—गौ का, बकरी का, ऊँटनी का, भेड़ का, भैंस
का, घोड़ी का, स्त्री का और हथनी का जो दूध है ॥४७॥

वक्तव्य—अश्वयाः—इसका अर्थ केवल घोड़ी नहीं है ।
शब्द एक शफर्य के प्राणियों का निदर्शक है । आगे
ऐक प्रकार के दूध का गुण वर्णन करते समय घोड़ी के
श्ले एकशफ शब्द प्रयोग किया है—उष्णमैकशफ वल्यं शाखावात-
पयः । एकशफः—एकविभागः खुरो यस्य स एकशफः अश्वगर्द-
दिः ॥ (इन्दु) । आयुर्वेद में अनेक प्राणियों के दूध का
प्रयोग औषधार्थ किया जाता है; परन्तु पीने के लिये जिनका
प्रयुक्त होता है वे उपर्युक्त आठ प्रकार के प्राणी हैं ।
अन्य प्राणियों के दूध का उपयोग अधिकतर लेप के लिये
किया जाता है—अश्वयाश्च नार्याश्च करेणूनां चेति चकारत्रयमनुक्त-
मानजातीयक्षीराणां समुच्चयार्थं, तेनाश्वतरीखरीगुमीखड्गिनीक्षीरा-
णामपि ग्रहणम् । तत्पुनर्भयसा लेपे युज्यते इति न कृतं साक्षात्प्रग्रहणम् ।
हल्लहण) । आज कल गधी का दूध बालकों को पीने के
लिये बहुत दिया जाता है, क्योंकि रासायनिक विश्लेषण करने
पर उसका संगठन स्त्री के दूध के समान सिद्ध हुआ है । आगे
गठन की तालिका देखो ।

तत्त्वनेकौषधिरसप्रसादं प्राणदं गुरु ।

मधुरं पिच्छिलं शीतं स्निग्धं श्लेष्मं सरं मृदु ।

सर्वप्राणभृतां तस्मात् सात्म्यं क्षीरमिहोच्यते ॥४८॥

(यहाँ ऊपर जो कई प्रकार का दूध वर्णन किया है)
वह अनेक प्रकार के खाद्य द्रव्यों के सारभाग का प्रसाद,
प्राणधारक (बलकारक), भारी, मधुर, गाढ़ा, शीतल,
चिकना, श्लेष्म, ईपत् विरेचक और मृदु होता है; अतः सर्व
प्राणियों के लिये दूध सात्म्य कहलाता है ॥४८॥

वक्तव्य—ओषधि—ओषधि शब्द से यहाँ षड्सात्मक
आहारोपयोगी द्रव्यों का बोध होता है—प्राणिनां पुनर्मूलमाहारो

वलवर्णौजसां च, स पट्सु रसेस्वायतः, रसाः पुनर्द्रव्याश्रयाः, द्रव्याणि
पुनरोपधयः ॥ (सुश्रुत) । मधुरादि दूध के साधारण गुण
समझने चाहिये, क्योंकि बकरी का दूध उष्ण, कषाय और
ग्राही होता है, ऊँटनी का दूध उष्ण, लवण होता है । सर—
मृदुविरेचक (Laxative) । यह विरेचन का कार्य केवल
पित्त प्रकृति मनुष्य में होता है—तत्र बहुपित्तो मृदुः, स दुर्मेनापि
विरिच्यते ॥ (सुश्रुत) । सर्वप्राणभृताम्—मनुष्य मात्रों के लिये—
'सर्वप्राणभृतां सात्म्यम्' इत्यत्र सर्वशब्दश्चिकित्स्यतया प्रकृतसर्वमनुष्येष्वेव
वर्तते । (चक्रपाणिदत्त) । किंवा सर्व सस्तन प्राणियों के लिये ।

तत्र सर्वमेव क्षीरं प्राणिनामप्रतिपिद्धं जाति-
सात्म्यात्, वातपित्तशोणितमानसेष्वपि विकारेष्व-
विरुद्धं जीर्णज्वरकासश्वासशोषक्षयगुल्मोन्मादोदर-
मूर्च्छाभ्रममददाहपिपासाहृत्तिदोषपाण्डुरोगग्रह-
णीदोषार्शःश्लोदावर्तातिसारप्रवाहिकायोनिरोग-
गर्भास्त्रावरक्तपित्तश्रमक्लमहरं पाप्मापहं बल्यं वृष्यं
वाजीकरणं रसायनं मेध्यं सन्धानमास्थापनं
वयःस्थापनमायुष्यं जीवनं वृंहणं वमनविरेचनं
तुल्यगुणत्वाच्चौजसो वर्धनं बालवृद्धक्षतक्षीरानां
क्षुध्यवायव्यायामकर्शितानां च पथ्यतमम् ॥४९॥

जन्म से दूध सेवन का अभ्यास होने के कारण मनुष्यों
के लिये सर्व प्रकार का दूध (सेवन के लिये) निषेध योग्य
नहीं होता है । वात, पित्त, रक्त तथा मानस रोगों में भी दूध
विरुद्ध नहीं है । जीर्णज्वर, खाँसी, श्वास, राजयक्ष्मा, शरीर-
शुष्कता, गुल्म, उन्माद, उदर, मूर्च्छा, भ्रम, मद, दाह, तृषा,
हृद्दोग, मूत्ररोग, पाण्डुरोग, ग्रहणी, बवासीर, श्ले, उदावर्त,
अतिसार, प्रवाहिका, योनिरोग, गर्भास्त्राव (Abortion),
रक्तपित्त, श्रम और क्लम इतने रोगों को दूध दूर करता है ।
पाप का नाशक, बलकारक, वृष्य, वाजीकरण, रसायन, मेधा-
वर्धक, टूटी हड्डी का संधान करने वाला, निरुहवस्ति के लिये
उपयोगी, वय को यथाप्रमाण स्थिर रखने वाला, आयुर्वर्धक,
जीवनीय, शरीरपुष्टिकर, वमनोपग, विरेचक, तुल्यगुण होने के
कारण ओज को बढ़ाने वाला होता है । बालक, वृद्ध तथा
क्षतक्षीणों को और क्षुधा, मैथुन, व्यायाम इनसे क्षीण हुए
मनुष्यों को अत्यंत पथ्यकर है ॥४९॥

वक्तव्य—जातिसान्यात्—आजन्मनः शीलितत्वात् । जीर्ण-
ज्वर—चारह या एकद्विस दिन से अधिक काल का पुराना ज्वर—
यो द्वादशेभ्यो दिवसेभ्य ऊर्ध्वं दोषत्रयेभ्यो द्विगुणेभ्य ऊर्ध्वम् । नृणां
तनौ तिष्ठति मन्दवेगो भियग्भिरुक्तो ज्वर एष जीर्णः ॥ (भावप्रकाश) ।
त्रिसप्ताहान्यतीतस्तु ज्वरो यस्तनुतां गतः । षोडशसप्तादुक्ते स जीर्ण-
ज्वर उच्यते ॥ वस्तिदोष—मूत्रपिण्ड या वृक्क के विकार (Kid-
ney or Urinary disorders) । सर्वेषां पुनर्मूत्ररोगाणामधिष्ठानं
वस्तिः । (अष्टांगसंग्रह) । पाप्मापह—वस्त्रादि का चौथे कर्म से
जो पाप होता है उसका हरण करने वाला—कार्पासकीटजोर्णानां
द्विपैकशफस्य च । पक्षिगण्यौषधीनां च रज्ज्वाश्वैव त्र्यहं पयः ॥
(मनुस्मृति) । वृष्यम्—यत्किञ्चिन्मधुरं त्तिनग्धं जीवनं वृंहणं गुरु ।
हर्षणं मनसश्चैव तत्सर्वं वृष्यमुच्यते ॥ (चरक) । वाजीकरण—येन
१ ० विरेचनास्थापन.

नारीपु सामर्थ्यं बाजीवहनेन नर । प्रमेघाभ्यधि येन बाजीकरणमव
 तप ॥ (चरक) । संघान—भ्रमरस्योक्तम् । जीवन—जीवन के
 लिये अत्यन्त आवश्यक, इस सूत्र में दूध के जो गुणधर्म वर्णन
 किये हैं उनकी दखत हुए यह प्रतीत होता है कि सस्यार में दूध
 के मुकाबले में दूसरा कोई पदार्थ नहीं हो सकता । परन्तु यह
 अतिग्यानि नहीं है । आधुनिक वैज्ञानिक कर्सीटी का प्रयोग
 होने पर भी खाद्य द्रव्यों में दूध की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध हुई है ।
 जन्म से लेकर मृत्यु के समय तक ऐसी कोई भी अवस्था नहीं
 है कि जिसमें दूध का प्रतिषेध होता है । बाल्यावस्था के प्रथम
 दो तीन बरस तक दूध ही जीवन का आधार है । जिनको
 माता या गौ का दूध पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलता, उनका
 स्वास्थ्य सदा के लिये बिगड़ जाता है । बाल्यसम बृद्धावस्था
 में, धके मंदि अवस्था में तथा अनेक प्रकार के रोगों में दूध
 ही पथ्यकर होता है । इसका एकमात्र कारण यह है कि शरीर
 सवर्धन के लिये खाद्यद्रव्यों के जिन जिन उपादानों की
 आवश्यकता होती है वे सब उपादान दूध में विद्यमान होते
 हैं, जिससे आवश्यकता के अनुसार न्यूनाधिक मात्रा में
 केवल दूध का ही सेवन करने से मनुष्य स्वस्थ तथा व्याधित

अवस्था में समीच रह सकता है । इसलिये दूध पूर्णांश
 कहलाता है । दूध का संगठन—दूध में रसरसादि धातुओं की वृद्धि
 शरीर शक्ति की पूर्ति के लिये आवश्यक प्रोटीन होती है । बस
 या धारी होती है । यह बसता इतने मृदुम कणों के रूप में दूध
 में पैदा रहती है कि एक बूँद में पंद्रह लक्ष के लगभग कण होते
 हैं । इस कारण से दूध की धारी पचने में हल्की होती है । दूध
 में दुग्धघर्करा (Lactose) नामक घर्करा होती है । घृता,
 सोडियम, पोटासियम म्याग्नेसियम, सोड, गंधक, फास्फरम,
 आयोडिन इत्यादि शरीर के लिये अत्यावश्यक खनिज भी
 दूध में होते हैं । इनके अलावा जीवन रक्षा के लिये आवश्यक
 सब जीवद्रव्य विशेष करके ए वी डी (Vitamin
 A D I) भी दूध में उपस्थित रहते हैं । जो जानवर ताजी
 हरियाली तथा घास अधिक खाता है और सूर्य प्रकाश में
 घूमता फिरता है उसके दूध में इन जीवद्रव्यों की मात्रा
 अधिक होती है । भिन्न भिन्न प्राणियों के दूध में प्रोटीनादि
 उपादानों की भिन्न भिन्नता हुआ करती है, इसलिये इनके
 दूध के संगठन का कौशल उपर दिया गया है ।

इस कौशल में प्रत्येक दूध के क्षार की जो राशि बतलाई
 है वह वास्तविक राशि से कुछ कम है, क्योंकि उस राशि का
 निर्णय उच्च तापमान (Higher Temperature) पर किया गया
 है । प्रत्येक वर्ग के प्राणी के दूध का संगठन भी विशेष जाति,
 नसल (Breed), जलवायु, ऋतु, आहारविहार, आयु,
 प्रभृति के पश्चात् का काल, प्रदेश इत्यादि की भिन्नता के
 अनुसार बदलता रहता है । दूध पचने में हल्का तथा पीठिक
 होता है । उसका सारभूत भाग पचन करने में तथा मल
 स्वरूप भाग शरीर के बाहर निकाल देने में शरीर के बुद्धादि
 इंद्रियों को बहुत कम कष्ट करना पड़ता है तथा शरीर के सेलों
 का हास भी कम होता है । दूध जब आन्त्र में पहुँचता है तब
 आन्त्रधर जीवाणुओं तथा उनके विष का नाश (Anti toxic)
 किया करता है । यदि थोड़े दिन केवल दुग्धाहार सेवन किया
 जाय तो आन्त्रधर जीवाणुओं की संख्या बहुत कम हो जाती
 है । यह कार्य विशेष करके दुग्धघर्करा से होता है । यह
 घर्करा आन्त्र में स्वाविक तथा सक्तीनिक अम्ल (Lactic
 and Succinic Acid) में परिवर्तित होकर उनकी सहायता
 से जीवाणुनाशन का कार्य दूध तथा दही करता है । इसका
 विशेष वर्णन आगे दही के वर्णन में होगा ।

अल्पाभिष्यन्दि गोतीरं क्षिप्यं गुरु रसायनम् ।
 रक्तपित्तहरं शीतं मधुरं रसपाकयो ।
 जीवनीय तथा वातपित्तघ्न परम स्मृतम् ॥५०॥
 गौ का दूध—अल्पाभिष्यन्दि, क्षिप्य, भारी, रसायन रक्त
 पित्त नाशक, शीतल, मीठा, विपाक में मधुर, जीवनीय तथा
 वात और पित्त का परम नाश करने वाला होता है ॥५०॥
 गन्धतुल्यगुण त्वाज विशेषाच्छोषिणा हितम् ॥
 दीपन लघु संप्रादि श्वासकासाक्षेपित्तनुत् ॥५१॥
 अज्ञानामल्पकायत्यात् बहुतिकनिषेवयात् ।
 नात्यभ्युपानाद् श्वायामात् सर्वग्याधिहरं पय ॥५२॥

दूध के संगठन का कौशल

दूध	कुल ठोस	प्रोटीन	वसा	घर्करा	क्षार	गुल्लरा
१ गौ	१२.९-१४.५	३.४-४.०	३.०-३.६५	४.५-५.२	०.४५-०.६५	१.०२६-१.०४५
२ बकरी	१५.५-१९.५	५.६-७.५	५.२-६.६	४.५-५.०	०.६-१.३	१.०३५-१.०४२
३ भैंसी	१२.६-१३.२	३.६-४.२	३.२-३.७५	४.०-५.३	०.६-०.६२	१.०३६-१.०४६
४ भैंस	१०-१२.५	५.३-६.५	६.५-७.७५	५.०-५.४	०.७-०.७५	१.०३०-१.०४२
५ घोड़ी	१.५-११.२	२.१-२.५५	०.६-१.६	६.०-७.५	०.३-०.४	१.०३१-१.०३६
६ मयी	१.१६-१.५३	१.६-२.०	१.३-१.५	६.२०-६.६	०.४५-०.४६	१.०३३-१.०३५
७ हत्ती	१.५-१३.५	१.०-१.६५	२.०-३.६५	५.६-६.५	०.१५-०.२५	१.०३३-१.०३४
८ हथिनी	२०-२६.६	१०.३-१३.४	१२.५-१५.६	७.२-१०.३	१.३-२.७	१.१-१.७५

१ गोशीरमनभिष्यन्दि २ श्वायामात्स्वपित्तनुत्

बकरी का दूध—(गुण में) गौ के दूध के समान, 1/2 करके राजयक्ष्मा के रोगी के लिये हितकर, दीपन, का, सम्राहि (अर्थात् अतिसार में उपयोगी) होता है; 1/2 श्वास, कास और रक्त पित्त को दूर करता है ॥५१॥ रियों का दूध शरीर छोटा होने से; कटु, तिक्त (वृक्षों पत्ते नित्य) सेवन करने से; थोड़ा जल पीने से और 1/2 याम करने से सब व्याधियों का हरण करने वाला है ॥५२॥

रूक्षोष्णं लवणं किञ्चिदौष्टं स्वादुरसं लघु ।
शोफगुल्मोदराशोषं कृमिकुष्ठविषापहम् ॥५३॥

कैटनी का दूध—रूक्ष, गरम, किञ्चित् खारा, मधुर और रूखा होता है तथा शोथ, गुल्म, उदररोग, अर्श, कृमि, कुष्ठ और विष का नाशक है ॥५३॥

आधिकं मधुरं स्निग्धं गुरु पित्तकफावहम् ।
पथ्यं केवलवातेषु कासे चानिलसंभवे ॥५४॥

भेड़ी का दूध—मधुर, स्निग्ध, भारी, पित्त और कफ रक है तथा केवल वात के रोगों में तथा वात के कास में ध्यकर होता है ॥५४॥

महाभिष्यन्दि मधुरं माहिषं वह्निनाशनम् ।
निद्राकरं शीततरं गव्यात् स्निग्धतरं गुरु ॥५५॥

भैंस का दूध—अधिक अभिष्यन्दि, मधुर, (मंद) ठंडा और नाशक, निद्रा उत्पन्न करने वाला, शीतल और गौ के दुग्ध से अधिक स्निग्ध तथा भारी होता है ॥५५॥

उष्णमैकशैफं वल्यं शाखावातहरं पयः ।
मधुराम्लरसं रूक्षं लवणानुरसं लघु ॥५६॥

एक शफ वाले चतुष्पादों (घोड़ी, गधी आदि) का दूध—उष्ण, बलकारक, हाथ पैरों के वायु का नाशक, रस में मधुर तथा अम्ल, रूक्ष, अनुरस में लवण और हलका होता है ॥५६॥

नार्यास्तु मधुरं स्तन्यं कपायानुरसं हिमम् ।
नस्याश्च्योतनयोः पथ्यं जीवनं लघु दीपनम् ॥५७॥

खी का दूध—(रस में) मधुर, अनुरस में कपाय, शीतल, नस्य और आश्च्योतन (नेत्र में टपकाने) के लिये पथ्यकर, जीवनीय, हलका और दीपन होता है ॥५७॥

हस्तिन्या मधुरं वृष्यं कपायानुरसं गुरु ।
स्निग्धं स्थैर्यकरं शीतं चक्षुष्यं बलवर्धनम् ॥५८॥

हथिनी का दूध—(रस में) मधुर, वृष्य, अनुरस में कपाय, भारी, स्निग्ध, शरीर को स्थिर करने वाला, शीतल, नेत्र के लिये हितकर और बलवर्धक होता है ॥५८॥

प्रायः प्राभातिकं क्षीरं गुरु विष्टम्भि शीतलम् ।
रात्र्याः सोमगुणत्वाच्च व्यायामाभावात्तथा ॥५९॥
दिवाकराभितप्तानां व्यायामानिलसेवनात् ।

वातानुलोमि श्रान्तिघ्नं चक्षुष्यं चापराह्निकम् ॥६०॥

रात्रि में चंद्र के (शीतल) गुण होने से तथा (चलने फिरने का) व्यायाम न होने से (जानवरों का) प्रभात का दूध भारी, विष्टम्भि और शीतल होता है ॥५९॥ दिन में सूर्य की किरणों से अभितप्त होने से, (चलने फिरने का) व्यायाम होने से तथा (शुद्ध) वायु के सेवन से संभ्या के समय का दूध वायु को अनुलोम करने वाला, श्रमनाशक और नेत्रों के लिये हितकर होता है ॥६०॥

पयोऽभिष्यन्दि गुर्वांसं प्रायशः परिकीर्तितम् ।
तदेवोक्तं लघुतरमनभिष्यन्दि वै शृतम् ॥६१॥

कच्चा दूध—प्रायः अभिष्यन्दि और भारी ऐसा कहा जाता है । वही यदि (युक्ति से ठीक) औंटाया जाय तो बहुत हलका और अनभिष्यन्दि होता है ॥६१॥

वर्जयित्वा स्त्रियाः स्तन्यमाममेव हि तद्धितम् ॥६२॥

स्त्री के दूध के सिवा (सब प्रकार के दूध गरम करके पीने योग्य हैं) । स्त्री का दूध कच्चा ही हितकर होता है ॥६२॥

धारोष्णं गुणवत् क्षीरं विपरीतमतोऽन्यथा ।
तदेवातिशृतं शीतं गुरु बृंहणमुच्यते ॥६३॥

धारोष्ण दूध (अमृत के समान) गुणदायक होता है, और इसके विपरीत (बहुत) देर का निकाला ठंडा (विष के समान) अवगुणदायक होता है । वही अधिक औंटाया हुआ ठंडा दूध भारी और शरीर पुष्टिकर होता है ॥६३॥

वक्तव्य—वास्तव में धारोष्ण दूध अमृत के समान गुणकारक है, इसमें संदेह नहीं । परन्तु यह दूध अपने स्वच्छ हाथों से स्वच्छ बर्तन में स्वस्थ गौ या अन्य प्राणी के स्वच्छ स्तनों से निकाल कर सान्द्र स्वच्छ कपड़े से छान कर गरम गरम पीना चाहिये । इससे दूध में किसी प्रकार का विषम परिवर्तन नहीं होता, उसमें धूलि तथा जीवाणु प्रविष्ट नहीं होते, शरीर उष्णता के बराबर गरम होने के कारण पचन सुलभ होता है और उसमें होने वाले शरीरपोषक सर्व उपादान तथा जीवद्रव्य शुद्ध और नैसर्गिक अवस्था में मिलते हैं । माता का या धात्री का दूध बालक सीधा स्तन से ही सेवन करता है इसलिये वह दूध धारोष्ण दूध से भी अधिक गुणकर होता है । इस कारण से स्त्री के दूध का सेवन आमावस्था में करने के लिये कहा है । यदि उत्तम धारोष्ण दूध न मिले तो दूध अच्छी तरह उबालकर पीना ही योग्य है । कच्चा ठंडा दूध पीना ठीक नहीं है । कारण यह है कि दूध निकाल कर रखने से उसमें वायुमंडल की कई खराब वायु घुल जाती हैं तथा धूलि और अन्य जीवाणु प्रविष्ट होते हैं जिनके कारण कई प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं । अतः जीवाणुजन्य रोगों से बचने के लिये दूध उबाल कर पीना बहुत आवश्यक है । परन्तु उबालने से दूध में निम्न परिवर्तन होते हैं, जिससे उसकी पोष्टिकता कम हो जाती है और वह पचने में गरिष्ठ होता है । उबालने से दूध का जलांश कम हो जाता है, दुग्ध-शर्करा का कुछ अंश जलकर दूध का रंग भूरा होता है, उसके प्रोटीन विघटित हो जाते हैं, फास्फोरस जो पहले सेंद्रिय

नारीपु सामर्थ्यं वाजीवहभने नर । मनेचाभ्यन्त्रि येन वाजीकरणमेव तत् ॥ (चरक) । सवान—अन्नसंयोजक । जीवन—जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक, इस सूत्र में दूध के जो गुणधर्म वर्णन किये हैं उनको देखने हुए यह प्रतीत होना है कि सस्तर में दूध के मुकाबले में वृसरा कोई पदार्थ नहीं हो सकता । परन्तु यह अतिशयोक्ति नहीं है । आधुनिक वैज्ञानिक कसीटी का प्रयोग होने पर भी खाद्य द्रव्यों में दूध की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध हुई है । जन्म से लेकर मृत्यु के समय तक ऐसी कोई भी अवस्था नहीं है कि जिसमें दूध का प्रतिषेध होता है । बाल्यावस्था के प्रथम दो तीन बरस तक दूध ही जीवन का आधार है । जिसको माता या गौ का दूध प्यांस मात्रा में नहीं मिलता, उनका स्वास्थ्य सदा के लिये बिगड़ जाता है । बाल्यसम बुढ़ावस्था में, थके यदि अवस्था में तथा अनेक प्रकार के रोगों में दूध ही पर्यकर होता है । इसका एकमात्र कारण यह है कि शरीर संवर्धन के लिये साधद्रव्यों के त्रिन त्रिन उपादानों की आवश्यकता होती है वे सब उपादान दूध में विद्यमान होते हैं, जिससे आवश्यकता के अनुसार न्यूनधिक मात्रा में केवल दूध का ही सेवन करने से मनुष्य स्वस्थ तथा व्याधित

दूध के संगठन का कोष्ठक

दूध	कुल ठोस	मोटीन	बसा	शर्करा	घार	मुल्ला
१ गौ	१२.१-१२.५	३.४-४.०	३.०-३.८५	४.५-५.२	०.४५-०.६५	१.०३६-१.०३५
२ बकरी	१५.५-१६.५	५.८-६.५	५.३-६.६	४.५-५.०	०.६-१.३	१.०३५-१.०३६
३ भैंसी	१२.६-१३.२	३.६-४.२	३.२-३.६५	४.०-५.३	०.६-०.८२	१.०३-१.०३६
४ भैंस	१८-२२.५	५.२-६.५	६.५-८.७५	५.०-५.४	०.७-०.९५	१.०३८-१.०३६
५ घोड़ी	१५-११.२	२.१-२.५५	०.६-१.८	६.०-८.५	०.३-०.४	१.०३१-१.०३६
६ गधे	११.५-१५.३	१.६-२.०	१.३-१.५	६.२०-६.५	०.४-०.४८	१.०३३-१.०३५
७ स्त्री	११.५-१३.५	१.०-१.६५	२.०-३.६५	५.८-६.५	०.१५-०.२५	१.०३-१.०३५
८ शक्ति	२०-२८.६	१०.३-१३.२	१२.५-१८.६	७.२-१०.३	१.२-२.०	१.२-१.७५

अवस्था में सजीव रह सकता है । इसलिये दूध पूर्णतया कहलाता है । दूध का संगठन—दूध में रसरसादि धातुओं की पूर्ण शरीर क्षति की पूर्ण के लिये आवश्यक प्रोटीन होती है । बस या चरबी होती है । यह बसा इतने सूक्ष्म कणों के रूप में दूध में फैला रहती है कि एक सूँ में पंद्रह लक्ष के लगभग कण होते हैं । इस कारण से दूध की चरबी पचने में हलकी होती है । दूध में दुग्धयुक्त (Lactose) नामक शर्करा होती है । घृता, लोड्रिम, पोड्यासिमम ग्याग्नेसिमम, लोड, गधक, फारफरस आधोदिन इत्यादि शरीर के लिये अत्यावश्यक खनिज भी दूध में होते हैं । इनके अलावा जीवन रक्षा के लिये आवश्यक सब जीवद्रव्य विशेष करके ए वी ड (Vitamines A D L) भी दूध में उपस्थित रहते हैं । जो जानवर ताजी हरियाली तथा घास अधिक खाता है और सूर्य प्रकाश में घूमता फिरता है उसके दूध में इन जीवद्रव्यों की मात्रा अधिक होती है । मित्र मित्र प्राणियों के दूध में मोटीनदि उपादानों की भिन्न भिन्नता हुआ करती है, इसलिये इनके दूध के संगठन का कोष्ठक ऊपर दिया गया है ।

इस कोष्ठक में प्रत्येक दूध के क्षार की जो राशि बतलाई है वह वास्तविक राशि से कुछ कम है, क्योंकि उस राशि का निर्धारण उच्च तापमान (Higher Temperature) पर किया गया है । प्रत्येक वर्ग के प्राणी के दूध का संगठन भी विशेष जाति, नस्ल (Breed), जलवायु, ऋतु, आहारविहार, आयु, प्रसूति के पश्चात् का काण, प्रदेश इत्यादि की भिन्नता के अनुसार बदलता रहता है । दूध पचने में हलका तथा पीठिक होना है । उसका सारभूत भाग पचन करने में तथा मल-स्वरूप भाग शरीर के बाहर निकाल देने में शरीर के बुद्धादि इंद्रियों को बहुत कम कष्ट करना पड़ता है तथा शरीर के सेलों का हास भी कम होता है । दूध जब आन्त्र में पहुँचना है तब आन्त्रस्थ जीवाणुओं तथा उनके विष का नाश (Anti toxio) किया करता है । यदि थोड़े दिन केवल दुग्धाहार सेवन किया जाय तो आन्त्रस्थ जीवाणुओं की संख्या बहुत कम हो जाती है । यह कार्य विशेष करके दुग्धयुक्त से होता है । यह शर्करा आन्त्र में व्यापिक तथा सक्तीनिक अम्ल (Lactic and Succinic Acid) में परिवर्तित होकर उनकी सहायता से भीवाणुनाशन का कार्य दूध तथा दही करता है । इसका विशेष ध्यान आगे दही के वर्णन में होगा ।

अल्पाभ्यन्दि गोक्षीरं क्षिग्धं मुखं रसायनम् ।
रूपपित्तहरं शीतं मधुरं रसापाकयो ।
जीवनीय तथा धातपित्तघ्न परम स्मृतम् ॥५०॥
गौ का दूध—अल्पाभ्यन्दि, क्षिग्ध, भारी, रसायन, रक्त पित्त नाशक, शीतल, मीठा, विपाक में मधुर, जीवनीय तथा धात और पित्त का परम नाश करने वाला होता है ॥५०॥
गन्धतुल्यगुणं त्याज्यं विशेषाच्छोषिणं हितम् ।
दीपन लघु सप्रादि भ्वासकासाक्षिपित्तनुत् ॥५१॥
अज्ञानामल्पकायत्यात् कटुतिकनिषेयणात् ।
नात्यशुपानाद् ध्यायामात् सर्वव्याधिहरं पय ॥५२॥

१ गोक्षीरमभ्यन्दि २ भ्वासकासाक्षिपित्तनुत्

दुर्नामश्वासकासेषु हितमश्लेष्म दीपनम् ॥६८॥

शकरी का दही—कफपित्तनाशक, हल्का, वात और प्रत्यनाशक, अर्ध (दुर्नाम) आम और कफ में हितकर तथा जठराग्नि का दीपक होता है ॥६८॥

विपाके मधुरं वृष्यं वातपित्तप्रयादनम् ।

बलासवर्धनं स्निग्धं विशेषाह्वयि माटिपम् ॥६९॥

भैर का दही—विपाक में मधुर, वृष्य, वात और पित्त का घामक, कफनाशक और विनोप रूप से स्निग्ध होता है ॥६९॥

विपाके कटु सद्धारं गुण भेद्यौष्टिकं दधि ।

वातमर्शोसि कुष्ठानि कृमीन् हन्त्युदराणि च ॥७०॥

लैटनी का दही—विपाक में कटु, तारा, भारी, विनोपक है और वात, अर्ध, कुष्ठ, हृमि और उदर इनका नाश करता है ॥७०॥

कोपनं कफवातानां दुर्नासां चाधिकं दधि ।

रसे पाके च मधुरमत्यमिष्यन्दि दोषलम् ॥७१॥

भेड़ का दही—कफ, वात और अर्ध इनका प्रकोप करता है और विपाक में मधुर होता है, अत्यंत अमिष्यन्दि है अपप्यकर है ॥७१॥

पनीयमचक्षुष्यं वाडयं दधि वातलम् ।

समुष्णं कषायं च कफमूत्रापहं च तत् ॥७२॥

घोड़ी का दही—दीपन, नेत्र के लिये अहितकर, वात प्रक, रुद्ध, उष्ण, कषाय तथा कफ और मूत्र दोष का हारक है ॥७२॥

ब्रग्धं विपाके मधुरं बल्यं सन्तर्पणं गुण ।

क्षुष्यमद्रयं दोषघ्नं दधि नार्यां गुणोत्तरम् ॥७३॥

खी का दही—स्निग्ध, विपाक में मधुर, बलकारक, शकर, भारी, नेत्र के लिये अत्यन्त हितकर, दोषनाशक और श्रेष्ठ है ॥७३॥

ठ्यु पाके बलासघ्नं वीर्योष्णं पक्तिनाशनम् ।

कषायानुरसं नाग्या दधि वर्चोविवर्धनम् ॥७४॥

हथिनी का दही—विपाक में हल्का, कफनाशक, उष्ण, पचनशक्ति का नाशक, अनुरस में कषाय और मल को जाने वाला है ॥७४॥

दधीन्युक्तानि यानीह गव्यादीनि पृथक् पृथक् ।

यिक्षेयमेवं सर्वेषु गव्यमेव गुणोत्तरम् ॥७५॥

(गौ के दही की श्रेष्ठता—) यहाँ गव्यादि जो भिन्न भिन्न कार के दही वर्णन किये हैं, उन सब में गौ का ही दही गुणों से सर्वश्रेष्ठ समझना चाहिये ॥७५॥

वातघ्नं कफकृत् स्निग्धं वृंहणं नातिपित्तकृत् ।

कुर्याद्भक्ताभिलाषं च दधि यत् सुपरिस्तुतम् ॥७६॥

कपड़े में बांधकर निचोड़ा हुआ दही वातनाशक, कफकर, स्निग्ध, शरीरसुष्टिकर होता है, पित्त को विशेष बढ़ाता नहीं और भोजन में अभिलाषा उत्पन्न करता है ॥७६॥

श्रुतात् क्षीरात्तु यज्जातं गुणवद्दधि तत् स्मृतम् ।

वातपित्तहरं रुच्यं धात्वस्निग्धवर्धनम् ॥७७॥

(टीका) आँटायें हुए दूध से बना हुआ दही (अधिक) गुणवान्, वात और पित्त का नाशक, रुचिकर, धातु, जठराग्नि तथा वन्त को बढ़ाने वाला है (अर्थात् कच्चे दूध से बना हुआ दही गुणकारक नहीं होता) ॥७७॥

दध्नः सरोः सुवर्धुष्यो विदेश्योऽनिलनाशनः ।

वह्निविधमनध्यापि कफशुक्राधिवर्धनः ॥७८॥

दही के ऊपर का भाग भारी, वृष्य, वात और अग्नि नाशक तथा वफ और शुक्र को बढ़ाने वाला है ॥७८॥

वक्तव्य—ए—उत्तरार्ध में भागों पतः सेहतमन्वितः । म श्लोक सर श्वपुत्रो दशो मण्डगु मखिवति ॥ (भावप्रकाश) ।

दधि त्वस्तांरं रुद्धं च प्राद्वि विष्टम्भि वातलम् ।

दीपनीयं लघुतरं सकषायं रुचिप्रदम् ॥७९॥

जिममें दध का भाग न हो पेसा दही रुद्ध, प्राद्वि, विष्टम्भि, वातकारक, दीपन, हल्का, कषाय रस युक्त और रुचिकर होता है ॥७९॥

शरग्रीष्मवसन्तेषु प्रायशो दधि गर्हितम् ।

हेमन्ते शिशिरे चैव वर्षासु दधि शस्यते ॥८०॥

गर्द, ग्रीष्म तथा वसन्त इन तीन ऋतुओं में दही (अधिक) प्याना अनुचित है । और हेमन्त, शिशिर और वर्षा ऋतु में दही प्याना प्रयत्न है ॥८०॥

वक्तव्य—दधिसेवन के सम्यग्ध में शरक में निम्न प्रकार से निषेध किया है—रक्तपित्तकफोत्पेयु विकारोपहितं च तत् । न नक्त दधि शुभीत न चाप्यश्वत्संरत्नम् । नामुद्रमं नाशौद्रं नोप्य नामलभैविना ॥ ज्वरासकपित्तवीर्यनुष्ठानाण्ड्वामयभ्रमान् । प्राप्सयात् कामर्त्वां चोप्रां त्रिपिं हित्वा दधिभियः ॥ (सू. अ. ७) ।

वृष्णाह्लमहरं मस्तु लघु स्रोतोविशोधनम् ।

अम्लं कषायं मधुरमवृष्यं कफवातनुत् ॥८१॥

प्रह्लादनं प्रीणनं च भिनस्याशु मलं च तत् ।

बलमावहते क्षिप्रं भक्तच्छन्दं करोति च ॥८२॥

(दही का पानी—) वृषा और थकावट दूर करता है, हल्का है, स्रोतोविशोधक है, (किंचित्) अम्ल, कषाय और मधुर होता है, वृष्य नहीं है, कफ और वात का हरण करता है ॥८१॥ आह्लाद देता है, वृत्ति करता है, मल को शीघ्र भेदन करता है, बल बढ़ाता है और भोजन में रुचि करता है ॥८२॥

स्याद्वस्त्रमल्पम्लकमन्दजातं

तथा श्रुतक्षीरभवं सरश्च ।

असारमेवं दधि समधाऽस्मिन्

वर्गे स्मृता मस्तुगुणास्तथैव ॥८३॥

इति दधिवर्गः ।

इस दधिवर्ग में १ मीठा, २ खटा, ३ अति खटा, ४ मन्द, ५ उबाले हुए दूध का, ६ सार, और ७ असार ऐसे सात प्रकार के दही के तथा मस्तु के गुण वर्णन किये हैं ॥८३॥ इति दधिवर्गः ।

अथ तक्रवर्गः ।

तक्रं मधुरमम्लं कषायानुरसमुष्णवीर्यं लघु रुद्ध-

(Organicstate) अवस्था में होता है वह निरिद्रिय (Inorganic) हो जाता है, चूना तथा म्याग्नेसियम के लक्षण प्रक्षेपित हो जाते हैं और सब से विशेष महत्त्व का फर्क दूध के फर्मेंट (Ferment) तथा जीवद्रव्यों का कुछ अणु नष्ट होने से हो जाता है ।

अनिष्टगन्धमम्लं च चिचणै विरस च यत् ।

यज्यं सलवणं क्षीरं यच्च विप्रथितं भवेत् ॥६४॥

इति क्षीरवर्गः ।

(धर्मदुग्ध—) जिसमें घुरी गन्ध आती है, जो खटा हो गया है, जिसका बण और स्वाद बदल गया है, जो खारा हो गया है तथा जो फट गया है ऐसा दूध यज्यं (सेवन करने के लिये अयोग्य) होता है ॥६४॥

यत्कटय—यहाँ सराब दूध के जो गुणधर्म वर्णन किये हैं, उनके विरुद्ध गुण शुद्ध दूध के होते हैं । शुद्ध दूध काँच के बर्तन में रखने से अपारदर्शक और घर्षण में श्वेत होता है । उसके तली में कोई अवशेष नहीं बैठता । उसका स्वाद मीठा होता है । उसमें किसी प्रकार की गन्ध नहीं आती । थोड़ी देर तक रखने पर उसके ऊपर मल्लाही आती है जो कि १२% होती है । लिटमस (Litmus) कागज से परीक्षा करने पर ताने दूध से अम्ल तथा क्षारीय दोनों प्रकार की प्रतिक्रिया (Amphotero reaction) मिलती है । कभी कभी प्रतिक्रिया रहित (Neutral) भी होता है । यदि गी बीमार या साधप्रसूता हो तो दूध की प्रतिक्रिया क्षारीय (Alkali ne) होती है । दूध की गुल्ला (Sp gravity) सामान्यतया १०२० से १०३४ तक होती है । १० फारनहीट उष्णता के ऊपर प्रति १० का उष्णतावृद्धि के पीछे दूध की गुल्ला एक अंश कम हुआ करती है । इस गुल्ला का मापन दुग्धमापक (Lactometer) से किया जाता है । दूध में यदि केवल पानी की मिलावट हो तो इस यन्त्र से पता चलता है; परन्तु यदि उसमें चीनी इत्यादि डाल दिया हो तो इस यन्त्र से ठीक पता नहीं चल सकता । दूध की दुष्टि क कारण—अस्वस्थ पशु का दूध स्वभाव ही दुष्ट होता है । अल्पज्य स्तना से तथा अल्पज्य दायी से निकलना हुआ दूध दूषित होता है । दूध निकाल कर बहुत देर तक सुखा रखने से दूषित हो जाता है । दूध में खराब पानी चीनी आदि की मिलावट करने से वह दूषित होता है । इन कारणों से दूध में विकारी जीवाणु प्रविष्ट होकर दूध की सत्ताही करते हैं । इति क्षीरवर्गः ।

अथ दधिपर्वः ।

दधिं तु मधुरमम्लमायम्लं चैतिः सत्वपापातु-
रम क्षिप्रगुण्य पीतसविषमन्यपातिसारासोचक-
मूत्ररज्युकार्यापदं घृष्य प्राणुकरं महत्स्य च ॥६५॥

दही (सामान्यतया) मधुर, अम्ल और अति अम्ल (तीव्र प्रकार का) होता है । वह मधुरम में कषाय, विष्य और कषयैविके है । पीतम विषममर, क्षिप्रगार, अशोचक,

१ दधिं तु मधुरमम्लमायम्लं चैतिः सत्वपापातु-
रम क्षिप्रगुण्य पीतसविषमन्यपातिसारासोचक-
मूत्ररज्युकार्यापदं घृष्य प्राणुकरं महत्स्य च ॥६५॥

मूत्ररज्यु और क्षरीर की दृश्यता इनका नाश करता है, २ को बढ़ाता है, प्रायश्चित्त की वृद्धि करता है और मंगल क में उपयोगी है ॥६५॥

यत्कटय—व्याजिक अम्ल तैयार वाले जीवाणुओं किया (Lacting fermenting microbes) दूध पर से दही बनता है । ये जीवाणु दूध में अभिषय (Ferment tion) उत्पन्न करके दुग्धघर्करा का अधिकांश भाग व्याजिक अम्ल में परिवर्तित करते हैं । इस अम्ल के कारण दूध के में और प्रोटीन जम जाते हैं और दही बनता है । पौष्टिक की दृष्टि से दूध के सर्वे उत्पादान दही में भी मिलते हैं । केवल दुग्धघर्करा के स्थान में दुग्धाम्ल तथा दुग्धाम्लजन जीवाणु होते हैं । इनमें कारण दूध की अपेक्षा दही में नि गुण विशेष रूप से दिखाई देते हैं । दही में होने वाले क्षीराम जीवाणु अन्य रोगीपादक जीवाणुओं का नाश करते हैं इत्यलिये दूध की भाँति दही से रोग उत्पन्न होने की बहुत कम सम्भावना होती है । कितासादो नामक जापानी शास्त्र की यह राय है कि दही का ३% व्याजिक अम्ल पाँच घण्टे में विषुचिका जीवाणुओं (Choleraebacillus) का नाश करता है । दूध की भाँति दही आन्त्र में मल के सवन बं रोकता है परन्तु दूध से दही की क्रिया अधिक होती है इसलिये दैनिक आहार में दही का सेवन बहुत आवश्यक है । मेचनीकाफ (Metchnikoff) नामक शास्त्र ने प्रयोग द्वारा यह बतलाया है यथाविधि दही सेवन करने से आन्त्र में होने वाले जीवाणु (Proteolytic Bacilli) अधिकांश नष्ट हो जाते हैं तथा उनका विष भी नष्ट हो जाता है । इस कारण से अनेक रोगों से तथा वृद्धावस्था से शरीर की रक्षा होती है । मनुष्य के आन्त्र में अनेक प्रकार के स्वास्वहासिकर जीवाणु उपस्थित रहते हैं और जैसे आयु बढ़ती है वैसे इनकी संख्या और उनका विष बढ़ता जाता है । अकाल वृद्धावस्था उत्पन्न होने का प्रधान कारण ये जीवाणु और उनका विष है । दही के सेवन से इन जीवाणुओं का तथा उनके विष का नाश हो जाता है । पचनसंस्थान के अनेक विकारों में दही बहुत फायदेमन्द् होता है ।

महामिष्यन्दि मधुरं कफमेदोवियधेनम् ।

कफपित्तदृढम्ल स्यादस्थम्ल रक्तदूषणम् ।

विदाहि सृष्टयिगमूर्धं मन्दज्ञान त्रिदोषघृत् ॥६६॥

मधुर दही बहुत अभिष्यन्दि, कठ और मीठ बंधित होता है । मृदा दही कठ और पित्त को बढ़ाता है । अधिक मृदा दही रक्त को दूषित करता है । मन्दज्ञान (मन्दबुद्धि तथा मन्दचतुर्बुद्धि—ईशक ईश न अमा हुआ) दही क्षरीय से अल्पत्व का उत्पन्न ईशक आती करने वाला और विदोष का कर्षण करने वाला होता है ॥६६॥

क्षिप्रं विपाके मधुरं क्षीपन कल्पधेनम् ।

घातापदं पक्विक च दूधि मय्यं दधिमदम् ॥६७॥

गी का दही—क्षिप्र, विपाक में मधुर, क्षीपन, कल्पधेन, घातापदक, पक्विक और दधिकर होता है ॥६७॥

दूध्यां कफपित्तं मधु घानसपापदम् ।

दुर्नामश्वासकासेषु हितमश्लेष्य वीपनम् ॥६८॥

बकरी का दही—कफपित्तनाशक, हलका, वात और क्षयनाशक, अग्नि (दुर्नाम) श्याम और काल में हिंगकर तथा जठराग्नि का दोषक होता है ॥६८॥

विपाके मधुरं वृष्यं वातपित्तप्रसादनम् ।

बलासवर्धनं क्षिग्धं विशेषाद्दधि माहिषम् ॥६९॥

भैंस का दही—विपाक में मधुर, वृष्य, वात और पित्त का नाशक, कफकारक और विनाश रूप में क्षिग्ध होता है ॥६९॥

विपाके कट्टु सत्कारं गुरु भेषोष्णिकं दधि ।

पातमशीसि कुष्ठानि कृमीन् हन्त्युदराणि च ॥७०॥

कैदनी का दही—विपाक में कट्टु, रसारा, भारी, विरेचक है और वात, अग्नि, कुष्ठ, कृमि और उदर हनका नाश करता है ॥७०॥

कोपतं कफवातानां दुर्नासां चाविकं दधि ।

रसे पाके च मधुरमल्पभिरप्यन्दि दोषलम् ॥७१॥

भेड़ का दही—कफ, वात और अग्नि हनका प्रकोप करता है; रस और विपाक में मधुर होता है, अत्यंत अभिष्यन्दि है या अपथ्यकर है ॥७१॥

दीपनीयमचक्षुष्यं वाडयं दधि वातलम् ।

रुक्षमुष्णं कषायं च कफमूत्रापहं च तत् ॥७२॥

घोड़ी का दही—दीपन, नेत्र के लिये अहितकर, वात कोषक, रुक्ष, उष्ण, कषाय तथा कफ और मूत्र दोष का नाशक है ॥७२॥

क्षिग्धं विपाके मधुरं बल्यं सन्तर्पणं गुरु ।

चक्षुष्यमग्र्यं दोषघ्नं दधि नार्यां गुणोत्तरम् ॥७३॥

खी का दही—स्निग्ध, विपाक में मधुर, बलकारक, शक्तिकर, भारी, नेत्र के लिये अत्यन्त हितकर, दोषनाशक और गुणश्रेष्ठ है ॥७३॥

लघु पात्रे बलासघ्नं वीर्योष्णं पक्तिनाशनम् ।

कषायानुरसं नाग्या दधि वर्चोविवर्धनम् ॥७४॥

हथिनी का दही—विपाक में हलका, कफनाशक, उष्ण-वीर्य, पचनशक्ति का नाशक, अनुरस में कषाय और मल को बढ़ाने वाला है ॥७४॥

दधीन्युक्तानि यानीह गव्यादीनि पृथक् पृथक् ।

विश्लेष्यमेवं सर्वेषु गव्यमेव गुणोत्तरम् ॥७५॥

(गौ के दही की श्रेष्ठता—) यहाँ गव्यादि जो भिन्न भिन्न प्रकार के दही वर्णन किये हैं, उन सब में गौ का ही दही गुण की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ समझना चाहिये ॥७५॥

घातघ्नं कफरुद्धं क्षिग्धं बृंहणं नातिपित्तकृत् ।

कुर्व्यान्नकाभिलापं च दधि यत् सुपरिच्छुतम् ॥७६॥

कपड़े में बांधकर निचोड़ा हुआ दही घातनाशक, कफकर, क्षिग्ध, शरीरपुष्टिकर होता है, पित्त को विशेष बढ़ाता नहीं है और भोजन में अभिलाषा उत्पन्न करता है ॥७६॥

शृतात् क्षीरात्तु यज्जातं गुणवद्दधि तत् स्मृतम् ।

वातपित्तहरं रुच्यं धात्वश्लिबलवर्धनम् ॥७७॥

(ठीक) आँटायें हुए दूध से बना हुआ दही (अधिक) गुणवान्, वात और पित्त का नाशक, रुचिकर, धातु, जठराग्नि तथा कषय को बढ़ाने वाला है (अर्थात् कषये दूध से बना हुआ दही गुणकारक नहीं होता) ॥७७॥

दध्नः सरो गुरुवृष्यो विश्लेष्योऽनिलनाशनः ।

वद्वेर्विधमनध्यापि कफशुक्रविवर्धनः ॥७८॥

दही के ऊपर का भाग भारी, वृष्य, वात और अग्नि नाशक तथा कफ और शुक्र को बढ़ाने वाला है ॥७८॥

वक्तव्य—पर—आरूपरि यो भागो पनः स्नेहसन्निवतः ।

स श्लेष्म सर इत्युक्तो यो मण्ड्यु मस्तिरिति ॥ (भावप्रकाश) ।

दधि त्वसारं रुद्धं च ग्राहि विष्टम्भि वातलम् ।

दीपनीयं लघुतरं सकषायं रुचिप्रदम् ॥७९॥

जिसमें श्लेष्म का भाग न हो ऐसा दही रुद्ध, ग्राही, विष्टम्भि, वातकारक, दीपन, हलका, कषाय रस युक्त और रुचिकर होता है ॥७९॥

शरद्रीपमवसन्तेषु प्रायशो दधि गर्हितम् ।

हेमन्ते शिशिरे चैव वर्षासु दधि शस्यते ॥८०॥

शरद्, ग्रीष्म तथा वसन्त इन तीन ऋतुओं में दही (अधिक) खाना अनुचित है। और हेमन्त, शिशिर और वर्षा ऋतु में दही खाना प्रशस्त है ॥८०॥

वक्तव्य—दधितेयन के सम्बन्ध में श्वरक में निम्न प्रकार से निषेध किया है—रक्तपित्तकफोत्पेयु विकारेष्वहितं च तत् । न नक्तं दधि भुञ्जीत न चाप्यश्नतार्क्षरम् । नानुदृश्यं नाक्षीर्द्रं नोष्णं नामल्लैविन्नं ॥ ज्वरासकपित्तवीतर्पकुष्ठपाण्ड्यामयभ्रमान् । प्राग्मयाव कामलां चोमां विधिं दिवा दधिप्रियः ॥ (सू. अ. ७) ।

तृष्णाक्लमहरं मस्तु लघु स्रोतोविशोधनम् ।

अम्लं कषायं मधुरमवृष्यं कफवातनुत् ॥८१॥

प्रह्लादनं प्रीणनं च भिनस्याशु मलं च तत् ।

बलमावहते क्षिप्रं भक्तच्छन्दं करोति च ॥८२॥

(दही का पानी—) तृषा और थकावट दूर करता है, हलका है, स्रोतोविशोधक है, (किंचित्) अम्ल, कषाय और मधुर होता है, वृष्य नहीं है, कफ और वात का हरण करता है ॥८१॥ आह्लाद देता है, वृत्ति करता है, मल को शीघ्र भेदन करता है, बल बढ़ाता है और भोजन में रुचि करता है ॥८२॥

स्वाह्वस्लमत्यम्लकमन्दजातं

तथा शृतक्षीरभवं सरश्च ।

असारमेवं दधि सप्तधाऽस्मिन्

वर्गे स्मृता मस्तुगुणास्तथैव ॥८३॥

इति दधिवर्गः ।

इस दधिवर्ग में १ मीठा, २ खटा, ३ अति खटा, ४ मन्द, ५ उबाले हुए दूध का, ६ सार, और ७ असार ऐसे सात प्रकार के दही के तथा मस्तु के गुण वर्णन किये हैं ॥८३॥ इति दधिवर्गः ।

अथ तक्रवर्गः ।

तक्रं मधुरमम्लं कषायानुरसमुष्णवीर्यं लघु रुक्ष-

मग्निदीपनं गरशोफातिसारप्रहृणीपाण्डुरोगार्शःप्लीह-
शुल्मारोचकविषमज्वरत्वृणाच्छर्दिप्रसेकशूलमेद-
श्लेष्मानिलहरं मधुरविपाकं हृद्यं मूत्रकृच्छ्रक्षेह-
व्यापत्प्रशमनमवृष्यं च ॥८४॥

(तक्र—) तक्र रस में मधुर तथा अम्ल, अनुरस में कषाय, उष्णवीर्य, हलका और जठराग्नि को दीपन करने वाला है। इन्निम विष, शोष, अतिसार, प्रहृणी, पाण्डु रोग, अर्श, प्लीहादर, गुल्म, अरुचि, विषमज्वर, त्वृणा, वमन, जीमचलाना, शूल, मेदोवृद्धि, कफ और वात इनको हरण करता है, विपाक में मधुर है, हृदय के लिये हितकर है, मूत्रकृच्छ्र तथा अधिक क्षिप्र्य पदार्थ सेवन करने से होने वाली व्यापत्तियों को दूर करता है और वृष्य नहीं है ॥८४॥

यक्तव्य—नेत्रव्यापद—नन्दा सीतेन्द्रा आनाबो ज्वर स्तम्भो विमग्ना । नृधानि नष्टं पाण्डुल शोफार्शोम्वरचित्तथा ॥ जठर प्रहृणीरोषा श्लेभित्व वाक्पनिग्रह । शूलमामप्रदोपाश्र ज्वरने श्लेह विभ्रमा ॥ (चरक) ।

मन्थनादिपृथग्भूतक्षेहमर्धोदकं च यत् ।

नातिसान्द्रद्रव्यं तक्रं स्वाद्मलं तुवरं रसे ।

यच्च स्त्रोहमजलं मथितं धोलमुच्यते ॥८५॥

(तक्र और धोल—) मन्थनादि द्वारा जिसमें से मसखन निकाला है, जिसमें आधा पानी मिलाया है, जो न बहुत गाढ़ा है न पतला है और रस में जो मधुर, अम्ल और कषाय है वही तक्र होता है। जिसमें से मसखन नहीं निकाला है, जिसमें पानी नहीं डाला है और जो दही केवल मधानी से मद्य दिया है उसे धोल कहते हैं ॥८५॥

तक्रं नैव क्षते दद्याद्योष्यकाले न दुर्बले ।

न मूर्च्छार्शमदाहेषु न रोगे रक्तपैत्तिके ॥८६॥

(तक्रविषय—) मण (से पीठित अपस्था) में, मणियों के दिनों में दुर्बल को तथा मूर्च्छा, भ्रम, दाह और रक्त पित्त में तक्र नहीं देना चाहिये ॥८६॥

शीतकालेऽग्निमान्द्ये च कफोद्येध्यामयेषु च ।

मार्गाघरोधे दुष्टे च धायौ तक्रं प्रशस्यते ॥८७॥

शीत काल में, जठराग्नि की मन्दता में, कफ के विकारों में, शूलमें के अचरोध में एवं वात की दुष्टि में तक्र प्रशस्त है ॥८७॥

तत् पुनर्मधुरं श्लेष्मप्रकोपणं पित्तप्रशमनं च ।

अमलं यातम्रं पित्तकरं च ॥८८॥

मधुर तक्र कषयकोरक और पित्तशामक है। लहदा तक्र वातनाशक और पित्तकर होता है ॥८८॥

यान्तेऽमलं श्लेष्मयोपेयं, स्वादु पित्ते सशर्करम् ।

पित्तेऽम्रं कफे चापि व्योपसारसमन्वितम् ॥८९॥

वातप्रकोप में लहदा तक्र तथा नमक डालकर पीना चाहिये; पित्तप्रकोप में मधुर तक्र चीनी के साथ पीना चाहिये; और कषयकोप में त्रिकटु तथा वरुद्धार के साथ पीना चाहिये ॥८९॥

प्राहिणी वातला रूक्षा तुर्जरा तक्रकूर्चिका ।

तक्राह्युतरो मण्डः कूर्चिकादधितक्रैजः ॥९०॥

तक्रकूर्चिका प्राही, वातक, -त और पचने में कर्त होनी है। इधि और तक्र कूर्चिका से उल्लस हुआ मण्डः से भी अति हलका होता है ॥९०॥

यक्तव्य—कूर्चिका—रक्षा तोकेषा वा सह वाक्ताः पृथग्भूतं द्रवमा क्षीर कूर्चिकेन्युच्यते । सा दिनिया—रक्षा मह च पत्तक ६ मा दधिकूर्चिका । नत्रेण पक यद क्षीर सा भवेत्तक्रकूर्चिका ॥ ३ या तक्र के साथ गरम करके फटे हुए दूध का ठोस द कूर्चिका या तक्रकूर्चिका कहलाता है और तरल भाग मा कहलाता है ।

गुरुः किलाटोऽनिलह्वा पुंस्त्वनिद्राम्रदः स्मृतः ।

मधुरौ बृंहणौ वृष्यौ तद्वत्पीयूषमोरटौ ॥९१॥

किलाट (छात्रा) भारी, वायुनाशक, पुस्त्व और ति देने वाला होता है। तथा पीयूष और मोरट मधुर, पुष्टि और वृष्य होते हैं ॥९१॥

यक्तव्य—किलाट—नष्टदुग्धस्य पक्वस्य पिण्ड शूल दिक टक । पीयूषमोरटौ—क्षीर सद्य प्रपत्तया पीयूषमिति संश्रितम् । सा रात्रत्य १२ क्षीरप्रमत्रनु मोरट ॥

नचनीतं पुनः सद्यस्कं लघु सुकुमारं मधुरं कषाय मीपदमलं शीतलं मेध्यं दीपनं हृद्यं संग्राहि पित्तानि लहरं वृष्यमविदाहि क्षयकासमणशोषार्शोऽर्दित पदं, चिरोरिथतं गुरु कफमेदोविषयर्धनं यलकरं वृंहणं शोषमं विशेषेण चालानां प्रशस्यते ॥९२॥

(नचनीत—) तात्रा मसखन हलका, शरीर सुकोमल करने वाला, मधुर, कषाय और किंचित् अम्ल, शीतल, मेधा जनक, अग्निदीपक, हृद्य, प्राहि, वात और पित्त नाशक, वृष्य, अविदाहि, राजयदमा, कास, मण, शरीर की हृद्यता, अर्श और अर्दित (Facial Paralysis) इनको दूर करत है। पुराणा मसखन भारी, कफ और मेद बढ़ाने वाला बलकर, शरीरपुष्टिकारक, हृद्यता दूर करने वाला होता है। मसखन विशेष करके बालकों के लिये बहुत प्रशस्त होता है ॥९२॥

यक्तव्य—स्वाद्य प्रण्यो में मसखन सद्य से अधिक हलका होता है और कषाय तक्र में भी अधिक हलका होता है ।

(कार्शक इत्यादि) होते हैं। इसके अलावा दूध के जीव मध्य भी इसमें उपस्थित रहते हैं। इसलिये तात्रा मसखन क्षय, शरीरकृशता (Marasmus), अग्निमान्द्य इत्यादि रोगों में बहुत उपकारी सिद्ध हुआ है। मसखन का रस्य करने के लिये दते पानी में रसना चाहिये वा उममें नमक डालना चाहिये ।

शीरोरधं पुनर्नचनीतमुन्मृष्टक्षेहमाधुपंमतिशीतं सौकुमार्यकरं चक्षुष्यं संग्राहि रक्तपित्तनेत्ररोगहरं प्रसादनं च ॥९३॥

१ इतिपूर्वकप्रकरणे . १ इत्यनेदोविल्लयने.

कच्चे दूध से निकाला हुआ मक्खन अत्यन्त स्निग्ध, अति-मधुर, अतिशीतल, शरीर सुकुमार करने वाला, नेत्र के लिये हितकर, प्राणि, रक्तपित्त तथा नेत्र रोगों का नाशक और प्रसादन करने वाला होता है ॥९३॥

सन्तानिका पुनर्वातघ्नी तर्पणी बल्या वृष्या स्निग्धा रुच्या मधुरा मधुरविपाका रक्तपित्तप्रसादनी गुर्वी च ॥९४॥

मलाई वातनाशक, तृप्ति करने वाली, बल बढ़ाने वाली, वीर्यवर्द्धिनी, स्निग्ध, रुचिकर, मधुर, विपाक में मधुर, रक्त-पित्त को प्रसादन करने वाली और भारी होती है ॥९४॥

विकल्प एष ध्व्यादिः श्रेष्ठो गव्योऽभिर्वर्णितः ।

विकल्पानवशिष्टांस्तु क्षीरवीर्यात्समादिशेत् ॥९५॥
इति तक्रवर्गः ।

ये तक्रादि (दुग्ध के) प्रकार गौ के ही श्रेष्ठ होते हैं (इसलिये) वे ही वर्णन किये हैं । जो शेष (प्राणियों के दुग्ध के) प्रकार हैं उनके गुणधर्म दूध के गुण के अनुसार जानने चाहिये ॥९५॥ इति तक्रवर्गः ।

अथ घृतवर्गः ।

घृतं तु मधुरं सौम्यं मृदु शीतवीर्यमल्पाभिष्यन्दि

ब्रह्महनुमुदावर्तोन्मादापस्मारशूलज्वरानाहवातपित्त-प्रशामनमग्निदीपनं स्मृतिमतिमेधाकान्तिस्वरलावण्य-सौकुमार्यौजस्तेजोबलकरमायुष्यं वृष्यं मेध्यं वयः-स्थापनं गुरु चक्षुष्यं श्लेष्माभिबर्धनं पाप्मालक्ष्मी-प्रशामनं विषहरं रक्षोघ्नं च ॥९६॥

(घृत—) (सामान्यतया) घृत मधुर, सौम्य, मृदु, थोड़ा अभिष्यन्द उत्पन्न करने वाला, शीतवीर्य, शरीर में चिकनाई उत्पन्न करने वाला, उदावर्त, उन्माद, अपस्मार, शूल, ज्वर, आनाह, वात और पित्त इनका शमन करने वाला, जठराग्नि प्रदीपक, स्मृति, मति, मेधा, कान्ति, स्वर, लावण्य, सौकुमार्य, ओज, तेज और बल इनको करने वाला, आयु बढ़ाने वाला, वृष्य, पवित्र, वय को स्थिर करने वाला, गुरु, नेत्र के लिये हितकर, कफवर्धक, पाप और अलक्ष्मी का नाश करने वाला, विषनाशक तथा राक्षस भय हरने वाला होता है ॥९६॥

घृतव्यं—मक्खन गरम करके घी बनाया जाता है । घी में केवल मेद (१००%) होता है ।

विपाके मधुरं शीतं वातपित्तविपापहम् ।

चक्षुष्यमग्र्यं बल्यं च गव्यं सर्पिर्गुणोत्तरम् ॥९७॥

गौ का घी—विपाक में मधुर, शीतल, वात पित्त और विष नाशक, नेत्र के लिये हितकर वस्तुओं में श्रेष्ठ, बलकारक और सर्व प्रकार के घी में गुणों में श्रेष्ठ है ॥९७॥

आजं घृतं दीपनीयं चक्षुष्यं बलवर्धनम् ।

कासे श्वासे क्षये चापि पथ्यं पाके च तल्लघु ॥९८॥

बकरी का घी—अग्निदीपक, नेत्र के लिये हितकर, बल-वर्धक, कास श्वास और राजयक्ष्मा के लिये हितकर और पचने में हलका होता है ॥९८॥

मधुरं रक्तपित्तघ्नं गुरु पाके कफावहम् ।

वातपित्तप्रशामनं सुशीतं माहिर्यं घृतम् ॥९९॥

भैंस का घी—मधुर, रक्तपित्त नाशक, पचने में भारी, कफकारक, वात और पित्त शामक तथा शीतल है ॥९९॥

औष्ट्रं कटु रसं पाके शोफक्तिमिविपापहम् ।

दीपनं कफवानघ्नं कुष्ठगुल्मोदरापहम् ॥१००॥

ऊँटनी का घी—विपाक में कटु, गोथ कृमि और विष-नाशक, अग्नि दीपन, कफ और वात हर तथा कुष्ठ, गुल्म और उदर का नाशक होता है ॥१००॥

पाके लघ्वाविकं सर्पिर्न च पित्तप्रकोपणम् ।

कफेऽनिले योनिदोषे शोषे कम्पे च तद्धितम् ॥१०१॥

भेड़ का घी—पचन में हलका होता है, पित्त का प्रकोप नहीं करता है, कफ, वायु, योनिरोग, शोफ और कम्प में हितकर होता है ॥१०१॥

पाके लघूप्लावीर्यं च कपायं कफनाशनम् ।

दीपनं बद्धमूत्रं च विद्याद्वैकशफं घृतम् ॥१०२॥

एक मुर वाले प्राणी (घोड़ी, गधी इत्यादि) का घी—पचने में हलका, उष्णवीर्य, कपाय, कफनाशक, अग्निदीपक, और मूत्र की राशि कम करने वाला होता है ॥१०२॥

चक्षुष्यमग्र्यं खीणां तु सर्पिः स्यादमृतोपमम् ।

वृद्धिं करोति देहाश्रयोर्लघुपाकं विपापहम् ॥१०३॥

खी का घृत—नेत्र के लिये सर्वोत्तम, अमृत के समान, देह और जठराग्नि की वृद्धि करने वाला, पचन में हलका और विषहर होता है ॥१०३॥

कपायं बद्धविरमूत्रं तिक्तमशिकरं लघु ।

हन्ति कारेखवं सर्पिः कफकुष्ठविषक्तिमीन ॥१०४॥

हथिनी का घी—मल और मूत्र का अवरोधक, तिक्त, अग्निदीपक, हलका होता है और कफ, कुष्ठ, विष तथा कृमि इनका नाश करता है ॥१०४॥

क्षीरघृतं पुनः संग्राहि रक्तपित्तभ्रममूर्च्छाप्रश-मनं नेत्ररोगहितं च ॥१०५॥

कच्चे दूध से निकले मक्खन से बनाया हुआ घी ग्राही, रक्त पित्त, भ्रम, मूर्च्छा इनका नाशक तथा नेत्ररोग के लिये हितकर होता है ॥१०५॥

सर्पिर्मण्डस्तु मधुरः सरो योनिश्रोत्राक्षिशिरसां

शूलघ्नो वस्तिनस्याक्षिपूरणेषूपदिश्यते ॥१०६॥

जमे हुए घृत के ऊपर जो स्वच्छ पतला घी रहता है वह (सर्पिर्मण्ड) मधुर, मृदुविरचक, योनि, कर्ण, नेत्र और शिर के शूल का विनाशक होता है तथा वस्ति, नस्य और नेत्र पूरण के काम में प्रयुक्त करने के लिये कहा है ॥१०६॥

सर्पिः पुराणं सरं कटुर्विपाकं त्रिदोषापहं

मूर्च्छामदोन्मादोदरज्वरगरशोषापस्मारयोनिश्रोत्रा-

क्षिशिरःशूलघ्नं दीपनं वस्तिनस्याक्षिपूरणेषूप-

दिश्यते ॥१०७॥

पुराना घी—सूनुविरिषक, विपाक में कटु, त्रिशोपनायक होता है, मूष्णं, मद्, उन्माद, उदर, ज्वर, गर, घोष, अण्-स्मार, योगिशय, कण्ठशूल, नेत्रशूल, और गिरःशूल इनको दूर करता है, अग्निदीपक है और बनि, नस्य तथा नेत्र पूरण के लिये योग्य कदा है ॥१००॥

भयति चाश्रु—

पुराणं तिमिरभ्यासपीनसज्वरकासनुत् ।
मूच्छूर्णकुष्ठविषोन्मादप्रहापस्मारनाशनम् ॥१००॥
एकादशाशतं चैव धत्सराशुपितं घृतम् ।
रक्षोमं कुम्भसर्पिः स्यात् परंतस्तु महाघृतम् ॥१०१॥
पेयं महाघृतं भूतैः कफमं पचनाधिकैः ।
बन्धं पवित्रं मेघ्यं च विरोपात्तिमिरापद्धम् ॥१०२॥
सर्वभूतहरं चैव घृतमेतत् प्रशस्यते ॥१०३॥
इति घृतवर्गः ।

पुराना घृत तिमिररोग, श्वास, पीनस, ज्वर, कास, मूष्णं, कुष्ठ, विष, उन्माद, प्रह (की पीड़ा) और अपस्मार इनका नाश करता है ॥१००॥ एकादश वर्ष से सौ वर्ष का पुराना घृत 'कुम्भसर्पिः' कहलाता है और बड़ रक्षोम है । इसके अधिक पुराना घृत 'महाघृत' कहलाता है ॥१०१॥ यह महाघृत वात प्रकृति मनुष्यों के लिये पीने योग्य है, कफमं है, बलकारक है, पवित्र है, मेघाजनक है, विशेष करके तिमिर रोग नाशक है ॥१०२॥ और (प्रेतविषाचादि) सब भूतों की बाधा को दूर करता है । इसलिये यह घृत बहुत प्रशस्त है ॥१०३॥

घक्तव्य—पुराने घृत के काल के संबंध में कुछ मत-भिन्नता प्राचीन ग्रंथकार और टीकाकारों में दिखाई देती है । कुछ लोग पुराने घृत का काल एक वर्ष का, कुछ दस वर्ष का और पंद्रह वर्ष का मानते हैं—वर्षादूर्ध्वं भवेदाज्य पुराणम् । (भावप्रकाश) । सर्पिः पुराणं विषेय दशवर्षेतिव तु यत् । (योग-रत्नाकर) । पुराणमिति च बहुकाल पचदशदिवर्षेतिवन्म् । (अहण-दत्त) । कुछ लोग कुम्भघृत का काल दस वर्ष मानते हैं, कुछ सौ वर्ष मानते हैं—सौमं दशाधिकम् । (चक्रपाणिदत्त चरकटीका) । शतवर्षेतिव दशु कुम्भमर्षेतिवदुच्यते ॥ (योग-रत्नाकर) । तथापि इस विषय में सब का एकमत्य है कि घृत जितना अधिक पुराना होगा उतना ही अधिक गुणकारी होगा—यथा यथा जरां वाणि शुभ्रवस्थातथा तथा ॥ (हारीत संहिता) । इति घृतवर्गः ।

अथ तैलानि ।

तैलं त्वाप्रेयमुष्यं तीक्ष्णं मधुरं मधुरविपाकं
घृह्णं प्रीणनं व्यवायि सूक्ष्मं विशदं शुद्धं सरं विकासि
घृष्यं त्वक्प्रसादनं शोधनं मेघामार्दवमांसस्थैर्यं-
वर्षयलकरं चक्षुष्यं यक्ष्मूत्रं लेखनं तिककपाया-
नुत्सं पाचनमनिलयलासदायकरं क्रिमिप्रमशित-
पित्तजननं योनिशिरःकर्णशूलप्रशामनं सर्भांशय-
शोधनं च, तथा छिन्नभिन्नविशोत्पिष्टव्युत्तमथितदात-

पिचिहतभ्रमस्फुटितद्वाराग्निदग्धविश्लिष्टद्वारिताभि-
हततुर्भ्रममृगश्यालविद्वेषभृतिपु च परिपेकाभ्यङ्गा
यगाद्वादिषु तिलतैलं प्रशस्यते ॥११२॥

तद्वस्तिपु च पानेषु नभ्ये कर्णाक्षिपूरणे ।

भक्षणपानिधौ चापि प्रयोज्यं यातशान्तये ॥११॥

तिल का तैल—आग्नेय, गरम, तीक्ष्ण, मधुर, विपाक में मधुर, शरीरपुष्टिकर, वृत्तिकारक, व्यवायि, सूक्ष्म, विषय भारी, विरिषक, विकामी, वृष्य, त्वचा की प्रसन्नता कर वाला, शोथन, मेघा, मार्दव, मांस, स्थिरता, वर्ण, और क इनको करने वाला, नेत्र के लिये हितकर, मूत्र को रोकने वाला (शरीर में स्थूलता निवारण करके) पनला करने वाला अनुरण में तिष्ठ और कषाय, पाचक, वात और कफ क क्षय करने वाला, किमिनायक, शीत और पित्त की उत्पत्ति का प्रतिबंधक, योगि, गिर और कर्ण इनका शूल नाशक तथा गर्भाण्यगोपक होता है । और छिन्न, भिन्न, विद्र, उपिष्ट व्युत्, मथित, क्षत, पिचिहत, भ्रम, स्फुटित, द्वार तथा अग्नि दग्ध, विश्लिष्ट, दारित, अभिहत, दुग्धम, अहिल तथा हिर पशुओं से दूध हृत्वादि अवस्थाओं में परिपेक, अर्थात् शी अवगाह के लिये तिलतैल प्रयुक्त होता है ॥११२॥ परिपेका के अनुसार बलिकर्म, श्रेष्ठपान, नस्य, कर्ण और नेत्र क पूरण, विविध खाद्य पेय पदार्थों का संस्करण और वायु क शान्ति इनके लिये भी उसका उपयोग करना चाहिये ॥११३॥

यक्तव्य—व्यवायी सूक्ष्मादि गुणों की ब्याख्यायै सूत्र स्थान के ४६वें अध्याय के अन्त में वर्णन की गई हैं । छिन्न भिन्नादि सघोषय (चिकित्सास्थान अध्याय २) और भ्रम (निदान अ. १५) के प्रकार हैं ।

परण्डतैलं मधुरमुष्यं तीक्ष्णं दीपनं कटु कषाय-
यानुरसं सूक्ष्मं स्रोतोविशोधनं त्वच्यं घृष्यं मधुर-
विपाकं वयःस्थापनं योनिशुकविशोधनमारोग्य-
मेधाकान्तिस्मृतियलकरं चातकफहरमधोभागदोष-
हरं च ॥११४॥

परण्ड का तैल—मधुर, गरम, तीक्ष्ण, दीपन, कटु, अनुरस

में कषाय, सूक्ष्म, स्रोतोमार्गविशोधन करने वाला, त्वचा के लिये हितकारक, वृष्य, विपाक में मधुर, वयःस्थापक, योनि और शुक का विषोपक, आरोग्य, मेघा, कान्ति, स्मृति और बल इनको करने वाला, वात और कफ को हरण करने वाला और अधोभाग के दोषों को हरण करने वाला है ॥११४॥

घक्तव्य—परण्ड का तैल अनपायी त्वक्प का विरिषक (अधोभाग दोषहर) है । इसका उपयोग बालकों के लिये, सुकुमार प्रकृति के स्त्री प्रहर्षों के लिये, गर्भिणी और मूष्य स्त्रियों के लिये बहुत प्रयुक्त होता है । चरकसंहिता में इसका वर्णन किया है—गुल्मीरजभासी प्रीहोरारिषातानिगुल्मीर । मेद कल्पसृष्टे मारुतरकेडवगाये च ॥ गृध्राणिल्लवचदिषु विरचनार्थे वातदोषेपु । वाते निवदमाये मेदकफपित्तस्तेज ॥ यत्ना मांससैर्षे विकारामयुक्त्वयुवगदिरामि । दोषानुत्पन्नयोगात् प्रशस्तमेण्डक तैलम् ॥ तदात्तनुत् स्वभावात् सयोगवशाद्विरचनाच ज्ञेयत् । मेदोऽसृक्पिचकका-
मिश्राश्लिशोमजित् तन्वया ॥ ४४३ अत्रान्वयन के अन्तर्गत यह

होता है कि पुरण्डी के तेल का शरीर पर जो कार्य होता अधिकतर विंचन क्रिया द्वारा होता है ।

निम्वातसीकुसुम्भमूलकजीमूतकवृक्षककृतवेध-
कम्पिल्लकहस्तिकर्णपृथ्वीकापीलुकरञ्जुदीशिशु-
पसुवर्धलाविडङ्गज्योतिष्मतीफलतैलानि ती-
नि लघून्युष्णवीर्याणि कट्टनि कटुविपाकानि
।प्यनिलकफकृमिकुष्ठप्रमेहशिरोरोगापहराणि
ते ॥११५॥

नीम, अलमी, कुसुम्भ, मूली, देवदाली, कुटज, कोगातकी,
६, कम्पिल्लक, हस्तिकर्ण (रफ पुरण्ड या भूपलाय), काला
।, पीलु, करञ्ज, इष्टुगुदी, सोढजन, मरस, सूर्यावर्त, त्रिडंग,
उकांगनी इनके फलों (या बीजों) के तेल तीक्ष्ण, हलके,
षवीर्ष, कटु, विपाक में भी कटु, मृदु विरेचक तथा वात,
६, कृमि, कुष्ठ, प्रमेह और शिरोरोग इन रोगों के नाशक
ते हैं ॥११५॥

वातघ्नं मधुरं तेषु क्षौमं तैलं चलापहम् ।

कटुपाकमचक्षुष्यं स्निग्धोष्णं गुरु पित्तलम् ॥११६॥

कृमिघ्नं सार्षपं तैलं कण्डुकुष्ठापहं लघु ।

कफमेदोनिलहरं लेखनं कटु दीपनम् ॥११७॥

कृमिघ्नमिष्टुदीतैलमीपत्तिकं तथा लघु ।

कुष्ठामयकृमिहरं दृष्टिशुकचलापहम् ॥११८॥

विपाके कटुकं तैलं कौसुम्भं सर्वदोषहृत् ।

रक्तपित्तकरं तीक्ष्णमचक्षुष्यं विदाहि च ॥११९॥

इनमें से अलसी का तैल वातनाशक, मधुर, बलवर्धक,
विपाक में कटु, नेत्र के लिये अहितकर, स्निग्ध, उष्ण, भारी
और पित्तकर होता है ॥११६॥ सरसों का तैल कृमि, कण्डू
और कुष्ठ नाशक होता है, कफ मेद और वायु का हरण करता
है तथा लेखन, कटु और दीपन है ॥११७॥ हिंगोट का तैल
कृमिनाशक, किंचित् तिक्त तथा हलका है, कुष्ठ रोग और
कृमियों का हरण करता है, तथा दृष्टि, शुक्र और यल का
नाश करता है ॥११८॥ करड़ का तैल, विपाक में कटु, सर्व दोष
प्रकोपक, रक्त पित्त उत्पन्न करने वाला, तीक्ष्ण, नेत्र के लिये
हितकर और विदाह उत्पन्न करने वाला है ॥११९॥

किराततिककातिमुक्तकविभीतकनालिकेरको-
लोडजीवन्तीप्रियालकर्षुदारसूर्यवल्लीत्रपुसैर्वा-
रुकारुकरुम्पाण्डप्रभृतीनां तैलानि मधुराणि मधुर-
आकानि वातपित्तप्रशमनानि शीतवीर्याण्यभिष्य-
न्तीनि सृष्टमूत्राण्यसिंसादनानि चेति ॥१२०॥

चिरायता, अतिसुक्तक (माधवीलता का फल), बहेड़ा,
।रियल, बेर, अखरोट, जीवन्ती, चिरोंजी, कचनार, अर्क-
।पी, त्रपुस, पूर्वांरुक, कर्कारु, कोहला इत्यादि के तैल मधुर,
वेपाक में मधुर, वात और पित्त के शामक, शीतवीर्य, अभि-
सन्दि, मूत्र का उत्सर्ग ठीक कराने वाले और जठराग्नि के
नाशक होते हैं ॥१२०॥

मधुककादमर्यपलाशतैलानि मधुरकपायाणि
कफपित्तप्रशमनानि ॥१२१॥

महुआ, गंभारी और पलाश इनके तैल मधुर तथा कपाय
होते हैं और कफ तथा पित्त को प्रगमन करते हैं ॥१२१॥

तुवरकमह्लातकतैले उष्णे मधुरकपाये तित्ता-
नुरसे वातकफकुष्ठमेदोमेहकृमिप्रशमने उभयतो-
भागदोषहरे च ॥१२२॥

तुवरक और भिलाय का तैल उष्ण, मधुर और कपाय,
अनुरस में तिक्त होता है और वात, कफ, कुष्ठ, मेद, प्रमेह
तथा कृमियों को दूर करता है और ऊर्ध्व भाग से तथा अधो-
भाग से (वमन विरेचन द्वारा) दोषों को हरण करता है
॥१२२॥

चक्तव्य—तुवरक वृक्ष का वर्णन आगे चिकित्सास्थान
के १२वें अध्याय में किया गया है । तुवरक तैल गलित कुष्ठ
(Leprosy) के लिये आज भी एकमात्र औषधि है । इससे
कुष्ठ में बहुत लाभ होता है । इसलिये इस तैल का समावेश
(Oleum Hydnocarpi) 'ब्रिटिश फार्माकोपिया' में किया
गया है ।

सरलदेवदारुगण्डीरार्शशापागुरुसारस्नेहास्तिक-
कटुकपाया दुष्टव्रणशोधनाः कृमिकफकुष्ठानिल-
हराश्च ॥१२३॥

सरल (Pinus Longifolia), देवदार, गण्डीर, शीसम,
अगुरु इन वृत्तों के सार भाग का तैल तिक्त, कटु और कपाय
होता है, दुष्ट व्रण का शोधन करता है, कृमि, कफ, कुष्ठ और
वात का नाश करता है ॥१२३॥

तुम्बीकोशाप्रदन्तीद्रवन्तीश्यामाससलानीलिका-
कम्पिल्लकशङ्खिनीस्नेहास्तिककटुकपाया अधो-
भागदोषहराः कृमिकफकुष्ठानिलहरा दुष्टव्रण-
शोधनाश्च ॥१२४॥

कड़वी तुम्बी, कोशाप्र (एक प्रकार का आम), दन्ती,
द्रवन्ती, ससला, नीलिका, कम्पिल्लक और शंखिनी इनके तैल
तिक्त, कटु और कपाय, अधोभाग के दोषों को हरण करने
वाले, कृमि, कफ, कुष्ठ और वात के नाशक तथा दुष्ट व्रण के
शोधक होते हैं ॥१२४॥

यवतिक्तातैलं सर्वदोषप्रशमनमीपत्तिकमग्नि-
दीपनं लेखनं मेध्यं पथ्यं रसायनं च ॥१२५॥

यवतिक्ता का तैल सब दोषों को शान्त करता है, किंचित्
कड़वा है, अग्नि प्रदीप्त करने वाला, लेखन, मेध्य, पथ्य और
रसायन है ॥१२५॥

एकैषिकातैलं मधुरमतिशीतं पित्तहरमनिल-
प्रकोपणं श्लेष्माभिवर्धनं च ॥१२६॥

एकैषिका (निरोध या पाठा) का तैल मधुर, अति शीतल,
पित्तनाशक; वातप्रकोपक और कफवर्धक होता है ॥१२६॥

सहकारतैलमीपत्तिकमत्तिसुगन्धि वातकफहरं
रूक्षं मधुरकपायं रसवन्नातिपित्तकरं च ॥१२७॥

आम का तैल किंकिर तिल, अय्यन्त सुगंध युक्त, धान कफ नाशक, रुच, मधुर, कषाय है तथा (आम के) रस की भांति यह अनिपितकारक नहीं है ॥१२०॥

फलोद्भयानि तैलानि धान्यनुत्तानि कानिचित् ।

गुणान् कर्म च विज्ञाय फलयत्तानि निर्दिशेत् ॥१२८॥

यावन्तः स्थायरा. स्नेहा. समासात्परिकीर्तिताः ।

सर्वे तैलगुणा ज्ञेयाः सर्वे चानिलनाशनाः ॥१२९॥

सर्वेभ्यस्त्रिविध तैलेभ्यस्तिलतैलं विशिष्यते ।

निस्पृसेस्तद्गुणत्याद्य तैलत्वमितरेष्यपि ॥१३०॥

जो जो फलों के तैल यहाँ नहीं बर्णन किये हैं उनके गुण कर्म फलों के गुण कर्मानुसार समझ लेने चाहिये ॥१२८॥ जो जो स्थावर (वनस्पतिमय) खेद संज्ञेय से बर्णन किये हैं उनमें (तिल) तैल के सर्वे (सामान्य) गुण धर्म उपरिधत होते हैं, तथा ये सर्वे वातनाशक भी हैं ॥१२९॥ जितने तैल हैं मधु में तिल का तैल श्रेष्ठ है । (इतर वानस्पतिक स्नेहों से तिल तैल के कर्मों की) निष्पत्ति होने से तथा ये तिल तैल के गुणों से युक्त होने से उनमें भी तैलत्व आ जाता है ॥१३०॥

घक्तव्य—स्थावर—वानस्पतिक—लेहानां त्रिविधा योनि सौम्यमारजमा । (चरक) । विशिष्यते—तिल तैल की विशेषता के कारण चरक में इस प्रकार बर्णन किये हैं—नेत्र त्रयोसक्काराद् सरंगोपाहं परम् । तैलप्रयोगादकरा निविचारा जिनश्च । कामन्ननिवला स्पन्दे दैव्यापिपतय पुरा । निच्यते—(१) कर्मनिच्यते । (२) तिल तथा तैल त्रिविधे चूर्णकरणप्रकारिणा तथा सर्वेषां दावपि श्लेहाकर्षणत्वात् । भवति च समाननिष्पत्तिकत्वात् तच्छब्दत्वात् । (टिप्पणसमेन) । इस श्लोकार्थ का तात्पर्य यह है कि इतर वानस्पतिक स्नेहों में तिल तैल का कर्मसामान्य और गुणसामान्य होने के कारण उनके लिये भी तैल शब्द रूढ हो गया है । तैल—इसका सरल अर्थ 'तिलोत्पन्न' है और यह काण्ड, पत्र, खेद इत्यादि के लिये भी प्रयुक्त हो सकता है, परन्तु रूढि से इसका प्रयोग केवल खेदविषयक होता है—

बृद्धिरुत्पत्तेःशब्दस्य खेदविषय एव तैलशब्दा रूढो न काण्डपत्रादि विषये । निवृत्त्य हि काण्ड पत्र वा न तैलमित्युच्यते किं तर्हि तिलपत्र निम्नोपमिति । अत्र एव तैलशब्दोच्चारणस्य समनन्तर खेदविषयैव भीर्भावो न पत्रकाण्डादितिषया ॥ (अरुणदत्त) ।

प्राग्यानुपौदकानां च वसामेदोमज्जानो गुरुष्वप्य मधुरा वातघ्नाः, जाङ्गलैकनाफकत्रयादादीनां लघुशीत कषया रक्तपित्तघ्ना, प्रतुदधिक्रिपारणां श्लेष्मघ्ना । तत्र घृततैलवसामेदोमज्जानो यथोत्तरं गुरुविपाका वातहराश्च ॥१३१॥ इति तैलवर्गः ।

(घोहर, गौ आदि) प्राग्य, (महिषादि) आनुष, (मल्ल्यादि) औदक प्राणियों की वसा, मेद और मज्जा भारी, उष्ण, मधुर और वातनाशक होती है । जागल, एक शक और हिल प्राणियों की वसा, मेद और मज्जा हलकी, शीतल, कषाय और रक्तपित्तनाशक होती है । प्रतुद (कपोत पारावतादि), चिकिर (लावचित्रिदादि) प्राणियों की

वसा, मेद और मज्जा कठनायक होती है । घी, तैल, श मेद और मज्जा ये खेद द्रव्य पचन के लिये उत्तरोत्तर अधिक भारी तथा वातनाशन के लिये अधिक बलवत्तर होने हैं ॥११॥

घक्तव्य—आधुनिक काल में प्राचीन काल की व कई प्रकार के अंगम खेद पदार्थ वाने के लिये तथा चिकिर के लिये प्रयुक्त होते हैं । इनमें मछरी का तैल विशेष क योग्य है । इसमें खेद (Fat) के सिवाय शरीर की पुष्टि र रक्षा के लिये अत्यावश्यक जीवनोपद्रव्य (Vitamin A. D) होते हैं । इसके दो प्रधान उदाहरण हैं—'ए लिबर ओईल' और 'हलीवट लिबर ओईल' । तैल, वन, और मज्जा—ये चारों द्रव्य खेदवर्ग के हैं । इनमें तैल (Oil) और वसा (Fat) शुद्ध खेदद्रव्य हैं । खेदद्रव्य विस्तार और पचायी एमिड के संयोग से बनते हैं । रासायनिक द में ये उस प्रकार के खेद को तैल कहते हैं जिसमें निम्न श्रेणी पचायी एमिड (Lower Fat's acids) होते हैं । इनके कारण वद खेद पतला होता है ; जिसमें उच्च श्रेणी के (Higher Fatty acids) पचायी एमिड होते हैं वद वसा कहलाता है इनके कारण वद खेद घुत्र गाढा होता है । मेद (Red marrow) और मज्जा (Yellow marrow) खेदमूयिष्ठ द्रव्य पूर्णतया खेद नहीं हैं—It (Fat) is however found in large quantities in three situations Vix Marrow, adipose and mammary gland during lactation (Halfburton's Physiology)

अथ मधुवर्गः ।

मधु तु मधुरं कषायानुरसं रुचं शीतमग्निदीप यष्यं यष्यं लघु सुकुमारं लेखनं हृद्यं वाजीकरण सन्धानं शोधनं रोपणं संग्राहि चक्षुष्यं प्रसादन सूदममार्गानुसारि पित्तश्लेष्ममेदोमोहदिक्लाश्याम वासातिसारच्छर्दितृष्णाकृमिविषप्रशामनं ह्लादि वि दोषप्रशामनं च; तच्च लघुत्वात्कफघ्न पैच्छिह्यान्मा धुयोत्कषायभावाच्च वातपित्तघ्नम् ॥१३२॥

(मधुवर्ग—) मधु—रस में मधुर, अनुरस में कषाय रुच, शीतल, अग्निदीपन, शरीर की कान्ति और बल बढ़ाने वाला, हलका, सौकुमार्यकर, लेखन, हृद्य के लिये हितकर वाजीकरण, अस्थिपथानक, मणरोपण, प्राहि, नेत्रों की प्रसन्न करने वाला, शरीर के सूक्ष्म मार्गों में प्रवेश करने वाला, पित्त कफ, मेद, प्रमेह, हिक्का, श्याम, कास, अतिसार, वमन, दुग्धा कृमि और विष इनको शांत करने वाला, आह्लाद देने वाल और शिदोषप्रशामन है । यह हलका होने से कफ को शांत करता है, मधुर, पिच्छिल और कषाय होने से वात को पित्त को शांत करता है ॥१३२॥

घक्तव्य—मधु शर्करायुक्त खाद्य पदार्थ है जो वि मधुमक्खियों शूलों की मिठास को ग्रहण कर अपने छत्तों में इकट्ठा करती हैं । मधु में द्राक्षाणुकेरा या ग्लूकोज (Grape Sugar or Glucose) अधिक राशि में (औसत ७५%) होता

है । इसके सिवाय इक्षुयर्करा, लेव्युलाज (Levulose), मोटीइस, गोंद, मोम, रंजन द्रव्य, फार्मिक एसिड (Formic Acid), सुगंधि द्रव्य, लोह, चूना, फास्फरस, जीवनीय द्रव्य (Vitamins), पिष्ट पदार्थों का (Starchy) पचन करने वाला एक पाचक द्रव्य (Diastatic ferment) जल तथा पुण्य पराग भी होते हैं । संक्षेप में मनुष्य शरीर में मिलने वाले तथा मनुष्य शरीर के लिये हितकर प्रायः सर्वे उपादान न्यूनाधिक मात्रा में मधु में मिलते हैं । शर्करा कई प्रकार की होती है । मधु में जो शर्करा मिलती है वह अत्यन्त पचनसुलभ, अविदाहि, उत्तेजक, पोषक, चल्प और हृद्य है; इसलिये अग्निमांश, ज्वर, वमन, तृषा, अम्लतावस्था (Acidosis), विषमय अवस्था (Toxaemia), मधुमेह, श्रान्तावस्था, हृदयदोषिल्य, हृदयावसाद (Collapse) इत्यादि अवस्थाओं में मधु बहुत ही लाभदायक प्रतीत हुई है । हृदय के लिये तो सांप्रत मधु शर्करा यानि ग्लूकोज एक प्रधान आंशिक मानी जाती है, और रग्णावस्था में हृदयदोषिल्य को दूर करने के लिये इसका उपयोग होता है । मधु में जो अम्ल होते हैं उनके कारण वह कासश्वासादि श्वाससंस्थान के रोगों के लिये हितकर होता है । संखिया, अंजन (Antimony), विस्मय (Bismuth), क्लोरोफार्म (Chloroform) कार्बन टेट्रा क्लोराइड (Carbon tetra chloride) आदि विषैले पदार्थों का विषत्वहरण करने की शक्ति मधुशर्करा में है । पाश्चात्य वैद्यक में मधु शर्करा के उपयोग दिन प्रतिदिन बढ़ रहे हैं । उनकी देखते हुए मधु के दो गुण धर्म यहाँ वर्णन किये हैं वे बहुत ही प्रशस्त मालूम होते हैं । आशा है कि आयुर्वेद में मधु के लिये जो ऊँचा स्थान दिया है वही स्थान पाश्चात्य चिकित्सा में भी थोड़े दिनों में मधु के लिये मिल जायगा । असली मधु में सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा देखा जाय तो पुण्य पराग जरूर दिखाई पड़ते हैं ।

पौत्तिकं आमरं क्षौद्रं मात्तिकं छात्रमेव च ।

आर्घ्यमौद्दालकं दालमित्यष्टौ मधुजातयः ॥१३३॥

(मधु के प्रकार—) १ पौत्तिक, २ आमर, ३ क्षौद्र, ४ मात्तिक, ५ छात्र, ६ आर्घ्य, ७ औद्दालक, और ८ दाल ये मधु की आठ जातियाँ हैं ॥१३३॥

वक्तव्य—आठ प्रकार के मधु के लक्षण—१ पौत्तिक लक्षण—गुण्णा या मशकोपमा लघुतरा प्रायो महापीटिका बृहदानां तन्कीटरान्तरगताः पुण्यासवं कुर्वते । तास्तज्जैरिह पूतिका निगदितानिभिः कृतं सर्पिषा तुल्यं यन्मधु तदनेचरजैः संकीर्तितं पौत्तिकम् ॥ (भावप्रकाश) । महत्यः पिंगला यास्तु मक्षिकाः पुत्तिकाः स्मृताः । तद्वत् मधु पौत्तिकम् । २ आमर लक्षण—किञ्चित् सूक्ष्मैः प्रसिद्धिभ्यः पुष्टप्रेभ्योऽल्लिभित्तम् । निर्मल स्फटिकाभ यत्तन्मधु आमरं स्मृतम् ॥ (भावप्रकाश) । ३ क्षौद्र लक्षण—मक्षिकाः कपिलाः सूक्ष्मा सुद्रा-स्थास्तु ह्युन मधु । मुनिभिः क्षौद्रमित्युक्तं तद्वर्णात् कपिलं भवेत् ॥ ४ मात्तिक लक्षण—मक्षिकाः पिंगवर्णास्तु महत्यो मधुमक्षिकाः । ताभिः कृतं तैलवर्णं मात्तिकं परिकीर्तितम् ॥ ५ छात्र लक्षण—वरदाः कपिलाः पीताः प्रायो हैमवने वने । कुर्वन्ति छत्रकाकारं तज्जं छात्रं मधु स्मृतम् ॥ ६ आर्घ्य लक्षण—मधूकवृक्षनिर्जासं जरत्कावाश्रमोद्भवम् । सर्वतार्घ्यं तदाख्यातं श्वेतकं मालवे पुनः ॥ तीक्ष्णतुण्डास्तु याः पीतवर्णाः

पृथुपदमक्षिभाः । अर्घ्यास्तास्तत्कृतं यत्तदार्घ्यमित्यपरे जगुः ॥ ७ औद्दालक लक्षण—प्रायो बल्मीकमध्यस्थाः कपिला स्वल्पकीटकाः । कुर्वन्ति कपिलं स्वल्पं तत्स्यादौद्दालकं मधु ॥ ८ दाल लक्षण—संस्तुत्य पतितं पुण्याचतु पत्रोपरि स्थितम् । गधुरान्त्वकपायं च तदालं मधु कीर्तितम् ॥ (भावप्रकाश) । इन्द्रनीलदलाकाराः सूक्ष्मा या मक्षिकाः शुभाः । शूक्ष्मकीटमध्यस्थास्तज्जं दालमुदाहृतम् । चरकसंहिता में केवल चार प्रकार की मधु वर्णन की है—मात्तिकं आमरं क्षौद्रं पौत्तिकं मधुजातयः ।

विशेषात्पौत्तिकं तेषु रूक्षोष्णं सविषान्वयात् ।

वातासृक्पित्तकृच्छेदि विदाहि मदकृन्मधु ॥१३४॥

पैच्छिल्यात् सूदुभूयस्त्वाङ्गामरं गुरुसंक्षितम् ।

क्षौद्रं विशेषतो क्षयं शीतलं लघु लेखनम् ॥१३५॥

तस्माल्लघुतरं रूक्षं मात्तिकं प्रवरं स्मृतम् ।

श्वत्सादिषु च रोगेषु प्रशस्तं तद्विशेषतः ॥१३६॥

खादुपाकं गुरु हिंसं पिच्छिलं रक्तपित्तजित् ।

श्वित्रमेहकृमिघ्नं च विद्याच्छात्रं गुणोत्तरम् ॥१३७॥

आर्घ्यं मध्वतिचक्षुष्यं कफपित्तहरं परम् ।

कपायं कटु पाके च बल्यं तिक्तमवातकृत् ॥१३८॥

औद्दालकं रुचिकरं स्वयं कुष्ठविषापहम् ।

कपायमुष्णमम्लं च पित्तकृत् कटुपाकि च ॥१३९॥

छर्दिमेहप्रशमनं मधु रूक्षं दलोद्भवम् ।

(उनके गुण—) सविष मक्षिकाओं से संबंध रखने के कारण उक्त आठ प्रकारों में पौत्तिक मधु विशेषतया रूक्ष और उष्ण होता है तथा वातरक्तकर, पित्तकारक (मेदोग्न्यादिका) छेद करने वाला, विदाह और मदकारक होता है ॥१३४॥ आमर मधु गाढ़ा और अत्यंत मीठा होने से भारी होता है । क्षौद्र मधु विशेष करके शीतल, हलका और लेखन है ॥१३५॥ मात्तिक मधु क्षौद्र से भी हलका और रूक्ष है, सबसे श्रेष्ठ है तथा श्वासादि रोगों में विशेषतया प्रशस्त होता है ॥१३६॥ छात्र मधु विषाक में मधुर, भारी, शीतल, पिच्छिल, रक्तपित्त, श्वेत कुष्ठ, प्रमेह और कृमि इनका नाशक तथा गुण में भी उत्तम होता है ॥१३७॥ आर्घ्य मधु नेत्रों के लिये अत्यंत हितकर, कफ पित्त का परम नाशक, कपाय, विषाक में कटु, बलकर तिक्त और किञ्चित् वातकर होता है ॥१३८॥ औद्दालक मधु रुचिकर, स्वर के लिये हितकर और कुष्ठ तथा विष का नाशक है । दाल मधु कपाय, उष्ण, अम्ल पित्तकर, विषाक में कटु, वमन तथा प्रमेह को शान्त करने वाला और रूक्ष होता है ।

बृंहणीयं मधु नवं नातिश्लेष्महरं सरम् ॥१४०॥

मेदःस्थौल्यापहं ग्राहि पुराणमतिलेखनम् ।

दोषत्रयहरं पकमाममम्लं त्रिदोषकृत् ॥१४१॥

नवीन मधु शरीरपुष्टिकर है, कफ का विशेष हरण नहीं करता है तथा मृदु विरेचक है ॥१४०॥ पुराना मधु मेद और स्थूलतानाशक, ग्राहि और अत्यंत लेखन है । पक मधु त्रिदोषों का नाशक है और आम मधु अम्ल और त्रिदोष प्रकोपक है ॥१४१॥

घक्तद्वय—पुत्राना—एक साल से अधिक समय का—
मधु शरीरवाद्य सुस्थायि विशेषः । एवमवलोऽग्नीने पुराणव
स्युत युषे ॥ (भावप्रकाश) । एक और आम—छत्ते में ही
अधिक काल रहा हुआ मधु पक होता है और अल्पकाल तक
रहा हुआ आम होता है ।

तद्युक्तं विविधयोगिनिह्न्यादात्मयान् धनुः ।
नानाद्रव्यान्मकत्याद्य योगवाहि परं मधु ॥१४२॥

वह मधु नाना प्रकार के योगों (के साथ प्रयोग करने)
से अनेक रोगों का नाश करता है; और नाना (प्रकार के
रस कीये प्रभावयुक्त) पुष्पों से उत्पन्न होने के कारण सर्वोत्तम
योगवाही है ॥१४२॥

घक्तद्वय—योगवही—इस शब्द के कई अर्थ होते हैं ।
इनमें से निम्न अर्थ अधिक संमत है—जो द्रव्य विपरीत गुण
युक्त अन्य द्रव्य के साथ मिलाने पर सेवक के समान उसी
द्रव्य के गुणानुकारी कार्य करता है तथा उस द्रव्य को गुण
का विरोध न करते हुए अपना भी कार्य किया करता है वह
योगवाही कहलाता है । इसके विशेष विवरण के लिये अध्याय-
हृदय सुस्थान अध्याय पंचम श्लोक ५२ की अरण्यत की
टीका देखो या सिद्ध योग (बृन्दाध्याय) में द्रव्ययोगचिकित्सा
में श्लोक की टीका देखो ।

तसु नानाविधानां रसगुणवीर्यविपाकविद्वानां
पुष्पाणां रससंभवत्वात् सविपमक्षिकासंभवत्वाद्या-
नुष्णोपचारम् ॥१४३॥

उष्णैरिहृष्यते सर्वं विपान्वयतया मधु ।
उष्णार्तुमप्यैरुणे वा तन्निहन्ति यथा विषम् ॥१४४॥

तत्सोक्तुमार्याद्य तथैव शैत्या-

ज्ञानीपधीनां रससंभवाद्य ।
उष्णैरिहृष्येत विशेषतश्च
तथाऽन्तरीक्षेण जलेन चापि ॥१४५॥

रस, गुण, वीर्य और विपाक की दृष्टि से विरुद्ध नाना
कारक के पुष्पों के रस से तथा विषयुक्त मक्षिसों से उत्पत्ति
होने के कारण वह मधु अनुष्णोपचार (किसी प्रकार की
श्यावस्था के साथ संभव रखने के लिये अयोग्य) होगा है
॥१४३॥ विष का संभव होने से सर्व प्रकार का मधु
व्याविरुद्ध होता है । इसलिये उष्ण (अथवा मूत्र के साथ)
के पीड़ित मनुष्य को, उष्ण द्रव्यों के साथ, उष्ण काल में देने
के वह विष की भाँति (सेवन करने वाले का) नाश करता
है ॥१४४॥ मधु मुकुमार, शीतल और नाना प्रकार के श्लोषि
म से उत्पन्न होने के कारण उष्णता के साथ विशेष रूप से
या आन्तरीक्ष जल से विरुद्ध होता है ॥१४५॥

उष्णेन मधु संयुक्तं धमनेष्ववचारितम् ।
अपाकादनवस्थानाद्य विरुष्येत पूर्ववत् ॥१४६॥
मध्यामापरतस्त्वान्यदामं कष्टं न विद्यते ।
विरुद्धोपक्रमत्वात्तत् सर्वं हन्ति यथा विषम् ॥१४७॥

इति मधुवर्गः ।

धमन के लिये उष्ण पदार्थों के साथ प्रयुक्त किना
मधु परिपाक न होने के कारण तथा शरीर में न झरने
कारण विरुद्ध नहीं होता है ॥१४६॥ मधु की
(अजीर्णावस्था) से अन्य और आमावस्था
नहीं होती है, क्योंकि सर्व उपक्रम विरुद्ध होने से वह म
वस्था विष की भाँति मागनायक होती है ॥१४७॥

घक्तद्वय—विरुद्धोपक्रम—आमावस्था के लिये सेक
जलादि उपयोग्यताय तन्मधु इत्येते मधु मधु के लिये से

। तय आहतकर हाकर उपचार करन पर भी मृशु इत
सभायना होती है । तथा उपचार न करने से भी रोगी
स्थिति असाध्य ही जाती है । इति मधुवर्गः ।

अथैधुवर्गः ।

इत्यथो मधुरा मधुरविपाका गुरुः ।
क्षिप्रया घन्या घृथ्या मूत्रला रक्तपित्तप्रशम-
कृमिकफकराश्चेति ॥१४८॥

सर्व प्रकार के मूत्रे रस और विपाक में मधुर, गुह, शी
क्षिप्र, बलकर, घृथ, मूत्रल (Diuretic),
कृमि और कफ कारक होने हैं ॥१४८॥

ते चानेकविधाः । तद्यथा—

पौण्ड्रको भीरुकश्चैव वंशकः श्वेतपोरकः ।
कान्तारस्तापसेशुश्च काष्ठेशुः सूचिपत्रकः ॥१४९॥
नेपालो दीर्घपत्रश्च नीलपोरोऽथ कोशकः ।

इत्येता जातयः स्थौल्याहुर्यान् वक्ष्याम्यतः परम् ॥१५०॥
(इष्ट के प्रकार—) वे कई प्रकार के होते हैं । जै
कि—१ पौण्ड्रक, २ भीरुक, ३ वंशक, ४ श्वेतपोरक, ५ कान्तार
६ तापसेशु, ७ काष्ठेशु, ८ सूचिपत्रक, ९ नेपाल, १० दीर्घ
पत्रक, ११ नीलपोर, और १२ कोशक । मूत्रे की इतनी जाति
प्रधानतया होती है । इसके आगे अब उनका वर्णन कर
हैं ॥१४९, १५०॥

सुशीतो मधुरः क्षिप्रो बृंहणः श्लेष्मलः सरः ।
अविदाही गुरुवृष्यः पौण्ड्रको भीरुकस्तथा ॥१५१॥
आभ्यां तुल्यगुणः किञ्चित्सत्कारो वंशको मतः ।

वंशवज्ज्वलपोरस्तु किञ्चिदुष्णः स घातहः ॥१५२॥
कान्तारतापसाविश्रु वंशकानुगतौ मतौ ।
एवंगुणस्तु काष्ठेशुः स तु घातप्रकोपणः ॥१५३॥
सूचिपत्रो नीलपोरी नेपालो दीर्घपत्रकः ।
घातला, कफपित्तघ्नः सकषया विदाहिनः ॥१५४॥
कोशकारो गुरुः शीतो रक्तपित्तक्षयपहः ॥१५५॥

(उनके गुण—) पौण्ड्रक तथा भीरुक दोनों शीतल,
मधुर, क्षिप्र, पुष्टिकर, कफकर, सर, अविदाहि, गुरु और वृष्य
होते हैं ॥१५१॥ वंशक इन दोनों के तुल्य, किञ्चित् सारा होता
है । श्वेतपोरक वय के समानगुण, किञ्चित् उष्ण और घात

१ शतापक. २ नागधु. ३ नेपाली

नाशक होता है ॥१५२॥ कान्तर और तापसेधु वंगक के पानगुण होते हैं । कण्ठेषु इन्हीं के समान गुण वाला मधु वातप्रकोपक होता है ॥१५३॥ सूचीपत्र, नीलपोर, माल और टंडिपत्रक वातकारक, कफपित्तनाशक, कपाय और विदाह उत्पन्न करने वाले होते हैं ॥१५४॥ कोशकुर गुरु, शीतल और रक्तपित्त तथा क्षय का नाशक है ॥१५५॥

तीव्र मधुरो मूले मध्ये मधुर एव तु ।
 त्रिपेण्डुलिपु विज्ञेय इक्षूणां लवणो रसः ॥१५६॥
 गन्ना मूल की तरफ अति मधुर होता है; बीच में मधुर होता है; और अग्रभाग तथा गाँठों में (कुष्ठ) खारा होता है ॥१५६॥

अविदाही कफकरो वातपित्तनिवारणः ।
 वक्रप्रह्लादनो वृष्यो दन्तनिष्पीडितो रसः ॥१५७॥
 दाँतों से दवा दवा कर निकाला हुआ गन्ने का रस अविदाही, कफकारक, वात और पित्त नाशक, मुख को प्रसन्न करने वाला तथा वृष्य होता है ॥१५७॥

गुरुविदाही विष्टम्भी यान्त्रिकस्तु प्रकीर्तितः ।
 गुरुः सरः स्निग्धः सतीक्ष्णः कफवातनुत् ॥१५८॥
 यन्त्र (कोल्हू) का निकाला हुआ रस भारी, विदाह उत्पन्न करने वाला और पेट में विष्टम्भ (गुड़गुड़ शब्द) करने वाला होता है । अग्नि पर पकाया हुआ रस भारी, मृदु विरेचक, स्निग्ध, तीक्ष्ण, वात तथा कफ नाशक होता है ॥१५८॥

वक्तव्य—विदाही—द्रव्यस्वभावदध गौरवाद्वा निरेण पाक विदाहयोगात् । पित्तप्रकोप विद्रव्य करोति तदत्रापन कथित विदाहि ॥
 यान्त्रिकरम विदाही होने के कारण वाग्भट लिखते हैं—मूल-
 यन्त्रजगन्नादिपीठनामलभकारान् । किञ्चित्कालं विष्टया च विकृति
 श्यानि यान्त्रिकः । विदाहि गुरु विष्टम्भी तेनासौ ॥ (अष्टांगहृदय) ।

फाणितं गुरु मधुरमभिष्यन्दि बृंहणमनुष्यं
 त्रिदोषकृच्च ॥१५९॥
 फाणित (राव या काकवी—) भारी, मधुर, अभिष्यन्दि, सुष्टिकर होती है, वृष्य नहीं है और त्रिदोषप्रकोपक है ॥१५९॥

गुडः सक्षारमधुरो नातिशीतः स्निग्धो सूत्ररक्त-
 शोधनो नातिपित्तजिह्वातप्तो मेदःकृमिकफकरो
 बल्यो वृष्यश्च ॥१६०॥

(अशुद्ध) गुड क्षारयुक्त मधुर है, अतिशीतल नहीं है, स्निग्ध है, सूत्र और रक्त बोधक है, पित्त का विशेष शमन करने वाला नहीं है वातनाशक है, मेद, कृमि और कफ करने वाला है, बलकारक है तथा वृष्य है ॥१६०॥

पित्तघ्नो मधुरः शुद्धो वातघ्नोऽसृक्प्रसादनः ।
 स पुराणोऽधिकगुणो गुडः पथ्यतमः स्मृतः ॥१६१॥
 शुद्ध गुड वात और पित्त नाशक, मधुर तथा रक्त प्रसादन होता है । (एक वर्ष से अधिक काल का) पुराना गुड गुण में अधिक और अतिशय पथ्यकर होता है ॥१६१॥

कफकृत्वाविदाही च रक्तपित्तनिवर्हणः । शकाममनीर्यन्तु दन्त-
 निष्पीडितो रसः ॥

मत्स्यरिडकाखण्डशर्करा विमलजाता उत्तरोत्तरं
 शीताः स्निग्धाः गुरुतरा मधुरतरा वृष्या रक्तपित्त-
 प्रशमनास्तृष्णाप्रशमनाश्च ॥१६२॥

यथा यथैषां वैमल्यं मधुरत्वं तथा तथा ।
 स्नेहगौरवशैत्यानि सरत्वं च तथा तथा ॥१६३॥

मत्स्यण्डिका (मीजां प्यांड), खाँड और मिश्री अधिकाधिक विमल होती हैं; इसलिये उत्तरोत्तर शीतल, स्निग्ध, भारी, मधुर, वृष्य, रक्तपित्त प्रशमन और तृष्णा शान्त करने वाले होते हैं ॥१६२॥ जितनी जितनी निर्मलता इन भिन्न भिन्न शर्कराओं में अधिक होती है उतनी उतनी मधुरता, स्नेह, भारीपन, शीतलता और सरत्व भी अधिकाधिक होता है ॥१६३॥

यो यो मत्स्यरिडकाखण्डशर्कराणां स्वको गुणः ।
 तेन तेनैव निर्देयस्तेषां चित्सावणो गुणः ॥१६४॥
 मत्स्यण्डिका, खण्ड तथा शर्करा का जो जो अपना गुण होता है वही गुण उनके चित्सावण (घोल या उनकी उत्पत्ति के समय निकले हुए मल) में समझना चाहिये ॥१६४॥

सारस्थिता सुविमला निःक्षारा च यथा यथा ।
 तथा तथा शुण्वती विज्ञेया शर्करा बुधैः ॥१६५॥
 शर्करा जितनी अधिक निर्मल होकर सार रूप और क्षार रहित होगी उतनी ही अधिक गुण युक्त होगी, यह वैद्यों को जानना चाहिये ॥१६५॥

मधुशर्करा पुनश्छेद्यतीसारहरी रूक्षा छेदनी
 प्रसादनी कपायमधुरा मधुरविपाका च ॥१६६॥
 मधुशर्करा—वमन और अतिसार को हरण करने वाली, रूक्षा, छेदनी, मन को प्रसन्न करने वाली रस और विपाक में कफ यमधुर तथा मधुर होती है ॥१६६॥

यवासशर्करा मधुरकपाया तित्तानुरसा श्लेष्म-
 हरी सरा चेति ॥१६७॥
 यवासशर्करा—मधुर, कपाय, अनुरस में तित्त, श्लेष्म-
 नाशक और मृदुविरेचक होती है ॥१६७॥

वक्तव्य—यवासशर्करा को अँग्रेजी में मना (Manna) कहते हैं । यवास (Alhagi Maurorum) नामक वृक्ष से जो निर्याम निकलता है वही यवासशर्करा किंवा तुरंजवीन है । कृत्रिम तौर पर यवासकाथ को घन करके भी शर्करा बनाई जाती है—यवामकाथपाकवनीभावाच्छर्करा कृता यवासशर्करा । (उल्हण) । इसमें कई प्रकार की शर्कराएँ (Cane Sugar, Mannite etc) मिश्र होती हैं ।

यावन्यः शर्कराः प्रोक्ताः सर्वा दाहप्रसाशनाः ।
 रक्तपित्तप्रशमनाश्छेदिमूर्च्छातृपापहाः ॥१६८॥
 उपर जितनी प्रकार की शर्कराएँ सूचित हुई हैं वह सर्व दाह को नाश करती हैं, रक्तपित्त को शान्त करती हैं, वमन, मूर्च्छा और प्यास को दूर करती हैं ॥१६८॥

रूत मधूकपुष्पोरथ फाणित यातपित्तहृत् ।
 कफघ्न मधुर पाके कषाय यस्तिद्रूपणम् ॥१६९॥
 इतीशुवर्ग ।

महुव क धूर्ण में बनी हुई रास रूत, वात और पित्त
 कारक कफनाशक, विपाक में मधुर कषाय और मूत्र दूषक
 हानी है ॥१६९॥

वृत्तद्वय—आम कल खजूर बीट रूट (Beat Root)
 आदि कई वृक्षों से शर्करा बनाई जाती है परन्तु सब में रासा
 यनिक दृष्टि में एक ही द्रव्य (Saccharose) होता है । इति
 इशुवर्ग ।

अथ मधवर्ग ।

सर्वे पित्तकर मद्यमण्ड रोचनदीपनम् ।
 भेदन कफघातघ्न हृद्य यस्तिविशोधनम् ॥१७०॥
 पाके लघु विदाह्युष्ण तीक्ष्णमिन्द्रियबोधनम् ।
 विक्रासि सृष्टविष्णुभ्रू शृणु तस्य विशेषणम् ॥१७१॥

(मद्य के गुण—) सर्व प्रकार का मद्य पित्तकारक अम्ल
 रुचि उत्पन्न करने वाला, अग्निदीपक विषेचक कफघात
 नाशक हृदय के लिये हितकर (अथवा मन को आनन्द दान
 वाला) मूत्रपोषक ॥१७०॥ पचन के लिये हल्का दाह उत्पन्न
 करने वाला गरम तीक्ष्ण शान्तिद्रव्य का उत्पन्न दान वाला
 सन्धिबधविमाचक तथा मूत्र और मल का सुलकर लान वाला
 होता है । (अथ) इसका विशेष (भेदों का वर्णन) ध्ययण
 करो ॥१७१॥

घक्तव्य—मद्य में लवण के अतिरिक्त शेष पाँच रस
 होते हैं परन्तु अम्लरस की उपकटता होने से कबल अम्लरस
 का ही यहाँ निर्देश किया है—यद्यस्याम्लसमावस्य चारो नुरस
 स्मृता । मधुरश्च कषायश्च तिक्त कटुक एव च गुणश्च न्यूनपूर्वोक्त
 सौक्ष्ण्यशुभैर्गुणैः । सर्वेषा मद्यमण्डानामुपपुरि तिष्ठति (चरक) ।
 इय—हृदय रक्तपरिभ्रमण तथा मन दानों का ही स्थान है—
 रमपात्वाग्निमाणाया सत्त्वबुद्धीन्द्रियात्मनाम् प्रधानम्योऽप्यश्वेह हृद्य
 स्थानमुच्यते (चरक) । मद्य दोनों के लिये प्रयत्न होता है ।
 इन्द्रियबोधन—अल्प मात्रा में सेवन करने पर मद्य यह कार्य
 करता है—प्रद्वेषण मीनिकर पानात्कमुष्णशैत वायवीयप्रधानानां
 कथानां च प्रवेनक (चरक) । विशेषण—प्रत्येक प्रकार के
 मद्य के विशेष गुणधर्म उस मद्य के प्रधान द्रव्य के गुणधर्म
 पर उनमें पढ़ने वाले भिन्न भिन्न द्रव्यों पर तथा उसमें उत्पन्न
 होने वाले अलकोहल (Alcohol) की राशि पर निर्भर
 होते हैं ।

मार्द्धीक्रमविदाहित्वान्मधुरान्वयतस्तथा ।
 रक्तपित्तेऽपि सतत बुधैर्न प्रतिविध्यते ॥१७२॥
 मधुर तद्वि रूत च कषायानुरस लघु ।
 लघुपाकि सर शोषविषमज्वरनाशनम् ॥१७३॥

द्राक्षा का मद्य—अविद्यीहि आर मधुररसापन्न इ मरक
 पित्त में भी सदैव (सवन करने के लिये) वैद्य लाभ इसका
 निषेध नहीं करता है ॥१७२॥ वह मद्य मधुर रूत अनुरस में
 कषाय हल्का विपाक में हल्का मृदुविषेचक भाव और

विषम ज्वर का नाशक होता है ॥१७३॥
 मार्द्धीकात्पान्तर किञ्चित् खाजूर घातकोपनम् ।
 तदेव विशद रच्य कफघ्न वर्जन लघु ॥१७४॥
 कषायमधुर हृद्य सुगन्धीन्द्रियरोधनम् ।

(खाजूरमद्य—) सुदार से बनाया हुआ मद्य दार्द्धी क
 मद्य से गुण में यादा कम किञ्चित् घातप्रकापक विष्णु रुचि
 कारक कफनाशक हृद्यनाशक हल्का ॥१७४॥ कषाय वर्ज
 मधुर रस युक्त हृद्य सुगन्धि आर इन्द्रियबाधन है ।

शासार्शाप्रहृणीदायमूत्राघातानिलापहा ॥१७५॥
 स्तन्यरक्तक्षयहिता सुरा सृष्टणदीपनी ।

सुरा—सामी बवासीर प्रहृणी राग मूत्राघात और वात
 इनका नाशक मन्थ और रक्त के क्षय में हितकर शरीरसुष्टिका
 तथा अभिन्नीपक हानी है ।

छयोगेऽथ हृत्तुत्तितोदश्लप्रमर्दनी ॥१७६॥
 प्रमत्ता कफघातार्शाग्निबन्धानाहनाशनी ।

प्रमत्ता (सुरामण्ड)—वमन अरुचि हृदय तथा कर्त्रि
 की पचना और शूल कफ वात बवासीर मलावराध और
 अफारा इनको नाश करती है ।

कासारशाप्रहृणीध्यासप्रतिश्यायविनाशनी ॥१७७॥
 श्वेता मूत्रकफस्तन्यरक्तमामकरी सुरा ।

धनवर्षा की सुरा—काम अर्ग, प्रद्वेषी ध्यास और जुकाम
 इनका नाश करती है और मूत्र कफ स्तन्य (दूध) रक्त
 और मांस इनकी वृद्धि करता है ।

पित्तलाऽऽपकषा रूक्षा यवैर्यातप्रकोपणी ॥१७८॥
 विप्रम्भिनी सुग गुर्मी श्लेष्मला तु मधुलिका ।

रूक्षा नातिकषा वृष्या पाचनी चाक्षिकी स्मृता ॥१७९॥
 यवमुरा—पित्तकारक अथ कफ करने वाली रूत और
 वातप्रकापक होती है ॥१७८॥ मधुलिका नामक सुरा—विष्टम
 करने वाली भारी और कफकारक होती है । बड़े की सुरा—
 रूत, अल्प कफकारक वृष्य और पाचक होती है ॥१७९॥

उत्तय—मधुलिका—स्वल्पगुणो मध्यमे पीशीकति तथा
 मर्द्ध—दस्तएण च त फलतिष्ण मधुलक मधुरपु पाचयिमिति वेष्मट ।
 (डहणटीका)

विदोषो भेद्यवृष्यश्च कोहलो घदनमिय ।
 वाहल (यवमकसुरा) सुरा—त्रिदायकारक भरी
 अतृप्य और रुचिकर हानी है ।

प्राह्युष्णो जगत् पक्ता रूतमृदुकफशोफहृत् ॥१८०॥
 हृद्य प्रमाहिकाऽऽटोपडुनामानिलशोषहृत् ।

जगल (मद्य का नीचे का भाग—) प्राही उष्ण
 पाचक रूत सुषानाशक कफकारक (लेपन करने से)
 शाश्वतायक प्रमाहिका मलावराध अर्ग वात और भाव
 इनका नाशक है ।

यक(क)सो हतसारयाद्विष्टमि वातकोपन ॥१८१॥
 दीपन सृष्ट्रिष्णमूत्रो विशदोऽल्पमदो गुह ।

यकस (सुराकक—) मार निकल जाने से विष्टम्भ-जनक, वातप्रकोपक, अग्निदीपक, मलमूत्र उत्सर्जक, विशद, म नगा करने वाला और भारी होता है ।

अथ सीधुः ।

कपायो मधुरः सीधुर्गोडः पाचनदीपनः ॥१८२॥

शार्करो मधुरो रुच्यो दीपनो वस्तिशोधनः ।

वातघ्नो मधुरः पाके हृद्य इन्द्रियबोधनः ॥१८३॥

गुड़ की सीधु (एक प्रकार का मद्य)—कपाय, मधुर और पाचन दीपन होती है ॥१८२॥ शार्करासीधु—मधुर, रुचिकर, दीपन, मूत्रगोधक, वातनाशक, त्रिपाक में मधुर, हृदय के लिये हितकर और इन्द्रियबोधक होती है ॥१८३॥

तद्वत् पकरसः सीधुर्वलवर्णकरः सरः ।

शोफघ्नो दीपनो हृद्यो रुच्यः श्लेष्मार्शसां हितः ॥१८४॥

कश्यपः शीतरसिकः श्वयधुदरनाशनः ।

वर्षकञ्जरणः स्वर्षो विवन्धघ्नो शशां हितः ॥१८५॥

गन्ने के पके रस की सीधु—त्रलकारक, वर्ण बढ़ाने वाली, मृदुविरचक, शोधनाशक, अग्निदीपक, हृद्य, रुचिकारक, कफ और अर्श के लिये हितकर होती है ॥१८४॥ गन्ने के कच्चे रस की सीधु—शरीर को कृम करने वाली, शोध और उदर की नाशक, कान्ति बढ़ाने वाली, आहार का पचन कराने वाली, स्वर के लिये हितकर, मलावरोध को दूर करने वाली और अर्श के लिये हितकर होता है ॥१८५॥

आक्षिकः पाण्डुरोगघ्नो व्रण्यः संग्राहको लघुः ।

कपायमधुरः सीधुः पित्तघ्नोऽसृक्प्रसादनः ॥१८६॥

बहेड़े की सीधु—पाण्डुरोगनाशक, व्रण के लिये हितकर, संग्राही, हलकी, कपाय और मधुर, पित्तनाशक और रक्त-प्रसादन करने वाली होती है ॥१८६॥

जाम्बवो वद्धनिष्यन्दस्तुवरो वातकोपनः ।

जाम्बुन की सीधु—मूत्रसंग्राही (मूत्र की राशि कम करने वाली), कपाय और वातप्रकोपक होती है ।

अथ आसवः ।

नीक्षणः सुरासवो हृद्यो मूत्रलः कफवातनुत् ।

मुखप्रियः स्थिरमदो चिज्ञेयोऽनिलनाशनः ॥१८७॥

सुरासव—तीक्ष्ण, मन को आनन्ददायक, मूत्रल, कफ और वात हर, मुख को प्रिय, अधिक काल तक मद उत्पन्न करने वाला और वातनाशक होता है ॥१८७॥

वक्तव्य—सुरासव—सुरया उषते तोयकार्यं क्रियते यस्मिन् ।

सुरासवः । (इल्लहण) ।

लघुर्मध्वासवश्लेदी मेहकुष्ठविपापहः ।

तिक्तः कपायः शोफघ्नस्तीक्ष्णः स्वादुरवातकुत् ॥१८८॥

मधु का आसव—श्लेदी, मेह, कुष्ठ और विप का हारक, तिक्त, कपाय, शोधनाशक, तीक्ष्ण, मधुर और वात न करने वाला होता है ॥१८८॥

तीक्ष्णः कपायो मदकुहुर्नामकफगुल्महृत् ।

कृमिमैदोनिलहरो मैरेयो मधुरो गुरुः ॥१८९॥

मैरेय मद्य—तीक्ष्ण, कपाय, मदकारक, अर्श, कफ और गुल्म नाशक, कृमि, मेद और वातहर, मधुर तथा गुरु होता है ॥१८९॥

वक्तव्य—मैरेय—आसवस्य सुरायाश्च द्वयोरैकत्र भाजने ।

संधान तद्विजानीयान्मैरेयमुभयाश्रयम् ॥

वलयः / पित्तहरो वर्ण्यो हृद्यश्चेक्षुरसासवः ॥१९०॥

इक्षुरसामत्र—त्रलकर, पित्तनाशक, शरीर का वर्ण बढ़ाने वाला और हृद्य होता है ॥१९०॥

शीधुर्मधूकपुष्पोत्थो विदाह्यग्निबलप्रदः ।

रूक्षः कपायः कफहृद्वातपित्तप्रकोपणः ॥१९१॥

निर्दिशेद्रसतश्चान्यान्रुन्दमूलफलासवात् ।

मधुवे के पुष्पों का आसव—दाह पैदा करता है, जठराग्नि और घल का बढ़ाने वाला है, रूक्ष है, कपाय है, कफनाशक है और वात तथा पित्त का प्रकोप करने वाला है ॥१९१॥ (इनके अतिरिक्त) कंद, मूल और फलों के जो अन्य आसव होते हैं वे (कन्द, मूलादि के) रसानुसार (गुणकारक) समझने चाहिये ।

नवं मद्यमभिष्यन्दि गुरु वातादिकोपनम् ।

अनिष्टगन्धि विरसमहृद्यं व विदाहि च ॥१९२॥

नवीन मद्य (एक वर्ष से कम पुराना)—अभिष्यन्दि, भारी, वातपित्त कफ प्रकोपक, अप्रियगन्धयुक्त, योग्य रस रहित, मन को प्रिय न होने वाला और विदाहजनक होता है ॥१९२॥

सुगन्धि दीपनं हृद्यं रोचिष्णु कृमिनाशनम् ।

स्फुटस्रोतस्करं जीर्णं लघु वातकफापहम् ॥१९३॥

पुराना मद्य—सुगंध युक्त, अग्निदीपक, मन को प्रिय होने वाला, रुचिकारक, कृमिनाशक, स्रोतोविकासी, हलका तथा वात और कफ हर होता है ॥१९३॥

अरिष्टो द्रव्यसंयोगसंस्कारादधिको गुणैः ।

बहुदोषहरश्चैव दोषाणां शमनश्च सः ॥१९४॥

दीपनः कफवातघ्नः सरः पित्ताविरोधनः ।

शूलाध्मानोदरप्लीहज्वराजीर्णांशसां हितः ॥१९५॥

अरिष्ट (अभयचित्रिकादि) द्रव्यों का संयोग होने के कारण तथा (अनेक) संस्कार होने के कारण अधिक गुण-कारक होता है, अनेक व्याधियों का नाशक होता है और (वातादि) दोषों को शांत करने वाला है ॥१९४॥ वह दीपक है, (विशेषतया) कफ और वात का नाश करता है, मृदु-विरचक है, पित्त का थोड़ा हरण करता है तथा शूल, आध्मान, उदर, प्लीहावृद्धि, ज्वर, अजीर्ण और अर्श इनके लिये हितकर होता है ॥१९५॥

पिप्पल्यादिकृतो गुल्मकफरोगहरः स्मृतः ।

चिकित्सितेषु वदन्त्येऽरिष्टा रोगहराः पृथक् ॥१९६॥

पिप्पल्यादि गण से बनाया हुआ अरिष्ट गुल्म और कफ-नाशक होता है । रोगहर अन्य अरिष्ट चिकित्सास्थान में पृथक् पृथक् (रोग के वर्णन के समय) वर्णन किये जायेंगे ॥१९६॥

अरिष्टासवसीधूनां गुणान् कर्माणि चादिशेत् ।

१ मृद्वैकेक्षुरसासवः. २ कपायकफ०.

रूक्ष मधूकपुष्पोत्थं फाणितं वातपित्तदृत् ।
कफघ्न मधुर पाके कषाय वस्तिदूषणम् ॥१६९॥
इतीधुवर्गं ।

महुने के फूलों से बनी हुई राख रूक्ष, वात और पित्त कारक, कफनाशक, विद्राक में मधुर, कषाय और मूत्र दूषक हाती है ॥१६९॥

वृत्तव्य—आज कल खजूर, बीट रूट (Beat Root) आदि कई वृक्षों से थकेरा बनाई जाती है, परन्तु सब में रामायनिक दृष्टि से एक ही द्रव्य (Saccharose) होता है । इनि इधुवर्ग ।

अथ मद्यवर्गं ।

सर्वं पित्तकार मद्यमल्ल रोचनदीपनम् ।
भेदन कफवातघ्न हृद्य वस्तिविशोधनम् ॥१७०॥
पाके लघु विद्राहृष्ण तीक्ष्णमिन्द्रियबोधनम् ।
विकासि रूष्टविषमूत्र श्लथु तस्य विशेषणम् ॥१७१॥

(मद्य के गुण—) सर्व प्रकार का मद्य पित्तकारक अम्ल रचि उत्पन्न करने वाला, अग्निदीपक, विरचक, कफवात नाशक हृदय के लिये हितकर (अथवा मन को आनन्द देने वाला), मूत्रपोषक ॥१७०॥ पचन के लिये हल्का, दाह उपन्न करने वाला गरम, तीक्ष्ण ज्ञानिन्द्रिय का उत्तेजना देने वाला सधिवर्धनमाशक तथा मूत्र और मल को सुलकर लाने वाला होता है । (अथ) हमक विशेष (भेदों का वर्णन) अथण करो ॥१७१॥

वृत्तव्य—मद्य में लवण के अतिरिक्त शेष पाँच रस होते हैं परन्तु अम्लरस की उष्णता होने से कबल अम्लरस का ही यहाँ निर्दिष्ट किया है—मद्यस्यात्मन्मभावस्य चर तेऽमुग्धा स्मृताः । मधुरश्च कषायश्च तिक्त कटुक एव च ॥ गुणश्च दग पूर्वोक्तो भेदस्तुर्दार्ढ्यमिच्छेत् । म्लेषां मद्यमल्लान्युत्पत्तिरि निश्चिन्ति ॥ (चरक) । हृद्य—हृदय रक्षप्रतिभ्रमण्य तथा मन दानों का ही स्थान है—रम्यप्रतिभ्रमण्यो सखदुकीन्द्रियारपनाम् । प्रधानस्योन्नतैश्च हृद्य स्थानमुत्पद्ये ॥ (चरक) । मद्य दानों के लिये प्रयत्न जाता है । इन्द्रियबोधन—अल्प मात्रा में सेवन करने पर मद्य यह कार्य करता है—प्रवर्धन प्रीतिकर घानात्रपुणरत्नकं । कषणीनप्रहायनां कषानां च प्रवर्धनं ॥ (चरक) । विरोगण्य—प्रत्येक प्रकार के मद्य के विशेष गुणधर्म उस मद्य के प्रधान द्रव्य के गुणधर्म पर, उगमें पहले वाले मित्र मित्र दम्बों पर तथा उसमें उत्पन्न होने वाले अल्कोहोल (Alcohol) की राशि पर निर्भर होते हैं ।

मार्दवीशमधिदाहिव्यान्मधुरान्वयतस्त्रया ।
रक्षपित्तेऽपि सतत बुधेन प्रतिपिप्यते ॥१७२॥
मधुर तद्धि रूक्ष च कषायानुरस लघु ।
लघुपाकि सर दोषविषमज्वरनाशनम् ॥१७३॥

दाहदा का मद्य—अभिष्टीह और मधुरसाण्यक ह पर रस पित्त में भी मदीय (सेवन करने के लिये) वैद्य सद्य हमका निषेध नहीं करत है ॥१७२॥ यह मद्य मधुर रूक्ष, अनुवय में कषाय, हल्का, विद्राक में हल्का, मृदुविषाक नाश और

विषम ज्वर का नाशक होता है ॥१७३॥
मार्दवीकाल्पान्तरं किञ्चित् खजूर वातकोपनम् ।
तदेव विशद रच्य कफघ्न कर्जन लघु ॥
कषायमधुर हृद्य सुगन्धीन्द्रियबोधनम् ।

(खजूरमद्य—) खूहार से बनाया हुआ मद्य मार्दवी मद्य से गुण में थोड़ा कम, किञ्चित् वातप्रकायक विषम र कारक, कफनाशक, कृशताकारक हल्का ॥१७३॥ कषाय मधुर रस युक्त हृद्य, सुगन्धित आर इन्द्रियबोधन है ।

कासार्योप्रहृणीश्वसमूनाधानानिलापहा ॥१७४॥
स्तन्यरक्षक्षयहिता सुरा शृण्णदीपनी ।
सुरा—सर्वांगी, बवासीर, प्रहणी राग, मूत्रापान और हृदकी नाशक, स्तन्य और रक्त के लिये हितकर, घरीपुत्री तथा अग्निदीपक हाती है ।

छर्द्योचरुहृत्कुक्षितोद्गूलप्रमर्दनी ॥१७५॥
प्रमत्ता कफराताशोविषन्धानाहनाशनी ।
प्रमत्ता (सुरामण्ड)—बमन उत्तरे, हृदय तथा का वदना और शूल कफ वात, बवासीर, मलावरोध अकारा इनको नाश करती है ।

कासार्योप्रहृणीश्वसप्रतिश्यायविनाशनी ॥१७६॥
श्वेता मूत्रकफस्तन्यरक्षमासकरी सुरा ।
श्वेतवर्ण की सुरा—काम अर्ग, प्रहणी श्वास और उ इनका नाश करती है और मूत्र कफ, स्तन्य (दूध) और मांस इनकी वृद्धि करती है ।

पित्तलाऽऽपकषा रूक्षा यवैर्वातप्रकोपणी ॥
विष्टम्भिनी सुरा गुर्मी श्लेष्मला तु मधूलिका ।
रूक्षा नातिकषा वृष्पा पाचनी चाक्षिकी स्मृता ॥
यमसुरा—पित्तकारक अल्प कफ करने वाली, रूक्ष वातप्रकायक १५१ - पित्तकारक मद्य—वि करने

मर्कट—हस्तदण वा तत्कलित्वं मधूक मधूकगुणधर्मि १५० (इच्छणीय) ।

त्रिदोषो भेद्यवृष्यश्च क्रोहलो वद्वनप्रिय ।
कादल (यवमकुट्टन) सुरा—त्रिदोषकारक अट्टल और अधिकर हाती है ।

मालुष्णी जगत् पत्रा कृत्स्नदृक्कषोपहृत् ॥
हृद्य प्रयाहिकाऽऽटोपदुर्नामानिलशोषहृत् ।
जगल (मद्य का नीचे का भाग—) घाही पाषक, रूक्ष, घृषानाशक, कफकारक, (सेवन करने शोथनाशक, प्रवाहिका, मलावरोध अर्ग, वात और इनका नाशक है ।

यष(क)सो हतसारस्याह्रिष्टम्भी घातकोपन ॥
दीपन रूष्टविषमूत्रो विशदोऽरुपमदो गुर्गा ।

१ केवलं तु मधूकम्

melancholic according to the individual peculiarities. Ghosh's Materia Medica and Therapeutics. साहस—मनुष्यमारणं स्तेयं परदारभिमर्षणम् । पारुष्यमनृतं चैव साहसं

स्मृतम् ॥

रक्तपित्तकरं शुक्तं छेदि भुक्तविपाचनम् ।

वैस्वर्यं जरणं श्लेष्मपाण्डुकिमिहरं लघु ॥२१०॥

तीक्ष्णोष्णं मूत्रलं हृद्यं कफघ्नं कटुपाकि च ।

तद्वत्तासुतं सर्वं रोचनं च विशेषतः ॥२११॥

शुक्तं रक्तपित्तकारक, छेदि, भोजन का पचाने वाला, स्वर मंगकारक, आमपाचक, कफ, पाण्डुरोग और कृमि का नाशक तथा हलका है ॥२१०॥ शुक्त के अनुसार शुक्त संधित (कन्दादिक) तीक्ष्ण, उष्ण, मूत्रल, हृद्य, कफनाशक, विपाक में कटु और विशेषतया रुचिकारक होते हैं ॥२११॥

वक्तव्य—शुक्त—यन्मत्स्नादि शुक्तौ भाण्डे सगुडक्षौद्र-काजिकम् । धान्यराशौ विरात्रयं शुक्तं चुक्रं तदुच्यते ॥

गौडानि रसशुक्तानि मधुशुक्तानि यानि च ।

यथापूर्वं गुस्तरारयभिष्यन्दकराणि च ॥२१२॥

गौड के शुक्त, रस के शुक्त और मधु के शुक्त जितने हैं वे युक्तम से अधिकाधिक भारी और अभिष्यन्द उत्पन्न करने वाले हैं ॥२१२॥

वक्तव्य—गुडशुक्त—गुडांशुना सत्तेलेन संधानं काजिकं तु भवति । कन्दशाकफलैर्युक्तं गुडशुक्तं तदुच्यते ॥ मधुशुक्तं—जम्बीरस्य मूलसं पिप्पलीमूत्रंयुक्तम् । मधुभाण्डे विनिक्षिप्य धान्यराशौ निपापयेत् । व्यहेण तज्जातरसं मधुशुक्तमुदाहृतम् ॥ यथापूर्वं—गुडशुक्तं सब से अधिक भारी और अभिष्यन्दकर तथा मधुशुक्तं सब से हलका और कम अभिष्यन्दकर ।

तुपांशु दीपनं हृद्यं हृत्पाण्डुकृमिरोगनुत् ।

प्रहरयशोविकारघ्नं भेदि सौवीरकं तथा ॥२१३॥

तुपोदक—अग्निदीपक, हृद्य, हृद्दोग, पाण्डुरोग, कृमिरोग, प्रहारी और अर्शे इन रोगों का नाशक तथा भेदी होता है । सौवीरक भी गुर्षों में ऐसा ही होता है ॥२१३॥

वक्तव्य—तुपांशु—तुपांशु संधितं श्रेयमामैर्विदलितैर्धैः । पंचैलु निस्तुपैः पक्कैः सौवीरं संधितं भवेत् ॥ (शाङ्गधर) ।

धान्याम्लं धान्ययोनित्वाज्जीवनं दाहनाशनम् ।

स्पर्शात्पानाचु पवनकफतृष्णाहरं लघु ॥२१४॥

तैदरयाच्च निहरेदाशु कफं, गरद्वपधारणात् ।

मुखवैरस्यदौर्गन्ध्यमलशोषकृमापहम् ॥२१५॥

शौचं जरणं भेदि हितमास्थापनेषु च ।

तमुदमाश्रितानां च जनानां सात्स्यमुच्यते ॥२१६॥

इति मद्यवर्गः ।
धान्याम्ल (शाङ्गिकोद्व आदि)—धान्यजन्य होने से प्राणधारक, स्पर्श करने से (क्षारजन्य) दाहनाशक, सेवन करने से वात, कफ और तृष्णा नाशक तथा लघु है ॥२१४॥ तीक्ष्ण होने से शीघ्र ही कफहर होता है, कुला करने से मुख की विरसता, दुर्गन्ध, मल, शुष्कता और कृमि इनका नाश करता है ॥२१५॥ अग्निदीपक है, पाचक है, विरेचक है,

आस्थापन वस्ति के लिये हितकर है और समुद्रतटनिवासी मनुष्यों के लिये सात्स्य (अनुकूल) होता है ॥२१६॥ इति मद्यवर्गः ।

अथ मूत्राणि ।

अथ मूत्राणि गोमहिषाजाविगजहयखरोष्ट्राणां तीक्ष्णान्युष्णानि कटूनि तिक्तानि लवणानुरसानि लघूनि शोधनानि कफघातकृमिमेदोविषगुल्मार्श-उदरकुष्ठशोफारोचकपाण्डुरोगहराणि हृद्यानि दीपनानि च सामान्यतः ॥२१७॥

भघतश्चात्र—

तत्सर्वं कटु तीक्ष्णोष्णं लवणानुरसं लघु ।

शोधनं कफघातघ्नं कृमिमेदोविषापहम् ॥२१८॥

अशौजठरगुल्मघ्नं शोफारोचकनाशनम् ।

पाण्डुरोगहरं भेदि हृद्यं दीपनपाचनम् ॥२१९॥

गौ, भैंस, बकरी, भेड़ी, हाथी, घोड़ा, गधा और जंत इनके मूत्र सामान्यतया, तीक्ष्ण, उष्ण, कटुरस, तिक्तारस, अनुरस में लवण, हलके, मलशुद्धिकर, कफ, वात, कृमि, मेद, विष, गुल्म, अर्शे, उदर, कुष्ठ, शोथ, अरोचक और पाण्डुरोग इनको दूर करने वाले, हृद्य तथा अग्निदीपक होते हैं ॥२१७॥ सर्व मूत्र कटु, तीक्ष्ण, उष्ण, अनुरस में लवण, हलके, मलशोधक, कफघातनाशक, कृमि, मेद और विष इनको हरण करने वाले ॥२१८॥ अर्शे, गुल्म, उदर, शोथ, अरोचक, पाण्डुरोग इनके नाशक, विरेचक, हृद्य और दीपन पाचन हैं ॥२१९॥

गोमूत्रं कटु तीक्ष्णोष्णं सक्षारत्वान्न वातलम् ।

लघ्वग्निदीपनं मेध्यं पित्तलं कफघातजित् ॥२२०॥

शूलगुल्मोदरानाहविरेकास्थापनादिषु ।

मूत्रप्रयोगसाध्येषु गव्यं मूत्रं प्रयोजयेत् ॥२२१॥

गोमूत्र—कटु, तीक्ष्ण, उष्ण, क्षारयुक्त होने से वातप्रकोप न करने वाला, हलका, अग्निदीपक, मेधाजनक (या पवित्र), पित्तकारक और कफघातकर है ॥२२०॥ शूल, गुल्म, उदर, आनाह इन रोगों में, विरेचन और आस्थापनवस्ति में तथा मूत्र प्रयोग से साध्य (सब विकारों में तथा कार्यों में) गोमूत्र का प्रयोग करना चाहिये ॥२२१॥

दुर्नामोदरश्लेषु कुष्ठमेहाविशुद्धिषु ।

आनाहशोफगुल्मेषु पाण्डुरोगे च माहिषम् ॥२२२॥

भैंस का मूत्र—अर्शे, उदर, शूल, कुष्ठ, प्रमेह, (वमनादि की) ठीक प्रवृत्ति न होने की अवस्था, अफारा, शोथ, गुल्म और पाण्डुरोग इनमें प्रशस्त होता है ॥२२२॥

कासश्वासापहं शोफकामलापाण्डुरोगनुत् ।

कटुतिक्तान्वितं छागमीषन्मारुतकोपनम् ॥२२३॥

बकरी का मूत्र—कास और श्वास हर, शोथ, कामला और पाण्डुरोगनाशक, कटु और तिक्तारसयुक्त तथा किंचित् वात-प्रकोपक होता है ॥२२३॥

कासप्लीहोदरश्वासशोषवर्चोप्रहे हितम् ।

सक्षारं तिक्तकटुकमुष्णं वातघ्नमाचिकम् ॥२२४॥

युज्या यथास्यं संस्कारमवेद्य कुशलो भिषक् ॥१९७॥
 भिन्न भिन्न अरिष्ट, आमय और सोष इनके गुण तथा कर्म
 बुद्धिमान् वैद्य उनमें उपस्थित होने वाले द्रव्य तथा उन पर
 क्रिये हुए नगर इनको देखकर अपनी बुद्धि में समक
 ले ॥१९७॥

सान्द्र विदाहि दुर्गन्ध विरसं कृमिलं गुरु ।
 अहृद्यं तरुणं तीक्ष्णमुष्णं दुर्भाजनस्थिनम् ॥१९८॥
 अल्पोपधं पर्युपितमत्यच्छं पिच्छिलं च यत् ।
 तद्वर्ज्यं सर्वदा मद्यं किञ्चिच्छेषं च यद्भवेत् ॥१९९॥

(दोष युक्त मद्य—) जो मद्य घन (गाढ़), विदाह
 करने वाला, दुर्गन्धयुक्त, विरस, कृमियुक्त, भारी, दिल को पसन्द
 न होने वाला, तीक्ष्ण, गरम, सराब पात्र में रक्खा
 गया ॥१९७॥ तद्वर्ज्यं मद्यं किञ्चिच्छेषं च यद्भवेत् ॥१९९॥
 उक्त निम्नलि,
 ऐसा मद्य

नत्र यत् स्तोकसम्भार तरुणं पिच्छिलं गुरु ।
 कफप्रकोपि तन्मद्यं दुर्जरं च विशेषतः ॥२००॥
 पित्तप्रकोपि वहलं तीक्ष्णमुष्णं विदाहि च ।
 अहृद्यं फेलेयं पूति कृमिल विरसं च यत् ॥२०१॥
 तथा पर्युपितं चापि विद्यादतिलकोपेतम् ।
 सर्वदोषैरपेतं तु सर्वदोषप्रकोपणम् ॥२०२॥

इनमें से जिनमें ओषधियों की रागि या संख्या कम होती
 है ऐसा मद्य, ताम्रा, पिच्छिल और भारी मद्य कफप्रकोपक और
 विषेय करके पचन में कठिन होता है ॥२००॥ जो मद्य घन,
 तीक्ष्ण, उष्ण, विदाहजनक होता है वह पित्तप्रकोपक है । जो
 मद्य अहृद्य, स्वच्छ, पिच्छिल, कृमियुक्त, विरस ॥२०१॥ तथा
 भारी होता है वह वातप्रकोपक है । और सबे दोष युक्त मद्य
 सबे दोषों का प्रकोपक होता है ॥२०२॥

चिरस्थितं जातरसं दीपनं कफघानजित् ।
 रुच्यं प्रसन्न सुरभि मद्यं सेष्यं मदानन्दम् ॥२०३॥
 पुराना, जिनमें रस उष्ण हुआ है ऐसा, अग्निसीपक,
 कफघानहृत्, रुचिकर, मन प्रसन्न करने वाला, सुगन्धयुक्त
 तथा यथाञ्चित् नया उष्ण करने वाला मद्य सेवन करता
 चाहिये ॥२०३॥

तस्यानेकप्रकारस्य मद्यस्य रसदीपयतः ।
 सौहार्दादीप्याद्य तेष्वप्याद्य विकसित्वाद्य धन्विना २०४
 समेत्य हृद्यं प्राप्य धमनीरुच्यमागतम् ।
 विज्ञोऽग्नेन्द्रियचेतांसि धीर्यं मद्यपतेऽचिरान् ॥२०५॥

रस और बर्ध की दृष्टि से इस भिन्न भिन्न प्रकार के मद्य
 का बर्ध जटागि के साथ मिलकर हृद्य में प्राप्त हो जाता
 है और वहाँ से ऊर्ध्वगामी धमनियों में होकर अपने मूत्र,
 तीक्ष्ण, उष्ण और विक्रमि गुणों के कारण इ रों और
 पित्त की विशेषता करके शीघ्र ही मनुष्य को मरुत्त करना
 है ॥२०४, २०५॥

चक्रान्य—मद्य की तीन अवस्थाएँ होती हैं—१ हर्ष
 वस्था (Stage of excitement), २ मग्नतावस्था (Stage
 of delirium) ३ विमज्जावस्था (Stage of narcosis
 "यवमद्य प्रयो ज्ञेयं पूर्वं मद्येऽथ पश्चिम । पूर्वं वीर्यनिर्गमिर्द्वितीयं
 त्रिचतुर्थम् ॥ प्रथमो मद्यमे मांश युक्तयुक्तत्रियाम्नाया । तिस्र वं
 धन नष्कर्त्तव्यताया ॥ (सुश्रुत) । मद्य का विशेष लक्षण
 उत्तरतन्त्र के पानान्यवयवनिषेध अध्याय में किया गया है ।

चिरेण शैथिल्ये पुंसि पानतो जायते मद्यः ।
 अचिराद्वातिके हृष्टः पैंतिके शीघ्रमेव तु ॥२०६॥
 मद्यसेवन से कफप्रकृति मनुष्य की देर से नगा हो
 है, वातप्रकृति मनुष्य को थोड़ी देर से होता है, और ति
 प्रकृति मनुष्य को गीम ही हो जाता है ॥२०६॥

सात्त्विके शौचदाक्षिण्यहर्षमण्डनलालसः ।
 रीत्याध्ययनसौभाग्यसुरतोत्साहकृन्मद्यः ॥२०७॥
 राजसे दुःखशीलत्वमात्मत्यागं ससाहसम् ।
 बलहं सानुग्रहं तु करोति पुरुषे मद्यः ॥२०८॥

अशौचनिद्रामात्मसर्पागम्यागमनलोलताः ।
 असत्यभाषणं चापि कुर्याद्वि तामसे मद्यः ॥२०९॥
 सात्त्विक मनुष्य में उष्ण हुआ मद्य पावित्र्य, परानुष्ठ
 वृत्ति, हर्ष और शरीर सुगोभित करने की इच्छा उत्पन्न कर
 है, तथा गायन, अध्ययन, अपने नाम के लिये योग्य का
 करना और मधुन इन बातों में उन्माह उत्पन्न करता है ॥२०७॥
 राजस प्रकृति के मनुष्य में मद्य का मद्य दुःखशीलता, आम
 नाशक कर्म, माहम कर्म, निरंतर कष्ट करने की प्रकृति बढ़
 है ॥२०८॥ तामसप्रकृति के मनुष्य में मद्य का मद्य अपवित्रता
 भावार्थ, अगम्य शिष्यों के साथ सहवाय करने की इच्छा और
 असत्य भाषण (करने की प्रकृति) उत्पन्न करता है ॥२०९॥

चक्रान्य—समाज में प्रायः सब लोग अपना व्यवहार
 आभ्यन्तरीय प्रकृति की रोककर रुढ़ि और बाह्य समाज की
 दृष्टि से किया करते हैं । मद्य सेवन करने पर बाह्य जगत् का
 उमका ध्यान कुछ नष्ट हो जाता है और मनुष्य अपनी प्रकृति
 के अनुसार सब व्यवहार किया करता है—भरेन क्लान्तानां तु
 भावान्मन्व हन्ति । विगुणनि भासन् प्रसारीकृष्णोऽवश ॥
 (सुश्रुत) । इसी कारण से चरकभद्रिना में मद्य की 'प्रकृति
 रूढक' कहा है—नवप्रकारक हर्ष मोक्षप्रतिनिर्दरता । हुशार एवं
 सुश्रुतों मद्य मद्यप्रकारक ॥ प्रधानावरणवातां रुपाणां स्थितिरुक्त ।
 यथाङ्गिभ सत्तानां मद्य मद्यनिर्दरता ॥ वैज्ञानिक शोध से भी
 यह सिद्ध हुआ है कि प्रकृति भेद के अनुसार मद्य के मद्य में
 भी भेद होता है—In fact the effects depend upon
 the nature of the environment and on the inher
 ent mentality of the individual and would prod
 uce quite diverse symptoms on different pers
 ons and different effects on the same individual
 under different conditions. Owing to a certain
 degree of freedom from restraint, the person
 will be talkative. In extreme cases of or

melancholic according to the individual peculiarities. Ghosh's Materia Medica and Therapeutics. साहस—मनुष्यमारणं स्तेयं परदारभिमर्षणम् । पारुष्यमनृतं च साहसं स्तुतम् ॥

रक्तपित्तकारं शुक्तं छेदि भुक्तविपाचनम् ।
वैखर्यं जरणं श्लेष्मपाण्डुकिमिहरं लघु ॥२१०॥
तीक्ष्णोष्णं मूत्रलं हृद्यं कफघ्नं कटुपाकि च ।
तद्वत्तासुतं सर्वं रोचनं च विशेषतः ॥२११॥

शुक्त रक्तपित्तकारक, छेदि, भोजन का पचाने वाला, स्वर मंगकारक, आमपाचक, कफ, पाण्डुरोग और कृमि का नाशक तथा हलका है ॥२१०॥ शुक्त के अनुसार शुक्त संघित (कन्दादिक) तीक्ष्ण, उष्ण, मूत्रल, हृद्य, कफनाशक, विपाक में कटु और विशेषतया रुचिकारक होते हैं ॥२११॥

वक्तव्य—शुक्त—यन्मस्वादि शुक्तं भण्डे सयुद्धक्षौद्र-
जेकम् । धान्यराशौ विरात्रस्थं शुक्तं चुक्तं तदुच्यते ॥

गौडानि रसशुक्तानि मधुशुक्तानि यानि च ।
यथापूर्वं गुरुतरायभिम्यन्दकराणि च ॥२१२॥
गौड़ के शुक्त, रस के शुक्त और मधु के शुक्त जितने हैं वे कम से अधिकाधिक भारी और अभिम्यन्द उरपन्न करने लगे हैं ॥२१२॥

वक्तव्य—गुडशुक्त—गुडाशुना सतैलेन संधानं काजिकं तु
१। कन्दशाकफलैर्युक्तं गुडशुक्तं तदुच्यते ॥ मधुशुक्त—जम्बीरस्य
रसं पिपलीमूलमयुतम् । मधुभाण्डे त्रिनिक्षिप्य धान्यराशौ
भाषयेत् । ज्यहेण तज्जातरसं मधुशुक्तमुदाहृतम् ॥ यथापूर्वं—
शुक्तं सब से अधिक भारी और अभिम्यन्दकर तथा मधु-
शुक्तं सब से हलका और कम अभिम्यन्दकर ।

तुषाम्बु दीपनं हृद्यं हृत्पाण्डुकृमिरोगनुत् ।
ग्रहण्यशोविकारघ्नं मेदि सौवीरकं तथा ॥२१३॥
तुषोदक—अग्निदीपक, हृद्य, हृद्रोग, पाण्डुरोग, कृमिरोग,
ग्रहणी और अर्श इन रोगों का नाशक तथा भेदी होता है ।
सौवीरक भी गुर्बों में ऐसा ही होता है ॥२१३॥

वक्तव्य—तुषाम्बु—तुषाम्बु संघितं ज्ञेयमामेर्विदलितैर्धैवः ।
धैरुत्तु निरुधैः प्रकैः सौवीरं संघितं भवेत् ॥ (शाङ्गधर) ।

धान्याम्लं धान्ययोनिव्याज्जीवनं दाहनाशनम् ।
स्पर्शात्पानासु पवनकफतृष्णाहरं लघु ॥२१४॥
तैक्ष्ण्यनिर्हरेदाशु कफं, गरुडूषधारणात् ।
मुखवैरस्यदौर्गन्ध्यमलशोषकृमापहम् ॥२१५॥

ज्वरं जरणं मेदि हितमास्थापनेषु च ।
समुद्रमाश्रितानां च जनानां सात्स्यमुच्यते ॥२१६॥

इति मद्यवर्गः ।
धान्याम्ल (शालिकोदक आदि)—धान्यजन्य होने से प्राणधारक, स्पर्श करने से (क्षारजन्य) दाहनाशक, सेवन करने से वात, कफ और तृष्णा नाशक तथा लघु है ॥२१४॥ तीक्ष्ण होने से शीघ्र ही कफहर होता है, कुला करने से मुख की विरसता, दुर्गन्ध, मल, शुष्कता और कृमि इनका नाश करता है ॥२१५॥ अग्निदीपक है, पाचक है, विरेचक है,

आस्थापन बस्ति के लिये हितकर है और समुद्रतटनिवासी मनुष्यों के लिये सात्स्य (अनुकूल) होता है ॥२१६॥ इति मद्यवर्गः ।

अथ मूत्राणि ।

अथ मूत्राणि गोमहिषाजाविगजहयखरोष्णां
तीक्ष्णान्युष्णानि कटूनि तिक्तानि लवणानुरसानि
लघूनि शोधनानि कफवातकृमिमेदोविषगुल्माश-
उदरकुष्ठशोफारोचकपाण्डुरोगहराणि हृद्यानि दीप-
नानि च सामान्यतः ॥२१७॥

भवतश्चात्र—

तत्सर्वं कटु तीक्ष्णोष्णं लवणानुरसं लघु ।
शोधनं कफवातघ्नं कृमिमेदोविषापहम् ॥२१८॥
अशोजठरगुल्मघ्नं शोफारोचकनाशनम् ।
पाण्डुरोगहरं मेदि हृद्यं दीपनपाचनम् ॥२१९॥

गौ, भैंस, बकरी, भेड़ी, हाथी, घोड़ा, गधा और ऊंट इनके मूत्र सामान्यतया, तीक्ष्ण, उष्ण, कटुरस, तिक्तरस, अनुरस में लवण, हलके, मलशुद्धिकर, कफ, वात, कृमि, मेद, विष, गुल्म, अर्श, उदर, कुष्ठ, शोथ, अरोचक और पाण्डुरोग इनको दूर करने वाले, हृद्य तथा अग्निदीपक होते हैं ॥२१७॥ सर्वे मूत्र कटु, तीक्ष्ण, उष्ण, अनुरस में लवण, हलके, मलशोधक, कफवातनाशक, कृमि, मेद और विष इनको हरण करने वाले ॥२१८॥ अर्श, गुल्म, उदर, शोथ, अरोचक, पाण्डुरोग इनके नाशक, विरेचक, हृद्य और दीपन पाचन हैं ॥२१९॥

गोमूत्रं कटु तीक्ष्णोष्णं सत्तारत्वात् चालम् ।
लघ्वग्निदीपनं मेध्यं पित्तलं कफवातजित् ॥२२०॥
शूलगुल्मोदरानाहविरेकास्थापनादिषु ।
मूत्रप्रयोगसाध्येषु गव्यं मूत्रं प्रयोजयेत् ॥२२१॥

गोमूत्र—कटु, तीक्ष्ण, उष्ण, क्षारयुक्त होने से वातप्रकोप न करने वाला, हलका, अग्निदीपक, मेधाजनक (या पवित्र), पित्तकारक और कफवातहर है ॥२२०॥ शूल, गुल्म, उदर, आनाह इन रोगों में, विरेचन और आस्थापनबस्ति में तथा मूत्र प्रयोग से साध्य (सब विकारों में तथा काशों में) गोमूत्र का प्रयोग करना चाहिये ॥२२१॥

दुर्नामोदरशूलेषु कुष्ठमेहाविशुद्धिषु ।
आनाहशोफगुल्मेषु पाण्डुरोगे च माहिषम् ॥२२२॥
भैंस का मूत्र—अर्श, उदर, शूल, कुष्ठ, प्रमेह, (वमनादि की) ठीक प्रवृत्ति न होने की अवस्था, अफारा, शोथ, गुल्म और पाण्डुरोग इनमें प्रशस्त होता है ॥२२२॥

कासश्वासापहं शोफकामलापाण्डुरोगनुत् ।
कटुतिक्तान्वितं छागमीपन्मास्तकोपनम् ॥२२३॥
बकरी का मूत्र—कास और श्वास हर, शोथ, कामला और पाण्डुरोगनाशक, कटु और तिक्तरसयुक्त तथा किंचित् वात-प्रकोपक होता है ॥२२३॥

कासह्रीहोदरश्वासशोषवर्षोप्रहे हितम् ।
सत्तारं तिक्तकटुकमुष्णं वातघ्नमाविकम् ॥२२४॥

पुञ्ज्या यथास्वं संस्कारभवेदप कुशलो भिवक् ॥१९७॥
 भिन्न भिन्न अरिष्ट, आसव और तीक्ष्ण इनके गुण तथा कर्म बुद्धिमान् वैद्य उनमें उपस्थित होने वाले द्रव्य तथा उन पर किये हुए स्कार इनको देखकर अपनी बुद्धि से समझे ॥१९७॥

सान्द्रं विदाहि दुर्गन्धं विरसं कृमिलं गुरु ।
 अह्वयं तरुणं तीक्ष्णमुष्णं दुर्भाजनस्थितम् ॥१९८॥
 अल्पीपथं पुण्युपितमत्यच्छुं पिच्छिलं च यत् ।
 तद्वर्ज्यं सर्वदा मद्यं किंचिच्छुष्यं च यद्भवेत् ॥१९९॥

(श्रेय युक्त मद्य—) जो मद्य घन (गाढ़), विदाह करने वाला, दुर्गन्धयुक्त, विरस, कृमियुक्त, भारी, दिल को पसन्द न होने वाला, तीक्ष्ण, तीक्ष्ण, गरम, खराब पात्र में रक्खा हुआ ॥१९८॥ मात्रा से कम शोधयंत्रियों से बना हुआ, बारी (सुने पात्र में ढूँड समय तक रक्खा हुआ), जलवत् निर्मल, पिच्छिल तथा पात्र के तल में थोड़ा बचा हुआ है, ऐसा मद्य सर्वदा वर्ज्य समझना चाहिये ॥१९९॥

तत्र यत् स्तोकसम्भारं तरुणं पिच्छिलं गुरु ।
 कफप्रकोपि तन्मद्यं दुर्दरं च विशेषतः ॥२००॥
 पित्तप्रकोपि यहलं तीक्ष्णमुष्णं विदाहि च ।
 अह्वयं पेलवं पुति कृमिलं विरसं च यत् ॥२०१॥
 तथा पुण्युपितं चापि विद्याद्विलकोपनम् ।
 सर्वदोगैरुपेतं तु सर्वदोषप्रकोपणम् ॥२०२॥

इनमें से जिसमें ओषधियों की राशि या संख्या कम होती है ऐसा मद्य, ताजा, पिच्छिल और भारी मद्य कफप्रकोपक और विशेष करके पचन में कठिन होता है ॥२००॥ जो मद्य घन, तीक्ष्ण, उष्ण, विदाहजनक होता है वह पित्तप्रकोपक है । जो मद्य अह्वय, स्वच्छ, पिच्छिल, कृमियुक्त, विरस ॥२०१॥ तथा बारी होता है वह वातप्रकोपक है । और सर्व दोष युक्त मद्य सर्वे दोषों का प्रकोपक होता है ॥२०२॥

चिरस्थितं जातरसं दीपनं कफघातजित् ।
 रच्यं प्रसन्नं सुरभि मद्यं सेव्यं मदायहम् ॥२०३॥
 पुराना, जिसमें रस उत्पन्न हुआ है ऐसा, अग्निदीपक, कफघातहर, रुचिकर, मन प्रसन्न करने वाला, सुगन्धयुक्त तथा दमोपहित नगा उत्पन्न करने वाला मद्य सेवन करना चाहिये ॥२०३॥

तस्यानेकप्रकारस्य मद्यस्य रसवीर्यतः ।
 सौवर्ण्यादौष्याद्य तैक्ष्ण्याच्च विकासित्वाच्च वद्विना २०४
 समेत्य हृदयं प्राप्य धमनीरूर्ध्वमागतम् ।
 विज्ञोभ्येन्द्रियचेतासि वीर्यं मद्ययतेऽचिरात् ॥२०५॥

रस और वीर्य की दृष्टि से इस भिन्न भिन्न प्रकार के मद्य का वीर्य जलद्वारा के साथ मिलकर हृदय में प्राप्त हो जाता है और वहाँ से ऊर्ध्वगामी धमनियों से होकर अपने मूत्रम, तीक्ष्ण, उष्ण और विकासि गुणों के कारण हृदय में और चित्त की चित्तोन्नति करके शीघ्र ही मनुष्य की मदयुक्त करता है ॥२०४, २०५॥

वृत्तव्य—मद की तीन अवस्थाएँ होती हैं—१ हर्षण-वस्था (Stage of excitement), २ प्रत्यापवस्था (Stage of delirium) ३ विमंज्ञावस्था (Stage of narcosis) ४ स्वप्नश्च मत्तो भवे पूर्वो गन्धोऽथ पश्चिम । पूर्वं नीर्यतिधीनिर्हर्षमाया-निवर्षनम् ॥ प्रत्यो मन्थम माहो युतायुक्तप्रियास्तथा । विमं पश्चिमे शेने नष्टकर्मक्रियायुग ॥ (सुश्रुत) । मद का विशेष वर्णन उत्तरतन्त्र के पातायवप्रतिषेध अध्याय में किया गया है ।

चिरेण श्लैष्मिके पुंसि पान्तो जायते मदः ।
 अचिराद्वातिके दृष्टः पैत्तिके शीघ्रमेव तु ॥२०६॥
 मद्यसेवन से कफप्रकृति मनुष्य की रेश से नगा होता है, वातप्रकृति मनुष्य को थोड़ी रेश से होता है, और पित्त प्रकृति मनुष्य को शीघ्र ही हो जाता है ॥२०६॥

सात्त्विके शौचदादिएयहर्षमण्डनलालसः ।
 गीताध्ययनसौभाग्यसुरतोत्साहशून्यमदः ॥२०७॥
 राजसे दुःखशीलव्यमान्मत्यागं ससाहसम् ।
 कलहं सानुयन्धं तु करोति पुरुषे मदः ॥२०८॥
 अशौचनिद्रामान्स्वार्थगम्यागमनलोलाताः ।
 असत्यभाषणं चापि कुर्याद्धि तामसे मदः ॥२०९॥

सात्त्विक मनुष्य में उत्पन्न हुआ मद पावित्र्य, परावृत्त-वृत्ति, हर्ष और शरीर सुगोभित करने की इच्छा उत्पन्न करता है, तथा गायन, अध्ययन, अपने नाम के लिये योग्य काम करना और मैथुन इन बातों में उत्साह उत्पन्न करता है ॥२०७॥ राजस प्रकृति के मनुष्य में मद्य का मद दुःखशीलता, आत्म-नाशक कर्म, साहस कर्म, निरंतर कलह करने की प्रवृत्ति करता है ॥२०८॥ तामसप्रकृति के मनुष्य में मद्य का मद अपवित्रता, मात्सर्य, अगम्य क्रियाओं के साथ सहवास करने की इच्छा और असत्य भाषण (झूठे की प्रवृत्ति) उत्पन्न करता है ॥२०९॥

वृत्तव्य—समर में प्रायः सब लोग अपना स्वभावहार आभ्यन्तरीय प्रवृत्ति को रोककर रुद्धि और बाह्य स्वभाव की दृष्टि से किया करते हैं । मद्य सेवन करने पर बाह्य जगत् का उसका बंधन कुछ नष्ट हो जाता है और मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुसार सर्वे व्यवहार किया करता है—भेदेन करणानां तु भावान्वये इते निदि । निगुण्यपि भाव न प्रकाशीकुलीऽनर ॥ (सुश्रुत) । इसी कारण से चरकसंहिता में मद्य की 'प्रवृत्ति दूषकः' कहा है—नवमनीषक हर्षं मोहप्रतिरतिशयम् । इतारा सर्वे सत्त्वानो मद्य पुण्यकारकम् ॥ प्रधानवरन्मथानां स्वपानां न्यक्तिरार्कः ।

व्याधिरिव सत्त्वाना मद्य प्रवृत्तिरोगम् ॥ वैज्ञानिक लोग से भी यह सिद्ध हुआ है कि प्रकृति भेद के अनुसार मद्य के मद में भी भेद होता है—Infact the effects depend upon the nature of the environment and on the inherent mentality of the individual and would produce quite diverse Symptoms on different persons and different effects on the same individual under different conditions Owing to a certain degree of freedom from restraint, the person will be talkative, boisterous, sentimental or

melancholic according to the individual peculiarities. Ghosh's Materia Medica and Therapeutics.

नाएम—मधुमद्यमारण स्तेय परदारभिमर्षणम् । पाण्ड्यमन्त्र च नाएम स्तुतम् ॥

रक्तपित्तकरं शुक्तं छेदि भुक्तविपाचनम् ।
वैखर्यं जरणं श्लेष्मपाण्डुकिमिहरं लघु ॥२१०॥
तीक्ष्णोष्णं मूत्रलं हृद्यं कफघ्नं कटुपाकि च ।
तद्वत्तदासुतं सर्वं रोचनं च विशेषतः ॥२११॥

शुक्त रक्तपित्तकारक, छेदि, भोजन का पचाने वाला, स्वर मंगकारक, आमपाचक, कफ, पाण्डुरोग और कृमि का नाशक तथा हलका है ॥२१०॥ शुक्त के अनुसार शुक्त संघित (कन्दादिक) तीक्ष्ण, उष्ण, मृदल, हृद्य, कफनाशक, विपाक में कटु और विशेषतया रुचिकारक होते हैं ॥२११॥

वक्तव्य—शुक्त—यन्मन्त्रादि शुचौ भाण्डे मधुसूक्ष्म-काशिकम् । धान्यराशौ गिरान्मथ शुक्त चुक ननुच्यते ॥

गौत्रानि रसशुक्तानि मधुशुक्तानि यानि च ।

पूर्वं गुरुतरारयभिष्यन्दकराणि च ॥२१२॥
इ के शुक्त, रस के शुक्त और मधु के शुक्त जितने हैं वे र मे अधिकाधिक भारी और अभिष्यन्द उत्पन्न करने ॥२१२॥

वक्तव्य—गुडशुक्त—गुडादिना मनैलेन मधान काशिक नु कन्दशाकफलैर्युक्त गुडशुक्त तदुच्यते ॥ मधुशुक्त—जम्बीरस्य । पिप्पलीमूल्मधुनम् । मधुभाण्डे त्रिनिक्षिप्य धान्यराशौ येव । ध्यरेण तजानरम मधुशुक्तमुदाहृतम् ॥ यथापूर्व—
क्त सय से अधिक भारी और अभिष्यन्दकर तथा मधु-सब से हलका और कम अभिष्यन्दकर ।

राम्बु दीपनं हृद्यं हृत्पाण्डुकृमिरोगनुत् ।

हरयशोविकारघ्नं भेदि सौवीरकं तथा ॥२१३॥
तुषोदक—अग्निदीपक, हृद्य, हृद्वाग, पाण्डुरोग, कृमिरोग, पी और अर्श इन रोगों का नाशक तथा भेदी होता है ।
रोक भी गुषों में ऐसा ही होता है ॥२१३॥

वक्तव्य—रुपाम्बु—रुपांशु संघित श्येयमामैविदल्लियैवैः ।
नु निरुपैः पकैः सौवीर संघित भवेत् ॥ (शाङ्गधर) ।

न्याम्लं धान्ययोनित्वाज्जीवनं दाहनाशनम् ।

शात्पापानासु पवनकफतृष्णाहरं लघु ॥२१४॥

रायाच्च निर्हरेदाशु कफं, गरहृषधारणात् ।

खवैरस्यदौर्गन्ध्यमलशोषकृमापहम् ॥२१५॥

रूपं जरणं भेदि हितमास्थापनेषु च ।

सुद्रमाश्रितानां च जनानां सात्म्यमुच्यते ॥२१६॥

इति मद्यवर्गः ।

धान्याम्ल (शालिकोद्भव आदि)—धान्यजन्य होने से रायाधारक, स्पर्श करने से (क्षारजन्य) दाहनाशक, सेवन करने से वात, कफ और तृष्णा नाशक तथा लघु है ॥२१४॥ तीक्ष्ण होने से शीघ्र ही कफहर होता है, कुल्ला करने से पित्त की विरसता, दुर्गन्ध, मल, शुष्कता और कृमि इनका नाश करता है ॥२१५॥ अग्निदीपक है, पाचक है, विरेचक है,

आस्थापन व्यक्ति के लिये हितकर है और समुद्रतटनिवासी मनुष्यों के लिये सात्म्य (अनुकूल) होता है ॥२१६॥ इति मद्यवर्गः ।

अथ मूत्राणि ।

अथ मूत्राणि गोमहिपाजाविगजहयखरोष्ट्राणां तीक्ष्णान्युष्णानि कटूनि तिक्तानि लवणानुरसानि लघूनि शोधनानि कफवातकृमिमेदोविषगुल्मार्श-उदरकुष्ठशोफारोचकपाण्डुरोगहराणि हृद्यानि दीपनानि च सामान्यतः ॥२१७॥

भवतश्चात्र—

तत्सर्वं कटु तीक्ष्णोष्णं लवणानुरसं लघु ।

शोधनं कफवातघ्नं कृमिमेदोविषापहम् ॥२१८॥

अर्शोजठरगुल्मघ्नं शोफारोचकनाशनम् ।

पाण्डुरोगहरं भेदि हृद्यं दीपनपाचनम् ॥२१९॥

गों, भैंस, बकरी, भेड़ी, हाथी, घोड़ा, गधा और ऊंट इनके मूत्र सामान्यतया, तीक्ष्ण, उष्ण, कटुरस, तिक्तरस, अनुरस में लवण, हलके, मलशुद्धिकर, कफ, वात, कृमि, मेद, विष, गुल्म, अर्श, उदर, कुष्ठ, शोथ, अरोचक और पाण्डुरोग इनको दूर करने वाले, हृद्य तथा अग्निदीपक होते हैं ॥२१७॥ सर्वे मूत्र कटु, तीक्ष्ण, उष्ण, अनुरस में लवण, हलके, मलशोधक, कफवातनाशक, कृमि, मेद और विष इनको हरण करने वाले ॥२१८॥ अर्श, गुल्म, उदर, शोथ, अरोचक, पाण्डुरोग इनके नाशक, विरेचक, हृद्य और दीपन पाचन हैं ॥२१९॥

गोमूत्रं कटु तीक्ष्णोष्णं सत्तारत्वाच्च वातलम् ।

लघ्वग्निदीपनं सैध्यं पित्तलं कफवातजित् ॥२२०॥

शूलगुल्मोदरानाहविरेकास्थापनादिषु ।

मूत्रप्रयोगसाध्येषु गव्यं मूत्रं प्रयोजयेत् ॥२२१॥

गोमूत्र—कटु, तीक्ष्ण, उष्ण, जारयुक्त होने से वातप्रकोप न करने वाला, हलका, अग्निदीपक, मेधाजनक (या पवित्र), पित्तकारक और कफवातहर है ॥२२०॥ शूल, गुल्म, उदर, आनाह इन रोगों में, विरेचन और आस्थापनबस्ति में तथा मूत्र प्रयोग से साध्य (सय विकारों में तथा कार्यों में) गोमूत्र का प्रयोग करना चाहिये ॥२२१॥

दुर्नामोदरशूलेषु कुष्ठमेहाविशुद्धिषु ।

आनाहशोफगुल्मेषु पाण्डुरोगे च माहिषम् ॥२२२॥

भैंस का मूत्र—अर्श, उदर, शूल, कुष्ठ, प्रमेह, (वमनादि की) ठीक प्रवृत्ति न होने की अवस्था, अफारा, शोथ, गुल्म और पाण्डुरोग इनमें प्रशस्त होता है ॥२२२॥

कासश्वासापहं शोफकामलापाण्डुरोगनुत् ।

कटुतिक्तान्वितं छागमीपन्मारुतकोपनम् ॥२२३॥

बकरी का मूत्र—कास और श्वास हर, शोथ, कामला और पाण्डुरोगनाशक, कटु और तिक्तरसयुक्त तथा किंचित् वात-प्रकोपक होता है ॥२२३॥

कासह्रीहोदरश्वासशोषवर्चोत्रहे हितम् ।

सत्तारं तिक्तकटुकमुष्णं वातघ्नमाचिकम् ॥२२४॥

भेदी का मूत्र—कास, ढीहा की वृद्धि, श्वास, राज्यक्षमा, मलावरोध इनमें हितकर, तारयुक्त, तिक्त और कटुस्त्वयुक्त, उष्ण और वातनाशक है ॥२२३॥

दीपनं कटु तीक्ष्णोष्णं वातचेतोविकारनुत् ।

आश्वं कफहरं मूत्रं कृमिद्वद्रुपु शस्यते ॥२२४॥

घोड़ी का मूत्र—अग्निदीपक, कटुरस, तीक्ष्ण, उष्ण, वात तथा मानसिक रोगों का नाशक, कफहर, कृमि और दग्ध (दाद) के लिये प्रशस्त है ॥२२४॥

सतिकं लवणं मेदि वातघ्नं पित्तकोपनम् ।

तीक्ष्णं चारे किलासे च नागं मूत्रं प्रयोजयेत् ॥२२६॥

हथिनी का मूत्र—तिक्त और लवणरसयुक्त, विरेचक, वातनाशक, पित्तप्रकोपक और तीक्ष्ण है तथा चार और किलास (खेत) कुष्ठ के लिये उपयोगी होता है ॥२२६॥

गरखेतोविकारघ्नं तीक्ष्णं प्रहृष्टिरोगनुत् ।

वीपनं गर्दभं मूत्रं कृमिवातकफापहम् ॥२२७॥

गभी का मूत्र—विपनाशक, (उन्मादादि) मानसिक विकारनाशक, तीक्ष्ण, प्रहृष्टीनाशक, अग्निदीपक, कृमि, वात और कफ नाशक होता है ॥२२७॥

शोककुष्टोदरोन्मादमारुतक्रिमिनाशनम् ।

अशोभं कारभं मूत्रं मानुषं च विपापहम् ॥२२८॥

इति मूत्राणि ।

ऊँटीनी का मूत्र शोथ, कुष्ठ, उदर, उन्माद, वात, कृमि और अर्थ इनका नाशक होता है । मनुष्य का मूत्र विपनाशक होता है ॥२२८॥

धत्तव्य—मूत्र प्रायः स्त्रीजाति का ही प्रयुक्त होता है । परन्तु कई आचार्य पहले चार मूत्र स्त्रीजाति के और अन्तिम चार मूत्र पुरुषजाति के प्रशस्त मानते हैं—गोत्राविमा स्थिषा तु स्त्रीणा मूत्र प्रशस्यते । सरोत्प्रेमनराधानां उता मूत्र हितं त्वयम् ॥ (भावप्रकाश) ।

द्रवद्रव्याणि सर्वाणि समासात् कीर्तितानि तु ।

कालदेशविभागसो मूत्रतेर्दानुमर्हति ॥२२९॥

एति सुश्रुतसंहिताया स्रव्याने द्रवद्रव्यविज्ञानीयो नाम पञ्चनवार्णिकतमाऽध्यायः ॥४५॥

(इस अध्याय में) मुझे द्रव्यपदार्थ रसनेप से बर्णन करने गये हैं । उनको काल और देश विभाग का योग्य जानी उस राजा के लिये भी दे सकता है ॥२२९॥

एति आस्त्रकारिणा गोविन्दान्मनेन विरचितान्याम्युर्वेत्सहस्रदीपिकायां सुश्रुतभाष्यीकायां द्रवद्रव्यविज्ञानीयो नाम पञ्चनवार्णिकतमाऽध्यायः ॥४५॥

पट्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ।

अघातोऽघपानविधिप्रध्यायं ध्यात्वाभ्यामम् ।

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥३॥

अब यहाँ से ब्रह्मरानविधि नामक प्रध्याय का अघपान करने हैं, जैसा कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया

धत्तव्य—अघपानविधि—शाल्यादि अन्न, उनका सेक करने के पश्चात् पीने के विविध द्रव्य तथा आहारविधि इस वखन जिसमें किया है, ऐसा अध्याय ।

धन्वन्तरिमभिवाच सुश्रुत उवाच—

प्राणिनां पुनर्मूलमाहारो यलधर्षणैर्जसां च, स पदसु रसेष्व्याचतः, रसाः पुनर्द्रव्याश्रयिणः, द्रव्य रसगुणवीर्यविपाकनिमित्ते च ह्यर्थेषुद्धी दोषाणां साम्यं च, ब्रह्मादेरपि च लोकस्याहारः स्थित्युत्पत्तिं विनाशहेतुः, आहारादेवाभिवृद्धिर्वलमारोग्यं वर्षेन्द्रियप्रसादश्च, तथा आहारवैषम्यादस्वास्थ्यं, तस्याशितपीतलीढखादितस्य नानाद्रव्यात्मकस्याने कविधधिकल्पस्यानेकविधप्रभावस्य पृथक् पृथक् व्यरसगुणवीर्यविपाकप्रभावकर्माणीच्छामि शान्तं, न ह्यनवबुद्धस्वभावा भिपजः स्वस्थानुवृत्तिं रोगनिप्र दयं च कर्तुं समर्थाः, आहारायत्ताश्च सर्वप्राणिनो यस्मात्तसाद्वन्नपानविधिमुपदिशतु मे भगवान् । इत्युक्तः प्रोवाच भगवान् धन्वन्तरिः—अथ खलु वस्तु सुश्रुत ! यथाप्रश्नुच्यमानमुपधारयस्व—॥३॥

धन्वन्तरि भगवान् की प्रणाम करके महर्षि सुश्रुत बोले कि (हे भगवान् ! आपने) पहले (अध्याय में) बर्णन किया है कि प्राणियों के बल, वर्ण और ओज का मूल आहार है । वह छः रसों के अधीन है और रस फिर द्रव्यों के अधीन होते हैं । दौष्यों का ज्ञेय वृद्धि तथा समता द्रव्यों के रस, वीर्य, गुण और विपाक के कारण ही हुआ करता है । ब्रह्मादि लोक की भी स्थिति, उत्पत्ति और विनाश का कारण आहार ही है । आहार ही से शरीर की वृद्धि, बल, आरोग्य, वर्ण और इन्द्रियों की प्रसन्नता उत्पन्न होती है, और आहार की विषमता (स्थूलता, अधिकता और अयोग्यता) से रोग उत्पन्न होते हैं । जिसमें भोग्य (जिसके लिये विशेष चर्षण की आवश्यकता नहीं होती ऐसे पदार्थ, यथा—भात, मोरक इत्यादि) । पेय (दूध, रस इत्यादि) । लेख्य (खाटने के पदार्थ, यथा—अन्न, धीरेड इत्यादि) , और भक्ष्य (जिसके लिये विशेष चर्षण की आवश्यकता होती है, यथा—लहूड आदि) ऐसे चार प्रकार होते हैं जो प्राणियों के लिये आवश्यक हैं ।

के रस, गुण, वीर्य, विपाक और कर्म इनको जानने की मैं इच्छा करता हूँ, क्योंकि (आहार के लिये प्रयुक्त होने वाले विविध द्रव्यों का रसवीर्य विपाकादि कीर डीर) स्वस्व जो नहीं जानते हैं वे स्वस्थ मनुष्यों के स्वास्थ्य का रक्षण और व्याधि रोगों की व्यापिमिमीक्ष करने में असमर्थ होते हैं । जो कि समान जीवमाय का मूत्र आहार है, इनलिये हे भगवान् ! मुझे ब्रह्मरानविधि का ही उपदेश कीजिए । इस प्रकार सुश्रुत के पूछने पर भगवान् धन्वन्तरि बोले कि हे वय सुश्रुत ! मैं प्रथम ते प्रनुवाच ही मे जो बर्णन करना है उसे अध्याय और धारण कर ॥३॥

अथ शालिवर्गः ।

तत्र, लोहितशालिकलमकर्मकपाण्डुकसुगन्ध-
कुनाहतपुष्पाण्डकपुण्डरीकमहाशालिश्रीतभी-
करीध्रपुष्पकदीर्घशूककाञ्चनकमहिषमहाशूकहा-
नकदूपकमहादूपकप्रभृतयः शालयः ॥३॥

रक्तशालि, कलम, कर्मक, पाण्डुक, सुगन्धक, शकुनाहत,
पुष्पाण्डक, पुण्डरीक, महाशालि, श्रीतभीरुक, रोध्रपुष्पक, दीर्घ-
शूक, काञ्चनक, महिष, महाशूक, हायनक, दूपक, महादूपक
त्यादि शालि के भेद हैं ॥३॥

मधुरा वीर्यतः शीता लघुपाका बलावहाः ।
पित्तघ्नाल्पानिलकफाः स्निग्धा वद्धालपवर्चसः ॥४॥

ये शालि रस में मधुर हैं, वीर्य में शीत हैं, पचने में हलके
हैं, बलकारक हैं, पित्तनाशक हैं, वात और कफ का थोड़ा
प्रकोप करने वाले हैं, स्निग्ध हैं, मलावरोधक और अल्प
मलोत्पादक होते हैं ॥४॥

तेषां लोहितकः श्रेष्ठो दोषघ्नः शुक्रमूत्रलः ।

चक्षुष्यो वर्णवलकृत् स्वर्यो हृद्यस्तुपापहः ॥५॥

व्रणयो ज्वरहरश्चैव सर्वदोषविपापहः ।

तस्मादल्पान्तरगुणाः क्रमशः शालयोऽवराः ॥६॥

इन सब में रक्तशालि श्रेष्ठ है; वह त्रिदोषनाशक, शूक और
मूत्र उत्पन्न करने वाला, नेत्र के लिये हितकर, वर्ण और बल
कारक, स्वर के लिए हितकर, हृदय के लिए हितकर, तृषा शांत
करने वाला ॥५॥ व्रण में हितकर, ज्वरनाशक, सर्व व्याधि
और विष को शांत करने वाला है । (शालिवर्ग में) रक्तशालि
के पश्चात् जो दूसरे शालि हैं वे क्रम से (उत्तरोत्तर) गुण में
हीनतर होते हैं ॥६॥

पष्टिककाङ्गुकमुकुन्दकपीतकप्रमोदककाकलका-

सनपुष्पकमहापष्टिकचूर्णककुरवककेदारप्रभृतयः

पष्टिकाः ॥७॥

रसे पाके च मधुराः शमना वातपित्तयोः ।

शालीनां च गुणैस्तुल्या वृंहणाः कफशुक्रलाः ॥८॥

पष्टिक भेद—पष्टिक, कङ्गुक, मुकुन्दक, पीतक, प्रमोदक,
काकलक, असनपुष्पक, महापष्टिक, चूर्णक, कुरवक, केदारक
इत्यादि पष्टिकभेद हैं ॥७॥ सब प्रकार के साठी चावल रस
(विपाक में मधुर, वात और पित्त के शमन करने वाले,
पित्त में शालि के समान, वृंहण, कफकारक और शुक्रकर
ने हैं ॥८॥

पष्टिकः प्रवरस्तेषां कषायानुरसो लघुः ।

मृदुः स्निग्धस्त्रिदोषघ्नः स्थैर्यकृद्बलवर्धनः ॥९॥

विपाके मधुरो ग्राही तुल्यो लोहितशालिभिः ।

शेषोऽस्वल्पान्तरगुणाः पष्टिकाः क्रमशो गुणैः ॥१०॥

साठी चावलों में पष्टिक श्रेष्ठ है । वह अनुरस में कषाय,
लका, मृदु, स्निग्ध, त्रिदोषनाशक, शरीर स्थैर्य करने वाला,
बलवर्धक ॥९॥ विपाक में मधुर, ग्राही और (गुण में) रक्त

शालि के समान होता है । (इस वर्ग के) शेष चावल गुण
में उत्तरोत्तर हीन होते हैं ॥१०॥

कृष्णव्रीहिशालामुखजतुमुखनन्दीमुखलावात्तक-
त्वरितककुक्कुटाण्डकपाराधतकपाटलप्रभृतयो व्री-
हयः ॥११॥

व्रीहि भेद—कृष्णव्रीहि, शालामुख, जतुमुख, नन्दीमुख,
लावात्तक, त्वरितक, कुक्कुटाण्डक, पारावतक, पाटल इत्यादि
व्रीहि के भेद हैं ॥११॥

कषायमधुराः पाके मधुरा वीर्यतोऽहिमाः ।

अल्पाभिष्यन्दिनस्तुल्याः षष्टिकैर्वद्धवर्चसः ॥१२॥

कृष्णव्रीहिवरस्तेषां कषायानुरसो लघुः ।

तस्मादल्पान्तरगुणाः क्रमशो व्रीहयोऽपरे ॥१३॥

व्रीहि जाति के चावल रस में कषाय और मधुर, त्रिपाक
में मधुर, वीर्य में उष्ण, थोड़ा अभिष्यन्द उत्पन्न करने वाले,
मल को बांधने वाले और (गुणों में) षष्टिक के समान ही
होते हैं ॥१२॥ इनमें कृष्णव्रीहि सब से श्रेष्ठ है । वह अनुरस में
कषाय, हलका है । शेष सर्व व्रीहि उत्तरारर अल्प गुण वाले
होते हैं ॥१३॥

दग्धायामवनौ जाताः शालयो लघुपाकिनः ।

कषाया वद्धविरामूत्रा रूक्षाः श्लेष्मापकर्षणाः ॥१४॥

जलाई हुई भूमि में उपजे हुए शालि चावल पाक में
हलके, कषाय, मल और मूत्र की प्रवृत्ति कम करने वाले, रूक्ष
और कफ का कर्षण करने वाले हैं ॥१४॥

स्थलजाः कफपित्तघ्नाः कषायाः कटुकान्वयाः ।

किञ्चित्सतिक्रमधुराः पवनानलवर्धनाः ॥१५॥

कैदारा मधुरा वृष्या बल्याः पित्तनिवर्हणाः ।

ईषत्कषायाल्पमला गुरवः कफशुक्रलाः ॥१६॥

जांगल भूमि में उपजने वाले शालि कफ और वात नाशक,
कषाय, किञ्चित् कटुक, तिक्त और मधुर, वायुवर्धक और अग्नि
दीपक होते हैं ॥१५॥ अनूप या सजल भूमि भाग में उपजने
वाले शालि मधुर, वृष्य (स्निग्ध या वृंहण), बलकारक, पित्त-
नाशक, किञ्चित् कषाय, अल्प मल उत्पन्न करने वाले, गुरु,
कफकर और शुक्रवर्धक होते हैं ॥१६॥

रोष्यातिरोष्या लघवः शीघ्रपाका गुणोत्तराः ।

अदाहिनो दोषहरा बल्या मूत्रविवर्धनाः ॥१७॥

शालयश्छिन्नरूढा ये रूक्षास्ते वद्धवर्चसः ।

तिक्ताः कषायाः पित्तघ्ना लघुपाकाः कफापहाः ॥१८॥

रोष्य (एक स्थान में बनाये हुए जिनके पौधे केवल एक
ही बार दूसरी जगह बढ़ते जाते हैं) और अतिरोष्य (जिनके
पौधे कई बार कई जगह बढ़ते जाते हैं) शालि हलके, शीघ्र
पचने वाले, गुण में श्रेष्ठ, दाह उत्पन्न न करने वाले, दोषों को
हरण करने वाले, बलकर और मूत्रल होते हैं ॥१७॥ एक बार
काटे हुए पौधों से उपजने वाले शालि रूक्ष, मल को बांधने
वाले, तिक्त, कषाय, पित्तनाशक, पचने में हलके और
कफकारक होते हैं ॥१८॥

१ ० महापिण्डक० २ शेषोऽस्वल्पान्तरास्तस्मात्.

१ पाकेऽमधुरा.

मेड़ी का मूत्र—कास, घृहीडा की वृद्धि, श्याम, राजयदमा, मलाबरोध इनमें हितकर, क्षारयुक्त, तिक्त और कटुरमयुक्त, उष्ण और वातनाशक है ॥२२४॥

दीपनं कटु तीक्ष्णोष्णं वातचेतोविकारनुत् ।

आभ्यं कफहरं मूत्रं कृमिद्वद्रुषु शस्यते ॥२२५॥

घोंड़ी का मूत्र—अग्निदीपक, कटुरत, तीक्ष्ण, उष्ण, वात तथा मानसिक रोगों का नाशक, कफहर, कृमि और ददु (दाद) के लिये प्रगल्भ है ॥२२५॥

सतिकं लवणं मेदि वातघ्नं पित्तकोपनम् ।

तीक्ष्णं क्षारे किलासे च नागं मूत्रं प्रयोजयेत् ॥२२६॥

हथिनी का मूत्र—तिक्त और हृषणरसयुक्त, विंशक, वातनाशक, पित्तप्रकोपक और तीक्ष्ण है तथा क्षार और किलास (शैत) कुष्ठ के लिये उपयोगी होता है ॥२२६॥

गरचेतोविकारघ्नं भीक्षुं प्रहृष्टारोगनुत् ।

दीपनं गर्वभं मूत्रं कृमिवातरुफापहम् ॥२२७॥

गधी का मूत्र—विपनाशक, (उन्मादादि) मानसिक विकारनाशक, तीक्ष्ण, प्रहृष्टानाशक, अग्निदीपक, कृमि, वात और कफ नाशक होता है ॥२२७॥

शोफकुण्डोदरोन्मादमारुतकिमिनाशनम् ।

अशोभिं कारभं मूत्रं मानुषं च विपापहम् ॥२२८॥

इति मूत्राणि ।

ऊँटी का मूत्र घोष, कुष्ठ, उदर, उन्माद, वात, कृमि और अर्थ इनका नाशक होता है । मनुष्य का मूत्र विपनाशक होता है ॥२२८॥

चक्रव्यय—मूत्र प्रायः बीजाति का ही प्रयुक्त होता है । परन्तु कई आचार्य पहले चार मूत्र बीजाति के और अन्तिम चार मूत्र पुत्रवजाति के प्रशस्त मानते हैं—गोत्रविभा विधीना तु श्लेष्मा मूत्र प्रकल्पते । शरीरैभन्नराशाना पुसा मूत्र हित स्पृशम् ॥ (भावप्रकाश) ।

द्रवद्रव्याणि सर्वाणि समास्तात् कीर्तितानि तु ।

कालदेशविभागज्ञो नृपतेर्दांतुमर्हति ॥२२९॥

इति सुश्रुतसंहितायाः सूत्रग्रन्थे द्रवद्रव्यविज्ञानोपे

नमः षट्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४६॥

(इस अध्याय में) सर्व द्रव्यपदार्थ मन्त्रेण से वर्णन किये गये हैं । उनको काल और देश विभाग का योग्य ज्ञानी वैद्य राजा के लिये भी दे सकता है ॥२२९॥

इति आस्त्रप्रथमैना गोविन्दारम्भेन विरचितयासुषुतेरहस्तस्यः प्रथमः

सुश्रुतस्यः प्रथमः अध्यायः ॥४६॥

षट्चत्वारिंशत्तमः अध्यायः ॥४६॥

षट्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथातोऽन्नपानविधिप्रथमायं व्याख्यास्याम । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥३॥

अब यहाँ से अन्नपानविधि नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥३॥

चक्रव्यय—अन्नपानविधि—शाब्दादि अन्न, उनका से करने के पश्चात् पीने के निविध द्रव्य तथा आहारविधि इम वर्णन जिसमें किया है, ऐसा अध्याय ।

धन्वन्तरिप्रथमायं सुश्रुत उवाच

प्राणिनां पुनर्मूलमाहारो बलवर्षांजसां च,

पदसु रसेष्वायत्त, रसाः पुनर्द्रव्याध्यायिणः, द्रव्य

रसगुणवीर्यविपाकनिमित्ते च क्षयैशुद्धी दोषा

साम्यं च, प्रह्लादेरपि च लोकस्वाहारः स्थित्युत्पत्ति

चिनाशहेतुः, आहारादेवाभिवृद्धिर्बलमारोग्य वा

न्द्रियप्रसादश्च, तथा ह्याहाराद्यैवम्यादास्तास्यं

तस्याशितपीतलीढसादितस्य नानाद्रव्यात्मकस्य

कविधधिकल्पस्यानेकविधप्रभावस्य पृथक् पृथक्

व्यरसगुणवीर्यविपाकप्रभावकर्माणीच्छामि श्रुतः ।

ह्यनवबुद्धसमावा भिपजः स्वस्थानुवृत्ति रोगनि

हणं च कर्तुं समर्थाः आहारायत्ताश्च सर्वप्राणि

यस्मात्तस्मादन्नपानविधिमुपदिशतु मे भगवान्

श्रुयुक्तः प्रोवाच भगवान् धन्वन्तरिः—अथ श्रु

वत्स सुश्रुत । यथाप्रभ्रमुच्यमानमुपधारयस्व—॥३॥

धन्वन्तरि भगवान् को प्रणाम करके महर्षि सुश्रुत को

कि (हे भगवन् ! आपने) पहले (अध्याय में) वर्णन किये

है कि प्राणियों के बल, वर्ण और ओज का मूल आहार है

वह छ रसों के अधीन है और रस फिर द्रव्यों के अधीन होते

हैं । दोषों की क्षय वृद्धि तथा समता द्रव्यों के रस, वीर्य

गुण और विपाक के कारण ही हुआ करती है । प्रह्लादि लोग

की भी स्थिति, उत्पत्ति और निनाश का कारण आहार ही

है । आहार ही से शरीर की वृद्धि, बल, आरोग्य, वर्ण और

इन्द्रियों की प्रसन्नता उत्पन्न होती है, और आहार की विष

मता (न्यूनता, अधिकता और अयोग्यता) से रोग उत्पन्न

होते हैं । जिसमें भोज्य (जिसके लिये विशेष चर्चण की आवश्यकता नहीं होती) ऐसे पदार्थ, यथा—भात मोक्ष इत्यादि

पेष (दूध, रस इत्यादि), तैल (चाटने के पदार्थ, यथा—

अजैष्ठ, श्रीवड इत्यादि), और भक्ष्य (जिसके लिये विशेष

चर्चण की आवश्यकता होती है, यथा—लड्डू आदि) ऐसे

चार प्रकार होते हैं, जो नाना द्रव्यों से बना हुआ है, जिसमें

स्राज के नाना प्रकार होते हैं, और जिसके सेवन से शरीर में

बहुविध गति उत्पन्न होती है ऐसे आहार के पृथक् पृथक् द्रव्यों

के रस, गुण, वीर्य, विपाक और कर्म इनको जानने की है

इच्छा करता हूँ, क्योंकि (आहार के लिये प्रयुक्त होने वाले

विविध द्रव्यों का रसवीर्य विपाकादि ठीक ठीक) स्वल्प और

नहीं जानते हैं ये स्वस्थ मनुष्य के स्वास्थ्य का रक्षण और

व्यापित रोगों को व्याधिपरिमोचन करने में असमर्थ होते

हैं । जो कि गमन्य जीवमात्र का मूल आहार है, हमलिये

हे भगवन् ! मुझे अन्नपानविधि का ही उपदेश कीजिए ।

इस प्रकार सुश्रुत के पूछने पर भगवान् धन्वन्तरि बोले कि

हे धर्म सुश्रुत ! तैरे प्रश्न के अनुसार ही मैं जो वर्णन करता

हूँ तु उसे भवण और धारण कर ॥३॥

१ क्षयवृद्धि

मुद्गवनमुद्गकलायमकुष्ठमसूरमङ्गल्यचणकसती-
नत्रिपुटकहरेणवाढकीप्रभृतयो वैदलाः ॥२७॥

मुद्ग (मूँग, Phaseolus Mungo), वनमुद्ग (वनमूँग, Phaseolus Trilobus), कलाय (मटर का भेद, Pisum sativum), मसूर (मीठ, मटकी), मसूर (Lens Escule nta), मांगल्य (मसूर का भेद), चणक (चना Cicer Arientum), सतीन (मटर का भेद), त्रिपुटक (खेसारी, Lathyrus Sativus), हरेणु (मटर का भेद, वर्तुल कलाय), आढकी (अरहर Cajanus Indicus) प्रभृति वैदल हैं ॥२७॥

कपायमधुराः शीताः कटुपाका मरुत्कराः ।

मूत्रपुरीपाश्च पित्तश्लेष्महरास्तथा ॥२८॥

ये वैदल वर्ग के धान्य कपायमधुर, शीतल, विपाक में वातप्रकोपक, मल और मूत्र का अवरोध करने वाले तथा और श्लेष्म हरण करने वाले हैं ॥२८॥

पथं वातलास्तेषु मुद्गा दृष्टिप्रसादनाः ।

आना हरितास्तत्र वन्या मुद्गसमाः स्मृताः ॥२९॥

वैदलों में मूँग अत्यंत वातल नहीं है और दृष्टि को प्रसन्न करता है । उनमें भी हरे मूँग प्रधान हैं और वनमूँग गुण में मूँग के समान होते हैं ॥२९॥

आके मधुराः प्रोक्ता मसूरा बद्धवर्चसः ।

पुष्टकाः कृमिकराः कलायाः प्रचुरानिलाः ॥३०॥

मसूर विपाक में मधुर और मल को बाँधने वाले हैं । कृमिकारक होते हैं और मटर अत्यंत वातल हैं ॥३०॥

आढकी कफपित्तघ्नी नातिवातप्रकोपणी ।

शीतलाः शीतमधुराः सकपाया विरुक्षणाः ॥३१॥

कफशोणितपित्तघ्नश्चणकाः पुंस्त्वनाशनाः ।

त एव घृतसंयुक्तास्त्रिदोषशमनाः परम् ॥३२॥

अरहड़ कफ और पित्त का नाश करती है तथा वात का हृत प्रकोप नहीं करती । चना वातल, शीतल, मधुर, कपाय, रीर में रुक्षता उत्पन्न करने वाला, कफ और रक्तपित्त नाशक, पुंस्त्वनाशक होता है । घी के साथ सेवन करने से ना अत्यंत त्रिदोषशामक होता है ॥३१,३२॥

हरेणवः सतीनाश्च विक्षेया बद्धवर्चसः ।

कते मुद्गमसूराभ्यामन्ये त्वाध्मानकारकाः ॥३३॥

हरेणु और सतीन (दोनों मटर के भेद) मल को बाँधने वाले होते हैं । मूँग और मसूर के अतिरिक्त अन्य वैदल (अफारा) उत्पन्न करने वाले हैं ॥३३॥

मापो गुरुभिन्नपुरीषमूत्रः

स्निग्धोष्णवृष्यो मधुरोऽनिलघ्नः ।

सन्तर्पणः स्तन्यकरो विशेषाद्

बलप्रदः शुक्रकफावहश्च ॥३४॥

(उड़द—) उड़द भारी, मल और मूत्र की प्रवृत्ति करने वाला, स्निग्ध, उष्ण, वृष्य, मधुर, वातनाशक, वृत्तिकर,

(स्त्रियों में) विशेष करके दूध उत्पन्न करने वाला, बलदायक, शुक्र और कफ उत्पन्न करने वाला है ॥३४॥

कपायभावात् पुरीषमेदी

न सूत्रलो नैव कफस्य कर्ता ।

खादुर्विपाके मधुरोऽलसान्द्रः

सन्तर्पणः स्तन्यरुचिप्रदश्च ॥३५॥

(राजमाप—) राजमाप (अलसान्द्र) कपाय भावयुक्त होने से मल का भेदन नहीं करते, न सूत्रल होते हैं तथा कफ को भी नहीं करते हैं, विपाक में तथा रस में मधुर हैं, वृत्तिकारक हैं, स्तन्यजनक और रुचिकारक होते हैं ॥३५॥

मापैः समानं फलमात्मगुप्त-

मुक्तं च काकाण्डफलं तथैव ।

भारण्यमापा गुणतः प्रदिष्टा

रुक्षाः कपाया अविदाहिनश्च ॥३६॥

कौंच के बीज उड़द के समान (गुणकारक) जानने चाहिये । काकाण्डफल (बड़ी शिबी के बीज) भी इसी प्रकार होते हैं । वन उड़द गुण में रुक्ष, कपाय और विदाह उत्पन्न न करने वाले होते हैं ॥३६॥

उष्णः कुलत्थो रसतः कपायः

कटुर्विपाके कफमारुतघ्नः ।

शुक्राश्मरीगुल्मनिपूदनश्च

सांग्राहिकः पीनसकासहारी ॥३७॥

आनाहमेदोगुदकीलहिक्का-

श्वासापहः शोणितपित्तकृच्च ।

कफस्य हन्ता नयनामयघ्नो

विशेषतो वन्यकुलत्थ उक्तः ॥३८॥

कुलत्थ (कुलथी)—उष्णवीर्य, रस में कपाय, विपाक में कटु, कफ और वात का नाशक, शुक्र अश्मरी और गुल्म का नाशक, संग्राही और पीनस तथा खाँसी का हरण करने वाला है ॥३७॥ वनकुलत्थ आनाह, मेद रोग, अर्श, हिक्का और श्वास इनका नाशक, रक्तपित्तकर्त्ता, कफहर, नेत्ररोग नाशक विशेष करके होता है ॥३८॥

वक्तव्य—वाग्भट और चरक के अनुसार कुलत्थ का विपाक अम्ल है ।

ईपत्कपायो मधुरः सतिक्तः

सांग्राहिकः पित्तकरस्तथोष्णः ।

तिलो विपाके मधुरो वलिष्ठः

स्निग्धो व्रणालेपन एव पथ्यः ॥३९॥

दन्त्योऽग्निमेधाजननोऽल्पमूत्र-

स्त्वच्योऽथ केश्योऽनिलहा गुरुश्च ।

तिलेषु सर्वेष्वसितः प्रधानो

मध्यः सितो हीनतरास्तथाऽन्ये ॥४०॥

१ स्तन्यो.

विस्तरेणायमुद्दिष्टः शालिवर्गो हितादित ॥१९॥

(कमी) हितकर और (कमी) अहितकर (पसा) यह शालि (पष्टिक और मीहि) वांग विचारपूर्वक वर्णन किया है ॥१९॥

घृत-य-दिगहि-शालि स्वभाववशा में एकान्तहित होते हैं, परन्तु रन्ध्यावस्था में दीर्घ विकृति क अनुसार हितकर वा अहितकर होते हैं-भयस्थान्तरादुत्पन्नोद्योगदीनां भयस्थितम् । द्रव्यं नेष्टमि विषय इष्टमि स्वस्वभावे ॥ (सुश्रुत) । शालिवर्ग-शालिवर्ग में शालि, पष्टिक और मीहि इनका समावग होना है । जो हेमन्त ऋतु में (अर्धां रबी की फसल में) हात हैं य शालि हैं; और जो वर्षा ऋतु में होते हैं वे मीहि हैं-वर्षनेन विना गुडा हेमन्ता शाल्यं रचना । सर्षिका कण्डिना गुडा जीहव शिपाकिन ॥ (भास्कराचार्य) । पष्टिक मीहि का ही एक भेद है जा मीश्रपाकी पानि साठ-दिन में ही उपजता है-पष्टिकी मीघित भेद । (अष्टांगहृदय) । हे रि पष्टिकायेग भवति ॥ (चक्रदत्त) । भारतवर्ष में बंगाल विहार, आसाम मद्रास तथा वर्मा प्रान्तों में चावल का उपयोग आहार में प्रमुख है । चावल कई प्रकार के होते हैं । उनके अनुसार तथा जमीन की प्रकृति, सिंचाई, खाद, और तैयार करने की पद्धति उनके अनुसार चावलों के गुण धर्मों में और पीष्टिकता में बहुत फर्क होता है । आगे ५२४ श्लोक के वक्तव्य में दी हुई तालिका देखने से पता लगोगा कि चावल में पिट्टमय पदार्थ (कार्बोहाइड्रेट Carbohydrate) बहुत अधिक है और गरीरधातुवर्धक (प्रोटीन Protein) पदार्थ चरबी और खनिज बहुत कम है । खनिज में फास्फरस लोह म्यांगनीज इत्यादि तत्व होते हैं । खनिज और प्रोटीन चावल क ऊपरी पत (कद या कांडा) में होते हैं । इनके अतिरिक्त कद में जीवद्रव्य बी (Vitamin B) भी होता है । जीवनीय द्रव्यों क सन्ध में आगे ५२४ श्लोक के वक्तव्य में विचार किया गया है । जानवरो की खाद डाली हुई सूखी भूमि में वर्षा के पानी मे उपजने वाले धान के चावलों में रासायनिक खाद डाली हुई भूमि में सिंचाई विभाग क (Channel irrigation) पानी स उपजने वाले धान के चावलों की अपना जीवनीय तथा पीष्टिक द्रव्य अधिक होते हैं । मशीन में डालकर कूटने से पानी में बहुत धोने से तथा चावलों को उबालकर मांड को फेर देने से प्रोटीन खनिज तथा जीवद्रव्य नष्ट हो जात हैं और चावलों की पीष्टिकता कम हानि है; इसलिये अतिम्वरुड (Polished rice) चावलों का उपयोग करना तथा चावलों को उबालकर मांड को फेर देना स्वास्थ्य की दृष्टि स अहितकर है । चावल में जो कार्बोहाइड्रेट है वह स्टार्च रूप में होता है । यह स्टार्च पचन में सुलभ और मीठ है तथा इसका अधिकांश भाग आंत में शोषित होता है और बहुत अल्प भाग कट्ट क रूप में उत्सर्जित होता है इसलिये शालि को मीश्रपाकी अल्पवर्धम् कहा है । इसमें सारक गुण नहीं है इसलिये प्राही और बद्धवर्धम् कहा है । कार्बोहाइड्रेट स गरीर में शक्ति उत्पन्न होगी है । इसलिये इसे बलवर्धक स्त्विक कहा है । कांडी के रूप में चावल मूलतः सुषाहर और ज्वरहर है । चावलों के बारे हमेशा पके सूखे सुले स्थान रखने चाहिये । बड़ और तर स्थान में रखने से उनमें स

उठने (Fermentation) लगता है । शिफे के कारण दुग्ध आती है और उनमें विष (Toxins and Amines) उत्पन्न हो जाते हैं । पराश चावल क बारे में बाला आय ता चावल गरम प्रतीत होंग । खराब पुरान पटाये हुए चावल बेरी बेरी (Beri-Beri) नामक की उत्पत्ति में बड़ा भारी भाग लेते हैं । इति शालि तदत्त कुधान्यमुद्गादिमायादीना च यद्यते ॥२०॥ इसी प्रकार कुधान्य, मुद्गादि और मायादि के वर्णन किये जायग ॥२०॥

अथ कुधान्यवर्ग ।

कोरदूपकदयामावनीवारद्यान्तनुवरकोद्दालव प्रियङ्गुमधूलिकानान्दीमुषीकृद्विन्दगवेधुकवदव तोद(य)पर्यामुकुन्दकवेणुययप्रभृतय कुधा विद्योपा ॥२१॥

कोरदूपक (कोद्व), श्यामाक नीवार, शान्तनु व उद्दालक (वनकाद्वय), प्रियङ्गु मधूलिका नान्दीमुषी विन्द, गवपुक, वरक, सादपर्णी मुकुन्दक वेणुव प्र कुधान्य (कुम्पित धान्य) विषेय हैं ॥२१॥

यत्तव्य-वर्कवेहिता में गालि के साथ कुधान्य समान्य शुकवर्ग (Cereals) में किया है । वनस्पतिग की दृष्टि से वरक का वर्गीकरण ठीक है, क्योंकि ये सब प्रकार के घास (Grass) हैं ।

उष्णा कषायमधुरा रूक्षा कटुविपाकिन ।
श्लेष्मन्ना यद्वनिद्यन्दा यातपित्तप्रकोपणा ॥२२॥
ये कुधान्य गरम कषाय और मधुर हन विपाक कटुक कफनाशक मूत्र की रागि कम करने वाले और वात त पित्त प्रकोपक होते हैं ॥२२॥

कषायमधुरस्तेषा शीत पितापह स्मृत ।
कोद्वयश्च सनीवार श्यामाकश्च सशान्तनु ॥२३॥
इनमें से कोद्व (कोदो) नीवार श्यामाक और शान्त ये कषायमधुर शीत और पित्त नाशक होते हैं ॥२३॥
कृष्णा रक्षाश्च पीताश्च श्वेताश्चैव प्रियङ्गव ।
यथोत्तरप्रधाना स्यु रूक्षा कफहरा स्मृता ॥२४॥
काली लाल पीली और सफेद प्रियङ्गु उत्तरोत्तर (गुण में श्रेष्ठ होती हैं) तथा हन और कफनाशक हैं ॥२४॥

मधूली मधुरा शीतास्त्रिगन्धा नान्दीमुषी तथा ।
विशोपी तथा भूयिष्ठ वरक समुकुन्दक ॥२५॥
मधूलिका और नान्दीमुषी मधुर शीत तथा स्निग्ध है वरक और मुकुन्दक (गरीर के जलगा का) अत्यन्त विद्योषण करने वाले हैं ॥२५॥

रूक्षा वेणुयवा श्लेया वीर्योष्णा कटुपाकिन ।
यद्वसूत्रा कफहरा कषाया यातकोपना ॥२६॥
वेणुयव रूक्ष उष्णवीर्य विपाक में कटु मूत्र की रागि कम करने वाले, कफनाशक कषाय और यातप्रकोपक हैं ॥२६॥ इति कुधान्यवर्ग ।

मुद्गवनमुद्गकलायमकुष्ठमसूरमङ्गल्यचरणकसती-
मुटकहरेणषाढकीप्रभृतयो वैदलाः ॥२७॥

रू (मूँग, Phaseolus Mungo), वनमुद्ग (वनमूँग, colus Trilobus), कलाय (मटर का भेद, Pisum use), मकुष्ठ (मोठ, मटकी), मसूर (Lens Eocule), मांगल्य (मसूर का भेद); चणक (चना Cicer atum), सतीन (मटर का भेद), त्रिपुटक (खेवारी, yrus Sativus), हरेणु (मटर का भेद, वर्तुल र), आढकी (अरहर Cajanus Indicus) प्रभृति हैं ॥२७॥

शायमधुराः शीताः कटुपाका मरुत्कराः ।

द्रमूत्रपुरीषाश्च पित्तश्लेष्महरास्तथा ॥२८॥

ये वेदल वर्ग के धान्य कपायमधुर, शीतल, विपाक में वातप्रकोपक, मल और मूत्र का अवरोध करने वाले तथा और श्लेष्म हरण करने वाले हैं ॥२८॥

यथं वातलास्तेषु मुद्गा दृष्टिप्रसादनाः ।

ताना हरितास्तत्र वन्या मुद्गसमाः स्मृताः ॥२९॥

वैदलों में मूँग अत्यंत वातल नहीं है और दृष्टि को प्रसन्न हैं । उनमें भी हरे मूँग प्रधान हैं और वनमूँग गुण में मूँग के समान होते हैं ॥२९॥

शुके मधुराः प्रोक्ता मसूरा बद्धवर्चसः ।

इष्टकाः कृमिकराः कलायाः प्रचुरानिलाः ॥३०॥

मसूर विपाक में मधुर और मल को बांधने वाले हैं । इष्टकामिकारक होते हैं और मटर अत्यंत वातल हैं ॥३०॥

आढकी कफपित्तघ्नी नातिवातप्रकोपणी ।

वातलाः शीतमधुराः सकपाया विरूक्षणाः ॥३१॥

कफशोणितपित्तघ्नाश्चणकाः पुंस्त्वनाशनाः ।

त एव घृतसंयुक्तास्त्रिदोषशमनाः परम् ॥३२॥

अरहड़ कफ और पित्त का नाश करती है तथा वात का दुत प्रकोप नहीं करती । चना वातल, शीतल, मधुर, कपाय, गीर में रुन्नता उत्पन्न करने वाला, कफ और रक्तपित्त नाशक, पुंस्त्वनाशक होता है । घी के साथ सेवन करने से अना अत्यंत त्रिदोषशामक होता है ॥३१,३२॥

हरेणुवः सतीनाश्च विज्ञेया बद्धवर्चसः ।

कृते मुद्गमसूराभ्यामन्ये त्वाध्मानकारकाः ॥३३॥

हरेणु और सतीन (दोनों मटर के भेद) मल को बांधने वाले होते हैं । मूँग और मसूर के अतिरिक्त अन्य वैदल मूँग (अफारा) उत्पन्न करने वाले हैं ॥३३॥

माषो गुरुभिन्नपुरीषमूत्रः

स्निग्धोष्णवृष्यो मधुरोऽनिलघ्नः ।

सन्तर्पणः स्तन्यकरो विशेषाद्

बलप्रदः शुक्रकफावहश्च ॥३४॥

(उद्द—) उद्द भारी, मल और मूत्र की प्रवृत्ति में बाधा, स्निग्ध, उष्ण, वृष्य, मधुर, वातनाशक, तृप्तिकर,

(स्त्रियों में) विशेष करके दूध उत्पन्न करने वाला, बलदायक, शुक्र और कफ उत्पन्न करने वाला है ॥३४॥

कपायभावान्न पुरीषभेदी

न सूत्रलो नैव कफस्य कर्ता ।

स्वादुर्विपाके मधुरोऽलसान्द्रः

सन्तर्पणः स्तन्यरुचिप्रदश्च ॥३५॥

(राजमाप—) राजमाप (अलसान्द्र) कपाय भावयुक्त होने से मल का भेदन नहीं करते, न सूत्रल होते हैं तथा कफ को भी नहीं करते हैं, विपाक में तथा रस में मधुर हैं, तृप्तिकारक हैं, स्तन्यजनक और रुचिकारक होते हैं ॥३५॥

माषैः समानं फलमात्मगुप्त-

मुक्तं च काकाण्डफलं तथैव ।

आरण्यमाया गुणतः प्रदिष्टा

रूक्षाः कपाया अविदाहिनश्च ॥३६॥

कौंच के बीज उद्द के समान (गुणकारक) जानने चाहिये । काकाण्डफल (बड़ी शिबी के बीज) भी इसी प्रकार होते हैं । वन उद्द गुण में रुक्ष, कपाय और विदाह उत्पन्न न करने वाले होते हैं ॥३६॥

उष्णः कुलत्थो रसतः कपायः

कटुर्विपाके कफमारुतघ्नः ।

शुक्राश्मरीगुल्मनिपूदनश्च

सांग्राहिकः पीनसकासहारी ॥३७॥

आनाहमेदोगुदकीलहिका-

श्वासापहः शोणितपित्तकृच्च ।

कफस्य हन्ता नयनामयघ्नो

विशेषतो वन्यकुलत्थ उक्तः ॥३८॥

कुलत्थ (कुलथी)—उष्णवीर्य, रस में कपाय, विपाक में कटु, कफ और वात का नाशक, शुक्र अश्मरी और गुल्म का नाशक, सांग्राही और पीनस तथा खाँसी का हरण करने वाला है ॥३७॥ वनकुलत्थ आनाह, मेद रोग, अर्श, हिक्का और श्वास इनका नाशक, रक्तपित्तकर्ता, कफहर, नेत्ररोग नाशक विशेष करके होता है ॥३८॥

वक्तव्य—वाग्भट और चरक के अनुसार कुलत्थ का विपाक अम्ल है ।

ईषत्कपायो मधुरः सतिक्तः

सांग्राहिकः पित्तकरस्तथोष्णः ।

तिलो विपाके मधुरो वलिष्ठः

स्निग्धो ब्रणालेपन एव पथ्यः ॥३९॥

दन्त्योऽग्निमेधाजननोऽल्पमूत्र-

स्त्वर्च्योऽथ केश्योऽनिलहा गुरुश्च ।

तिलेषु सर्वेष्वसितः प्रधानो

मध्यः सितो हीनतरास्तथाऽन्ये ॥४०॥

१ स्तन्यो.

विस्तरेणायमुद्दिष्टः शालिवर्गो हिताहितः ॥१९॥

(कमी) हितकर और (कमी) अहितकर (एना) यह शालि (पष्टिक और मीहि) वर्ग विन्मार्पूर्वक वर्णन किया है ॥१९॥

पक्षान्य—शालि—शालि स्वस्वावस्था में एकान्तहित होते हैं, परन्तु रन्धावस्था में दोष विहिन के अनुसार हितकर या अहितकर होते हैं—अव्यन्मन्वाहुल्यदोग्दीना न्यवस्थिनम् । दस्य न्येच्छनि भिन्न इच्छनि म्लस्राज्ञो ॥ (सुधृत) । शालिवर्ग—शालिवर्ग में शालि, पष्टिक और मीहि इनका समावेश होता है । जो हेमन्त ऋतु में (अर्थात् रबी की फसल में) होते हैं वे शालि हैं, और जो वर्षा ऋतु में होते हैं वे मीहि हैं—कण्डनेन विना शुद्धा हेमन्ता शाल्य सृष्टा । वाषिष्ठा कण्डिना शुद्धा श्रीदय-क्षिरपाकिन ॥ (भावप्रकाश) । पष्टिक मीहि का ही एक भेद है जो मीष्टपाकी यानि साठ-दिन में ही उपजता है—पष्टिको तीक्ष्णु श्रेष्ठ । (अष्टांगहृदय) । ते हि पष्टिरपिण मवन्ति ॥ (चक्रदत्त) । भारतवर्ष में बंगाल, बिहार, आसाम, मद्रास तथा बर्मा प्रान्तों में चावल का उपयोग आहार में प्रमुख है । चावल कई प्रकार के होते हैं । उनके अनुसार तथा जमीन की प्रकृति, सिंचाई, खाद, और तैयार करने की पद्धति उनके अनुसार चावलों के गुण धर्मों में बड़ी पैष्टिकता में बहुत फर्क होता है । आगे पश्चिम श्लोक के बह्वक्षय में दी हुई सांख्यिका देखने से पता लगेगा कि चावल में पिष्टमय पदार्थ (कार्बोहाइड्रेट Carbohydrate) बहुत अधिक है और शरीरघातुवर्धक (प्रोटीन Protein) पदार्थ, चरबी और खनिज बहुत कम है । खनिज में फास्फरस, लोह, म्यांगनीज इत्यादि तत्व होते हैं । खनिज और प्रोटीन चावल के ऊपरी पत्ते (कद या कॉडा) में होते हैं । इनके अतिरिक्त कद में जीवद्रव्य बी (Vitamin B) भी होता है । जीवनीय द्रव्यों के सन्ध में आगे पश्चिम श्लोक के बह्वक्षय में विचार किया गया है । जानवरों की खाद डाली हुई सूखी भूमि में वर्षा के पानी से उपजने वाले धान के चावलों में, शायदकिन्तु खाद डाली हुई भूमि में सिंचाई विभाग के (Channel irrigation) पानी से उपजने वाले धान के चावलों की अपेक्षा जीवनीय तथा पैष्टिक द्रव्य अधिक होते हैं । मृगीन में डालकर कटने से, पानी में बहुत धोने से तथा चावलों को उबालकर मांस को फेंक देने से प्रोटीन, खनिज तथा जीवद्रव्य नष्ट हो जाते हैं, और चावलों की पैष्टिकता कम होनी है, इसलिये अन्विष्वत् (Polished rice) चावलों का उपयोग करना तथा चावलों को उबालकर मांस को फेंक देना स्वास्थ्य की दृष्टि से अहितकर है । चावल में जो कार्बोहाइड्रेट है वह स्टार्च रूप में होता है । यह स्टार्च पचने में सुनभ और मीष्ट है तथा इसका अधिकांश भाग जर्तियों में शक्ति बनाता है और बहुत अन्य भाग किट्ट क रूप में उष्मगीत होता है, इसलिये शालि की मीष्टपाकी, अल्पवर्धक कहा है । इसमें सारक गुण नहीं है इसलिये प्राणी और बह्वक्षय कहा है । कार्बोहाइड्रेट से शरीर में शक्ति उत्पन्न होती है । इसलिये इसे बह्वर्धक, रित्तय कहा है । कमी के रूप में चावल मूत्रण, मूत्राहार और ज्वरहर है । चावलों के बारे में हमें पके सूने सूने स्थान में रखने चाहिये । बंद और तर स्थान में रखने से उनमें स

उठने (Fermentation) लगता है । तिमके कारक : दुर्गंध आनी है और उनमें विष (Toxins and Toxamines) उत्पन्न हो जाते हैं । खराब चावल के बारे में डाला जावे तो चावल गरम प्रतीत होंगे । खराब, पुराने पटाये हुए चावल बेरी बेरी (Beri—Beri) नामक की उत्पत्ति में बड़ा भारी भाग लेते हैं । इति शालिव तद्वत् कुधान्यमुद्गादिमापादीनां च वक्ष्यते ॥२०॥ इसी प्रकार कुधान्य, मुद्गादि और मापादि के वर्णन किये जायेंगे ॥२०॥

अथ कुधान्यवर्गः ।

कोरदूपकदयामाकनीचारशान्तनुवरकोद्दालक प्रियसुमधूलिका नान्दीमुखी कुरुविन्दगोपेधुकवदक तोद(य)पर्णीमुकुन्दकवेणुयवप्रभृतयः कुधा विरोपाः ॥२१॥

कोरदूपक (कोद्व), इयामाक, नीवार, शान्तनु, व उद्दालक (वनकोद्व), प्रियदगु, मधूलिका, नान्दीमुखी, विन्द, गोपेधुक, वरक, तोदपर्णी, मुकुन्दक, वेणुयव प्र कुधान्य (कुम्पित धान्य) विरोप है ॥२१॥

चतुष्टय—चरकसंहिता में शालि के साथ कुधान्य समावेश शुकवर्ग (Cereals) में किया है । वनस्पति की दृष्टि से चरक का वर्गीकरण ठीक है, क्योंकि ये सब प्रकार के घास (Grass) हैं ।

उष्णाः कषायमधुरा रूक्षाः कटुविपाकिन ।
श्लेष्मन्ना यद्धनिस्पन्दा चातपित्तप्रकोपणा ॥२२॥
ये कुधान्य गरम, कषाय और मधुर, रुक्ष, विपाक कटुक, कफनाशक, मूत्र की राशि कम करने वाले और वात त पित्त प्रकोपक होते हैं ॥२२॥

विषयमधुरस्तेषां शीत पित्तापह. स्मृत ।
कोद्वयश्च सनीवार. इयामाकश्च सशान्तनु ॥२३॥
इनमें से कोद्व (कोद), नीवार, इयामाक और शान्त ये कषायमधुर, शीत पित्त नाशक होते हैं ॥२३॥

रूष्णा रक्षाश्च पीताश्च श्वेताश्चैव प्रियङ्गय ।
यथोत्तरं प्रधाता सूय रूक्षा कफहरा स्मृता ॥२४॥
काली, लाल, पीली और सफेद प्रियगु उत्तरांतर (गुण में श्रेष्ठ होती हैं), तथा रुक्ष और कफनाशक हैं ॥२४॥

मधूली मधुरा शीता क्षिग्धा नान्दीमुखी तथा ।
विशोपी तत्र भूयिष्ठं वरक. समुकुन्दक ॥२५॥
मधूलिका और नान्दीमुखी मधुर, शीत तथा तिग्ध है वरक और मुकुन्दक (शरीर के जलाशय का) अत्यन्त विरोगप्र करने वाले हैं ॥२५॥

रूक्षा वेणुयवा श्रेया पीयोष्णा कटुपाकिन ।
यद्धमूना कफहरा कषाया चातकोपना ॥२६॥
वेणुयव रुक्ष, उष्णशीत, विपाक में कटु, मूत्र की राशि कम करने वाले, कफनाशक, कषाय और वातप्रकोपक हैं ॥२६॥ इति कुधान्यवर्गः ।

मुद्गचनमुद्गकलायमकुष्ठमसूरमङ्गल्यचणकसती-

त्रिपुटकहरेणवाढकीप्रभृतयो वैदलाः ॥२७॥

मुद्ग (मूँग, Phaseolus Mungo), वनमुद्ग (वनमूँग, ascolus Trilobus), कलाय (मटर का भेद, Pisum case), मकुष्ठ (मोठ, मटकी), मसूर (Lens Eocule), मांगल्य (मसूर का भेद), चणक (चना Cicer lentum), सतीन (मटर का भेद), त्रिपुटक (खेसारी, thyrus Sativus), हरेणु (मटर का भेद, वर्तुल मटर), आढकी (अरहर Cajanus Indicus) प्रभृति ल हैं ॥२७॥

तपायमधुराः शीताः कटुपाका मरुत्कराः ।

वृद्धमूत्रपुरीपाश्च पित्तश्लेष्महरास्तथा ॥२८॥

ये वैदल वर्ग के धान्य कषायमधुर, शीतल, विपाक में वातप्रकोपक, मल श्रौर मूत्र का अवरोध करने वाले तथा त श्रौर श्लेष्म हरण करने वाले हैं ॥२८॥

त्यर्थं वातलास्तेषु मुद्गा दृष्टिप्रसादनाः ।

धाना हरितास्तत्र वन्या मुद्गसमाः स्मृताः ॥२९॥

वैदलों में मूँग अत्यंत वातल नहीं है और दृष्टि को प्रसन्न करते हैं । उनमें भी हरे मूँग प्रधान हैं श्रौर वनमूँग गुण में मूँग के समान होते हैं ॥२९॥

शुष्के मधुराः प्रोक्ता मसूरा वद्धवर्चसः ।

कुष्ठकाः कृमिकराः कलायाः प्रचुरानिलाः ॥३०॥

मसूर विपाक में मधुर श्रौर मल को बाँधने वाले हैं । कृमि-कृमिकारक होते हैं श्रौर मटर अत्यंत वातल हैं ॥३०॥

आढकी कफपित्तघ्नी नातिवातप्रकोपणी ।

वातलाः शीतमधुराः सकषाय्या विरूक्षणाः ॥३१॥

कफशोणितपित्तघ्नाश्चणकाः पुंस्त्वनाशनाः ।

त एव घृतसंयुक्तास्त्रिदोषशमनाः परम् ॥३२॥

अरहड़ कफ और पित्त का नाश करती है तथा वात का बहुत प्रकोप नहीं करती । चना वातल, शीतल, मधुर, कषाय, शरीर में रुक्षता उत्पन्न करने वाला, कफ और रक्तपित्त नाशक, पुंस्त्वनाशक होता है । घी के साथ सेवन करने से चना अत्यंत त्रिदोषशामक होता है ॥३१,३२॥

हरेणवः सतीनाश्च विज्ञेया वद्धवर्चसः ।

कृते मुद्गमसूराभ्यामन्ये त्वाध्मानकारकाः ॥३३॥

हरेणु और सतीन (दोनों मटर के भेद) मल को बाँधने वाले होते हैं । मूँग और मसूर के अतिरिक्त अन्य वैदल माल (अफारा) उत्पन्न करने वाले हैं ॥३३॥

मापो गुरुभिन्नपुरीपमूत्रः

स्निग्धोष्णवृष्यो मधुरोऽनिलघ्नः ।

सन्तर्पणः स्तन्यकरो विशेषाद्

वलप्रदः शुक्रकफावहश्च ॥३४॥

(उड़द—) उड़द भारी, मल और मूत्र की प्रवृत्ति करने वाला, स्निग्ध, उष्ण, वृष्य, मधुर, वातनाशक, वृत्तिकर,

(स्त्रियों में) विशेष करके दूध उत्पन्न करने वाला, बलदायक, शुक्र और कफ उत्पन्न करने वाला है ॥३४॥

कषायभावाच्च पुरीषमेदी

न सूत्रलो नैव कफस्य कर्ता ।

खादुर्विपाके मधुरोऽलसान्द्रः

सन्तर्पणः स्तन्यरुचिप्रदश्च ॥३५॥

(राजमाप—) राजमाप (अलसान्द्र) कषाय भावयुक्त होने से मल का भेदन नहीं करते, न सूत्रल होते हैं तथा कफ को भी नहीं करते हैं, विपाक में तथा रस में मधुर हैं, वृत्तिकारक हैं, स्तन्यजनक और रुचिकारक होते हैं ॥३५॥

मापैः समानं फलमात्मगुप्त-

मुक्तं च काकाण्डफलं तथैव ।

आरण्यमापा गुणतः प्रदिष्टा

रूक्षाः कषाया अविदाहिनश्च ॥३६॥

काँच के बीज उड़द के समान (गुणकारक) जानने चाहिये । काकाण्डफल (बड़ी शिंवी के बीज) भी इसी प्रकार होते हैं । वन उड़द गुण में रुक्ष, कषाय और विदाह उत्पन्न न करने वाले होते हैं ॥३६॥

उष्णः कुलत्थो रसतः कषायः

कटुर्विपाके कफमारुतघ्नः ।

शुक्राश्मरीगुल्मनिषूदनश्च

सांग्राहिकः पीनसकासहारी ॥३७॥

आनाहमेदोगुदकीलहिका-

श्वासापहः शोणितपित्तकृच्च ।

कफस्य हन्ता नयनामयघ्नो

विशेषतो वन्यकुलत्थ उक्तः ॥३८॥

कुलत्थ (कुलथी)—उष्णवीर्य, रस में कषाय, विपाक में कटु, कफ और वात का नाशक, शुक्र अश्मरी और गुल्म का नाशक, संग्राही और पीनस तथा खाँसी का हरण करने वाला है ॥३७॥ वनकुलत्थ आनाह, मेद रोग, अर्श, हिक्का और श्वास इनका नाशक, रक्तपित्तकर्ता, कफहर, नेत्ररोग नाशक विशेष करके होता है ॥३८॥

वक्तव्य—वाग्भट और चरक के अनुसार कुलत्थ का विपाक अम्ल है ।

ईषत्कषायो मधुरः सत्तित्तः

सांग्राहिकः पित्तकरस्तथोष्णः ।

तिलो विपाके मधुरो बलिष्ठः

स्निग्धो वृणालेपन एव पथ्यः ॥३९॥

दन्त्योऽग्निमेधाजननोऽल्पमूत्र-

स्त्वच्योऽथ केश्योऽनिलहा गुरुश्च ।

तिलेषु सर्वेष्वसितः प्रधानो

मध्यः सितो हीनतरास्तथाऽन्ये ॥४०॥

१ स्तन्यो-

(तिल—) तिल किंचिद् कपाय, मधुर, तिक्त, सम्राही, पित्तकर, उष्ण, विपाक में मधुर, बलवर्धक, खिन्ध, केवल प्रणालेपन के लिये पथ्यकर ॥३१॥ दार्तों के लिये हितकर, अग्निदीपक, बुद्धिवर्धक, मूत्र की राशि कम करने वाले, ल्वचा तथा नेत्र के लिये हितकर, वातनाशक और गुरु हैं । सब प्रकार के तिलों में काले तिल प्रधान हैं, श्वेत तिल मध्यम हैं और अन्य निरूप्य होते हैं ॥३०॥

यवः कपायो मधुरो हिमश्च
कटुविपाके कफपित्तहारी ।
मणेषु पथ्यस्तिलयश्च नित्यं
प्रवदमूत्रो बहुवातवर्चा ॥३१॥
स्वैर्याग्निमेधास्वरवर्षाकृच्च
सपिच्छिलः स्थूलविलेखनश्च ।
मेदोरुक्लृष्टहरणोऽतिरूक्षः
प्रसादनः शोणितपित्तयोश्च ॥३२॥

(यव—) यवकपाय, मधुर, शीतल, विपाक में कटु, कफपित्तनाशक, तिल की भाँति प्रणालेपन में सदैव हितकर, मूत्र कम करने वाला, (आँत में) वात और मल को बढ़ाने वाला ॥३१॥ स्वैर्यजनक, अग्निदीपक, बुद्धिवर्धक, कण्ठ्य, वर्ण्य, पिच्छिल, स्थूल को कृश करने वाला, मेदोरोग, वातरोग और कृपा को हरण करने वाला, अतिपथ्य रूक्ष और रक्त तथा पित्त को प्रसादन करने वाला है ॥३२॥

एभिर्गुणैर्हीनतरैस्तु किंचिद्
विद्याद्यवेभ्योऽतियवानशेषैः ।

उपर्युक्त सब गुणों में अतियव (निःशुक्र काले लाल रंग के यव) किंचिद् निरूप्य समझने चाहिये ।

घट्टहय—मणेषु पथ्यस्तिलयश्च नित्यम्—तिल की भाँति प्रणालेपन के लिये पथ्यकर—नित्यपचयस्तु केचिदादुर्मनीषिणः (चि अ १) । नित्य—आभ्यन्तरीय प्रयोग के लिये भी उपयोगी—सकृत् विप्रेकी कुम्भाय ज्वं चापि शृतं पिवेत् । (सूत्र स्थान, अ १९) । प्रवदमूत्र—मूत्र की राशि कम करने वाला । इसलिये प्रमेह में यवों का उपयोग होता है—यवप्रधानं तु मेहेन प्रमेही । (चरक) । मदारक्लृष्टहरण—मेदामातृ तस्य कृपां च हन्ति' इति । मेदामातृत्वात् वात तथा कृपा हरण करने वाला । चरक में मेदामातृत्वात् वायु की चिकित्सा में यव का भोजन करने के लिये लिखा है—यवका यवः । भोजनार्थं प्रथे ज्ञानि । (सू २१) । अतियव—निःशुक्रनित्यव स्थू । (भावप्रकाश) । आयुर्वेद में जी (Hordeum Vulgare) एक बहुत चिकित्सायोगी वस्तु है । भारतवर्ष के अत्यल्प निर्धन लोग जी खाकर अपना निर्वोह किया करते हैं । जी का संगठन गेहूँ के बहुत बृहत् समान है । पाश्चात्य देशों में वैद्यकीय उपयोगों के लिये जी कई प्रकार के (स्कॉच बार्ली, 'पेटे बार्ली, 'पल बार्ली, 'पेट्टे बार्ली' इत्यादि) बनाये जाते हैं । इन प्रकार के जी में यव (Barley water) बनाकर सब प्रकार के ज्वरों में तथा सुजाक, उष्ण वात ह्रस्वादि मूत्र विकारा में

यव के साथ या वैभे ही देते हैं । जी (Hordeum Di on) ही से माल्ट (Malt) नामक एक शक्तिदायक, तथा पचनसुलभ पदार्थ बनाया जाता है । प्रथम जी का में मिलाकर रख दिया जाता है । जब अक्षुर फूटने लगा तब एक विशेष प्रकार की भट्टी में दानों को रखा जा जिससे अक्षुरों का निकलना बंद हो जाता है । इसके भीतर डायस्टेस (Diastase) नामक पदार्थ बनाता है स्टार्च को डेक्स्ट्रिन और माल्ट शूगर (Dextrin and M Sugar) में परिवर्तित करता है । इस तरह माल्ट एम्प में डायस्टेस, डेक्स्ट्रिन और माल्ट शूगर होती हैं । माल्ट स्टार्च गर्करा युक्त अन्य पदार्थों को पचन करने की बढी शक्ति होती है । गेहूँ के आटे के साथ माल्ट मिलाकर कल बाजार में बच्चों के लिए कई तरह के पेट्टे साद्य (Savory and Moore's Allenbury's food, Cook food) मिलते हैं । कॉडनियर तेल के साथ मिलाकर बाल्य-कारक रोगों में माल्ट से बहुत लाभ होता है । आँ में भी जी से मधु, क्षार, अपूप, मन्थ, वाद्य, कुम्भाय, इत्यादि विविध चिकित्सायोगी पदार्थ बनाये जाते मधुमेही के लिये जी प्रधान खाद्य है और इसके सेक मधुमेह में बहुत फायदा होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं गोधूम उक्तो मधुरो गुरुश्च

वह्यः स्थिरः शुक्ररचिप्रदश्च ।
क्षिग्धोऽतिशीतोऽनिलपित्तहन्ता
सन्धानकृत् श्रेष्मकरः सरश्च ॥३३॥
(गेहूँ—) गेहूँ मधुर, भारी, बलकारक, स्वैर्य शुक्र और रचि उत्पन्न करने वाला, अतिसिन्ध, अति शीत वात शीत पित्तनाशक, (दूदी हड्डी को) जोड़ने वाला, कफ और सारक है ॥३३॥

रूक्षः कपायो विषशोषशुक्र-
यलामट्टिहृत्क्षयकृद्धिदाही ।
कटुविपाके मधुरस्तु शिम्बः
प्रभिक्षेयिणमारतपित्तलश्च ॥३४॥
गिम्बी (वर्ग के अन्न साधारणतया) रूक्ष, कपाय, वि शोष, कफ और दृष्टि इनका क्षय करने वाले, विशादजन विपाक में कटु, मधुर, मलक माधुर, मलक करने वाले और वात त पित्त उत्पन्न करने वाले हैं ॥३४॥

मितामिता. पीतकरजयर्णा
भयन्ति येऽनेकविधास्तु शिम्ब्या ।
यथोदितान्ते गुणतः प्रधाना
श्रेयाः कटुष्ण्ण रसपाकयोश्च ॥३५॥
सपेद, काले, पीले और लाल रंगे अनेक प्रकार के शिब होने हैं वे तिस क्रम से बयान किये हैं उसी क्रम से शु में भेट होते हैं (यथा श्वेत सपेदप्रधान, काले उसमे अल्प शु पीले काले से अल्पगुण और लाल पीले से भी अल्पगुण और रस तथा विपाक में कटु तथा उष्ण होते हैं ॥३५॥

सहाद्वयं मूलकजाश्च शिम्वाः

कुशिस्विचल्लीप्रभवास्तु शिम्वाः ।

ज्ञेया विपाके मधुरा रसे च

बलप्रदाः पित्तनिवर्हणाश्च ॥४६॥

द्रुपर्णी, मापपर्णी (सहाद्वयं), मूली और आत्मगुप्ता
त्री से उत्पन्न हुई शिम्बी रस और विपाक में मधुर, बल-
श्री और पित्तनाशक हैं ॥४६॥

विदाहचन्तश्च भृशं विरूक्षा

विष्टभ्य जीर्यन्त्यनिलप्रदाश्च ।

रुचिप्रदाश्चैव सुदुर्जराश्च

सर्वे स्मृता वैदलिकास्तु शिम्वाः ॥४७॥

(मुद्गादि वैदल धान्यों की आर्द्र) शिम्बी अतिशय विदाह
न करती है, शरीर को रुज करती है, पचन के समय पेट
डगुड शब्द करती है, वात को बढ़ाती है, रुचिकर है और
१ में कठिन होती है ॥४७॥

कटुविपाके कटुकः कफघ्नो

विदाहिभावाद्दहितः कुसुम्भः ।

उष्णाऽतसी स्वादुरसाऽनिलघ्नी

पित्तोत्वया स्यात् कटुका विपाके ॥४८॥

कुसुंब (कड़) का बीज रस और विपाक में कटु, कफ-
घ्नक, विदाह उत्पन्न करने के कारण अहितकर होता है ।
श्री उष्ण, रस में मधुर, वातनाशक, पित्तकर और विपाक
कटु होती है ॥४८॥

पाके रसे चापि कटुः प्रदिष्टः

सिन्द्वार्थकः शोणितपित्तकोपी ।

तीक्ष्णोष्णरूक्षः कफमारुतघ्न-

स्तथागुणश्चासितसर्पपोऽपि ॥४९॥

श्वेत सर्पप रस और विपाक में कटु, रक्तपित्तकारक,
क्षण, उष्ण, रुक्षवात और कफ के नाशक हैं । रक्त सर्पप
या कृष्ण सर्पप) भी गुण में ऐसे ही होते हैं ॥४९॥

नानार्तवं व्याधिहतमपर्यागतमेव च ।

भूमिजं नवं चापि न धान्यं गुणवत् स्मृतम् ॥५०॥

त्वं धान्यमभिष्यन्दि लघु संवत्सरोपितम् ।

वेदाहि गुरु विष्टम्भि विरूढं दृष्टिदूषणम् ॥५१॥

जिस धान्य का जो ऋतु स्वाभाविक होता है उसको छोड़कर
अन्य ऋतु में उत्पन्न हुए, विविध रोगों से दूषित, अपरिपक
हुए, अप्रशस्त भूमि में उत्पन्न हुए तथा नये (गालि से लेकर
पर्ये तक सर्व) धान्य गुणकारक नहीं होते हैं ॥५०॥ नवीन
धान्य अभिष्यन्दि (शरीर में भारीपन उत्पन्न करने वाले)
होते हैं और एक वर्ष के पुराने हलके होते हैं । विरूढ धान्य
विदाहजनक, भारी, उदर में विष्टम्भजनक और दृष्टि की
सरावी करने वाला होता है ॥५१॥

वक्तव्य—नव—एक वर्ष तक धान्य नया कहलाता है ।

१ मधुरोऽनिलः

एक वर्ष से दो वर्ष तक पुराना होता है । उसके पश्चात् उसका
वीर्य धीरे धीरे घटता है—वर्षोपितं सर्वधान्य गौरवं परिसुव्रति ।
न तु त्यजति वीर्यं स्वं क्रमान्बुद्धत्यतः परम् ॥ (भावप्रकाश) ।
परन्तु यत्र गौधमादि अपवाद हैं । इनका उपयोग नवावस्था
में करना ही स्वास्थ्यप्रद है । एतेषु यत्र गौधमत्तिलमाया नवा हिताः ।
पुराणा विरसा रक्षा न तथा गुणकारिणः ॥ (भावप्रकाश) ।
बंगाल और युक्त प्रान्त में अत्यन्त पुराने चावल सेवन करने
की जो प्रथा है वह स्वास्थ्यनाशक और आयुर्वेदविरोधी है
और इसी के कारण वेरी वेरी नामक रोग उत्पन्न होता है ।
विरूढ—ठंडक और सील जहाँ होती है ऐसे स्थान में अधिक
काल तक रखने से अंकुरित हुए धान्य । जो अनाज खाने के
लिये पानी में छोड़कर अंकुरित (Sprouted or Germinati-
ng) किये जाते हैं उनमें उपर्युक्त दोष नहीं हो सकते हैं । क्योंकि
ऐसे अंकुरित धान्य खाने का रिवाज अत्यन्त प्राचीन काल से
भारतवर्ष में है । आधुनिक वैज्ञानिक खोज से अब यह सिद्ध
हुआ है कि प्रत्येक धान्य में अपने स्वाभाविक पौष्टिक गुणों के
अतिरिक्त अंकुरित होने पर कुछ जीवनीय द्रव्य, विशेष करके
बी. सी. ई (Vitamines B. C. E), उत्पन्न होते हैं जो
शरीरस्वास्थ्य के लिये बहुत आवश्यक तथा हितकर हैं । इन
जीवनीय द्रव्यों का विशेष विवरण आगे श्लोक ५२४ की टीका
में किया जायगा ।

शाल्यादेः सर्पपान्तस्य विविधस्यास्य भागशः ।

कालप्रमाणसंस्कारमात्राः संपरिकीर्तिताः ॥५२॥

(इस प्रकार) शालि से लेकर सरसों तक अनेक प्रकार
के धान्य का काल, प्रमाण, संस्कार और मात्रा अंशतः (अल्प
प्रमाण में) वर्णन की गई है (आगे कृतान्न वर्ग में अधिक
वर्णन किया ज्ञायगा) ॥५२॥

वक्तव्य—सुश्रुतसंहिता में धान्य के कई वर्ग किये हैं ।

भावप्रकाश में भी धान्य के पांच वर्ग किये हैं—शालिधान्यं-
व्रीहिधान्यं शूकधान्यं तृतीयकम् । शिम्बीधान्यं क्षुद्रधान्यमित्युक्तं धान्य
पंचकम् ॥ चरक और वाग्भट में धान्य के केवल दो ही वर्ग
किये हैं—१ शूकधान्य (Cereals), और २ शिम्बीधान्य या
वैदल (Pulses) । आधुनिक शास्त्र के अनुसार भी धान्य
के ये ही दो वर्ग होते हैं । उपर्युक्त धान्यवर्गों में से कुधान्य
जंगली लोगों के अतिरिक्त दूसरे लोग खाने के काम में बहुत
कम लाते हैं । शूकवर्ग—इस वर्ग के अन्न ग्रामीनीएसी (Grami-
naceae) नामक श्रेणि के वनस्पतियों का बीज है । मनुष्य
जाति का प्रधान खाद्य केवल इस श्रेणि के धान्य से ही आता
है । इसमें मुख्य चावल, गेहूँ, मकई, जौ, बाजरा, ज्वार
इत्यादि हैं । केवल चावल और गेहूँ संसार के बड़े लोगों का
प्रधान खाद्य है । भारतवर्ष, चीन, जापान, ब्रह्मदेश इत्यादि
पौराण्य देशों में चावल का सेवन अधिक है । यूरोप में गेहूँ
का सेवन अधिक होता है । इटली, अमेरिका में मकई का
सेवन बहुत होता है । इन द्रव्यों में कार्बोहायड्रेट (शक्तिदायक
पदार्थों) की अधिकता होती है और प्रोटीन (धातुवर्धक
पदार्थ) तथा चर्बी की कमी होती है । इनमें कुछ खनिज
द्रव्य भी होते हैं चावल के गुणधर्मों का विचार पीछे

१६ वें श्लोक के अन्वय में किया गया है। पौष्टिकता की दृष्टि से गेहूँ चावल से बहुत उत्तम है। प्रोटीन, चर्बी और खनिज पदार्थ गेहूँ में चावल से बड़ा प्रमाणा में अधिक होते हैं। इसलिये गेहूँ भारी, बलकारक, त्रिभ्य, स्थिर और सधान पदार्थ होता है। गेहूँ के छिलके (चोंकर) का रासायनिक संगठन देखने से यह मालूम होगा कि उसमें प्रोटीन और खनिज अधिक परिमाण में होने का कारण उसको फेंक देने से हम गेहूँ के पौष्टिक भाग में वचन हो जाते हैं। इसलिये आटा बहुत भारीक बलनी से छानना अच्छा नहीं। विना छना (सालिम) आटा ही सब से अच्छा होता है। उसमें सेल्युलोज (Cellulose) भी अधिक होता है जो मलावरोध नहीं होने देता। इसलिये गेहूँ 'सर' भी है। रिनिथन्यवर्ग—इस वर्ग के चारों वनस्पतिशास्त्र में लेग्युमिनोसी (Leguminosae) श्रेणी के हैं। इनमें अन्य वनस्पति द्रव्यों की अपेक्षा प्रोटीन की राशि अधिक होती है। इसको लेग्युमिन (Legumin) कहते हैं। इस कारण से उनको 'निर्भोज का मांस' कहते हैं। परन्तु दाल का प्रोटीन मांस के प्रोटीन की अपेक्षा पचने में भारी होता है। प्रोटीन के अतिरिक्त इनमें पोष्यासि अम, चूना, गंधक इत्यादि खनिज भी होते हैं। जिनका मुख्य स्रोत चावल है, वे शीघ्र चावल के प्रोटीन और चार की कमी की पूर्ति करने के लिये चावल के साथ दाल का सेवन किया करते हैं। दालें पचने में कठिन होती हैं और अप्पान करती हैं। छिलके उत्तरी हुई दाल छिलकेदार की अपेक्षा पचने में हल्की होती है। दाल में प्यूरिन (Purin) नामक द्रव्य भी बहुत हाता है। इसलिये वातरक (Gout) के रोगी के लिये दाल का सेवन हानिकारक है। त्रिपुट कलाय (खेसारी दाल) के सेवन से कलायसज (Lathyrism) नामक एक प्रकार का ऊरुस्तम होता है। इस दाल के सवध में कुछ मतमिश्रता दिखाई देती है। नवीन खोज से यह मालूम हुआ है, आकटा (Vicia Sativa) नामक दाल के सेवन से यह रोग होता है।

शुद्ध और शिथिलवर्ग के प्रधान धान्यों का रासायनिक संगठन

	नाम	प्रोटीन	स्वद	शर्करा	खनिज	जल
शुद्धवर्ग	१ गेहूँ	१२.२४	२.१८	७०.९२	२.२०	११.८३
	२ चोंकर (गेहूँ की)	१६.४	३.५	४३.६	६.०	१२.५
	३ चावल	६.८६	०.८	७८.८	१.२३	११.५
	४ यव	८.९२	१.९०	७६.१	२.३	१२.३
	५ मकई	९.५२	४.४४	६८.९	३.७५	११.५
शिथिलवर्ग	१ मूंग	२३.६२	२.६९	५३.४५	३.५०	१०.८०
	२ आरहर	२०.६०	३.३१	५०.२७	५.५	१०.८
	३ मसूर	२५.४०	३.०	५५.३	३.३३	१०.२३
	४ चना	१९.९४	४.३१	५१.१३	३.७२	१०.७
	५ उड़द	२२.३३	१.९५	५५.२२	३.०	१३.०
	६ मटर	३१.०	१.८	६१.४	२.६	१३.०

अधोर्ध्व मांसवर्गानुपदेक्ष्याम ।

तद्यथा—जलेराया, आनूप, प्राभ्या, कश्यपु एकरफा, जाङ्गलाश्चेति एमांसवर्गा । एते वर्गोणामुच्चरोत्तर प्रधानतमः । ते पुनर्द्विविधा-जाङ्गला आनूपाश्चेति । तत्र जाङ्गलवर्गोऽष्टविध तद्यथा—जङ्गला, विष्किरा, प्रतुदा, गुहाशया प्रसहा, पर्णमृगा, विलेश्या, प्राभ्याश्चेति । ते जङ्गलविष्किरो प्रधानतमौ ॥५३॥

अब यहाँ से आगे मांसवर्ग का वर्णन करते हैं । (उपदेक्ष) इस प्रकार से है—१ जलेराय, २ आनूप, ३ प्राभ ४ कश्यपुज, ५ एकरफ, और ६ जांगल ऐसा छ प्रकार मांसवर्ग हैं। (मांस की दृष्टि से) ये वर्ग एक से एक बढ़ते हैं। फिर वे (आश्रय के अनुसार) जांगल और आनूप दो प्रकार के होते हैं। इनमें से जांगलवर्ग आठ प्रकार का होता है। जैसे—१ जंगल, २ विष्किर, ३ प्रतुद, ४ गुहाशय, ५ प्रसहा, ६ पर्णमृग, ७ विलेशय, और ८ प्राभ्य । इन जांगल और विष्किर प्रधानवर्ग हैं ॥५३॥

वस्तुतः—मांसवर्ग—मांस के गुणानुरूप बनाये हुए मांसवर्ग । जलेराय—जल में रहने वाले जीवों का वर्ग; यथा-कोयल्य पादिन और मत्स्य । आनूप—जलप्रायप्रदेशवा प्राणी, यथा—कूलचर और मूष । कश्यपुज—मांसभक्षकप्राणी यथा—गुहाशय और प्रसहा । एकरफ—एक स्तुर के प्राण यथा—घोड़ा गधा इत्यादि- प्राभ्य और एकरफ दोनों समावेश जांगलवर्ग के प्राभ्यभेद में होता है। जंगल—प्राण और बलवान् जघा होने का कारण तेजी से दौड़ने वाले प्राणी विष्किर—पर्वतों में कुरेदकर घुगने वाले प्राणी । प्रतु—नोक कुरेदकर घुगने वाले पक्षी । प्रसहा—अपना भक्ष्य जबरदस्ती पकड़कर खाने वाले प्राणी । पर्णमृग—घासासृग, वृक्षों पर रहने वाले वानर सस्य प्राणी । चरकसंहिता में इन वर्गों का निरुक्ति दी है—प्रथम भक्षयन्तीति प्रमहात्सेन मणिग । भूशय विल्वगमिताः प्राणानुरूपमवशात् ॥ जले निवासात्कलरा, जलेवर्ग जलेचरा । स्थलरात्राणाम प्राजा, मृगा जांगलचारिण । विष्किरविष्किरश्च, प्रतुव प्रतुदा स्तृता ॥ (सूत्र अ २०) । अतः सुधु के अनुसार जांगल और आनूप मिलकर मांस के तरह प्रका होते हैं परन्तु चरक और वाग्भट के अनुसार केवल आठ वर्ग हैं और इनके नाम में भी कुछ फर्क होता है । तथापि सुधु के त्रयोदश वर्ग इन आठवर्ग के अन्तर्भूत हैं, यह नीचे तालिका देखने से स्पष्ट होगा ।

चरक	सुधुत	वाग्भट	
१ जांगलमृगा	१ जंगल	१ मृगा	जांगल वर्ग
२ विष्किर	२ विष्किर	२ विष्किर	
३ प्रतुद	३ प्रतुद	३ प्रतुद	
४ भूमिशय	४ विलेशय	४ विलेशय	सधारण वर्ग
५ प्रसहा	५ प्रसहा	५ प्रसहा	
	६ गुहाशय		
	७ पर्णमृग		
	८ प्राभ्य		

आनूपमृगाः	६ कूलचराः	६ महामृगाः	} आनूप वर्ग
जलचराः	१० पुवाः	७ अपचराः	
रिशया	११ कोशस्थाः	८ मत्स्याः	
	१२ पादिनः		
	१३ मत्स्याः		
	१ नादियाः		
	२ सामुद्राः		

तावेणहरिणार्क्षकुरङ्गरालकृतमालशरभश्वदंष्ट्रा-
तचारुष्करमृगमातृकाप्रभृतयो जङ्गला मृगाः
॥या मधुरा लघवो वातपित्तहरास्तीक्ष्णा हृद्या
त्तशोधनाश्च ॥५४॥

(जंघाल वर्ग—) एण (काला हिरण्य), हरिण्य (ताम्र
ण), ऋष्य (नीले अंडे वाला रोहू मृग), कुरंग (चतु-
चौकड़िया मृग), कराल (जिसके दाँत नीचे की निकले
ऐसा हिमालयादि पर्वतस्थ कस्तूरी मृग), कृतमाल (संघात-
ती मृग), शरभ (अष्टापद उत्प्रेरमाणो महामृगः पृष्ठगतचतुष्पादः
शरीर प्रसिद्धः), श्वदंष्ट्रा (चार दाँत का एक मृग भेद),
त (जिसके शरीर पर चित्र विचित्र बिंदु होते हैं
रा चित्तल मृग), चारुष्कर (सुन्दर और छोटे शरीर का
मृग), मृगमातृका (छोटी और बड़े पेट वाली हिरनी)
आदि जंघालवर्ग के मृग हैं । ये (अर्थात् इनका मांस)
पाय, मधुर, हलका, वातपित्तनाशक, तीक्ष्ण, मन को
उन्नत देने वाले और मूत्रविरेचक होते हैं ॥५४॥

कपायो मधुरो हृद्यः पित्तासृक्कफरोगहा ।
संग्राही रोचनो बल्यस्तेषामेणो ज्वरापहः ॥५५॥
इनमें एण (का मांस) कपाय, मधुर, हृद्य, पित्त, कफ
और रक्त रोगनाशक, ग्राही, रोचक, बलकारक और ज्वर-
नाशक है ॥५५॥

मधुरो मधुरः पाके दोषघ्नोऽनलदीपनः ।
शीतलो चन्द्रविण्मूत्रः सुगन्धिर्हरिणो लघुः ॥५६॥
ताम्र हरिण (का मांस) मधुर, विपाक में मधुर, दोष-
नाशक, अग्निदीपक, शीतल, मलमूत्रावरोधक, सुगंधि और
हलका होता है ॥५६॥

एणः कृष्णस्तयोर्ज्ञेयो हरिणस्ताम्र उच्यते ।
यो न कृष्णो न ताम्रश्च कुरङ्गः सोऽभिधीयते ॥५७॥
इनमें से कृष्णवर्ण मृग 'एण' समझना चाहिये, ताम्रवर्ण
को 'हरिण' कहलाता है और जो ताम्रवर्ण या कृष्णवर्ण नहीं
वह 'कुरंग' कहलाता है ॥५७॥

शीताऽसृक्पित्तशमनी विज्ञेया मृगमातृका ।
सन्निपातक्षयश्वासकासहिक्काऽरुचिप्रणुत् ॥५८॥
मृगमातृका (का मांस) शीतल, रक्तपित्त, सन्निपात,
क्षय, श्वास, कास, हिक्का और अरोचक नाशक समझना
चाहिये ॥५८॥

लावतित्तिरिक्पिञ्जलवर्तीरवर्तिकावर्तकनप्टका
वर्तीकचकोरकलविङ्कमयूरक्रकरोपचक्रकुक्कुटसारङ्ग

शतपत्रकुत्तिरिक्खवाहकयवालकप्रभृतयस्याहला
विष्किराः ॥५९॥

लघवः शीतमधुराः कपाया दोषनाशनाः ॥६०॥
(विष्किर वर्ग—) लाव, तित्तिर (काला तीतर), कर्पि-
जल (गौरा तीतर), वर्तीर (घरघरा), वर्तिक, वर्तक,
नसृक, वार्तीक, चकोर, कलविङ्क, मयूर, क्रकर, उपचक्र, कुक्कुट
(मुरगा), सारङ्ग (पपहिया), शतपत्र, कुत्तिरि, कुरुवाहक
शवालक इत्यादि (दोनो पंजे और तीसरी चंचु इन) तीनों
से कुदेदने वाले (त्रयाहल) विष्किरवर्ग के हैं ॥५९॥ ये
विष्किर (वर्ग के प्राणी) हलके, शीतल, मधुर, कपाय और
दोषनाशक होते हैं ॥६०॥

संग्राही दीपनश्चैव कपायमधुरो लघुः ।
लावः कटुविपाकश्च सन्निपाते च पूजितः ॥६१॥
लाव पक्षी संग्राही, अग्निदीपक, कपाय, मधुर, हलका,
विपाक में कटु और सन्निपात में प्रशस्त होता है ॥६१॥

ईषद्गुरुष्णमधुरो वृष्यो मेधाश्लिवर्धनः ।
तित्तिरिः सर्वदोषघ्नो ग्राही वर्णप्रसादनः ॥६२॥
हिक्काश्वासानिलहरो विशेषाद्गौरतित्तिरिः ।
रक्तपित्तहरः शीतो लघुश्चापि कपिञ्जलः ।
कफोत्थेषु च रोगेषु मन्दवाते च शस्यते ॥६३॥

काला तित्तिर किंचित् भारी, उष्ण, मधुर, वृष्य, मेधावर्धक,
अश्लिवर्धक, सर्वदोषनाशक, ग्राही और वर्ण प्रसादन होता है
॥६२॥ गौरा तित्तिर विशेष करके हिचकी, श्वास और वात रोग
का हरण करने वाला है । कर्पिजल रक्तपित्तनाशक, शीतल,
हलका होता है और कफ रोग तथा मन्दवात में प्रशस्त
है ॥६३॥

वातपित्तहरा वृष्या मेधाश्लिवलवर्धनाः ।
लघवः क्रकरा हृद्यास्तथा चैवोपचक्रकाः ॥६४॥
क्रकर पक्षी वातपित्तनाशक, वृष्य, मेधा, अग्नि और बल
को बढ़ाने वाले, हलके तथा हृद्य होते हैं । उपचक्रक (गुण में)
वैसे ही हैं ॥६४॥

कपायः स्वादुलवणस्त्वच्यः केश्योऽरुचौ हितः ।
मयूरः स्वरमेधाश्लिदृक्श्रोत्रेन्द्रियदार्ल्यर्कत् ॥६५॥
मोर कपाय, मधुर और लवण है, त्वचा, केश और अरोचक
के लिये हितकर है, स्वर, बुद्धि, जठराग्नि, नेत्र और कर्ण इनको
दृढ़ता देने वाला है ॥६५॥

स्निग्धोष्णोऽनिलहा वृष्यः स्वेदस्वरबलावहः ।
बृंहणः कुक्कुटो वन्यस्तद्वद्भ्राम्यो गुरुस्तु सः ।
वातरोगक्षयवमीविषमज्वरनाशनः ॥६६॥
वन का मुरगा स्निग्ध, उष्ण, वातनाशक, वृष्य, स्वेदल,
स्वर और बल बढ़ाने वाला तथा शरीरपुष्टिकर होता है ।
गांव का मुरगा वनकुक्कुट की भाँति ही होता है; परन्तु वह
भारी और वातरोग, क्षय, वमन तथा विषम ज्वर का नाश
करता है ॥६६॥

१६ वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। पौष्टिकता की दृष्टि से गेहूँ चावल से बहुत उत्तम है। प्रोटीन, चरबी और खनिज-पदार्थ गेहूँ में चावल से कहींदा प्रमाथ में अधिक होते हैं। इसलिये गेहूँ भारी, बलकारक, त्रिग्ध, स्थिर और संधान-कृत्व होता है। गेहूँ के छिलके (चोंकर) का रासायनिक संगठन देखने से यह मालूम होगा कि उसमें प्रोटीन और खनिज अधिक परिमाण में होने के कारण उसको फेंक देने से हम गेहूँ के पौष्टिक भाग में वंचित हो जाते हैं। इसलिये आटा बहुत धारीक चलनी से छानना अच्छा नहीं। विना छना (सालिम) आटा ही सब से अच्छा होता है। उसमें सेल्युलोज (Cellulose) भी अधिक होता है जो मलावरोध नहीं होने देता। इसलिये गेहूँ 'सर' भी है। सिमिथान्यवर्ग— इस वर्ग के धान्य वनस्पतिशास्त्र में लेग्युमिनोसी (Leguminosae) श्रेणिके हैं। इनमें अन्य वनस्पति द्रव्यों की अपेक्षा प्रोटीन की राशि अधिक होती है। इसको लेग्युमिन (Legumin) कहते हैं। इस कारण से उनको 'तिथेनों का मांस' कहते हैं। परन्तु दाल का प्रोटीन मांस के प्रोटीन की अपेक्षा पचने में भारी होता है। प्रोटीन के अतिरिक्त इनमें पोल्यासि-अम, चूना, गंधक इत्यादि खनिज भी होते हैं। जिनका मुख्य खाद्य चावल है, वे लोग चावल के प्रोटीन और क्षार की कमी को पूरित करने के लिये चावल के साथ दाल का सेवन किया करते हैं। दाल पचने में कठिन होती है और आभ्यान करती हैं। छिलके उत्तरी हुई दाल छिलकेदार की अपेक्षा पचने में हल्की होती है। दाल में प्यूरिन (Purin) नामक द्रव्य भी बहुत होता है। इसलिये वातरक (Gout) के रोगी के लिये दाल का सेवन हानिकारक है। त्रिपुट कलाप (लेंसारी दाल) के सेवन से कमायसज (Lathyrisin) नामक एक प्रकार का अरुस्तंभ होता है। इस दाल के संबंध में कुछ मतभिन्नता दिखाई देती है। नवीन खोज से यह मालूम हुआ है, आकटा (Vicia Sativa) नामक दाल के सेवन से यह रोग होता है।

शुक्र और शिथिलीवर्ग के प्रधान धान्यों का रासायनिक संगठन

	नाम	प्रोटीन	रेश	कार्बोहाइड्रेट	खनिज	जल
व्यक्त	१ गेहूँ	१२.२४	२.१८	७०.९२	२.२०	११.८३
	२ चोंकर (गेहूँ की)	१४.७	३.५	४३.६	१.०	१२.५
	३ चावल	६.८६	०.८	७८.८	१.२३	११.५
	४ गव	८.९२	१.९०	७६.१	२.३	१२.३
	५ मकई	९.५२	४.४४	६८.९	३.७५	११.५
पूरक	१ मूंग	२३.६२	२.६९	५३.४५	३.५०	१०.८०
	२ अरहर	२०.६०	३.३१	५०.२७	५.५	१०.८
	३ मसूर	२५.४०	३.०	५५.३	३.३३	१०.२३
	४ चना	१९.९७	४.३१	५१.१३	३.७२	१०.७
	५ उड़द	२२.३३	१.९५	५५.२२	३.०	
	६ मटर	२१.०	१.८	६१.४	२.६	१३.०

अधोर्ध्व मांसवर्गानुपदेत्यामः ।
 तद्यथा—जलेशया, आनूपा, ग्राम्याः, कव्यभुज एकशफा, जाङ्गलाश्चेति एषामांसवर्गाः । एतेषां वर्गेषामुत्तरोत्तरं प्रधानतमः । ते पुनर्द्विधा— जाङ्गला आनूपाश्चेति । तत्र जाङ्गलवर्गोऽष्टविधः तद्यथा—जङ्गला, विष्कराः, प्रतुदा, गुहाशया, प्रसहाः, पर्णमृगा, विलेशया, ग्राम्याश्चेति । तेषु जङ्गलविष्करो प्रधानतमौ ॥५३॥

अब यहाँ से आगे मांसवर्गों का वर्णन करते हैं। व (उपदेश) हम प्रकार से है—१ जलेशय, २ आनूप, ३ ग्राम्य ४ कव्यभुज, ५ एकशफ, और ६ जांगल ऐसा छः प्रकार के मांसवर्ग हैं। (मांस की दृष्टि से) ये वर्ग एक से एक बढ़क होते हैं। फिर वे (आश्रय के अनुसार) जांगल और आनूप से दो प्रकार के होते हैं। इनमें से जांगलवर्ग आठ प्रकार का होता है। जैसे—१ जंगल, २ विष्कर, ३ प्रतुद, ४ गुहाशय, ५ प्रसह, ६ पर्णमृग, ७ विलेशय, और ८ ग्राम्य । इनमें जंगल और विष्कर प्रधानवर्ग हैं ॥५३॥

वृक्षव्य—मांसवर्ग—मांस के गुणानुरूप बनाने हुए मांसवर्ग । जलेशय—जल में रहने वाले जीवों का वर्ग, यथा—कोयल पविन और मत्स्य । आनूप—जलप्रायमदेशवर्ग प्राणी, यथा—कूलचर और डूब । कव्यभुज—मांसभक्षकप्राणी यथा—गुहाशय और प्रसह । एकशफ—एक खुर के प्राणी यथा—घोड़ा गधा इत्यादि- ग्राम्य और एकशफ दोनों के समावेश जांगलवर्ग के प्रायभेद में होता है। जंगल—प्रयत्न और बलवान् जंघा होने के कारण तेजी से दौड़ने वाले प्राणी विष्कर—पत्तों से कुरेदकर सुगने वाले प्राणी । प्रतुड—तीक से कुरेदकर सुगने वाले पत्नी । प्रसह—अपना भक्ष्य जबरदस्ती से पकड़कर खाने वाले प्राणी । पर्णमृग—हालासृग, वृक्षों पर रहने वाले वातर स्रष्ट प्राणी । चरकसंहिता में इन शब्दों के निरुक्ति दी है—प्रमथ भक्षयन्तीति प्रमथस्तेन सतिना । भूतानां बिलवन्निवादानूपायुष्मशयात् ॥ जले निवासात्तरुना, जलेनवां जलेचरा । स्वरुना जंगला मीक्षा, मृगा जंगलचारिण । विक्षीर्ण विष्कराश्चेति, प्रतुषु प्रतुदा स्तूना ॥ (सूत्र अ. २०) । सुधुत

के प्रयोद्य वर्ग इन आठवर्गों के अन्तर्भूत हैं, यह भी ध्यान रखना देवने से स्पष्ट होगा ।

शुक्र	शुभ्र	धरमठ	
१ जंगलमृगा	१ जंगल	१ मृगा	जांगल वर्ग
२ विष्कर	२ विष्कर	२ विष्कर	
३ प्रतुद	३ प्रतुद	३ प्रतुद	
४ भूमिशय	४ विदेशय	४ विलेशय	साधारण वर्ग
५ प्रसह	५ प्रसह	५ प्रसह	
	६ गुहाशय		
	७ पर्णमृग		
	८ ग्राम्य		

सूत्राः	१ कृष्णवर्णः	६ महाभूतः	मन्थुः मन्थुः
अथः	१० सुतः	९ धरुतः	
द्वितीयः	११ कौटिल्यः	= मन्थुः	
	१२ कौटिल्यः		
	१३ मन्थुः		
	१ मन्थुः		
	२ मन्थुः		

तावन्मन्थुः कुरङ्गकालकृतमाल्पान्नाभश्चन्द्रा-
तचान्कुरङ्गमाल्पान्नाभश्चन्द्रा-
या मन्थुः लघवो वातपित्तहरणांश्च हृत्वा
तशोधनाश्च ॥५१॥

(अन्तर्गतं पणं—) पूज (काला हिम्या), हरिण (ताग्र
ग), कण्य (नीले अंशे काला रंगु मृग), कुरंग (पशु-
वीर्यवृद्धि मृग), कुरंग (त्रिपके द्रवित नीचे को निराले
रसा हिमालयप्रतिपवनेरथ कम्पूरी मृग), हृत्वागाल (मेषान-
पी मृग), गरभ (अष्टक उपमागो मतीश्वरः पृथगपन्तुपणः
को भविः), श्वेदु (शार द्रव का एक मृग भेद),
म (त्रिपके गरभ पर अिप्र विचित्र विदु होने हैं
चित्तक मृग), धारुकर (सुन्दर और छोटे गरभ का
मृग), मृगमातृका (छोटी और भेद पेट वाली हिरनी)
पदि जंघालवर्ण के मृग हैं । ये (अर्थात् हृत्वागाल)
गण, मधुर, हलका, वातपित्तनाशक, नीच, मन को
रकता देने वाले और मृदयिन्चक होने हैं ॥५१॥

कपायो मधुरो हृद्यः पित्तासृक्फणोगदा ।
संप्राही रोचनो बल्यस्तेपामेणो ज्वरापहः ॥५२॥
इनमें पूज (का मांस) कपाय, मधुर, हृद्य, पित्त, कफ
र रक्त रोगनाशक, प्राही, रोचक, बलकारक और ज्वर-
पहक है ॥५२॥

मधुरो मधुरः पाके दोषघ्नोऽनलदीपनः ।
शीतलो बद्धविण्मूत्रः सुगन्धिर्हरिणो लघुः ॥५६॥
ताग्र हरिण (का मांस) मधुर, विपाक में मधुर, दोष-
नाशक, अग्निदीपक, शीतल, मलमूत्रावरोधक, सुगंधि और
हलका होता है ॥५६॥

पणः कृष्णस्तयोर्दोषो हरिणस्ताग्र उच्यते ।
यो न कृष्णो न ताग्रश्च कुरङ्गः सोऽग्निधीयते ॥५७॥
इनमें से कृष्णवर्ण मृग 'पूज' समझना चाहिये, ताग्रवर्ण
को 'हरिण' कहलाता है और जो ताग्रवर्ण या कृष्णवर्ण नहीं
है 'कुरंग' कहलाता है ॥५७॥

शीतोऽसृक्पित्तशमनी विज्ञेया मृगमातृका ।
सन्निपातक्षयश्वासकासहिकाऽरुचिप्रणुत् ॥५८॥
मृगमातृका (का मांस) शीतल, रक्तपित्त, सन्निपात,
ज्वर, श्वास, कास, हिका और अरोचक नाशक समझना
चाहिये ॥५८॥

लावतिस्तिरिक्पिञ्जलवर्तीरवर्तिकावर्तकनप्लुका
पार्तीकचकौरकलविङ्गमयूरककरोपचक्रकुक्कुटसारङ्ग

शनघ्नप्रकृतिस्तिरिक्कुर्यात्कयवालकप्रभृत्तयस्त्र्याहला
विचिकारः ॥५९॥

लघवः शीतमधुराः कपाया दोषताशनाः ॥६०॥
(विचिकार वर्ग—) लघव, तित्तिर (काला नीलर), कपि-
जल (गौरा नीलर), यनीर (घग्घरा), धर्तिक, वर्मक,
नसु, यार्गीव, चकोर, कम्पविश, मयूर, ककर, उपचक्र, कुक्कुट
(सुरगा), श्वरु (पशुवृद्धि) । गणपत्र, कुत्तिपित्त, कुम्भनाहक
कपालक इत्यादि (दोनों पंजे और तीसरी संजु हन) नीली
में कुन्दने वाले (इलाहाह) विचिकारवर्ग के हैं ॥५९॥ ये
विचिकार (वर्म के प्राणी) हलके, शीतल, मधुर, कपाय और
दोषनाशक होने हैं ॥६०॥

संप्राही दीपनश्चैव कपायमधुरो लघुः ।
लावः कटुविपाकश्च सन्निपाते च पूजितः ॥६१॥
लघव पक्षी संप्राही, अग्निदीपक, कपाय, मधुर, हलका,
विपाक में कटु और सन्निपात में प्रयत्न होता है ॥६१॥

ईषदुःस्रग्णमधुरो वृष्यो मेधाशिवर्धनः ।
तित्तिरिः सर्वदोषघ्नो प्राही धर्गप्रसादनः ॥६२॥
द्विष्णाश्वासानिलहरो विशेषाद्दीरतिस्तिरिः ।
रक्तपित्तहरः शीतो लघुश्चापि कपिल्ललः ।
फफोत्थेषु च रोगेषु मन्दवाते च शस्यते ॥६३॥

काला तित्तिर किञ्चित् भारी, उष्ण, मधुर, वृष्य, मेधावर्धक,
अग्निवर्धक, सर्वदोषनाशक, प्राही और वर्ण प्रसादन होता है
॥६२॥ गौरा तित्तिर विशेष करके हिककी, श्वास और वात रोग
का हरण करने वाला है । कपिल्ल रक्तपित्तनाशक, शीतल,
हलका होता है और कफ रोग तथा मन्दवात में प्रयत्न
है ॥६३॥

वातपित्तहरा वृष्या मेधाशिवलवर्धनाः ।
लघवः ककरा हृद्यास्तथा चैवोपचक्रकाः ॥६४॥
ककर पक्षी वातपित्तनाशक, वृष्य, मेधा, अग्नि और बल
को बढ़ाने वाले, हलके तथा हृद्य होते हैं । उपचक्रक (गुण्य में)
वसे ही हैं ॥६४॥

कपायः स्वादुलवणस्त्वच्यः केश्योऽहंचौ हितः ।
मयूरः स्वरमेधासिद्धश्रोत्रेन्द्रियदार्यरुत् ॥६५॥
गौर कपाय, मधुर और लवण है, त्वचा, केश और अरोचक
के लिये हितकर है, स्वर, बुद्धि, जठराग्नि, नेत्र और कर्ण इनको
दृढ़ता देने वाला है ॥६५॥

क्षिगधोष्णोऽनिलहा वृष्यः स्वेदस्वरवलावहः ।
बृंहणः कुक्कुटो घन्यस्तद्भ्राम्यो गुरुस्तु सः ।
वातरोगक्षयवमीविषमज्वरनाशनः ॥६६॥
घन का सुरगा क्षिगध, उष्ण, वातनाशक, वृष्य, स्वेदल,
स्वर और बल बढ़ाने वाला तथा शरीरबुद्धिकर होता है ।
गांव का सुरगा घनकुक्कुट की भाँति ही होता है; परन्तु वह
भारी और वातरोग, ज्वर, घमन तथा विषम ज्वर का नाश
करता है ॥६६॥

घक्तव्य—आज कल अंडे के सेवन का प्रचार बहुत बढ़ गया है। प्रायः मुरगी के अण्डे का प्रचार अधिक है, परन्तु वहीं कहीं भिन्न भिन्न बत्तकों के तथा समुद्रपशियों के अण्डे भी सेवन किये जाते हैं। दूध के अतिरिक्त रास्य द्रव्यों में अण्डे के समान पौष्टिक दूसरा द्रव्य नहीं है। कार्बोहायड्रेट की छोड़कर अण्डे में आहार के सभे उपादान पाये जाते हैं। अण्डे में प्रोटीन, चरबी और क्याल्सियम, फास्फोरस, वीह, पोत्यासिअम इत्यादि रसिज बहुत परिमाण में होते हैं, और ऐसे रूप में रहते हैं कि उनका पाचन और शोषण अत्यन्त सहज में होता है। यह पाया गया है कि उसके ९५ प्रतिशत भाग का शोषण होता है। पौष्टिकता कि दृष्टि से मुरगी का एक अण्डा आध पाव दूध के बराबर होता है। पचनसुलभ होने के कारण इससे ग्रीष्म स्फूर्ति उत्पन्न होती है। इससे यूरिक अम्ल (Uric Acid) उत्पन्न न होने के कारण वातरक्त के (Gout) रोगियों के लिये यह फायदा करता है। यदि उत्तम अण्डे का सेवन किया जाय तो मांस वर्ण के सब खाद्य द्रव्यों में अण्डा सब से अधिक सुरक्षित समझना चाहिये। क्योंकि मनुष्यों पर सकामित होने वाला मुरगी का कोई भी रोग नहीं है, न रोगों के जीवाणुओं को अण्डा फैलाना है तथा न उसमें कोई स्वास्थ्याहानिकारक गुण पाये जाते हैं। सन्तान में अभी तक कोई संक्रामक रोग का पता नहीं चला है जो अण्डे के सेवन से मनुष्यों में सकामित होता है। चरकसंहिता में अण्डों के गुणधर्म इस प्रकार वर्णन किये हैं—भारतगृहचक्रोपांग दशार्णा शिषिनामि। चटवाना च यानि स्युरण्डानि च दिनानि च ॥ रेतःशीघ्रं कस्तुपु द्व्येगेपु क्षतेपु च । मधुगणविपाक्षेनि सचोन्नक्तपणि च ॥ (सूत्र अ २०)।

कपोतपारावतभृङ्गराजपरभृतकोयष्टिककुलिङ्ग-
गृहकुलिङ्गगोक्षेडकाडिरिडमाण्यकशतपत्ररुमात्-
निन्दकमेदाशिनुकसारिकायन्गुलीगिरिदालद्वाप्रदूप-
कसुगृहीषञ्जरीटदारीतदात्युहप्रभृतयः प्रतुदाः ॥६७॥

(प्रतुद्वर्ग—) कपोत, पारावत (कव्तर के दो भेद), भृङ्गराज, परभृत (कीकिला), कोयष्टिक (डिट्टिरी या क्रॉच पक्षी), कुलिङ्ग (रान पीड़ा), गृहकुलिङ्ग (गांव चिड़िया), गोक्षेडक (गोखेड पक्षी), चिण्डिमाखबक, शनपत्रक (राज-
शूक), मान्निन्दक, भेदागी, शुक (तीता) सारिका (मैना), वल्लो, गिरिया, लड्डा, अन्नदूपक, सुगृही, खज-
रीट (खजन), दारीत, दात्युह प्रभृति प्रतुद्वर्ग के हैं ॥६७॥

कपायमधुरा कृत्वाः फलाहारो मरुत्करा ।

पिचसत्सेम्भराः शीता यज्जमूत्रारपनर्चसः ॥६८॥

(ये प्रतुद्वर्ग के पक्षी सामान्यतया) कपाय, मधुर, ह्य, फलों का आहार करने वाले, वातकर, पित्त और श्लेष्म नाशक, शीतल, मूत्र को बढ़ करने वाले और अल्पमल उत्पन्न करने वाले हैं ॥६८॥

सर्षदोषकरस्नेपां भेदाशी मलदूपकः ।

कपायस्मादुल्लवणो गुरुः काणकपोतकः ॥६९॥

रक्तपिसप्रशमनः कपायचिदादोऽपि च ।

विपाके मधुरश्चापि गुरुः पारावतः स्मृतः ॥७०॥

कुलिङ्गो मधुरः क्षिग्धः कफगुणयिबर्धनः ।

रक्तपित्तहरो वेदमकुलिङ्गस्ववतिगुणकलः ॥७१॥

इनमें मे भेदाशी पक्षी (वातादि) शोषणक और मल का दूपक है। कपोत पक्षी कपाय, मधुर, लवण और भ ॥६९॥ पारावत पक्षी रक्तपित्त शांत करने वाला, कफ विनाशक, विपाक में मधुर और भारी है ॥७०॥ कुलिङ्ग मधु शिथ, कफकर, गुणवर्धन और रक्तपित्तनाशक है। गृहकुलिङ्ग अथत वीथ उत्पन्न करने वाला है ॥७१॥

मिहृत्पात्रवृत्तनरश्चृजडीपिमाजार्त्तपालमृत्
वीहकप्रभृतयो गुहाशयाः ॥७२॥

(गुहाशयवर्ग—) विह, ब्यात्र, वृक (मेडिया), तल (शुक्रशयुष्यांशविशेष), ऋत्र (रीठ), द्वीपि (चीता) माजोर (रानचिल्लाव), श्याल (मीटड), सुग्वीच प्रभृति गुहाशय (पंचन की गुहा में रहने वाले) प के हैं ॥७२॥

मधुरा गुरुवः क्षिग्धा यस्या मारुतनाशनाः ।

उष्णवीर्यां हिता नित्यं नेत्रगुणविकारिणाम् ॥७३॥

(ये गुहाशयवर्ग के प्राणी सामान्यतया) मधुर, गुरु क्षिग्ध, क्लकारक, वातनाशक, उष्णवीर्य और नेत्र के तप सुशोभित्व के विकारों से पीड़ितों के लिये हितकर हैं ॥७३॥

काककङ्कुररचाग्रभासशशायागुलुकचिह्निर्ये

नशुभ्रप्रभृतयः प्रसहाः ॥७४॥

एते सिंहादिभिः सर्वे समाना वायसादयः ।

रसवीर्यविपाकेषु विशेषच्छोषिणे हिताः ॥७५॥

(प्रसहवर्ग—) काक (काग), कङ्क, कुरर, चाप, भापि, शशाघानी, उल्लक (उल्ल), चिह्नी (चील), इयन (बाज), गृध्र (गोघ), प्रभृति प्रसह (गिकारी पक्षी) हैं ॥७४॥ ये काकादि (प्रसहवर्ग के पक्षी) रस, वीर्य और विपाक में सिंहादि के समान होते हैं और राजयक्ष्मा विकार वाली को विशेष करके हितकर हैं ॥७५॥

महमूषिकवृल्लशायाकवृशपृतिघासवानप्रभ
तयः पर्येष्टमाः ॥७६॥

मधुरा गुरुवो वृष्याश्चक्षुष्याः शोषिणे हिताः ।

उष्टमूत्रपुरीपाश्र्व कासाशीः श्वासनाशनाः ॥७७॥

(पशुशृगवर्ग—) महामूषिक (एक प्रकार का वृक्षांशु-
धर्षी सर्प), वृक्षयायिका (गिलहरी), अन्नकुश (बाजर का एक प्रकार), पृतिघास (वृक्षचिल्लाव), वाजर प्रभृति पशु शृगवर्ग के हैं ॥७६॥ (ये पशुशृगवर्ग के प्राणी सामान्यतया) मधुर, भारी, वृष्य, नेत्रों को हितकर, राजयक्ष्मा के लिये हितकर, मल और मूत्र को सुलभ कर निकालने वाले, सांसी, अग्नि और श्वास इनके नाशक हैं ॥७७॥

श्वायिच्छल्यकगोधाशशुषुपदशलोपाकलोमग-

गमित्रिकाजगरस्पर्शमूषिकनकुलमहायधु-
शेषायाः ॥७८॥

संहतं कुर्युरेते
ये चोष्णाः पूर्ववत् स्वादुपाकाः ।

युः श्लेष्मपित्ते च कुर्युः
क्षरधाः कासश्वासकाश्यापहाश्च ॥७९॥
वर्ग— श्वावित् (सेही), शल्यक, गोधा
I (खरगोश), वृषदंश (रान का बिलाल),
गोमडी), लोमणकर्ण, कदली, मृगप्रियक
जगर, सर्प, मूषिक (चूहे), नकुल (नेवला),
हूलभेद) प्रभृति विशेष्यवर्ग के हैं ॥७८॥ ये
ने वाले जीव साधारणतया) मलमूत्रसंग्राहक,
मृग की भाँति (पूर्ववत्) विपाक में मधुर,
पेक्तकफकर, स्निग्ध, कास, श्वास और कृमता को
रहे हैं ॥७६॥

पुरस्तेषां शशः पित्तकफापहः ।
तलवीर्यत्वाद्वातसाधारणो मतः ॥८०॥
पाके मधुरा कषायकटुका स्मृता ।
प्रशमनी वृंहणी बलवर्धनी ॥८१॥
स्वादुपित्तघ्नो लघुः शीतो विपापहः ।
मारुते पथ्योऽजगरस्त्वर्शसां हितः ॥८२॥
नेलदोषघ्नः कृमिदूषीविपापहाः ।
मधुराः पाके सर्पा मेधाश्लिवर्धनाः ॥८३॥
दीपकाश्च तेपृक्ताः कटुपाकिनः ।
शतिचक्षुष्याः सृष्ट्रविषमूत्रमारुताः ॥८४॥

(खरगोश का मांस) कषाय, मधुर और पित्तकफ-
तथा वीर्य में अतिशीतल न होने से न वात का
ता है, न प्रयम करता है ॥८०॥ गोधा (गोह का
वेपाक में मधुर, (रस में) कषाय और कटु,
आमक, शरीरपुष्टिकर और बल बढ़ाने वाली है
लक मधुर, पित्तनाशक, हलका, शीतल और विप-
। प्रियक वात रोगों के लिये पथ्यकर है । अजगर
लिये हितकर है ॥८२॥ साँप अर्थात्, वातदोष,
रूपी विष इनका नाशक, नेत्र के लिये हितकर,
मधुर और बुद्धि तथा जठराग्निवर्धक हैं ॥८३॥
वर्षाकर (फण वाले साँप) और राजिमन्त
विपाक में कटु, मधुर, नेत्र के लिये विशेष हितकर
मूत्र सुल के निकालने वाले हैं ॥८४॥

श्वाश्वतरगोखरोपूवस्तोरभ्रमेदःपुच्छकप्रभृत-
श्याः ॥८५॥

वातहराः सर्वे वृंहणाः कफपित्तलाः ।
रसपाकाभ्यां दीपना बलवर्धनाः ॥८६॥

वर्ग— अश्व (घोड़ा), अश्वतर (खच्चर,
गधा इनसे उत्पन्न हुआ), गो (गाय), खर

(गधा), उष्ट्र (ऊँट), बस्त (बकरा), उरभ्र (मेंढा),
मेदःपुच्छ (दुग्धा या पुष्टक) प्रभृति ग्राम्यवर्ग के हैं ॥८५॥
ये सर्वे (ग्राम्यवर्ग के प्राणी साधारणतया) वातनाशक,
शरीरपुष्टिकर, कफपित्तकारक, रस और विपाक में मधुर,
अग्निदीपक और बल बढ़ाने वाले हैं ॥८६॥

नातिशीतो गुरुः स्निग्धो मन्दपित्तकफः स्मृतः ।
छगलस्त्वनभिष्यन्दी तेषां पीनसनाशनः ॥८७॥
वृंहणं मांसमौरभ्रं पित्तश्लेष्मावहं गुरु ।
मेदःपुच्छोद्भवं वृष्यमौरभ्रसदृशं गुरुं ॥८८॥
श्वासकासप्रतिश्रययविषमज्वरनाशनम् ।
श्रमात्यग्निहितं गव्यं पवित्रमनिलापहम् ॥८९॥
औरभ्रवत्सलवणं मांसमेकशफोद्भवम् ।

इन ग्राम्य पशुओं में से बकरी (का मांस) अति शीतल
नहीं है, भारी, स्निग्ध, अल्पपित्तकफोत्पादक, अन्तभिष्यन्दी
और पीनसनाशक है ॥८७॥ मेंढे का मांस शरीरपुष्टिकर,
पित्तकफोत्पादक और भारी है । पुष्टके का मांस वृष्य और मेंढे
के समान गुण वाला है ॥८८॥ गौ का मांस श्वास, खाँसी,
जुकाम, विषम ज्वर इनका नाशक, थके माँदे अवस्था में और
भस्मक रोग में हितकर, पवित्र और वायुनाशक है ॥८९॥ एक
सुर वाले प्राणियों का मांस मेंढे के मांस के समान गुणकारी
और नमकीन है ।

अल्पाभिष्यन्धयं वर्गो जाङ्गलः समुदाहृतः ॥९०॥
दूरे जनान्तनिलया दूरे पानीयगोचराः ।
ये मृगाश्च विहङ्गाश्च तेऽल्पाभिष्यन्दिनो मताः ॥९१॥
अतीवासन्ननिलयाः समीपोदकगोचराः ।
ये मृगाश्च विहङ्गाश्च महाभिष्यन्दिनस्तु ते ॥९२॥

यह जांगल जीवों का वर्ग अल्पाभिष्यन्दी होता है ॥९०॥
जो मृग, पक्षी (तथा जांगल वर्ग के अन्य जीव) मनुष्यों की
वस्ती से तथा जल से दूर निवास करते हैं वे अल्प अभिष्यन्द
उत्पन्न करने वाले होते हैं ॥९१॥ और जो मृग और पक्षी मनुष्य
वस्ती के तथा जल के अत्यन्त समीप निवास करते हैं वे
अत्यन्त अभिष्यन्द उत्पन्न करने वाले होते हैं ॥९२॥

आनूपवर्गस्तु पञ्चविधः । तद्यथा—कूलचराः,
प्लवाः, कोपस्थाः, पादिनो, मत्स्याश्चेति ॥९३॥

आनूप (जल युक्त प्रदेश में रहने वाले जीवों का) वर्ग
पाँच प्रकार का है । जैसे—१ कूलचर (जल किनारे पर विचरने
वाले), २ प्लव (पानी पर तैरने वाले जीव), ३ कोपस्थ
(शंख, सीपी इत्यादि कोश में रहने वाले जीव), ४ पादिन
(पैरों वाले जीव यथा मेंढक), ५ और मत्स्य ॥९३॥

तत्र गजगवयमहिषरुचमरुमररोहितैवराह-
खङ्गिगोर्णकालपुच्छकोद्भ्यङ्कररयगवयप्रभृतयः
कूलचराः पशवः ॥९४॥

वातपित्तहरा वृष्या मधुरा रसपाकयोः ।
शीतला बलिनः स्निग्धा सूत्रलाः कफवर्धनाः ॥९५॥

१ जनात्, २ रोहिष,

चक्रवर्त्य—आज बल अडे के सेवन का प्रचार बहुत बढ़ गया है। प्रायः सुरगी के अण्डे का प्रचार अधिक है; परन्तु वहीं कहीं भिन्न भिन्न बतकों के तथा समुद्रपत्तियों के कावेहायडेट खाने जाते हैं।

अण्डे में प्रोटीन, चर्बी और क्यालिजम, फास्फरस, लोह, पोटासियम इत्यादि खनिज बहुत परिमाण में होते हैं, और ऐसे रूप में रहते हैं कि उनका पाचन और शोषण अत्यन्त सहज में होता है। यह पाया गया है कि उसके ९५ प्रतिशत भाग का शोषण होता है। पीछरुता कि दृष्टि से सुरगी का एक अण्डा आध पाव दूध के बराबर होता है। पचनसुलभ होने के कारण इससे शीघ्र स्फूर्ति उत्पन्न होती है। इससे यूरिक अम्ल (Uric Acid) उत्पन्न न होने के कारण वानरक के (Gout) रोगियों के लिये यह फायदा करता है। यदि उत्तम अण्डे का सेवन किया जाय तो मास वर्ग के सब खाद्यद्रव्यों में अण्डा सब से अधिक सुरक्षित समझना चाहिये। क्योंकि मनुष्यों पर संक्रामित होने वाला सुरगी का कोई भी रोग नहीं है, न रोगों के जीवाणुओं को अण्डा बिलानता है तथा न उसमें कोई स्वास्थ्यहानिकारक गुण पाये जाते हैं। सन्तान में अभी तक कोई संक्रामक रोग का पता नहीं चला है जो अण्डे के सेवन से मनुष्यों में संक्रामित होता है। चरकसंहिता में अण्डों के गुणधर्म इस प्रकार वर्णन किये हैं—भानैराष्ट्रकोरणां दशाया शितिनानामि । चटकानां च यानि स्युण्ठानि च दिनानि च ॥ रेत शीघ्रेण वासेतु ह्येगेणु क्षतेषु च । मधुराण्यविपातीनि सत्तोबलकरानि च ॥ (सूत्र. अ. २०) ।

कपोतपारावतभृङ्गराजपरभृतकोयष्टिककुलिङ्ग- गृहकुलिङ्गगोह्वेडकडिण्डिममाण्वकशतपत्रकमातृ- निन्दकमेदाशिशुकसारिकावल्लुगीगिरिदालद्वाभद्रूप- कसुगृहीखज्जीटदारीतदात्पूहप्रभृतयः प्रतुदाः ॥६७॥

(प्रतुदवर्ग—) कपोत, पारावत (कबूतर के दो भेद), भृङ्गराज, परभृत (कोकिला), कोयष्टिक (टिटिहरी या कौंच पक्षी), कुलिङ्ग (रान चीड़ा), गृहकुलिङ्ग (गाव चिड़िया), गोह्वेडक (गोनर्द पक्षी), डिण्डिमाण्वक, शतपत्रक (राज- मूक), मातृनिन्दक, मेदागी, शुक (तोता) सारिका (मैना), वल्लुनी, गिरिया, लड्डा, अन्नदूषक, सुगृही, खज- जीट (खजन), हारीत, दात्पूह प्रभृति प्रतुदवर्ग के हैं ॥६७॥

कपायमधुरा रूक्षाः फलाहार मरुत्कराः ।
पित्तश्लेष्महराः शीता बद्धमूधात्वयर्चसः ॥६८॥

(ये प्रतुदवर्ग के पक्षी सामान्यतया) कपाय, मधुर, स्त्र, फलों का आहार करने वाले, बानकर, पित्त और श्लेष्म नाशक, शीतल, मूय को बंद करने वाले और अरणमल उत्पन्न करने वाले हैं ॥६८॥

सर्वेद्रोषकरस्तेषां मेदाशी मलदूषकः ।
कपायस्वादुलक्षणी गुरुः काणकपोतकः ॥६९॥

रक्तपित्तप्रशमनः कपायविशदोऽपि च ।
विपाके मधुरश्चापि गुरुः पारावतः स्मृतः ॥७०॥
कुलिङ्गो मधुरः क्षिग्धः कफशुक्रविवर्धनः ।
रक्तपित्तहरो वैद्यमकुलिङ्गस्त्वतिशुकलः ॥७१॥

इनमें से मेदाशी पक्षी (वानादि) दोषजनक और मलार्थ का दूषक है। कपोत पक्षी कपाय, मधुर, लवण और भास है ॥६९॥ पारावत पक्षी रक्तपित्त शांत करने वाला, कपाय क्षिग्ध, विपाक में मधुर और भारी है ॥७०॥ कुलिङ्ग मधुर क्षिग्ध, कफकर, शुक्रवर्धन और रक्तपित्तनाशक है। गृहकुलिङ्ग अत्यन्त वीर्य उत्पन्न करने वाला है ॥७१॥

सिंहव्याघ्रवृकनरहृत्सुक्ष्मीपिमाजोरृग्गालमृगो-
यारकप्रभृतयो गुहासयाः ॥७२॥

(गुहागवर्ग—) सिंह, व्याघ्र, वृक (भेड़िया), तपु (शृङ्गगुर्व्यांश्रिगोषः), भ्रूव (रीउ), द्वीपि (चीता) माजोर (रानबिल्लव), शृगाल (गीदह), मृगवर्ग प्रभृति गुहाय (पर्वत की गुहा में रहने वाले) हैं के हैं ॥७२॥

मधुरा गुरुवः क्षिग्धा बल्या मास्तनाशना ।
उष्णवीर्या हिता नित्यं नेत्रगुह्याधिकारिणाम् ॥७३॥
(ये गुहागवर्ग के प्राणी सामान्यतया) मधुर, गुरु क्षिग्ध, बलकारक, वातनाशक, उष्णवीर्य और नेत्र के तथा गुह्येन्द्रिय के विकारों में पीड़ितों के लिये हितकर हैं ॥७३॥

काककङ्कुररुचामासशशाघात्युलकचिह्निर्ये-
नगृध्रप्रभृतयः प्रसहाः ॥७४॥

पते सिंहादिभिः सर्वे समाना वायसाद्यः ।
रसवीर्यविपाकेषु विशेषाच्छोषिणे हिताः ॥७५॥

(प्रसहवर्ग—) काक (काग), कङ्कुर, जुरर, घाघ, भास, शशाघाती, उलक (उल्लू), चिह्नी (चील), श्वेन (बाज), गृध्र (गीध) प्रभृति प्रसह (गिकारी पक्षी) हैं ॥७४॥ ये काकादि (प्रसहवर्ग के पक्षी) रस, वीर्य और विपाक में सिंहादि के समान होते हैं और राजपदमा विकार वालों को विशेष करके हितकर हैं ॥७५॥

महुमृषिकवृत्तशायिकावकुशपूतिघासधानरप्रभृ-
तयः पर्णमृगाः ॥७६॥

मधुरा गुरयो वृष्याश्चभृष्याः शोषिणे हिताः ।
शृष्टमृत्रपुरीपाश्च कासाशोःश्वासनाशनाः ॥७७॥

(पर्णमृगवर्ग—) महुमृषिक (एक प्रकार का वृक्षा- धयी सर्प), वृष्यायिका (गिलहरी), अवकुश (बानर का एक प्रकार), पूतिघास (वृत्तबिल्व), धानर प्रभृति पर्ण- मृगवर्ग के हैं ॥७६॥ (ये पर्णमृगवर्ग के प्राणी सामान्यतया) मधुर, भारी, वृष्य, नेत्रों को हितकर, राजपदमा के लिये हितकर, मल और मूत्र को सुलभ निकालने वाले, सांसी, अर्थ और श्वास हलके नाशक हैं ॥७७॥

क, किञ्चि उष्ण और वायुनागक है । श्वेत कंकटा जोड़ने वाला, मलमूत्र को सुलकर निचानने वाला तपित्तनाशक है ॥१११॥

गस्तु द्विविधा नादेयाः सामुद्राश्च ॥११२॥

मस्य—) मस्य दो प्रकार के होते हैं, एक नदियों व और दूसरे समुद्रों के मस्य ॥११२॥

अ नादेयाः—रोहितपाठीनपाटलागजीववर्मि-
स्यकृष्णमन्स्यवागुञ्जारमुलसहस्रदंष्ट्रमधुरयो
ः ॥११३॥

॥ मधुरा मत्स्या गुरवो मारुतापहाः ।

पेत्तकराश्चोष्णा वृष्याः स्निग्धाल्पवर्चसः ॥११४॥

नादेय मस्य—) उनमें से रोहित, पाठीन, पाटला, वर्मि, गोमस्य, कृष्णमस्य, वागुञ्जार, मुल, सहस्र-
वृत्ति नदियों के मस्य हैं ॥११३॥ नदियों के मस्य, मधुर,
वायुनाशक, रक्तपित्त उपशान करने वाले, उष्ण, वृष्य,
और अल्पमल उत्पन्न करने वाले होते हैं ॥११४॥

नः श्लेष्मलो वृष्यो निद्रालुः पिशिताशनः ।

द्रक्तपित्तं तु कुष्ठरोगं करोत्यसौ ।

श्लेष्मलो वृष्यः स्तन्यश्लेष्मकरस्तथा ॥११५॥

यानुरसस्तेषां शण्पशैवालभोजनः ।

श्लो मारुतहरो नात्यर्थं पित्तकोपनः ॥११६॥

पाठीन मस्य कफकर, वृष्य, निद्राजनक और मांसाहारी
(रक्तपित्त (या अम्लपित्त) दूषित करके कुष्ठरोग भी
करता है । मूल मस्य शरीर पुष्टिकर, वृष्य और स्तन्य (दूध)
कफ बढ़ाने वाला है ॥११५॥ उनमें से रोहित मस्य तृण
शैवाल खाने वाला है, अनुरस में कषाय है, वायुनागक
गौर पित्त को अधिक प्रकृषित नहीं करता है ॥११६॥

वक्तव्य—कुष्ठरोगं करोति—आगे १२२वें श्लोक का
व्य देखो । रोहित—चरक और वाग्भट के अनुसार रोहित
य मस्यों में सर्वश्रेष्ठ होता है—रोहितो मत्स्यानाम् । (चरक) ।
रोहितगोषणाः स्वे स्वे वर्गे वराः परम् । (अष्टांगहृदय) ।

स्तडागसंभृताः स्निग्धाः स्वादुरसाः स्मृताः ।

शह्वेषु चलिनः, खल्पेऽम्भस्यत्रलाः स्मृताः ॥११७॥

सरोवर तथा तालाव में उत्पन्न हुए मस्य स्निग्ध और रस
मधुर होते हैं । जिनमें पानी का संचय भारी हो ऐसे जला-
में उत्पन्न हुए मस्य अनिगय बल देने वाले होते हैं; और
समें पानी का संचय अल्प हो ऐसे जलागय के मस्य अल्प
बल देने वाले होते हैं ॥११७॥

तिमितिमिङ्गलकुलिशपाकमत्स्यनिरुलरुनन्दि-
रलकमकरगर्गरकचन्द्रकमहामीनराजीवप्रभृतयः

सामुद्राः ॥११८॥

सामुद्रा गुरवः स्निग्धा मधुरा नातिपित्तलाः ।

ोष्णा वातहरा वृष्या वर्चस्याः श्लेष्मवर्धनाः ॥११९॥

लावहा विशेषेण मांसाशित्वात् समुद्रजाः ।

(सामुद्रमस्य—) तिमि, तिमिगल, कुलिया, पाकमस्य,
निरुलक, नन्दिनारलक, मकर, गर्गरक, चन्द्रक, महामीन,
राजीव इत्यादि समुद्रवासी मस्य हैं ॥११८॥ समुद्र के मस्य
(सामान्यतया) भारी, स्निग्ध, मधुर, पित्त का अधिक
प्रकोप न करने वाले, उष्ण, वातनाशक, वृष्य, विष्टाकारक और
कफवर्धक होते हैं ॥११९॥ ये समुद्र के मस्य ('मास्यन्याय'
के अनुसार अन्य छोटी मछलियों का) मांस सेवन करने वाले
होने से विशेष करके बलकारक होते हैं ।

समुद्रजेष्यो नादेया वृंहणत्वाद्गुणोत्तराः ॥१२०॥

तेषामप्यनिलघ्नत्वाच्चौण्ड्यकौष्यौ गुणोत्तरौ ।

स्निग्धत्वात्स्वादुपाकत्वात्तयोर्वाप्या गुणाधिकाः १२१

समुद्रवासी मस्य की अपेक्षा नदीवासी मस्य वृंहण होने
से अधिक गुणकारी होते हैं ॥१२०॥ उन (नादेय मत्स्यों) में
भी सुंड़ी और कृप के मस्य वातनाशक होने से गुण में अधिक
होते हैं । सुंड़ी और कृप के मत्स्यों में कृप के मस्य स्निग्ध
और विपाक में मधुर होने से अधिक गुणकारी होते हैं ॥१२१॥

नादेया गुरवो मध्ये यस्मात् पुच्छास्यचारिणः ।

सरस्तडागजानां तु विशेषेण शिरो लघु ॥१२२॥

अदूरगोचरा यस्मात्तस्मादुत्सोदपानजाः ।

किञ्चिन्मुक्त्वा शिरोदेशमत्यर्थं गुरुवस्तु ते ॥१२३॥

अथस्तादुरयो शेषा मत्स्याः सरसिजाः स्मृताः ।

उरोविचरणात्तेषां पूर्वमङ्गं लघु स्मृतम् ॥१२४॥

जो कि नदीवासी मस्य पूँड़ और मुख से चलायमान
होते हैं, इसलिये उनका मध्य भाग (धड़) भारी होता है
(और पूँड़ तथा मुख हलका होता है) । सरोवर और तालाव
के मत्स्यों का सिर विशेष करके हलका होता है ॥१२२॥ अति
दूर तक विचरने वाले न होने के कारण पर्वत के झरने के
मस्य, सिर का कुछ भाग छोड़कर, भारी होते हैं ॥१२३॥
सरोवर की मछली (छाती के) नीचे भारी होती हैं, क्योंकि
छाती से चलायमान होने के कारण उनका पूर्व भाग (छाती
से सिर तक) हलका होता है ॥१२४॥

वक्तव्य—मछली एक पौष्टिक खाद्य है । मछली में
प्रोटीन अधिक होते हैं, चरबी कम होती है; और कार्बोहाय-
ड्रेट तथा खनिज अत्यल्प होते हैं । मछलियाँ कई प्रकार की हैं,
परन्तु चरबी के प्रमाण के अनुसार इसके दो मुख्य भेद किये
जाते हैं—कृश और स्थूल । कृश मछली वह है जिसमें चरबी
का प्रमाण २ प्रतिशत तक होता है । जिसमें २-५ प्रतिशत
या इससे भी अधिक चरबी होती है वह स्थूल कहलाती है ।
साधारणतया मछलियों का पाचन मांस की अपेक्षा शीघ्र
होता है, तथा उनका गोष्या भी ६५ प्रतिशत होता है । मोटी
मछली, जिनमें चरबी का प्रमाण अधिक होता है, देर से पचती
है परन्तु उससे काफी शक्ति मिलती है । जिनका मुख्य अन्न
चावल है उनके लिये चावल के साथ मछली का सेवन बहुत
उपकारी होता है, क्योंकि मछली से चावल की प्रोटीन की कमी
पूरी हो जाती है । मछली के सेवन में दूसरा फायदा यह है

१ अनिरालक०

१ तेभ्यश्चाप्यनिलघ्नत्वात्, २ ताभ्यां

(कूलचर—) गज (हाथी), गवय (नील गाय), महिष (भैसा), रूह (एक प्रकार का मृग), चमर (वन गाय जिसकी पुच्छ से चौरी बनती है), समर, राहित, वराह (सूकर), खड्गि (गडा), गाकर्ण (मृगभेद), काल पुच्छक, उद (जलशिलाव या उदकिलाव), म्वडकु (अनेक मींग का मृगभेद), अरारणवय (गवयभेद) प्रभृति कूलचर (बाँके) पशु हैं ॥६४॥ ये (कूलचर पशु सामान्यतया) वातपित्तनाशक कृप, रम और विपाक में मधुर, शीतल, बलवर्धक छिग्ध, मूल और ककषधेक है ॥६५॥

विरुक्षणी लेखनश्च धीर्योऽप्य पिच्छदूपण ।
स्वाह्मल्लवणस्तेषा गज श्लेष्मानिलापह ॥६६॥
गवयस्य तु मास हि छिग्ध मधुरकासजित् ।
निपाके मधुर चापि व्यवयस्य तु घर्धनम् ॥६७॥
छिग्धोऽप्यमधुरो वृष्यो महिषस्तर्पणो गुरु ।

निद्रापुस्त्यवलस्तन्यवर्धनो भासदाढ्यष्ट ॥६८॥
इनमें हाथी (का मांस) विरुक्षण, लेखन (शरीर कृगकारक), उष्णवीर्य, पित्तदूषक, (रम में) स्वादु आम्ल, लवण और कक तथा वायुनाशक है ॥६६॥ गवय का मांस छिग्ध मधुर, कासहर, विपाक में मधुर और मधुतृणिकी को बढ़ाने वाला है ॥६७॥ भस (का मांस) छिग्ध, उष्ण, मधुर, कृष्य तृप्तिकारक भारी निद्रा, पुस्त्य, बल और स्तन्य बढ़ाने वाला तथा मांस को हट करने वाला है ॥६८॥

दरोर्मासं समधुर कषायानुरस स्मृतम् ।
वातपित्तोपशमन गुरु शुक्रवियर्धनम् ॥६९॥
तथा चमरमासं तु छिग्ध मधुरकासजित् ।
विपाके मधुर चापि वातपित्तप्रणाशनम् ॥७०॥
सृमरस्य तु मासं च कषायानुरस स्मृतम् ।
वातपित्तोपशमन गुरु शुक्रवियर्धनम् ॥७१॥

रु का मांस मधुर, अनुरस में कषाय वातपित्तविनाशक, भारी और शुक्र बढ़ाने वाला है ॥६९॥ उसी प्रकार चमर का मांस छिग्ध मधुर, काननाशक, विपाक में मधुर और वातपित्तनाशक है ॥७०॥ सृमर का मांस अनुरस में कषाय, वातपित्तनाशक भारी और शुक्र बढ़ाने वाला है ॥७१॥

स्वेदनं घृहण वृष्य शीतल तर्पण गुरु ।
धमानिलहर छिग्ध धाराह पलवर्धनम् ॥७२॥
कफप्र खड्गिपिशित कषायमनिलापहम् ।
पिड्य पविप्रमायुष्य यद्धमूत्र विरुक्षणम् ॥७३॥
गोवर्णमास मधुरं छिग्ध मृदु कफायहम् ।
विपाके मधुर रत्नेपित्तविनाशनम् ॥७४॥

मूत्र का मांस मधुरजनक शरीरदृष्टिकर कृष्य, शीतल तृप्तिकारक, भारी, धम और वायुनाशक, छिग्ध और बल बढ़ाने वाला है ॥७२॥ गेह का मांस कफनाशक, कषाय काननाशक, पिपाक (भास में) हितकर, पवित्र, वायुवर्धक मूत्रप्रदायक और विरुक्षण है ॥७३॥ गाव्य का मांस

मधुर, छिग्ध, किंचित् कफकारक, विपाक में मधुर रत्नेपित्तनाशक है ॥७४॥

काकोनालकाम्बुकुम्भटिका मेघरावश्वेतवारलेप्र
श्रवा सघातचारिण ॥७०॥

रक्तपित्तहरा शीता छिग्धा वृष्या मरुजितः ।
सृष्टमूत्रपुरीयाश्च मधुरा रसपाकयो
शुक्रणामधुर छिग्ध स्वरवर्धणलप्रद ।
घृहण शुक्रलस्तेषा हसो वातविकारानुत् ।

(श्व—) हम सारय, क्रांच, चक्रनाक (चकरी), कुरर कादम्ब (कलहस), कारणश्व (श्व का भेद), जीवंजीवक (एक प्रकार का पक्षी है जो देश में से म्लानियुक्त या मृत होता है । अन्न में विष की स्थिति जानने क लिय पुराने जमाने में राजे लोग रखते थे । इह एव चास्मिन् मित्रे जीवजीवतो रक्षयति श्रेष्ठांगमप्रह ।), बक, बलाका (बकभद्र), पुण्डरीक (भेद), श्व शरारीमुख, नदीमुख मद्यु (जलकार उक्तांग (कुररभेद) काचाक्ष, महिकाक्ष, शुक्राक्ष, उ मायिका, कानालक अम्बुकुम्भटिका मेघराव श्वेतवराय प्र श्व सय बनाकर विचरने वाले हाते हैं ॥७०॥ ये (श्व के पक्षी सामान्यतया) रक्तपित्तनाशक, शीतल ति कृष्य, वायुनाशक मनमूत्र का सुलकर निकालने वाले और विपाक में मधुर होते हैं ॥७१॥ उनमें से इस उष्ण, मधुर, तिग्ध, रस, बाँके बल दन वाला, शरीरदृष्टिकर और वातरोगनाशक है ॥७०॥

शङ्खवाहनखशुक्तिराम्बुकमल्लुकप्रभृतय को
श्या ॥७८॥

कूर्मकुम्भीरककंटकशुष्णककंटकशिगुमाप्र
तय पादिन ॥७९॥

शङ्खकूर्मादयः स्वादुरसपाका मरुनुदः ।
शीता छिग्धा हिता पित्ते पर्वस्या श्लेष्मवर्धना
शुष्णककंटकस्तेषां यस्य कोष्णोऽनिलापह ।

शुष्ण सन्धानतत् सृष्टयिगमूत्रोऽनिलपिसहा ॥१॥
(काण्व्य और पादिन—) शङ्ख (बड़े शंख) शङ्ख (छोटे शंख), शुक्ति (सीप), गंजुक (घोड़े) शङ्ख (घोड़े का भेद या कवरी) प्रभृति काण्व्यवर्ग के शङ्ख ॥७८॥ कूर्म (कदवा), कुम्भीर (मड़ियाव) शङ्ख (केकड़ा), शुष्णककंटक (काला केकड़ा) शङ्ख (भाक) प्रभृति पादिन (बाँके के जन्तु) शङ्ख सामान्यतया ये श्लेष्ममार्दि और रस और विपाक में शुष्ण काननाशक, शीतल, तिग्ध, पित्तविकार में हितकर कारक और ककषधेक हाते हैं ॥७९॥ उनमें से काण्व्य

तरक, किंचिन् उष्ण और वायुनागक है । श्वेत शैकडा हो जोड़ने वाला, मलमूत्र को सुलकर निकालने वाला वातपित्तनागक है ॥१११॥

स्यास्तु द्विविधा नादेयाः सामुद्राश्च ॥११२॥

(मत्स्य—) मत्स्य दो प्रकार के होते हैं, एक नदियों मत्स्य और दूसरे समुद्रों के मत्स्य ॥११२॥

तत्र नादेयाः—रोहितपाठीनपाटलागर्जावर्षिमत्स्यकृष्णमत्स्यवागुञ्जारमुरलसहस्रदंष्ट्रमश्रुतयो देयाः ॥११३॥

देया मधुरा मत्स्या गुरवो माकृतापहाः ।

पित्तकराश्चोष्णा वृष्याः स्निग्धाल्पवर्षसः ॥११४॥

(नादेय मत्स्य—) उनमें से रोहित, पाठीन, पाटला, तीव, वर्षि, गोमत्स्य, कृष्णमत्स्य, वागुञ्जार, मुरल, सहस्र-प्रभृति नदियों के मत्स्य हैं ॥११३॥ नदियों के मत्स्य, मधुर, वायुनागक, रक्तपित्त उत्पन्न करने वाले, उष्ण, वृष्य, स्निग्ध और अल्पमल उत्पन्न करने वाले होते हैं ॥११४॥

ठीनः श्लेष्मलो वृष्यो निद्रालुः पिशिताशनः ।

पयेद्रक्तपित्तं तु कुष्ठरोगं करोत्यसौ ।

रलो वृंहणो वृष्यः स्तन्यश्लेष्मकरस्तथा ॥११५॥

पायानुरसस्तेषां शण्णशैवालभोजनः ।

हितो माकृतहरो नात्यर्थं पित्तकोपनः ॥११६॥

पाठीन मत्स्य कफकर, वृष्य, निद्राजनक और मांसाहारी केर रक्तपित्त (या श्लेष्मपित्त) दूषित करके कुष्ठरोग भी रता है । मुरल मत्स्य शरीर पुष्टिकर, वृष्य और स्तन्य (दूध) तथा कफ बढ़ाने वाला है ॥११५॥ उनमें से रोहित मत्स्य कृष्ण और शैवाल राने वाला है, अनुसस में कषाय है, वायुनागक और पित्त को अधिक प्रकृषित नहीं करता है ॥११६॥

वक्तव्य—कुष्ठरोगं करोति—आगे १२२वें श्लोक का मत्स्य देखी । रोहित—चरक और वाग्भट के अनुसार रोहित मत्स्य मत्स्यों में सर्वश्रेष्ठ होता है—रोहितो मत्स्यानाम् । (चरक) । श्वेतरोहितगोषेणाः स्वे स्वे वर्गे वराः परम । (अष्टांगहृदय) ।

सरस्तडागसंभूताः स्निग्धाः स्वादुरसाः स्मृताः ।

महाह्रदेषु त्रलिनः, खल्पेऽम्भस्यवलाः स्मृताः ॥११७॥

सरोवर तथा तालाव में उत्पन्न हुए मत्स्य स्निग्ध और रस में मधुर होते हैं । जिनमें पानी का संचय भारी हो ऐसे जला-गय में उत्पन्न हुए मत्स्य अतिशय बल देने वाले होते हैं; और जिनमें पानी का संचय अल्प हो ऐसे जलागय के मत्स्य अल्प बल देने वाले होते हैं ॥११७॥

तिमितिमिङ्गलकुलिशपाकमत्स्यनिरुल्लहनन्दि-चारलकमकरपार्श्वरकचन्द्रकमहामीनराजीवप्रभृतयः सामुद्राः ॥११८॥

सामुद्रा गुरवः स्निग्धा मधुरा नातिपित्तलाः ।

उष्णा वातहरा वृष्या चर्चस्याः श्लेष्मवर्धनाः ॥११९॥

बलावहा विशेषेण मांसाशित्वात् समुद्रजाः ।

(सामुद्रमत्स्य—) तिमि, तिमिङ्गल, कुलिया, पाकमत्स्य, निरुल्लक, नन्दिचारलक, मकर, पार्श्वरक, चन्द्रक, महामीन, राजीव इत्यादि समुद्रवासी मत्स्य हैं ॥११८॥ समुद्र के मत्स्य (सामान्यतया) भारी, स्निग्ध, मधुर, पित्त का अधिक प्रकोप न करने वाले, उष्ण, वातनाशक, वृष्य, विष्टाकारक और कफवर्धक होते हैं ॥११९॥ ये समुद्र के मत्स्य ('मांस्वन्याय' के अनुसार अन्य छोटी मछलियों का) मांस सेवन करने वाले होने में विशेष करके बलकारक होते हैं ।

समुद्रजेभ्यो नादेया वृंहणत्वाहुरणोत्तराः ॥१२०॥
तेषामप्यनिलघ्नत्वाच्चोष्ण्यकौष्यौ गुणोत्तरौ ।

स्निग्धन्वान्स्वादुपाकत्वात्तयोर्वाप्या गुणाधिकाः १२१

समुद्रवासी मत्स्य की अपेक्षा नदीवासी मत्स्य वृंहण होने से अधिक गुणकारी होते हैं ॥१२०॥ उन (नादेय मत्स्यों) में भी चुंडी और कूप के मत्स्य वातनाशक होने से गुण में अधिक होते हैं । चुंडी और कूप के मत्स्यों में कूप के मत्स्य स्निग्ध और विषाक में मधुर होने से अधिक गुणकारी होते हैं ॥१२१॥

नादेया गुरवो मध्ये यस्मात् पुच्छास्यचारिणः ।

सरस्तडागजानां तु विशेषेण शिरो लघु ॥१२२॥

अदूरगोचरा यस्मात्तस्मादुत्सोदपानजाः ।

किंचिन्मुक्त्वा शिरोदेशमत्यर्थं गुरुवस्तु ते ॥१२३॥

अधस्तादुरवो देया मत्स्याः सरसिजाः स्मृताः ।

उरोविचरणात्तेषां पूर्वमङ्गं लघु स्मृतम् ॥१२४॥

जो कि नदीवासी मत्स्य पूँछ और मुख से चलायमान होते हैं, इसलिये उनका मध्य भाग (धड़) भारी होता है (और पूँछ तथा मुख हलका होता है) । सरोवर और तालाव के मत्स्यों का मिर विशेष करके हलका होता है ॥१२२॥ अति दूर तक विचरने वाले न होने के कारण पर्वत के भ्रमर के मत्स्य, मिर का कुछ भाग छोड़कर, भारी होते हैं ॥१२३॥ सरोवर की मछली (छाती के) नीचे भारी होती है, क्योंकि छाती में चलायमान होने के कारण उनका पूर्व भाग (छाती से मिर तक) हलका होता है ॥१२४॥

वक्तव्य—मछली एक पौष्टिक खाद्य है । मछली में प्रोटीन अधिक होते हैं, चर्बी कम होती है, और कार्बोहाय-ड्रेट तथा खनिज अत्यल्प होते हैं । मछलियाँ कई प्रकार की हैं, परन्तु चर्बी के प्रमाण के अनुसार इसके दो मुख्य भेद किये जाते हैं—कृग और स्थूल । कृग मछली वह है जिसमें चर्बी का प्रमाण २ प्रतिशत तक होता है । जिसमें २-५ प्रतिशत या इससे भी अधिक चर्बी होती है वह स्थूल कहलाती है । साधारणतया मछलियों का पाचन मांस की अपेक्षा शीघ्र होता है, तथा उसका गोषण भी ६५ प्रतिशत होता है । मोटी मछली, जिनमें चर्बी का प्रमाण अधिक होता है, देर से पचती है परन्तु उससे काफी शक्ति मिलती है । जिनका मुख्य अन्न चावल है उनके लिये चावल के साथ मछली का सेवन बहुत उपकारी होता है, क्योंकि मछली से चावल की प्रोटीन की कमी पूरी हो जाती है । मछली के सेवन में दूसरा फायदा यह है

कि उनके सेवन मे जीवनीय द्रव्य विशेष करके ए और डी (Vitamines A D) मिलते हैं। ये द्रव्य मछलियों के पेट में होते हैं। कोड, (Cod), हलीबट (Halibut) आदि मत्स्य पेटे हैं कि उनके पेट में इन द्रव्यों का बड़ा भारी सचय होता है, और पेट से जो तेल निकलता है उसमें ये द्रव्य आ जाते हैं। इसलिये इन तेलों का (Cod liver oil Halibut liver oil) उपयोग उन अवस्थायों में करते हैं जव इन जीवनीय द्रव्यों की शरीर के लिये आवश्यकता होती है। मछली इनेया तानी और जहाँ तक हो सके पकड़ने के पश्चात् शीघ्र ही खानी चाहिये, क्योंकि वह जल्दी सड़ने लगती है। गरमी के मौसिम में (मई, जून, जुलाई और अगस्त इन चार महीनों में) मछली का सेवन न करना ही प्रयत्न है, क्योंकि इन दिनों में यह और भी शीघ्रता से सड़ने लगती है। तानी मछली सल्ल और दुर्गंध रहित होकर यदि भूयुद्ध से समाप्त पकड़ी जाय तो उसकी पूँछ नीचे की ओर नहीं कुकनी। आँसु भी और उमरी हुई, पुतलियाँ काली, फेफड़े चमकीने और लाल, शरीर के छिन्के भर हुए और रूढ़ होने और आसानी से झगना नहीं हो सकने। सड़ी गली मछली तथा हिन्दू की मछली बाने से बमन, अतिमार, पेटव, अथवा रूढ़ ह्यादि प्रति विष लक्ष्य (Ptoamian Poisoning) उत्पन्न होते हैं। जराब पानी में रहने वाली मछली तथा आनुपूर्व्य के अन्य प्राणी सेवन करने से विमूषिका, आन्त्रिकज्वर (Typhoid Fever) एकीन (Tape) तथा अन्य हृमि ह्यादि विकारों से पीडित होने की संभावना होती है। मछली का सेवन कुटोपत्ति का एक कारण है, यह भी आसुरी का मत है। सुप्त के अनुसार पाठीन मत्स्य के सेवन से कुछ होता है। चाक के अनुसार साधारण मछली के सेवन से भी कुछ होता है—मनुस्मृतिसंस्कृतकुपुत्रकावामी

सवनमत्स्यम
मत्स्ये च मत्स्यप्रद, विविचिमे च पयमा । (निदान, अ ५)

आधुनिक काल में भी डॉ म्यूर आदि कुछ वैज्ञानिक सराब मछली का सेवन कुटोपत्ति का एक सहायक कारण मानते हैं; परंतु उसने साथ साथ उनका यह अभिप्राय होता है कि जब तक हृद के जीवाणु का शरीर के साथ संबंध नहीं होगा तब तक केवल मछली सेवन कुछ उत्पन्न करने में अयमर्थ है—
Bad fish may predispose to leprosy as shown by E. Muir in India but is not the direct cause of infection as once held Tripti & Melchior by Rogers and Murray

इत्यान्यो महाभिषयन्दिमामवर्गो व्याख्याय ॥१७५॥

इस प्रकार यह जलमोक्षी जीवों का अत्यंत अभिषयि (कक और गुणकारक) मान्यता वर्णित किया गया है ॥१७५॥

युक्तद्वय—अभिषयि—अवकाशयित तत्रद्वि—अभिषयि
यत् । युक्तद्वय—अभिषयि—अवकाशयित तत्रद्वि—अभिषयि
यत् । युक्तद्वय—अभिषयि—अवकाशयित तत्रद्वि—अभिषयि
यत् । युक्तद्वय—अभिषयि—अवकाशयित तत्रद्वि—अभिषयि

तत्र शुक्रपुत्रियाधितमिषयमंतद्विभिषयि
भीमकश्यामानममगाभ्यधितिषीं च मास्तमयम

व्याधि, यस्माद्विगतव्यापघ्नापहतपरिणतात्वा धीर्यत्वाद्दोषकराणि भवन्ति; एभ्योऽन्येषाम् मांसमिति ॥१२६॥

अरोचकं प्रतिश्यायं गुरु शुष्कं प्रकीर्तितम् विषव्याधिहतं मृत्युं वालं छुदं च फोपयेत् फासभासकरं वृद्धं त्रिदोषं व्याधिदूषितम् छिन्नमुत्क्षेपशजननं कृशं यातप्रकोपणम्

इन जांगल और आनुपूर्व्यों के मांसों में से मांस, सड़ा गला दुर्गंधयुक्त मांस तथा रोगों से पीडित और संप्रेक्ष से मृत, विषाक्त बाणों से विद्ध, अतिदृढ़, बालक (अल्पवय का) और अनुचित प्रदेश में संचार आस्वास्थ्यजनक आहार सेवन करने वाले प्राणियों का भक्षण करने योग्य नहीं है, क्योंकि (शुष्कमांस) बं होने से, (प्रतिश्यायित मांस) वीर्यदूषित होने से, सर्वहृत् दिग्भयविद्धमांस) वीर्य नष्ट होने से, (जीर्ण वीर्य अतिपक्व होने से, (कृणपशु का मांस) वीर्य अल्प से, (बाल का मांस) वीर्य अपक्व होने से दोष उत्पन्न वाले होते हैं। इसलिये इन (दोषयुक्त प्राणियों) से प्राणियों का मांस ग्रहण करना अयमर्थ है ॥१२६॥ सूखा मांस अरविजनक, शुक्राम करने वाला और भारी होने विर्यने रोग से मृत प्राणियों का मांस मृत्यु करता है। शर्षी प्राणी का मांस बमन करता है ॥१२७॥ वृद्ध (का मांस) सर्षी और आस करता है। रोग (प्राणियों का मांस) त्रिदोष (का प्रकोप) करता सड़ा गला मांस उच्छेद्य (मितली) उत्पन्न करता है। (प्राणी का मांस) वात का प्रकोप करता है ॥१२८॥

यत्तद्वय—एभ्योऽन्येषामुपानेयं मांसमिति—उपयुक्त दोषे मांस प्राप्त होता है; अर्थात् युवा, स्वला प्राणियों का। जा हत्या करने के पश्चात् बहुत समय तक न रहना हुआ सेवन करने योग्य होता है—संधोदने त्व एव च युद्धं धारितम् (अर्धागमप्रह)। उष्ण देशों में और उष्ण काल में अधिक समय तक रखने से विगत जाता है। इसका यह है कि बैक्टीरिया ऐन्टेरीटीड (B. Enteritidis), बैटुलीनरिया (B. Botulinum) ह्यादि प्रतिजनक जीवों में प्रविष्ट होकर विष उत्पन्न करते हैं, जिसके सेवन बमन, उदररुच, अतिमार, दुर्बलता ह्यादि प्रतिविष (I. main Poisoning) के लक्षण उत्पन्न होते हैं। शर्षी व्याधिनिहित प्राणियों का मांस हानिकारक और खतराकार होता है इसलिये उनका मांस आहार्य समझना नहीं। प्राणियों में निम्न रोग पाये जाते हैं। यथा—राजदमन, प्ल्यूरोपनिया (Pleuro Pneumonia), ट्रेग, अरिजनाप्रणयि / Ac. nomjomsia) मुग वाद रोग (Foot & mouth disease) अन्त्राशय (Anthrax) हृमिजनक जीव त्रिचिनेमिया (Trichinosis) अर्थात् हृमि रोग ह्यादि हृमिजनक रोगों में हृमियों के खाये मांस में रहते हैं। मांस के साथ शरीर के भीतर वृद्धि करने हैं। कल्पि फ. से बहुत से रोगों के हृमियों और शिवायुषों का मृत्यु।

ता है; तथापि उस पर पूर्ण विश्वास नहीं किया जा सकता । किं अतिरिक्त व्याधित प्राणियों का मांस पौष्टिकता की दृष्टि हीनतर होता है । इसलिये इनका मांस नहीं खाना चाहिये ।

स्त्रियश्चतुष्पात्सु, पुमांसो विहङ्गेषु, महाशरीरे-
ल्पशरीरा, अल्पशरीरेषु महाशरीराः प्रधानतमाः;
वसेकजातीयानां महाशरीरेभ्यः कृशशरीराः
धानतमाः ॥१२९॥

चतुष्पाद प्राणियों में स्त्रीजाति का मांस श्रेष्ठ होता है; ज्ञेयों में पुरुषों का मांस श्रेष्ठ होता है; (गजगवयादि) बड़े शरीर वाले प्राणियों में छोटे शरीर वाले प्राणियों का मांस श्रेष्ठ होता है; (नकुल मूषकादि) अल्प शरीर वालों में बड़े शरीर वाले प्राणियों का मांस श्रेष्ठ होता है; इसी प्रकार एक ही जाति के बड़े शरीर वाले (जीवों) की अपेक्षा हलके शरीर वाले जीव श्रेष्ठ होते हैं ॥१२९॥

स्थानादिकृतं मांसस्य गुरुलाघवमुपदेक्ष्यामः ।
अथ—रक्तादिषु शुक्रान्तेषु धातुपूत्तरोत्तरा गुरु-
रास्तथा सक्थिस्कन्धक्रोडशिरःपादकरकटीपृष्ठ-
वर्मकालेयकयकृदन्त्राणि ॥१३०॥

शिरः स्कन्धं कटी पृष्ठं सक्थिनी चात्मपक्षयोः ।
गुरुपूर्वं विजानीयाद्घातवस्तु यथोत्तरम् ॥१३१॥
सर्वस्य प्राणिनो देहे मध्यो गुरुरुदाहृतः ।
पूर्वभागो गुरुः पुंसामधोभागस्तु योपिताम् ॥१३२॥
उरोप्रीवं विहङ्गानां विशेषेण गुरु स्मृतम् ।
पक्षोत्तेपात्समो दृष्टो मध्यभागस्तु पक्षिणाम् ॥१३३॥

(अथ) स्थानादि के अनुसार मांस की गुरुता या लघुता का उपदेश किया जाता है । जैसे—रक्त से लेकर वीर्यपर्यन्त उत्तरोत्तर धातुओं में अधिकाधिक गुरुता होती है; तथा सक्थि, स्कन्ध, हृदयविभाग, सिर, पाँव, हाथ (पूर्वपाद), कटी, पीठ, चर्म, वृक्क (कालेयक), यकृत और आन्त्र ये भी उत्तरोत्तर अधिकाधिक भारी होते हैं ॥१३०॥ स्त्री और पुरुष दोनों जाति के पक्षियों में सिर, स्कन्ध, कटी, पृष्ठ और सक्थि व्युत्क्रम से अधिकाधिक भारी होते हैं; और रक्तादि धातु उत्तरोत्तर अधिकाधिक भारी होते हैं ॥१३१॥ सर्व प्रकार के प्राणियों के शरीर में मध्यभाग भारी होता है । पुरुषों में पूर्व भाग और स्त्रियों में पश्चात् भाग भारी होता है ॥१३२॥ आकाशसंचारी पक्षियों का उर और ग्रीवा भाग विशेष करके भारी होता है और पक्षियों के क्षेत्र के कारण मध्य भाग सम (न भारी न हल्का) होता है ॥१३३॥

अतीव सूक्ष्मं मांसं तु विहङ्गानां फलाशिनाम् ।
वृहत्मांसमत्यर्थं खगानां पिशिताशिनाम् ।
मत्स्याशिनानां पित्तकरं वातघ्नं धान्यचारिणाम् ॥१३४॥

फल खाने वाले पक्षियों का मांस अतिरूक्ष होता है । मांस खाने करने वाले पक्षियों का मांस शरीरपुष्टिकर होता है ।

मत्स्यी खाने वालों का मांस पित्तकर और धान्य खाने वालों का मांस वातनाशक होता है ॥१३४॥

जलजानूपजा ग्राम्या ऋत्यादैकशफास्तथा ।
प्रसहा विलवासाश्च ये च जङ्गलसंज्ञिताः ॥१३५॥
प्रतुदा विष्किराश्चैव लववः स्युर्यथोत्तरम् ।
अल्पाभिष्यन्दिनश्चैव यथापूर्वमतोऽन्यथा ॥१३६॥

जलज, आनूप, ग्राम्य, मांसभक्षक, एकशफ, प्रसह, विले-
ण्य, जंवाल ॥१३५॥ प्रतुद और विष्किर इन वर्गों के प्राणी उत्तरोत्तर अधिकाधिक हलके तथा अल्प अभिष्यन्द उत्पन्न करने वाले होते हैं; और यथापूर्व अधिकाधिक भारी तथा अधिक अभिष्यन्द उत्पन्न करने वाले होते हैं ॥१३६॥

प्रमाणाधिकस्तु स्वजातो चाल्पसारा गुरवश्च ।
सर्वप्राणिनां सर्वशरीरेषु ये प्रधानतमा भवन्ति
यकृतप्रदेशवर्तिनस्तानाददीतः; प्रधानालाम् मध्यम-
वयस्कं सद्यस्कमङ्गिष्टमुपादेयं मांसमिति ॥१३७॥

अपनी जातिक्रसाधारणप्रमाण की दृष्टि से जो अधिक मोटे होते हैं वे अल्प सारयुक्त और भारी होते हैं । सर्व प्राणियों में यकृत प्रदेश के समीप भाग में जो (ज्ञायु मांसादि अंग) होते हैं वे शरीर के अन्य अंगों से (गुण में) अधिक श्रेष्ठ होते हैं; इसलिये उनका ग्रहण करना उचित है । उनके अभाव में मध्यमवय के प्राणियों का ताजा, दुर्गन्धरहित मांस ग्रहण करना चाहिये ॥१३७॥

भवति चात्र—

चैरः शरीरावयवाः स्वभावो धातवः क्रियाः ।
लिङ्गं प्रमाणं संस्कारो मात्रा चास्मिन् परीक्ष्यते ॥१३८॥
इति मांसवर्गः ।

मांस के गुरु लाघव का विचार करते समय (अस्मिन्) प्राणियों का आहार विहार, शरीर के अंग, स्वभाव, धातु, क्रिया, लिंग, प्रमाण, संस्कार और मात्रा इन बातों की परीक्षा करनी चाहिये ॥१३८॥

वक्तव्य—‘च’ के स्थान में ‘वय’ ऐसा भी एक पाठ है । चर—चर शब्द से प्राणियों का आहार और विहार के देश का बोध होता है—चर गतिभक्षणयोः । चरकसंहिता के अन्नपानविधि अध्याय के अन्त में यही श्लोक मिलता है । इसके बाद इस श्लोक के प्रत्येक अंग का उदाहरण आगे दिया गया है, इसलिये वे श्लोक यहाँ भी दिये जाते हैं—चरोऽनूपजला-
कारणध्वान्धो भक्ष्यसंविधिः । जलजानूपजाश्चैव जलानूपचराश्च ये ॥
गुरुभक्ष्यास्तु ये सत्त्वाः सर्वे ते गुरवः स्मृताः । लघुभक्ष्यास्तु लघवो धन्वजा धन्वचारिणः ॥ शरीरावयवाः सक्थिशिरःस्कन्धादयस्तथा । सक्थि-
मांसाद् गुरुः स्कन्धस्ततः क्रोडस्ततः शिरः ॥ वृषणौ चर्म मेदं च श्रेणी वृक्कौ यकृद् गुदम् । मांसाद् गुरुतरं विद्याधयास्त्वं मध्यमारिथ च ॥ स्वभा-
वाद्धवो सुद्रास्तथा लावकपिञ्जलाः । स्वभावाद् गुरवो माया वराहमदिषा-
स्तथा ॥ धातूनां शोणिताधानां गुरु विद्याधयोत्तरम् । अल्सेभ्यो विशि-
ष्यन्ते प्राणिनो ये बहुक्रियाः ॥ गौरवं क्षिासामान्ये पुंसां स्त्रीणां च लाघवम् । महाप्रमाणा गुरवः स्वजातो लघवोऽन्यथा ॥ गुरुणां लाघवं

प्र, वाननाशक, शरीरपुष्टिकर, भारी ॥१५३॥ पित्त का
रोध न करने वाला और शुक्ल होता है ।

हृद्यं मधुरं बल्यं गुरु विष्टभ्य जीर्यति ॥१५४॥

आम्रातकफलं वृष्यं सस्नेहं श्लेष्मवर्धनम् ।

त्रेदोपविष्टभ्यकरं लकुचं शुक्रनाशनम् ॥१५५॥

अम्लं तृपापहं रुच्यं पित्तकृत् करमर्दकम् ।

गतपित्तहरं वृष्यं प्रियालं गुरु शीतलम् ॥१५६॥

हृद्यं स्वादु कषायाम्लं भव्यमास्यविशोधनम् ।

पेत्तश्लेष्महरं ग्राहि गुरु विष्टम्भि शीतलम् ॥१५७॥

गरावतं समधुरं रुच्यमत्यन्निवानुत् ।

पारदोपहरं नीपं प्राचीनामलकं तथा ॥१५८॥

आम्रातक फल शरीरपुष्टिकर, मधुर, बलकारक, भारी,

में गुड़गुड़ शब्द करके पचन होने वाला, वृष्य, स्निग्ध

र कफवर्धक है । लकुच त्रिदोषजनक, विष्टभ्यकर और

रुनाशक है ॥१५४-१५५॥ करोंदा खटा, तृपाशामक,

चेकारक और पित्तकारक है । प्रियाल (चिरोँजी का फल)

तपित्तनाशक, वृष्य, भारी और शीतल है ॥१५६॥ भव्य

यु, मीठा, कषाय, खटा, मुग्धविशोधक, पित्तकफनाशक,

ही, भारी, विष्टभ्यजनक और शीतल है ॥१५७॥ पारावत

। फल मधुर, रुचिकारक, नीष्णाम्नि को मंद करने वाला और

युनाशक है । नीप (कदेव का फल) विपनाशक और

पनाशक है । उसी के गुणानुसार पानी आँवला भी होता

॥१५८॥

। तापहं तिन्तिडीकमामं पित्तबलासकृत् ।

। ह्युष्णं दीपनं रुच्यं संपक्वं कफवातनुत् ॥१५९॥

। स्मादल्पान्तरगुणं कोशाभ्रफलमुच्यते ।

। म्लीकायाः फलं पक्वं तद्वद्देदि तु केवलम् ॥१६०॥

। अम्लं समधुरं हृद्यं विशदं भक्तरोचनम् ।

। गतघ्नं दुर्जरं प्रोक्तं नारङ्गस्य फलं गुरु ॥१६१॥

। श्लेष्मशूलकफोत्केशच्छर्दिश्वासनिवारणम् ।

। गतश्लेष्मविबन्धघ्नं जम्बीरं गुरु पित्तकृत् ।

। ऐरावतं दन्तशयमम्लं शोणितपित्तकृत् ॥१६२॥

। तिन्तिडी का कच्चा फल वातनाशक और पित्तकारक होता

। वही पक्क फल ग्राही, उष्ण, अग्निदीपक, रुचिकारक और

गतकफनाशक होता है ॥१५९॥ कोशाभ्र का फल गुण में

तेन्तिडीफल से कुछ कम होता है । इमली का पक्कफल गुण

में तिन्तिडीफल के अनुसार परन्तु भेदक होता है ॥१६०॥

नारंग का फल (संतरा) खटा, मधुर, हृद्य, विशद, भोजन

में रुचि उत्पन्न करने वाला, वातनाशक, दुर्जर और भारी है

॥१६१॥ जम्बीर (नीवृ) तृपा, शूल, कफ, जी मिचलाना,

धमन, श्वास, वात, कफ और मलावरोध इनका नाश करने

वाला, भारी और पित्तकर होता है । ऐरावत (नारंग का

भेद) और दन्तशय (काठानीवृ) खटा और रक्तपित्त-

कारक है ॥१६२॥

वृक्षद्वय—उपर्युक्त दाहिमादिद्वय के अधिकसंख्य फल
अम्ल और किंचित् कषाय होते हैं । इनकी अम्लता सायट्रिक
(Citric), टार्टरिक, मैलिक, टार्ट्रिक (Tartaric,
Mallic Oxalic), इत्यादि वानस्पतिक अम्लों (Vegetable
acids) की उपस्थिति पर निर्भर होती है । इनका कसैलापन
व्यानिन, व्यानिक अम्ल, ग्यालिक अम्लों की उपस्थिति पर निर्भर
होता है । इनके अतिरिक्त सोडियम, पोट्रसियम इत्यादि क्षार,
गोंद, जीवद्रव्य 'सी', गर्करादि पदार्थ भी इनमें उपस्थित होते
हैं । वानस्पतिक अम्ल भोजन को पचाने में और स्वास्थ्य को
ठीक रखने में बहुत भाग लेते हैं । पचन के समय ये कार्बोनेट
में परिवर्तित होते हैं और रक्त की क्षारीयता (Alkalinity)
स्थिर रखते हैं । आहारद्रव्यों में यदि इनकी विलकुल हटा
दिया जाय तो रक्त की स्थिति खराब होकर स्कर्वी (Scu-
rvy) आदि रोग उत्पन्न होते हैं । इसलिये इनका सेवन
बहुत आवश्यक है । इनमें स्कर्वी प्रतिपेधक जीवद्रव्य सी
(Antiscorbutic Vitamin C.) होने के कारण स्कर्वीरोग
की निवृत्ति में भी इनका उपयोग बहुत होता है । नारंग,
नीवृ, संतरा, आम इनमें जीवद्रव्य सी पर्याप्त राशि में होता है ।

क्षीरवृक्षफलजाम्बवराजादनतोदनशीतफलति-
न्दुकवकुलधन्वनामन्तकाश्वकर्णफल्युपरूपकगाङ्गे-
रुकीपुष्करवर्तितिल्वचिम्बीप्रभृतीनि ॥१६३॥

फलान्येतानि शीतानि कफपित्तहराणि च ।

संग्राहकाणि रूक्षाणि कषायमधुराणि च ॥१६४॥

क्षीर वृक्षों (न्यग्रोध, औदुम्बर, अश्वत्थ, पुन्न और वेतस)

के फल, जामुन, राजादन (खिरनी), तोदन (काश्मीरी

इमली, Morus Indica), शीतफल, तिन्दुक, बकुल,

धन्वन (धामन), अमन्तक, अश्वकर्ण, फल्यु (अंजीर),

परूपक (फालसा), गाङ्गेरुकी (गंगोठ), पुष्करवर्ति,

विल्व, चिम्बी (कुदरु) इत्यादि ॥१६३॥ ये फल शीतल,

कफपित्तनाशक, ग्राही, रुच्य, कषाय और मधुर होते हैं ॥१६४॥

क्षीरवृक्षफलं तेषां गुरु विष्टम्भि शीतलम् ।

कषायं मधुरं साम्लं नातिमासतकोपनम् ॥१६५॥

अत्यर्थं वातलं ग्राहि जाम्बवं कफपित्तजित् ।

स्निग्धं स्वादु कषायं च राजादनफलं गुरु ॥१६६॥

कषायं मधुरं रुच्यं तोदनं कफवातजित् ।

अम्लोष्णं लघु संग्राहि स्निग्धं पित्ताग्निवर्धनम् ॥१६७॥

आमं कषायं संग्राहि तिन्दुकं वातकोपनम् ।

विपाके गुरु संपक्वं मधुरं कफपित्तजित् ॥१६८॥

मधुरं च कषायं च स्निग्धं संग्राहि वाकुलम् ।

स्थिरीकरं च दन्तानां विशदं फलमुच्यते ॥१६९॥

सकषायं हिमं स्वादु धान्वनं कफवातजित् ।

तद्वद्गाङ्गेरुकं विद्यादमन्तकफलानि च ॥१७०॥

इनमें से क्षीर वृक्षों के फल भारी, विष्टभ्यजनक, शीतल,

कषाय, मधुर, खटे होते हैं, और वायु को अधिक प्रकुपित

नहीं करते ॥१६५॥ जामुन अतिवातल, (सूत्र और मल का)

संग्रहण करने वाला (संग्राहि मूत्रशकृतोः, चाग्भट), कफ

विषाणुकरालविषयम् । श्रीहेलं वा यथा न सु मकानां मिद्विण्ड
का ॥ अथपदाने गुरुणा च लघुना चातिसेवने । मात्र कारणमुद्रिष्ट
द्रव्याणां गुणनयने ॥ गुरुणामलमादय लघुनां वृत्तिरिच्छते । मात्रा-
द्वयव्यपश्चने मात्रा चन्द्रिमोक्षने ॥ (चरक सूत्रस्थान) । इति
मासवर्गः ।

अत ऊर्ध्वं फलेन्युपदेदयामः ।

तद्यथा—दाडिमामलकयदरकोलकर्कशुमीवीर-
सिञ्चितिकाफलकपिथ्यमातुलुहाम्राघ्रातककरमर्द
प्रियालनारङ्गजम्बीरलकुचभव्यपारावतयेवफल
शचीनामलकतिन्तिडीकनीपकोशाघ्राम्लीकाप्रभृ
तीनि ॥१३०॥

अम्लानि रसत पाये गुरुयुष्णानि वीर्यतः ।

पित्तलान्यनिलम्रानि कफोद्धेशकराणि च ॥१३०॥

अथ यहाँ से आगे फलवर्ग उपदेश करते हैं । जैसे—
दाडिम (अनार), आमलक (आंवला), बदर, कौल,
कर्कशु, सौवीर (और) सिंचितिका फल (ये बेर के पांच
प्रकार हैं), कपिथ्य (कैथ), मातुलग, आश्र, आघ्रातक,
करमर्द (करोंडा), प्रियाल (चिरंजी), नारग (नारंगी),
जम्बीर (नींबू), लकुच, भव्य (कमरख), पारावत,
वेव्रफल, प्राचीनामलक (पानी आंवला), तिन्तिडीक
(इमली), नीप (कदफल), कोशाघ्र, अम्लिका (इमली
का एक भेद) हृष्यादि ॥१३१॥ ये (ऊपर लिखे फल सामान्य-
तया) रस में खटे, विपाक में गुर, वीर्य में उष्ण, पित्तकारक,
वायुनाशक और कफ का क्षोभ करने वाले होते हैं ॥१३०॥

कायायानुरसं तेषां दाडिमं नातिपित्तलम् ।

दीपनीय रुचिकर हृद्य वचोविवन्धनम् ॥१३१॥

द्विविधं तत्तु विशेष्यं मधुर चाम्लमेव च ।

त्रिविधं तु मधुरमम्ल वातकफापहम् ॥१३२॥

(दाडिम—) इनमें से अनार अनुरस में कषाय है,
विशेष पित्तकर नहीं है, अग्निदीपक है, रुचिकर है, हृद्य के
लिये हितकर है और मल को बाधने वाला है ॥१३१॥ यह
अनार दो प्रकार का होता है, मीठा और खटा । इनमें से
मीठा त्रिदोषनाशक, और खटा बाल तथा वफनाशक (और
पित्तजनक) है ॥१३२॥

अम्लं समधुरं तिक्तं कषायं कटुकं सरम् ।

चक्षुष्यं सर्वदोषघ्नं घृष्यमामलकीफलम् ॥१३३॥

हन्ति चातं तदम्लत्वात्पित्तं माधुर्यशैत्यतः ।

कफं रुक्षकायात्त्वात् फलेभ्योऽभ्यधिकं च तत् ॥१३४॥

(आमलक—) आंवले का फल अम्ल, मधुर, तिक्त,
कषाय, कटुक (सपणवर्ग पंचरस पुत्र), मासक, नेत्र के लिये
हितकर, सर्वदोषनाशक और घृष्य है ॥१३३॥ यह आंवला
अनारस से वायु नाश करता है, मधुररस और शीतलता से
पित्त की क्षान्ति करता है, वीर्य और कषाय रस से कफ की
वृत्ति करता है ; (हृष्यलिये) सब कर्मां में यह अधिक
भेद है ॥१३४॥

यर्कशुकोलबदरामं पित्तकफावहम् ।

पकं पित्तानिलहरं क्षिग्धं समधुरं सरम् ॥१३५॥

पुरातनं तदशमनं धमघ्न दीपनं लघु ।

सौवीर यदरं क्षिग्धं मधुरं वातपित्तजित् ॥१३६॥

कषायं स्वादु संग्राहि शीतं शिञ्चितिकाफलम् ।

(बेर—) कर्कशु, कौल और बदर (जाति के) क

बेर पित्त और कफकारक होते हैं । ये ही पके हुए पित्त और
वायुनाशक, क्षिग्ध, मधुर और सारक होते हैं ॥१३५॥ पुरा
(सूते सलवटदार) बेर व्याघ्राशमक, धम का परिहार कर
वाले, अग्निदीपक और हलके होते हैं । सौवीर जाति का ये
सिन्धु, मधुर और वातपित्तनाशक होता है ॥१३६॥ शिञ्चितिका
का फल कषाय, मीठा, माही और शीतल होता है ।

आमं कपिथमखर्यं कफघ्नं ग्राहि वातलम् ॥१३७॥

कफानिलहरं पकं मधुराम्लरसं गुरु ।

श्यासकासारुचिहरं तृष्णाघ्नं कण्ठशोधनम् ॥१३८॥

(कपिथ्य—) कषा कैथ स्वर को बिगाड़ता है, कफ न
नाश करता है, माही है और वातकारक है ॥१३७॥ पका हुआ
कैथ कफ और वातनाशक, मधुर और अम्लरसपुत्र, आम
श्यासनाशक, कासनाशक, अरुचिनाशक, तृष्णाशमक रूप
कण्ठ साफ करने वाला है ॥१३८॥

लघ्वम्लं दीपनं हृद्यं मातुलुहमुदाहृतम् ।

त्यक्तिका दुर्जरा तस्य चातकमिकफापहा ॥१३९॥

स्वादु शीतं गुरु क्षिग्धं मांसं माहृतपित्तजित् ।

मेध्यं शूलानिलच्छार्दिकफातोचकनाशनम् ॥१४०॥

दीपनं लघु संग्राहि गुल्मशोभं तु केसरम् ।

शूलाजीर्णवियन्धेषु मन्देऽग्नौ कफमादते ॥१४१॥

अरुचौ च विशेषेण रसस्तस्योपदिश्यते ।

(मातुलग—) मातुलग हलका, खटा अग्निदीपक
हृद्य है । उमकी छाल तिक्त, दुर्जर, वातनाशक, रुमिनाशक
और कफहर है ॥१३९॥ उसका गुदा मीठा, शीतल, भारी,
सिन्धु, वात और पित्तनाशक, बुद्धिवर्धक, शूल, वायु, वमन,
कफ और अरुचिनाशक है ॥१४०॥ उसका केसर अग्निदीपक
हलका, माही, गुष्म और अग्नाशक है । उसका रस प्लव
अपचन, मलावरोध, मदाग्नि, कफ और वात के रोग, अतोष
इन रोगों में विशेषणया उपयुक्त होता है ।

पित्तानिलकरं घालं पित्तलं यद्वकेसरम् ॥१४२॥

हृद्यं यणैकरं रुच्यं रक्तमांसयलप्रदम् ।

कषायानुरसं स्वादु यातमं घृहणं गुरु ॥१४३॥

पित्तायिरोधि संपकमाघ्नं शुक्रवियर्धनम् ।

(आश्र—) बाल आम (जिमक भीतर की गुल्ली
की घृष्ये वृद्धि नहीं हुई है) वातकर और पित्तकर होता है,
जिमक भीतर की गुल्ली पूर्ण होकर सख्त हुई है देता आम
(बदकेसर=बदास्थि) पित्तकारक होता है ॥१४२॥ कफ
हृष्या आम हृद्य (मन को मिय), वर्यकारक, रुचिकर, रु-
मांस और बल बढ़ाने वाला, अनुरस में कषाय, (रस में)

नीठा, वातनाशक, शरीरपुष्टिकर, भारी ॥१५३॥ पित्त का विरोध न करने वाला और शुक्ल होता है ।

बृंहणं मधुरं बल्यं गुरु विष्टभ्य जीर्यति ॥१५४॥

आम्रातकफलं वृष्यं सस्नेहं श्लेष्मवर्धनम् ।

त्रिदोषविष्टम्भकरं लकुचं शुक्रनाशनम् ॥१५५॥

अम्लं तृषापहं रुच्यं पित्तकृत् करमर्दकम् ।

वातपित्तहरं वृष्यं प्रियालं गुरु शीतलम् ॥१५६॥

हृद्यं स्वादु कषयासलं भव्यमास्यविशोधनम् ।

पित्तश्लेष्महरं ग्राहि गुरु विष्टम्भि शीतलम् ॥१५७॥

पारावतं समधुरं रुच्यमत्यग्निवातनुत् ।

गरदोषहरं नीपं प्राचीनामलकं तथा ॥१५८॥

आम्रातरु फल शरीरपुष्टिकर, मधुर, बलकारक, भारी,

पेट में गुडगुड शब्द करके पचन होने वाला, वृष्य, स्निग्ध

और कफवधक है । लकुच त्रिदोषजनक, विष्टम्भकर और

शुक्रनाशक है ॥१५४, १५५॥ कर्ौंदा खट्टा, तृषाशामक,

रुचिकारक और पित्तकारक है । प्रियाल (चिरौंजी का फल)

वातपित्तनाशक, वृष्य, भारी और शीतल है ॥१५६॥ भव्य

हृद्य, मीठा, कषाय, खट्टा, सुखविशोधक, पित्तकफनाशक,

ही, भारी, विष्टम्भजनक और शीतल है ॥१५७॥ पारावत

फल मधुर, रुचिकारक, तीक्ष्णाग्नि को मंद करने वाला और

युनाशक है । नीप (कदंब का फल) विपनाशक और

पनाशक है । उसी के गुणानुसार पानी आँवला भी होता

॥१५८॥

॥तापहं तित्तिडीकमामं पित्तबलासकृत् ।

॥हृष्णं दीपनं रुच्यं संपकं कफवातनुत् ॥१५९॥

॥सादल्पान्तरगुणं । कोशाग्रफलमुच्यते ।

॥म्लीकायाः फलं पकं तद्वद्भेदि तु केवलम् ॥१६०॥

अम्लं समधुरं हृद्यं विशदं भक्तरोचनम् ।

वातघ्नं दुर्जरं प्रोक्तं नारङ्गस्य फलं गुरु ॥१६१॥

तृषाशूलकफोत्केशच्छर्दिश्वासनिवारणम् ।

वातश्लेष्मत्रिविन्धघ्नं जम्बीरं गुरु पित्तकृत् ।

पेरावतं दन्तशठमम्लं शोणितपित्तकृत् ॥१६२॥

तित्तिडी का कच्चा फल वातनाशक और पित्तकारक होता

है । वही पक फल ग्राही, उष्ण, अग्निदीपक, रुचिकारक और

वातकफनाशक होता है ॥१५९॥ कोशाग्र का फल गुण में

तित्तिडीफल से कुछ कम होता है । इमली का पकफल गुण

में तित्तिडीफल के अनुसार परन्तु भेदक होता है ॥१६०॥

नारंग का फल (संतरा) खट्टा, मधुर, हृद्य, विशद, भोजन

में रुचि उत्पन्न करने वाला, वातनाशक, दुर्जर और भारी है

॥१६१॥ जम्बीर (नीबू) तृषा, शूल, कफ, जी मिचलाना,

वमन, श्वास, वात, कफ और मलाविरोध इनका नाश करने

वाला, भारी और पित्तकर होता है । पेरावत (नारंग का

भेद) और दन्तशठ (काठानीबू) खट्टा और रक्तपित्त-

कारक है ॥१६२॥

वृक्तव्य—उपर्युक्त दाडिमादिवर्ग के अधिकसंख्य फल अम्ल और किंचित् कषाय होते हैं । इनकी अम्लता सायट्रिक (Citric), टार्टरिक, मैलिक, आक्जेलिक (Tartaric, Mallic Oxalic), इत्यादि वानस्पतिक अम्लों (Vegetable acids) की उपस्थिति पर निर्भर होती है । इनका कसैलापन ड्यानिन, ड्यानिक अम्ल, ग्यालिक अम्लों की उपस्थिति पर निर्भर होता है । इनके अतिरिक्त सोडियम, पोट्यासियम इत्यादि क्षार, गोंद, जीवद्रव्य 'सी', शर्करादि पदार्थ भी इनमें उपस्थित होते हैं । वानस्पतिक अम्ल भोजन को पचाने में और स्वास्थ्य को ठीक रखने में बहुत भाग लेते हैं । पचन के समय ये कार्बोनेट में परिवर्तित होते हैं और रक्त की क्षारीयता (Alkalinity) स्थिर रखते हैं । आहारद्रव्यों से यदि इनको बिलकुल हटा दिया जावे तो रक्त की स्थिति खराब होकर स्कर्वी (Scurvy) आदि रोग उत्पन्न होते हैं । इसलिये इनका सेवन बहुत आवश्यक है । इनमें स्कर्वी प्रतिपेधक जीवद्रव्य सी (Antiscorbutic Vitamin C.) होने के कारण स्कर्वीरोग की चिकित्सा में भी इनका उपयोग बहुत होता है । नारंग, नीबू, संतरा, आम इनमें जीवद्रव्य सी पर्याप्त राशि में होता है ।

क्षीरवृक्षफलजाम्बवराजादनतोदनशीतफलतिन्दुकवकुलधन्वनाश्मन्तकाश्वकर्णफलगुपरूपकगाङ्गेरुकीपुष्करवर्तित्विष्विम्बीप्रभृतीनि ॥१६३॥

फलान्येतानि शीतानि कफपित्तहराणि च ।

संग्राहकारिण रूक्षाणि कषायमधुराणि च ॥१६४॥

क्षीर वृक्षों (न्यग्रोध, औटुम्बर, अश्वत्थ, झुन्न और वेतस) के फल, जामुन, राजादन (खिरनी), तोदन (काश्मीरी इमली, Morus Indica), शीतफल, तिन्दुक, वकुल, धन्वन (धामन), अश्मन्तक, अश्वकर्ण, फल्गु (अंजीर), परूपक (फालसा), गाङ्गेरुकी (गंगोठ), पुष्करवर्ति, बिल्व, विम्बी (कुदरु) इत्यादि ॥१६३॥ ये फल शीतल, कफपित्तनाशक, ग्राही, रुद्ध, कषाय और मधुर होते हैं ॥१६४॥

क्षीरवृक्षफलं तेषां गुरु विष्टम्भि शीतलम् ।

कषायं मधुरं साम्लं नातिमारुतकोपनम् ॥१६५॥

अत्यर्थं वातलं ग्राहि जाम्बवं कफपित्तजित् ।

स्निग्धं स्वादु कषायं च राजादनफलं गुरु ॥१६६॥

कषायं मधुरं रुद्धं तोदनं कफवातजित् ।

अम्लोष्णं लघु संग्राहि स्निग्धं पित्ताग्निवर्धनम् ॥१६७॥

आमं कषायं संग्राहि तिन्दुकं वानकोपनम् ।

विपाके गुरु संपकं मधुरं कफपित्तजित् ॥१६८॥

मधुरं च कषायं च स्निग्धं संग्राहि वाकुलम् ।

स्थिरीकरं च दन्तानां विशदं फलमुच्यते ॥१६९॥

सकषायं हिमं स्वादु धान्वनं कफवातजित् ।

तद्वद्गाङ्गेरुकं विद्यादश्मन्तकफलानि च ॥१७०॥

इनमें से क्षीर वृक्षों के फल भारी, विष्टम्भजनक, शीतल,

कषाय, मधुर, खट्टे होते हैं, और वायु को अधिक प्रकृषित नहीं करते ॥१६५॥ जामुन अतिवातल, (मूत्र और मल का) संग्रहण करने वाला (संग्राहि मूत्रगृह्णोः, दाशभट), कफ

पित्तनाशक होता है। विरली का फल स्निग्ध, मधुर, कषाय और भारी होता है ॥१६६॥ मोदन कषाय, मधुर, रुचक, कफ-घाननाशक, अम्ल, उष्ण, हलका, घ्राही, स्निग्ध, पित्तल और अमिषक है ॥१६७॥ कषा तिन्दुक कषाय, घ्राही, वातप्रकोपक होता है और पक्क तिन्दुक विपाक में गुरु, मधुर और कफनाशक तथा पित्तनाशक होता है ॥१६८॥ बकुल का फल मधुर, कषाय, स्निग्ध, घ्राही, दौर्गत को मज्जक करने वाला और विषद होता है ॥१६९॥ धामन कषाय, शीत, मधुर और कफ तथा पित्त हर्ण करने वाला है। धामन के गुणानुसार ही गागेरक और अस्मन्नक के फल समझने चाहिये ॥१७०॥

विष्टमि मधुरं स्निग्धं फल्गुजं तर्पणं गुरु ।
 अत्यम्लमीषमधुरं कषायानुरसं लघु ॥१७१॥
 घातघ्नं पित्तजननमामं विद्यात् परूषकम् ।
 तदेव पकं मधुरं घातपित्तनिवर्हणम् ॥१७२॥
 विपाके मधुरं शीतं रक्तपित्तप्रसादनम् ।
 शीघ्रं स्वादु विष्टमि बल्यं कफकरं गुरु ॥१७३॥
 कफानिलहरं तीक्ष्णं स्निग्धं संप्रादि दीपनम् ।
 कटुतिक्तकषायोष्णं यौलं विल्वमुदाहृतम् ॥१७४॥
 विघातदेव संपकं मधुरानुरसं गुरु ।
 विदाहि विष्टमकरं दोषरुतं पृथिमान्मनम् ॥१७५॥
 विन्धीफलं साध्यकं स्निग्धरुतं कफपित्तजित् ।

तृहदाहज्वरपित्ताशुषकासश्वासक्षयापहम् ॥१७६॥
 अत्रौर विष्टमजनक, मधुर, स्निग्ध, नृसिकारक और गुरु होता है। कषा परूषक (फाल्गु) क्षयनाशक, क्लिप्ति, नीद्र, अनुरस में कषाय, हलका ॥१७१॥ घातनाशक और पित्तजनक होता है। बड़ी पत्र होने पर मधुर, घातपित्तनाशक ॥१७२॥ विपाक में मधुर, शीतल और रक्तपित्तप्रसादक होता है। शीघ्रक फल (विपाक) आदि कषम के फल) मधुर, विष्टमजनक, कषकारक, कफकारक और गुरु होते हैं ॥१७३॥ कषा विन्धीफल कफघाननाशक, शीतल, स्निग्ध, घ्राही, अमि-
 शीरक, (रस में) कटु, तिक्त और कषाय तथा उष्ण होता है ॥१७४॥ बड़ी पत्र फल अनुरस में मधुर, भारी, विदाहजनक, विष्मजनक, दोषनाशक और (मधो) वायु में दूरीय उष्ण करने वाला होता है ॥१७५॥ बुरंग और अशकक्य रूप उष्ण करने वाले, कफपित्तनाशक, क्षया, दाह उत्र, रक्तपित्त, कषय, श्वास और क्षय हनका इरस करने वाले हैं ॥१७६॥

घनदण्ड—वृषभकषय—दुर्ग पत्रमधुर (अम्लरस) ।
 इस शरीरदुर्गारि को क क्षयिजनक फल कषायरसमयान है इसके रसों में सामान्यिक दृष्टि से स्नात्रिन, स्नात्रिक क्षयिक, स्नात्रिक क्षयिक दुर्गारि कषाय रस के अम्ल होते हैं। इसके स्नात्रिक शीत, सुहरा, सार तथा अन्य बर्दाध भी होते हैं। कषायरसमयान होने के कारण इसके साधारण गुण भी कषाय रस के अनुसार होते हैं। यह कषय शय सेनाशक (Anti-cancer) है इसलिये प्रसिद्धि, अमिषास सेनाशक इत्यादि कर्तव्य कर्तव्य होने वाले हैं स्नात्रिक होते हैं।

उपर्युक्त फलों में से जम्बु, क्षौरहत के फल और जम्बु का फल चरक के अनुसार सुधुरमाहक (अर्थात् सुधुराणि कम करने वाले) भी हैं—जम्बुकाशुभारकित्तनेतु शयमहालक्ष्मणरसमन्त्रमेवरा इति श्रेयसि सूक्तमन्त्रे भवति । (च सू. अ. ४) । भारतवर्ष में आयुर्वेद के मतानु-
 अत्यन्त प्राचीन काल से जामुन (Eugenia jambola) का उपयोग मधुमेह और बहुमूत्ररोग में किया जाता है। रोगों में जामुन का बीज प्रयोग करना चाहिए। मिष्ठि के प्रमेहाधिकार के 'व्यमोषोदुग्धरासकपरीशानकपारसना भक्त कल्पि जम्बु न विषल कुमु भयम्' । हृम श्लोक की में श्रीकण्ठदत्त लिखते हैं—आयुर्विद्य जम्बु परां सामान्यिक विशेषण से यह मिष्ठ हुआ है कि बीज में लाइन (Jambuline) नामक एक शर्करासाइड (Gly side) होता है, जिसके प्रभाव से मधुमेह में शर्करा मूत्र की राशि कम होती है। पाश्चात्य वैद्य भी आ-
 मधुमेह की चिकित्सा में अन्य ओषधियों के साथ जामु-
 उपयोग (जैसे—Jambul and Codome, P. D and करते हैं। क्लिब का भी उपयोग पाश्चात्य वैद्यक में नये पुराने अतिमार के लिये करते हैं।

तालनारिकेलपनसमौचममृतीनि ॥१७७॥
 स्वादुपाकरसान्याहुर्वातपित्तहराणि च ।
 धलप्रदानि क्षिग्धानि शृंहणानि हिमानि च ॥
 ताल, नारिकेल, पनस (कटहर, Arto carpa In-
 folia), केला मृत्तूनि फल ॥१७७॥ ये फल रस और
 में मधुर, घातपित्तनाशक, कषकारक, स्निग्ध, शीतल और शीतल होते हैं ॥१७८॥

फले स्वादुरसं मेपां तालजं गुरु पित्तजित् ।
 तद्वीजं स्वादुपाकं च मूत्रकं घातपित्तजित् ।
 नालिकेरं गुरु क्षिग्धं पित्तघ्नं स्वादु शीतलम् ।
 धलमांसमर्दं हृषं शृंहणं यस्मिन्शोधनम् ।
 पनसं मकषायं तु क्षिग्धं स्वादुरसं गुरु ।
 मीरं स्वादुरसं प्रोक्तं कषायं नातिशीतलम् ।
 रक्तपित्तहरं मृषं कषयं श्रेयमकरं गुरु

इसमें से ताल का फल रस में मधुर, भारी और
 नाशक है। उसका बीज विपाक में मधुर, मूत्र-
 पित्तनाशक है ॥१७९॥ नारिकेल (की मिष्ठि) भारी
 पित्तनाशक, मधुर, शीतल, कष और शीतल होने वाली,
 शरीरशुद्धिकर और शर्कराकोपक होती है ॥१८०॥ पनस
 रक्तुग, मधुर, स्निग्ध और भारी होता है। केला
 मधुर और कषाय है अम्ल शीतल नहीं है, रक्तपित्त-
 हृष, रक्तिकर, शोषाकर और भारी है ॥१८१॥

घनदण्ड—आयुर्विद्य के फल नारिकेलमृत्तूनि है ।
 क्लिब दृष्टि से इनमें श्रेय, सुहरा इत्यादि कषयिजनक
 होते हैं। इसके क्षयिक रस रसों में सेन शीतल
 शरीरशुद्धिकर होते हैं। इनमें नारिकेल और केला
 शोषाकरक है। शरीरशुद्धिकर शीतल का शयन रूप शरीरशुद्धिकर

सें महुली के तेल (Codliver oil) का मुकाबला कर सकता है। अमरिका आदि देशों में इसका उपयोग राजयक्ष्मा तथा अन्य क्षयकारक रोगों में शरीरपुष्टि के लिये सफलता से करते हैं। चाग्मट ने अष्टांगहृदय में नारिकेलादि फलों का उपयोग ज्वररोग के लिये लिखा है—वृंहणं युक्तं जीतलम् । दादशगंधाघरं रक्तपित्तप्रनादनम् ॥ नारिकेलखंड का भी राज-यक्ष्मा में उपयोग होता है। फेला भी बहुत पुष्टिकर खाद्य है। इसमें शर्करा, मेद, प्रोटीन, चूना, क्षार, लोह, फास्फोरिक अम्ल इत्यादि रासायनिक पदार्थ होते हैं। इनके अतिरिक्त जीवनीय-द्रव्य यी. सी भी होते हैं। तीन अच्युती तरह पके हुए फेले और छेद सेर दूध एक मनुष्य के लिये एक समय का उत्तम आहार होता है। अतिसार प्रवाहिकादि रोगों में फेला पथ्य-कर होता है। इसमें केवल एक दोष यह है कि पचन में कठिन होता है और कुछ लोगों को उसके सेवन से बद्धकोष्ठता उत्पन्न होती है। फेला आंतद्वियों में जन्तुनाशन का काम करता है।

द्राक्षाकाशर्म्यखर्जूरमधूकपुष्पप्रभृतीनि ॥१८२॥

रक्तपित्तहराणयाहुर्गुरुणि मधुराणि च ।

द्राक्षा (अंगूर), काशर्म्य (खंभारी), खर्जूर (छोहारा और खजूर), मधूकपुष्प (फल) प्रभृति ॥१८२॥ (ये फल सामान्यतया) रक्तपित्तनाशक, भारी और मधुर होते हैं।

तेषां द्राक्षा सरा खर्या मधुरा स्निग्धशीतला ।

रक्तपित्तज्वरश्वासतृष्णादाहक्षयापहा ॥१८३॥

हृद्यं मूत्रविवन्धनं पित्ताखुग्वातनाशनम् ।

केश्यं रसायनं मेध्यं काशर्म्यं फलमुच्यते ॥१८४॥

क्षतक्षयापहं हृद्यं शीतलं तर्पणं गुरु ।

रसे पाके च मधुरं खर्जूरं रक्तपित्तजित् ॥१८५॥

वृंहणीयमहृद्यं च मधूककुरुमुं गुरु ।

वातपित्तोपशमनं फलं तस्योपदिश्यते ॥१८६॥

इनमें से द्राक्षा दस्तावर, स्वर के लिये हितकर, मधुर, स्निग्ध, शीतल है और रक्तपित्त, ज्वर, श्वान, तृषा, दाह तथा क्षय का नाश करती है ॥१८३॥ काशर्म्यफल हृद्य, मूत्रावरोध, रक्तपित्त और वायु इनका नाश करने वाला, केश के लिये हितकर, रसायन और बुद्धिवर्धक होता है ॥१८४॥ खर्जूर क्षयनाशक, हृद्य, शीतल, तृप्तिकारक, रक्तपित्तनाशक, भारी, रस और विपाक में मधुर होता है ॥१८५॥ महुवा के पुष्प शरीरपुष्टिकर, मन को विशेष प्रसन्नता न देने वाले और भारी होते हैं। उसके फल वातपित्तनाशक होते हैं ॥१८६॥

वक्तव्य—द्राक्षादिवर्ग के फल मधुररसप्रधान हैं। इनमें शर्कराजातीय द्रव्य अधिक होता है। इन द्रव्यों से आसन या मद्य प्राचीन तथा अर्वाचीन काल में बनाया जाता। द्राक्षा के चार भेद होते हैं—१ द्राक्षा (अंगूर), २ कालद्राक्षा (काली दाख), ३ क्षुद्र द्राक्षा (किसमित), ४ गोस्तनीद्राक्षा (गुनका)। यहाँ केवल पहले प्रकार की द्राक्षा के गुण वर्णन किये हैं। खर्जूर तीन प्रकार का होता है—१ खर्जूरी (Phoenixsylvestris), २ पिण्डखर्जूरी

(छोहारा Phoenix Dactylifera), ३ भूखर्जूरी (Phoenix Farinifera) ।

चातामाचोडाभिषुकनिचुलपिचुनिकोचकोरुमा-
राप्रभृतीनि ॥१८७॥

पित्तश्लेष्महराणयाहुः स्निग्धोष्णानि गुरुणि च ।

वृंहणान्यनिलघ्नानि वल्यानि मधुराणि च ॥१८८॥

बादाम, अखरोट, अभिषुक (काजू ?), निचुल (चिलगोजा), पिचु, निकोचक (पिस्ता, Pistacia Vera), उरुमाणा (नासपाती ?) प्रभृति फल ॥१८७॥ पित्तकफनाशक, स्निग्ध, उष्ण, दुर्जर, शरीरपुष्टिकर, वातनाशक, बलकारक, और मधुर हैं ॥१८८॥

वक्तव्य—बादाम आदि फल 'सूखे भेचे' वर्गीकृत हैं। उनमें पौष्टिकांग बहुत होता है। इनका सामान्य रासायनिक संगठन ऐसा है—१५-२० प्रतिशत प्रोटीन, ५०-६० प्रतिशत चर्बी, ९-१२ प्रतिशत कार्बोहाइड्रेट, ३-५ प्रतिशत सेल्युलोज, १ प्रतिशत खनिज द्रार, ४-५ प्रतिशत पानी। इनमें प्रोटीन और मेद अधिक होने के कारण इनकी वृंहण शक्ति मांस के बराबर होती है। शर्कराजातीय द्रव्य बहुत कम होने के कारण मधु-मेही रोगियों के लिये ये फल पथ्यकर होते हैं। परन्तु मांस की अपेक्षा ये पचन में भारी होते हैं। अतः इनकी खूब चबा चबा कर खाना चाहिये। प्रधान भेचे का संगठन नीचे दिया है—

नाम	प्रोटीन	वसा	कार्बोहाइड्रेट	खनिज	जल
बादाम	२१.०	५४.९	१७.२	२.३	४.६
अखरोट	१५.५७	५७.४३	१३.०८	१.७	१२.२२
पिस्ता	२२.६	५४.८	१५.६	२.८	४.२

कपायं कफपित्तघ्नं किंचित्तिकं रुचिप्रदम् ।

हृद्यं सुगन्धि विशदं लवलीफलमुच्यते ॥१८९॥

वसिरं शीतपाक्यं च सारुष्करनिबन्धनम् ।

विष्टम्भि दुर्जरं रूक्षं शीतलं वातकोपनम् ॥१९०॥

विपाके मधुरं चापि रक्तपित्तप्रसादनम् ।

लवली फल (हरफा रेवड़ी—Phyllanthus Disticus) कसैला, कफपित्तनाशक, किंचित् कड़वा, रुचिकर, मन को प्रिय, सुगंध युक्त, और विगद होता है ॥१८९॥ वसिर (सूर्यावर्त फल), शीतपाक्य (बलाफल) और अरुष्कर निबन्धन (भलातकवृत्त) विष्टम्भजनक, पचने में कठिन, रूक्ष, शीतल, वातप्रकोपक ॥१९०॥ विपाक में मधुर और रक्तपित्त प्रसादक होते हैं।

शीतं कपायं मधुरं टङ्कं मास्तकडुह ॥१९१॥

स्निग्धोष्णं तिक्तमधुरं वातश्लेष्मघ्नमैडुदम् ॥१९२॥

शमीफलं गुरु स्वादु रूक्षोष्णं केशनाशनम् ।

गुरु श्लेष्मातकफलं कफघ्नमधुरं हिमम् ॥१९३॥

करीराक्षकपीलूनि तृणशून्यफलानि च ।

स्वादुतिक्तकटूष्णानि कफवातहराणि च ॥१९४॥

तित्तं पित्तकरं नेपां मरं कटुविपाकि च ।

तीक्ष्णोष्णं कटुकं पीनु सन्नेहं कफघातजित् ॥१९५॥

टङ्ग (नील कपिथ) गीतल, कपाय, मधुर, वातकारक और भारी है ॥१९१॥ इंगुदीकक छिन्ध, उष्ण, कडुवा, मधुर और वातकफनाशक है ॥१९२॥ गर्मी का फल भारी, मधुर, रज्ज, उष्ण और वेगनाशक है । श्लेष्मातक (लिमोडा, *Cordia Allaya*) का फल भारी, कफनाशक, मधुर और गीतल है ॥१९३॥ कठीर (*Capparis Aphylla*), आम्बिक, पीनु (*Siltadonia Persica*) और तृणशूय्य (मल्लिका या केन्की) इनके फल मधुर, कडवे, चरपरे, गरम और कफ वातनाशक होते हैं ॥१९४॥ इनमें से पीनु का फल (रस में) कडवा, पित्तल, दम्भावर, निपाक में कडु, तीक्ष्ण, गरम, कडु, खेदयुक्त और कफघातनाशक है ॥१९५॥

आरुष्करं तौवरकं कपायं कटुपाकि च ।

उष्णं रुमिज्वरानाहमेहोदावर्तनाशनम् ॥१९६॥

कुण्डगुल्मोदराशोमं कटुपाकि तथैव च ।

करञ्जकिंशुकारिष्टफले जन्तुप्रमेहनृत् ॥१९७॥

रूक्षोष्णं कटुकं पाके लघु वातकफापहम् ।

तिक्तमीपद्विपहितं विडङ्गं रुमिनाशनम् ॥१९८॥

भारुष्कर और तौवरक फल कफनाशक, कपाय, विपाक में कडु और गरम है और कृमि, उदर, अकार, प्रमेह और उदावर्त इनका नाश करता है ॥१९६॥ करज, टाक और नीम के फल कृमि, प्रमेह, कुष्ठ, गुल्म, उदर, और अर्थ इनका नाश करने वाले तथा विपाक में कडु होते हैं ॥१९७॥ विडग रुक्ष, उष्ण, विपाक में कडु, हलका, वातकफनाशक, कडवा, त्रिप में हितकर और रुमिनाशक होते हैं ॥१९८॥

घृत्कशूय्य—तुवरक, करज, टाक, नीम और विडग आम्बे-
तरीय तथा बाह्य प्रयोग में जीवाणुनाशक (Antiseptic)
और कृमिनाशक (Anthelmintics) हैं । इनमें से तुवरक,
करज और नीम अनेक प्रकार के रक्ता रोगों में तथा कुष्ठ में
लाभदायक होते हैं कुष्ठ के लिये तो पाश्चात्य वैद्यक में भी
तुवरक तेल के विविध योगों का ही प्रयोग होता है । वाग्भट
ने इनके फल मज्जा का प्रयोग कुष्ठ के लिये लिखा है—सप्तम
प्रयोगे तुवरकजीविन शूलघ्न ॥ (वि. अ. १६) । टाक के बीज
का उपयोग गोल कृमि (Round Worm) के लिये उत्तम
होता है । विडग का उपयोग चपटे कृमि (Tape Worm) के
लिये उत्तम होता है । इन औषधियों का ममायेग वाश्वास्य
वैद्यक में भी किया गया है ।

वण्यमुष्णं मरु मेध्यं दोषघ्नं शोफकुष्ठनुत् ।

कपायं दीपनं चाम्ल चक्षुष्य चाभयाफलम् ॥१९९॥

भेदन लघु रूक्षोष्णं वैस्वर्षं किमिनाशनम् ।

चक्षुष्यं स्वादुपाक्यास्तं कपायं कफपित्तजित् ॥२००॥

बहे का फल वण्य के लिये हितकर, उष्ण (वीर्य), दम्भा-
वर बुद्धिबर्धक, दीपनाशक, शोथ और कुष्ठनाशक, कपाय
रस वाला, अमिदीपक, रक्ता और नेत्र के लिये हितकर होता

१ पत्र—भेदोत्पन्न फल तिल गुण देवभर विम्वर इत
पिक पाठ ।

है ॥१९९॥ बहे का फल भेदक, हलका, रुक्ष, उष्ण
नाशक, रुमिनाशक, नेत्र के लिये हितकर, विपाक में
कपाय और कफपित्तनाशक है ॥२००॥

कफपित्तहरं रूक्षं यक्रुद्धेदमलापहम् ।

कपायमीषण्मधुरं किञ्चित् पूगफले सरम् ।

जातीकोशोऽथ कर्पूरं जातीकटुकयोः फलम् ।

ककोलकं लवङ्गं च तित्तं कटु कफापहम् ।

लघु तृष्णापहं यक्रुद्धेदवीर्यन्यनाशनम् ।

सतिक्तः सुरभिः शीतः कर्पूरो लघु लेपनः ॥

तृष्णायां मुग्धशोषे च चैरस्ये चापि पूजितः ।

लताकस्तुरिका तड्छच्छीता यन्तिविशोधनी ॥

प्रीणफल (सुपारी) कफपित्तनाशक, रुक्ष, मुर

गीलापन और मेल को दूर करने वाला, कपाय, किञ्चित्

और किञ्चित् दम्भावर है ॥२०१॥ जातीकोश (जाति

कर्पूर, जातीकफ, कटुका फल (लताकम्पूरी का या

ककोलकफल), ककोलक (*Cubeba officinalis*)

लवंग में कडवे, चरपरे, कफनाशक ॥२०२॥ हलके, कपाय

और मुल का गीलापन तथा दुर्गन्ध इनके नाश करने वाले

कर्पूर कडवा, सुगन्धयुक्त, गीतल, हलका, लेखन है ॥२

और तृण, मुल की सुगन्धी और अरुचि में फायदेमन्द

है । लताकम्पूरीका (मुक्त दाना *Hibiscus Abolu-*

chus) कर्पूर के धनुमार गुणवाली, गीतल और मूत्रविणो

होती है ॥२०४॥

प्रियालमज्जा मधुरो वृष्यः पित्तानिलापहः ।

वैभीतको मदकरः कफमारतनाशनः ॥२

कपायमधुरो मज्जा कोलानां पित्तनाशनः ।

तृष्णाच्छर्द्येनिलघ्नश्च तड्ढामलकस्य च ॥२

धीजपूरकशम्भ्याकमज्जा कोशाश्रसंभवः ।

स्वादुपाकोऽग्निवलरुत्स्निग्धः पित्तानिलापहः ॥२०

यस्य यस्य फलस्येह वीर्यं भवति यादृशम् ।

तस्य तस्यैव वीर्येण मज्जानमपि निर्दिशेत् ॥२

प्रियालमज्जा (चित्रोनी) मधुर, वृष्य, वातपित्तनाश

है । बहे की मज्जा मदकर और वातकफनाशक है ॥२०

कोलमज्जा (बेर की मीरि), कपाय, मधुर, पित्तनाश

तृष्णाशक, यमनहर और वातहर है । औषध की गुण

की गिरी भी गुण में कोलमज्जा के गुणानुसार होती है ॥२०

मातुलुग (चित्रोरा), गम्याक (किरमाल), अ

कोशाश्र इनके बीज की गिरी विपाक में मधुर, अग्नि का ये

बदाने वाली, छिन्ध और वातपित्तनाशक होती है ॥२००

त्रिम फल का जैसा वीर्य होता है उसी के अनुसार उतन

मज्जा (के गुणों को) जानना चाहिये ॥२०८॥

फलेपु परिपकं यद्गुणयन्तदुदाहृतम् ।

विरुवादन्यत्र विज्ञेयमामं तद्धि गुणोत्तरम् ।

प्राप्तुष्यं दीपनं तद्धि कपायं कटु तित्तकम् ।

व्याधितं कृमिजुष्टं च पाकतीतमकालजम् ॥२०९॥

वर्जनीयं फलं सर्वमपर्यागतमेव च ॥२१०॥

इति फलवर्गः ।

त्रिवलक के अतिरिक्त अन्य फलो में जो ठीक पके हुए हैं वे ही (अपने) गुणों से युक्त होते हैं । त्रिवल तो कच्चा ही गुणकारक होता है । वह ग्राही, उष्ण, अग्निदीपक, कषाय, कटु और तिक्त (रसयुक्त) होता है ॥२०६॥ जो रोग से खराब हुआ हो, जो कड़ियों से खाया हुआ हो, जो अधिक पका हुआ (गला सड़ा) हो, जो अकाल में उपन्न हुआ हो तथा जो अपक (कच्चा) हो ऐसा सर्व (प्रकार का) फल त्यागना (खाना नहीं) चाहिये ॥२१०॥

वक्तव्य—खराब भूमि में उत्पन्न हुआ, खराब पानी में हुआ हुआ, मन्त्रिखरों से तथा मलमूत्रादि से दूषित हुआ फल सेवन नहीं करना चाहिये—हिमानिलो^१णदुर्वान्याललादि-दूषितम् । जन्तुजुष्ट जले मशमभूमिजमनार्तवम् ॥ (वाग्भट) । अति-ग्रहेण शक्तीधमूत्रपुरीपादिना ग्रहणम् ॥ (अरुणादत्त) । इस प्रकार के खराब फल सेवन करने से अतिसार, प्रवाहिका, विस्फुटिका, आन्त्रिक ज्वर तथा पचनसंस्थान के अन्य रोग उत्पन्न होते हैं ।

शाकान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः ।—

तत्र पुष्पफलालावुकालिन्दकप्रभृतीनि ॥२११॥

त्तन्नाम्यनिलं कुर्युस्तथा मन्दकफानि च ।

प्रमूत्रपुरीपाणि स्वादुपाकरसानि च ॥२१२॥

इसके आगे शाकों का वर्णन करते हैं । उनमें पुष्पफल (मांड), अलावु (तेंद्री), कालिन्दक (तरबूज) इत्यादि ॥२११॥ पित्तनागक, वातजनक, किंचित् कफकारक, मूत्र की प्रवृत्ति करने वाले, रस और विपाक में मधुर हैं ॥२१२॥

पेत्तघ्नं तेपु कूपमाण्डं बालं मध्यं कफावहम् ।

मुहं लघूष्णं सत्तारं दीपनं वस्तिशोधनम् ॥२१३॥

सर्वदोषहरं हृद्यं पथ्यं चेतोविकारिणाम् ।

शिशुकक्षयकरं कालिन्दं कफवातकृत् ॥२१४॥

गलावुभिन्नविट्का तु रूक्षा गुर्व्यतिशीतला ।

तेकालावुरहृद्या तु वामिनी वातपित्तजित् ॥२१५॥

इनमें से बालकूपमाण्ड (कच्चा पेठा) पित्तनागक होता मध्य (अधपका) कफनाशक होता है और खूब पका या शुद्ध हलका, उष्ण, किंचित् सलोना, अग्निदीपक और श्विगोधक होता है ॥२१३॥ सब दोषों को शांत करता हृद्य को हितकर है और (उन्माद, अपस्मार, मूर्च्छा इति) मानसिक रोगों से पीड़ित रोगियों के लिये पथ्यकर ता है । कालिन्द दृष्टि और शुक का नागक और वातकफ-नक है ॥२१४॥ अलावु (मीठी तेंद्री) मल का भेदन करने वाली, रुक्ष, भारी और अतिशीतल है । कडवी तेंद्री हृद्य, वमन करने वाली और वातपित्तनाशक होती है ॥२१५॥

वक्तव्य—बेल वाले फलों में कुहडा सब से श्रेष्ठ माना या है—वहीफलानां कूपमाण्डं प्रवरन । (वाग्भट) । कूपमाण्डं तं वदन्ति मिषत्रो वहीफलानां पुनः ॥ (राजनिवृद्धः) ।

त्रपुसैवैरिक्तकार्कराशीर्णवृन्तप्रभृतीनि ॥२१६॥

स्वादुतिकरसान्याहुः कफवानकराणि च ।

सृष्टमूत्रपुरीपाणि रक्तपित्तहराणि च ॥२१७॥

त्रपुस (खीरा), एवांसक (ककड़ी), कार्करा, शीर्ण-वृन्त (ये ककड़ी के ही भेद हैं) इत्यादि ॥२१६॥ ये रस में मधुर और कड़वे, कफवातकारक, मलमूत्र की प्रवृत्ति उत्पन्न करने वाले और रक्तपित्तनागक होते हैं ॥२१७॥

वालं सुनीलं त्रपुसं तेषां पित्तहरं स्मृतम् ।

तन्पाण्डु कफकृत्शीर्णममलं वातकफापहम् ॥२१८॥

एवांसकं सकर्कारं संपकं कफवातकृत् ।

सत्तारं मधुरं हृद्यं दीपनं नातिपित्तलम् ॥२१९॥

सत्तारं मधुरं चैव शीर्णवृन्तं कफापहम् ।

भेदनं दीपनं हृद्यमानाहाष्टीलजुलुद्यु ॥२२०॥

इनमें से कच्ची नीली ककड़ी पित्तनागक होती है; पूर्ण पक सफेद कफकरक और खट्टी वातकफनाशक होती है ॥२१८॥ पूर्ण पक एवांसक और कार्करा कफवातजनक, किंचित् सलोना, मधुर, रुचिकर, अग्निदीपक और किंचित् पित्तकर होता है ॥२१९॥ शीर्णवृन्त खारापन लिये हुए मधुर, कफ-नागक, भेदक, अग्निदीपक, हृद्य, आनाह और (मूत्र) अष्टीला (Enlargement of the prostate) को दूर करने वाला तथा लघु होता है ॥२२०॥

पिप्पलीमरिचशृङ्गवेरार्द्रकहिङ्गुजीरककुस्तुम्बुसु-जम्बीरसुमुखसुरसार्जकभूस्त्रणसुगन्धककासमर्द-ककालमालकुटेरकक्षवकखरपुष्पशिशुमधुशिशुफ-णिज्जकसर्पपराजिकाकुलाहलावगुन्थगण्डीरतिल-परिणिकावर्षाभूचित्रकमूलकलजुनपलाण्डुकलायप्रभृ-तीनि ॥२२१॥

कट्टन्युष्णानि रुच्यानि वातश्लेष्महराणि च ।

कृतान्येषूपयुज्यन्ते संस्कारार्थमनेकधा ॥२२२॥

पिप्पली, मरिच, शृङ्गवेर (शुण्ठी), आर्द्रक (अदरक), हिंगु, जीरक, कुस्तुबुह (धनिया), जम्बीर (नींबू), सुमुख, सुरस, अर्जक (ये तीन तुलसी के भेद हैं), भूस्त्रण (रोहिण), सुगन्धक, कासमर्दक (कसौंदी), कालमाल (काला अजवला), कुटेरक (तुलसी का भेद), क्षवक (नाक छिकनी), खरपुष्प (छिकनीभेद या वनवर्षिकाभेद), शिशु (सफेद सहिजन), मधुशिशु (लाल फूल का सहिजन), फणिज्जक (मरवा), सर्पप (सफेद सरसों), राजिका (राई), कुलाहल, अवगुन्थ (रक्तगुंजा), गण्डीर (सूरण), तिलपरिणिका (रक्तचन्दन या चोरक), कर्षाभू (श्वेत पुनर्नवा), चित्रक, मूलक, लजुन, पलाण्डु (प्याज), कलाय (मटर का खाग) प्रभृति ॥२२१॥ सामान्यतया ये साग कटु, उष्ण, रुचिकर, वातकफहर होते हैं, और कई खाण

१ गुरुविट्मिशीतानि स्वाद्नि कफकृन्नि च । सृष्टमूत्रपुरीपाणि सक्षारमधुराणि च ॥ २ कृतान्येषू०

तिक्तः पित्तकरं नेपां मरं कटुविपाकि च ।

तीक्ष्णोष्णं कटुकं पीलुं सखेहं कफघातजित् ॥१०५॥

टङ्ग (नील कपित्थ) शीतल, कषाय, मधुर, वातकारक और भारी है ॥१९१॥ हृद्गुदीफल स्निग्ध, उष्ण, कटुरा, मधुर और वातघ्नफणाग्न है ॥१९२॥ शमी का फल भारी, मधुर, रूत, उष्ण और वेगनाशक है । शेषमातङ्ग (लिमोडा, Coidia Myxa) का फल भारी, कफनाशक, मधुर और शीतल है ॥१९३॥ करीर (Capparis Aphylla) आतित्तक, पीलु (Salvadora Persica) और तृणशून्य (मल्लिका या केल्की) इनके फल मधुर, कटु, चरपरे, गरम और कफ वाननाशक होते हैं ॥१९४॥ इनमें से पीलु का फल (रस में) कटुवा, पित्तल, दस्तावर, विपाक में कटु, तीक्ष्ण, गरम, कटु, खेदयुक्त और कफघातनाशक है ॥१९५॥

आरुक्करं तीक्ष्णं कषायं कटुपाकि च ।

उष्णं कृमिज्वरानाहमेहोदायतनाशनम् ॥१९६॥

कुष्ठगुल्मोदरादोषं कटुपाकि तथैव च ।

फरञ्जिकशुकारिष्टफलं जन्तुप्रमेहनृत् ॥१९७॥

रूक्षोष्णं कटुकं पाके लघु घातकफापहम् ।

तिक्तमीपद्विपहितं विडहं कृमिनाशनम् ॥१९८॥

भारुक्कर और तीक्ष्ण कषय हणकारक, कषाय, विपाक में कटु और गरम है और कृमि, ज्वर, अफार, प्रमेह और उदात्त इनका नाश करता है ॥१९६॥ करज, ढाक और नीम के फल कृमि, प्रमेह, कुष्ठ, गुल्म, उदर, और अन्य हलका नाश करने वाले तथा विपाक में कटु होते हैं ॥१९७॥ विडगा रूत, उष्ण, विपाक में कटु, हलका, वातकफनाशक, कटुवा, विप में हितकर और कृमिनाशक होते हैं ॥१९८॥

घक्तयुक्त—तुवरक, करज, ढाक, नीम आंग विडगा आभ्य तरीय तथा बाह्य प्रयोग में जीवाणुनाशक (Antiseptic) और कृमिनाशक (Anthelmintics) है । इनमें से तुवरक, करज और नीम अनेक प्रकार के त्वचा रोगों में तथा कुष्ठ में लाभदायक होते हैं कुष्ठ के लिये ता पाश्चैत्य वैद्यक में भी तुवरक तेल के विविध योगों का ही प्रयोग होता है । चाग्भट ने इनके फल मज्जा का प्रयोग कुष्ठ के लिये लिखा है—सायन प्रयोगेण तुवरकशीत शीतनेन ॥ (वि अ १६) । टाङ्ग के धीन का उपयोग माला कृमि (Round Worm) के लिये उत्तम होता है । विडगा का उपयोग चपटे कृमि (Tape Worm) के लिये उत्तम होता है । इन आपथियां वा समावेश पाश्चात्य वैद्यक में भी किया गया है ।

व्ययमुष्णं मर मेध्य दोषघ्नं शोफकुष्ठजुत् ।

कषाय दीपन चाम्ल चक्षुष्य चाभयाफलम् ॥१९९॥

भेदन लघु रूक्षोष्णं वैश्वर्यं क्रिमिनाशनम् ।

चक्षुष्यं स्वादुपाक्याह कषायं कफपित्तजित् ॥२००॥

हरदे का फल मृग के लिये हितकर, उष्ण (तीक्ष्ण), दस्तावर बुद्धिबर्धक, दोषनाशक, गोथ और हृदयाशक, कषाय रस वाला, अग्निदीपक, मृदा और नत्र के लिये हितकर होता

१ मन्त्रक—अङ्गुलस्य फल तिल गुग्गुलेभ्यश्च हिमन् ह्य विक शब्द ।

है ॥१९९॥ बहेदे का फल भेदक, हलका, रूत, उष्ण, नाशक, कृमिनाशक, नेत्र के लिये हितकर, विपाक में म कषाय और कफपित्तनाशक है ॥२००॥

कफपित्तहरं रूतं चक्रहेदमलपहम् ।

कषायमीपन्मधुरं किञ्चित् पूगफलं सरम् ॥२

जातीकोशोऽथ कर्पूर जातीकटुकयोः फलम् ।

कफोलकं लवङ्गं च तिक्तं कटु कफापहम् ॥२

लघु तृष्णापहं चक्रहेददौर्गन्धनाशनम् ।

सतिक्तः सुरभिः शीतः कर्पूरो लघु लेखनः ॥२

तृष्णायां मुखशोषे च वैरस्ये चापि पूजितः ।

लताकस्तूरिका तटच्छीता वस्तिविशोधनी ॥२

पूरीफल (सुपारी) कफपित्तनाशक, रूत, मुख

शीलापन और मेल को दूर करने वाला, कषाय, किञ्चित् म

और किञ्चित् दस्तावर है ॥२०१॥ जातीकोय (जावित्री,

कर्पूर, जातीकफ, कटुका फल (लताकस्तूरी का फल

कह्लोकफल), कफोलक (Cubeba officinalis) अ

लवग ये कटु, चरपरे, कषयनाशक ॥२०२॥ हलके, तृणाम

और मुख का शीलापन तथा दूरीय इनके नाश करने वाले हैं

कफ कटुवा, सुगन्धयुक्त, शीतल, हलका, लेखन है ॥२०३

और तृण, सुगंधी सुगंधी और अरुचि में कषयनाशक होते

हैं । लताकस्तूरिका (सुगंध दामर Hiliscus Abelmos

chus) कर्पूर के अनुसार गुणवाली, शीतल और मृत्रविशोध

होती है ॥२०४॥

प्रियालमज्जा मधुरो वृष्यः पित्तानिलापह ।

वैभीतको मदकरः कफमारतनाशन ॥२०५

कषायमधुरो मज्जा कोलानां पित्तनाशन ।

तृष्णाच्छर्चनिलघ्नश्च तट्टामलकस्य च ॥२०६

वीजपूरकशम्याकमज्जा कोशाघ्नसंभव ।

स्वादुपाकोऽग्निप्रलकृत्स्निग्धः पित्तानिलापह ॥२०७

यस्य यस्य फलस्येह धीर्यं भवति यादृशम् ।

तस्य तस्यैव वीर्येण मज्जानमपि निर्दिशेत् ॥२०८

प्रियालमज्जा (चिरोनी) मधुर, वृष्य, वातपित्तनाशक

है । बहेदे की मज्जा मदकर और वातकफनाशक है ॥२०५॥

कालमज्जा (परे की मींगी), कषाय, मधुर, पित्तनाशक

तृणामाशक, वमनहर और वानहर है । आँवले की गुच्छी

की गिरी भी गुण में वीजमज्जा के गुणानुसार होती है ॥२०६॥

मातुलुग (विजोरा) शम्याक (किरमान) और कागात्र इनके बीज की गिरी विपाक में मधुर, अग्नि का

वृद्धन वाली, स्निग्ध और वातपित्तनाशक होती है ॥२०७॥

जिम फल का जैमा धीर्य होता है उसी के अनुसार उसी मज्जा (के गुणों की) जानना चाहिये ॥२०८॥

फलेषु परिष्व यहुषयत्तदुदाहृतम् ।

विल्यादन्यत्र विशेषमाम तद्धि गुणोत्तरम् ।

प्राहृष्णं दीपनं तद्धि कषायं कटु तिक्तकम् ।

व्याधितं कृमिजुष्ट च पाकातीतमज्जालजम् ॥२०९॥

वर्जनीयं फलं सर्वमपर्यागतमेव च ॥२१०॥
इति फलवर्गः ।

त्रिवल फल के अतिरिक्त अन्य फलों में जो ठीक पके हुए हैं वे ही (अपने) गुणों से युक्त होते हैं । त्रिवल तो कच्चा ही गुणकारक होता है । वह ग्राही, उष्ण, अग्निदीपक, कपाय, कटु और तिक्त (रसयुक्त) होता है ॥२०६॥ जो रोग से खराब हुआ हो, जो कीटों से खाया हुआ हो, जो अधिक पका हुआ (गला सड़ा) हो, जो अकाल में उपन्न हुआ हो तथा जो अपक (कच्चा) हो ऐसा सर्व (प्रकार का) फल त्यागना (खाना नहीं) चाहिये ॥२१०॥

वक्तव्य—खराब भूमि में उपन्न हुआ, खराब पानी में हुआ हुआ, मक्खियों से तथा मलमूत्रादि से दूषित हुआ फल सेवन नहीं करना चाहिये—हिमनिरीणदुर्वाग्न्यालालादि-दूषितम् । अन्तुजुष्ट जले मग्नमभूभिजमनातवग ॥ (वाग्भट) । आदि-ग्रहणं शबकोधमूत्रपुरीषादीनां ग्रहणम् ॥ (श्रुणादत्त) । इस प्रकार के खराब फल सेवन करने से अतिसार, प्रवाहिका, विमूचिका, आन्त्रिक ज्वर तथा पचनसंस्थान के अन्य रोग उपन्न होते हैं ।

शाकान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः ।—

तत्र पुष्पफलालावुकालिन्दकप्रभृतीनि ॥२११॥

पित्तघ्नान्यनिलं कुर्युस्तथा मन्दकफानि च ।

सृष्टमूत्रपुरीषाणि स्वादुपाकरसानि च ॥२१२॥

इसके आगे शाकों का वर्णन करते हैं । उनमें पुष्पफल (कूभाण्ड), अलावु (तेंवी), कालिन्दक (तरबूज) इत्यादि शाक ॥२११॥ पित्तनाशक, वातजनक, किंचित् कफकारक, मलमूत्र की प्रवृत्ति करने वाले, रस और विपाक में मधुर होते हैं ॥२१२॥

पित्तघ्नं तेषु कूभाण्डं बालं मध्यं कफावहम् ।

शुक्लं लघूष्णं सच्चारं दीपनं वस्तिशोधनम् ॥२१३॥

सर्वदोषहरं हृद्यं पथ्यं चेतोविकारिणाम् ।

दृष्टिशुक्रक्षयकरं कालिन्दं कफघातकृत ॥२१४॥

अलावुभिन्नविट्का तु रुक्षा गुर्वतिशीतला ।

तिक्तालावुरहृद्या तु वामिनी वातपित्तजित् ॥२१५॥

इनमें से बालकूभाण्ड (कच्चा पेठा) पित्तनाशक होना है, मध्य (अधपका) कफनाशक होता है और खूब पका हुआ शुक्ल हलका, उष्ण, किंचित् सलोना, अग्निदीपक और सूत्रविशोधक होता है ॥२१३॥ सब दोषों को शांत करता है, हृद्य को हितकर है और (उन्माद, अपस्मार, मूर्च्छा प्रभृति) मानसिक रोगों से पीड़ित रोगियों के लिये पथ्यकर होता है । कालिन्द दृष्टि और शुक्र का नाशक और वातकफ-जनक है ॥२१४॥ अलावु (मीठी तेंवी) मल का भेदन करने वाली, रुच, भारी और अतिशीतल है । कड़वी तेंवी अहय, वमन करने वाली और वातपित्तनाशक होती है ॥२१५॥

वक्तव्य—बैल वाले फलों में कुहड़ा सब से श्रेष्ठ माना गया है—वलीफलानां कूभाण्डं प्रवरम् । (वाग्भट) । कूभाण्डं प्रवरं वदन्ति भिषजो वलीफलानां पुनः ॥ (राजनिघंटुः) ।

त्रपुसेर्वास्करकार्करशीर्णवृन्तप्रभृतीनि ॥२१६॥

स्वादुतिक्ततरसान्याहुः कफघातकराणि च ।

सृष्टमूत्रपुरीषाणि रक्तपित्तहराणि च ॥२१७॥

त्रपुस (खीरा), पर्वास्क (ककड़ी), कार्कर, शीर्ण-वृन्त (ये ककड़ी के ही भेद हैं) इत्यादि ॥२१६॥ ये रस में मधुर और कड़वे, कफघातकारक, मलमूत्र की प्रवृत्ति उत्पन्न करने वाले और रक्तपित्तनाशक होते हैं ॥२१७॥

वालं सुनीलं त्रपुसं तेषां पित्तहरं स्मृतम् ।

तन्पाण्डु कफकृजीर्णममलं वातकफापहम् ॥२१८॥

पर्वास्कं सकर्करं संपकं कफघातकृत् ।

सच्चारं मधुरं रुच्यं दीपनं नातिपित्तलम् ॥२१९॥

सच्चारं मधुरं चैव शीर्णवृन्तं कफापहम् ।

भेदनं दीपनं हृद्यमानाहाष्टीलुलुधु ॥२२०॥

इनमें से कच्ची नीली ककड़ी पित्तनाशक होती है; पूर्ण पक सफेद कफकारक और खट्टी वातकफनाशक होती है ॥२१८॥ पूर्ण पक पर्वास्क और कार्कर कफघातजनक, किंचित् सलोना, मधुर, रुचिकर, अग्निदीपक और किंचित् पित्तकर होता है ॥२१९॥ शीर्णवृन्त खारापन लिये हुए मधुर, कफ-नाशक, भेदक, अग्निदीपक, हृद्य, आनाह और (मूत्र) अष्टीला (Enlargement of the prostrate) को दूर करने वाला तथा लघु होता है ॥२२०॥

पिप्पलीमरिचशृङ्गवेगर्द्रकहिङ्गुजीरककुस्तुम्बुरु-जम्बीरसुमुखसुरसार्जकभूस्त्वणसुगन्धककासमर्द-ककालमालकुठेरकक्षवकखरपुष्पशिथुमधुशिथुफ-णिज्भकसर्पपराजिकाकुलाहलावगुन्धगण्डीरतिल-पर्णिकावर्षाभूचित्रकमूलकलशुनपलाण्डुकलायप्रभृ-तीनि ॥२२१॥

कटून्युष्णानि रुच्यानि वातश्लेष्महराणि च ।

कृतान्येषूपयुज्यन्ते संस्कारार्थमनेकधा ॥२२२॥

पिप्पली, मरिच, शृङ्गवर (शुण्ठी), आर्द्रक (अदरक), हिंशु, जीरक, कुस्तुंबुरु (धनिया), जम्बीर (नींबू), सुमुख, सुरस, अर्जक (ये तीन तुलसी के भेद हैं), भूस्त्वण (रोहिण), सुगन्धक, कासमर्दक (कसौंदी), कालमाल (काला अजबला), कुठेरक (तुलसी का भेद), क्षवक (नाक छिकनी), खरपुष्प (छिकनीभेद या वनवर्षिकाभेद), शिथु (सफेद सहिजन), मधुशिथु (लाल फूल का सहिजन), फणिज्भक (मरवा), सर्पप (सफेद सरसों), राजिका (राई), कुलाहल, अवगुन्ध (रक्तगुंजा), गण्डीर (सूरण), तिलपर्णिका (रक्तचन्दन या चोरक), कर्षाभू (श्वेत पुनर्नवा), चित्रक, मूलक, लशुन, पलाण्डु (प्याज), कलाय (मटर का साग) प्रभृति ॥२२१॥ सामान्यतया ये साग कटु, उष्ण, रुचिकर, वातकफहर होते हैं, और कई स्वाद्य

१ गुरुविट्भिशीतानि स्वादूनि कफकृन्ति च । सृष्टमूत्रपुरीषाणि सक्षारमधुराणि च ॥ २ कृतान्येषु० ।

तित्तं पित्तकरं तेषां सरं कटुविपाकि च ।

तीक्ष्णोष्णं कटुकं पीलु सखेहं कफघातजित् ॥१९५॥

रूद्र (नील कपिथ) गीतल, कपाय, मधुर, वातकारक और भारी है ॥१९१॥ हृग्दीफल सिन्ध, उष्ण, कटुता, मधुर और वातकफनाशक है ॥१९२॥ गर्मी वा फल भारी, मधुर, रुद्र, उष्ण और वेगनाशक है । श्लेष्मातक (लिमोडा, Cordia Myra) का फल भारी, कफकारक, मधुर और गीतल है ॥१९३॥ करीर (Cappus Aphylla), आन्निक, पीलु (Salidora Persica) और तृणशून्य (मल्लिका पा केन्की) इनके फल मधुर, कठोर, चारपरे, गरम और कफ वातनाशक होते हैं ॥१९४॥ इनमें से पीलु का फल (रस में) कडवा, पित्तल, दस्तावर, विपाक में कटु, तीक्ष्ण, गरम, कटु, श्लेष्मिक और कफघातनाशक है ॥१९५॥

आरुष्करं तौघकरं कपायं कटुपाकि च ।

उष्णं कृमिज्वरानाहमेहोदाघवर्तनाशनम् ॥१९६॥

कुष्ठगुल्मोदराशोमं कटुपाकि तथैव च ।

करञ्जकिशुकारिणफलं जन्तुप्रमेहनुत् ॥१९७॥

रूद्रोष्णं कटुकं पाके लघु वातकफापहम् ।

तित्तमीपद्विग्रहितं विडहं कृमिनाशनम् ॥१९८॥

आरुष्कर और तौघकर फल वणकारक, कपाय, विपाक में कटु और गरम है और कृमि, ज्वर, अफारा, प्रमेह और उदावर्त इनका नाश करता है ॥१९६॥ करज, टाक और नीम के फल कृमि, प्रमेह, कुष्ठ, गुल्म, उदर, और अर्थ इनका नाश करने वाले तथा विपाक में कटु होते हैं ॥१९७॥ विडग रुद्र, उष्ण, विपाक में कटु, हलका, वातकफनाशक, कडवा, विप में हितकर और कृमिनाशक होते हैं ॥१९८॥

धृक्त्वयं—तुवरक, करज, टाक, नीम और विडग आम्ब्य-तरीय तथा बाह्य प्रयोग से जीवाणुनाशक (Antiseptic) और कृमिनाशक (Anthelmintics) हैं । इनमें से तुवरक, करज और नीम अनेक प्रकार के त्वचा रोगों में तथा कुष्ठ में लाभदायक होते हैं कुष्ठ के लिये सो पाश्चात्य वैद्यक में भी तुवरक तेल के विविध योगों का ही प्रयोग होता है । वाग्भट ने इसके फल मज्जा का प्रयोग कुष्ठ के लिये लिखा है—रसायन प्रयोगे तुवराब्धिनि शोथेन ॥ (चि अ १६) । टाक के बीज का उपयोग गोल कृमि (Round Worm) के लिये उत्तम होता है । विडग का उपयोग चपटे कृमि (Tape Worm) के लिये उत्तम होता है । इन औषधियों का समावेग पाश्चात्य वैद्यक में भी किया गया है ।

अथमुष्णं सर मेध्यं शोषघ्नं शोफकुष्ठनुत् ।

कपाय दीपनं चाम्लं चक्षुष्य चाभयाफलम् ॥१९९॥

मेदनं लघु रूद्रोष्णं वैश्वर्यं किमिनाशनम् ।

चक्षुष्यं स्वादुपात्र्यासं कपायं कफपित्तजित् ॥२००॥

हरडे का फल वण के लिये हितकर, उष्ण (वीर्य), दस्ता-वर बुद्धिबर्धक, दीपनाशक, शोथ और कुष्ठनाशक, कपाय रस वाला, अभिदीपक, मृदा और नेत्र के लिये हितकर होता

है ॥१९९॥ बहेडे का फल भेदक, हलका, रुद्र, उष्ण, नाशक, कृमिनाशक, नेत्र के लिये हितकर, विपाक में कपाय और कफपित्तनाशक है ॥२००॥

कफपित्तहरं रुद्रं चक्रहेदमलापहम् ।

कपायमीपग्मधुरं किञ्चित् पूगफलं सरम् ॥

जातीकोशोऽथ कर्पूरं जातीकटुकयोः फलम् ।

ककरोलकं लघुञ्जं च तित्तं कटु कफापहम् ॥२

लघु तृष्णापहं चक्रहेददौर्गन्धनाशनम् ।

सतित्तः सुरभिः शीतः कर्पूरो लघु लेखनः ॥२

तृष्णार्था मुग्धशोपे च घैरस्ये चापि पूजितः ।

लतारुस्तुरिका तद्रच्छ्रिता वस्तिविशोधनी ॥२

प्रीफल (सुपारी) कफपित्तनाशक, रुद्र, सुख गीलायन और मेल को दूर करने वाला, कपाय, किञ्चित् म और किञ्चित् दस्तावर है ॥२०१॥ जातीकोश (जावित्री कर्पूर, जातीकष, कटुका फल (लतारुस्तुरी का यह ककरोलकफल), ककरोलक (Cubeba officinalis) ३ लक्ष्मण के कटपरे, चारपरे, कफनाशक ॥२०२॥ हलके, तृष्णघ्न और मुख का गीलायन तथा दुर्गन्ध इनके नाश करने वाले । कर्पूर कडवा, सुगन्धयुक्त, गीतल, हलका, ऐश्वर्य है ॥२०३॥ और तृष्णा, मुख की खुष्की और अरुचि में फास्देमन्द ही है । लतारुस्तुरिका (मुक्क दाना Hibiscus Abolmechus) कर्पूर के अनुसार गुणवाली, गीतल और मृत्रशोध होती है ॥२०४॥

प्रियालमज्जा मधुने वृध्यः पित्तानिलापहः ।

वैभीतको मदकरः कफमाहृतनाशनः ॥२०५॥

कपायमधुरो मज्जा फोलानां पित्तनाशनः ।

तृष्णाच्छद्यनिलघ्नश्च तद्ददामलकस्य च ॥२०६॥

वीजपूरकशम्याकमज्जा फोशाघ्नसंभवः ।

स्वादुपात्रोऽग्निवलयश्च सिन्धः पित्तानिलापहः ॥२०७॥

यस्य यस्य फलस्येह धीर्यं भवति यादृशम् ।

तस्य नस्यैव धीर्येण भजानमपि निर्दिशेत् ॥२०८॥

प्रियालमज्जा (चिरीजी) मधुर, वृष्य, वातपित्तनाशक है । बहेडे की मज्जा मक्कर और वातकफनाशक है ॥२०५॥ कोलमज्जा (घेर की मींगी), कपाय, मधुर, पित्तनाशक, तृष्णाघ्नक, वमनहर और वातहर है । छांउले की गुठली की गिरी भी गुण में वीजमज्जा के गुणानुसार होती है ॥२०६॥ मातुली (बिजौरा), गम्पाक (किरमाल) और कोशाघ्न इनसे बीज की गिरी विपाक में मधुर, अग्नि का केन्द्र बढ़ाने वाली, सिन्ध और वातपित्तनाशक होती है ॥२०७॥ जिम फल का जैसा वीर्य होता है उन्हीं के अनुसार उनकी मज्जा (के गुणों को) जानना चाहिये ॥२०८॥

फलेषु परिपकं यदृण्येत्तदुदाहृतम् ।

चित्वाद्यन्न विज्ञेयमामं तद्धि गुणोत्तरम् ।

श्रावुष्यं दीपनं तद्धि कपायं कटु तित्तकम् ।

व्याधितं कृमिजुष्टं च पाकान्तीतमकालजम् ॥२०९॥

१ लक्षण—'अशुक्लरस फल विज गुण श्लेष्माहर हिमन्' इत्ये पिक पाठ ।

वर्जनीयं फलं सर्वमपर्यागतमेव च ॥२१०॥
इति फलवर्गः ।

विरवफल के अतिरिक्त अन्य फलों में जो ठीक परं हुए हैं वे ही (अपने) गुणों से युक्त होते हैं । त्रिव्य तो कच्चा ही गुणाकारक होता है । वह प्राही, उष्ण, अग्निदीपक, कषाय, कटु और तिक्त (रसयुक्त) होता है ॥२०६॥ जो रोग से खराब हुआ हो, जो कटाई से ख़ाया हुआ हो, जो अधिक पका हुआ (गला सड़ा) हो, जो अकाल में उत्पन्न हुआ हो तथा जो अपक (कच्चा) हो ऐसा सर्व (प्रकार का) फल त्यागना (खाना नहीं) चाहिये ॥२१०॥

वक्तव्य—खराब भूमि में उत्पन्न हुआ, खराब पानी में हुआ हुआ, मक्खियों रो तथा मलमूत्रादि से दूषित हुआ फल सेवन नहीं करना चाहिये—हिमःनिष्ठाणट्वर्णान्याल्लालारि-
द्विषन्म् । जन्तुशुष्टं जले मग्नमभिजमनार्त्तवम् ॥ (वाग्भट) । अग्नि-
दग्नेन श्वक्वोथमूत्रपुरीषादीनां ब्रह्मणम् ॥ (अरुणदत्त) । इस प्रकार के खराब फल सेवन करने से अतिसार, प्रवाहिका, विमूचिका, आन्त्रिक ज्वर तथा पचनस्थान के अन्य रोग उत्पन्न होते हैं ।

शाकान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः ।—

तत्र पुष्पफलालावुकालिन्दकप्रभृतीनि ॥२११॥

त्तन्मन्यनिलं कुर्युस्तथा मन्दकफानि च ।

प्रमूत्रपुरीषाणि स्वादुपाकरसानि च ॥२१२॥

इसके आगे शाकों का वर्णन करते हैं । उनमें पुष्पफल (मांड), अलावु (तंबू), कालिंदक (तरबूज) इत्यादि ॥२११॥ पित्तनाशक, वातजनक, किंचित् कफकारक, मूत्र की प्रवृत्ति करने वाले, रस और विषाक में मधुर हैं ॥२१२॥

रंत्तं तेषु कृष्णमाण्डं बालं मध्यं कफावहम् ।

लुक्लघूष्णं सत्तारं दीपनं वस्तिशोधनम् ॥२१३॥

उर्वदोषहरं हृद्यं पथ्यं चेतोविकारिणाम् ।

शिशुकक्षयकरं कालिन्दं कफवातकृत् ॥२१४॥

लावुभिन्नविट्का तु रूक्षा गुर्व्यतिशीतला ।

तेकालावुरहृद्या तु वामिनी वातपित्तजित् ॥२१५॥

इनमें से बालकृष्णमाण्ड (कच्चा पंठा) पित्तनाशक होता मध्य (अधपका) कफनाशक होता है और खूब पका (शुक्र हलका, उष्ण, किंचित् सलोना, अग्निदीपक और विशोधक होता है ॥२१३॥ सब दोषों को शांत करता हृद्य को हितकर है और (उन्माद, अपस्मार, मूर्च्छा इति) मानसिक रोगों से पीड़ित रोगियों के लिये पथ्यकर ता है । कालिन्द दृष्टि और शुक का नाशक और वातकफ-
क है ॥२१४॥ अलावु (मीठी तोंबी) मल का भेदन ले वाली, रुद्ध, भारी और अतिशीतल है । कड़वी तोंबी हृद्य, वमन करने वाली और वातपित्तनाशक होती है ॥२१५॥

वक्तव्य—बेल वाले फलों में कुम्हड़ा सब से श्रेष्ठ माना जाता है—वहीफलानां कृष्णमाण्ड प्रवरम् । (वाग्भट) । कृष्णमाण्ड रं वदन्ति मिषजो वहीफलानां पुनः ॥ (राजनिघंटुः) ।

त्रपुसैर्वास्करकार्शकशीर्णवृन्तप्रभृतीनि ॥२१६॥

स्वादुनित्तरसान्याहुः कफवातकराणि च ।

सुप्रमूत्रपुरीषाणि रक्तपित्तहराणि च ॥२१७॥

त्रपुस (खीरा), एर्वास्क (ककड़ी), कर्कारक, शीर्ण-
वृन्त (ये ककड़ी के ही भेद हैं) इत्यादि ॥२१६॥ ये रस में मधुर और कड़वे, कफवातकारक, मलमूत्र की प्रवृत्ति उत्पन्न करने वाले और रक्तपित्तनाशक होते हैं ॥२१७॥

बालं सुनीलं त्रपुसं तेषां पित्तहरं स्मृतम् ।

तत्पाण्डु कफकृर्जाणमम्लं वातकफापहम् ॥२१८॥

एर्वास्कं सकर्कारं संपकं कफवातकृत् ।

सत्तारं मधुरं रुच्यं दीपनं नातिपित्तलम् ॥२१९॥

सत्तारं मधुरं चैव शीर्णवृन्तं कफापहम् ।

भेदनं दीपनं हृद्यमानाहाष्टीलनुलघु ॥२२०॥

इनमें से कच्ची नीली ककड़ी पित्तनाशक होती है; पूर्ण पक सफेद कफकरक और खड़ी वातकफनाशक होती है ॥२१८॥ पूर्ण पक एर्वास्क और कर्कारक कफवातजनक, किंचित् सलोना, मधुर, रुचिकर, अग्निदीपक और किंचित् पित्तकर होता है ॥२१९॥ शीर्णवृन्त खारापन लिये हुए मधुर, कफ-
नाशक, भेदक, अग्निदीपक, हृद्य, आनाह और (मूत्र) अष्टीला (Enlargement of the prostate) को दूर करने वाला तथा लघु होता है ॥२२०॥

पिप्पलीमरिचशृङ्गवेरार्द्रकहिङ्गुजीरककुस्तुम्बुरु-
जम्बीरसुमुखसुरसार्जकभूस्वर्णसुगन्धककासमर्द-
ककालमालकुठेरकक्षयकखरपुष्पशिशुमधुशिशुफ-
णिज्जकसर्पपराजिकाकुलाहलावगुन्थगण्डीरतिल-
पर्णिकावर्षाभूचित्रकमूलकलशुनपलाण्डुकलायप्रभृ-
तीनि ॥२२१॥

कट्टन्युष्णानि रुच्यानि वातश्लेष्महराणि च ।

कृतान्येषूपयुज्यन्ते संस्कारार्थमनेकधा ॥२२२॥

पिप्पली, मरिच, शृङ्गवेर (शुष्ठी), आर्द्रक (अदरक), हिंशु, जीरक, कुस्तुंबुरु (धनिया), जम्बीर (नींबू), सुमुख, सुरस, अर्जक (ये तीन तुलसी के भेद हैं), भूस्वर्ण (रोहिण), सुगंधक, कासमर्दक (कसौंदी), कालमाल (काला अजवला), कुठेरक (तुलसी का भेद), क्षयक (नाक छिकनी), खरपुष्प (छिकनीभेद या वनवर्बरिकाभेद), शिशु (सफेद सहिजन), मधुशिशु (लाल फूल का सहिजन), फणिज्जक (मरवा), सर्पप (सफेद सरसों), राजिका (राई), कुलाहल, अवगुन्थ (रक्तगुंजा), गण्डीर (सूरण), तिलपर्णिका (रक्तचन्दन या चोरक), कर्षाभू (श्वेत पुनर्नवा), चित्रक, मूलक, लशुन, पलाण्डु (प्याज), कलाय (मटर का साग) प्रभृति ॥२२१॥ सामान्यतया ये साग कटु, उष्ण, रुचिकर, वातकफहर होते हैं, और कई खाद्य

१ गुरविटम्भिशीतानि स्वाद्नि कफकृन्ति च । सुप्रमूत्रपुरीषाणि सक्षारमधुराणि च ॥ २ कृतानेषूप०

द्रव्यो मं मस्कार के लिये (मवाये के रूप में) त्रिविध प्रकार स उपयोग में आत ह ॥२२१॥
 मेपा सुर्वी स्वादुरीता पिप्पल्याद्रो कफवहा ।
 शुष्का कफानिल्ली सा वृष्या पित्ताविरोधिनी ॥२२३॥
 स्वादुपाक्यार्द्रमरिच गुरु श्लेष्मप्रसेकि च ।
 कट्टण लघु तच्छुष्कमवृष्य कफवानजित् ॥२२४॥
 नायुष्ण नातिशीत च वीयतो मरिच सितम् ।
 मुष्णन्मरिचैभ्यश्च चभुष्य च विशपत ॥२२५॥
 नागर कफवानग्न विपाक मधुर कट्टु ।
 नृयोष्ण राचन हृद्य स्रग्नाह लघु दीपनम् ॥२२६॥
 कफानिलहर स्वयं वियन्धानाहशूलनुत् ।
 कट्टुष्ण राचन हृद्य वृष्य चवाद्रंक् स्मृतम् ॥२२७॥
 लघूष्ण पाचन द्विहु द्वापन कफयातजित् ।
 कट्टु खिन्ध सर नीक्षण शर्जार्णवियन्धनुत् ॥२२८॥
 नीक्षोष्ण कट्टुक पाके रच्य पित्ताग्निवर्धनम् ।
 कट्टु श्लेष्मानिलहर गन्धाद्य जीरकवृष्यम् ॥२२९॥
 कारवी करवी तद्वद्विदेया नोपकुञ्जिका ।
 मध्यव्यञ्जनमो येषु विविधेष्वत्रचारिना ॥२३०॥
 आद्रो कुस्तुम्बुरीकुर्यात् स्वादुसौगन्धहृद्यताम् ।
 सा शुष्का मधुरा पाके खिन्धा वृहदाहनाशनी ॥२३१॥
 दोषघ्नी कट्टुका किञ्चित् तिका श्रोतोविशोधनी ।
 उनमं स हरी (आद्रा) पिप्पली भारी मधुर गीतल कफकारक होती है । सूखी पिप्पली कफवातनाशक श्लेष्म तथा पित्त का विनाशन करत वाली है—गुण्य पित्तमग्निनी राजबल्लभ) हानी है ॥२२३॥ हरी (काली) मरिच विपाक म मधुर भारी कफ का प्रगक करन वाली है सूखी मरिच कट्टु गरम हलकी अहृष्य और कफवाननाशक होती है । २२४॥ मरिच (शोभाजन क वीच) वायु में न बहुत गरम है न शीतल है अल्प प्रकार की मरिच की अपक्षा अधिक गुण्यकर है और नत्र क लिये हिनकर है ॥२२५॥ पुष्ठी कफवातनाशक विपाक में मधुर कट्टु वृष्य उष्ण प्रिकारक हृद्य खिन्ध हलकी और अग्निवर्धक है ॥२२६॥ मन्त्रक कफवाननाशक हलक क लिये हिनकर मलावराध अवरार और श्लेष्म का नाश करने वाला कट्टु उष्ण रचि-पारक हृद्य और हृद्य है ॥२२७॥ द्विगु हनका उष्ण पाचक श्लेष्मणक, कफवाननाशक कट्टु खिन्ध मारक ताप्य शूल, सर्वाय और मलावराधनाशक है ॥२२८॥ नला और (अम तीर वीज) तीक्ष्ण उष्ण विपाक में कट्टु रचिकारक पित्त-पक अग्निदीपक कट्टु वातकफनाशक और मुष्णपुन-दान २२२६॥ कारवी कारवी और उज्जुञ्जिका (कर्मिनी) व १०१००० क ही म है) व भी गुण में शारक की भांति है । इरा पत्रिका अमक प्रकार क अमक (आरारि) राज (अपाल) और भाग्य (अधकपण्य हृष्यारि)) नदी मं हानन से उबकी स्वादु शुग्णपुष्प और मन कः

भानद् देन घाल बनाना है । सूखा धनिया विपाक में न खिन्ध गुणशामक दाहनाशक ॥२३०॥ २३१॥ द्वापनाशक, किञ्चित् कट्टवा और खोनीविपाकक हाना है ।
 अम्भीर पाचनस्तीक्ष्ण हृमिवातकफापहं ॥२॥
 सुरमिदीपना रच्यो मुखपैदाशकारक ।
 कफानिलविपश्वासकासदौर्गन्ध्यनाशन ॥२॥
 पित्तहृत् पार्श्वशूलघ्न सुरस समुदाहृत ।
 नद्रघ्न सुमुषो श्रेयो विशपाह्नरनाशनः ॥२॥
 कफघ्न लघ्वो रूक्षास्तीक्ष्णोष्णा पित्तवर्धना ।
 कट्टुपाकरसाश्लेघ्य सुरसाजकभूसृष्ट्या ॥२॥
 अम्भीर (नींबू) पाचक तीक्ष्ण हृमि वात और न हनका नाशक ॥२३१॥ सुगंधि अग्निपाक रुचिकारक व मुख का माक करन वाला है । सुरसा (गुनपी) कफ का विर श्म काम दुग्ध हनका नाश करन वाली ॥२३३॥ पित्तकारक आर पाश्वशूल को दूर करन वाली हानी है । सुमु सुरस की भांति हाना है परन्तु विशेष करक गर (हृमि विप) का नाश करती है ॥२३४॥ सुरस अमक और भूष्ण कफनाशक लघु रूक्षा तीक्ष्ण उष्ण पित्तवर्धक रस में विपाक में कट्टु होत है ॥२३५॥
 मधुर कफयातघ्न पात्रन कण्ठशोधन ।
 विशपत पित्तहर सतिक्त वासमर्दक ॥२३६॥
 कट्टु सत्तारमधुर शिशुस्तिकोऽथपिच्छिल ।
 मधुशिशु सरत्तिक शाफणो दीपन कट्टु ॥२३७॥
 विदादि यद्विषमूत्र रूक्ष तीक्ष्णोष्णमेव च ।
 त्रिदोष सार्यं शाक गाण्डीरं घेगनाम च ॥२३८॥
 त्रिप्रकस्तिलपर्णी च कफशोफहरे लघु ।
 वर्षाभू कफयातघ्नी हिता शोफोदरार्शमाम् ॥२३९॥
 काममं मधुर कफवाननाशक पाचक, कण्ठशोधक विषयरूप म पित्तनाशक और (रस में) कट्टवा होता है ॥२३६॥ सहिद्रना कट्टु क्षारपन लिये हुए मधुर कट्टवा और पिच्छिल है लात सहिद्रना शारक कट्टवा शाधहर अग्नि दीपक और कट्टु है ॥२३७॥ सरसा का शाक गाण्डीर और घेगनाम (महाकाल फल) विष्णुहन्तक मलमूत्राशोधक रस ताप्य उष्ण और त्रिदोषहन्तक है ॥२३८॥ त्रिप्रक और तिलपर्णी कफनाशक शाधहर लघु होती हैं । अतपुनर्नवा कफवाननाशक है और शाप उन्म तथा अर्श क लिये लाभ दापक हाना है ॥२३९॥
 कट्टुनिसरसा हृष्या रोचनी यद्विदीपनी ।
 सार्यदोषहरा लक्ष्मी कण्ठया मूल्यपोतिका ॥२४०॥
 महसहृद्र पिष्टमि तीक्ष्णामा त्रिदोषहृत् ॥२४१॥
 तद्व्य कोटमिन्द्र गु पित्तनु कफयातपित् ॥२४२॥
 त्रिदोषशमन पुष्य विषदायहर लघु ।
 पिष्टमि यान्त शाक पुष्यमयत्र मूल्यवान् ॥२४३॥

पुष्पं च पत्रं च फलं तथैव
यथोत्तरं ते गुरवः प्रदिष्टाः ।

तेषां तु पुष्पं कफपित्तहन्त

फलं निह्न्यात् कफमारुतौ च ॥२४३॥

(मूली—) मूलकपोतिका (बालमूली) कटु और तिक्त-रस-युक्त, हृद्य, रुचिकर, अग्निदीपक, सर्वदोषनाशक, लघु और कंठ के लिये हितकर है ॥२४०॥ बड़ी मूली जो अग्नि पर पक नहीं की गई है भारी, विष्टम्भजनक, तीक्ष्ण और त्रिदोषजनक होती है । वही (अग्नि पर तैल घृतादि) सेहद्वय मे मिद्ध की हुई त्रिदोषनाशक होती है ॥२४६॥ सूखी मूली त्रिदोषहर, विप-दोषनाशक और लघु है । मूली के विवाय अन्य सब सूखे शाक विष्टम्भजनक और वातकर होते हैं ॥२४२॥ जो गुणधर्म बाल, मध्य, वृद्ध, स्निग्ध, सिद्ध और शुष्क मूली के संबंध में (तथैव) निर्दिष्ट किये हैं वैसे ही मूली के पुष्प, पत्र और फल के बारे में होते हैं । पुष्प, पत्ती और फली उत्तरीत्तर केकाधिक हल्की होती हैं । इनमें से पुष्प कफपित्तनाशक और फली वातकफनाशक होती हैं ॥२४३॥

वक्तव्य—कुछ टीकाकार 'पुष्प च पत्र च फलं तथैव' का अर्थ सर्वसामान्य शाकों के संबंध में समझते हैं और 'पत्र' के स्थान में 'गुरवः' पाठ स्वीकार करते हैं । परन्तु 'पत्र' का अर्थ निम्न कारणां से अनुचित मालूम होता । वास्तव में यह श्लोक मूली के संबंध में ही लिखा गया है । (१) इन्द्रयाचर्य्य भी इस श्लोक को 'मूलकविषयोऽयं' मानते । (२) जिस सिलसिले में यह श्लोक लिखा गया है उसी के अनुसार भी यह मूलकविषयक ही हो सकता है । (३) शाकों में गुस्ता के संबंध में स्वतन्त्र वर्णन शाकों का गुण धर्म विवरण करने के पश्चात् किया गया है—पुष्पं पत्रं फलं नालं कन्दाश्च तैः क्रमात् ॥ (४) इस श्लोक के वर्णन के अनुसार प्रत्येक शाक में पुष्प कफपित्तनाशक और फल कफवालनाशक नहीं हो सकते हैं । केवल एक ही शाक के बारे में यह ही सकता है और वह शाक पूर्वापर संबंध से मूली ही हो सकता है । (५) जबलम में ये गुण मूली के शाक के ही वर्णन किये हैं—शुष्क गुण विष्टम्भ तीक्ष्णामाम त्रिदोषहृत् । नन्दं सेहपक चेत कफ-पित्तपित्तजिम् ॥ शुष्क त्रिदोषशमन शोथघ्न गरजिलतु । तत् 'पुष्पं' शर्मास्य तत्र 'फलं' कफवातजित् ॥

स्निग्धोष्णतीक्ष्णः कटुपिच्छिलश्च

गुरुः सरः स्वादुरसश्च वलयः ।

वृष्यश्च मेधास्वरवर्णश्च-
भ्रंशास्थिसन्धानकरो रसोनः ॥२४४॥

हृद्रोगजीर्णज्वरकुक्षिशूल-
विबन्धगुल्मारुचिकासशोफान् ।

दुर्नामकुष्ठानलसादजन्तु-
समीरणश्वासकफांश्च हन्ति ॥२४५॥

(लशुन—) लहशुन स्निग्ध, गरम, तीक्ष्ण, कटु, चिकना, गोरी, मारक, (कृत्) मधुर, बलकारक और वृष्य है ; बुद्धि, शक्ति और नेत्र के लिये हिनकर है, टूटी हड्डी को जोड़ता

है ॥२४४॥ हृद्रोग, जीर्ण ज्वर, कुक्षिशूल, मलावरोध, गुल्म, अरोचक, कास, ग्राथ, अग्नि, कुष्ठ, अग्निमांश, कृमि, वायु, श्वास और कफ हनका नाश करता है ॥२४५॥

वक्तव्य—रसोन—एक रस हीन होने के कारण लशुन 'रसोन' कहलाता है—यचभिश्च रसैर्युक्तः रसेनान्नेन वर्जितः । तस्मा-द्रसोन इत्युक्तो द्रव्याणां गुणवेदिभिः ॥ कटुकश्चापि मूलेषु, तिक्तः पत्रेषु संस्थितः । नालं कषाय उद्दिष्टो, नालाग्रे लवणः रसुतः ॥ वीजे तु मधुरः प्राक्तो रसस्तद्गुणवेदिभिः ॥ (भावप्रकाश) । समीरण—पित्तरक्त-विनिर्मुक्तसमस्तावरणावृत्ते । शुद्धे वा विघने वायौ न द्रव्यं लशुनान् परन् ॥ (अष्टांगहृदय) । पित्तावृत्त और रक्तावृत्त वायु को छोड़कर अन्य सब आवरण युक्त या शुद्ध वायु के लिये लशुन परसोपध है ।

नद्रयमत—रसोन में स्टार्च, गोंद, अल्ब्यूमिन, शर्करा और एक विशेष उग्रगंध तैल होता है । रसोन के गुणधर्म इसी तैल के ऊपर निर्भर होते हैं । इस तैल में अलिल, प्रोपिल डाय सल्फाइड, डाय अलिल, डाय सल्फाइड (Allyl, Propyl disulphide, Diallyl disulphide) तथा गंधक के अन्य यौगिक होते हैं । इस तैल का गंध बहुत खराब होता है । इसके गंध के संबंध में जगन्नाथ पंडित लिखते हैं—सकलरसायन-महितो गेनेकेन लशुन इव ॥ यह अग्निदीपक, वातानुलोमक, संधिवातनाशक, रसायन (Alterative) और कफनिःसारक (Expectorant) है । आयुर्वेद में रसोन एक श्रेष्ठ प्रकार का रसायन माना गया है—साक्षादभृतसंभृतेर्ग्रामणीः स रसायनम् । (वाग्भट) । लशुन श्वास, कास, राजयक्ष्मा, फुफ्फुसविद्रधि इत्यादि फुफ्फुस के रोगों में बहुत लाभदायक होता है । इसलिये इसका उपयोग टिकचर, सायरप तथा Allyleo, Allylene, Allylene co इत्यादि पेटेंट दवाई के स्वरूप में आज कल पाश्चात्यवैद्यक में भी किया जाता है ।

नात्युष्णवीर्योऽनिलहा कटुश्च

तीक्ष्णो गुरुर्नातिकफावहश्च ।

वल्लवहः पित्तकरोऽथ किञ्चित्
पलाण्डुरग्निं च विवर्धयेत्तु ॥२४६॥

स्निग्धो रुचिप्यः स्थिरधातुकर्ता

वलयोऽथ मेधाकफपुष्टिदश्च ।

स्वादुर्युः शोणितपित्तशस्तः

स पिच्छिलः क्षीरपलाण्डुरुक्तः ॥२४७॥

(पलाण्डु—) पलाण्डु (प्याज) अधिक उष्णवीर्य नहीं है, वायुनाशक है, कटु है, भारी है, अधिक कफकारक नहीं है, बलकारक है, किञ्चित् पित्तकर है और अतिवर्धक है ॥२४६॥ क्षीरपलाण्डु (प्याज का भेद) स्निग्ध, रुचिकर, धातुओं को स्थिर करने वाला, बलकारक, बुद्धिवर्धक, कफकारक, शरीर-पुष्टिकर, मधुर, भारी, रक्तपित्त में हितकर और पिच्छिल है ॥२४७॥

कलायशाकं पित्तघ्नं कफघ्नं वातलं गुरु ।

कषायानुरसं चैव विर्पाके मधुरं च तत् ॥२४८॥

कनायका (मटर का शर) पित्तप्रकटागक, वात-जनक, भारी, अनुस्य में कषाय और विपाक में मयुर है ॥२४८॥

सुषुभ्यधिकानरणीजीवन्तीत्रिभ्योनिकावन्ती(त्री)
भद्रातकच्छगलात्रीवृत्तादनीफःक्षीशाबलशिलुवन-
स्पतिप्रसवशणकथुंदाकरत्रिद्वारप्रभृतीनि ॥२४९॥

कषायस्वादुतित्तानि रक्तपित्तहराणि च ।

कफप्रान्थनिलं पुंसुः संप्रादीणि लघूनि च ॥२५०॥

सुष्य, यथिका (त्रैई *Tasm uum Auriculatum*),
रम्भा (मेथनी), जीवन्ती, त्रिभ्योनिका (कुडर *Cybal
andri Indica* की पत्ती), वन्ती (धवपूत्र), भद्रातक
(भिल्लावा), क्षगलात्री (उरुशरक), वृत्तादनी (यदा),
फःक्षी (नारंगी), शाबन्ती (मेमस), जेजु (जिवांदा),
वनस्पतिप्रसव (अंडुवरादि अनेक वनस्पति के कामल पहर),
शण, कथुंदा (भेन्नातक भेद या धेन का वन), कात्रिद्वार
(रक्तकाचन) प्रभृति ॥२४९॥ (शाक सामान्यतया) कषाय,
मयुर, कटपे रक्तपित्तनाशक, कफनाशक, वातन, सदाही और
हल्क होत है ॥२५०॥

लघुः पाके च जम्बुप्र पिच्छिलो वणिनां हितः ।

कषायमधुरो प्राही सुघस्तेपां त्रिदोषहा ॥२५१॥

चक्षुष्या संपदोषघ्नी जीवन्ती समुदाहता ।

वृत्तादनी वानहरा फःक्षी न्वरूपला मता ॥२५२॥

क्षीरवृत्तोत्पलादीनां कषाया पल्लया स्मृता ।

शीता सम्रादिण शस्ता रक्तपित्ततिसारिणाम् ॥२५३॥

इनमें से सुष्पुगाक विपाक में लघु कृमिनाशक, पिच्छिल,
ग्रन्थ वाला क लिय हिनकर, कषाय और मयुर, प्राही और
त्रिदोषनाशक है ॥२५१॥ जीवन्ती शाक नेत्र के लिये हिनकर,
सर्वदोषनाशक है । चादा वातनाशक और फःक्षीशाक अल्प
बलकारक है ॥२५२॥ अश्वधादि क्षीर तृल तथा कमल आदि
क पत्ते रस में कषाय, भीतल, सदाहर और रक्तपित्त तथा
अग्निमार से पीडित शशियों क लिये लाभदायक होते हैं ॥२५३॥

वक्तव्य—जीवन्ती शाक सर्व शाकों में श्रेष्ठ है ।

जवन्तीशाक शाकनाम । (चरक) । तथापि इत्यत्र स्वरूप क
वचन में प्राचीन काल से ही मनभिन्नता दिखाई देती है ।
इच्छण के अनुसार 'जव'नी 'जाडममानता' भीरुक के
अनुसार जीवन्ती प्रयोग से 'ने' होती है ।

**पुनर्नवापरणतर्नार्यरचूकवन्सादनीत्रिचशाक
प्रभृतीनि ॥२५४॥**

उष्णानि स्वादुतित्तानि वातप्रशमनानि च ।

तेषु पौनरेज शाक विशेषाच्छोफनाशनम् ॥२५५॥

पुनरेज (साठी), वरण, तर्कारी (जरखी), उरचक
(पुरचक), वसादनी (गिलोय), चिल्व शाक इत्यादि
॥२५४॥ (ये शाक सामान्यतया) गरम, मयुर, कटपे और
वातनाशक हैं । इनमें से साठी का शाक विशेषतया गोथ-
नाशक है ॥२५५॥

वक्तव्य—पुनरेजा दखावर और मृषण होने के कारण

गोथ का नाश करती है । उसमें पुनरेजीन (*Punarnavin*
नामक तत्व होता है जो पृथ के उपर कार्य करके मूत्र के द्र
शरीर में सघिा हुए जल का नाश करके गोथ दूर करता ।

नगदुलीयकोपोदिकाऽथयलाचिह्नीपालङ्गाम
मूर्प्रभृतीनि ॥२५६॥

सृष्टमूत्रपुरीयाणि सक्षारमधुराणि च ।

मन्दवातकफान्याह रक्तपित्तहराणि च ॥२५७॥

तण्डुनीयक (चोलाई *Amaranthus Polygamus*
उपोदिका (पोड़े का शर, *Bassela Alia*), अशक
(मेथीका भेद), चिह्नी (वास्तुक भेद *Chenopodiace*
जाति का शाक), पानरया (पालक *Spinacea oleacea*),
वास्तुक (यधुभा *Chenopodium* जाति का शाक) इत्यादि
शाक ॥२५६॥ (सामान्यतया) मलमूत्र के प्रवर्धक, किंचि
द्वार शुष्क मयुर, भोडा वायु और कफ पैदा करने वाले धी
रक्तपित्तनाशक होते हैं ॥२५७॥

मधुरो रसपानाभ्यां रक्तपित्तमदापह ।

तेषा शीततमो कृत्स्नगदुलीयो विषापहः ॥२५८॥

खादुपाकरसा चृष्या वानपित्तमदापहा ।

उपोदिका सग म्निग्धा चक्ष्या श्लेष्मकरी हिमा ॥२५९॥

कटुविपाके कृमिहा मेघाग्निजलवर्धनः ।

सक्षारः सर्वदोषघ्नो वास्तुको रोचनः सरः ॥२६०॥

चिह्नी वास्तुकजग्नेया पालङ्गया तण्डुलीयवत् ।

वातशुद्धविएमूत्रा रुक्षा पित्तकफे हिता ॥२६१॥

शाकमाश्वयले रूक्ष वदविएमूत्रमारुतम् ।

इनमें से चोलाई का शाक रस और विपाक में मयुर, रस
पित्तनाशक, मद्दहर, रुक्ष और विषनाशक है ॥२५८॥ पोड़े
का शाक रस और विपाक में मयुर, शुष्क, वातपित्त और मद्द
नाशक, सारक, क्षिब्ध, बलकारक, कषकारक और भीतल
होता है ॥२५९॥ यधुभा का माय विपाक में कटु कृमिनाशक
बुद्धि, अग्नि और बल बढ़ाने वाला, किंचिन् भारतीय, सर्वदोष
नाशक, रचिबर और सारक होता है ॥२६०॥ चिह्नी के पृथ
यधुभा के अनुसार जानने चाहिये । पालक चोलाई के अनुसार,
वातकारक, मलमूत्रावरोध, रुक्ष और पित्त कफ में हितकर
होती है ॥२६१॥ आश्वयल का शाक रुक्ष और मल, मूत्र तथा
अर्धोत्तक का अवरोधक है ।

वक्तव्य—वास्तुक और चिह्नी शाक के बीज में जेनी
पोडिअम नामक तेल (*Oil of chenopodium*) होता है
यह तेल बच्चों (गोल कृमि *Round Worms*) और अँकुर
कृमि (*Hook Worm*) के लिये उत्तम कृमिनाशक (*Anthelmintic*) सिद्ध हुआ है ।

मण्डूकपर्णीसतलासुनिपराणकसुवचैलापिप्ली
गुडुचीगोत्रिहाकाकमार्चीप्रमुष्ठादावल्गुजसतीनवृ-
द्धतीकण्टकारिकाफलपटोलवार्ताकुमारवेल्लुकवट्ट
किकाकेयुकरचूकपंपटवकिराततित्तककौटवार्ति-
कोशानकीवेत्रकरीराटरूपकारकंपुष्पीमभृतीनि ॥२६२॥

कपित्थहराण्याहृद्यानि सुलघूनि च ।

प्रमेहज्वरध्वासकासाद्यचिहराणि च ॥२६३॥

मण्डकपर्णी, सहजा, मुनिपण्णक (चौपतिया *Masi* *swadriifolia*), नुवपेला (सूर्यपेन, हुरहुर *Chour* *ica*), पिप्ली, गुडकी (गिलोय), गोजिहा (गोभी *phantopus* *Seaber*), कावनाची (मर्मांश *Solanum* *rum*), प्रपुवाड (पमाट *Cassia* *Tora*), अण्डक (*Vernonia* *Anthelmintica*), सतीन (मटर *भेद*), वृहती (बड़ी कटेरी), कण्टकाशिया (छोटी *ति*), पटोल (परवल), चानां (धैमन), कारवेलक *मेला*), पटुकिका (अरण्यकायमर्द), पेजुक (*Pez* *us* *Sporiosus*), उरुक (रक्त *पुण्ट*), पंढक (पिन् *हा*), किरानतिक (चिरायना), कर्कोटक (कांठा *Ma* *rolier* *Dioica*), अरिष्ट (नीम), कांयानकी (नोरट्ट), शीर (वेत की कौपल), अट्टरपक (अड्ड्या), अक *ली* इत्यादि ॥२६२॥ (ने शाक सामान्यतया) रजःपित्त *क*, हृद्य, बहुत हलकं हैं और कुष्ठ, प्रमेह, ज्वर, धास, *व* और अरोचक इनका नाश करते हैं ॥२६३॥

पाया तु हिता पित्ते स्वादुपाकरसा हिमा ।

श्री मण्डकपर्णी तु तद्वद्गोजिहिका मना ॥२६४॥

पिदाही त्रिदोषघ्नः संग्राही मुनिपण्णकः ।

वल्लुजः कटुः पाके तिक्तः पित्तकफापहः ॥२६५॥

रक्तिकं त्रिदोषघ्नं शाकं कटु सतीनजम् ।

त्युष्णशीतं कुष्ठं काकमात्र्यास्तु तद्विधम् ॥२६६॥

एडुकुष्ठमिद्रानि कफवातहराणि च ।

लानि वृहतीनां तु कटुतिक्तलघूनि च ॥२६७॥

कपित्थहरं व्रणमुष्णं तिक्तमवातलम् ।

दोलं कटुकं पाके वृष्यं रोचनदीपनम् ॥२६८॥

मण्डकपर्णी कषाय, पित्त में हितकर, रस और विपाक में *धुर*, शीतल और हलकी होती है । उमी के अनुसार गोजिहा *शकारी* है ॥२६४॥ मुनिपण्णक विदाह न करने वाला, *दोषनाशक* और संग्राही है । अवल्लुज विपाक में कटु, *ति* और पित्तकफनाशक है ॥२६५॥ सतीन का शाक किंचित्त *रक्त*, त्रिदोषनाशक, कटु, न बहुत गरम न बहुत शीतल और *दोषनाशक* है । काकमाची का शाक, इसी के अनुसार होता *है* ॥२६६॥ बड़ी और छोटी कटेरी के फल कण्डु, कुष्ठ और *श्री* के नाशक, कफवातनाशक और कटुतिक्त तथा लघु *हैं* ॥२६७॥ पटोल कफपित्तनाशक, व्रण में हितकर, *व्या*, तिक्त, वात न करने वाला, विपाक में कटु, वृष्य, *वि*कर और अग्निदीपक होता है ॥२६८॥

कफवातहरं तिक्तं रोचनं कटुकं लघु ।

वातार्कं दीपनं प्रोक्तं जीर्णं सत्तारपित्तलम् ।

तद्वत् कर्कोटकं विद्यात् कारवेलकमेव च ॥२६९॥

अट्टरपकचेत्राग्रगुडकीनिम्वपर्पटाः ।

किराततिकसहितास्तिकाः पित्तकफापहाः ॥२७०॥

कफापहं शाकमुक्ते चरुणप्रपुनाडयोः ।

रत्नं लघु च शीतं च वातपित्तप्रकोपणम् ॥२७१॥

दीपनं कालशाकं तु गरुदोषहरं कटु ।

कौमुभ्रमं मधुरं रुद्रमुष्णं श्लेष्महरं लघु ॥२७२॥

वानलं नालिकाशाकं पित्तघ्नं मधुरं च तत् ।

अद्वयशीविकारघ्नी माम्ळा वातकफे हिता ।

उष्णा कषायमधुरा चाङ्गेरी चाग्निदीपनी ॥२७३॥

चानां (धैमन) रक्तवातनाशक, तिक्त, रञ्जिक, कटु, *हलका*, अग्निदीपक है । एका दुष्णा धैमन (पीला), किंचित्त *रमेहा* और पित्तनाशक होता है । वातार्क के गुणानुसार ही *कर्कोटक* और कौमुभा होता है ॥२६९॥ अड्ड्या, वेत के कौपल, *गिलोय*, नीम, पित्तपण्डा, चिरायता रस में कटु और *पित्तकफनाशक* होते हैं ॥२७०॥ तरुण और पवाड का शाक *कफनाशक*, रुद्र, हलका, शीतल और वातपित्तप्रकोपक होता *है* ॥२७१॥ (अब हमें पश्चात् उपर्युक्त मण्डकपर्णादिमें *अनिर्दिष्ट* परन्तु प्रभृति शब्द में जितना ग्रहण हो सकता है *ऐसे*—काल शाक, नाटिका शाक, कौमुभ्र शाक और चांगेरी *शाक*—शाकों का गुणवर्णन किया है) काल शाक (आह *शाक*) अग्निदीपक, गरुदोषनाशक और कटु है । कुमुभ का *शाक* मधुर, रक्त, गरम, कफनाशक और हलका है ॥२७२॥ *नालिका* शाक (पटुआ *Ipomoea* *Aquatica*) वातकर, *पित्तनाशक* और मधुर है । चांगेरीशाक (*Oxalis* *Cornicul* *ata*) ग्रहणी और श्रग्निनाशक, अम्ल, वात और कफ के *लिये* हितकर, उष्ण, कषाय और मधुर तथा अग्निदीपक *होता* है ॥२७३॥

लोणिकाजातुकत्रिपर्णिकापत्तूरजीवकसुवर्चला-
दुङ्गुरककुतुम्बककुटिञ्जरकुन्तलिकाकुररिटकाप्रभृ-
तयः ॥२७४॥

स्वादुपाकरसाः शीताः कफघ्ना नातिपित्तलाः ।

लवणानुरसा रूक्षाः सत्तारा वातलाः सराः ॥२७५॥

लोणिका (*Portulaca* *Oleracea*), जातुक (शुक्लशाल-*पर्णी*), त्रिपर्णिका (दुग्धिका, बनकापांसी वा), पत्तूर (*शिरवालिकाभेद*, शालिची शाक वा), जीवक, सुवर्चला (*सूर्यावर्तभेद*), दुङ्गुरक, कुतुम्बक (दौणपुण्य), कुटिञ्जर, *कुन्तलिका* (चच्चू के समान दीर्घपत्रा अथवा नीलपिया-*वासा*), कुरंटीका (पीला पियावासा) प्रभृति ॥२७४॥ शाक *रसविपाक* में मधुर, शीतल, कफनाशक, विशेष पित्त न करने *वाले*, अनुरस में लवण, रुद्र, नारयुक्त, वातल और *सारक* हैं ॥२७५॥

स्वादुतिक्ता कुन्तलिका सकषायी कुररिटका ।

संग्राहि शीतलं चापि लघु दोषापहं तथा ।

राजत्तचकशाकं तु शटीशाकं च तद्विधम् ॥२७६॥

स्वादुपाकरसं शाकं दुर्जरं हरिसन्धजम् ।

भेदनं मधुरं रूक्षं कालायमतिवातलम् ॥२७७॥

संसनं कटुकं पाके लघु वातकफापहम् ।

शोफन्नमुष्णवीर्यं च परं पृथिकरज्ज्वम् ॥२७८॥
 ताम्बूलपत्रं तीक्ष्णोष्णं कटु पित्तमकोपणम् ।
 सुगन्धि विशदं तिक्तं स्वयं वातकफापहम् ॥२७९॥
 स्रंसनं कटुकं पाके कषायं वृद्धिदीपनम् ।

यक्रकण्डूमल्लेददौर्गन्ध्यादिविशोधनम् ॥२८०॥
 कुन्तलिका मधुर धीर तिक्त है, कुरटिका कषाय है ।

राजस्रवक (कृष्णराजिका) शाक संप्राप्ती, शीतल, हल्का, और त्रिदोषनाशक होता है । शटीयाक (Carcuma Zedoaria) हसी के अनुसार होता है ॥२७९॥ हरिमन्थ का शाक (पाने का) रस धीर विशाक में मधुर और पचन में कठिन होता है । मटर का शाक भेदक, मधुर, रुच और अतिगन्ध वातकर है ॥२८०॥ पृथिकरंज के पत्रों का शाक मज की प्रवृत्ति करने वाला, कटुविपाकी, हल्का, वातकफनाशक, शोथहर और उष्णवीर्य है ॥२८०॥ ताम्बूलपत्र (पान) तीक्ष्ण, शोथहर, विषह, विषद, तिक्त, स्वर के लिये हितकर, वातकफनाशक, सारक, विपाक में कटु, कषाय तथा श्रमिदीपक है, और मुख की स्राव, मल, चिकनापन धीर दुर्गंध इनको दूर करता है ॥२७९, २८०॥

अथ पुष्पवर्गः ।

कोविदारशाकशास्मलीपुष्पाणि मधुराणि मधुर-
 विपाकानि रक्तपित्तहराणि च; शृष्यागस्त्ययोः
 पुष्पाणि तिक्तानि कटुविपाकानि क्षयकासापहानि
 च ॥२८१॥

कोविदार (कषणार), शग धीर शास्मली इनके फूल रक्तविपाक में मधुर धीर रक्तपित्तनाशक हैं । शृष (कहुला) और अगारि (हद्गा) के फूल तिक्त, विपाक में कटु और शय और शस्मी को दूर करते हैं ॥२८१॥

आगस्त्यं मातिशीतोष्णं नजानघानां प्रशस्यते ॥२८२॥
 आगस्त्य के फूल न बहुत गरम न बहुत शीतल हैं और शोषी पार्श्वों को सामदायक होते हैं ॥२८२॥

करीरमधुशिम्रुसुमानि कटुविपाकानि घान-
 हराणि शृष्टमूत्रपुरीयाणि च ॥२८३॥

रक्तमूलस्य निम्बस्य मुक्कवाकांसनस्य च ।
 कफपित्तहरं पुष्पं वृष्टमं वृष्टजम्ब्य च ॥२८४॥
 सतिक्तं मधुरं शीतं पत्रं पिप्पलायनापहम् ।
 मधुरं पिप्पिलं क्षिण्णं कुमुदं ह्यदि शीतलम् ।

तस्यार्द्रागतएणुणे विषान् बुधलयोत्पले ॥२८५॥
 करीर और मधुशिम्रु (जाल सडिजन) के फूल विपाक में कटु, वातनाशक धीर मन्थ्य की प्रवृत्ति करने वाले हैं ॥२८३॥ रक्तमूल (कंदुक Pentajoc's Phoen'ca), नीम, मुक्क, अर्क, मगध और कुम्भ के फूल कफपित्तनाशक और वृष्टनाशक हैं ॥२८४॥ वृष्ट (वृष्टिकर्मी कजल) तिक्त, मधुर, शीतल और कफपित्तनाशक है । कुमुद (कर्पूरप विक्रामी कल्प) मधुर, तिप्पिल, क्षिण्ण, (दाह मज करने के कषाय) मन्थनाशक और शीतल है । कुम्भक धीर जन्तु कमान कुमुद से पुष्प में फूल कम हैं ॥२८५॥

सिन्धुवारं विजानीयाद्धिमं पित्तविनाशनम्
 मालतीमल्लिके तिके सौरभ्यात् पित्तनाशनं
 सुगन्धि विशदं हृद्यं पाकुलं पाटलानि च
 श्लेष्मपित्तविषमं तु नागं तद्वच कुङ्कुमम्
 चम्पकं रक्तपित्तघ्नं शीतोष्णं कफनाशनम्
 किङ्गुकं कफपित्तघ्नं तद्वदेव कुरएटकम्
 मधुशिम्रुकरीराणि कटुश्लेष्महराणि च
 यथाशुचं विजानीयात् पुष्पं वृद्धोचितं तथा
 निर्गुडी के फूल शीतल और पित्तनाशक हैं ।

(जाती) धीर मल्लिका के फूल और सुगन्ध के पित्तनाशक होते हैं ॥२८६॥ पाकुल और पाटल के सुगन्धयुक्त, विषद, और हृद्य हैं । नागकसर और विषहर है । हसी के अनुसार केसर (Or Sativus) के भी गुणधर्म होते हैं ॥२८७॥ चम्पक फूल रक्तपित्तनाशक, तामशीतोष्ण धीर कफनाशक पलायपुष्प कफपित्तनाशक है धीर हसी के अ-
 कुरएटक का पुष्प (विषावासा का पुष्प) होता है ॥२८८॥ लाल सडिजन के कौपल कटु और कफनाशक है (सर्वसामान्य अमृत पुष्पों के तथा वृक्षाभित अन्य अंगों गुणधर्म दिखलाने की दृष्टि से उपसंहार करते हैं) जैसे शृष गुणधर्म होते हैं वैसे ही उसके पुष्प तथा (कण्टक अर्थात् अन्य अंगों के (वृद्धोचित) गुणधर्म होते हैं ॥२८९॥

शयककुलेच(य)र्यंशकरीरप्रभृतीनि कफहृण
 शृष्टमूत्रपुरीयाणि च ॥२९०॥

शयकं छमिलं तेषु स्वादुपाकं सपिच्छिलम् ।
 विष्यन्ति घानलं नातिपित्तश्लेष्मकरं च तत् ॥२९१॥
 येणोः करीराः कफला मधुरा रसपाकतः ।
 विदाहिनो धार्तकराः सकषायानि विरूक्षणाः ॥२९२॥

शयक, कुलेचर, शंघ करीर प्रवृत्ति कफनाशक और मज मूत्र की प्रवृत्ति करने वाले हैं ॥२९०॥ इनमें से शयक छमिल कारक, विपाक में मधुर, पिप्पिल, श्लेष्मघ्नावी, वातहर और विषेय वात और कफकारक मर्दा है ॥२९१॥ नाग की गेध कफकारक, तामविपाक में मधुर, विदाहजनक, वातकारक कषाय धीर कफना करने वाली है ॥२९२॥

उद्भिदानि पात्रालेशुचरीरवेषुसिनिजानि । तत्र
 पलाजजातं मधुरं मधुरविपाकं रूपं दोषप्रशमनं
 च, इतुजं मधुरं कषायानुरसं कर्दुकं शीतलं
 तद्वदेवोष्णं करीरं कषायं घानकोपनं च, वेणुजं
 कषायं घानकोपनं च, भूमिजं शुद्ध मातियानलं
 भूमिजाम्पानानुरसः ॥२९३॥

(उद्भिद—) पलाज (घास विहित कण्ठ भूषा आदि), इतुज (कंदुज), कपि (मुक्क मोहर), वेणु (बीज कर्दुकी आदि) और भूमि इनमें उद्भिद (कफकारि) उपलब्ध हैं ।

१ मधुर, २ तिप्पिल, ३ अर्क, ४ कुम्भक, ५ कुरएक

लाल में उत्पन्न हुआ छत्रक रसविपाक में मधुर, दोषनाशक है; हृद्य से उत्पन्न हुआ छत्रक मधुर, कषाय, कटु, और शीतल है; गोमयजन्य छत्रक (हृद्युज छत्रक के अनुसार परन्तु उष्ण, कषाय और साँस लकड़ी से उत्पन्न हुआ छत्रक कषाय और वात-ह; भूमि में उत्पन्न हुआ छत्रक भारी, विशेष प्र न करने वाला तथा भूमि के गुणानुसार २९३॥

याकतिलकल्कस्थूणिकाशुष्कशाकानि सर्प-पोषणानि ॥२९४॥

नः स्मृताः सर्वे वटका वातकोपनाः ।

श्री वातला सार्द्रा रुचिप्याऽनलदीपनी ॥२९५॥

लाक (खली), तिलकल्कस्थूणिका (तिल के बड़े) शक सर्व प्रकार के दोषों को प्रक्षुब्धित करते हैं सर्व प्रकार के बड़े मलाचरोध और वातप्रकोपक होते प्राकी (मूली आलू आदि की पकौड़ी बड़े) आर्द्रा- (ताजी) वातकर, रुचिकर और अग्निदीपक ॥२९५॥

दि गुरु रुक्षं च प्रायो विष्टम्भि दुर्जरम् ।

च सर्वे हि स्वादु शाकमुदाहृतम् ॥२९६॥

मधुर शाक मल का भेद करने वाले, भारी, रुक्ष, र में विष्टम्भ उत्पन्न करने वाले, पचन में कठिन और कषाय रस युक्त होते हैं ॥२९६॥

त्रिं फलं नालं कन्दाश्च गुरवः क्रमात् ।

शाक, पत्रशाक, फलशाक आर कन्दाशाक ये उत्तरोत्तर धिक गरिष्ठ होते हैं ।

परिजीर्णं च कुमिजुष्टमदेशजम् ।

सर्वशाकं तद्यद्कालविरोहि च ॥२९७॥

हे, परिजीर्ण (पुराने, वासी या अत्यन्त पककर पीले), कीड़ों से भक्षित, अयोग्य भूमि में और अयोग्य में उत्पन्न हुए सर्व शाक त्याग करने चाहिये ॥२९७॥

रक्तव्यं—श्लोक २११ से २९७ तक विविध शाकों के य तथा विशेष गुणों का वर्णन किया गया है । इनके सामान्यतया यह कह सकते हैं कि इनमें प्रोटीन, मेद शरीरपुष्टिकर अंग अल्प होते हैं । तथापि इनकी विशेषताएँ हैं—(१) इनमें खनिज द्धार जो होते हैं उनके सेवन फायदेमन्द होता है । ये द्धार प्रोटीन, मेद, के परिवर्तन से शरीर में जो अम्ल बनते हैं उनको र्णित हैं । शरीररक्षा के लिये रक्त का क्षारीय होना (क्याइन) बहुत आवश्यक है । क्षारीयता का अंग कम अम्लरक्तता (Acidosis) नामक रोग उत्पन्न होता है । इनमें सेल्यूलोज (Cellulose) की राशि भी अधिक है । यह पदार्थ मनुष्यों के लिये अपाच्य है, जो आंत-हलचल पैदा करके मलोत्सर्ग की प्रवृत्ति उत्पन्न करता मलाचरोध को हटाता है । (३) इनमें पोषकसाम

के लक्षण होने से ये मूत्रल हैं और पथरी के रोगियों के लिये पथ्यकर होते हैं । (४) इनमें स्क्वी प्रतिविषक जीवद्रव्य भी होता है । (५) इनके कारण भोजन में रुचि और खुराक उत्पन्न होती है । जिससे भोजन पचने में भी सहायता होती है । (६) इनमें कार्बोहाइड्रेट कम होने के कारण मधुमेही के लिये भी इनका सेवन अपथ्यकर नहीं होता । उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भोजन में साग-सब्जियों का होना बहुत आवश्यक है । शाक-भाजी हमेशा ताजी होनी चाहिये । ताजी न मिले तो न राना बेहतर है । वासी या सड़ी गली तरकारी खाना ठीक नहीं है । सामान्यतया शाक-सब्जी गंदे पानी से तैयार होती है, इसलिये हमेशा उस पर कीड़े मकोड़े होते हैं और छण्डा देते हैं । इसलिये कच्चा साग बिना अच्छी तरह से धोये और देखे नहीं खाना चाहिये । तरकारी चीरने के पहले उसमें से घास-पाल, कीड़ा-मकोड़ा तथा उसका बे-काम भाग निकाल कर फिर चीरना चाहिये ।

कन्दानत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः—विदारीकन्दशतावरी-विसमृणालशृङ्गाटककशेरुकपिण्डालुकमध्वालुक-हस्त्यालुककाष्ठालुकशङ्खालुकरक्तालुककेन्दीवरोत्पल-कन्दप्रभृतीनि ॥२९८॥

रक्तपित्तहराण्यहोः शीतानि मधुराणि च ।

शुरूणि बहुशुक्राणि स्तन्यवृद्धिकराणि च ॥२९९॥

इसके आगे कन्दों का वर्णन करेंगे—विदारीकन्द (शूभि-कन्दायड), शतावरी, बिस (पद्ममूल), मृणाल (स्थूलपद्म-मूल), शृङ्गाटक (सिंगाड़ा), कसेरुक (चिचोड़ Scirpus Kysoor), पिण्डालु (Dioscorea. Globosa), मध्वालुक (Dioscorea Aculeata), हस्त्यालुक, काष्ठालुक, शंखालुक, रक्तालुक (शकरफन्दी), इन्दीवर उत्पल कन्द प्रभृति कन्द ॥२९८॥ रक्तपित्तनाशक, शीतल, मधुर, भारी, अतिशयशुक्रवर्धक और स्तन्यवर्धक होते हैं ॥२९९॥

मधुरो बृंहणो वृष्यः शीतः स्वर्णोऽतिमूत्रलः ।

विदारीकन्दो यत्यस्तु पित्तवातहरश्च सः ॥३००॥

वातपित्तहरी वृष्या स्वादुतिका शतावरी ।

महती चैव हृद्या च मेधाग्निबलवर्धिनी ॥३०१॥

ग्रहण्यशौचिकारक्षी वृष्या शीता रसायनी ।

कफपित्तहरास्तिकास्तस्या एवाङ्कुराः स्मृताः ॥३०२॥

विदारीकन्द शरीरपुष्टिकर, वृष्य, शीतल, स्वर के लिये हितकर, अतिमूत्रल, बलवर्धक और वातपित्तनाशक है ॥३००॥ शतावरी वातपित्तनाशक, वृष्य, मधुर और तिक्त है । इसी शतावरी (Asparagus Sarmmentosus) हृद्य, बुद्धिबर्धक, अग्निदीपक, बलकारक, ग्रहणी और अर्थनाशक, वृष्य, क्षीरउ और रसायन है । उसके अङ्कुर कफपित्तनाशक होते हैं ॥३०१,३०२॥

अविद्राहि विसं प्रोक्तं रक्तपित्तप्रसादनम् ।

विष्टम्भि दुर्जरं रुक्षं विरसं मारुतावहम् ॥३०३॥

गुरु च मधुरा च शृङ्गाटककशेरुकौ ।

१) शूभि-कन्दायड, २) सान्द्रा, ३) शीतल, ४) पत्रशाक.

पिण्डालुक कफकर गुरु घातप्रकोपणम् ॥३०४॥
सुरेन्द्रकन्द श्लेष्माम्बो विपाके कटु पित्तघृत् ।

बिम विदाह न करन वाला रक्तपित्त का प्रमात्क विष्टम्भ जनक पचने में कठिन रक्त स्वान्हीन और वायुवर्धक है ॥३०३॥ श्यामक और कमलक भारी विष्टम्भजनक और पीतल है । पिण्डालु कफकर भारी और घातप्रकोपक है ॥३०४॥ सुरेन्द्रकन्द (वज्रक जगला सुरंग Sy anther as Silicat ea) कफनाशक विपाके में कटु और पित्तकर है ।

वेणो ऋरीग गुरव कफमारतनोपना ॥३०॥

नाम क मूर्लाङ्कुर गुरु और कफघातप्रकोपक है ॥३०५॥

स्थूलसूरणमाण्डप्रभृतय कन्दा ईपरुपाया कटुका रूक्षा विष्टम्भिनो गुरव कफघातला पित्त हराश्च ॥३०६॥

माण्डक स्वादु शीत च गुरु चापि प्रतीनितम् ।

स्थूलकन्दस्तु नायुष्ण सूरणा गुदकीलहा ॥३०७॥

स्थूल कन्द सूरण (निमीक A morphol allus Campanulatus) माण्डकद (माण्डकद Alocas a Ind ca) प्रभृति कन्द किंचित् कषाय कटु रक्त विष्टम्भजनक भारी कफघातजनक और पित्तहर है ॥३०६॥ माण्डकन्द मधुर शीतल और गुरु है स्थूलकन्द विशेष उष्ण नहीं है और सूरण अग्नाशक है ॥३०७॥

वक्तव्य—सूरण स यकृत का कार्य ठीक हाकर दस्त भी सुलकर आता है । इसने अर्थात् मिराओं में सकाच पैदा हाकर रक्त इकट्ठा नहीं हाने पाता । अतः खूनी बवासीर में सूरण बहुत फायदा करता है । इसका अर्थात् नाम बिष्टम्भ जनक सार्थ है ।

गुमुदोत्पलपक्षाना कन्दा मारुतकोपना ।

कषाय पित्तशमना विपाके मधुरा द्विमा ॥३०८॥

येराहकन्द ऋष्मभ्र कटुको रसपाकत ।

महकुष्ठरमिहरो चत्यो वृष्यो रसायन ॥३०९॥

कमु उष्ण और वध इनक कन्द वायुकारक कषाय पित्तनाशक विपाके में मधुर और घालने में ॥३०८॥ येराहकन्द (Tacca Vepers) कफनाशक रक्तविपाके में कटु प्रमह वृष्ट और हृमि का नाशक बलकारक शृष्य और रसायन है ॥३०९॥

नालनागिरेलयजूरप्रभृतीना मस्तकमज्जान ॥३१०॥

स्यादुपाकरसानाह रक्तपित्तहरास्तथा ।

नुमज्जाननिलमाश्च कफघृत्तिकपानपि ॥३११॥

साह नागियल और जूर ह्यादि वृक्षा क निर की निरी ॥३१०॥ रमविकरो में मधुर रक्तपित्तनाशक शुक्लवर्धक वायुनाशक और कफ की वृद्धि करने वाली हानी है । ३११॥

घाट हानानेव जीणै व्याधिषि त्रिमिभनितम् ।

कन्द विषजयेत् सयै यो या सम्यग् रोहति ॥३१२॥

घाल (कषा) कन्द का बहुत पुराना राग स म्वाप हुआ हीर्षा ग स्यादा हुआ और जा ठीक नहीं उग सकना है । यमा कन्द त्यागना चाहिये ॥३१२॥

वक्तव्य—भूमि के पृष्ठभाग के नीचे उत्पन्न वनस्पतियों के अर्थात् की गणना कन्द और मूलों में है । कन्द और मूलों में वनस्पतियाँ अपन उपयोग पोषक पदार्थों का एकत्र करती है । इनमें स शुद्ध मूल मनुष्यों के लिये भी उपयोगी होते हैं । इनमें स रागि अधिक और प्राचीन तथा चरबी बहुत ही कम । इनमें कुछ रनिज (विशेष करके पाश्चात्तिय) हैं । इसलिये यद्यपि ये भोजन के प्रधान अंग नहीं क तथापि पाषण में शुद्ध सहायता जरूर दत है । आज क हाने वाट कुछ कर्दों और तरकारियों का रासायनिक नीचे दिया है ।

नाम	प्रोटीन	चर्मा	कार्बोहाइड्रेट	जार
आलू	१२	०१	१९७	०९
रातालू	१६	०५	२४३	००
प्याज	१६	०३	९३	०६
मूली	१४	०१	४६	०९
गाजर	०५	०३	१०१	०९
सुकदर	०५	०१	४०	९०
मलंगम	०९	०१५	६८	०८
कसेरक	४१	०१०	१०६	११
बदगाभी	१८	०४	५८	१३
फूल्गाभी	२२	०४	४७	०८
टामाटा	१३	०२	५०	०७
खीरा	०८	०२	३१	०५
केला	१३	०६	२२०	०८
बैंगन	०८९	०९४	३४८	०२१
बिंदी	१९६	११	५७२	०८
कदई	०९०	१०	३९६	०७

कन्द और शाकों में घाहा मेल्युनाज भी हाता है । दस्त साफ हा जाता है । इसलिये इनमें यद्यपि अधिक कम हाता है तथापि इनका भाजन में होना आवश्यक है ।

अथ लयगानि—सैन्यधसामुद्रविडसौक्य

रोमकौद्रिद्रप्रभृतीनि लयगानि यथोत्तरमु

घातहराणि कफपित्तकराणि यथापूर्व जिन

स्यादूनि शुष्ममूत्रपुरीयाणि चेति ॥३१३॥

लरण—सैन्यध (विषाणमक) मामुद्र (मधुर ममक) विड हीचकेल रामक उज्जिद्र प्रभृति लव

अधिकधिक गरम घातहर और कफपित्तकारक हय उष्ण मम स अधिकधिक शिष्य मधुर और मधुव प्रभृति करन वाट हाते हैं । (सैन्यध मम स कम गरम वा और कफपित्तकर हाता है ; अजिद्र मम स अधिक है । स मम स अधिक शिष्य मधुर और शष्णपुरीया हाता है ।

अजिद्र मम स कम हाता है ॥३१३॥

घातव्य—सैन्यध—सिन्धुशात्रव हान से सैन्य कर है । यह ममक लानो ग निकाला जाता है । घातरी में रिक सोड (Pock salt) कहन है । रासायनिक इति से

द्विष्यत् क्षोराहृद, अश्वत्थप्रमाण में सोडियम सल्फेट और क्विचि कपालमिश्रण और स्यासोमिश्रण ता है । नामुद्र—यह नमक मूत्र की उष्णता में नी से घनाया जाता है । सोडियम क्षोराहृद के त्वरा नाश में इसमें पोश्यामिश्रण और स्यासोमिश्रण तथा स्यासोमिश्रण और क्वालमिश्रण के $2, MgCl_2, MgSO_4, CaSO_4$ होते हैं । विट—नमक कहते हैं । आज्ञास्य यह नमक कृत्रिम तौर नमक (NaCl) ८२ भाग, श्रानला १ भाग, एण और सर्जोक्षार १ भाग इनका एकत्र जलकर ता है । चरक और सुश्रुत के समय विट लवण या कृत्रिम भा और फैसा बनाया जाता था इसका नदी मिलता है । इसमें अधिकांश सोडियम क्षोरा-Cl) और अल्पांश सोडियम सल्फेट (Na_2SO_4), फेरिक आक्साइड और फेरिक सल्फाइड (FeS) इसमें गंधक का एक ग्राम (H_2S) होता है जिसमें प्रकार की गंध आती है । सोवर्ण—निर्गम काल में काल लून कहते हैं । इसमें गाने के नमक के अतिरिक्त थोड़ा सोडियम सल्फेट (Na_2SO_4) स्यास्य में सोवर्चल से 'शोरा' (Saltpetre, समझा जाता है । रोमक—अजमेर के पास जो तर है, वहाँ से उत्पन्न हुआ । इसको सांवर लवण है । इसमें गाने के नमक (NaCl) के अतिरिक्त कार्बोनेट (Na_2CO_3) और सोडियम सल्फेट (Na_2SO_4) तथा थोड़ा थ्रायोडिन होता है । ओड्रिद—इसको या रेहानमक कहते हैं । जमीन से बनाया जाता है ओड्रिद कहलाता है । इसमें मुख्य सोडियम क्षोरा-सल्फेट होता है और अल्पांश में सोडियम कार्बोनेट, र गोरा होता है । प्रभृति—गुटिका, उपसृत, बालुकैल मूलाकरोद्वय ।

सैन्धवं हृद्यं रुच्यं लघ्वग्निदीपनम् ।
समधुरं वृष्यं शीतं दोषघ्नमुत्तमम् ॥३१४॥
मधुरं पाके नात्युष्णमचिदाहि च ।
स्निग्धमीपच शूलघ्नं नातिपित्तलम् ॥३१५॥
दीपनं रुचं शूलहृद्रोगनाशनम् ।
तीक्ष्णमुष्णं च विडं वातानुलोमनम् ॥३१६॥
सौवर्चलं पाके वीर्योष्णं विशदं कटु ।
लविविन्धघ्नं हृद्यं सुरभि रोचनम् ॥३१७॥
यस्य नेत्र और हृदय के लिये हिनकर, रुचिकर, लघु, ति, स्निग्ध, मधुर, वृष्य, शीतल, द्रोपनाशक और लवणों में) श्रेष्ठ (सैन्धव लवणात्ताम् । चरक) है । सामुद्रलवण विपाक में मधुर है, अनिश्चय गरम नहीं ता उत्पन्न करने वाला नहीं है, भेदन है, किंचिद है, शूलनाशक है और विशेष पित्तकर नहीं है ॥३१५॥ लवण क्षारीय, अग्निदीपक, रुचं, शूल और हृद्रोगनाशक, तीक्ष्ण, उष्ण और वातानुलोमक (Carminative) यत्न ।

है ॥३१६॥ सौवर्चल लवण विपाक में हलका, उष्णवीर्य, विगद, कटु, गुल्म, शूल और मलाशयोप इनका नाशक, लवण, सुगंधी और रुचिकर है ॥३१७॥
रोमक तीक्ष्णमभ्युष्णं व्यवायि कटुपाकि च ।
वानघ्नं लघु विस्फ्यन्दि मूत्रमं विड्भेदि मूत्रलम् ॥३१८॥
लघु तीक्ष्णोष्णमुन्हेदि सूत्रमं वातानुलोमनम् ।
सतिकं कटु सक्षारं विद्यालवणमौद्भिदम् ॥३१९॥
कफवातकिमिहरं लेणनं पित्तकोपनम् ।
दीपनं पाचनं भेदि लवणं गुटिकाशयम् ॥३२०॥
रोमक लवण तीक्ष्ण, अतिगम गरम, व्यवायि (पहले शरीर में व्याप्त होकर पीछे पाक होने वाला), विपाक में कटु, वातनाशक, लघु, विस्फ्यन्दि, मूत्रम, दग्नावर और मूत्रजनक है ॥३१८॥ औद्भिद लवण लघु, तीक्ष्ण, उष्ण, हेतुजनक, मूत्रम, वातानुलोमक (वातादीनामः प्रवर्तनं मरुगुण-त्वात् । आटमत्) , तिक्त, कटु और क्षारीय है ॥३१९॥ गुटिका लवण कफवातनाशक, कुमिहर, लेणन, पित्तकर, अग्निदीपक, पाचक और दग्नावर है ॥३२०॥
उपसृतं बालुकैलं शैलमूलाकरोद्भवम् ।
लवणं कटुकं छेदि विहितं कटु चोच्यते ॥३२१॥
उपसृत (क्षारसृक्तिका मे उत्पन्न हुआ लवण, साजी-माटी), बालुकैल (बालुकामय भूमि से यानि रंगिन्तान में उत्पन्न हुआ लवण), शैलमूलाकरोद्भव (पहाड़ों की जड़ के पास स्थित हुई गानों से निकाला) लवण कटु, (कफ आदि का) छेद करने वाला, विपाक में कटु होता है ॥३२१॥
यवक्षारस्वर्जिकाक्षारोपक्षारपाकिमटङ्गक्षार-प्रभृतयः ।
गुल्मार्शोग्रहणीदोषप्रतिश्यायविनाशनाः ।
क्षारास्तु पाचनाः सर्वे रक्तपित्तकराः सराः ॥३२२॥
(क्षार) यवक्षार, स्वर्जिकाक्षार, उपक्षार, पाकिमक्षार, टंकमक्षार, प्रभृतिक्षार । ये सर्वक्षार पाचक, रक्तपित्तकर और वातानुलोमक होते हैं; और गुल्म, अर्श, ग्रहणीदोष तथा प्रतिश्याय इनका नाश करते हैं ॥३२२॥
वक्तव्य—यवक्षार—यह क्षार यवशूक की रक्षा से बनाया जाता है इसलिये 'यवक्षार' कहलाता है । वर्तन (भाण्ड) में पाक बनाकर तैयार किया जाता है इसलिये 'भाण्डक्षार' कहलाता है । यव के अतिरिक्त अन्य वनस्पतियों की लकड़ी (दारु) की रक्षा से भी बनाया जाता है इसलिये 'दारुलवण' भी कहलाता है । रासायनिक दृष्टि में उपमें मुख्य द्रव्य कार्बोनेट ऑफ पोटाश (Carbonate of Potash) है । इसके सिवाय कुछ अशुद्धियाँ भी होती हैं । इसकी बनावट सूत्रस्थान के ११ वें अध्याय में वर्णन की है । सूद्र क्षार में यवक्षार ही होता है । स्वर्जिकाक्षार—इसको 'सजी-खार' कहते हैं । रासायनिक दृष्टि से इसमें सोडियम कार्बोनेट (Sodium Carbonate) मुख्य होता है । इसके अतिरिक्त थोड़े अंश में सोडियम सल्फेट (Sodium Sulphate)

नमक (Sodium Chloride), पोश्नाय आदि अन्य लवण और कुछ अशुद्धियाँ होती हैं। पाकिमहा-पाक विधि से बनाया हुआ चार। इसकी छुद्र घोरा या कलमी घोरा कहते हैं। रासायनिक दृष्टि से इसमें मुख्य द्रव्य पोष्णामिश्रम नायट्रेट (Potassium Nitrate) है। इसके अतिरिक्त सोडियम

कहते हैं। कारण यह है कि इससे अवपचन होता है। रासायनिक दृष्टि से इसमें मुख्य द्रव्य सोडियम बायबोरेट (Sodium Biorate) है। अंग्रेजी में इसकी बोरागक्स (Borax) कहते हैं।

श्रेयो चन्द्रिसमी चारौ स्वर्जिकायायश्चक्रजौ ।
शुफ्लेभ्यविबन्धाशोगुम्भप्रीहविनाशनौ ॥३२३॥
उष्णोऽनिलग्नः प्रक्षेदी चोपहारो दल्लापहः ।
मेदोमः पाकिमः सारंस्तेषां वस्तिविशोधनः ॥३२४॥
विरुक्षणोऽनिलकरः श्लेष्मग्नः पित्तदूषणः ।
अग्निदीप्तिकरस्तीक्ष्णदृक्कणः चार उच्यते ॥३२५॥

समीचारा और खहार अमिसमान (तीक्ष्ण) होते हैं; और शुक्र, कफ, मलावरोध, अग्नि, गुल्म, और स्त्रीवा (रुद्धि) इनके विनाशक हैं ॥३२३॥ उष्णत्वात् उष्ण, वातनाशक, श्लेष्मजनक और मलनाशक है। पाकिमसार मेदनाशक और मूलक है ॥३२४॥ संक्षयत्वात् रूक्षता करने वाला, वातजनक, कफनाशक, पित्त की रुद्धि करने वाला, (जठर की) अग्नि की बढ़ाने वाला और तीक्ष्ण है ॥३२५॥

सुवर्णं स्वादु हृद्यं च शृङ्खलीयं रसायनम् ।
दोषत्रयापहं शीतं चक्षुष्यं विषसूदनम् ॥३२६॥
रूप्यममलं सरं शीतं सरोहं पिचवातनुत् ।
ताम्रं कपायं मधुरं लेखनं शीतलं सरम् ॥३२७॥
सतिकं लेखनं फांस्यं चक्षुष्यं कफवातगिन् ।
पातकञ्चीतलं लोहं पुष्पापिचकफापहम् ॥३२८॥
कट्ट किमिमं लवणं प्रपुसीसं विलेखनम् ।
मुक्तापिष्टमषण्ड्रेवैदूर्यंस्फटिकाद्यः ॥३२९॥
चक्षुष्या मणयः शीता लेखना विषसूतनाः ।
पवित्रा घाटणीयाश्च पाम्पलदमीमलापहाः ॥३३०॥

सुवर्णं मधुर, दृढ (Cardio Tonic), शरीरदुष्टिकर, रसायन (Alterative), त्रिदोषनाशक, शीतल, नेत्र के लिये हितकर और विषनाशक है ॥३२६॥ चाँदी चमल, सारक, शीतल, चिन्त्य और वातपित्तनाशक है। ताम्रं कपाय, मधुर, लेखन, शीतल और सारक है ॥३२७॥ सोस्य विक लेखन, नेत्र के लिये हितकर और कफवातनाशक है। सोडा वातकर, शीतल, शूयनाशक और पित्तकफनाशक है ॥३२८॥ रंगी और शीता कट्ट, इमिनाशक, लवण और लेखन है। मोती, प्रवाल, हीरा, धूप, स्फटिक इत्यादि ॥३२९॥ इन्ध्रि नेत्र के लिये

हितकर, शीतल, लेखन, विषनाशक, पवित्र, धारण करने पाय, अलवमी और (शारीरिक) दोषों की दूर करने हैं ॥३३०॥

धान्येषु मांसेषु फलेषु चैव
शाक्येषु चानुकमिहाप्रमेयात् ।
आस्यादतो भूतगुणैश्च मत्वा
तदादिशेद् द्रव्यमनल्पयुधिः ॥३३१॥

(संसार में द्रव्य) असंख्य होने के कारण धान्य मांसों में, फलों में, शाकों में (तथा अन्यवर्ग के द्रव्यों से जिसका गुणपर्ययन यहाँ नहीं हो सका उसको) चैव शाखकर (मधुरादि रसों के गुणालुपार) तथा (रंभक) शूतगुण (विषविषाक) के अनुसार (अथवा) त्वादि भूत गुणों के अनुसार) गुण में जान ले ॥३३१॥

पष्टिका यवगोधूमा लोहिता ये च शालयः ।
मुद्रादकीमसूराश्च धान्येषु प्रवराः स्मृताः ॥
लायतिचिरिसारङ्कुङ्कुङ्गैश्चकपिञ्जलाः ।
मयूत्समिफूर्माश्च श्रेष्ठा मांसगणेष्विह ॥
दाडिमामलकं द्राक्षा खर्जूरं सपरूपकम् ।
राजादनं मातुलुङ्गं फलयुग्मं प्रशस्यते ॥
सतीनो चास्तुकश्चुचिह्रीमूलकपोतिकाः ।
मण्डूकपर्णी जीवन्ती शाकवर्गं प्रशस्यते ॥
गव्यं क्षीरं घृतं श्रेष्ठं, सैन्धवं लवणेषु च ।
धारीदाडिममलेषु, पिप्पलीं नामरं कटीं ॥
तिके पटोलघातांके, मधुरे घृतमुच्यते ॥
क्षीरं, पूगफलं श्रेष्ठं कपाये सपरूपकम् ॥
शर्करेशुचिकारेषु, पाने मध्यासवौ तथा ।
परिसंवत्सरं धान्यं, मांसं वयसि मध्यमे ॥
अपर्युषितमक्षं तु संस्कृतं माश्रया शुभम् ।
फलं पर्यागतं, शाकमशुष्कं तरुणं नवम् ॥

अनाजों में मारी पावल, रक्तगालि (भद्रहर्षा अगहनियाँ), गेहूँ, मूँग, अरहर और मसूर ये श्रेष्ठ हैं ॥ मांसवर्ग में लाय, सीनर, सारंगपत्ती (श्वेत हरिण), (काला हरिण), कुंठ (हरिण का एक प्रकार), कपि मोर, वसि (मत्स्य) और कच्छप ये श्रेष्ठ हैं ॥३३१॥ कर्मे में अनार, आंवला, अंगूर, खजूर, फालसा, हिरनी मातुलुङ्ग श्रेष्ठ होते हैं ॥३३२॥ सतीन (मटर), वा (धनुष्या), कुण्डू, चिली, कोमल मूली, मण्डूकपर्णी जीवन्ती शाकवर्ग में श्रेष्ठ हैं ॥३३३॥ दूध और घृत में गौ दूध तथा घी श्रेष्ठ है। लवणों में सैन्धव श्रेष्ठ है। कच्छप में आंवला और अनार श्रेष्ठ है। कट्ट द्रव्यों में पिप्पली शीत श्रेष्ठ है ॥३३४॥ तिक पश्यायों (शाकों) में परवल पिंगम श्रेष्ठ है। मधुर द्रव्यों में धी और मधु श्रेष्ठ है; क द्रव्यों में सुपारी और फालसा श्रेष्ठ है ॥३३५॥ गव्य के दूध में क्षीरी श्रेष्ठ है; पाने के द्रव्यों में (Beverages) द्राक्षा श्रेष्ठ है; (धान्यों में) एक वर्ष का पुराना धान्य श्रेष्ठ

न में) मध्यम आयु के जीव का मांस छेड़ है
नाजा (उसी दिन का बनाया हुआ), गन्वाले
पे डालकर (उत्तम प्रकार से बनाया हुआ, योग्य
वन किया हुआ और पचकर जाँ होना है) यही
है; (फलों में) परिपक्वफल छेड़ है और नाजा
नया और कौमल भाक (छाकों में) छेड़ है ॥३३६॥
परं प्रवक्ष्यामि कृतान्नगुणविस्तरम् ॥३४०॥
हाँ से आगे (अग्नि की महायता से) बनाये
। अन्नो को गुणविस्तरपूर्वक चर्षण करता हूँ ॥३४०॥
पण्डो विशुद्धानां पथयः पाचनदीपनः ।

लोमनो हृद्यः पिप्पलीनागरायुतः ॥३४१॥
प्रेतजननी लघ्वी दीपनी यस्तिशोधनी ।
ध्रमग्लानिहरी पेया वातानुलोमनी ॥३४२॥
(जनादि से) शुद्ध हुए मनुष्यों के लिये पिप्पली
युक्त लाजमण्ड पचकर, पाचक, अग्निदीपक, वाता-
हृदय को हितकर है ॥३४१॥ पेया स्वैदल अग्निजनक,
ग, मूत्रविशोधक है; क्षुधा, नृया, ध्रम और ग्लानि
हारी है, तथा वातानुलोमक है ॥३४२॥

। तर्पणी हृद्या ग्राहिणी बलवर्धनी ।
खादुरसा लघ्वी दीपनी क्षुत्तृपापहा ॥३४३॥
शोघनी वृष्या ज्वरातीसारयोर्हिता ।
सिंफलेर्युक्ता यवाग्वस्ताश्च दुर्जराः ॥३४४॥
गी श्लिष्कारक, हृद्य, ग्राही, बलकारक, पथ्यकर, मधुर,
अग्निदीपक, वृष्याशामक, क्षुधा को दूर करने वाली
शुक्रविशोधक (मूत्रज), वृष्य और ज्वर तथा अति-
हैतकर है । शाक, मांस तथा फलों से बनाई हुई
। तीनों प्रकार की) यवागू पचन में कठिन होती
॥

विरहितो मण्डः पेया सिक्थसमन्विता ।
वहसिक्थया स्याद्यवागूर्विरलद्रवा ॥३४५॥
। भक्तावयव रहित होता है; पेया भक्तावयव युक्त होती
विलेपी यवागू बहुत भक्तावयव युक्त और अल्पद्रव
री है ॥३४५॥

कण्ड—मण्ड, पेया और विलेपी यवागू के ही तीन
। मण्ड—पके तण्डुलादि के घन भाग में से ऊपर का
। छानकर निकाला जाय तो वह 'मण्ड' कहलाता है ।
। विधि तथा बनाने के द्रव्य के अनुसार मण्ड तीन
न होता है । जो मण्ड लाजा या शृष्ट तण्डुलों से
जाता है, उसे 'लाजमण्ड' कहते हैं ।—जले चतुर्दशगुणे
। चतुःशतम् । विपचेत् स्याद्येभ्यमण्डं सभक्तो मधुरो लघुः ॥
। दशगुणे सिद्धो मण्डस्त्वसिक्थकः । लाजेर्वा तण्डुलैर्भृष्टैर्लाजमण्डः
। (शार्ङ्गधर) । मण्डस्तु त्रिविधो भवेत् एकद्वित्रिपरिष्कृतः ।
। मण्डश्च तण्डुलैः परिसंस्कृतः ॥ पेया—चौदह गुने जल में
डालकर खूब पकावे, उसको मण्ड की भाँति छाने नहीं,

। सन्तर्पणी वृष्या वृंहणी बलवर्धनी. २ यवाग्वोऽन्लाश्व.
। अश्व दुर्जराः. ३ यवागूर्द्वैदलिनश्चा स्याद्विलेपी विरलद्रवा.

यह द्रवसहित भक्तावयव युक्त पदार्थ पेया है—चतुर्दशगुणे नीर
रक्ताह्वारिभिः कृता । द्रवापि ता नव्यसिक्थया पेया प्रोक्ता भिषगुरैः ॥
(भावप्रकाश) । विलेपी—चौगुने जल में चावल डालकर सूय
पकावे; वह अल्पद्रव युक्त गाढ़ा पदार्थ विलेपी है—चतुर्दशगुण-
सिक्थया विलेपी पचनकारकः । पूरकद्रव्येभ्य रक्षितः स्यात्ता शिथिलसिक्थिका ॥
(भावप्रकाश) । चरक में भी ये ही तीन प्रकार चर्षण किये
हैं । कुट्ट मणकार और टीकाकार 'यवागू' को कृताज का एक
स्वतन्त्र चोभा प्रकार मानते हैं ।

विष्टम्भी पायसो बल्यो मेदःकफकरो गुरुः ।
कफपित्तकरी बलया कृशाराऽनिलनाशनी ॥३४६॥
। पायस (पानसि संस्कृत आदनः, दूध में चावलों से बनाई
हुँदे खीर) विष्टम्भजनक, बलकारक, मेद और कफकर तथा
भारी है । कृशारा (तिल चावल और उड़द की सिचड़ी) कफ
पित्तकारक, बलवर्धक और वातनाशक है ॥३४६॥

धौतस्तु विमलः शुद्धो मनोदाः सुरभिः समः ।
स्विन्नः सुप्रच्छृतस्तूप्यो विशदस्त्वोदनो लघुः ॥३४७॥
अधौतोऽप्रच्छृतोऽस्विन्नः शीतश्चाप्योदनो गुरुः ।
लघुः सुगन्धिः कफहा विद्येयो शृष्टतरङ्गुलः ॥३४८॥
स्रोहैर्मांसैः फलैः कन्दैर्वैदलाम्लैश्च संयुताः ।
गुरवो वृंहणा बलया ये च क्षीरोपसाधिताः ॥३४९॥

धोये हुए, निर्मल, शुद्ध, मनोहर, सुगन्धित (चावलों का)
सय ठीक पका हुआ, माँड निकाला हुआ, गरम और जो
चिलना न हो ऐसा भात हलका होता है ॥३४७॥ दिना धोये
चावलों का, जिसका माँड न निकाला हो, जो सब ठीक न
पका हो और जो ठंडा हो ऐसा भात भारी होता है । शुने हुए
चावलों का भात हलका, सुगन्धित और कफनाशक होता है
॥३४८॥ जो भात (घृतादि) स्निग्ध पदार्थ, मांस, फल,
(आलू वगैरह) कन्द, (मापादि) दाल, अम्ल पदार्थों से
तथा दुग्धादि से बनता है वह भारी, शरीरपुष्टिकर और बल-
कारक होता है ॥३४९॥

सुखिन्नो निस्तुषो शृष्ट ईधत्सूपो लघुर्हितः ।
स्विन्नं निष्पीडितं शाकं हितं स्यात्कोहसंस्कृतम् ॥३५०॥
अस्विन्नं सेहरहितमपीडितमतोऽन्यथा ।

ठीक पकी हुई, छिलके उत्तरी हुई और किंचिद् भुनी हुई
(दाल का) सूप हलका और हितकर है । खूब पका हुआ,
निचोड़ा हुआ और घृतादि से संस्कृत किया हुआ शाक
हितकर होता है ॥३५०॥ ठीक न पका हुआ, न निचोड़ा हुआ
और घृतादि से न बनाया हुआ शाक विपरीत (अहितकर)
होता है ।

चक्रव्य—ऊपर चावल का मण्ड निकालने की और
स्विन्न शाकों को निचोड़कर पानी निकालने की जो विधि
वर्णन की है उससे यद्यपि ये पदार्थ कुछ हलके होते होंगे,
तथापि ऐसा करने से इन पदार्थों के खनिज, गोटीन जीवद्रव्य
इत्यादि निकल जाते हैं । इसलिये स्वस्थ मनुष्यों के लिये
सर्वदा हसी विधि से बनाया हुआ चावल और शाक का

सेवन ग्राम्य हातिकर होता है । भोजन के विविध प्रकार को इस प्रकार पकाना चाहिये कि उनके विविध उपादानों का नाश न होने पावे । उपर्युक्त विधि केवल रोगियों के लिये है । स्वाद्य द्रव्यों को पकाने का मर से उत्तम उपाय उनको भाप के द्वारा गनाना है । रवाई बनाने के लिये आगरुन चूकर (Cooker) का जो प्रचार है उसमें इसी विधि से भोज्य पदार्थ पकाय जाते हैं । जहाँ तक हां गने अपने भीतर के रस से ही स्वाद्य को पकाना चाहिये । यदि मांस बहुत ही सूखा हो तो समें त्रितनी जम्लत हो उतना ही पानी डालना चाहिये । परन्तु अधिक पानी डालकर पक जाने पर उसको पकना थज्जा नहीं है । चायन के बारे में भी यही ध्यान में रखना चाहिये । ग्राम्यथा क्षार, जीवद्रव्यादि आवश्यक पदार्थों ने शरीर वचिन हांकर स्वाद्य द्रव्यों की पौष्टिकता कम होती है, और विविध रोग उत्पन्न हो सकते हैं ।

मांसं स्वभावतो वृष्यं संहनं बलवर्धनम् ॥३५१॥
 श्लेहगोरसधान्याम्लफलाम्लकटुकैः सह ।
 सिद्धं मांसं हितं बल्यं रोचनं बृंहणं गुरु ॥३५२॥
 नदेव गोरसादानं सुरभिद्रव्यसंस्कृतम् ।
 विचारिपित्तकफोद्रेकि बलमांसाग्निवर्धनम् ॥३५३॥
 पग्निशुष्कं स्थिरं क्षिग्धं हृष्यं प्रीणनं गुरु ।
 रोचनं बलमेधाग्निमांसौजःशुक्रवर्धनम् ॥३५४॥

(मांस—) मांस स्वभाव में ही वृष्य, क्षिग्धनाकारक और बल बढ़ाने वाला है ॥३५१॥ (सैनघृतादि) क्षिग्ध-पदार्थ, (तत्रादि) गोरस, (काजिक आदि) धान्याम्ल, (दाडिमादि) फलाम्ल, (मरिचादि) कटु पदार्थ इनसे बनाया हुआ मांस हितकर, वनकारक, रचिकर, शरीरबुद्धिकर और भारी होता है ॥३५२॥ वही मांस दधि तक डालने से और (द्विगुमरिचादि) सुगन्ध द्रव्य छानने से पित्त और कफ का प्रकोप करता है; और वन, मांस तथा जटराग्नि को बढ़ाता है ॥३५३॥ परिशुष्क मांस शरीरस्थितकर, क्षिग्ध, आनन्ददायक, वृत्तिकर, भारी, रचिकर, बलकारक, बुद्धिवर्धक, अग्निवीरक, मांस बढ़ाने वाला, ओजोवर्धक और शुक्र है ॥३५४॥

यत्तद्व्य—स्वभाव—ग्राम्य पदार्थों का स्वभाव या संस्कार न होने हुए भी । गोरस—दधि और तक्र । मांस के

तदेचोलुत्पिष्टत्वादुलुत्तमिति पाचनाः ।
 परिशुष्कगुरैर्युक्तं चक्षुं पकमतो लघु ॥३५५॥
 तदेव श्लेकाम्रोतमद्गारपरिपाचितम् ।
 श्रेयं गुरुतरं किञ्चित् प्रदिग्धं गुरुपाकतः ॥३५६॥
 उल्लुत्त भजितं पिष्टं प्रनस कन्दुपाचितम् ।
 परिशुष्कं प्रदिग्धं च शल्यं यश्चाप्यदीहताम् ॥३५७॥
 मांसं यत्कलसिद्धं तद्दीप्योष्यं पित्तहृह्य ।

मन्त्राग्निदीपनं हृद्यं रुच्यं दृष्टिप्रसादनम् ॥३५८॥
 अनुष्णवीर्यं पित्तप्र मनोजं घृतसाधितम् ।
 उमी परिशुष्क मांस को (पहले सूख) कटने से (पश्चात्) पिष्टमय बनाने से सुपरार 'उल्लुत्त' कहते हैं । उल्लुत्त मांस (कोस्ता) गुण में परिशुष्क मांस के मां होता है (परन्तु) अंगार पर पकाने से वह उमने भी हट हो जाता है ॥३५५॥ वही मांस लोह की शकका पर लगा कायले की आँच पर पकाया हुआ किञ्चित् भारी जाता है । (श्लेह धान्याम्ल तत्रादि से) प्रदिग्ध मांस विष्ट में (घोटा) भारी होता है ॥३५६॥ उल्लुत्त, भजित, पि प्रतस, कन्दुपाचित, परिशुष्क, प्रदिग्ध, शून्य तथा इती प्रस का शून्य मांस ॥३५७॥ जो तैल में सिद्ध किया जाता है । उष्णवीर्य, पित्तकारक, गुरु होता है । जो घृत में तैयार कि जाता है वह हलका, अग्निदीपक, हृद्य, रचिकर, दृष्टिप्रसा ॥३५८॥ वीर्य में अधिक उष्ण जो न हो ऐसा पित्तनाशक व मन को मिय होता है ।

यत्तद्व्य—भजितादि शब्दों की व्याख्या—'भजित' स शब्दों से युक्तः यत्तद्व्य पुन । अर्थात् इति विष्ट दधिदाहिनीते 'निष्ट' सत्येत्स्वधाऽजीवात्सुदुमरिचैरपि । अगारादि यत्त 'प्र तदुदाहृतम् ॥ पितिनमौत्तैडित कन्दुपक मधुप्रमम् । रात्रिकादि लिं च 'कन्दुपचिन'मुच्यते ॥ हिदुगुके परिशित श्ने निष्पी तत । निष्पत्ता निष्पत्ताऽस्तुषारामिबिषुमेऽद्री प्रतपयेत् ॥ फलाम्ले नर पक 'शून्य' त्प नीरभान्वितम् ॥

प्रीणनः प्राणजननः श्वानकासक्षयापहः ।
 घातपित्तश्रमहरो हृद्यो मांसरसः स्मृतः ॥३५९॥
 स्मृत्योजःस्वरहीनानां ज्वरहीणक्षतोरसाम् ।
 भग्निविच्छिष्टसन्धीनां कृशानामल्परेतसाम् ॥३६०॥
 आप्यायनः संहननः शुक्रदो बलवर्धनः ।
 स दाडिमयुतो वृष्यः संस्कृतो दोपनाशनः ॥३६१॥

(मांसग्न—) मांसरस नृत्तिकारक, प्राणजनक, वासकान क्षयनाशक, वातपित्तहर, श्रम दूर करने वाला, हृद्य ॥३५९॥ स्मृति और ओज बढ़ाने वाला, स्वर के लिये हितकर, उर व शीण, उर त्रयी, जिनकी हड्डियाँ टूट गई हों या जिनके जो विकलित (Dislocated) हो गये हों, दुबले, अल्पवीर्य वाले हने कमी की पूर्ति करने वाला ॥३६०॥ शरीर दृढ़ करने वाला वीर्यवर्धक और बल बढ़ाने वाला है । वही मांसरस अना (के रस) से शुष्क तथा कटुकादि से संस्कृत किया हुआ वृष्य और दोपनाशक है ॥३६१॥

प्रीणनः सर्वभूतानां विशेषान्मुत्पशोपिणाम् ।
 शुचृष्णापहरः श्रेष्ठः सौरावः स्वादुशीतलः ॥३६२॥
 यन्मांसमुद्धतरसं न तत् पुष्टियलापहम् ।
 धिष्टम्भि दुर्जरं रूक्षं चिरसं मारुतापहम् ॥३६३॥
 दीप्ताग्नीनां सदा पथ्यः यानिष्कस्तु परं गुरुः ॥३६४॥
 मांस का गोरवा सर्व प्राणियों, विशेष करके मुष्णवीर्यों

लिये वृषिकारक, क्षुधा और वृषानाशक, उत्तम, मधुर
 र शीतल है ॥३६२॥ जिस मांस से रस निकाल लिया हो
 ह पुष्टिकर और बलवर्धक नहीं होता है । विष्टम्भ करता है,
 मन में कठिन है, रुक्ष है, रुचिहीन है और वायुकारक होता
 ॥३६३॥ खानिष्क (शुष्कमांसभेद या वेसवारभेद) बहुत
 भारी है (इसलिये) दीक्षाग्नि वालों के लिये सदा पथ्यकर
 होता है ॥३६४॥

मांसं निरस्थि सुस्विन्नं पुनर्दृषदि पेपितम् ।
 पेपलीशुण्ठिमरिचगुडसर्पिःसमन्वितम् ॥३६५॥
 एकध्वं पाचयेत्सम्यग्वेसवार इति स्मृतः ।
 वेसवारो गुरुः स्निग्धो बल्यो वातरुजापहः ॥३६६॥
 (वेसवार—) जो मांस अस्थि निकाल कर, जोश
 कर, फिर पत्थर पर चूर्ण किया हो तथा पिप्पली, सोंठ,
 मेरुच, गुड़, घृत मिलाकर ॥३६५॥ इकट्ठा पकाया हो उसे
 वेसवार कहते हैं । वेसवार भारी, स्निग्ध, बलकारक और
 शतरोगनाशक है ॥३६६॥

कफघ्नो दीपनो हृद्यः शुद्धानां व्रणिनामपि ।
 श्वेतः पथ्यतमश्चैव मुद्गयूपः कृताकृतः ॥३६७॥
 कृत और अकृत (दोनों प्रकार के) मुद्गयूप कफनाशक,
 अग्निदीपक, हृद्य, (विरेचनादि से) शुद्ध और व्रण
 वालों के लिये सब से अधिक पथ्यकर होते हैं ॥३६७॥

चक्रव्य—यूप—अष्टादशगुणे नीरे शिन्धीधान्यशृतो रसः । विर-
 लजो घनः किञ्चित् पैयातो 'यूप' उच्यते ॥ (भावप्रकाश) ।
 कृताकृत—स्नेह लवणादि संस्कृत तथा स्नेह लवणादि असं-
 स्कृत—अस्नेहलवणं सर्वमकृतं कटुकैर्विना । विज्ञेयं लवणस्नेहकटुकैः
 संस्कृतं कृतम् ॥

स तु दाडिममृद्धीकायुक्तः स्याद्रागखाडवः ।
 रुचिप्यो लघुपाकश्च दोषाणां चाविरोधकृत् ॥३६८॥
 वही मुद्गयूप मुनक्का और अनार (के रस से) युक्त होने
 पर 'रागखाडव' होता है । यह रागखाडव रुचिकर, विपाक
 में हलका और दोषों का विरोधन करने वाला होता है ॥३६८॥
 मसूरमुद्गगोधूमकुलत्थलवणैः कृतः ।
 कफपित्ताविरोधी स्याद्वातव्याधौ च शस्यते ॥३६९॥
 मृद्धीकादाडिमैर्युक्तः स चाप्युक्तोऽनिलादिते ।
 रोचनो दीपनो हृद्यो लघुपाक्युपदिश्यते ॥३७०॥
 मसूर, मूँग, गेहूँ, कुलथी इनका लवणयुक्त यूप कफपित्त
 का विरोधक नहीं है, वातव्याधि के लिये श्रेष्ठ होता है ॥३६९॥
 यही मुद्गयूप मुनक्का और दाडिमरस से युक्त होने पर वात-
 व्याधि के लिये (विशेष उपयोगी), रुचिकर, अग्निदीपक,
 हृद्य और विपाक में हलका होता है ॥३७०॥

पटोलनिम्बयूपौ तु कफमेदोविशोषिणौ ।
 पित्तघ्नौ दीपनौ हृद्यौ कृमिकुष्ठज्वरापहौ ॥३७१॥
 श्वासकासप्रतिश्यायप्रसेकारोचकज्वरान् ।
 हन्ति मूलकयूपस्तु कफसेदोगलामयान् ॥३७२॥
 कुलत्थयूपोऽनिलहा श्वासपीनसनाशनः ।

तूपिप्रतूणीकासारोगुल्मोदावर्तनार्शनः ॥३७३॥
 पटोल और नीम के यूप कफ और मेद के शोषण करने
 वाले, पित्तनाशक, अग्निदीपक, हृद्य, कृमि, कुष्ठ और ज्वर के
 नाशक हैं ॥३७१॥ मूली का यूप श्वास, कास, जुकाम, अरोचक,
 ज्वर, कफ, मेद और गले के रोगों को नाश करता है ॥३७२॥
 कुलथी का यूप वात, श्वास, पीनस, तूनी, प्रतूनी (ये दोनों
 वातरोग हैं), कास, बवासीर, गुल्म और उदावर्त इनको
 नाश करता है ॥३७३॥

दाडिमामलकैर्यूपो हृद्यः संशमनो लघुः ।
 प्राणाग्निजननो मूर्च्छामेदोघ्नः पित्तवातजित् ॥३७४॥
 मुद्गामलकयूपस्तु ग्राही पित्तकफे हितः ।
 यवकोलकुलत्थानां यूपः करण्योऽनिलापहः ॥३७५॥
 सर्वधान्यकृतस्तद्गद् वृंहणः प्राणवर्धनः ।

दाडिम और आंवले के साथ किया हुआ (मुद्गादि का)
 यूप हृद्य, दोषों का शमन करने वाला, हलका, प्राणजनक,
 अग्निदीपक, मूर्च्छा और मेदनाशक तथा पित्तवातहर होता
 है ॥३७४॥ मूँग और आंवले का यूप संग्राहक और पित्तकफ
 में हितकर है । यव, कोल और कुलथी का यूप कण्ठ के लिये
 हितकर और वातनाशक है ॥३७५॥ सर्वे धान्यों से किया हुआ
 यूप शरीरपुष्टिकर और शक्तिवर्धक है ।

खडकाम्बलिकौ हृद्यौ तथा वातकफे हितौ ।
 बल्यः कफानिलौ हन्ति दाडिमाम्लोऽग्निदीपनः ॥३७६॥
 दध्यम्लः कफकृद्बल्यः स्निग्धो वातहरो गुरुः ।
 तक्राम्लः पित्तकृत् प्रोक्तो विपरक्तप्रदूषणः ॥३७७॥

खड और काम्बलिक (ये दोनों यूप के भेद हैं, एक में
 छाछ और शमीधान्य और दूसरे में छाछ और शाक पड़ता
 है) हृद्य और वातकफ में हितकर होते हैं । जिस (यूप) में
 अनार की खटाई हो वह बलकारक, कफवातनाशक और
 अग्निदीपन है ॥३७६॥ जिसमें दही की खटाई पड़ती हो वह
 कफकर, बलकारक, स्निग्ध, वातनाशक और भारी होता है ।
 जिसमें छाछ की खटाई पड़ती हो वह पित्तकारक और विष
 तथा रक्त को प्रकृषित करने वाला होता है ॥३७७॥

खडाः खडयवाग्वश्च पा(खा)डवाः पानेकानि च ।
 एवमादीनि चान्यानि क्रियन्ते वैद्यवाक्यतः ॥३७८॥
 अस्नेहलवणं सर्वमकृतं कटुकैर्विना ।
 विज्ञेयं लवणस्नेहकटुकैः संयुतं कृतम् ॥३७९॥
 अथ गोरसधान्याम्लफलाम्लैरन्वितं च यत् ।
 यथोत्तरं लघु हितं संस्कृतासंस्कृतं रसम् ॥३८०॥

खडयूप, खडयवागू, पाडव, पानक (पत्रे) इत्यादि
 पदार्थ वैद्य उपदेशानुसार किये जाते हैं ॥३७८॥ ये सब पदार्थ
 यदि स्नेह, लवण और कटुक के विना किये जायें तो उन्हें
 अकृत कहते हैं; और स्नेह, लवण और कटुकयुक्त 'कृत' कह-
 लाते हैं ॥३७९॥ गोरस (दधि तक), धान्याम्ल, फलाम्ल
 इनसे युक्त, हून (संस्कृत) और अकृत (असंस्कृत) ये

(रसयूपादि) उत्तरोत्तर अधिकाधिक हलके और हितकर होते हैं ॥३८०॥

चक्रद्वय—खड्ग—सक कफित्थचोगेरीमरिचारात्राजिचिकैक ।
गुणक खड्गप्रीडयम् ॥ खड्गयवागू—खड्गयूपसिद्धा यवागू ॥ पाद२—
रसाभ्युत्थोरसशकपायस्वणोषण । अतिसक्त पाडव कोलकुलस्थ-
नदरे शक्ता ॥ पानक—द्राक्षामधुकजंरुंकारामर्थ सपस्वका ।
दुस्वराशौ कल्पिन पूत शीत कर्पूरवासिनम् ॥ पानक पचसाराख्य दाह-
दुष्णाभिवर्तकम् ॥ विनातमरिचयिस्तु सत्कृता पानकस्तथा ॥

दधिमस्त्वम्लसिद्धस्तु यूपः काम्बलिकः स्मृतः ।
तिलपिण्याकाविकृतिः शुष्कश्याकं विरुद्धकम् ॥३८१॥
सिण्डुकी च गुरुणि स्युः कफपित्तकराणि च ।
तद्वच्च घटकान्याहुर्विदाहीनि गुरुणि च ॥३८२॥
लघवो बृंहणा घृष्या हृद्या रोचनदीपनाः ।
वृष्णामूर्च्छाभ्रमूर्च्छादिभ्रमग्ना रागपाडवाः ॥३८३॥
रसाला बृंहणी यव्या क्षिग्धा घृष्या च रोचनी ।
खेहनं गुडसंयुक्तं हृद्यं दध्यनिलापहम् ॥३८४॥

दधिमस्तु (दही का पानी) और खटाई से सिद्ध किया हुआ यूप काम्बलिक बहलाता है । तिल खली के विविध प्रकार, सूखा श्याक, अधिक रुद्ध हुमा श्याक ॥३८१॥ और सिण्डाकी भारी और कफपित्तकर होते हैं । इन्हीं के अनुसार गुण में मड़े विदाहजनक और गुह होते हैं ॥३८२॥ रागपाडव लघु, शरीरपुष्टिकर, घृष्य, हृद्य, रोचन, दीपन हैं, और वृष्ण, मूर्च्छा, भ्रम, वमन और भ्रम इनको दूर करते हैं ॥३८३॥ रसाला (गिलखरीजी) शरीरपुष्टिकर, बलकारक, क्षिग्ध, घृष्य, रुचिकर है । गुडयुक्त दही, क्षिग्ध, हृद्य और वातनाशक है ॥३८४॥

चक्रद्वय—राग—मिनाहवकमिन्धुवे सशुभाम्पस्वके ।
जम्बूलसैयुक्तो 'रागे' रात्रिकया ह्य ॥ रसाला—अर्थात्क सरिर
पुत्रितस्य दध्न एण्डस्य शोडशजानि शशिभमस्य । सर्पि पल मयुपल
परिचि द्विकरं शुण्ड्या पलाभमपि चार्थपल विद्वय ॥ यज्ज पेटे सुविनले
युड पाणिप्राहा कर्पूरुकिमुभिभूतदायवमस्या । यथा बृहोररररका सरया
'रसाला' ॥ श्रीस्वयद के समान यह एक प्रकार है ।

सक्तयः सर्पिपाडभ्यक्ताः शीतवारिपरिमुता ।
नातिद्रवा नातिसान्द्रा मन्ध इत्युपदिश्यते ॥३८५॥
मन्धः सद्योयलकरः पिपासाभ्रमनाशनः ।
साम्लजेदमुडो मूलशुच्छोदायतनाशनः ॥३८६॥
शंकरेशुत्सद्रात्तायुक्तः पित्तविषारानुत् ।
द्राक्षामधुकसंयुक्तः कफरोगनिषेधणः ॥३८७॥
पर्यग्नयेषोपहितो मलदोषानुलोमनः ।

धी मिले, डेरे पानी में घुसे, न बहुत पतले न बहुत गाढ़े सक 'मंघ' बहलाते हैं ॥३८५॥ मन्घ द्रुस्त बल देने वाला, गुणों और भ्रम का नाश करने वाला है । खटाई, खेद और दूध युक्त (मंघ) मूषहृष्य और उदाकर्ण का नाशक है ॥३८६॥ शंकर, मधे का रस और मंगूर युक्त (मंघ) पित्त-
शिकार का नाशक है । द्राक्षाम और मधुवा से युक्त (मंघ)

कफरोगनाशक है ॥३८७॥ उपर्युक्त तीनों वर्ग के (साम्बलं गुड, शंकरेशुत्सद्रात्ता, द्राक्षामधु) पदार्थ युक्त (मंघ) और दोष (विशेष करके वात) इनका अनुलोमन क वाला है ।

गौडमम्लमनम्लं वा पानकं गुह मूत्रलम् ॥३८८॥
तदेव सण्डमूर्च्छाकाशकंरसहितं पुनः ।
साम्बलं सतीक्ष्णं सहिमं पानकं स्यान्निरत्ययम् ॥३८९॥
माद्रीकं तु श्रमहरं मूर्च्छादाहदृषापहम् ।
परूपकाणां कोलानां हृद्यं विष्टमिभि पानकम् ॥३९०॥
द्रव्यसंयोगसंस्कारं ज्ञात्वा मातां च सर्वतः ।
पानकानां यथायोगं गुहलाघवमादिशेत् ॥३९१॥
इति कृताद्यधर्मः ।

खटाई युक्त या खटाई रहित गुड़ का पानक भारी और मूत्रल है ॥३८८॥ वही गुड़ का पानक मिथी, मुनका, खीनी अम्ल द्रव्य, (मरिचादि) तीक्ष्ण द्रव्य और कर्पूर युक्त निर्दोष होता है ॥३८९॥ मंगूर का पानक धमहर, मूर्च्छा, दाह और वृष्ण को दूर करता है । फालसा और बेतों का पानक मन क म्रिय और विष्टमजनक है ॥३९०॥ पानकों में मिलाने हुए द्रव्य, उन पर किये हुए संस्कार और (उनकी सेवन की हुई), राशि जानकर अत्येक पानक के संबंध में हलकापन या भारीपन निश्चय करना चाहिये ॥३९१॥

अथ भक्ष्यवर्गः ।
घद्याम्यतः परं भक्ष्यान् रसवीर्यविपाकतः ॥३९२॥
इसके आगे भक्ष्य पदार्थों (जिनको दंतों से चूबकर खाना पचता है ऐसे पदार्थ, यथा—लघू) को रसवीर्यविपाक के अनुसार वर्णन करते हैं ॥३९२॥

भक्ष्याः क्षीरकृता यव्या घृष्या हृद्याः सुगन्धिनः ।
अदाहिनः पुष्टिकरा दीपनाः पित्तनाशनाः ॥३९३॥
तेषां प्राणकरा हृद्या घृतपूरः कफायदाः ।
चातपित्तहरा घृष्या गुरवो रक्तमांसलाः ॥३९४॥
यूप से बनाये हुए भक्ष्य पदार्थ बलकर, घृष्य, मन को म्रिय, सुगन्धि, दाह न करने वाले, शरीरपुष्टिकर, अमिरीपक और पित्तनाशक हैं ॥३९३॥ इनमें से घृतपूर (घेवर) प्राण (बल) दायक, मन को म्रिय, कफकारक, चातपित्तनाशक, घृष्य, भारी और रक्त तथा मांस घटाने वाला है ॥३९४॥

घक्तव्यः—घृतपूर—मरिचो सर्पिनां (गोधूमपूर्व) क्षीरानरिचिभिनिदिभि । भवगद्य द्यो पके एतपूरीडयमुच्यो ॥
बृंहणा मौडिवा भक्ष्या गुरवोऽग्निलनाशनाः ।
अदाहिनः पित्तहराः शुण्डलाः कफयर्धनाः ॥३९५॥
गुड़ के भक्ष्य पदार्थ शरीरपुष्टिकर, भारी, वातनाशक, निदाह न करने वाले, पित्तनाशक, शुक्त और कफवर्धक हैं ॥३९५॥

मधुमस्तकसंयायाः पूषा ये से विद्योपतः ।
गुरवो बृंहणाधैष मोदकास्तु सुदुर्गन्धाः ॥३९६॥
मधुमस्तक, रोषाव और जो दूर होते हैं वे विशेष करके

रं शरीर पुष्टिकर हैं । मांदक (लड्डू) पचन में कठिन है ॥

वृक्तव्य—मधुमस्तक—मधुमीरुदीर्गमे वेष्टिः सन्निताध मधुमस्तकमुदितम् ॥ संवावस्तु धतुशरीरसुगोपमपाकः ॥

प्रनो दीपनः स्वयः पिराहः पवनापहः ।

श्लेष्मृतमश्वैव लटकः प्राणवर्धनः ॥३९७॥
लटक (धीरुष्य सद्य पलाश) रुचिकर, अग्निदीपन, के लिये हितकर, पित्त और वातनाशक, भारी, अत्यंत और बलवर्धक है ॥३९७॥

वृक्तव्य—लटक—लवङ्गोपपत्तंशुदपि निर्मध्य गातितम् ।
अग्निमंशुकं चन्द्रचूर्णवर्धनम् । लटकं पाचका शक्यः ॥

: सुगन्धिर्मधुरः क्षिन्धः कफकरो गुरुः ।

पपहस्तृप्तिकरो बल्यो विष्यन्दनः स्मृतः ॥३९८॥
'विष्यन्दन' हृद्य, सुगंधयुक्त, मधुर, क्षिन्ध, कफकर, वातनाशक, वृष्टिकारक और बलवर्धक है ॥३९८॥

वृक्तव्य—विष्यन्दन—आमगोभूतपूर्णं च सर्पिःक्षीरुद्यम ।
नातिताम्रो नातिपन्नो निष्यन्दो नाम नामतः ॥

या वातपिराह्ना भक्ष्या चल्यास्तु सान्निताः ।

याः पथ्यतमास्तेषां लघवः फेनकाद्यः ॥३९९॥

आदिधेसवाराणां पूर्णां विष्टम्भिनो मताः ।

सवारैः सपिशितैः संपूर्णां गुरुवृंहणाः ॥४००॥

गेंहूँ के पीसान के सर्व पदार्थ शरीरपुष्टिकर, वातपित्तनाशक, बलवर्धक, हृद्य और अत्यंत पथ्यकर होते हैं । उनमें फेनक फेनी आदि अत्यंत हलक होते हैं ॥३९९॥ सुग्वादि धेसवार भरे हुए (सामित) विष्टम्भजनक हैं, और मांसादि सवार से भरे हुए भारी और शरीरपुष्टिकर होते हैं ॥४००॥

ललाः श्लेष्मज्जन्तानां, शण्डुल्यः कफपित्तलाः ।

पालल (पलल तिलचूर्ण तेन वृताः पाललाः) कफकारक और शूलि कफपित्तकारक (कफपित्तजनक पदार्थों में श्रेष्ठ । रक) हैं ।

शियोष्णाः पैष्टिका भक्ष्याः कफपित्तप्रकोपणाः ।

विदाहिनो नातिबला गुरुवश्च विशेषतः ॥४०१॥

(चावल के) पिष्ट के पदार्थे उष्णवीर्य, कफपित्तप्रकोपक, विदाहजनक, अधिक दल न देने वाले और विशेष करके गुरु होते हैं ॥४०१॥

वैदला लघवो भक्ष्याः कपायाः सृष्टमारुताः ।

विष्टम्भिनः पित्तलमाः श्लेष्मन्ना भिन्नवर्चसः ॥४०२॥

बल्या वृष्णास्तु गुरुवो विज्ञेया मापसाधिताः ।

हिदल धान्यों के भक्ष्य हलके, कपाय, वायुवर्धक, विष्टम्भजनक, पित्तकर, कफनाशक और मल का भेदन करने वाले हैं ॥४०२॥ (उनमें) उड़द से बनाये हुए भक्ष्य बलकारक, वृष्य और गुरु होते हैं ।

कूर्चिकाविहता भक्ष्या गुरुवो नातिपित्तलाः ॥४०३॥

कूर्चिका (त्रिमथित क्षीर, फटे हुए दूध) से बनाये हुए भक्ष्य (जैसे—रसगुला, संदेश) गुरु हैं और विशेष पित्तकर नहीं हैं ॥४०३॥

चिरूढकृता भक्ष्या गुरुवोऽनिलपित्तलाः ।

विदाहोत्क्षेपजनना रूक्षा दृष्टिप्रदूषणाः ॥४०४॥
अंकुरित धान्यों से बनाये हुए भक्ष्य भारी, वातपित्तकर, विदाहजनक, उबकी करने वाले, रूक्ष और दृष्टिदूषक होते हैं ॥४०४॥

हृद्याः सुगन्धिना भक्ष्या लघवो घृतपाचिताः ।

वातपित्तहरा बल्या वर्णदृष्टिप्रसादनाः ॥४०५॥

विदाहिनस्तैलकृता गुरुवः कटुपाकिनः ।

उष्णा मारुतदृष्टिघ्नाः पित्तलास्त्वक्प्रदूषणाः ॥४०६॥

ची में बनाये हुए भक्ष्य पदार्थ मन को प्रिय, सुगंधयुक्त, हलके, वातपित्तनाशक, बलकारक, वर्ण और दृष्टि के प्रसादक होते हैं ॥४०५॥ तेल में बनाये हुए पदार्थ विदाह करने वाले, गुरु, विपाक में कटु, गरम, वातनाशक, दृष्टिदूषक, पित्तकारक और त्वचा को दूषित करने वाले हैं ॥४०६॥

फलमांसेशुचिहृत्तिलमापोपसंस्कृताः ।

भक्ष्या बल्याश्च गुरुवो वृंहणा हृदयप्रियाः ॥४०७॥

फल, मांस, दूधरस से बनाये हुए शर्करादि पदार्थ, तिल, उड़द इत्यादि पदार्थ ढालकर बनाये हुए भक्ष्य पदार्थ बलकारक, भारी, शरीरपुष्टिकर और मन को प्रिय होते हैं ॥४०७॥

कपालाङ्गारपक्षास्तु लघवो वातकोपनाः ।

सुपक्षास्तनवश्चैव भूयिष्ठं लघवो मताः ॥४०८॥

कपालांगारों पर पके हुए भक्ष्य हलके और वातप्रकोपक हैं । वे ही पतले और खूब पके हुए हों तो बहुत हलके होते हैं ॥४०८॥

सकिलाटादयो भक्ष्या गुरुवः कफवर्धनाः ।

कुल्माषा वातला रूक्षा गुरुवो भिन्नवर्चसः ॥४०९॥

किलाटादि से बनाये हुए भक्ष्य गुरु और कफ बढ़ाने वाले होते हैं । कुल्माष वातकर, रूक्ष, गुरु और मल का भेदन करने वाले हैं ॥४०९॥

उदावर्तहरो वाद्यः कासपीनसमेहजुत् ।

धानोलुम्बास्तु लघवः कफमेदोविशोषणाः ॥४१०॥

वाद्य (शृष्टयवकृतभक्ष्य) उदावर्तनाशक है और कास, पीनस तथा प्रमेह दूर करता है । धान (शृष्टयव) और उलुम्ब (अग्निपाक फलायादि शिग्य) लघु और कफमेद का शोषण करने वाले हैं ॥४१०॥

शक्तवो वृंहणा वृष्णास्तृष्णापित्तकफापहाः ।

पीताः सद्योबलकरा भेदिनः पवनापहाः ॥४११॥

शुर्वी पिण्डी खराऽत्यर्थं लघ्वी सैव विपर्ययात् ।

शक्तनामाशु जीर्यत शृद्धत्वादबलेहिका ॥४१२॥

शक्त (शृष्टयवचूर्ण) शरीरपुष्टिकर, वृष्य, वृष्णाशामक, पित्तकफनाशक है, तेवन करते ही बल देता है, भेदी है और वातनाशक है ॥४११॥ उसका अत्यंत कठिन लड्डू भारी होता है और मुलायम लड्डू हलका होता है । उसका अबलेह पतला होने के कारण शीघ्र पचता है ॥४१२॥

लाजादृष्ट्यतिसारग्रा दीपनाः कफनाशनाः ।

यल्याः कपायमधुरा लघवस्त्वमलापहः ॥४१३॥

दृढर्षिदाहधर्मातिनुदस्तस्सक्तवो मताः ।

रक्तपित्तहराश्चैव दाहज्वरविनाशनाः ॥४१४॥

लाजा (धान की खील) घमन और अतिमारनाशक, अग्निदीपक, कफहर, यक्षराज, वषाय और मधुर, हल्की, नृपागामक और अल्पमल करने वाली है ॥४१३॥ लाजमक्नु तृषा, घमन, दाह, लू लगना इन विकारों को दूर करता है, रक्तपित्तनाशक है और दाह तथा ज्वर का नाश करता है ॥४१४॥

पृथुका गुरवः क्षिन्धा वृंहणाः कफवर्धनाः ।

यल्याः सक्षीरभावास्तु चातग्रा मिश्रवर्धनसः ॥४१५॥

पृथुक (चिवडा) भारी, क्षिन्ध, शरीरगुष्टिकर और कफवर्धक है । दूध के साथ लेने से बलकारक, चातनाशक और मल का भेदन करने वाला है ॥४१५॥

सुदुर्जरः स्वादुरसो वृंहणस्तदुल्लो नयः ।

सन्धानकृन्मेहहरः पुराणस्तपडुलः स्मृतः ॥४१६॥

नये चावल पचने में कठिन, मधुर और शरीरगुष्टिकर है । पुराने चावल भ्रम का संधान करने वाले और प्रमेहनाशक है ॥४१६॥

यदौ कारणमासाद्य भोक्तृणां छन्दतोऽपि वा ।

भक्ष्यादयः प्रकल्प्याः स्युस्तदा मुनिपुणो भिषक् ।

द्रव्यसंयोगसंस्कारविकारान् समवेद्य तु ।

अनेकद्रव्ययोनित्वाच्छास्त्रतस्तान् चिनिदिशेत् ॥४१७॥

(रोगप्रतीकार रूप) कारण के लिये अथवा राने जाने की इच्छा के लिये जब भक्ष्य पदार्थों की योजना करनी पड़ती है तब व्यवहारकुशल वैद्य भक्ष्यपदार्थों की उत्पत्ति अनेक द्रव्यों से होने के कारण शास्त्र के अनुसार भक्ष्योपादक उन द्रव्यों के संयोग, संस्कार तथा विकारों का विचार कर उन भक्ष्यपदार्थों के गुणधर्म निर्दिष्ट करे ॥४१७॥ इति भक्ष्यार्थः ।

अतः सर्वानुपानान्युपदेश्यामः ।—

अस्लेन केचिद्विद्वता मनुष्या

माधुर्ययोगे प्रणवीभवन्ति ।

तथाऽम्लयोगे मधुरेण तृप्ता

स्तेषां यद्येष्टं प्रवदन्ति पथ्यम् ॥४१८॥

अथ मधु अनुपानों का उपदेश करते हैं—जैसे कि शकल से उद्वेजित हुए मनुष्य मधुर पदार्थ सेवन में शक्यत अभिलाषा करते हैं, उसी प्रकार मधुर से (अग्नि) तृप्त हुए मनुष्य अम्ल पदार्थ सेवन में अभिलाषा करते हैं । उन (अम्ल-मधुनादि पदमयुक्त पदार्थों के सेवन से तृप्त मनुष्यों) के लिये जो उचित होता है वही पथ्यर (अनुपान) कहते हैं ॥४१८॥

शीतोष्णतोयासवमद्ययूप-

फलाम्लधान्याम्लपयोरसानाम् ।

यस्यानुपानं तु हितं भवेद्य-

चास्मे प्रदेशं गृह्यह मात्रया तत् ॥४१९॥

व्याधिं च कालं च विभाष्य धीरै-

र्द्रव्याधि भोज्यानि च तानि तानि ।

सर्वानुपानेषु घरं वदन्ति

मेध्यं यद्गमः शुचिभाजनस्यम् ॥४२०॥

लोकस्य जन्मप्रभृति प्रशस्तं

तोयात्मकाः सर्वरसाश्च दृष्टाः ।

सङ्क्षेप एषोऽभिहितोऽनुपाने-

ष्यतः परं विस्तारतोऽभिधास्ये ॥४२१॥

ठण्डा पानी, गरम पानी, आम्रव, मद्य, यूप, फलाम्ल धान्याम्ल, दूध, मांसरस इनमें से जो अनुपान जिसके लिये हितकर हो वह उसके लिये यथाप्रमाण देना चाहिये ॥४१९॥ बुद्धिमान् मनुष्यों को चाहिए कि वह व्याधि और काल का विचार कर (उपयुक्त) विविध भोज्य द्रव्यों को सेवन करें । सर्व अनुपानों में शुद्ध पात्र में इकट्ठा किया हुआ आन्तरिक जल सर्वश्रेष्ठ है ॥४२०॥ (प्राय) यह देखा जाता है कि जन्म से ही मनुष्यों के लिये तरलरूप में प्रकार के रस पथ्यकर होते हैं । अनुपान के मद्य में यह सङ्क्षेप से वर्णन हुआ, इसके आगे विस्तारपूर्वक वर्णन करेंगे ॥४२१॥

यत्तद्वयं—अनुपान—'अत्राद्यनु पश्चात् पीयते' इत्यनुपानम् ।

किं अन्नम् लक्ष्मीह्वय पीयते' इत्यनुपानम् । प्रायः अनुपान आहार करने के पश्चात् ही सेवन किया जाता है । परन्तु आवश्यकता के अनुसार भोजन के पूर्व या मध्य में भी सेवन कर सकते हैं । चरकसंहिता में अनुपान की व्याख्या ऐसी मिलती है—यदाहासुणे पान विपरीत तदिष्यते । अत्रानुपानं भान्तां दृष्ट यत्र विरोधि च ॥

उष्णोदकानुपानं तु ज्ञेदानामथ शस्यते ।

कते भद्रातकक्षेहात् क्षेहात्तौवरकात्तथा ॥४२२॥

अनुपानं यदन्येके तैले यूपाम्लकाञ्जिकम् ।

शीतोदकं माञ्जिकस्य पिष्टानस्य च सर्वशः ॥४२३॥

दधिपायसमद्यातिविप्रमुष्टे तथैव च ।

केचित् पिष्टमयस्याहुरनुपानं सुखोदकम् ॥४२४॥

मिलावें के तैल और सुबरक के तैल के मिश्रण और सैव प्रकार के क्षिन्ध पदार्थों पर गरम जल का अनुपान प्रयत्न होता है ॥४२२॥ कई ऐसा कहते हैं कि, तैल के लिये यूप और अम्लकाञ्जिक का अनुपान चाहिये । शहद और पिष्टान के लिये हमेशा ठंडा पानी चाहिये ॥४२३॥ दही, क्षीर, मदाथय और विप्रमुष्ट (विपकी पीटा) पर भी वैसा ही (ठंडा पानी अनुपान) चाहिये । पिष्ट पदार्थों पर मन्दीष्ण (सोहाना सोहाना) पानी का अनुपान कई बतलाते हैं ॥४२४॥

एषो मांसरसो वाऽपि शालिमृदादिभोजिनाम् ।

युष्मापानपर्मतापिनियमयन्नासु च ॥४२५॥

१ एतद्वये—'नधान् शीतानाम तापदुल्ल इतिमेहसुर' इति नचि दधि वाऽ. २ पिष्ट ३ यथाकरणे

मापादेरनुपानं तु धान्याम्लं दधिमस्तु वा ।
मद्यं मद्योचितानां तु सर्वमांसेषु पूजितम् ॥४२६॥
अमद्यपानामुदकं फलाम्लं वा प्रशस्यते ।

क्षीरं घर्माध्वभाष्यस्त्रीकृन्तानाममृतोपमम् ॥४२७॥

चाबल, मूँग आदि खाने वालों के लिये तथा युद्ध और प्रवाम से थके हुए अवस्था में दूध, अक्षिपन्तान, विष और मद्य इनसे पीडितावस्था में दूध अथवा मांसरस (अनुपान देना चाहिये) ॥४२५॥ मापादि पदार्थों पर धान्याम्ल या दधि का पानी अनुपान है । मदिरा पीने वालों को सब प्रकार के मांसों पर मद्य ही अनुपान है ॥४२६॥ जो शराबी नहीं है उनके लिये पानी या फलाम्ल उचित अनुपान है । दूध, प्रवाम, भाषण, स्त्रीसेवन इनसे थके हुए मनुष्यों को दूध का अनुपान अमृत के समान (गुणकारी) है ॥४२७॥

सुरा कृशानां स्थूलानामनुपानं मधूदकम् ।
निरामयानां चित्रं तु भ(भु)क्तमच्ये प्रकीर्तितम् ॥४२८॥

स्निग्धोष्णं मारुते पथ्यं कफे रूक्षोष्णमिष्यते ।

अनुपानं हितं चापि पित्ते मधुरशीतलम् ॥४२९॥

हितं शोणितपित्तिभ्यः क्षीरमिक्षुरसस्तथा ।

अर्कशेलुशिरीषाणामासवास्तु विपार्तिषु ॥४३०॥

पतले मनुष्यों के लिये सुरा और मोटे मनुष्यों के लिये मधु और पानी मिलाकर पीना अनुपान है । स्वस्थ मनुष्यों को भोजन के बीच में नाना प्रकार के (अनुपान द्रव्य) पीना उचित है ॥४२८॥ वायु (प्रकृति या रोगों) में स्निग्ध और गरम अनुपान पथ्यकर है; कफ के लिये रूक्ष और उष्ण अनुपान पथ्यकर है; और पित्त के लिये मधुर और शीतल अनुपान हित है ॥४२९॥ रक्तपित्त के रोगियों के लिये दूध और गन्ने का रस हितकर अनुपान है । और विष की पीढा में अर्क, शैलू (लिसोडा, श्लेष्मातक) और शिरस इनके आमव हितकर हैं ॥४३०॥

अतः परं तु वर्णाणामनुपानं पृथक् पृथक् ।

प्रवक्ष्याम्यानुपूर्व्येण सर्वेषामेव मे शृणु ॥४३१॥

तत्र पूर्वशस्यजातीनां बंदराम्लं, वैदलानां धान्याम्लं, जङ्गलानां धन्वजानां च पिप्पल्यासवः, विष्किराणां कोलवदरासवः, प्रतुदानां क्षीरवृक्षासवः, गुहाशयानां खर्जूरनालिकेरासवः, प्रसहानामश्वगन्धासवः, पर्णमृगाणां कृष्णगन्धासवः, विलेशयानां फलसागसवः, एकशफानां त्रिफलासवः, अनेकशफानां खदिरासवः, कूलचराणां शृङ्गाटककशेरुकासवः, कोशवासिनां पादिनां च स पत्र, पृथानामिक्षुरसासवः, नादेयानां मत्स्यानां मृणालासवः, सामुद्राणां तु मातुलुङ्गासवः, अम्लानां फलानां पद्मोत्पलकन्दासवः, कषयाणां दाडिमवेत्रासवः, मधुराणां त्रिकटुकयुक्तः खरडासवः, तालफलादीनां धान्याम्लं, कटुकानां दूर्वा-

नलवेत्रासवः, पिप्पल्यादीनां श्वदंष्ट्रावसुकासवः, कूप्पाएडादीनां दार्वाकिरीरासवः, चुचूप्रभृतीनां लोभ्रासवः, जीवन्त्यादीनां त्रिफलासवः, कुसुम्भाशकस्य स पत्र, मण्डूकपर्यादीनां महापञ्चमूलासवः, तालमस्तकादीनामम्लफलासवः, सैन्धवादीनां सुरासव आरनालं च, तोयं वा सर्व्वेति ॥४३२॥

अब इसके आगे मर्व वर्गों के पृथक् पृथक् अनुपान क्रम से वर्णन करेंगे, मुझ से श्रवण करो ॥४३१॥

इनमें पूर्वोक्त (शूक धान्यादि) गस्य जाति पर वेरों की खटाई और (कलायादि) द्विदल धान्यों पर धान्याम्ल अनुपान है । जङ्गल और मरुस्थली के पशुओं के मांस पर पिप्पली का आमव अनुपान है । विष्किरों के लिये कोलवदरासव अनुपान है । प्रतुओं के लिये क्षीर वृक्षां (गूलर इत्यादि) का आसव अनुपान है । गुहा में रहने वालों के लिये खजूर और नारियल का आसव अनुपान है । प्रसहों के मांस पर अश्वगन्धासव अनुपान है । पर्णमृगों (वानरादि) के मांस पर कृष्णगन्धा (सहिजन) का आसव अनुपान है । विलेश्यों के मांस पर (मृद्रीकादि) फल और (शालमारादि) सार इनके आसव अनुपान है । एक खुर के प्राणियों के मांस पर फलासव अनुपान है । अनेक खुर के प्राणियों के मांस पर खदिरासव अनुपान है । जलाशय के तीर पर विचरने वाले के मांस पर शृंगाटक और कशेरुक इनका आसव अनुपान है । कोश में रहने वालों और पादिनों के मांस पर वही (शृंगाटक कशेरुकासव) अनुपान है । पानी में तैरने वालों के मांस पर इक्षुरसासव अनुपान है । नदी की मछलियों के लिये मृणाल (कमलनाल) का आसव अनुपान है । समुद्र की मछलियों के लिये मातुलुंग का आसव अनुपान है । खट्टे फलों के लिये पत्र और उत्पल के कन्दों का आसव अनुपान है । कषाय फलों के लिये अनार और वेत का आमव अनुपान है । मधुर फलों के लिये त्रिकटुकयुक्त खण्डासव (चीनी का आसव, कन्दासव ऐसा भी पाए हैं) अनुपान है । ताल आदि फलों के लिये धान्याम्ल अनुपान है । कटु फलों के लिये दूर्वा, नरसल और वेत इनका आसव अनुपान है । पिप्पली आदि के लिये गोखरू और वसुक का आसव अनुपान है । कूप्पाएड आदि के लिये दारुहरिद्रा और करीर इनका आसव अनुपान है । चुचू आदि शाकों के लिये लोभ्रामव अनुपान है । जीवन्ती आदि शाकों के लिये त्रिफलासव अनुपान है । कुसुंबशाक के लिये वही (त्रिफलासव अनुपान है । मण्डूकपर्णी आदि शाकों के लिये बृहत् पंचमूल का आसव अनुपान है । ताल (नारिकेल आदि फलों) व (मज्जा के लिये) अम्ल फलों के आसव अनुपान है । सैन्धवादि लवणों के लिये सुरामव और काल्मिक अनुपान है अथवा पानी सब पदार्थों के लिये अनुपान है ॥४३२॥

भवन्ति चात्र—

सर्वेषामनुपानानां माहेन्द्रं तोयमुत्तमम् ।
सात्म्यं वा यस्य यत्तोयं तत्तस्मै हितमुच्यते ॥४३३॥

उष्णं घाते कफे तोयं पित्ते रक्ते च शीतलम् ।

सद्य अनुपानो मं माहेन्द्र (अश्विन कार्तिक का आन्तरिक) जन श्रेष्ठ अनुपान है । अथवा जिमको जो जल सामय (अनुपान और सुपदायी) है वही उष्णक लिये हितकर (अनुपान) समकना चाहिये ॥४३३॥ वायु और कफ में उष्ण जल और पित्त तथा रक्त विकार में शीत जल हितकर है ।

दोषयुक्त वा भुक्तमतिमात्रमथापि वा । यथोक्तानुपानेन सुखमद्यं प्रजीर्यति ॥४३४॥

रोचनं बृहत् घृत्यं दोषसंघातभेदनाम् ।

तर्पणं माद्वैवकरं श्रमकृमहरं सुराम् ॥४३५॥

दीपनं दोषशमनं पिपासाच्छेदनं परम् ।

वर्ष्यं वर्षणकरं सम्यगनुपानं सदोच्यते ॥४३६॥

दोषयुक्त, गरिष्ठ अथवा अतिमात्रा में सेवन किया हुआ भोजन यथोक्त अनुपान से सुलभवैक पच जाता है ॥४३३॥ (सामान्यतया) गोष्य विचार कर प्रयुक्त किया (सम्यक्) अनुपान सदैव रुचिकारक, शरीररुष्टिकर, घृत्य, दोषों की भेदन करने वाला, कृत्तिकारक, शरीरमाद्वैकर, श्रम और कृमनाशक, सुलभकर, अग्निदीपक, दोषशामक, तृषाशमन के लिये श्रेष्ठ, बलकारक और वर्षणकारक होता है ॥४३५, ४३६॥

तदादौ कर्शयेत् पीतं स्थापयेन्मध्यसेचितम् ।

पश्चात्पीतं बृंहयति तस्माद्दीक्ष्य प्रयोजयेत् ॥४३७॥

स्थिरतां गतमङ्गिभ्रमभ्रमद्रवपापियानाम् ।

भक्षत्याश्राधजननमनुपानमतः पिबेत् ॥४३८॥

यह अनुपान भोजन के पहले सेवन करने से शरीर को वृष्ट करता है, भोजन के बीच सेवन करने से शरीर को मध्यम (न मोटा न पतला) रखता है और भोजन के पाश्चात् सेवन करने से शरीर को पुष्ट करता है । इसलिये (अपने शरीर का) पूर्ण विचार करके (भोजन के पूर्व, मध्य या अन्त में) उसका प्रयोग कर ॥४३७, ४३८॥

यत्कण्य—यदा 'तदादौ' श्लोक से भोजनादि मण्डान्त-विभाग के अनुपान अनुपान के जो गुणविशेष वर्णन किये हैं वे वास्तव में अष्टांगसमूह और अष्टांग हृदय में वैश्व जप के ही बतलाये हैं—भक्षत्याश्री जल शीतमिषाह इत्यांगनाम् । अन्ते कर्तव्ये स्फुरत्स्वैच्छामासायनं वाकम् । मध्ये मन्वांगतां मास्यं चतुर्णां जलमसुत् ॥ (अष्टांगसमूह) । सम्यक्कृत्वा भक्तमध्यान्तप्रथमांशु ॥ (अष्टांगहृदय) । इनका कारण यह ही सकता है कि अन्तहार में जल के अतिरिक्त अन्य अनुपानों का उपयोग अल्प होना है । उर्ध्वोक्त अष्टांगसमूह के श्लोकों में शरीर की वृद्धयम स्यूता की उपपत्ति भी वर्णन की गई है ।

न पिबेच्छ्वासकासातो रोगे चान्यूर्ध्वजनुगे ।

स्रुतोररुक्तः प्रसेकी च यस्य चोपहतः स्वरः ॥४३९॥

पीत्याऽध्वमाध्याध्ययनगोष्यमात्रं शीलयेत् ॥४४०॥

प्रदूष्यामाशयं तद्धि तस्य कण्ठोरसि स्थितम् ।

स्थान्नामिसादृच्छर्वादीनामया ज्ञनयेद् बहून् ॥४४१॥

(अनुपाननिषेध—) जिमको क्षाय हो, सर्मा हो,

उर्ध्वजनु (नाक कान आदि के) रोग हों, उरुत्तः शारादाय दो, (वातादि दोषों से) स्वर विगड़ गया । उसको अनुपान का सेवन नहीं करना चाहिये ॥४३९॥ अ पान सेवन करने के पश्चात् प्रवाम, पुकार कर सोलना, पान गाना और सोना ये काम नहीं करने चाहिये ॥४४०॥ (य पेसा करे तो इससे) अनुपान आमाशय को दूषित कर कंठ और उर प्रदेश में स्थित होकर लालास्राव, अग्निमांस वमन इत्यादि अनेक रोगों को उत्पन्न करता है ॥४४१॥

गुरलाघवचिन्तेयं स्वमाद्यं नातिवर्तते ।

तथा संस्कारमानान्नकालांश्चाप्युत्तरोत्तरम् ॥४४२॥

मन्दकर्मालारोग्याः सुकुमाराः सुलोचिताः ।

जन्तवो ये तु तेषां हि चिन्तेयं परिकीर्त्यते ॥४४३॥

यदिनः सरभदया ये ये च दीनाग्रयो नराः ।

कर्मनित्याश्च ये तेषां नापदयं परिकीर्त्यते ॥४४४॥

इति सर्वानुपानवर्गः ।

गुरुत्व और लघुत्व का विचार (पदार्थों का) स्वभाव तथा (उसके साथ ही साथ) संस्कार, मात्रा, उस पदार्थ से बनाये हुए विविध खाने के प्रकार और काल इनका अति-शुभ्य नहीं करेता (यानि द्रव्य का गुरुत्व या लघुत्व इन सब बातों पर निर्भर होता है) और ये बातें एक से एक बतकर होती हैं ॥४४२॥ जो विशेष परिश्रम नहीं करते हैं (आलसी), जिनकी जठराग्निमद है, जिनका स्वास्थ्य ठीक नहीं है, जिनका शरीर कोमल है, जो आरामतलब हैं उन मनुष्यों के लिये द्रव्यों की लघुता और गुल्ता का विचार यहाँ वर्णन किया है ॥४४३॥ जो बलवान् हैं, जो कठिन पदार्थ (घने आदि) हमेशा सेवन करते हैं, जिनकी जठराग्नि तीक्ष्ण है, जो हमेशा कष्ट करते हैं उनके लिये यह गुल्ताघवचिन्ता प्रापश्यक नहीं है ॥४४४॥ इति सर्वानुपानवर्गः ।

यत्कण्य—यदा 'तदादौ' श्लोक से भोजनादि मण्डान्त-विभाग के अनुपान अनुपान के जो गुणविशेष वर्णन किये हैं वे वास्तव में अष्टांगसमूह और अष्टांग हृदय में वैश्व जप के ही बतलाये हैं—भक्षत्याश्री जल शीतमिषाह इत्यांगनाम् । अन्ते कर्तव्ये स्फुरत्स्वैच्छामासायनं वाकम् । मध्ये मन्वांगतां मास्यं चतुर्णां जलमसुत् ॥ (अष्टांगसमूह) । सम्यक्कृत्वा भक्तमध्यान्तप्रथमांशु ॥ (अष्टांगहृदय) । इनका कारण यह ही सकता है कि अन्तहार में जल के अतिरिक्त अन्य अनुपानों का उपयोग अल्प होना है । उर्ध्वोक्त अष्टांगसमूह के श्लोकों में शरीर की वृद्धयम स्यूता की उपपत्ति भी वर्णन की गई है ।

न पिबेच्छ्वासकासातो रोगे चान्यूर्ध्वजनुगे ।

स्रुतोररुक्तः प्रसेकी च यस्य चोपहतः स्वरः ॥४३९॥

पीत्याऽध्वमाध्याध्ययनगोष्यमात्रं शीलयेत् ॥४४०॥

प्रदूष्यामाशयं तद्धि तस्य कण्ठोरसि स्थितम् ।

स्थान्नामिसादृच्छर्वादीनामया ज्ञनयेद् बहून् ॥४४१॥

(अनुपाननिषेध—) जिमको क्षाय हो, सर्मा हो,

उर्ध्वजनु (नाक कान आदि के) रोग हों, उरुत्तः शारादाय दो, (वातादि दोषों से) स्वर विगड़ गया । उसको अनुपान का सेवन नहीं करना चाहिये ॥४३९॥ अ पान सेवन करने के पश्चात् प्रवाम, पुकार कर सोलना, पान गाना और सोना ये काम नहीं करने चाहिये ॥४४०॥ (य पेसा करे तो इससे) अनुपान आमाशय को दूषित कर कंठ और उर प्रदेश में स्थित होकर लालास्राव, अग्निमांस वमन इत्यादि अनेक रोगों को उत्पन्न करता है ॥४४१॥

गुरलाघवचिन्तेयं स्वमाद्यं नातिवर्तते ।

तथा संस्कारमानान्नकालांश्चाप्युत्तरोत्तरम् ॥४४२॥

मन्दकर्मालारोग्याः सुकुमाराः सुलोचिताः ।

जन्तवो ये तु तेषां हि चिन्तेयं परिकीर्त्यते ॥४४३॥

यदिनः सरभदया ये ये च दीनाग्रयो नराः ।

कर्मनित्याश्च ये तेषां नापदयं परिकीर्त्यते ॥४४४॥

इति सर्वानुपानवर्गः ।

४६॥ फिर विपनाशक औषधियों का उपयोग करके, पंखे से
हर उदक का प्रोक्षण करके और सिद्ध (तत्काल फल-
रू) मन्त्रों के अभिमंत्रण से विप नष्ट करके सिद्ध किया
गया (राजा आदि को) समर्पण करना चाहिये ॥४४७॥
वक्तव्य—रसोद्घर, रसोद्घया, वैद्य तथा परिचारक
होने चाहिये इसका वर्णन आगे कल्पस्थान के प्रथमा-
य के प्रारंभ में किया गया है ।

व्याख्यतः परं कृत्स्नामाहारस्योपकल्पनाम् ।

इसके आगे आहार की संपूर्ण उपकल्पना को (कौन
किस पात्र में देना चाहिये, थाली में कैसे परोसना
चाहिये, किस क्रम से भोजन करना चाहिये इत्यादि) वर्णन
रहे हैं ।

एतं कार्ष्णायसे देयं पेया देया तु राजते ॥४४८॥

अलानि सर्वभक्ष्यांश्च प्रदद्याद्वै दलेषु च ।

रिशुष्कप्रदिग्धानि सौवर्णेषु प्रकल्पयेत् ॥४४९॥

द्रवाणि रसांश्चैव राजतेषूपहारयेत् ।

द्वराणि खडांश्चैव सर्वान् शैलेषु दापयेत् ॥४५०॥

द्यात्ताम्रमये पात्रे सुशीतं सुशृतं पयः ।

गनीयं, पानकं मद्यं मृण्मयेषु प्रदापयेत् ॥४५१॥

शिवस्फटिकपात्रेषु शीतलेषु शुभेषु च ।

द्याद् वैदूर्यचित्रेषु रागषाडवसट्टकान् ॥४५२॥

कृष्णलोह के पात्र में घी देना चाहिये; पेया चांदी के
पात्र में देनी चाहिये ॥४४८॥ फल तथा सर्व प्रकार के भक्ष्य-
पदार्थ पत्रों पर देने चाहिये; सूखे और प्रदिग्ध पदार्थ सोने के
पात्र में देने चाहिये ॥४४९॥ द्रवपदार्थ तथा रस चांदी के पात्र
में देने चाहिये; कट्टर और खड फत्थर के पात्र में देने चाहिये
॥४५०॥ खूब उवाककर फिर ठंडा किया हुआ दूध तांबे के
पात्र में देना चाहिये, पानी, पानक और मद्य मिट्टी के पात्र
में देने चाहिये ॥४५१॥ अथवा काँच, स्फटिक के शीतल और
पवित्र पात्र में देने चाहिये; रागषाडव और सट्टक वैदूर्य के
पात्र में देने चाहिये ॥४५२॥

पुरस्ताद्विमले पात्रे सुविस्तीर्णे मनोरमे ।

सुदः सूपौदनं दद्यात् प्रदेहांश्च सुसंस्कृतान् ॥४५३॥

फलानि सर्वभक्ष्यांश्च परिशुष्काणि यानि च ।

तानि दक्षिणपार्श्वे तु भुज्जानस्योपकल्पयेत् ॥४५४॥

प्रद्रवाणि रसांश्चैव पानीयं पानकं पयः ।

गुडान् यूपान्श्च पेयांश्च सव्ये पार्श्वे प्रदापयेत् ॥४५५॥

सर्वान् गुडविकारांश्च रागषाडवसट्टकान् ।

पुरस्तात् स्थापयेत् प्राज्ञो द्वयोरपि च मध्यतः ॥४५६॥

बुद्धिमान् रसोद्घया निर्मल, चौड़े और मनोहर पात्र में
सामने भात तथा (रायता, चटनी इत्यादि) सुसंस्कृत लेह
पदार्थ स्थापन करे ॥४५३॥ फल, सब प्रकार के (लड्डू मोद-
कदि) भक्ष्य पदार्थ तथा अन्य सूखे पदार्थ भोजन करने
वाले के दाहिनी ओर रख दे ॥४५४॥ पतले पदार्थ, नांसरस,
पानी, पानक, दूध, खड, यूप तथा अन्य पीने के पदार्थ बाईं

तरफ रख दे ॥४५५॥ सब गुड़ के पदार्थ, रागषाडव और सट्टक
इन्हें सामने, फल और द्रव पदार्थों के बीच में रखवे ॥४५६॥

एवं विज्ञाय मतिमान् भोजनस्योपकल्पनाम् ।

भोक्तारं विजन्ते रम्ये निःसंवाधे शुभे शुचौ ।

सुगन्धपुष्परचिते समे देशेऽथ भोजयेत् ॥४५७॥

विशिष्टमिष्टसंस्कारैः पथ्यैरिष्टै रसादिभिः ।

मनोर्ज्ञं शुचिं नायुष्णं प्रत्यग्रमशनं हितम् ॥४५८॥

इस प्रकार बुद्धिमान् (वैद्य या रसोद्घया) भोजन की
उपकल्पना (परोसगारी) करके भोजन करने वाले को एकान्त,
रमणीय, निःशंक, पवित्र, स्वच्छ, सुगंधी पुष्पों से रचित
(सुगंधित किया हुआ) समतल स्थान में भोजन करावे ॥४५७॥
(रुचि की दृष्टि से) इष्ट संस्कारों से बनाया हुआ, पथ्यकर
और मनपसन्द रसों से युक्त, मनोहर, पवित्र (स्वच्छ),
न बहुत गरम, ताजा भोजन विशेष रूप से हितकर होता
है ॥४५८॥

पूर्वं मधुरमश्रीयान्मध्येऽम्ललवणौ रसौ ।

पश्चाच्छेषान् रसान् वैद्यो भोजनेष्ववचारयेत् ॥४५९॥

आदौ फलानि भुञ्जीत दाडिमादीनि बुद्धिमान् ।

ततः पेयांस्ततो भोज्यान् भक्ष्यांश्चिन्नांस्ततः परम् ४६०

धेनं पूर्वं समश्रीयात् केचिदाहुर्विपर्ययम् ॥४६१॥

आदावन्ते च मध्ये च भोजनस्य तु शक्यते ।

निरत्ययं दोषहरं फलेष्वामलकं नृणाम् ॥४६२॥

मृणालविसशालककन्देक्षुप्रभृतीनि च ।

पूर्वं योज्यानि भिषजा न तु भुक्ते कदाचन ॥४६३॥

भोजन में पहले मधुर रस (युक्त पदार्थ) सेवन करे;
बीच में अम्ल और लवण रस (युक्त पदार्थ) सेवन करे;
और पीछे वैद्य को चाहिये कि वह शेष रस (तिकोपण कषाय
युक्त पदार्थ) परोसे ॥४५९॥ बुद्धिमान् (मनुष्य) भोजन में
पहले दाडिम आदि फल सेवन करे; उसके पीछे पेय पदार्थ
सेवन करे, और तदनंतर विविध भोज्य और भक्ष्य पदार्थ
सेवन करे ॥४६०॥ पहले गाढ़ा या कड़ा पदार्थ रखना चाहिये;
कई इसके विपरीत कहते हैं ॥४६१॥ फलों में से श्रावला
मनुष्यों के लिये वाधा न करनेवाला और सर्वदोषनाशक है;
इसलिये उसे भोजन के पूर्व, पीछे तथा बीच सेवन करना
उचित है ॥४६२॥ मृणाल, विस (कमलतंतु), शालक, कन्द
और इक्षु इनका उपयोग वैद्य को हमेशा भोजन के पूर्व करना
चाहिये, भोजन के बाद नहीं करना चाहिये ॥४६३॥

सुखमुच्चैः समसीनः समदेहोऽन्नतत्परः ।

काले सात्म्यं लघुं क्षिग्धं क्षिप्रमुष्णं द्रवोत्तरम् ।

वुसुक्षितोऽन्नमश्रीयान्मात्रावद् विदितागमः ॥४६४॥

शास्त्र (भोज्य पदार्थों का पथ्यापथ्य) जानने वाला बुद्धि-
क्षित मनुष्य सुखपूर्वक (किंचित्) ऊँचे आसन पर बैठकर,
शरीर सम रखकर, भोजन में चित्त लगाकर, भोजन के योग्य
समय पर, सात्म्य, लघु, क्षिग्ध, द्रवभूयिष्ठ, उष्ण ऐसा अन्न

न बहुत जल्दी न बहुत विनय करक याम्य मात्रा म खवन करे ॥४६१॥

वक्तव्य—चक्रवर्तिना विमानस्थान के प्रथम अध्याय में आहारविधिबिधान का बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है । उमदा सन्तप घसा है—उत्तम श्लिष मात्रावर्णने वायाविच्छन्दिष्ट रश्मिर्वैररगो नातिनु नावतिनिमन्वदरत्तपलमना सुभेना त्वानमिममाक्ष्व मय्यद । इ—ति यम धीर आरस्थिक । नियम—यामयम न भोजन्य यमनुयम न लवयेत् । यामय र र्नाोरत्तियमनुयमालम्बय ॥ आवस्थिक काल—पुन र्मवति पक्षेय र्मयोपेयुष ॥ काले वा यति वा वाने माऽश्वर ल उपादुन ॥ मात्रा—प्रिथि कु ती र्मपयवक् र र्मादरश्मि दारुतुरुज्ज्वन , तप येकमवक्ताति मृगानामाचरिष्यराणामर द्वेषामक पुनशान्यसप्रथम याम् ॥ तत्र मात्रावरर भूयो विस्तारानुवारयामय—दुरेरपी दनमादर, ह्वयमनररीष प र्थवाविपानम् अनतिगोरवकु म्य श्रीनमिन्द्रियाणाम सुत्तिययोपम, स्थानामनरयत्नमनोचक्षु मप्रथमप्रथमगतानु न सुवननुवृत्ति मथयनश्च सुवन परिणामनम् इति मात्रारो लक्षणमहास्व भवति । (चरक विमान, ३) ।

फाले भुक्त प्रीणयति साम्यमथ न वाधते । लघु शीघ्र प्रजेत् पाक श्लिग्धोष्ण यलरद्धिदम् ॥४६२॥ क्षिप्र भुक्त सम पाक याल्यदोष द्रयोत्तरम् । सुयर्जयति मात्रावद्भानुसाम्य करोति च ॥४६३॥

भूय क समय किया हुआ भोजन वृत्ति करता है, मध्यम अन्न (शरीर म किसी प्रकार की) बाधा नहीं करता है हलका अन्न जल्दी हलम होता है । क्षिप्र और उष्ण अन्न बन्दापक है तथा जठराग्नि का दीप्त करता है ॥४६१॥ न जल्दी न विनय न स्वाधा हुआ भोजन निर्दोष और दीप्त पचता है, द्रव्यभूयिष्ठ भोजन सुयस पचता है और मात्रा क अनुवार खवन किया हुआ भोजन घातुर्मा (घातार्ति शान्) की वाधना करता है ॥४६१॥

अर्थावायनयामाम्नु क्षपा येष्टुनुपु स्मृता । सेपु तप्रत्यनीशान्द भुञ्जीन प्रारयेय तु ॥४६७॥ येपु चापि भक्षेयुश्च दिवसा भूराभायता । सेपु तत्रालविहितमपगण्डे प्रशम्यन् ॥४६८॥ रजन्वो दिवमार्धेय येपु चापि समा स्मृता ।

एष्या सममदोगय सेपु भुञ्जीन भोपनम् ॥४७०॥ त्रिन क्तुर्मा मं रात्रि बर्ही हानी है उन क्तुर्मा में (इमलजिगिर) तक्षायवचनरूप शान् व प्रतिहार क अनुवार (दिव्य कीर रज्य) भोजन पूर्णक म करता चाहिये ॥४६७॥ त्रिन क्तुर्मा में त्रिन बर्ही हान है उन क्तुर्मा में (दीन कीर मापृद) उम काल क अनुवार (द्रव क्तु र्मत्त) क्षाराक्षल मं भोजन करना चाहिये ॥४६८॥ त्रिन क्तुर्मा में त्रिन और तीन समान हानी है उन क्तुर्मा में (शरत् और बयल) त्रिन रात्रि क समान भाग करक उम समय (मध्यार्द्ध) भोजन करना चाहिये ॥४६९॥

द्वयस्य—इस अर्थ में क्तु क अनुवार एतद्व क भोजन खवन करने का काल काल कथावा है । रात्रि का

भोजन दोपहर के भोजन के सवा पहर के पश्चात् रात्रि पहले पहर म करना चाहिये—एतो तु भोजन नुयन् प्रथम रात्रे । किंचिदून समजायाद् दुर्गैरतत्रववनेत् ॥

नाप्रासातीतकाल या हीनाधिकमयापि या ॥४७॥ अप्राप्तकाल भुञ्जान शरीरे ह्यलघौ नर । तास्तान् व्याधीनयामोति मरण या नियच्छति ॥४८॥ अतीनकाल भुञ्जानो घायुनोपहतेऽनले । पृच्छाद्विपन्यते भुक्त द्वितीय च न द्वाहति ॥४९॥ हीनमात्रमसन्नोप करोति च बलक्षयम् । आलस्यगौरवाटोपसादाश्च कुरुतेऽधिकम् ॥५०॥

भोजन के योग्य समय के पूर्व या पश्चात् तथा मात्रा कम या अधिक (भोजन करना) उचित नहीं है ॥४७॥ (क्योंकि) समय के पहले भोजन करने वाला मनु (पहले अन्न का पूरा परिपाक न होने से) शरीर हलका होने के कारण अनेक रोगों का अधवा (प्रक्षि) सृष्टि भी प्राप्त होता है ॥४७१॥ समय के पश्चात् भोजन करन वा मनुष्य का अन्न वायु पदरुत चठराति नष्ट हान व कारण कष्ट पचता है और दूसरी धार (रात्रि क समय) भोजन करन की इच्छा नहीं होता ॥४७२॥ मात्रा से कम खवन कि हुए भोजन से वृत्ति नहीं हानी और बल का नाश होता है मात्रा से अधिक खवन किया हुआ भोजन सुना भारतीय पट में गुह गुह शब्द और बमजारी करता है ॥४७३॥

तस्मान् सुमन्यून युच्यते दोषैरैतैर्विदग्जितम् । यथोक्तगुणसंपन्नमुपसेवेत भोजनम् ।

विभज्य दोषकालादीन् पालयोदभयोरपि ॥४७५॥ ह्यल्प उक्तम प्रहार से यत्नन किया हुआ मात्रा न उपयुक्त दाहरति उक्तमगुणक्षेपत्र एवा भोजन (क्तु और प्रकृति क अनुवार) दोष तथा काल की विचारणा करने शान् समय (प्रात साय) खवन करना चाहिये ॥४७५॥

अपेक्ष दुष्टमुत्सृज्य पापापशुण्णोष्टयम् । द्विष्ट व्युत्थितमसादु पूति चाप्त नियजयेत् ॥४७७॥ विरमिद्ध म्पिर शीतमप्रमुष्णीरत पुन । अशास्तमुपदग्ध च तथा स्यादु न ल्दवते ॥४७८॥

अपेक्ष (अनुषि मखिन) (निषारि म) दुष्ट उपाह (अनुपपार पूडा) पत्थर पाप और मिट्टी के शा हन हन (माष्ट) इतम सुय द्विष्ट (मनःप्रतिपाति, शिष्ट भी न पार) सुनिष (अधिक बर्गी) स्वार्हीन कीर (दुर्गयुग या मदा मया) इतम प्रकार का भोजन करने है ॥४७५॥ कटुन समय म बनाकर रक्षया हुआ कटुन मन्त देना हुआ, श्रेया हान वर विर मय कथा हुआ अवायन (निषदी भाग मान्य नहीं हुई है) कटुन मयम कीर उक्त हुआ ऐसा अन्न भी पैसा (उक्तम प्रहार म दिन हुए मात्रा क की भक्ति) उत्पन्न नहीं मगता है ॥४७६॥ यद्यन् सादुनर मसद्विद्वयापुत्रोत्तरम् ॥४७७॥ प्रशाप्येद्विगमय भुञ्जानम्य शुद्रमुंदा ।

॥४८४॥ भोजन किया हुआ मनुष्य (भोजन के पश्चात्) विषा
मसात्क ऐसे ही शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श इनको सेवन
करे । इससे (पचनसंस्थान में) अन्न ठीक रहता है ॥४८५॥
वित्तवृत्ति बिगाड़ने वाले शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श,
खराब तथा अधिक मात्रा में सेवन किया हुआ अन्न और
अधिक ईसना सेवन किये हुए भोजन की कुरा देते हैं ॥४८६॥
(भोजन के पश्चात्) सोना, (देर तक) एक स्थिति में बैठना,
अधिक दूब पीना अग्नि या धूप में काम करना, पानी में तैरना,
प्रवास करना, (रथ छोड़ा आदि) बाहनों पर चढ़ना इनको
करने की इच्छा न करे ॥४८७॥

घृत्तज्य—भोजन के पश्चात् शारीरिक और मानसिक
ध्यान बहुत आवश्यक है । धर्मोक्ति में भी एक कदावत है
Sit a while after dinner । इसका कारण यह है कि
आमाशय में अन्न का प्रवेश होते ही पचनसंस्थान की ओर
रक्त का धाकपूर्ण विशेषरूप से आप से आप होने लगता है
और यह होना भी पचन क्रिया की दृष्टि से आवश्यक है;
क्योंकि रक्त की सहायता से पचनसंस्थान के विविध पाचक
रस पर्याप्त मात्रा में बनते हैं और अन्न का ठीक परिपाक
होता है । जब पचनसंस्थान की ओर रक्त का आकर्षण शुरु
होता है इस समय लक्षा मस्तिष्क इत्यादि शरीर के अन्य
अंगों में रक्त की कमी होती है जिससे स्मृति (सुस्ती),
उंचाई, शीत इत्यादि लक्षण होते हैं । रक्तपरिभ्रमण का यह
परिवर्तन शारीरिक और मानसिक ध्यानि की स्थिति में सुचारु
रूप से होता है । यदि भोजन के पश्चात् दौड़ना, व्यायाम
करना, तैरना इत्यादि शारीरिक कर्म किये जायें तो रक्त परि
भ्रम के स्थान की पेशियों की ओर जाकर पाचकसंस्थान की
ओर कम जायगा और पचनक्रिया में बाधाई उत्पन्न होगी ।
मानसिक परिभ्रमण का भी यही परियाम होता है । काम,
क्रोध तथा चित्तवृत्ति बिगाड़ने वाले इन्द्रियार्थ सेवन करने
से शरीर की प्रणालीविहीन या अन्तःश्रावी (Ductless or
endocrenous) ग्रन्थियों में विवृत उत्तेजना उत्पन्न होकर
उत्ते से विप्रेक्षित रक्त में मिलते हैं जो पाचक रसों को खराब
कर डालते हैं । इन सब कार्यों से पचनसंस्थान में अथल-अथल
मच आती है, आया हुआ अन्न नहीं पचता, जिससे
घनीयत्व कमन, दस्त इत्यादि विकारों से सदा के लिये पिण्ड
पड़ जाती हैं । आजकल भारतवर्ष में स्कूल, कालेज तथा
ऑफिस सब दोपहर के होने हैं । इसलिये विद्यार्थियों तथा
ऑफिस के क्लर्कों को भोजन करके हरान्त काम के लिये
थक देना पड़ता है । कहीं कहीं जहाँ ऑफिस या कालेज
बहुत दूर होने के कारण सायंकल से या रेल से जाना ही
वहाँ सधुबुध दौड़ना पड़ता है । जहाँ भोजन के पश्चात्
विभ्रम की आवश्यकता होती है वहाँ इनको कई घंटों तक
शारीरिक और मानसिक सजल मसकल करनी पड़ती है । इसमें
इन बेचाराओं का कोई कष्ट नहीं है, परन्तु यह कार्य प्रकृति के
विरुद्ध है और इनको इसका बुरा सुगतना पड़ता है । इनको
आश्रय में समय पर पहुँचने के लिये दौड़ते हुए रेल आगु
दौड़ के निम्न स्तरों की यात्र आती है—अन्तर्निवृत्तलला
रधानस्य सु पचना । आनुभ्रमणगत्य, मनुष्यवृत्ति धारण ॥

(योगरसावर) । इसमें जो लिखा है कि 'भोजन ।
जो दौड़ता है उसके पीछे मनुष्य भी दौड़ता हुआ
है' यह बिलकुल सत्य है । कारण यह है कि पेट
शरीरों बहुत नजदीक होते हैं । पेट भरने से उसका हृत्
हृदय पर होता है, जिससे हृदय के संकोच और कि
कुछ कठिनाई होती है । ऐसी अवस्था में यदि दौड़ने क
किया जाय तो हृदय के संकोच विकास के काम में
उत्सर्ग होकर हृदय विकृत हो जाता है और हृदय
होने से मनुष्य होने की भी सम्भावना बढ़ती है । ऐसे मनुष्य
दिल की धड़कन (Palpitation) से बीमार रहते हैं ।
के पश्चात् आराम कम से कम एक सुहृत् भर (४० मि
करना चाहिये । व्यायाम च व्यायम च भावन वान(वान)नेन
(निवृत्त) गीत च पाठ च सुहृत् मुक्तवसिषेत् ॥ (प्रायेणसी
न चैकरससेवायां प्रसज्येत कदाचन
शाकावराधभूमिप्रमम्लं च न समाचरेत्
पैकैकश. समस्तान् वा नात्यश्रीयाद्रसान् सदा ।

कदापि भी एक ही रस के सेवन में आसक्ति नहीं
चाहिये, शक उधान्य तथा अन्न पदार्थ जिनमें अति
ऐसा भोजन नहीं करना चाहिये, और एक एक पदार्थ
को भी अधिक मात्रा में नहीं सेवन करना चाहिये ।
प्राग्भुके त्वविविक्तेऽग्नी द्विरक्षं न समाचरेत् ।
पूर्वभुके विदग्धेऽग्ने भुजानो हन्ति पायकम् ।
मात्रागुरुं परिहरेदाहारं प्रव्यतश्च यः ॥
पिष्टान्नं नैव भुञ्जीत मात्रया वा युमुक्षित ।
द्विगुणं च पित्रेत्तोयं सुखं सम्यक् प्रजीर्यति ॥
पेयलेहाद्यभक्ष्याणां गुरु विद्याद्यधोत्तरम् ।
गुरुणामर्धसौहित्यं लघूनां तृप्तिरिष्यते ॥

पहले का (मात काल का) भोजन करने के
यदि अठारसि घण्ट (तीसघण्ट) नहीं हुई हो तो दूसरे
(सार्धकाल) भोजन नहीं करना चाहिये, क्योंकि पूर्व
का अन्न अपचया होने पर दूसरी बार भोजन करने
मनुष्य अपनी जठराग्नि को बर्ध करता है ॥४९१॥ जो (
जिससे वे बनने पर भी) मात्रा की दृष्टि से भारी है तब
द्विगुण तृप्यो से ही बना है ऐसा भोजन नहीं करना ॥
॥४९२॥ पिष्टान्न (तथा अन्य प्रकार के गरिष्ठ पदार्थ
मान्य होने पर जहाँ तब हो सके) नहीं सेवन करे,
युमुक्षित मनुष्य हर्ष (अल्प) मात्रा में सेवन करे और
जल पीये जिससे वे सुखपूर्वक पच जायें ॥४९३॥ पच
जादि पीने के पदार्थ, लेष्ट (मधु, श्ववेद, शीतलद्रव्य
पाटने के पदार्थ) आदि (भोज्य भात इत्यादि और
लघु घना आदि अन्नाने के पदार्थ) खाने के पदार्थ उस
अतिप्राधिक गरिष्ठ होते हैं । गुरु पदार्थों का सेवन मानी
रक करना चाहिये और हलके पदार्थों का सेवन पूर्व
तक करना चाहिये ॥४९४॥

वृक्षव्य—अविविक्त—अशुद्ध । मात्रागुरं—मात्रातो गुरुं तल्लु गुरुमिति तात्पर्यम् । पिष्टात्र—संस्कार गुरु सर्व पदार्थ से समझना चाहिये—गुरु पिष्टगर्भं द्रव्यं तण्डुलान् पृथुकानपि । गुरु मुक्तवान् सादेन्मात्रं सादेव बुभुक्षितः ॥ (चरक) । गुरु मयवोत्तरम्—पदार्थों की गुरुता या लघुता सुरयतया निन्न र भातों पर निर्भर होती है—(१) स्वभाव (Chemical combination) यथा उद्दद अधिक चरबी युक्त मांस मडली इत्यादि । संस्कार—अग्नि की सहायता से उस पर जो संस्कार होता उससे भी द्रव्य लघु या गुरु होते हैं । यथा चावलों की भक्षा उसकी लाजा (खील) अधिक हलकी और पृथुक विवडा) अधिक गुरु होता है । कच्चे अण्डे की अपेक्षा हलका ला हुआ अण्डा लघु और अधिक उदला हुआ अण्डा गुरु ता है । (३) भौतिक स्थिति (Physical condition)—पदार्थ सरत है वह तरल पदार्थ की अपेक्षा अधिक गुरु ता है । पेयलेहादि' इस श्लोक में पदार्थों की गुरुता भौतिक स्थिति के अनुसार वर्णन की गई है । भौतिक स्थिति के अनुसार गुरुता या लघुता का कारण यह है कि जो पदार्थ रस और अत्यंत महीन होता है उसके साथ पाचक रस भली िति मिलकर उसका ठीक पाचन करते हैं, जिससे उसका व सात्व्य भाग शोषित हो जाता है । जब द्रव्य बहुत तरल और महीन नहीं होता तब पाचक रस उसके साथ भली भाँति नहीं मिल सकते, जिससे उसका पचन ठीक नहीं होता, सर्व सात्व्य भाग का शोषण नहीं होता और अधिकांश भाग वैसा ही आँतों में सड़कर मल में निकल पड़ता है । व्यावहारिक ापा में हमको गुरु कहते हैं । खाद्य द्रव्यों की भौतिक गुरुता अनुष्य चर्षण क्रिया से दूर कर सकता है । पचन क्रिया का आरंभ चर्षण क्रिया से सुख में ही शुरू होता है । खूब चवाने में सुक द्रव्य महीन और लार के साथ मिलने से तरल होकर आसानी से गले के नीचे उतर जाता है और स्वादिष्ट भी होता है । लड्डू, मोदक, चना इत्यादि भोज्य पदार्थ यदि खूब चर्षण करके महीन और तरल बनाये जायँ तो वे भी बहुत श्लेके हो जाते हैं और सहज में पचते हैं । यदि भोजन कूच हूचकर महीन न किया जाय तो यह दाँतों का काम भी पेट पर आ पड़ता है; परन्तु पेट में दाँत नहीं हैं कि वहाँ चन्न शूवा जायगा । इसका नतीजा यह होता है कि पेट स्वयं निर्बल होकर अपने कार्य को भली भाँति नहीं करता, और अजीर्ण मंदाग्नि आदि पचनसंस्थान की शिकायतें सदैव के लिये पिट पड़ जाती हैं । प्राणियों के मुख में जो दन्तपंक्ति रखी है वह केवल उनकी सौंदर्य वृद्धि के लिये नहीं है, भोज्य पदार्थों को चबाकर खाने के लिये है । गान्ध, बैस इत्यादि उपपाद जीव खाने से फुरागत पाने पर जुगाली करते हुए देखने में आते हैं । दाँतों से चबाकर खाना प्रकृति का नियम है । इसका उल्लंघन करने का दण्ड अदृश्य ही भोगना पड़ता है । (४) जठराग्नि की स्थिति—जो पदार्थ वर्षां श्लु और बुद्धावस्था में गुरु होता है वही पदार्थ शिथिल श्लु और युवावस्था में हलका होता है—आहारमात्रा पुनरश्रितलपेक्षिणी । चरक) । सौहित्य—रुसि, सुहितस्य वृसस्य भावः सौहित्यम् । 'मानव्यतिक्रमेण वृसिः' । (चक्रपाणिदत्त) । चरक के अनुसार

अर्धं सौहित्यं या त्रिभागं सौहित्यं द्रव्यों की गुरुता के अनुसार होता है—द्रव्यापेक्षया च त्रिभागसौहित्यमर्धसौहित्यं वा गुरुणा-मुपदिश्यते ।

द्रवोत्तरो द्रवश्चापि न मात्रागुरुपरिच्यते ।
द्रवाह्वयमपि शुष्कं तु सम्यगेवोपपद्यते ॥४९५॥
विद्युष्कमक्षमभ्यस्तं न पाकं साधु गच्छति ।
पिरडीकृतमसंक्लिन्नं विदाहमुपगच्छति ॥४९६॥
स्रोतस्यन्नवहे पित्तं पक्तौ वा यस्य तिष्ठति ।
विदाहि भुक्तमन्यद्वा तस्याप्यन्नं विदह्यते ॥४९७॥
शुष्कं विरुद्धं विष्टम्भि वह्निव्यापदमावहेत् ।

जिसमें तरल पदार्थ की अधिकता है ऐसा पदार्थ तथा (दूध जल आदि) तरल पदार्थ अधिक मात्रा में सेवन करना ठीक नहीं है । परन्तु पतले पदार्थों की अधिकतायुक्त सूखे पदार्थों ठीक ठीक पचते हैं ॥४९५॥ सेवन किया हुआ शुष्क अन्न ठीक ठीक नहीं पचता है । आर्द्रता के दामाव से वह पिण्ड के रूप में बनकर विदाह को प्राप्त होता है ॥४९६॥ जिसके अन्नवह स्रोतस (आमाशय) में अथवा पित्त के स्थान में (विदाही) पित्त स्थित है उसका सेवन किया हुआ अन्न, विदाहजनक हो या अविदाही हो, विदाह को ही प्राप्त होता है ॥४९७॥ सूखा भोजन, विरुद्ध भोजन (जैसे क्षीर मत्स्य, अम्लदुग्ध इत्यादि) और कब्ज करने वाला भोजन जठराग्नि दूषित (नष्ट) कर देता है ।

आमं विदग्धं विष्टव्धं कफपित्तानिलैस्त्रिभिः ।
अजीर्णं केचिदिच्छन्ति चतुर्थं रसशेषतः ॥४९८॥

(अजीर्ण—) कफ, पित्त और वायु इन तीनों (दोषों) से यथाक्रम आम, विदग्ध और विष्टव्धसंज्ञक अजीर्ण होते हैं । (इनके सिवाय) रसशेष (आहार का असम्यक् परिणत रस की भाँति अवशिष्ट पतला भाग) के कारण कई (आचार्य) अजीर्ण का चौथा प्रकार भी मानते हैं ॥४९८॥

अत्यम्बुपानाद्विषमाशनाद्वा
सन्धारणात् स्वमविपर्ययाच्च ।

कालेऽपि सात्म्यं लघुचापि भुक्त्वा
मन्नं न पाकं भजते नरस्य ॥४९९॥

ईर्ष्याभयक्रोधपरिज्ञतेन
लुब्धेन रुदैन्यनिपीडितेन ।

प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमान-
मन्नं न सम्यक् परिणाम्येति ॥५००॥

अधिक पानी पीने से, विषम भोजन (श्लोक ५०० देखो) करने से, (शरीर के स्वाभाविक) वेगों को रोकने से, स्वम विपर्यय (दिन में निद्रा, रात में जगना) करने से योग्य समय पर, सात्व्य और हलका अन्न भी सेवन किया हुआ मनुष्य का ठीक नहीं पचता है ॥४९९॥ ईर्ष्या (परोत्कर्षासहिष्णुता), भय, क्रोध, शोभ, चिन्ता (मानसिक रोग), दैन्य (दुःख शोकादि) तथा द्वेष (मात्सर्य) इन १ परिच्छतेन.

(मानसिक विज्ञानों) में पीठित मनुष्यों द्वारा लेवन किया हुआ भोजन भी ठीक ठीक नहीं पचना है ॥५००॥

वृत्तव्य—पचने शक्ति में अन्वय के शारीरिक आधार विहारदि कारण बनलाये हैं और दूसरे में मानसिक कारण बनलाये हैं । मानसिक कारणों में अपचन काल उन्नत होता है, उसका विवरण पीठ ४८३ में श्लोक के वचन्य में किया है । इसलिये भोजन के समय चित्तवृत्ति बड़ी प्रयत्न रखनी चाहिये । इसके संबंध में मनुस्मृति में विगा है—पूजनेद्वयन नियमव्यं तदुत्पन्नयत् । इन्द्रहृष्येत् प्रादिष प्रतियन्नेष संवेत् ॥ वृत्ति धरन नित्य बन्धनं च वरुचिः । अमुनि तु तदमुत्तममव नाग्येत्तम् ॥ (अध्याय २, ५४-५५) । ऐसी चित्तवृत्ति यदि भोजन के समय मनुष्य रखे तो लेवन किये हुए भोजन में अधिक से अधिक लाभ उठा सकता है ।

माधुर्यमर्षं गतमामसंज्ञं

विदग्धसंज्ञं गतमम्लभावम् ।

किंचिद्विषकं, भृशतोदश्लं

त्रिदग्धभाव(न)श्चयिक्त्वयात् ॥५०१॥

उद्गाशुजापि भक्षकाद्

न जायते दृढकृता च यस्य ।

रसावशेषेषु तु सप्रसेकं

चतुर्थमेतत् प्रवदन्त्यजीर्णम् ॥५०२॥

आमाजीर्ण में लेवन किया हुआ भोजन मधुरता को प्राप्त होता है; निदग्धाजीर्ण में अम्लता को प्राप्त होता है; और विदग्धाजीर्ण में याथा ही परिपाक होकर पेट में पीडा शून्य होता है और नाँचे का मार्ग बंद होने से वायु ऊपर की ओर चली है ॥५०१॥ कुछ बकार जन्म पर भी जिसमें भोजन की हृष्टा नहीं होती, हृदय (प्रदेह) में भारीपन रहता है और मुँह में पानी सा भरता है उसको रसशेष-जन्य चौथा अजीर्ण कहते हैं ॥५०२॥

वृत्तव्य—अष्टांगसंग्रह में इन चारों अजीर्णों के लक्षण दिये हैं—वक्रमे शुष्कोक्षेत्र रोषे गज्जशिक्षिदृष्ये । उग्ररथ वथा मुक्तमविदध प्रवर्ते ॥ विदग्धे रूच्यन्धनं विविधा वाग्नेरना । मन्वानप्रतिपिष सन्धो भौशोऽर्चनम् ॥ विदग्धे अमृतपूर्णं तित्वा विविधा रसः । उद्गाशु मन्मन्त् सरोरे दृष्टव्यजायते ॥ स्तलेपेत्त्र विदग्धे हृदयशुद्धिर्गते ॥ (सूत्रस्थान, च. ११) ।

मूर्च्छां प्रलापो वमणुः प्रसेकः सदनं भ्रमः ।

उपद्रवा भवन्त्येते मरणं चायजीर्णतः ॥५०३॥

अजीर्ण में वेदोषी, असंबद्ध भाषण, दमन, मुँह में पानी भरना, निर्वचनता, चहट आना ये उपद्रव होते हैं यथया मृत्यु भी हो जाती है ॥५०३॥

तथामे लङ्गं कार्यं विदग्धे वमनं हितम् ।

विदग्धे स्वेदनं पथ्यं रसशेषे श्रूयित च ॥५०४॥

वामपेदाशु तं तस्मादुष्णेन लक्षणाभ्युना ।

कार्यं चागदानं तावथावत्र प्रवृत्ति भजेत् ॥५०५॥

लघुकायमतश्चैनं लङ्गनैः समुपाचरेत् ।

यावन्न प्रवृत्तिस्थः स्यादोपतः प्राणतस्तथा ॥५०६॥

आमाजीर्ण में लंचन करना चाहिये, विदग्धाजीर्ण वमन हितकर होता है; निदग्धाजीर्ण में (उष्ण ज गरीर) स्वेदन पथ्यकर है और रसशेषाजीर्ण में (विना भी स्वाये) शयन करना चाहिये ॥५०४॥ (प्रति वमन क दो.) तो गीण ही उम अजीर्ण से पीठित रोगी को लव्य गरम जल से वमन कराना चाहिये । (यदि लंचन का हो तो) जब तक उसकी अजीर्णनिवृत्ति (प्रवृत्ति) न तब तक उसे कुछ भी खाने के लिये नहीं (अनघन) चाहिये ॥५०५॥ इस प्रकार (अनघन से उदरमि प्र होकर) गरीर हलका होने पर भी उसे जब तक दौष्य और अल पूर्ववत् (प्रवृत्तिन्य) न पैदा हो तब तक ही भोजन (लंचन) प्रदान करे ॥५०६॥

वृत्तव्य—यद्यपि यहाँ लंचन, वमन और स्वेदन आ जीर्ण, विदग्धाजीर्ण, और विदग्धाजीर्ण के लिये यथा उपचार किये हैं तथापि रोगी की अवस्था देखकर इ परिचरन जरूर करना चाहिये—यथावस्थदिन भवेत् ॥ (अष्ट हृदय) । रसशेषाजीर्ण में दिन में बिना कुछ खाना चाहिये और जब कुछ भूख मालूम होतब अल्प खाना चाहिये—यथाभुक्तं दिवा रसव्यं क्षुदानं च प्रति ॥ (अष्टांगसंग्रह) ।

द्वितादितोपसंयुक्तमर्षं समशानं स्मृतम् ।

वहु स्तोकरकाले वा विज्ञेयं विषमाशनम् ॥५०७॥

अजीर्णं भुज्यते यत्तु तदध्यशनमुच्यते ।

त्रयमेतद्विदग्ध्याशु वह्नन्व्याधीनकरोति वा ॥५०८॥

द्विद और अद्विदकर (दोनों प्रकार के पदार्थ एक समय) मिलाकर भोजन करना समशान कहलाता है । क थोड़ा कभी अधिक भोजन की बेला टालकर भोजन कर विषमाशन कहलाता है ॥५०७॥ पहले लेवन किये हुए क का पूरा परिपाक न होने पर भी दूसरा भोजन करना अशयन कहलाता है । यह तीनों प्रकार का अनुचित भोजन ही मृत्युकारक होता है या विविध व्याधियाँ उत्पन्न कर दे ॥५०८॥

अत्रं विदग्धं द्वि नरस्य शीघ्रं

शीताभ्युना वै परिपाकमेति ।

तद्व्यस्य शैत्येन निहन्तिपित्त-

माह्निदिभावाद्य नयस्यघस्तात् ॥५०९॥

मनुष्य का विदग्धावस्था का अत्र शीतल जल पीने पत्र जाता है । वह शीतल जल अपनी शीतलता से पित्त नाश कर थार्थभाव से उसे नीचे की ओर (दस्त के साथ निकाल देता है ॥५०९॥

विदग्धने यस्य तु भुक्तमात्रे(ञ्)

दष्टोत् शुक्लोष्ठगलं च यस्य ।

दाहाभयां मांसिकसम्प्रयुक्तां

लीङ्गाभयां वा स सुखं लभेत ॥५१०॥

भोजन करते ही जिस मनुष्य के (आमाशय), हृदय, कण्ठ और गला इनमें जलन होती है वह सुनह्ला और वा शब्द के साथ चाटने से अथवा हरड़ा गहद के साथ से आराम को प्राप्त होता है ॥५१०॥

वक्तव्य—सुनह्ला और हरड़ा दोनों विरेचन होने के लिये जिस पित्त के उद्वेग से जलन पैदा होती है उस पित्त हरण करते हैं। इसका सेवन प्रातःकाल करना चाहिये।

भवेदजीर्णं प्रति यस्य शङ्का

स्निग्धस्य जन्तोर्धलिनोऽन्नफाले ।

प्रातः सशुण्ठीमभयामशङ्को

भुञ्जीत सम्प्रादय हितं हितार्थी ॥५११॥

स्वल्पं यदा दोषविदङ्गमामं

लीनं न तेजःपथमाङ्गुणोति ।

भवत्यजीर्णोऽपि तदा सुभुजा

सा मन्दबुद्धिं विपवन्निहन्ति ॥५१२॥

जब किसी स्निग्ध और बलवान् मनुष्य को भोजन के समय क्षिप्तित गुरुज्ञोष्ठता और अनन्नाभिलाषादि से) अजीर्ण शंका हो जाय करे तो वह अपने हित की चिन्ता करने वाला सुष्य प्रातःकाल शुण्ठीसहित हरीतकी सेवन कर फिर भोजन के समय) निःशंकाता से हितकर भोजन सेवन किया करे ॥५११॥ जब (वातादि) दोषों से बद्ध हुआ थोड़ा आम (शरीर के एकाध स्रोतस में) लीन होकर पित्त के भाग को नहीं रोकता है तब अजीर्ण होने पर भी भूख लगती (परंतु) वह (शूठी) भूख (भोजन करने से) विप की गति उस मन्दबुद्धि मनुष्य के प्राणों की गाहक बनती ॥५१२॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि गुणानां कर्मविस्तरम् ।

कर्मभिस्त्वनुमीयन्ते नानाद्रव्याश्रया गुणाः ॥५१३॥

(गुण—) विविध द्रव्यों के आश्रित जो गुण होते हैं उनका अनुमान (उनके) कार्यों ही से होता है (इसलिये) इसके प्रागे (शीतोष्णादि) गुणों के कार्यों का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं ॥५१३॥

ह्लादनः स्तम्भनः शीतो मूर्च्छार्त्तदस्वेददाहजित् ।

उष्णस्तद्विपरीतः स्यात्पाचनश्च विशेषतः ॥५१४॥

क्षेहमार्दवकृत् स्निग्धो बलवर्णकरस्तथा ।

रूक्षस्तद्विपरीतः स्याद्विशेषात्स्तम्भनः खरः ॥५१५॥

पिच्छिलो जीवनो बल्यः सन्धानः श्रेष्ठमलो गुरुः ।

विशदो विपरीतोऽस्मात् क्लेदाचूषणरोपणः ॥५१६॥

दाहपाककरस्तीक्ष्णः स्यावणो, मृदुरन्यथा ।

सादोपलेपबलकृद् गुरुस्तपैणवृंहणः ॥५१७॥

लघुस्तद्विपरीतः स्याल्लेखनो रोपणस्तथा ।

दशाद्याः कर्मतः प्रोक्तास्तेषां कर्मविशेषणैः ॥५१८॥

दशौषान्यान् प्रवक्ष्यामि द्रवादींस्तान्निबोध मे ।

'शीतगुण' सुख देने वाला, (रूक्षादिक की) गति को रोकने वाला, मूर्च्छा, मृषा, स्वेद और दाह इनका नाश करने

वाला है। 'उष्णगुण' उपर्युक्त कार्यों का विरुद्ध कार्य करने वाला और विशेष करके पाचक होता है ॥५१४॥ 'स्निग्धगुण' स्नेह और मार्दव करने वाला तथा बलवर्ण बढ़ाने वाला है। 'रूक्षगुण' इसका विरुद्ध कार्य करने वाला और विशेष करके मन्मन (अतिमारादि में), और कर्कश है ॥५१५॥ 'पिच्छिलगुण' जीपनीय, बलकारक, दृढी हुई हुई को जोड़ने वाला, कफनाशक और गुरु है। 'विशदगुण' इसने विपरीत, क्लेद संगोपण और घणरोपण है ॥५१६॥ 'तीक्ष्णगुण' दाह, पाक और स्राव करने वाला है। 'मृदुगुण' इससे विपरीत है। 'गुरुगुण' स्थूलता करने वाला (वास्तव में अंगश्लानिकर), मलवृद्धिकर, बलकारक, कृषिजनक और शरीरगुष्टिकर है ॥५१७॥ 'लघुगुण' इसके विपरीत, शरीरकृष्णकारक और घणरोपण है (इस प्रकार शीतादि) आयु दशगुण उनके विशेष कार्यों के अनुसार वर्णन किये हैं ॥५१८॥ अब द्रवादि और दशगुण वर्णन करते हैं; सुभ से श्रवण कर।

द्रवः प्रक्रेदनः, सान्द्रः स्थूलः स्याद्बन्धकारकः ।

श्लक्ष्णः पिच्छिलबन्धोऽयः, कर्कशो विशदो यथा ॥५१९॥

सुखानुबन्धी सूक्ष्मश्च सुगन्धो रोचनो मृदुः ।

दुर्गन्धो विपरीतोऽस्माद्दृष्टासारुचिकारकः ॥५२०॥

सरोऽनुलोमनः प्रोक्तो, मन्दो यात्राकरः स्मृतः ।

व्यवायी चाखिलं देहं व्याप्य पाकाय कल्पते ॥५२१॥

विकासी विकसत्रेयं यानुबन्धान् विमोक्षयेत् ।

आशुकारी तथाऽऽशुत्वाद्वाच्यमभसि तैलवत् ॥५२२॥

सूक्ष्मस्तु सौक्ष्म्यात् सूक्ष्मेपु स्रोतःस्वनुसरः स्मृतः ।

गुणां विंशतिरित्येवं यथावत्परिकीर्तिताः ॥५२३॥

'द्रवगुण' शरीर को तर करने वाला है। 'सान्द्रगुण' शरीर को स्थूल और उपचित (पुष्ट) करने वाला है। 'श्लक्ष्णगुण' पिच्छिल के समान और 'कर्कशगुण' विशद के समान समझना चाहिये ॥५१९॥ 'सुगन्धगुण' सुखोत्पादक, सूक्ष्म, रुचिप्रद और मृदु है। 'दुर्गन्धगुण' इससे विपरीत, हलास (जी मिचलाना) और अरुचि करने वाला है ॥५२०॥ 'सरोगुण' वातमल का प्रवर्तक है। 'मन्दगुण' शरीर यात्रा निर्वर्तक है। 'व्यवायीगुण' समस्त शरीर व्याप्त होकर पश्चात् परिपाक को प्राप्त होता है ॥५२१॥ 'विकासी' उसी प्रकार समस्त शरीर में अपकावस्था में ही व्याप्य होकर पश्चात् धातुशैथिल्य पैदा करता है। 'आशुकारी गुण' अपनी शीघ्र गति से, तैल जिस भाँति जल के पृष्ठ भाग पर सत्वर फैलता है, वैसे समस्त शरीर में फैलता है ॥५२२॥ 'सूक्ष्मगुण' अपनी सूक्ष्मता से शरीर के अत्यंत सूक्ष्मस्रोतों में भी प्रवेश करता है। इस प्रकार बीस गुण ठीक ठीक रीति से वर्णन किये हैं ॥५२३॥

वक्तव्य—गुणा विंशतिरित्येवम्—यद्यपि यहाँ गुणों की संख्या बीस ही निर्दिष्ट की गई है तथापि वर्णन किये हुए गुण संख्या में वाईस होते हैं। यदि इस बात का समन्वय करने की आवश्यकता हो तो श्लक्ष्ण और कर्कश गुणों का समावेश

पिच्छ च और कर्कष्य गुणों में कर सकते हैं । परन्तु वास्तव में मूल सुश्रुतसंहिता का पाठ कुछ दूसरा ही होने की संभावना प्रतीत होती है । क्योंकि आयुर्वेद के अन्य ग्रन्थों में गुणों की संख्या बीस से अधिक नहीं होती और उनमें भी सुगंधी, दुर्गंधी, विकासी, स्ववायुगुण नहीं होते—युष्मन्दिग्मस्त्रिभ्यश्क्षणान्द्रसुक्षिण । गुणा सुषुम्नविशया विशति सविषयेषा ॥ (वाग्भट) । विरतिगुणो युष्मन्वुरीतोष्णस्त्रिभ्यश्क्षणान्द्रसुक्षिणिरस रसुक्षुब्धविशरिभिक्षिल्लक्षणात्तरयश्मस्युक्ता दलानुगम्यात् । (चरक सूत्र, अ २५) । भावमिध्र को जो सुश्रुतसंहिता उपलब्ध थी उसके अनुसार उन्हाने बीस ही गुण निर्दिष्ट किये हैं—सुधुने तु उष्णो ध्ने विशतित्वान् द्वये क्षुण् । युष्मन्वु क्षिभ्यश्चौ तीष्ण क्षणा स्थिर सर ॥ पिच्छलो विशद रीणवष्ण्यश्च युक्कर्मणौ । स्थूल धर्मो द्रव शुक्ल भासुर्मन्द स्थणा गुणा ॥ गुणों के विषय में कुछ विवरण पीछे खालीसवें अध्याय के पहले सूत्र के यत्कथ्य में किया गया है ।

संप्रवक्ष्याम्यतश्चोर्ध्वमाहारगतिनिश्चयम् ।

अब इसके आगे आहारगति निश्चय के बारे में बर्णन करेंगे ।

घृत्कण्ड्य—आहारगतिनिश्चय—सेवन किये हुए खाद्य पद्यों में विविध पाचकागिर्णों की सहायता से जो कुछ परिवर्तन होता है, उसका निर्णय । आहारगति या परिवर्तन की अंग्रेजी में 'फूड मेटाबोलिज्म' (Food metabolism) कह सकते हैं । इस परिवर्तन में शरीर के भीतर दो प्रकार की क्रियाएँ होती रहती हैं । एक प्रकार की क्रिया द्वारा सेवन किये हुए खाद्य द्रव्यों से रसकादि शरीर के विविध धातु बनते हैं, उनकी वृद्धि होती है, क्षति की पूर्ति होती है तथा उनकी रक्षा होती है । संक्षेप में पहली क्रिया से शरीर में 'रचनात्मक' कार्य (संश्लेषण) होता रहता है । इस क्रिया को अंग्रेजी में 'अनाबोलिज्म' (Anabolism) कहते हैं । इस रचनात्मक कार्य का संश्लेष विवरण ५२३ वें और ५२५ वें श्लोक में किया गया है । दूसरी क्रिया से पहली क्रिया के विरुद्ध कार्य होता है । इससे शरीर के धातुओं में विघटन उत्पन्न होकर उससे कश्चिन द्रायोक्ताइड, जल, अमोनिया, पुरिया हायादि अनेक शरीर के लिये अनुपयोगी अतपूज स्वास्य पदार्थ (मूत्र) बनते हैं, जो मूत्र, रसद प्रथम द्वारा तथा शरीर के अन्य हिस्सों से बाहर निकलते हैं । संक्षेप में इस क्रिया से शरीर में 'विनाशात्मक' कार्य होता रहता है । इसको अंग्रेजी में 'कैटाबोलिज्म' (Katabolism) कहते हैं । इस विनाशात्मक कार्य का संश्लेष बर्णन ५२३ वें श्लोक में किया गया है (विद्वेष्य) शरीरस्वास्थ्य के लिये दोनों क्रियाओं का चक्र सुचारु रूप से चलना बहुत आवश्यक है । आयु न अनुसार ह्य क्रियाओं में न्यूनाधिकता होती रहती है । बाल्या वयसा में विनाशात्मक कार्य की अपेक्षा रचनात्मक कार्य अधिक होता रहता है जिससे शरीर की वृद्धि होती है । युवा और म्रिी अवस्था में रचनात्मक और विनाशात्मक कार्य बहुधा बराबर रहता है जिससे शरीर न घटना है न बढ़ता है । वृद्ध और वृद्ध्य अवस्था में रचनात्मक कार्य की अपेक्षा विनाशात्मक कार्य अधिक तंत्र रहता है जिससे शरीर दिन प्रतिदिन दुर्बल

और क्षीण होता जाता है । एवं आहारगतिनिश्चय निम्न प्रकार से होता है—

आहारगतिनिश्चय=आयुष्यवर्धन+मतीभवन
Metabolism=Anabolism+Katabolism

**पञ्चभूतात्मके देहे आहारः पाञ्चभौतिक ।
विषयः पञ्चधा मन्मयगुणान् स्थानभिवर्धयेत् ॥२१**

पच महाभूतों से निर्मित हुए शरीर में पचमहाभूतात्म आहार (पाचक अग्निषो द्वारा) पाँचों उपादानों में की डीक परिपाचित होने पर अपने अपने गुणों को वर्धित कर है ॥५२१॥

घृत्कण्ड्य—भारतीय कल्पना के अनुसार शरीर बनावट बहुत कुछ सूक्ष्म होने पर भी आयुर्वेद में स्थूल रूपः पंचतत्वात्मक ही मानी जाती है—भूतेभ्यो हि परं यन्मात्रं चिन्ना विकल्पिते । (सुश्रुत शरीर १) । शरीर की उत्पत्ति स्थिति और वृद्धि आहार से (देशे कायोरसभव , चरक) होत है इसलिये आहार का योग्य संगठन बड़ी हो सकता है कि हमारे शरीर का है । अर्थात् हमारे आहार का संगठन में पंचतत्वात्मक होना चाहिये । इस पचतत्वात्मक आहार से शरीर के पंचतत्वात्मक सप्त धातु कैसे बनते हैं और उनके बन के समय आहार में क्या क्या परिवर्तन होते हैं उनका आँ संक्षिप्त विवरण इस श्लोक में आयुर्वेदिक कल्पना के अनुसार किया गया है । इस विषय का कुछ विस्तार चरक, अष्टांग संग्रह (शरीर, अध्याय ६) और अष्टांगहृदय (शरीर अध्याय, ३) में मिलता है । यहाँ चरक के ग्रहणीविकल्पि अध्याय में बर्णन की हुई अन्नपरिपाकक्रिया दी जाती है—अन्नमादानकर्मात् प्राण भेद्य प्रकथंति । तन् द्रवैर्मिलित्वा स्येदं सुक्ष्मं पचन् ॥ समानावभूतोऽग्निहृदये पचनेन तु । काले युक्तं स्र पचन्क पचत्वायुर्विहृदये ॥ एवं रसतन्वायःप्रमारापसम्प स्थितः पचत्वाग्निर्वा स्थान्वाभेदनायाःपुनरुत्कृत् ॥ अन्नस्य शुक्रमात्रं बहुत्वस्य प्रयत्नत । मधुरान् प्राक् ककोद्भावय केनभूत् उदीरिते । परन्तु पच्यमानस्य विरमत्वात्कभावन । आसयाःपच्यवमानस्य त्रिव मच्छुपुदीरिते ॥ एकारणं तु प्रातम्य शोषमणस्य बद्धिना । परि पिच्छिपचन्व वायु स्थय बहुधावनः ॥ अन्तर्गिष्ठं ह्युपकृतिभिर्वादि मि धृक् ॥ देवे मीनानि वाचारीन् प्राणीनिमिद्रवाग्नि च ॥ भौमं प्य भेवावसाने पशोष्याण्य सनाभया । पचत्वात्पुणार्त्वा र्हात् स्व पाभिकारीन् पचति हि ॥ यथ स्व रश् च पुण्यानि देहद्वयपुण्या इव पाभिसा परिचलनेन शना शेवाय इत्यस्या ॥ सतमिष्वभारो दिविषाम पुन पुन । यथासममिषि पाकं वाति किञ्चप्रसादन् ॥ इत्येते अतिरिक्त चरक में सूक्ष्मस्थान के २८वें अध्याय के प्रारंभ में आहारगति तथा अन्नपरिपाक क्रिया का विवरण किया है । इस बर्णन का वाद्यय यह है कि शरीरस्य पाचकाग्नि की सहायता से पंचतत्वात्मक आहार पंचतत्वात्मक धातुओं में परिवर्तित होता है । यह पाचकाग्नि कर्ममिष्रता और स्थान मिष्रता के अनुसार निम्न तरह प्रकारों में विभक्त होती है । यथा—एक अग्नाग्नि, पाँच भूताग्नि (पार्थिव्याग्नि, आप्याग्नि, तेजःप्राग्नि, वायुप्राग्नि और वायसप्राग्नि) तथा सप्त धातुभिः (रमधातुभिः, रजधातुभिः, मांसधातुभिः, मूत्रधातुभिः,

त्वामि, मग्नाधात्वमि और शुक्र वा शर्मिष धात्वमि) ।
 ऐसा हुआ आहार प्रथम मुख में खाता और चबेण
 (अन्नाग्निप्रवर्धितम्, इन्दु) की सहायता से
 त्वामि होकर प्राणवायु की सहायता से आमाशय
 में है। वहाँ आसामाशय गतिवियों से और द्रव में
 हीन (अन्नसंघात) होता है तथा साथ साथ उन
 गति का कार्य प्रारंभ होता है । जठराग्नि ने अर्ध
 चन हुआ (जठराग्निना विच्छिन्न पचनित्त आग्नि । इन्दु)
 अन्न प्रवृत्ति में से होकर छोटी अति में पहुँचना है तब
 भौतिक अग्निवियों का कार्य प्रारंभ होता है । ये अग्निवियों
 स्व अपने अपने अवयवों का पचन (सर्वा उपशब्दोपश-
 । इन्दु) करती हैं । जैसे पार्थिव अग्नि आहार के
 अंग का पचन करती है; आग्नि अग्नि आहार के द्रवांग
 का करती है; एवं पाँचों अग्निवियों द्वारा आहार के पाँचों
 का पचन होता है । भौतिक अग्निवियों का कार्य समाप्त
 आहार का आन्वयित्त परिपाक होने का कार्य भी
 होकर वह सार और किट्ट ऐसे दो भागों में विभक्त
 है (एवं च फलाहारदिविषोपशयर्मादि स्नेहाच्छामा-
 रणः जिह्वाश्च मलोऽग्निनिवर्तते । अष्टांगसंग्रह) । किट्ट
 अंग मूत्र और घन भाग विष्टा होती है जो शिवा और
 शरीर के बाहर निकलती है (तत्राच्छ किट्टमश्वय मूत्र
 है इन्द्र । अष्टांगसंग्रह) । आहार का सार भाग आन्व
 भेद होकर रसायनियों और मिराओं द्वारा हृदय में
 होकर वहाँ से धमनियों द्वारा हृदय के रक्तोच्च के कारण
 के समस्त धातुओं में पहुँचता है (सूत्रस्थान, शोणित-
 य अन्वाच का द्वितीय सूत्र देखो) और वहाँ धात्वमि
 त्वामि से फिर परिपाचित होकर धातुओं की वृद्धि और
 करता है । ये धात्वमियाँ कोई स्वतन्त्र अग्नि न होकर
 त्वामि के अंग होती हैं—स्वस्थानत्वय्य कायाधेरसा धातु
 : । तेषां सादातिशेषां धातुवृद्धिश्चोद्वयः ॥ (अष्टांगसंग्रह) ।
 पंचोभाषः पार्थिवाद्यः स्थानांतरप्रासा धातुप्राण इति व्यपरेरा-
 यन्ति । (अस्थ्यादत्त) । धातुओं में आहार रस का
 होकर जो त्याज्य भाग बनता है उससे पित्त स्वेदादि
 होते हैं । आयुर्वेदिक कल्पना के अनुसार आहारगति
 ह संक्षिप्त वर्णन है जो आधुनिक शरीरकार्यविज्ञानगत
 गति वर्णन के साथ बहुत कुछ मिलता है । नवीन
 ण के अनुसार भी शरीर पंचतत्त्वात्मक होता है; आहार
 त्त्वात्मक होता है; आहारपाचन के लिये उसके सिद्ध
 उपादानों पर कार्य करने वाले भौतिक अग्नि के तौर पर
 भिन्न पाचक द्रव्य (Enzymes) होते हैं; इन पाचक
 का कार्य होने पर आहार के सार और किट्ट ऐसे दो
 होते हैं; सार का शोषण आँतों से होकर वह प्रथम हृदय
 च कर वहाँ से धमनियों द्वारा शरीर के समस्त धातुओं
 जाता है, और धात्वमियों (Intracellular enzymes)
 परिपाचित होकर धातुओं की वृद्धि करता है ।
 ओं में सार का पचन होने के पश्चात् पित्त स्वेदादि मल
 होते हैं । आयुर्वेद और पाश्चात्य की आहारगति की
 ना में इस प्रकार स्थूलरूप से बहुत कुछ समता होने

पर भी तत्पत्नी में बहुत फर्क होता है; इगारिगे पाश्चात्य
 पचनना के अनुसार आहारपरिपाक, और आहारगति का
 विवरण नीचे विन्तारपूर्वक किया जाता है । उसमें पहले
 दोनों का तुलनात्मक कोष्ठक दिया जाता है जिसमें दोनों के
 अर्थ होने में सुविधा होगी ।

आहारगति परिवर्तन का तुलनात्मक कोष्ठक

नाम	आयुर्वेदिक विज्ञान	पाश्चात्य विज्ञान
१ शरीररचना	पृथ्वी, प्वाप, तेज, वायु और आकाश इन्म प्रकृत पंच- तत्त्वात्मक	रसनिज (पृथ्वी), प्राप, प्रोटीन, का- र्बोहाइड्रेट और वसा इस प्रकार पंच- तत्त्वात्मक
२ आहार का संगठन	उपर्युक्त प्रकार से पंचतत्त्वात्मक	उपर्युक्त प्रकार से पंचतत्त्वात्मक
३ मलमूत्र में आ- हार का पचन	जठराग्नि (पित्त) तथा पांचभौतिक अग्नि	पित्त तथा लाला, आमाशय, अन्व्या- शय, आन्त्र के रसों में मिलने वाले विचित्र एन्काइम (Enzymes)
४ आहार रस का धातुओं से सात्वी- करण	धात्वमियों के द्वारा शानि धातुओं के भीतर मिलने वाले भौतिकमियों द्वारा	सेलों के भीतरी एन्काइमों (Int- ra-cellular onz- ymes) के द्वारा
५ सात्वीकरण का परिणाम	धातुओं की वृत्ति की पूर्ति तथा वृद्धि; और पित्त, कफ, स्वेद इत्यादि मलों की उत्पत्ति तथा उत्सर्ग	धातुओं की वृत्ति की पूर्ति और वृद्धि; तथा पित्त, कफ, स्वेद इत्यादि मलों की उत्पत्ति और उत्सर्ग

शरीर का संगठन—रसायनशास्त्र की दृष्टि से संसार के
 समस्त पदार्थ नव्वे के करीब मूलतत्त्वों (Elements) से
 बने हैं । इन मूलतत्त्वों में से शरीर में केवल तेईस मूलतत्त्व
 पाये जाते हैं, जिनमें आक्सिजन, कार्बन, हायड्रोजन, मैट्रोजन,
 फास्फोरस, चूना, गंधक, झोरिन, सोडियम, लोहा, पोड्या-
 सिअम, मग्नेसियम और झोरिन विशेष परिमाण में होते
 हैं । यद्यपि इतने मूलतत्त्व शरीर में होते हैं तथापि सिवा
 आक्सिजन के ये स्वतंत्ररूप में नहीं पाये जाते, यौगिक
 (Compounds) रूप में मिलते हैं । वैद्यकशास्त्र में शरीर की
 बनावट की दृष्टि से ये यौगिक प्रधान माने जाते हैं । उन्हें
 पाँच प्रधान श्रेणियों में विभक्त किया है—१ प्रोटीन (Prot-
 eins), २ वसा (Fat), ३ कार्बोहायतीय पदार्थ (Carbo-
 hydrates), ४ पार्थिव पदार्थ (Minerals), और ५ जल ।
 इनमें जल ५०% होता है, पार्थिवद्रव्य २०% होता है और
 वसा, प्रोटीन इत्यादि शेष उपादान २३% होते हैं । जल

प्रत्येक सेल का श्वाभाव्यक अवयव है। हमारे शरीर के सल जलवायी (Aquatic) हैं; मिया जल के ये कुछ नहीं कर सकते। जल की भाँति मोटीन भी शरीर के प्रत्येक सेल का श्वाभाव्यक अवयव है। आहार का सञ्चन—जिन पदार्थों से शरीर बना है कार्बोहाइड्रेट और प्रोटीन शरीर में पाई जाती हैं वही चीजें जल के मुख्य उत्पादन होती हैं। इसलिये आहार भी पचनशायल होता है, क्या? मोटीन, २ पचा, ३ कार्बोहाइड्रेट, ४ खनिज या पार्थिव, और ५ जल। मोटीन—शारीरिक सेवों में ये श्वाभाव्यक घटक होती हैं, अतएव शारीरिक काम की पूर्ण और धातुओं की वृद्धि के लिये ये श्वाभाव्यक हैं। मोटीनों का कार्य दूसरे प्रकार के साधक द्रव्यों से कदापि नहीं हो सकता, यह कभी नहीं भूलना चाहिये। मोटीने अण्डा, मादली, मांस, दूध, दान इत्यादि चीजों में पाई जाती हैं। वम—वम श्वितरीन और पसाख (Fatty acids) का योगिक है। इनसे शरीर में उष्णता और शक्ति उत्पन्न होती है। श्वितरीन राशि में सेवन करने पर भेद शरीर में सखिन इन्डर सखिन शक्ति (Reserve energy) का कार्य करता है। कार्बोहाइड्रेट की अपेक्षा पसा से ढाई गुना शक्ति अधिक उत्पन्न होती है। घी, माखन, श्यावर और जगम तैल, बादाम, निस्ता, अलसोट इत्यादि की गिरी में वम अधिक राशि में मिलती है। कार्बोहाइड्रेट—इनसे शरीर में उष्णता और शक्ति उत्पन्न होती है। अधिक मात्रा में सेवन करने पर इसका भेद में रुपांतर होकर शरीर में सचय होता है। शारीरिक श्रम करने वालों को कार्बोहाइड्रेट की अधिक श्वाभाव्यकता होती है। ये केवल वनस्पतियाँ से प्राप्त होते हैं। चावल, गेहूँ, अरीष्ट, सागोदाना, धाढ़, शकरकंद, शकर, गुट, मीठे फल, गड़द इत्यादि में मुख्य द्रव्य कार्बोहाइड्रेट ही होता है। खनिज या पार्थिव द्रव्य—शरीर की हड्डियाँ खनिज द्रव्यों से ही बनती हैं। शरीरस्थ खनिजद्रव्य का ३ भाग केवल हड्डियों में होता है। हड्डियों के अतिरिक्त रक्त का रजकद्रव्य (Haemoglobin) श्वाभाव्यिकारण, दाँत, केश, मस्तिष्क इत्यादि में खनिज होते हैं। खनिज पदार्थ दूध, अण्डा, हरी साग सब्जी, अनाज इत्यादि में पाये जाते हैं। जल—जल की सहायता से शरीर के भीतरी कुल परिश्रवण होते हैं। साधक द्रव्यों का पचन और श्वाभाव्यकरण, मज्जूरादि त्वाव पदार्थों का उत्सर्ग, रक्त का परिश्रम जल की सहायता से होता है। मनुष्य को प्रतिदिन तीन सेर के लगभग पानी की आवश्यकता होती है। यह राशि मनुष्य के रहन सहन, परिश्रम, देह, आहार, ऋतु भेद इत्यादि पर मनुष्यधिक होती है। ठंड देश में तथा जाड़ों में उष्ण देश तथा गरमियों की अपेक्षा कम पानी की आवश्यकता प्रतीत होती है। मुल मनुष्यों को परिश्रम करने वालों की शोषता कम पानी लगता है। मांसाहारी और शाकाहारी की अपेक्षा अधिक पानी की आवश्यकता होती है, क्योंकि मांसाहार से शरीर में यूरिक एसिड (Uric Acid) अधिक बनता है जिसकी शरीर से निकलवाने के लिये अधिक पानी की जरूरत होती है, अन्यथा वातरकादि रोग उत्पन्न होने की संभावना होती है। मनुष्य को प्रतिदिन जिनका पानी आवश्यक होता है उसमें से २०-३०% साधकद्रव्यों के

साधक सेवन किया जाता है, ४% के लगभग आहारपरि में शरीर के भीतर उत्पन्न होता है और शेष ३५% के रूप से सेवन किया जाता है। साधकद्रव्यगत तथा आहारपरिष्कृत का अतिरिक्त जब शरीर में शक्ति कम की आवश्यक होती है तब हमें मूषा मादलन पीनी है; इसलिये वास्तव मूषा को भीतरी जल की म्यूनता का निर्देशक सम्यक चाहिये। इन पाँचों प्रकारों में से मोटीने, कार्बोहाइड्रेट वम शरीर में शक्ति तथा शक्ति करते हैं परन्तु जल और शक्ति उत्पन्न नहीं करते। जीवद्रव्य (Vitamines)—शक्ति पर प्रयोग करने से तथा मनुष्यों के स्वास्थ्य का निरीक्षण करने पर यह पता चला है कि यदि भोजन में केवल मोटीने, कार्बोहाइड्रेट, खनिज और जल के पाँच चीजें रहे मनुष्यों का स्वास्थ्य बिगड़ता है; रोग-जनकों का आरंभ भेजने की उनकी शक्ति नष्ट होती है तथा विशेष प्रकार रोग भी उत्पन्न होते हैं। इसलिये उक्त पाँच चीजों के अतिरिक्त खनिज चीजों के पचापरिमाण भोजन में रहने से स्वाभाव्य रहनी है तथा खनिजों में होने से का कम होने स्वास्थ्य को किन्ती न किसी प्रकार की हानि पहुँचती है, उन 'जीव द्रव्य' कहते हैं। जीवन के लिये भोजन में इनका रह बहुत श्वाभाव्यक है। उक्त पाँचों द्रव्यों की भाँति इन ३ द्रव्यों में शरीर में रासायनिक या भौतिक परिवर्तन नहीं हो तथा इनका सचय भी अधिक नहीं होता। शोषवादी (Catabolism) पदार्थ के तौर पर या मोटर में स्फूर्ति (Spark) के तौर पर ये शरीर में कार्य करते हैं, ऐसी शाखकों की है। यद्यपि मछली का तैल, अण्डा इत्यादि प्राणिक पदार्थों में पाये जाते हैं तथापि इनकी उत्पत्ति केवल वनस्पति में ही होती है। इन सब का रासायनिक संगठन भी अपनी निश्चित नहीं हुआ है। अभी तक पाँच या ८ प्रकार के जीव द्रव्यों का पता लगा है तथापि भविष्य में और भी प्रक मिलने की सम्भावना हो सकती है। जीवद्रव्य 'ए' (Vitamin A)—यह जीवद्रव्य मछली का तैल, मछली, अण्डा जानवरों के यकृत इत्यादि अण्ड, दूध, दही, माखन, ह तरकारियाँ इत्यादि में पाया जाता है। इससे वास्तव में शरीर की ठीक वृद्धि होती है तथा जीवाणुजन्य रोगों। शुक्राणु का ठीक शक्ति शरीर में तदैव उपस्थित रहती है इसकी कमी या अभाव से श्वसन मस्थान, पचन संस्था मूत्रवह संस्थान में जीवाणुजन्य रोग उत्पन्न होते हैं, शरीर की वृद्धि ठीक नहीं होती, शरीर कम होता है, शुक्राणुजन्य (Xerophthalmia), रतीपी इत्यादि नेत्र के रोग होते हैं जीवद्रव्य 'बी'—यह जीव द्रव्य गेहूँ और चावल का धोई चावल की भूरी, मटर, उड़द इत्यादि दालें, खमीर (Yeast) अण्डा, जानवरों के यकृत हृदय इत्यादि अण्ड, मादल मूषक इत्यादि में पाया जाता है। यह जीवद्रव्य (B₁, B₂, B₃, B₆, B₁₂ ऐसे) पाँच भागों में विभक्त किया जाता है। की नापी संस्थान के पोषण के लिये आवश्यक होता है। इसकी कमी से वातरकासक (Box Beri) नामक रोग उत्पन्न होता है। बीर त्पचा के पोषण के लिये श्वाभाव्यक होता है इसकी कमी से पेलामा (Pellagra) नामक रोग होता है।

प्रकारों के कार्य के संबंध में अभी तक शास्त्रों में मत-ता पाई जाती है। जीवद्रव्य 'सी'—यह जीवद्रव्य नारंगी, रा, नींबू इत्यादि जंबीर वर्ग के फलों (Citrous Fruit) गोभी, टोमाटो, गाजर, प्याज, ग्यालू, शलगम इत्यादि तरकारियों में, अंगूर और आम में, दूध में, अंकुरित अणों में पाया जाता है। कैशिकाओं के तथा दाँतों के एण के लिये इसकी आवश्यकता होती है। इसकी कमी या राव से स्कर्वी (Scurvy) नामक रक्तपित्त वर्ग का रोग ल होता है। इसके अतिरिक्त शरीर की वृद्धि ठीक नहीं ती, दाँत खराब हो जाते हैं, शरीर से रक्तत्राव हुआ करता तथा शरीर की प्राणशक्ति घट जाती है। जीवद्रव्य 'डी'— जीवद्रव्य मछली का तैल, दूध, अण्डा, माखन, इत्यादि ार्यों में पाया जाता है। सूर्य की किरणों इस जीवद्रव्य का महत्वपूर्ण स्रोत है। सूर्य की नीललोहित (Ultra-vio-) किरणों के प्रभाव से प्राणियों तथा मनुष्यों की त्वचा में जीवद्रव्य की उत्पत्ति होती है। दुधारू पशुओं को भी दे धूप में चरने दिया जाय तो उनकी त्वचा में यह द्रव्य पत्र होकर उनके दूध में मिल जाता है। धूप में धूमने रने के कारण ही गौ के दूध की ग्रपेजा बैंस के दूध में ह द्रव्य अधिक होता है। वैसे ही शीत ऋतु की तुलना में ऋतु के दूध में जीवद्रव्य अधिक होता है। इससे हार के खटिक और फास्फरस का साल्मीकरण भली भाँति कर अस्थि तथा दाँतों का पोषण ठीक होता है और रक्त की मने की शक्ति बनी रहती है। इसके अभाव से अस्थियाँ ल्ही तरह नहीं बनती; वे टूटी, कमजोर और भुरभुरी हो ाती हैं। इसी के अभाव से छोटे बच्चों में अस्थिवक्रता (Rickets) नामक हड्डियों का रोग तथा दाँतों के विविध वेकार उत्पन्न होते हैं और बड़ी उम्रवाली स्त्रियों में ऑस्टियो लेसिया (Osteomalacia) नामक अस्थि का रोग उत्पन्न होता है। जीवद्रव्य 'ई'—यह जीवद्रव्य सभी बीजों में, उनसे निकाले तेलों में, हरे पत्तों में, गेहूँ के अंकुरों (Wheat germ) में, कच्चे मांस, दूध, माखन में पाया जाता है। इसके अभाव से प्राणियों की जनन-शक्ति घट या मर जाती है, जिससे बच्चे शीते ही नहीं या होकर मर जाते हैं। खाद्य पेय द्रव्यों में एकाध तेल इनकी कमी होने से रोग नहीं होता। यदि लगातार बहुत काल तक इनकी कमी हो तो स्वास्थ्य बिगड़ जाता है या इनके खास रोग उत्पन्न होते हैं। इन रोगों को जीवद्रव्या-भावदर्शक रोग (Deficiency diseases) कहते हैं। प्रति-दिन इनका सेवन करने का परिमाण आयु, शरीर की वृद्धि, उवायु, संक्रामक रोगों के लिये अनावृत्ति (Exposure), सर्पप्रकाश में काम करने का प्रमाण इत्यादि बातों पर निर्भर होता है। तथापि यह कह सकते हैं कि स्त्रियों को सगर्भावस्था में, बाल्यावस्था में और युवावस्था में इनकी पर्याप्त राशि सेवन करनी चाहिये। १९१३ तक जीवद्रव्यों का नाम तक मालूम नहीं था। गत बाईस वर्ष में इनके संबंध में बहुत कुछ ज्ञान हो गया है और भविष्य में भी अधिक ज्ञान होने की आशा है। यदि मनुष्य खाद्य पेय के व्यवहार में कृत्रिमता छोड़कर प्रकृति माता की कृपा से प्रत्येक ऋतु में उत्पन्न होने

वाले विविध रस युक्त फल, फूल, साग सब्जी तथा अन्य पदार्थ सेवन करें तो उन्हें जीव द्रव्यों की कमी से उत्पन्न होने वाली विविध आपत्तियों से डरने का कोई कारण नहीं है। जीवद्रव्यों का ज्ञान न होने पर भी इसी व्यापक दृष्टि से वाग्भट ने ऋतु चर्चाध्याय में लिखा है—नित्य सर्वसाभ्यासः स्वस्वाधिक्यमृतावृतौ ॥ पाचकासि—उपर्युक्त पाँच प्रकार के द्रव्यों में से जल और खनिज द्रव्यों पर कोई पाचक क्रिया नहीं होती; ये ज्यों के त्यों श्लेष्मल कला में से शोषित होकर रक्त में चले जाते हैं; अर्थात् इन द्रव्यों के लिये कोई भी पाचकाग्नि आवश्यक नहीं होती। शेष द्रव्यों के लिये निम्न पाचक रस आवश्यक होते हैं। इन रसों में जो पाचक एन्काइम (Digestive Enzymes) होते हैं वे पाचकाग्नि के समान समझे जा सकते हैं। (१) लाला—यह प्रथम पाचक रस है जो कि मुख में चर्चण के समय भोजन के साथ मिलता है। इससे भोजन गीला और मुलायम होता है। इसके अतिरिक्त लाला में प्यालिन (Ptyalin) नामक एक विशेष पाचक पदार्थ होता है जो भोजन के श्वेत-सार (Starch) नामक कार्बोहाइड्रेट का शर्करा में परिवर्तन करता है। प्रोटीन और मेद पर इसका कोई असर नहीं होता। (२) आमाशयिक रस—थूक से खूब मिलकर भोजन अन्न प्रणाली में से होकर आमाशय में पहुँचता है। वहाँ उस पर आमाशयिक रस का कार्य होता है। यह दूसरा पाचक रस है। इसमें 'हाइड्रोक्लोरिक अम्ल' 'पेप्सिन' और 'रेनेट' नामक विशेष पदार्थ होते हैं। इनमें से पेप्सिन प्रोटीनों का विश्लेषण करके उनसे नये पदार्थ बनाता है। इसके कार्य के लिये अम्ल का होना जरूरी है। रेनेट अम्ल की सहायता से दूध का दही बना देता है। आमाशयिक अम्ल से गन्ने की शर्करा का रूपांतर द्राक्षाशर्करा में होता है। शरीर की गरमी से पिघल कर मेद द्रवरूप में आ जाता है तथा वसा के सेलों का आवरण पेप्सिन की क्रिया से छुलकर मेद के विन्दु स्वतन्त्र हो जाते हैं। तथापि आमाशयिक रस की कोई रासायनिक क्रिया मेद पर नहीं होती। (३) पित्त—वसा और तैल के पचाव और शोषण में पित्त बड़ी आवश्यक चीज है। पित्त के कारण अग्न्याशय रस की वसा विश्लेषण शक्ति विशेष कर बढ़ जाती है। जब पित्त कम बनता है या किसी कारण आन्त्र में नहीं पहुँच सकता (जैसे कि कामला में होता है) तब वसा का ठीक पचन न होकर वह विष्टा द्वारा शरीर से बाहर निकल जाती है। (४) क्षुद्रान्न रस—यह चौथा पाचक रस है। इसमें हरेप्सिन नामक प्रोटीन विश्लेषक होता है। यह उन पदार्थों का विश्लेषण करता है जो आमाशयिक पेप्सिन के कारण प्रोटीनों के विश्लेषण से बने हैं। दूसरा शर्करा परिवर्तक (Invertase) होता है जो सब शर्कराओं को द्राक्षा शर्करा में परिवर्तित करता है। (५) अग्न्याशय रस—यह पाँचवाँ पाचक रस है। इसमें टिप्सिन नामक प्रोटीन विश्लेषक, लाय-पेस नामक वसा विश्लेषक और अमाथेलेस नामक श्वेतसार विश्लेषक होता है। ये विशेष पाचक पदार्थ आहारगत अपने अपने अवयवों पर कार्य करते हैं। संक्षेप में—प्रोटीनों पर आमाशय रस का पेप्सिन, अग्न्याशय रस का टिप्सिन और क्षुद्रान्न रस का हरेप्सिन कार्य करता है। वसा पर पित्त और

अम्लपाचक रस का लायपेस (Lipase) कार्य करता है । कार्बोहाइड्रेट पर माला का टायामिन, अम्लपाचक रस का अमाइलोन और सुदाग्र रस का शर्करा परिवर्तक कार्य करता है । एग्जिन और जल के पचन के लिये कोई पाचक रस की आवश्यकता नहीं होती । वे रसों के त्यों घोषित होकर रक्त में चले जाते हैं । पचनत्वामक आहार पर इन पांच पाचक रसों का कार्य होने पर जो अमाइय और अघपचा भाग होता है वह विट्टा के स्वरूप में बाहर निकल जाता है । मार भाग आन्त्र की लयिका वाहिनियों (Lacteals) और गिराओं द्वारा हृदय में होकर समान शरीर में फैलता है और पाचक-मियां (Intracellular enzymes) द्वारा परिपाचित होकर शरीर का पोषण करता है । पोषण में क्षति की पूर्ति, वृद्धि और रक्षा इनका समान्य होता है और इसको 'अनावोलिभम' कहते हैं । शरीर में विविध कार्य के कारण जो त्याज्य या मल रूप पदार्थ बनते हैं वे फिर रक्त में मिलकर वृक्ष द्वारा मूल से, खचा द्वारा स्वेद से और फुफ्फुस द्वारा प्रश्वास से शरीर से बाहर उन्मूर्त होते हैं । इस विघटनमक कार्य को 'क्याटा-बोलिभम' कहते हैं । यही आहारगति का संक्षेप में पाश्चात्य शरीरकार्यविज्ञान के अनुसार वर्णन है । इस विषय का कुछ विवेक पृष्ठ २११ अध्याय के ११ सूत्र के चर्चन्य में किया गया है ।

अविदग्धः कफं पित्तं विदग्धः पवनं पुनः ।

सम्पन्निपको निःसार आहारः परिचुंदयेत् ॥५२५॥

अविदग्ध (मधुर अवस्था को प्राप्त हुआ) आहार कफ की वृद्धि करता है; विदग्ध (अम्ल अवस्था को प्राप्त हुआ) आहार पित्त की वृद्धि करता है, और उत्तम प्रकार से परिपक होने के कारण मार हीन हुआ (मलरूप) आहार वायु की वृद्धि करता है ॥५२३॥

चक्षुष्य—इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि परिपाक होने के पूर्व आहार कफ की यानि मुख की लाला की—उत्तेजित करता है, पश्चात् आमाशय में अम्लता को प्राप्त होकर जब सुदाग्र में पहुँचना है तब पित्त को उत्तेजित करना है (यह बात श्वेद आधुनिक विज्ञान से भी सिद्ध हुई है) और जब सारहीन होकर स्थूलान्त्र में आता है तब वायु को उत्तेजित करता है (यानि मदान के कारण स्थूलान्त्र में कई प्रकार की वायु—Gases बनता है) ।

विण्मूत्रमाहारमलः सारः प्रागीरितो रसः ।

स तु द्यानेन विक्षिप्तः सर्वान् धातून् प्रतर्पयेत् ॥५२६॥

विट्टा और मूत्र आहार का मल है और रस आहार का मार है, यह पहले कह चुके हैं । स्यान् वायु से प्रेरित हुआ बरी रस (शरीर के) समान धातुओं का तर्पण करता है ॥५२६॥

चक्षुष्य—विण्मूत्रमाहारमल—आयुर्वेद का यह मत है कि विट्टा की भाँति मूत्र भी आश्रय में आहार से बनता है, जो मूल में मूल के द्वारा रक्त में फैलता है ।

नेदिन् ॥ (शर्करा) । तत्रऽप्येत् किमत्र मूल विघटन रहन् । (वाग्भट) । (विशेष विवरण के लिये प्रथमकार Ayurvedic conception about urine formation in human body नामक छोटी पुस्तक देखो) । प्रत्येक घोषितवर्धनीय अध्याय में । वास्तव में इस बान का उद्देश्य सुधृतसंहिता के मूल में हुआ नहीं है, परन्तु घोषितवर्धनीय अध्याय के 'स्ताद्रक त्वां गोत्र' नामक श्लोक की टीका में दल्ल ने किया है । स्यान्—मुख्यतया हृदय में निवास क वाला वायु का एक भेद है । इसका मुख्य कार्य रसमवृ (Blood circulation) जारी रखने का है—स्यान् इति निद्र (वाग्भट) । रसमवृहलेपन । (सुधृत) । प्रतर्पयेत्—केदरं पुष्कान्वातेन इति सबध । निदानस्थान के प्रथम अध्याय के १७१ श्लोक का चर्चन्य देखो ।

कफः पित्तं मलः सेपु स्वदेदः स्यात्प्रखरोम च ।

नेत्रविद्वं त्वंशु च खेदो धातूनां क्रमशो मलाः ॥५२७॥
कफ, पित्त, (कर्ममुखनासिकादि) श्वेत स्य मल, स्वेद, नल और रोम, नेत्र का मल तथा खचा की चिकनाई ये क्रमशः (रस, रक्त, मांस, मेद, श्लेष्मि और मज्जा इत) धातुओं के मल होते हैं ॥५२७॥

चक्षुष्य—आहार रस से जब इन धातुओं का पोषण या तर्पण होता है तब ये मल क्रम से उत्पन्न होते हैं । मलोत्पत्ति के संबंध में पाश्चात्य शरीरकार्यविज्ञान का ऐसा मत नहीं है । कफ पित्त—शरीरवाधक मलस्वरूप पित्त और कफ । मल सेपु—कर्णाक्षिनामिकाप्लेगमूत्रप्रजननना । (चरक) । वाग्भट ने कष्टाग्रहृदय में श्रोत्र-शुक्रधातु का मल बतलाया है—कफ पित्त मल सेपु, प्रस्वेदो नखरोम च । स्वेदो शिन्निविशानोभो धातूनां क्रमशो मलाः ॥ (शारीर, ३) । परन्तु अष्टांगसमूह में ओज शुक्र का सार बतलाया है—शुभस्य सार मीन । अम्लान्द्रुनवास्य मलाभाव ॥ (शा० ६) । पित्त—पाश्चात्य कल्पना के अनुसार भी पित्त रक्त से बनता है और वह एक प्रकार का मल ही है—Liver cells Take certain materials from plasma and elaborates the constituents of the bile Bile pigments are formed from pigments of breakdown blood corpuscles Bile is doubtless to a certain extent an excretion

Halliburton's Physiology

दिवा विद्युजे हृदये जाग्रतः पुण्डरीकचक्षुः ।

अग्रमद्भिन्नधातुत्वाद्जीर्णैऽपि हितं निशि ॥५२८॥

हृदि सम्मीलिते रात्रौ प्रसुतस्य विद्योपतः ।

क्षिप्रयिच्छस्तधातुत्वाद्जीर्णै न हितं दिवा ॥५२९॥

दिन में हृदय कमल के समान विकसित रहने से, समान धातु अक्षिप्त होने से कुछ अजीर्ण हो, तो भी जागने वाले मनुष्य के लिये रात्रि की भोजन करना हित है ॥५२८॥ रात में हृदय सम्मीलन रहने से, समान धातु क्षिप्र और विधिल होने से तथा विद्योप करके सोये हुए मनुष्य के लिये अजीर्ण हो तो (दूरे) दिन में भोजन करना हितकर नहीं ॥५२९॥

चक्षुष्य—इन श्लोकों का तात्पर्य यह है कि दिन में

लोगों से नमस्तेन यह वायु मय जीवों को धैर्य देने वाला (सर्वात्मा) है ॥४॥५॥ (स्वावरजगामात्मक) भूतों की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का कारण है; (स्वय) अदृश्य है (परंतु) उसके कार्य प्रकट होते हैं, रुत, शील, सत्य और खर है ॥६॥ सर्व शरीर में घूमने वाला है; (शब्द और स्पर्श ऐसे) दो गुण युक्त है; (त्रिगुणात्मक होने पर भी) रजोगुण-प्रधान है; अचिन्त्यशक्ति है, शीघ्रों का प्रेरण करने वाला है; रोगों के (कारण) समूह में आर है ॥७॥ ग्रीध कार्य करने वाला है, सदैव गतिमान है; और (विशेषतया) पकाय तथा गुदर में उसका स्थान है ।

वृक्तउद्य—अभ्यक्त—अस्थित भूदम होने के कारण अभ्यक्त, अमूर्त या अदृश्यमूर्ति । त्रिवेग—ऊर्ध्वोर्ध्वनिर्वेग । दिवण—स्पर्श शब्द गुण युक्त-महाभूतानि स वायुरन्निप धितिलया । शब्द-स्पर्श रूप च रमो गन्धश्च तद्गुणाः ॥ तेषामेक-गुण पूर्वो गुणश्चि परे परे । पूर्व-पूर्वगुणश्चैव क्रमसो गुणित्वा र्ण्यत । (चरक, भा १) । दोषाणां मेना—दोष धातु और मर्लौ का प्रेरक—पित्त पक्षु कफ पक्षु पक्षु मलभानवः । बायुना यथ नीचले तत्र वचनि मेपय ॥ (शाक्रेधर) । रोगमभूरात्—रोगों के कारणों में सर्वश्रेष्ठ—विमुखादायुकारित्वेऽहस्त्वित्वादायुकोपेनात् । स्वानभ्यासद्वयुक्तदोषाणां प्रकरोऽपि ॥ (वाग्भट) । शाल्यना कोष्ठगणेश रोगा ममोर्ध्वसर्वावयवोद्गमश्च । ये सन्ति तेषां न तु कश्चिदन्वो वायो पर जन्मनि हेतुरस्ति । (चरक, सिद्धि, १) । आयुकारी—ग्रीध विकार करने वाली, ग्रीध विनाश करने वाली, या दाह्य स्वकष के (Acute) विकार उत्पन्न करने वाली । मुद्गशरी—प्राकृतिक अवस्था में भी सदैव गतियुक्त—अम्याहगतिरित्ये स्थानस्य प्रकृतौ स्थित । वायु स्वस्तोऽपि क जीवे-दीवरोग समा इतम् ॥ (चरक) ।

देहं विचरतस्तस्य लक्षणानि निबोध मे ॥८॥
दोषधातुप्रसिद्धमर्ता संमार्ति विप्रमेय च ।
नित्याणामानुलोम्य च करोत्यकुपितोऽनिलः ॥९॥
देह में विचरने वाली उस वायु के लक्षण युक्त से समक लो ॥८॥ अविहृत वायु शीघ्रों, प्राणश्री और जठराग्नि की समान, (शब्दादि इन्द्रियों के) विषयों में (मननरक इन्द्रियों का) अभिर्मन्थ तथा (पंच कर्मन्द्रियों की वच-नदि) क्षिपार्थों में ठीक ठीक प्रवृत्ति करती है ॥९॥

वृक्तउद्य—अरजमहिना के वातकलात्कीर्य अभ्याय (सू १२) में शरीरर अविहृत वायु के कर्मों का सुन्दर विवरण किया गया है—वायुलनवन्वधर, प्रवर्तकश्चेतानुचवा-द्वचती, नियन्ता प्रणेता च मनन, सर्वेन्द्रियाणामुदीक, सर्वेन्द्रि-याणामभिवेद, सर्वरीणानुद्भव, सधनकर शरीरस्य, प्रवर्तये वाच, प्रकृति इन्द्रसंशो, श्रेयसंनयोर्ध्व, इषोर्न ह्योर्ध्वनि, मनीषोऽपि, दोषप्रशान, क्षिप्ता बहिर्गमनां स्थूलपुस्तोत्तया मेला, कर्ता गर्भोद्भवाश्च, आयुरेऽनुत्तिप्रत्ययभूतो भवत्यनुत्ति ॥

यिषाऽसिः पश्चा मित्रो नामस्थाना प्रकर्मभिः ।
मित्रोऽनिलस्तथा होक्रो नामस्थानक्रियामयैः ॥१०॥
प्राणोदानौ समानश्च ध्यानधातुन पय च ।

(वायु के पाँच भेद—) जैसे नाम के कारण (प्रयाप्रथ अध्याय में) पित्त पाँच विभक्त हुआ है; उसी भाँति एक ही वायु नाम, स्थान, और रोगों के कारण पाँच प्रकार से विभक्त हुआ है । प्राण, उदान, समाग, ध्यान और कपान ऐसी स्था (साध्यावस्था में किंवा अपने विशेष स्थान में स्थित हुए पाँच वायु जीवों (के शरीरों) की धारण करती हैं ॥११॥
वायुर्यो वक्रसंचारी स प्राणो नाम देहघृह ।
सोऽन्नं प्रवेशयत्यन्तः प्राणोऽप्यवलयन्वने ॥
प्राणशः कुर्वते दुष्टो द्विष्माभ्यासादिकान् गदान् ।

(प्राणवायु—) जो मुख में संचार करती है, वह प्र नाम से प्रसिद्ध देह धारण करने वाली वायु है; वही प्राण अन्न को (महाघोत के) भीतर प्रविष्ट करती है; और प्र को अन्नबलन करती है ॥१२॥ (तथा) विहृत हो जाने हिचकी, आस हृत्पादि रोग उत्पन्न करती है ।

वृक्तउद्य—वक्रसंचारी—वक्रमचरित्वमस्वीकृत्युगण, मूर्धोर कण्ठनासिकाऽपि प्राणस्य स्थानम् ॥ (दहृह) । प्राणो मूर्ध्ववस्थित कण्ठोरधर ॥ (अष्टांगसंग्रह) । प्राणानिनीति प्राण, प्राणयनीति वा प्राण । प्रधासोऽप्यास कार्य जीवन के लिये नितान्त आवश्यक है और इस के साथ इस वायु का घनिष्ठ संबंध होने के कारण इस 'प्राण' वायु कहते हैं—तत्र प्राणो मूर्ध्ववस्थित कण्ठोरधरी इन्द्रियद्वयमनोपमनोधारणश्रीवतसुत्रप्रधानाकोऽन्यस्ताप्रवेशादि य ॥ (अष्टांगसंग्रह) । नासिस्य प्राणरजन स्थुः इत्यमलान् कण्ठादिर्दिग्विनिर्वाति पितु विष्णुपदानुत्तम् ॥ पीत्वा चाम्बलीभूषः रापति विवेग । प्रीणवन्देइमलिक जीवपञ्जरानकम् ॥ (शाक्रेधर प्राणश—उदानादि श्रेय वायुओं को—प्राणोऽपानो अत्य उर समानोऽन इत्येतत्सर्वं प्राण इति ॥ (बृहदारण्यकोपनिषद्) पित और कफ के अनुसर प्राणवायु श्रेय वायुओं को अ लयन करती है—नवस्थमेव (पित्त) शेषाणां तित्तस्थानानाम् । प्राह करोति । स तत्स्य पच शेषाणां केषान्वाताना । अनुग्रह वरीं (सुश्रुत, सूत्र. २१) । प्राणो नाम—प्राण इति प्रसिद्ध ।

उदानो नाम यस्तूर्ध्वमुपैति पवनोत्तमः ॥
तेन भायितगीतादिविशेषोऽभिप्रवर्तते ।
ऊर्ध्वजमुगतान् रोगान् करोति च विशेषतः ॥

(उदान वायु—) जो पवनश्रेष्ठ वायु ऊपर को ग करती है, वह 'उदान' है ॥१३॥ उमी से संभाषण, ग हृत्पादि विशेष क्रियायें प्रवृत्त होती हैं, और (विहृत हैं पर वही वायु) विशेष करके ऊर्ध्वजमुगत (नयन, कर्ण मुख, नासा और शिर के) रोग उत्पन्न करती है ॥१४॥

वृक्तउद्य—उदान का स्थान—उर स्थानयुदानस्य सामानां गन्धेश्वर ॥ (वाग्भट) ।

आमपकाशयचरः समानो घट्टिसङ्गतः ।
सोऽन्नं पचति तज्ज्ञाश्च विशेषान्यविनक्ति हि ॥१५॥
श्लामासिसादासीसारप्रभृतीन् कुर्वते गदान् ।

(समानवायु—) आमाशय और पक्वाशय में विचरने वाली 'समान' नामक वायु जठराग्नि की सहायता कर अन्न को पचाती है; और अन्नपचिकाजन्म पदार्थविशेषों को (रस, दोष, मूत्र इत्यादि में) पृथक् करती है ॥१५॥ (और विकृत होने पर) गुल्म, मंदाग्नि, अतीसार प्रभृति रोगों को उत्पन्न करती है ।

कृत्वादेहचरो व्यानो रससंवहनोद्यतः ॥१६॥
स्वेदासृक्क्ष्मावणश्चापि पञ्चधा चेष्टयत्यपि ।

कुक्षश्च कुरुते रोगान् प्रायशः सर्वदेहगान् ॥१७॥

(व्यानवायु—) समस्त शरीर में विचरने वाली 'व्यान' नामक वायु रस प्रेरण में प्रवृत्त रहती है ॥१६॥ स्वेद और रक्त का स्रवण करती है तथा (शरीर में) पाँचों प्रकार के कर्म करती है; और विकृत होने पर सर्वदेहाश्रित रोगों को उत्पन्न करती है ॥१७॥

वक्तव्य—कृत्वादेहचरः—व्यानवायु का प्रधान स्थान हृदय है—व्यानो हृदि स्थितः ॥ (वाग्भट) । परन्तु रससंवहन के कारण वह सर्व शरीर में संचार करने वाली कहलाती है । रससंवहन—रसविक्षेप । आधुनिक परिभाषा में इसको रक्तपरिभ्रमण (Blood-circulation) कहते हैं । रस कहने का अर्थ यह है कि आयुर्वेदिक परिभाषा से रक्त 'रंजितरस' ही होता है—रञ्जितास्तेजसा त्वापः शरीरस्थेन देहिनाम् । अव्यापनाः सन्नेन रक्तमित्यभिधीयते ॥ (सूत्र, अ. १४) । असृक्क्ष्मावणः—शरीर में रक्त का परिभ्रमण हृदय से धमनियों में, धमनियों में केशिकाओं में, केशिकाओं से सिराओं में और सिराओं से फेर हृदय में होता है । परन्तु केवल रक्तवाहिनियों में इस प्रकार का परिभ्रमण होने से रक्त के द्वारा शरीर के समस्त धातुओं की वृद्धि नहीं हो सकती । अतः इन रक्तवाहिनियों से रक्त का स्रवण शरीर के समस्त अंगों में होना नितांत आवश्यक है । रक्तस्रवण का कार्य व्यानवायु कराती है और जिन रक्तवाहिनियों में यह कार्य होता है वे स्रोतस्त्र कहलाती हैं—आनादमन्यः, स्रवणात् स्रोतासि, सरणात् सिराः ॥ (चरक) । आधुनिक शारीरकार्यविज्ञान के अनुसार भी यह सिद्ध हुआ है कि जब रक्तस्रोतसों या केशिकाओं (Capillary) में बहता है तो थोड़ा सा रस उनकी पतली पतली दीवारों में से छनकर (स्रवण) बाहर के धातुओं में मिला करता है, और इसी रस से पौष्टिक पदार्थ ग्रहण कर धातु पुष्ट होते हैं । इसी दृष्टि से आयुर्वेद में लिखा है—स (रसः) तु व्यानेन विक्षिप्तः सर्वान् धातून् प्रतर्पेद्यत् ॥ (सूत्रस्थान, अ. ४६) (पृष्ठ ८१ देखो) । पञ्चधा—'गत्यपक्षेपणोत्क्षेपनिमेषोन्मेषणादिकाः' ॥ (अष्टांगहृदय) । सर्वशरीरग—ज्वरातीसार रक्तपित्त-प्रभृतिरोग ।

पक्वाधानालयोऽपानः काले कर्पति चाप्ययम् ।

समीरणः शकृन्मूत्रशुक्रगर्भतिवान्यधः ॥१८॥

कुक्षश्च कुरुते रोगान् घोरां वस्तिगुदाश्रयान् ।

(अपानवायु—) अपानवायु पक्वाशय में रहती है; और वही वायु मल, मूत्र, शुक्र, गर्भ और आर्तव को (योग्य) समय पर नीचे की ओर कर्षण करती (निकालती) है

॥१८॥ यही विकृत वायु वस्ति और गुदा के अयंकर रोग उत्पन्न करती है ।

शुक्रदोषप्रमेहास्तु व्यानापानप्रकोपजाः ।

युगपत् कुपिताश्चापि देहं भिन्दुरस्संशयम् ॥१९॥

(मिश्रवायु—) वीर्यविकार और प्रमेह व्यान और अपान वायु के कोप से उत्पन्न होते हैं । एक समय कुपित हुई पाँचों वायु निःसंदेह शरीर का नाश कर देती हैं ॥१९॥ अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि नानास्थानान्तराश्रितः ।

बहुशः कुपितो वायुर्विकारान् कुरुते हि यान् ॥२०॥

अब इनके आगे नाना स्थानों में स्थित हुई वायु कुपित होने पर प्रायः जिन जिन रोगों को करती है, उनको कहता हूँ ॥२०॥

वायुरामाशये कुक्षश्छर्द्यादीन् कुरुते गदान् ।

मोहं मूर्च्छां पिपासां च हृद्भ्रहं पार्श्ववेदनाम् ॥२१॥

पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजं शूलं नाभौ करोति च ।

कुक्षमूत्रपुरीपत्वमानाहं निकवेदनाम् ॥२२॥

श्रोत्रादिष्विन्द्रियबंधं कुर्यात् कुक्षः समीरणः ॥२३॥

आमाशय में कुपित हुई वायु मोह (Vertigo चक्कर), मूर्च्छा, तृषा, हृद्भ्रह (Anginal attacks), पार्श्वपीड़ा, वमन इत्यादि विकारों को करती है ॥२१॥ पक्वाशय स्थित (कुपित हुई वायु) गुडगुड (Borborygmus), नाभि के आस पास शूल (Colic), मल और मूत्र के उत्सर्ग में कष्ट, अफारा और त्रिकस्थान में पीड़ा करती है ॥२२॥ कर्णादि इन्द्रियों में कुपित हुई वायु इन्द्रियों का घात करती है ॥२३॥

वक्तव्य—आमाशय—पेट तथा उरोविभाग (Thorax) । पक्वाशय—उदर विभाग (Abdomen) । इन्द्रियबंधं—कर्ण में कुपित होने से श्रुतिनाश, नेत्र में कुपित होने से दृष्टिनाश इत्यादि ।

वैवर्ण्यं स्फुरणं रौक्ष्यं सुप्तिं सुसुप्तुमायनम् ।

त्वक्स्थो निस्तोदनं कुर्यात् त्वग्भेदं परिपोटनम् ॥२४॥

व्रणांश्च रक्तगो, ग्रन्थीन् सशूलान् मांससंश्रितः ।

तथा भेदःश्रितः कुर्याद्ग्रन्थीन्मन्दरुजोऽव्रणान् ॥२५॥

कुर्यात् सिरागतः शूलं सिराकुञ्चनपूरणम् ।

स्वायुप्राप्तः स्तम्भकर्मणो शूलमाक्षेपणं तथा ॥२६॥

हन्ति सन्धिगतः सन्धीन् शूलशोफौ करोति च ।

अस्थिशोषं च भेदं च कुर्याच्छूलं च तच्छ्रितः ॥२७॥

तथा मज्जागते रुक् च न कदाचित् प्रशाश्यति ।

अप्रवृत्तिः प्रवृत्तिर्वा विह्वंतिः शुक्रगोऽनिले ॥२८॥

(धातुगतलक्षण—) त्वचा में कुपित हुई वायु (त्वचा का) वर्ण बिगाड देती है, फड़काव (Twitching) पैदा करती है, रुद्धता, स्पर्शज्ञान (Numbness), सुसुप्ताद (Tingling), तीव्र पीड़ा, तथा छोट और बड़े दरार उत्पन्न करती है ॥२४॥ रक्त में कुपित हुई वायु द्रव्य उत्पन्न करती

लोमां से नमस्कृत यह वायु मव जीवों को चैतन्य देने वाला (सर्वांगमा) है ॥१५,५॥ (स्थावरजगामात्मक) भूतों की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का कारण है, (स्वय) अदृश्य है (परंतु) उसके कार्य प्रकट होते हैं, सत्ता, शीत, लघु और घ्नर है ॥१॥ सर्व शरीर में घूमने वाला है, (शब्द और स्पर्श ऐसे) दो गुण युक्त है; (त्रिगुणात्मक होने पर भी) रजोगुण प्रधान है, अविन्यस्त है, दोनों का प्रयत्न करने वाला है, दोनों के (कारण) समूह में आद्य है ॥१॥ शीघ्र कार्य करने वाला है, सर्व गतिमान है, और (त्रिगुणतया) पञ्चायत तथा गुदा में उसका स्थान है ।

यत्तद्वय—अव्यक्त—अव्यक्त सूक्ष्म होने के कारण अव्यक्त, अमूर्त या अरूपमूर्ति । तिर्यग्—उर्ध्वोपरिर्नयमा । दिग्व-स्पर्श शब्द गुण युक्त-महाभूतानि स वायुरमितीय श्रितिलया । शब्द स्वभाव रूप च रमो गन्धश्च तद्गुणा ॥ तेषामेक गुण पूर्वो गुणद्वि पोर पर । पूर्व पूर्वगुणश्च क्रमशो गुणेषु स्थित । (शरक, ग्रा ?) । दोषानां मना—दोष धातु और मनों का प्रेरक—चित्त पक्ष पर पक्षो मलप्रभाव । वायुना पच नीचने तत्र बन्धिनेपवत् ॥ (शाईशर) । रोगानुदरद—रोगों के कारणों में सर्वश्रेष्ठ—विमुक्ताशुकारित्वात् क्लेशद चक्षेपणम् । रोगानुदरदुरोपलक्षणेण प्रवृत्तमित्येव । (बाभट) । शयणनाश श्लेष्मनाश रोगा मनीषसर्वावपवाङ्मनाश । ये सन्ति तेषां त मु र्धन्यो बन्धो पर जमनि हेतुरिति । (वाक् विमिदि, ?) । अनुदर शी—शीघ्र विहार करने वाली, शीघ्र विनाश करने वाली, या शारीर स्वरूप के (acute) विहार उत्पन्न करने वाली । मुमुक्षु शी—प्राकृतिक अवस्था में भी सर्व गतियुक्त—अप्यहृदयमन्थनस्यागम्य मक्री स्थित । वायु स्वल्पेऽधिक शीरे हीनरोप मन्थनम् ॥ (शरक) ।

घेदे पित्ततस्तस्य लक्षणानि निबोध मे ॥८॥
दोषधातवशिसमतां संप्राप्तिं विनयेयु च ।
मियाणामानुलोम्य च करोत्यनुपितोऽनिल ॥९॥
इह में विचारने वाली उम वायु के लक्षण शुभ से समक लो ॥८॥ अविद्युत वायु शीत, पातुओं और जठराग्नि की समता (शब्दादि इन्द्रियों के) विरथों में (समन्वक इन्द्रिया का) अभिव्यंघ तथा (पच क्रीडोर्त्वा की वच मारि) क्रियाओं में हींरु ठीक प्रवृत्ति करती है ॥९॥

यत्तद्वय—चरकमहिता के वातवायुधर्म्य व्याप्य (मु १२) में शरीर अविद्युत वायु के कर्मों का सुन्दर विवरण किया गया है—अनुपितोऽनिल, पच क्रीडते, अनुदर इत्यन्तः, शीतः, पातुः, अविद्युत इत्यन्तः । यद्यपि पञ्चधाभिधो नाम स्थानमकर्मभि निबोधित्विहासादो नो नमभ्यान्विषयामय ॥१०॥ प्राणोऽग्नी समन्वध ध्यात्वायन एव य । सासासा मरतां पञ्च मारणित शरीरि ॥११॥

(वायु के पांच भेद—) जैमे नाम के कारण (अथप्रथम अन्वय में) चित्त एवं विभक्त हुआ है, उसी भाँति एक ही वायु नाम और रोगा के कारण पांच प्रकार में विभक्त हुआ प्राण, उदान, समान, व्यान और अणान (साम्यावस्था में किंवा अपने विशेष स्थान में पाँच वायु जीवों (के शरीरों) को धारण करती है वायुर्यो चक्रसंचारी स प्राणो नाम देह सोऽन्तं प्रवेशयत्यन्त प्राणाश्चाप्यवर्त प्रायश कुरते दुष्टो ह्यिहाश्वासादिकान् ग (प्राणवायु—) जो मुख में संचार करती है नाम से प्रसिद्ध इह धारण करने वाली वायु है वही अन्न को (महाप्योक्त) भीतर प्रविष्ट करती है, व का अवलोकन करती है ॥१२॥ (तथा) करती हो । दिचकी, ध्यान इत्यादि रोग उत्पन्न करती है ।

यत्तद्वय—वचनचारी—वचनचरित्तमन्थनम् मूर्धोरकण्डलादिकानि प्रणस्य स्थानम् । (बाभट) प्राणो मूर्धन्यवस्थित कण्ठोरशर । (अष्टांगसमर) । प्राणनिनीति प्राण, प्राणयतीति वा प्राण । प्रथमोऽप्यु कार्य जीवन के लिये निम्नान्त आवश्यक है और इस के साथ हम वायु का घनिष्ठ संबंध होने के कारण 'प्राण' वायु कहते हैं—नत प्राणो मूर्धन्यवस्थित कण्ठोऽपि द्विवह्वरवमन्थनीधाराशरीरतन्वत्प्रारम्भमथोपलक्षणात्तत्रो य ॥ (अष्टांगसमर) । नाभिस्य प्राणववन शशुः इत्यन्त कण्डलद्विर्धिविवादि पशु विष्णुवाद्युतम् ॥ शीतः वायुर्यो र्वायुनि वेग । शीघ्रपरेमरित्तु जीवचक्रदरानम् ॥ (शाईश प्राणान्—उदानादि शेष वायुओं को—अणोऽग्नी भवज समानेऽन स्वपेत्तर्धे प्राण शति ॥ (वृहदारण्यकोपनिषद्) पित्त अन्न के अनुसार प्राणवायु शेष वायुओं को उद्यत करती है—वचनचर (चित्त) सेवानां चित्तमन्थनम् । धर कर्णि । स वचन एव सेवानां भेद्यमाननां अमुप र्धु (शुशुभ, मूल २१) । प्राणो नय—प्राण इति प्रविष्ट ।

उदानो नाम यत्सूर्यंमूर्धनि पवनोऽसम् ॥
भ्रापित्वागीतादिविशेषोऽमिप्रयर्तते ।
उपजन्मुमान् रोगान् करोति च विशेषतः ॥१४
(उदान वायु—) जो पचनधत वायु ऊपर की तरफ चली है, यह 'उदान' है ॥१३॥ रथी से संशयप्य लुहृणदि विशेष किया है प्रकृ शरीर है । और (विद्युत शीत पर बड़ी वायु) विद्युत करक अन्वज्जुगल (वचन, वचन मुग नामा और गिर के) रोग उत्पन्न करती है ॥१४॥
यत्तद्वय—नत नमन्—नमन् मन्थनम् उद्यतम् लक्षणात् (बाभट) ।
सामपञ्चागययतः शमानो वद्विगहनः ।
सोऽन्तं पचति तप्रांश्च विशेषाभ्यपिनक्ति हि ॥१५॥
मुग्धातिगमार्त्वात्प्राणचारी कर्ते

(समानवायु—) आमाशय और पक्षाशय में विचरने वाली 'समान' नामक वायु जठराग्नि की सहायता कर अन्न को पचाती है; और अन्नपरिपाकाजन्य पदार्थविशेषों को (रस, दोष, मूत्र इत्यादि में) पृथक् करती है ॥१५॥ (और विकृत होने पर) गुल्म, मंदाग्नि, अतीसार प्रभृति रोगों को उत्पन्न करती है ।

कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंचह्नोद्यतः ॥१६॥

स्वेदासृक्क्ष्मावणश्चापि पञ्चधा चेष्टयत्यपि ।

क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् प्रायशः सर्वदेहगान् ॥१७॥

(व्यानवायु—) समस्त शरीर में विचरने वाली 'व्यान' नामक वायु रस प्रेरणा में प्रवृत्त रहती है ॥१६॥ स्वेद और रक्त का स्रवण करती है तथा (शरीर में) पाँचों प्रकार के कर्म करती है; और विकृत होने पर सर्वदेहाश्रित रोगों को उत्पन्न करती है ॥१७॥

चक्रव्य—कृत्स्नदेहचरः—व्यानवायु का प्रधान स्थान हृदय है—व्यानो हृदि स्थितः ॥ (चाग्भट) । परन्तु रससंचहन के कारण वह सर्व शरीर में संचार करने वाली कहलाती है । रससंचहन—रसविज्ञेय । आधुनिक परिभाषा में इसको रक्तपरिभ्रमण (Blood-circulation) कहते हैं । रस कहने का अर्थ यह है कि आधुनिक परिभाषा से रक्त 'रंजितरस' ही जाता है—रंजितास्तेजसा त्वापः शरीरस्थेन देहिनाम् । अत्यापन्नाः तत्रेन रक्तमित्यभिधीयते ॥ (सूत्र, अ. १४) । असृक्क्ष्मावणः—शरीर में रक्त का परिभ्रमण हृदय से धमनियों में, धमनियों में, धमिकाओं में, धमिकाओं से सिराओं में और सिराओं से कर हृदय में होता है । परन्तु केवल रक्तवाहिनियों में इस प्रकार के चक्रव्य परिभ्रमण होने से रक्त के द्वारा शरीर के समस्त धातुओं की वृद्धि नहीं हो सकती । अतः इन रक्तवाहिनियों से रक्त का स्रवण शरीर के समस्त अंगों में होना नेतात आवश्यक है । रक्तस्रवण का कार्य व्यानवायु कराती है और जिन रक्तवाहिनियों में यह कार्य होता है वे सौम्य कहलाती हैं—ध्यानान्द्रमन्यः, स्रवणात् स्रोतांसि, सरणात् सिराः ॥ (चाग्भट) । आधुनिक शारीरकार्यविज्ञान के अनुसार भी यह सिद्ध हुआ है कि जब रक्तस्रोतसों या धमिकाओं (Capillary) में बहता है तो थोड़ा सा रस उनकी पतली पतली दीवारों में से छनकर (स्रवण) बाहर के धातुओं में मिला करता है, और इसी रस से पौष्टिक पदार्थ ग्रहण कर धातु घुट होते हैं । इसी दृष्टि से आधुनिक में लिखा है—स (रसः) तु व्यानेन विक्षिप्तः सर्वान् धातून् प्रतर्पयेत् ॥ (सूत्रस्थान, अ. ४६) (घृष्ट ८१ देखी) । पञ्चधा—'गत्यपक्षेपणोत्क्षेपनिमेयोन्मेषणादिकाः' ॥ (अष्टांगहृदय) । सर्वशरीरग—ज्वरातीसार रक्तपित्त-प्रभृतिरोग ।

पकाधानालयोऽपानः काले कर्पति चाप्ययम् ।

समीरणः शकृन्मूत्रशुक्रगर्भतिवान्यधः ॥१८॥

क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् घोरान् वस्तिशुदाश्रयान् ।

(अपानवायु—) अपानवायु पक्षाशय में रहती है; और वही वायु मल, मूत्र, शुक्र, गर्भ और आर्तव को (योग्य) समय पर नीचे की ओर कर्षण करती (निकालती) है

॥१८॥ यही विकृत वायु वस्ति और शुदा के भयंकर रोग उत्पन्न करती है ।

शुक्रदोषप्रमेहस्तु व्यानापानप्रकोपजाः ।

युगपत् कुपिताश्चापि देहं भिन्दुरसंशयम् ॥१९॥

(मिश्रवायु—) वीर्यविकार और प्रमेह व्यान और अपान वायु के कोप से उत्पन्न होते हैं । एक समय कुपित हुई पाँचों वायु निःसंदेह शरीर का नाश कर देती हैं ॥१९॥ अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि नानास्थानान्तराश्रितः ।

वहुशः कुपितो वायुर्विकारान् कुरुते हि यान् ॥२०॥

अब इसके आगे नाना स्थानों में स्थित हुई वायु कुपित होने पर प्रायः जिन जिन रोगों को करती है, उनको कहता हूँ ॥२०॥

वायुरामाशये क्रुद्धश्छर्द्यादीन् कुरुते गदान् ।

मोहं मूर्च्छां पिपासां च हृद्ग्रहं पार्श्ववेदनाम् ॥२१॥

पकाशयस्थोऽन्नकूजं शूलं नाभौ करोति च ।

कृच्छ्रमूत्रपुरीपत्वमानाहं त्रिकवेदनाम् ॥२२॥

श्रोत्रादिष्विन्द्रियवधं कुर्यात् क्रुद्धः समीरणः ॥२३॥

आमाशय में कुपित हुई वायु मोह (Vertigo चक्कर), मूर्च्छा, तृषा, हृद्ग्रह (Anginal attacks), पार्श्वपीडा, वमन इत्यादि विकारों को करती है ॥२१॥ पकाशय स्थित (कुपित हुई वायु) गुद्गुद् (Borborygmus), नाभि के आस पास शूल (Colic), मल और मूत्र के उत्सर्ग में कष्ट, अफारा और त्रिकस्थान में पीडा करती है ॥२२॥ कर्णादि इन्द्रियों में कुपित हुई वायु इन्द्रियों का घात करती है ॥२३॥

चक्रव्य—आमाशय—पेट तथा उरोविभाग (Thorax) । पकाशय—उदर विभाग (Abdomen) । इन्द्रियवधं—कर्णों में कुपित होने से श्रुतिनाश, नेत्र में कुपित होने से दृष्टिनाश इत्यादि ।

वैवर्ण्यं स्फुरणं रौक्ष्यं सुप्तिं चुसुचुमायनम् ।

त्वक्स्थो निस्तोदनं कुर्यात् त्वग्भेदं परिपोटनम् ॥२४॥

ज्वरांश्च रक्तगो, ग्रन्थीन् सशूलान् मांससंश्रितः ।

तथा भेदःश्रितः कुर्याद्ग्रन्थीन्मन्द्रजोऽन्नणान् ॥२५॥

कुर्यात् सिरागतः शूलं सिराकुञ्चनपूरणम् ।

स्नायुप्राप्तः स्तम्भकम्पौ शूलमात्तेपरं तथा ॥२६॥

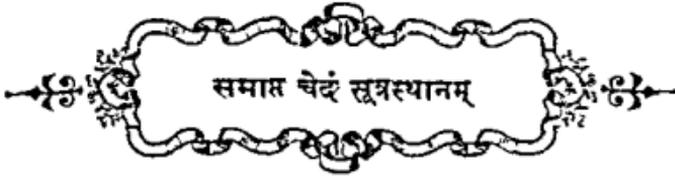
हन्ति सन्धिगतः सन्धीन् शूलशोफौ करोति च ।

अस्थिशोषं च भेदं च कुर्याच्छूलं च तच्छ्रितः ॥२७॥

तथा मज्जगते रुक् च न कदाचित् प्रशास्यति ।

अप्रवृत्तिः प्रवृत्तिर्वा विकृतिः शुक्रगोऽनिले ॥२८॥

(धातुगतलक्षण—) त्वचा में कुपित हुई वायु (त्वचा का) वर्ण बिगाड़ देती है, फड़काव (Twitching) पैदा करती है, रुद्धता, स्पर्शाज्ञान (Numbness), चुम्बुमाट (Tingling), तीव्र पीडा, तथा छोटे और बड़े द्वारा उत्पन्न करती है ॥२४॥ रक्त में कुपित हुई वायु ज्वर उत्पन्न करती



समाप्त चेदं सूत्रस्थानम्

श्रीः ।

सुश्रुतसंहिता ।

निदानस्थानम् ।

प्रथमोऽध्यायः ।

अथातो वातव्याधिनिदानं व्याख्यास्यामः ।

गोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

श्रव यहाँ से वातव्याधिनिदान का व्याख्यान करते हैं, कि भगवान् धन्वन्तरि ने वर्णन किया ॥१॥

वक्तव्य—वातव्याधि—केवल वात से उत्पन्न होने वाले

—वातजनितोऽसाधारणव्याधिर्वातव्याधिः । (मधुकोश

प्या) वात के अनुसार पित्त और कफ के भी ऐसे

न्यत्र रोग होते हैं । चरक वात के अस्सी, पित्त के चालीस

(कफ के बीस रोग वर्णन कर इनको 'नानात्मज' कहते हैं—

विकाराः सामान्यजा नानात्मजाश्च; तत्र सामान्यजाः पूर्वमष्टोदरीये

व्याताः । नानात्मजास्त्रिंशद्वाध्यायेऽनुव्याख्यास्यामः । तद्यथा—

तिर्वातविकाराः, चत्वारिंशत्पित्तविकाराः, विंशतिः श्लेष्मविकाराः ।

इत्यस्थान, अ. २०) । निदान—रोगविज्ञान का हेत्वादि

विध निदान ।

धन्वन्तरिं धर्मभृतां वरिष्ठममृतोद्भवम् ।

वरणाधुपसंगृह्य सुश्रुतः परिपृच्छति ॥२॥

गयो! प्रकृतिभूतस्य व्यापन्नस्य च कोपनैः ।

आनं कर्म च रोगांश्च वद मे वदतां वर । ॥३॥

धार्मिकों में श्रेष्ठ, अमृतोत्पत्ति के साथ उत्पन्न हुए

धन्वन्तरि (भगवान्) से (महर्षि) सुश्रुत दोनों चरण

झुकर घुँटने लगे ॥२॥ हे व्याख्याताओं में श्रेष्ठ भगवान् !

इन और प्रकोपक कारणों से विकृत वायु के स्थान, कर्म

र रोग मेरे प्रति वर्णन कीजियेगा ॥३॥

वक्तव्य—अमृतोद्भवम्—अमृतेन सह उद्भव उत्पत्तिर्वन्म्य तम् ।

उद्भवमेव के समय अमृतलुम्भ हाथों में लेकर जिसकी

पत्ति हुई है ऐसे धन्वन्तरि भगवान् से—मन्थान मन्दर कृवा

। इत्या च वामुकिम् । तनी मधितुमारथा म्नेय तरसाहृत्तम् ॥....

॥ धन्वन्तरिर्देवः श्वेतान्वरधरः स्ववम । विश्रव कमण्डलुं पूर्णममृतम्

दिपाः ॥ (विष्णुपुराण, प्रथमांश, अ० ९) । उनी समय

भगवान् विष्णु ने धन्वन्तरि को वर दिया था कि तुम पृथिवी पर काशिराज के गोत्र में अवतीर्ण होकर अष्टांग आयुर्वेद उत्पन्न करोगे—धन्वन्तरिस्तु दीर्घतमसोऽभूत् । भगवता नारायणेन च अतीतसंभूतावस्मै वरो दत्तः । काशिराजगोत्रेऽवतीर्थ त्वमष्टया सम्यगायुर्वेदं करिष्यसि, यशभाग् भविष्यसीति ॥ (विष्णुपुराण, चतुर्थी, अ. ८) । कोपन—प्रकोपक कारण, यथा समान गुण, कर्म और द्रव्य । वायु के प्रकोपक कारणों का विचार सूत्रस्थान के व्रणप्रश्न नामक २१वें अध्याय के 'तत्र बलवद्विग्रहातिव्यायाम' इस सूत्र में पृष्ठ १३५ पर किया गया है । स्थानं कर्म च रोगांश्च—साधारण और भेद के अनुसार विशेष स्थान, कर्म तथा वातविशेष रोग । व्रणप्रश्न अध्याय में पित्त और कफ के साधारण तथा भेद के अनुसार विशेष कर्म और स्थान वर्णन किये गये हैं, परंतु रोगों का वर्णन कहीं भी नहीं मिलता । आयुर्वेदिक ग्रंथों में विजयरक्षित केवल वात रोगों के वर्णन करने का कारण मधुकोशव्याख्या में देते हैं—एवं व्यवस्थिते वातव्याधिवत् पित्तकफव्याधी कस्माच्चोक्तौ ? उच्यते—वायोरतिबलत्वेनाशुकारित्वेन च गरीयस्त्वात्तादिकारणां दुःसाध्यत्वादाश्वेवात्यकरत्वादिशिष्टचिकित्सात्वाद्वातव्याध्यभिधानं, नतु कफपित्तव्याध्यभिधानम् । अत एव चरकसुश्रुतादिव्यपि वातरोगाध्याय एव निर्दिष्टे नतु पित्तकफरोगाध्यायः ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा प्रात्रवीङ्घ्रिपजां वरः ।
स्वयंभूरेष भगवान् वायुरित्यभिशुचितः ॥४॥
खातन्याशित्यभावाच्च सर्वगतत्वात्तथैव च ।
सर्वेषामेव सर्वात्मा सर्वलोकनमस्कृतः ॥५॥
स्थित्युत्पत्तिविनाशेषु भूतानामेव, कारणम् ।
अव्यक्तो व्यक्तफर्मच रूढः शीतो लघुः खरः ॥६॥
तिर्यग्गो द्विगुणश्चैव रजोबहुल एव च ।
अचिन्त्यधीर्यो दोषाणां नेता रोगसमूहराट् ॥७॥
आशुकारी मुहुश्चारी पक्षाधानशुदालयः ।

(वायु का स्वरूप—) इस प्रकार सुश्रुत का वचन सुन कर धन्वन्तरि बोले कि स्वतन्त्र, नित्य और सर्वगामी होने से यह भगवान् वायु स्वयंशु कहा जाता है; सर

सोमों से तमस्तृण यह वायु मय जीवों को चैतन्य देने काग (सर्वांगमा) है ॥११,५॥ (स्थावरजगामाग्रक) भूतों की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का कारण है, (स्य) अदृश्य है (प्राण) उसके कार्य प्रकट होते हैं, श्वा, गीत, मनु और वर है ॥१॥ सर्वे शरीर में घूमने वाला है, (शब्द और शक्ति) से ही गुण युक्त है; (त्रिगुणात्मक होने पर भी) शक्तोगुण-प्रधान है; अविन्ययानि है, दोहों का प्रेरण करने वाला है, रोगों के (कारण) समूह में आता है ॥३॥ शीघ्र कार्य करने वाला है; सर्वैव गतिमान् है; और (विशेषतया) पद्मामय तथा गुदा में उसका स्थान है ।

वृक्षद्वय—भव्यक—अप्यन सुदम होने के कारण अग्रवक्, अग्रमं वा अग्रम्यमूर्ति । विदेग—ऊर्ध्वार्धनिर्दिश्या । दिगु—शरीर शब्द गुण युक्त-अहभूति रा का प्रतिष्ठा विनिम्बवा । शब्द शब्द रूप च रणे गन्ध तद्गुण ॥ तेषामर गुण पूर्वो गुणवि परे परे । पूर्व पूर्वगुणैव प्रमती गुणित्त्वम् । (चरक, भा १) । दोषाणां नशा—दोष धातु और मनो का प्रेरक—पित्त वरु कर्त वरु वरु मलभवन । वायुना वय नीयने लभ वरुनि मेवेष ॥ (शाक्रेष्व) । रोगमनुदत्त—रोगों के कारणों में सर्वश्रेष्ठ—विमुक्त-रनुक रित्वात्किवात्प्रवेवन्त् । तत्कन्यादुष्टोत्पन्न-दोषनां प्रवेदोऽनिल ॥ (चारभट) । श्वरगण श्रेष्ठगणा-रोगा मर्मेऽंससर्ववराद्गुणश्च । ये सन्ति तेषां न तु कश्चिदप्यो वयो वा न्यमिति हेतुरस्ति । (चरक, सिद्धि, १) । आशुक्-रो—शीघ्र विकार करने वाली, शीघ्र विनाश करने वाली, या दारुण स्वरूप के (Leute) विकार उत्पन्न करने वाली । सुदुश्चरी—प्राकृतिक अवस्था में भी सर्वैव गतियुक्त—अव्याह्वानिवयव स्वात्मश्च प्रकृतौ स्थित । वायु स्वस्त्वोऽधिक जीवे द्वैतगण समा शनम् ॥ (चरक) ।

देहे विचरतस्तस्य लक्षणाणि निबोध मे ॥८॥
दोषधान्वग्निममतां संप्राप्तिं विपर्येयु च ।

क्रियासामानुलोम्य च करोत्यकुपितोऽनिल ॥९॥
देह में विचरने वाली उम वायु के लक्ष्य युक्त मे समक सा ॥८॥ अविहृत वायु दोषों, धातुओं और अडाभि की ममता, (शब्दादि इन्द्रियों के) विपर्यय में (समनस्क इन्द्रियों का) अन्तिमश्च तथा (पच कर्मिन्द्रियों की वच नादि) क्रियाओं में ठीक ठीक प्रवृत्ति करती है ॥९॥

वृक्षद्वय—चरकसंहिता के वातकालकलीय अध्याय (सू १२) में शरीरचर अविहृत वायु के कर्मों का सुन्दर विवरण किया गया है—वायुला-वक्त्रपर, प्रवर्तकश्रेष्ठानामुच्चा वचना, नियन्ता प्रणेता च मनन, मोक्षिद्रियाणामुद्योक्ता, सर्वेन्द्रि वणामभिदोम, सर्वररीषणानुद्धारक, सधनकर शरीरल, सर्वकरो वाच, प्रकृति शब्दस्पर्शी, भोवमसंनयोर्ध्व, हर्षोत्साहवोर्ध्वनि, वायुगोष्ठ्य, दोषपराज, शैला बहिर्भ्राना, स्थूल सुतोऽन्ता मता, कर्ण गर्भाकुलीनाम्, आतुषोऽनुपश्रुतिप्रामयभूतो भवत्यकुपित ॥

यथाऽग्निं पञ्चधा भिन्नो नामस्थानात्मकर्मभिः ।
भिन्नोऽनिलस्तथा ह्येको नामस्थानक्रियामयैः ॥१०॥
प्राणोऽनौ समानश्च व्यानश्चापान एव च ।
स्थानस्था मारुता पञ्च यापयन्ति शरीरिणम् ॥११॥

(वायु के पाँच भेद—) जैमे नाम, स्थान और क्रिया के कारण (अथप्रथम अष्टाध्याय में) पित्त पाँच प्रकार विभक्त हुआ है, उसी भाँति एव ही वायु नाम, स्थान, पि और रोगों के कारण पाँच प्रकार से विभक्त हुआ है ॥१ प्राण, उदान, समान, स्थान और अपान एसी स्थान (साम्यापन्या में हिंसा अपने विशेष स्थान में स्थित हुए पाँच वायु जीवों (के शरीरों) को धारण करती हैं ॥१॥

वायुर्यो वक्रसंचारी स प्राणो नाम देहदृष्टः ।
सोऽग्ने प्रवेदायत्यन्तः प्राणोऽध्याप्यवलयमपने ॥
प्रापयशुचये दुष्टो द्विष्वाभ्यासादिकान् गदान् ।

(प्राणवायु—) जो भ्रम में मंचार करती है, वह प्राण नाम से प्रसिद्ध देह धारण करने वाली वायु है, वही प्राण अन्न को (सदाप्रोक्त के) भीतर प्रविष्ट करती है, और प्राण को अवनवन करती है ॥१२॥ (तथा) विकृत हो जाने । दिष्टही, भ्राम हत्यादि रोग उत्पन्न करती है ।

वृक्षद्वय—वक्त्रवपरी—वक्त्रवपारितमसदोपवृक्षान्, ते मूर्धोरकण्ठागमिहःप्रि प्रारय स्थानम् । (दलहृ) । प्राणो मूर्ध्ववस्थित वक्षोरक्षः । (अष्टांगामसद) । प्राण-प्रयतिर्नि प्राण, प्राणवैति वा प्राण । (अष्टांगामसद) । कार्य जीवन के विषये निदान आशय्यक है और इस को के साथ इस वायु का घनिष्ठ संबंध होने के कारण इस प्राण वायु कहते हैं—न प्राणो मूर्ध्ववस्थित वक्षोरक्षो दुर्दन्द्रियस्त्वमनःपमनीषाणोऽननुवप्रापयथाशोऽननुवप्रापयति ॥ (अष्टांगामसद) । नाशिय प्राणवत्त सुष्टु ह्कन्यन्तल कण्ठद्विर्निर्निर्वाणि वायु विष्णुपदात्तम् ॥ शीवा चामरवेत्तु उन रावति वेगन । प्रीगपन्धमसिक्थ जीवपञ्चटपानलम् ॥ (शाक्रेष्व) । प्राण्य—उदानादि श्रेष्ठ वायुओं को—अग्नेऽपानो स्थान उदान समानोऽन इत्येतन्मर् प्राण इति ॥ (बृहदारण्यकोपनिषद्) । पित्त और कफ के कारण प्राणवायु श्रेष्ठ वायुओं को अन्न लयन करती है—नवरथेष्वेव (पित्त) शेषाणां पित्तस्थानान् च म्द म्द करोति । स तत्रैव एव शेषाणां केष्वप्यानानां अनुमद करोतिः (सुश्रुत, सूत्र २१) । प्राणो नाम—प्राण इति प्रसिद्ध ।

उदानो नाम यस्तुर्ध्वमुपैति पवनोऽसमः ॥१३॥
तेन भाषितगीताद्विद्विशेषोऽभिभवर्तते ।
ऊर्ध्वजनुगतान् रोगान् करोति च विशेषतः ॥१४॥

(उदान वायु—) जो पवनश्रेष्ठ वायु ऊपर की तरफ करती है, वह 'उदान' है ॥१३॥ उसी से सभाषय, मान हत्यादि विशेष क्रियाएँ प्रवृत्त होती हैं, और (विकृत होने पर वही वायु) विशेष करके ऊर्ध्वजनुगत (नयन, कर्ण, मुख, नासा और शिर के) रोग उत्पन्न करती है ॥१४॥

वृक्षद्वय—उदान का स्थान—उर स्थानमुदानय नामानग्नि गन्धश्रेष्ठ ॥ (वाग्भट) ।

आमपकाशयचरः समानो वह्निसङ्गतः ।
सोऽग्ने पचति तज्जांश्च विशेषान्विचिनक्ति हि ॥१५॥
गुल्माग्निस्तादातीसारप्रभृतीन् कुरते गदान् ।

(समानवायु—) आमाशय और पक्काशय में विचरने से 'समान' नामक वायु जठराग्नि की सहायता कर अन्न पचाती है; और अन्नपिपाकाजन्य पदार्थविशेषों को (रस, मूत्र इत्यादि में) पृथक् करती है ॥१५॥ (और विकृत पर) गुल्म, मंदाग्नि, अतीसार प्रभृति रोगों को ज्ञ करती है ।

स्वदेहचरो व्यानो रससंवहनोद्यतः ॥१६॥

दासृक्सावणश्चापि पञ्चधा चेष्टयत्यपि ।

इत्थं कुरुते रोगान् प्रायशः सर्वदेहगान् ॥१७॥

(व्यानवायु—) समस्त शरीर में विचरने वाली 'व्यान' मूत्र वायु रस प्रेरण में प्रवृत्त रहती है ॥१६॥ स्वेद और रस का स्रवण करती है तथा (शरीर में) पाँचों प्रकार के काम करती है; और विकृत होने पर सर्वदेहाश्रित रोगों को उत्पन्न करती है ॥१७॥

वक्तव्य—रक्तदेहचरः—व्यानवायु का प्रधान स्थान रक्त है—व्यानो हृदि स्थितः ॥ (वाग्भट) । परन्तु रससंवहन कारण वह सब शरीर में संचार करने वाली कहलाती है । रससंवहन—रसविक्षेप । आधुनिक परिभाषा में इसको रक्तपरिचरण (Blood-circulation) कहते हैं । रस कहने का अर्थ यह है कि आधुनिक परिभाषा से रक्त 'रंजितरस' ही होता है—रंजितास्तेजसा त्वापः शरीरस्थेन देहिनाम् । अव्यापताः सन्नेन रक्तमित्यभिधीयते ॥ (सूत्र, अ. १४) । असृक्सावणः—शरीर में रक्त का परिभ्रमण हृदय से धमनियों में, धमनियों से केशिकाओं में, केशिकाओं से सिराओं में और सिराओं से फिर हृदय में होता है । परन्तु केवल रक्तवाहिनियों में इस प्रकार चक्रवत् परिभ्रमण होने से रक्त के द्वारा शरीर के समस्त धातुओं की वृद्धि नहीं हो सकती । अतः इन रक्तवाहिनियों से रक्त का स्रवण शरीर के समस्त अंगों में होना नितांत आवश्यक है । रक्तस्रवण का कार्य व्यानवायु कराती है और जिन रक्तवाहिनियों में यह कार्य होता है वे स्रोतम् कहलाती हैं—ध्यानाद्गमन्यः, स्रवणात् स्रोतांसि, सर्णात् सिराः ॥ (चरक) । आधुनिक शारीरकार्यविज्ञान के अनुसार भी यह सिद्ध हुआ है कि जब रक्तस्रोतसों या केशिकाओं (Capillary) में बहता है तो थोड़ा सा रस उनकी पतली पतली दीवारों में से छनकर (स्रवण) बाहर के धातुओं में मिला करता है, और इसी रस से पौष्टिक पदार्थ ग्रहण कर धातु पुष्ट होते हैं । इसी दृष्टि से आयुर्वेद में लिखा है—स (रसः) तु व्यानेन विक्षिप्तः सर्वान् धातून् प्रतपेत् ॥ (सूत्रस्थान, अ. ४६) (पृष्ठ ८१ देखो) । पञ्चधा—(गल्पपक्षेपणोत्क्षेपनिमेषोन्मेषणादि-कारः ॥ (अष्टांगहृदय) । सर्वशरीरग—ज्वरातीसार रक्तपित्त-प्रभृतिरोग ।

पकाधानालयोऽपानः काले कर्षति चाप्ययम् ।

समीरणः शङ्खमूत्रशुक्रगर्भार्तवान्यधः ॥१८॥

कुञ्जश्च कुरुते रोगान् घोरान् वस्तिगुदाश्रयान् ।

(अपानवायु—) अपानवायु पक्काशय में रहती है; और वही वायु मल, मूत्र, शुक्र, गर्भ और आर्तव को (योग्य) समय पर नीचे की ओर कर्षण करती (निकालती) है

॥१८॥ यही विकृत वायु वस्ति और गुदा के भयंकर रोग उत्पन्न करती है ।

शुक्रदोषप्रमेहास्तु व्यानापानप्रकोपजाः ।

युगपत् कुपिताश्चापि देहं भिन्ध्युरसंशयम् ॥१९॥

(मिश्रवायु—) वीर्यविकार और प्रमेह व्यान और अपान वायु के कोप से उत्पन्न होते हैं । एक समय कुपित हुई पाँचों वायु निःसंदेह शरीर का नाश कर देती हैं ॥१९॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि नानास्थानान्तराश्रितः ।

बहुशः कुपितो वायुर्विकारान् कुरुते हि यान् ॥२०॥

अब इसके आगे नाना स्थानों में स्थित हुई वायु कुपित होने पर प्रायः जिन जिन रोगों को करती है, उनको कहता हूँ ॥२०॥

वायुरामाशये कुञ्जश्छर्द्यादीन् कुरुते गदान् ।

मोहं मूर्च्छां पिपासां च हृद्ग्रहं पार्श्ववेदनाम् ॥२१॥

पकाशयस्थोऽन्नकूजं शूलं नाभौ करोति च ।

कृच्छ्रमूत्रपुरीपत्वमानाहं त्रिकवेदनाम् ॥२२॥

श्रोत्रादिष्विन्द्रियवधं कुर्यात् कुञ्जः समीरणः ॥२३॥

आमाशय में कुपित हुई वायु मोह (Vertigo चक्कर), मूर्च्छा, तृषा, हृद्ग्रह (Anginal attacks), पार्श्वपीडा, वमन इत्यादि विकारों को करती है ॥२१॥ पकाशय स्थित (कुपित हुई वायु) गुडगुड (Borborygmus), नाभि के आस पास शूल (Colic), मल और मूत्र के उत्सर्ग में कष्ट, अफारा और त्रिकस्थान में पीडा करती है ॥२२॥ कर्णादि इन्द्रियों में कुपित हुई वायु इन्द्रियों का घात करती है ॥२३॥

वक्तव्य—आमाशय—पेट तथा उरोविभाग (Thorax) । पकाशय—उदर विभाग (Abdomen) । इन्द्रियवधं—कर्ण में कुपित होने से श्रुतिनाश, नेत्र में कुपित होने से दृष्टिनाश इत्यादि ।

वैवर्ण्यं स्फुरणं रौक्ष्यं सुप्तिं चुसुचुमायनम् ।

त्वक्स्थो निस्तोदनं कुर्यात् त्वग्भेदं परिपोटनम् ॥२४॥

ज्वरांश्च रक्तगो, ग्रन्थीन् सशूलान् मांससंश्रितः ।

तथा भेदःश्रितः कुर्याद्ग्रन्थीन्मन्दरुजोऽन्नणान् ॥२५॥

कुर्यात् सिरागतः शूलं सिराकुञ्जन्नपूरणम् ।

स्नायुप्राप्तः स्तम्भक्रम्पौ शूलमाक्षेपणं तथा ॥२६॥

हन्ति सन्धिगतः सन्धीन् शूलशोफौ करोति च ।

अस्थिशोषं च भेदं च कुर्याच्छूलं च तच्छिद्रतः ॥२७॥

तथा मज्जगते रुक् च न कदाचित् प्रशास्यति ।

अप्रवृत्तिः प्रवृत्तिर्वा विह्वलतिः शुक्रगोऽनिले ॥२८॥

(धातुगतलक्षण—) त्वचा में कुपित हुई वायु (त्वचा का) वर्ण बिगाड देती है, फड़काव (Twitching) पैदा करती है, रूक्षता, स्पर्शाज्ञान (Numbness), चुसुचुमाट (Tingling), तीव्र पीडा, तथा छोट और नड़े द्वारा उत्पन्न करती है ॥२४॥ रक्त में कुपित हुई वायु ज्वर उत्पन्न करती

है । मांसस्थित कुपित वायु शून्युक गोंडे उत्पन्न करती है । मेद स्थित कुपित वायु अल्परीमा युक्त, मणविरहित गाँठ उत्पन्न करती है ॥२९॥ मिराओं में कुपित हुई वायु मिरा-शूल, सिराकुटिलता (Varicosity of Veins) और मिरा-विस्फुति (Phlebectasis) उत्पन्न करती है । प्रायु में कुपित हुई वायु अकटाव, कप, शूल और आक्षेप (Spasms) उत्पन्न करती है ॥२९॥ संधियों में कुपित हुई वायु संधियों का नाश करती है और संधियों में शूल तथा सूजन उत्पन्न करती है । हड्डियों में कुपित हुई वायु हड्डियों का शोष (Osteoporosis), भेद (भुरभुरापन Fragility) तथा अरिधशूल (Ostalgia) उत्पन्न करती है ॥२९॥ मज्जा में कुपित हुई वायु सदा सर्वदा पीड़ा देती है और मज्जा का शोष करती है । शुक्र में कुपित हुई वायु (स्त्रीमज्जा के समय) वीर्य को विलकुल रोकती है, या वीर्य का (प्रायधिक) घाव करती है या (नाना प्रकार के वीर्य के) विकार उत्पन्न करती है ॥२९॥

हस्तपादशिरोधातुस्तथा संचरनि क्रमात् ।
व्यामुयाद्वाऽखिलं देहं वायुः सवृगतो नृणाम् ॥२९॥
स्तम्भनाक्षेपणस्वापशोफशूलानि सचञ्जाः ।

(सर्वशरीरगत वायु)—मनुष्यों के सारे शरीर में कुपित हुई वायु दाह, पांच, सिर तथा (रसादि) धातुओं में संचार करती है, अथवा सारे शरीर में व्याप्त होती है ॥२९॥ ऐसी सर्व शरीर में व्याप्त हुई कुपित वायु जकड़न (Stiffness) आक्षेप (Convulsions) स्वर्णाक्षत, सूजन और शूल करती है ।

स्थानेषुकेषु संमिश्र. संमिश्राः कुरते रुजः ॥३०॥
कुर्याद्वययप्रप्तो मासतस्त्यभि तान् गदान् ।

पूर्वक (आमाशयादि) स्थानों में पित्तादि के संगत हुई कुपित वायु (पित्तादि के लक्षणों से युक्त) संमिश्र स्वरूप की व्याधियाँ उत्पन्न करती है ॥३०॥ और (भिन्न भिन्न) अवयवों में प्राप्त हुई वायु उन अवयवों के अनुसार (तान् अभि) (भिन्न भिन्न प्रकार की) व्याधियाँ उत्पन्न करती है ।

दाहसन्तापमूर्च्छाः स्युर्वायौ पित्तसमन्विते ।
शैत्यशोफशूलत्वानि तस्मिन्नेव कफावृते ॥३१॥

सुखीभिरिच निस्तोदः स्पर्शद्वेषः प्रसुस्रता ।
शेषाः पित्तविकाराः स्युर्मासते शोणितान्विते ॥३२॥

प्राणे पित्तावृते छर्द्दिर्वाहश्चैवोपजायते ।
दौर्घ्यं सदनं तन्द्रा वैचरणं च कफावृते ॥३३॥

उदाने पित्तसंयुक्ते मूर्च्छादाहधमङ्गमा ।
अस्वेदहर्षो मन्दोऽग्निः शीतस्तम्भो कफावृते ॥३४॥

समाने पित्तसंयुक्ते स्वेददादीर्घ्यमूर्च्छानम् ।
कफाधिकं च विरामं रोमहर्षः कफावृते ॥३५॥

अपाने पित्तसंयुक्ते दाहौष्ण्ये स्यादसुन्दः ।
अथ कायशुक्रव्यं च तस्मिन्नेव कफावृते ॥३६॥

व्याने पित्तावृते दाहो गात्रविक्षेपणं ह्रमः ।

गुरुणि सर्वांग्राणि स्तम्भनं चास्थिपर्णाम् ।
लिङ्गं कफावृते व्याने चेष्टाः स्तम्भस्तथैव च ॥

(सावर्ण्य वायु के लक्षण)—वायु वित्त से मिली तो दाह, संताप (Pyrexia) और मूर्च्छा (हत्यादि) दोषविशिष्ट विकार) उत्पन्न होते हैं । और वही कफ मिली हो तो शीतना, सूजन और भारीपन (हत्यादि कफ विशिष्ट विकार) उत्पन्न होते हैं ॥३१॥ वायु के रक्त के र मिश्रने से सुई धुओं की भी पीडा, स्वर्ण सहन न हँ (Hyperthermia), शरीर का सुप्त पड़ना (Anaesthesia) और पित्त के दोष विकार उत्पन्न होते हैं ॥३२॥ प्राणवायु पित्त से संयुक्त होने पर वमन और दाह उत्पन्न होते हैं; क कफ से संयुक्त होने पर कमजोरी, मदन (Asthenia), त- और त्वचा की विचर्यता उत्पन्न होती है ॥३३॥ उदानवायु पित्तसंयुक्त होने से मूर्च्छा, दाह, व्रम और ह्रम ये विष होते हैं । और कफसंयुक्त होने से पसीना न आना, त्व पर रोंगटे खड़े होना (रोमहर्ष), मन्दाग्नि, शैत्य व अकट्टाव ये विकार होते हैं ॥३४॥ समानवायु पित्तसंयुक्त होने से पसीना आना, दाह, सनाप और मूर्च्छा ये विक होते हैं; और कफसंयुक्त होने से मल मूत्र में क्षेप (Mucus बाहुल्य और रोमहर्ष ये विकार होते हैं ॥३५॥ अपानवायु । पित्तसंयुक्त होने से दाह, संताप और (छिन्नों में) रक्त प्र होता है, और कफसंयुक्त होने से शरीर के निचले अंगों भारीपन धाता है ॥३६॥ व्यान पित्तावृत्त होने से दाह, अंग में विक्षेप और अनायास थकावट ये विकार होते हैं; और कफसंयुक्त होने से सब अंगों में भारीपन, अरिधियों के जीव में अकट्टाव, तथा (हृत्पादासार) कार्य करने की असमर्थता (चेष्टारतम्भ) ये लक्षण उत्पन्न होते हैं ॥३७॥

यक्तव्य—वायु का पित्तादि के साथ जो संयोग होत है, उसे 'आवरण' कहते हैं । ये आवरण चाहेस हैं—एति द्वावि रतिविष वायोरावरण विदुः (अष्टांगसंग्रह) । एव दाह्यो दोषाभ्या रतादिभि षट्भिर्भुमि, अग्नेन, मूत्रेण, विशा सर्वशु भि, पुन प्राणादिविषकव्य पिनेन, तद्वन कफेन, इति द्वाविशतिविष वायोरावरणमुक्त्वा । (इन्द्र) । इनमें से भी आवरणों का वर्णन सुश्रुत में नहीं है, जो अष्टांगसंग्रह से दिया जाता है— मासेन कटिन शोषा निवर्गे पि-कारतया । हर्षं पिपीकिकाना च संचार इव जायते ॥ चन क्षिप्तो मृदु शीत शीघ्रो गान्धिवचक । आद्यवपान इति श्रेय सकृच्छ्रो मेदनावृते ॥ स्पर्शमस्वावृतेऽप्युष्ण पीडन चाभिनन्दति । सूचैव तुपुनेऽस्वर्णमङ्ग सीदति शूल्यने ॥ मज्जा वृते विनानम् शून्यकवृतेऽपिनेवो वा न वा निष्कस्तापि वा । मुक्ते कुशौ र्जाजीणे शान्मथप्रावृतेऽपिने ॥ मूत्राणवृत्तिरध्याने बलेभ्योऽङ्गो भवेत् ॥ विद्युत्प्रे विचर्योऽथ खे रणाने परिक्रानति । ब्रज्यासु जता लेदो मुक्ते चानभने नर । शब्द पीडितमन्त्रेन दुःख शुष्क विराम सनेव ॥ सर्वथास्वावृते वायौ शोणितवृत्तगुच्छकम् । विजोभो मासोऽ स्यात्तथ द्रव्य पीडितेऽपि च ॥ (निदान, १६) । अथन्द्र—रक्त मद्र, Metrorrhagia—सर्ववातिप्रसनेन प्रवृत्तमनृणापि । अथन्द्र विजानीपादोऽन्यदकृष्णम् ॥ (शरीर, अ. २) ।

यशः सुकुमाराणां मिथ्याहारविहारिणाम् ।
[काष्ठ] प्रमदामद्यव्यायामैश्चातिपीडनात् ॥३८॥

म्यविपर्यासात् स्नेहादीनां च विभ्रमात् ।

व्यवीर्ये तथा स्थूले वातरक्तं प्रकुप्यति ॥३९॥

(वातरक्त, हेतु—) शोक से, स्त्रीसंग मद्य और व्यायाम अतिसेवन से, ऋतुविरुद्ध आहारविहार करने से, स्नेहादि अनुचित व्यवहार करने से स्त्रीसंग न करने वाले, स्थूल मूल प्रकृति के और मिथ्या आहारविहार सेवन करने वाले नुषों का वातरक्त प्रायः कुपित होता है ॥३८, ३९॥

वक्तव्य—इन श्लोकों में वातरक्त के प्रकोपकारण वर्णन किये हैं । मिथ्याहारविहार—लवणाम्लकडुक्षारतिग्भाष्णाजीर्ण-

जैः । द्वित्रशुष्कान्मुजानूपमांसपिण्याकमूलकैः ॥ कुल्लथमापनिष्पाव-

कादिपल्लेषुभिः । दधारनालसौवीरशुक्तकसुरासवैः ॥ विरुद्धा-

शरानक्रोधविवास्वप्रजागरैः ॥ (चरक) । भजतां विधिदीनं च

भ्रमनगरमैधुनम् ॥ (अष्टांगसंग्रह) । स्नेहादीनां च विभ्रमात्—

श्रेष्ठ स्वेद तथा वमनादि पंचकर्मों के अयोग, मिथ्यायोग और

प्रतियोग से । स्थूले—स्थूलानाम् । वातरक्त—आढ्यरोग सुख

वातबलास वातरोगितम् । तदाहुर्नामभिः ॥ (अष्टांगसंग्रह) ।

श्रेष्ठजी में वातरक्त को गाउट (Gout) कहते हैं । वातरक्त

का वास्तविक कारणा अभी तक अज्ञात है । प्रकोप कारणाँ

मिथ्याहारविहारादि जो कारणा ऊपर वर्णन किये हैं वे

शोक हैं । परन्तु उनमें मद्यातिसेवन, नैट्रोजनयुक्त अर्थात् मांस-

तापीय पदार्थों का अतिसेवन, उसके साथ साथ व्यायामा-

भाव (शचङ्क्रमणशीलिनाम्—चाग्भट), शोक क्रोध चिन्ता

इत्यादि मानसिक विकार, चोट लगना (अभिघाताद—

चाग्भट) इत्यादि प्रधान कारणा हैं । अमीर और आराम-

तन्त्र लोगों में (स्थूलानां सुखिनां—आढ्यरोग—चरक) यह

रोग अधिक दिखाई देता है । स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों

अधिक होता है । ३५ से ५० साल की आयु में यह

रोग अधिक होता है और ५० से ८० प्रतिशत रोगियों में कुलज-

नि दिखाई देती है ।

हस्त्यश्वेष्टैर्गच्छतोऽन्यैश्च वायुः

कोपं यातः कारणैः सेवितैः स्वैः ।

तीक्ष्णोष्णाम्लक्षारशाकादिभोज्यैः

सन्तापावैर्भूयसा सेवितैश्च ॥४०॥

निप्रं रक्तं दुष्टिमायाति तच्च

वायोमार्गं संरुणद्ध्याशु यातः ।

कुडोऽत्यर्थं मार्गरोधात् स वायु-

रत्युद्रिकं दूषयेद् रक्तमाशु ॥४१॥

तत् संपृक्तं वायुना दूषितेन

तत्प्रावल्यादुच्यते वातरक्तम् ।

तद्वत् पित्तं दूषितेनासृजाऽऽक्तं

श्लेष्मा दुष्टो दूषितेनासृजाऽऽक्तः ॥४२॥

(संप्राप्ति—) हाथी, घोड़ा, ऊँट की सवारी पर चलने

१ रोगाध्वमदा० ।

से तथा (लघुरुज्जादि) अन्य वातकारक कारणाँ के सेवन करने से वायु प्रकुपित हो जाती है; और तीक्ष्ण, गरम, खट्टे और खारे शाकादि भोज्य पदार्थों के सेवन से तथा धूप आदि का बार बार सेवन करने से ॥४०॥ रक्त शीघ्र ही दूषित हो जाता है । और वह दूषित हुआ रक्त शीघ्रसंचारी वायु के मार्ग को रोक लेता है । मार्ग रुक जाने से (पहले से ही कुपित हुई) वायु अधिक कुपित होकर अतिदुष्ट रक्त की ओर भी दूषित कर देती है ॥४१॥ (इस प्रकार) दूषित वायु से संसृष्ट वह रक्त वातप्राधान्य के कारण 'वातरक्त' कहलाता है । उसी प्रकार से (प्रबल वायु के द्वारा) दूषित रक्त से संसृष्ट (अक्त) पित्त तथा कफ का विकार भी वातरक्त ही कहलाता है ॥४२॥

वक्तव्य—हस्त्यश्वेष्टैः—हाथी, घोड़ा, ऊँट इत्यादि की सवारी पर अधिक चलने से पाँव नीचे की ओर लटकते हुए

रहते हैं (तत्र पूर्व पादौ प्रधावन्ति । विशेषाधानयानाथैः प्रलवौ ।

(अष्टांगसंग्रह) तथा उन पर चोट भी अधिक लगती है,

जिससे इस रोग का प्रथम दर्शन या प्रादुर्भाव पाँवों में हुआ करता है । संतापाथैः—उष्णे चात्यध्वगमनात् । (चरक) । आशु

यातः—शीघ्रं गच्छतः । मार्गरोधात्—धातुक्षय और मार्गावरोध

इन दो कारणाँ से वातप्रकोप होता है—वायोर्धातुक्षयात् कोपो मार्गस्थावरणेन च ॥ (चरक) । वातरक्तम्—दुष्टेन वातेन दुष्टेन

रक्तेन च विशिष्टप्रस्राप्तिक विकारान्तरमेव ॥ (मधुकोशव्याख्या) ।

इन श्लोकों में वातरक्त की जो संप्राप्ति वर्णन की है उससे यह स्पष्ट है कि वातरक्त में रक्त दूषित हो जाता है । आधुनिक

वैज्ञानिक खोज से भी यह सिद्ध हुआ है कि वातरक्त में रक्तस्थित यूरिक एसिड (Uric acid) तथा यूरेटस् की राशि अधिक होने से वह दूषित हो जाता है । यह यूरिक एसिड नैट्रोजन-

युक्त खाद्य से (Exogenous) तथा धातुक्षय से (Endoge-

nous) उत्पन्न होता है; और वृद्ध से उसका उत्सर्ग मूत्र में होता रहता है । रोग के आक्रमण के पूर्व कुछ दिन यूरिक

एसिड तथा यूरेटस् का मूत्र में उत्सर्ग कम होकर रक्त में उनकी राशि बढ़ने लगती है और किसी अज्ञात कारणा से यह

यूरिक एसिड तथा यूरेटस् अनघुल सोडियम बाययूरेटस् के सूक्ष्म कणाँ के रूप में पृथक् होकर अस्थि, तन्त्रास्थि, संधि,

संधिकला, बंधन, ज्ञायु, त्वचा इत्यादि शरीर के विविध अंगों में बैठ जाना है । इस रोग में विशेष करके पाँव और कर्णपाली में इनका संचय अधिक होता है—कृत्स्नं रक्तं विदह-

त्याशु तच्च सक्तं दुष्टं पादयोश्चैते तु ॥ (माध्वनिदान) । इस विजातीय या असात्म्यपदार्थ के संचय के कारण जो स्थानिक प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, वही वातरक्त है ।

स्पर्शोद्दिश्यौ तोदमेदप्रशोष-

स्वापोपेतौ वातरक्तेन पादौ ।

पित्तासृग्भ्यामुग्रदाहौ भवेता-

मत्यर्थोष्णौ रक्तशोफौ सूदू च ॥४३॥

कण्डूमन्तौ श्वेतशीतौ सशोफौ पीनस्तन्धौ श्लेष्मादुष्टे तु रक्ते । सर्वैर्दुष्टे शोणिते चापि दोषाः स्वं स्वं रूपं पादयोर्दर्शयन्ति ॥४४॥

(वातादि दोषधियोष से लक्षण—) (वातिक) वातरक से दोनों पाँच तीव्र स्पर्शासिद्धिपाना, सुई से चुभने की सी पीड़ा, लवचा विदीर्ण होने की सी पीड़ा, शुष्कता थीर स्पर्श-ज्ञान की कमी इनसे युक्त होते हैं । पित्त और रक्त से (जब वातरक होता है तब) दोनों पाँच तीव्र जलनयुक्त, अत्यन्त गरम, लाल रंग की सृजनयुक्त और मुलायम हाते हैं ॥४३॥ कफ से दूषित (कफाधिक वातरक) हो तो दोनों पाँच कण्डयुक्त, स्फेद, शीतल, माधुयुक्त, मोठे और सुन्न होते हैं । सब दोषों से रक्त दूषित (साक्षिपातिक वातरक) हो तो दोनों पैरों में वातादि दोष अपना अपना रूप दिखाते हैं ॥४४॥

चक्रद्वय—इन श्लोकों में रोग के केवल स्थानिक लक्षण वर्णन किये हैं । परन्तु मन्दाग्नि, तृषा, हृद्दाल, पेट में भारीपन, कब्ज, १०१°-१०२° तक ज्वर इत्यादि सांख्यैदिक लक्षण भी उपस्थित होते हैं । रोग का आक्रमण प्रायः रात्रि के उत्तरार्ध में होता है और पीडा के मारे रोगी की नींद खुलकर वह उठ बैठता है । विकार प्रायः पादाङ्गुल की प्रथम संधि में दिव्याई देता है; परन्तु कभी कभी टखना, घुटना, हाथ की संधियाँ, मणिकष भी विकृत होते हैं । प्रायः पीडा दिन में कम और रात में अधिक होती है । रोगकाल में तथा उमके बाद मूत्र में यूरिक पसिद तथा यूरैक्स की रात्रि अधिक राशि में उत्सर्जित होती है । ५-१४ दिन में ज्वर, सविस्मान की पीडा, सृजन इत्यादि लक्षण घटने लगते तथा धीरे धीरे आते रहते हैं, और रोगी को पहले से ही अधिक अच्छा मान्दम होता है ।

प्राग्भूये शिथिलौ खिन्नौ शीतलौ सविपर्ययो ।
वैधर्यतोवसुत्सत्वगुरुत्वौयसमन्वितौ ॥४५॥

(वातरक के पूर्वरूप—) पूर्वरूप में (दोनों पैर) शिथिल, स्वेदयुक्त, शीतल या स्तम्भित, स्वेदरहित और गरम हांते हैं, तथा विकर्णतायुक्त, पीडायुक्त, सुन्न, भारी और जलनयुक्त होते हैं ॥४५॥

चक्रद्वय—नविपर्ययो—शैथिल्यादि लक्षणों में डेर पेर होता—कण्डयुक्तनिस्सोढोभगौरवसुता । भूला भूला प्रणयनि सुदुर्वाविभेर्वन्त च ॥ (अष्टांगसंग्रह) । इस श्लोक में वातरक के स्थानिक पूर्वरूप वर्णन किये हैं । इनके अतिरिक्त कभी कभी मानसिक दकावट, निद्रामोघ, कर्बुल्लेख, लालास्राव, पेट में पीडा, वमन, अफारा इत्यादि सांख्यैदिक पूर्वरूप भी दिखाई देते हैं । कभी कभी पुत्र भी पूर्वरूप नहीं होते, बल्कि रोगी को और भी अल्पम मान्दम होता है । रिचिने—'पादा' इत्य-प्याहार ।

पादयोर्मूलमास्थाय चदाचिदस्तापोरपि ।
आस्ताविधमिय मुञ्जं तदेहमनुसर्पति ॥४६॥

यह वात रक्त (प्रायः) पैरों के मूल में कदाचिद् हाथों (के मूल) में (प्रथम) अकस्मात् (प्रारंभ) कटके कुचिन रहने पर पश्चात् मृन्निविध के समान सारे शरीर में फैल जाता है ॥४६॥

चक्रद्वय—मूलमास्थाय—तत्र पूर्व स्थिति कृत्वा । (अस्वाद्यत् आरोग्यविधमिष—आत्मेविधमिषनेन मन्दविमर्षिता दक्षिणार् (मधुकोशध्यास्या) । कुट्ट—कुपितावस्था में अर्थात् अप्राप्तियुक्त रहने से । पादयोर्मूलम्—पैरों की अँगुलियों । क और अष्टांगसंग्रह में उक्तान और गम्भीर कसे वातरक दोनों प्रकार वर्णन किये हैं । इनमें उक्तान प्रथम होता और चिकित्सा न करने पर बालान्तर से गम्भीर हो जाता है—त्वदमामाश्रयमुत्तान तत्पूर्वं जायते तत् । कालान्तरं गम्भीर मर्षं पद्मनिदेवत् ॥ (अष्टांगसंग्रह) । आनुतिक वाशास्य परिभा में उक्तान के लिये एक्यूट (Acute) और गम्भीर के लिये क्रानिक (Chronic) कह सकते हैं । प्रथम आक्रमण पश्चात् आहारविहारादि द्वारा रोग की योग्य चिकित्सा न हो जाय तो हमका दौरा बार बार आया करता है । ये दौर क महीनों के बाद, कभी सालों के बाद और कभी कुछ दिनों के बाद आते हैं । बार बार दौर आने से हाथ पैरों की संधि सदा के लिये खराब होकर लँगड़ापन, अँगुलियों का टेढ़ाप इत्यादि विकार उत्पन्न होते हैं । इन स्थानिक उपद्रवों अतिरिक्त वातरक के विष का परिणाम शरीर के विभिन्न भागों पर होकर मन्दाग्नि, आन्त्रशूल, हृदयवृद्धि, रक्तमारुति घमनीदास्य (Arterio Sclerosis), हृत्शूल, चककन, शार्प वातशूल, असमी इत्यादि विकार उत्पन्न होकर रोगी के स्वास्थ्य सदा के लिये गिर जाता है ।

आजानुस्फुटितं यच्च प्रभिन्नं प्रकृतं च यत् ।
उपद्रवैश्च यज्जुष्टं प्राणामासत्तायदिभिः ।
शोणितं तदसाध्यं स्याद्याध्यं संवत्सरोत्थितम् ॥४७॥

(असाध्यता—) जानुपयैत जो वातरक भूट निकला हो विदीर्ण हुआ हो, भरने लगा हो और बलवत् मानस्यदि उपद्रवों से पीडित हो वह असाध्य समझो और एक ब (पहले) का याय समझो ॥४७॥

चक्रद्वय—शुथितित्यादि—वातरक में शरीर के विभिन्न भागों में साक्षियम वायुगोट के स्फटिक बैठ जाते हैं । पीं धीरे धीरे इतका सघन अधिक होने से अर्जुन् या गाँडे (Tophi बनती हैं । रगड़ के कारण इन अर्जुनों के ऊपर की त्वच क्षिपने लगती है और कुछ काल के पीछे फटकर मण्य बन जाते हैं तथा उनसे खार बहने लगता है । ये गाँडे हाथ पै की अँगुलियों के जोड़ों पर तथा कपोलानी पर अधिक होते हैं और मण्य बन जाने पर बाहर निकल आती हैं । इन्हीं के कारण संधियाँ टेढ़ी हो जाती हैं । उपद्रव—अस्वमात्पराश्रान् मानस्यभित्तोमहाः । मूत्रं च मन्त्रकृतमान्मनमप्येवका ॥ विष्णु शहस्रनामस्यैवात्तोदप्रमदमा । अश्लीवकना सखात्त इक्षममेव श्रुता ॥ (चरक) । इन उपद्रवों के अतिरिक्त पुराता वृक्षयोष गम्भीर, हृदयवृद्धि, घमनीदास्य, शीघ्रहृदयता (Tachycardia), यकृतविकार, आमाशयशूल, लालन (Lozeno) तथा अन्य त्वरोग, आँसों में जलन इत्यादि उपद्रव भी होते हैं । शिरोपथ—अर्धाचिभेदक (Migraine) । अर्जुन्—Tophi तापयानपथा—हृदय श्लोक में वातरक की साक्षात्साध्यता वर्णन की है । एक बार रोग का आक्रमण होने पर यदि योग्य

पर चिकित्सा न की जाय तो बार बार आक्रमण होता जिससे रोग पुराना होकर विविध रोग उपद्रव उत्पन्न होते इसके विषय का विशेष अस्तर हृदय और वृक्क पर होता है, से विशेषकर मोह, मूर्च्छा, संन्यास, पक्षघात, अंगघात आदि भयानक विकार उत्पन्न होकर रोगी की मृत्यु होती । इसीलिये चरक में लिखा है—प्लेकपद्रवैर्वैर्यं मोहैर्नैकन वि यत् ।

॥ तु धमनीः सर्वाः कुपितोऽभ्येति मारुतः ।

आक्षेपत्याशु मुहुर्मुहुर्देहं मुहुश्चरः ।

मुहुस्तदाक्षेपादाक्षेपक इति स्मृतः ॥४८॥

(आक्षेप—) जब बार बार चलनशील वायु कुपित हो शरीर की समस्त धमनियों में प्राप्त होती है, तब बार बार शरीर को आक्षेपित करती है । बार बार आक्षेपण करने इसे आक्षेपक कहते हैं ॥४८॥

वक्तव्य—सर्वाः—ऊर्ध्वार्धस्तिवैर्णाश्रुतिविरति धमन्यः ।

क्षिपति—फटके के साथ शरीर की पेशियों में संकोच उत्पन्न

ती है । आक्षेपक—शरीर की अधिकांश या सम्पूर्ण पेशियाँ

अकस्मात् और प्रबल जो तिकुड़न होती है उसे आक्षेप

कहते हैं । इसको अंग्रेजी में कन्वल्शनस् (Convulsions)

कहते हैं । यह मस्तिष्कसंस्थान की खराबी का एक लक्षण है,

अपस्मार, अपतन्त्रक (Hysteria), मस्तिष्कावृद्ध,

मस्तिष्क रक्तस्राव और अन्तःशय्य (Embolism), मस्तिष्का-

स्थायी, मूत्रविपत्ता (Uremia), धनुस्तम्भ इत्यादि

लेक रोगों में दिखाई देता है । बच्चों में दन्तोद्भेद, उदरशूल,

पाप्मान, केंचुप इत्यादि कार्यों से भी आक्षेप उत्पन्न होते

। आक्षेप के साथ साथ हाथ पैरों का टेढ़ा होना, दाँती

माना, मुट्टी बंद करना, आँखें फाड़ फाड़ के देखना,

अलियाँ फैलना, बेहोशी इत्यादि लक्षण भी उपस्थित रहते

। बच्चों के आक्षेप (बालग्रह) और अपस्मार का विशेष

उत्तरतन्त्र में किया गया है । यहाँ धनुस्तम्भ और अपतन्त्रक

का विवरण अब किया जाता है ।

सोऽपतानकसंज्ञो यः पातयत्यन्तराऽन्तरा ।

कफान्वितो भृशं वायुस्तास्वेव यदि तिष्ठति ॥४९॥

स दग्धवत् स्तम्भयति कृच्छ्रो दग्धापतानकः ।

हनुग्रहस्तदाऽत्यर्थं सोऽन्नं कृच्छ्राग्निपेवते ॥५०॥

धनुस्तुल्यं नमेघस्तु स धनुःस्तम्भसंज्ञकः ।

अह्लुलीगुल्फजठरहृद्भ्रजोगलसंश्रितः ॥५१॥

आयुप्रतानमनिलो यदाऽऽक्षिपति वेगवान् ।

विट्पक्षाक्षः स्तब्धहनुर्भग्नपार्श्वः कफं वमन् ॥५२॥

अभ्यन्तरं धनुर्विव यदा नमति मानवः ।

तदाऽस्याभ्यन्तरायामं कुरुते मारुतो बली ॥५३॥

बाह्यावायुप्रतानस्थो बाह्यायामं करोति च ।

तमसाध्यं बुधाः प्राहुर्वैतः कट्यरुभञ्जनम् ॥५४॥

(अपतानक—) जो आक्षेपक बीच बीच में गिराता है,

वह अपतानक नामक वायु है । यदि वायु कफ से विशेषतया

संयुक्त होकर समस्त धमनियों में अवस्थित होती है ॥४९॥ और

(शरीर को) डंडे के समान स्तम्भित करती है, तब उसे

‘दग्धापतानक’ कहते हैं और वह कृच्छ्रोसाध्य है । उस अवस्था

में दाँती लग जाती है जिससे मनुष्य बड़े कष्ट से शरीर का

सेवन कर सकता है ॥५०॥ जो (अपतानक) धनुष की

भाँति (शरीर को) टेढ़ा करता है वह धनुस्तम्भ कहलाता

है । अँगुलियाँ, टखने, पेट, हृदय, छाती, गला इन स्थानों में

आक्षिप्त हुई ॥५१॥ वेगवान् वायु जब (आभ्यन्तरीय—Ante-

rior) वायुसमूह को आक्षेपण करती है और जब निश्चल

नेत्रों से, स्तब्ध हनु से, (वेदना के मारे) भग्नपार्श्व से, कफ

(या भाग) का वमन करता हुआ ॥५२॥ मनुष्य भीतर की

ओर (छाती की ओर) धनुष की भाँति टेढ़ा होता है, तब

बलवान् वायु उसका अन्तरायाम (धनुस्तम्भ) करती है

॥५३॥ बाह्य (पृष्ठ के) वायुसमूह में स्थित हुई वायु बाह्या-

याम (धनुस्तम्भ) करती है । छाती, कटी तथा ऊरु को

तोड़ने वाले इस (अन्तरायाम या बहिरायाम अपतानक)

को वैद्य असाध्य कहते हैं ॥५४॥

वक्तव्य—अपतानक—जिसमें शरीर की पेशियों में वेहद

तनाव उत्पन्न होता है, उसे अपतानक कहते हैं । अंग्रेजी में

इसको टेटानस (Tetanus) कहते हैं, जिसका योगार्थ भी

यही है । इस रोग के न्यूनाधिक तनाव के कारण शरीर

विविध आकार का होता है । जब शरीर के पूर्वभाग (छाती

की ओर) की ओर पश्चिमभाग (पीठ की ओर) की पेशियों

का तनाव समबल होता है तब शरीर डंडे की भाँति सीधा

और सक्त होता है । इस अवस्था को दग्धापतानक (Ortho-

tonos) कहते हैं । जब एक भाग की पेशियों का तनाव

दूसरे भाग की पेशियों के तनाव से बलवत्तर होता है, तब

शरीर धनुष की भाँति टेढ़ा होता है; इसलिये इसको धनु-

स्तम्भ या धनुर्वैत कहते हैं । जब पूर्व भाग की पेशियों का

तनाव पश्चिम भाग की पेशियों के तनाव की अपेक्षा बलवत्तर

होता है, तब शरीर छाती की ओर टेढ़ा होता है, और उसे

अन्तरायाम (Emprosthotonos) कहते हैं । इसकी विपरीत

अवस्था में शरीर पीठ की ओर टेढ़ा होता है और उसे बाह्या-

याम (Opisthotonos) कहते हैं—देहस्य बहिरायामाच्च पृष्ठतो

द्विष्टो शिष्टः । उरश्चोक्षिप्यते तत्र कंभरा चानमृचते ॥ बाह्यायामं धनु-

ष्कप्य भुवते वेगिनं च तम् ॥ (अष्टांगसंग्रह) । क्वचित् एक पार्श्व

की पेशियों में अधिक तनाव उत्पन्न होकर शरीर एक पार्श्व की

ओर टेढ़ा होता है; उसे पार्श्वायाम (Pleurothotonos)

कहते हैं । इसका उल्लेख आयुर्वेद में नहीं है । इस तरह

उपर्युक्त श्लोकों में अपतानक के जो भिन्न भिन्न तीन प्रकार

वर्णन किये हैं, वे वास्तव में एक ही रोग के भिन्न भिन्न रूप हैं;

तीन स्वतन्त्र विकार नहीं हैं । हनुग्रह—दाँती लगना (Lock-

jaw or Trismus) । हनुग्रह इस रोग का एक प्रधान और

पूर्व लक्षण है । पहले-पहल मुख की पेशियों का संकोच होता

है, जिससे रोगी अपने जबड़े को खोल नहीं सकता । वायु-

प्रतान—पेशिसमूह (Muscles) । विट्पक्षाक्षः—निश्चलनेत्रः ।

भग्नपार्श्व—तीव्र संकोच के कारण जिसके पार्श्व में मानो पसली

टूटने की सी पीड़ा हो रही है । कभी कभी तीव्र सकोच के कारण इस रोग में पेशियों (विशेष करके उदर की दृढ़क पेशियों Rectus muscles) विदीर्ण भी होती हैं । हेतु— इस रोग का कारण एक विशेष प्रकार का दृग्दाकार जीवाणु है, जिसे बैसीलस टेटानी (B. Tetani) कहते हैं । यह जीवाणु घोड़ा, गी इत्यादि पशुओं में मल में होने के कारण खादयुक्त भूमि में तथा साधारणतया जमीन की ऊपरी तह में मिलता है । शरीर में इस जीवाणु का प्रवेश क्षत द्वारा होता है । जो क्षत गहरा हो, जिसमें घ्राणुपेशियों का विदारण बहुत हुआ हो, जिसमें धूलि, गोबर, लीन, लकड़ी इत्यादि पदार्थ प्रविष्ट हुए हों, ऐसे क्षत से घुसुत्तम होने की सम्भावना अधिक होती है । ऐसे क्षत बहुधा रातक पर तथा खेतों में जो अभिघात होते हैं उनमें बनते हैं । क्विन् रिवियों में प्रसूति या गर्भपात के क्षत से, नवजात बालकों में नाल-च्छेदन के क्षत से और बालकों में कर्णोपेधन के क्षत से भी (यह १०० देखो) अपतानक उत्पन्न होता है । नवजात बालक के रोग को 'नवजात अपतानक' (Tetanus Neonatorum) और क्षत से होने वाले रोग को 'अभिघातज अपतानक' (Traumatic Tetanus) कहते हैं । कभी कभी अभिघात के बिना भी अपतानक होता है । इसे निज या अन्तर्भिघातज (Idiopathic) कहते हैं । निज का अर्थ यहाँ प्रथम किया गया है । इस प्रकार में भी प्रायः मरण होता है, किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण प्रतीत नहीं होता । समाप्ति—क्षत में पहुँच कर जीवाणु बरी तेजी से बढ़ते हैं, और साथ साथ ज्वर भी बनते हैं । इस ज्वर का विशेष अल्पकालीन नादानिर्वियों (Nerves) सुषुम्ना तथा मस्तिष्क की ओर होता है । मस्तिष्क में पहुँचने का मार्ग भी वात-नादानिर्वियों द्वारा होता है । इसलिये नाडी के पास या मस्तिष्क के पास जो क्षत होते हैं, उनसे अपतानक शीघ्र उत्पन्न होता है । विष मस्तिष्क में पहुँचने के पश्चात् चेष्टाबह (Motor) नादानिर्वियों द्वारा शरीर की पेशियों में सकोच उत्पन्न करता है । विष का अन्तर प्रथम हनु की पेशियों पर होकर पश्चात् शरीर की सारी पेशियों पर होता है । रोग का संक्षेप काल (Incubation period) २-१४ दिन का है । लक्षण—इस रोग का प्रथम लक्षण शरीरक्यामी आक्षेप है, जो प्रथम हनु से प्रारंभ होते हैं । आक्षेप का आवेग हवा का झोंका, स्वयं इत्यादि मामूली उत्तेजनाओं से भी उत्पन्न होता है । आवेग के समय पेशियों के सकोच से रोगी को अत्यन्त पीड़ा होती है । उसका सारा शरीर पसीने से लर रहता है । खाने, पीने, साँस लेने में सब कठिनाई होती है । आक्षेप के आवेग बार बार आते हैं । आवेग कम होने पर रोगी को कुछ स्वास्थ्य मालूम होता है—नो देने अथेव स्वास्थ्य स्वभावेपकाधियु । (वाग्मट) । परन्तु कुञ्जलाविष की भाँति पूर्वतया आराम नहीं मिलता । ज्वर बढ़ना नहीं होता, परन्तु कभी कभी मृत्युपूर्व पीड़ा सा ज्वर होता है । मृत्यु प्रायः हृदयवरोध, आसा रोग या अवसाद से होती है ।

कफपित्तान्वितो वायुर्वायुरेय च केवलः ।
 कुर्वादाक्षेपकं त्वन्यं चतुर्थमभिघातजम् ॥५५॥

(आगन्तु अपतानक—) कफपित्त से युक्त वायु अथ केवल (अक्षेपी) वायु अभिघातजम् वीधे प्रकार का अपतानक उत्पन्न करती है ॥५५॥

घक्तव्य—इस श्लोक में अपतानक का आगन्तु है तथा उसकी मर्याप्ति वर्णन की है । निज अपतानक केवल वायु से उत्पन्न होता है; यानि वह नानात्मज विकार है आगन्तु अपतानक केवल वायु से किंवा कफपित्तान्वित वा से भी उत्पन्न होता है । अर्थात् आगन्तु अपतानक नानात्म या सामान्यज दोनों प्रकार का हो सकता है ।

गर्भपातनिमित्तश्च शोषितातिशयाच्च यः ।
 अभिघातनिमित्तश्च न सिध्यत्यपतानकः ॥५६॥

(असाध्यता—) गर्भपात, रक्तवाहाधिक्य और अभिघात (Trauma) इनसे उत्पन्न हुआ अपतानक सिद्ध न होता ॥५६॥

घक्तव्य—इस श्लोक में आगन्तु अपतानक के कारण तथा उसकी असाध्यता बतलाई गई है । गर्भपातनिमित्त-इसको कैम्पेजी में एक्लाम्प्सिया (Eclampsia) कहते हैं । इसका विशेष विवरण आगे मूढगर्भ (अ. ८) के सार्वत्रिक सूत्र के वक्तव्य में किया गया है । शोषितातिशय—वास्तव रक्तवाह होने पर मृत्यु के पूर्व कभी कभी आक्षेप उत्पन्न होते हैं—If the haemorrhage is severe, death ensues from Syncope The patient gasps his respirations become quick and sighing and death ensues after perhaps a few convulsive twitches of the limbs (Rose and Carless Manual of Surgery) वास्तव में यह अपतानक नहीं है । अपतानक (Tetanus) रोग स्वाभाविक ही असाध्य वा कष्टसाध्य है । बच्चों में यह प्रायः असाध्य होता है । अभिघात के पश्चात् शीघ्रता और तीव्रता के साथ रोग की उत्पत्ति, शरीरक्यामी आक्षेप, तीव्र ज्वर, निद्रानाश, प्रलाप, तिर्यकृष्टि—ये असाध्यता के लक्षण हैं । इसके विपरीत साध्यता के लक्षण होते हैं ।

अधोगमाः स्तितिर्यग्गा धमनीरूर्ध्वदेहराः ।

यदा प्रकुपितोऽत्यर्थं मातरिश्वा प्रपद्यते ॥५७॥

तत्राऽन्यतरपक्षस्य सन्धिबन्धान् विमोक्षयन् ।

हन्ति पक्ष तमाहुर्हि पक्षाघातं भिग्वराः ॥५८॥

यस्य कृत्स्नं शरीरार्धमकर्मण्यमचेतनम् ।

ततः पतत्यस्य वाऽपि जहात्यनिलपीडितः ॥५९॥

शुद्धवातहतं पक्षं कृच्छ्रसाध्यतमं विदुः ।

साध्यमन्येन संसृष्टमसाध्यं त्रयहेतुकम् ॥६०॥

(पक्षाघात—) जब (एक तरफ की) अधोगामी, तिरछी और ऊर्ध्वगामी धमनियों में अत्यन्त कुपित हुई बहुत प्रास होती है ॥५७॥ तब वह वायु दूसरी तरफ के संधिबन्धों को (अपने गतिकेंद्रों—Motor centro से) अलग कर (विमोक्षयन्) उस पक्ष का घात करती है; इस रोग को निष्कृष्ट पक्षाघात कहते हैं ॥५८॥ जिसका पूरा आधा शरीर निकमा और संवेदनाविहित हो जाता है, वह

२ त्वा

दुपीडित मनुष्य (सदा के लिये शय्या पर) पड़ा रहता है या हॉकी लगाने देता है ॥५९॥ (मांगांघ्रण के कारण कुपित) वायु से जो पक्षाघात होता है, उसको फटसाध्य समझते हैं । (पित्तादि अन्व द्रव्यों से) संस्पृष्ट वायु से होता है, उसको प्य समझते हैं । जो धातुक्षय के कारण (कुपित वायु से) पन्न होता है, उसको असाध्य समझते हैं ॥६०॥

वक्तव्य—पक्षाघात को पक्षाघात, पक्षाघात, अर्धोपपक्षाघात अथवा हेमिप्लेजिया (Hemi plegia) कहते हैं । अर्ध आधे धड़ का घात होता है, अर्थात् रोगी अपनी शानुसार अर्ध शरीर की पेशियों का संकोच नहीं कर सकता, हरा काम नहीं करता, बोलने में हरकत होती है तथा संवेग में भी फर्क आ जाता है—कुर्वाभ्रान्तिरिति हि रुजं वाक्स्वमेव च ॥ (चरक) । जब घात हस्तपादादि केवल एक अंग में होता है, तब उसे पूर्वांगरोग कहते हैं—पादं संकोचयेत्कं हस्तं वा दोरभ्युत्सुव । पूर्वांगरोगं त विपाद्य ॥ (चरक) । हांगरोग को हेमिप्लेजिया में मोनोप्लेजिया (Monoplegia) होते हैं । जब सर्वशरीर का घात होता है, तब सर्वांगरोग होते हैं—सर्वांगं संवेदयन् । (चरक) । सर्वांगरोग को दायजिया (Diplegia) कहते हैं । हेतु—पक्षाघात तथा अन्य प्रकार के घात (Paralysis) फिंरंग या आतराक, रोग, घृक्कुरोग, वातरक्त, सीसविष, धमनीदाह्य, अर्धरोमा Atheroma, धमनी प्राचीर का रोग), मस्तिष्क के अर्धेद, र पर आघात, मद्य आहार और न्यायाम का अतिसेवन, त्यादि कारणों से उत्पन्न होते हैं । पुरुषों में पक्षाघात अधिक होता है, और इसमें कुछ कुलजप्रवृत्ति भी होती है । संप्राप्ति—शरीर के समस्त अंगों के साथ मस्तिष्क का संबंध नाड़ियों द्वारा होता है । मस्तिष्क समस्त शरीर का शासक है । वृहत् मस्तिष्क के दो विभाग होते हैं । दाहिना विभाग शरीर के दाएँ पन्न पर और बायाँ विभाग शरीर के दाहिने पन्न पर शासन करता है । प्रत्येक विभाग में शरीर के प्रत्येक अंग के लिये और विशेष काम के लिये विशेष स्थान होते हैं, उन्हें केन्द्र (Centro) कहते हैं । बोलने का केन्द्र केवल एक होता है और वह दाईं ओर रहता है । परन्तु जो लोग बन्धे होते हैं, उनमें यह केन्द्र दाहिनी ओर रहता है । इन हन्नों से जो चेष्टावह तार निकलते हैं, वे सुषुम्ना में मध्यखा को पार कर दूसरी ओर की नाड़ियों के उत्पत्तिस्थानों में पहुँचते हैं । उपर्युक्त फिंरगादि कारणों से शरीर की धमनियों अंगुर या विहृत होती हैं, जिससे वे जल्दी फट सकती हैं या उनमें रक्त जल्दी जम सकता है । जब मस्तिष्क के किसी विभाग में रक्तवाहिनी फटकर खून बहता (Haemorrhage) है, या रक्तवाहिनी में रक्त जम जाता (Thrombosis) है, या अन्तःशाल्य (Embolus) के कारण रक्त का बहाव बन्द हो जाता है, तब मस्तिष्क का वह भाग स्वकर्महीन होता है । इस खराबी का परियााम यह होता है कि जिसका संबंध मस्तिष्क से टूट गया (विमोक्षयन्) उस अंग का घात या वध होता है; उसमें इच्छानुसार गति नहीं होती तथा उसी की संवेदना मस्तिष्क तक नहीं पहुँचती । जब आधा धड़ बेकाम होता है तब अर्धोप कहते हैं । जब

एक हाथ या एक पैर या आधा चेहरा बेकाम होता है, तब पूर्वांगवध कहते हैं । जब दोनों पैर बेकाम होते हैं, तब पद्यु (Paraplegia) कहते हैं । एक तरफ के मस्तिष्क के विभाग में घातविकृति होने से दूसरे (अन्यतर) पन्न का घात क्योंकि होता है, इसका कारण ऊपर के विवरण से स्पष्ट होगा ।

वायुरूध्वं ब्रजेत् स्थानात् कुपितो हृदयं शिरः ।
शरी च पीडयत्यहान्यान्निपेन्नमयेच्च सः ॥६१॥
निमीलिताक्षो निश्चेष्टः स्तब्धाक्षो वाऽपि कूजति ।
निरच्छ्वासोऽथवा कृच्छ्रादुच्छ्वत्यान्नष्टचेतनः ॥६२॥
स्वस्थः स्याद्दृढये मुक्ते ह्यावृते तु प्रमुद्यति ।
कफान्वितेन वातेन क्षेय एयोऽपतन्त्रकः ॥६३॥

(अपतन्त्रक—) कुपित वायु अपने स्थान से ऊपर की ओर लक्ष्य में प्रवेग कर सिर तथा कनपटियों में पीड़ा और अंगों में संकोच तथा टेढ़ापन उत्पन्न करती है ॥६१॥ (इससे मनुष्य) आँखें मूढ़ लेता है, निश्चेष्ट रहता है अथवा निश्चल आँखों से देखता है, (कक्षुत्तर की भाँति) कूजन करता है, साँस रोक लेता है या कष्ट से साँस लेता है और मुर्दा (सा) होता है ॥६२॥ हृदय वायु से निर्मुक्त होने पर स्वस्थ हो जाता है और वायु से आवृत होने पर फिर अस्वस्थ होता है । यह अपतन्त्रक रोग कफयुक्त वात के कारण उत्पन्न होता है, ऐसा समझना चाहिये ॥६३॥

वक्तव्य—अपतन्त्रक रोग को हिस्टीरिया (Hysteria) कहते हैं । पाश्चात्य देशों में पहले यह समझा जाता था कि हिस्टीरिया गर्भाणय (Hystoria—गर्भाणय) की खराबी से होता हो । परन्तु यह भ्रम है । यह रोग पुरुषों तथा स्त्रियों में होता है । अतः हिस्टीरिया के लिये योपापत्सार शब्द का जो प्रयोग देशी भाषा में हो रहा है, वह अशुद्ध है । साधारणतया स्त्रियों में यह रोग अधिक दिखाई देता है; परन्तु गत मठायुद्ध के समय अगाड़ी के सैनिकों में बहुत दिखाई देता था । यह रोग भय, चिन्ता, शोक, निराशा, मानसिक आघात, मानसिक दुर्बलता, आकस्मिक दुर्घटनाएँ इत्यादि कारणों से उत्पन्न होता है । कुशिक्षा, भूत सुदेल पर विश्वास इत्यादि कारणों से यह रोग और भी बढ़ जाता है । यह एक विचित्र रोग है, जिसमें अनेक प्रकार के लक्षण दिखाई देते हैं । कभी रोगी हँसता है, कभी रोता है, कभी बेहोश होता है, कभी पेट में वायुगोला सा उठता है, कभी अर्धोप या अर्द्धित के लक्षण होते हैं, कभी हिचकी आती है तो घण्टों तक आती है, कभी बोलना बन्द कर देता है । संज्ञेय में जितने मानवी रोग हैं, उनमें से किसी भी रोग के लक्षण हो सकते हैं । परन्तु वास्तव में शरीर के किसी भी संस्थान में खराबी नहीं दिखाई देती । वाग्भट अपतन्त्रक और अपतानक रोग एक मानते हैं—कपोत इव कूजेच्च निस्संशः तीऽपतन्त्रकः । स एव चापतानख्यः ॥ (अष्टांगसंग्रह) । एडबल भी चरक में एकीय मत से दोनों का अभेद मानते हैं—वायुना दारुणं प्रादुरेके तदपतानकम् ॥ (सिद्धि स्थान, अ. ९) । चरकमतानुसारी माधवाचार्य भी दोनों में अभेद मानते हैं । परन्तु सुश्रुत के अनुसार अपतानक और अपतन्त्रक स्वतन्त्र रोग मानना उचित है ।

में सोने से, नीचे या ऊँचे (तकिया पर सिर) रखने से, तिरछा या ऊपर की ओर देखने से मन्वात्मम् उपपन्न होती है ॥६५॥

यकज्य—मन्वाहम्भ (Torticolis) उरक्यमूलिका (Sterno mastoid) पेयी के सकीच से उत्पन्न होता है। यह सकीच वातज (जैसा कि धनुस्तम्भ के पूर्वरूप में होता है), धामवातज (Rheumatic) (जैसा कि सोते समय पसीने पर ग्रीवा में ठंडी वायु लगने से होता है), जन्मज (Congenital) (जैसा कि जन्म के समय पेयी पर आघात होने से होता है), और आक्षेपयुक्त (Spasmodic) ऐसा चार प्रकार का होता है।

गर्भिणीसृत्तिकायालवृक्षीणेष्वसृक्षत्तये ।
उषैर्व्यहरतोऽस्यर्षे खादत् । कठिनानि च ॥६५॥

हसतो जुग्भतो भाराक्षिपमाच्छयनादपि ।
शिरोनासीष्टचिबुकललाटेक्षणसन्धिगः ॥६६॥

अर्दयित्वाऽनिलो वक्रमर्दितं जनयत्यत ।
यक्रीमथति वक्रार्धे ग्रीवा चाप्यपवर्तते ॥६७॥

शिरश्चलति वाक्सङ्गो नेत्रादीनां च वैरुतम् ।
ग्रीवाचिबुकदन्तानां तस्मिन् पार्श्वे तु वेदना ॥६८॥

यस्याप्रजो रोमहर्षो वेपथुनेत्रमाविलम् ।
वायुरूध्वे त्वचि स्वापस्तोदो मन्वाहनुमहः ।

तमर्दितमिति प्राहुर्व्याधिं ध्याधिचिशारदाः ॥६९॥

क्षीणस्यानिमिषाक्षस्य प्रसक्तोऽप्यकभाषिणः ।
न सिध्यत्यर्दितं या(गा)ढ त्रिवर्षे वेपनस्य च ॥७०॥

(अर्दित—) गर्भिणी स्त्रियों में, प्रसूता स्त्रियों में, बालकों में, बूढ़ों में रक्त का क्षय होने पर उच्च स्वर से बोलने से, अति कठिन पदार्थ खाने से ॥६५॥ हँसने और जैभाई सेने से, विषम बोक उठाने से, विषम शयन पर सोने ने घिर, नासा, होंठ, कपोल, सलाह और नेत्रसंधि में स्थित हुई वायु ॥६६॥ (उपहित होकर) मुझ को पीड़ित करती है, अत अर्दित उत्पन्न होता है । (लक्ष्य—) इसमें आधा बेहरा साँका होता है, ग्रीवा भी टेढ़ी होती है ॥६७॥ घिर घलायमान होता है, वायु का ठीक निर्गम नहीं होता, नेत्रादि (भ्रायुवादि) में विकृति होती है, तथा जिस पार्श्व में अर्दित होता है उस पार्श्व की ग्रीवा, कपोल और दाँतों में पीड़ा होती है ॥६८॥ (पूर्ववत्) रंगटे खड़े होता, कन्ध, नेत्र से मलिन पानी गिरना, ऊर्ध्ववात, त्वचा में सुखता, नाना प्रकार की पीडा, मन्वाहम्भ और हनुमह—ये इसके पूर्वरूप होते हैं । ऐसी व्याधि को विद्वान् वैद्य अर्दित कहते हैं ॥६९॥ जो क्षीण है, जो घाँस बढ़ नहीं कर सकता, जो बड़े कष्ट से बोलता है, जो कम्पयुक्त है—ऐसे मनुष्य का तीन साल का पुराना अर्दित बिलकुल सिद्ध नहीं होता ॥७०॥

यकज्य—विषमाश्रयनात्—विषमाश्रयनात् ॥ (अर्धसमह) म्यूनाधिक मोटा तकिया सिर के नीचे रखने से

गिरोनासीष्टचिबुकललाटेक्षणसन्धिग—इन स्थानों में विचरना का बन्धी वायु । आधुनिक शरीरकार्यविज्ञान से यह वर्णन इस विभाग में पेट्टा उत्पन्न करने वाली नाड़ी का है । इस

मॉसिकी नाड़ी (Facial nerve) कहते हैं । यह मस्तिष्क के सातवीं नाड़ी है । मरयेक मुसार्ध के लिये एक स्वतन्त्र नाडू है । एक तरफ की नाड़ी का घात होने से अर्दित (Facial Palsy Bell's paralysis) उत्पन्न होता है । इसे 'एकाधाम' (अष्टागम्यह) तथा व्यावहारिक भाषा में 'छहवा' कहाँ है । अर्दित पक्षाघात में होता है । इसके अतिरिक्त सोहिज्वर (Scarlet Fever), रोहिषी (Diphtheria)

प्रसृतिज्वर, जलमग्रास, धनुस्तम्भ, कक्षा (Herpes) मध्यकण्ठीय पसीने पर हवा लगना, खोपड़ी की जड़ क भंग, आघात, कर्क्यमूलिक ग्रंथियों इत्यादि कार्यों से भी अर्दित उत्पन्न होता है । माधवनिदान में 'गर्भिणी सृत्तिका' यह श्लोकार्थ नहीं है । अष्टागम्यह और अष्टागम्यह में भी इस अर्थ का कोई पाठ नहीं है । चरकसंहिता में उक्त अर्दित का अर्थ 'मुसार्धघातयुक्त पक्षाघात या मुसार्धघात' करते हैं—नवे तस्मिन् मुसार्धे वा केवले स्वातर्दितम् ॥ (चिकित्सा वातव्याधि) ।

पार्श्वप्रत्यङ्गुलीनां तु कण्डरा याऽनिलाद्वैता ।
संक्लृप्तोऽप्यनिवृद्धीयाद्गृध्रसीति हि सा स्मृता ॥७१॥

(गृध्रसी—) एही विभाग में चैंगुलियों की बात से पीड़ित कण्डरा जब अशोधात्मा का प्रसारण होकती है, तब उसे गृध्रसी कहते हैं ॥७१॥

यकज्य—गृध्रसी (Sciatica) रोग गृध्रस्या नाडी (Sciatic Nerve) में पीडा होने से होता है । यह नाडी अशोधात्मा के पश्चिम विभाग में नितम्ब से पैर के तल तक फैली हुई है । इस नाडी में वातरक्त, मधुमेह, नितम्बपिथोष, पसीने पर उच्च लगना, सलन कन्ध, स्त्रियों में बीजप्रथि (Ovary) के अन्दर, आघात, मोच इत्यादि कार्यों से पीडा उत्पन्न होती है । यह पीडा नितम्ब से लेकर नीचे एही तक होती है । उक्त लक्ष्ये इसलिये चरकसंहिता में लिखा है—रिक्तपूर्वाकारिणोऽशोकानुजवापर कमण्ड । गृध्रसी लगनम्कारेऽर्दयि सन्दने मुह ॥ (वातचिकित्सा) । तन्वा—कहीं कहीं 'सन्वो' ऐसा भी पाठ है, यह भी ठीक हो सकता है; क्योंकि कभी कभी यह विकार दोनों दिगों में भी एक साथ हुआ करता है । कण्डरा—नाड़ी के अर्थ में कण्डरा शब्द का प्रयोग है ।

तल प्रत्यङ्गुलीनां तु कण्डरा याद्गृध्रत ।
धाहो कर्मक्षयकरी विश्वाचीति हि सा स्मृता ॥७२॥

(विधाची—) बाहु शूठ से लेकर चैंगुलियों के तल तक जो कण्डरा (वाताभिभूत होने पर) बाहुओं के (प्राकुचन, प्रसारवादि) कर्मों का क्षय करती है, वह विधाची है ॥७२॥

यकज्य—विधाची भुजानाडीजाल (Brachial

28) की विकृति से उत्पन्न होती है । इसको Brachial lysis, Erb's paralysis या Mono plegia Brach- कह सकते हैं ।

शोणितजः शोफो जानुमध्ये महारुजः ।

क्रोष्टुकपूर्वं तु स्थूलः क्रोष्टुकसूर्ध्ववत् ॥७३॥

(क्रोष्टुकर्वाधि—) घात और रक्त से उत्पन्न दुष्प्रा, त पीड़ा देने वाला, श्यामल मलक के समान मोटा जो जानुसंधि में उत्पन्न होता है, वह क्रोष्टुक र्वाधि है ॥७३॥

कट्यां स्थितः संक्षुभ्रः कण्डरामाक्षिपेद्यदा ।

स्तदा भवेज्जन्तुः, पद्गुः सक्क्षुभ्रैर्योर्वधात् ॥७४॥

मन्त्र वेपते यस्तु खञ्जन्निव च गच्छति ।

यखञ्जं तं विद्यान्मुक्तसन्धिप्रवन्धनम् ॥७५॥

(खञ्ज और पद्गु—) कटि में स्थित हुई वायु जब सङ्घि

कण्डरा का बन्ध करती है, तब मनुष्य खञ्ज (विकलगति)

गता है । जब दोनों मण्डियों का घात होता है, तब पद्गु

गता है ॥७४॥ (कलाय खञ्ज—) जो चलने के प्रारम्भ

पिता है, चलते समय जो लड़खड़ाता है वह जिसके संधि

ढीले पड़ गये हैं ऐसा कलायखञ्ज नामक रोग है ॥७५॥

वक्तव्य—खञ्ज, कलायखञ्ज और पद्गु ये अश्रो-

त्यों के विकार हैं । खञ्ज—Mono plegia Cruralis ।

-Diplegia । कलायखञ्ज—Lathyrism । यह रोग

यजाति की एक विशेष दाल (अक्ष—Viscia Sativa)

गातार सेवन से होता है, ऐसी शाखजों की राय है (पृष्ठ

देखो) । परन्तु अभी तक कोई निश्चय नहीं हुआ ।

मन्त्र—गमनाश्रमे ।

स्ते तु विपमे पादे रुजः कुर्यान्समीरणः ।

कण्टक इत्येयं विक्षेयः खुड(ल)काश्रितः ॥७६॥

(वातकण्टक—) ऊँची-नीची जगह में पाँव रखने से

में आश्रित हुई वायु (पाँव में) पीड़ा करती है, वह

कण्टक व्याधि है ॥७६॥

योः कुरुते दाहं पित्ताखृणसहितोऽनिलः ।

रोषतश्चङ्गुमणात् पाददाहं तमादिशेत् ॥७७॥

(पाददाह—) पित्त और रक्त से मिली हुई वायु दोनों

में विशेष करके चलते समय जलन पैदा करती है, उसे

दाह कहते हैं ॥७७॥

यतश्चरणौ यस्य भवतश्च प्रसुप्तवत् ।

दुहर्षः स विक्षेयः कफघातप्रकोपजः ॥७८॥

(पाददुहर्ष—) जिसके दोनों पाँव हर्षयुक्त और सुन्न होते

वह कफघातप्रकोप से उत्पन्न हुआ पाददुहर्ष नामक

रोग है ॥७८॥

सदेशस्थितो वायुः शोषयित्वांसंबन्धनम् ।

राश्याकुञ्चय तत्रस्थो जनयत्येववाहुकम् ॥७९॥

(अंसगोप और अश्रवाहुक—) स्कन्धप्रदेश में स्थित हुई वायु अंस के बंधनों को शोषण करके (अंसगोप नामक व्याधि उत्पन्न करती है) । वही स्थित हुई वायु शिराओं को सिकोड़कर अश्रवाहुक उत्पन्न करती है ॥७९॥

वक्तव्य—इस श्लोक के प्रथम श्लोकार्ध में 'अंसगोप' का वर्णन है और दूसरे श्लोकार्ध में 'अश्रवाहुक' का वर्णन है । वाग्भटमतानुसारी कुट्ट टीकाकार संपूर्ण श्लोक में अश्रवाहुक का वर्णन है, ऐसा मानते हैं—असमूलस्थितो वायुः सिराः संकोच्य तदगाः । वाहुप्रपदिनहर जनयत्यश्रवाहुकम् ॥ (अष्टांगसंग्रह) । परन्तु यह योग्य नहीं है; क्योंकि आगे शारीरस्थान के सिराव्यधिविधि नामक अध्याय में दोनों का स्वतन्त्र उल्लेख मिलता है—वाहुशोषाश्रवाहुकव्योरप्येकं वदन्त्यस्योरन्तरे ।

यदा शब्दवहं श्रोतो वायुरावृत्य तिष्ठति ।

शुद्धः श्लेष्मान्वितो वाऽपि वाधिर्यं तेन जायते ॥८०॥

(वाधिर्य—) शुद्ध अथवा कफ से मिली हुई वायु जब

शब्दवाहिनी धमनी में अवस्थान करती है, तब उससे बहरापण

उत्पन्न होता है ॥८०॥

हनुशङ्खशिरोप्रीवं यस्य भिन्दन्निवानिलः ।

कर्णयोः कुरुते शूलं कर्णशूलं तदुच्यते ॥८१॥

(कर्णशूल—) जिसकी हनु, कनपटी, सिर और प्रीवा

हन स्थानों में भेदन करती हुई वायु कान में तीव्र पीड़ा

करती है, उसे कर्णशूल कहते हैं ॥८१॥

आवृत्य सकफो वायुर्धमनीः शब्दवाहिनीः ।

नरान् करोत्यक्रियकान्मूकमिन्मिनगद्गदान् ॥८२॥

(मूकत्व, मिन्मिनत्व और गद्गदत्व—) कफयुक्त वायु

शब्दवह धमनियों का अवरोध करके मनुष्यों को (उच्चारण

के कार्य में) किञ्चित् असमर्थ कर मूक, मिन्मिन और गद्गद

कर देती है ॥८२॥

वक्तव्य—इस श्लोक में उच्चारण के दोष वर्णन किये

हैं । मूक—बूँगा, जो बोल नहीं सकता । मिन्मिन—जिसका

उच्चारण नासा में (अनुनासिक) होता है । गद्गद—जिसका

उच्चारण अस्पष्ट और कष्ट से होता है ।

अधो या वेदना याति वर्चोमूत्राशयोत्थिता ।

भिन्दतीव गुदोपस्थं सा तूनीत्यभिधीयते ॥८३॥

गुदोपस्थोत्थिता सैव प्रतिलोमविसर्पिणी ।

वेगैः पक्काशयं याति प्रतितूनीति सा स्मृता ॥८४॥

(तूनी और प्रतितूनी—) पक्काशय (वर्चस्थान) और

मूत्राशय से उठी हुई वेदना जो नीचे की ओर गमन करती

हुई गुदा और लिंग (शिख या भग) को मानो भेदन करती

है वह तूनी नामक (वातव्याधि) है ॥८३॥ गुद और उपस्थ

(भग और शिख) से उठी हुई वही वेदना जब उलटी

(ऊपर को) गमन करती हुई वेगों से पक्काशय (और

मूत्राशय) में पहुँचती है, तब उसे प्रतितूनी कहते हैं ॥८४॥

वक्तव्य—तूनी और प्रतितूनी संचरण दिशा के अनु-

सार किये हुए शूल (Colic) के दो भेद हैं । जो शूल पक्का-

शय या मूत्राशय या दोनों से नीचे की ओर गुदा या उपस्थ

१ सक्क्षुभ्रः २ चहृकमतः ३ हृष्येते चरणौ यस्य भवेतां चापि कौं ४ शोषयित्वा सव० ५ ल्यपना०

या दोनों में घला जाता है, जैसे कि वृक्कण (Renal Colic) में होता है, वह तूनी है। जब शूल का रज ऊपर की ओर होता है, जैसा कि कभी कभी आन्त्रशूल में देखा जाता है, तब उसे प्रतिवृत्ती कहते हैं।

साटोपमत्युप्ररुजमाध्मातमुदरं भृशम् ।

आध्मानमिति जानीयाद्धोर घातनिरोधजम् ॥८५॥

(आध्मान—) आटोप और तीव्र पीड़ा से युक्त, (मगक की भाँति) खूब फूला हुआ उदर (पकाशय) आध्मान समझना चाहिये। यह घोर व्याधि अधोवात का अवरोध होने से होती है ॥८५॥

यक्तव्य—आटोप—गुरुगुड शब्द, Boiborygmus—आटोपे गुरुगुडशब्द प्रोक्ते जठरमभव ॥ (भावप्रकाश) । आध्मान आन्त्र में वात (Gas) का सचय होने से उत्पन्न होता है। टैम्पेजी में इसको टैम्पेनाइटिस (Tympanites) या मिटिआरिक्कम (Methorism) कहते हैं।

विमुक्तपाश्वर्हृदयं तदेवामाशयोदित्यतम् ।

प्रत्याध्मान विजानीयात् कफव्याकुलितानिलम् ॥८६॥

(प्रत्याध्मान—) पार्श्वहृदयपीड़ाविरहित आमाशय से उठी हुई वही (व्याधि) प्रत्याध्मान नाम से समझनी चाहिये। यह कफावृत वात से होती है ॥८६॥

यक्तव्य—विमुक्तपाश्वर्हृदय—जिसमें छाती के दोनों पार्श्व और हृदयविभाग पीड़ा से विरहित हों—आमाशयसमुत्थ त्वेन प्रत्यात्सया पार्श्वहृदयोपि वेदनाशङ्कानिरासार्थमाह—विमुक्तेत्यादि ॥ (मधुकोशध्याया) । कफव्याकुलितानिलम्—कफव्याकुलित(आवृत)वातजम् ॥ प्रत्याध्मान आमाशय में वायु (Gas) सचय होने से होता है। इसे ग्यास्ट्रो टिम्पेनाइज (Gastro tympanites) कहते हैं।

अँटीलायदन्तं प्रन्धिमूर्ध्नायतमुन्नतम् ।

यातामीलां विजानीयाद्द्विर्भागवरोधिनीम् ॥८७॥

पनामेव रुजायुकां घातविमूर्ध्नारोधिनीम् ।

प्रत्यष्टीलामिति वदेज्जठरे तिर्यगुत्थिताम् ॥८८॥

इति सुश्रुतसंहिताया निदानस्थाने वातव्याधिनिदान नाम प्रथमोऽध्याय ॥१॥

(वाताष्टीला—) अष्टीला के समान दोग, ऊपर की कैसी हुई, उन्नत, और बाहर के मार्ग को रोकने वाली ग्रंथि को वाताष्टीला समझना चाहिये ॥८७॥ (प्रत्यष्टीला—) पेट में तिरछी उठी हुई, अधोवायु मूल और मूत्र को रोकने वाली (और विशेष करके) पीड़ा देने वाली इसी ग्रंथि को प्रत्यष्टीला कहना चाहिये ॥८८॥

यक्तव्य—अष्टीला—एक प्रकार का परधर—उत्पत्तये दीर्घवर्तुलवायुविशेष श्लेष्क, चर्मकारणां वर्तुलीयां लोही भाषिकरि त्यपरे ॥ (इच्छण) । दक्षिणार्धवरोधिनीम्—वातविमूर्ध्नारोधिनीम् । दन्ति—प्रत्यष्ठाकार इच्छोन्नत शोक । अठे—उदरगुहा में। वाताष्टीला और प्रत्यष्टीला वास्तव में एक विकार है। वाताष्टीला में वेदना उत्पन्न होने पर उसे प्रत्यष्टीला कहते हैं। ये दोनों वातविकार चरक और वाग्भट में नहीं मिलते।

१ विमुक्तपाश्वर् २ अष्टीलावर्द्धन

उत्तरस्थान के मूत्राघातप्रतिषेध अध्याय में वाताष्टीला न मूत्राघात का एक भेद है। वह रोग इस वाताष्टीला से है और बहुधा Enlargement of Prostate होगा। अध्याय की वाताष्टीला और प्रत्यष्टीला गुदनालिका या र्तु का अर्बुद (Cancer of the rectum or Prostr) हो सकता है।

इति भास्करात्मणा गोविन्दरायणेन विरचितावामाशुवेदरहस्यटीपि सुश्रुतभाषाटीकायां निदानस्थाने वातव्याधिनिदान नाम प्रथमोऽध्यायः

द्वितीयोऽध्यायः ।

अथातोऽर्शां निदानं व्याख्यास्यामः । य वाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से आगे अर्शों के निदान का व्याख्यान है, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

यक्तव्य—अर्श—दोनों के कारण नासादि विविध की स्वभा में उत्पन्न हुए मांसाङ्कुर, अर्शोसीत्यनिनासविकाए (चरक)। अर्श का यह माधारण्य अर्थ है, और इस अर्थ अर्श को पॉलिपस (Polypus) कहते हैं। परन्तु अर्श मांसाङ्कुर गुदा में उत्पन्न होते हैं तब राहमार की गुदमार्ग का निरोध करके रोगी की हिंसा करते हैं, इसे इनको 'अर्श' कहते हैं—अरिवत् प्राणान् गुणाति दिनलं इति शूषोदरादिपादातिरिक्तामाह । यह अर्श का एकदेशीय विशेष अर्थ है और इस अर्थ से अर्श को हीमोरोइडस पाह्ल्स (Haemorrhoids or Piles) कहते हैं। अध्याय में साधारण तथा विशेष दोनों प्रकार के अर्शों निदान बर्णन किया है। प्रथम विशेष अर्थ के भेद करते हैं—

पडशंसि भवन्ति घातपित्तकफशंसितर्सा पातैः सहजानि स्येति ॥२॥

वातजन्म, पित्तजन्म, कफजन्म, शोणितजन्म, सन्निजन्म और सहज ऐसे छ प्रकार के अर्श होते हैं ॥२॥

यक्तव्य—सहज और जन्मोत्तरकालज ऐसे अर्श के प्रधान विभाग हैं। सप्तासत्तु द्विधिवाप्यशंसि सहजानि जन्मोत्तरकालानि च ॥ (अष्टांगसमूह) । इस सूत्र में जो द्वा प्र निर्दिष्ट किये हैं उनमें से पहले पांच प्रकार जन्मोत्तरकाल अर्श के हैं। चरक और वाग्भट में इसके छ प्रकार बर्ण किये हैं, क्योंकि यहाँ संयोग स्वतन्त्र प्रकार माना गया है। यहाँ संयोग का समावेश 'सन्निपात' में ही किया गया है—

तत्रानात्मयतां यथोक्तैः प्रकोपणैर्यिच्छाध्यशः श्रीप्रसङ्गोक्तद्रुकालसन्निपातानवेगविधारणादिभि विशेषैः प्रकुपिता योपा एकसो द्विशः समस्त शोणितसहिता या यथोक्त प्रवृत्ताः प्रधानधर्मन र्नुप्रपघाधो यस्या शुद्धमागम्य प्रवृष्य शुक्वर्ल मांसप्ररोहजनयन्ति विशेषतो मन्दाग्नेः, तस्य

एकाष्टोपललोष्टवस्त्रादिभिः शीतोदकसंस्पर्श-
द्वा कन्दाः परिवृद्धिमात्सादयन्ति, तान्यशांसीत्या-
क्षते ॥३॥

धममक्ष (२१ वा अध्याय सूत्रस्थान) अध्यायोक्त प्रको-
क कारणों से तथा विरुद्धासन, भोजन पर भोजन, अति-
सेवन, उल्कटुकासन, (गन्ध, वृष, उष्ट्रादि की) पीठ पर
वारी करना, वेगविधारण इत्यादि विशेष कुपथ्यों से कृपित
ए अनात्मवान् मनुष्यों के दोष एक एक, दो दो, तीनों तथा
कसहित अनेक प्रकार से प्रसारित हुए प्रधान धमनियों में
वेग कर नीचे की ओर गुदस्थान में प्राप्त होते हैं, और
गुदा की त्रि) वलि को कृपित कर मांसप्ररोह (अर्थात्
स्ते) उत्पन्न कर देते हैं । विशेष करके (मांसप्ररोह की
वृत्ति) मन्द अग्निवाले मनुष्य में (अधिक हुआ करती
) तथा कृष्ण, काठ, पत्थर, डेला, वस्त्र इत्यादि (की
गड़) से, अथवा ठंडे जल (तथा शीत और आर्द्र भूमि
ादि) के संस्पर्श से वे मस्से परिवृद्धि को प्राप्त हो जाते हैं;
नको (पूर्वाचार्य) अर्थ (अर्थात् यवासीर) कहते हैं ॥३॥

वक्तव्य—अनात्मवान्—मन्दकर्म या आलासी । इसी
थे से आगे चिकित्सास्थान के ३६ वें अध्याय में अनात्म-
न् शब्द का प्रयोग किया है—अनात्मवन्तः पशुवद् भुजन्ते येऽप्र-
णतः । रोगानीकस्य ते मूलमजीर्णं प्राप्नुवन्ति हि ॥ Leading a
edentary life । उल्कटुकासन—कठिन आसन पर बैठना,
रुवा 'गुदपाष्णीसमायोगः प्राणुल्कटुकासनम्' । भाषा में 'उकिट्ट'
ठना । चरक और वाग्भट में लिखा है—तयोल्कटुकाविषम-
ठिनासनसेवनात् । वेगविधारण—मल, मूत्र और वायु के उत्पन्न
गों को रोकना । उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त वेगोदीरण,
वाहण की जिनमें आवश्यकता हो ऐसे विकार यथा गुद-
नेरोध, मूत्रायमरी, अष्टीलमृद्धि (Enlarged prostrate)
त्यादि यकृत् विकार, यकृदाल्प्युदर, जलोदर, पुराना मला-
रोध इत्यादि कारणों से भी अर्थ उत्पन्न होते हैं । स्त्रियों में
एन कारणों के अतिरिक्त सगर्भावस्था, गर्भाशय के अर्धुद,
गर्भाशय का अपसरण इत्यादि कारणों से अर्थ उत्पन्न होते
। प्रधानधमनीः—अधोगामी दश धमनियों में । अर्थ की
प्राप्ति—अर्थ मलाशय की शिराओं की विकृति है । आन्त्र
की शिराएँ चौड़ाई की ओर रहती हैं । परन्तु मलाशय की
शिराएँ लम्बाई की ओर होती हैं । इसके अतिरिक्त उनमें
रूपाट (Valve) नहीं होते तथा उनके चारों ओर कोई
मजबूत आधार भी नहीं होता । अतः मल त्यागने से पहले
और पीछे, प्रवाहण करते समय तथा उपर्युक्त कारणों से इनमें
रक्त भर जाता है । यदि उपर्युक्त कारण चिरकाल तक
हैं तो सदा के लिये शिराएँ फूलकर मस्से बन जाते हैं । इस
रोग की उत्पत्ति में कुलजप्रवृत्ति भी होती है—तत्रादिवलप्रवृत्ता ये
शुक्रशोणितदोषान्वयाः कुष्णशैःप्रभृतयः ॥ (सूत्र, अ. २४) ।
पाश्चात्य वैद्यक में अर्थ की कुलजप्रवृत्ति नहीं मानी जाती ।
परन्तु यह मत असत्य है, क्योंकि अर्थ में जिस प्रकार की
शिराविकृति (शिराकृटिलता—Varioosity) होती है उस

प्रकार की शिराविकृति उत्पन्न होने के लिये परंपराप्राप्त
शिराओं की रचना और शिराओं की दीवार की कमजोरी
आदिकारण होता है । (१४६ पृष्ठ देखो) । 'शीतोदक'
इत्यादि—ये अर्थ की उत्पत्ति के कारण नहीं हैं, परन्तु
उत्पन्न हुए अर्थ के मस्सों में प्रकोप या क्षोभ उत्पन्न
करने के कारण हैं ।

तत्र स्थूलान्त्रप्रतिबद्धमर्धपञ्चाङ्गुलं गुदमाह,
तस्मिन् वलयस्तिस्त्रोऽध्वंर्धाङ्गुलान्तरसंभूताः प्रवा-
हणी विसर्जनी संवरणी चेति ॥४॥
चतुरङ्गुलायताः; सर्वास्तिर्यगेकाङ्गुलोच्छ्रिताः ।
शङ्खावर्तनिभाश्चापि उपर्युपरि संस्थिताः ॥५॥
गजतालुनिभाश्चापि वर्णतः संप्रकीर्तिताः ।
रोमान्तेभ्यो यवाध्यर्धो गुदौष्टः परिकीर्तितः ॥६॥
प्रथमा तु गुदौष्टादङ्गुलमात्रे ॥७॥

(गुदवर्णन—) शरीर में (तत्र) स्थूलान्त्र (के
अन्तिम भाग) से मिला हुआ साढ़े चार अंगुल (प्रमाण)
का गुद है । उसमें डेढ़ डेढ़ अंगुल के अन्तर पर उपस्थित हुई
प्रवाहणी, विसर्जनी और संवरणी नामक तीन वलियाँ होती
हैं ॥४॥ सत्र वलियाँ (मिलकर) आयतन (लम्बाई) में
चार अंगुल (दीर्घ), तिरछी, एक अंगुल उभरी हुई और
गुदखावर्त (पेच) की तरह एक के ऊपर एक स्थित होती
हैं ॥५॥ तथा वर्ण में हाथी के तालु के समान होती हैं । (गुद-
समीपवर्ति) वालों के किनारे से गुदौष्ट डेढ़ यव (अन्तर पर)
होता है ॥६॥ और गुदौष्ट से एक अंगुल (अन्तर पर) प्रथम
वलि (संवरणी) होती है ॥७॥

वक्तव्य—अर्धपञ्चाङ्गुलम्—अर्धपञ्चमंगुलं यस्मिन् तत्तथा,
अर्थात् साढ़े चार अंगुल । गुद—रोमान्त से साढ़े चार अंगुल
लंबाई का महात्नोत का अन्तिम भाग । प्रत्यक्षशारीर की
दृष्टि से इसमें गुदौष्ट (Anus), गुदनलिका (Anal canal)
और मलाशय (Rectum) का अन्तिम इंच भर का हिस्सा
समाविष्ट होता है । वलयः—छूले या झुरियाँ, Transverse
folds called Houston's Valves । प्रवाहणी, विसर्जनी,
संवरणी चेति—मलसाधः पीडनात् प्रथमा प्रवाहणी, गुदविस्फारेण
मलविसर्जनाद् द्वितीया विसर्जनी, गुदसंकोचन्याख्य (Spinoterni)
पेशीद्वयकृता चक्राकारा वलिस्तु संवरणी नाम । (प्रत्यक्ष
शारीर) । इनमें प्रवाहणी सबसे ऊपर, विसर्जनी मध्य में
और संवरणी गुद-द्वार के पास सबसे नीचे होती है—वलयः
प्रवाहणी तासानन्तर्मध्ये विसर्जनी । बाह्या संवरणी तस्या गुदोष्ठो बहि-
रंगुले ॥ (अष्टांगहृदय) ॥ चतुरंगुलायताः—आयतन में चार
अंगुल । गुदौष्ट से तीसरी वलि तक गुदनलिका की लंबाई
चार अंगुल होती है; यथा—गुदौष्ट से प्रथमा वलि (संवरणी)
एक अंगुल, प्रथमा से द्वितीया डेढ़ अंगुल और द्वितीया से
तृतीया (प्रवाहणी) डेढ़ अंगुल । एवं वलियों का स्थान कुल
लंबाई में चार अंगुल होता है । इस चार अंगुल के स्थान में
अर्थ उत्पन्न होते हैं । इसलिये अर्थायन्त्र का आयतन (दैर्घ्य

या लपाई) सर्वदा (सिगनिरपेक्ष) चार ही अगुल होता है—यत्र यत्र (अशौच्यत्र) शोथनाकार चतुरगुलयन्त्रम् । (सु चि अ-६) । अर्शनां शोथनाकार यत्रक चतुरगुलम् । (अष्टांग हृदय) । परतु परिणाह (Circumference) स्त्री और पुत्र के अर्थायन्त्र में बढ़ता है—वक्राङ्गुलपरिणाह पुंसां चतुरगुलपरिणाह नारीणाम् । (अ- चि अ-६) । नहि पचागुल पुंसां प्रमदानां चतुरगुलम् । (अष्टांगहृदय) । हाराणचन्द्र चतुरगुला यत का अर्थ 'चतुरगुलपरिणाहयुक्त' ऐसा करते हैं—अत्र चतुरगुलायता इति सङ्गुचिनायन्यायमित्येवावपेयम्, अन्यथा पुंसा नारीणा च यत्र चतुरगुलपरिणाहमात्रेण पत्राचतुरगुलपरिणाहमात्रेण मनुष्यक स्यात् शोच प्रमाणापेक्षया स्थूलतरत्वात् ॥ उपर्युक्त विवेचन से यह अर्थ अगुल है, इसमें कोई सन्देह नहीं होगा । यहाँ गुद का जो वर्णन किया है, वह आधुनिक शारीर वर्णन के साथ ठीक ठीक मिलता है । इस चार अगुल के स्थान में जो सिराए होती हैं वह रचना विशेषता के कारण विकृत हो जाती हैं और अर्थ उत्पन्न होता है ।

तेषां तु भविष्यतां पूर्वरूपाणि-अग्नेऽध्वन्दा कृच्छ्रात्पकिरन्म्लीका परिदाहो विष्टम्भः पिपासा सक्थिसदनमाटोपः काश्येमुद्गारपाहुल्यमदयोः मध्ययुरभ्रकृजनं गुदपरिकर्तनमाशुद्धा पाण्डुरोग-प्रदेहीदोयोदराणां कासध्वासौ यलहानिश्चमस्तन्द्रा निद्रेन्द्रियदौर्बल्यं च ॥८॥

उनके पैदा होने के पूर्वरूप—अत्र खाने में भ्रदा न होना (अमकण्डम्), कष्ट से अन्न का पचन होना, लट्टी इकारें धाना, जलन, पेट अफरना, प्यास, दोंनों में थकावट, पेट में गुड़गुड़ होना, शरीर सूख होना, इकारें बहुत आना, अर्शां पर सूजन, ओंठ में चारिक घण्ट होना, गुदा में कतरली सी पीडा, पाण्डुरोग प्रदेही और उदर की थका होना, कास, श्वास, कमजोरी, भ्रम, तन्द्रा, निद्रानाश और इन्द्रियों में दुर्बलता ॥८॥

जातेध्वेतान्द्येय लक्षणानि प्रत्यक्ततराणि भयन्ति ॥९॥

(अर्थ) उत्पन्न होने पर ये ही लक्षण अधिक (जोर से) प्रकट होते हैं ॥९॥

धक्कट्य—ऊपर सूत्र दो में दोनों के अनुसार अर्श के चरवि छ प्रकार वर्णन किये हैं तथापि स्थानिक विकृति और व्यवहार की दृष्टि से अर्श के दो ही भेद किये जाते हैं—गुच्छ और परिस्रावी—गुच्छस्राविविभेदात् । (अष्टांगहृदय) । ये भेद भी दोनों के अनुसार ही किये गये हैं—वातशोथलक्षणात् गुच्छाण्यर्शासि तद्विदुः । प्रस्रावीणि तथाश्रीणि रत्नविशोन्मनानि च ॥ (चरक, अर्थचिकित्सा) । आधुनिक परिभाषा में गुच्छ की बाह्य (External) और परिस्रावी को आन्तरीय (Internal) कहते हैं । गुच्छ का अर्थ—ये अर्थ गुरीब के बाहर चारों ओर दृष्टिये के आरं की अर्ति होते हैं । प्रायः अर्श के बीच में एक छोटी सी गैडीसी सिरा होती है, उसके

चारों ओर सांघ्रिक तन्तु होते हैं जो ल्घ्वा से उके रहते हैं आरम्भिक अवस्था में ये स्युद रहते हैं और मतीत नहीं होते सखन वक्र, वक्रादि की रगड, सील स्थान पर बैठना इत्यादि कार्यों से जब ये प्रकुपित और शोथयुक्त होते हैं तब ही को पीडा होती है और चलने किरने में कष्ट होता है । शोथ भीतर की सिरा फूलती है, सांघ्रिक तन्तु बढ़ते हैं और ल्घ्वा मोटी होती है । इस तरह चार बार शोथ होने में अर्श क कठिन गांठ बन जाती है । ये अर्श प्रायः सूते रहते हैं, इसलिये इनको गुच्छाकार्य कहते हैं । परिस्रावी अर्श—ये अर्श गुरीब के भीतर होते हैं, इसलिये अभ्यन्तरीय अर्श भी कहलाते हैं इनके बीच में गैडीसी सिरा अधिक होती है, उनके चारों ओर सांघ्रिक तन्तु होते हैं और सबसे ऊपर शैथिलिक कलाक आवरण रहता है । आरंभ में ये स्युद होते हैं और गुदा में अगुली धारने से दब जाते हैं, परतु कुछ काल पश्चात् रग से और चार चार प्रकुपित होने से ये भी कठे बन जाते हैं । शीघ्र के समय ये बाहर निकल आते हैं । इनसे स्फेन्ना (Mucous) तथा रक्त का स्राव अधिक होता है, इसलिये इनको परिस्रावी अर्श या रणाय (Bleeding piles) भी कहते हैं । अर्श में जो विविध लक्षण दिशाईं दते हैं उनके स्थानिक पीडा और रक्तस्राव ऐसे दो प्रधान कारण हैं । स्थानिक पीडा के मलावरोध, विष्टम्भ, आटोप, मन्दाग्नि, इकार, गुदपरिकर्तन इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं । मलावरोध से अर्श में सूज सड़ जाता है, और विष उत्पन्न होते हैं, जो रक्त में मिलने से स्वान्तर्विषता (Auto intoxication) पैदा होती है । इससे कमजोरी, इन्द्रियदौर्बल्य, तन्द्रा इत्यादि लक्षण होते हैं । रक्तस्राव से पाण्डु रोग, श्वास, थकावट इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं—तस्य (रक्तस्य) चाग्निप्रवृत्तौ शोणितान्तेयोगोपद्रवा भवति ॥ (सूत्र १२) ।

तत्र मारुतारपरिणुक्कारणवियर्णानि विषममध्यानि कदम्बपुष्पतुण्डिकेरीनाडीमूकुलस्त्रीमुक्ताकृतीनि च भयन्ति; तैरपनु(ह)तः सखल सखल गुपवेशयो, कटीपृष्ठपार्श्वभेदगुदनाभिप्रदेशेषु चास्त्वध्वना भयन्ति, गुत्तापीलाग्रीदोदराणि चास्त्वतधिमिसान्द्येय भयन्ति, कृष्णतदहनघनयनदशयधनमूत्रपुरीषश्च पुरयो भयति ॥१०॥

(वाचाय—) इनमें वात से अर्श मूले (जिनसे अर्श न हो) किण्वि रक्तवर्ण या विविधवर्ण के, सुरारं, कदम्ब पुष्पसखा, वनकपास (के फल) सरय, माड़ी के पुष्प-सरय वा सुई के गुच्छमरण होते हैं । इनसे बीकृत मनुष्य सीध पीडा के साथ कड़े मल का त्याग करता है; उसके बर्त, पेट, पार्श्व, शिथ, गुदा और नाभि प्रदेशों में पीडाई होती है; उन्हीं के कारण उसकी गुच्छ, घरीला, शीहापृष्ठ उत्पन्न होती है और अमकी ल्घ्वा, मूत्र, मेत्र, गुच्छ, दूत, मूत्र और मल काले पड़ जाते हैं ॥१०॥

पिपासीलाग्रीणि तन्तुनि विसर्पीणि पीतायमास्थानि यष्टयकाराणि मुकजिह्वादर्शस्थानानि यव-

मध्यानि जलौकोवक्रसदृशानि प्रक्लिन्नानि च भवन्ति; तैरुपद्रु(ह)तः सदाहं सरुधिरमतिस्वार्थते, ज्वर-वाहपिपासामूर्च्छाश्चास्योपद्रवा भवन्ति, पीतत्वद्-नयनदशनवदनमूत्रपुरीषश्च पुरुषो भवति ॥११॥

(पित्तार्थ—) पित्त से (उत्पन्न हुए) अर्ध अग्रभाग में नीले, कृष्ण, फैलनेवाले, किंचित् पीलापन लिये, यकृत के समान चमकीले, तोते की जिह्वा के आकार के, मध्य में स्थूल, जोंक के मुख के समान, और फिरनेवाले होते हैं। इनसे पीड़ित हुए मनुष्य को जलन और खून के साथ दस्त होते हैं; ज्वर, दाह, प्यास और मूर्च्छा ये उपद्रव उत्पन्न होते हैं; उसकी त्वचा नख, नेत्र, दाँत, मुख, मूत्र और मल पीले हो जाते हैं ॥११॥

श्लेष्मजानि श्वेतानि महामूलानि स्थिराणि वृक्षानि स्निग्धानि पाण्डूनि करीरपनसास्थिगो-स्तनाकाराणि न भिद्यन्ते न स्रवन्ति कण्डूवहुलानि च भवन्ति; तैरुपद्रु(ह)तः सश्लेष्माणमनल्पं मांसधा-वनप्रकाशमतिस्वार्थते, शोफशीतज्वरारोचकावि-पाकशिरोगौरवाणि चास्य तन्निमित्तान्येव भवन्ति, शुक्लत्वद्दन्खनयनदशनवदनमूत्रपुरीषश्च पुरुषो भवति ॥१२॥

(श्लेष्मार्थ—) कफ से उत्पन्न हुए अर्ध सफेद, जड़ में मोटे, कठिन, गोल, चिकने, धूसर, करीर (मरुजदुम— Capparis Spinosa—का फल), कटहल की गुठली या दान्ता (गोस्तना) के आकार के होते हैं; न वे फटते हैं न भरते हैं (यानि न उनसे रक्त का स्राव होता है) और बहुत खुजलाते हैं। उनसे पीड़ित हुआ मनुष्य आँवयुक्त, मांसधावन के समान अधिक राशि में मल का उत्सर्ग करता है; उनके कारण उसको शोथ, शीतज्वर, अरुचि, बदहृत्पमी, सिर में भारीपन उत्पन्न होता है; उसकी त्वचा, नख, नेत्र, दाँत, मुख, मूत्र और मल पाण्डुरवर्ण हो जाते हैं ॥१२॥

रक्तजानि न्यग्रोधप्ररोहविद्रुमकाकण्ठिकाफल-सदृशानि पित्तलक्षणानि च, यदाऽवगाढपुरीष(प्रवृ-त्ति)पीडितानि भवन्ति तदाऽत्यर्थं दुष्टमनल्पमसृक्-सहसा विस्फुजन्ति, तस्य चातिप्रवृत्तौ शोणित्वाति-योगोपद्रवा भवन्ति ॥१३॥

(रक्तार्थ—) रक्तजन्य अर्ध (वर्ण में) बट की फूल, प्रवाल या गुँजा के समान और लक्ष्मणों में पित्तोत्पन्न के समान होते हैं; जब कड़े मल से रगड़ जाते हैं और से दुष्ट रक्त का खूब उत्सर्ग करते हैं। रक्त का अत्यधिक उत्सर्ग होने से शोणित्वातियोगजन्य उपद्रव उत्पन्न होते हैं ॥१३॥

वक्तव्य—उष्ट—रक्तार्थ में जो खून निकलता है वह प्रायः सिराओं से आता है, इसलिये अशुद्ध रहता है। परंतु कभी कभी धमनी से भी आता है। अनल्प—प्रारंभ में मल त्यागने के पश्चात् खून के कुछ बूँद आते हैं, परंतु कुछ

समय के पश्चात् रक्त अधिक मात्रा में आने लगता है, और कभी कभी अत्यधिक मात्रा में निकलता है जिससे रक्त-हीनता के लक्षण उत्पन्न होते हैं। शोणित्वातियोगोपद्रवाः—तदति-प्रवृत्त शिरोऽभिनापमाध्यमधिमन्यतिमिराप्रदुर्भाव धातुक्षयमाक्षेपक पक्षाघातमेकाग्रविकार तृण्यादाहो हिका कास श्वाभ पाण्डुरोग मरण चापादयति ॥ (सूत्र. अ. १४)। स्थानिक उपद्रव—अर्ध चार बार प्रकृपित होने से रक्तत्राव के अतिरिक्त मलाशयशोथ (Proclitis), गुदविद्रधि, गुदकौलुन्दरविद्रधि (Ischio-rectal abscess), भगंदर (Anal fistula), गुदचीर (Anal fissure), अर्धभ्रंश और अर्धविपाश (Prolapse and strangulation), गुदभ्रंश, गुदसंजिरोध, गुद का कैंसर (Cancer) इत्यादि अनेक गुद के उपद्रव उत्पन्न होते हैं;—तेषां प्रशमने यत्नमाशु कुर्याद्विचक्षणः । तान्याशु हि गुदं बद्ध्वा कुर्याद्बद्धगुदोदरम् ॥ (चरक) ।

सन्निपातजानि सर्वदोषलक्षणयुक्तानि ॥१४॥ (सन्निपातार्थ—) सान्निपातिक अर्ध सर्व दोषों (से तथा उन) के लक्षणों से युक्त होते हैं ॥१४॥

वक्तव्य—यद्यपि सर्वरोग त्रिदोषज (न रोगोऽप्येक-दोषजः) हैं, तथापि दृढबल के अनुसार अर्ध प्रायः सन्निपातज होते हैं—पञ्चात्मा मारुतः पित्तं कफौ गुदवलिप्रयम् । सर्व एव प्रकुप्यन्ति गुदजानां समुद्भवे ॥ अर्शांसि खलु जायन्ते नासन्निपतितैस्त्रिभिः । दोषैर्दोषविशेषोऽपि विशेषः कल्प्यतेऽर्शसाम् ॥ (चरक, अर्धश्चिकित्सा) ।

सहजानि दुष्टशोणितशुक्रनिमित्तानि, तेषां दोषत एव प्रसाधनं कर्तव्यं, विशेषतश्चेतानि दुर्दर्शनानि परुषाणि पाण्डूनि दारुणान्यन्तर्मुखानि, तैरुपद्रुतः कृशोऽल्पभुक् सिरासन्ततगात्रोऽल्पप्रजः क्षीणरेताः क्षामस्वरः क्रोधनोऽल्पाग्निर्घ्राणशिरोऽक्षिंश्रवण-रोगवान्, सततमन्त्रकूजजटोपहृदयोपलेपारोचक-प्रभृतिभिः पीड्यते ॥१५॥

(सहजार्थ—) सहजार्थ मातापिता के बीजदोष के कारण उत्पन्न होते हैं; उनका भी वर्गीकरण (प्रसाधन) दोषों (के लक्षणों) के अनुसार करना चाहिये । ये अर्ध विशेष करके (सूक्ष्म या भयंकर होने के कारण) दुर्दर्शन, कर्कश, धूसर, दास्या और अन्तर्मुख होते हैं। इनसे पीड़ित हुआ मनुष्य कृश और अल्पभोजन करनेवाला होता है; उसके अंगों पर सिराओं के जाल प्रकटरूप से दिखाई देते हैं; उसके सन्तान कम होते हैं; क्षीणवीर्य होता है; आवाज मन्द होती है; क्रोधी होता है; मन्दाग्नियुक्त रहता है; नासा, सिर, नेत्र और कान के रोगों से पीड़ित रहता है; तथा सदा आँतों में गुड़गुड़, अफारा, हृदय में भारीपन, अरुचि इत्यादि से व्याप्त रहता है ॥१५॥

वक्तव्य—सहज—तत्र सहजानि सहजातानि शरीरेण ॥ (चरक) । Congenital । पाश्चात्त्य वैद्यक में सहज अर्ध का उल्लेख नहीं मिलता है। प्रसाधनम्—लिङ्गतः प्रमेदसाधनमिति तात्पर्यम् ॥ (हाराणचन्द्र) । दुर्दर्शनानि—कानिचिदणूनि कानि-चिन्महान्ति कानिचिदीर्वाणि इत्यादि । (चरक) । सिरासन्तत-

गत्र—जिसके शरीर पर सिराओं के जाल फैले हुए साफ साफ दिखाई देते हैं—भमनीजालगत । (चरक) । भमनी तन प्रकाशे । (सुश्रुत) । With enlarged and distended veins ।

भयति चात्र—

याह्यमध्यवलिस्थानां प्रतिक्षुर्याद्भिप्रम्वरः ।
अन्तर्वलिसमुत्थानां प्रत्याख्यायाचरेत् क्रियाम् ॥१६॥

(स्थानानुसार साध्यासाध्यत्व—) भिप्रम्वर वाह्य और मध्य वलि में उत्पन्न हुए अर्घ्य की चिकित्सा (उनको साध्य समझकर) करे, और सबसे भीतर की वलि में उत्पन्न हुए अर्घ्य की चिकित्सा (उनको) असाध्य समझकर करे ॥१६॥

घटकर्य—सत्तर्षो के अनुसार असाध्यत्व पीछे (पृष्ठ १८७) सूत्रस्थान के ३३ वें अध्याय में 'दृष्यारोषक' इत्यादि श्लोक से वर्णन किया है । चरक में असाध्यता के निम्न लक्षण मिलते हैं—इतने पादे उदे नाम्नां मुखे वृषणयोत्पत्ता । शोथे इत्याशयल च वसताऽधोऽंशो हि स ॥ इत्याशयल समोह षट्दित्तस्य स्मर । तुष्णा गुदस्य पाकश्च निरनुगुदऽजानुरम् ॥ (चरक, अर्थचिकित्सा) । ये लक्षण तब उत्पन्न होते हैं जब गुदपाक के कारण रक्त में जहर प्रविष्ट होकर समस्त शरीर में फैलना है और विषमयत्ता (जहरवाद—Toxaemia) या प्येमयत्ता (Pyaemia) उत्पन्न होती है । आजकल शकर्म के कारण अर्घ्य की असाध्यता बहुत कुछ दूर हो गई है । गुदार्घ्य का वर्णन यहाँ समाप्त हुआ है ।

प्रकुपितास्तु दोषा मेदूमभिप्रम्वरा मांसशोथिते प्रदूष्य कण्डं जनयन्ति, ततः कण्डयनात् क्षतं समुपजायते, तस्मिन्क्ष क्षते दुष्टमांसजाः प्ररोहाः पिच्छिलरुधिररक्षाधिषो जायन्ते कूर्चकिनोऽभ्यन्तरमुपरिह्रादा, ते तु शोफो विनाशयन्त्युपप्रन्ति च पुंस्यं, योनिमभिप्रम्वराः सुकुमारान् दुर्गन्धान् पिच्छिलरुधिररक्षाधिषरुध्राकारान् करीराञ्जनयन्ति, ते तु योनिमुपप्रन्त्यर्तव्यं च ॥१७॥

(लिंगान्—) प्रदूष्य हुए दोष शिख में प्राप्त होकर मांस और रक्त को दूषित करके खाज पैदा कर देते हैं, तब सुजाने से घाव पड़ जाता है, उस घाव में (यदि घाव शिख-मणि पर हो तो) शिखमणि पर या (यदि घाव शिखचर्म में हो तो) शिखचर्म पर कृषी के बाल के समान बड़े लम्बदार रक्तयुक्त धाव बहने वाले दुष्टमांसजन्य बंडुर उत्पन्न होते हैं, ये शिख को नाश करते हैं और पुदालव का घात करते हैं । (शिखों की) योनि में प्राप्त हुए (बातादि प्रकुपित दोष मांस और रक्त को दूषित करके) कोमल, दुर्गन्धयुक्त, लम्बदार रक्तयुक्त धाव करने वाले द्रव के धाकार के बंडुर उत्पन्न करते हैं; ये योनि को खाव कर घातव्य को भी नाश कर देते हैं ॥१७॥

घटकर्य—यद्यपि अर्घ्य रक्त का व्यवहार किया गया है, तथापि यहाँ से धागे को अर्घ्य वर्धन किये हैं वे एक विभिन्न प्रकार की विहृति है । पात्राव्य परिभाषा के अनुसार जिनको

पेपिलोमा (Papilloma), वाट्टे (Wart), कॉन्डिलोमा (Condyloma), ग्रानुलोमा (Granuloma) और पॉलीपस (Polypus) कहते हैं, वे सब विकार इसमें समाविष्ट । भयन्तःसुपरिह्राद—खचा के भीतर या ऊपर अर्घ्य शिख (Glans penis) पर या शिखत्वचा (Prepuce) की तरफ—बंडुर । योनि—योनिमार्ग या गर्भाशय । वागमदाह इसको लिंगार्घ्य कहते हैं । इस रोग के विशेष विवरण के लिए आगे १२ वें अध्याय के ११ वें सूत्र का उक्तव्य देखो ।

नाभिमभिप्रम्वराः सुकुमारान् दुर्गन्धान् पिच्छिलान् गण्डपदमुखसदृशान् करीरान् जनयन्ति पवोर्ध्वमागताः श्रोत्राक्षिप्राणवदनेष्वशोष्युर्गतिं यन्ति, तत्र कर्णजेषु बाधिर्यं शूलं पूतिकर्णता नेत्रजेषु घर्मावरोधो घेदना स्रावो दर्शननाश प्राणजेषु प्रतिश्यायोऽतिमात्रं क्षवधुः कृच्छ्रेण सता पूतिनस्यं सानुनासिकवाक्पयवं शिरोरुचः यक्रजेषु कण्ठोष्ठतालुनामन्यतमस्मिस्तैर्गोषाप्यता रसापानं मुखरोगाश्च भवन्ति ॥१८॥

(भयन्स्थान के अर्थ—) नाभि में प्राप्त हुए । कोमल, दुर्गन्धयुक्त, लसदार, केंचुप के मुख के समान व उत्पन्न करते हैं । ये ही ऊपर गमन करने पर कान, नाक, और मुख में अर्घ्य उत्पन्न करते हैं । उनमें से कान (अर्घ्य उत्पन्न होने पर) बधिरता (बहरापन), शूल, कान में दुर्गन्ध (उत्पन्न होती है), नेत्रों में (उत्पन्न) पर) घर्म (पलक) की (गति में) दृक्कावट, की भाँस का बहना और दृष्टि का (न्यूनाधिक) नाश (उ होता है), नासा में (उत्पन्न होने पर) जुकाम, बहुत बंध आना, साँस लेने में कठिनाई, नासा में दुर्गन्ध, अनुनासिक (गुणगुनी) आवाज और सिरदर्द (उत्पन्न होता है) मुख में कण्ठ, होठ या तालु में से किसी एक पर होने शब्दोच्चारण में दृक्कावट, रसज्ञान का नाश और (अनेक मुखरोग उत्पन्न होते हैं) ॥१८॥

व्यानस्तु प्रकुपितः नेत्रेष्वाणं परिगृह्य बहि स्थिराणि कीलवदशोसि निर्वर्तयति, तानि चर्म कीलान्यशोसीत्याचक्षते ॥१९॥

(चर्मकील—) प्रदूष्य स्थानवायु कफ को ग्रहण कर बाह्य त्वचा पर स्थिर (जो जल्दी बहते नहीं ऐसे) कील समान मरते उत्पन्न करती है; वे चर्मकील अर्घ्य (लम्बतर्षो कहलाते हैं) ॥१९॥

भयन्ति चात्र—

तेषु कीलेषु निस्तोदो मारुतेनोपजायते नेत्रेष्वपि तु स्वर्णतयं प्रमिथयं च विनिर्दिशेत् नेत्रेषु पिच्छशोथितजं कृष्णरक्तचं ज्ञेयता तथा । समुदीरणीयरत्यं वा चर्मकीलस्य लक्षणम् ॥२०॥

(शोफों के अनुसार कृष्ण—) उन चर्मकीलों में वायु दोष से पीड़ा उत्पन्न होती है; कफ से (कफ के

मान (श्वेत) वर्ण और गँठीलापन आता है; पित्त और कफ से कालापन तथा लाली होती है; (इनके अतिरिक्त कफ चिग्धता और (बाल से) तीव्रपारूप्य ये भी चर्मकील लक्षण होते हैं ॥२०,२१॥

वक्तव्य—चिग्धता और समुदीर्णखरत्व ये पीछे बताने हुए गुण क्रम से कफ और वात के समझने चाहिये—तेन तोदपारूप्यं पित्तादसितरक्तता । श्लेष्मणा खिन्धता तस्य प्रथितत्वं वर्णता ॥ (अष्टांगसंग्रह) । सर्वणत्वम्—श्लेष्मा का सर्वणत्वम् । ब टीकाकार इसका अर्थ 'गात्रसवर्णता' करते हैं, परन्तु ब टीका नहीं है । अनेक प्राचीन टीकाकार चर्मकीलों का पान गुदौष्ठ के बाहर (वहिः) गुदसमीपवर्ति प्रदेश में मानते हैं । परन्तु यह मत शास्त्रविरुद्ध और प्रत्यक्षविरुद्ध ; क्योंकि चर्मकीलोत्पादक व्यानवायु सर्वशरीरचर (कृत्न-हचरो व्यानः, सुश्रुत) होती है और चर्मकील भी शरीर पर नेक स्थानों में दिखाई देते हैं ।

प्रशंसां लक्षणं व्यासादुक्तं सामान्यतस्तु यत् ।
तत्सर्वं प्राग्विनिर्दिष्टात्साधयेद्भिषजां वरः ॥२२॥
(चर्मकील प्रकार के) अशों के (दोषानुरूप) लक्षण ऊपर के दो श्लोकों में विस्तार से कहे हैं; परन्तु (मेढ्रादि ऊपर होनेवाले अशों के लक्षण) जो संक्षेप से यतलाये हैं, उनको भिषकश्रेष्ठ (दोषानुरूप) पूर्व (ब्रह्मप्रश्न अध्याय में, वातव्याधि अध्याय में या पूर्वोक्त श्लोकों में) निर्दिष्ट वर्णन के अनुसार समझ ले ॥२२॥

अशोःसु दृश्यते रूपं यदा दोषद्वयस्य तु ।
संसर्गं तं विजानीयात् संसर्गः स च षड्विधः ॥२३॥
अर्थ में जब दो दोषों के लक्षण (मिले हुए) दिखाई देते हैं तब वह दोषसंसर्ग समझना चाहिये । यह संसर्ग छः प्रकार का होता है ॥२३॥

वक्तव्य—षड्विधः—वातपित्त, वातकफ, पित्तकफ, वातरक्त, पित्तरक्त और कफरक्त ।
त्रिदोषाण्यल्पलिङ्गानि याप्यानि तु विनिर्दिशेत् ।
द्वन्द्वजानि द्वितीयायां बलौ यान्याश्रितानि च ॥२४॥
कृच्छ्रसाध्यानि तान्याहुः परिसंवत्सराणि च ।
सन्निपातसमुत्थानि सहजानि तु वर्जयेत् ॥२५॥

(याप्य, कृच्छ्रसाध्य और असाध्य अर्थ—) त्रिदोषजन्य (परन्तु) थोड़े लक्षणयुक्त अशों याप्य समझना चाहिये; त्रिदोषजन्य, दूसरी (मध्य विसर्जनी) बलि में स्थित हुए, बाल से अधिक पुराने अशों कृच्छ्रसाध्य कहलाते हैं । त्रिदोषजन्य (परन्तु अधिक लक्षणयुक्त) और सहज अर्थ असाध्य होते हैं ॥२४,२५॥

वक्तव्य—परिसंवत्सराणि—पत्नितोऽतिक्रान्तः संवत्सरो येत्यानि । सुखसाध्य का लक्षण—बाह्यायां तु बलौ जातान्येकदोषो-ल्लणानि च । अशोसि सुखसाध्यानि न चिरोत्पतितानि च ॥ (अष्टांगसंग्रह) ।

सर्वाः स्युर्वलयो येषां दुर्नामभिरुपद्रुताः ।

१ सन्नेपतस्तु.

तैस्तु प्रतिहतो वायुरपानः सन्निवर्तते ।
ततो व्यानेन सङ्गम्य ज्योतिर्मृद्नाति देहिनाम् ॥२६॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थानेऽशौनिदानं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२१॥

जिन मनुष्यों की (गुदा की) सारी बलियाँ अशों से पीड़ित होती हैं, उनकी (नीचे की ओर) अशों से अवरोद्ध हुई अपानवायु उलटी (ऊपर की ओर) चल देती है, और पश्चात् व्यानवायु से मिलकर, मनुष्यों की ज्योति का नाश कर देती है ॥२६॥

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां निदानस्थानेऽशौनिदानं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२१॥

तृतीयोऽध्यायः ।

अथातोऽश्मरीणां निदानं व्याख्यास्यामः ।
यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहां से अश्मरी के निदान का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—अश्मरी—वस्तिगत अश्मरी । वस्तिगत अश्मरी को वैसिकल कयालक्यूलस (Vesical calculus) कहते हैं । पथर (अश्मा) के समान कठिन होने से इसको अश्मरी या पथरी कहते हैं ।

चतस्रोऽश्मर्यो भवन्ति श्लेष्माधिष्ठानाः; तद्यथा—श्लेष्मणा, वातेन, पित्तेन, शुक्रेण चेति ॥२॥

(अश्मरी संख्या—) श्लेष्मा के ऊपर अधिष्ठित हुई अश्मरियाँ चार प्रकार की होती हैं । जैसे—कफ से, वात से, पित्त से और शुक्र से ॥२॥

वक्तव्य—श्लेष्माधिष्ठानाः—श्लेष्मोपादानकारणाः, श्लेष्माण-मुपादाय भवन्ति इत्यर्थः । (बल्हण) । मल रूप श्लेष्मा (mucus) को अधिष्ठान यानि केन्द्र करके उत्पन्न हुई । आधुनिक काल में अश्मरी को व्यत्यस्त काटकर देखने से यह सिद्ध हुआ है कि प्रायः उसका केन्द्र (Nucleus) शुष्क श्लेष्मा से बना रहता है । कभी कभी जमे हुए रक्त का थका या जीवाणु भी केन्द्र में मिलते हैं । इस केन्द्र के ऊपर लवण संगठित होने से अश्मरी बन जाती है । इसका विशेष विचार आगे २५, २६ वें श्लोकों में किया गया है ।

तत्रासंशोधनशीलस्यापथ्यकारिणः प्रकुपितः श्लेष्मा मूत्रसंपृक्तोऽनुप्रविश्य वस्तिमश्मरीं जनयति ॥३॥

(हेतु—) (पंचकर्मों से शरीर का) संशोधन न करने वाले तथा कुपथ्य से रहनेवाले मनुष्य का कुपित हुआ कफ मूत्र में मिलकर वस्ति में प्रविष्ट होकर पथरी पैदा करता है ॥३॥

वक्तव्य—अश्मरी के कई प्रकार की होने के कारण उसके कारण भी अनेक होते हैं । तथापि संशोधन का अभाव और आहार विहार का अपथ्य ये दो प्रधान कारण हैं । नैट्रोजनयुक्त

गरिष्ठ पदार्थों का अति सेवन, साग सखी तथा अन्य क्षार-युक्त (Saline) पदार्थों का और नमक का कम सेवन, मद्य चाय और मिष्टान्न का अतिसेवन, दूध की कमी, कब्ज, मन्दाग्नि, व्यायामाभाव, अधिक देर तक मूत्र त्याग न करना, सीते के साथ हमेशा संबंध होने से शरीर में सीस विषमयता उत्पन्न होना, वातरक्त, कड़ी भूष में काम करना, कम पानी पीने से या गर्मी के कारण पत्नी के द्वारा अधिकार्ण जल निकल जाने से मूत्र में घन पदार्थों की राशि बढ़ना, पीने के पानी में खटिक की राशि अधिक मात्रा में उपस्थित रहना, मल्लिच्छदीर्घत्व इत्यादि अनेक कारणों से अश्वरी उत्पन्न होती है। यह रोग बच्चों में तथा जवानों में अधिक पाया जाता है। शिंपों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक होता है। ठंडे मुक्त की अपेक्षा गर्म मुक्तों में अधिक होता है। बस्तिस्थ अश्वरी की उत्पत्ति सूक्ष्म रूप से प्राय वृक्ष या गभीनी में होती है। वह सूक्ष्म अश्वरी बस्ति में आकर केन्द्र की भाँति काम करती है। इसके चारों ओर मूत्रस्थ न्वनिर्जों के कयों के स्तर संगठित होकर पूर्ण अश्वरी बन जाती है। इसका अधिक विवरण आगे २५ वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है।

तासां पूर्वरूपाणि—वस्तिपीडारोचको मूत्र कृच्छ्रं वस्तिशिरोमुष्करोफसां वेदना कृच्छ्राज्ज्वरा-वसादी यस्तागन्धित्वं मूत्रस्येति ॥४॥

यथाखवेदनाथणं दुष्टं सान्द्रमथाधिलम् ।

पूर्वरूपेऽश्वमनः कृच्छ्रान्मूत्रं सृजति मानव ॥५॥

(पूर्वरूप—) उनके पूर्वरूप—बस्तिस्थान में पीड़ा, अर्लक्ष, कष्ट से मूत्र का त्याग, बस्ति, शिर, वृषण और शिख में वेदना, मूत्रकृच्छ्र के कारण ज्वर और कमजोरी तथा मूत्र में (उन्मत्त) बकरे की सी गन्ध ॥४॥ अश्वरी के पूर्वरूप में मनुष्य दोषों के अनुसार वेदना और कषाययुक्त, दूषित, हसदार, मिला मूत्र कष्ट से त्याग करता है ॥५॥

वक्तव्य—वस्तिशिर—वस्तिद्वार Internal urethral orifice । यथाखवेदनाथणं—दोषानभिन्नेण वेदना वगैश्च पश्चिन् मूत्रं तद्यथा ॥ (इच्छया) ।

अथ ज्ञातास्तु नाभिधत्तिसेवेनीमेहनेष्वन्यतम-स्तिन् मेहतो वेदना मूत्रधारासङ्गः सरुधिरमूत्रता मूत्रविकिरणं गोमेदकप्रकाशमनैपिलं ससिक्तं विसृजति, धावतलह्वनप्रवनपृष्टयानाध्वगमनै-श्चास्य वेदना भवन्ति ॥६॥

(सामान्य लक्षण—) अश्वरी पूर्ण पैदा होने पर मूत्रत्याग करते समय नाभि, बस्ति, सेवनी, शिख इनमें कड़ी वेदना होती है, मूत्र की धारा (बीच में) रुक जाती है, मूत्र में खून आता है, धारा टेढ़ी होती है, गोमेदक के समान स्वच्छ दूध सिकता के साथ निकलता है, दीड़ने, इदने, तैरने, तवारी करने, मार्ग चलने से उसके (बस्ति निष्प्राग में) पीड़ा होती है ॥६॥

वक्तव्य—मूत्रधारानग—मूत्रमार्ग में अश्वरी अत्र जाने से मूत्रधारा बंद होती है। नवविरचूत—अश्वरी। रगट बस्ति में उत्पन्न होने से खून निकलकर-मूत्र के लो आता है। अष्टांगहृद्य में ये सामान्य लक्षण सत्रेप में बहुत सुचारुरूप से वर्णन किये हैं—सामान्यलिङ्ग रश् नाभितेजः बन्धमूर्धेषु । विशीर्णैश्च मूत्र स्वात्तथा मार्गत्रिषेधे ॥ तद्व्यपयास्तु मेहदृष्ट्य गोमेदवीपमन् ॥ तत्तन्शोभाए श्वेते सासमायामाचारिस्त्रमेवेव विधिरेण—विधेय इत्येवमथ गमनम् । शिखमणि में अश्वरी अत्र जाने से मूत्र की धारा इधर उधर विकीर्ण होती है।

त्रैत्रात्यर्थं श्लेष्मलमशम-यवहरत' श्लेष्मा संघ तमुपगम्य यथोक्तं परिवृद्धिं प्राप्य वस्तिमुखमधिष्ठा स्रोतो निरुणद्धि, तस्य मूत्रप्रतीघाताद्दृश्यते भिद्यं निस्तुद्यत इव च वस्तिगुरुः शीतश्च भवति; अश्वरं चात्र श्वेता श्लिग्धा महती कुक्कुट्टाएडप्रतीकाश मधुकुपुण्यवर्णा या भवति, तां श्लैष्मिकीमिति विद्यात् ॥७॥

(श्लेष्माश्वरी—) अर्थात् कफकारक भोजन सेवन कर खाने का श्लेष्मा संगठित और यथोक्त वृद्धि को प्राप्त होने तथा वस्तिमुख में अवस्थित होकर मूत्रमार्ग को रोक देता है। (मूत्रमार्ग बंद हो जाने से अधिक राशि में सखिन हुए, मूत्र के प्रत्याघात के कारण बस्ति विदीर्ण हुआ सा, विगण हुआ सा और व्यथित हुआ सा होता है, तथा बस्तिस्था भारी और ठंडा मालूम होता है। इसमें पथरी हफेद चिकनी, बरी, सुरो के अण्डे के समान अथवा मड्डने में पूल के बंधे की होती है। इसको श्लेष्माश्वरी समकन चाहिये ॥७॥

वक्तव्य—मूत्रप्रतिघात—सचित मूत्र के दबाव से श्लेष्माश्वरी—पाश्चात्य वैद्यक में रासायनिक संगठन के अनुसार अश्वरिषी के भेद किये गये हैं। कफाश्वरी के रंग, रूपादि का विचार करने पर उसका मेल कार्बेटिक कैल्क्यूलस (Phosphatic Calculus) के साथ होता है। साधारणतया यह अश्वरी अमोनियम मग्नेशियम कार्बेट तथा चूने के कार्बेट से बनती है और श्लेष्माश्वरी की भाँति श्वेत और चिकनी होती है।

पित्तयुक्तस्तु श्लेष्मा संघातमुपगम्य यथोक्तं परिवृद्धिं प्राप्य वस्तिमुखमधिष्ठाय स्रोतो निरु णद्धि, तस्य मूत्रप्रतीघाताद्दृश्यते सूक्ष्मते दृश्यते पच्यते इव वस्तिरुण्ययानश्च भवति; अश्वरी चान सरक्ता पीतावभासा कृष्णा महातकास्थि-प्रतिमा मधुवर्णा या भवति, तां पित्तिकीमिति विद्यात् ॥८॥

(पित्तश्वरी—) पित्तयुक्त श्लेष्मा संगठित और यथोक्त परिवृद्धि को प्राप्त होकर बलिमुख में अधिष्ठाग करके मूत्रमार्ग

ने रोक देता है । (इस इकावट से संचित हुए) मूत्र के तिघात के कारण वस्ति मानो फुल्ल रहा है, तप रहा है, रुका रहा है, और पक रहा है ऐसा मालूम पड़ता है, तथा वात भी पैदा होता है । इसमें पथरी रक्तिमा (लालिमा) और पीलापन लिये, काली, भिलायें की गुठली जैसी या शहद रंग की होती है; उसको पित्ताश्मरी समझना चाहिये ॥८॥

चक्तव्य—मूत्रप्रतीघातात्—मूत्र के तेजावी तासीर के कारण । यह तेजावी तासीर मूत्र में जलांश की कमी और रिक एसिड तथा एसिड यूरेट्स की उपस्थिति से उत्पन्न होती है । 'ऊष्यते' इत्यादि—ओष, चोष, दाह और पाक लन के भिन्न भिन्न प्रकार हैं । उष्णवात—वस्तिशोथ (Cystitis) । व्यायामाघातपैः पित्त वस्ति प्राप्यानिलावृतम् । वस्ति मेदु गुद व प्रदहन् छात्रयेदथः ॥ मूत्र हारिद्रमथवा सरक्तं रक्तमेव वा । च्यूल पुनः पुनर्नन्तोरुष्णवातं वदन्ति तम् ॥ (उत्तरतन्त्र) । तीनीम्—इसका मेल यूरिक एसिड कल्क्यूलस (Uric acid calculus) के साथ होता है । यह पथरी या तो शुद्ध यूरिक सिड की या अमोनियम यूरेट की होती है ।

वातयुक्तस्तु श्लेष्मा संघातमुपगम्य यथोक्तं रिवृद्धिं प्राप्य वस्तिमुखमधिष्ठाय स्रोतो निरुद्धि, तस्य मूत्रप्रतीघातात्तीव्रा वेदना भवति, तथाऽत्यर्थं पीड्यमानो दन्तान् खादति नाभिं पीडति मेदं मृद्नाति पायुं स्पृशति विशर्धते विदति वातमूत्रपुरीपाणि कृच्छ्रेण चाऽस्य मेहतो नःसरन्ति; अश्मरी चात्र श्यावा परुषा विपमवरा कदम्बपुष्पवत्कण्टकाचिता भवति, तां वातिनीमिति विद्यात् ॥९॥

(घाताश्मरी—) वातयुक्त श्लेष्मा संगठित और परिद्धि को प्राप्त होकर वस्तिमुख में अधिष्ठान करके मूत्रमार्ग को रोक देता है; मूत्रप्रतीघात के कारण उसको तीव्र वेदना होती है, और तीव्र वेदना से पीड़ित हुआ दाँतों को पीसता । नाभि को दबाता है, शिश्न कं मसलता है, गुदा को छूता, कराहता है, परितप्त होता है और मूत्रत्याग करते समय धोवात, मूत्र तथा मल बड़ी मुश्किल से निकलते हैं । सभे पथरी साँवली, कड़ी, टेढ़ी, खुरदरी और कदम्ब पुष्प के मान कण्टकों से व्यास होती है; इसे वार्तिक अश्मरी समझना चाहिये ॥९॥

चक्तव्य—मूत्रप्रतीघातात्—मूत्राश्मरी की रगड़ से । अर्धे—अनिशं कणम् (अष्टांगहृदय) । कणत्रानाविधदुःखोत्पन्न शब्दं विदधत्—(अस्पृष्ट) । वातिकीम्—इस अश्मरी का मेल आक्जलेट आफ लाइम क्यालक्यूलस (oxalate of lime Calculus) के साथ ठीक ठीक होता है । यह अश्मरी वाताश्मरी के समान श्याव, विपम और कंटकचिता Spiculated) होती है । अंग्रेजी में इसकी तुलना शहद से Mulberry) करते हैं, परन्तु कदम्बपुष्प की तुलना शहद से नहीं बड़े अच्छी है ।

प्रायेणैतास्तिस्त्रोऽश्मर्यां दिवास्वप्नसमशानाध्य-

शनशीतस्निग्धगुरुमधुगहारप्रियत्वाद्विशेषेण चालानां भवन्ति; तेषामेवाल्पवस्ति कायत्वाद्नुपचित्तमांसत्वाच्च वस्तेः सुखग्रहणाद्वरण भवन्ति ॥१०॥

दिन में सोने से, हिताहित संयुक्त आहार करने से, भोजन पर भोजन करने से, शीतल, स्निग्ध, गरिष्ठ और मधुर आहार प्रिय होने से ये तीनों प्रकार की अश्मरियाँ अकसर बच्चों को हुआ करती हैं । उनका वस्ति तथा शरीर छोटा होने से तथा उनका वस्ति पतला होने से अश्मरियों का (यन्त्र से) ग्रहण तथा आहरण सहज ही में हो सकता है ॥१०॥

महतां तु शुक्राश्मरी शुक्रनिमित्ता भवति ॥११॥
(शुक्राश्मरी—) परन्तु बड़े मनुष्यों को शुक्र के कारण शुक्राश्मरी होती है ॥११॥

मैथुनाभिघातादतिमैथुनाद्वा शुक्रं चलितमनिर्गच्छं द्विमार्गगमनादनिलोऽभितः संगृह्य मेद्वृषणयोरन्तरे संहरति, संहृत्य चोपशोषयति; सा मूत्रमार्गमावृणोति, मूत्रकृच्छ्रं वस्तिवेदनां वृषणयोश्च श्वयथुमापादयति, पीडितमात्रे च तस्मिन्नेव प्रदेशे प्रविलयमापद्यते; तां शुक्राश्मरीमिति विद्यात् ॥१२॥

(हेतु—) मैथुन के रोकने से वा अत्यन्त मैथुन करने से अपने स्थान से चलायमान हुआ शुक्र जब बाहर न निकल कर उलटा गमन करता है तब उसे वायु पकड़कर वृषण और शिश्न के बीच में इकट्ठा करती है और इकट्ठा करके सुखा (कर कड़ा कर) देती है (जिससे अश्मरी बन जाती है); वह अश्मरी मूत्रमार्ग को रोक देती है और मूत्रकृच्छ्र, वस्ति-विभाग में पीड़ा, और वृषणों पर शोथ पैदा करती है; दवाने पर उसी जगह में विलीन हो जाती है, उसे शुक्राश्मरी (Seminal or Spermatic Concretions, Spermolith) कहते हैं ॥१२॥

भवन्ति चात्र—

शर्करा सिक्रता मेदो भस्माख्योऽश्मरिवैकृतम् ॥१३॥
शर्करामेह, सिकतामेह और भस्मकाख्यमेह में अश्मरी के ही विकार हैं ॥१३॥

चक्तव्य—अश्मरी से जो पीड़ित होते हैं, उनमें कभी कभी मूत्र के साथ शर्करा निकल आती है (शर्करामेह—Passing of gravel); कभी कभी मूत्र में लाल रंग का तलछट जम जाता है (सिकतामेह—Briekdust deposit); या कभी कभी राख मिलाये हुए जल का सा मूत्र (भस्ममेह—Phosphatunia) निकलता है ।

अश्मर्याः शर्करा ज्ञेया तुल्यव्यञ्जनवेदना । पवनेऽनुगुणे सा तु निरेत्यल्पा विशेषतः ॥१४॥
सा भिन्नमूर्तिवतिन शर्करेत्यभिधीयते ।

(शर्करा—) स्वरूप और लक्षण में शर्करा को अश्मरी के समान जानना चाहिये । परन्तु वह शर्करा, जो विशेष करके छोटी होती है, वायु अनुकूल होने पर (मूत्र के साथ) निक-
१ मैथुनविघातात्. २ चलितमनिर्गलत्.

सती है ॥१४॥ अश्मरी (ही) वायु से विदीर्ण होने पर शर्करा कटुलाती है ।

घक्तव्य—तुल्यव्यजनवेदना—अश्मरीवाल्या व्यनना वेदना च यस्या सा । अश्मरी और शर्करा का उपादान एक होने से दोनों का बाह्य स्वरूप भी एक सा होता है, तथा दोनों के लक्षण भी एक से होते हैं । निरति—'सह मूत्रेण' इति शेष । भिन्नवृत्ति—शरीर के भीतर, विशेष करके बलिन में, अश्मरी का आप से आप विदीर्ण होना (Spontaneous Fracture)—एक असंभवनीय सी घटना मालूम होती है, परन्तु पाश्चात्य वैज्ञानिक अन्वेषण और प्रयोग करके इस नियोज्य पर पहुँचे हैं कि मूत्र की गुल्ता और प्रतिक्रिया में फँके होने से अश्मरी आप से आप विदीर्ण हो सकती है । यवत्तार, वट्या, पापाण भेद इत्यादि धोपधिर्वा, जो अश्मरीघ्न (Lithotriptic) करके प्रसिद्ध हैं, प्रायः मूत्र में उपर्युक्त परिवर्तन करके कार्य करती हैं । यहाँ स्थली श्लोकार्थ में शर्करा की संप्राप्ति वर्णन की है, और प्रथम श्लोकार्थ में अश्मरी के साथ शर्करा की समता वर्णन कर द्वितीय श्लोकार्थ में अश्मरी से शर्करा का भेद बतलाया गया है । उसका तात्पर्य यह है कि वायु अनुकूल होने पर शर्करा मूत्रमार्ग से बाहर निकल सकती है, परन्तु अश्मरी वायु अनुकूल होने पर भी बाहर नहीं निकल सकती । वायु प्रतिशूल होने पर शर्करा भी अटक जाती है—प्रतिक्रमे विवर्धते ॥ (अष्टांगहृदय) । अथ उसी के लक्षण वर्णन करते हैं—

हृत्पीडा स्फिघसद्वनं कुक्षिशूलं सवेपथु ॥१५॥
सृण्वोर्ध्वगोऽनिलः काभ्यर्ष्यं दौर्बल्यं पाण्डुग्रात्रता ।
अरोचकाविपाकी तु शर्करार्ते भयन्ति च ॥१६॥
 हृदय प्रदेश में पीड़ा, अधोग्रास्य में शकावट, कण्ठ के साथ कुक्षि में शूल ॥१५॥ व्यास, ऊर्ध्ववात, कृयता, कमजोरी, देह का पीका पड़ना, अरुचि और अनीर्य, शर्करा से पीड़ित होने पर होते हैं ॥१६॥

यक्तव्य—यहाँ शर्करा के जो लक्षण दिये हैं वे शूक या गवीनी (Ureter) में स्थित हुई शर्करा के समझने चाहियें । बलिन में शर्करा स्थित होने पर इस प्रकार के तीव्र लक्षण नहीं हो सकते । शूक या गवीनी से नीचे की ओर प्रवृत्त हुई शर्करा के लक्षण अब बतलाते हैं—

मूत्रमार्गप्रवृत्ता सा सक्ता कुर्यादुपद्रव्यान् ।
दौर्बल्यं सवदनं काश्यं कुक्षिशूलमरोचकम् ।
पाण्डुत्वमुष्णव्यातं च सृण्णा हृत्पीडनं घमिम ॥१७॥

मूत्र मार्ग में नीचे की ओर उतरने के लिये प्रवृत्त होने पर रास्ता तंग होने के कारण जब शर्करा अटकती है तब कमजोरी, अयसाद, कृयता, कुक्षिप्रदेश में शूल, अरुचि, शरीर में पीकापन, बार बार रक्त के साथ रूँद रूँद करके मूत्रमार्ग काटना, सृण्णा, हृदयप्रदेश में पीड़ा और घमन ये उपद्रव होते हैं ॥१७॥

यक्तव्य—इस श्लोक में हृत्शूल (Renal Colic) का वर्णन है । यह शूल जब शर्करा शूक से बलिन की ओर नीचे की निकलने लगती है तब उत्पन्न होता है । यहाँ जो

लक्षण वर्णन किये हैं उनका विचार प्रत्यक्ष शारीर और विर्क विज्ञान की दृष्टि से करने पर जिस मूत्रमार्ग का यहाँ उल्लेख किया है वह मार्ग गवीनी (Ureter) प्रतीत होता है इस शूल का एक विशेष लक्षण, जो यहाँ नहीं लिखा है, यह होता है कि एक ओर की कुक्षि प्रदेश में शूल प्रारंभ होकर वह नीचे की ओर उसी तरफ के वृषण में चल जाता है जब शर्करा कटकावृत्त या सुरदरी होती है तब शूल इतन तीव्र होता है कि रोगी उससे ब्याकुल होकर मूर्च्छित हो जाता है और कभी कभी मूत्राघात (Suppression of urine) भी हो जाता है । जब शर्करा बलिन में आती है तब शूल कम होता है । शूल के लक्षण आगे उत्तरतन्त्र के मूत्रकृष्ट प्रतिषेध में वर्णन किये हैं—ताभिर्भवन्ति मूर्च्छां च मूत्राघातश्च दारुण मूत्रेणनिरन्तरात् तासु शाप्यन्ति वदन् । यावदन्त्या, पुनर्नैति गुरिक स्रोतन्ने मुखम् ॥

नाभिपृष्ठकटीमुष्कगुदवक्त्रणशेषसाम् ॥
एकद्वारस्तनुत्यक्तो मध्ये वस्तिरधोमुखः ॥१८॥
अलाभ्या इव रूपेण सिराभ्रायुपरिग्रहः ।
वस्तिर्वस्तिशिरश्चैव पौरुषं वृषणौ गुदम् ॥१९॥
एकसम्बन्धिनो होते गुदास्थिविवेराधिताः ।
मूत्रायुषो मलाधारः प्राणायतनमुत्तमम् ॥२०॥
 (उल्लिखण—) नाभि, पृष्ठ, कटी, वृषण, गुद, वक्ष्य और शिख इनके बीच में एक द्वार का, पतली दीवार का, और नीचे की ओर मुख किया हुआ बलि होता है ॥१८॥ आकार में यह (चपटा) तुम्बी के समान होता है और मिरा आयुर्ग से बना है । बलि, बलिधिर, शिख, वृषण और गुद ॥१९॥ ये गुदास्थि विवर का आश्रय किये हुए उसी से संबन्धित रहते हैं । बलि मल का आधार है और प्रार्थी का एक श्रेष्ठ स्थान है ॥२०॥

यक्तव्य—एकद्वार—जिस द्वार का यहाँ उल्लेख किया है वह मूत्रप्रलेक का अभ्यन्तरीय द्वार है (Internal urethral orifice) और इस द्वार समीपवर्ति प्रदेश के लिये 'बस्तिशिर' शब्द का प्रयोग होता है । पौरुष—मेदू या शिख । महामहो पाष्याय कविराज गणनाथ सेन पीरर का आर्थ पीररमणि (Prostate gland) समझते हैं—पौरुष तु बस्तिमूलको मणि विशेष प्रयुक्तदृष्ट स्वरिति प्रीति शारीरविदाम् । न वायु इलनिक 'पौरुष मेद्व'—इत्यर्थ मन्त्रच्छेद, पौरुषत्येव गुदास्थिविवरमित्ताभिवा नात् । परन्तु यह अर्थ विषयत मालूम होता है, इसलिये कि (१) यहाँ निर्दिष्ट किये हुए प्रत्येक अंग का गुदास्थिविवर में होना आवश्यक नहीं है; यहाँ केवल गुदास्थिविवर से संबंध रखने वाले अंगों का निर्देश किया है । (२) वृषण गुदास्थिविवर में नहीं होते । गणनाथ सेन जी का इस विषय पर कथन है कि, गर्भावस्था में वृषण भी गुदास्थिविवर में होते हैं—यद्यपि वृषणो न गुदास्थिविवरयो तथापि गर्भावस्थाकाले शाप्यन्ने भोविनवतन्नेव तयोत्पत्त्यानात् तथाभिवाय मन्त्रच्छेद । (प्रयुक्त शारीर प्रस्तावना) । परन्तु 'गर्भावस्था का विचार करके 'वृषणौ' शब्द का यहाँ प्रयोग किया गया है, यह दुर्लभ वृत्तान्त मालूम

ती है। (३) अष्टांगहृदय में वस्तिवर्णन के समय यही श्रुत का श्लोक दिया है। उसमें 'पौरुष' के बदले 'मेढू' का गेप किया गया है—वस्तिवस्तिशिरोमेढूकटीवृषणपायवः । एकधिनः प्रोक्ता गुदास्थिविवराश्रयाः ॥ (निदान, अ. ९) । (४) पुन सुश्रुतसंहिता में पौरुष शब्द का प्रयोग पहिले हो चुका—वैश्वानरः शिरः पातु विष्णुत्वव पराक्रमम् । पौरुष पुरुषश्रेष्ठो ब्रह्मात्मान ध्रुवो ध्रुवो ॥ (सूत्रस्थान. अ. ५) । पौरुष के यहाँ र अर्थ हो सकते हैं; (१) बल, (२) पराक्रम, (३) वीर्य, (४) शिक्ष । इनमें से बल, पराक्रम और वीर्य का तन्त्र निर्देश किया गया है। इसलिये यहाँ भी पौरुष से शिक्षा ग्रहण करना चाहिये और वैसा अर्थ वक्तव्य में (पृष्ठ ५ देखो) किया गया है। एकमवधिनः—एक आश्रय से संबंध बने वाले, अर्थात् समान संश्रय । यह समान संश्रय है दास्थिविवर और इसी को आधुनिक परिभाषा में वस्तिगुहा । श्रोणिगुहा (Pelvic Cavity) कहते हैं। इस गुहा में वस्ति भगास्थिसंधि के पीछे रहता है। पुरुषों में उसके पीछे शुक्राणय रहते हैं और इनके पीछे 'स्थूलगुद' या मलाशय ता है। स्त्रियों में वस्ति और स्थूलगुद के बीच में गर्भाशय ता है—क्षीणां तु वस्तिपार्श्वगतो गर्भाशयः ॥ (सुश्रुत) । लाधारः—मूत्ररूप मल के लिये इकट्ठा होने का स्थान । रीर में मूत्र अनवरत वनता रहता है जो मूत्रस्रोतसों द्वारा स्ति में आकर इकट्ठा होता है। काफी इकट्ठा होने पर मनुष्य में मूत्रत्याग करने की आवश्यकता या इच्छा होती है। णायतनमुत्तमम्—वस्तिमर्म होने के कारण प्राणायतन कहा या है—मर्माणि ..तेषु स्वभावत एव प्राणास्तिष्ठन्ति ॥ (शारीर,) । सद्यःप्राणाहर और त्रिमर्मों में से एक होने के कारण त्तम प्राणायतन भी कहा गया है—हृदय वस्ति नामिथ्य ध्रुनि षोहानि तु ॥ (शारीर, ६) । तत्र शारयाश्रितेभ्यो मर्मभ्य क्पयाश्रितानि गरीयानि, स्कन्धाश्रितेभ्योऽपि हृदन्तिशिरामि तन्मल- षाच्छरीरस्य ॥ (चरक, सिद्धिस्थान) । इन श्लोकों में वस्ति ने आकृति, बनावट, संबंध और कार्य का जो संज्ञेप में वर्णन किया है वह प्रत्यक्ष शारीर रचना के अनुसार प्रायः ठीक है। मर्फ एक शब्द इसमें स्वटकता है वह 'एकद्वार' है। वस्ति में ाम्विक तीन द्वार हैं; एक मूत्रनिर्गमन के लिये और दो मूत्रागमन के लिये। इसका विशेष विवरण आगे मूत्रोत्पत्ति के विवरण में किया जायगा।

पकाशयगतास्तत्र नाड्यो मूत्रवहास्तु याः ।
 तर्पयन्ति सदा मूत्रं सरितः सागरं यथा ॥२१॥
 सूक्ष्मन्वाचोपलभ्यन्ते मुखान्यासां सहस्रशः ।
 दाडीभिरुपनीतस्य मूत्रस्यामाशयान्तगत् ।
 जात्रनः स्वपनश्चैव स निःस्यन्देन पूर्यते ॥२२॥
 आमृग्वान्सलिले न्यस्तः पार्श्वेभ्यः पूर्यते नवः ।
 घटो यथा तथा विद्धि वस्तिर्मूत्रेण पूर्यते ॥२३॥

जैसे नदियाँ समुद्र में गदा (जल) नर्पण करती हैं वैसे जो पकाशयस्थ मूत्रवह नाड्य हैं वे वस्ति में मूत्र सदा तर्पण करती रहती हैं ॥२१॥ इन नाडियों के हजारों मुख सूक्ष्म होने के कारण विद्धि नहीं होते। ग्रामाशय (और

पकाशय) के भीतर से नाडियों द्वारा लाये हुए मूत्र के निःस्यन्द से वस्ति जागते सोते समय (दिन रात) भरता है ॥२२॥ मुँह तक पानी में रक्त्वा (गाड़ा) हुआ नया घडा जैसे चारों ओर (के सूक्ष्म छेदों द्वारा जल के भरने) से भर जाता है, वैसे वस्ति (चारों ओर के सूक्ष्म छोतसों द्वारा) मूत्र से भर जाता है ॥२३॥

वक्तव्य—इन श्लोकों में मूत्रोत्पत्ति के स्थान से मूत्र वस्ति में कैसे पहुँचता है उसका वर्णन किया है। यह वर्णन प्रत्यक्षविरुद्ध अतएव प्रामादिक है; परन्तु यह प्रमाद आयुर्वेद के उपलब्ध सभी ग्रंथों में तथा उनकी टीकाओं में दिखाई देता है। यह प्रमाद कैसे और कब उत्पन्न हुआ, इसका निश्चय करना कठिन है। इस प्रमाद का विवरण करने के पूर्व शरीर में मूत्रोत्पत्ति कैसे होती है, उसका संज्ञेप में वर्णन नीचे दिया जाता है। प्रत्यक्ष मूत्रोत्पत्ति कैसे होती है?—शरीर के उदर विभाग में पिछली दीवार से लगे हुए रीढ़ के दाहिनी और बाईं ओर लोत्रिये के बीच के समान दो अंग होते हैं। उनको वृक्क, गुदें या मूत्रपिण्ड कहते हैं। गुदें अतिसूक्ष्म नलियों के बने हुए हैं। उदरविभागस्थ वृहत् धमनी की दो शाखाओं द्वारा रक्त इन दोनों वृक्कों में पहुँचता है। भीतर पहुँच कर इन धमनियों की असंख्य सूक्ष्म शाखाओं का जाल वृक्कस्थ-नालियों के आस पास फैलता है और इन शाखाओं के रक्त में खाने पीने की चीजों का जो निकम्मा भाग रहता है उसको ये नालियाँ अपनी विशिष्ट कार्यगति के द्वारा पृथक् कर अपने में खींच लेती हैं। इस प्रकार वृक्क के नालियों में रक्त से पृथक् हुए तरल को मूत्र कहते हैं। वृक्क में इकट्ठा हुआ मूत्र दो प्रणालियों द्वारा वस्ति में धीरे धीरे आता है। इस प्रणाली को गव्नीनी (Ureter) कहते हैं। इसका ऊपर का सिरा चौड़ा, पीक जैमा और नीचे की ओर तंग होता है। इसी में जब शर्करा अटक जाती है तब वृक्कशूल पैदा होता है। संज्ञेप में मूत्र रक्त से वृक्कों द्वारा उत्पन्न होकर दो प्रणालियों द्वारा वस्ति में पहुँचता है। इसलिये वस्ति में तीन द्वार होते हैं। वस्तिवर्णन में 'एक द्वार' जो लिखा है, वह गलत है। उपलब्ध आयुर्वेदिक ग्रंथों की कल्पना—उपलब्ध आयुर्वेदिक ग्रंथों में वृक्कों का उल्लेख कई जगह मिलता है, परन्तु मूत्रोत्पत्ति के साथ उनका संबंध कहीं भी नहीं दर्शाया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि वृक्क का ज्ञान होने पर भी उसका वास्तविक कार्य अज्ञात था। आयुर्वेद के अनुसार मूत्र की उत्पत्ति खाद्य-पेय द्रव्यों के किट्टभाग से मलधरा कला, पाचक पित्त और समानवायु ने ग्रामपकाशय में ही होती है:—(१) तत्राहार-प्रनादाद्यो रम. किट्ट च मलारयमभिनिवर्तने । किट्टात् स्वेदमूत्रपुरीपाः पुष्यन्ति ॥ (चरक) । (२) किट्टमत्रस्य विष्मूत्रम् ॥ (चरक) । (३) विष्मूत्रमाहारमल. मारः प्रागीरितो रमः । (सुश्रुत) । (४) तच्चट्टेत्तुकेन विरोषेण पकाशाशयमध्यस्थ पित्त चतुर्विधमन्नपान पचति, विवेचयति च रममूत्रपुरीपाणि ॥ (सुश्रुत) । आन्त्र में उत्पन्न हुआ मूत्र असंख्य सूक्ष्म स्रोतों द्वारा वस्ति में भरता है। इन स्रोतों के मुख अदृश्य होते हैं। मूत्रवाही स्रोतसों का उल्लेख हमेशा अनेक वचन में होता है। वास्तव में वह द्विवचन में होना चाहिये। संज्ञेप में मूत्र की उत्पत्ति खाद्यपेय द्रव्यों

ने, आमत्राण्य में, मलम्राक्या, पाचक पित्त और ममान वायु की महाबला से होती है और वहाँ से मूत्र असंख्यमूत्र-वद् क्रीमिनीं द्वारा बन्नि में पहुँचता है। इस विषय के विस्तृत विवरण के लिये प्रयत्न की 'Ayurvedic conception about urine formation in the human body' नामक पुस्तक देखो।

एवमेव प्रवेशेन वातः पित्तं कफोऽपि या।

मूत्रयुक्त उपश्लेहान् प्रविश्य कुचनेऽद्मरीम् ॥२४॥

मूत्रम श्रोतसो के द्वारा मूत्र प्रवेश के अनुसार (एवमेव प्रवेशेन) मूत्र के साथ मिलाकर वात, पित्त अथवा कफ (बन्नि में) प्रवेश करके उपश्लेह (उपलेप या तनद्वट) से अद्मरी उत्पन्न करते है ॥२४॥

अप्सु स्वच्छा(स्या)स्वपि यथा निपित्तासु नवे घटे।

कालान्तरेण पट्टः स्याद्दमरीसंभवस्तथा ॥२५॥

नवे घटे में रखने हुए साफ पानी में मी जैसे कुछ काल के पत्रान् कीच (अवशेष, Precipitate) जम जाता है, वैसे (बहिस्त्व घटे में हकड़ा हुए साफ मूत्र में) अद्मरी की उत्पत्ति (कुछ काल के पश्चात्) होती है ॥२५॥

वक्तव्य—प्रायः साधारण जन में कई पदार्थ और लवण घुले रहते हैं। विद्युत् जल (H₂O) पृथ्वी पर नहीं मिल सकता। जल साफ मुले पात्र में रखने से प्रति दिन बाल्य बनकर टप जाता है, पत्रान् टममें घुले लवण तथा अन्य पदार्थ पात्र में ही रह जाते हैं। जब शेष जल में इनकी राशि एक विशेष प्रमाय से अधिक हो जाती है तब ये धीरे धीरे अलग होकर तली में अवक्षिप्त हो जाते हैं और कीच बनती है। मूत्र में अद्मरी की उत्पत्ति इसी प्रकार से होती है, ऐसी आधुनिक मान्यताओं की मी राय है। बृहस्प नालियों द्वारा जब मूत्र में यूरिक एसिड, यूरैक्य, आक्जालैट्य, फास्फेट् इत्यादि लवण अधिक मात्रा में उत्पन्न होते हैं तब मूत्रम्य प्रणय में इनका विस्तार होता अर्थात्वा हा जाता है और इनका कुछ अंग मूत्रम स्फटिक (Crystal) के रूप में घुल में, गर्दीनी के ऊर्ध्व भाग में या बन्नि में अवक्षिप्त हो जाता है और उसके चारों ओर सवय के कण संगठित होकर अद्मरी बनती है। कमी कमी लवणों के क्य मूत्रा शेषमा, जैसे इुरैक का घटका, या इमिरी के अण्डे (Ova of Bilharzia) इन पर संगठित होते हैं। लवणों के अवशेषों में मूत्र की प्रतिक्रिया मी बहुत स्पष्टता देती है। मूत्र की प्रतिक्रिया विशेष क्रम्य होने पर यूरिक एसिड तथा उसके लवण अवक्षिप्त होते हैं और पित्तमरी बनती है। प्रतिक्रिया अधिक हारीय होने पर कार्बोय् अवक्षिप्त होकर शेष्यामरी बनती है।

संहन्यपो यथा दिव्या मारुतोऽसिध येमुगः।

तद्द्वलानं वलिन्यमूप्सा संहन्नि सानिलः ॥२६॥

अेत आकाशज्ज जल की वायु और विक्रमी की अग्नि बांध (कर ओने बना) देती है, अंगे ही बलिन्धान में प्राप्त हुए कक की वायु से मुक्त अग्नि (तिम) जमा (कर पचती बना) देती है ॥२६॥

वक्तव्य—यह दृष्टान्त कर के दृष्टान्त के समान

वस्तुस्थितिनिरुक्त नहीं है। क्योंकि पथरी न जल से बनती है, न कफ से बनती है।

मारुते प्रगुणे बलौ मूत्रं सम्पत् प्रयन्ते।

चिकारा विविधाश्चापि प्रतिलोमे भवन्ति हि ॥२७॥

मूत्राघाताः प्रमेहाश्च शुक्रदोषास्तथैव च।

मूत्रदोषाश्च ये केचिद्दस्तायेव भवन्ति हि ॥२८॥

इति मुश्रुतमहिताया निदानस्थानेऽद्मरीनिदान नाम तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

वायु अनुकूल होने पर बलि में मूत्र की ठीक ठीक प्रदधि होती है; और प्रतिफल होने पर विविध विकार होते हैं ॥२७॥ मूत्राघात, प्रमेह, तथा शुक्रदोष और अन्य भी जो मूत्रविकार हैं वे सब बन्नि में ही होते हैं ॥२८॥

वक्तव्य—साम्य प्रवर्तने—ठीक ठीक मूत्र की उत्पत्ति होती है तथा उपपन्न होने पर संचिन्नु हुए मूत्र का स्वाग ठीक ठीक होता है। विविधा विकारा—मूत्राघात, मूत्रहृच्छ, प्रमेह और अद्मरी ये चार प्रकार के मूत्र के रोग। शुक्र दोष बाल्य में बन्नि का या मूत्र का विकार नहीं है। मूत्राघात और मूत्र हृच्छ—मूत्रकण्डे उत्पन्नमतिरहितिनीपदविनं । मूत्राघाते तु विबन्ने बन्धान्, हृच्छन्बन्धमिति । (मयुकोशग्रन्थाख्या)। दम्बुहृच्छे मूत्र कण्डेय ववति, मूत्राघाते मूत्र शोथने प्रतिहन्वते वा । (चन्द्रोपाधिदत्त)। मूत्रहृच्छ तु तेन मूत्रवृत्ति । मूत्राघातो मूत्रारोपः । (शकष्य)। अन्ये (जैसे वागमट) मूत्रकण्डेविशेषेण मूत्राघातान् । (चक्रपाधिदत्त)। इस मतमतान्तर का विचार करने पर यह कह सकते हैं कि मूत्रहृच्छ में मूत्रयाग करने समय दुःख होता है। इसको डिस्तुरिया (Dysuria) कहते हैं। मूत्राघात में मूत्रहृच्छ, मूत्राघात या मूत्रारोप ही सकता है। मूत्राघात के लिये रिटैन्शन ऑफ यूरिन (Retention of urine) और मूत्रारोप (जिसमें मूत्र बनता ही नहीं) के लिये सप्रेसन ऑफ यूरिन (Suppression of urine) कहते हैं। इनमें मूत्रहृच्छ प्राय शिथिलता की सरावी से होता है; मूत्रारोप द्वार में अद्मरी अटक जाने से, पौरय प्रधि की रुद्धि वा मूजन होने से अथवा मूत्रद्वारसंकोचक पेशि में निवृत्तन पैदा होने से होता है। मूत्रारोप कुछ में मूत्राघात न होने से होता है। प्रमेह वृद्धों में उत्पन्न होता है। इसमें यह स्पष्ट है कि अद्मरी के बिना मूत्राघातादि विकार बन्नि के अतिरिक्त अन्य स्थानों में ही प्राय होते हैं।

इति आम्बरतमना गीविन्दमनेन विरचितेयाम्बुवैदरहन्मरीनिदाने चतुर्थोऽध्यायः नाम तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः ।

अथानो भगवद्भाग्यं निदाने व्याख्यास्यामः । यथोपाय भगवान् धन्यस्तुतिः ॥१॥

अथ वहाँ में आगे भगवद् के निदान का व्याख्यान करने है, अंगे कि भगवान् धन्यस्तुति के दिया ॥१॥

वातपित्तश्लेष्मसन्निपातान्तुनिमित्ताः शतपो-
नोऽप्रीवपरिच्यविशाम्बुकावर्तोन्मागिण्यो यथा-
रथं पञ्च भगन्दरा भवन्ति ॥२॥

वात, पित्त, कफ, मत्तिपात और आगन्तु इन कारणों से
मानुमार शतपोनक, उष्ट्रप्रीव, परिच्यार्थी, शम्बुक और
नामां ऐसे पाँच भगन्दर होते हैं ॥२॥

वक्तव्य—यथासम्भ—वात से शतपोनक, पित्त से
प्रीव, कफ से परिच्यार्थी, मत्तिपात से शम्बुक और आगन्तु
उन्मागीं इस क्रम से । पञ्च—यावत् ने भगन्दर के आठ
कार वर्णयोग हैं—अर्थः दुर्गन्धः, संनिपातः, विषमः, मृतः ।
। यमं उपयुक्त पाँच प्रकार के गतिरिक्त निम्न तीन अधिक हैं—
(१) फिस्तेयी—वातपित्तो परिच्यो परिच्यथ चुर गतिः । जायते
तेनमत्र प्राहार परिचय च ॥ इम भगन्दर को हाँसोपिन्तुला
Horse shoe fi-tula । कहते हैं । (२) पञ्च—सन्तुर्वात-
श्लेष्मया शुद्धो गत्या विदधते ॥ (३) अर्थभगन्दर—उत्कर्षते तु
सौंथ दुर्गन्धाक्षिप कृत्याः । अर्थोन्ते ततः शोफः कण्टकादिगाम
विद ॥ स शोफं पकान्प्रोक्तं क्रेयन् मूलमर्थमः । सन्ध्वज्य गति-
भरमर्गो भगन्दरः ॥ (अष्टांगमेष्ट) । शतपोनक भगन्दर
को मल्लिपलफिस्कुली (Multiple fistulae) कहते हैं ।

ते तु भगन्दरवस्तिप्रदेशदारणाच्च भगन्दरा
पुच्यन्ते । अपकाः पिडकाः, पकास्तु भगन्दराः ॥३॥

ये भग, गुदा और वस्तिप्रदेश के विदारण करने से भग-
न्दर कहलाते हैं । जब तक अपक होते हैं तब तक पिडका
कहलाते हैं; पकने (से फूट जाने) पर भगन्दर कहे
जाते हैं ॥३॥

वक्तव्य—इस सूत्र में भगन्दर की निरुक्ति बतलाते
हैं । भगन्दर को अंग्रेजी में (Pistula-in-ano) कहते
हैं । यह इसका स्य अर्थ है । वास्तव में शुद्ध के विकार
को गुडन्दर, वस्ति के विकार को वस्तिन्दर और भग के
विकार को भगन्दर कहना उचित है । परन्तु इस प्रकार का
गुड प्रयोग क्यों नहीं किया जाता, इसका कारण इन्दु लिखते
हैं—विशेषण भगस्य दर्णात्तन्वापि भगवदारणाच्च भगन्दर इत्येवावस्था
न गुदन्दरो न वस्तिन्दर इति । उक्तं च भोजे । भग परिमगन्नाच्च गुद
वस्ति नथैव च । भगवदारण्येवमात्तरमात् शेषो भगन्दरः ॥ पकास्तु—
पक होकर फूट जाने से—शुद्धस्य शयुषे क्षेत्रे पार्श्वतः पिडकाः ऽऽति-
ष्ठा । पिडा भगन्दरा जयः । (माधवनिदान) । पाश्चात्य गल्प
शास्त्र में भगन्दर के तीन भेद किये गये हैं । (१) द्विमुगी—
जिसका एक मुख मलाशय के भीतर और दूसरा गुदोष्ठ के पास
होता है । (२) अन्तमुगी—जिसका केवल एक मुख होता है
और वह मलाशय में खुलता है । (३) वहिसुगी, जिसका मुख
बाहर गुदोष्ठ के पास खुलता है । अन्तमुख और वहिसुख
भेद सुष्ठत में भी आगे चिकित्सा के समय बतलाये गये हैं—
भगन्दर समीक्ष्य पराचीन (वहिसुखं) मर्वाचीन (अन्तमुखं) वा ।
(भगन्दरचिकित्सा) ।

तेषां तु पूर्वरूपाणि-कटीकपालवेदना कण्डूर्दाहः
शोफश्च शुद्धस्य भवति ॥४॥

इनके पूर्ववत्—कमर की हड्डियों में पीडा, गुदा में राज,
जलन और मूत्रन ॥४॥

नत्रापथ्यसेविना वायुः प्रकुपितः सन्निवृत्तः
स्थिरीभूतो गुदमभितोऽङ्गुले दृश्यङ्गुले वा मांसशो-
णिते प्रदृष्यारणवर्णा पिडकां जनयति, साऽस्य
तोषादीन् वेदनाविशेषाञ्जनयति, अप्रतिक्रियमाणा
च पाकमुपैति, भूत्राशयाभ्यासगतत्वाच्च व्रणः
प्रकृिन्नः शतपोनकवदणुमुखैश्छिद्रैरापूर्यते, तानि
च छिद्राण्यजस्रमच्छं फेनानुविलम्बिकामात्राव
ञ्चवन्ति, व्रणश्च नाञ्जने भिद्यते छिद्यते सूचीभिरिव
निस्तुद्यते, गुदं चावदीर्यते, उपेक्षिते च वातसूत्र-
पुरीपरेतसामप्यागमश्च तैरेव छिद्रैर्भवति; तं भग-
न्दरं शतपोनकमित्याचक्षते ॥५॥

(शतपोनक—) अपथ्यमेवम करने वालों की प्रकुपित
और सन्निवृत्त हुई वायु गुदा के चारों ओर स्थिर होकर एक
या दो अङ्गुल पर मांस और रक्त को दूषित करके लाल वर्ण
की फुन्सी उत्पन्न करती है । यह फुन्सी गुद तथा अन्य प्रकार
की (वातानुरूप) वेदनाओं उत्पन्न करती है । (अपतर्पणादि
उपायों द्वारा) प्रतीकार न की हुई वह फुन्सी पक जाती है ।
मूत्राण्य के समीप होने के कारण (मदा) गीला हुश्रा
(वह) व्रण चलनी की भाँति छोटे छोटे छिद्रों से भर जाता
है, और वे छिद्र सदैव स्वच्छ, भागदार, काफी साव प्रवते हैं;
व्रण में नाउन, भेदन, छेदन और सूचीवेधन की सी पीडा
होती है; गुदा विदीर्णा हो जाता है और उपेक्षा करने पर उन
छेद्रों में से वायु, मूत्र, मल और वीर्य का स्राव होता है; इस
भगन्दर को शतपोनक कहते हैं ॥५॥

पित्तं तु प्रकुपितमनिलेनाधः प्रेरितं पूर्ववदक्ष-
स्थितं रक्तां तन्वीमुच्छ्रितामुष्ट्रीवाकारां पिडकां
जनयति; साऽस्य चोषादीन् वेदनाविशेषाञ्जनयति;
अप्रतिक्रियमाणा च पाकमुपैति; व्रणश्चाग्निच्चा-
राभ्यामिव दह्यते दुर्गन्धमुष्णमात्रावञ्चवति, उपे-
क्षितश्च वातसूत्रपुरीपरैतांसि विस्फुजति; तं भग-
न्दरमुष्ट्रीवमित्याचक्षते ॥६॥

(उष्ट्रप्रीव—) वायु से नीचे की ओर प्रेरित, प्रकुपित
पित्त पहले की तरह (गुदा के चारों ओर एक अंगुल या
दो अंगुल पर) स्थित होकर लाल वर्ण की छोटी, उभरी हुई,
कैट की ग्रीवा के आकार की फुन्सी उत्पन्न करता है; वह
फुन्सी दाह तथा अन्य प्रकार की (पित्तानुरूप) वेदनाओं
उत्पन्न करती है; प्रतीकार न करने पर पक जाती है, (फूटने
पर उत्पन्न हुश्रा) व्रण अग्नि और क्षार से जलता सा मालूम
पड़ता है और उससे पदवदार, गरम स्राव निकलता है, तथा
उपेक्षा करने पर वायु, मूत्र, मल और वीर्य का स्राव निकलता
है; उस भगन्दर को उष्ट्रप्रीव कहते हैं ॥६॥

श्लेष्मा तु प्रकुपितः समीरणेनाधः प्रेरितः पूर्व-
वदस्थितः शुक्लावभासां स्थिरां कण्डूमतीं पिडकां

जनयति, साऽस्य कण्डूद्वादीन् वेदनाविशेषाञ्जनयति, अप्रतिक्रियमाणा च पाकमुपैति, म्रणश्च कठिनः संरम्भी कण्डूप्रणयः पिच्छिलमजक्षमास्त्राद्यं स्रवति, उपेक्षितश्च घातमूत्रपुरीषरेतांसि विच्छ्रजति; तं भगन्दरं परिस्त्राधिष्णमित्याचक्षते ॥७॥

(परिस्त्रावी—) वायु से नीचे की ओर प्रेरित हुआ प्रकुपित रूग्णा पहले की तरह (गुदा के चारों ओर एक या दो अंगुल पर) स्थित होकर किंचिद् मुफेद वर्ण की, स्थिर, कण्डू युक्त कुन्सी उत्पन्न करता है। यह कुन्सी खाज तथा अन्य (कफानुरूप) वेदनाएँ उत्पन्न करती है, प्रतीकार न करने से एक जाती है, (फूटने पर उत्पन्न हुआ) म्रण कटा, शोथ युक्त, अधिक खाजवाला होकर मदेव लसदार छाव स्रवता है, और उपेक्षा करने से वायु, मूत्र, मल और वीर्य निकलता है; इस भगन्दर की परिस्त्रावी कहते हैं ॥७॥

वायुः प्रकुपितः प्रकुपितो पित्तश्लेष्माणौ परिगृह्णाधो गत्वा पूर्ववदवस्थितः पादाङ्गुष्ठप्रमाणां सर्वलिङ्गां पिडंकां जनयति, साऽस्य तोददादकण्डूद्वादीन् वेदनाविशेषान् जनयति, अप्रतिक्रियमाणा च पाकमुपैति, म्रणश्च नानाविधवर्णमास्त्राद्यं स्रवति, पूर्णनदीशम्बूकावर्तवश्चात्र समुत्तिष्ठन्ति वेदनाविशेषाः; तं भगन्दरं शम्बूकावर्तमित्याचक्षते ॥८॥

(शम्बूकावर्त—) कुपित हुई वायु कुपित पित्त और कफ को ग्रहण करके नीचे की ओर गमन करने पहले की तरह स्थित होकर पैर के अँगूठे के समान सर्व (दोषों के) लक्ष्यों से युक्त कुन्सी उत्पन्न करती है। कुन्सी वेदना, जलन, कण्डू इत्यादि (त्रिविधानुरूप) वेदनाएँ उत्पन्न करती है। प्रतीकार न करने से एक जाती है। (फूटने पर उत्पन्न हुआ) म्रण नाना प्रकार के रंग का छाव स्रवता है, और उसमें पूर्ण नदी में उत्पन्न होने वाले मीवर के समान तथा शम्बूक (मत्स्य विशेष) के आवर्त के समान विशेष प्रकार की वेदनाएँ (Boring Pains) उठती हैं। इस भगन्दर को शम्बूकावर्त कहते हैं ॥८॥

मूदेन मांसलुब्धेन यदस्थिशय्यमग्नेन सहाभ्यवहृतं यदाऽष्यागदपुरीषोन्मिश्रमपानेनाधःप्रेरितमस्त्रम्यगागतं गुदं क्षिणोति तत्र(तः)क्षतनिमित्तःकोथ उपजायते, तस्मिन् च क्षते पूयसधिरावकीर्णमांसकोथे भूमाचिव जलमङ्घ्रिघ्रायां क्रिमयः संजायन्ते, ते भक्षयन्तो गुदमनेकधा पार्श्वतो वारयन्ति, तस्य तैर्मांसैः कृमिभूतेर्वातमूत्रपुरीषरेतांस्यभिनिःसरन्ति; तं भगन्दरमुन्मार्गिष्णमित्याचक्षते ॥९॥

(उन्मार्गि भगन्दर—) मांसलुब्ध मूत्र से भोजन के साथ खाया हुआ दही का टुकड़ा (घस्य) जब गाड़े मल में मिला कर अपान वायु से नीचे प्रेरित (गुदा में) आड़ा या टेढ़ा आता है तब गुदा में घाव कर देता है; वहाँ घाव के कारण सड़ाव पैदा होता है; उस पीप और रक्त से भरे हुए मांस के

सड़ाव युक्त घाव में, जैसे कीचड़ में कृमि पड़ जाते हैं, कृमि उत्पन्न हो जाते हैं; गुदमांस भक्षण करके वे अनेक दिशा में गुदा को विरारित करते हैं; तब मनुष्य कृमिकृत उन मार्गों से वायु, मूत्र, मल और वीर्य निकलते हैं; उस भगन्दर की उन्मार्गी कहते हैं ॥९॥

भयन्ति चात्र—

उत्पन्नतेऽल्परुक्षोफात् क्षिप्रं चाप्युपशाम्यति पात्यन्तदेशे पिडका सा होयाऽन्या भगन्दरात्

(भगन्दरतर पिडका—) गुद के अन्तिम प्रदेश अल्प पीडा और शोथ से युक्त जो कुन्सी उत्पन्न होती है शीघ्र ही घात (बैठ) भी हो जाती है वह भगन्दर से (प्रकार की अर्थात् सादी) कुन्सी समझनी चाहिये ॥१०॥ पायोः स्याद्वृषह्रुले देशे गूढमूला सरुग्ज्वरा । भागन्दरीति विशेष्या पिडकाऽतो विपर्ययात् ।

(भगन्दर पिडका—) जो गुदा से दो अंगुल दूरी हो, गहरी हो, पीडा और ज्वर से युक्त हो वह उपर्युक्त (१ पिडका के) लक्ष्यों से विपरीत होने के कारण भगन्दर पि समझनी चाहिये ॥११॥

यानयानान्मलोत्सर्गात् कण्डूरुग्दाहशोफवान् । पायुर्भवेद्भुजः कट्वां पूर्वरूपं भगन्दरे ॥

(भगन्दर के पूर्वरूप—) रधादि पर सवारी व से, मलोत्सर्ग करने से खाज, पीडा, जलन और शोथ इ युक्त गुदा तथा कटी में पीडा ये भगन्दर में पूर्ण लत होते हैं ॥१२॥

घोराः साधयितुं दुःखाः सर्व एव भगन्दराः । तेष्वसाध्यस्त्रिदोषोरथः क्षतजश्च भगन्दरः ॥

एति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने भगन्दरनिदान नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

(साध्यासाध्यता—) सब ही भगन्दर दुःखदायक अ कष्ट से साध्य होते हैं। उनमें साक्षिपातिक और क्षतज असाध्य होते हैं ॥१३॥

वक्तव्य—स्थान के अनुसार असाध्य सस्रया—प्रवाहिनी वली प्रातः सेवनी वा समाश्रितम् । (अष्टांगसंग्रह) । लक्ष्यों ; अनुसार असाध्यता—वातमूत्रपुरीषाणि क्रिमयः शुक्रलेव च भगन्दरात् सनन्त्यु भगन्धन्ति तमातुरन् ॥ (सु सूत्र, ३३) । पुष्पकुम्भ या आन्त्र के राजवध्मा में जो भगन्दर उत्पन्न होते हैं, वह भी प्रायः कष्टसाध्य होता है ।

एति भास्कररामेणा गोविन्दामग्नेन विरचितायामायुर्वेदरचस्यदीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां निदानस्थाने भगन्दरनिदान नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः ।

अथातः कुष्ठनिदानं व्याख्यास्यामः । यथोवाच
गवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अथ यहाँ मैं कुष्ठनिदान का व्याख्यान करते हूँ, जैसे कि
वान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—कुष्ठ—कुष्मातीनि कुष्ठम् । स्वगादि धातुओं का
ग करने के कारण कुष्ठ कहते हैं—कुष्ठमुशन्ति तत् । नाजोप-
तं यस्मात् सर्वं कुष्माति तद्व्युः । (अष्टांगसंग्रह) । इस
धारण निरुक्ति के अनुसार कुष्ठ में कोई जैसे दारुण रोग
लेकर चुञ्चली जैसे क्षुद्र रोग तक सब रोगों का समावेश
या जाता है । सुश्रुत में कई बार कुष्ठ के लिये त्वग्दोष शब्द
प्रयोग किया गया है—पापत्रियथा पुराकृतकर्मयोगात् त्वग्दोषा
न्ति । तत्र त्वग्दोषो दिवास्वप्न व्यायाम च परिहरेत् । (कुष्ठचिकि-
त्स) । कुष्ठ का यह अर्थ श्रेयसेजी में Diseases of the
skin or Dermatoses शब्द से प्रदर्शित कर सकते हैं ।
न्तु व्यवहार में महाकुष्ठ और क्षुद्रकुष्ठ करके हमके दो
द किये जाते हैं । महाकुष्ठों का निर्देश प्रायः केवल कुष्ठ
शब्द से और क्षुद्र कुष्ठों का उनके स्वतन्त्र नाम से किया
जाता है—नन्नादिबलप्रवृत्ता ये शुक्रशोणित्तोषान्वयाः कुष्ठाशोःप्रभृतयः ।
मिभिः पापयोग्य प्राहुः कुष्ठस्य संभवम् । (सुश्रुत) । महाकुष्ठ
। श्रेयसेजी में लेप्रोसी (Leprosy) कहते हैं । क्षुद्र कुष्ठों में
नेक त्वरोग समाविष्ट होते हैं । कुष्ठ शब्द की हम संदिग्धता
। दूर करने के लिये लेप्रोसी के लिये केवल एकवचनी कुष्ठ
शब्द का प्रयोग किया जायगा, और सर्व प्रकार के कुष्ठों के
लिये अनेकवचनी शब्द प्रयोग होगा ।

मिथ्याहाराचारस्य विशेषाहुर्विद्वद्भासात्म्याजी-
र्णहिताशिनः स्नेहपीतस्य वान्तस्य वा व्यायामग्रा-
यधर्मसेविनो ब्राह्म्यान्पूदकमांसानि वा पयसाऽ-
नीदामश्रतो यो वा मज्जत्यप्सुष्माभितप्तः सहसा
उर्ध्विर्वा प्रतिहन्ति, तस्य पित्तश्लेष्माणौ प्रकुपितौ
रिगृह्यानिः । प्रवृद्धस्तिर्यग्गाः सिराः संप्रतिपद्य
समुद्भूय बाह्यं मार्गं प्रति समन्ताद्विह्वलिपति, यत्र
यत्र च दोषो विहितो निःस(श्च)रति तत्र तत्र मण्ड-
लानि प्रादुर्भवन्ति, एवं समुत्पन्नस्त्वन्नि दोषस्तत्र
तत्र च परिवृद्धिं प्राप्याप्रतिक्रियमाणोऽभ्यन्तरं
प्रतिपद्यते धातूनभिद्रूपयन् ॥२॥

अहित आहार और आचार करने वाले की, विशेष करके
गरिष्ठ भोजन, विल्द भोजन, असात्म्य भोजन, ग्रन्थान और
अहित भोजन करने वाले की, ब्राह्म्य आनूप और औदक
प्राणियों का मांस दूध के साथ बार बार सेवन करने वाले
की, स्नेहपान और वमन के पीछे व्यायाम और मैथुन करने
वाले की, धूप में संतप्त होकर तत्काल (ठंडे) जल में तैरने
वाले की और आते हुए वमन को रोकने वाले की प्रवृद्ध हुई
वायु प्रकुपित हुए पित्त और कफ को लेकर तिर्यग्गामिनी
सिराओं में प्राप्त होकर और उनको व्यास कर पित्त कफ की

१ प्रतिपद्य धातूनभिद्रूपयति.

धातु रोग मार्ग में फैला देती है । फिर जहाँ जहाँ चिक्षित
हुआ दोष संचार करता है, वहाँ वहाँ मण्डल (चकत्ते) पैदा
होते हैं । इस प्रकार त्वचा में प्रकट हुआ दोष वहाँ ही वृद्धि
पाकर प्रतीकार न करने से (क्रम से रक्त मांसादि) धातुओं
को दूषित करके भीतर प्रवेश करता है ॥२॥

वक्तव्य—अणु—ठंडे जल में—भयश्रममतापोपहतस्य च
सहसा शीतोदकमनवरतः । (चरक) । तिर्यग्गाः सिराः—
तिर्यग्गामी धार धमनियाँ, जो उत्तरोत्तर सूक्ष्म प्रसृत्य
शारदाओं में विभक्त होकर सर्व शरीर व्याप्त करती हैं । (धमनी
व्याकरण नामक शरीरस्थान के नवम अध्याय में तिर्यग्गामी
धमनियों का वर्णन देखो) । वायु मार्गम्—तत्र शाखा रक्तादयो
धानवरत्वक् च स वायो रोगमार्गः ॥ (चरक) । सुश्रुतमतानुसार यहाँ
केवल त्वचा अभिप्रेत है । चरक और वाग्भट के अनुसार त्वचा,
रक्त, लम्बिका और मांस ये धातु अभिप्रेत हैं । धातूनभिद्रूप-
यन्—यत्र कुष्ठं समुत्पन्न त्वन्नि कालप्रकर्षतः । क्रमेण धातून व्याप्ति
नरस्याप्रतिकारिणः ॥ (सुश्रुत) । इस सूत्र में 'मिथ्याहार-
चारस्य' से लेकर 'उर्ध्विर्वा प्रतिहन्ति' तक कुष्ठों का निदान
वर्णन किया है । इसके अतिरिक्त चरक में निम्न कारण अधिक
हैं—नवाप्यतभिमत्स्यातिलवणाम्बन्निपेविणाम् । मापमूलकपिष्टप्रतिल-
क्षीरगुणशिनाम् ॥ व्यवय चाप्यजीर्णोऽप्रे निद्रां च भजतां दिवा ।
विप्रान् गुरुन धर्ययता पाप कर्म च कुर्वताम् ॥ (कुष्ठचिकित्सित) ।
मछली और कुष्ठ के संबंध का विवरण सूत्रस्थान के अन्तिम
अध्याय के १२४ वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है ।
नवीन खोज के अनुसार विषमज्वर, कालाज्वर, फिरंग
(Syphilis), अंकुशमुत्कृमिरोग (Hookworm disease)
इत्यादि दौर्बल्यजनक रोग भी कुष्ठों की उत्पत्ति में सहायता
देते हैं । कुष्ठ में कुलजप्रवृत्ति भी होती है । इस विषय का
प्राच्यप्रतीच्यमतानुसार विवरण सूत्रस्थान के व्याधिसमुद्देशीय
नामक २४ वें अध्याय के चौथे सूत्र के वक्तव्य में १४८ पृष्ठ
पर किया गया है । कोई का मुख्य कारण एक जीवाणु है,
जिसको बैनीलीय लेप्सी (B. Lepros) कहते हैं । उर्ध्वेक
मिथ्याहाराचारादि सब सहायक कारण हैं । 'तस्य
पित्तश्लेष्माणौ' से लेकर अन्त तक कुष्ठों की संप्राप्ति
वर्णन की है । चरक में कुष्ठों की संप्राप्ति निम्न प्रकार
से वर्णित है—त्रयो दोषा वातपित्तश्लेष्माणः प्रकोपणविकृताः ।
द्व्याश्व शरीरधातवस्त्वल्मांसशोणित्तलसिकाश्चतुर्था दोषेषवातविकृता
इति । णत्सप्तानां सप्तधातुकमेवद्वत्तमाजनन कुष्ठानाम् ॥ (कुष्ठ-
निदान) । चरकमतानुसार त्रिदोष और त्वगादि चार
धातु 'युगपत्' दूषित होकर कुष्ठ उत्पन्न होता है; सुश्रुत-
मतानुसार त्रिदोष प्रथम त्वचा को दूषित करते हैं और
यदि उपेक्षा की जाय तो क्रम से रक्तादि धातु दूषित होते हैं ।
इसलिये आगे सप्तधातुगत कुष्ठों के स्वतन्त्र लक्षण वर्णन
किये हैं । चरक और सुश्रुत की कुष्ठसंप्राप्ति की कल्पना में
यह फर्क है । कुष्ठ की संप्राप्ति के संबंध में और एक महत्त्व की
घात चरक में लिखी है—दोषाः प्रकुपिताः स्थानमधिगम्य सतिष्ठमाना
स्तानेव त्वगादीन् दूषयन्तः कुष्ठान्यभिवर्धयन्ति । इसका तात्पर्य
यह है कि प्रकुपित दोष अधिक काल तक त्वचादि में अक-
स्थान करके (संतिष्ठमानाः) रोग उत्पन्न करते हैं । इस

काल को रोगसमाप्तिकाल या सचयकाल (Incubation period) कहते हैं। आधुनिक खोज से यह सिद्ध हुआ है कि कोढ़ का समाप्ति काल दो साल से लेकर आठ दस साल से भी अधिक होता है। आयुर्वेद के कुष्ठ में यद्यपि छुद्रकुष्ठों का समावेश होता है, तथापि उसके निदान, पूर्वरूपादि कोढ़ के ऊपर अधिक ध्यान देकर लिखे गये हैं। चरक के अष्टोदरीय अध्याय में और कुष्ठनिदान में केवल सात महाकुष्ठों का ही वर्णन किया गया है—तेषां विकल्पविचारमत्त्वानेऽतिप्रमगमभिमिसीक्ष्य सप्तविधमेव कुष्ठविशेषमुपदेश्याम ।

तस्य पूर्वरूपाणि—स्वक्पाकरूपमकसाद्रोमहर्षः कण्डूः स्वेदवाहुस्त्वमस्वेदनं चाऽङ्गप्रदेशानां स्वापः क्षतचिसर्पणमसृजः कृष्णता चेति ॥३॥

उत्पत्ते पूर्वरूप—त्वचा का क्षुरद्रापन, अकस्मात् रोंगटे खड़े होना, खान, अधिक पसीना आना या पसीना न आना, शरीर के अंगों में सुन्नता, मूत्र (उत्सन्न होकर उन) का फैलना और रक्त का कालापन ॥३॥

घक्तव्य—इनके प्रतिरिक्त चरक में निम्न पूर्वरूप अधिक मिलते हैं—अतिक्षुण्णता, (त्वचा सुलायम और घम कीली होना Hyperkeratosis), वेत्तर्ष्य, परिदाह परिहर्ष (किनकिनिका, सरसराहट Tingling), ऊष्मायनं, गौरव, एकदभट्टमग्रहणत्वल्लिनेभ्यतिमाय वेदना, स्वपानानामपि च प्रणाना दृष्टिसे रोहण चेति ॥ ये पूर्वरूप अमघाडु, टांगें तथा अन्य सुते स्थानों पर प्रथम हुआ करते हैं ।

तत्र सप्त महाकुष्ठानि, एकदश क्षुद्रकुष्ठानि; पचमपदाश कुष्ठानि भवन्ति ॥४॥

कुष्ठों में महाकुष्ठ सात और छुद्रकुष्ठ ग्यारह हैं, इस प्रकार अठारह कुष्ठ होते हैं ॥४॥

घक्तव्य—सप्त महाकुष्ठ कोढ़ (Leprosy) के विविध रूप मालूम होते हैं। छुद्रकुष्ठों में त्वचा के अन्य रोगों का समावेश किया गया है। अर्थात् ये त्वरीय केवल ग्यारह होना असम्भव है, इसलिये चरक में उनकी असलयेयना बतलाई है—स सप्तविधोऽष्टादशविधोऽसलयेयविधो वा भवति। इसी कारण से इन छुद्रकुष्ठों के वर्णन के अन्त में न पढ़कर निदानस्थान में केवल सात महाकुष्ठों का ही विवरण किया गया है—तेषां विकल्पविचारमत्त्वानेऽतिप्रमगमभिमिसीक्ष्य सप्तविधमेव कुष्ठविशेषमुपदेश्याम ॥ (चरक) ।

तत्र महाकुष्ठान्यरुण्योदुग्भ्यरुण्यजिह्वकपालकाकणकणुण्डरीकद्वन्द्वकुष्ठानि। क्षुद्रकुष्ठान्यपि स्थूलारुण्यं महाकुष्ठमेककुष्ठं चर्मदले विसर्पं परिसर्पं सिन्धुं विचर्चिका किटिर्मं(मं) पामा रकसा चेति ॥५॥

(कुष्ठ के भेद—) इनमें से महाकुष्ठ है—(१) अरुण्य, २ चौदुग्भर, ३ अरुण्यजिह्व, ४ कपाल, ५ काकण्यक, ६ पुण्डरीक, और ७ द्वन्द्व। और छुद्रकुष्ठ ये हैं—(१) स्थूलारुण्य, २ महाकुष्ठ, ३ एककुष्ठ, ४ चर्मदल, ५ विसर्प ६ परिसर्प, ७ सिन्धु, ८ विचर्चिका, ९ किटिर्म, १० पामा और ११ रकसा ॥५॥

घक्तव्य—चरक, सुश्रुत और वाग्भट इनमें कुष्ठों नाम के सबध में मतभिन्नता दिखाई देती है। सुश्रुत 'अरुण्य' कुष्ठ चरक और वाग्भट में नहीं है, उसके बदले 'मयङ्गल' कुष्ठ मिलता है। 'मयङ्गल' सुश्रुत में नहीं मिलता। चरक में 'दद्रु' छुद्रकुष्ठों में दिया है और उसके बदले 'मिषु' महाकुष्ठों में लिया है। सुश्रुतके स्थूलारुण्य, महाकुष्ठ विसर्प, परिसर्प, और रकसा ये पाँच छुद्रकुष्ठ चरक में ना मिलते। इनके बदले अरुण्य, पतार, विपादिडा, च और विरफोटक ये पाँच कुष्ठ मिलते हैं। वाग्भट के छुद्र कुष्ठ चरकमतानुसार हैं, केवल दद्रु महाकुष्ठ में दिया है अन्तिम लघुकुष्ठ में समाविष्ट किया है। इस मतभिन्नता से छुद्रमहाकुष्ठों की अन्त्योन्त्यानुप्रेषिता को देखकर यह मान पड़ता है कि आयुर्वेद में कोढ़ जैसे भयकर विकार से संकलित जले मामूली विकार तक त्वचा के सर्व रोगों के समावेश कुष्ठ में किया गया है, और 'वेदना वर्ष सत्या प्रभाव' आदि के कारण कुष्ठों की असलयेय कहा है।

सर्वाणि कुष्ठानि सवानानि सपित्तानि सस्त्रेष्माणि सकिमीणि च भवन्ति; उत्सन्नतस्तु दोषप्रहणमभिप्रवात् ॥६॥

सभी कुष्ठ वातयुक्त, पित्तयुक्त, कफयुक्त और कृमियुक्त होते हैं। परन्तु उत्पन्न और प्राबल्य के अनुसार दोष (नाम) का प्रहण होता है ॥६॥

घक्तव्य—सवानानि हृष्यादि—कुष्ठ हमेशा त्रिदोषप्रकोप से होता है—न च विद्विदिति कुष्ठमेकदोषप्रकोपनिमित्तम् । (चरक) सकिमीणि—कोढ़ तथा त्वचा के अन्य रोग कृमिकीटादि हैं उत्पन्न होते हैं। मय्येक विकार का कृमि स्वतन्त्र होता है कोढ़ के जीवाणु का उद्देश पीजे दूसरे सूक्ष्म के बन्धन में किया गया है। इन किमियों के संबंध में आगे उत्तरतन्त्र के कृमिरोग प्रतिषेध अध्याय में लिखा है—केसरोमनवादाह दन्वादा किञ्चिन्नासात् । कुष्ठनाश परीमर्षा श्या शोणितमेभवा ॥ तै सरत्तथ कुष्णाथ जिन्थाथ पूषवत्सया । रक्तापिहानजान् मायो विकारान् जनयन्ति ते । कशादायात्सर्वदृश्याले ॥ दोषप्रहणं—दोषनिर्द्वेष—सर्वेषुपि किन्पेणु स्वपदेशोऽपि क्लेशतः ॥ (अष्टांगहृदय) । रोगों में दोषनिर्देश का यह एक साधारण नियम है कि जिसका प्राबल्य होता है उसी का निर्देश किया जाता है—द्रव्यमेकस्य नास्ति न रोगोमेकदोषतः । योऽधिकमेव निर्देश विषय रसदोषयो ॥ अभिभव—(?) प्राबल्य । अधर्मोपिभवात् इण प्रदुष्यन्ति कुण्डिय । (अभवद्वाता) । किंवा (२) पराग्रय वा दूसरे के वध में जाना। रशशुक्ला इव सर्वकालास्तद्व्यनेतोः भिन्नभेदमिति ॥ (शाकुन्तल) । दूसरा अर्थ करने पर 'राम' दोषयो 'अध्याह्न करना आदि है।

तत्र घातेमादण, पित्तैर्नोदुग्भ्यरुण्यजिह्वकपालकाकणकानि, श्लेष्मणा पुण्डरीकं दद्रुकुष्ठं चेति । तेषां तु महत्त्व क्रियागुरुत्वमुत्तरोत्तरं धात्यनुपवेशादसाध्यत्वं चेति ॥७॥

इनमें वायु से अरुण्य, पित्त से चौदुग्भर, अरुण्यजिह्व कपाल और काकण्यक, श्लेष्मा से पुण्डरीक और दद्रुकुष्ठ इन

शरीर धातुओं में प्रवेश करने से उनकी गंभीरता, (शरीर ण्य करने की) कार्यक्षमता और असाध्यता अधिका- होती है ॥७॥

वक्तव्य—उत्तरोत्तर—त्वचादि से उत्तरोत्तर धातुओं में करने से गंभीरतादि गुण अधिकधिक हो जाते हैं ।

तत्र, वातेनाहरणाभानि तनूनि विसर्पीणि तोद- स्त्रापयुक्तान्यरुणानि; पित्तैः पक्वोदुस्वरफला- तेवर्णान्यौदुस्वरानि, ऋष्यजिह्वाप्रकाशानि ख- णे ऋष्यजिह्वानि, कृष्णकपालिकाप्रकाशानि ॥८कुष्ठानि, काकणान्तिकाफलसदृशान्यतीव- रकृष्णानि काकणकानि, तेषां चतुर्णामप्योपचो- रिदाहधूमायनानि क्षिप्रोत्थानप्रपाकभेदित्वानि मिजन्म च सामान्यानि लिङ्गानि; पुण्डरीकपत्र- ताशानि पौण्डरीकाणि श्रेष्मणा, अतसीपुष्प- णि ताम्राणि वा विसर्पीणि पिडकावन्ति च कुष्ठानि; तयोर्द्वयोरप्युत्सन्नता परिमण्डलता ष्ण्डिरोत्थानत्वं चेति सामान्यानि रूपाणि ॥८॥

(दोषानुसार लक्षण—) वात से किंचित् रक्तवर्ण, झोंटे, जे वाले, तोद, भेद, स्पर्शज्ञानाभाव इनसे युक्त अरुण कुष्ठ होते हैं । पित्त से पके गूलर के फल के समान कार और वर्ण के औदुस्वर, ऋष्यजिह्वा (शुष्क-एक हरिण) के समान खुरदरे ऋष्यजिह्वा, काले ठिकरे के समान लाल कुष्ठ, (और) गुञ्जाफलसदृश अत्यन्त लाल और ले काकणान्तिका कुष्ठ (होते हैं); इन चारों (पैत्तिकों) के ओप, चोप, परिदाह, धूमायन (जलन के भिन्न प्रकार), शीघ्र उत्पन्न होना, पकना और फूटना तथा गमि उत्पन्न होना ये सामान्य लक्षण हैं । कफ से श्वेत पद्म के समान पुण्डरीक, (और) अतसी के फूल के वर्ण नील कृष्ण) के अथवा ताँबे के वर्ण के फैलने वाले, पिडका क दद्रुकुष्ठ (उत्पन्न होते हैं); इन दोनों (कफ कुष्ठों) के भार, गोलाकार (चकते होना), खाज, देर से उत्पत्ति ये सामान्य लक्षण होते हैं ॥८॥

वक्तव्य—दद्रु—दाद या दिनाय । अंग्रेजी में इसको रिंगवर्म या टिनिया (Ringworm or Tinea) कहते हैं । इस त्वचिकार का कृमि मोल्ड या फंगस (Mould or Fungus) जाति का है । यह अनेक सेलों का बना हुआ तिसदृश होता है । इसका नाम ट्रिचोफैटन इन्डोथ्रिक्स और ट्रिचोफैटन एक्टोथ्रिक्स (Trichophyton endothyrix, Trichophyton ectothyrix) है ।

शुद्धकुष्ठान्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः—
अब इसके आगे शुद्ध कुष्ठों (के लक्षणों) का वर्णन करते हैं ।

स्थूलानि सन्धिष्वतिदारुणानि
स्थूलारुपि स्युः कठिनान्यरुपि ।
(स्थूलारुप—) स्थूलारुप में संधियों में मोटे, अति भयंकर और कठिन घण उत्पन्न होते हैं ।

त्वक्कोचभेदस्वपनाङ्गसादाः

कुष्ठे महत्पूर्वयुते भवन्ति ॥९॥

(महाकुष्ठ—) महाकुष्ठ में त्वचा में सिङ्कडन, दरार, स्पर्श ज्ञान की कमी और अंगरुग्ण उत्पन्न होती है ॥९॥

कृष्णारुणं येन भवेच्छरीरं

तदेककुष्ठं प्रवदन्ति कुष्ठम् ।

(एककुष्ठ—) जिससे शरीर काला और लाल पड़ जाय, उस कुष्ठ को एककुष्ठ कहते हैं ।

स्युर्येन कण्डूव्यथनौपचोया-

स्तलेषु तच्चर्मदलं वदन्ति ॥१०॥

(चर्मदल—) जिससे (हाथ और पैर के) तलुवें में खाज, पीडा, जलन और चोप हो, उसको चर्मदल कहते हैं ॥१०॥

विसर्पवत् सर्पति सर्वतो य-

स्त्वग्रक्तमांसान्यभिभूय शीघ्रम् ।

मूर्च्छाविदाहारतितोदपाकान्

कृत्वा विसर्पः स भवेद्विकारः ॥११॥

(विसर्पकुष्ठ—) जो त्वचा, रक्त व मांस को दूषित करके मूर्च्छा, दाह, वैचैनी, पीडा व पाक (इन उपद्रवों) को करके शीघ्र चारों ओर विसर्प की भाँति फैलता है, वह कुष्ठ विसर्प है ॥११॥

शनैः शरीरे पिडकाः स्रवत्यः

सर्पन्ति यास्तं परिसर्पमाहुः ।

(परिसर्पकुष्ठ—) जो साव्युक्त कुन्तियाँ शरीर में धीरे धीरे फैलती हैं, उसे परिसर्प कहते हैं ।

कण्डून्वितं श्वेतमपायि सिध्म

विद्यात्तनु प्रायश ऊर्ध्वकाथे ॥१२॥

(सिध्म—) जो खाज युक्त, सुफेद, कष्टरहित, चुद्राकार (तनु) व प्रायः ऊपर के शरीर (छाती, ग्रीवा, मुख) पर होता है वह सिध्म कुष्ठ समझना चाहिये ॥१२॥

वक्तव्य—सिध्म को अंग्रेजी में पिटिरिआसिस वर्सिकलर (Pityriasis Versicolor) कहते हैं । इसका कारण माइक्रोस्पोरन फरफर (Microsporon furfur) नामक एक फंगस जाति का कृमि है । यह छाती और ग्रीवा में अधिक होता है और खुजाने पर उससे भूसी निकला करती है— श्वेत तान्त्र तनु व यद्रजो घट विमुञ्चति । अलावुपुष्पवर्णं तत् सिध्मं प्रायेण चोरति ॥ (चरक) ।

राज्योऽतिक्रयङ्घूर्तिरुजः सरुद्धा

भवन्ति गात्रेषु विचर्चिकायाम् ।

कण्डूमती : दाहरुजोपपन्ना

विषादिका पादगतयेमेव ॥१३॥

(विचर्चिका व विषादिका—) विचर्चिका में (हाथ पाँव इत्यादि) गात्रों में अतिशय खाज और पीडा युक्त रूसी

१ प्रवदनयसाध्यम्. २ कण्डूव्यथशीपचोपाः.

नेवायं उत्पन्न होती हैं । यही जब पाँसों में स्थित होकर म्यात्र, दाह और वेदना युक्त होती है तब विषादिका कहलानी है ॥१३॥

चक्रद्वय—विचर्षिका को हंगेइस (Rhagades) कहते हैं । विषादिका को विवाई और अंग्रेजी में चिब्लेन (Chiblain) कहते हैं ।

यत् क्षायि वृत्तं घनमुप्रकण्डु तत् क्षिग्धकृष्णं किटिभं(मं)वदन्ति ।

(किटिभ—) जो धावयुक्त, गोल, ठोस, घनत्व कण्डु युक्त, चिड़ना और काला हो उसे किटिभ कहते हैं ।

साक्षात्कण्डुपरिदाहकाभिः पामाण्युकाभिः पिडकाभिरूहा ॥१४॥

(पामा—) खाव, खाज व जलन इनसे युक्त छोटी छोटी फुन्सियों से पामा ममकनी चाहिये ॥१४॥

चक्रद्वय—पामा को दानन या एक्सीमा (Eczema) कहते हैं ।

स्फोटैः सदाहिरति सैयं कच्छुः स्फिकृपाणिपादप्रभवैरिन्ख्या ।

(कच्छु—) कूले, हाथ व पाँसों पर उत्पन्न हुए अतिदाह युक्त कोमें से यही पामा कच्छु कहलानी है ।

चक्रद्वय—इसको तुजली या स्केबीज (Scabies) कहते हैं । इस रोग कई कारण एक कीड़ा (Sarcoptes Hominis) है जिमकी लवाएँ हरे रंग के करीब होती हैं ।

कण्डुन्विता या पिडका शरीरे संश्रायहीना रकसोच्यते सा ॥१५॥

(रकमा—) कण्डु युक्त और खाव रहित जो फुन्सियाँ शरीर में उत्पन्न होती हैं, वही रकमा (Dry Eczema) कहलानी है ॥१५॥

अरुः ससिध्मं रकसा महद्य यधैककुष्ठं कफजाग्यमूनि ।

थायोः प्रकोपापरिसर्पमकं शेषाणि पित्तप्रभयाणि विधात् ॥१६॥

(शेषाणामार चतुष्टय—) कफ से स्यूलाग्ग, विषम, रकमा, महाकूट और एककूट होते हैं; वायु के प्रकोप से केवल पतित्वा कूट होता है और शेष (विषय, किटिभ, विचर्षिका, दाता और जर्मदर) पित्त के प्रभाव से होते हैं ॥१६॥

चक्रद्वय—यहाँ कुष्ठों के जो संक्षिप्त लक्षण वर्णन किये हैं, उनमें आधुनिक लक्षणों के साथ उनका टीका टीका मेल करना बहुत कठिन है । जिनके संबंध में कुछ विवरण हो सका, उनके वैद्यकी चर्चा का काम ऊपर किये हैं । तथापि उनके संबंध में भी मतभेद हो सकता है ।

किलासमपि पुष्पविषयः पयः तत्रिधियं पानेन पित्तेन श्लेष्मणा येति । कुष्ठकिन्नामपोरुम्ता—

स्वगतमेव किलासमपरिस्त्रावि च । तद्वाते मण्डलमरुणं परुषं परिध्वंसि च, पित्तेन पद्मपः प्रतीकायं सपरिदाहं च, श्लेष्मणा श्वेतं क्षिग्धं बहु कण्डुमद्य । तेषु सम्यग्मण्डलमन्तेजानं रक्तरो चासाध्यमग्निदग्ध च ॥१७॥

(किलास—) किलास स्वद्योय का ही एक भेद है । वात से, पित्त से और कफ से तीन प्रकार का है । कुष्ठ अं किलास का अन्तर (यह है कि) किलास केवल खजा स्थित और खाव रहित होता है ; किलास वायु से गोर किंचित् रक्तवर्ण, सुरदरा और (खजा के बालों का) ना करने वाला होता है, पित्त से कमलपत्र के तुल्य और दाग युक्त होता है, कफ से सफेद, चिकना, सपूक और कण्डु होता है । इनमें से जिसके चक्रे आपस में मिले हुए हैं जो हल्पादातल गुहा तथा होंट में हुआ हो, और जो क रीम युक्त हो वही असाध्य होता है; तथा अग्निदग्धोय किलास भी असाध्य होता है ॥१७॥

चक्रद्वय—किलास—इसको धिन्न भी कहते हैं—दाह वाण्य धिन्न किलास नामकिंचि । (चरक) । स्वप्नहार ; इसको सफेद दाग और अंग्रेजी में स्यूकोडर्मिया (Leucoderma) कहते हैं । इसके दो भेद होते हैं, दोषत्र जी श्लेष्म—धिन्न तु द्विविध विषादोषत्र श्लेष्म तथा । तत्र मिथ्योपचारो मन्वये ज्ञान स्मृतम् ॥ (भोज) । कुष्ठ और किलास का अन्तर—कुष्ठ हृमिजन्म, सक्तामक और शरीर के आतुर्यों का नाम करने वाला होता है, किलास इसमें शिवकृत विपरित है—प्रयत्न काले व्यापानेन मन्वानं मन्वेप चतरेद । सरदेदेरुमकेषां इमीन् मध्मानं सुदाग्गन् ॥ सीमत्वकालातुषमनीनश्यामीनि ये मन्वा । मनुष्य, पित्रमन्व च पुत्रकालादाग्गन् ॥ (अर्थात् संशय) । इसकी टीका में इन्दु लिखते हैं—अस्मात् कणात् धिन्न रक्तदृशयेनेत्यन्ते । श्लेष्मणाश्रभात्वात् मयपि तस्योत्पन्न मन्वये । आधुनिक वैज्ञानिक श्रोत से भी उपयुक्त आयुर्वेद का कथन मध्य मित् हुआ है । किलास में विश्मि—मनुष्यों की लम्बा के ऊपरी पतने में मेलानिन (Melanin) नामक एक रंग रहता है और इसी के कारण लम्बा रंगीत रहती है । इस रंग का एक कार्य धूप से शरीर की रक्षा करना है; इसीसे उत्पन्न प्रदेग के लोगों तथा धूप में काम करने वालों की लम्बा में इसकी अधिकता होती है और ये लोग काले हो जाते हैं । किलास में लम्बा का यह रंग जाता रहता है, तिसमें शरीरविश्व स्थान सफेद हो जाते हैं । अक्षय यह देखा गया है एक और तिस स्थान पर यह रोग होता है उसी स्थान पर दूसरी ओर हुआ करता है । श्वेत दाग पर कुष्ठ की भाँति न मुक्तता होती है म हृमि मन्वये हैं, परन्तु लम्बा की मृदुता नष्ट होती है । 10 म का हेतु—वर्षभवाध्पनि कृष्णमन्व निन्दा दाला गुणरत्न च । एरुमिया दृशेन च कश्चेत् विषमन्व विनेपि चरुत् ॥ (चरक) । आधुनिक दार्ष्टीय दृष्टि में किलास करने वालों को वात के उत्पुंक्त हेतु बुद्ध शरीरान्तिक वर्णन होगी, परन्तु बहुत कुछ मात्र करने पर भी इस रोग का टीका हेतु आज तक बताया ही रहा—The etiology is quite unknown, but's Toxic and tryphonourotic theories having been

invoked to explain the phenomenon. but Very little evidence is at present forthcoming in favour of either view. A text book of the practice of medicine by Frederick W. Price. यह रोग शरीर-की दोष से उत्पन्न होने के कारण धीरे धीरे फैलता है और एक समय शरीर की सारी की सारी त्वचा कहीं कहीं काले दाग छोड़कर सफेद हो जाती है । उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि इस रोग के औपसर्गिक न होने के कारण सफेद दाग वाले से घृणा करने की कोई जरूरत नहीं होती है । परिध्वंसि—रामविध्वंसि—मदाहं रामविध्वंसि । (अष्टांग-संग्रह) । अन्ते जातं—इत्तपादतल्लुषौष्ठे जातम् । गुणपाणितल्लौष्ठे-ष्विति तलमत्र पादतलं, सुश्रुते 'अन्ते जात' इति सामान्येन निर्देशात् । (मधुकोशव्याख्या) । गुणपाणितल्लौष्ठेषु जातमप्यचिरन्तनम् । वर्जनीयं विशेषेण क्लिप्तं मिडिमिच्छता ॥ (अष्टांगसंग्रह) । रक्तोम—श्वेत रोम । यद्यपि यहाँ तथा चर्क में रक्त रोम (यत्परस्परतोऽभिन्न बहु यद्रक्तरोमवत्) शब्द का प्रयोग किया गया है तथापि उसका अर्थ 'श्वेतरोम' ऐसा करना चाहिये; क्योंकि अष्टांगसंग्रह में क्लिप्त के साध्य लक्षणों में 'अशु-रुतोमाचहुलम्' ऐसा शब्द प्रयोग किया गया है । अशिरुग्ण—दग्धवर्ण या अन्यवर्ण से उत्पन्न हुआ क्लिप्तम् । इसमें दोष प्रणस्थान में होता है, इसलिये प्रणस्थान की त्वचा के अति-रक्त यह रोग और कहीं नहीं फैलता । चिकित्सास्थान के पहले अध्याय में 'कुष्णकर्म' नामक जो उपक्रम वर्णन किया है, वह इसी के लिये है—दुर्लभत्वात् कुष्णकर्म हित भवेत् ॥

कुष्ठेषु तु त्वक्संकोचस्वापस्वेदशोफमेदकौण्य-स्वरोपघाता चातेन, पाकावदरणाङ्गुलिपतनकर्ण-नासाभङ्गाक्षिरागसत्त्वोत्पत्तयः पित्तेन, कण्डूवर्ण-मेदशोफास्त्रावगौरवाणि श्लेष्मणा । तत्रादिवल-प्रवृत्तं पौण्डरीकं काकणं चासाध्यम् ॥१८॥

कुष्ठों में पीडा, त्वचा में सिकुड़न, सुन्नता, खंड (का आधिक्य या अभाव), शोथ, दरार, कर (साधारण तथा अंग) वैकल्य और स्वरभंग वायु से होते हैं; पकना, विदीर्ण होना, श्रृंगुलियों का गिर जाना, कान और नासा का गल जाना, आँखों में सुखी और क्रमियों की उत्पत्ति पित्त से होती है; खाज, वर्णभेद (श्वेत), सूजन, म्वाव और स्थूलता कफ से होती है । इनमें माता पिता के दोष से उत्पन्न हुआ, पौण्डरीक और काकणक (ये तीन कुष्ठ) असाध्य होते हैं ॥१८॥

वक्तव्य—कुष्ठेषु—इससे यहाँ महाकुष्ठ या कोढ़ (Leprosy) अभिप्रेत है । पाश्चात्य वैद्यक में लक्षणों और विकृति के अनुसार कोढ़ के तीन प्रकार किये गये हैं । (१) नाडीकुष्ठ (Nerve Leprosy)—इसमें कुष्णगुणों का आक्रमण शरीर की नाड़ियों पर होता है जिससे सरसराहट, चिमचिमायन इत्यादि पीड़ाएँ, स्वाप, कौण्य इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं । आयुर्वेदिक परिभाषा के अनुसार इसको वातिक कुष्ठ कह सकते हैं । (२) ग्रन्थिकुष्ठ (Nodular Leprosy)—इसमें माथा, चेहरा, कान, प्रकोष्ठ, टांग इत्यादि खुले स्थान

की त्वचा में छोटी छोटी गाँठें बनती हैं, त्वचा पर लाल धब्बे (वर्णभेद) पड़ जाते हैं, त्वचा जगह जगह पर मोटी (गौरव) पड़ जाती है, जिससे रोगी की आकृति बेढौल होती है । ग्रंथियाँ फूटकर द्रव्य बन जाते हैं, इसमें कीड़े भी पड़ते हैं । यह रोग सुँह, गले, कर्ण, नासा, अक्षि इत्यादि स्थानों में भी होता है, जिससे कर्णनासाभङ्ग अक्षिरागादि लक्षण उत्पन्न होते हैं । आयुर्वेदिक परिभाषा के अनुसार इसको 'पित्तकफजकुष्ठ' कह सकते हैं । (३) मिश्र (Mixed) कुष्ठ—इसमें उपर्युक्त दोनों प्रकार के लक्षण उपस्थित रहते हैं, और इसी प्रकार के रोगी अधिक होते हैं । शुद्ध वातिक या शुद्ध ग्रंथिक स्वरूप का रोग या रोगी प्रायः नहीं होता—So the distinction (nerve or skin leprosy) is not sharply defined: Tropical medicine by Rogers and Megan. इसलिये आयुर्वेद में जो कहा है कि 'न च किञ्चि-दस्ति कुष्ठमेकद्रोपप्रकोपनिमित्तं' ॥ (चरक), वह ठीक है । मिश्र कुष्ठ को 'साक्षिपातिक कुष्ठ' कह सकते हैं । आदिवलप्रवृत्त—इसका विवरण सूत्रस्थान के न्याधिसमुद्देशीय नामक सूत्र स्थान के २४ वें अध्याय में (पृष्ठ १४८ देखो) किया गया है । असाध्य—अर्थात् चैवावस्थायामुपद्रवाः कुष्ठिनं स्पृशन्ति । तद्यथा—प्रसवणमद्भेदः पतनान्यद्भावयवानां तृष्णाज्वरातीसारदाहदौर्वैत्यारो-चकाविपाकाश्च; नद्विधमसाध्य विधादिति ॥ (चरक, निदान) ।

भवन्ति चात्र—

यथा वनस्पतिर्जातः प्राप्य कालप्रकर्षणम् ।
अन्तर्भूमिं विगाहेत मूलैर्वृष्टिविधितैः ॥१९॥
एवं कुष्ठं समुत्पन्नं त्वचि कालप्रकर्षतः ।

कमेण धातून् व्याप्नोति नरस्याप्रतिकारिणः ॥२०॥
जैसे कि उत्पन्न हुआ पौधा अधिक समय पाकर वर्षा से वर्धित हुई जड़ों (की सहायता) से भूमि के भीतर फैलता है ॥१९॥ वैसे ही त्वचा में उत्पन्न हुआ कुष्ठ प्रतिकार न करने वाले मनुष्य में अधिक समय पाकर उत्तरोत्तर (अभ्यन्तरीय) धातुओं को व्याप्त करता है ॥२०॥

वक्तव्य—त्वचि समुत्पन्नं—चाहे कुष्ठ आयुर्वेदिक परि-भाषा के अनुसार वातिक पैत्तिक और कफज हो, चाहे आधु-निक परिभाषा के अनुसार ग्रंथिक या नाड़ी का हो उसकी उत्पत्ति सर्वप्रथम त्वचा में सुन्नता, मण्डल, वर्णभेद इत्यादि से दिखाई देती है—सर्वकुष्ठेषु प्रथम त्वच्यवश्य वैकृतं भवति विशेषेण, पश्चाद्द्विगेषिकी दुष्टिः कालप्रकर्षाद्वापि भवति ॥ चक्रपाणि-दत्त, चरकटीका) । अप्रतिकारिणः—त्वचा में रोग का प्रथम दर्शन होते ही यदि उचित चिकित्सा की जाय तो प्रायः रोग अधिक नहीं बढ़ता । आधुनिक काल में तुवरक तेल (Hydro-ear pus oil) के उत्तमोत्तम योगों (Basters) का सुँह द्वारा प्रयोग करने से प्रायः इस रोग में जड़ से आराम होता है । चिकित्सा न करने पर रोग समस्त शरीर में व्याप्त होने से प्रसवणादि चरकोक्त उपद्रव उत्पन्न होकर रोग असाध्य हो जाता है ।

स्पर्शहानिः स्वेदनत्वमीषत्कण्डूश्च जायते ।
वैवर्ण्यं रूक्षभावश्च कुष्ठे त्वचि समाश्रिते ॥२१॥

चरण कर जो मनुष्य इस कुछ रोग से निर्मुक्त होता है, वह इति को प्राप्त होना है ॥३१॥

वक्तव्य—इस श्लोक में कुछ क्री मन्त्रिस चिकित्सा मलाई है । द्वितीय सूत्र और २९ वें श्लोक के अनुसार कुछ कर्मदोषोद्भव व्याधि है—कर्मजा व्याधयः केन्द्रिदोषनाः सन्ति शरे । कर्मदोषोद्भवाश्चान्ये । (उत्तरतन्त्र. अ० ४०) । अर्थात् कुछ की चिकित्सा भी कर्मदोषजन्यकारक होनी चाहिये—संदोषक्षयकृता तेषां सिद्धिर्विधीयते । इस श्लोक में आहाराचार तथा विगिष्ट औषधियों के द्वारा दोषज चिकित्सा और पोषण द्वारा कर्मज चिकित्सा वर्णन की है । आहाराचारयोः श्लोकां—चिकित्सास्थान के कुछचिकित्सित अध्याय के 'तत्र त्रयोषी मांसवसादुग्ध...इत्येष आहाराचारविभागः' इन सूत्रों में वर्णित आहाराचार की विचारणा । अंशुनीनां विधिदानम्—उबरक, खट्टिर इत्यादि कुछ के लिये विशेष यानि खास (Specific) औषधियों के संयोजन से । तपसश्च निषेवणात्—ब्रह्म स्त्री सज्जन वधादि पाप कर्मों का नश्य करने के लिये याग, दान, मन्त्र, बलि, उपहार, देवताराधन, गुरुभजन, वांद्रायण, प्रायश्चित्त इत्यादि दैविक क्रिया करने से ।

प्रसङ्गाद्वात्रसंस्पर्शान्निश्वासात्सहभोजनात् ।
सहशय्यासनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात् ॥३२॥
कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिप्यन्द एव च ।
औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नराक्षरम् ॥३३॥

इति सुश्रुतसंहिताया निदानस्थाने कुष्ठनिदान नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

(संकमया मार्ग—) (कुछादि रोग से पीड़ित मनुष्य के) प्रसंग से, शरीर को स्पृश करने से, निश्वास से, साथ भोजन करने से, साथ चिड़ने पर सोने से, (उसके पहने हुए) वस्त्र माला को धारण करने से ॥३२॥ कुछ, (विविध) ज्वर, राजयक्ष्मा, नेत्राभिप्यन्द, और औपसर्गिक रोग (एक) मनुष्य से (दूसरे) मनुष्य पर संक्रान्त होते हैं ॥३३॥

वक्तव्य—प्रसंग—मैथुन । शय्यासनाच्चापि—रोगी के चिड़ने पर बैठने से या लेटने से । अनुलेपनात्—धारण करने से । दूसरे के वस्त्रमालादि धारण करने का निषेध प्रायः इसी दृष्टि से स्मृति में किया गया होगा—उपानहों व वासश्च ध्यामन्त्यर्न धारयेत् । उपवीनमलकार मज्ज करकमेव च ॥ (मनु) । औपसर्गिकरोगाः—रुत की वीमारियाँ, संक्रामक रोग । अंग्रेजी में इस प्रकार के रोगों को इन्फेक्शस (Infectious) रोग कहते हैं । मसुरिकाश्च रोमान्ती प्रन्थिवीमर्ष एव च । उपदशश्च कण्डूया औपसर्गिकमशकाः ॥ इन श्लोकों में आयुर्वेद में जिनको औपसर्गिक रोग कहते हैं, इनमें से कुछ रोगों के नाम उदाहरण के तौर पर निर्दिष्ट किये हैं, और औपसर्गिक रोगों के फैलने के मार्ग बतलाये हैं । इन रोगों के तथा उनके प्रसार के मार्गों के उल्लेख अन्यत्र भी मिलते हैं—स्पर्शकाहारशय्यादि-सेवनात् प्रायसो गदाः । सर्वे मन्वारिणो नेत्रवन्विकारा विशेषतः ॥ (अष्टांगसंग्रह) । कण्डूकुष्ठोपदेशाश्च भूतीन्मातृव्रणज्वराः । औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नराक्षरम् ॥ (भावप्रकाश) । त्वगक्षि-रोगाण्यन्ताराजयक्ष्ममसुरिकाः । दर्शनात् सर्जनाद् दानात् संक्रामन्ति

नराक्षरम् ॥ (उरभ्र) । तत्र नासारान्प्राणुगेन वायुना श्वासकास-प्रतिश्याय...त्वगिन्द्रियगनेन ज्वरमसुरिकादयः ॥ (डल्हया) । अस्माकं शरीराणि व्रणमुखेन, अन्नपानादिद्वारेण प्रविष्टाः ॥ (सायणाचार्य) । इन विविध मार्गों का विचार करने पर केवल तीन ही सामान्य मार्ग होते हैं । (१) त्वचा, जिसमें प्रसंग, गात्रसंस्पर्श, सहशय्यासन, वस्त्रमाल्यानुलेपन और व्रणमुख इनका समावेश होता है । (२) निश्वास, (३) मुख, जिसमें अन्नपान सहभोजन, एकाहार इत्यादि का समावेश होता है ।

नव्यमत—जो रोग विकारी जीवाणुओं से उत्पन्न होते हैं, तथा जो न केवल मनुष्य ही से मनुष्य को हो सकते हैं, परन्तु मनुष्येतर प्राणियों से भी मनुष्य को होते हैं वे औपसर्गिक कहलाते हैं । ये तीन मार्गों द्वारा होते हैं । यथा (१) त्वचा—उपदेश, फिंरंग, सुजाक, धनुस्तम्भ, विसर्प, ऐन्थ्रॉक्स, जलसंत्रास, मसूरिका । (२) श्वासप्रश्वास—राजयक्ष्मा, पुन्स्युपुन्जा, कुन्कर खाँसी, रोहिणी (डिपन्थीरिआ), प्रतिश्याय (जुकाम), रोमान्तिका, न्युमोनिया, फुफ्फुस का फेग । (३) मुख या स्वाधेय द्वारा—आन्त्रिकज्वर (मोतीफरा), अतिसार, प्रवाहिका, विसूचिका । इन तीन मार्गों के अतिरिक्त कुछ औपसर्गिक रोग कीटों के द्वारा भी फैलते हैं । जैसे—पिस्सू के दंश से फेग; मच्छर के दंश से विपमज्वर, श्लीपद, पीतज्वर और डेंग्यूज्वर; एक प्रकार के भुनग के दंश से कालाअजार; जूँट और चिचली के दंश से टाइफस ज्वर और परिवर्तित ज्वर; और भी कई प्रकार के कीटों से अन्य रोग फैलते हैं । कीटदंश द्वारा फैलने वाले रोगों का समावेश त्वचा में ही करना चाहिये । कीटों की कल्पना आयुर्वेद में नहीं है । मैन्सन नामक शास्त्रज्ञ ने सर्वप्रथम सन् १८९४ में औपसर्गिक रोगों के प्रसार में कीटों का महत्त्व वर्णन किया है । उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि औपसर्गिक रोग और उनके प्रसार-मार्ग इनके संबंध की प्राचीन और अवाचीन कल्पना में कोई विशेष फर्क नहीं है ।

कोड़ कैसे होता है—कोड़ी की नासा के सिनक में, उसके फोड़े फुन्सियों और धावों के मवाद में रोग के जीवाणु होते हैं, जो कोड़ी के साथ मैथुन करने से, उसके विस्तरे पर सोने से, उसके वस्त्रपानादि का उपयोग करने से, उसकी सेवा शुश्रूपा करने से या अन्य प्रकार के संसर्ग से स्वाभाविक या कीट दंश के कारण उत्पन्न हुए त्वचा के जतद्वारा शरीर में प्रवेश करके रोग उत्पन्न करते हैं ।

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विचिन्तयामासुर्वेदरहस्यदीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां निदानस्थाने कुष्ठनिदान नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः ।

अथातः प्रमेहनिदानं व्याख्यास्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥
अथ यहाँ से प्रमेहनिदान का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

घक्तव्य—प्रमेह—प्रभूत अर्थात् अधिक राशि में और प्रभूत अर्थात् असाधारण पदार्थयुक्त मूत्र (मेहन) जिसमें मनुष्य त्याग करता है, वह रंग प्रमेह कहलाता है । फिर मूत्रस्थित पदार्थों और उष्ण कणों के अनुसार उष्ण प्रकार किये गये हैं । सामान्य रक्तजन्मों प्रभूत विद्यमानता । मूत्रवर्णों में प्रमेह के दो गुण कल्पने हैं (अष्टांगहृदय) । अंशुनी में प्रमेह को Anomalies of urinary secretion कहते हैं ।

द्विवास्वमाद्यायामालस्यप्रसक्तं शीतस्निग्धमधुरमेघद्रवाश्रयानसेविनं पुरुषं जानीयात् प्रमेही भविष्यतीति ॥२॥

(प्रमेहरेणु—) दिन को सोने वाला, शारीरिक परिश्रम न करने वाला, आसली, गीला स्निग्ध मीठे पदार्थों और मेष तथा द्रवाश्रयान सेवन करने वाला मनुष्य प्रमेहपीडित होगा ऐसा जान लेना चाहिये ॥२॥

घक्तव्य—मेघ—मेदोभिन्नघेक । पुरुष—स्त्री या पुरुष । कुछ पृथक् मत से यह मानते हैं कि स्त्रियों को प्रमेह नहीं होता—रज प्रसेकश्रावणा मासि मसि विशुद्धमति । सर्व शरीर दोषाश्च न प्रमेहस्त्यत शिव ॥ परन्तु यह कथन साम्य है—एतत्तु न शुक्र सर्वत्रापिमेहे, प्रत्यश्रुतिरोपच ॥ (इहहृदय) । मधुमेह के संबन्ध में इनका कह सकते हैं कि स्त्रियों पुरुषों की अपेक्षा इसने कम संख्या में पीडित होती हैं । प्रमेह का माधारण निदान चक्र में लिखा है—यश्च कश्चिद्विस्त्रियोऽपि श्लेष्ममेदोमूत्रमज्जनन सर्वं स निदानविशेष । बहुद्रवश्रेष्ठा दोषविशेष ॥ बहुद्रव मेदोमज्जं च शरीरच्छेदं शुक्र रोगिण्य च नया मरता लब्धिका यमश्चैत्र मलयत् इति दृष्यविशेषा ॥ (निदानस्थान) ।

तस्य चैवंप्रवृत्तस्यापरिपक्वा एव वातपित्तश्लेष्माणो यदा मेदस्मा सहैकक्यमुपेत्य मूत्रवाहिन्योतांस्यनुसृत्याधो गत्वा यस्तेमुत्सर्जामाश्रित्य निर्भिद्यन्ते तदा प्रमेहान् जनयन्ति ॥३॥

(प्रमेहसंश्रान्ति—) उपरोक्त आहार विहार में प्रवृत्त मनुष्य के आम वात, पित्त और कफ जब मेद के साथ मिलकर मूत्रवाही छोटों में से नीचे की ओर गमन कर बलि मुख का आश्रय कर बाहर निकलने लगते हैं तब प्रमेह उत्पन्न करते हैं ॥३॥

तेषां तु पूर्वरूपाणि—हस्तपादनलदाहः स्निग्धपिच्छिलगुदता गात्राणां मधुरद्राक्लूम्रता तन्द्रासादः पिपासा दुर्गन्धश्च श्वासस्तालुगलजिह्वाद्गन्धेषु मलोत्पत्तिर्जटिलीभावः केशानां वृद्धिश्च नखानाम् ॥४॥

उत्पन्न पूर्व रूप—हाथ और पैर के तलुओं में जलन, अंगों में शिथिलता, पिच्छिलता और भारीपन, मूत्र में माधुर्य और श्लेष्म, तन्द्रा, थकावट, प्यास, (शरीर पर) दुर्गन्ध, हाँफना, तालु गला जीभ और दाँत इन पर मूल की उत्पत्ति, केशों का आपस में अटक जाना और तलों की वृद्धि ॥४॥

तत्रापिलप्रभूतमूत्रलक्षणाः सर्वे एव प्रमेहाः ॥५॥

(सामान्य लक्षण—) मूला और अधिक मूत्र होता प्रमेहों का (सामान्य) लक्षण है ॥५॥

सर्व एव सर्वदोषसमुत्थाः सह पिष्टकामिः ॥
सर्व प्रमेह तथा प्रमेहपिष्टका सर्व दोषों (के) से उत्पन्न होते हैं ॥६॥

तत्र, फंपादुदकेऽसुसुपासिकतायनेलवणपि सान्द्रशुक्रफेनमेहा द्वा साध्याः, दोषदृष्या समक्रियत्वात् ॥७॥

(कफप्रमेह—) कफ से उदकमेह, हृद्यमेह, सुरामेह, मिथुनामेह, शनिमेह, लवणमेह, विष्टमेह, सान्द्रमेह, शुक्र और फेनमेह वेमे द्वा साध्य प्रमेह (होते हैं), क्योंकि (इनमें) दोष और दृष्य की चिकित्सा सम होती है ॥७॥

घक्तव्य—दश—चारक, सुश्रुत और वाग्भट में का प्रमेहों की संख्या दश ही मिलती है, परन्तु उनके नाम ३० प्रकार हैं । अनेक-कफ में कफ से उत्पन्न मिथुनामेह फेनमेह, उदकमेह, हृद्यमेह, सुरामेह, मिथुनामेह, शनिमेह, लवणमेह, विष्टमेह, सान्द्रमेह, शुक्र और फेनमेह, प्रमेहों में दश ही प्रमेहों की संख्या है ।

सुरामेह चरक के सान्द्रप्रभाद्रमेह से समान मालूम होता है—सुरानुदकमुक्तिप्रमत्तमथ सान्द्र सुरामेही । (अष्टांगहृदय) । चोपरि विमलम् । (चरक) । सुश्रुत का विष्टमेह चरक शुक्रमेह के समान मालूम पड़ता है—शुक्र विष्टिम मूत्रमभी १ प्रमेहति । पुरुषो कफोपेन नमातु शुष्कोद्विनम् ॥ (चरक) श्रेय दोषों में कोई समानता नहीं मालूम पड़ती । वाग्भट—लवणमेह और फेनमेह के बन्ने शीतमेह और शालमेह मिले हैं । सान्द्रमेह में मूत्र 'विच्छिन्न तन्मुद्रमिव' होता है । सांद्रमेह को अल्पमिनिपूरिता (Albuminuria) कह सकते हैं—शीतमेह हृद्यमेह का ही एक प्रकार है, क्योंकि उनमें भी मू मयुर होता है । साध्या—कफजन्य प्रमेहों में दोष कफ और दृष्य मेद प्रभूति हैं । कफ के लिये जो रुक्षनीच्य बृद्धि पादि किया अनुद्भूत होती है वही किया मेद के लिये अनुद्भूत होती है, यानि दोष और दृष्य की चिकित्सा विरुद्धोपचय नहीं होता । अतः चिकित्सा का दोषों के उप योग्य उपयोग होने से ये कफज प्रमेह साध्य होते हैं । साध्या में व्याधिमहिमा भी कुछ सहायता देती है—जो सुवर्ण नेत्रजन्ते सुवर्णदृष्या । रक्तगुले पुगणाल द्रव्यमज्जतेशेनः चरक में भी लिखा है—ये दश प्रमेहा साध्या मनानुक्रमेण स्वानुत्पत्तयः, कफरज प्राणान्यत्, समक्रियत्वाच्च ॥ ये कफप्रमेह कफ के गुणों से किये होते हैं, इसकी मीमांसा चरक में निम्न प्रकार कथन की है—गर्भोत्पत्त्यु श्लेष्ममेदोमिश्र प्रवित्तं मूत्रात्तु मूत्रवमापमानं कृष्णैरिन्द्रियैरिन्द्रियैरुपच्यते वैश्वयुजैः । तथा—शेनश्रीनमृतिपिच्छिलव्याप्तकियुष्मप्रभुत्वात्सान्द्रप्रमादत्तः । तत्र येन शुभेकाननकन वा भूवस्तरमुपच्यते एतमाश्रय गौण नाम विशेषः प्रभोजिः । (प्रमेहनिदान) । इसका विवरण धीकण्डूत माधवनिदान की अपनी टीका में इस प्रकार करते हैं—तत्र श्लेष्मच्छरीरैर्गुणैरुदकमेह । मधुरशीतान्वापिमुमेह । सन्द्र-पिच्छिलान्वा सान्द्रमेह । मज्जेन पित्तनुत्पत्तिया सुरामेह । शुष्केन

। श्वेतसिग्धाभ्यां शुक्रमेहः । सान्द्रमूर्ताभ्यां सिकतामेहः ।
 शीतैः शीतमेहः । मन्दमूर्ताभ्यां शनैर्मेहः । पिच्छिलेन लालमेहः ।
 पञ्चाश्रीलहरिद्राम्लक्षारमञ्जिष्ठाशोणितमेहाः
 ण्याः, दोषदूष्याणां विषमक्रियत्वात् ॥८॥

पित्तप्रमेह—) पित्त से नीलमेह, हरिद्रामेह, अम्लमेह,
 १, मञ्जिष्ठा मेह और रक्तमेह ऐसे छः प्रमेह दोष और
 ३ चिकित्सा में विषमता होने से याप्य होते हैं ॥८॥

उक्तव्य—विषमक्रियत्वात्—पित्त और मेद की चिकित्सा
 म्य या विरोध होने के कारण । पित्तप्रमेहों में मधुरादि
 र द्रव्यों का प्रयोग करने से मेदादि दूष्य वृद्धिगत होते
 र कटुकादि मेदहर द्रव्यों का प्रयोग करने से पित्त
 प्रकुपित होता है । इस प्रकार विरुद्धोपक्रम होने के कारण
 ओषधियों का अधिक से अधिक परिणाम न होने से
 मेह याप्य होते हैं । चरक में पित्तप्रमेहों के याप्यत्व
 त्तर भी एक कारण बतलाया है—सर्व एव ते याप्याः संघट-
 दःस्थानकत्वाद् विरुद्धोपक्रमत्वात् । चरक और वाग्भट में
 मेह के बदले कालमेह मिलता है, परन्तु दोनों में समा-
 नहीं है । कालमेह में मूत्र 'मसीवर्ण' अर्थात् स्याही-
 ल होता है । अंग्रेजी में कालमेह को Brown and
 ck urins कहते हैं । मूत्र का कृष्णवर्ण निम्न कारणों से
 ष होता है । (१) पुरानी कामला—इसमें मूत्र के भीतर
 बिर्डिन (Biliverdin) नामक रंगद्रव्य उपस्थित होता
 (२) मूत्र में रक्त या रक्त के रंगद्रव्य की अधिक मात्रा
 पस्थिति । (३) मूत्र में इंडिकन, तथा इन्डोल के उच्च
 के अपद्रव्य की अधिक राशि में उपस्थिति । इसको
 क्यूरिआ (Indicanuria) कहते हैं । यह प्रमेह आन्त्र
 मांसजातीय (प्रोटीन) पदार्थों के सड़न से या शरीर में
 वृद्धार मवाद इकट्ठा होने से उत्पन्न होता है । (४) मूत्र में
 यानिन (Melanin) नामक रंग की उपस्थिति से । यह
 ह मेलन्यूरिआ (Melanuria) कहलाते हैं, और शरीर
 मेलानोटिक सार्कोमा (Melanotic sarcoma एक
 षार का घातक अर्बुद) होने पर पैदा होता है । (५) मूत्र
 होमोजेन्टिसिनिक एसिड (Homogentisinic Acid)
 उपस्थिति से । इसको अल्क्याप्टन्यूरिआ (Alkaptonu-
 a) कहते हैं । यह सहज प्रमेह है जो रोगी की जिंदगी भर
 होता है; परन्तु इससे स्वास्थ्यहानि नहीं होती । (६) कार्बो-
 लिक एसिड का उपयोग द्रव्यविशोधन के लिये करने से
 सका शोषण रक्त में होकर कालमेह उत्पन्न होता है, उसे
 कार्बोल्यूरिआ (Carboluria) कहते हैं । (७) सॅलॉल,
 यालि सायलेट, ग्यालिक एसिड, रिसोर्सिन इत्यादि पदार्थों
 के सेवन से भी कालमेह उत्पन्न होता है । इनमें से कार्बो-
 ल्यूरिआ, अल्क्याप्टन्यूरिआ और मेलन्यूरिआ में मूत्र त्यागने
 के थोड़ी देर के पश्चात् मूत्र काला हो जाता है ।

वातात्सर्पिर्वसात्तौद्रहस्तिमेहाश्चत्वारोऽसाध्य-
 तमाः, महात्ययिकत्वात् ॥९॥

(वातप्रमेह—) वायु से सर्पिमेह, वसामेह, तौद्रमेह
 और हस्तिमेह ये चार प्रमेह अत्यंत असाध्य होते हैं, क्योंकि
 वे शीघ्र विनाश करते हैं ॥९॥

उक्तव्य—तौद्रमेह को चरक में मधुमेह कहा है ।
 सर्पिमेह के बदले मज्जामेह मिलता है । प्रायः ये दोनों समान
 मालूम पड़ते हैं । महात्ययिकत्वात्—वातप्रमेहों में शरीर के
 धातुओं का क्षय होने से तथा विरुद्धोपक्रम होने से असाध्यता
 होती है—वातजाः पुनः क्षीणेषु धातुषु महात्ययतया विरुद्धोपक्रम-
 त्वाच्च ॥ (अष्टांगसंग्रह) ।

तत्र वातपित्तमेदोभिरन्वितः श्लेष्मा श्लेष्मप्रमे-
 हान् जनयति, वातकफशोणितमेदोभिरन्वितं पित्तं
 पित्तप्रमेहान्, कफपित्तवसामज्जमेदोभिरन्वितो
 वायुर्वातप्रमेहान् ॥१०॥

इनमें वात, पित्त और मेद इनसे युक्त कफ कफप्रमेहों को
 उत्पन्न करता है । वात, कफ, रक्त और मेद इनसे युक्त पित्त
 पित्तप्रमेहों को उत्पन्न करता है । कफ, पित्त, वसा, मज्जा और
 मेद इनसे युक्त वायु वातप्रमेहों को उत्पन्न करती है ॥१०॥

तत्र, श्वेतमवदेनमुदकसदृशमुदकमेही मेहति;
 इक्षुरसतुल्यमिक्षुमेही; सुरामेही सुरातुल्यं;
 सरुजं सिकतानुविद्धं सिकतामेही; शनैः सकफं
 मृत्तं शनैर्मेही; विशदं लवणतुल्यं लवणमेही;
 हृष्टरोमा पिष्टरसतुल्यं पिष्टमेही; आविलं सान्द्रं
 सान्द्रमेही; शुक्रतुल्यं शुक्रमेही; स्तोकं स्तोकं सफेनं
 फेनमेही मेहति ॥११॥

(श्लेष्ममेह के लक्षण—) इनमें उदकमेह से पीड़ित
 (मनुष्य) जल के समान स्वच्छ (श्वेत), किसी प्रकार की
 पीड़ा न होकर मूत्र का त्याग करता है; इक्षुमेह से पीड़ित
 उख के रस के समान मूत्रत्याग करता है; सुरामेह से पीड़ित
 सुरा के समान मूत्र त्याग करता है; सिकतामेह से पीड़ित
 पीड़ा के साथ छोटी छोटी बालुकायुक्त मूत्र का त्याग करता
 है; शनैर्मेह से पीड़ित धीरे धीरे कफयुक्त लसदार मूत्र का
 त्याग करता है; लवणमेह से पीड़ित स्वच्छ लवणजल के
 समान मूत्र का त्याग करता है; पिष्टमेह से पीड़ित शरीर
 रोमांच खड़े होकर पिष्टयुक्त जल के समान मूत्र का त्याग
 करता है; सान्द्रमेह से पीड़ित गँदला और गाढ़ा मूत्र त्याग
 करता है; शुक्रमेह से पीड़ित शुक्र के समान (सफेद लसदार
 या शुक्रमिश्र) मूत्र का त्याग करता है; फेनमेह से पीड़ित
 थोड़ा थोड़ा भागदार मूत्र त्याग करता है ॥११॥

उक्तव्य—आयुर्वेदोंक प्रमेहों के लक्षण अतिसंक्षिप्त
 होने के कारण आधुनिक प्रमेहों के साथ उनका ठीक ठीक
 मेल करना बहुत कठिन है । तथापि उपलब्ध चरक सुश्रुतादि
 के लक्षणों से जितना मेल हो सकता है, उतना किया
 जायगा । (१) उदकमेह—यह बहुमूत्रमेह (Polyuria) है
 जिसमें मूत्र त्रण और गुरुता (Specific Gravity) में पानी
 के समान होता है । स्थायी और अस्थायी करके उदकमेह
 दो प्रकार का होता है । अस्थायी उदकमेह जल, चाय, काफी,
 कोको तथा अन्य पेय अधिक मात्रा में पीने से, हृच्छूल,
 अर्द्धावभेदक, अपत्तार, अपतन्त्रक इत्यादि के आवेग के

पश्चात्, भक्ति तथा मानसिक आघात या उत्तेजता से होता है। म्यार्थी उदकमेह पुराने दृक्प्रबोध से, धमनीदार्य के कारण रक्तभंग्य बह जाने से, ग्रंथिक वृक्ष (Cystic Kidneys) से और मस्तिष्कगत पिच्युटरी (Pituitary) ग्रन्थि की विकृति से होता है। पिच्युटरी से होने वाले उदकमेह को डायबेटोज इन्सीपीडस (Diabetes Insipidus) कहते हैं। (२) इन्सुमेह—इसमें मूत्र में शर्करा होती है। शर्करायुक्त प्रमेह को ग्लायकोसूरिया (Glycosuria) कहते हैं। थायुवेद में शर्करायुक्त प्रमेह कफ और वात से पृथक् पृथक् होते हैं। कफजन्य सतर्पण से और वातजन्य धातुजन्य से होता है—इस प्रमेह मधुर सविष्ट मधुमन्नाद्यदिविधो विचारः। क्षीणेषु दोषेष्वनिलस्यारग स्वादु सतर्पणाद्या वफनभवन स्वादु ॥ (चरक, प्रमेहचिकित्सा)। इस सतर्पणजन्य (कफज) इन्सुमेह को अलिमेन्टरी ग्लायकोसूरिया (Alimentary Glycosuria) कहते हैं। सतर्पण के अतिरिक्त अत्यधिक मानसिक और शारीरिक परिश्रम से, मस्तिष्काघात से वृक्ष की शर्करा बंधन मर्यादा (Renal Threshold) कम होने से भी इन्सुमेह होता है। वृक्ष के कारण होने वाले इन्सुमेह को रेनल ग्लायकोसूरिया (Renal Glycosuria) कहते हैं। चरक में इन्सुमेह के अतिरिक्त शीतमेह नामक दूसरा शर्करायुक्त मेह वर्णन किया है। (३) सुपमेह—इसमें मूत्र 'उपर्यच्छमधो घनम्' होता है। सुरामेह यद्यथा फॉस्फेट्सूरिया (Phosphaturia) होगा। यदि सुरा का विचार गंध की दृष्टि से किया जाय तो इसको अमिडोसूरिया (Acetonuria) कह सकते हैं। परन्तु चरक, सुश्रुत, वाग्भट, भेल इनके ग्रंथों में गंध का उल्लेख नहीं मिलता। हाराज्यधर केवल 'सुरातुण्यमित्वाहृत्वा गन्धश्चैव' ऐसा ग्रन्थ करते हैं। असीटोसूरिया मधुमेह में मिलता है। (४) निरनामह—इसमें मूत्र त्यागते समय पथरी के छंटे छोटें कण निकल आते हैं। इसको Passing of stones कहते हैं। (५) शीतमेह—यह प्रमेह सिकता से मूत्र मार्ग कुछ अवरुद्ध होने से होता है। मूत्रेण युक्त निरुत्प्रेषणः। यदन्त मूत्राणु जने प्रमेहः ॥ (६) लघुमेह—इसमें मूत्र 'लघुणात्पुनिभ' होता है। (७) पिष्टमेह—इसमें मूत्र 'पिष्टमिश्रोदकमुच्यते' होता है। हृष्टरोगीय पिष्टमिश्र मूत्र देखने का मानसिक परिणाम मान्य होना है। इस प्रकार का सचेद मूत्र अल्ब्यूमिन, प्य या काईल (Chyle) की उपस्थिति से होता है। मूत्र में काईल (अक्षरस) क्षीणरु इमि के कारण आता है। ये इमि आन्त्रस्य रसमाहिनियों में अवस्थान करके रसमयाह को अवरुद्ध करते हैं। इस अवरोध के कारण जब मूत्रवह संस्थान की रसमाहिनियां फूटती हैं तब रसमूत्र के साथ बाहर निकल आता है। इसको काइलसूरिया (Chyluria) कहते हैं। इमिप्रधान के निम्ने १२ में अन्वय के २२ में मूत्र का वर्णन दाना। (८) मादमेह—इसमें मूत्र घोड़ी देर रन्ने के बाद गाढ़ा हो जाता है—यस्य वर्णनि मूत्र मन्त्री भवति भावे ॥ (चरक)। मूत्र में प्य या फिनि उपस्थित होने से यह गाढ़ा होता है। इसके प्ये का निर्देय न होने से दोनों में से एक का निलय नहीं ठिपा जा सकता। प्ययुक्त मूत्र का वर्ण अंत और फिनियुक्त मूत्र का वर्ण द्विकिर रक्त-

वर्ण होता है। (९) शुक्रमेह—इसमें मूत्र 'शुक्राभ शुक्रमि' होता है। शुक्रमुच्य मूत्र को अल्ब्यूमिनसूरिया (Albuminuria) कहते हैं। वस्ति का संबंध हृत्प्लाज्मा या रक्त के साथ होने से अथवा यनि में वैमीलस कोलीकम्प या यीष्ट नामक जीवाणु प्रविष्ट होने से मूत्र में वायु उ होकर फेन के साथ उसका त्याग होता है। कामला में मूत्र अधिक मागदार होता है और भाग देर तक रहता है। अत ऊर्ध्व पित्तनिमित्तान् चक्ष्यामः—सर्व मच्छे नीलं नीलमेही मेहति; सदाहं हरिद्रामं हरि मेही; अम्लरसगन्धमम्लमेही; श्रुतत्तारप्रतिमं च मेही; मज्जिष्टोदकप्रकाशं मज्जिष्टामेही; शोणि प्रकाशं शोणितमेही मेहति ॥२॥ (पित्तप्रमेह के लक्षण—) अब इसके आगे पित्त प्रमेहों को कहेंगे—नीलमेह से पीड़ित मनुष्य मागदार, र नीलवर्ण मूत्र त्याग करता है। हरिद्रामेही जलन के। हलदी के समान (पीतवर्ण मूत्र त्याग करता है)। अ मेही अम्ल रस और अम्लगन्ध का (मूत्र त्याग करता है) क्षारमेही क्षार जल के समान (मूत्र त्याग करता है) मज्जिष्टामेही मजीठ के काय के समान (मूत्र त्याग करता है) शोणितमेही रक्त के समान मूत्र त्याग करता है ॥२॥ वक्तव्य—(१) नीलमेह—इसको इट्रिकसूरिया (Ictericuria) कहते हैं। इसमें मूत्र में इट्रिकन नामक पद उपस्थित रहता है। यान्न में या आन्त्रेतर शरीर के अ हिस्से में अल्ब्यूमिन के सङ्गे से यह द्रव्य मूत्र में आ जा है, जैसे—पुराना कृच, आन्त्रावरोध, अतिमार, प्रवाहित आन्त्ररोग, कुपकुपकोष, दुर्गंधी रोगी, राजयक्ष्मा की मृती बन्धा इत्यादि। नीलमेह में त्यागते समय मूत्र का वर्ण प्रा और पीछी देर के बाद नील हो जाता है, परन्तु कभी क त्यागते समय भी नीला होता है। (२) मज्जिष्टामेह—इ मूत्र का वर्ण 'मज्जिष्टोदकप्रकाश' होता है। इस प्रकार पीतवर्ण मूत्र में पित्त का बिर्लरुदिन (Bilirubin) नाम रंग उपस्थित रहने से होता है। इस प्रमेह को कोलसूरिया (Choluria) कहते हैं, और यह प्रमेह कामला में दिख देता है। इसके अतिरिक्त मूत्र का व्याप्रायिक रंगद्रव्यः सुरोबिलिन (Urobilin) उसकी अधिक राशि उपस्थित होने से भी मूत्र पीतवर्ण हो जाता है। इस प्रमेह को सुर बिर्लरुसूरिया (Urobiluria) कहते हैं। यह प्रमेह दु पायदुर्गो, दिवम उपर, वृत्रास्युत्तर इत्यादि रक्तवाह रोगों में होता है। (३) मलमेह—मूत्र में सूत्रिक रसिध तथ यूरोडम अधिक मात्रा में उपस्थित होने हैं। इस प्रमेह क निष्पूरिया (Lithuria) कहते हैं। यह प्रमेह बापल में तथा गरिह कष का अत्यधिक सेवन, स्वाध्यायामांश इत्यादि

उत्पन्न होता है । (४) क्षारमेह—मधुमेहसमर्थी: क्षारम मेहः । (अष्टांगहृदय) । इसको Alkaline urine कहते हैं । यक्ति में अधिक देर तक रोक के रखने से, प्रोस्टेट गैली हृदि के कारण या मूत्र मार्ग संकोच से अधिक देर में रहने से, फॉस्फेट की अधिकता से या पुराने यक्ति व से मूत्र क्षारीय हो जाता है । (५,६) हारिद्रमेह और रक्त-मेह प्रमेह मूत्र में रक्त की उपस्थिति से उत्पन्न होते हैं । रक्तों के रक्तपिच में भी हारिद्र और रक्त रोग मूत्र लज्जना है, परन्तु इसमें प्रमेह के लक्षण लक्षणा उपस्थित न होने से वह प्रमेह नहीं कहलाया जाता—गण्डिवर्ण रसिरं च ते विना प्रमेहस्य हि पूर्वोक्तेः । यो मूत्रमेत न वक्ष्ये प्रमेह रक्तस्य वल हि स प्रलोभः ॥ (चरक, प्रमेहचिकित्सा) । यह रक्त रोगमूल रोगमूल के रूप में उपस्थित होता है, तब उसमें मेह की हीमोग्लोबिन्यूरिया (Haemoglobinuria) कहते हैं । इसमें मूत्र में रक्तकण नहीं होते । जब पूर्ण रक्त उपस्थित होता है, तब उसको हीमाट्यूरिया (Haematuria) कहते हैं । इसमें मूत्र में रक्तकण उपस्थित होते हैं । सूक्ष्मदर्शक मन्त्र मूत्र के तलछट की परीक्षा किये विना दोनों का पार्थक्य करना असंभव होता है । यदि आधुनिक कल्पना के अनुसार दोनों में पार्थक्य करना हो तो हारिद्रमेह की हीमोग्लोबिन्यूरिया और शोणित मेह की हीमाट्यूरिया कर्तव्य है । ये दोनों प्रमेह वृक्कवृद्धि, वृक्कामरी, रक्ति का अर्धद, विषमज्वर, पीतज्वर, शोणितमेहज्वर (Black water fever), हीमो-फायलिया, पथ्युरा, स्कर्वी इत्यादि रक्तविकारों में होते हैं ।

अत ऊर्ध्वं घातनिमित्तान् वक्ष्यामः—सर्पिः-प्रकाशं सर्पिमेही मेहति: वसाप्रकाशं वसामेही: शौद्ररसवर्णं शौद्रमेही: मत्तमातङ्गवदनुप्रयन्धं शक्तिमेही मेहति ॥१३॥

(घातप्रमेह लक्षण—) अब इसके आगे घातप्रमेहों को कहेंगे—सर्पिमेही (पतले) घी के समान मूत्र त्याग करता है । वसामेही चरबी के समान (मूत्र त्याग करता है) । शौद्रमेही मधु के रस और वर्ण का (मूत्र त्याग करता है) । शक्तिमेही मदनोन्मत्त हाथी के समान सतत मूत्र त्याग करता है ॥१३॥

वृक्कज्वर—(१) मपिमेह, (२) वसामेह—मूत्र में पूय, अल्पयूमिन या चरबी उपस्थित होने से ये मेह होते हैं । पूय उपस्थित होने पर उसको पायूरिया (Pyuria) कहते हैं । मूत्र में पूय वृक्कविद्रधि, गवीनी मुखशोथ (Pyelitis), वस्ति-रोग, सोजाक, मूत्रसंस्थान का राजयक्ष्मा इत्यादि विकारों में मिलता है । यदि वसा का योगार्थ लिया जाय तो वसामेह को लायप्यूरिया (Lipuria) कह सकते हैं । वसामेह चरबी एक पदार्थ अधिक मात्रा में खाने से, मधुमेह में, वृक्क के विकरारी शोथ में और पूयमय वृक्क (Pyonephrosis) में होता है । काइल्यूरिया में भी मूत्र में वसा होती है । पीछे पिछेमेह देखो । (३) शौद्रमेह—इसको व्यवहार में मधुमेह और मधुमेही में डायबिटीज मेलिटस (Diabetes Mellitus)

कहते हैं । इसमें मूत्र के भीतर 'मधुरग्नभाय शोण' उपस्थित रहता है । आधुनिक रासायनिक परिभाषा में इसको ग्लूकोज (Glucose) कहते हैं । यह एक प्रकार की शर्करा है, जो और शर्कराओं के साथ मधु में उपस्थित रहती है । इसलिये मधु-मेह शब्द सार्थक है । इसकी उपस्थिति से मूत्र, यद्यपि मधु के बराबर नहीं तो भी, वृद्ध गाढ़ा हो जाता है और उसकी गुरुता (Sp. Gravity) बढ़ जाती है । मूत्र में मधु की उपस्थिति होने के कई कारण हैं, जिनका परिज्ञान होने के लिये शरीर में शर्कराशर्मा तथा अन्य भालि पिष्टमय पदार्थों (Carbohydrates) का उपयोग कैसे होता है, इसकी जानकारी बहुत आवश्यक है । अतः शर्करा परिवर्तन का संक्षेप में वर्णन किया जाता है । जितने प्रकार के भालि पिष्टमय पदार्थ मनुष्य सेवन करता है वे सब पाचक इन्द्रियों के द्वारा ग्लूकोज में परिवर्तित होते हैं । कुछ ग्लूकोज यकृत और पेशियों में ग्लूकोजन (Glycogen) के रूप में संचित होता है और आवश्यकता के अनुसार फिर ग्लूकोज में बदल जाता है । कुछ ग्लूकोज शरीर के अन्यान्य स्थानों में शरीर के रूप में संचित होता है । कुछ ग्लूकोज रक्त में उपस्थित रहता है और पेशियों को शक्ति प्रदान कर अन्त में कार्बन डायऑक्साइड और जल में परिवर्तित होता है । रक्त में ग्लूकोज की प्रकृत राशि एक हजार भाग में एक भाग होती है । भोजन के पश्चात् यह राशि कुछ बढ़ती और अन्यान्य से कुछ घटती है । पेशियों में व्यव न होने से या अधिक मात्रा में भालि पिष्टमय पदार्थ सेवन करने से रक्तस्थ ग्लूकोज की राशि प्रकृतांग से अधिक होती है । तब उसका संचय यकृत में ग्लूकोजन के रूप में होता है और जब यकृत इससे पूर्ण हो जाता है तब ग्लूकोज मेह के रूप में परिवर्तित होकर शरीर के विभिन्न अंगों में संचित होता है । जब पेशियों के द्वारा ग्लूकोज का अधिक व्यय होने के कारण रक्तस्थ ग्लूकोज प्रकृतांग से कम हो जाता है तब यकृत का ग्लूकोजन ग्लूकोज बनकर रक्त में आता है और रक्तस्थ शर्करा का प्रमाण पूर्ववत् हो जाता है । मूत्र में शर्करा उपस्थित होने के कारण—१ वृक्क—इसमें यह विशेषता होती है कि रक्तस्थ शर्करा को एक विशेष प्रमाण तक ये रोक के रखकर उसे मूत्र में नहीं आने देते । यह प्रमाण १% तक है । इसको वृक्क की शर्करा वंधन मर्यादा (Renal threshold) कहते हैं । जब कारणवश रक्तस्थ शर्करा की राशि इस प्रमाण से अधिक होती है तब मूत्र में शर्करा आने लगती है । कभी कभी यह देखा गया है वृक्क की शर्कराबंधनमर्यादा कुछ मनुष्यों में स्वाभाविक नीची होती है जिससे मूत्र में शर्करा आती है । इस अवस्था को वृक्क शर्करामेह (Renal Glycosuria) कहते हैं । यह चिंताजनक विकृति नहीं है । २ शालिपिष्टमय पदार्थों का अत्यगन—संचय और व्यय की शक्ति के बाहर इन पदार्थों का सेवन करने से रक्तस्थ शर्करा की राशि जब वृक्क की शर्कराबंधनमर्यादा से अधिक हो जाती है तब मूत्र में शर्करा आने लगती है । इसको Alimentary Glycosuria कहते हैं । इसका निर्देग पीछे कफप्रमेहों में संतर्पणजन्य इक्षुमेह इसके किया गया है । यह विकृति घातरक्तियों में अधिक मिलती है । ३ मस्तिष्क और मानसिक

विकार—क्रोध, शोक, विंता, भय इत्यादि मानसिक विकारों से तथा मलिनिक विद्रधि, अग्नेुद, रक्तप्राय, शोष इत्यादि में मलिनिक का कार्य प्रत्यवस्थित होने के कारण भी मूत्र में शर्करा आने लगती है। ४ अन्न खावी प्रथियों के विकार—शरीरस्थ शर्करा परिवर्तन का नियन्त्रण आन्त्याशय, धाँयराइड (बुद्धिकाप्रथि), सुपारीनल (अधिवृक्काप्रथि) और पिथ्युटी इन चार अन्नखावी प्रथियों द्वारा होता है। इनमें आन्त्याशय का कार्य एक प्रकार का और शेष तीनों का कार्य दूसरे प्रकार का होता है। आन्त्याशय—इस प्रथियों का एक भाग पाचक रस बनाता है जो पित्तरस के साथ मिलकर प्राहिणी में छवता है। दूसरा भाग, जो ह्वैंगरहन्म का द्वीप (Islets of Langerhens) कहलाता है, विशेष प्रकार का रस बनाता है। यह छाव रक्त में मिलता है और इसमें इन्स्यूलिन (Insulin) नामक पदार्थ होता है। यह इन्स्यूलिन पेशियों को शर्करा का रस्य करने में तथा यष्टु की उसका सचय करने में सहायता करता है। बिना इसके ये कार्य हो नहीं सकते हैं। मधुमेह की उत्पत्ति में इस पदार्थ का अभाव या कमी यही एक प्रधान कारण है। इसके अभाव में न शर्करा शरीर में संचित हो सकता है, न पेशियों उसका उपयोग कर सकती हैं। परिणाम यह होता है कि रक्त में शर्करा की राशि वृद्धवचन मर्यादा से अधिक होकर यह मूत्र में से शरीर के बाहर निकल जाती है। इससे यह स्पष्ट होगा कि मधुमेह वृद्ध का विकार नहीं है। अधिवृक्कादि शेष तीन प्रथियों के कार्य इन्स्यूलिन के विरुद्ध होते हैं। ये चारों प्रथियाँ आपस में मिलकर शर्करा का विनियोग सुचारु रूप से करके शरीर को शक्ति प्रदान करती हैं। मधुमेह में प्राय आन्त्याशय के लैंगरहान के द्वीप की सेलें नष्ट होकर उनके स्थान पर मातव धानु या मेद बन जाता है। मध्यम मधुमेह में भोजन के पश्चात् ही तीन घंटे तक रक्तस्थ शर्करा की राशि प्रकृताय से अधिक होकर उसी समय में मूत्र द्वारा शर्करा निकलती है। तीव्र मधुमेह में निरन्तर रक्तस्थ शर्करा की राशि प्रकृताय की अपेक्षा तीन घण्टा गुना अधिक होती है और मूत्र द्वारा निरन्तर शर्करा का उत्सर्ग होता रहता है। शर्करा का विनियोग शीघ्र न होने से प्रोटीन और मेद का भी विनियोग शीघ्र नहीं होता। मेद से मेदमाल, अमिडो असेटिक एसिड, बीटा-आल्बमी इवुटिक एमिड एसिटोम इत्यादि पदार्थ उत्पन्न होकर मूत्र में उत्सर्गित होते हैं। इन पदार्थों से रक्त की क्षारीयता घट जाती है और सन्धासादि दाय्य उपद्रव उत्पन्न होते हैं। (४) इल्लिमेह—इसी मत इन्सुलिन मूत्र वेगविकल्पित। सन्धासिक विरुद्ध व इल्लिमेहो प्रमत्ति ॥ (छाद्योगइहृदय) इल्लिमेह में रागी के मूत्रमार्ग से मूत्र वेगविकल्पित अर्थात् ईर-ईद करके निरन्तर टपकता रहता है। इस प्रमेह में मूत्रमार्ग में कुछ रुकावट भी होती है—विकेराण्य बायो सन्धासिकमूत्र-प्रवृत्तिग करोति। (चरक)। इसकी टीका में गंगाधर निरुते हैं—मूत्रस्य मूत्रमार्ग साध्य तयो समरर । समररकारण्यि शेषेण न मूत्रनिवृत्ति करोति, विद्रु मग्न्युंमनुनादिप्रवृत्ति करोति, न शर्करावृत्तिप्रण करोतीत्यर्थः । इन रुकावटों का विचार करने पर इल्लिमेह कास इन्सुलिनरन्म आक एलिन (Falso

incontinence) या इन्सुलिनरन्स फ्राम ओवरफ्लो (Incontinence from overflow) नामक रोग मान्य है। यह विकार सुपुत्रागत मूत्रवेन्द्र का घान होने वनितवध के कारण, अशरीर के कारण या प्रोस्टेट प्रथि के कारण होता है। इसमें वनि में मूत्र भरा रहता है अनिरिक मूत्र निरन्तर छवता रहता है। बुद्ध प्रायु याछत्र इससे 'डायबीटीज इनसीपीडस' समझने हैं।

मक्षिजोपसर्पणमालस्यं मांसीपचय, प्रतिदय शैथिल्यारोचकापिपाकाः कफप्रसेकच्छर्दिनि कासश्वासाश्चेति श्लेष्मजानामुपद्रवाः। वृषण र्वदरण्यं वस्तिमेदो मेदूतोदो हृदि श्लममली ज्वरातीसापरोचका चमधुः परिधूमयानं दा मूर्च्छा पिपासा निद्रानाशः पाण्डुरोगः पीतविण प्रनेत्रत्यं चेति पैत्तिकाताः। हृद्ग्रहो लौल्यमनि स्तम्भः कम्पः शूलं वज्रपुरीपत्यं चेति घातजानाम एवमेते विशतिः प्रमेहाः सोपद्रवा व्याख्याताः ॥१॥

(प्रमेहों के उपद्रव—) मखियों का (शरीर पर मूत्र पर) अकर बैठना, सुनी, स्थूलता, लुकाम, शिथिल अरवि, अपचन, कफ का साव, वमन, निद्रा (की अ कता), खानी और श्वास ये कफज प्रमेहों के उपद्रव हैं। वृषणों में घूटने की सी पीड़ा, वनि भेदन की सी पी शिभ मे सुई चुभाने की सी पीडा, हृदय (प्रदंग) में श खटे टकार, ज्वर, श्वाससार, अरवि, वमन, जलन करने व ककार, जलन, मूर्च्छा, प्यास, निद्रानाश, पाण्डुरोग, अ मल, मूत्र तथा नेत्रों का पीनापन ये पैत्तिक प्रमेहों के उपद्रव हैं। हृदय जकड़ा सा रहना, संवरसाभिकाहा, निद्रा आना, शरीर झकड़ जाना, काँपना, शूल और मलाबरोध वातिक प्रमेहों के उपद्रव हैं। इस प्रकार ये बीस प्रमेह उ द्रवों सहित वर्णन किये हैं ॥१॥

घसक्तय—अशुक्लपन्येण—वज्रपरिवेष्टिकाभिश्च शरीरवृत्तं सण्य ॥ (चरक) ।

तत्र घसामेदोभ्यामभिवप्रशरीरस्य त्रिभिर्दोषै ध्यानुगतघातोः प्रमेहिनो दश पिडका जायन्ते तद्यथा—शरायिका, सर्पिका, कच्छपिका, आ लिनी, विनता, पुत्रिणी, मसूरिका, अलजी, विदा रिका, विद्रधिका चेति ॥१॥

(प्रमेहपिडका—) जिसका शरीर घसा और मेद है व्याप है तथा जिसके धानु तीनों दोषों से आक्रान्त हुए हैं उरकों दश पिडकाएँ उत्पन्न होती हैं। जैते—१ शरायिका, २ सर्पिका, ३ कच्छपिका, ४ आलिनी, ५ विनता, ६ पुत्रिणी, ७ मसूरिका, ८ अलजी, ९ विदारिका, और १० विद्रधिका ॥१॥

घसक्तय—विडका—इसको कार्बन्कल (Carbuncle) कह सकते हैं। लक्ष्यों के अनुसार इसके दस भेद किये गये हैं। चरक में केवल सात भेद वर्णन किये हैं। प्रमेहपिडका १ परिशून

।।सदृश कई सूक्ष्म छेद होते हैं, क्योंकि एक पिडका सूक्ष्म फुन्सियों से बनती हैं । यह पिडका प्रायः ग्रीवा नाग, पीठ, ग्रंथ, चूतड़, होठ या चेहरे पर होती है । दाह, पीड़ा, रक्तिमा बहुत होती है और जल्दी फैलती इसका मुख्य कारण मधुमेह या इक्षुमेह और वसामेह । है—उपेक्षयास्य (मधुमेहस्य) जायन्ते पिडकाः सप्त दारुणाः । श्वेत्कशारेण मर्मस्वपि च सधिषु ॥ (चरक) । परन्तु कभी यह पिडका प्रमेह के अतिरिक्त कमजोरी पैदा करने वाले दि से भी उत्पन्न होती है, इसलिये चरक में लिखा है— प्रमेहमप्येता जायन्ते दुष्टमेदसः ॥ पिडका के पूय में बहुधा वर्ण पूयजनक गुच्छ्राणु (Staphylococcus pyogenes pus) मिलते हैं ।

।।सर्पसंस्थाना तद्रूपा निरुद्धमध्या शराविका ।
।।सर्पसंस्थाना तत्प्रमाणा च सर्पपी ॥१६॥
।।हा कूर्मसंस्थाना श्रेया कच्छपिका बुधैः ।
।।लेनी तीव्रदाहा तु मासजालसमावृता ॥१७॥
।।ती पिडका नीला पिडका विनता स्मृता ।
।।त्यल्पाचिता श्रेया पिडका सा तु पुत्रिणी ॥१८॥
।।रसमसंस्थाना श्रेया सा तु मसूरिका ।
।।सिता स्फोटवती दारुणा त्वलजी भवेत् ॥१९॥
।।शरीकन्दवृत्ता कठिना च विदारिका ।
।।श्वेर्लक्षणां युक्ता श्रेया विद्रधिका बुधैः ॥२०॥
(पिडकाओं के लक्षण—) शराव (तद्वरी) के समान, व के आकार की, बीच में नीची शराविका पिडका होती सुफेद सरसों के आकार और प्रमाणा की सर्पपिका पिडका । है ॥१६॥ दाहयुक्त, कटुवे (के पृष्ठ) के समान पिडका । से कच्छपिका कहलाती है । जालिनी तीव्रदाह और जाल इनसे युक्त होती है ॥१७॥ बड़ी और नीलवर्ण का विनता कहलाती है । बड़ी, छोटी छोटी फुन्सियों युक्त पिडका पुत्रिणी कहलाती है ॥१८॥ मसूर के आकार मसूरिका कहलाती है । रक्तवर्ण तथा कृष्णवर्ण, फुन्सियों युक्त और अर्धकर पिडका अलजी होती है ॥१९॥ शरीकन्द के समान गोल और कठिन विदारिका होती है । पिं के लक्षणों से युक्त पिडका वैद्यों से विद्रधिका कती है ॥२०॥

वक्तव्य—कूर्मसंस्थाना—कच्छपपृष्ठाभा—श्वेत्कशारेण मर्मस्वपि च सधिषु ॥ (चरक) । जालिनी—सर्पशा सिराजालवती स्त्रियस्त्रावा महाशया । नितोदवहुला सूक्ष्मच्छिद्रा च जालिनी ॥ (चरक) । सर्पपिका—का नातिमहती क्षिप्रभाका महालजा । सर्पपी सर्पभाभिः पिडका-क्षेता भवेत् ॥ (चरक) । अलजी—दहति त्वचमुत्थाने तुष्णा-ज्वरप्रदा । विसर्पत्यनिशं दुःखादहत्यभिरिवालजी ॥ (चरक) । क के ये लक्षण उपर्युक्त लक्षणों से कुछ अधिक विषय के कारण यहाँ दिये हैं । अल्पाचिता—सूक्ष्मपिडकावैष्टिता ।

ये यन्मयाः स्मृता मेहास्तेपासेतास्तु तत्कृताः ॥२१॥
जो प्रमेह जिन दोषों से उत्पन्न होते हैं, उन प्रमेहों की पिडकाएँ प्रमेहजनक दोषयुक्त होती हैं ॥२१॥

वक्तव्य—प्रमेह त्रिदोषजन्य होते हैं । परन्तु 'व्यपदेशस्तु भूयसा' इस न्याय से जो दोष अधिक होता है उसके अनुसार प्रमेह को संज्ञा दी जाती है । उस प्रमेह में जो पिडका उत्पन्न होगी वह भी त्रिदोषजन्य परन्तु एकदोषोक्त्या रहेगी । जैसे वातमेह में वातपिडका, पित्तमेह में पित्तपिडका और कफमेह में कफपिडका । वाग्त्व में प्रमेहपिडका एक विकार है परन्तु दोषों और लक्षणों के अनुसार उसके सात (चरक), नौ (भोज), दस (सुश्रुत) या इससे अधिक भी प्रकार हो सकते हैं—तथान्याः पिडकाः सन्ति स्तूपीताक्षितारुणाः । पाण्डुराः पाण्डुवर्णाश्च भस्मसा मेचकप्रसाः ॥ सूक्ष्म कठिनाक्षान्याः स्थूलाः सूक्ष्मास्तथापराः । मन्दवेगा महावेगाः स्वल्पशुद्धा महारजः ॥ तां बुद्ध्वा मारुतादीनां यथास्वैर्हेतुलक्षणैः । न्यायुपचरेचाशु प्रागुपद्रवदर्शनात् ॥ (चरक) ।

गुदे हृदि शिरस्यंसे पृष्ठे मर्मणि चोत्थिताः ।
सोपद्रवा दुर्बलस्य पिडकाः परिवर्जयेत् ॥२२॥
दुर्बल मनुष्य के गुद (प्रदेश), हृदय (प्रदेश), शिर, बाहुशूल, पीठ तथा अन्य मर्म स्थानों पर उठी हुई उपद्रव युक्त पिडकाएँ त्यागने योग्य होती हैं ॥२२॥

वक्तव्य—उपद्रवाः—वृत्कासर्मासकोथमोहदिकामदञ्जराः । निवर्षमर्मसतोषाः पिडकानामुपद्रवाः ॥ (चरक) । पृष्ठे—प्रमेह-पिडका अधिकतर पीठ पर ही हुआ करती है । शिरसि—'गंगायां घोषः' इस न्याय से इसका अर्थ चेहरे पर करना चाहिये । आगे चिकित्सास्थान में 'ततो मधुमहिनामधः काये पिडकाः प्रादु-र्भवन्ति ॥ (प्रमेहपिडकाचिकित्सित)—ऐसा जो लिखा है, वह स्वतन्त्रविरोधी और प्रत्यक्षविरोधी वचन है, क्योंकि प्रमेहपिडका प्रायः ऊर्ध्वकाय में उत्पन्न होती है । गुद—इससे यहाँ महाज्वर का अन्तिम भाग अभिप्रेत नहीं है; परन्तु गुद प्रदेश या मूलाधार पीठ (Perineum) अभिप्रेत है ।
कुत्छां शरीरं निष्पीड्य मेदोमज्जवसायुतः ।
अधः प्रक्रमते वायुस्तेनास्त्राध्यास्तु वातजाः ॥२३॥
(वातप्रमेह की असाध्यता—) समस्त शरीर को निचोड़ कर मेद, मजा, वसा (ओज इत्यादि) सहित वायु नीचे (वस्ति की ओर) संचार करती है; इसलिये वातज प्रमेह असाध्य होते हैं ॥२३॥

वक्तव्य—पीछे सूत्र नौ में वातज प्रमेहों की असाध्यता का जो कारण 'महात्वयिकत्व' दर्शाया है उसका विवरण इस श्लोक में किया है । यह महात्वयिकत्व इसलिये उत्पन्न होता है कि वायु वसा श्रोत्रादि शरीर के परम सारभूत धातुओं को वस्ति में रसींचकर सूत्र के साथ शरीर से बाहर निकाल देती है, जिससे शरीर के समस्त धातु क्षीण हो जाते हैं—वायुवैत्तदीन धातु शरीरस्य परमसारभूतान् वस्तिमाकृत्य सूत्रेण सह विस्वजति । तरमात्...वातजाः...असाध्याः । क्षीणेषु धातुषु महात्वययथा विस्वो-पक्रमत्याच ॥ (अष्टांगसंग्रह) । धातु क्षीण होने से शरीर की योग्यता निरुद्ध होने से रोग असाध्य हो जाता है ।

१ मांसजालसमाश्रिता. २ रक्तासिता.

प्रमेहपूर्वरूपाणामाहृतियंत्र दृश्यते ।
 किंचिच्छ्वाप्यधिकं मूत्रं तं प्रमेहिएणमादिशेत् ॥२४॥
 रुक्मान्यधानि वा यस्मिन् पूर्वरूपाणि मानवे ।
 प्रवृत्त(श्च)मूत्रमत्यर्थं तं प्रमेहिएणमादिशेत् ॥२५॥

प्रमेह के पूर्वस्था की जिसमें अभिव्यक्ति हो तथा मूत्र भी कुछ अधिक हो उस मनुष्य को प्रमेही कहना चाहिये ॥२४॥ जिस मनुष्य में (प्रमेह के) समान या आधे पूर्वस्था हों तथा मूत्र की प्रवृत्ति भी बहुत हो उसको प्रमेही कहना चाहिये ॥२५॥

यत्कण्य—इन श्लोकों में प्रमेह और मूत्र के तात्कालिक अन्य दोषत्र विकार इनमें भेद दर्शाया है । यद्यपि पहले सूत्र ५ में 'प्रमृताविलम्बप्रता' प्रमेह का साधारण लक्षण बतलाया गया है, तथापि केवल प्रमृताविलम्बप्रता से पीड़ित रोगी को प्रमेही नहीं कह सकते हैं, जब तक उसमें हस्तपाद तल्लदाहादि पूर्वस्था भी उपस्थित न हों। यही नियम मूत्र के वर्ष के बारे में भी समझना चाहिये । इसी दृष्टि से धरक में लिखा है—हारिवर्णं रथि च मूत्र विना प्रमेहस्य हि पूर्वस्था । या मूत्रेण न वेदे प्रमेद रक्तस्य पित्तस्य हि न प्रवीप ॥ (प्रमेह चिकित्सित) ।

पिडकापीडितं गात्रमुपसृष्टमुपद्रवैः ।
 मधुमेहिनमाचष्टे स चासाध्यः प्रकीर्तितः ॥२६॥
 स चापि गमनात् स्थानं स्थानादासनमिच्छति ।
 वासनाहृणुते शय्यां शयनात् स्वप्नमिच्छति ॥२७॥

पिडकाओं से अत्यंत पीडित, और उपद्रवों से व्याप्त हुए प्रमेही को मधुमेही कहते हैं, यह असाध्य होता है ॥२६॥ मधुमेह का रोगी घनन से उदरने की इच्छा किया करता है, उदरने से बैठने की इच्छा किया करता है, बैठने से लेटना चाहता है और बैठने से मा जाने की इच्छा करता है ॥२७॥

धृक्कण्य—धृक्कण्य श्लोक का तात्पर्य यह है कि पिडका तथा अतिहीनसर्पणादि उपद्रव प्रायः अन्य प्रमेहों की अपेक्षा मधुमेह में अधिक हुआ करते हैं । इसलिये पिडका और उपद्रवों से व्याप्त प्रमेही को मधुमेही समझना चाहिये । सना-ईत्यं श्लोक का तात्पर्य यह है कि दिन प्रतिदिन मधुमेही चिकित्सा न करने से कमजोर होता जाता है ।

यथा हि घर्णानां पञ्चानामुन्मत्तार्थपर्यटतेन संयोगविशेषेण शयलयश्चरुपिलवपोतमेचवादीना यर्णानामनेकेषामुन्मत्तसिंघति, पथमेव दोषधानुमलाहादिशेषेणोत्कर्षपर्यटतेन संयोगविशेषेण प्रमेहायां गानाकरस्य भवति ॥२८॥

जैसे कि (मुख्य) पांच रंगों के अधिक वा मूल मात्रा में किये हुए मिश्रणविशेष से गन्ध (चित्तकरता), बधु (पित्रल), कपिन (उग्रवर्णपित्रल), कर्षीन (पारावमर्षी), मेष्क (इषाम्ब) इत्यादि अनेक रंगों की उत्पत्ति हो जाती है, वही तरह दोष, प्राण, मन और आहार के म्यूताधिक संयोगविशेष से प्रमेही का माना भेद भी जाते हैं ॥२८॥

भवति धात्र—

सर्व एव प्रमेहास्तु कालेनाप्रतिकारिणः ।
 मधुमेहस्यमायान्ति तदाऽसाध्या भवन्ति हि ॥२९॥

इति सुश्रुतमहिम्ना निदानस्थाने प्रमेहनिदान नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

(प्रारभ से ही योग्य) चिकित्सा न करने वाले मनुष्य के सब ही प्रमेह बहुत समय के बाद मधुमेह में परिवर्तित होते हैं, और तब असाध्य हो जाते हैं ॥२९॥

यत्कण्य—सब प्रमेहों का मधुमेह में परिवर्तित आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से अयुक्तियुक्त है । क्योंकि प्रत्येक प्रमेह के निदान आर संप्राप्ति अत्यंत सूक्ष्म सूक्ष्म होती है । इति भास्कराश्रयणो योविन्दामनेन विरचितायामाधुमेहस्यवैदिकव्याख्यां सुश्रुताभाषाटीकायां निदानस्थाने प्रमेहनिदान नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

सप्तमोऽध्यायः ।

अथात उदराणां निदानं व्याख्यास्यामः ।

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥
 अब यहाँ से उदरनिदान का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

यत्कण्य—उदर—सोमेष उदरस्थ रोग । उदरशब्द के प्रयोग की यह खूबी है कि उससे रोग के स्थान का तथा रोग के एक प्रधान लक्षण (यानि उत्सेध) का बोध होता है—तारस्थतदमेवार्था च तन्महीनयाऽपि च । तत्साहचर्यच्छिद्यना वृत्तिरा चरुतिथि ॥ अंग्रेजी में उदर के लिये Generalised abdominal enlargements कह सकते हैं । उदर का उत्सेध निम्न कारणों से प्राय होता है । (१) मेरोवृद्धि—इससे उदर फूलता है, परन्तु नोभि की गर्त में कोई फर्क नहीं होता, उदर के साथ साथ शरीर के अन्य स्थानों में मेरोवृद्धि के लक्षण (चर्कित्युदरस्तन । धरक) मिळते हैं, पार्श्व कम फूले होते हैं, उदर दीवाल पर अंगुलि से पीड़न करने पर गूदा नहीं बनता और अंगुलिताहन करने पर कुछ विनाशित (Resonant) ध्वनि मिलती है । (२) हास्य—आन्त्र में वानमध्य होने से भी उदर फूलता है । इसका उल्लेख पीछे वातव्याधिनिदान में 'आध्याय' करके किया है । अंगुलिताहन करने से हास्य में सर्वत्र डालकर विनाशित ध्वनि मिलती है, और धरक बदलने से भी ध्वनि में कोई फर्क नहीं होता । वातादर में आध्याय होता है और उसमें अंगुलिताहन करने से डालकर ध्वनि होती है—महान्मयात्तान्तिशब्द (हास्य पूर्णमेकदशर । चरुपाणि) भवति । आध्याय में कब्ज, दल, गुडगुडगुड इत्यादि अन्य लक्षण भी साथ होते हैं । कब्ज, अग्निमन्दता, आन्त्र की कमजोरी, आन्त्रावरोध इत्यादि के कारण आध्याय होता है । कभी कभी इसमें आन्त्र की संकुचनार्थी धीर गति भी दिखती है । कभी कभी आध्याय वा आन्त्र में उदर बनने से वायु उदरावायु की गुहा में एकत्र होती है । इसमें उदर अधिक फूलता है; आध्यायध्वनि अधिक होती है, रोगी अवसन्न (Collapsed) होकर

१ हस्तिनेश्वर चिकित्साशास्त्रे उदरनिदाने १ मधुमेहस्य चिकित्सा

समय में मरती है । (३) जल—उदरावरणगुहा में जब कड़ा होता है तब उसे जलोदर कहते हैं । इसके आदि का विवरण आगे इसी अध्याय में किया गया है । कभी उदर की दीवाल में जल इकट्ठा होने से उदर सा दीखता है । परन्तु इसमें अंगुलिपीडन से गढ़ा है, दोनों पार्श्वों और वस्तिप्रदेश में सूजन अधिक होती है हाथ, पैर, मुख इत्यादि शरीर के अन्य अंगों पर भी मिलती है, क्योंकि उदरप्राचीरशोध सर्वांगशोध का शिक लक्षण होता है । (४) मल—जीर्णविद्विबन्ध से भी फूलता है । इसमें टटोलने पर मल तथा उसकी गँठें आती होती हैं, और दवाने पर वे दब जाती हैं या विभक्त होती हैं । इसके साथ सिरदर्द, मन्दाग्नि, सुस्ती, आध्मान आदि लक्षण भी होते हैं । बद्धगुदोदर मलसंचयजन्य उदर विरचन का एक दो वार प्रयोग से मलसंचयजन्य उदर वरम प्रायः घट जाता है । (५) उदरस्य अंगों का परिमाण ना—उदरस्य प्रत्येक अंग का परिमाण बढ़ने से तमाम र फूल नहीं सकता । परन्तु वस्ति, गर्भाशय, वीजकोप, श्व और फीहा का परिमाण अत्यधिक बढ़ने से समस्त उदर का सा दिखाई देता है । वस्ति—मूत्र के रुक जाने से वस्ति का परिमाण बढ़ता है । इसको मूत्रजठर (Distended ladder) कहते हैं । इसमें भगास्थि के ऊपर उदर का षष्ठांश फूलता है, उस पर अंगुलिताडन करने से ध्वनिमंद होती है, परन्तु दोनों पार्श्वों में निनादित होती है, शनैर्मह होता है तथा मूत्रोत्सर्जिका डालने पर उदर का उत्प्रेषण नष्ट होता है । गर्भाशय—गर्भवृद्धि के कारण गर्भाशय सत्र से अधिक बढ़ता है । कभी कभी गर्भोदक की प्रचुरता होती है तब उदर जलोदर की भाँति मालूम पड़ता है । इस अवस्था को जलगर्भ (Hydramnios) कहते हैं । दोनों अवस्थाओं में मासिक-धर्म का वंद होना, स्तनों का कालापन, गर्भस्पन्द इत्यादि गर्भावस्था के लक्षण होते हैं । वीजकोपग्रंथि, फीहोदर और बद्धाल्युदर का विवरण इस अध्याय में आगे किया गया है । (६) कैन्सर—उदरावरण में कैन्सर होने से भी पेट फूलता है । इसमें टटोलने पर गँठें मालूम होती हैं, उदर में पानी इकट्ठा होता है, रोगी कृष हो जाता है, कक्षा या बृद्धि की ग्रंथियाँ फूलती हैं, और शरीर के अन्य स्थान में मूलकैन्सर का पता चल जाता है । उदर का निदान करते समय इन बातों पर ध्यान देना चाहिये ।

धन्वन्तरिर्धर्मभृतां वरिष्ठो

राजर्षिरिन्द्रप्रतिमोऽभवत्ययः ।

ब्रह्मर्षिपुत्रं विनयोपपन्नं

शिष्यं शुभं सुश्रुतमन्वशात्सः ॥२॥

धार्मिकों में श्रेष्ठ, राजर्षि, (ज्ञानेश्वरों से) इन्द्र के समान (भगवान्) धन्वन्तरि जो अवतीर्थी हुए थे उन्होंने विनयशील, अन्वय वय शीलान्ति गुणों से युक्त (शुभ), ब्रह्मर्षि (विश्वामित्र के) पुत्र अपने शिष्य सुश्रुत को (उदर रोगों के संबंध में) शिक्षा दी ॥२॥

पृथक् समस्तैरपि चेह दोषैः

फ़ीहोदरं बद्धगुदं तथैव ।

आगन्तुकं सप्तममष्टमं च

दकोदरं चेति वदन्ति तानि ॥३॥

(उदरसंख्या—) पृथक् पृथक् दोषों से (तीन, यथा वातोदर, पित्तोदर, कफोदर), समस्त दोषों से (एक, यथा सन्निपातोदर), फ़ीहोदर (इसमें बद्धाल्युदर का समावेश होता है), बद्धगुदोदर, सातवाँ आगन्तुक (वातोदर) और आठवाँ जलोदर इस प्रकार इस पास्त्य में (दस) इनको (आचार्य श्रेष्ठविध) कहते हैं ॥३॥

सुदुर्वलाग्नेरहिताशनस्य

संशुष्कपूत्यन्ननिपेवणोद् वा ।

स्नेहादिभिर्ध्याचरणाच्च जन्तो-

वृद्धिं गताः कोष्ठमभिप्रपन्नाः ।

शुल्माह्नतिव्यञ्जितलक्षणानि

कुर्वन्ति घोराण्युदराणि दोषाः ॥४॥

(उदरहेतु—) अहितकर भोजन करने से अथवा सूखा चाँसी सड़ा अन्न लेवन करने से और जेह (स्वेद तथा चमनादि पंच कर्मों) का श्रयोय आचरण करने से दुर्बल जठराग्नि वाले मनुष्य के प्रहृष्ट हुए दोष कोष्ठ में प्राप्त होकर शुष्म के (समान) आकार के और प्रकट लक्षण युक्त घोर उदर रोग उत्पन्न करते हैं ॥४॥

वक्तव्य—चरकसंहिता में उदर के हेतु संज्ञेप में इस प्रकार वर्णन किये हैं—अतिसन्धितदोषाणां पापं कर्म च कुर्वताम् । उदराण्युपजायन्ते मन्दाग्नीनां विशेषतः ॥ (उदरचिकित्सा) । पापकर्म से मद्यपान, अग्न्यागमन इत्यादि कर्म समस्त करते हैं । इस श्लोक में सब उदरों के साधारण हेतु वर्णन किये हैं । जिनके विशेष हेतु होते हैं, उनका निर्देश आगे प्रत्येक उदर के साथ किया गया है ।

कोष्ठादुपस्रोहवदज्ञसारे

निःसृत्य दुष्टाऽनिलवेगनुजः ।

त्वच्चः समुच्चम्य शनैः समन्ताद्

चिचर्धमानो जठरं करोति ॥५॥

(संप्राप्ति—) (न्यान) वायु के वेग से प्रेरित हुआ दुष्ट अजरस उपस्रोह की भाँति (कोष्ठस्थ अंगों) से (उदर गुहा में) रिसकर (उदर की) त्वचा को उन्नत करके धीरे धीरे सब ओर से बढ़कर उदर उत्पन्न करता है ॥५॥

वक्तव्य—उपस्रोहवत्—मिठी के घड़े में भरा हुआ द्रव उसके अनंत सूक्ष्म छेदों में से चूकर जिस प्रकार बाहर निकल आता है उस प्रकार । इस शब्द प्रयोग से शरीर में धातुओं के भीतर अजरस कैसे प्रविष्ट होता है, उसका वर्णन किया गया है । शरीर में अजरस का निःसरण (Transudation) केवल खोतों से विधिपूर्वक क्रियाओं द्वारा होता है उसका उल्लेख पीछे ८१ पर किया गया है । इस श्लोक में जलोदर की संप्राप्ति वर्णन की गई है । जलोदर शोध का ही एक स्वाभाव

विशिष्ट स्वरूप है। प्रकृतापस्था में अक्षरसंघों की दीवारों में से पृक्कर पाण्डुओं का पोष्य करके फिर सतिष्कापादिनियों द्वारा रक्त में मिल जाता है। जब किसी कारण से धीनों की दीवाल की प्रव्यक्ष्यता (Permeability) अल्पधिक हो जाती है तब प्राणुओं में अक्षरय सञ्चित होकर 'उत्सेप-लिंग' शोथ उत्पन्न होता है। हमलिये धीनों की प्रत्यधिक प्रव्यक्ष्यता अर्थात् पर्याय में क्षोतोदुष्टि यही शोथ का प्रधान कारण है—जोनां दृश्यादायाद सक्षोभादतिपूरणम् । (चरक, उदरचिकित्सा) । बाधा निरा प्राप्य यदा कक्षास्युपिप्लोनि सद्रूपयतीह वायु । तैर्वदमानं स यदा विनर्षन्मुत्सेपिद्वि श्वयधु करोति ॥ (चरक, अय्युचिकित्सा) । शिरास्येन क्षोनां मामा म्येन ग्रहणम् । (चक्रपाण्डित) । क्षोतोदुष्टि के अतिरिक्त रक्तभाराधिक्य भी शोथोत्पत्ति में सहायता करता है। शोथ जब खचा या पृक्तादि अंगों में होता है तब शोथ ही कहा जाता है, जब किसी अंगकाय युक्त स्थान में होता है तब उस स्थान के साथ जल शब्द का उपयोग किया जाता है। जैसे—उदर में जलोदर, छाती में जलोदर (Hydrothorax) में, मस्तिष्क में जलमस्तिष्क (Hydrocephalus), वृषण में जलवृषण या मूत्रजम्बुधि (Hydrocele), हृदयावरण में जल हृदयावरण (Hydro-pericardium) इत्यादि ।

तत्पूर्वरूपं यलयर्षकाद्वा-
धलीविनाशो जठरे हि राज्यः ।
जीर्णपरिहानविदाह्यत्यो
वस्ती रुजः पादगतश्च शोफः ॥६॥

(पूर्वरूप—) कमजोरी, (शरीर के स्वाभाविक) धर्ष में पलट, अरुचि, कुर्बियों का नाश, उदर पर रेखाएँ, भोजन पचा या नहीं पचा इसका ज्ञान न होगा, (गले में) जलन वस्ति (प्रदेश) में पीडा और पाँवों पर सूजन यह उदर रोगों का पूर्वरूप है ॥६॥

वक्षज्य—विनाशशब्द बल से बली तक प्रत्येक के साथ संशोधित है। बलविनाश—धीनसे बल शब्द दूम्बिल्यरसदि वेष्टिते ॥ (अष्टांगसंग्रह) । काङ्गा—अस्त्रामिज्ञाप । राज्य—उदर में रुकावट होने के कारण फूली हुई सिराओं की रेखाएँ—व्यक्त शिरा । (चक्रपाण्डित) । Enlarged Superficial veins । जीर्णपरिहानविदाह्यवली वस्ती रुज—जीर्णपरिहानविदाह्यो विद्वेने यन्नु वलित्वमनु साक्षात् । (हज्जुष्य) । जीर्णपरिहान—कीर्णकीर्ण न वेष्टि च । (चरक) ।

संग्रहा पाभ्वोदरपृष्ठनाभी-
यंक्षयैते कृष्णसिरानगरम् ।
सश्लमानाहवदुमशय्यं
सतोदमेदं पयनात्मकं तत् ॥७॥

(वातोदर—) दुष्कि, पेड, पीठ और नाभि इनका आश्रय करके, कानी सिराओं के जाल से युक्त, श्लय, अकारा, तीक्ष्ण गुड श्लय, तीदन और भेदन की पीडा इनसे युक्त जो उदर बढ़ता है—संग्रहज्य है (परा सम्भना चाहिये) ॥७॥

यथोपवृष्णाञ्ज्वरदाहयुतं
पीतं सिरा ज्ञान्ति च यत्र पीताः ।
पीताक्षिपिण्णमूत्रनद्याननस्य
पित्तोदरं तत्त्वचिराभिवृद्धि ॥८॥

(पित्तोदर—) जो शोथ, प्यास, ज्वर, और दाह से युक्त हो, जिसमें पीलापन हो, गर्म भी पीपी ही चमकती हो, नेत्र मल, मूत्र, नख और मुख पीले हों वह पित्तोदर है, यह भी ही बढ़ जाता है ॥८॥

यच्छीतलं शुक्लसिराघनर्द्धं
गुरु स्थिरं शुक्लनवाननस्य ।
स्निग्धं महच्छ्रोफयुतं ससादं
कफोदरं तच्चु चिरामिवृद्धि ॥९॥

(कफोदर—) जो (स्पर्श में) शीतल हो, सफेद सिराओं से युक्त हो, कठिन हो, स्थिर हो, जिसमें नख और मुख सफेद हों, जो विकना हो, अति शोथ युक्त हो, जिसमें भ्रग ग्लानि हो, वह कफोदर है; यह बहुत दिनों में वृद्धि की प्राप्त होता है ॥९॥

स्त्रियोऽन्नपानं नखरोममूत्र-
विडतं वैर्युकमसाधुवृत्ताः ।
यस्मै प्रयच्छन्त्यरयो गरांश्च
दुष्टाम्बुदूपीविपसेयनाद् वा ॥१०॥

तेनाशु रक्तं कुपिताश्च दोषाः
कुर्वन्ति घोरं जठर त्रिलिहम् ।
तच्छीतंयते भृशदुर्दिने च
विशेणतः कुप्यति दक्षते च ॥११॥
स चातुरो मूर्च्छति संप्रसक्तं
पाण्डुः कृशः शुप्यति तृष्णया च ।

प्रकीर्तितं दृष्युदरं तु घोरं
श्रीहोदर फीतयतो निबोध ॥१२॥

(सक्षिपातोदर—) दुह धी (पुरुष) और शयु जियकी जल, बाल, मूत्र, मल और आतवयुक्त अन्न तथा विष (कुश्रिम विष) प्रदान करते हैं (अर्थात् खिलाते हैं) उससे अथवा वृषित जल और दूरीविष के सेवन से ॥१०॥ शीघ्र ही रक्त-सधा यद्वादि दोष वृषित होकर त्रिदोषरक्षणयुक्त घोर उदर उत्पन्न करते हैं। यह शीत, वायु और वादल इनसे युक्त दिन में विशेष करके कुपित होता है और दाह उत्पन्न करता है ॥११॥ यह (सक्षिपातोदर से पीड़ित) रोगी निरन्तर मूर्च्छित होता है, पाण्डुरवर्ण और कृष हो जाता है तथा प्यास के मारे सूख जाता है। यह भयंकर दृष्युदर है। यह श्रीहोदर बधेन करता है; उसे ध्वज कर ॥१२॥

वक्षज्य—श्लय—धी उपलक्षण है, इससे समीपवर्ति यत्र पुरापायी श्लोक सम्भना चाहिये—क्षीमर्षणमत्रोपलक्षण तेनावेष्टि सत्रिहिंग भविविकिन्तो मासा ॥ (बह्व्य) । य—

नानाप्राण्यशमलविश्लेषिभसनाम् । विषाणां चात्पवीर्याणां योगो
र इति स्तुतः ॥ कृनिमं गरसंशु बु क्रियते विविधैःपैः ॥ (अष्टांग-
ग्रह) । दूषीविष—जीर्ण विषप्रौषधिभिर्हने वा दावाधिवातातपशो-
त वा । स्वभावतो वा गुणविप्रहीनं विषं पि दूषीविषतामुपैति ॥
सुश्रुत) । दुर्दिन—मेवाच्छत्रेऽस्ति दुर्दिनम् ॥ (अष्टांगसंग्रह) ।
पुदर—दूषीविषजन्य उदर । इसमें त्रिदोषों का भी प्रकोप
होता है इसलिये सन्निपातोदर भी कहा जाता है । सन्निपातो-
दर दूषीविष के अतिरिक्त अन्य कारणों से भी होता है—
ब्रह्मिरेपथ्यामविरोधिगुरुभोजनैः ॥ (चरक) । समश्रतः सर्व-
सान्निध्याहारनिहारिणः ॥ (भेलसंहिता) । श्रीऋण्डदत्त मधु-
योग व्याख्या में दूष्युदर कहने का कारण लिखते हैं—रक्त दूष्यं
पुष्यत्वा भवतीति दूष्योदरं; किंवा परस्परं दूषयन्तीति दोषा एव दूष्या-
तैः कृन्मुदरमिति । परंतु यह कथन अयुक्त है । जैसे कि वात के
गण्य वातोदर, पित्त के कारण पित्तोदर और कफ के कारण
कफोदर कहा जाता है, वैसे दूषीविष के कारण यह दूष्युदर
कहा जाता है । दूष्युदर की यही उपपत्ति मानने के निम्न प्रमाण
हैं । (१) कल्पस्थान में दूषीविष पीड़ितों के लक्षणों में भवेच्च
पुष्योदरलिङ्गमुः (अ. २) ऐसा स्पष्ट उल्लेख है । (२) शीतवात
दुर्दिनादि दूष्योदर प्रकोप के जो खास कारण यहां निर्दिष्ट
किये हैं, वे ही कारण दूषीविष प्रकोप के भी होते हैं—कोप च
शीतानिदुर्दिनेषु यात्याशु पूर्व श्रुणु तत्र रूपम् ॥ (कल्प. अ. २) ।
(३) भेलसंहिता में दूषीविषोत्पन्न उदर का 'दूष्योदरं' करके
खतन्त्र उल्लेख किया है; और सान्निपातिक उदर का स्वतन्त्र
उल्लेख किया है—तथा नानावेदनापमुदर सान्निपातिकम् । स्त्रीणां
दूष्योदरं नाम जायते सान्निपातिकम् ॥ इस प्रकार भेलसंहिता में
दो सन्निपातोदर पृथक् क्रिये हैं । सुश्रुत में केवल दूषीविषो-
त्पन्न सन्निपातोदर का वर्णन किया है । चरक और वाग्भट में
दोनों का मेल एक ही में किया है—त्रिदोषकोपनैस्तैः स्त्रीदत्तैश्च
ज्योमलैः । (अष्टांगसंग्रह) ।

विदाह्यभिष्यन्दिरतस्य जन्तोः

प्रदुष्टमत्यथेमसृक्कफश्च ।

श्रीहाभिवृद्धिं सततं करोति

श्रीहोदरं तत् प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥१३॥

चामे च पार्श्वे परिवृद्धिमेति

विशेषतः सीदति चातुरोऽत्र ।

मन्दज्वराग्निः कफपित्तलिङ्ग-

रूपद्रुतः क्षीणवलोऽतिपाण्डुः ॥१४॥

(श्रीहोदर—) विदाहजनक और अभिष्यन्दजनक
पदार्थों के सेवन में रत हुए मनुष्य का अत्यंत कुपित हुआ
रक्त और कफ श्लेष्मा को निरन्तर बढ़ाता है; उसे वैद्य श्रीहोदर
कहते हैं ॥१३॥ यह श्लेष्मा बाएँ पार्श्व में बढ़ती है और इसमें
रोगी मन्दज्वर, मन्दाग्नि, कफ पित्त के उपद्रव, दुर्बलता
और पाण्डु रोग इनसे युक्त होकर (दिन प्रति दिन)
विशेषता से क्षीण होता (जाता) है ॥१४॥

वक्तव्य—विदाही—पित्त रक्त प्रकोपक उष्ण तीक्ष्ण अम्ल
दाहजनक पदार्थ—विदाहि द्रव्यमुद्गरमन्त्र कुर्यात्तथा रुपाम् । हृदि
दाह च जनयेत् पाक गच्छति तच्चिरात् ॥ अभिष्यन्दि—कफजनक

और दोष धातु मूल स्रोतों का हृदय करने वाला वा ज्योतो-
वरोधक—पैच्छिल्याद्गौरवाद् द्रव्यं ऋत्वा रसवहाः सिराः । धते यद्गौरवं
तत्त्वाद्भिष्यन्दि यथा दधि ॥ (शार्ङ्गधर) । श्लेष्माभिवृद्धिं सततं—
धीरे धीरे क्रम से श्लेष्मा का आकार बढ़ता है—तस्य श्लेष्मा
कठिनोऽशीलेवादी वर्षमानः कच्छपत्तरथान उपलभ्यते स चोपेक्षित
क्रमेण कुक्षिं जठरमन्यधिष्ठान च परिक्षिप्युदरमभिनिर्वर्तयति ॥
(चरक) । श्रीहोदर—इसको अंग्रेजी में क्रानिक एनलार्जमेंट
आफ दी स्प्लीन (Chronic Enlargement of the Spleen)
कहते हैं । प्रदुष्टमलार्थमसृक्—अत्यन्त दूषित हुआ रक्त श्लेष्मा
की वृद्धि करता है, यह अत्यन्त चिन्तनीय है । आधुनिक वैज्ञा-
निक खोज से यह सिद्ध हुआ है कि श्लेष्मा का रक्त के साथ
घनिष्ठ संबंध है । चक्षुषि पूरे तौर से श्लेष्मा के विशेष कार्य
मालूम नहीं हुए हैं, तथापि अनुमान से निम्न कार्य श्लेष्मा
के माने जाते हैं । (१) रक्तकणों की उत्पत्ति करना, (२)
श्वेतकणों को बनाना, (३) जो लाल रक्त अपना काम कर
चुके हैं, और जिनकी आयु पूरी हो चुकी है उनका नाश करना,
(४) रक्त का संचय करना, (५) तथा शरीर पर आक्रमण
करके रक्त में प्रविष्ट हुए विकारी जीवाणुओं से मुकाबला
करके शरीर की रक्षा करना । इसलिये जब रक्त दूषित हो
जाता है, तथा रक्त में रोग के जीवाणु प्रविष्ट होते हैं तब श्लेष्मा
का कार्य बढ़ जाता है और इस बढ़े हुए कार्य को पूर्ण करने
के लिये उसकी भी धीरे धीरे वृद्धि हो जाती है जिसको
श्रीहोदर कहते हैं । श्रीहोदर के प्रधान कारण—(१) रक्तदोष—
श्वेतकणाभिवृद्धि (Leukaemia) के विविध प्रकार (यथा
Splénomedullary, Lymphatic and Mixed), हैमिक
पाण्डुरोग (Splenic anaemia), दुष्ट पाण्डुरोग (Per-
nicious anaemia) (२) जीवाणु जन्य रोग—जीर्ण विषम-
ज्वर, काला अजार, हॉजकिन (Hodgkin) का रोग और
फिरंग । इनके अतिरिक्त यकृतभिवृद्धि (Cirrhosis of the
liver), श्लेष्मा के अर्द्ध तथा अन्य असाधारण कारण बहुत
होते हैं । इनमें से रक्त दोषों का असली कारण अभी तक
अज्ञात है । मन्दज्वराग्नि इत्यादि—जिस कारण से श्लेष्मावृद्धि
होती है, उसी कारण से मन्दज्वरादि लक्षण उत्पन्न होते हैं ।

सव्येतरस्मिन् यकृति प्रदुष्टे

क्षेत्रं यकृद्वाल्युदरं तदेव ॥१५॥

(यकृद्वाल्युदर—) दक्षिण पार्श्व में यकृत प्रदुष्ट होने से
वही (श्रीहोदर) यकृद्वाल्युदर समझना चाहिये ॥१५॥

वक्तव्य—यकृद्वाल्युदर—जिसमें श्लेष्मावृद्धि के साथ
साथ यकृत की वृद्धि होती है (Enlargement of the Spl-
een with enlarged liver) वह यकृद्वाल्युदर है । केवल
यकृत की वृद्धि (Enlarged liver) को यकृद्वाल्युदर निम्न
कारणों से नहीं कह सकते—(१) डब्ल्यूआर्चर्य अपनी टीका
में लिखते हैं—तदेव श्रीहोदरं यकृद्वाल्युदरं शेषम् । क शेषमित्याह—
यकृति काल्पण्ये, किंभूते ? प्रदुष्टे । (२) भावप्रकाश में यकृद्वा-
ल्युदर श्रीहोदर का भेद बतलाया है—श्रीहोदरस्यैव भेदो यकृद्वा-
ल्युदर तथा । (३) आयुर्वेद में कहीं भी यकृद्वाल्युदर के लिये
स्वतन्त्र स्थान नहीं है । उसका समावेश श्रीहोदर में ही किया

जाता है। उसके कारण तथा चिकित्सा भी झीहोदर की ही होती है, उसकी स्वतन्त्र लक्ष्या भी नहीं गिनी जाती है तथा उसकी यकृत झीहोदर भी कहा जाता है—तुल्यदेहुल्लिप्य लालस्य झीहज्जर परचरोध हलेत्यकृष्णोदोदर विचार । (चरक, उदरचिकित्सा) । (४) आधुनिक विद्वित्तिविज्ञान की दृष्टि से देखा जाय तो यह कह सकते हैं कि झीहावृद्धि के लिये ऊपर रक्तविकार, विषमज्वर हृत्पादि जो रोग बतलाये गये हैं उनमें प्रायः जरूर एक अवस्था आती है जिसमें यकृत भी प्रदुष्ट होकर कुछ बढ़ जाता है । (५) केवल यकृत की वृद्धि का विचार किया जाय तो भी यह कह सकते हैं कि झीहावृद्धि न होकर यकृत की उतनी वृद्धि क्वचित् होती है जिसमें उस वृद्धि के कारण पेट उदर के समान फूला हुआ दीखता है ।

यस्यान्त्रमधैरुपलेपिभिर्वा

यालाश्रमभिर्वा पिहितं यथावत् ।

संचीयते तत्र मलः सद्योः

क्रमेण नाड्यामिव संकरो द्वि ॥१६॥

निरुध्यते चास्य गुदे पुरीयं

निरपेति वृच्छादपि चास्पमल्पम् ।

हृन्नाभिमध्ये परिवृद्धिमिति

य(त)ओदर विदसमगन्धिकं च ।

प्रच्छदंयन् यदगुदी विभावयः

ततः परिस्त्रान्युदरं निबोध ॥१७॥

(यदगुदोदर—) जिसकी आंत पिच्छिल यात्र या बाल या कंकड़ से रूख भरी हुई है उसकी आंत (नाड़ी) में कड़ा कंकड़ की भांति धीरे धीरे शोषों के साथ मल इकट्ठा होता है ॥१६॥ और उसके गुदा में मल घटक कर बड़ी सुविश्रल से थोड़ा थोड़ा निकलता है, हृदय धीरे नाभि के बीच में उदर फूलता है, मल के समान गंध की उलटी होती है, यह यदगुद शुष्क समझना चाहिये । इसके बाद परिस्त्रान्युदर श्रवण कर ॥१७॥

यत्कज्य—चरकसंहिता में यदगुदोदर का वर्णन निम्न प्रकार से किया है—यस्योत्ते सरात्रेण मुचेनैवात्क्यो गुदे । प्दानैरुत्तमार्गैरित्तराम्पृच्छनेन वा । भवान्ने मार्गगतोपाशालाभि सुपिनोऽपिल । वां पित्तकादु यद्वा जनयपुरं ततः ॥ (उदर-चिकित्सा) । सुधुत और चरक के वर्णन का साथ साथ विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि यदगुदोदर में मल गुदा में गने गने इकट्ठा होता है । इसलिये यदगुदोदर को

.....

है— १ कड़ाहमादि (Due to hard and bulky faeces), २ यदगुद (Stricture of the rectum or anus) ३ उदावर्त (Spasm of the sphincter ani or entero spasm), ४ अर्श (Haemorrhoids) ५ आन्त्र संकुचन (Due to weakness of the intestines) । यदि इस

पद का अर्थ चकपाण्डित के अनुसार 'आन्त्रपरिवर्तन' । जाय जिसको अंग्रेजी में Volvulus कह सकते हैं, तब अ संमूर्च्छनजन्य यदगुद को Acute Intestinal obstruction कहना चाहिये । विदसमगधिक—जब मल का नीचे मार्ग अपरदुष्ट हो जाता है तब वायु आन्त्र में उलटी पैदा करती है, जिससे आन्त्रस्थित सब चीजें मुल के बाहर निकला करती हैं और आन्त्र में वमन में मल की स्थिति तथा गंध भी रहता है । मलगन्धि हृदि हृदाश्रम ऊपर की ओर रकावट होने से बहुत धीप्र और बहुत आं हुआ करती है, और यदि रकावट स्थूलान्त्र में हो तो देर और कम हुआ करती है । आयुर्वेद तथा पाश्चात्य वैद्यक दृष्टि से भी मलगन्धि हृदि असाध्य का लक्षण माना जा है—उदिवेगवती मूलकृष्णि तचन्द्रिका । (अष्टांगहृदय, ५ अ ५) ।

शूल्यं यदधोपहितं तदन्त्रं
भिनत्ति यस्यागतमन्यथा वा ।
तस्मात् सुतोऽन्त्रात् सलिलप्रकाराः
स्त्रायः श्वेदैर्गुदतस्तु भूयः ॥१८॥
नामेरधधोदरमेति वृद्धिं
निस्तुघतेऽतीय विदह्यते च ।
एतत् परिस्त्रान्युदरं प्रविष्टं
दकोदरं कीर्तयतो निबोध ॥१९॥

(परिस्त्रान्युदर—) आंत्र के साथ सेवित और टेव आया हुआ शूल्य जिसके आंत्र को धीर देता है उसके आन्त्र से पूजा हुआ पानी के समान श्राव गुद द्वारा खूब निकलता है ॥१८॥ (कुछ श्राव उदरगुहा में प्रविष्ट होने से) नाभि के नीचे उदर फूलता है, तीव्र पीडा होती है और जलन होना है, यह परिस्त्रान्युदर कहा जाता है । अथ जलोदर का कथन करते हैं, उसे श्रवण करो ॥१९॥

यत्कज्य—अन्यथा—तिथेक । अतिशयघटक सुई हृत्पाति शूल्य अन्न के साथ आन्त्र में प्रविष्ट होने पर सरल नीचे जाने जाय तब आन्त्रप्लेद होने की कोई संभावना नहीं होती; परन्तु टेके होने पर सेद होता है—विलोमेनागतमन्त्रं भिनत्ति, कज्जान पित्त हल्यमपि नागभेदकम् । अन्यथा वेति ज्वभगापतनाभ्यामन्त्र पिप्ले । (मधुकोशव्याख्या) । लुभण्य आन्त्रण से आन्त्रप्लेद तब हो सकता है, जब आन्त्र में पहले का तण उपस्थित हो । नामेरध—आन्त्रप्लेद में से कुछ श्राव आन्त्र में धरता है जो गुदमार्ग से बाहर निकलता है, और कुछ श्राव आन्त्र के बाहर उदरगुहा में धरता है जो नाभि के नीचे के भाग में इकट्ठा होकर उदर वृद्धि करता है—रेव चापूर्द कर्तः कर्तः कोरामभेदः । कर्षे तरणेनामे ॥ (अष्टांगसंहिता) । निष्ट को—आन्त्र से उदरगुहा में प्रविष्ट हुआ वह रस उदरावर्त (Peritonium) में शोष करता है, जिससे तोद, दाह तथा शिका, श्वास, कास, दृष्ट्या हृत्पादि चार्कोफ कज्ज उन्नत होती है । शोष के कारण उदरगुहा में कज्ज भी पैदा होता है, किये वेद फूलता है—नतो गाभ्या प्रायोऽभिनत्तं यान्युदरमेतत् ।

(क) दकोदर और परिखाव्युदर में फर्क इतना ही होता है जलोदर की अपेक्षा इसमें जल जलदी पैदा होता है—
 चैति जलात्मताम् ॥ (अष्टांगसंग्रह) । परिखाव्युदर—
 को छिद्रोदर या क्षतोदर भी कहते हैं—छिद्रोदरमिति प्राहुः
 गीति चापरे ॥ (अष्टांगसंग्रह) । अन्त्रच्छेद, उससे उदर-
 में रस का प्रवेश, नृष्णा श्वास कासादि लक्षण, जल की
 उत्पत्ति इन सब बातों का विचार करने पर परिखाव्युदर
 आधुनिक परिभाषा में आन्त्रच्छेदजन्य उदरावरणशोथ
 enteronitis due to perforation of the bowel)
 सकते हैं ।

यः स्नेहपीतोऽप्यनुवांसितो वा
 वान्तो विरिक्तोऽप्यथवा निरूढः ।

पिवेज्जलं शीतलमाशु तस्य
 स्रोतांसि दुष्यन्ति हि तद्वहानि ।

क्षेहोपलितेष्वथवाऽपि तेषु
 दकोदरं पूर्ववदभ्युपैति ॥२०॥

स्निग्धं महत्संपरिवृत्तनाभि
 भृशोन्नतं पूर्णसिवास्त्रुना च ।

यथा वृत्तिः भ्रुभ्यति कम्पते च
 शब्दायते चापि दकोदरं तत् ॥२१॥

(दकोदर—) जिसने स्नेह, अनुवासनवस्ति, घमन,
 रचन अथवा निरूढ वस्ति सेवन किया है वह यदि इन
 व्याधियों के पीछे तत्काल ठण्डे पानी का सेवन करे तब उसकी
 क्वह स्रोतस दूषित हो जाती हैं; (उससे) अथवा
 तस स्नेहोपलित होने से पहले की भाँति जलोदर उत्पन्न
 ता है ॥२०॥ वह जलोदर स्निग्ध, मोटा, संपरिवृत्तनाभि
 र अत्यंत फूला हुआ रहता है; तथा जैसे पानी से पूर्णतया
 री हुई मशक क्षुब्ध होती है, कांपती है और शब्द किया
 रती है, वैसे वह जलोदर भी करता है ॥२१॥

वक्तव्य—पूर्ववत्—परिखाव्युदर में जिस प्रकार आन्त्र
 रस चूकर उदरगुहा में इकट्ठा होता है, उस प्रकार । संपरि-
 तनाभि—उच्छलितनाभि । इसके दो अर्थ हो सकते हैं और
 यों के अनुसार व्यवहार में नाभि की दो अवस्थाएँ दीख
 रती हैं ।

(१) जिसमें नाभि की गर्त अधिकांश नष्ट होकर वह
 तपःस्पष्ट (Flush with the surface) हो जाती है ।

(२) जिसमें नाभि उलटी होकर बाहर की ओर निकल
 जाती (Protrude) है । इन दोनों अवस्थाओं का कारण
 क ही है उदरगुहा में इकट्ठा हुए जल का दवाय पीछे से
 नाभि के ऊपर पड़ना । यदि दवाय मध्यम हो तो नाभि
 तपःस्पष्ट हो जाती है, और यदि जल वेहद उदरगुहा में भरा
 हुआ हो तो दवाय अधिक होने से नाभि बाहर की ओर
 निकल जाती है । यथा वृत्तिः इत्यादि—इस श्लोकार्थ में जलोदर
 परीक्षा की तीनों विधियों का संक्षेप में निर्देश किया है ।

(१) कंपनपरीक्षा (Fluctuation test)—इसमें उदर के
 एक पार्श्व में आघात करने से समस्त उदर थलथलाता हुआ

दीख पड़ता है जिसमें आघात की ओर से उदर का कंपन
 दूसरी ओर चल पड़ता है ।

(२) क्षोभपरीक्षा (Percussion test)—इसमें उदर
 के एक ओर एक हाथ रखने से और दूसरी ओर दूसरे हाथ
 से आघात करने पर जो क्षोभ भीतर के जल में उत्पन्न होता
 है वह क्षोभ पहले हाथ से स्पष्ट प्रतीत होता है । इसी का ही
 स्पष्ट निर्देश चरक में किया है—उदकपूर्णवृत्तिक्षोभसंस्पर्शम् ।

(३) शब्दपरीक्षा (Percussion)—जल पूर्ण मशक के
 ऊपर आघात करने से जिस प्रकार का मन्द या भ्रू
 (Dull) शब्द उत्पन्न होता है उस प्रकार का शब्द जलोदर
 में भी उत्पन्न होता है । अष्टांगसंग्रह में भी इन बातों
 का उल्लेख किया गया है—तोयपूर्णवृत्तिस्पर्शशब्दप्रक्षोभवेपथुः
 आहतं न तु शब्दवत् । इन बाह्य लक्षणों के अतिरिक्त
 और एक लक्षण जलोदर में दिखाई देता है, जिसका यहाँ
 निर्देश नहीं है । वह लक्षण है—नानावर्णराजिशिराजालसंततम् ।
 (चरक) । इसका कारण यह है कि उदरगुहा में जल के
 दवाय से अधरा महासिरा का मार्ग अवरूढ हो जाता
 है । इसलिये रक्त उदर की बाह्य त्वचा की सिराओं द्वारा
 हृदय की ओर जाने लगता है, जिससे उदर पर नलों का जाल
 बन जाता है । दकोदर—उदकोदर या जलोदर । इसको असा-
 इटिज (Ascites) कहते हैं । जलोदर के मुख्य छः कारण
 होते हैं ।

(१) यकृतवृद्धि के कारण या यकृतबाह्य अंगों की
 वृद्धि के कारण प्रतिहारिणी महासिरा (Portal vein) के
 रक्तसंचार में बाधा उत्पन्न होना ।

(२) हृद्रोग ।

(३) वृद्धरोग ।

(४) उदरावरण का शोथ ।

(५) रक्तदोष, जिनका उल्लेख स्त्रीहोदर में किया गया है ।

(६) रसप्रवाह में बाधा उत्पन्न होना (१२वें अध्याय
 के १२ वें सूत्र का वक्तव्य देखो) । इनमें प्रतिहारिणी
 सिरावरोधजन्य जलोदर में अशिमान्द्य, मलावरोध, अशो,
 कामला, सिराकुटिलता (गँठीली सिराएँ), यकृत और
 स्त्रीहावृद्धि इत्यादि लक्षण होते हैं । हृदिकारजन्य जलोदर
 में दिल की धक्कन, तथा पादशोथ इत्यादि लक्षण उदर
 में जल का संचय होने के पूर्व दीख पड़ते हैं । यकृतकार-
 जन्य जलोदर में समस्त शरीर पर विशेष करके आँसों के
 आस पास, पाँव पर शोथ होता है और मूत्र में मूत्रनलिका
 निर्मोक (Casts) मिलते हैं । उदरावरणशोथजन्य जलोदर
 में स्थानिक लक्षण अधिक होते हैं । रक्तदोषजन्य जलोदर
 में स्त्रीहावृद्धि प्रायः होती है और रक्तपरीक्षा करने से निदान
 होता है और जल की राशि अल्प रहती है । जलोदर का ठीक
 ठीक निदान करने के लिये बीजकोशप्रस्थि (Ovarian cyst)
 का उल्लेख करना बहुत आवश्यक है, क्योंकि दोनों में उदरो-
 र्भेद और जलसंचय ये प्रधान लक्षण समान होने के कारण
 परस्पर विभेद करना कठिन होता है । इसलिये दोनों का
 पार्थक्यदर्शक कोष्ठक नीचे दिया गया है । बीजकोशप्रस्थि केवल
 स्त्रियों में होती है ।

	जलोदर	धीनहोगप्रथि
(१) दर्शन	दुक्षिपार्थं वृत्ता हुम्भा, कुक्षिमध्यसराट	दुक्षिपार्थं मपाट, दुक्षि मध्य उभता हुम्भा
(२) आघात	दुक्षिपार्थं परमदध्वनि, दुक्षिमध्य मं डिमडिम ध्वनि, करवट बदलने से ऊपर की ओर डिम- डिम ध्वनि, नीचे की ओर मन्द ध्वनि	दुक्षिपार्थं पर डिम- डिम ध्वनि, दुक्षि मध्य में मन्द ध्वनि, करवट बदलने से कु- क्षिपार्थं की ध्वनि में कोई भी फर्क न होना
(३) मापन	(१) उर फलकाग्रपत्र से नाभि की लंबाई नाभि से भगारिख की लंबाई से अधिक होती है (२) नाभि पर उदर का परिणाह नीचे की धपे हवा कुछ अधिक होता है (३) जघनकपालपुर- दूट से नाभि की लंबाई दोनों ओर समान होती है	(१) उर फलकाग्रपत्र से नाभि की लंबाई नाभि से भगारिख की लंबाई से कम होती है (२) नाभि पर उदर का परिणाह नीचे की ओर उर कुछ कम होता है (३) जघनकपालपुर- दूट से नाभि की लंबाई दोनों ओर समान नहीं होती

आध्मानं गमनेऽशक्तिर्दोर्बल्यं दुर्बलाग्निता ।
शोफ सदनमद्धानां सद्गो घातपुरीषयोः ।
दाहस्त्वण्णाश्च सर्वेषु जठरेषु भवन्ति हि ॥२२॥

(उदरों के साधारण लक्षण—) सब प्रकार के उदर रोगों में पेट फूलता, चलने की शक्ति न रहना, कमजोरी, मन्द्राग्नि, शोथ, अंगों की थकावट, अप्रोवायु और दस्त सुलभ न होना, जलन तथा प्यास हुआ करती है ॥२२॥

अन्ते सलिलभाय हि भजन्ते जठराणि तु ।
सर्वाद्येय परीपाकात्तदा तानि विवर्जयेत् ॥२३॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने उदरनिदानं
नाम सप्तमोऽध्यायः ॥३॥

(प्राय) सब प्रकार के उदररोग अन्त में कालपरिणाम से जल पुष्प अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं । तब उनकी त्यागना चाहिये ॥२३॥

वृत्तव्य—जलोत्पत्ति की दृष्टि से उदर रोगों का विचार करने पर यों कहना पड़ता है कि जलोदर में जल उत्पन्न होता है उसमें कोई स्वेद नहीं है, स्रोतोदर में जल उत्पन्न होता है यह साफ सिद्धा है । पटुक्षीबोदर में यद्यपि सिद्धा नहीं तथापि उत्पन्न होता है, यह अनुभवसिद्ध है । वातादि चार उदात्त वायविक जलोदर के ही प्रारम्भिक रूप हैं । इसलिये उनमें भी उपन्न ही सकता है । केवल सीधे पटुक्षीबोदर के बारे

में है । इसलिये प्राय शब्द का प्रयोग अनुवाद में दि गया है ।

इति भारतरससंग्रहाणो विपिन्यातकनेन विरचितवामाखुदरदहस्त्वदीयिका
सुश्रुतशास्त्रीकृत्यां निदानस्थाने उदरनिदानं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥३॥

अष्टमोऽध्यायः ।

अघातो मूढगर्भनिदानं व्याख्यास्यामः । यद्यं
वाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से मूढगर्भनिदान का व्याख्यान करते हैं, है कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वृत्तव्य—मूढगर्भ—यौनिमार्गी में अर्थात् रीति ध्याया हुआ सर्वायवत्पन्न गर्भ—सर्वायवत्संपूर्ण मनेऽवना सपुन । विद्युत्पापानमेमेदो मूढगर्भोऽभिधीयते ॥ अत्रेती में मूढगर्भ को Mal presentation of the Foetus कहते हैं । गर्भ ग्रथ में गर्भ की स्वभाविक स्थिति—गर्भ का सिर आगे । यक्ष पर झुका रहता है । सिर आगे को मुड़ी रहती है । दो जाँघें उदर पर और टांगें जाँघों पर मुड़ी रहती हैं । दो बाहु यक्ष पर और एक दूसरे के ऊपर मुड़े रहते हैं । प्रसव काल के कुछ मास पहले उम्का सिर नीचे हो जाता है, पूर ऊपर को होती है और प्रसव के समय सिर के बल ही जल रेत है जिसमें सिर, धीमा, कंधे, ऊर्ध्वयाथापै, उदर, चूत और अधोयाथापै कम से बाहर आया करती हैं । प्रसव समय यक्षरन्ध्र और अधिपतिगन्ध्र के बीच का भाग था भीथीम आगे को रखकर (Vertex presentation) जल रेतना यह स्वाभाविक और सब से सरल मार्ग है । इस अतिरिक्त सब मार्गों में कुछ न कुछ कठिनाई होती है । इसलिये उनसर्वों का समावेश मूढगर्भ में करना चाहिये परक में गर्भ की स्वभाविक स्थिति और प्रसवविधि सूत्र से इसी प्रकार वर्णन की है—गर्भस्तु खड्ग मातु पृष्ठाभिमु ऊर्ध्वतिरा सकुल्यात्तान्यास्ते जलपुत्रत कुक्षौ । स चोत्पत्तिना न्नमनि प्रसवितारतोयोगाद् परिकृष्यात्कतिरा । तिक्रममध्यपलप्येन एषा मरुति, विकृति पुनरतोऽप्यथा ॥ (शारीर, अ ६) ।

प्राग्ग्रथमंथानवाहनाध्वगमनप्रस्सलनप्रपतनप्र
पीडनधावनभिघातविपमशयनासनोपवासदेगा
भिघातातिरुक्तकटुतिकभोजनशोकातिहारसेवना
तिसारचमनचिरेचनप्रेक्षणेलाजीर्णगर्भश्रातनप्रधु
तिभिर्विशेषैर्बन्धनामुच्यते गर्भः, फलमिब धृत्त
चन्धनावभिघातविशेषैः ॥२॥

मैथुन, (रथादि) यान (और अथादि) वाहन प सवारी करना, पैरों से (बहुत) सफर करना, (पैर फिसल कर) गिर पड़ना, (ऊपर से) गिरना, (कहीं भीड़ में) दब जाना, (जोर से) दौड़ना, (पेट पर) चोट लगना कठिन तथा उच्चनीच बिलर पर सोना, (उकड़ुकादि) स्थिति में बैठना, लचन करना, (मल्लूकादि के) बेगों के

कना, अत्यंत रुक्ष, कटु और तिक्त (खाद्य द्रव्यों का) जिन करना, शोक करना, अधिक मात्रा में नार का सेवन रना, (मरोड़ के साथ) पतले दस्त होना, वमन, विरेचन, ले पर बैठना, अजीर्ण, गर्भशातक (Ecboolics Or oxyto cs) पदार्थों का प्रयोग करना इत्यादि (कारण) विशेषों गर्भ अपने बंधन से छूट जाता है, जैसे कि फल प्रहार शोष से अपने बंधन (डंडल) से छूट जाता है ॥२॥

वृक्तव्य—विपमशयनासन—विपम शयन और विपम ासन। आगे शरीर के दसवें अध्याय में जो—जयनासन दास्तरण नात्युच्चमपाश्रयोपेतमसंबंध च विदध्याव—वर्णन किया, उसके विरुद्ध। वन्धन—वधते अनेन इति वन्धनम् । इस दृष्टि गर्भ के संबंध में बंधन का अर्थ गर्भशय्या या गर्भाशय रीर जहाँ गर्भ चारों ओर से बांधा हुआ रहता है, और ल के संबंध में डंडल या डंडी जिससे फल ऊपर लटका आ रहता है। हाराणचन्द्र वन्धन का अर्थ 'नाभिनाडीवन्ध' रते हैं; परन्तु प्रत्यक्ष व्यवहार में मूढगर्भ भी अपने नाभि ल्ध से अलग हुआ नहीं दिखाई देता। इसलिये फल की लना में यद्यपि नाभिनाडीबंध अर्थ ठीक मालूम होता है यद्यपि गर्भ की दृष्टि से बंध का अर्थ गर्भशय्या करना अधिक सयुक्तिक है।

स विमुक्तवन्धनो गर्भाशयमतिक्रम्य यकृत्स्नी- श्नाविवरैरवसंसमानः कोष्ठसंचोभमापादयति, तस्या जठरसंचोभाद्वायुरपानो मूढः पार्श्ववस्तिशी- र्गैरयोनिशूलानाहसूत्रसङ्गानामन्यतममापाद्य गर्भं व्यावयति तरुणं शोणितस्त्रावेण; तमेव कदाचि- द्विबुद्धमसन्मयागतमपत्यपथमनुप्राप्तमनिरस्यमानं विगुणापानसंसमोहितं गर्भं मूढगर्भमित्याचक्षते ॥३॥

(उक्त कारणों से अपने) बंध से छुटा हुआ गर्भ गर्भा- ण्य से निकलकर यकृत् स्त्रीहा और आंतड़ियों के साथ नीचे की ओर सरक कर उदर में क्षोभ पैदा कर देता है। उसके जठर के संक्षोभ से अपानवायु मूढ होकर पार्श्वशूल, वस्ति- शीर्षशूल, उदरशूल, योनिशूल, मलावरोध, मूत्रावरोध इनमें से किसी न किसी व्याधि को उत्पन्न करके तस्यागर्भ को रक्तसाव के साथ निकाल देती है। वही गर्भ जब कभी अधिक बढ़कर, अयोग्य रीति से आकर, अपत्यपथ में प्राप्त होकर बाहर न निकले और अपानवायु के वैगुण्य से, मूर्च्छित हो जाय तब उसे मूढगर्भ कहते हैं ॥३॥

वृक्तव्य—यकृत्स्नीहान्नविवरैरवसंसमानः—इसका तात्पर्य यह है कि यकृत् स्त्रीहा और आन्त्र, जो उदरगुहा में गर्भवृद्धि के कारण ऊपर की ओर उद्विगत हुए थे, गर्भ के अपने स्थान से पट पड़ने पर नीचे की ओर फिर सरक गये। तरुण—अध- नाइ और अत्यक्त चेतन। इस प्रकार का गर्भ अयोग्य रीति से आने पर भी अपत्यमार्ग में रक्तता नहीं। वह रक्तसाव के साथ निकल पड़ता है। विबुद्ध—घनाइ और व्यक्तचेतन। अनिरस्यमान—जब अपत्यमार्ग की चौड़ाई की अपेक्षा बालक

के दर्शन भाग की मोटाई अधिक होती है तब बालक रास्ते में अटक जाता है। दोनों में मेल तब होता है जब बालक की स्थिति पहले सूत्र के वक्तव्य के वर्णानानुसार होती है और बालक शीर्षाग्र के बल जन्म लेता है। दोनों में अनमेल निम्न तीन कारणों से होता है—(१) अपत्यमार्ग की विकृति—जैसे संकुचितकटिर (Contracted pelvis), कटिर या गर्भाशय के अड्डेद, गर्भाशय की वक्रता, शपरा की गर्भाशयमीवा के समीप स्थिति (Placenta praevia) इत्यादि। (२) गर्भ की अस्वाभाविक स्थिति। (३) गर्भ की विकृति—जैसे गर्भ के विविध व्यंग, युग्म, जोड़गर्भ, जलशीर्ष (Hydro cephal- us) इत्यादि। अपत्यमार्ग में बालक अवरुद्ध होने के हून कारणों का विचार आयुर्वेदोक्त मूढगर्भ की दृष्टि से करने पर यह कहना पड़ता है कि गर्भ की मूढता में द्वितीय कारण प्रधान है; प्रथम कारण कदाचित् सहायक है और तृतीय कारण अत्यंत गौण है। अथ अपत्यमार्ग में बालक का अस्वा- भाविक आगमन कैसे होता है, इस प्रश्न का उत्तर है अपान- वायु का वैगुण्य। पाश्चात्य प्रसूतितन्त्र में बालक के अस्वा- भाविक आगमन का कारण अज्ञात मानते हैं। The cause of abnormal presentation is not easy to deter- mine, and in many cases no satisfactory reason can be given. (Ten teacher's midwifery.)

ततः स कीलः प्रतिखुरो वीजकः परिघ इति । तत्र ऊर्ध्वबाहुशिरःपादो यो योनिमुखं निरुणद्धि कील इव स कीलः; निःसृतहस्तपादशिराः काय- सङ्गी प्रतिखुरः; यो निर्गच्छत्येकाशिरोभुजः स वीजकः; यस्तु परिघ इव योनिमुखमावृत्य तिष्ठेत् स परिघः; शक्ति चतुर्विधो भवतीत्येके भाषन्ते ॥४॥

(चतुर्विध मूढगर्भ—) अपानवैगुण्य से (ततः) वह मूढगर्भ कील, प्रतिखुर, वीजक और परिघ ऐसे (चार प्रकार का) होता है। इनमें जो हाथ, सिर और पैर ऊपर को करके योनि के मार्ग को कील की भाँति रोक देता है वह कील है। जिसमें हाथ, पैर और सिर निकल आवे (परन्तु) शरीर रुक जाय वह प्रतिखुर है। जिसका सिर और एक हाथ ही निकले, वह वीजक है। जो अर्गला दण्ड की भाँति योनि- मुख को रोक के बैठता है, वह परिघ है। इस तरह मूढगर्भ चार प्रकार का होता है, यह कई आचार्य कहते हैं ॥४॥

वृक्तव्य—कील—माधवनिदान में इसका उल्लेख 'सकीलक' करके किया है। प्रतिखुर—अष्टांगहृदय में इसका उल्लेख 'विष्कम्भ' का एक भेद करके किया है—हस्तापादशिरो- भिर्यो योनिभुजः प्रपथते। इसकी टीका में अरुणदत्त लिखते हैं—हस्तेन पादेन शिरसा अतुल्यकाल कदाचिदस्तेन कदाचिन् पादेन कदाचिच्छिरसा योनि प्रतिभुजः कुटिलो मूढगर्भः प्रपथते आयाति स एको विष्कम्भो नाम मूढगर्भः। यह अर्थ ठीक नहीं है। इस प्रकार के मूढगर्भ में हस्तापादशिर एक समय में दिखाई देते हैं—दृश्यैः खुरैः प्रतिखुरं स हि कायसत्री ॥ (माधवनिदान)। इसकी टीका में विजयरक्षित लिखते हैं—दृश्यैहस्तापादशिरोभिः प्रतिखुरः, खुरमाधम्याति; खुरशब्देन हस्तापादादुच्यते। वीजकः—

माधवनिदान में सिर से साथ दोनों हाथों का निर्देश किया है—गच्छेद्भ्रूयशिरा म च बीजकाल्य । आधु-
निक पाश्चात्य परिभाषा में इन पारों का भाषान्तर निम्न
प्रकार से होता है—(१)—विश्व—Chest, back and
side presentation । (२) प्रतिसुर—Presentation
of the head with two hands and two legs । (३)
बीजक—Head presentation with one or two hands
prolapsing । (४) पक्षि—Transverse presentation
in general । आधुर्वेदमार्तण्ड यादयजी त्रिकम्पनी आचार्य
द्वारा संपादित सुश्रुतसंहिता और माधवनिदान में कील का
अर्थ Vertex किया है, वह गलत है । इनमें कील और पक्षि
तिर्यग्दर्शन (Transverse presentation) के प्रकार हैं,
और प्रतिसुर तथा बीजक संकीर्ण दर्शन (Complex pres-
entation) के प्रकार हैं ।

तत्तु न सम्पद्य, कस्मात् ? स यदा विद्युषा-
निलप्रपीडितोऽपत्यपथमनेकधा प्र(ति)पद्यते तदा
सङ्घ्नाया हीयते ॥५॥

यह कथन ठीक नहीं । किस कारण से ? जब विद्युषा
(अपान) वायु के द्वारा पीडित हुआ यह गर्भ अपत्यमार्ग
को प्राप्त होता है तब सङ्घ्ना (की ह्यता) नहीं रह
सकती ॥५॥

अन्तर्ग्रह—मन्त्राया हीयते—इसका तात्पर्य यह है कि
अपत्यमार्ग में संसृक्त हुए गर्भ के अंगप्रत्यंगों का बारीक
विचार कर यदि प्रत्येक गति के लिये स्वतन्त्रमन्त्राया मानी
जाय तो इसकी ह्यता कदापि नहीं हो सकती, क्योंकि
प्रत्येक अंगद्रोम के कई भेद हो सकते हैं । सुश्रुत के मूढगर्भ
चिकित्साध्याय में तथा अष्टांगसंग्रह में इन असंख्य गतियों
का संकलन तीन वर्गों में किया है—सामान्यता अथि प्रव-सत्ता
भवन्ति—शिरसो वैद्युष्यादसोऽप्येवमस्य वा ॥ (सुश्रुत) । समासस्तु
निर्विधा गतिरूर्ध्वा तिर्यक् मूढा च ॥ (अष्टांगसंग्रह) । यह वर्गी
करण आधुनिक पाश्चात्य वर्गीकरण के साथ ठीक ठीक
मिलता है । जैसे—(१) शिरोगति या मूढा गति—Cephalic
presentation । (२) अग्रगति या तिर्यग्गति—Shoulder or
transverse presentation । (३) जघनगति या ऊर्ध्व
गति—Pelvic presentation । इन असंख्य गतियों में से
व्यवहार में प्राप्त मिलने वाली आठ गतियों का वर्णन अब
किया जाता है ।

तत्र, कश्चिद्द्वारभ्या सक्थिभ्यां योनिमुख प्रति-
पद्यते; कश्चिदाधुमैकसक्थिधरेकेन, कश्चिदाधुमस-
क्थिशरीरः स्फिन्दरोन तिर्यग्गतः; कश्चिदुर-
पार्श्वेषुष्टानामन्यतमेन योनिद्वार पिधायावति
ष्ठते, अन्त पार्श्वापवृत्तशिरा, कश्चिदेकेन घाहुना,
कश्चिदाधुमशिरा बाहुद्वयेन; कश्चिदाधुममध्यो
हस्तापादशिरोभि, कश्चिदेकेन मक्ष्मा योनिमुख
प्रतिपद्यतेऽपरेण पायुम्; इत्येवविधा मूढगर्भगति
वदिष्टा समासेन ॥६॥

इसमें (१) कोई मूढगर्भ तो दोनों सक्थियों से यो-
नि मुख में प्राप्त होता है । (२) कोई एक सक्थि को मित्रो-
एक ही से प्राप्त होता है । (३) कोई सक्थियों की प्रति-
सिकोड़ कर कूर्चों से देना आता है । (४) कोई दाती,
और पीठ इनमें से किया एक से योनिद्वार का रोक के
होना है । (५) कोई पार्श्व में सिर की मुकावर एक हाथ
आता है । (६) कोई सिर को मुकावर दोनों हाथ से क
है । (७) कोई शरीर को देना करके हाथ और सिर
आता है । (८) कोई एक सक्थि गुदा पर रख कर
सक्थि से योनिमुख पर आता है । इस प्रकार संक्षेप से
तरह की मूढगर्भ की गति वर्णन की गई है ॥६॥

अन्तर्ग्रह—अष्टांगद्वय में अन्तिम दोनों का नि-
'विश्वम्भ' नाम से किया गया है । अन्तिम प्रकार में स-
ङ्घ्ना यादवाचक है—वदेन न निमकन मुष्टोऽन्वेन सुरे च
यहाँ मूढगर्भ के जो आठ प्रकार वर्णन किये हैं, उनमें
प्रकार जघनगति (Pelvic presentation) के हैं । यद्य
(१) Both knees presenting, (२) One knee pr-
esenting (३) Slightly oblique pelvic presentat-
ion or Breech presentation with thighs flexed &
legs extended (४) Footling presentation ।
चार तिर्यक् गति के हैं । यथा—(५) Transverse pres-
entation in the 1st or 4th position (६) w-
one hand prolapsing (७) Both the hands pr-
apsing (८) Presentation of head, two han-
d and two legs । माधवनिदान में मूढगर्भ की अष्टविध ग-
ति निम्न प्रकार से वर्णन की है—द्वार निरुध्व शिरसा जठरेण कधि
कश्चिच्छरीरपरिवर्तिनमुष्टग्रह । एकेन कश्चिद्वरस्तु मुष्टयेन पि-
ग्नो भवति कश्चिदवाहुमुष्टोऽन्वेन । पार्श्वेषुष्टानगतिरिति तथैव कधि
दिव्यथा गतिरिदम् ॥ इनमें से केवल दोनों का यहाँ विच-
रना है । शिरसा—यदि गर्भ शीर्षाग्र के बल जन्म से तो प्रा-
संग नहीं होता । परन्तु शीर्ष के अन्य अंगों से यदि जन्म से
प्राय कुछ न कुछ कठिनाई उत्पन्न होती है । इसलिये शिरस
में सिर की उन सब गतियों का समावेश कर सक-
हैं जो आठ गर्भसंज्ञक सिद्ध हुई हैं । यथा—Occipito
posterior presentation Posterior Asynclitism
Brow presentation इत्यादि । माधवनिदान के शीर्ष
टीकाकार शिरसा का अर्थ 'विद्युषेण शिरसा' करते हैं । यो-
यही अर्थ माना जाय तो इससे प्राय जलशीर्ष (Hydro-
cephalus) का बोध हो सकता है, क्योंकि सिर मोटा होने
का यही प्रधान कारण है । अवाहयुष्य—मुख आगे करके
जो जन्म लेता है । इसको Face presentation कहते हैं ।
मूढगर्भ की इन विविध गतियों का सुननासक इष्टि से
विचार करने पर यह कहना पड़ता है कि आधुनिक पाश्चात्य
प्रत्यक्षनिदान में वर्णन के

परन्तु यहाँ व्यवस्था करना असंभव है । इसके लिये प्रस-
तन की कोई श्रेणी प्रस्तुत पड़ती चाहिये ।

तत्र द्वावन्त्याघसाध्यौ मूढगर्भौ, शोषानपि विप-
तेन्द्रियार्थाक्षेपकयोनिभ्रंशसंवरणमकालश्वास-
सभ्रमनिपीडितान् परिहरेत् ॥७॥

इनमें अन्तिम दो मूढगर्भ असाध्य होते हैं । और शेष
इन्द्रियार्थवैपरीत्य, आक्षेपक, योनिभ्रंश, योनि संवरण,
कृच्छ्र, श्वास, कास और भ्रम इनसे युक्त हों तो त्यागने
हिये ॥७॥

वक्तव्य—द्वावन्त्यावमाथ्यौ—मूढगर्भ के अन्तिम दो
भ्रम असाध्य इसलिये माने गये हैं कि आङ्गनापीडसंपीड
क्षेपोक्षेपणादि हस्तप्रक्रिया (Manipulation) द्वारा
नका अनुलोमन अशक्य होता है—तो मूढों हन्तेनाहर्तुमग्नया-
ति शक्यवचारायेत् ॥ (अष्टांगसंग्रह) । विपरीतेन्द्रियार्थाः—
पीलेन हीनातियोगेनानुभूताः शब्दादयोऽर्थाः । कर्मानेनादि इन्द्रियों
शब्द रूपादि अर्थों का ठीक ठीक ज्ञान न होना । इन्द्रिय
प्रतिपत्ति एक अरिष्ट है—स्वप्नेभ्यो विवृते यस्य ज्ञानमिन्द्रियसंभ्र-
म् । आलक्ष्येतामितिने लक्षणं मरणस्य तव ॥ (चरक) । आक्षे-
प—गर्भाक्षेपक । इसका उल्लेख पीछे वातव्याधिनिदान
'गर्भपातनिमित्तश्च' कृष्णके अर्पतानक में किया गया है ।
प्रेमी में इसको एकन्यासिन्ध्या (Eclampsia) कहते हैं ।
स रोग का असली कारण अभी तक ठीक ठीक निश्चित नहीं
आ है । परन्तु गर्भसंग एक सहायक कारण है, इसमें संदेह
है । यह रोग गर्भावस्था में छठे महीने के बाद, प्रसव के
समय, तथा प्रसव के बाद पाँच दिन तक होता है । इसमें
सुप्तम्भ की भाँति आक्षेप के दौर पर दौर आते हैं । प्रत्येक
दौर का समय एक से डेढ़ मिनट का होता है । प्रारंभिक
अवस्था में रोगी के सिर और मुख की पेशियाँ झटके के साथ
सेकुड़ती हैं, आँखें फिरती हैं और नासा काँपती है । उसके
बाद रोगी का शरीर सख्त होता है, सिर पीछे झुक जाता है,
सुप्तम्भ के बाह्यायाम की भाँति शरीर टेढ़ा होता है, दाँती
लग जाती है जिससे प्रारंभिक अवस्था में यदि जीभ दाँतों के
बीच में हो तो कट जाती है और साँस में रुकावट होती है ।
अत्यथात् धीरे धीरे सख्ती जाती है, साँस की रुकावट कम
होती है और अन्त में रोगी बेहोश रहता है । बेहोशी का
काल दौरो की संख्या पर निर्भर होता है । पहले पछ शोड़े
मिनटों के लिये बेहोशी होती है, परन्तु बार बार दौरे आने
पर प्रायः बीच के काल में रोगी बेहोश ही रहा करता है ।
दौरों की संख्या एक से लेकर सौ से भी अधिक हो सकती
है, परन्तु दस से अधिक होने पर रोग प्रायः कृच्छ्रसाध्य होता
है । रोगी की मृत्यु हृदयावसाद, कुफुफुलगोथ और मस्तिष्क
में रुकावट से होती है । योनि संवरण—गर्भाशय का संकोच
या आक्षेप (Tetanus uteri or Clonic Spasm of the
uterus) । इसके कई कारण होते हैं, परन्तु गर्भसंग में
गर्भ को बाहर फेंकने का अत्यधिक प्रयत्न करना एक कारण
है । तन्त्रान्तर में योनि संवरण का वर्णन इस प्रकार मिलता
है—वातलायनप्रणानानि ग्राम्यधर्मं प्रजागरम् । अत्यर्थं सेवमानया
गर्भिण्या योनिमार्गः ॥ मातरिश्वा प्रकुपितो योनिद्वारस्य संग्रतिम् ।
कुप्ये रुद्धमार्गत्वात् पुनरन्तर्गतोऽनिलः ॥ निरुणद्ध्याशयद्वारं पीडयन्
गर्भसंस्थितम् । निरुद्धवदनो—दृष्टो गर्भश्चासु विपद्यते ॥ बद्धां संरुद्ध-

एदयां नारायत्यासु गर्भिणीन् । योनि संवरणं विधाद् व्याधिमेनं सुदा-
रणम् ॥ मफह—गर्भाशयगत शूल विशेष । गर्भसंग के समय
गर्भ को बाहर फेंकने के लिये गर्भाशय के मांस में जो सख्त
सिकुड़ने पैदा होती हैं उन्हीं से यह तीव्रशूल होता है । प्रसूति
के पश्चात् भी मफह शूल होता है, और व्यवहार में इसी शूल
को मफह कहने का अधिक प्रचार है—(सुश्रुत शारीर
अध्याय १० सूत्र २२ देखे) । यह शूल गर्भाशय में अपरा का
कुछ हिस्सा रह जाने से या स्तुत रक्त जस जाने से होता है—
मफहो रक्तमास्तनः शूलविशेषः । (मधुकोशव्याख्या) । इस
गर्भाशय शूल में 'नाभिवस्तुयुदर शूल' भी शामिल रहते हैं ।
यह उदर वस्तिशूल प्रसव के बाद उदरगुहा रिक्त होने के
कारण मलमूत्रावरोध से उत्पन्न होता है । पाश्चात्य प्रसूति-
तन्त्र में मफह के इन दोनों विभागों के लिये अलग नाम
होते हैं । गर्भाशय में जो शूल होता है उसे After-pains
कहते हैं; और नाभिवस्ति उदरशूल के लिये False after-
pains कहते हैं । पीडितान् परिहरेत्—यास्तव में विपरीतेन्द्रि-
यार्थादि उपद्रव गर्भ के नहीं, माता के हैं । इसलिये 'विपरी-
तेन्द्रियार्थादि उपद्रवों से जिन्होंने माता को पीडित किया है,
उन्हें त्यागना चाहिये' ऐसा इस सूत्र का तात्पर्य है । अष्टांग-
संग्रह में 'शीतगान्नां पूयद्वारां' पेसे असाध्यता के दो अधिक
लक्षण दिये हैं ।

अध्वान्त चात्र—

कालस्य परिणामेन मुक्तं वृन्ताद्यथा फलम् ।
प्रपद्यते स्वभावेन नान्यथा पतितुं ध्रुवम् ॥८॥
एवं कालप्रकर्षेण मुक्तो नाडीवि(नि)बन्धनात् ।
गर्भाशयस्यो यो गर्भो जननाय प्रपद्यते ॥९॥

जैसे कालपरिणाम के कारण फल हुआ फल स्वभाव से
ही वृन्त से विमुक्त होकर गिर पड़ता है; अन्यथा हरगिज़
नहीं गिरता ॥८॥ वैसे ही पूरा समय होने पर गर्भाशय में जो
गर्भ होता है, वह नाडीबन्धन से विमुक्त होकर जन्म
लेता है ॥९॥

वक्तव्य—इन श्लोकों में फल का दृष्टान्त देकर काल
प्रसव कैसे होता है, उसका संक्षेप में विवरण किया है । जैसे
कृमिवाताग्निघात से अनुपद्रुत फल पूर्ण पक होने पर ही अपने
वृन्त से अलग होकर जमीन पर गिर पड़ता है; वैसे ही ग्राम्य-
धर्मादि से अनुपद्रुत गर्भ पूर्ण वृद्ध होने पर अपने नाडीबन्धन
से अलग होकर जमीन से गिर पड़ता है, अर्थात् जन्म लेता
है । इस तरह दोनों में स्थूलरूप से समता होती है । परन्तु
गर्भजन्म और फलपतन का सूक्ष्म विचार करने से दोनों में
कुछ फर्क भी दिखाई देता है । आकाश में फल जो लटका
हुआ रहता है, वह तुल्यबल परन्तु दो विरुद्ध दिशा में काम
करने वाली दो शक्तियों के आधार पर होता है । जो शक्ति
नीचे की ओर खींचती है, वह पृथ्वी की आकर्षण शक्ति है ।
जो ऊपर की ओर खींचती है, वह वृन्त की अर्थात् वृक्ष की
शक्ति है । जब फल परिपक्व होने लगता है तब उसकी परि-
पक्वता के साथ साथ वृन्त और फल के संयोग का स्थान
कमजोर होने लगता है और जब फल पूर्ण परिपक्व होता है

तब यह संयोगस्थान अत्यंत कमजोर हो जाता है । इससे पृथ्वी की आकर्षणशक्ति, जो पहले से ही फल को रींचती थी, उसकी वृत्त से अलग करने में समर्थ होकर अपनी ओर मींच लेती है और इसी को ध्वजहार में 'पतन' कहते हैं—
 वाक्यशक्तिश्च भूमी तथा यत् सम्यग् गुरु स्वामिमुखं स्वशक्त्या ।
 व्यक्त्यर्थे तत्पतनीयं भाति ॥ (गोलाध्याय) ॥
 इससे यह स्पष्ट है कि फलपतन के दो कारण होते हैं—(१) वृत्त और फल के संयोगस्थान की कमजोरी और (२) पृथ्वी की आकर्षणशक्ति (Force of gravitation) । इनमें से आकर्षणशक्ति सदैव बनी रहती है । न वह फलपतन के समय उत्पन्न होती है, न पतन होने पर समाप्त होती है । अर्थात् कालपरिणाम की दृष्टि में फलपतन में आकर्षणशक्ति का विचार करने का कोई प्रयोजन नहीं है । माता की कुक्षि में गर्भ की उपस्थिति भी दो आधारों पर होती है, एक गर्भगुह्या या गर्भांग्य और दूसरा नाभिनाडी । परन्तु फल के आधारों की भाँति ये दोनों आधार न तुल्यबल हैं, न विरोधी हैं । इनका परस्पर संबंध उपकारी होता है । गर्भगुह्या गर्भ का रक्षण करती है और नाभिनाडी गर्भ का पोषण करती है । नाभिनाडी अपना रक्त साशु लगी रहती है, अपरा (Placenta) गर्भांग्य के भीतरी त्वचा पर लगी रहती है और गर्भांग्य धमनियों द्वारा माता के हृदय के साथ संबंध रखता है । इस प्रकार माता का संबंध गर्भ के साथ होकर गर्भ का पोषण होता रहता है—अस्य नाम्ना प्रतिबद्धा नाडी, नाड्यामपरा, नाम्ना मान् हृदय, ततो मान्द्रव्यादाहारतो भगनीभि स्पन्दमानोऽपराधुपैति । तत क्रान्ताप्रति, ततश्च से पुनर्गर्भस्य षकाशये स्वकायाधिता १-२ मान प्रमत्वाहुव्यादात्तादिविहिकर रूपते ॥ (अष्टागसयह) ।
 गर्भ जब दिन प्रति दिन विवृद्ध होता जाता है तब फलवृत्त-संयोग की भाँति अपरा और गर्भांग्य के संयोग में कुछ परिवर्तन होता है जिससे प्रसव के समय अपरा गर्भांग्य से अलग होने लगती है और गर्भगुह्या भी उत्तेजित होती है । आयुर्वेद के इस मत का समर्थन पाश्चात्य शास्त्रों में कुछ लोग करते हैं—Some think it is maternal in origin such as degenerative condition set up in the placenta or decidua—*Haltibuston's physiology* इस तरह अपरा में जो कुछ भी परिवर्तन होता है वह गर्भ जन्म का एक कारण है, परन्तु अप्रधान है । प्रधान कारण है गर्भांग्य में संकोच की लहरें उत्पन्न होना । यह संकोच की लहरें जब तक गर्भ की वृद्धि होती रहती है तब तक नहीं उत्पन्न होतीं । जब गर्भ पूर्ण विवृद्ध हो जाता है, उसके लिये माता की कुक्षि में रहने की कोई आवश्यकता नहीं होती तब लहरें आप से आप प्रारंभ होती हैं और गर्भ को गर्भांग्य से बाहर निकाल देती हैं । इससे यह स्पष्ट है कि गर्भजन्म में कालपरिणाम की दृष्टि में दोनों कारणों का विचार करने की आवश्यकता है । अब प्रश्न यह उत्पन्न है कि काल पूर्ण परिपक्व होने के समय फलवृत्त संयोग में परिवर्तन, गर्भ पूर्ण विवृद्ध होने पर अपरागर्भांग्य संयोग में परिवर्तन तथा गर्भांग्य में संकोच की उत्पत्ति, ये कार्य कैसे उत्पन्न होते हैं । आयुर्वेद में इन तीनों का उत्तर एक ही दिया है—

रवभावेन नाम्ना । पाश्चात्य देशों में कालप्रत्यय के क के साथ में बहुत कुछ सूक्ष्म विचार और संयोगन बुझ और बहरी के शास्त्र इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि काल के समय गर्भांग्य में संकोच की लहरें अनेक कारण उत्पन्न होती हैं । उनमें से निम्न कारण अब तक ज्ञात हैं—(१) गर्भांग्यकीवायुविरुद्धि—ज्योंज्यों गर्भ बढ़ता है, वैसे गर्भांग्य भी घटा होता जाता है । परन्तु गर्भांग्य की की भी कुछ सीमा है । अन्तिम दिनों में गर्भांग्य की रक्त जाती है और गर्भ के त्वाव से उसका मुख धीरे-धीरे चौड़ा हो जाता है । गर्भांग्य के पेयिगन्तुओं का धर्म यह है कि मुख चौड़ा होने पर धीरे की पेयिगन्तुओं में संकोच प्रारंभ होता है । (२) अपरा का न से कुछ विन्देर होना—इस विषय का विवरण पीछे ९ वें के वक्तव्य में दिया गया है । (३) काल उचोत्तर भागिक्य—गर्भ के अन्तिम दिनों में माता के रक्त में वायोक्साइड की अधिकता होती है । वह वायु वातनाडि तथा मस्तिष्क के केन्द्रों को उत्तेजित करके गर्भांग्य संकोच उत्पन्न कर सकती है । (४) मासिकचक्रवृत्त उत्पन्न प्रत्येक मासिक चक्र के समय गर्भांग्य में कुछ हलचल रहती है । गर्भांग्य में यद्यपि मासिकचक्रों का रक्त तथापि उसके विद्यत समय पर गर्भांग्य में थोड़ी सी हो जाती है । प्रसवकाल मासिकचक्रों के काल के साथ मिनता है और अन्य कारणों की सहायता मिलकर हलचल अधिक जार पकड़ कर संकोच में परिणत होती (५) गर्भ ने उत्पन्न हुए कुछ पदार्थ—प्रसवकाल पर गर्भ से ऐसे पदार्थ उत्पन्न होते हैं कि जो केन्द्रों पर, नाडियों पर गर्भांग्य पर कार्य करने उतमें संकोच की लहरें उत्पन्न हैं । ये सब कारण प्रायः आपस में मिलकर संकोच करने में समर्थ होते हैं, अकेला कोई भी कारण पर्याप्त होता है । ये सब कारण मालूम होने पर भी फिर गर्भ समय क्यों पदार्थ उत्पन्न करता है ? मासिकचक्रों के गर्भांग्य में हलचल क्यों उत्पन्न होती है ? कालवत् कमाइड की राशि उन्नी समय अधिक क्यों होती है ? का गर्भांग्य से संबंध कुछ ढीका क्यों होता है ? ऐसे प्रश्न उठते हैं और प्रसवकाल विद्यत समय पर क्यों ही यह प्रश्न हल नहीं होता । इसके लिये आशिर में पा शास्त्र लिखते हैं कि 'जैसे हृदयचक्र का समय एक का होता है, श्वसचक्र का समय चार सेकंड का होता है, मासिक चक्र का समय चार सप्ताह का होता है, कालप्रत्यय का समय दस महीने का होता है'—
 cardiac cycle is about one second, and the respiratory cycle about four seconds so the menstrual cycle is about four weeks and the human gestation cycle about ten lunar months *Gel's midwifery* इस उत्तर का आयुर्वेदिक परिभाषा यदि उचित करना हो तो 'रवभावेन नाम्नाया' के भा और कुछ नहीं हो सकता । कालप्रत्यय की प्राप्ति साधु तथा २०० दिन या चार्लस सप्ताह या दस महीने की ।

दसवें मास के अन्तिम दिनों में जो प्रसव होता
कालप्रसव (Partus maturus) कहलाता है ।
बच्चा में अर्धपि पूर्ण होने के पूर्व भी कई बार प्रसव
। उसके कारण प्रव हस्तान्त के साथ निम्नते हैं—

तामिघातंस्तु तदचोपद्रुनं फलम् ।
शालेऽपि यथा तथा स्याद्गर्भविच्युतिः ॥१०॥
गर्भविच्युति— जैसे कृमि, वात और अभिघात से
बड़ी फल अकाल में गिर जाता है, वैसे ही (लुगिदान-
आदि से पीड़ित) गर्भ भी (अकाल में) गिर
॥१०॥

कारण—रुमिदातिकादिः—फल के चारे में कीड़े,
न मोजा, पथर या लाठी का प्रहार फल और द्रुत का
बट करते हैं जिससे फल गिर जाता है । गर्भ की दृष्टि से
स्वार किया जाय तां हत तीनों में गर्भविच्युति के सब
समाविष्ट होते हैं । कृमि—गर्भाशय का अन्तःशोथ,
एन और अपरा के विकार दुष्पादि । ये विकार प्रायः
च या आधुनिक परिन्नापा में जीवाणुजन्य होते हैं ।
अत्यधिक मानसिक और शारीरिक परिश्रम अत्यधिक
गर्भगतक शोषधियाँ । ये सब ज्ञातनाशियों के द्वारा
र में संकोच उत्पन्न करते हैं । अभिघात—जैसे उदर पर
हीना, अत्यधिक घसन और डीकें, आघात, चित्ता
दि मानसिक आघात इत्यादि । प्रव इसके प्रागे गर्भ-
वि के दो भेद नतलाये गये हैं—

तुर्थोत्ततो मासात् प्रसवेद्गर्भविच्युतिः ।
स्विर(त)शरीरस्य पातः पञ्चमपष्ठयोः ॥११॥
(गर्भपात और गर्भपात—) (गर्भाधान से) चौथे
तक गर्भविच्युति स्वती है (यानि गर्भ मावके रूप
गता है) ; उसके पीछे पाँचवें और छठे महीने में घन
हुए गर्भ का पात होता है ॥११॥

वैकान्त्य—गर्भपात—इसको अर्वाशेन (Abortion)
है । गर्भपात—इसको मिस्कारिज (Miscarriago)
है । कालक्रमानुसार इनकी जो मर्यादा यहाँ बतलाई
है, यह पाश्चात्य परिभाषा के साथ बहुत कुछ मिलती है ।
सब परिभाषा के अनुसार अपरा पूर्ण वनन के समय तक
विच्युति को गर्भजाए कहते हैं । भोज के अनुसार गर्भ
व का काल प्रथम तीन महीने का है—आनुतीयात्ततो मासा-
ः त्वति शोणितम् ॥

अथ छठे मास के बाद गर्भप्रसव के संबंध में कुछ विचार
करना । श्रीकण्ठदत्त माधवनिदान की इसी श्लोक की
विषय में लिखते हैं—अन्ये तु पञ्चमपष्ठयोरव पातः, सप्तमादिषु
विशुष्पादिप्रसव इति आचार्यप्रामाण्याद्व्यवदाराद्य मन्यन्ते ।
पूर्व में कालप्रसव के काल के संबंध में कुछ मतभिन्नता
बतलाई देती है । स्वरक में प्रसव का काल नौवाँ और दसवाँ
महीना बतलाया है—तरिमशेकदिवसतिक्तान्तेऽपि नवमं मासमुपादाय
नित्यादुदशमासात्, एतावान् कालः । हैकारिक्तमः परं
स्थानं गर्भस्य ॥ (शारीर, अ. ४) । सुश्रुत में नौवाँ,
१ गर्भविद्रवः

दसवाँ, ग्यारहवाँ और बारहवाँ महीना प्रसवकाल माना
है—नवमपठयोः कालमासात्प्रसवमन्यमानसिन् जायते ॥ (शारीर,
अ. ४) । चक्रपाण्डित चरक की टीका में इस मतभिन्नता
का समन्वय करते हैं—आदर्शमाद इति वचने प्रशस्ततकालाभिप्रायेण ।
गुणो दादशमासपर्यन्त सन्वया प्रभवकाराभिधाने स्त्रीकरोपयोरकादश-
हादशमासयोरनात्यदीपत्वेनाऽदोषपक्ष एव निरुपात्त बोध्यम् ॥
पाश्चात्य प्रसूतिशास्त्र में भी आयुर्वेद की भाँति प्रसव के
पाँच प्रकार किये गये हैं, परन्तु कालमर्यादा में कुछ भेद है ।
इसलिये नीचे तुलनात्मक कोष्ठक दिया जाता है ।

प्रसवकाल	आयुर्वेदिक कालमर्यादा	पाश्चात्य कालमर्यादा
१ गर्भजाय	प्रथम तीन या चार महीने के अन्त तक	प्रथम तीन या चार महीने के अन्त तक
२ गर्भपात	पाँचवाँ और छठा महीना	पाँचवें महीने से सातवें के अन्त तक
३ कालपूर्व या विगुण प्रसव	सातवाँ और आठवाँ महीना	आठवें महीने के प्रारंभ से १० वें महीने के अन्त तक
४ काल प्रसव	नौवाँ और दसवाँ महीना	दसवें महीने का अन्त, २५० दिन
५ कालातीत या वैकारिक प्रसव	ग्यारहवाँ और बारहवाँ महीना	ग्यारहवें महीने के प्रारंभ के बाद

प्रविध्यति शिरो या तु शीताह्नी निरपत्रपा ।
नीलोद्धतसिरा हन्ति सा गर्भं स च तां तथा ॥१२॥
(मूढगर्भ का असाध्य लक्षण—) जो स्त्री सिर को
हिलाती है, ठंडी पड़ गई है, लज्जा विरहित हो गई है और
(जिसके पेट पर) नीली नसें फूली हुई (दिखाई देती)
हैं वह गर्भ को मारती है, और वह (मरा हुआ) बालक
उसे मार देता है ॥१२॥

वृक्तवच—प्रविध्यति शिरः—इसके बदले माधवनिदान
में 'अपविद्धशिरा' ऐसा पाठ है । इसका अर्थ 'सिरधारण
करने में जो असमर्थ हो' ऐसा है । निरपत्रपा—लज्जाशून्या,
अर्थात् बेहोश होने के कारण जो अपनी लज्जा रक्षण करने में
असमर्थ हो । नीलोद्धतसिरा—नीलवर्णा उकता सिराः कुक्षौ यस्याः
सा तथा ।

गर्भास्पन्दनमावीनां प्रणशः श्यावपाण्डुता ।
भवत्युच्छ्वासपूर्तित्वं शूलं चान्तर्भृते शिशौ ॥१३॥
(मृत गर्भलक्षण—) (कुक्षि के) भीतर गर्भ मरने
पर गर्भ की निश्चलता (या गर्भ के हृदय का स्पन्दन बन्द
होना), प्रसववेदना का अभाव, (त्वचा पर) कालापन
लिये पाण्डुरता, लीस में हुनैष और (पेट में) शूल होता
है ॥१३॥

मानसागन्तुसिर्मातृरूपतापैः शशीडितः ।
गर्भो व्यापद्यते कुक्षौ व्याधिभिश्च शशीडितः ॥१४॥

(गर्भमृत्यु के कारण—) माता के मानसिक और आगन्तुक दुःखों से तथा (अपने स्वाम) विकारों से पीड़ित हुआ गर्भ कुक्षि में मर जाता है ॥१५॥

वस्तव्य—पाश्चात्य प्रसूतिशास्त्र में भी गर्भ की अन्त-मृत्यु के कारणों का वर्गीकरण इसी प्रकार किया जाता है—

(१) माता के विकार—इनमें किराग, घृक्षयोथ, गर्भापतानक (Eclampsia) गर्भाघयान्त-रोग, तीव्र हृत्तदार रोग, तीव्र ज्वर, राजयत्ना, मधुमेह, पाण्डुरोग, सीमविष्य और सखिया विषय के विकार प्रधान हैं । (२) पिता के विकार—इनमें किराग, सीसविष्य और राजयत्ना ये विकार प्रधान हैं । (३) गर्भ के विकार—अपरा, गर्भावरण या गभिनाडी के रक्तसंचार में बाधा उत्पन्न होना । (४) आघात—माता के उदर पर जोर से आघात होना ।

वस्तमारविषयायाः कुत्तिः प्रस्पन्दते यदि ।

तत्तत्क्षणाज्जन्मकाले तं पाटयित्वोद्धरेद्भिन्नक ॥१५॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने मृत्युगर्भनिदान नामाष्टमोऽध्यायः ॥३॥

(बालक के) जन्म के समय वस्तमारविषय स्त्री की कुक्षि यदि फरके तो वैद्य शीघ्र ही (कुक्षि को) फाड़कर (जीवित) बालक को निकाल ले ॥१५॥

वस्तव्य—इस श्लोक में प्रसव काल के समय निरुद्ध गति परन्तु सजीव गर्भ के कारण अर्थात् हुई माता के संवध में वैद्य को क्या करना चाहिये, इसका दिग्दर्शन किया है । मृत्युगर्भ 'प्रहृत्तयैव दुष्क्रियस्य' (वृष्ट १८७) रोग है जिसकी चिकित्सा अवस्था भेद के अनुसार भिन्न भिन्न होती है । जैसे—(१) यदि गर्भ मृत हो तो उसको आम्बुनादि हृत्त प्रक्रिया द्वारा या शक से स्थण्डिल करके निकालना चाहिये—

नोपेक्षेत मृतं गर्भं मूर्तमपि पण्डितः । मण्डलयेन कौत्स्य उपेक्ष्यत विनाशना ॥ मृते चोत्तनाया सतिपम्भामण्डमनुमेवमेवाभ्येत् । (चिकित्सा अ ११) । (२) यदि गर्भ जीवित ही तो मन्नादि के पटन से, ओषधियों से या आम्बुनादि हस्तप्रक्रिया द्वारा शक किया के सिवाय जीवित गर्भ को निकालने की कोशिश करनी चाहिये । क्योंकि जीवित गर्भ के लिये शक्यकर्म का निषेध किया गया है—

जीविते नमे वनिनागर्भनिर्द्धे प्रवेत्ते । निर्द्धेनान्मने च्चवदान्त्तं मन्नुत्तान्मुत्तवत् । औषधानि च निरल्पन्त्तं बलेत्तानि । मृते चोत्तनाया मनुमेवमेवाम्बु—इत्यादि । (चिकित्सा, अ ११) । मृते वेति । पश्चात्तु मण्डलीभूयेत् मन्त्र आत्तन्तु औत्पदनि च्चवत्तं सवुधीवे ॥ (इन्द्रहल) । सवतेन च ह्येन न क्वचन दावेत् । मृत्युगर्भ चिकित्सा की उपयुक्त दो साधारण अवस्थाओं के अतिरिक्त जब चोभिनागर्भकोष या कंठिसंकोच (Contracted pelvis) के कारण जीवित गर्भ को आम्बुनादि विधियों द्वारा जीवितारवस्था में निकालना असंभव होता है ऐसी तीमरी अर्थात् अवस्था उत्पन्न होती है तब फिर शरीर को पश्चात्तु मण्डलीभूय करके फाड़कर मृत गर्भ को निकालना चाहिये । उभयक वपुंन इत्तं श्लोक में किया गया है वस्तमारविषय—वस्तव्य भोग निरुद्ध । इदं मुष्टि इत्यादि आघातों से अर्थात् हुए बन्ने की भांति मृत्युगर्भ रूप आघात से स्थण्डिल है । वस्त—

वस्तव्य । मार—आघात या मारपीट । यद्यपि मार का अर्थ इत्या या मृत्यु है, और षड्दशाचार्य उसका अर्थ करते हैं—वस्तमार धन्वन्त्तं मरणम् । एतेन श्रीवाग्देवने मन्विष्ट मण्डलान्—तथापि सदर्भ के अनुसार आम्बुनादि से उससे मारपीट का भी अर्थ निकलता है शाकुन्तल में विदुष्यक कहता है—अहं वेनेशिष्युमार श्रीवेन सामागेनाभिनन्द्य ॥ (अंक ६) । विपत्र—

आपद्ममल—स बयुर्वी विपत्रानामापद्ममलम् । (हितोप अरण्यदत्त, उन्वह्या, हाराशुचद्व विपत्र का अर्थ मृत क यद्यपि विपत्र का अर्थ मृत हो सकता है तथापि या अर्थ की कोई जरूरत नहीं मान्य होती । यह श्लोक निदान के समय में लिखा गया है । इसलिये स्त्री की मृत्युगर्भजनित मानना अधिक स्पष्टनिक मालूम होत

अब प्रश्न केवल यह उठता है कि यह विपत्रता मृत्यु या यातना रूप है ? इस प्रश्न का अधिक विचार क यह उत्तर देना पड़ता है कि प्रसव के समय अल्पम गर्भ अटक जाने से गर्भ की मृत्यु न होकर केवल मा मृत्यु होना यह एक असंभवनीय और आसाधारण्य सी है । गर्भ की मृत्यु होने पर उसको निकालने से या लते समय अल्पमार्ग दृष्टि होने से कुछ दिनों के बाद की मृत्यु ही सकती है । इसलिये माना की विपत्रता रूप मानना उचित नहीं है । अब दूसरे अर्थ की र विचार करने पर यह कहना पड़ता है कि जिसको सुन करते हैं, उसमें भी अन्त यातनाएँ होती हैं । व्यवह प्रसव की स्त्री का पुनर्जन्म भी कहते हैं । ऐसी अवस जब गर्भ आधा होकर रास्ते में अटक जाता है तब यह स्त्री के लिये यातनाओं का महासागर हो जाता है । यातना रूप महासागर में पँसी हुई असहाय स्त्री की योग्य करने के लिये बकरे का दृष्टान्त दिया है । इसलिये की विपत्रता यातना रूप मानना ही उचित है । अर्थात् और अर्थात्प्रसव में यही श्लोक वृष्ट १८७ भेद से नि

है—वनिदारे विपत्राया कुक्षि प्रस्पन्दते यदि । जन्मकाले रीम पटयित्वोद्धरेद्भिन्नम् ॥ (शारीरस्थान, अ २) । 'वस्तमार' के बदले 'वनिदारे' लिखा है । बाकी श्लोक का अर्थ यही है । वनिदारे—अरण्यदत्त के अनुसार इसका अर्थ विपत्रमृत्यु के साथ है—गभिनाया मृताया यदि कुक्षि प्रस्पन्दते चरति, क भोगे १ वनिदारे । अर्थात्संभ्रष्टीकाकार के अनुसार इससे उदरघात का स्थान निर्दिष्ट होता

गर्भय जन्मवाते जीवन यदि माता विपत्रा स्थान वृष्टिप्रसव श्रीमन्म गर्भ विरिना तत्र वनिदारे विपत्रय सवुत्तये ॥ इत्तं पन्त्र पक्षवर्षे संरादिह सुश्रुतसंहिता में वाग्भट का ही स्वीकृत किया है । उपयुक्त विषय में इस श्लोक का अर्थ यह होना है कि प्रसव के समय अल्पमार्ग या तंग होने के कारण जब जीवित गर्भ अटक जाता है उसको अल्पमार्ग से न निकाल कर पट चीर के उदर से निकालना चाहिये । उदरमार्ग से गर्भ निकालने की शक्यता को पाश्चात्य परिभाषा में सिरेनिश्रम लेन (Caesarean Section) कहते हैं । इसका संश्लेष का

वस्तव्य—इस श्लोक में प्रसव काल के समय निरुद्ध गति परन्तु सजीव गर्भ के कारण अर्थात् हुई माता के संवध में वैद्य को क्या करना चाहिये, इसका दिग्दर्शन किया है । मृत्युगर्भ 'प्रहृत्तयैव दुष्क्रियस्य' (वृष्ट १८७) रोग है जिसकी चिकित्सा अवस्था भेद के अनुसार भिन्न भिन्न होती है । जैसे—(१) यदि गर्भ मृत हो तो उसको आम्बुनादि हृत्त प्रक्रिया द्वारा या शक से स्थण्डिल करके निकालना चाहिये—

नोपेक्षेत मृतं गर्भं मूर्तमपि पण्डितः । मण्डलयेन कौत्स्य उपेक्ष्यत विनाशना ॥ मृते चोत्तनाया सतिपम्भामण्डमनुमेवमेवाभ्येत् । (चिकित्सा अ ११) । (२) यदि गर्भ जीवित ही तो मन्नादि के पटन से, ओषधियों से या आम्बुनादि हस्तप्रक्रिया द्वारा शक किया के सिवाय जीवित गर्भ को निकालने की कोशिश करनी चाहिये । क्योंकि जीवित गर्भ के लिये शक्यकर्म का निषेध किया गया है—

जीविते नमे वनिनागर्भनिर्द्धे प्रवेत्ते । निर्द्धेनान्मने च्चवदान्त्तं मन्नुत्तान्मुत्तवत् । औषधानि च निरल्पन्त्तं बलेत्तानि । मृते चोत्तनाया मनुमेवमेवाम्बु—इत्यादि । (चिकित्सा, अ ११) । मृते वेति । पश्चात्तु मण्डलीभूयेत् मन्त्र आत्तन्तु औत्पदनि च्चवत्तं सवुधीवे ॥ (इन्द्रहल) । सवतेन च ह्येन न क्वचन दावेत् । मृत्युगर्भ चिकित्सा की उपयुक्त दो साधारण अवस्थाओं के अतिरिक्त जब चोभिनागर्भकोष या कंठिसंकोच (Contracted pelvis) के कारण जीवित गर्भ को आम्बुनादि विधियों द्वारा जीवितारवस्था में निकालना असंभव होता है ऐसी तीमरी अर्थात् अवस्था उत्पन्न होती है तब फिर शरीर को पश्चात्तु मण्डलीभूय करके फाड़कर मृत गर्भ को निकालना चाहिये । उभयक वपुंन इत्तं श्लोक में किया गया है वस्तमारविषय—वस्तव्य भोग निरुद्ध । इदं मुष्टि इत्यादि आघातों से अर्थात् हुए बन्ने की भांति मृत्युगर्भ रूप आघात से स्थण्डिल है । वस्त—

वस्तव्य । मार—आघात या मारपीट । यद्यपि मार का अर्थ इत्या या मृत्यु है, और षड्दशाचार्य उसका अर्थ करते हैं—वस्तमार धन्वन्त्तं मरणम् । एतेन श्रीवाग्देवने मन्विष्ट मण्डलान्—तथापि सदर्भ के अनुसार आम्बुनादि से उससे मारपीट का भी अर्थ निकलता है शाकुन्तल में विदुष्यक कहता है—अहं वेनेशिष्युमार श्रीवेन सामागेनाभिनन्द्य ॥ (अंक ६) । विपत्र—

आपद्ममल—स बयुर्वी विपत्रानामापद्ममलम् । (हितोप अरण्यदत्त, उन्वह्या, हाराशुचद्व विपत्र का अर्थ मृत क यद्यपि विपत्र का अर्थ मृत हो सकता है तथापि या अर्थ की कोई जरूरत नहीं मान्य होती । यह श्लोक निदान के समय में लिखा गया है । इसलिये स्त्री की मृत्युगर्भजनित मानना अधिक स्पष्टनिक मालूम होत

अब प्रश्न केवल यह उठता है कि यह विपत्रता मृत्यु या यातना रूप है ? इस प्रश्न का अधिक विचार क यह उत्तर देना पड़ता है कि प्रसव के समय अल्पम गर्भ अटक जाने से गर्भ की मृत्यु न होकर केवल मा मृत्यु होना यह एक असंभवनीय और आसाधारण्य सी है । गर्भ की मृत्यु होने पर उसको निकालने से या लते समय अल्पमार्ग दृष्टि होने से कुछ दिनों के बाद की मृत्यु ही सकती है । इसलिये माना की विपत्रता रूप मानना उचित नहीं है । अब दूसरे अर्थ की र विचार करने पर यह कहना पड़ता है कि जिसको सुन करते हैं, उसमें भी अन्त यातनाएँ होती हैं । व्यवह प्रसव की स्त्री का पुनर्जन्म भी कहते हैं । ऐसी अवस जब गर्भ आधा होकर रास्ते में अटक जाता है तब यह स्त्री के लिये यातनाओं का महासागर हो जाता है । यातना रूप महासागर में पँसी हुई असहाय स्त्री की योग्य करने के लिये बकरे का दृष्टान्त दिया है । इसलिये की विपत्रता यातना रूप मानना ही उचित है । अर्थात् और अर्थात्प्रसव में यही श्लोक वृष्ट १८७ भेद से नि

किया जाता है । निर्देश—यह शस्त्रकर्म निम्न अवस्थाओं में निर्दिष्ट किया गया है । यथा—संकुचित कटि, अपर्य-का अर्धुदों के कारण या स्वाभाविक संकोच, माता की त्वस्था, गर्भ की विपलावस्था, गर्भापतानक, प्रसवपूर्व त्व इत्यादि । काल—यह शस्त्रकर्म जन्म काल में प्रसव शुरु होने पर अथवा यदि पहले से ही गर्भसङ्घ के में कुछ कल्पना हो तो कालप्रसव के अन्तिम सप्ताह किया जाता है । शस्त्रकर्म—(१) प्रथम मध्य रेखा में उदर त्वाल में आठ इंच का चीरा लगाया जाता है, जिसमें इंच नाभि के नीचे और तीन इंच नाभि के ऊपर होता चीरा लगाने के पूर्व सूत्रोत्सर्जिका द्वारा वस्ति खाली करनी ह्ये । (२) सामने आये हुए गर्भाशय में लंबाई की ओर या नौ इंच का चीरा लगाया जाता है । (३) तत्पश्चात् से गर्भ को निकाल कर नाभिनाडी को दो बंधनों के में काट दिया जाता है । (४) तत्पश्चात् गर्भाशय को गुहा से बाहर निकाल कर उसको त्रीवा के पास मजबूत करते हैं । (५) तत्पश्चात् अपरा, गर्भावरण तथा जमे हुए को निकाल कर गर्भाशय का मुख अंगुलि प्रविष्ट करके विस्तृत किया जाता है । (६) तत्पश्चात् गर्भाशय के छेद टाँक लगाकर वह बंद किया जाता है । (७) तत्पश्चात् गुहा में रक्त या अन्य पदार्थ जो कुछ गिरे हुए हों उनको निकाल कर उदरगुहा साफ की जाती है । (८) अन्त में र की दीवार का छेद भी टाँक लगाकर बंद किया जाता । इस उदरविपाटनपद्धति के विशेष विवरण के लिये आक्षाय प्रसूतितन्त्र के ग्रंथ देखने चाहिये । इससे अधिक विस्तार यहाँ करने की कोई आवश्यकता नहीं है ।

ति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां प्रकृतभाषाटीकायां निदानस्थाने मूढगर्भनिदान नामाध्यायः ॥८॥

नवमोऽध्यायः ।

अथातो विद्रधीनां निदानं व्याख्यास्यामः ।

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥
अथ यहाँ से विद्रधियों के निदान का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

सर्वाग्रगुरुः श्रीमान्निमित्तान्तरभूमिपः ।
शिष्यायोवाच निखिलमिदं विद्रधिलक्षणम् ॥२॥
समस्त देवताओं के गुरु, निमित्तवश भूमि के पालक (अथवा अग्रगण्य) हुए भगवान् धन्वन्तरि ने (अपने) शिष्य (शिष्य सुश्रुत) के प्रति विद्रधियों के ये संपूर्ण लक्षण बताए कि ॥२॥

वक्तव्य—निमित्तान्तरभूमिपः—आयुर्वेदोपदेश के निमित्त जो इस पृथ्वी पर काशिराज के कुल में अवतीर्ण होने से प्रसूति हुए थे—शल्यागमगौरपरैरुपेत प्राप्सोऽग्नि गा भूय इहोपदेष्टुम् ॥ शल्यापुराण में भी लिखा है—काशिराजगोत्रे अवतीर्ण त्वमप्यथा आयुर्वेदं करिष्यसि ॥ (चतुर्थी भा. अ. ८) । इ—जैजः प्राद यतनाया गया है ।

त्वग्रक्तमांसमेदांसि प्रदूष्यास्थिसमाश्रिताः ।
दोषाः शोफं शनैर्घोरं जनयन्त्युच्छ्रिता भृशम् ॥३॥
महामूलं रुजावन्तं वृत्तं चाप्यथवाऽऽयतम् ।
तमाहुर्विद्रधिं धीरा विज्ञेयः स च षड्विधः ॥४॥
पृथग्दोषैः समस्तैश्च क्षतेनाप्यसृजा तथा ।
परणामपि हि तेषां तु लक्षणं संप्रवक्ष्यते ॥५॥
(संप्राप्ति और संख्या—) अत्यंत प्रकृषित हुए दोष हड्डियों का आश्रय कर त्वचा, रक्त, मांस और मेद इन्हें दूषित कर धीरे धीरे भयंकर शोफ उत्पन्न करते हैं ॥३॥ उस गंभीरमूल, पीडायुक्त, गोल अथवा दीर्घ (फैले हुए) शोफ को बुद्धिमान् (वेद्य) विद्रधि कहते हैं । वह छः प्रकार का होता है ॥४॥ पृथक् पृथक् दोषों से (तीन), समस्त दोषों से (एक), क्षत से (एक) और रक्त से (एक) । इन छहों का लक्षण अब वर्णन किया जाता है ॥५॥

वक्तव्य—महामूलम्—अस्थ्यादिसमाश्रयणाद्गंभीरमूलम् ।
विद्रधि—'विद्रहति' इति विद्रधिः । दुष्टरक्तातिमात्रत्वात् स वै शीघ्र विद्रहते । ततः शीघ्रविद्राहिताद्विद्रधीत्यभिधीयते ॥ (चरक, सूत्र. १७) । इसके दहन के चारे में चरक में लिखा है—तैः शल्यैथाम् मध्येतोत्सुवैरिव दधते ॥ विद्रधि को अंग्रेजी में आम तौर से अबसेस (Abscess) कहते हैं; परन्तु आभ्यन्तरीय विद्रधियों में कहीं कहीं Inflammation का भी अर्थ निकलता है । विद्रधि, शोथ और इन्फ्लेमेशन के संबंध में सूत्रस्थान के आमपक्षेपणीय अध्याय में विशेष करके द्वितीय, चतुर्थ और पंचम सूत्र के वक्तव्य में (पृष्ठ १०६—१०७) विशेष विवरण किया है, उसे देखो । यह विद्रधि व्याह्य और आभ्यन्तर करके दो प्रकार का होता है—विद्रधि द्विविधामाहुर्वाह्याभ्यन्तरी तथा ॥ (चरक) । अत्र प्रथम वाह्यविद्रधि के लक्षण वर्णन किये जा रहे हैं—

कृष्णोऽरुणो वा परुषो भृशमत्यर्थवेदनः ।

चित्रोत्थानप्रपाकश्च विद्रधिर्वातसंभवः ॥६॥

(वातविद्रधि—) वातजन्य विद्रधि काला अथवा किंचित् रक्तवर्ण, अत्यंत खुरदरा, तीव्र पीडायुक्त और विविध प्रकार से उठने वाला तथा पकने वाला होता है ॥६॥

वक्तव्य—चित्रो नानाविधो वायोविपमक्रियत्वाद्गुह्यप्रपाको यस्य स तथा ॥ (मधुकोशव्याख्या) ।

पक्रोदुम्बरसङ्काशः श्यावो वा ज्वरदाहवान् ।

क्षिप्रोत्थानप्रपाकश्च विद्रधिः पित्तसंभवः ॥७॥

(पित्तविद्रधि—) पित्तजन्य विद्रधि पके गूलर फल के समान (वर्ण का) अथवा ऊदा, ज्वरयुक्त, दाहयुक्त, शीघ्र उठने वाला और पकने वाला होता है ॥७॥

शरावसदृशः पाण्डुः शीतः स्त्वधोऽल्पवेदनः ।

क्षिरोत्थानप्रपाकश्च सकण्डुश्च कफोत्थितः ॥८॥

(कफविद्रधि—) कफजन्य विद्रधि तण्टरी के समान (फैला हुआ, वर्ण में) पाण्डु, ठंढा, स्त्वध, अल्पपीडायुक्त, देर में उठने वाला तथा पकने वाला और कण्डुयुक्त होता है ॥८॥

घृत्कव्य—मूत्र—कटिन भयवा सुष्ठ । माघवनिदान
में 'विष' पाठ है ।

तनुपीतसिताश्चैवामाघ्रावाः क्रमशः स्मृताः ॥९॥

(त्रिद्विधाव—) पतना (अथवा मोटा) पीला और
सुन्दर इम क्रम से इनके खाप (दान से पतना, पित्त से
पीला और कफ से सुन्दर) होते हैं ॥९॥

नानावर्णरुजास्त्राजो घाटालो विषमो महान् ।

विषमं पचयते चापि विद्रधिः सान्निपातिकः ॥१०॥

(सन्निपातविद्रधि—) सान्निपातिक विद्रधि अनेकविध
घर्षणुक, अनेकविध पीडायुक्त, अनेकविध क्षाययुक्त, अत्यन्त
उमरा हुआ, विषम आकार का, बहुत पैला हुआ और
विषमता से पकने वाला होता है ॥१०॥

घृत्कव्य—घाटाल—उन्नत—पण अस्वस्ति स गटाल

रति मलवर्णो रुक्, अत्युच्छिन्नप्रयेन घटाल इव ॥ (मधुकोग-
भ्याख्या) । विषम पच्यते—विषयिरामर्भरौलानेवर्णवर्णभेदेन
विषम तथा भवति तथा पच्यते इति ॥ (मधुकोगभ्याख्या) ।

तैस्तैर्भवेरिमिहते क्षते वाऽपथ्यसेविनः ।

क्षतोष्मा वायुविसृतः सरकं पित्तमीत्यैव ॥११॥

ज्वरस्तृष्णा च दाहश्च जायते तस्य देदिनः ।

एष विद्रघिरगन्तुः पित्तविद्रघिलक्षणः ॥१२॥

(आगन्तुविद्रधि—) काष्ठोष्णपाणानादि से अभिघात
या क्षत होने पर अपथ्यसेवन करने घाने का वायु से प्रेरित
क्षतोष्मा रक्त के साथ पित्त की प्रकृति करता है ॥११॥ इससे
उस मनुष्य को ज्वर, तृष्णा और दाह उत्पन्न होता है ॥ यह
आगन्तुविद्रधि पित्तविद्रधि के समान लक्षण का होता है ॥१२॥

घृत्कव्य—अभिघात—ज्वरमें त्वचा के नीचे के घातुओं

की खराबी होने पर भी त्वचा पर सुना घाव नहीं होता—

अनुरक्तस्य मथिविचिदरेरुक्चरुगम् ॥ (मधुकोगभ्याख्या) ।

क्षत—ज्वरमें बाह्य त्वचा में सुका घाव बन गया—अनुरक्तस्य

दिद्रघिरे ॥ (मधुकोगभ्याख्या) । क्षतोष्मा—प्रहार के

कारण क्षत में उत्पन्न हुई उष्णता—प्रहारस्यदृष्टमितेन ॥

(दहन) ।

रूपस्फोटाद्भूतः श्यावस्तीमदाहरुजाज्वरेः ।

पित्तविद्रघिलिङ्गस्तु रक्तविद्रघिरुचयते ॥१३॥

(रक्तविद्रधि—) काली पुनिसमें से घेरा हुआ, काळे

रंग का, तीमदाहयुक्त, तीमपीडायुक्त, तीमज्वरयुक्त, पित्त-

विद्रधि के लक्षण का विद्रधि रक्त कहलाता है ॥१३॥

उक्ता विद्रघयो होने तेष्वसाध्यस्तु सर्वत्र ।

(असाध्य विद्रधि—) ये जो (द प्रकार के बाह्य)

विद्रधि वर्णन किये हैं, उनमें सन्निपातत्र विद्रधि असंशय

होता है ।

आग्नेन्तरानतन्मूर्ध्वं विद्रघीन् परिचक्षते ॥१४॥

इसके आगे आग्नेन्तर विद्रघियों की बर्णन करते हैं ॥१४॥

गुर्वसा भयविरुद्धान्मुष्णसंस्तृष्टभोजनात् ।

अतिव्यवायव्यायामवेगाघातविद्रघिभिः ॥१५॥

पृथक् संभूय धा दोषाः कुपिता शुक्लरूपिणम् ।

घर्मीकरत्समुद्भवंमन्त- कुर्वन्ति विद्रघिम् ॥१६॥

(अन्तविद्रधिरुपमाप्ति—) गरिष्ठ भोजन से, अथवा
भोजन से, (संयोग) मिश्र भोजन से, सूये भोजन से
(पथ्य और अपथ्य के) मिश्र भोजन से, अतिमैथुन से
अति शारीरिक परिश्रम से, (मृदादि) वेगों के रोकने से
और विद्राहजनक वस्तुओं के खाने से ॥१५॥ कुपित हुए
दोष पृथक् धायवा मिलकर (संभूय) शुक्ल के स्वरूप का
(गोल) और घर्मीक (धैर्य) के समान चारों ओर से
उन्नत अन्तविद्रधि पैदा कर देने हैं ॥१६॥

गुदे बस्तिमुखे नाभ्यां कुक्षौ वृहत्तण्डयोस्तथा ।

धृष्टयोर्वृद्धिः क्षीद्वि हृदये क्षोत्ति वा तथा ॥१७॥

(अन्तविद्रधि के स्थान—) गुदा, बस्ति का मुख, नाभि,
कुक्षि (के दोनों पार्श्व), दोनों बृहत्क्षय, वृहत्, पृहत्, क्षीद्वि,
हृदय तथा क्षोम (इन स्थानों में प्रायः अन्तविद्रधि होता
है) ॥१७॥

घृत्कव्य—इस श्लोक में अन्तविद्रधि के स्थान निर्दिष्ट

किये हैं । चरकसंहिता के अनुसार भी अन्तविद्रधि इन्हीं
स्थानों में होता है, परन्तु धामटाचार्य के मतानुसार इन
स्थानों में बाह्यविद्रधि भी होता है—नाभौऽन वर तवनि ॥

(अष्टांगसूत्र) । तत्र तत्र नाम्बन्तरे जल्पे ॥ (अष्टांगसूत्र) ।

एष तत्र नाम्बन्तरे ॥ (इन्द्र) । बाह्य और आग्नेन्तर विद्रधि

में भेद—यह भेद तीन प्रकार का हो सकता है । (१) बाह्य

में जो तीन रोगमार्ग बर्णन (सूत्र, अ. ११) किये हैं उनमें

से बाह्य रोगमार्ग में उत्पन्न हुआ विद्रधि बाह्य विद्रधि और

अन्त-शरीर में होने वाला विद्रधि आग्नेन्तरीय हो सकता

है—बाह्य त्वक्कायुमासित्वा कर्णरोगा मशरुणा । अन्त शरीर

मासायुक्कवित्ति वदा मल । तदा संचयने अग्निर्मीलक

मुद्रणम् ॥ (चरक, सूत्र अ १०) । (२) किंवा अधिक

गहरा, अधिक मोटा, अधिक दारुण, किंवा अधिक घातक

यदि विद्रधि हो तो आग्नेन्तरीय और इसने विपरीत ही तो

बाह्य हो सकता है—नाभौऽन वर तवनि ॥ (अष्टांगसूत्र) ।

आग्नेरो दारुणतरो गभीरो युलवदन ॥ बलीकचक्षुण्णुपूमी रीष

गन्धिरुत्तवद ॥ (अष्टांगसूत्र) । इसलिये बाह्य और

आग्नेन्तर विद्रधि का अर्थ निम्न प्रकार से करने पर सब भर्त्स

का समन्वय होगा । गिरोगुहा, उरोगुहा और उदरगुहा में

उत्पन्न होने वाला विद्रधि आग्नेन्तर, और शालाजों में तथा

उरोगुहा, उदरगुहा और गिरोगुहा की प्राचीर में होने वाला

विद्रधि बाह्य है । जैसे—दक्षयविद्रधि यदि उदरप्राचीर के बन्ध

धिभाग में हो तो बाह्य और उदरगुहा के बन्धविभाग में

(पैठे-Appendicitis) ही तो आग्नेन्तरीय यदि समन्व

तो धामभटाचार्य के मत में भी विरोध नहीं होता ।
 वेदधियों से अभिप्रेत रोग—इत्यथा निर्गम्य करणा कठिन
 तकि न इनके म्यान निश्चित है, न इनके लक्षण विस्तृत
 तथापि इनमें निम्न रोगों का बोध हो सकता है । गुद-
 धे—Ischio-rectal Abscess या Pelti-rectal
 abs. । वस्तिविद्रधि—Cystitis या Prostatic Absce-
 नाभि, कुक्षि और चट्टनज विद्रधि—Localised perit-
 itis in the umbilical, lumbar and Iliac regions ।
 विद्रधि—Psoas abscess । दक्षिणवंतजविद्रधि—
 ondicular abscess । वृक्षविद्रधि—Pyelonephritis,
 nephrosis, Perinephritic abscess या Lumbar
 abscess । यकृत विद्रधि—Liver abscess । हीहविद्रधि—
 enic abscess । हृदयविद्रधि—Purulent Pericard-
 । क्लोम—यह एककोष्ठस्य ग्रंथ है । परन्तु इसके अर्थ के संबंध
 बहुत मतभिन्नता है । कुछ शास्त्रज्ञ इससे प्रसनिका (Phax),
 कृट पित्तागय (Gall bladder), कुछ अग्न्यागय
 ancreas), कुछ श्वासनलिकाएँ (Bronchi) और कुट्ट
 म्पा (Cysterna chyli) सम्भक्त हैं । इन उपर्युक्त विद्र-
 धिों के अतिरिक्त Subphrenic abscess, Peritonillar
 abscess Empyema, Lung abscess, Brain absce-
 हत्यादि विद्रधि अन्तर्विद्रधि के ही उदाहरण हैं ।

। प्यां लिङ्गानि जानीयाद्वाह्यविद्रधिलक्षणैः ।
 आमपक्षैपणीयाश्च पक्षापकं विनिर्दिशेत् ॥१८॥
 इनके (दोषानुसार) लक्षण बाह्यविद्रधि के (दोषा-
 णार) लक्षणों से जान लेने चाहिये । और आमपक्षैपणीय
 आमक सूत्रस्थान के १७ वें अध्याय में कहे हुए लक्षणों)
 इनकी पकता या अपकता निश्चित करनी चाहिये ॥१८॥
 अधिष्ठानविशेषेण लिङ्गं शृणु विशेषतः ॥१९॥
 (आभ्यन्तरविद्रधियों के) विनिष्टस्थान के अनुसार
 शेषरूप से लक्षण ध्रवण कर ॥१९॥

। वे वातनिरोधस्तु वस्तौ रुच्छ्राल्पमूत्रता ।
 । अभ्यां हिक्का तथाऽऽटोपः कुक्षौ मारुतकोपनम् ॥२०॥
 । ण्डीपृष्ठग्रहस्तीव्रो वदन्नणोरथे तु विद्रधौ ।
 । कण्ठोः पार्श्वसङ्कोचः प्रीहयुच्छ्लासावरोधनम् ॥२१॥
 । र्वाङ्गप्रग्रहस्तीव्रो हृदि शूलश्च दारुणः ।
 । वासो यकृति तृष्णा च पिपासा क्लोमजेऽधिका ॥२२॥
 (अन्तर्विद्रधि) गुदा में हो तो (मल और) वात का
 निरोध होता है; वस्ति में हो तो मूत्र कट से, थोड़ा थोड़ा
 (और गंदला) निकलता है; नाभि में हो तो हिचकी तथा
 उदरसंकोच होता है; कुक्षि में हो तो वायु का प्रकोप होता
 है; वृक्षणों में विद्रधि हो तो कमर और पीठ में सख्त जकड़न
 होती है; वृक्षों में हो तो पार्श्व में संकोच पैदा होता है; प्रीहा
 में हो तो साँस लेने में रुकावट होती है; हृदय में हो तो
 सर्वशरीर में सख्त जकड़न और हृदय में तीव्रशूल होता है;
 यकृत में हो तो श्वास और प्यास होती है; क्लोम में हो तो अधिक
 प्यास होती है ॥२०-२२॥

१ आमपक्षैपणीयेन.

वक्तव्य—चरकसंहिता में इन विद्रधियों के कुछ
 अधिक लक्षण मिलते हैं—रस्तिजायां कृच्छ्रपूतिमूत्रवर्चस्त्व; कुक्षि-
 जायां कुक्षिपाथान्गन्तशूल, वंक्षणजायां सविधसादः; वृक्षजायां पृष-
 णोद्विग्रहः; तत्र प्रधानमर्मजायां (हृदयजायां) विद्रध्यां हृद्यहनतमक-
 प्रमोक्षकसमाप्ताः; प्रीमजायां पिरामा मुखशोषगलग्रहाः ॥ (चरक-
 सूत्र. अ. १७) । हाराणचन्द्र की सुश्रुतसंहिता में 'वृक्षयोः'
 के बदले 'वृक्षयोः' ऐसा पाठभेद है; और युक्त का अर्थ
 हृदयावरण दिया है—युषो नाम द्वे हृदयावरणे ।

आमो वा यदि वा पक्षो महान् वा यदि वेतरः ।
 सर्वो मर्मोत्थितश्चापि विद्रधिः कष्ट उच्यते ॥२३॥
 नामेरुपरिष्ठाः पक्षा यान्त्यूर्ध्वमितरे त्वधः ।
 जीवत्यधो निःस्रुतेषु स्रुतेषूर्ध्वं न जीवति ॥२४॥
 हृत्ताभिवस्तिवर्ज्या ये तेषु भिन्नेषु बाह्यतः ।
 जीवेत् कदाचित् पुरुषो नेतरेषु कदाचन ॥२५॥

(साध्यासाध्यता—) कच्चा हो या पका हो, बड़ा हो
 या छोटा हो, मर्मस्थान में उत्पन्न हुआ प्रत्येक विद्रधि कष्ट-
 साध्य होता है ॥२३॥ नाभि से ऊपर के विद्रधि पकने पर
 ऊपर की (मुख से बाहर) गमन करते (फिरते) हैं । अन्य
 नीचे की (गुदद्वार से बाहर) आते (फिरते) हैं । नीचे
 की फिरने वाले विद्रधियों में मनुष्य चचता है; ऊपर की
 फिरने वाले विद्रधियों में मनुष्य नहीं चचता ॥२४॥ हृदय,
 नाभि और वस्ति के अतिरिक्त अन्तर्विद्रधि बाहर की फूटने
 पर कदाचित् मनुष्य जीवित रह सकता है; इतर (हृदय,
 नाभि और वस्ति के विद्रधि) बाहर फूटने पर भी कदापि
 जीवित नहीं रह सकता ॥२५॥

वक्तव्य—नाभेरपरिजाः—प्रीहयकृच्छ्रोमकुक्षिहृदयजाः । इतरे-
 गुदवस्तिवृक्षवृक्षणजाः । यान्ति—रक्तपूयादिरूप से बाहर आते
 हैं । नाभि का विद्रधि मुख और गुद दोनों मार्गों से भरता
 है—पक्षभिन्नायुर्ध्वजासु गुप्तात् स्रावः स्रवति, भोज्यासु गुदात्,
 उभयतस्तु नाभिजासु । (चरक) । ऊर्ध्वं प्रभिन्नेषु मुखान्तराणां
 प्रवर्तनेऽस्त्कमहितोऽपि पूयः । अधः प्रभिन्नेषु च पायुमार्गाद् द्वाभ्यां
 प्रवृत्तिस्त्विह नाभिनेषु ॥ (हारीत) । भिन्नेषु बाह्यतः—वैषम्यापा-
 रण भिन्नेषु, अन्ये मयमेव भिन्नेष्विति न्याचक्षते । (मधुकोश-
 व्याख्या) ।

स्त्रीणामपप्रजातानां प्रजातानां तथाऽहितैः ।
 दाहज्वरकरो घोरो जायते रक्तविद्रधिः ॥२६॥
 अपि सम्यक् प्रजातानामसूक् कायादनिःसृतम् ।
 रक्तजं विद्रधिं कुर्यात् कुक्षौ मकल्लसंज्ञितम् ।
 सप्ताहान्नोपशान्तश्चेत्ततोऽसौ संप्रपच्यते ॥२७॥

(आभ्यन्तर रक्तजविद्रधि—) अकाल में प्रसूत हुई
 स्त्रियों की तथा (योग्य समय पर) प्रसूत हुई स्त्रियों की
 कुपथ्य करने से दाह और ज्वर करने वाला भयंकर रक्तज-
 विद्रधि हो जाता है ॥२६॥ योग्य रीति से प्रसूत हुई स्त्रियों
 को भी शरीर (गर्भाशय) से न निकला हुआ रक्त कुक्षि
 (गर्भाशय) में मकल्लसंज्ञक रक्तज विद्रधि उत्पन्न करता है ।
 वह यदि सात दिनों में शांत न हो तो फिर पक जाता है ॥२७॥

यक्तव्य—इन श्लोकों में प्रसूत स्त्रियों का जो रक्तज विद्रधि वर्णन किया है वह आधुनिक पाश्चात्य परिभाषा में त्रिफली Puerperal endometritis, Putrid endometritis कहते हैं वह, विकार हो सकता है।

विशेषमथ वक्ष्यामि स्पष्टं विद्रधिगुल्मयोः ॥२८॥
तुर्यदोषसमुत्थानाद् विद्रधेगुल्मकस्य च ।
कस्मात् पच्यते गुल्मो विद्रधिः पाकमेति च ॥२९॥

(गुल्मविद्रधिभेद—) अथ विद्रधि और गुल्म का भेद स्पष्टतया कहता है ॥२८॥ समान दोनों से उत्पन्न हुए विद्रधि और गुल्म में से गुल्म क्यों नहीं पकता और विद्रधि क्यों पकता है ? ॥२९॥

न निवन्धोऽस्तिगुल्मानां विद्रधिः सनिवन्धनः ।
गुल्माकाराः स्वयं दोषा विद्रधिमांसशोणिते ॥३०॥
विवरानुचरो प्रन्धिरप्सु बुद्बुदको यथा ।
एवंप्रकारे गुल्मस्तु तस्मात्पाकं न गच्छति ॥३१॥

मांसशोणितवाह्यत्वात् पाकं गच्छति विद्रधिः ।
मांसशोणितहीनत्वाद्गुल्मः पाकं न गच्छति ॥३२॥
गुल्मस्तिसृष्टित दोषे स्वे विद्रधिमांसशोणिते ।
विद्रधिः पच्यते तस्माद्गुल्मश्चापि न पच्यते ॥३३॥

गुल्मों के लिये बन्धन नहीं होता, विद्रधि के लिये बन्धन होता है। (गुल्म में गुल्मोत्पादक) दोष स्वयं गाँठ के आकार के बनते हैं, (विद्रधि में) मांस और शोणित (स्वयं) विद्रधि बनते हैं ॥३०॥ जैसे जलज्य अवकाश में विचारण करने वाला प्रिय बुद्बुद है, वैसे ही (कोष्ठज्य अवकाश में विचारण करने वाला प्रिय) गुल्म होता है। इसलिये नहीं पकता ॥३१॥ मांस और रक्त की अधिकता के कारण विद्रधि पकता है, मांस शोणित से विरहित होने के कारण गुल्म नहीं पकता ॥३२॥ गुल्म अपने दोषों में स्थित होता है; विद्रधि मांस और रक्त में स्थित होता है। इसलिये विद्रधि पकता है और गुल्म नहीं पकता ॥३३॥

यक्तव्य—(१) निवन्ध—निश्चित बन्धनेनेति निवन्ध । मूल अर्थात् मांस रक्तादि द्रव्य । गुल्म के लिये रक्त मांसादि का बन्धन न होने के कारण वह 'सचारी' अर्थात् स्थानान्तर करने वाला होता है। विद्रधि के लिये रक्तमांसादि द्रव्य का बन्धन होने के कारण वह एक स्थान, में निबद्ध रहता है । गुल्म और विद्रधि का यह प्रथम भेद है। (२) गुल्माकारा इत्यादि—गुल्मे दोषा स्वयं गुल्माकारा मरन्ति, विद्रधा तु मांसशोणित विद्रधिभेदत इति बोधना । बुदबाल में जैसी वायु परिपिण्डित होकर फुटबाल के आकार की तथा स्पर्शकण्ट होती है, ठीक उसी तरह गुल्म में वायु स्वयं परिपिण्डित होकर गुल्म के आकार की और स्पर्शोपलभ्य होती है—स्पर्शोपलभ्य परिपिण्डितत्वाद् गुल्मो यथादोषुर्गति नाम । (चरक) । विद्रधि में विद्रधि का आकार मांसशोणित के कारण बनता है । गुल्म और विद्रधि का यह द्वितीय भेद है। (३) एवंप्रकारे गुल्मस्तु—एवंप्रकारे विद्रधिरनुचरो प्रन्धिरुत्पद्यते अर्थात्, तथा कोष्ठे अल्पविवरानुचरो प्रन्धिरुत्पद्यते अर्थात् निवन्धन । प्रमथ्य से यहाँ केवल गोल

आकार की वस्तु, इतना ही साधारण अर्थ अभिप्रेत है। जैसे वायु से जल के अवकाश में गोलाकार बुलबुला बनता है, ठीक उसी तरह वायु में ही कोष्ठ के अवकाश में गोलाकार गुल्म बनता है। गुल्मोत्पत्ति का यह विवर या अवकाश कोष्ठज्य महाशोणन में होता है—म (वायु) प्रवृत्तितो महाशोणोऽनुप्रविश्य अवस्थान करोति ॥ (चरक, निदान) । अथो यानि न बन्धनार्थं पक्वशय पित्तकफशये वा स्थित स्वन्वत् परमश्रया वा ॥ (चरक चिकित्सा ५) । इस तरह गुल्म अवकाश (यानि रिक स्थान) में उत्पन्न होता है और विद्रधि रक्तमांस के स्थान में उत्पन्न होता है, यह तृतीय भेद है। (४) पाक न गच्छति—शरीर में पाक उत्पन्न होने के लिये पाकजनक (पाचक) और पाक होने वाले (पाच्य) दोनों की आवश्यकता होती है। आयुर्वेदिक विद्वत्तविज्ञान की दृष्टि में वातादि दोष पाचक और मांसरक्तादि दोष पाच्य होते हैं—नमनात् ममनात् परिपाक कठे पवन्ति शोणान्वय एव दोषाः ॥ (सूत्रस्थान, अ १७) । विद्रधि में पाचक और पाच्य दोनों का संयोग होता है, इसलिये पाकौपत्ति होती है। गुल्म में केवल वातदोष परिपिण्डित होकर रहता है, पाच्य द्रव्यों का अभाव होता है, इसलिये पाक नहीं हो सकता—तत्र वातात्मकं सर्वो गुल्म जायते ॥ वात एव अमूर्तोऽपि मूर्तत्वमिव सश्लिो गुल्म इत्युच्यते । अतएव वातायैव मर्तुगुल्मकारणं प्रति प्राधान्यम् । तस्माद्गुल्मस्य पाका ननुत्पत्ति ॥ (अष्टांगदत्त) । गुल्म में पाक नहीं होता और विद्रधि में होता है, यह चतुर्थ भेद है। इस प्रकार सुश्रुतमतानुसार गुल्म की विद्वृत्ति का विचार करने पर पाश्चात्य परिभाषा में सलेपर से उमकी Gaseous tumour और विस्तार से Abdominal tumour due to distension of a part of intestine with gas कह सकते हैं। चरकसंहिता में गुल्म के लिये विद्रधि की भाँति पकापकावस्था, उपनाह, शकर्म इत्यादि सब बातों का वर्णन किया है—गुल्म बहिन सम्पानो गुल्मानीतराशय । अविशयो विरक्षेय क्षपको गुल्म उच्यते ॥ दाहयुक्तमिममोसस्वरनाशरानिज्वरी । विद्रहमनं जानीयाद्गुल्म समुत्थानवेत् ॥ (गुल्मचिकित्सित) । परन्तु यहाँ गुल्म शब्द का प्रयोग विद्रधि के बद्दे किया गया है, क्योंकि पकने वाला गुल्म कृतावस्तुपरिग्रह, कृतमूल तथा रक्तमांसाश्रयी है। इसलिये सुश्रुत और चरक के सिद्धांत में कोई विशेष नहीं होता—गुल्मा न पच्यते निराशयनात् । यथा तु वरणाश्रयदाशय गान्धाःकमान्दावनि, बाणोपशमनायं कृतस्वेदादिभिर्वा रक्तदुष्टिभैवति तथा पच्यमानो विराहनिमित्तक विद्रधिलवमश्लोनि । तमद्रिद्रधि पच्यते, गुल्मा न पच्यते इति मिश्रान्ता निरववाद ॥ (मधुकांड, व्याखया) ॥ इह कृतावस्तुपरिग्रहस्य गुल्मस्य पाक उच्यते । यदि महताशुपुत्रिग्रह म न पच्यन् एहीहायनुमनम् । वस्तु कृतवस्तु परिग्रहतया पच्यन् इति उच्यते नस्य विद्रधियेन पाच्यं ज्ञानं इति सन्तान्नेयं निववाद ॥ (चरकाश्रयिदत्त) । इसलिये जहाँ जहाँ गुल्मपाक का उल्लेख आता है, वहाँ वहाँ गुल्म विद्रधि के बराबर समकना चाहिये।

इष्टामिद्यस्तिज्ज. पको यज्यो यश्च विद्रधोज्ज. ।
(यमाश्रयिद्रधि—) इद्रध, मांस और रक्त इनका एक अन्तर्द्रधि और साक्षिपातिक विद्रधि (यमाश्रय होता है) ।

वक्तव्य—विद्रधि की असाध्यता के संबंध में अष्टांग-
में लिखा है—पको हृत्राभिवस्तिथो भिन्नोऽन्तर्वहिरव वा ।
ान्तःश्वेत् वक्त्राद् क्षीणम्योपद्रवान्वितः ॥

थ मज्जपरीपाको घोरः समुपजायते ॥३४॥

ऽस्थिमांसनिरोधेन द्वारं न लभते यदा ।

तः स व्याधिना तेन ज्वलनेनेव दह्यते ॥३५॥

स्थिमज्जोष्मणा तेन शीर्यते दह्यमानवत् ।

कारः शल्यभूतोऽयं क्लेशयेदातुरं चिरम् ॥३६॥

थास्य कर्मणा व्याधिद्वारं तु लभते यदा ।

तो मेदःप्रभं स्निग्धं शुक्लं शीतमथो गुरु ॥३७॥

त्रेऽस्थि निःस्त्रवेत् पूयमेतदस्थिगतं विदुः ।

द्रधि शास्त्रकुशलाः सर्वदोषरुजावहम् ॥३८॥

इति सुश्रुतसहितायां निदानस्थाने विद्रधिनिदान

नाम नवमोऽध्यायः ॥६॥

(अस्थिगत विद्रधि—) (कभी कभी अस्थि के विद्रधि
मज्जा का भयंकर परिपाक उत्पन्न होता है ॥३४॥ जब
परिपाक अस्थि और मांस के अवरोध से (बाहर आने
डेये) द्वार नहीं पाता तब उस व्याधि से (पीड़ित)
मनुष्य अस्थि की तरह दाह से पीड़ित होता है ॥३५॥
अस्थिमज्जा के उभ दाह से जलती हुई चीज की भाँति
नष्ट भी हो जाता है । यह शल्यभूत (मज्जपरिपाक का)
धे अधिक काल तक रोगी को पीड़ा देता है ॥३६॥ और
(प्राक्तन या शब्द) कर्म ने अस्थि भिन्न होने पर
के मज्जपरिपाक को (बाहर आने के लिये) द्वार मिलता
व उससे मेद के समान, चिकना, सुफेद, ठंडा और भारी
द निकलता है । इसे शल्यशास्त्रकुशल वैद्य अस्थिगत
धि जानते हैं । यह सर्वदोषयुक्त और सर्व प्रकार की
से युक्त होता है ॥३७, ३८॥

वक्तव्य—शीर्यते दह्यमानवत्—मन्द अग्नि में रक्खी हुई
। जिस तरह धीरे धीरे जलकर नष्ट होती है, उसी तरह
व्याधि की विपरूप उष्णता (Toxaemia) ने रोगी
धुल कर मर जाता है । कर्मणा अस्थि भिन्ने—पूर्व कर्म से
त्रि आप से आप या वैद्य के द्वारा चीरा लगाने पर ।
गत विद्रधि—अस्थिमज्जाविद्रधि । इसको Infective
eomyelitis कहते हैं । तीव्रता के अनुसार इसके तीव्र
cute) और मन्द (Subacute) ऐसे दो भेद होते हैं ।
एक भयंकर स्वरूप का रोग है जो अधिकतर बाल्यावस्था
रुमा करता है । मेदःप्रभ—रक्तमज्जा के समान Like red
se marrow ।

भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां
नभापाटीकायां निदानस्थाने विद्रधिनिदान नाम नवमोऽध्यायः ॥६॥

दशमोऽध्यायः ।

अथातो विसर्पनाडीस्तनरोगनिदानं व्याख्या-
नामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से विसर्प, नाडी और स्तन रोग इनके निदान
का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने
किया ॥१॥

त्वङ्मांसशोणितगताः कुपितास्तु दोषाः

सर्वाङ्गसारिणमिहास्थितमात्मलिङ्गम् ।

कुर्वन्ति विस्त्रुतमनुन्नतमाशु शोफं

तं सर्वतो विसरणाच्च विसर्पमाहुः ॥२॥

त्वचा (त्वचाश्रित लसिका), मांस और रक्त में प्राप्त
हुए (वातादि) कुपित दोष सर्व शरीर में फैलने वाला,
उत्पत्ति के स्थान में (अधिक देर तक) स्थित न होने वाला,
(वातादि दोषों के) अपने लक्षणों से युक्त, विस्त्रुत और
कुछ कुछ ऊपर को उठा हुआ शोथ शीघ्रता से उत्पन्न करते
हैं । चारों ओर फैलने के कारण उसे विसर्प कहते हैं ॥२॥

वक्तव्य—त्वक्—त्वक् से त्वचा तथा त्वचाश्रित लसिका

का भी ग्रहण करना उचित है, क्योंकि विसर्पोत्पत्ति में दूष्य
और दोष मिलकर सात धातु भाग लेते हैं—रक्त लसीका त्वक्-
मांस दूष्य, दोषाक्षयी मलाः । विसर्पाणां समुत्पत्तौ विशेषाः सप्त धातवः ॥
(चरक) । सर्वाङ्गसारी—(बहिरन्तरभयतो वाऽवयवशः) सर्वमङ्ग-
सर्तु शीलमस्येति । वहिःश्रितः श्रितश्चान्तस्तथा चोभयसंश्रितः । विसर्पो,
बलमेतेषां श्रेयं गुरु यथोत्तरम् ॥ (चरक) । हृदयावरण, फुफ्फुला-
वरण, फुफ्फुस, मस्तिष्कावरण, रक्त इत्यादि शरीर के अन्त-
रंगों में घुसकर इन अंगों को दूषित करने की प्रवृत्ति विसर्प
में होती है । जब ये अंग दूषित होते हैं, तब रोग असाध्य हो
जाता है । कभी कभी विसर्प में शरीर के सब बाह्य त्वचा पर
फैलने की प्रवृत्ति दिखाई देती है । इस प्रकार के विसर्प को
Erysipelas migrans कहते हैं । इहास्थितम्—विसर्प की
एक विशेषता यह होती है कि प्रथम पीड़ित स्थान से जब
शोथ चारों ओर के स्वस्थ स्थान पर आक्रमण करता है तब
प्रथम पीड़ित स्थान का शोथ चला जाता है; इसलिये लिखा
है 'हह (उत्पत्तिस्थाने) अस्थितम् (अस्थिरम्)' ।
अनुन्नत—विद्रधि, ग्रंथि, गुल्म इत्यादि विकारों में जैसा शोथ
बहुत ऊपर को उठा हुआ होता है, वैसा इसमें नहीं होता ।
विसरणाच्च—चारों ओर फैलने के स्वभाव के कारण उसको
विसर्प कहते हैं—विधिं सर्पति यतो विसर्पत्तेन संशितः । परितर्पोऽ-
थवा नात्रा सर्वतः परितर्पणात् ॥ (चरक) । कुष्ठ के भी विसर्प
और परितर्प ऐसे दो भेद हैं; परन्तु उनका इस विसर्प से
कोई संबंध नहीं है । विसर्प को परिसिपेलस (Erysipelas)
कहते हैं । त्वचा में विसर्पजनक मालाकार (Streptococcus
Erysipelatis) जीवाणु प्रविष्ट होने से यह रोग उत्पन्न
होता है । यही जीवाणु इसका प्रधान कारण है । त्वचा में
क्षत होने पर इस जीवाणु का शरीर में प्रवेश होता है । कभी
क्षत अति सूक्ष्म होने के कारण उसका हमें पता नहीं
होता, परन्तु जीवाणु अतिसूक्ष्म क्षत में से भी शरीर में प्रवेश
कर सकते हैं । व्यवहार में इस दृष्टि से विसर्प के दो प्रकार
किये गये हैं—(१) जिसमें क्षत का पता न हो उसे आयुर्वेद
के अनुसार दोषज और पाश्चात्य परिभाषा में Idiopathic

कहते हैं । (२) जिसमें क्षत का पता लग जाय, उसे क्षतज या Traumatic कहते हैं । यह रोग बाल्यावस्था में तथा चालीस साल की आयु के बाद, घृक्षरोग, यक्ष्म रोग, मध्याति-सेवन इन कारणों से दुर्बल हुए लोगों में, सील स्थान में, गंदे मकानों में और खराब हवा में रहने वाले लोगों में अधिक होता है । मसूरिका, अतिरिक्त ज्वर इत्यादि रोगों में उपद्रव के तौर पर भी होता है । एक बार होने से बार बार होने की प्रवृत्ति इसमें होती है । त्वचा में प्रविष्ट होने पर जीवाणु बर्दास करने हैं और रसायनों के द्वारा प्रवेगस्थान के चारों ओर फैलते हैं, जिससे स्थानिक शोथ, रक्तिमा, जलन इत्यादि उत्पन्न होते हैं । कुछ जीवाणु तथा उनका विष रक्त में प्रविष्ट होकर ज्वरादि सार्वदेहिक लक्षण उत्पन्न करना है । इस तरह पाश्चात्य समाप्ति के अनुसार भी विष में 'रक्त एम्पिका त्वक् मांस' वृत्ति हो जाते हैं । इस श्लोक के प्रथम पाद में विसर्प की समाप्ति वर्णन की है; द्वितीय और तृतीय पाद में विसर्प के साधारण लक्षण वर्णन किये हैं, और अन्तिम पाद में विसर्प घट्ट की निहत्कि बतलाई है । अब इसके आगे दोष-प्राधान्य के अनुसार विसर्प के लक्षण वर्णन किये जाते हैं —

यातात्मकोऽसितमृदुः परुरोऽङ्गमर्द-
संभेदतोदपचनज्वरलिङ्गयुक्तः ।

गण्डैर्यदा तु विषमैरितद्वृषितत्वा-
युक्तः स एष कथितः खलु घर्जनीयः ॥३॥
(घातविषय—) घातज विसर्प इयामल, शृदु और खुरदरा होता है; घर्जा में पीड़ा, संभेद (एक प्रकार की घरीरपीडा), तोद तथा घातज्वर इन लक्षणों से युक्त होता है । परन्तु जब (रक्षादि दूष्य) अत्यन्त दूषित होने से विरहोदयुक्त होता है, तब त्यागने योग्य है ॥३॥

पित्तात्मको द्वृषतगतिर्ज्वरदाहपाक-
स्फोटप्रभेदश्चलुः क्षतजप्रकाशः ।
दोषप्रवृद्धिद्वहतांससिरो यदा स्यात्
श्रोतोऽजकर्ममिभो न तदा स सिष्येत ॥४॥

(पित्तविषय—) पित्तज विसर्प वीर्य रंजने बाला, दाह, अर, पाक विविध प्रकार की फुन्सियों से युक्त और रक्तवर्ण होता है । दोष अत्यन्त प्रकुपित होने से मांस तथा सिराई गलकर जब यह अंजनमय (हृण्यवर्ण) कीचर के समान हो जाय तब असाध्य हो जाता है ॥४॥

श्लेष्मात्मकः सरति मन्धमशीप्रपाकः
क्षिण्यः सितभ्यक्षयुरल्पदुग्धप्रकण्डुः ।

(कफविषय—) कफज विसर्प मृदता से फैलने वाला, दूर से मिलने वाला, क्षिण्य, दुग्ध, सूजन का, धोरी वेदना युक्त और तीक्ष्ण युक्त होता है ।

सर्वात्मकस्त्रिभिधघण्टजोऽपघाटः (दं)
पक्षो न निष्यति च मांससिराप्रणाश्याम् ॥५॥

(सर्वात्मक विषय—) त्रिदोषज विसर्प तीनों प्रकार (के रोगों) के रक्त और (तीनों रोगों की) पीड़ा इनमें

युक्त तथा गभीर होता है । और एक होने पर मांस तथा सिराओं का नाश होने से असाध्य हो जाता है ॥५॥

सद्यःक्षतत्रणमुपेत्य नरस्य पित्तं
रक्तं च दोषबहुलस्य करोति शोफम् ।
श्यावं सलोहितमतिज्वरदाहपाकं
स्फोटैः कुलत्थसदशौरसितैश्च कीर्णम् ॥६॥

(क्षतजविषय—) अतिदोषयुक्त मनुष्य के रक्त और पित्त घोट के मात्रे घाव में प्राप्त होकर कालापन लिये रक्तवर्ण का, तीव्रज्वर दाह और पाक इनसे युक्त तथा कुक्षी के समान काली फुन्सियों से भरा हुआ शोथ उत्पन्न करते हैं ॥६॥

घट्टकट्य—मघ क्षतत्रणमुपेत्य—क्षतज विषय आघात में घाव हो जाने पर, गलकिया करने पर, स्त्री प्रसूत होने पर, बालक का नाभिनाडीच्छेदन करने पर, मसूरिका का टीका लगाने पर हो सकता है । चरक में क्षतज विसर्प का स्वतन्त्र निर्देश नहीं है—यत विसर्पा इति वातपित्तकफप्रिकर्मप्रथितत्रि-पातात्वा । (सूत्रप्रधान) । परन्तु उसके निदान में क्षत का स्पष्ट निर्देश किया गया है—मत्वादाभादिवासाप्रदनीर्णान्धतनात् क्षतात् । तथाचक्षतनादद्दन्तनलक्षणात् ॥ (चिकित्सास्थान) । पाश्चात्य वैद्यक में सब विसर्प क्षतज ही मानते हैं । चरक के अग्निविसर्प, प्रथिविविसर्प और कर्मविसर्प सुश्रुत में स्वतन्त्र रूप से नहीं मिलते—अग्निरो वातपित्ताभ्यां प्रप्यात्वात्, कफतान्त्र । यस्तु कर्मवर्षो घोर म पित्तकफमभव ॥ (चरक, विसर्पचिकित्सा) । अग्निविसर्प—वातपित्त प्रकुपितमिमात्र स्वदेतुभि । वस्तर लम्बश्च दहत्याज विसर्पति ॥ तदुपनासादारु मर्दशरीरमशरीरिवाकीर्णमण मयने । अग्निदग्धभकारोश्च स्यादेहपवीने । (चरक) । इस प्रकार के लक्षण कभी कभी विसर्प में भी दिखाने देते हैं—

It looks red, feels hot and the superficial layers of the epidermis may be lifted as small blebs—Osler's Practice of Medicine बहुतया हसी का निर्देश 'गण्डैर्यदा तु विषये' इत्यादि से वातज विसर्प में सुश्रुत ने किया है । इसलिये वातज विसर्प में इसका समावेश होगा । कर्मविसर्प—गभीरपाक प्राण्यपमा रूट किञ्चोऽदीर्घने । पक्षुवर्णोर्णानांश्च स्यदक्षानुनिरागण । शवगभी व कीर्णं कर्ममय्य शुश्रुति तम् ॥ (अहोर्णमसूत्र) । जब त्वचा के साथ उपत्वचा का भी गभीरपाक होता है, तब यह अवस्था उत्पन्न होती है । इसमें वृत्ति भाग की त्वचा और उपत्वचा गल जाती है । इस प्रकार के विसर्प को मेक्यूलो क्यूरेमिअय एरिथिबेलस (Cellulo cutaneous erysipelas) कहते हैं । बहुतया हसी का ही उल्लेख 'दोषप्रवृद्धिद्वहतांससिरो' इत्यादि से पित्त विषय में किया गया है । इसलिये इसका समावेश पित्तविसर्प में होगा । अग्निविसर्प—दुर्गतिरा तु दीर्घानुलक्षयुक्तरावनात् घनीनां कुने माला माला नीरवमन्त्रात् । (अहोर्णमसूत्र) । इसमें शरीर पर बहुत सी गाँठें निकल आती हैं; इसलिये यह अग्नि विसर्प कहलाता है । विसर्प में भी कभी कभी गाँठें निकलती हैं—Abscesses may form under the skin or the tense skin may slough and induration

१ अहोर्णमसूत्रप्रकृ २ अग्निविसर्पप्रकृ

arely suppuration, of the lymphatic glands
y ensue. Taylor's *Practice of Medicine* चक्र-
एदत्त और श्रीकण्ठ लिखते हैं कि यही ग्रंथिवि सर्प सुश्रुत-
ता में 'अपची' नाम से वर्णन किया है—अय च ग्रंथि-
र्षः सुश्रुतेऽपचीसृजया पठ्यते । (मधुकोशव्याख्या) । परन्तु
के लक्षणों का विचार करने पर यह कहना पड़ता है कि
दोनों में ग्रंथियश्च के अतिरिक्त और कुछ भी समता
है । उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि चरक और
भट्ट में आग्नेयादि वि सर्प के जो तीन स्वतन्त्र प्रकार दिये
वे वि सर्प में कभी कभी जो विशेष लक्षण या उपद्रव उत्पन्न
ते हैं उनकी दृष्टि से किये गये हैं ।

सिध्यन्ति वातकफपित्तकृता विसर्पाः

सर्वात्मकः क्षतकृतश्च न सिद्धिमेति ।

पैतानिलावपि च दर्शितपूर्वलिङ्गौ

सर्वे च मर्मसु भवन्ति हि कृच्छ्रसाध्याः ॥७॥

(साध्यासाध्यता—) वातज, कफज और पित्तज
विसर्प साध्य होते हैं । सन्निपातज, क्षतज और (गण्डैधेदा तु
विपमैः, स्तोत्रजकर्दमनिभो) इन पूर्वनिर्दिष्ट लक्षणों से युक्त
वानज तथा पित्तज असाध्य होते हैं । मर्मस्थानों में (उत्पन्न
हुए) सब विसर्प कृच्छ्रसाध्य होते हैं ॥७॥

वक्तव्य—चरक में विसर्प की साध्यासाध्यता—बहि-
मार्गाश्रित साध्यमसाध्यमुभयाश्रितम् । विसर्प दाम्ण विघात सुकृच्छ्र
न्वन्तराश्रयम् ॥ यस्य सर्वाणि लिङ्गानि बलवद्यस्य कारणम् । यस्य
चोपद्रवाः कष्टा मर्मगो यश्च हन्ति मः ॥ मस्तिष्कावरणशोथ
(Meningitis), अन्तर्हृदयावरणशोथ (Endocarditis),
जीवाणुमयता (Septicaemia) इत्यादि 'कष्ट उपद्रव' होने
पर रोग असाध्य होता है । इसके अतिरिक्त बाल्यावस्था के
प्रारंभ में, बुढ़ापे में, शरायखोरों में यह रोग असाध्य होता है ।

नाडीनिदान

शोफं न पक्वमिति पक्वमुपेक्षते यो

यो वा व्रणं प्रचुरपूयमसाधुवृत्तः ।

अभ्यन्तरं प्रविशति प्रविदार्य तस्य

स्थानानि पूर्वविहितानि ततः स पूयः ॥८॥

तस्यातिमात्रगमनाद् गतिरित्यतश्च

नाडीव यद्बहति तेन मता तु नाडी ।

दोषैस्त्रिभिर्भवति सा पृथगेकशश्च

संमूर्च्छितैरपि च शल्यनिमित्ततोऽन्या ॥९॥

अनुचित कर्म करने वाला (वैद्य जत्र) अपक्व समक कर
(किसी रोगी के) पक्व शोफ की अथवा काफी मवाद से
भरे व्रण की उपेक्षा करता है तब वह पूय उस रोगी के पूर्वोक्त
स्थानों को विदीर्ण करके भीतर प्रवेश करता है ॥८॥ उस पूय
के अधिक भीतर गमन करने के कारण (वह व्रण) गति
(कहलाता है) और नाली की तरह बहता रहता है, इसलिये
नाड़ी कहलाता है ॥९॥

वक्तव्य—असाधुवृत्तः—अनुचित कर्म करने वाला ।
अवस्था के अनुसार योग्य चिकित्सा न करने वाला, जैसे कि
पहले आमपक्वपणीय अध्याय में वर्णन किया है—यश्चिच्छनत्या-
ममशानाद्यश्च पक्वमुपेक्षते । श्वपचाविव मन्तव्यो तावन्निश्चितकारिणो ॥
डहणाचार्य इसका अर्थ 'अहिताहाराचारः' करते हैं, परन्तु
यह अर्थ यहाँ अयोग्य है । पूर्वविहितानि—व्रणालावविज्ञानीय
अध्याय के द्वितीय सूत्र में वर्णन किये हुए स्वगादि अष्ट
स्थान । गतिरित्यतश्च—अतश्च तस्य पूयस्यातिमात्रगमनाद्गतिरिति
'इत्यते' इति योजना । माधवनिदान में 'तस्यातिमात्रगमनाद्गति-
रित्यते तु' ऐसा स्पष्ट पाठ है । 'गति' नाड़ी का पर्याय शब्द
है । नाडीव—अन्तःशुपिरलतादिनाडीवत् ॥ (मधुकोशव्याख्या) ।
९ वें श्लोक के पूर्वार्ध में गति और नाड़ी की निरुक्ति,
वर्णन की गई है । नाड़ी की उत्पत्ति के संबंध में पीछे सूत्र-
स्थान के आमपक्वपणीय अध्याय में १०९ पृष्ठ पर कुछ विव-
रण किया गया है । नाड़ी को सायनस (Sibus) या
फिस्त्युला (Fistula) कहते हैं । पाश्चात्य परिभाषा दोनों
में भी कुछ भेद करती है । जिस नाड़ी का एक मुख बाह्य
त्वचा पर खुलता है और दूसरा मुख पाकस्थान से संबंध
रखता है, वह नाड़ी 'सायनस' कहलाती है । दो पाकस्थानों
को मिलाने वाली नाड़ी को भी 'सायनस' ही कहते हैं ।
दो आशयों को या आशय और बाह्य त्वचा को मिलाने वाली
सहज या जन्मोत्तर (Congenital or acquired) नाड़ी
को फिस्त्युला कहते हैं । जैसे—भगन्दर, बस्ति और योनि
को मिलाने वाली नाड़ी (Vesico-vaginal fistula), बस्ति
मलाशयनाड़ी (Recto-vesical fistula) इत्यादि । ये नाड़ी
व्रण निम्न कारणों से बने रहते हैं या जलदी नहीं भरते—
(१) सूत्र, रेशम, तांत, तार, हड्डी इत्यादि के टुकड़े पाक-
स्थान में शेष रहने से । (२) सूत्र, तेजावी पूय, मल इत्यादि
का स्राव व्रण से होने से । (३) पूय का निःशेष निर्हरण न
होने से (पृष्ठ २३ पर 'निराश्रय' की टीका देखो) । (४)
जिस अंग में व्रण हो उसको विश्राम न मिलने से । (५)
व्रण में क्षय की विकृति होने से । (६) बाह्य त्वचा के सेल
व्रणमुख के भीतर उत्पन्न होने से । (७) रोगी के दुर्बल होने
से । (८) व्रण के आस पास तांतवधातु (Fibrous
tissue) की अधिकता होने से ।

तत्रानिलात्परुपसूक्ष्ममुखी सशूला

फेनानुचिद्धमधिकं स्रवति क्षपायाम् ।

तृदत्तापतोदसदनज्वरभेदहेतुः

पीतं स्रवत्यधिकमुष्णमहःसु पित्तात् ॥१०॥

(वात और पित्त नाड़ी—) उनमें वात से नाड़ी खुरदरी,
छोटे मुख की और शूलयुक्त होती है तथा रात्रि को फेनमिश्र
स्राव अधिक स्रवती है । पित्त से नाड़ी तृष्णा, जलन, पीड़ा,
अंगुलानि, ज्वर और भेदन इनका हेतु होकर दिन को पीला
और गरम स्राव अधिक स्रवती है ॥१०॥

क्षेया कफाद्बहुघनार्जुनपिच्छिलास्त्रा

रात्रिच्छ्रुतिः स्तिमितरुक्छिना सकण्डुः ।

दोषद्वयाभिहितलक्षणदर्शनेन

तिक्तो गतीर्व्यतिक्रमप्रभवास्तु विद्यात् ॥११॥

(कफज और द्वंद्वज नाड़ी—) कफ से नाड़ी अधिक गाढ़ा सुफेद लसदार धावती, रात्रि को खवने वाली, मन्द-बेहवायुक, कठिन और कण्डुयुक्त होती है । दो दोषों के उक्त लक्षण प्रकट होने से संसर्गाज्य (वातकफज, वातपित्तज और पित्तकफज ऐसी) तीन प्रकार की नाड़ी होती है ॥११॥

यक्तव्य—अन्न—भयान्नशब्द. खाववाची विल्य एव ॥ (हृदय) ।

दाहज्वरश्वसनमूर्च्छनचक्रशोषा

पस्या भयन्त्यभिहितानि च लक्षणानि ।

तामादिशोत् पथनपित्तकफप्रकोषा-

द्वोरामसुक्ष्मकरीमिष कालरात्रिम् ॥१२॥

(सन्धिपातज नाड़ी—) जिसमें दाह, ज्वर, सांस, सुँह की श्वास तथा (वातादि तीनों दोषों के) उक्त लक्षण होते हैं उसको कालरात्रि के समान प्राणों का नाश करने वाली भयंकर त्रिदोष के प्रकोष से उत्पन्न हुई नाड़ी समझो ॥१२॥

नष्टं कथंचिदेषुमार्गमुदीरितेषु

स्थानेषु शल्यमचिरेण गतिं करोति ।

सा फेनिलं मथितमच्छमसृग्मिषिभ्र-

मुष्णं स्रवेत सहसा सरुजा च नित्यम् ॥१३॥

(शल्यज नाड़ी—) उक्त (त्वचादि) स्थानों में किसी तरह से अक्षय हुआ सूक्ष्म शल्य अल्पकाल में नाड़ी उत्पन्न करता है । वह नाड़ी अकस्मान् भागदार, बिलोये हुए तक के समान सान्द्र, स्वच्छ, रक्तमिश्रित धाव खवती है और हनेवा पीड़ायुक्त होती है ॥१३॥

स्तनरोगनिदान

यायत्यो गतयो यैश्च कारणैः संभवन्ति हि ।

तावन्तः स्तनरोगाः स्युः स्त्रीणां तैरेव हेतुभिः ॥१४॥

जिन जिन कारणों से जितनी प्रकार की नाड़ियाँ उत्पन्न होती हैं, उतने ही प्रकार के स्तनरोग स्त्रियों को उन्हीं उन्हीं कारणों से होते हैं ॥१४॥

धमन्यः संवृत्तद्वाराः कन्यानां स्तनसंश्रिताः ।

दोषाविसरणात्तासां न भवन्ति स्तनामयाः ॥१५॥

कन्याओं के स्तनों के साथ संबंध रखने वाली धमनियों (कन्याकायस्था में) संकुचिन होती हैं । (इसलिये) दोषों का प्रवेग न होने से उनके स्तनों में रोग नहीं होते ॥१५॥

यक्तव्य—कन्या—असंभूतगर्भा स्त्री। विवाह के पूर्व तथा विवाह के पश्चात् प्रथम गर्भधारणा होने के समय तक की अवस्था । धमन्य—दुग्धवह स्तन मा दुग्धहरिणी नाभी । धरक में शिखा है—श्रोतानि निराधमन्यो रसवाहिन्यो नाभ्य ॥ (विमान, अध्याय. ५) । स्तनरोग की चिकित्सा में निष्ठा है—यके च दुग्धहरिणी बरिह्य नाभी ॥ (चिकित्सा, अ. १०) । आधु-

निक शारीरकार्यविज्ञान से भी यह सिद्ध हुआ है कि कन्य कायस्था में स्तनसंश्रित दुग्धवह स्तन संकुचिन तथा बंद रहते हैं । दोषविसरणत्—संकुचिन या बंद स्थान में दोषों का प्रवेग तथा संचार न होने से ।

तासामेव प्रजातानां गर्भिणीनां च ताः पुनः ।

स्वभावादेव विवृता जायन्ते संभवन्त्यतः ॥१६॥

उन्हीं प्रभूत और गर्भवती स्त्रियों को स्तन की दुग्धहरिणी नाड़ियाँ फिर आपने आप विलूत होती हैं; इसलिये स्तनरोग हो जाते हैं ॥१६॥

यक्तव्य—स्वभावादेव—गर्भाण्य और स्तनों में घनिष्ठ संबंध रहता है । गर्भाण्य में गर्भाधान होने पर गर्भ पीरि पीरि बढ़ने लगता है । जन्म के पश्चात् उसका पोषण करने वाले स्तन भी उसके साथ साथ बढ़ने लगते हैं, उनमें एक का संचार अधिक होता है, दुग्धप्रथियाँ फूलती हैं, उनकी संख्यावृद्धि भी होती है और दुग्धहरिणी नाड़ियाँ विलूत होती हैं । यह परिवर्तन कैसे होता है, इस विषय पर अभी तक कोई ठीक निर्देश नहीं हुआ । शास्त्रियों की यह राय है कि गर्भाण्य से या गर्भ से या पीठप्रथि (Ovary) से एक ऐसा रासायनिक पदार्थ बनता है जो रक्तद्वारा स्तनों में पहुँच कर उपयुक्त परिवर्तन कराता है । यदि यह मन ठीक हो तो यह कदना पड़ेगा कि गर्भधारणा होने के पश्चात् उस विशिष्ट पदार्थ की उत्पत्ति 'स्वभावादेव' हुआ करती है । सम्भवत्यत—'स्तनरोगा' इति शेषः ।

स्तनरोग—स्तनविद्रधि (Mammary abscess) या स्तनकोष (Mastitis या Inflammation of the breasts) —स्तनरोगशब्देन स्तनकोष इति प्रसिद्धी रोग उच्यते । (मधुकोषव्याख्या) । यह रोग प्रायः प्रभूत पीरि गर्भवती स्त्रियों में होता है; परन्तु कश्चिन् नवजात बालकों में भी होता है । इसका कारण पूजजनक जीवाणु (दृष्ट १०९ देखो) हैं, जो स्तनाग्र के दरारों में से भीतर पहुँचते हैं । इसको आयुर्वेदिक परिभाषा में क्षतज विद्रधि कह सकते हैं । स्तनरोग की उत्पत्ति में स्तन्य से भी कुछ सहायता होती है, इसलिये अब धीरे के संबंध में लिखते हैं—

रसप्रसादो मधुरः पक्काहारनिमित्तजः ।

कृत्वादेहात् स्तनौ प्राप्तः स्तन्यमित्यभिधीयते ॥१७॥

(स्तन्य की उत्पत्ति—) अच्छी तरह से परिपाचित हुआ आहार जिसका कारण है ऐसे रस से उत्पन्न हुआ रस का प्रसन्न और मधुर भाग समस्त शरीर से स्तनों में प्राप्त होने पर स्तन्य कहलाता है ॥१७॥

यक्तव्य—पक्काहारनिमित्तज—पक्काहारी निमित्तमरयेति पक्काहारनिमित्तो रसस्तन्मात्रान् । स्तन्य—स्तने भव यत् ॥ इस स्तन्य का तात्पर्य यह है कि पंचभूतात्मक या पट्टसात्मक आहार का परिपाक होने पर जो तेजोमूल सार यानि रस उत्पन्न होता है, वही रस धमनियों द्वारा स्तनों में प्राप्त होने के पश्चात् स्तनों के दुग्धोष्णात्क विशिष्ट सेलों से संस्कारित होने के

एव दुग्ध में परिवर्तित होने पर स्तन्य कहलाता है । अर्थात् य 'आहाररसयोनि' है ।

वेशस्तेष्वपि गात्रेषु यथा शुक्रं न दृश्यते ।

सर्वदेहाश्रितत्वाच्च 'शुक्रलक्षणमुच्यते ॥१८॥

सर्वशरीरग्यापी होने के कारण (शरीर के विविध) अंगों विच्छेद करने पर भी जैसे शुक्र छिराई नहीं देता, वैसे ही) शुक्र के लक्षण का स्तन्य कहलाता है ॥१८॥

वक्तव्य—सर्वदेहाश्रितत्वाच्च—आयुर्वेद में शुक्र सर्व-शरीरग्यापी माना गया है—यथा पशुमि सर्पिन्तु गुच्छेधुरस्ते यथा । तेषु तथा शुक्रं नृणां निराद्रिपग्नरः ॥ (सुश्रुत, शारीर) । रस तौ यथा दधि सर्पिर्लक्षं त्रिभे यथा । सर्वेयानुगतं देहे शुक्रं संत्यक्षते तथा ॥ चरक) । इस विषय का विस्तृत विवरण सूत्रस्थान में पृष्ठ १ पर किया गया है । शुक्रलक्षणम्—'स्तन्यमुच्यते' इति शेषः ।

तदेव चेष्टयुवतेर्दर्शनात् स्मरणादपि ।

शब्दसंश्रवणात् स्पर्शात् संदर्भाच्च प्रवर्तते ॥१९॥

सुप्रसन्नं मनस्तत्र हर्षणे हेतुरुच्यते ।

आहाररसयोनित्वादेवं स्तन्यमपि स्त्रियाः ॥२०॥

तदेवापत्यसंस्पर्शाद् दर्शनात् स्मरणादपि ।

ग्रहणाच्च शरीरस्य शुक्रवत्संप्रवर्तते ।

जोहो निरन्तरस्तत्र प्रस्रवे हेतुरुच्यते ॥२१॥

वही शुक्र (जो आहार रस रूप योनि में उत्पन्न होने के कारण सर्वशरीरग्यापी है) प्रिय स्त्री के दर्शन से, स्मरण से, शब्द सुनने से (और) साथ मैथुन करने में (जो) हर्ष (उत्पन्न होता है उस) से (सर्वशरीरग्यापित्व को छोड़कर एक देश में यानि शुक्राणय में प्राप्त होकर शिशु में) बाहर निकलता है ॥१९॥ उस समय दर्शित होने में प्रसन्न मन ही कारण कहलाता है । ऐसे ही आहाररस से उत्पन्न होने के कारण स्त्रियों का स्तन्य भी (सर्वशरीरग्यापी होता) है ॥२०॥ वही स्तन्य बालक के स्पर्श से, दर्शन से, स्मरण से और (स्नानपान के समय उसको) ग्रहण करने से शुक्र की भाँति (सर्वशरीर को छोड़कर एक देश में यानि स्तनों में प्राप्त होकर चूचुक से) बाहर निकलता है । उस समय स्तन्य का स्राव होने में माता का निरन्तर जोह ही कारण कहलाता है ॥२१॥

वक्तव्य—हर्ष—रतिसुख या आनन्द शुक्रप्रवर्तन का यह एक कारण है—हर्षात्पापं मरत्वाच्च पैच्छिल्याद्गौरवादिपि । अणुप्रवणभावाच्च द्रुतत्वान्मारुतस्य च ॥ अष्टास्य एभ्यो हेतुभ्यः शुक्रं देहात् प्रसिच्यते ॥ (चरक) । दृष्टयुवत्तिदर्शनादि हर्षोत्पत्ति के चतुर्विध बाह्य कारण हैं; और मन की प्रसन्नता आन्तरिक कारण है । क्योंकि मनःपुरःसर इन्द्रियाँ अर्थ ग्रहण करने में समर्थ होती हैं; और जब अर्थों का ठीक ठीक ग्रहण होता है तब सुख दुःखादि भाव उत्पन्न होते हैं । तत्र—स्त्रीप्रसंग के समय या बालक ग्रहण के समय । निरन्तर—चाहे बालक स्वरूप ही या सुरूप हो, गुणी हो या अघुणी हो, व्यंग हो या अशुभ हो, किसी भी अवस्था में जिस प्रेम में फर्क नहीं पड़ता । माता का बालक के प्रति प्रेम हमेशा इसी प्रकार का

होता है—कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति । इन स्त्रियों में सर्वशरीरग्यापी शुक्र तथा स्तन्य सर्व शरीर को छोड़कर एक देश में यानि शुक्राणय तथा स्तनों में प्राप्त होकर कैसे बाहर स्रयता है, उसकी युक्ति (Mechanism) वर्णन की है । पुरुष मन प्रसन्न रखकर जय स्त्री के साथ मैथुन करने लगता है तब उसे एक विशेष प्रकार का हर्ष या आनन्द प्राप्त होता है । उस हर्ष से मस्तिष्क और सुपुत्रा में स्थित केन्द्र उत्तेजित होकर जननेन्द्रिय की ओर रक्त का प्रवाह बढ़ जाता है । शिशु में रक्तप्रवाह बढ़ जाने से वह लम्बा और मोटा होता है और अण्डों की ओर रक्तप्रवाह बढ़ने से अण्डग्रन्थियाँ शुक्र पैदा करने लगती हैं और उत्पन्न हुआ शुक्र शुक्राणय में इकट्ठा हो जाता है । जब शिशु और योनि की रगड़ से उत्पन्न हुआ हर्ष परमोच्च कोटि तक पहुँचता है तब शुक्राणय को संकुचित करने वाला सुपुत्रास्थित केन्द्र उत्तेजित होकर शुक्र बढ़े वेग के साथ फँका जाता है और वह शिशु के द्वार से बाहर निकलता है । जय माता प्रेम से बालक को देखती है या स्नानपान के लिये उसको गोद में ग्रहण करती है, तब उसके स्तनों की ओर रक्त का प्रवाह बढ़कर शुक्र की भाँति उनमें भी दुग्ध बनने लगता है, और बालक उसको चूस लेता है । कभी कभी अतिवात्सल्य के कारण बालक को देखते ही माता के स्तन से आप से आप दूध टपकने लगता है—ददर्श राजा जननीमिव स्वां गामप्रतः प्रस्रविर्णी न सिंहम् । (रघुवंश) । उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि स्वाभाविक तौर पर शरीर में शुक्र और स्तन्य की उत्पत्ति सर्वावस्था में और सर्वदा नहीं हुआ करती है, परन्तु आवश्यकता के समय वृषणों और स्तनों में सर्वशरीरग्यापी रस अधिक मात्रा में पहुँचने से उसी से उनकी उत्पत्ति हुआ करती है । आयुर्वेद में केवल इसी दृष्टि से स्तन्य और शुक्र दोनों भी 'आहाररसयोनि' और 'सर्वशरीरग्यापी' कहलाते हैं ।

तत् कपायं भवेद्भातात् क्षिप्तं च प्लवतेऽम्भसि ।

पित्तादम्लं सकटुकं राज्योऽम्भसि च पीतिकाः ॥२२॥

कफाद्धनं पिच्छिलं च जले चाप्यवसीदति ।

सर्वदुष्टैः सर्वलिङ्गमभिघाताच्च दुष्यति ॥२३॥

(दोषदुष्ट स्तन्य के लक्षण—) स्त्री का दुग्ध वायु से कसैला होता है और पानी में (डालने से ऊपर ही) तैरता है । पित्त से कड़वापन लिये खटा होता है और पानी में (डालने से) पीली रेखाएँ उत्पन्न होती हैं ॥२२॥ कफ से स्तन्य गाढ़ा और लसदार होता है, तथा जल में डूब जाता है । सब दोषों से दुष्ट होने पर उपर्युक्त सब लक्षणों से युक्त होता है । (पतन, प्रहार इत्यादि शारीरिक और चिन्ता, शोक, क्रोध इत्यादि मानसिक) अभिघातों से भी स्तन्य दूषित हो जाता है ॥२३॥

यत् क्षीरमुदके क्षिप्तमेकीभवति पाण्डुरम् ।

मधुरं चाचिवर्यं च प्रसन्नं तद्विनिर्दिशेत् ॥२४॥

(निर्दोष स्तन्य लक्षण—) जो दूध पानी में डालने से उसके साथ एकत्र हो जाता है, सुफेद है, मधुर है, जिसके वर्ण में फर्क नहीं हुआ है, वह निर्दोष समकन चाहिये ॥२४॥

सक्षीरो वाऽप्यदुग्धो वा प्राप्य दोषः स्तनौ स्त्रियाः ।
रक्तं मांसं च सन्दूष्य स्तनरोगाय कल्पते ॥२५॥
(स्तनरोगसंश्लि—) दुग्धयुक्तं वा विना दुग्धं के स्त्री के स्तनों में प्राप्त होकर रक्त तथा मांस को दूषित कर दोष स्तनरोग उत्पन्न करता है ॥२५॥

यत्कटय—सक्षीरो वाऽप्यदुग्धो वा—दूध इकट्टा हुआ हो या न हुआ हो, दुग्धोत्पादन का सामर्थ्य जिनमें होता है ऐसे स्तनों में प्राप्त होकर ।

पश्चानामपि तेषां तु हित्वा शोणितविद्रधिम् ।
लक्ष्णानि समानानि याद्यविद्रधिलक्ष्णैः ॥२६॥

इति सुश्रुतमहितायां निदानस्थाने विसर्पनादीस्तनरोगनिदान नाम दशमोऽध्यायः ॥२०॥

रक्तविद्रधिं को छोड़कर अन्य द्वाव विद्रधि के लक्षणों के समान इन पाँचों (प्रकार के) स्तनरोगों के लक्षण होते हैं ॥२६॥

इति भास्करार्जुना गोविन्दात्मनेन विरचितायामत्युर्वेदरहस्यदीपिकायां सुश्रुतभाषादीकायां निदानस्थाने विसर्पनादीस्तनरोगनिदान नाम दशमोऽध्यायः ॥२०॥

एकादशोऽध्यायः ।

अथातो ग्रन्थपच्युद्दुग्धगलगण्डानां निदानं व्याख्यास्यामः । यद्योयाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब वहाँ से ग्रन्थि, अण्ठी, अर्जुद और गलगण्ड इनके निदान का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

यातादयो मांसमसृक् च दुषाः

सन्दूष्य मेदश्च कफानुविद्धम् ।

वृत्तोन्नतं विप्रथितं तु शोफं

कुर्वन्त्यतो म्रिन्धिरिति प्रदिष्टः ॥२॥

(ग्रन्थि—) प्रदुष्ट हुए यातादि दोष मांस और रक्त तथा कफसंयुक्त मेद इनको दूषित करके गोलाकार, ऊँचा, गाँठ के समान (अपथित) शोष करते हैं, इसलिये (यह रोग) ग्रन्थि कहलाता है ॥२॥

यत्कटय—मेदश्च—चकारात् निरानो ग्रन्थि पचनोऽपि घाट । (इहण्य) । माषवनिदान में 'मेदश्च तथा निराश' ऐसा पाठ है । कफानुविद्धं—कफसंयुक्तम् । ग्रन्थि यातज, पित्तज, कफज, मेदोम्रिन्धिर और सिराज ऐसे पाँच प्रकार के हैं । विप्रथित—विरुद्धा ग्रन्थिनेनाद्युत्पन्नम् । ग्रन्थि—यहाँ ग्रन्थि का जो वर्णन किया है, उसको देखकर ग्रन्थि एक छोटी गोल परिमित आकार की ऋषगर्भे गाँठ मालूम होती है । उसके चारों ओर कोय (Capsule) भी होता है । क्योंकि शरकसंहिता में उस पर श्लेष्म से बीरा क्लमाकर कोय के साथ उसको निकालने के लिये सिखा है—विपार्य चोदय विपक्व सम्यक् श्लेष्म दग्धा ऋषवसिक्तेषु । (शोषधिक्लित्तिन) । इस वर्णन का विचार करने से ग्रन्थि को सिस्ट (Cyst) कह सकते हैं—B) a

cyst is usually meant a more or less founded cavity with a distinct lining membrane, distended with some fluid or semisolid material *Ita and Careless Surgery*

आयस्यते व्यथ्यत पति तोदं

प्रत्यस्यते कृत्यत पति मेदम् ।

कृष्णोऽमृदुर्धस्तिरिधाततश्च

भिन्नः स्रवेचानिलजोऽत्रमच्छम् ॥३॥

(यातग्रन्थि—) वातज ग्रन्थि आयाम, म्यथा, मोद विक्षेप, क्षेदन और भेद इनको प्राप्त होता है, कृष्णवर्ण कठिन, ममक के समान तथा हुआ रहता है और फूटने पर स्वच्छ स्राव धरता है ॥३॥

यत्कटय—आयामादि विविध प्रकार की वेदनाएँ हैं आयस्यते—भीतर खिचावट मालूम होना । प्रत्यस्यते—स्त्री के कहीं दूर फेंका हुआ सा मालूम पड़ना । कृत्यते—काटने की सी पीडा । अत्रम्—स्राव । उल्क्याचार्य इसका अर्थ 'रक्षि' करते हैं परन्तु यह ठीक नहीं—अन्न स्राव ॥ (मधुकोयम्याख्या) । पीछे भी स्राववाचक अत्रयत्कट का प्रयोग किया गया है—मेधा कफाद्दुग्धनाज्जुनपिच्छिन्ना ॥ (नाडी) आगे के श्लोक में भी स्राव का अर्थ स्राव ही है ।

दग्दह्यते धूप्यति चांतिमात्रं

पापच्यते प्रज्वलतीय चापि ।

रक्तः सपीतोऽप्यधयाऽपि पित्ताद्

भिन्नः स्रवेदुष्णमतीव चारुम् ॥४॥

(पित्तग्रन्थि—) पित्त से ग्रन्थि अत्यन्त दहन करता है संताप करता है, पकता है, जलता हुआ सा रहता है, रक्त या पीतवर्ण होता है, और फूटने पर अत्यन्त उष्ण स्राव धरता है ॥४॥

शीतोऽविवर्णोऽल्परुजोऽतिकण्डूः

पापाणवत् संहननोपपन्नः ।

चिरामिवृद्धिश्च कफप्रकोपाद्

भिन्नः स्रवेच्छुष्कपत्रं च पूयम् ॥५॥

(कफग्रन्थि—) कफप्रकोप से ग्रन्थि शीतल, स्वभा के वर्ण का (या किंचित् बदले हुए वर्ण का), अल्प पीडापुनः, अधिक कण्डूयुक्त, पापाण के समान संघातयुक्त (कठिन), और देर में बड़ने वाला होता है, तथा फूटने पर सुफेद और गाढ़ा स्राव धरता है ॥५॥

यत्कटय—अविवर्ण—मृत्निवर्ण, अशुद्धवर्ण इति उचितम् । (मधुकोयम्याख्या) ।

शरीरवृद्धिस्तयवृद्धिनामिः

क्षिग्र्यो महानल्परुजोऽतिकण्डूः ।

मेदःशतो गच्छति चात्र भिन्नः

पिण्याकसर्पिःप्रतिमं तु मेदः ॥६॥

मेदोग्रंथि—) मेदोग्रंथि शरीरवृद्धिजन्य के अनुसार घटने वाला, स्निग्ध, मोटा, अल्पपीड़ायुक्त, अधिक युक्त होता है तथा फूटने पर तिल की खली तथा घृत गान मेद स्रवता है ॥६॥

वक्तव्य—शरीरवृद्धिक्षयवृद्धिहानिः—शरीरस्य वृद्धिश्चाविवर्धनी यस्या म तथा । शरीर में जिस प्रकार घटावही होती उस प्रकार की घटावही जिस ग्रंथि के आकार में होती इसका कारण यह है कि समय समय पर द्रव्य के पड़ने ह पिचक जाती है. जिस समय उसमें से 'पिप्याकसर्पिः-भेदः' निकलता है । उसका मुँह बंद होने पर फिर से उसी द्रव्य से भर जाती है । मेदोग्रंथि—इसको मेवे-सस सिस्ट (Sebaceous Cyst) कहते हैं । त्वचा में स्विड (Sweat glands) और मेदपिण्ड (Sebaceous glands) करके दो प्रकार के पिण्ड होते हैं । मेदपिण्ड ही तन्दीर्घा के समान होते हैं, जिनसे एक मेदमम कनाईदार वस्तु निकलती है, और इसी वस्तु के कारण त्वचा चिकनी सी रहती है । जब मेदपिण्ड का मुँह बंद होने । यह चिकनी वस्तु बाहर न निकल कर भीतर ही एकत्र होती है, तब मेदोग्रंथि बन जाती है । शरीर के और स्थानों में अपेक्षा मेदपिण्ड चेहरे पर अधिक रहते हैं; इसलिये मेदोग्रंथि भी चेहरे के आस पास अधिक हुआ करती है । त्वचा के कारण मुख खुल जाने से भीतर की चिकनाईदार वस्तु निकल जाती है और ग्रंथि आकार में घटती है; फिर मुख बंद होने से पहले के समान बढ़ जाती है । इसलिये शरीर में लिखा है—शरीरवृद्धिक्षयवृद्धिहानिः ।

व्यायामजातैरवलस्य तैस्तै-
राक्षिष्य वायुर्हि सिराप्रतानम् ।

संपीड्य सङ्कोच्य विशोष्य चापि
ग्रन्थिं करोत्युन्नतमाशु वृत्तम् ॥७॥

ग्रन्थिः सिराजः स तु कृच्छ्रसाध्यो
भवेद्यदि स्यात् सरुजश्चलश्च ।

अरुक् स एवाप्यचलो महांश्च
मर्मोत्थितश्चापि विवर्जनीयः ॥८॥

(सिराज ग्रंथि—) (बलवद्विग्रहादि) विविध व्यायामों के कारण (कुपित हुई) निर्मल मनुष्य की वायु रक्तवाहिनियों के जाल को आक्षेपित करके, संपीडित करके, सिकोड़ कर और विक्षोभित कर ऊँचा गोलाकार ग्रंथि शीघ्र उत्पन्न करती है ॥७॥ वह सिराज ग्रंथि यदि पीड़ायुक्त हो और सरुजा हो तो कृच्छ्रसाध्य होता है । यदि पीड़ाहित होने पर भी स्थिर मोटा, और मर्मस्थान में हुआ हो तो असाध्य होता है ॥८॥

वक्तव्य—सिराज ग्रंथि—इसका अन्यूरिकम (Aneurism) कहते हैं । यह विकृति रक्तवाहिनियों के एक हिस्से का पूर्ण विस्फार या अपूर्ण विस्फार होने से होती है । पूर्ण विस्फार होने पर Fusiform और अपूर्ण विस्फार होने पर

Sacculated aneurism कहते हैं । आयुर्वेदिक कल्पना के अनुसार पाश्चात्य वैद्यक में व्यायामाधिक्य (Heavy strain or exertion) इसकी उत्पत्ति का एक कारण माना जाता है । रक्तवाहिनियों की दीवार की कमजोरी भी एक कारण होता है—यत्र मगः खनेगुण्याद् व्यापिस्तत्रोपजायते । जब तक उसमें रक्त का वहन होता रहता है, तब तक ग्रंथि में स्फुरण (Pulsations or Thrill) होता है—स्फुरणः गिराजिः । (चरक) । जब भीतर रक्त जम जाता है तब स्फुरण प्रतीत नहीं होता—रक्तस्य वहनाभावाच्छेषयित्वा । (इन्द्र) । इसको निस्फुर ग्रंथि (Consolidated aneurism) कहते हैं । पाश्चात्य वैद्यक में गिराज ग्रंथि के तीन भेद किये हैं—१ धमनिजग्रंथि, २ धमनिसिराज (Arterio-venous) ग्रंथि, और ३ आघातजन्य (Traumatic) ग्रंथि । सिराज ग्रंथि में गंठीली सिराज्यां (Varicose veins) का भी समावेश करना चाहिये । चरकसंहिता में 'मांसग्रंथि' अधिक है—ग्रंथिर्गहामांसभवः । अष्टांगसंग्रह में ग्रंथि के नौ भेद बतलाये हैं—दोषाम्बुदमांसमेदोश्चिसिराजत्रणभवा नव । (उत्तर. अ ३४) । इनमें से निम्न चार भेद सुश्रुत में नहीं हैं । (१) मांसग्रंथि—मांसलैङ्घित मांसमाहोर्ग्रंथिमानवेत् । लिम्फ महात्तं कठिन गिरानद्य कफाकृतिम् ॥ (२) रक्तग्रंथि—द्वैपिद्वेष्टेऽसृजि ग्रंथिर्मेवेन्मूर्च्छेत्सु जंतुषु । सिरामांसं च संश्रित्य सः स्वापः पित्तलक्षणः ॥ (३) अस्थिग्रंथि—अस्थिमगाभिघाताभ्यामुन्नतावचतं तु यत् । सोऽस्थिग्रंथि ॥ (४) त्रणग्रंथि—अरुष्टे रुद्धमात्रे वा त्रणे मर्वरसाशिनः । मादे वा बधरहिते गात्रेऽद्रमाभिहेतेऽथवा ॥ वातात्ममस्तुर्न दुष्टं मंगोष्य ग्रथित त्रणम् । कुर्वीत् सदाहः कण्ठमान त्रणग्रथिरयं स्मृतः ॥ (उत्तर-तन्त्र, अ. ३४) । इनमें से रक्तग्रंथि और मांसग्रंथि का उलथा अंग्रेजी में करना कठिन है । अस्थिग्रंथि बहुधा Fibrous union या Vicious union of bone हो सकता है; और त्रणग्रंथि False or Alibert's keloid हो सकता है । इस तरह ग्रंथि में अनेक विकारों का समावेश ग्रथनधर्म की समानता पर किया गया है—स ग्रथिर्ग्रथनात् स्मृतः ॥ (अष्टांगसंग्रह) ।

अपचीनिदान

हन्वस्थिकक्ता अक्षकबाहुसन्धिः

मन्यागलेषूपचितं तु मेदः ।

ग्रन्थि स्थिरं वृत्तमथायतं वा

स्निग्धं कफश्चालपरुजं करोति ॥९॥

तं ग्रन्थिभिस्त्वामलकास्थिमात्रै-

र्मत्स्याण्डजालप्रतिमैस्तथाऽन्यैः ।

अनन्यवर्णैरुपचीयमानं

चयप्रकर्षादपचीं वदन्ति ॥१०॥

करद्भ्युतास्तेऽपरुजः प्रभिन्नाः

स्रवन्ति नश्यन्ति भवन्ति चान्ये ।

मेदःकफाभ्यां खलु रोग एष

सुदुस्तरो वर्षगणानुवन्धी ॥११॥

हन्वस्थि, कक्ता, अक्षक, बाहुसन्धि, मन्या और गला इन स्थानों में दकड़ा हुआ कफ और मेद स्थिर, गोल वा

दीर्घ, मृदु और अल्प पीडायुक्त प्रथि उपश्र करता है ॥६॥
 अश्विने की सुठनी के समान, जालस्थित मछली के अण्डों
 के समान (या बेर की सुठनी के समान) अन्य गाँठों से
 न्यून परिबर्धित होने पर उस प्रथि को संघय की पराकाष्ठा
 होने से अपथी कहते हैं ॥१०॥ स्वाश्रयुक्त और अश्रयपीडा
 देने वाली यह प्रथियाँ फूटकर बहने लगती हैं, (कुष्ठ) नष्ट
 हो जाती हैं और बुद्ध नई बननी हैं । (इस तरह) मेद
 कफ से उपश्र हुआ यह भयंकर रोग क्षामों साल बना
 रहता है ॥११॥

घस्यक्षय—अपथी—इसको Chronic tuberculous
 lymphadenitis या Scrofula कहते हैं । यह विकार
 वायु और यौवन अवस्था में अधिक होता है । इस रोग
 का प्रधान कारण राजयक्ष्मा का जीवाणु है, जो वायु से या
 खाद्य पेष पदार्थों से शरीर में प्रविष्ट होता है । यदि क्षमरा,
 कुष्ठ खाँसी, विपमन्जर, कालाअजार, फिंरा इत्यादि
 विकारों से, या मद्य तथा अन्य नशीली चीजों से, या गुञ्जान
 महलों और घनियों में रहने से या आश्रयक्षतानुसार स्वास्थ्य-
 रथिक खाद्य न मिलने से या अति मैथुनादि अन्य दौर्बल्य-
 जनक कार्यों से मनुष्य की प्रायश्चित्त घट गई हो तो ये
 धीरे धीरे शरीर में क्षमरा कदम जमाते हैं और महीनों या
 सालों पीछे अपना असर दिखाते हैं । स्थानवैगुण्य के अनुसार
 कुशुकुम, लसिका प्रथि, आन्त्र इत्यादि विविध अंगों में
 इनका प्रभाव पड़ता है । आधुनिक खोज से यह सिद्ध हुआ
 है कि प्रथियाँ और आमाशय प्राचीर को छोड़कर शरीर का
 कोई भी भाग या अवयव इनके आक्रमण से नहीं बच
 सकता । अपथी में शरीर की लम्बिका प्रथियाँ (Lymphatic
 glands) विकृत हो जाती हैं । जिन स्थानों की लम्बिका
 प्रथियाँ अक्सर विकृत होती हैं, उनके नाम पहले श्लोकार्थ में
 दिये हैं, जैसे—हृन्स्थि (Submaxillary glands) कक्षा
 (Axillary glands) अन्नक (Supra and infra clavi-
 cular glands), बाहुस्थि (glands in the posterior
 cervical triangle) गम्या (Deep Cervical glands)
 और गला (Superficial cervical glands) । इन स्थानों
 के अतिरिक्त बक्ष्य (Inguinal) की प्रथियाँ भी विकृत
 होती हैं । उसका उल्लेख अर्थाद्बद्ध में किया गया है, सुश्रुत
 में नहीं—मेदसा कण्ठमन्वाक्षकश्रावदुग्गा गला । (उत्तरस्थान,
 अ २६) । यह प्रथियाँ धीरे धीरे बढ़ती हैं, उनमें भवाद
 पड़ जाता है, फिर फूट जाती हैं, नई नई विकृत होती हैं
 और इस तरह उनका अनुबन्ध सालों साल जारी रहता है,
 परन्तु पिण्ड नहीं हूँटा । अधिक राजयक्ष्मा की निश्र विरोध-
 नाएँ होती हैं—(१) यह विकार सालों साल बना रहता है,
 पिण्ड छोड़ता नहीं । इसलिये लिखा है—'वर्षगानुबधी
 (Chronic) । (२) जहाँ तक हो सके प्रथियों में ही मर्या-
 दित होता है । इसलिये लिखा है—'स्थिर' । (३) उनमें
 आपस में ससक (Matting together) होने की प्रवृत्ति
 होती है । इसलिये लिखा है—'मासवाण्डनालप्रतिमे' । (४)
 उनमें आपस से आपस पक्कर फूटने की प्रवृत्ति (Suppara-
 tion) होती है । इसलिये लिखा है—'प्रतिभा सवन्ति' । (५)

उपमें फूटने के बाद आपस से आपस ठीक हो जाने व
 कभी कभी प्रवृत्ति (Tendency to spontaneous
 ling) होती है । जब केवल गने की प्रथियाँ फूलनी हैं
 व्यवहार में उसको कण्ठमाला या गण्डमाला कहते हैं ।
 मैं भी ऐसा ही कहा है—'गन्ध पार्थे गन्धघ्न पर स्वाश्र
 बहुमिन्नु गण्ड' । (गोपचिकित्सित) । रोगी के रव
 स्वास्थ्य के अनुसार हममें घटावही जरूर होती है,
 इसका निर्मूलन नहीं होता । इस मध्य को वर्णन का
 लिये वाग्भटाचार्य ने दूर्वा का जो द्यान्त दिया है, वह
 ही सुन्दर है । जैसे कि हरी भरी दूर्वा पानी न मिल
 पूर्णतया सूख जाता करती है, परन्तु बिना प्रयत्न के अ
 नष्ट नहीं होती; वैसे ही अपथी स्वास्थ्य ठीक होने पर
 हो जाती है, परन्तु जब से नष्ट नहीं होती—गण्डमालाप
 दुर्वेव क्षयवृद्धिमात् । (अष्टांगसंग्रह, उत्तरस्थान. अ. ३
 दूर्वावप क्षयवृद्धियुक्ता दूर्वाभानवदयन्नामवो न भवती
 (इन्दु) । दूर्वा पानी मिलने से जिस प्रकार हरी भरी
 अपने प्रदानों से चारों ओर फैलती है; उसी तरह यह ।
 अन्वास्थरूप पानी मिलने से प्रथियों की अपनी म
 लाय कर चारों ओर समान शरीर में फैलता है । इस अ
 में अर, कास, अग्रमेद इत्यादि राजयक्ष्मा के लक्षण
 होते हैं और विकार असाध्य हो जाता है—'शूनमप
 कासश्च' (चरकचिन्तामणिसूत्रात्) । (चरक) । चन्द्र ध
 अपथी का अर्थ अस्थि की गाँठ (Osteoma) करते
 परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है ।

अर्जुननिदान

गात्रप्रदेशे क्वचिदेव दोषा

संमूर्च्छिता मांसमभिप्रदृष्य ।

शुचं स्थिरं मन्दरुजं महागन्त-

मनल्पमूलं चिरचृद्ध्यपाकम् ।

कुर्वन्ति मांसोपचयं तु शोकं

तद्भुदं शास्त्रविदो वदन्ति ॥१२॥

शरीर के किसी प्रदेश में प्रचुद्ध हुए दोष मात्र की अ
 स्थित करके गोलाकार, स्थिर, अल्पपीडा देने वाला,
 गहरा, बहुत दिनों के बाद बढ़ने वाला, और न पकने
 ऐसा मांसोच्छ्राय के रूप में प्रतीत होने वाला शोक उपश्र
 है । आयुर्वेदविदों के ऊप में प्रतीत होने वाला शोक उपश्र
 है । आयुर्वेदविदों के रूप में प्रतीत होने वाला शोक उपश्र
 है ॥१२॥

शुचंस्थय—मांसमभिप्रदृष्य—मांस मेदादि शरीर
 धातुओं को दूधित करके । मांसोपचय तु शोकम्—मांसोपचय
 प्रतीतमान शोकम् । अर्जुन—इसको (Tannor) द्रव्य
 नीचोद्भक्तम् (Neoplasm) कहते हैं ।

घातेन पिप्पेन कफेन चापि

रकेन मांसेन च मेदसा च ।

तज्जायते तस्य च लक्षणानि

प्रत्येः समानानि सदा भवन्ति ॥१३॥

वायु से, पित्त से, कफ से, रक्त से, मांस से और मेद
 अर्जुन उत्पन्न होता है; और उसके लक्षण सर्वदा प्रथि
 समान होते हैं ॥१३॥

पः प्रदुष्टो रुधिरं सिरास्तु
 संपीड्य सङ्कोच्य गतस्तु पाकम् ।
 स्त्रावमुन्नहति मांसपिण्डं
 मांसाङ्कुरैरान्त्रितमाशुवृद्धिम् ॥१४॥
 विलयजन्तं रुधिरं प्रदुष्ट-
 मसाध्यमेतद्रुधिरात्मकं स्यात् ।
 कक्षयोपद्रवपीडितत्वात्
 पाण्डुर्भवेद्वर्णदपीडितस्तु ॥१५॥

(कार्बुद—) प्रदुष्ट हुआ दोष रक्त और सिराओं को और संकुचित कर पाक को प्राप्त हुआ खावयुक्त मांसांभरा, घीप्रवर्धक मांसपिण्ड को उन्नत करता है ॥१४॥ निरन्तर दूषित रक्त निकलता है । यह रक्तार्बुद असाध्य । अर्बुद से पीड़ित रोगी रक्तक्षय रूप उपद्रव से पीड़ित कारण मुफेद (पीला) पड़ जाता है ॥१५॥
 क्लिब्य—गतस्तु पाकम्—इस पाठ की अपेक्षा माधवका 'ततस्त्वपाकम्' यह पाठभेद अधिक प्रामाण्य है ।
 —उन्नहतीत्यन्तर्भावितण्यर्थः । तेन मांसपिण्डमुन्नाहयति उन्नं । (मधुकोशव्याख्या) ।

मुष्टिप्रहारादिभिरर्दितेऽङ्गे
 मांसं प्रदुष्टं प्रकरोति शोफम् ।
 भवेदनं स्निग्धमनन्यवर्ण-
 मपाकमश्मोपममप्रचाल्यम् ॥१६॥
 प्रदुष्टमांसस्य नरस्य वाद-
 मेतद् भवेन्मांसपरायणस्य ।

मांसार्बुदं त्वेतदसाध्यमुक्तं
 मांसार्बुद—) मुष्टिप्रहार आदि से पीड़ित हुए अंग में दुष्ट होकर अल्पवेदनायुक्त, (स्पर्श में) स्निग्ध, त्वचा का, न पकने वाला, पापाण के समान कठिन और स्थिर उत्पन्न करता है ॥१६॥ अत्यंत मांसलोलुप मनुष्य का दूषित होने से मांसार्बुद होता है । यह असाध्य है—
 साध्येष्वपीमानि विवर्जयेच्च ॥१७॥
 संप्रसृतं मर्मणि यच्च जातं

स्रोतःसु वा यच्च भवेदचाल्यम् ।
 (असाध्य अर्बुद—) साध्य अर्बुदों में इनको त्यागना ये ॥१७॥ (यथा) स्त्रावयुक्त, मर्मस्थानों में उत्पन्न अथवा (नासा, महाखोत इत्यादि) स्रोतों में हुआ स्थिर ।

यज्जायतेऽन्यत् खलु पूर्वजाते
 क्षेयं तदध्यर्बुदमर्बुदक्षैः ।
 यद् द्वन्द्वजातं युगपत् कमाद्वा
 द्विर्बुदं तच्च भवेदसाध्यम् ॥१८॥

(अर्बुद और द्विर्बुद—) पहले अर्बुद होते हुए भी अन्य अर्बुद उत्पन्न हो जाय तो अर्बुदक्ष वैद्य उसे सञ्जुच

अध्यर्बुद समकें । एक समय में या आगे पीछे दो उत्पन्न हुए अर्बुद द्विर्बुद होते हैं और वे असाध्य हैं ॥१८॥

न पाकमायान्ति कफाधिकत्वा-
 न्मेदोऽधिकत्वाच्च विशेषतस्तु ।
 दोषस्थिरत्वाद् ग्रथनाच्च तेषां
 सर्वार्बुदान्येव निसर्गतस्तु ॥१९॥

कफ की विशेष करके भेद की अधिकता से, दोषों की स्थिरता तथा कठिनता से और स्वभाव से सर्व अर्बुद पाक को प्राप्त नहीं होते ॥१९॥

चक्तव्य—शरीरस्थ धातुओं की एकदेशीय अतिवृद्धि के जो अनेक विकार हैं, उनमें अर्बुद एक महत्त्व का विकार है । अतिव्याप्ति, अव्याप्ति इन दोषों से विरहित अर्बुद की व्याख्या करना आज भी बहुत कठिन है । परन्तु साधारणतया इस प्रकार से उसकी व्याख्या की गई है—जो शरीरस्थ धातु से ही उत्पन्न हुए नये धातु का एक ठोस पिण्ड होता है, जो शरीर की किसी विशेष आवश्यकता की पूर्ति करने के लिये नहीं उत्पन्न होता (अर्थात् जिसकी उत्पत्ति निरर्थक होती है), जो वृद्ध के दाँदे की तरह शरीर पर पलता है (अर्थात् शरीरवृद्धिलयनिरपेक्ष जिसकी वृद्धि होती है), जिसके उत्पन्न होने से शरीर को कुछ भी लाभ नहीं होता, वातिक संस्थान का जिस पर कुछ भी नियन्त्रण नहीं होता तथा जिसका कोई भी नियत अवसान नहीं होता, उसको अर्बुद कह सकते हैं । कारण—अर्बुदोत्पत्ति का वास्तविक कारण अभी तक पूर्णतया निश्चित नहीं है । विकारी जीवाणु, जन्मोत्तर बालक के शरीर में गर्भावस्था के धातुओं के शेष रहना, धातुओं की खास विकृति इत्यादि कई मत हैं । सहायक कारणों में कुलज प्रवृत्ति और प्रहार या पीड़न प्रधान कारण हैं । किसी स्थान का निरन्तर पीड़न होने से अर्बुद उत्पन्न हो सकते हैं—मुष्टिप्रहारादिभिरर्दितेऽङ्गे । मोष्ठ, जिह्वा, स्तन तथा त्वचा के अर्बुद बहुधा इसी प्रकार उत्पन्न होते हैं । प्रकार—रोगी के जीवन की दृष्टि से अर्बुदों के सौम्य या अनात्ययिक (जिनके कारण मृत्यु होने का भय नहीं होता) और घातक या आत्ययिक (जिनके कारण मृत्यु होती है) ऐसे दो विभाग किये गये हैं । सौम्य अर्बुद के लक्षण—ये चारों ओर से मर्यादित अर्थात् कोशयुक्त होते हैं, जिससे छेदन से उनको अशेष निकाल सकते हैं और पुनर्भवन का दर नहीं रहता । प्रायः एक अर्बुद होता है, द्विर्बुद या अध्यर्बुद नहीं होता । चिरवृद्धि अर्थात् धीरे धीरे बढ़ते हैं । बढ़ने पर भी अल्पपीड़ा देने वाले (मन्दरुज) होते हैं । परन्तु जब किसी मर्मस्थान पर दबाव डालते हैं, तब उनसे घातक परिणाम हो सकते हैं । ये न पकते हैं, न रक्तस्त्राव स्रवते हैं, न जीवन का नाश करते हैं । इनकी सूक्ष्म रचना चारों ओर के धातुओं की रचना से प्रायः समान होती है । बारहवें श्लोक में जो अर्बुद के लक्षण वर्णन किये हैं, वे सौम्य अर्बुदों के हैं । घातक अर्बुदों के लक्षण—ये मर्यादित नहीं होते, चारों ओर के धातुओं में घुस पड़ते हैं । इस कारण से छेदन करके निकालने पर भी वे सशेष होते हैं, और फिर उत्पन्न हो जाते हैं ।

१ काष्ठप्रहारादिभिः. २ संजायते यत्.

के संबंध में आगे विक्रियासाध्या में लिखा है—मोथोपि वि
 दि वोऽर्दुदनि कतिनि तन्वन्तु पुनर्भवंति । तन्वन्त्यापि स्मृदोस्तु
 एन्व-मोथोपि यथा वि र्दि । साम्य अर्दुदों की अपेक्षा में
 तेजी से बढ़ते (आयुर्वृद्धि) हैं । इनमें मद्य उत्पन्न होकर
 रक्तत्राव होने की प्रवृत्ति होती है, जिसमें पाण्डु रोग, अब
 मादादि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं—रक्तशोषप्रवृत्तिरुत्पन्न
 भवेऽर्दुर्नृत्तिन्मु । अर्धों स्थान के पाम या दूरवर्ति अर्गों में
 द्विरर्दुद या अर्धर्दुद (Metastatic growths या second
 ary deposits) उत्पन्न करने की इनमें प्रवृत्ति होती है ।
 इस अवस्था में ये प्रस्राव हो जाते हैं—द्विरर्दुद नव भवेत्तना
 यम् । इनकी मूलम रचना चारों ओर के धातुओं की अपेक्षा
 बिलकुल भिन्न होती है । नमस्वरण—शरीर में आधातु है, सार
 अर्दुद उन्हीं से बनते हैं और धातु के अनुषार उनका नाम
 रखा जाता है । दधा—फेफ्फावर्दुद (Myxoma) रक्त-
 कुरावर्दुद (Papilloma) मेरोवर्दुद (Lipoma भायुर्वेद का
 मेरोवर्दुद यही है), अस्थ्यवर्दुद (Osteoma), नर्यास्थ्यवर्दुद
 (Chondroma) उन्नावर्दुद (Odontoma) मज्जावर्दुद
 (Myeloma) नाड्यवर्दुद (Neuroma), मासावर्दुद (My-
 oma) इत्यादि । घातक अर्दुद त्वचा, अस्थि, मज्जा इत्यादि में
 होते हैं । पाश्चात्य परिभाषा में उनके दो विभाग किये हैं—
 (१) सार्कोमा (Sarcoma)—इस प्रकार का अर्दुद अस्थ्या
 वरण, अस्थि, मज्जा इनमें प्राय उत्पन्न होता है और बचपन
 तथा लवानी में अधिक दिखाई देता है । इसकी घानकता
 और फैलन की शक्ति में बहुत निश्चयता पाई जाती है । जो
 सार्कोमा अत्यंत सौम्य प्रकार के होते हैं वे शनै शनै बढ़ते हैं,
 कठिन होते हैं और उनमें रक्त का संचार भी कम होता है ।
 जो अत्यंत घातक होते हैं वे तेजी से बढ़ते हैं, सूक्ष्म होते हैं और
 उनमें रक्त का संचार अधिक होता है । भीतरी रक्त की न्यूना-
 धिकता के अनुसार उनका रंग हलके भूरे से लेकर गहरे लाल
 तक हो जाता है । शरीर के अन्य अर्गों में द्विरर्दुद की उत्पत्ति
 रक्तमांस से होती है । सार्कोमा इन्वस्थि, प्रगण्डास्थि, प्रको-
 ष्ठास्थि, उर्वरिथि, नम्राम्बि और लम्बिका ग्रन्थियां इनमें
 अधिक उत्पन्न होता है । (२) क्यान्सर या कर्निजेना (Can-
 cer या Carcinoma)—क्यान्सर बाह्य और स्थैतिक त्वचा
 में अग्रम तीर से जाता है । होठ, जिह्वा, मुख, अन्नप्रणाली,
 जठर, आन्त्र, मलाशय, शिवां में गर्भाशय और स्तन, पुल्फां
 में अधीवासिधि (Prostate) और शिथ इत्येक प्रधान स्थान
 हैं । साधारणतया यह रोग चालीस वर्ष की आयु के पश्चात्
 होता है । इस अर्दुद के पृष्ठ पर बहुत से अक्षुर उत्पन्न हो जाते हैं,
 (मांसवर्दुदोत्पत्त्य) जो कभी कभी सिद्ध हुए गोभी के फूल
 के समान दिखते हैं । कुछ समय के पश्चात् इसमें मद्य बन
 जाते हैं, जिससे हमेशा न्यूनाधिक मात्रा में रक्त बहना रहता
 (सवत्सम्बन्धित) है । आम पाम की लम्बिका ग्रन्थियां बढ़
 जाती हैं, उनमें तथा शरीर के अन्य अर्गों में क्यान्सर उत्पन्न
 होता है । द्विरर्दुद का प्रसार लम्बिकावर्दुदितियों द्वारा होता है ।
 इसका एक प्रकार अत्यंत कठिन (अस्फोपम) होता है, उसे
 स्कीरस (Scurfus) कहते हैं । स्थान के अनुसार भिन्न
 भिन्न लक्षण होते हैं । अजान या मुँह में होने से भोजन नहीं

माया जाता; अन्नप्रणाली में होने से भोजन निगला
 जाता; आमाशय में होने से भोजन पचना नहीं, है ।
 है और है के साथ रक्त निकलता है, आन्त्र में होने से
 धन, मलाशय इत्यादि हो जाते हैं । क्यान्सर में
 वेदना भी होती है । रक्तदाव, वेदना और क्यान्सर का
 इन कारणों से रोगी कितना ही स्वाये, यह पनपना न
 भिन्न प्रतिदिन रक्तहीनता और क्षीणता बढ़ती जाती
 (रक्तशोषप्रवृत्तिरुत्पन्ना पाण्डुवेदोर्बरीदिन्मु) । अन्य अ
 की अपेक्षा क्यान्सर की उत्पत्ति में स्थानिक पीडन
 प्रधान कारण माना जाता है (सुविद्यवर्णितिभिः) ।
 रूसी को आसम्भु कारक (Pustular factor) कहते
 शरीर की अनुपहृत प्रवृत्ति की निम्न कारण (Intra
 factor) मानते हैं । आस्तर्ष की अपेक्षा यूरोप
 अमेरिका में क्यान्सर अधिक पाया जाता है,
 दिन प्रतिदिन इनमें पीडित होने वालों की संख्या ब
 जा रही है । अमेरिका में मधुमेक सम्भारों के लोगों
 मधुमेक के कारणों में क्यान्सर दूसरे नंबर का कारण
 गण्यत यह हो सकता है कि मांसाहार में दुग्धका कुछ से
 ही—अन्नद्रोमाम्भारयिन्त्यम् । आधुनिक चिकित्सिकानों के
 मार आयुर्वेदोंक रक्तवर्दुद और मांसावर्दुद के लक्षणों का
 नामक विचार अत तक किया गया है । उनको देखकर रोग
 क्यान्सर का सुविषेणिसामा (Epithelioma) नामक
 प्रकार है यह हो सकता है, और मांसावर्दुद क्यान्सर
 स्कीरस (Scurfus) नामक प्रकार हो सकता है ।

गलगण्डनिदान

घात कफश्चैव गले प्रवृद्धौ
 मग्ने तु मंसृत्य तथैव मेदः ।
 कुर्वन्ति गण्डं क्रमशः स्थलिङ्गः
 समन्वित त गलगण्डमाहुः ॥२०॥
 (गलगण्डनिदान आशयसाप्ति—) प्रवृद्ध रूप क
 कफ तथा मेदमग्ना का अधिक बरके जाने में क्रम से अ
 लक्षणों से युक्त (बातन, कफज और मेदोज) गण्ड उ
 करते हैं । उनको गलगण्ड कहते हैं ॥२०॥

वृत्तव्य—गलगण्ड के कारणों का विचार रोगी के
 स्थान के द्रवद्रव्यविधि नामक फेतालीसवें अध्याय के १
 सवें सूत्र के वक्तव्य में २४० पृष्ठ पर किया गया है । गलग
 या पेघा को बैसिजी में सिम्पल गॉण्टर (Simple goiter)
 कहते हैं । गलगण्ड में थायराइड (Thyroid) ग्रन्थि
 स्थायी अतिवृद्धि होती है । यह ग्रन्थि प्रीया में टेंडुव के
 तथा दोनों ओर होती है । इसके शंकाकार दो पार्श्विक
 होते हैं, जो टेंडुव के दूसरे ओर तीसरे हस्तों के सामने
 तय भाग द्वारा एक दूसरे से जुड़े रहते हैं । इसका औसत
 ३० मासे के लगभग होता है । पुल्फों की अपेक्षा शिवां
 यह ग्रन्थि कुछ बड़ी होती है, जो मासिक धर्म और गर्भाशय
 के समय और भी कुछ बढ़ जाया करती है । यह ग्रन्थि हम
 स्वास्थ के लिये परमावश्यक है जो आन्वायस्था में शरीर
 वृद्धि और साधारणतया आहारपरिवर्तन का नियन्त्रक कर

अण्डा, प्याज, मूली इत्यादि खाद्यपेय द्रव्यों में (Iodine) नामक जो रासायनिक पदार्थ होता इस ग्रंथि का घनिष्ठ संबंध है। यह ग्रंथि आयोडिन (Thyroxine) नामक कर उससे थायरोक्सिन (Thyroxine) नामक जाती है; जो रक्त में मिलकर उपर्युक्त कार्य किया। इसकी कमी से शरीर में मोटापन और बेथी से न आ जाता है। शरीर के अन्य अंगों की अपेक्षा ग्रंथि अपने द्रव्य की न्यूनाधिकता से अधिक प्रभावी है। जब खाद्य पेय द्रव्यों में सदैव आयोडिन की कमी, अथवा चरबी की अधिकता, खटिक की अधिविद्रव्य की कमी, आन्त्र में जीवाणु की उपस्थिति कारण खाद्य द्रव्यों में योग्य मात्रा में आयोडिन उपलब्ध पर भी उसका ठीक शोषण नहीं होता तब हम ग्रंथि रोक्सिन नामक पदार्थ यथोचित मात्रा में नहीं बनता। सर्वप्रथम असर खुद ग्रंथि के ऊपर होकर वह स्थायी बढ़ जाती है। इस स्थायी वृद्धि के अतिरिक्त गलगण्ड अन्य लक्षण होते हैं उनका विचार आगे २५ वें श्लोक में किया गया है। क्रमशः—१ बहुत धीरे धीरे—जनेन शनैरेव वर्धनं दर्शयति। (मधुकोश)। २ वात से कफ से कफज और मेद से मेदोज इस क्रम से तीन क्रम—वातकफमेदासि पृथक् गलगण्डकारणानि, तेन त्रय एव निदानं, पैतिकस्तु न भवत्येव, व्याधिस्वभावात् चातुधिकज्वरवत् ॥ (श्लोक)।

दीदान्वितः कृष्णसिरावनद्धः

कृष्णोऽरुणो वा पचनात्मकस्तु ।

दीदान्वितश्चोपचितश्च काला-

द्भवेदतिस्निग्धतरोऽरुजश्च ॥२१॥

।।रुण्ययुक्तश्चिरवृद्ध्यापाको

यदच्छया पाकामियात् कदाचित् ।

रस्यमास्यस्य च तस्य जन्तो-

र्भवेत् तथा तालुगलप्रशोषः ॥२२॥

वातज गलगण्ड—) वातज गलगण्ड पीडायुक्त, काली तों से भरा हुआ, काला या किंचित् रक्तवर्ण, कुछ समय तक बढ़ने पर मेदयुक्त होने से अतिस्निग्ध और पीडा- ॥२१॥ स्पर्श में कर्कश, देर में बढ़ने वाला, पाकरहित, कमी आगन्तु कारणों से पकने वाला होता है। उससे मनुष्य के मुँह में अरुचि होती है तथा तालु और गले में रुक रही है ॥२२॥

वक्तव्य—अरुजश्च—नोऽपि वातगलगण्डो यदा कालाव कालेन मेदोऽन्विता भवति, तदा अरुजो भवतीत्यर्थः ॥ (डल्हण)। यद्—कारणाप्रतिनियमेन। कारणप्रतिनियमश्च बाह्योऽभिप्रेतः, आतु पाककारणं पित्त रक्त च नियममेव ॥ (मधुकोशव्याख्या)।

स्थिरः सवर्णोऽत्परुगुग्रकण्डः

शीतो महांश्चापि कफात्मकस्तु ।

चिराभिवृद्धिं कुरुते चिराच्च
प्रपच्यते मन्दरुजः(जं)कदाचित् ।

माधुर्यमास्यस्य च तस्य जन्तो-

र्भवेत् तथा तालुगलप्रलेपः ॥२३॥

(कफज गलगण्ड—) कफात्मक गलगण्ड निश्चल, त्वचा के वर्ण का, अल्पपीडायुक्त, अधिक कण्डुयुक्त, शीतल, स्थूल होता है, दीर्घकाल में बढ़ता है, जब पकता है तब अल्पपीडा होती है, उस मनुष्य के मुँह में मीठापन होता है तथा गला और तालु कफ से लिप्त रहते हैं ॥२३॥

वक्तव्य—प्रपच्यते—कदाचिद्यदा प्रपच्यते तदा मन्दरुज एव प्रपच्यते, पाककाले पीडा न भवतीत्यर्थः ॥ (आतङ्कदर्पण)। प्रलेप—श्लेष्मणा लिप्त इव ॥ (आतङ्कदर्पण)।

स्निग्धो मृदुः पाण्डुरनिष्टगन्धो

मेदःकृतो नीरुगथातिकण्डूः ।

प्रलम्बतेऽलावुचदल्पमूलो

देहानुरूपज्ञयवृद्धियुक्तः ।

स्निग्धास्यता तस्य भवेच्च जन्तो-

र्गलेऽनु शब्दं कुरुते च नित्यम् ॥२४॥

(मेदोज गलगण्ड—) मेदोज गलगण्ड स्निग्ध, मृदु, पाण्डुरवर्ण का, अनिष्टगन्ध का, पीडा रहित, अत्यंत कण्डुयुक्त, तोंवी के समान लटकने वाला, मूल में पतला और शरीर के समान घटने बढ़ने वाला होता है। उससे पीड़ित मनुष्य का मुख चिकना होता है, और सदैव अस्पष्ट शब्द करता है ॥२४॥

कृच्छ्राच्छ्लसन्तं मृदुसर्वगात्रं

संवत्सरातीतमरोचकार्तम् ।

क्षीणं च वैद्यो गलगण्डिनं तं

भिन्नस्वरं चैव विवर्जयेत् ॥२५॥

(गलगण्ड की असाध्यता—) बड़ी कठिनाई से सांस लेने वाले, दुर्बल शरीर के, एक वर्ष से अधिक पुराने, अरुचि से पीड़ित, क्षीण और स्वरभेद से पीड़ित गलगण्ड के रोगी को वैद्य त्याग देवे ॥२५॥

वक्तव्य—गलगण्ड ऐसे स्थान में होती है जहाँ टेंडुवा, अन्नप्रणाली, रक्तवाहिनियाँ, नाड़ियाँ इत्यादि अनेक महत्त्व के अंग उपस्थित होते हैं। जब यह ग्रंथि बढ़ती है तब इन अंगों पर दबाव डालती है, जिससे भिन्न भिन्न लक्षण उत्पन्न होते हैं। टेंडुवे पर दबाव पड़ने से वह चपटा होता है या एक तरफ अग्रसारित होता है और श्वास प्रश्वास में कठिनाई (श्वासकृच्छ्र) हो जाती है। अन्नप्रणाली दब जाने से निगलने में कठिनाई होती है। स्वरयन्त्र की नाड़ी (Recurrent laryngeal nerve) पर दबाव पड़ने से स्वरभेद, स्वराघात या स्वरपरिवर्तन हो जाता है। रक्तवाहिनियों पर दबाव पड़ने से गले की सिराएँ फूल आती हैं (कृष्णसिरावनद्धः), तथा मस्तिष्क के रक्तसंचार में बाधा उत्पन्न होकर

चकर आना तथा अन्य वातिक लक्षण उत्पन्न होते हैं। रोग पुराना होने पर गलगण्ड घटना नहीं, परन्तु इससे स्यूय बहुत कम होती है। क्वचिन् खासावरोध, गलगण्ड में रक्त स्राव या घातकता (कैन्सर उत्पन्न होना) में स्यूय हो सकती है।

निवृद्धः श्वययुर्यस्य मुष्कवह्लुभ्यते गले ।
महान् वा यदि वा ह्रस्वो गलगण्ड तमादिशेत् ॥२६॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने गलगण्डगण्डमालापच्यर्दुर्द
निदान नामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

(गलगण्ड का साधारण चिह्न—) जिसके गले में मर्यादित हुआ शोथ वृषण की भाँति लटकता है, उस (शोथ) को, बड़ा हो या छोटा हो, गलगण्ड कहना चाहिये ॥२६॥

वक्तव्य—निवृद्ध—गने में मर्यादित हुआ। गलगण्ड का एक खास लक्षण यह भी है कि नियतसे समय गलगण्ड ऊपर और नीचे की ओर हिलता है। इस साधारण गलगण्ड क अतिरिक्त बहिर्नेत्र गलगण्ड (Exophthalmic goitre) नामक दूसरा गलगण्ड होता है। इसमें भी प्रथि बढ़ती है, उसका रस अधिक मात्रा में निकल कर शरीर में संचार करता है जिससे निद्र लक्ष्य उत्पन्न होते हैं। आँखें बाहर की निकल जाती हैं, पलक बंद करना मुश्किल होता है, नीचे देखते समय ऊपर के पलक छाँसों के साथ नीचे नहीं आते, हृदय की गति १२०-१५० तक तेज हो जाती है; धडकन इतनी अधिक होती है कि प्रीवा की धमनियाँ दूर से फड़कती हुई दिखाई देती हैं, हाथ बहुत कोपते हैं, स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है, खाँस भी परिश्रम करने से दम फूलता है; शरीर में गति का व्यव अधिक होने से रोगी दिन प्रति दिन लीज होता जाता है।

इति भास्कररामेणा गोविन्दरामेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यमीपिकायां
सुश्रुतभाष्यटीकायां निदानस्थाने गलगण्डगण्डमालापच्यर्दुर्दनिदान
नामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

द्वादशोऽध्यायः ।

अथातो वृद्धिपुपुदशश्रीपदावां निदानं व्याख्या-
म्यामः । यथोच्यते भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से वृद्धि, उपदग और क्षीपद इनके निदान का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वृद्धिनिदानम्

घातपित्तश्लेष्मशोणित्तमेदोभूत्राश्रनिमित्ताः सप्त
वृद्धयः । तासां भूत्राश्रनिमित्ते वृद्धी वातसमुप्ये
केवलमुत्पत्तिहेतुरन्यतमः ॥२॥

वात, पित्त, कफ, रक्त, मेद, और आश्र्य इनके कारण वृद्धिवाँ सप्त (प्रकार की होती) हैं। इनमें से मूत्र्य और आश्र्य वृद्धि वायु से ही होती है, केवल उत्पत्ति का हेतु (साहायकार्य) भी होता है ॥२॥

अथ. प्रकुपितोऽन्यतमो हि दोषः फलकोश
हिनीरभिप्रपद्य धमनीः फलकोपयोर्बुद्धि जनये
तां वृद्धिमित्याचक्षते ॥३॥

(उदरगुहा के) निचले हिस्से में कुपित हुआ दोष वृषणकोषवाहिनी धमनी में प्राप्त होकर वृषण को मोटा करता है, उसे वृद्धि कहते हैं ॥३॥

वक्तव्य—अन्यतमो दोष—वायु—कदा स्वर्गति शोफालकरश्चरत् । (अष्टागमग्रह) । कन्वोरोधो—अण्ड उमके कोष की । वृ चरकमेहिता में वृद्धि । उसके पाँच भेद प्रविशेत्तुद्वय । वृषेण पूर्ण स्यु मेदमा चेत् क्षिप्य च विषाल नति शोषम् ॥ (चिकित्सा श्र १२) ।

तासां भविष्यतीनां पूर्वरूपाणि—धस्तिकटीमुप
मेद्रेयु वेदना माफलनिग्रहः फलकोशशोफश्चेति ॥

(वृद्धि के सामान्य स्वरूप—) उन होने वाली वृद्धि के स्वरूप (ये होते हैं)—धस्ति, कमर, वृषण, पित्र ह पीरा, अप्रणवायु का निरोध और वृषण में सूजन ॥३॥

तत्रानिलपरिपूर्णा धस्तिमिघाततां परपामां
मिचानिलरजं वातवृद्धिमाचक्षते; पकोहुम्पर
झाशां ज्वरदाहोभ्रवर्ते चागुसमुत्थानपाकां पि
वृद्धिम्; कठिनामल्पवेदनां शीतां कण्डमतीं श्लेष्
वृद्धिम् ॥५॥

(वातज, पित्तज और कफज वृद्धि—) उनमें से वृ से भरी मसक की तरह फूली हुई, खुरदरी, बिना का पीदा देने वाली वृद्धि को वातज कहते हैं । पके गुब्ब समान (वर्षा की), ज्वर दाह और उष्णता इनसे पु शीघ्र ही उठने वाली और पकने वाली वृद्धि की पित्तज हैं । कठिन, अल्पपीडा युक्त, शीतल और कण्डयुक्त की को कफज कहते हैं ॥५॥

वक्तव्य—वातादि दोषजन्य वृद्धि बहुधा वृषणप्रक (Orchitis) के शीघ्र (Acute) पुरल्लर (Chronic) इत्यादि प्रकार है ।

वृषणस्फोटोद्भूतां पित्तवृद्धिलिङ्गां रक्तवृद्धिम्
स्यूयुक्षिधां कण्डमतीमल्पवेदनां तालफलप्रकार
मेदोवृद्धिम् ॥६॥

(रक्तज और मेदोवृद्धि—) काली कुन्तियाँ से पित्तज वृद्धि के लक्षणों से शुष्क वृद्धि को रक्तज कहते हैं स्यूयु, धिग्ध, कण्डयुक्त, अल्पपीडा करने वाली और एक ता फल के समान वृद्धि को मेदोवृद्धि (कहते हैं) ॥६॥

वक्तव्य—मेदोवृद्धि—इसकी वृषणदान क्षीपद (Eleo hantiasis of the scrotum) कहते हैं। इसकी संज्ञा का विचार इन्हीं अध्याय में आगे क्षीपद के वक्तव्य में किया जाएगा । कण्डवृद्धि—इसकी हीमाटोमील (Haematocle) कहते हैं। इनमें वृषणकोष के भीतर रक्त संचित हो जाता है

आगत से, या मूत्रज वृद्धि में मानी निकालने से, या घातक अर्द्ध की उत्पत्ति होने से घनती है ।
 प्रसन्धारसशीलस्य मूत्रवृद्धिर्भवति, सा तेऽम्बुपूर्णा दन्तिरिव क्षुभ्यति मूत्रवृद्धं वृषणयोः प्रथमं कोशयोऽभापादयति, तां द्वि विद्यात् ॥७॥

मूत्रवृद्धि—) मूत्र को रोकने की आदत रखनेवाले के मूत्रवृद्धि होती है । चलते समय वह पानी से भरी की तरह भ्रमणशीली है; मूत्रकृन्त, वृषण में पीड़ा और रोग में गीभ उत्पन्न करता है; उसकी मूत्रवृद्धि समझना ॥७॥

वक्तव्य—) मूत्रवृद्धि—इसकी हैड्रोसीन (Hydrocele) है । इसकी संप्राप्ति में मूत्रमंधारण का या मूत्र का कुछ संबंध नहीं है । जैसे कि जलोदर में उदरावरण की लम्बिका-निषे से चूकर लम्बिका उदरगुहा में एकट्टी होती है; वृषणकोश की लम्बिकावाहिनियों से चूकर लम्बिका में एकट्टी होती है । इस लम्बिका के कारण कोश फूटना जलोदर की भाँति इसको 'जलवृषण' नाम रखना उचित पीछे उदर निदान में ३३ श्लोक का वक्तव्य देखो) । कारणों का ठीक ठीक पता अभी तक नहीं चल सका पुराना वृषण प्रकोप और किंगजन्म वृषण विकृति के मूत्रवृद्धि मिलती है । इसका आकार बहुधा अण्डे के भाँटे के समान होता है । भीतरी जल की राशि के अनुसार वृद्धि स्वयं में कठिन या मृदु प्रतीत होती है । टटोवने से की और वृषणग्रंथि प्रतीत होती है । जलोदर की भाँति में भी कंपन परीक्षा मिलती है । इसकी एक स्वाम परीक्षा होती है कि वृद्धि के एक ओर बनी जाता कर रखी जाये दूसरी ओर कुछ हलका प्रकाय दिखाई देगा तथा भीतरी वृषणग्रंथि का भी कुछ पता चल जायगा । रोग पुराना होने कोश की भित्ति मोटी होने से यह 'दीपपरीक्षा' नहीं मिलती । इसके कोई स्वाम लक्षण नहीं होते । परन्तु जब कि काफी घनती है तब वृषणरज्जु में रींचने की सी पीड़ा होती है, तथा कोश की त्वचा के भीतर गिर चले जाने से वृषण की त्वचा पर होकर बहता है जिससे कराडु उत्पन्न होती है ।

भारतरणयलवृद्धिग्रहवृक्षप्रपतनादिभिर्गन्धास-
 विरुपैवायुरति(भि)प्रवृद्धः प्रकुपितश्च स्थूलान्त्रस्ये-
 लस्य चैकदेशं विगुणमादायाधो गत्वा बहुल-
 यमुपेत्य ग्रन्थिरूपेण स्थित्वाऽप्रतिक्रियमाणे च
 कालान्तरेण फलकोशं प्रविश्य मुष्कशोफमापादयति,
 आघातो वस्तिरिवाततः प्रदीर्घः स शोफो भवति,
 अथान्द्रमवपीडितश्चोर्ध्वमुपैति, विमुक्तश्च पुनैरा-
 भायते, तामन्त्रवृद्धिमसाध्यामित्याचक्षते ॥८॥

(अन्त्रवृद्धि—) बौध उठाना, (अधिक) बलवान् प्राय लड़ना, वृक्ष से गिर पड़ना इत्यादि विशेष, परिश्रम १. अन्त्रवृद्धिकेदेशे. २. दिगुण. ३. पुनरापमति.

के कारण आयन्त वृद्ध हुई वायु प्रकुपित होकर स्थूलान्त्र और अन्त्रान्त्र के एक देश को संकुचित करके नीचे की जाकर वृषण ग्रंथि में प्राप्त होकर ग्रंथि स्वयं से स्थित होती है; और चिकित्सा न करने से समय पाकर फलकोश में प्राप्त होकर वृषण में शोफ उत्पन्न करता है । फूली हुई मसक की भाँति वह शोथ फला हुआ बड़ा होता है, (ऊपर को) दवाने से मज्ज (गड़गड़ाहट) के साथ ऊपर की ओर (उदर के भीतर) घना जाता है और छोड़ देने से फिर आ जाता है । इस अन्त्रवृद्धि को असाध्य कहते हैं ॥८॥

वक्तव्य—) अन्त्रवृद्धि—) अन्त्रान्त्रावयवों यदा । (अष्टांगसंग्रह) । दिगुणीकृत्य—सकृदाकृत्य । दिगुणीकृत्येति पाठान्ते संज्ञितेन दिगुणीकृत्य । (मनुकोश) । अन्त्रवृद्धि—अन्त्रान्त्रागमनजन्य वृषणवृद्धि । इस विकार में न आन्त्र की वृद्धि होती है, न अन्त्र में अन्य कुछ विकृति उत्पन्न होती है । केवल आन्त्र उदरगुहा का अपना स्थान छोड़कर नीचे वृषण में आ जाता है—अन्त्रनिर्गमनो नये ॥ (अष्टांगसंग्रह) । अन्त्रवृद्धि को हर्निया (Hernia) कहते हैं । हर्निया वास्तव में शरीर के किसी अंग के अपने स्थान के छिद्र के बाहर निकल कर दूसरे स्थान में पहुँच जाने को कहते हैं । इस तरह फुफ्फुस, मस्तिष्क और अन्त्र की हर्निया हो सकती है । व्यवहार में यह विकृति अन्त्र के संग्रह में अधिक देखने में आने के कारण हर्निया मज्ज से आन्त्रवृद्धि का ही बोध प्रायः होता है । कारण—इसके सहज और जन्मोत्तर ऐसे दो प्रकार के कारण होते हैं । सहज कारणों में अशुभग्रंथि का समय से देर से उदर से वृषण में उतरना, उदर से वृषण तक का मार्ग बंद न होना, उदर प्राचीर की पेशियों की दुर्बलता, अन्त्रनिबंधिनी की लंबाई अधिक होना इत्यादि प्रधान होते हैं । जन्मोत्तर कारणों में आघात या शस्त्रकर्म के कारण उदरप्राचीर की दुर्बलता, भारी बोझ उठाना (भारहरण), मलाबरोध, आशिलावृद्धि, मूत्रमार्गसंकोच, निरुद्धप्रकाश इत्यादि के कारण मलमूत्रत्याग में बहुत बल का प्रयोग (कुंथन) करना, पुरानी खाँसी इत्यादि प्रधान कारण होते हैं । सहज कारण सहायक होते हैं और जन्मोत्तर कारण मानाकारण होते हैं । आयुर्वेदोक्त अन्त्रवृद्धि आधुनिक परिभाषा के अनुसार वृक्षणी अन्त्रवृद्धि (Inguinal) हैं; क्योंकि इसमें अन्त्र वृक्षणसुरंग में से होकर फलकोश में उतरती है—अन्त्र दिगुणमादाय जन्तोर्भवति वृक्षणम् । (भोज) । यदि अन्त्र वहिवैवृक्षणीयछिद्र तक आकर ग्रंथि के रूप में स्थित होता है तो उसे अप्राप्तफलकोशवृद्धि कहते हैं—अप्राप्तफलकोशायां वातवृद्धिक्रमो हितः ॥ (चिकित्सा, अ. १९) । आधुनिक परिभाषा में इसको अपूर्ण अन्त्रवृद्धि या व्यूबोनो-आसील (Incomplete hernia or Bubonocoele) कहते हैं । यदि वहिवैवृक्षणी छिद्र में से होकर अशुभग्रंथि के ऊपर तक अन्त्र पहुँच जाय तो उसको कोशप्राप्तवृद्धि कहते हैं—कोशप्राप्तां तु वक्ष्येत् ॥ (चिकित्सा, अ. १९) । आधुनिक परिभाषा में इसको पूर्ण अन्त्रवृद्धि कहते हैं । अन्त्रजन्य वृषण-वृद्धि की रचना—अन्त्रजन्य वृषणवृद्धि में बाहर से भीतर की ओर आवरण मिलते हैं—१ त्वचा, २ उपत्वचा, ३ उदर-

पददा आदिमा पेयी के तन्तु से बनी हुई बला, ४ फलकोग-
कपिषी पेयी और कला, ५ उदरान्तपददा कला, ६ मेद-
ह्वर और ७ उदरकला । वृद्धि का कोप उदरकला से बनता
है । परिभाषा के लिये प्रत्यक्षपायी द्वितीय खण्ड पृष्ठ ३४-३५
देखो । कोश के भग-कोप में निम्न अंग पाये जाते हैं ।
अन्त्य-अन्त्य अंगों की अपेक्षा लघ्वन्त्र अधिक पाया जाता
है । घाम्भट से इसलिये केवल क्षुद्रान्त्र का ही निर्देश किया
है-क्षुद्रान्त्रावयव यदा । त्वनिवेशादपो नयेत् ॥ इसके अतिरिक्त वषा,
स्पृशान्त्र विशेष करके उण्डुक, उण्डुकपुच्छ, बस्ति, बीजप्रधि,
बीजवाहिनी इत्यादि अंग भी मिलते हैं । संक्षेप में अग्न्याशय
के अतिरिक्त उदरगुहा का कोई भी अंग वृद्धि में मिल सकता
है । लक्षण-पूर्ववद्दस्तायी आन्त्रवृद्धि का आकार धाबड़े के
समान दीर्घवृत्त होता है । दिन प्रतिदिन उसका उत्सेध बढ़ता
जाता है । जब रोगी खड़ा होकर खाँसता है तब वृद्धि में
खाँसने की प्रचोदना प्रतीत होती है, तथा उत्सेध बढ़ जाता
है । वृद्धि पर अंगुलिताडन करने से दिग्दिग् ध्वनि आती है ।
ऊपर की ओर दबाने से गदगदाहट के साथ आन्त्र उदर
के भीतर चली जाती है और उत्सेध नष्ट होता है तथा दबाव
झीड़ देने से आन्त्र लौट आकर फिर उत्सेध शीघ्र उत्पन्न होता
है-प्रपीडितोत्तन त्वनवान् प्रवति प्रभाषयति पुनश्च मुक्त ।
(अष्टांगसंग्रह) । वृद्धि जीर्ण होने पर अग्निमंदता, कब्ज,
उदर में पीड़ा इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं, तथा कोप की
रीवार मोटी होकर बाहर के आवरणों के साथ संलग्न होती
है या भीतर आन्त्र के साथ जुट जाती है, जिससे वृद्धि संभित
होकर ऊपर के दोनों चिह्न मुखिल से मिलते हैं-उत्समागन्ध
व मुष्कवृद्धिमाभ्यान्कृत्वाभ्यवर्त्तौ त वलु ॥ (अष्टांगसंग्रह) ।
वृणवृद्धि में आन्त्र न होकर केवल वषा (Omental
Hernia) होने से स्पर्श में यह बहुत सट्टु होती है, खाँसने
पर उसमें प्रचोदना बहुत कम या नहीं प्रतीत होती, ऊपर
की ओर दबाने से बिना शब्द के भीतर चली जाती है, और
श्लेष्म देने से शनैः शनैः उत्सेध उत्पन्न होता है, तथा अंगुलि-
ताडन परीक्षा से मंद ध्वनि आती है । वराजन्त्र तथा आन्त्र
जन्त्र वृणवृद्धि में भ्रष्ट के ऊपर टटोलने से अण्डरज्जु ठीक
ठीक प्रतीत नहीं होती । वृक्षतथी आन्त्रवृद्धि के अतिरिक्त
इसके और निम्न प्रकार होते हैं-(१) और्वी आन्त्रवृद्धि (Fem-
oral Hernia)-जिसके द्वारा और्वी धमनी और मिरा उर
में आती है उस और्वी सुरगा में (Femoral canal) से
होकर आन्त्र उर प्रदेश के ऊपरी भाग में आकर उत्सेध
उत्पन्न करती है । यह आन्त्रवृद्धि छिद्यो में अधिक हुआ करती
है । (२) नाभि की आन्त्रवृद्धि-हृममें नाभि के द्वारा आन्त्रा-
वयव बाहर निकल आता है और नाभिप्रदेश में उत्सेध
दिखाई देता है । मालव्येदन के पश्चात् नाभियाक होने से
यदि नाभि दुबले हो गई हो तो शिशुओं और बालकों में यह
विकार दिखाई देता है जो युवावस्था तक स्वयं ठीक हो जाता
है । नाडीकल्पन ठीक न होने पर चरक में 'भावाम्भावामाणु
पित्ता' और सुश्रुत में 'तुलितताना' नामक विकार से इसी
का उल्लेख किया है । युवावस्था में नाभि के मद्दले उदरसीवनी
के विच्छिन्न होने से छिद्र उत्पन्न होकर उसके द्वारा आन्त्रा-

वयव बाहर आता है । इस प्रकार की आन्त्रवृद्धि स्थूल
में अधिक दिखाई देती है । वृणवृद्धि के कारणों का
विचार-वृणवृद्धि की वृद्धि निम्न कारणों से होती है : १
आन्त्रवृद्धि, मूत्रवृद्धि, रक्तवृद्धि, मेदोवृद्धि, मिरावृद्धि,
प्रकोप और अण्ड के अण्डु । मिरावृद्धि (Varicocele)
सिराजन्त्र वृणवृद्धि है । हृममें अण्डरज्जु के साथ होने
सिराएँ फूलकर मोटी हो जाती हैं । यह वृद्धि दाहिनी
की अपेक्षा बाईं ओर, और वृद्धीवस्था की अपेक्षा युव
में होती है । युवावस्था में हस्तमैथुन से हमकी उत्पत्ति
है और हमकी उत्पत्ति से कीर्षयात भी अधिक होता
वृक्ष के घातक अण्डु के साथ भी यह विकार बहुधा
जाता है । लक्षण-स्पर्श में वृणवृद्धि एक ऐसे घेने की
मालूम होता है कि जिसमें केशुप भरें हों । खाँसने पर सि
में कुछ सरसराहट मालूम होती है । रोगी के सेट जाने
मिराओं का रक्त सौंठ जाने के कारण उत्सेध आप से
नष्ट होता है, जो रोगी के खड़े हो जाने पर रक्त के भर
फिर उत्पन्न होता है । रोगी को हमेशा वृणवृद्धि में भार
हुआ मालूम होता है । वषाजन्त्र वृणवृद्धि और सिर
में फके यह है कि रोगी के खड़े होने के समय बहिर्द्वि-
च्छिद्र अंगुलि से दबाया जाय तो सिरावृद्धि में उत्सेध
होता है परन्तु वषाजन्त्र वृणवृद्धि में नहीं उत्पन्न है
मांश विचार-वृणवृद्धि का रोगी सामने आने पर ।
अण्डरज्जु की भली भाँति टटोल कर देखना चाहिये ।
रज्जु ठीक ठीक प्रतीत न होती हो तो आन्त्रवृद्धि या वषा
हो सकती है । इनकी परीक्षाओं का ऊपर बयान ही शुद्ध
पदि रज्जु ठीक ठीक प्रतीत हो तो केवल वृणवृद्धि का ही नि
होगा, घेले समझना चाहिये । तत्पश्चात् वृद्धि द्रवगर्भ है
घनगर्भ, इसका विचार करना चाहिये । द्रवगर्भवृद्धि दो प्र
की होती है; मूजज और रक्तज । मूजज की परीक्षाएँ (१
और दीपपरिक्ता) पहले बखाने ही हुआ है । रक्तजवृद्धि
वृणवृद्धि पर हुए आघात का इतिहास मिलता है । घनगर्भ
तीन प्रकार की होती है, मेदोज, प्रकोपज और अण्डुज ।
वृद्धि में वृणवृद्धि की स्वभाव बहुत मोटी और खुरदरी होती
तथा शीपद के ज्वरादि लक्षणों का इतिहास मिल स
है । अण्डप्रकोप में अण्डप्रधि मोटी और कठिन होती
तथा पीड़ा भी होती है । पुराना प्रकोप किरंग और राजव
ने होता है । किरंगजन्त्र प्रकोप में केवल वृणवृद्धि का
है, पीड़ा कुछ भी नहीं होती, वृणवृद्धि की स्वाभ मनेदना (Pe
जाती रहती है और वृणवृद्धि मन्त्र प्रतीत होता है । राजव
जन्त्र प्रकोप में वृणवृद्धि के साथ साथ उपवृणवृद्धि और
भी विह्वन होकर गैठीली बनती है, वृणवृद्धि की मनेदना
नहीं होती । किरंग तथा राजवृद्धिजनित विकृति बहु
दोनों वृणवृद्धि में हुआ करती है । अण्डुजन्त्र वृद्धि बहुधा
तरफ के वृणवृद्धि में शुरू होती है, धीरे धीरे बढ़ती है, पीड़ा
होती है, रज्जु भी जल्द विह्वन हो जाती है वृणवृद्धि की लक्षि
प्रधियाँ फूलती हैं । वृणवृद्धि की स्वाभिक परीक्षा के साथ ही
रोगी की सार्वभौमिक परीक्षा तथा रोग की अवधि, रोगी
वायु इत्यादि अनेक बातों की भी जाँच करनी चाहिये ।

उपदंशनिदानम्

तत्रातिमैथुनादतिब्रह्मचर्याद्वा तथा अतिब्रह्म-
चारिणीं चिरोत्सृष्टां रजस्वलां दीर्घरोमां कर्कशरोमां
दृक्कीर्णरोमां निगूढरोमामल्पद्वारां महाद्वारामप्रि-
गापकामामचौक्ष्यसलिलप्रक्षालितयोनिमप्रक्षालित-
योनिं योनिरोगोपसृष्टां स्वभावतो वा दुष्टयोनिं
वयोनिं वा नारीमत्यर्थमुपसेवमानस्य तथा
रजदशनविपशूकनिपातनाद्वन्धनाद्दस्ताभिघाता-
पतुष्पदीगमनादचौक्ष्यसलिलप्रक्षालनादवपीडना-
शूक-मूत्र-वेग-विधारणान्मैथुनान्ते वाऽप्रक्षालना-
देभिर्मैद्रमागम्य प्रकुपिता दोषाः क्षतेऽक्षते वा
व्ययमुपजनयन्ति, तमुपदंशमित्याचक्षते ॥९॥

अतिमैथुन से अथवा अतिब्रह्मचर्य से तथा अतिब्रह्म-
चारिणी, बहुत दिनों से जितकं साथ व्यवय नहीं किया
या है ऐसी, ऋतुमती, लंबे केगवाली, कर्कश केशवाली,
नेविड केशवाली, योनि के भीतरी रोमवाली, जिसकी योनि
कुञ्चित या विस्तृत हो ऐसी, अप्रिय, जिसका मन मैथुन में
हो ऐसी, खराब जल से जिसने योनि धोई हो ऐसी, जिसने
योनि न धोई हो ऐसी, योनिरोगों से पीडित, स्वभाव से ही
नेसकी योनि दूषित या विकृत हो ऐसी स्त्री के साथ अधिक
मैथुन करने से तथा नख, दाँत, विप या शूक के लगने से,
शेख को बांधने से, हस्तमर्दन से, चौपायों के साथ मैथुन
करने से, खराब जल से मिश्र धोने से, शिश्र का पीड़न करने
से, शूक और मूत्र का आवेग रोकने से, मैथुन के पश्चात्
मिश्र न धोने से तथा अन्य कारणों से प्रकुपित हुए दोष लिंग
में प्राप्त होकर क्षतयुक्त अथवा अन्नत (मिश्र में) शोध
अपन्न करते हैं; उसको उपदंश कहते हैं ॥९॥

वक्तव्य—अतिब्रह्मचर्य—बहुत दिनों तक ब्रह्मचर्य का
रालन कर एकाएक उसका अतिक्रमण करके मैथुन सेवन
करना—स्त्रीव्यवयानिवृत्तस्य सहसा भजतोऽथवा । (अष्टांगसंग्रह) ।
निवेगेमामित्यादि—योनि के बालों का वर्णन इसलिये किया है
के इन्हीं की रगड़ से (खराब विवद्वैः) अष्टांगसंग्रह) मैथुन
के समय मिश्र पर जत उत्पन्न होते हैं, जिनके द्वारा दोष
भीतरी प्रविष्ट होते हैं। अचौक्ष्य—अशुचि या खराब। वियोनि—
वयोनि। हस्तजलघान्तरम् । (डलहण) । पारुष्यादिदोषदुष्टयोनि ।
(नाराणचंद्र) । किंवा विकृत योनि (Malformation of
the Vagina) । विपशूक—विप और शूक या विषयुक्त शूक—
शूक-मूत्र-वेग-विधारणान्मैथुनान्ते । (अष्टांगसंग्रह) । शूक—सजन्तुजलमलः,
शूक-मूत्र-वेग-विधारणान्मैथुनान्ते वा । (डलहण) । ऊपरजन्तेषु बाहुल्येन दृश्यमानो
अनुतुल्यकृतिः कश्चिदोपधिविशेषः शूकः । ते च शूकाः मविपनि-
विभेदाद् द्विधा । तत्र विपवन्तो रोगकारिणः । तदुक्तम्—कृष्णानि चित्रा-
न्वथवा शूकानि सविधाणि तु । पातितानि पचन्त्याशु मेद्रं निरवशेषतः ॥
शुक्ति । (इन्दु) । वात्स्यायन के अनुसार शूक वृक्षों पर जन्म
करने वाले जन्तुओं के बाल होते हैं—एवं वृक्षजानां जन्तुनां
शूकैरपि स लिङ्गं दशरात्रं तैलेन मृदितं । म यावज्जीव शूकजी-
वान् शोषो विटानाम् ॥ (कामसूत्र, सप्तमाधिकरण) । श्वतेऽ-

क्षते वा—'मेद्रं' इति शेषः । उपदंश उत्पन्न होने के लिये जत
उत्पन्न होना बहुत आवश्यक है; परन्तु कभी जत का पता
चलता है कभी नहीं चलता, इसलिये 'क्षते वा' शब्द
प्रयोग किया गया है । उपदंश—इसको सॉफ्ट चैंकर (Soft
Chancre) कहते हैं । यह रोग वैसीलस ऑफ ड्यूके (Ba-
cillus of Ducrey) नामक जीवाणु के कारण होता है ।
इस जीवाणु का आविष्कार ड्यूके नामक शास्त्रज्ञ ने सन्
१८८६ में किया । उपदंशपीडित व्यक्ति के साथ मैथुन करने
से उपदंश उत्पन्न होता है । इसमें मैथुन के पश्चात् दूसरे से
सातवें दिन के बीच में जननेन्द्रिय के ऊपर स्फोट उत्पन्न होता
है, जो थोड़े समय में गलकर पीड़ायुक्त ब्रण में परिवर्तित
होता है । यह ब्रण अन्य ग्रंथों में न होकर सदा जननेन्द्रिय
पर पाया जाता है । ब्रण के किनारे साफ कटे हुए होते हैं ।
इसमें कठिनता नहीं होती । इसलिये इसको सट्टुब्रण (Soft
chancre) कहते हैं । इससे कुछ दिनों तक काफी गाढ़ा
पीला और खून मवाद बहता है और यह ब्रण बढ़ता है,
परन्तु यदि सफाई रखी जाय तो वह स्वयं तीन सप्ताह में
भर जाता है । इसका स्राव बहुत विपैला होता है, इसलिये
जिन स्थानों पर लगता है, वहाँ पहले के समान ब्रण बन
जाते हैं । ब्रण के आस पास का भाग लाल रहता है । प्रायः
एक तरफ वदक्षण में गिल्टियाँ निकल आती हैं । इन स्था-
निक लक्षणाओं के अतिरिक्त सार्वदैहिक लक्षण इसमें प्रायः
नहीं होते । उपदंश स्त्री और पुरुष दोनों में होता है—स्त्रीणां
पुसां च जायन्ते उपदंशाश्च दाहणाः । पुरुषों में इसका ब्रण शिश्र
के मणि पर, मणि की त्वचा के बाहर और भीतर, सेवनी
पर तथा मणि के अभ्यन्तरीय मूत्रमार्ग पर होता है । स्त्रियों
में इसका ब्रण भगालिन्द, भगशिक्षिका और लघुभगौष्ठ के
ऊपर होता है । स्राव लग जाने से वृहद् भगौष्ठ, मूलाधार,
चूतड़ और ऊरु के अभ्यन्तरीय प्रदेश में भी ब्रण हो सकते
हैं । यदि योग्य समय पर चिकित्सा न की जाय तो ब्रण
शीघ्रता से फैलता है, जिममें शिश्रमणि त्वचा इत्यादि गल
कर नष्ट हो जाते हैं । वक्षण की गिल्टियाँ पककर फूटती हैं ।
कभी कभी समस्त शिश्र का शोथ होता है—संजातमात्रे न
करोति मूढः क्रियां नरो यो विषये प्रसक्तः । कालेन शोथक्रिमिदाह-
पाकैर्विशीर्णशिलो म्रियते स तेन ॥ (माधवनिदान) । सुश्रुतोक्त
उपदंश का वर्णन चरकसंहिता में 'ध्वजभंगकृत क्लेश्य' के
नाम से योनिव्यापचिकित्सा (चिकित्सास्थान, अ. ३०)
में किया गया है ।

स पञ्चविधस्त्रिभिर्दोषैः पृथक् समस्तैरस्तुजा
च ॥१०॥

यह उपदंश प्रत्येक दोष से तीन, सक्षिपात से एक और
रक्त से एक इस तरह पाँच प्रकार का होता है ॥१०॥

वक्तव्य—पंचविध—वातज, पित्तज, कफज, सक्षिपातज
और रक्तज । चरक में भी ध्वजभंग पाँच प्रकार का होता है,
ऐसा वर्णन किया है—एव पंचविधं केचिद् ध्वजभंगं प्रचक्षते ॥

तत्र वातिके पारुष्यं त्वक्परिपुटनं स्त्वधमेदता
परुषशोफता विविधाश्च वातवेदनाः पैत्तिके ज्वरः

श्वययुः पकोद्भ्रमरसद्भाशस्तीव्रदाहः क्षिप्रपाकः
 पित्तवेदनाद्यः श्लैष्मिके श्वययुः कण्डूमान्
 फटिनः क्षिग्धः श्लेष्मवेदनाद्यः रक्तजे कृष्णस्फोट-
 प्रादुर्भावोऽत्यर्थमखृष्प्रवृत्तिः पित्तलिङ्गान्यत्यर्थं
 ज्वरदाहौ शोथश्च याप्यश्चैव यदाचित् । सर्वजे
 सर्वलिङ्गदर्शनमयदरण्य च शोफसः कृमिप्रादुर्भावो
 मरणं चेति ॥११॥

(दोषानुसार कथन—) इनमें से वातज उपदंश में सु-
 द्रापण, त्वचा में दार, विष में कषापण (या सुघृता),
 गूजन में रुन्नता तथा विविध वातिक वेदनाएँ होती हैं ।
 पित्तज उपदंश में ज्वर, वके गूलर के समान (यर्ष,), तीव्र
 ज्वन, शीघ्रता से पकना और पित्त की (शोषघोषादि)
 वेदनाएँ होती हैं । श्लेष्मज उपदंश में कण्डूयुक्त कठिन और
 दिग्घ्न शोथ तथा कफज वेदनाएँ होती हैं । रक्तज उपदंश में
 काही पुन्सियों की उत्पत्ति, रक्त अधिक बढ़ने की प्रवृत्ति,
 पित्तज उपदंश के स्रवण, अत्यंत तीव्र ज्वर और दाह तथा
 (सुप्त) शोथ होता है और कभी कभी दाप्य हो जाता है ।
 तापिपातिक उपदंश में सब दोषों के लक्षणों का प्रादुर्भाव,
 विष का विदारण, (विष में) कृमियों की उत्पत्ति और
 घृषु होती है ॥११॥

घटपठ्य—उपदंश मैयुनज्वर व्याधि है । अमेजी में
 मैयुनज्वर व्याधि को बीनीरिवाल डिमीक (Venereal dis-
 ease) कहते हैं । चरक सुश्रुतादि प्राचीन ग्रंथों में उपदंश
 या अत्रमंगहत श्लेष्म के अतिरिक्त मैयुनज्वर अन्य कुछ
 व्याधियों का वर्णन मिलता है । पाश्चात्य वैद्यक में घ्राज तक
 उपदंश के अतिरिक्त और पाँच मैयुनज्वर व्याधियों का पता
 चल गया है । (१) सिरेग, गरीसी या सफासक (Syphilis)—
 घ्रासुर्वैदिक ग्रंथों में इसका सर्व प्रथम वर्णन 'फिरेग' के नाम
 से भावयकाश में निम्न प्रकार से मिलता है—'फिरगन्के देते
 बन्धुवैनेव चक्रेव । तन्मारिद्रेण श्पुक्के व्याधिर्निरिवास्तरे ।
 कषतोण विरगन्डा जपते इतिना धुवम् । विरगिणोऽत्रकमणं विर-
 लिय्वा प्रमल ॥ श्पुभितगन्नुने ह्य दोषात्तामत्र श्लेष्म ॥ मोठ
 श्पुदेवेवा श्लेष्मिनात्तं चर ॥ विरगविदिशे वेवे वाद्य भावयन्त-
 र्वा । बरितनमेवश्ववि तेवा निगानि च युवे ॥ तत्र बध विरग
 श्पुदिशेत्नमशुदेत्तक ॥ शुक्तिं प्रनद्रेण गुणवश्वोऽस्ति स श्लु ॥
 तविश्वयन्ता न. श्वदयमान इव श्वयम् ॥ शीघ्र च कनपरेव क-
 सन्थो युवे श्लु ॥ कर्तवे बन्धुवो मत्तकमेवे बधश्च मन्दा ।
 बरितोपेऽप्रिवरकमे विरिदिपुत्रा कवी ॥ बरिनेते भोत्तकथो नरीनो
 निमद्व ॥ बन्धनजन्तु खेदत सप्य श्वदयमन्वव ॥ बरितन्नेते
 जेने शुभ्रदोषद्वैतुं ॥ अतोऽश्वयन्तमेऽश्वयन्तुनय युग ॥
 विरगार्तिद्विज श्वकि के शाप मैयुन कर्तवे मे विरगे उल्पाद्य होता
 है । इस रोग का कारण ट्रिपोनामा पालीडम् (Treponema
 pallidum) नामक बैक्टीरिया बीजाणु है, जो कर्मी की स्राव
 से या अन्य काल से विष की श्लेष्मल त्वचा में उपाक हुए
 धन के द्वारा प्रवेश करता है । तन्वशात् रोग के कसब उल्पाद्य
 होने हैं, जो चार चारव्या में विरग्न दिने गये हैं । प्रथम-
 चरण—मैयुन के दो से द सप्ताह के बीच में (साधारणतया

तीसरे सप्ताह में) जननेन्द्रिय पर एक छोटा सा दाना
 जाता है । पुरुषों में प्राय यह दाना निधमन्थि पर या उ-
 त्वचा के भीतरी अंग पर होता है और स्त्रियों में बृहद् भ-
 के भीतरी अंग पर होता है । कभी कभी आतशक का विप
 जाने से होठ, स्तन, अगुलियाँ, जीभ इत्यादि जननेन्द्रि-
 अंगों पर भी दाना पट जाता है । धीरे धीरे बढ़ कर
 दाना फूट जाता है, और व्रण बनता है । टटोलने से यह ।
 कठिन प्रतीत होता है इसलिये इसका कठिन यण (Mi-
 chanore) भी कहते हैं । द्रव्ये न खूर बहता है, न
 बहता है और न पीड़ा होती है । केवल लसिका का
 स्राव होता है जिसमें रोग के जीवाणु उपस्थित होते
 व्रण प्रायः एक ही होता है । विप्रेता घाव लगने पर भी ।
 व्रण प्राय उत्पन्न नहीं होते । व्रण होने के एक से दो सा
 पीढ़े अघासे की लसिका संघियाँ बढ़कर धंक्क की गोली
 भाँति सन्न होनी हैं । यह संघियाँ म आगम में संयुक्त ह
 हैं, न पीडा देती हैं और न पकती हैं । इस अवस्था में रोग
 विष स्थानिक होता है । द्वितीयवस्था—इस अवस्था में ।
 का विष समल शरीर में पहुँच कर विविध अंगों में वि-
 उत्पन्न करता है, व्रण होने के तीसरे या चौथे सप्ताह के र
 बाह्य त्वचा पर दाने निकलते हैं । इनकी निम्न विशेषताएँ ह
 हैं । (१) वर्ण, आकार और परिमाण में ये एक-से न
 होते । (२) शरीर के दोनों ओर समान स्थानों पर निक
 हैं । (३) गट होने पर इनके स्थान में कुछ समय तक ता
 वर्ण या मांसवर्ण लाल चक्रे होने हैं । (४) इनमें व्याज बहु
 नहीं होती । बाह्य त्वचा की भाँति ओंठ, जीभ, तालु, ग
 इनकी श्लेष्मल त्वचा पर छाले पड़ते हैं । ये छाले गोल, स
 कार, राख के से रंगवाले, बिलकुल साफ कटे हुए किनारे व
 और उत्पान होते हैं । यहाँ त्वचा हमेशा गीली रहती है त
 जहाँ श्लेष्मल और बाह्य त्वचा मिलती है (जैसे मलद्वार, म
 होठ के किनारे इत्यादि) वहाँ चाँड़े चाँड़े मरसे (धर्म) के र
 में दाने निकल आते हैं । अघासे के अतिरिक्त और मारों व
 विशेष करके धीका, कोइनी, कसा इत्यादि की लसिका संघि
 बढ़कर सन्न होती हैं । इन स्राव लक्ष्यों के अतिरिक्त रोग
 की ज्वर आता है, सिर में दर्द होता है, बाल गिरने लग
 हैं, आँसु में तथा हड्डियों में, विशेष करके रात में, दर्द हो
 है, श्व की कर्मा होकर पायदूना और दीर्घव्य आता
 कर्मानिका प्रकार होता है, घामिं दुपत्ती आ जाती है अ
 दृष्टि पट जाती है । तृतीयवस्था—यह अवस्था कभी कभी प्र
 के बाद छ मास में भी प्रारंभ होती है, परन्तु साधारणत
 दो तीन साल पीढ़े होती है । इस अवस्था में त्वचा, उदरव्य
 कविकासंधियाँ, पेशियाँ, अन्त्यापराध, मन्त्रिकावराध, बन्ध
 र्द्वारा, कृष्णसंधि इत्यादि शरीर के विविध भागों में घंथि
 बनने लगती हैं जो गमा (Guma) कहलाती हैं । व
 संघियाँ गारद्वार और क्यटी होती हैं । धीरे धीरे गमा स्राव
 चाँड़े की तरह पट आती हैं और इनसे गोलीला स्राव निकल
 है । त्वचा में होने से गारें सन्न बन जाते हैं । नाक में भी
 से नाक बंद आती है; तालु में होने से बर्दा दिव हो जाता है
 और फिर वाता पीना मुश्किल होता है; मस्तिष्क और गुण्ड

निसे पक्षाघात, पङ्कत्व इत्यादि विकार होते हैं; कान, श्रांख निसे सुनने देखने की शक्ति नष्ट होती है। जिह्वा पर होने वहा फट जाती है और रक्तवाहिनियों में होने से उनकी र मोटी होती है, उनकी लचक जाती रहती है जिसके व खून का भार और वेग महन करने में वे अममर्थ होकर कभी फट जाती हैं या उनके भीतर रक्त जम जाता है। रक्त की वाहिनियों में ये विकार होने से अंगघात; पक्ष-इत्यादि अनेक लक्षण उत्पन्न होते हैं। चतुर्थावस्था— अथवस्था में मस्तिष्क संस्थान पर विशेष असर पड़ता है। अवस्था के दो विशेष रोग होते हैं—? General par- sis of the insane and 2 Locomotor ataxia या ves Dorsalis। प्रथम रोग से रोगी को एक प्रकार का लक्षण हो जाता है। दूसरे से रोगी चलने फिरने से लाचार जाता है और चलते समय लड़खड़ाकर चलता है। रक्त के विष का मस्तिष्कसंस्थान पर असर आक्रमण के तीन महीनों के भीतर भी हो सकता है या पचीस तीस के पश्चात् भी हो सकता है। यह अथवस्थाएँ उपेक्षमाया की हैं। यदि प्रारंभ में अचूक औपधियों से योग्य चिकि- की जाय तो रोग न बढ़कर निर्मूल हो सकता है। कुलज ग—फिरंग ऐसी घोर व्याधि है कि जो न केवल पीड़ित के को हानि पहुँचाती है अपितु उसके होने वाली संतान भी सताती है। कुछ के बारे में आर्यवेद में जो कहा है फिरंग के बारे में सोलह आना सत्य होता है। अतः कुछ दो श्लोक आवश्यक परिवर्तन करके सुखस्मरणार्थ नीचे हैं—शुकस्थानगतं दोषे स्वदारापत्यवाधकः। योनिस्थानगतो स्वभर्तापत्यवाधकः ॥ फिरंगदोषात् स्त्रीपुंसोर्दृष्टशीगिनशुकयोः। अथ तयोर्जातं श्रेय तच्च फिरंगितम् ॥ फिरंग और उपदश की रोगनिश्चिती—फिरंग और उपदश दोनों विकार दूषित पुन के पश्चात् जननेन्द्रिय पर ब्रण या स्फोट के रूप में होते हैं। दोनों की चिकित्सा अलग होती है। इस- से इनको आपस में पृथक् करना बहुत आवश्यक है। अतः नों के व्यवच्छेदक लक्षण नीचे कोष्ठक में दिये जाते हैं।

उपदशज ब्रण

- 1) मैथुन के पश्चात् तीसरे या चौथे दिन दाना उत्पन्न होता है
- 2) माधारणतया अनेक दाने होते हैं
- 3) टटोलने से मृदु प्रतीत होता है
- 4) उसमें दाह होता है तथा प्रचुर पूय, रक्तलसिका इत्यादि बहते हैं
- 5) ब्रण के किनारे साफ कटे हुए, भीतर से कुछ पोले और ब्रण के तल से कुछ ऊँचे होते हैं

फिरंगज ब्रण

- (१) मैथुन के पश्चात् प्रायः तीसरे सप्ताह में दाना उत्पन्न होता है
- (२) माधारणतया एक ही दाना होता है
- (३) तन्वास्थि के समान कठिन प्रतीत होता है
- (४) दाह नहीं होता, तथा उससे लसिका के अति-रिक्त कुछ भी नहीं निकलता
- (५) किनारे न साफ होते हैं, न पोले होते हैं, न तल में ऊँचे होते हैं

- (६) अत्यन्त पीड़ायुक्त
- (७) सूक्ष्मदर्शक से ब्रणसाव की परीक्षा करने पर ड्यूफ्रे का जीवाणु मिलता है
- (८) ब्रणसाव अन्य स्थान पर खचा में सुई से प्रविष्ट करने पर समान ब्रण पैदा होता है
- (९) ब्रण की ओर की जंघासे की ग्रंथियाँ फूलती हैं। वह मृदु, पकने वाली और अत्यन्त वेदनायुक्त होती हैं
- (१०) चिकित्सा न होने से ब्रण अधिक बढ़कर स्थानिक धातुओं का नाश होता है, परन्तु सार्वदैहिक लक्षण प्रायः नहीं उत्पन्न होते
- (६) पीड़ा रहित
- (७) टिपोनेमा पालीडम नामक पेचदार जीवाणु मिलता है
- (८) साव प्रविष्ट करने से समान ब्रण प्रायः पैदा नहीं होता है
- (९) दोनों ओर की ग्रंथियाँ फूलती हैं। वह कठिन, न पकने वाली और वेदना रहित होती हैं
- (१०) चिकित्सा न करने से भी स्थानिक विकृति नहीं बढ़ती, परन्तु विष सर्वशरीर में फैल कर सार्वदैहिक लक्षण उत्पन्न होते हैं

इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि कभी कभी फिरंग के साथ उपदश का या उपदश के साथ फिरंग का उपसर्ग हो सकता है। इसलिये ब्रण में मिश्र स्वरूप के लक्षण मिलने पर भी व्यामोह उत्पन्न होने की आवश्यकता नहीं है। लक्षणों की खूब छान वीन करने से तथा ब्रणसाव की सूक्ष्मदर्शक की सहायता से परीक्षा करने से रोग की निश्चिती हो सकती है। (२) औपसर्गिक पूयमेह या सोजक (Gonorrhoea)— यह तीसरा मैथुनजन्य रोग है। इस रोग का वर्णन आयुर्वेद में नहीं है। कुछ लोग उष्णवात को गोनोरिया समझते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं है। इस रोग का कारण गोनोकोकस (Gonococcus) नामक जीवाणु है, जो सोजकपीड़ित व्यक्ति के साथ मैथुन करने से मूत्रमार्ग में प्रवेश कर शोथ पैदा करता है। मैथुन करने के दो से आठ दिन के अन्दर रोग के लक्षण प्रकट होते हैं, जिनमें शिश्रमणि की सूजन और लाली, मूत्र-मार्ग में जलन, मूत्र त्यागने में पीड़ा, मूत्रमार्ग से खून मिला साव का निकलना, कटिभाग में भारीपन, मलावरोध, ज्वर, बेचैनी इत्यादि लक्षण प्रधान हैं। यदि रोग का इलाज न किया जाय तो दो तीन सप्ताह में रोग की तीव्रता घट जाती है और रोग पुराना हो जाता है। पुरुषों में रोग पूर्व मूत्रमार्ग में प्रारंभ होकर पीछे की ओर फैलता है, और कौपर ग्रंथि, अट्टीला ग्रंथि, वसि, मुष्कशीर्ष, वीर्याशय इनमें शोथ पैदा करता है। यही नहीं जीवाणु रक्त में पहुँचकर संघियों में, हृदय में, स्नायुओं में शोथ पैदा करते हैं। सुजाक गठिया का एक बड़ा कारण है। कभी कभी साव से दूषित हस्त से श्रांख, नासा, गुद इनमें भी शोथ पैदा होता है। रोग पुराना होने पर प्रातःकाल में मूत्रमार्ग से जरा सा चप या मवाद निकलता है, मूत्रद्वार के ओष्ठ चिपक जाते हैं, शिख की पेशियों का शोथ होने से उसमें एक प्रकार की सख्ती आती है और वह कुछ देड़ा (Chordee) हो जाता है, मूत्रमार्ग

में संत्रोच पैदा होकर मूत्ररूप होता है तथा खुल में जहर फैलने के कारण उपर्युक्त उपद्रव भी उत्पन्न होते हैं। स्त्रियों में भी रोग मूत्रमार्ग में प्रारंभ होकर पीढ़े की ओर फैलकर योनि, गर्भाशय, पीजवाहिनी, धीजकोष, उदर इनमें शोध पैदा करता है। यदि गर्भवती स्त्री को सोजाक हो या सोजाक पीड़ित स्त्री गर्भवती हो तो प्रसूति के समय शिशु की आँखों में मक्काद रज्य जाता है और अभिष्यन्द पैदा होकर शिशु अघा हो जाता है। इसको नवनात नेत्राभिष्यन्द (Ophthalmia Neonatorum) कहते हैं। नवनात बालक अघे होने का सोजाक एक बड़ा भारी कारण है। प्रसूति के पूर्व सोजाक पीड़ित माता की योनि पहले साफ कर लेनी चाहिये और जन्म के पश्चात् बालक की आँखें बंदकर उनमें २% लिक्वर नायटेड सोषण के दो बूँद डालने चाहिये। इससे वासक अघा होने से बचेगा। पुरुषों में स्त्रीव्रता और स्त्रियों में बाल्यपन का सोजाक एक बड़ा भारी कारण है। किंग्म की अघेना सोजाक से पीड़ित रोगी का अधिक कष्ट सहन करने पड़ते हैं, परन्तु सतति में इसका अस्तर नहीं होता। (३) गुणवद्वितीय कण्डु— (Granuloma Genito Inguinale)—यह चौथा मैथुनजन्य रोग है। इनमें शिथ या भग पर एक दाना पड़ता है जो फूटकर मज्जा बन जाता है। मज्जा का पृष्ठ भाग रक्तवर्ण रोहण-धातु के अकुतों से भरा हुआ और किंचित् उन्नत होता है। मज्जा केवल एक दिशा में फैलता है और जयासी में पहुँच जाता है। जयासे की प्रथिया नहीं फैलती। मज्जा में ख्राज बहुत होती है। ख्राज के कारण खचा ढिल जाती है, बाल गिर जाते हैं। बहुधा मज्जा सूखा होता है, परन्तु कभी कभी निर्गंध पतला ख्राज निकलता है। शकल में मज्जा कैंसर या खिले हुए गाभी के सूक्ष्म धंशुकों के समान होता है। मज्जा ठीक होने पर मज्जा वस्तु में बहुत सिक्कुडन पैदा होती है। इस सिक्कुडन के कारण स्त्रिया की योनि तग होकर मैथुन, मासिक धर्म और गर्भधारणा इनमें रुकावट पैदा होती है। पुरुषों में शिथ टेड़ा होकर मैथुन अयभव हो जाता है। गुद या मूत्रमार्ग के पाम मज्जा होने से इनका मक्काद पैदा होता है। सुश्रुत के अर्थ निदान के १७वें सूत्र में और अष्टांगसमूह के गुणरोगविज्ञानीय (उत्तरस्थान क ३८व) अध्याय में 'लिंगार्थ' नामक एक रोग वर्णन किया है। 'शियाधुनिककेरीण मरिनागुज पथा' की का प्रमग इस रोग का एक कारण है। इसमें उपर्युक्त रोग के लक्षणों के अनुसार शिथ या योनि पर छत्रसिद्धि मांसांडर उत्पन्न होते हैं, उनमें कण्डु होती है, ख्राज निकलता है और उपेक्षा करने से योनि, शिथ, आंगव, पुरुष इनका नाश होता है—आधने कुपितेनेपेयुचकपिगिशा अने। कनरिबिवा मद्रम कण्डुना मामरीकर ॥ पिंठलासमवा योनि तरक्ष छत्रसिद्धिभा । नगीसुधुभया प्रनिन मद्रमुम्भमगतैवम् ॥ इन लक्षणों का विचार कान से लिंगार्थ बहुधा यही रोग हो सकता है। (४) कद (Chronic Fulo Lympho granuloma)—यह पाँचवाँ मैथुनजन्य रोग है। इसमें गुसेन्द्रिय पर जिसकी ओर ध्यान आकर्षित हो सके इस प्रकार का दाना या मज्जा नहीं बनता है। धीरे धीरे एक तरफ की जयासे की प्रथिया निकल जाती है। एक दो सप्ताह के बाद

उमके आस पाम भी शोध उत्पन्न होकर वे आपस में तथा ऊपर की खचा के साथ समक हो जाती हैं। ऊपर की खचा में भी सूजन आती है। कुछ दिनों के बाद सूजन पटक जाती है परन्तु प्रथियों का समूह पकता है। यह समूह कई स्थानों में पकता है और फूटने के बाद अनेक नाडी मज्जा बनते हैं, जिनसे भाड़ा मलाई का सा मवाद निकलता है। प्रारंभ में पेशेनी, सिरदूद, थवसाद, उपर, शीन, स्पंद, अरुचि इत्यादि लक्षण होते हैं, परन्तु कुछ दिनों के बाद रफा होकर केवल सप्या के समय ताप जरा सा चढ़ता है। आधुर्वेद में इस नामक रोग तन्त्रान्तर में वर्णन किया है—अयमिष्यन्दिउरुअसेरनात्रिचय गत । वरोति प्रथिवन्दोष दोषे वइक्षणसथिषु । उर-वइक्षणसदृश त मप्रमिति निरिदिने ॥ कदाचिद् प्रथ यही रोग हो सकता है।

स्त्रीपदनिदानम्

कुपितास्तु दोषा वातपित्तश्लेष्माणोऽथःप्रपन्ना यइत्तयोरजानुजह्वाख्यवतिष्ठमानाः कालान्तरेण पादमाश्रित्य शनैः शोफं जनयन्ति, तं स्त्रीपदमित्याचक्षते । नञ्चिचिधं—वातपित्तकफनिमित्तमिति ॥१२॥

कुपित हुए वात, पित्त, कफ दोष नीचे की प्रास होकर जवाया, ऊरु, जानु और पिंडली में स्थित हुए समय वाकर पैरो का आश्रय करके धीरे धीरे शोथ उत्पन्न करते हैं। उसे स्त्रीपद (श्रीलाय) कहते हैं। यह स्त्रीपद वात, पित्त और कफ के कारण तीन प्रकार का होता है ॥१२॥

वक्तव्य—भीपर—हमकी प्लीफिस्टियासिस (Elephantiasis) कहते हैं। फायनेरिआ सांग्वीनिस होमोनिस (Filaria sanguinis hominis) नामक कृमि के कारण स्त्रीपद होता है। युवा कृमि को फायनेरिआ वैकोप्टाई कहते हैं। ये कृमि श्वेतवर्ण, पाददर्मा, बेगमरुध पतने, और ३-४ इंच लम्बे होते हैं। स्त्री और पुरुष कृमि भिन्न भिन्न होते हैं। ये हमेशा आयस में पेश की भाँति मुठे हुए इस तरह से रहते हैं कि इनकी स्वतन्त्र करना कठिन होता है। दोनों का पिठला सिरा पोषा रहता है, सिर चौड़ा रहता है और बीच में मुख होता है। स्त्रीकृमि पुन्यकृमि की अपेक्षा दुगुना लम्बा और अधिक मोटा होता है और जगनेन्द्रिय सिर के समीप रहता है। ये कृमि रमकृन्धा, रसायनी, ह्यिका प्रथियाँ, रसायनीजायक इत्यादि में रहते हैं। स्त्रीकृमि अपनी जीविनावस्था में समय समय पर अल्पस्य सूक्ष्म कृमि (Microfilaria) उत्पन्न करती है, जो रक्त और हृत्तिका वाहिनियों में संचार करते रहते हैं। इन सूक्ष्मकृमियों की लम्बाई ३-४ इंच के लगभग होती है और चौड़ाई स्याल कण के बराबर होती है। ये किंचित् गतियुक्त होते हैं, परन्तु इनमें स्थानान्तर करने की शक्ति नहीं होती। इनकी एक विशिष्ट बात यह है कि ये खचा के रक्त में दिन में नहीं पाये जाते। सप्या के समय से थोड़े थोड़े रक्त में आने लगते हैं, और ज्यों ज्यों रात्रि गुजरती जाती है, रक्त स्थानों इनकी संख्या बढ़ती जाती है। मध्यरात्रि के समय इनकी संख्या सब से अधिक होती है।

एक मूत्र रक्त में ये ३००-६०० तक पाये जाते हैं । इसके रक्तमैत्रस्य नामक भागज ने अनुमान किया है कि समस्त रक्त की संख्या पाँच करोड़ के लगभग ही रहती है । दो वाद इनकी संख्या फिर घटती जाती है और आठ मातःकाल तक रक्त में ये बिलकुल नहीं मिलते । दिन । निवास फुफ्फुस, वृक्क तथा बड़ी बड़ी रक्तवाहिनियों है । रात्रि की इस घटना के कारण इस प्रकार के का नाम रात्रि का (Nocturna) रक्त्वा रखा गया है । दूसरी जाति के कृमि दिन में मिलते हैं । उनका नाम (Diurna) रक्त्वा रखा है । दूसरी जाति के कृमि त रक्त में मिलते हैं । भारतवर्ष में रात्रि के कृमि हैं । इस विचित्र घटना का कारण यह हो सकता है कि कृमियों की वृद्धि के लिये जिस मच्छर की आवश्यकता है वह क्यूलेक्स फेटीजीनय नामक मच्छर रात्रि का काटता है । मच्छर के शरीर में सूक्ष्मकृमियों का जीवन—पचैरिशा से पीड़ित रोगी को क्यूलेक्स जाति की रात में काटती है तो उसके पेट में रक्त के साथ बहुत म कृमि प्रविष्ट होते हैं । वहाँ पहुँचने के बाद ये अपने से बाहर निकल कर वक्ष की पेशियों में घुस जाते हैं । १०-२० दिनों के भीतर इनमें विशेष परिवर्तन होकर वर्धित होते हैं । इस अवस्था में इनकी लम्बाई ५ इंच के होती है । पक्षपेशियों से ये मच्छरी के शरीर में फैलते नु बहुत से शुंडा के पास पहुँच जाते हैं । जब मच्छरी व्यक्ति को काटती है तब ये शुण्डा में से निकल कर पर आते हैं और काटने के क्षिप्र में से त्वचा में घुस-सिका द्वारा लसिकावाहिनियों में और अंधियों में स करते हैं । करीब छः महीने के पीछे ये युवा कृमियाँ र्वर्तित होते हैं । स्त्रीकृमि अस्वस्थ सूक्ष्म कृमियों की से करने लगती है । इस प्रकार इस कृमि का जीवनचक्र जारी रहता है । शीपदवाहक मच्छर—इसका नाम क्यू-फेटीजन्स है । वह घरेलू मच्छर है जो मकान के पास त हुप खराब पानी में अण्डे देता है । मच्छरी रोग फैलाने काम करती है । इसकी छाती उदर पर झुकी रहती है त वह कुवड़ा सा दिखाई देता है । दीवार पर बैठते समय त उदर दीवार से समान्तर होता है । शुंडा शरीर के सीधी न रहकर कोन बनाती है । पंख के ऊपर चित्तियाँ होती । मच्छरी रात्रि के समय काटती है । शीपद की शि—शीपद में पैर तथा अन्य अंगों पर मख्त सूजन आ ती है जो दवाने से दबती नहीं—शिलावत् पद शीपदम् । शनैः तं शोफं शीपदं तत् प्रचक्षते । (अष्टांगसंग्रह) । इस प्रकार सूजन कैसे उत्पन्न होती है, इस विषय का ज्ञान अभी तक ठीक नहीं हुआ है । जब तक लसिकावाहिनियाँ अनव-रहती हैं तब तक युवा और सूक्ष्म कृमियों की उपस्थिति कुछ भी खराबी नहीं होती । परन्तु युवा कृमियों के कारण लसिका के प्रवाह का मार्ग अवरोध हो जाता है तब त्वद उत्पन्न हो सकता है । कृमि एक सहायक कारण है । के कारण त्वचा, उपत्वचा, और लसिकावाहिनियों में सैकासंचय होने से उनमें कमजोरी आ जाती है, जिससे

अन्य जीवाणु (Cocci) उनमें मोथ उत्पन्न करके कठिन स्वरूप की मूजन उत्पन्न कर सकते हैं । शीपद के आवेग बार बार नियत समय पर आया करते हैं । आवेग के समय उबर आया करता है । उबर के साथ साथ टाँगों पर या वृष्यां पर सूजन भी आ जाती है और सूजन के स्थान में पीड़ा होती है । कुछ दिनों के बाद उबर अच्छा हो जाता है, परन्तु कुछ मूजन शेष रहती है जो प्रत्येक आवेग के समय अधिका-धिक बढ़ती जाती है और अन्त में वह भग मोटा पड़ जाता है । शीपद अधिकतर टाँगों पर और फोते पर होता है परन्तु हाथ, शिखा, भग, म्मन, वृषण इत्यादि पर भी हो सकता है—यः सञ्चरो वटश्लेषो भृशार्तिः शीथो नृणां पादगतः क्रमेण । तच्छीपदं स्यात्, कर्कणैश्च शिथौष्ठनासास्त्रिपिके निदाहः ॥ (माधव-निदान) । जब वृषण की त्वचा मोटी पड़ जाती है तब उसको मेदोम वृषणावृद्धि कहते हैं । जब कृमि उदरस्थ बड़ी बड़ी रस-वाहिनियों में निवास करके रसप्रवाह में रुकावट उत्पन्न करते हैं तब रस उदरगुहा में संचित होकर जलोदर उत्पन्न होता है, जब रस वस्ति में आता है तब पिष्टमेह उत्पन्न होता है, और जब रस ग्रान्ध्र में आता है तब ग्रन्थिसार उत्पन्न होता है । इस प्रकार ये कृमि स्थान स्थान पर रसप्रवाह में बाधा उत्पन्न करके विविध रोग उत्पन्न कर सकते हैं ।

तत्र, वातजं खरं कृष्णं परुषमनिमित्तानिलरुजं परिस्फुटति च बहुशः; पित्तजं तु पीतावभासमी-पन्सृदुज्वरदाहप्रायं च; श्लेष्मजं तु श्वेतं स्निग्धा-वभासं मन्दवेदनं भारिकं महाग्रन्थिकं कण्टकैरुप-च्यितं च ॥१३॥

(श्लेषों के अनुसार शीपद के लक्षण—) इनमें वातज शीपद खुरदरा, कृष्णवर्ण, कठिन, अकारण वेदना होने वाला और बहुत दरास्युक्त होता है । पित्तज शीपद किंचित् पीतवर्ण, किंचित् मृदु, ज्वर और दाहयुक्त होता है । श्लेष्मज शीपद श्वेतवर्ण, चिकना, अल्पवेदनायुक्त, भारी, गंठीला और अंकुरों से भरा होता है ॥१३॥

तत्र संवत्सरातीतमतिमहद्वल्मीकजातं प्रसृत-मिति वर्जनीयानि ॥१४॥

(असाध्यता—) इनमें एक वर्ष से पुराना, अत्यंत बढ़ा हुआ, वल्मीक के समान (अनेक शिखरों और गाँडों से युक्त) हुआ, भारने वाला शीपद असाध्य होता है ॥१४॥

वक्तव्य—अतिमहत्—जिसका परिमाण अत्यंत बढ़ गया हो । कलकत्ते के एक रोगी का वृषण परिमाण से इतना बढ़ गया था कि वह उसका उपयोग टेबल की भाँति लिखने के लिये करता था । वल्मीकजातं—वल्मीकवज्जानय, अतिपहुतर-शिखरैर्ग्रथिभिरुपचितत्वात् ॥ (उल्हास) । प्रसृतम्—त्वचा विदीर्णा होकर जिससे लसिका का स्राव होता रहता है । इससे पूय-जनक जीवाणुओं का त्वचा, उपत्वचा और लसिकावाहिनियों में उपसर्ग होकर रोगी की मृत्यु हो सकती है । अष्टांगसंग्रह में 'सपरिस्फुति' लिखा है—पिच्छिलवल्मीकवर्णम् । (इन्दु) ।

भयन्ति चात्र—

श्रीण्यप्येतानि जानीयाच्छ्रीपदानि कफोच्छ्रयात् ।

गुरुत्वं च महत्त्वं च यस्माद्वास्ति विना कफात् ॥१५॥

ये तीनों ही प्रकार के श्लेष्मिक कफ की अधिकता से (होते हैं ऐसे) जानने चाहिये, क्योंकि कफ के बिना मीठा-पन और भारीपन नहीं हो सकता ॥१५॥

पुराणोदकभूयिष्ठाः सर्वत्रेषु च शीतलाः ।

ये देशास्तेषु जायन्ते श्लेष्मिकानि विशेषतः ॥१६॥

जो देश पुराने जल से भरे हैं तथा सब श्रुत्यों में शीतल हैं, उनमें श्लेष्मिक विशेषतया हुआ करते हैं ॥१६॥

वक्तव्य—इस श्लोक में श्लेष्मिक का विशेष प्रचार किस प्रकार के देशों में होता है, उसका सन्निध निर्यय किया है। इस व्यवस्था की अंग्रेजी में Geographical distribution and prevalence कहते हैं। पुराणोदकभूयिष्ठा—जहाँ बहुत दिनों का पानी इकट्ठा होता है ऐसा देश, अर्थात् अनूप देश—अनूपरेष्ठे सलिल पतित बहुदक निवृत्तया न शेषमुपायति । (मधु-काश्याख्या)। चरकसंहिता में अनूप देश का 'सरित्पानमुद-पवन्तप्रपय' यह एक लक्षण दिया है। इन सब लक्षणों का विचार करने पर श्लेष्मिकोत्पत्ति के लिये योग्य भूमिभाग यह होता है, जिसमें अभीत नीची सतह की होने के कारण वर्षा का पानी इकट्ठा होता है तथा जिसमें नदी और समुद्र का किनारा बहुत होता है। जैसे—हिमालय की तराई, सयुक्त प्रान्त का उत्तर और पूर्व भाग, बिहार, बंगाल, उड़ीसा, मद्रास का पूर्व किनारा, त्रावणकोर, कोचीन, मंगलोर तथा बर्मा का पश्चिम किनारा, काठियावाड़ का समुद्रसमीपवर्ती प्रदेश इत्यादि। इन प्रदेशों में रहने से तथा प्रवास करने से भी श्लेष्मिक हो सकता है—श्लेष्मिक आयने तत्र देशेऽनूपे घृण भ्रमात् । (आश्रांगसमाह)। शीतल, आर्द्र, जलभूयिष्ठ प्रदेश श्लेष्मिकवाहक मण्डलों की उत्पत्ति में सहायता देता है तथा तस्त्रिवासी लोगों की प्रकृति श्लेष्मिक के लिये अनुकूल बनाता है। इस समय में भी उत्पन्न प्रदेशों में श्लेष्मिक रोग विशेषरूप से दिखाई देता है।

पादयद्दस्तयोश्चापि श्लेष्मिकं जायते नृणाम् ।

कर्णाक्षिनासिकौष्ठेषु केचिद्विच्छन्ति तद्विद्वः ॥१७॥

अनि सुश्रुतसंहिताया निदानव्याने इन्द्रियुपदेशश्लेष्मिकनिदाने नाम द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

(श्लेष्मिक के स्थान—) पैरों की भाँति मनुष्यों के हाथों में भी श्लेष्मिक होता है। कई श्लेष्मिकविद्व कान, नेत्र, नासिका और होठ इनमें (भी श्लेष्मिक होता है, ऐसा) मानते हैं ॥१७॥

वक्तव्य—श्लेष्मिक का मुख्य लक्षण जो घन शोथ यह पैर के अनिद्रिक हाथ, बर्ण, नासादि स्थानों में हो सकता है, यह प्राकृतिक वैज्ञानिक व्योम से भी सिद्ध हुआ है।

अनि आकस्मिकता मोचिद्विद्वान्नेन विरचिनायाम्युनेदरहस्यस्यविक्रमां सुश्रुतभाष्येणानि निदानस्थाने इन्द्रियुपदेशश्लेष्मिकनिदाने नाम द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

त्रयोदशोऽध्यायः ।

अथातः शुद्धरोगाणां निदानं व्याप्यास्यामि यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से शुद्ध रोगों के निदान का व्याख्यान करूँगा, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

वक्तव्य—शुद्धरोग—इसके निम्न अर्थ हो सकते हैं (१) विशेष वर्गीकरण के अनुसार जिनका बर्ण भी समान नहीं हुआ है, ऐसे रोग । (२) नैऋत्य दृष्ट्यादि के अनुसार विस्मृत रूप से वर्णन न करके सन्क्षेप में वर्णन किये हुए रोग । (३) जिनकी हेतुलक्षणाधिकित्वा यद्गत साधारण होती है, ऐसे रोग । (४) शुद्ध रोग के नाम से वर्णन किये गये पारिभाषिक संज्ञा ।

समासेन चतुश्चत्वारिंशत् शुद्धरोगा भयन्ति तद्यथा—अजगह्निका, यवप्रख्या, अन्धालस्य विघृता, कच्छपिका, घलमीकम्, इन्द्रघृता, पनसिक पापाण्यगर्दभः, जालगर्दभः, कक्षा, पिस्फोटक अभिरोहिणी, चिप्यं, कुनखः, अनुशयी, विद्वरिका, शर्करावृद्धं, पामा, विचर्चिका, रक्तपादाकारिका, कदरम्, अलसेन्द्रलुत्तौ, दाहण्यक अरंषिया, पलितं, मसूरिका, यौवनपिडका, पश्चिमीकण्टक, जतुमण्डिः, मशुकाः, धर्मकीलः, तिलकालको, न्यच्छं, व्यङ्गः, परिवर्तिका, अक्पाटिका निरुद्धप्रकाशः, स्निहकृद्गुद्ः, अहिपूतनं, वृषण्यकच्छुः, गुद्भ्रंशश्चेति ॥२॥

(संख्या और नाम—) सन्क्षेप से चौवालीस शुद्ध रोग होते हैं। जैसे—१ अजगह्निका, २ यवप्रख्या, ३ अन्धालस्य ४ विघृता, ५ कच्छपिका, ६ घलमीक, ७ इन्द्रघृता, ८ पनसिका ९ पापाण्यगर्दभ, १० जालगर्दभ, ११ कक्षा, १२ विस्फोटक १३ अभिरोहिणी, १४ चिप्य, १५ कुनख, १६ अनुशयी, १७ विद्वरिका, १८ शर्करावृद्ध, १९ पामा, २० विचर्चिका, २१ रक्तपा, २२ पादाकारिका, २३ कदर, २४ अलस, २५ इन्द्रघृता २६ दाहण्यक, २७ अरंषिका, २८ पलित, २९ मसूरिका, ३० यौवनपिडका, ३१ पश्चिमीकण्टक, ३२ जतुमण्डि, ३३ मशुका ३४ धर्मकील, ३५ तिलकालक, ३६ न्यच्छ, ३७ व्यङ्ग, ३८ परिवर्तिका, ३९ अक्पाटिका, ४० निरुद्धप्रकाश, ४१ सनिहकृद्गुद् ४२ अहिपूतन, ४३ वृषण्यकच्छु, और ४४ गुद्भ्रंश ॥२॥

वक्तव्य—चतुश्चत्वारिंशत्—चत्वारिंशत् के उत्पत्ति से आश्रय ने तैत्तलीम शुद्धरोग वर्णन किये हैं। चत्वारिंशत् के अर्थ विद्वान् विद्वान् करके, अंधालस्य अलसी करके, मण्डक गण करके और न्यच्छं लाम्बन करके पण्यन किया है। पामा की विचर्चिका सुश्रुत के अनुसार कुछ में वर्णन किये हैं। इन्द्रघृता पणित दाहण्यक और अरंषिका गिरोरोगाभ्याय में वर्णन किये हैं। परिवर्तिका, अक्पाटिका और निरुद्धप्रकाश शुद्धरोग

वर्णन किये हैं । ग्रहिपूतन 'पृष्ठासुदकुट्टं च' करके बाला-
प्रतिषेध (उत्तरतन्त्र) में वर्णन किया है । अनुशयी,
सा, पाददारिका, वृषणकच्छु और गुदग्रंथ इनका वर्णन
भट में नहीं मिलता । निम्न क्षुद्ररोग वाग्भट में अधिक
ते हैं । (१) गर्दभी—ताभ्यामेव च गर्दभी । मण्डला विपुलो-
वा सरणपिटिकाचिता ॥ (२) गंधनामा—पिताद्भवन्ति पिटिकाः
सा लाजोपमा घनाः । तादृशी महती त्वेका गन्धनामेति कीर्तिता ॥
(३) राजिका—घर्मस्वेदपरीतेऽङ्गे पिटिकाः सरुजो घनाः । राजिका-
संस्थानप्रमाणे राजिकाह्वयाः ॥ इसको Prickly heat या
ichen Tropicus कहते हैं । (४) प्रसुप्ति—वायुनोदरीतः
ष्मा त्वचं प्राप्य विशुध्यति । ततस्त्वग्जायने पाण्डुः क्रमेण च विचे-
ना । अल्पकण्डूरविक्रेदा सा प्रसुप्तिः प्रसुप्तिनः ॥ इसको स्वाप या
जला और अंग्रेजी में Local anesthesia या Numbness
कहते हैं । (५) इरिवेल्लिका—त्रिलिंगा पिटका वृत्ता जत्रूर्ध्वमिरि-
ल्लिका ॥ माधवनिदान में इरिवेल्लिका का लक्षण—पिटका-
समांगस्थां वृत्तामुग्रजाज्वराम् । सर्वात्मिकां सर्वेल्लिां जानीया-
दिरिवेल्लिकाम् ॥ (६,७) । उल्कोठ और कोठ—असम्यग्भवमनोदीर्घ-
पेक्षेणामात्रनिग्रहैः । मंडलान्यतिकण्डूनि रागवन्ति बहूनि च । उल्कोठः,
असुबद्धस्तु कोठ इत्यभिधीयते ॥ इसको Urticaria या Ange-
sneurotic oedema कहते हैं । उल्कोठ अलर्गी (Allergy)
नामक अवस्था का एक प्रकट लक्षण है । उल्कोठ विशेष
वायु द्रव्यों (जो प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न भिन्न हो सकते हैं)
के सेवन से, क्षीनीन संख्या तथा अन्य ओषधियों के सेवन से,
उदरस्थ कृमियों (केंचुए) से, खटिक (Calcium) की कमी
से तथा कुछ मानसिक उत्तेजनाओं से उत्पन्न होता है । इन
कारणों से खचा में हिस्टामाइन या तत्सदृश दूसरा रासाय-
निक पदार्थ उत्पन्न होकर वह स्थानिक धमनिकाओं और
केशिकाओं को विस्फारित करके उनकी दीवार में से अल्पयू-
मिन युक्त लसिका का स्राव कराता है जिससे स्थान स्थान
पर मण्डल (Wheals) बनते हैं । इन मण्डलों की विशेषता
यह होती है कि ये शीघ्रता से उत्पन्न भी होते हैं और शीघ्रता
से मिट भी जाते हैं—वरदीदृक्कण्डूमांल्लोहितोऽसकफपित्तात् । क्षणि-
कौत्पादविनाशः कोठ इति निगद्यते तज्जैः ॥ (भालुकितन्त्र) ।
माधवनिदान में रकसा का वर्णन नहीं है । मसूरिका और
विस्फोट का स्वतन्त्र विस्तृत वर्णन किया है । पामा और
विचर्षिका का कुछ में वर्णन किया है । चर्मकील का अर्थ में
वर्णन किया है । गर्दभिका, इरिवेल्लिका, गन्धमाला, नीलिका
और वराहदंष्ट्रे ये क्षुद्ररोग अधिक वर्णन किये हैं । इनमें से
पहले तीनों का वर्णन ऊपर आया है । मुख के अतिरिक्त
स्थान के व्यंग को नीलिका कहा है—व्यंग वज्रादन्यत्र नीलिका ।
वराहदंष्ट्रे—सदाहो रक्तपथंनतस्त्ववपाकी तीव्रवेदनः । कण्डूमान्
ज्वरकारी च स स्याच्छुकरदंष्ट्रकः ॥

स्निग्धा सवर्णा ग्रथिता नीरुजा मुद्गसन्निभा ।
कफवातोत्थिता श्लेया बालानामजगल्लिका ॥३॥

(अजगल्लिका—) चिकनी, त्वचा के वर्ण की, गाँठदार,
पीड़ारहित, मूँग के समान (मोटी), कफ और वात

से बालकों में उत्पन्न हुई (पिटका) अजगल्लिका समझनी
चाहिये ॥३॥

वक्तव्य—बालानाम—प्रायोभावित्वाद्युक्तं, तेनाबालानामपि
दृश्यमाना संगच्छन्ते । (मधुकोगन्याख्या) ।

यवाकारा सुकटिना ग्रथिता मांससंश्रिता ।
पिडका श्लेष्मवाताभ्यां यवप्रख्येति सोच्यते ॥४॥

(यवप्रख्या—) कफ और वात से मांस में उत्पन्न हुई
जों के आकार की (बीच में स्थूल और दोनों ओर नोकीली),
बहुत कठिन, गाँठदार पिडका यवप्रख्या कहलाती है ॥४॥

घनामवक्रां पिडकामुञ्जतां परिमण्डलाम् ।
अन्धालजीमल्पपूयां तां विद्यात् कफवातजाम् ॥५॥

(अन्धालजी—) कठिन, मुँहविरहित, ऊपर को उठी
हुई, गोल और अल्पपूययुक्त पिडका अन्धालजी है; यह कफ
और वात से होती है ॥५॥

वक्तव्य—इसको वाग्भट ने अलजी और माधव ने
अन्त्रालजी कहा है । भोजवचनानुसार यह स्नायुगत होती
है—श्लेष्मानिलै श्रितौ स्नायु पिटकां परिमण्डलाम् । दुष्टौ जनयतोऽव-
वत्रामल्पपूयामकण्डुराम् । आमोदुम्बरसंकाशां विद्यादन्त्रालर्जौ तु ताम् ॥

विवृतास्यां महादाहां पकोडुभ्वरसन्निभाम् ।
विवृतामिति तां विद्यात् पित्तोत्थां परिमण्डलाम् ॥६॥

(विवृत—) चौड़े मुँहवाली, अत्यंत जलन (और
ज्वर) करने वाली, पके गूलर के समान (वर्ष की), और
गोल पित्तजन्य (पिडका को) विवृता समझना चाहिये ॥६॥

ग्रन्थयः पञ्च वा पड्डा दारुणाः कच्छपोञ्जताः ।
कफानिलाभ्यामुद्भूतां विद्यात्तां कच्छपीमिति ॥७॥

(कच्छपी—) कफ और वात से उत्पन्न हुई, कछुवे फं
(पीठ के) समान उन्नत, कठिन, पाँच या छः अँगुलियों (के
समूह) को कच्छपी समझना चाहिये ॥७॥

पाणिपादतले सन्धौ ग्रीवायामूर्ध्वजजुणि ।
ग्रन्थिर्वल्मीकवद्यस्तु शनैः समुपचीयते ॥८॥

तोदक्रेदपरीदाहकण्डूमन्द्रिर्वणैर्वृतः ।
व्याधिर्वल्मीक इत्येष कफपित्तानिलोद्भवः ॥९॥

(वल्मीक—) हस्ततल में, पादतल में, 'जोड़ों में, ग्रीवा
में और जत्रु के ऊर्ध्व प्रदेश में जो ग्रंथि साँप की बाँधी के
समान धीरे धीरे बढ़ती है ॥८॥ जो पीड़ा, स्राव, दाह और
कण्डू इनसे युक्त ग्रंथों से व्याप्त होती है वह कफ, वात और
पित्त से उत्पन्न हुई व्याधि वल्मीक है ॥९॥

वक्तव्य—माधवनिदान में वल्मीक के निम्न लक्षण
अधिक मिलते हैं—सुखैरनेकैः क्षुत्तितोदक्रेदिविषर्षवत् सर्पति चोन्न-
ताग्रैः । वल्मीकमाहुर्मिपजो विकारं निष्प्रत्यनीकं चिरजं विशेषात् ॥
माधवाचार्य और सुश्रुत के लक्षणों को मिलाकर वल्मीक का
जो स्वरूप बनता है उसका बहुत कुछ साम्य एक्टिनोमाय-
कोसिस और मायसीटोमा या मदूरापाद (Actinomyces
and mycetoma or madura foot) नामक विकारों के
साथ होता है । ये दोनों विकार एक्टिनोमाइस (Actino-
myce) नामक जीवाणु के कारण होते हैं । वल्मीक की भाँति

ये पादनल, हाथ, जानुमधि, हनुसधि बलक (जम्बू) मीवा इत्यादि स्थानों में होते हैं, बन्मीक के समान आकार में होते हैं, अत्यन्त चिरज (Chronic), विमर्ष के समान तन्निधि से फैलने वाले, निष्प्रतिक्रिय, अनेक पूययुक्त नारी प्रणों से युक्त और मर्मस्थानों पर प्राक्कमण करने से घातक होते हैं। रोग स्थानिक होता है, उसमें सर्वांगिक लक्षण कुछ भी नहीं होते। इन सब भागों का विचार है। यह मासूम पदना है कि बन्मीक बहुधा यही विचार है।

पंचकणिकयन्मधये पिडकाभि समाचिताम् ।

इन्द्रवृद्धा तु तां विद्याद्वातपित्तोत्थितां भिषक् ॥१०॥

(इन्द्रवृद्धा—) पञ्चवीजकोष की भाँति जो (दाड़ी दाँटी) कुन्तियों से म्यास होती है, वह वात और पित्त से उत्पन्न हुई पिडका इन्द्रवृद्धा समझनी चाहिये ॥१०॥

कणौ परिसमन्ताद्वा पृष्ठे वा पिडकोप्ररुक् ।

शालूकवत्पनसिका तां विद्याच्छ्लेष्मवातजाम् ॥११॥

(पनसिका—) कान के ऊपर, आसपास या पीठ पर तीव्र पीडा युक्त कमलकदक समान (कठिन), वात कफ से उत्पन्न हुई पिडका पनसिका समझनी चाहिये ॥११॥

वक्तव्य—कणौ परिसमन्ताद्वा—श्रीकण्ठदत्त इसका अर्थ कान के भीतर ऐसा करते हैं—एषा भोजे 'ममस्तन' इति वचनात् कर्णय बहिरपि भवतीति केचिद् व्याचक्षते । तत्र न सम्यक् समन्तत इत्यस्य कर्णाभ्यन्तर एवोपपन्नत्वात् । (मधुकोशम्याख्या) । शाब्दिकवत्—कमलकदक समान कठिन तथा उसके आकार की—कठिनोपरुक् । शाब्दिकभा पनसिका । (अष्टांगसमह) ।

हनुसन्धौ समुद्भूत शोफमत्परुज स्थिरम् ।

पापाण्यगर्दभं विद्याद् बलासपयनात्मकम् ॥१२॥

(पापाण्यगर्दभं—) हनुसधि में उत्पन्न हुआ, वातकफ जन्य, अल्पपीडा युक्त, स्थिर शोफ पापाण्यगर्दभ आनना चाहिये ॥१२॥

वक्तव्य—पापाण्यगर्दभ को कुछ लोग श्वीपसर्गिक कर्ष्य मूलिक शोथ या कर्ष्यफेर (Epidemic parotitis या Mumps) कहते हैं। परन्तु कर्ष्यफेर वा हाण्ड के सञ्जय पापाण्य गर्दभ के विच्छेदक विरुद्ध होते हैं। पापाण्यगर्दभ में पित्तानुबन्ध न होने के कारण उबर नहीं हो सकता तथा उसके लक्षणों में ज्वर का उल्लेख नहीं है; कर्ष्यफेर में ज्वर होता है। पापाण्यगर्दभ का शोथ एक तरह होता है; कर्ष्यफेर में दोनों ओर शोथ होता है। पापाण्यगर्दभ में अल्पपीडा होती है; कर्ष्यफेर में अधिक पीडा होती है। पापाण्यगर्दभ का शोथ स्थिर अर्थात् कठिन (पापाण्यवत् कठिन्यात् पापाण्यगर्दभं । मधुकोश) और चिरज होता है; कर्ष्यफेर का शोथ न कठिन है न चिरज होता है। बहुत करके पापाण्यगर्दभ कर्ष्य, सालामप्रधि (Parotid gland) का कोई साधारण (यथा Adenoma Fibroma Endothelioma) होगा।

विमर्षपत् सर्पति यो दाहज्वरकरस्तनु ।
अपाक. श्वयथु पित्तान् स शोथो जालगर्दभः ॥१३॥
(जालगर्दभं—) विमर्ष क समान फैलने वाला, दा और उबर करने वाला, ईषत् पारुष्युक्त पित्तयुक्त (प्रक दायां) ने ज्वर रजा इत्या मा शोथ जालगर्दभ जा. १३।

वक्तव्य—वि१३—पत्, भूतापत् १ । मन् स्तु पित्तयत् प्रमुदा शोथ सुर्वान् तनुकाम् १ । (चरक) । भोज इत्यं विमर्ष कहते हैं—पित्तोक्त्याम्भो शोप जनयन्ति स्वप्राश्रित इव रक्त तनु शोथमपकं बहुदोरनम् ॥ १३३३३३ च वृष् ज्वरतमनितम् । विमर्षमादुम्भं च विमर्ष जालगर्दभम् ॥ इत्यं 'अभिवात' भी कहते हैं ।

धादुपाश्र्यांसन्चासु वृष्णस्फोटा मयेदनाम् ।

पित्तप्रकोपमभूता कृत्तामिनि विनिर्दिशेत् ॥१४॥

(कृत्ता—) वादु पार्थ, अम और कृत्ता इन स्थानों में पित्तप्रकोप से उत्पन्न हुई, पीडायुक्त काली कुन्ती को कृत्ता कहना चाहिये ॥१४॥

वक्तव्य—धादुपाश्र्यांसुशु—बाल के आस पास के स्थान में । कृत्ता—सुशुभ में केवल एक ही कोडा दर्शन किया है। इसलिये कृत्ता से कृत्तालम्बिकाग्रधि शोथ (Acute Lymphadenitis of the axillary glands) का शोथ होता है। कृत्ता की लम्बिकाग्रधि में शोथ होने से धीरे धीरे वह शोथ पार्थ अम और वादु की ओर फैलता है। बहुत करके सुशुभ की कृत्ता वाग्भट और माधव की संघनामा (गण-माला) होगी। चरक और वाग्भट की कृत्ता वातपित्तजन्य तथा अनेक दूर कुन्तियों से होती है—यशोपवीनप्रतिना प्रभूता पित्तानिलाभ्यां जनिनासु कृत्ता । (चरक) । कर्ष्येति कर्ष्यमत्रेयु प्रायो देशेयु सानिलात् । पित्तान् भवति पित्ता बहुमा लोपोपना वता ॥ (अष्टांगसमह) । इस कृत्ता को हर्मिय (Herpes zoster) कोस्ट कट सकते हैं। इसमें सांख्य विशेष करके पशुकान्तरिय नाडियों (Intercostal nerves) के मार्ग पर कठिन छोटी छोटी कुन्तियाँ निकल आती हैं। अग्निदग्धनिभा स्फोटा सज्वरा रक्तपित्तत । क्वचित् सर्वत्र वा देहे स्मृना विस्फोटका इति ॥१५॥ (विस्फोटक—) शरीर क किसी एक भाग में या सार शरीर में रक्त पित्त से उत्पन्न हुए ज्वर युक्त अग्निदग्ध के समान स्फोट विस्फोटक कहलाते हैं ॥१५॥

वक्तव्य—विस्फोटका—इतना विस्तृत वर्णन माधव निदान में किया है। कर्ष्यलतीश्वीष्णविदाहिसञ्चारैर्लीर्णाथ शनलनेत्र । तन्मुनेनेप विपयेपेण दुप्यन्ति दोषा पत्रनादवसु ॥ त्वचमार्शिल ते रक्तमालाश्वीनि प्रदग्ध च । गोदन्त कुन्ति विस्फोटान् सर्वान् ज्वरपुर सरान् ॥ वातज पित्तज, कफज, वातपित्तज, वात कफज, पित्तकफज साक्षिपतिक और रक्तज इस तरह विस्फोटक आठ प्रकार का होता है। विस्फोटकों में साक्षिपतिक

१ इत्यनेम—पित्तियुत्समद्भ्यां वृत्तासुप्रकलाज्वरान् । सर्वान्कान् सर्वशिक्षा जानीयादिति तत्राक्त ॥ इति क्वचिदधिक पाठ २ एतद्ये—'यामेवविधा इष्टा पित्तिका स्फोटमग्निभाम् । तन्मर्गा पित्तयेने गन्धनामां प्रचक्षते ॥' इति क्वचिदधिक पाठ

परि रक्तज ग्रन्थाध्य होते हैं—न ते सिद्धि समायान्ति सिद्धयोग-
रसि । विस्फोटक को बुलस इरप्शन (Bullous eruptions)
। पैफिंगस (Pemphigus) कहते हैं । सन्निपातिक और
रक्त को Pemphigus Acutus Malignus कह सकते हैं ।
रक्षाभागेषु ये स्फोटा जायन्ते मांसहारः (रुणाः ।

अन्तर्दाहज्वरकरा दीप्तपावकसन्निभाः ॥१६॥

अताहाद्वा दशाहाद्वा पक्षाद्वा प्रन्ति मानवम् ।

ग्रन्थिरोहिणीं विद्यादसाध्यां सन्निपाततः ॥१७॥

(अग्रिरोहिणी—) काँव के प्रदेश में प्रदीप्त ग्रन्थि के
मान, अन्तर्दाह और ज्वर करने वाले, मांस विदीर्ण करने
वाले जो विस्फोट उत्पन्न होते हैं ॥१६॥ वे सात दिन में,
ग दस दिन में या पंद्रह दिन में मनुष्य को मार देते हैं;
उसको सन्निपातज होने के कारण असाध्य अग्रिरोहिणी
समझना चाहिये ॥१७॥

नखमांसमधिष्ठाय पित्तं वातश्च वेदनाम् ।

करोति दाहपाकौ च तं व्याधिं चिप्पमादिशेत् ।

तदेव क्षतरोगाख्यं तथोपनखमित्यपि ॥१८॥

(चिप्प—) नखमांस का आश्रय करके वात और पित्त
वेदना, दाह और पाक उत्पन्न करते हैं; उसे चिप्पव्याधि कहते
हैं । वही क्षतरोग तथा उपनख भी कहलाती है ॥१८॥

वक्तव्य—चिप्प—अंगुलिवेष्टक । इसकी अंग्रेजी में

ओनीकिया पुरलंटा (Onychia purulenta) कहते हैं ।

इसमें नखमांस (Nail-matrix) पकता है । क्षतरोग—रोगः

क्षनश्चर्मनखान्तरे स्थान्मांसात्सूपी मृशशीघ्रपाकः । (चरक) । चरक

के अनुसार जो क्षत रोग है उसमें चर्मनखान्तर (चर्मनख-

संधि) चक्रपाण्डित्त) पकता है । इसको पारोनीकिया या

व्हाइटलो (Paronychia, whitlow) कहते हैं । उपनख का

भी यही अर्थ (नखसमीपवर्ती प्रदेश का पाक) होता है ।

अभिघातात्प्रदुष्टो यो नखो रूक्षोऽसितः खरः ।

भवेत्तं कुनखं विद्यात् कुलीनमिति संज्ञितम् ॥१९॥

(कुनख—) चोट लग जाने से जो नख दूषित होकर

रूखा, काला और खुरदरा हो जाता है, उसे कुनख समझना

चाहिये । वही कुलीन भी कहलाता है ॥१९॥

वक्तव्य—कुनख को ओनिकोग्रिफासिस (Onychogry-

phosis) कहते हैं ।

गम्भीरामल्पसंरम्भां सवर्णामुपरिस्थिताम् ।

क्रफान्तःप्रपाकां तां विद्यादनुशयीं भिषक् ॥२०॥

(अनुशयी—) गहरी, अल्पशोथयुक्त, स्वचा के वर्ण की,

(मस्तक के) ऊपर स्थित हुई, कफजन्य, भीतर पकने वाली

(पिडका) को वैद्य अनुशयी समझे ॥२०॥

विदारिकान्दवहृत्तां कक्षावह्वणसन्धिषु ।

रक्तां विदारिकां विद्यात् सर्वजां सर्वलक्षणाम् ॥२१॥

(विदारिका—) काँव और वङ्गण की संधियों में

विदारिकान्द के समान गोल, रक्तवर्णा, सर्वदोषजन्य और सर्व

दोषों के लक्षणों से युक्त (पिडका) को विदारिका समझना

चाहिये ॥२१॥

वक्तव्य—विदारिका में कक्षा और वङ्गण की
लसिकाग्रंथियों का शोथ उत्पन्न होता है । सन्निपातज होने
पर भी यह साध्य होती है, क्योंकि इसमें पित्त अल्पवल् होता
है । इसमें कुत्र ज्वर भी होता है—ज्वरान्विता वङ्गणकक्षजा या
वर्तिनिरतिः कठिनायता च । विदारिका सा कफमास्ताभ्याम् ॥
(चरक) ।

प्राप्य मांससिरास्त्रायूः (यु) श्लेष्मा मेदस्तथाऽनिलः ।

ग्रन्थि कुर्वन्ति भिन्नोऽसौ मधुसर्पिर्वैसान्निभम् ॥२२॥

स्त्रवत्यास्त्रावमत्यर्थं तत्र वृद्धिं गतोऽनिलः ।

मांसं विशोष्य ग्रथितां शर्करां जनयेत् पुनः ॥२३॥

दुर्गन्धं क्लिन्नमत्यर्थं नानावर्णं ततः सिराः ।

स्त्रवन्ति सहसा रक्तं तद्विद्याच्छर्करावुदम् ॥२४॥

(शर्करावुद—) कफ, मेद तथा वायु मांस, सिरा और

स्त्रायु में प्राप्त होकर ग्रंथि उत्पन्न करते हैं । वह फूटने पर मधु,

घृत और चरबी के समान ॥२२॥ खूब छाव सवती है ।

उस भिन्न ग्रंथि में प्रवृद्ध हुई वायु मांस को शुष्क करके फिर

गाँठदार शर्करा को उत्पन्न करती है ॥२३॥ तब (उसकी)

सिराएँ दुर्गन्धयुक्त क्लेशित नाना प्रकार के वर्ण का छाव

एकाएक (संदेव) सवती हैं । उसे शर्करावुद समझना

चाहिये ॥२४॥

वक्तव्य—नानावर्णम्—घृतमेदोवसावर्णम् । (मधुकोश) ।

रक्त—छाव—तमेव भिन्नं दुर्गन्ध घृतमेदोनिभं सिराः । स्रवन्ति साव-

मनिनां तदा स्याच्छर्करावुदम् ॥ (भोज) । शर्करावुद—इसकी

उत्पत्ति मेदोग्रंथि (Sebaceous cyst) के ऊपर होती है,

इसमें संदेह नहीं । इसलिये शर्करावुद या तो Sebaceous

Horn होगा या Cock's peculiar Tumour होगा । कौक

के व्यूमर का वर्णन शर्करावुद के साथ बहुत मिलता है—

Should the contents only escape partially, the

remainder is liable to undergo putrefactive

changes, giving rise to an offensive ulcerated

surface with raised edges, which may readily be

mistaken for epithelioma. *Manual of Surgery by*

Rose and Carless.

पामाविचचर्यौ कुष्ठेषु रकसा च प्रकीर्तिता ॥२५॥

पामा, विचर्चिका और रकसा कुष्ठों में वर्णन किये हैं ॥२५॥

परिक्रमणशीलस्य वायुरत्यर्थंरूक्षयोः ।

पादयोः कुरुते दारिं संरुजां तलसंश्रिताम् ॥२६॥

(पाददारी—) परिभ्रमण करने का जिसका स्वभाव

है उसकी वायु (परिभ्रमण के कारण) अत्यंत रूक्ष हुए

पाँवों में तलुओं के आश्रित पीड़ायुक्त दरार (विवाई Rha-

gades) करती है (उसे पाददारी कहते हैं) ॥२६॥

शर्करोन्मथिते पादे क्षते वा कण्टकादिभिः ।

मेदोरक्तानुगैश्चैव दोषैवा जायते नृणाम् ॥२७॥

सकीलकठिनो ग्रन्थिर्निर्ममध्योन्नतोऽपि वा ।

कोलमात्रः सरुक् छावी जायते ऊदरस्तु सः ॥२८॥

(कदर—) कंकड़ पत्थर से कुचले हुए या कपटकादि से क्षत हुए मनुष्यों के पाँव में वेद और रक्त के अनुगत दोषों से ॥२७॥ क्लीयुक्त, कठी, नीची अथवा धीच में ऊपर की उठी हुई पैर के समान, पीडायुक्त, करने वाली गाँठ उत्पन्न होती है; यह कदर है ॥२८॥

यक्तव्य—शर्करा—घटकराखण्डादय । पादे—पाँव की भाँति हाथ में भी हो सकता है—हलयो पादयोश्चापि गीरपु-
गत सखम् । (भोज) । कदर—घटा । इसकी कॉन (Corn) कहते हैं । वेदद द्वाव पहने के कारण उस स्थान की खचा के उपरितन स्तर के सेल धरित होकर कदर उत्पन्न होता है ।
क्लिप्राह्वल्पन्तरो पादौ कण्डूदाहरुगन्वितौ ।
नुष्टकर्मसंस्पर्शादलसं ते विनिर्दिशेत् ॥२९॥

(अलम—) खराब कीचद का (अधिक काल तक) संसर्ग होने से जब दोनों पैरों की मंगुलियों के बीच में गीला-
पन, खान, जलन और पीडा होती है तब उसे अलस समझना चाहिये ॥२९॥

यक्तव्य—इसको चिल्ब्लेन (Chilblain) कहते हैं ।
रोमकूपानुगं पित्तं चातेन सह मूर्च्छितम् ।
प्रव्याययति रोमाणि ततः श्लेष्मा सशोणितः ॥३०॥
रुणद्धि रोमकूपांस्तु ततोऽन्येषामसंभवः ।
तदिन्द्रलुप्तं खालित्यं रुज्येति च विभाव्यते ॥३१॥

(खालित्य—) रोमकूपों में प्राप्त हुआ पित्त वायु के साथ मिलकर बालों को गिरा देता है; तत्पश्चात् रक्त के साथ मिला हुआ कफ ॥३०॥ रोमों के छिद्रों को बंद करता है, जिससे दूसरे (बालों) की उत्पत्ति नहीं होती । इसी को इन्द्रलुप्त, खालित्य और रुज्या कहते हैं ॥३१॥

यक्तव्य—इन्द्रलुप्त—गात्र । अंग्रेजी में इसे अलोपेसिया (Alopecia) कहते हैं । खालित्य—वाग्भट के अनुसार इन्द्र-
लुप्त में बाल सहसा गिरते हैं और खलति में धीरे धीरे गिरते हैं, यह फर्क है—खलोपेसि जम्बेव शातन तत्र तु क्रमात् । (अष्टांग-
संग्रह) । रुज्या—इसी को अष्टांगग्रह्य में 'रुज्या' और माधवनिदान में 'रुज्या' कहा है । इन तीनों के अतिरिक्त वाग्भट ने इसका पश्चात् 'चाच' दिया है—तदिन्द्रलुप्त रुज्या च प्रादुशेषेति चाचो । (अष्टांगग्रह्य) । माधवनिदान की टीका में भीकण्ठदत्त कार्तिक का मत देते हैं—कार्तिकत्वात्—
“इन्द्रलुप्त इगुणि भवति, खालित्य गिरत्येव, रुजा च सर्वदे—इति ।
भागमत्स्वत्र नास्ति । इस मत के अनुसार रुज्या को Alopecia universalis कह सकते हैं ।

दारुणा कण्डुरा रुक्षा केशभूमिः प्रप्राप्यते ।
कफपातप्रकोपेण विद्याहारणकं तु तम् ॥३२॥
(दारुणक—) कफ और वात के प्रकोप से जब बालों का स्थान कठिन, खानयुक्त, रूखा और दरारयुक्त होता है तब उसे दारुणक समझना चाहिये ॥३२॥

यक्तव्य—दारुणक—यह रोग अधिकतर गिर-कपाल में होता है । इसलिये वाग्भटाचार्य ने इगका समायेण शिरोरोगो

में किया है । यहाँ के लक्षणों के अतिरिक्त उसमें बालों गिरना, सुप्रता होती है और दरार बहुत सूख होते हैं कण्डूकेशयुतिरदापरोक्षकृत् सुपुन त्वच । सुक्ष्म कफवता विद्याहारणकं तु तम् ॥ (अष्टांगसंग्रह) । इन लक्षणों का विवरण करने से यह माहलूम होता है कि दारुणक Seborrho capitis या Pityriasis capitis होगा ।

अरुंषि बहुवक्राणि बहुत्वेदानि मूर्धनि ।
कफासृक्कमिकोपेन नृणां विद्यादरुंषिकाम् ॥३३॥

(अरुंषिका—) कफ, रक्त और क्रमियों के प्रकोप मनुष्यों के शिर में अनेक मुच वाले और चावयुक्त (गीले) बण होते हैं, उनको अरुंषिका समझना चाहिये ॥३३॥

यक्तव्य—अरुंषिका—यह सिर का छाजन (Eczem of the face and Scalp) है ।

क्रोधशोकभ्रमकृतः शरीरोष्मा शिरोगतः ।
पित्तं च केशान् पचति पलितं तेन जायते ॥३४॥

(पलित—) क्रोध, शोक और परिश्रम से उत्पन्न हुआ शरीर की गरमी और पित्त शिर में प्राप्त होकर बालों को पकाता है; उससे पलित उत्पन्न होता है ॥३४॥

यक्तव्य—पित्त—पित्त के साथ वात और कफ मिलते हैं—नेत्रोऽनिलदे सह केरुमूर्ति रज्ज्वा तु कुर्वीर पलितं नरस्य । किञ्चित् दग्धा पलितानि सुयोद्धिप्रमलव च शिरोरुग्णाम् । (चारक) । पित्त का विदेश इसलिये किया गया है कि वात को सुकेद करने का काम पित्त का है । पलित—बाल सुके होना । यहाँ अकालज पलित का वर्णन किया है और उसके कारण है क्रोध, शोक, परिश्रम । इसको Premature canities कहते हैं ।

दाहज्वररुजावन्तस्ताम्रः स्फोटः सपीतकाः ।
गात्रेषु यदने चान्तापिषेयास्ता मसूरिकाः ॥३५॥

(मसूरिका—) दाह, ज्वर और पीडा इनसे युक्त पीलापन लिये, रक्तवर्ध, शरीर पर तथा मुँह के भीतर होने वाले विस्फोट मसूरिका समझना चाहिये ॥३५॥

यक्तव्य—यदने चान्त—मुख के भीतर—गात्रेभ्यश्च वनस्य । (अष्टांगसंग्रह) । मसूरिका—मसूर के तुल्य आकार और वर्ण की पिटकाएँ इस रोग में प्रायः होती हैं इसलिये मसूरिका कहलाती है—मयूरमात्रास्तदार्णवत्पक्षा पित्वा यना । (अष्टांगसंग्रह) । या सर्वगात्रेषु मयूरमात्रा मसूरिका पित्तकफ प्रदिष्टा । (चारक) । इसकी पीतला, माता, पेशच या क्वन्त

उतना घोरतम नहीं था जितना कि अत्र दिलाई देता है । आर्य वैद्यक के जो ग्रंथ आज उपलब्ध हैं, उनमें सर्वप्रथम माधवनिदान में मसूरिका का विस्तृत वर्णन मिलना है । तत्पश्चात् भावप्रकाश में 'पीतला' नाम से इसका स्वतन्त्र वर्णन

इनका मध्य नाभि की भाँति नीचा होता है । दो तीन दिन और बीतने पर इनमें मवाद पड़ने लगता है जिससे ये पीने होते हैं इनकी निम्नमध्यता मिट जाती है और ये गोल बन जाते हैं । इनके बीच की ल्वाचा सूज जाती है और फिर ज्वरादि लक्षण बढ़ जाते हैं । इनके पकने का क्रम भी उद्वच के क्रम के अनुसार माप्य से शुरू होता है । स्फोट पक जाने के कारण रोगी के पास एक विशेष प्रकार की दुर्गंध आने लगती है—हीनो ज्वरदग्ध्व पूर्वापुन्य च । (गीतान्तांश) । इस अवस्था में रोगी को बहुत कष्ट होता है । चेहरे पर दानों के कारण तीव्र पीड़ा और तनाव मालूम होता है और रोगी बेलने, पाने, पीने, थालें खाने में असमर्थ होता है । अस्मीलित प्रकार में पाकावस्था का ज्वर प्रायः चौबीस घंटे में यानि रोगारभ से द्यव्ये वा ग्यारहवें दिन उतरने लगता है, अन्य लक्षण भी लुप्त होने लगते हैं और स्फोट फूटने या सूखने लगते हैं । समीलित प्रकार में प्रारंभिक लक्षण कुछ अधिक तीव्र होते हैं और पिटिकाओं की संख्या भी अधिक होती है । चौथे दिन के पहले निकली हुई पिटिकाओं की संख्या यदि बहुत अधिक हो तो भाग्य अच्छे उनके समीलित होने की बहुत संभावना होती है । पिटिका निकल जाने पर भी रोगी को उतना आराम नहीं मालूम होता जिनका कि अस्मीलित प्रकार में होता है । पिटिकाओं का सम्मेलन दवावस्था में प्रारंभ होकर पाकावस्था में समाप्त होता है । उस समय चेहरा, हाथ, पैर की ल्वाचा एक बड़ी विद्रुषि सी बन जाती है—स्फोटाना मेनानदेया बहुल्येऽपि आदने । (भावप्रकाय) । समीलित प्रकार में भी अस्वादि की पिटिकाएँ प्रायः अलग अलग रहती हैं । पाकावस्था के ज्वरादि लक्षण बहुत तीव्र होते हैं । अमाप्य रोगियों में दसवें या ग्यारहवें दिन प्रलाप, कप, प्रवाहिका और हृदयावसाद से मृत्यु होती है । (५) शुष्कभ्रमण—पिटिकाओं के फूटने या सूखने से सुरण्ड बनाने का काम सारे तृतीय सप्ताह में जारी रहता है । पश्चात् शनैः शनैः सुरण्ड उतरने लगते हैं । सुरण्ड उतर जाने पर उसके नीचे मसूरिका का दाग दिखाई देता है जो बीच में जरा सा दूधा रहता है । समीलित प्रकार में सुरण्ड जल्दी नहीं उतरते । भावप्रकाय में पिटिकाओं की इन अवस्थाओं का क्रम सन्तोष में दिया है—महाहाजि मरुत्वन, महाहाज्य पूर्वाणा वनेत् । एतल्लोने सहाह शुष्कणि स्वल्पे स्वयम् ॥

(२) रक्तसर्पि मसूरिका—इसके प्रारंभिक लक्षण बहुत तीव्र होते हैं । कभी पहले से ही रक्त विस्फोट निकलते हैं, कभी दवावस्था और पाकावस्था में उनमें रक्त आ जाता है—लोहितोत्तमण्डलम् । इसके अतिरिक्त मल, मूत्र, नासा, वमन इत्यादि से भी रक्तस्राव होता है—मुनेन प्रभवद्रक्त तथा श्रयेन चक्षुषा । (माधवनिदान) । यह असाध्य रोग है, जिससे ३-६ दिन में रोगी की मृत्यु हो जाती है । (३) तीव्र मसूरिका—कभी कभी मसूरिका स्वभाव से ही तीव्र (Variola minor) होती है और टीका कराये हुए मनुष्यों में जब आती है तब भी तीव्र (Varioloid) होती है । इसमें प्रारंभिक लक्षण तीव्र होते हैं, केवल थोड़ी सी पिटिकाएँ निकल आती हैं, वह बहुधा पकती नहीं, पाकावस्था का ज्वर नहीं आता

और सब लक्षणों में मीम्यता रहती है । उपर—चर्श्यापीय, कर्ष्याप्य, नेत्राभिषेन्द, नेत्रमण्डुल, सधितोय, विद्रुषि, रक्तपाय, वातनाहीशोध, प्रलाप, प्रालोप, प्रवाहिका, तीव्रकाम, न्युमोनिया, पूरमयावस्था (Pvaenna), स्वरयन्त्रगोध, विमर्ष, गण्डे की या बगल की ग्रन्थियों का निकलना, गर्भवती स्त्रियों में गर्भपात इत्यादि । इन सामयिक उपद्रवों के अतिरिक्त मसूरिकार्पाण्डिन मनुष्य के लिये चेहरे की खराबी, अगुलियों का गिर जाना, बहरापन, अघापन, दानों का गिर जाना इत्यादि व्यंग आतीव रह जाते हैं । मध्यमावस्था—टीका न कराये हुए लोगों में मसूरिका से २५—३५ प्रतिशत मृत्यु होती है । बाल, दुर्बल, मरापी और गर्भवती स्त्री इनके लिये मसूरिका प्रायः घातक होती है । प्रारंभिक लक्षणों की दाखला, (जैसे कमर में सखन दर्द) पिटिकाओं की असंख्या, उनका सम्मेलन होना, उनमें रक्तस्राव होना, उनका निःस्वरण होने पर ज्वरादि लक्षणों का न घटना, पाकावस्था में फिर लक्षणों का पैहड़ बनना, विज्ञानाग, प्रलाप, न्युमोनिया, स्वरयन्त्रगोध इत्यादि लक्षण असाध्यतादृशक होते हैं—विराट्पयनिक्रान्तिमरेण्युपार्थिदिक रविकाममोहे । युक्तानिहन्त्यानु मसूरिण्यनुत्तुवा च बाधे किण्वनिषया च ॥ (उरत्र) । सभी टीका प्रमेहज्वरस्तीन सुराला । प्रलापश्चरतिमुकुंठं वृणा दाहोऽपिपुंरैना ॥ मुनेन प्रभवद्रक्त तथाश्रयेन चक्षुषा । कठे पुंरुंरु कृता शनित्यल्पपेदितम् ॥ मसूरिकामिभूतयश्च श्वेतनि मिषवैरे । लभगानि च हृदयने न द्यवत्तन भेवन्त् ॥ (माधवनिदान) । इन याग्य सहायक लक्षणों के अतिरिक्त मसूरिका की अर्पण प्रकृति के ऊपर भी साध्यामाप्यता निर्भर होती है । हमी दृष्टि से भावप्रकाय में लिखा है—कश्चिदिनापि यत्नेन विष्यन्त्यानु मसूरिका । दृष्टा कृष्णरा काश्चित् कश्चित् विष्यन्ति वान वा । कश्चिन्नैव तु विष्यन्ति सध्यामात्रा प्रयत्नन ॥ वाश्रास्य वैरा भी इमं वात को मानते हैं—Small pox also has its peculiar kind which take one form during one series of years and another during another Sydenham Epidemics vary much in their severity and mortality In some the disease is so slight and mortality so low that doubts arise whether the epidemic is really small pox Text book of the practice of medicine by Price । लुमसूरिका—सौम्य मसूरिका से बहुत ऊँच समता रखने वाला यह एक मध्यम विस्फोटक ज्वर है । इसकी मीनिया भीलला (Chiekenpox) कहते हैं । इसका भी कारण अभी तक मालूम नहीं है । मसूरिका से इसकी निम्न बातों में भिन्नता होती है—(१) इसके ज्वरादि लक्षण सौम्य होते हैं । (२) विस्फोट रोगारंभ से चौबीस घंटे के भीतर निकल आते हैं । (३) सब एक दम नहीं निकलते परन्तु धीरे धीरे कई रोज तक निकलते रहते हैं । (४) साधारणतया सब से पहले ये पीठ या छाती पर निकल आते हैं, पश्चात् चेहरे और शालाओं पर निकलते हैं । (५) इनकी सब से अधिक संख्या घट्ट पर होती है । (६) इनका उद्वच होने पर न ज्वरादि लक्षण कम होते हैं, न इनके पकने पर ये फिर बढ़ते हैं । (७) विस्फोट ल्वाचा में न

राई पर स्थित होते हैं, न निश्चमध्य होते हैं, न आपस में लते हैं, और न उनके सूख जाने पर दाग रहता है ।

() एक समय में रोगी के शरीर पर सब अवस्थाओं के स्फोट (द्रव्ययुक्त, पूययुक्त इत्यादि) दिखाई देते हैं । रोगान्तिका—यह भी एक स्वतन्त्र विस्फोटक ज्वर है ।

उको खसरा और अंग्रेजी में मीजल्स (Measles) कहते हैं । सका वास्तविक कारण अभी तक मालूम नहीं हुआ है ।

म तौर से यह बच्चों का रोग है । रोगारंभ में ग्रीत, हलकार, सिरदर्द, अरोचक, वमन, नासास्राव, छींकें आना, लों की सुखी, बुकाम, खाँसी इत्यादि लक्षण होते हैं । इस अवस्था में मुख के भीतर दोनों गालों पर दाढ़ के पास नीलान लिये सफेद धब्बे (Koplik's spots), जिनके चारों ओर लाल घेरा होता है, दिखाई देते हैं । खसरे की पहचान यह एक प्रधान लक्षण है । चौथे दिन कानों के पीछे तथा

हरे पर पिस्सुदंग के समान छोटे छोटे लाल धब्बे दिखाई देते हैं । चेहरे से ये धब्बे गर्दन, छाती, बाहु, उदर, टांगों पर होते हैं । ये संख्या में और आकार में बढ़कर गुच्छ बनाते हैं ; इनसे चेहरा फूला सा दिखाई देता है तथा जलन और ताज भी होती है । दो तीन दिन पीछे उद्भवक्रमानुसार ये सुभाते हैं और फिर इनसे कुछ दिनों तक भूखी सी निकलती होती है । जब धब्बे-निकलते हैं तब ज्वर बढ़ जाता है, बुकाम अधिक होता है, नाड़ी और साँस तेज चलती है, आँखें चिपत्ती हैं, मुखगोप होता है, सिरदर्द, निद्रानाश, प्रलाप, गलाड़ना, गले की ग्रंथियाँ फूलना, जिह्वा मैली होना इत्यादि लक्षण होते हैं । जब दागें सुभाते हैं तब सब लक्षण मिट जाते हैं, केवल खाँसी कुछ दिनों तक दिक करती है । रोमान्तिका

भेद—विपैली, फुफ्फुसगत और रक्तस्रावी ये तीन प्रकार के भेद होते हैं । साधारण रोमान्तिका घातक नहीं है, परन्तु इससे जो कमजोरी उत्पन्न होती है, उससे रोगनिर्मुक्त होने पर रूपावाही करने के कारण न्युमोनिया, ब्रांकोन्युमोनिया, लॉनी, कृकरखाँसी, राजयदमा इत्यादि श्वसनसंस्थान के रोग होकर मृत्यु होने का डर रहता है । साधवनिदान में रोमान्तिका का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार किया है—रोमकृष्णनि-

समा रागिण्यः कफपित्तजाः । कातारोचकमयुक्ता रोमान्त्यो चरपूर्विकाः ॥
शाल्मलीकण्टकप्रख्याः कफमारुतशोरितैः ।
जायन्ते पिडका युनां वक्त्रे या मुखदूषिकाः ॥३६॥

(मुखदूषिका—) शाल्मलीकण्टक के समान कफ, रक्त और वात के कारण तरुण मनुष्यों के मुँह पर जो पिडकाएँ उत्पन्न होती हैं, वह मुखदूषिका है ॥३६॥

वृक्तव्य—मुखदूषिका—इसको यौवनपिडका, भापा में सुंशासा और अंग्रेजी में एक्नी वल्यारिस (Acne vulgaris) कहते हैं । यौवनपिडका में मुख की त्वचा की भेद पिण्डों (Sebaceous glands) के द्वार बंद होकर वे फूलते हैं । पश्चात् एक्नी नामक जीवाणु (Acne bacillus) से दूषित होकर पक्ती हैं—भेदोभर्मा मुने युनां नायां च मुखदूषिका । (अष्टांगसंग्रह) ।

कण्टकैराचितं वृत्तं कण्डूमत् पाण्डुमण्डलम् ।
पद्मिनीकण्टकप्रख्यैस्तदारख्यं कफवातजम् ॥३७॥

(पद्मिनीकण्टक—) कमलिनी के काँटों की भाँति अंकुरों से व्याप्त, उभरा हुआ, कण्डुयुक्त, श्वेतवर्ण कफवात-जन्य मण्डल पद्मिनीकण्टक नाम से जानना चाहिये ॥३७॥

वृक्तव्य—पद्मिनीकण्टक—पेपिलोमा ऑफ दि स्किन (Papilloma of the skin) इसमें उपत्वचा के अंकुरों की वृद्धि होती है । यह एक प्रकार का त्वचा का सौम्य अर्बुद है । श्लेष्मल त्वचा पर भी होता है ।

नीरुजं सममुत्सन्नं मण्डलं कफरक्तजम् ।

सहजं रक्तमीपच्च श्लक्ष्णं जतुमणिं विदुः ॥३८॥

अवेदनं स्थिरं चैव यस्य गात्रेषु दृश्यते ।

मापवत्कृष्णमुत्सन्नमनिलान्मप(श)कं वदेत् ॥३९॥

कृष्णानि तिलमात्राणि नीरुजानि समानि च ।

वातपित्तकफोद्रेकात्तान् विद्यात्तिलकालकान् ॥४०॥

(जतुमणि—) पीड़ाहित, सम (अथवा) उन्नत, गोलाकार, कफरक्तजनित, जन्म से ही उत्पन्न हुए किंचित् रक्तवर्ण चिह्न को जतुमणि कहते हैं ॥३८॥ (मपक—) जिसके शरीर पर पीड़ाहित, स्थिर, उद्द के समान कृष्णवर्ण और उन्नत (चिह्न) दीखता है वह मपक कहलाता है ॥३९॥ (तिलकालक—) वात, पित्त और कफ के उद्रेक से काले, तिलप्रमाण, पीड़ाहित, और सम (जो चिह्न होते हैं) उनको तिलकालक समझना चाहिये ॥४०॥

वृक्तव्य—जतुमणि, माप और तिलकालक त्वचा के विकार हैं । इन विकारों में त्वचा पर मेल्यानिन (Melanin) नामक स्याही मायल रंग जम जाता है । अंग्रेजी में इनको मोल (Mole) कहते हैं । सम या अनुन्नत (Non-elevated type) और उत्सन्न या उन्नत (Elevated type) करके इसके दो भेद होते हैं । सम को तिलकालक या तिल (Non-elevated mole) कहते हैं । उन्नत को मपक या मसा (Elevated mole) कहते हैं । जो तिल या मसा सहज होता है, उसे जतुमणि (Congenital mole) कहते हैं ।

मण्डलं महदल्पं वा श्यामं वा यदि वा सितम् ।

सहजं नीरुजं गात्रे न्यच्छमित्यभिधीयते ॥४१॥

समुत्थाननिदानाभ्यां चर्मकीलं प्रकीर्तितम् ।

क्रोधायासप्रकृपितो वायुः पित्तेन संयुतः ॥४२॥

सहसा मुखमागत्य मण्डलं विशृजत्यतः ।

नीरुजं तनुकं श्यावं मुखे व्यङ्गं तमादिशेत् ॥४३॥

(न्यच्छ—) शरीर पर छोटा या बड़ा, कृष्णवर्ण या श्यामवर्ण, पीड़ाहित, जन्म से हुआ मण्डल (चकदा) न्यच्छ कहलाता है ॥४१॥ (चर्मकील—) संप्राप्ति और निदान (की दृष्टि) से चर्मकील वर्णन किये गये हैं । (व्यङ्ग—) क्रोध और परिश्रम से कृपित हुडे वायु पित्त से मिलकर अकस्मात् मुख (की त्वचा) में प्राप्त होकर मण्डल उत्पन्न करती है । तब उस पीड़ाहित, छोटे, श्यामलवर्ण मुखगत मण्डल को व्यङ्ग कहते हैं ॥४२,४३॥

१ च मनुसंह. २ वातपित्तकफोद्रेकात्तान्.

चक्षुःशब्द—न्यच्छ—हृसी को लांछन कहते हैं—पच्छ लांछनमुच्यते । वाग्मटाचार्ये न्यच्छ का वर्णन लांछन शब्द से करते हैं । इवाम—शुक्रानु कृष्णवर्णम् । चर्मनील प्रकीर्तितम्—चर्मकीलों का वर्णन पीठे अग्निदान में किया गया है । वाग्मटाचार्य के मतानुसार चर्मकील मयक का ही एक अधिक उदात्त प्रकार है—मयोभ्रूलुन्ननरान् चर्मकीलान् निनामिभान् । (अष्टांगसंग्रह) । म्यत्र—म्यत्र जब मूत्र के प्रतिरिक्त अन्य स्थानों पर होता है तब उसे नीलिका कहते हैं—इयामल मण्डलं म्यत्र वचनदन्वय नीलिका । (ध्यातंगमग्रह) । कृष्णनेत्रणुं गति नीलिकां तां विनिर्दिशेत् । (भोज) । म्यत्र, न्यच्छ और नीलिका वास्तव में एक विकृति के ही नाम हैं । धमनिकाओं, तिराओं और कैथिकाओं का एक छोटा सा गुच्छ इवचा में बनने से यह विकार उत्पन्न होते हैं । अग्नेयी में इनको क्यापिलरी एन्जियोमाटा या नीवी (Capillary angioma or Naevi) कहते हैं ।

मर्दान् पीडनाद्यापि तथैवात्यभिघाततः ।
मेदूचर्मं यदा घायुर्भजते सर्वतश्चरः ॥४४॥
तदा यातोपसृष्टं तु चर्मं प्रतिनिवर्तते ।
मणेरधस्तात् कोशश्च ग्रन्थिरूपेण लभ्यते ॥४५॥
स्रवेदनं सदाहश्च पाकं च व्रजति क्वचित् ।
मारुतागन्तुसंभूतां विद्यात्तां परिवर्तिकाम् ।
सकण्डूः कठिना चापि सैव श्लेष्मसमुत्थिता ॥४६॥

(परिवर्तिका—) मसलने से, अति दवाने से तथा (मैथुन के समय) चोट आदि लगने से तब सर्वगरीरचर (ग्यान) वायु शिक्षचर्म में प्रास होनी है ॥४४॥ तत्र यान से दूषित वह चर्म ऊपर को चढ़कर शिक्षमणि के पीछे गँडिला होकर लटकता रहता है ॥४५॥ उसमें पीडा और दाह होता है और कश्चित् पाक भी होता है । बात और आगन्तुक कारण से उत्पन्न हुई इस (स्याधि) को परिवर्तिका कहते हैं । कफ से उत्पन्न हुई यही परिवर्तिका कठिन और कण्डुयुक्त होती है ॥४६॥

चक्षुःशब्द—परिवर्तिका—शिक्षचर्म का द्वार या छेद अत्यल्प होने पर यानि निरुद्धप्रकाश की अवस्था में जब चर्म वेग से ऊपर की ओर चढ़ता है तब यह अवस्था उत्पन्न होती है । इससे चर्म में तथो शिक्षमणि में शोध उत्पन्न होता है, जिससे चर्म का नीचे को उतरना और भी कठिन हो जाता है । यदि योग्य समय पर चिकित्सा न की जाय तो मणोत्पादन होना है, मणि और चर्म आपस में ससक्त हो जाते हैं और क्वचित् शिक्ष सडने लगता है । परिवर्तिका को अग्नेयी में प्याराफायमोसिस (Paraphymosis) कहते हैं ।

अल्पीयं खां यदा हर्षाद्दालां गच्छेत् स्त्रियं नरः ।
हस्ताभिघातात्तथा चर्मण्युद्धर्तिते यलात् ॥४७॥
मर्दान् पीडनाद्यापि शुक्रयेगविघाततः ।
यस्यावपाट्यते चर्मं तां विद्यात्तपाटिकां ॥४८॥

(अत्रपाटिका—) जब पुरुष अल्प योनि वाली बाल स्त्री के साथ हर्ष से (अर्थात् बहुत जोर से) गमन करत है तब, अथवा हस्ताभिघात के कारण जोर से चर्म ऊपर चढ़ जाने से ॥४७॥ अथवा, शिक्ष मलने से, दवाने से या शुक्र का आगे रोक (ते मयय शिक्ष को जोर से पकड़) ने से यदि उमका चर्म कट जाय तो उमको अत्रपाटिका समझना चाहिये ॥४८॥

घातोपसृष्टमेवं तु चर्मं संश्रयते मणिम् ।
मणिश्चर्मोपनद्धस्तु मूत्रघ्नोतो दण्डि च ॥४९॥
निरुद्धप्रकाशे तस्मिन् मन्दधाममेदनम् ।
मूर्धं प्रवर्तते जन्तोर्मणिर्विम्रियेते न च ॥५०॥
निरुद्धप्रकाशं विद्यात् संरुजं घातसंभवम् ॥५१॥

(निरुद्धप्रकाश—) पूव वायु से दूषित शिक्षचर्म मणि को पूर्णतया आच्छादित करता है तब चर्मोच्छादित वह मणि मूत्रमार्ग को रोक देता है ॥४९॥ उसे घातजन्य पीडादायक निरुद्धप्रकाश समझना चाहिये । उस निरुद्धप्रकाश में मनुष्य का मूत्र पीडा रहित और पनली घार से बहता है तथा मणि अनादृत नहीं होता ॥५०, ५१॥

चक्षुःशब्द—एव—सदैव पीडनादि घातप्रकोपक कारणों से । मशयने—समग्र शयने । मणिर्विम्रियेते न च—त्वपरिवर्तनाशक्य तथा मणिर्विद्यो न भवति । शिक्षचर्म का छिद्र अत्यल्प होने से उसको शिक्ष पर ऊपर की ओर रीचिना अशंभव होने के कारण मणि सर्वदा चर्म के भीतर रहता है । निरुद्धप्रकाश—निरुद्धप्रकाशात्निरुद्धप्रकाशः । (मधुकोशान्याख्या) । चर्मद्वार छोटा होने के कारण जिसमें मणि के ऊपर आने वाला प्रकाश निरोधित होता है, वह विकार । वाग्मटाचार्य मणि के विकार का निरोध होने के कारण इसको 'निरुद्धमणि' कहते हैं—मणिर्विनामोषश्च स निरुद्धमणिर्न । निरुद्धप्रकाश को अग्नेयी में फायमोसिस (Phymosis) कहते हैं । निरुद्धप्रकाश सज्ञ और जन्तोत्तर दो प्रकार का होता है । यहाँ जन्तोत्तर निरुद्धप्रकाश का वर्णन किया है । जन्तोत्तर निरुद्धप्रकाश बाल, युवक और वृद्ध तीनों में भी होता है । बालकों में शिक्षचर्म कण्डु और वस्तिगत अशमरी ये निरुद्धप्रकाश के दो प्रधान कारण हैं । कण्डु में खुजाने के लिये और अशमरी में मूत्रोत्सर्ग की अलक्ष्य वेदना को मिटाने के लिये बालक बारम्बार शिक्षचर्म को मसलता है, जोर से दबता है और आगे की ओर रीचिना करता है ।

सोमक के कारण शिक्षचर्म में शोध और स्वाज होती है और ऊपर कड़े हुए के अनुसार निरुद्धप्रकाश बनता है । मध्यमायु के बाद वस्तिगत अशमरी, मूत्रमार्ग सफोच, अटीलाशुद्धि, शिक्षचर्म की अश्वच्छता इत्यादि कारणों से शिक्षचर्म में खुजली और लोभ पैदा होकर खुजाने से, मसलने से ऊपर कड़े हुए के अनुसार निरुद्ध बनता है । सखे में ऊपर 'एव' (मर्दान् पीडनादिनामिपाटिनैरेथे इवश्च) करके

रोग के जो कारण बतलाये गये हैं, वे विलक्षण सत्य हैं । निरुद्धप्रकण्ड जन्म से होता है और गर्भवृद्धि दोष से ही उत्पत्ति है । यह प्रकार बालकों में दिखाई देता है । छिद्र बहुत छोटा न हो तो इसके परिणाम बाल्यावस्था दिखाई देकर युवावस्था में दिखाई देते हैं । इस आयु प्रोक्तापान से उसमें जो स्त्रोम पैदा होता है उससे हस्तन की कुट्टेव पड़ जाती है तथा स्त्री के साथ मैथुन करते य पीड़ा होती है और कभी कभी अवपाटिका या परिवर्ति-उत्पन्न होती है । यदि छिद्र बहुत ही अल्प यानि सूचीमुख तो मूत्र निकलने में कठिनाई होती है । बच्चा शिखर्र्चर्म को गे की ओर खींचता है और अश्मरी के समान लक्षण तो होते हैं । निरुद्धप्रकण्ड किसी भी कारण से उत्पन्न हुआ उसके भीतर शिश्रमणि के ऊपर श्वेतरंग का मैल जम ता है । यह मैल टॉयसन की ग्रंथियों (Tyson's glands) साव है और उसे स्मेग्मा (Smegma) कहते हैं । यह ना हुआ मैल कभी कभी अश्मरी की भाँति कड़ा हो जाता । यदि निरुद्धप्रकण्ड की चिकित्सा न करने से मल बहुत दिनों वहाँ रहे तो निरन्तर पीडन, मर्दन और क्षोभ से शिश्र आगे चलकर घातक मांसार्बुद (कैन्सर) उत्पन्न होने की इत कुञ्ज संभावना होती है ।

गसन्धारणाद् वायुविहतो गुदमाश्रितः ।
रुग्णद्धि महत्स्रोतः सूक्ष्मद्वारं करोति च ॥५२॥
गस्य सौक्ष्म्यात् कृच्छ्रेण पुरीषं तस्य गच्छति ।

सन्निरुद्धगुदं व्याधिमेनं विद्यात् सुदुस्तरम् ॥५३॥
(सन्निरुद्धगुद—) (अधोवायु और मल के) वेग धारण करने से कुपित हुई (अपान) वायु गुद में प्राप्त कर महास्रोत का निरोध करके (उसका नीचे का) द्वार रोटा कर देती है ॥५२॥ (तब मल निकलने का) रास्ता तंग ने के कारण उस पुरुष का मल कष्ट से निकलता है । इस एसाध्य व्याधि को सन्निरुद्ध गुद जानना चाहिये ॥५३॥

वक्तव्य—सन्निरुद्धगुद को स्ट्रिक्चर ऑफ दि रेक्टम (Stricture of the rectum) कहते हैं । यह रोग प्रवाहिका, प्रतिसार, अर्शे, भगन्दर, राजयक्ष्मा, फिरंग, सोजाक इत्यादि के गुद में जो व्रण होते हैं उनके स्थान पर संकोच होने से होता है । रुद्धगुद से प्रारंभ में कञ्ज होता है, पीछे पर्याय से कञ्ज और पतले दस्त होते हैं । दिन प्रतिदिन मलोत्सर्ग का कष्ट बढ़ता जाता है, मल कड़ा, फीते के समान चपटा और लंबा निकलता है । उसके साथ कुछ खून और आँव भी गिरती है । पीछे अग्निमान्य और आभ्रान उत्पन्न होता है ।

रुक्ममूत्रसमायुक्तेऽधौतेऽपाने शिशोर्भवेत् ।
स्विन्नस्यास्त्राप्यमानस्य कण्डू रक्तकफोद्भवा ॥५४॥
कण्डूयनात्ततः क्षिप्रं स्फोटाः स्रावश्च जायते ।

एकीभूतं व्रणैर्घोरं तं विद्यादहिपूतनम् ॥५५॥
(अहिपूतना—) पसीने से तर होने वाले (परन्तु) आपित न होने वाले बालक का गुद मलमूत्र से गंदा होने पर न धोने से रक्तकफजन्य कण्डू उत्पन्न होती है ॥५४॥ तब खजाने से शीघ्र ही फुन्सियाँ और स्राव उत्पन्न होता है ।

(फुन्सियाँ फूटने के पश्चात् उत्पन्न हुए) व्रणों के साथ मिले हुए (यानि व्रणयुक्त) उस गुद को घोर अहिपूतन कहते हैं ॥५५॥

वक्तव्य—एकीभूतमित्यादि—व्रणः सहेकीभूतं तमपानं घोर-महिपूतनं विद्यात् । अहिपूतन—केचित्तं मातृकादोषं वदन्यन्येऽपि पूतनम् । प्रष्टारुदकुद्रं च केचिच्च तमनामिकम् ॥ (अष्टांगहृदय) । यह रोग मलमूत्र स्वेद से सदैव गंदे और गीले रहने वाले अपान की स्वच्छता ठीक न रखने से होता है । इसके अतिरिक्त दुष्टस्तन्यपान से भी होता है—दुष्टस्तन्यस्य पानेन मलस्याक्षालनेन च ॥ (भोज) । क्योंकि उसके सेवन से बच्चे को खट्टे जलन करने वाले पतले दस्त होते हैं—स तेन सलिलोपममच्छं विच्छिन्न-मामं दुर्गन्धि नानावर्णवेदनं फेनिलमतिसार्यते । (अष्टांगसंग्रह) । अंग्रेजी में अहिपूतन को इन्फान्टाइल एरिथीमा ऑफ जाक्वेट (Infantile erythema of jacquet) या न्यापकिन स्याश (Napkin rash) या सोअर बटकस् (Sore buttocks) कहते हैं ।

ज्ञानोत्सादनहीनस्य मलो वृषणसंश्रितः ।
प्रक्लिद्यते यदा स्वेदात् स करङ्गं जनयेत्तदा ॥५६॥
तत्र करङ्गयनात् क्षिप्रं स्फोटाः स्रावश्च जायते ।
प्राहुर्वृषणकच्छं तां श्लेष्मरक्तप्रकोपजाम् ॥५७॥

(वृषणकच्छ—) स्निग्ध उवटन न लगाने वाले और ज्ञान न करने वाले मनुष्य के वृषणों में जमा हुआ मैल जब पसीने से गीला होता है तब खाज पैदा करता है ॥५६॥ वहाँ खजाने से शीघ्र ही फुन्सियाँ होती हैं और स्राव निकलता है; उसे कफरक्त के प्रकोप से उत्पन्न हुई वृषणकच्छ कहते हैं ॥५७॥

वक्तव्य—उत्सादनम्—सलेहकलेनोद्वर्षणम् । (उल्लेख) ।
वृषणकच्छ—एकमीमा ऑफ दी स्कोटम (Eczema of the scrotum)

प्रवाहणातिसाराभ्यां निर्गच्छति गुदं वहिः ।
रूक्षादुर्वलदेहस्य तं गुदभ्रंशमादिशेत् ॥५८॥
इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने क्षुद्ररोगनिदान नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

(गुदभ्रंश—) अत्यधिक कृथने से तथा अतिसरण से रुज और दुर्बल शरीर वाले मनुष्य का गुद बाहर निकल आता है; उसे गुदभ्रंश कहना चाहिये ॥५८॥

वक्तव्य—गुदभ्रंश—यह रोग अधिकतर बच्चों में और कभी कभी युवकों में भी पाया जाता है । अपूर्ण और पूर्ण करके गुदभ्रंश के दो भेद होते हैं । अपूर्ण में गुदा की केवल श्लेष्मल त्वचा मलद्वार से बाहर निकल आती है । यह दशा युवकों में अधिक पाई जाती है । पूर्ण भ्रंश में गुदा की सारी भित्ति बाहर आती है । यह दशा बच्चों में अधिक पाई जाती है । अंग्रेजी में गुदभ्रंश को प्रोलैप्सस रेक्टि (Prolapsus recti) कहते हैं । कारण—गुदभ्रंश के दो कारणसमूह होते हैं । (१) रूक्षदुर्वलदेहता—रोमान्तिका, कुहूरखाँसी, अतिसार, प्रवाहिका इत्यादि कारणों से शरीर का रुज यानि मेद-विहीन और कमजोर होना । शरीर के साथ साथ गुद की भी रूक्षता (यानि आस पास के स्थान से गुद को सहारा देने वाले मेद का नाश) और कमजोरी हो जाती है, जो गुदभ्रंश

होने में सहायता धरती है । (२) प्रजातिविपर—जिन जिन विकारों में अधिक समय तक अतिमग्न (Tenesmus) होता है, (जैसे—प्रवाहिका, अनियम, केंचुले इत्यादि) तथा जिनके कारण रोगी को अधिक देर तक प्रवाहण (Straining) करना पड़ता है, (जैसे—कृष्ण, अंग, वसिग्न अमरी, मूत्रनार्सकोष, अश्लीलावृद्धि इत्यादि)-वे सब सुदुर्भेग के साक्षान् कारण होते हैं ।

इति मन्त्ररत्नना गोविन्दलक्ष्मणेन विरचितव्यायानुसंहररत्नसंस्मृतिरूपं सुकृत्मानन्दैकर्यां निदानरत्नेन छन्दोगनिदान नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥२३॥

चतुर्दशोऽध्यायः ।

अथातः शूकदोषनिदानं व्याख्यास्यामः । यद्योवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से शूकदोषनिदान का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

चक्रव्य—शूक—गिभ्रवृद्धिकर योग । शूक के स्वरूप के विषय में पीछे बारहवें अध्याय के ६वें सूत्र के वचन में लिखा गया है । जब छोटे लिंगवाने पुरर का बड़ी योनिवाली की के साथ विवाह हो जाता है, तब दोनों की भी कामवासना की वृत्ति नहीं होती । ऐसी अवस्था में की की योनि का सङ्घोच तथा पुरर के लिंग का वर्धन करने के लिये कामयाग्न में विविध योग वर्धान किये हैं (वात्स्यायनीय कामभूज के औपनिषदिक नामक मसमाधिकार्य का द्वितीय अध्याय देखो) । जैसे—महत्कामिचक्रवृद्धिकरयोगवन्तः किरण मणिमान् मृदुसम्पदन । एतद्विदुर्दृष्टीकल्पनेपिठिनैवेन महिषविद्विम्बनीहृदोऽहे ॥ मृदु मरुत्पुगुमगनुत्सन्धु शेक करोचनिनान न हि सरतोऽन्ति ॥ शूकदोष—शूक प्रयोग के कारण उत्पन्न हुए दोष यानि रोग—तीस करि रोगम् लभन्ते । (चरक) ॥

लिङ्गवृद्धिमिच्छतामक्रमप्रवृत्तानां शूकदोषनिमित्ता ददा चाद्यौ च व्याधयो जायन्ते । तद्यथा—सर्पिका, अष्टौलिका, ग्रथितं, कुम्भीका, अलजी, मृदितं, संमूढपिडका, अवमग्नः, पुष्करिका, सपर्यहानिः, उत्तमा, शतपोनकः, त्वक्ष्पाकः, शोणितानुदं, मांसानुदं, मांसपाकः, विद्रधिः, तिलकालकश्चेति ॥२॥

अथोच पडनि मे प्रवृत्त हुए लिङ्गवृद्धि की इच्छा करने वालों के शूकदोष के कारण अठारह रोग उत्पन्न होते हैं । जैसे—१ सर्पिका, २ अष्टौलिका, ३ ग्रथित, ४ कुम्भीका, ५ अलजी, ६ मृदित, ७ संमूढपिडका, ८ अवमग्न, ९ पुष्करिका, १० सपर्यहानि, ११ उत्तमा, १२ शतपोनक, १३ त्वक्ष्पाक, १४ शोणितानुदं, १५ मांसानुदं, १६ मांसपाक, १७ विद्रधि, और १८ तिलकालक ॥२॥

चक्रव्य—अक्रमप्रवृत्त—गात्रोक कम के अनुयाय अनुदान न करने वाले अथवा योग वैद्य की समति विधे विना अनुदान करने वाले ।

गौरसरपणुल्या तु शूकदुर्भेगदेतुका ।

पिडका कफरक्ताभ्यां श्रेया सर्पिका बुधैः ॥३॥
(सर्पिका—) सुदुर्द मरुतों के समान, शूकों के दुर्लभयोग में उत्पन्न हुई, कफरक्तजन्य पिडका वैधों से सर्पिका समझनी चाहिये ॥३॥

चक्रव्य—शूकदुर्भेगदेतुका—एकत्र्य दुर्भेग बरवर्त्तित्वं हेतुर्दोषः म ।

कटिना विषमैरत्नैर्मांरुतस्य प्रकोपतः ।

शूकैस्तु विषमंभुधैः पिडकाऽष्टौलिका भवेत् ॥४॥
(अष्टौलिका—) त्रिगुण शूकों के कारण वायु के प्रकोप में उत्पन्न हुई विषम किनारे की कड़ी पिडका अष्टौलिका होती है ॥४॥

शूकैर्यत् पूरितं शम्भुद्विधितं तत् कफोन्धितम् ।

(मृदित—) शूकों से जो मवेदा पूरित (सा प्रतीत) होता है, वह कफजन्य मृदित है ।

चक्रव्य—शूकैश्च पूरितम्—शूकाचितमनीतितुक्म् । शूक—धान्यगूक ।

कुम्भीका रक्तपित्तोन्था जाम्बवस्थिनिभाऽगुभा ॥५॥

(कुम्भीका—) रक्तपित्तजन्य, जामुन की गुठली के समान और काली (अगुभा) कुम्भीका है ॥५॥

अलजीलक्ष्णैर्युक्तामलजीं च वितर्कयेत् ।

(अलजी—) (प्रमेहपिडकोक) अलजी के लक्षणों से युक्त (पिडका) को अलजी जानना चाहिये ।

मृदितं पीडितं यत्तु संरब्धं वायुकोपतः ॥६॥

(मृदित—) (शूकान करने के पश्चात्) मृदित करने के कारण वातप्रकोप से जो शीघ्र युक्त हो, वह मृदित है ॥६॥

पाणिभ्यां भृशसंमूढे संमूढपिडका भवेत् ।

(संमूढपिडका—) (शूकान करने के पश्चात्) हाथों में लूय मसलने पर संमूढपिडका होती है ।

दीर्घां वहपश्च पिडका दीर्यन्ते मप्यतस्तु याः ।

सोऽवमग्न्यः कफासृग्भ्यां वेदनारोमहर्षकृत ॥७॥

(अवमग्न्य—) त्रिगुणों बहुत सी बड़ी कुम्भिका कीच में फट जाती है, वह कफजन्य वेदना और रोमहर्ष करने वाला अवमग्न्य होता है ॥७॥

पित्तशोणितसंभूता पिडका पिडकाचिता ।

पद्मपुष्करसंस्थाना श्रेया पुष्करिकेति सा ॥८॥

(पुष्करिका—) पित्तजन्य, (छोटी छोटी) कुम्भिका से व्याप्त, कमलकक्षा के आकार की पिडका पुष्करिका समझनी चाहिये ॥८॥

जनयेत् सपर्यहानि तु शोणितं शूकद्विपितम् ॥९॥

(सपर्यहानि—) शूकद्विपित रक्त सपर्यहानि (मुक्तता) उत्पन्न करता है ॥९॥

सुदमारोपमा रक्ता पिडका रक्तपित्तजा ।

उत्तमैषा तु विशेष्या शूकाजीरैनिमित्तजा ॥१०॥

(उत्तमा—) मूत्र या उद्वृद्ध के समान, रक्तवर्णा, रक्तपित्त-
बार बार शूक का दुरुपयोग करने के कारण उत्पन्न हुई
उत्तमा जाननी चाहिये ॥१०॥

रुग्णुमुखैर्लिङ्गं चित्तं यस्य समन्ततः ।

शोणितजो व्याधिर्विश्लेषः शतपोनकः ॥११॥

(शतपोनक—) जिसका लिंग चारों तरफ से छोटे छोटे
के छिद्रों से व्याप्त होता है, वह वातरक्तजन्य व्याधि शत-
क समझना चाहिये ॥११॥

तरक्तकृतो श्लेयस्त्वक्पाको ज्वरदाहवान् ।

(त्वक्पाक—) पित्तरक्तजन्य ज्वर और दाह से युक्त
शक समझना चाहिये ।

स्योः स्फोटैः सरक्तैश्च पिडकाभिश्च पीडितम् ।

य वस्तिरुजश्चोग्रा श्लेयं तच्छोणितार्बुदम् ॥१२॥

(शोणितार्बुद—) जिसका शिथिल रक्त के सहित काले
कोशों से तथा फुन्सियों से पीडित होता है और
ले में तीव्र पीड़ा होती है, वह शोणितार्बुद समझना
हिये ॥१२॥

सिदोषेण जानीयाद्वर्बुदं मांससंभवम् ॥१३॥

(मांसवर्बुद—) मांसदोष से मांस से उत्पन्न हुआ
सर्बुद जानना चाहिये ॥१३॥

र्यन्ते यस्य मांसानि यस्य सर्वाश्च वेदनाः ।

इयात्तं मांसपाकं तु सर्वदोषकृतं भिषक् ॥१४॥

(मांसपाक—) जिसका मांस गलता हो, जहाँ सर्व
कार की वेदनाएँ होती हों, उसे वैद्य सर्वदोषजन्य मांसपाक
मके ॥१४॥

वेदधिं सन्निपातेन यथोक्तमभिनिर्दिशेत् ॥१५॥

(विद्रधि—) सन्निपात से (नानावर्णरुजास्त्रावादि)

योक्त (लक्षणों से युक्त) विद्रधि समझना चाहिये ॥१५॥

कृष्णानि त्रिप्रारयथवा शूकानि सविषाणि च ।

गतितानि पचन्त्याशु मेदं निरवशेषतः ॥१६॥

कालानि भूत्वा मांसानि शीर्यन्ते यस्य देहिनः ।

सन्निपातसमुत्थानं तं विद्यात्तिलकालकम् ॥१७॥

(तिलकालक—) काले अथवा कबरे विले शूक प्रयुक्त
करने पर जिसका समस्त मेद पका देते हैं ॥१६॥ और जिस
मनुष्य (के लिंग) के मांस (काले तिल के समान) कृष्ण-
वर्ण होकर गलते हैं, उनको सन्निपातजन्य तिलकालक समझना
चाहिये ॥१७॥

तत्र मांसवर्बुदं यच्च मांसपाकश्च यः स्मृतः ।

विद्रधिश्च न सिध्यन्ति ये च स्युस्तिलकालकाः ॥१८॥

इति सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने शूकदोषनिदानं

नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

(असाध्य शूकदोष—) इनमें से जो मांसवर्बुद हो,

१ छिद्रैणुमुखैर्वस्तु, छिद्रैणुमुखैर्वस्तु चित्तं मेदं. २ वातपित्तकृतः.

३ दूषितम्. ४ वातरक्तश्लेष्मा.

जो मांसपाक और विद्रधि हों और जो तिलकालक हों, वे
सिद्ध नहीं होते हैं ॥१८॥

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां

सुश्रुतभाष्यटीकायां निदानस्थाने शूकदोषनिदानं

नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

पञ्चदशोऽध्यायः ।

अथातो भग्नानां निदानं व्याख्यास्यामः ।

यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से भग्नो के निदान का व्याख्यान करते हैं, जैसे
कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया ॥१॥

पतनपीडनप्रहाराक्षेपणव्यालभृगदशनप्रभृतिभि-
रभिघातविशेषैरनेकविधमस्त्रां भङ्गमुपदिशन्ति ॥२॥

(भग्नहेतु—) गिर पड़ना, दब जाना, चोट लगना, फँकना,
हिंस और अहिंस पशुओं से दष्ट होना (मुँह से पकड़ा जाना)
इत्यादि विशेष (प्रकार के) अभिघातों से हड्डियों का अनेक
प्रकार का भग्न (प्राचीन आचार्य) वर्णन करते हैं ॥२॥

वक्तव्य—इस सूत्र में वर्णन किये पतनादि कारण भंग
के सान्नात् कारण हैं । लिंग, आयु, व्यवसाय, संधियों और
अस्थियों की विकृति गौण या सहायक कारण होते हैं । जैसे,
काण्डभग्न और संधिमुक्त बाल्य और वृद्ध अवस्था की अपेक्षा
युवावस्था में तथा स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक हुआ
करते हैं; क्योंकि जवान पुरुष ऐच्छिक या अनेच्छिक आपत्ति-
जनक कार्य अधिक किया करते हैं । संधियंध ढीले या कमजोर
होने से तथा संधि का गढ़ा (उद्वृखल) उथला होने से जरा
सा जोर पड़ने पर संधिमुक्त हो जाते हैं । जैसे ही अस्थिज्ञय,
अस्थिवक्रता, अस्थिभंगुरता (Fragilitas ossium), अस्थ्य-
वृद्ध इत्यादि अस्थियों की स्थानिक विकृति से अथवा पक्षा-
घात, अंगघात, फिरंगजन्य मस्तिष्कविकृति से भी जरा सा
जोर पड़ने पर काण्डभग्न हो जाते हैं ।

तच्च भङ्गजातमनुसार्थमाणं द्विविधमेवोत्पद्यते

सन्धिमुक्तं कारुडभग्नं च ॥३॥

(भङ्ग के दो प्रकार—) इनमें (तात्त्विक दृष्टि से)
अनुसंधान करने पर समस्त भङ्ग दो ही प्रकार के होते हैं; १
संधिमुक्त, और २ काण्डभग्न ॥३॥

वक्तव्य—अनुसार्थमाणम्—पतनादि कारणों से जो
विकृति भङ्ग में हुई है, उसकी अनुसाराया यानि अनुसंधान
करने पर । संधिमुक्त—संधिविश्लेष । इसमें अस्थियों के सिरे
अपना स्थान छोड़कर दूर हट जाते हैं, या संधिकोष के
छिद्र में से बाहर निकल आते हैं । इसको डिस्लोकेशन
(Dislocation) कहते हैं । काण्डभग्न—अस्थिकाण्डभग्न ।
इसको फ्रैक्चर (Fracture) कहते हैं ।

तत्र सन्धिमुक्तम्—उत्पिष्टं, विश्लिष्टं, विवर्ति-
तम्, अवचित्तम्, अतिक्षिप्तं, तिर्यक्क्षिप्तमिति पञ्च-
विधम् ॥४॥

१ भग्नमुपदिशन्ति. २ भग्नजातं.

(संधिमुक्त के भेद—) इनमें से संधिविक्षेप १ उत्पिष्ट, २ विच्छिद्य, ३ विवर्तित, ४ अवक्षिप्त, ५ अतिक्षिप्त और ६ तिर्यक्क्षिप्त करके छ प्रकार का है ॥३॥

चक्रव्यय—उत्पिष्ट—जिसमें हड्डी का चूर्ण या पेयण होता है। इसको Fracture dislocation कहते हैं। विच्छिद्य—जिसमें जरा सा विक्षेप ही जाता है। इसकी सबलक्षणेक्षण (Subluxation) या अंशकक्षिप्त विच्छिन्नोत्थान (Incomplete dislocation) कहते हैं। विवर्तित—जिसमें वाम या दक्षिण विभाग में हड्डी सरकती है। इसको ल्याटरल डिस्प्लेसमेंट (Lateral displacement) कहते हैं। अवक्षिप्त—जिसमें हड्डी नीचे की ओर सरक गई है। इसको डाउनवर्ड डिस्प्लेसमेंट (Downward displacement) कहते हैं। अतिक्षिप्त—जिसमें मांस सिराचमनी हृद्यगदि अंग विदीर्ण हुए हैं। इसको कॉम्प्लिकेटेड फ्राक्चर (Complicated fracture) कहते हैं। तिर्यक्क्षिप्त—जिसमें संधि टेढ़ा हो गया है, यानि जिसमें पूर्ण विक्षेपण हुआ है। इसको Complete dislocation कह सकते हैं। इन प्रकारों के अतिरिक्त समण (Open) विक्षेप और अमण्य (Closed) विक्षेप ऐसे भी दो भेद पाश्चात्य वैद्यक में किये जाते हैं। समण में त्वचा विदीर्ण होकर संधि का संबन्ध बाहर वायु के साथ हो जाता है। अमण्य में त्वचा विदीर्ण न होने से संधिविक्षेप का समण बाहर वायु के साथ नहीं होता। मधुकोनाम्याख्या में श्रीकण्ठदत्त ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है—द्विषि हि मद्र मत्रममत्रय च ॥

तत्र प्रसारणाकुञ्चनवियर्तनरूपणाशक्तिरुद्रक-
जत्यस्पर्शासहजं चेति सामान्यं सन्धिमुक्तलक्ष-
णमुक्तम् ॥१॥

(संधिमुक्त का सामान्य लक्षण—) पसारने, सिकोढ़ने, (धर उधर) हिलाने, उठाने (या फेंकने) की शक्ति न होना, तीव्र पीडा, स्पर्श सह न होना ये संधिमुक्त के साधारण लक्षण होने हैं ॥१॥

चक्रव्यय—इन लक्षणों के अतिरिक्त 'विपरमांगता' (Deformity) संधिविक्षेप का एक बड़ा महान् लक्षण है। जोड़ में समीपित हुए अंग अपने अपने स्थान से हटकर दूसरे अस्वाभाविक स्थान में पहुँच जाने के कारण यह लक्षण उत्पन्न होता है। परीक्षा करते समय विग्लिष्ट संधि की तुमरी और ही संधि के साथ तुलना करनी चाहिये। इसके अतिरिक्त यदि जोर के आघात के कारण विरलेष हुआ हो तो त्वचा में घाव, मूत्रन ह्रासदि लक्षण भी मिलते हैं।

विशेषेणोत्पिष्टे सन्ध्यालुभयतः शोफो वेदना प्रादुर्भावो विशेषतश्च नानामकरा वेदना रात्रौ प्रादुर्भयन्ति, विक्रिष्टेऽप्य शोफो वेदनासान्त्यं सन्धि-
विक्रिया च, वियर्तिते तु सन्धिघाभ्यापगमनाद्वि-
पमाङ्गता वेदना च, भयक्षिते सन्धिविक्षेपन्तीव
रुद्रक्यं च। अतिक्षिप्ते द्वयोः सन्धयरुद्रोरतिप्रान्तता
वेदना च। तिर्यक्क्षिप्ते श्वेताभ्याभ्यापगमनमत्यर्थं
वेदना चेति ॥१॥

(उत्पिष्टादि के लक्षण—) विशेष करके उत्पिष्ट में सर्त में दोनों तरफ शोथ, वेदना की उत्पत्ति होती है, और विशेषतया रात में नाना प्रकार की वेदनाएँ होती हैं। विच्छिद्य जरा सी सूजन, निरन्तर वेदना और सन्धि का कार्य ठीक होना (ये लक्षण होते हैं)। विवर्तित में संधि पार्श्व व तरफ चली जाने से अंग टेढ़ा हो जाता है और पीडा होर है। अवक्षिप्त में संधिविक्षेप और तीव्र पीडा होती है। अतिक्षिप्त में सन्धि की दोनों हड्डियाँ दूर होती हैं और पीडा होर है। तिर्यक्क्षिप्त में एक हड्डी पार्श्व की तरफ चली जाती और अत्यन्त पीडा हाती है ॥१॥

काण्डभ्रममत ऊर्ध्वं घट्याम—कर्कटकम्, अथ
कण्ठं, चूर्णितं, पिच्छितम्, अस्थिच्छुद्धितं, काण्डभ्रमं
मज्जानुगतम्, अतिपातितं, चक्र, क्षिप्रं, पाटितं
स्फुटितमिति द्वादशविधम् ॥३॥

(काण्डभ्रम के प्रकार—) अब इनके भागों काण्डभ्रम को कहते हैं—१ कर्कटक, २ अथकण्ठ, ३ चूर्णित, ४ पिच्छित व अस्थिच्छुद्धित, ६ काण्डभ्रम, ७ मज्जानुगत, ८ अतिपातित व चक्र, ९ क्षिप्र, १० पाटित और १२ स्फुटित (इस तरह काण्डभ्रम) बारह प्रकार का होता है ॥३॥

चक्रव्यय—द्वाराविषय—सन्धेय से और विशेष महान् के ये द्वादश प्रकार वर्णन किये हैं, परन्तु वाल्य में काण्डभ्रम के असंख्य प्रकार होते हैं—नय तु काण्डे शुभा प्रयानि, समासने नामभिरव तुल्यम् ॥ (माधवनिदान)। भ्रम की परीक्षा में 'स' किरणों का प्रयोग करने से माधववाच्ये का यह सिद्धान्त बिलकुल सत्य प्रमादित हुआ है।

अथशुयाहुत्स्यं स्पन्दनवियर्तनस्पर्शासहिष्णुत्व-
मधपीडयमाने शब्दः क्स्ताङ्गता विविधवेदनामाहु-
र्भावः सर्वास्वस्थासु न शर्मलाभ इति समासेन
काण्डभ्रमलक्षणमुक्तम् ॥८॥

(काण्डभ्रम के सामान्य लक्षण—) शोथ की अधिकता, हिसाना घुमाना या हटा सह न होना, रगड़ से शब्द होना, (भ्रम का) अंग विच्छिन्न पड़ना, भ्रम प्रकार की वेदनाएँ उत्पन्न होना, और किसी भी स्थिति में आराम माह्य न होना ये संक्षेप में काण्डभ्रम के लक्षण हैं ॥८॥

चक्रव्यय—इस सूत्र में अस्थिभ्रम के स्थानिक लक्षण वर्णन किये हैं। अर्थात्स्थाने शब्द—अंग की पीडन करने से हड्डी के दोनों टुकड़े आपस में रगड़ खाते हैं, जिससे शब्द उत्पन्न होता है। इसको क्रेपिटस (Crepitus) कहते हैं। परन्तु अब दोनों टुकड़े दूर होते हैं या आपस में संलग्न होते हैं या दोनों के बीच में अस्तिदि घात धा जाती है तब शब्द नहीं हो सकता। सत्याङ्ग—अंग की कार्य करने की शक्ति न होना तथा उममें मद्र स्थान पर अस्वाभाविक स्थिति यानि अस्थिरता (Prenatural mobility) धा जाना। इन लक्षणों के अतिरिक्त विपरमांगता भी एक लक्षण है। यह विपरमांगता आपात, अंग का भार और पेशियों की तिर्यक्क्षेप के कारण उत्पन्न होती है। भ्रम से अंग की सर्वाही भी कुछ कम हो

है। लंबाई का फर्क अधिकतर शाय्याओं में दिवाई है। इसलिये परीक्षा के समय रोगी के स्वस्थ अंग के की भंग अंग के नाप के साथ तुलना करना बहुत स्वक है। नापते समय दोनों ओर के समान स्थानों की नापनी चाहिये। इन स्थानिक लक्षणों के अतिरिक्त सार्वदहिक लक्षण भी होते हैं—(१) सन्ध्या-106k) —आघात यदि सजल हो, भंग यदि मर्मस्थान पर रोगी बातप्रकृति हो या तीव्र वेदना हो तो गाड़ी स्तब्धता जाती है। (२) भंगज्वर—प्रायः भंग के दूसरे दिन ज्वर पा है, जो तीन दिन तक रहकर जाता रहता है। यदि भंग ल (Septic) न हुआ हो तो ज्वर १००° से अधिक नहीं पा। दूषित होने पर तीव्र ज्वर और जीवाणुमयावस्था ल होती है। (३) डोलियोन्माद—(Delirium tremens)—लक्षार और कमजोर रोगियों में यह दुर्घटना उत्पन्न होती भंग के पश्चात् प्रायः तीसरे दिन लक्षण उत्पन्न होते हैं, मर्म निदानाश, भयानक स्वप्न, शय्या से या चिड़की से ला, सारे शरीर में कम्प, उन्माद की सी अवस्था, मला-प इत्यादि प्रधान हैं। उन्माद की दशा समाप्त होने पर भी अवसन्न और संन्यस्त होकर मर जाता है।

विशेषतस्तु समूहमुभयतोऽस्थि मध्ये भ(ल)अं नियरिवोन्नतं कर्कटकम्, अश्वकर्णवदुन्नतमश्वकर्णकं, पृथयमानं शब्दवञ्चरितमवगच्छेत्, पिच्छितं पृथुतां तमनल्पशोफं, पार्श्वयोरस्थि हीनोद्गतमस्थिच्छ-उत्तं, वैल्लेते प्रकम्पमानं काण्डभंगम्, अस्थ्यवयवोऽ-स्थमध्यमनुप्रविश्य मज्जानमुन्नहतीति मज्जानुग-म्य, अस्थि निःशेषतश्छिन्नमतिपातितम्, आधुन्नम-बेमुकास्थि वक्रम्, अन्यतरपार्श्ववशिष्टं छिन्नं, गटितमणुबहुविदारितं वेदनावच्च, शूकपूर्णमिवाध्मतं वेपुलं विस्युटीकृतं स्फुटितमिति ॥९॥

(प्रत्येक काण्डभंग के विशेष लक्षण—) विशेष करके दोनों तरफ से उठा हुआ, बीच में टूटा हुआ और गाँठ की भाँति उभरा हुआ भंग कर्कटक होता है। घोड़े के कान के समान ऊँचा हुआ भंग अश्वकर्ण है। जूने पर शब्द करने वाला भंग चूर्णित समझना चाहिये। चौड़ा हुआ अधिक शोथ युक्त पिच्छित भंग है। अस्थि एक तरफ नीचा और दूसरी तरफ ऊँचा अस्थिच्छिन्न है। जो हिलाने से काँपता है वह काण्ड-भंग है। अस्थि का भाग दूसरे अस्थि के भीतर प्रवेश कर मज्जा को बाहर निकाले तो वह मज्जानुगत है। निःशेष अस्थि टूट जाय तो अतिपातित है। जो टेढ़ा हो जाय परन्तु टूटे नहीं है वक्र है। एक तरफ से श्रेय रहे (और एक तरफ से कट जाय) वह छिन्न है। छोटे छोटे और अनेक दरार युक्त तथा वेदनायुक्त पाटित है। धान्य के शूकों से भरा हुआ सा पीडा युक्त और खूब फूटा हुआ स्फुटित है ॥९॥

वक्तव्य—संधिविश्लेष के समान भंग भी सन्न और भंग करके दो प्रकार के होते हैं। सन्नभंग में बाह्य खचा

तथा भंग के ऊपर के मांसादि धातु विदीर्ण होकर वायु भीतर पहुँच जाती है। अथवा भंग में केवल भीतर की हड्डी टूट जाती है। पूर्ण और अपूर्ण इस तरह से भी भंग दो प्रकार के होते हैं। पूर्ण में पूरी हड्डी टूट जाती है; जैसे—अतिपातित (Complete)। अपूर्ण में हड्डी का कुछ भाग टूट जाता है; जैसे—छिन्न (Incomplete)। पूर्ण भंग के विकार—(१) बच्चों में हड्डी मुलायम होने के कारण टूटती नहीं, केवल आर्द्र दृष्ट के समान टेढ़ी हो जाती है। उसे 'वक्र' (Greenstick) कहते हैं। (२) कपाल की हड्डियों में आघात से बाहर का स्तर नीचे की ओर दब जाना है और भीतर का स्तर टूटता है। इसे अवनत (Depressed) भंग कहते हैं। (३) कभी कभी हड्डी टूटती नहीं, उन्नम दरारें पड़ जाती हैं; जैसे—पाटित या स्फुटित (Fissured fracture)। (४) कभी कभी आघात बचता है और बीच की हड्डी टूटती है। उसे उपास्थि भंग (Subperiosteal fracture) कहते हैं। पूर्ण भंग के प्रकार—(१) कभी कभी हड्डी चौड़ाई में पूर्णतया टूट जाती है, उसे व्यत्यस्त भंग (Transverse) कहते हैं; जैसे—काण्डभंग। (२) कभी कभी हड्डी टेढ़ी होकर टूटती है, उसे तिर्यक (Oblique) भंग कहते हैं; जैसे—अश्वकर्ण। (३) कभी कभी हड्डी लंबाई में टूटती है; उसे अनुदैर्घ्यभंग (Longitudinal) कहते हैं। अस्थिच्छ-छिन्न बहुधा इसी प्रकार का भंग है—एषा अस्थिच्छलिका) पार्श्वगनस्तोकास्थिविश्लेषाद्भवति। (मधुकोशव्याख्या)। बंदूक की गोली से इस प्रकार का भंग हो सकता है। (४) कभी कभी हड्डी के छोटे छोटे टुकड़े हो जाते हैं; उसे चूर्णित (Comminuted) भंग कहते हैं। (५) कभी कभी हड्डी का टूटा भाग दूसरे में प्रविष्ट होता है; उसे मज्जानुगत (Impacted) भंग कहते हैं। (६) कभी कभी रक्तवाहिनियों, नाडियों, पेशियों को हानि होती है; उसे पिच्छित (Complicated) भंग कहते हैं। (७) कभी कभी हड्डी अनेक स्थानों पर टूट जाती है; उसे बहुभंग (Multiple fracture) कहते हैं।

तेषु चूर्णितच्छिन्नातिपातितमज्जानुगतानि कृच्छ्रसाध्यानि, कृशवृद्धवालानां क्षतक्षीणकुष्ठश्वासिनां सन्ध्युपगतं चेति ॥१०॥

(साध्यासाध्यता—) इनमें से चूर्णित, छिन्न, अतिपातित और मज्जानुगत कृच्छ्रसाध्य होते हैं; तथा दुर्बल, वृद्ध, बालक, क्षतक्षीण, कुष्टी और श्वासी इनके तथा संधिसमीपवर्ती भंग भी कृच्छ्रसाध्य होते हैं ॥१०॥

भवन्ति चात्र—

भिन्नं कपालं कट्वां तु सन्धिमुक्तं तथा च्युतम् ।
जघनं प्रति पिष्टं च वर्जयेत्संधिक्रिसकः ॥११॥
असंश्लिष्टं कपालं तु ललाटे चूर्णितं च यत् ।
भंगं स्तनान्तरे शङ्के पृष्टे मूर्ध्नि च वर्जयेत् ॥१२॥
आदितो यच्च दुर्जातमस्थि सन्धिरथापि वा ।
संशय्यमितमप्यस्थि दुर्न्यासाहुनिवन्धनात् ।
सङ्घोभाद्वाऽपि यद्रच्छेदिक्रियां तच्च वर्जयेत् ॥१३॥

कपाल और कटि के भिन्न, संधियुक्त और व्युत् तथा जघन संधि के उल्लिखित चिकित्सक त्याग दे ॥११॥ चिर कपालों का संधिविच्छेद तथा चूर्णित और सून के मध्य का, गंल प्रदेश का, पृष्ठवंश का और निर का भग्न त्यागना चाहिये ॥१२॥ जो अस्थि या संधि पहले से ही विकृत हों, तथा जो अस्थि (और संधि) ठीक ठीक जोड़ने पर अनुचित रखने से, अनुचित बज्र से और हिलाने से खराब हुए हों, उन्हें भी त्यागना चाहिये ॥१३॥

चक्षुःशय—आदितो यच्च दुर्गतम्—भग्न होने के पहले ही जो हड्डी खराब हो। हड्डी की बनावट की धरावी निम्न तीन कार्यों से हो सकती है। (१) खास हड्डियों के विकार, जैसे—अस्तिभ्रजा, अस्तिभ्रुता, अस्तिभ्रुता, अस्थ्युद्वेग इत्यादि। (२) अस्थिसमीपवर्ती श्रंग की विकृति का परिणाम, जैसे—धमनिप्रथि (Aneurism) के कारण अस्थि का विलयन होना। (३) सार्वभौमिक विकृति में अस्थि की भी धरावी होना; जैसे—पक्षाघात, मनिष्कगत फ्रिग (जैसे Tabes dorsalis) और वृद्धावस्था इत्यादि। सम्यग्गतिनम्यसि—टूटी हुई हड्डी का योग्य संधान करने पर भी। योग्य संधान तब कह सकते हैं, जब भग्न के दोनों टुकड़े पूर्वस्थिति में यानि दूसरी ओर के स्वस्थ भाग की स्थिति में स्थापित किये जाते हैं। इस स्थिति में भग्न को उस समय तक बराबर रखना चाहिये जब तक भग्न का संयोग मजबूत न हुआ हो। योग्य संधान में विगाड़ होने के तीन कारण इसी श्लोक में दिये हैं— (१) दुर्गन्तय—शरीर की रष्टि से भग्न श्रंग को योग्य स्थिति और दिशा (Correct position and alignment) में न रखने से। (२) दुर्निबन्धनय—बुध्या (Splints) रई तथा अन्य योग्य पदार्थों का उपयोग करके भग्न भाग को मजबूत न बांधने से। (३) लक्ष्मीभय—संहित श्रंग के दोनों टुकड़े आपस में संचालित होने से। संधान करने के कुछ समय के पश्चात् भग्नस्थान पर नई धातु का बनना आरंभ होता है। शुरू शुरू में यह धातु अत्यंत सूक्ष्म होती है, इसमें अस्थि की कठिनायत नहीं होती है; इसलिये श्रंग के हिलने से यह नई धातु बिगाड़ आती है। अस्थिनिबन्धन के लिये बुध्या के अतिरिक्त आजकल चूनी के तार, धातु की पट्टी, हड्डी या हाथीदाँत की कीलें, पेंच, हृदियों इत्यादि भी प्रयुक्त करते हैं। तोहड़े श्लोक में भग्न की असाध्यता (अस्थियों का न जुड़ना) के पाँच कारण दिये हैं—१ अस्थि के रोग, २ उचित संधान न होना, ३ दुर्गन्तय, ४ दुर्निबन्धन और ५ लक्ष्मीभय। इनके अतिरिक्त और तीन कारण होते हैं। १ रोगी की शारीरिक दुर्बलता। इसका उल्लेख ऊपर १० वें सूत्र में 'हृदय' करके किया है। २ अस्थियों के बीच में पेशियों या धातुओं का घा आना। ३ भग्न अस्थि की योग्य रक्तवाहिनी टूट जाने से योग्य मात्रा में रक्त का न मिलना।

मध्यस्थ वयसोऽवस्थासिद्धो याः पतिकीर्तिताः ।

तत्र स्थिरो भवेन्ननुपपन्नान्तो विज्ञानता ॥१४॥

(आयु के अनुसार साध्यासाध्या—) मध्यमायु की जो तीन अवस्थाएँ बर्णन की हैं, इनमें (भग्नचिकित्सा)

जानने वाले (वैद्य) से उपचारित मनुष्य (का भग्न) होता है ॥१४॥

चक्षुःशय—अवस्था—सुखरधान के आधुनिक नामक ३५ वें अध्याय में वृद्ध २०० पर मध्य वय की अवस्थाएँ वर्णन की हैं—वृद्धिधीन संपूर्णता इतिरिति ।। से पहली तीन अवस्थाओं में यानि सीलह से लेकर पाँच साल की उमर तक भग्न आसानी से जुड़ जाते हैं। बार वस्था में भी भग्न आसानी से जुड़ जाते हैं—पथमे वयनि भग्न सुकरमारिरेत् । (चिकित्सास्थान ३३) । चालीस लेकर सत्तर तक कृष्णसाध्यता और सत्तर के पश्चात् असाध्यता उत्पन्न होती है। साध्यासाध्यता का कुछ अधिक विव भग्नचिकित्सा में किया गया है।

तरुणास्थिनि नम्यन्ते भज्यन्ते नलकानि तु ।

कपालानि चिभिद्यन्ते स्फुटन्ति दक्षकानि च ॥१५॥

इति सुधुतसंहितायां निदानस्थाने भग्ननिदाने

नाम पञ्चशोऽध्याय ॥१५॥

(अस्थिविच्छेद के अनुसार भग्न के प्रकार—) त अस्थियाँ लच जाती हैं; नलकास्थियाँ टूट जाती हैं; क अस्थियाँ विदारयुक्त होती हैं; और दाँत फूटते हैं ॥१५॥

चक्षुःशय—गण्ठास्थि—कार्टिलेज (Cartilage) । श्वेत या पीले रंग का चमकदार और लचकदार होता है कान, नाक, स्तनपत्र, टेंडुवा इत्यादि स्थानों में सर्वत्र तल्प स्थियाँ होती हैं। बाह्यावस्था में और गर्भावस्था में व सी अस्थियाँ तदवस्था में होती हैं यानि उनमें अस्थि समान कठिनायत नहीं होती, किन्तु लचक होती है। इसी पक्षाघात या पहरार होने पर वे केवल लच जाती या लच जा हैं। बाह्यावस्था में भग्न प्रायः क (Green stick fracture) स्वरूप का होता है। मन्क—लंबी हड्डियाँ (Long bones) बगल—घुँरी, खण्टी और सपाट हड्डियाँ (Flat bones) जैसे कि ग्लॉब्युली की नई अस्थियाँ। रचक—दाँत—रत्न रचकानि । (शारीरस्थान) ।

इति भास्करसमीपा गोविन्दरायनेन विरचितानामयुर्वेदरत्नसमीपायां सुधुतसाध्यायां निदानस्थाने भग्ननिदाने नाम पञ्चशोऽध्यायः ॥१५॥

पोडशोऽध्यायः ।

अघातो मुखरोगाणां निदानं व्याख्यास्यामः यद्योयाच भगवान् घन्यन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से मुखगत रोगों के निदान का व्याख्यान कर रहे हैं, जैसे कि भगवान् घन्यन्तरि ने किया ॥१॥

मुखरोगाः पञ्चपष्टिः सप्तस्थापतमेयुः । तत्रायत्त गानि—ओष्ठो, दन्तमूलादि, दन्ता, जिह्वा, तालु कण्ठः, सार्वाणि चेति ॥२॥

(संख्या और आचरण—) सातों स्थानों में (निम्नर, मुखरोग फैसल होते हैं। वे (सात) स्थान—ओष्ठ, दन्तमूलादि, जीभ, तालु, कण्ठ, और सर्वत्र मुख ॥२॥

वक्तव्य—पञ्चदशिः—वाग्भट ने पञ्चदश मुखरोग किये हैं—यद्ये साव वेदुताः पञ्चदशनिगमयाः । (अष्टांग-) । दृढ़का चरकसंहिता में मुखरोगसंग्रह्या चोषण किये हैं—संस्थानदूषादिनामभेदार्थे चतुःपद्विंशति भवन्ति । (अष्टांगसंग्रह, अ. २६) । शार्ङ्गधर में चोषण और भावप्रकाश इसलिये वर्णन किये हैं । आयतन—संस्थान । वाग्भट षड् का समावेश मुखरोगों के आशयन में करके अष्ट-द वर्णन किये हैं ।

तत्राष्टावष्टयोः, पञ्चदश दन्तमूलेषु, अष्टौ तेषु, पञ्च जिह्वायां, नव/तालुनि, सप्तदश कण्ठे, पः सर्वेष्वायतनेषु ॥३॥

(आयतनानुसार संख्या—) इनमें से होठों में आठ, श्रोणों में पंद्रह, दांतों में आठ, जीभ में पाँच, तालु में नौ, कण्ठ में सत्रह और संपूर्ण मुख में तीस ॥३॥

वक्तव्य—वाग्भट के अनुसार होठों में ग्यारह, गण्ड में ६, सधुणों में तेरह, दांतों में दस, जीभ में छः, तालु में आठ, कण्ठ में अठारह और संपूर्ण मुख में आठ रोग होते हैं—अक्षरदोषे दश च प्रयोदश तथा च पद् । अष्टवष्टदशाष्टौ च सत् ॥ (अष्टांगसंग्रह) ।

तत्रौष्ठप्रकोपा वातपित्तश्लेष्मसन्निपातरक्तमांस-मेदोभिघातनिमित्ताः ॥४॥

(ओष्ठरोग—) उनमें ओष्ठप्रकोप वात, पित्त, कफ, सन्नि-पात, रक्त, मांस, मेद और अभिघात इनके कारण होते हैं ॥४॥

वक्तव्य—वाग्भट ने निम्न तीन रोग अधिक वर्णन किये हैं—(१) तत्र खण्डोष्ठ श्लेष्मो वानिनीषो द्विधा कृतः । (अष्टांगसंग्रह) । खण्डोष्ठ बहुधा हेमरलिप (Hare lip) होगा । यह सहज रोग है । (२) खर्जूरसदृशं चात्र क्षीणे रक्त-उदं भवेत् । अर्धुद बहुधा एपिथेलियोमा (Epithelioma) होगा । (३) जलदुग्धसुदवदातकफादोष्ठे जलार्धुदम् । जलार्धुद बहुधा म्यूकस सिस्ट (Mucous cyst) होगा ।

कर्कशौ परुषौ स्तब्धौ कृष्णौ तीव्ररुगन्वितौ । दालयेते परिपाट्येते ह्योष्ठौ मारुतकोपतः ॥५॥

(वातज ओष्ठप्रकोप—) वातप्रकोप से होठ खुरदरे, कठिन, सुन्न, काले, तीव्र पीड़ायुक्त और विदारयुक्त होते हैं ॥५॥

वक्तव्य—मारुतज ओष्ठप्रकोप—Cracked या Chapped lips ।

आचितौ पिडकाभिस्तु सर्पपाकृतिभिर्भृशम् । सदाहपाकसंस्त्रावौ नीलौ पीतौ च पित्ततः ॥६॥

(पित्तज ओष्ठप्रकोप—) पित्त से होठ सरसों के आकार की बहुत सी पुन्सियाँ से व्याप्त, दाह पाक और स्राव इनसे युक्त, नीले और पीले होते हैं ॥६॥

सवर्णाभिस्तु चीयेते पिडकाभिरचेदनौ । कण्डूमन्तौ कफाच्छूनौ पिच्छिलौ शीतलौ गुरु ॥७॥

(कफज ओष्ठप्रकोप—) कफ से होठ खचा के वर्ण

की पुन्सियाँ से व्याप्त पीड़ारहित, कण्डूयुक्त, फूले हुए, पिच्छिल, ठण्डे और भारी होते हैं ॥७॥

सकृत्कृष्णौ सकृत्पीतौ सकृच्छ्वेतौ तथैव च ।

सन्निपातेन विद्येयावनेकपिडिकाचितौ ॥८॥

(सन्निपातज ओष्ठप्रकोप—) सन्निपात से होठ कभी काले, कभी पीले, तथा कभी सुफेद होते हैं और अनेक प्रकार की पुन्सियाँ से व्याप्त रहते हैं ॥८॥

वक्तव्य—पित्तज, कफज और सन्निपातज ओष्ठप्रकोप बहुधा Herpes labialis रोग होगा ।

खर्जूरफलवर्णाभिः पिडकाभिः समाचितौ ।

रक्तोपसृष्टौ रुधिरं स्रवतः शोणितप्रभौ ॥९॥

मांसदुष्टौ गुरु स्थूलौ मांसपिण्डवदुद्गतौ ।

जन्तवध्यात्र मूर्च्छन्ति सूक्ष्मस्योभयतो मुखात् ॥१०॥

(रक्तज और मांसज ओष्ठप्रकोप—) रक्तदूषित होठ खर्जूर के फल के वर्णों के समान पुन्सियाँ से व्याप्त, रक्त स्रवने वाले और रक्तवर्ण होते हैं ॥९॥ मांसदुष्ट होठ भारी, मोटे, मांसपिण्ड के समान उभरे हुए होते हैं तथा मुख से दोनों तरफ के ओष्ठभागों पर कृमि मूर्च्छित हो जाते हैं ॥१०॥

वक्तव्य—रक्तज और मांसज ओष्ठप्रकोप तथा वाग्भट का अर्धुद ओष्ठ का एपिथेलियोमा (Epithelioma) होगा ।

मेदसा घृतमण्डाभौ करण्डमन्तौ स्थिरौ मृदु ।

अच्छस्फटिकसङ्काशमास्त्रावं स्रवतो गुरु ॥११॥

(मेदोज ओष्ठप्रकोप—) मेद से होठ घृतमण्ड के वर्णों के, कण्डूयुक्त, स्थिर, मृदु, स्वच्छ स्फटिक समान स्राव स्रवने वाले और भारी होते हैं ॥११॥

वक्तव्य—कफज ओष्ठप्रकोप बहुधा म्याक्रोचेलिया (Macrocheilia) होगा ।

क्षतजामौ विदीर्येते पाट्येते चाभिघाततः ।

ग्रथितौ च समाख्यातावोष्ठौ करण्डसमन्वितौ ॥१२॥

(क्षतज ओष्ठप्रकोप—) अभिघात से होठ क्षत के समान, विदीर्य और छिले हुए, गाँठदार तथा कण्डूयुक्त होते हैं ॥१२॥

दन्तमूलगत रोग

दन्तमूलगतास्तु—शीतादो, दन्तपुष्पुटको, दन्त-वेष्टकः, शौषिरो, महाशौषिरः, परिदर, उपकुशो, दन्तवैदर्भो, वर्धनोऽधिमांसो; नाड्यः पञ्चति ॥१३॥

(दन्तमूलगत रोग—) और दन्तमूलगत रोग १ शीताद, २ दन्तपुष्पुटक, ३ दन्तवेष्टक, ४ शौषिर, ५ महाशौषिर, ६ परिदर, ७ उपकुश, ८ दन्तवैदर्भ, ९ वर्धन, १० अधिमांस, ११-१५ तथा पाँच नाडियाँ (मिलकर पंद्रह होते हैं) ॥१३॥

वक्तव्य—वाग्भट में दन्तवेष्टक और परिदर नहीं वर्णन किये हैं । वर्धन दन्तरोगों में दिया है । दन्तविद्रधि अधिक है—दन्तमांसे मूलः सालैर्वाद्यान्तः श्वययुग्मः । सरुदाहः सवेद भिन्नः पूयासं दन्तविद्रधिः ॥ (अष्टांगसंग्रह) । दन्तविद्रधि को एल्वि-ओलर एब्सेस (Alveolar abscess) कहते हैं ।

शोणितं दन्तवेष्टेभ्यो यस्यारुसात् प्रवर्तते ।
दुर्गन्धीनि सङ्ख्यानि प्रहेदीनि मृदूनि च ॥१४॥
दन्तमांसानि शीर्यन्ते पचन्ति च परस्परम् ।
शीतादो नाम स व्याधिः कफशोणितसंभवः ॥१५॥

(शीताद—) जिसके दाँतों की जड़ से अकारण खून निकलता है, तथा जिसके मसूढ़े दुर्गन्ध युक्त, कारे, गीले और पिलपिके ॥१४॥ होकर गलते हैं और पकते हैं वह कफरक्तजन्य शीताद नामक व्याधि है ॥१५॥

वक्तव्य—अकम्पाद—अकारण—वह रक्तमसूढ़ेयुक्त ।
(अष्टांगसंग्रह) । सङ्ख्यानि—खून रक्त में परिवर्तन होने से दाँत तथा मसूढ़े काळे हो जाते हैं । शीताद—इसको ब्लीडिंग (Bleeding) या स्पंजीगमस (Spongy gums) कहते हैं । यह रोग मुख की मफाई ठीक न रखने से, पारद सेवग से या स्कर्वी (Scurvy) नामक रोग से उत्पन्न होता है । दन्तयोस्त्रिपु या यस्य भवत्यु सरुजो महान् । दन्तपुपुटको श्रेयः कफरक्तनिमित्तज ॥१६॥

(दन्तपुपुटक—) जिसके दो या तीन दाँतों (की जड़) में पीड़ायुक्त बरी सूजन उत्पन्न होती है, वह कफ और रक्त के कारण उत्पन्न हुआ दन्तपुपुटक रोग जानना चाहिये ॥१६॥

वक्तव्य—दन्तपुपुटक—इसको गम् बॉइल (Gum boil) कहते हैं । दन्तविद्रधि से यह छोटा और परिमित होता है और बहुधा मसूढ़े को छेद करके फूटता है । दन्त विद्रधि अधिक गहराई तक फैलता है और कभी कभी हनु का नाश (Necrosis of the jaw) भी करता है । प्रायः इसलिये यह त्रिदारज माना गया है । ऊपर १३वें श्लोक का वक्तव्य देखो ।

अवन्ति पूरुधिर चला दन्ता भवन्ति च ।
दन्तवेष्टः स विज्ञेयो दुष्टशोणितसंभवः ॥१७॥

(दन्तवेष्ट—) (जिसमें दाँत पीप और खून सजते हैं तथा हिलने वाले होते हैं वह दुष्ट रक्तजन्य दन्तवेष्ट रोग जानना चाहिये ॥१७॥

वक्तव्य—दन्तवेष्ट—इसको पायोरिथ्रा अलिवोआरिस (Pyorrhoea alveolaris) या सप्युरिटिद्ध जिन्त्रिवाइटिस (Suppurative gingivitis) कहते हैं । पृष्ठ ३०५ पर ४८२ श्लोक का वक्तव्य देखो ।

भययुर्दन्तमूलेषु रुजायान् कफरक्तज ।
लालास्नायी स विज्ञेयः कण्डूमान् शौषिरो गदः ॥१८॥

(शौषिर—) पीड़ायुक्त, कफरक्तजन्य, लाला सजनेवाला और कण्डूयुक्त दाँतों की जड़ों का शोथ शौषिर रोग जानना चाहिये ॥१८॥

दन्ताश्चलन्ति वेष्टेभ्यस्सालु चाययदीर्यते ।
दन्तमांसानि पच्यन्ते मुखं च परिपीडयते ।
यसिन् स सर्वजो व्याधिर्महारीपरिसंभवः ॥१९॥

(महाशौषिर—) जिसमें दाँत अपने स्थान से हिलने लगते हैं, तालु विदीर्घ होती है, मसूढ़े गलते हैं और मुख

में पीडा होती है, वह महाशौषिर महाशौषिर संज्ञ रोग है ॥१९॥

दन्तमांसानि शीर्यन्ते यसिन् घ्रीयति चाप्यसृक् ।
पित्तासृक्कफजो व्याधिर्होयः परिदरो हि सः ॥२०॥

(परिदर—) जिसमें मसूढ़े गलते हैं, रोगी बार बार र धूकता है, वह पित्तकफरक्तजन्य परिदर नामक व्याधि जान चाहिये ॥२०॥

वेष्टेषु दाहः पाकश्च तेभ्यो दन्ताश्चलन्ति च ।
आघट्टिताः प्रखवन्ति शोणितं मन्दवेदनाः ॥२१॥

आध्मायन्ते सूते रक्ते मुखं पूति च जायते ।
यसिन्नुपकुश स स्यात् पित्तरक्तहृतो गदः ॥२२॥

(उपकुश—) जिसमें दन्तवेष्ट में जलन और पाक होत है, उससे दाँत हिलने लगते हैं, दवाने पर रक्त का स्राव होत है, मन्द पीडा होती है ॥२१॥ रक्तस्राव होने पर मसूढ़े फूटते हैं, और मुख दुर्गन्धयुक्त होता है, वह पित्तरक्तजन्य उपकुश नामक व्याधि है ॥२२॥

घृष्टेषु दन्तमूलेषु संरम्भो जायते महान् ।
भवन्ति च चला दन्ताः स वैदर्भोऽभिघातजः ॥२३॥

(वैदर्भ—) दाँतों की जड़ों में रगड़ने से जिसमें शोथ और लाली उत्पन्न होती है तथा दाँत हिलने लगते हैं, वा अभिघातजन्य वैदर्भ रोग है ॥२३॥

वक्तव्य—शौषिर से लेकर दन्तवेष्टम तक दन्तवेष्टप्रको (Gingivitis) के विविध प्रकार मालूम पकते हैं । महाशौषिके रक्षण प्रधानतर में इस प्रकार मिलते हैं—महाशौषिके सप्युरिथ्रि (अष्टांगसंग्रह) । विद्रुमगिरि दन्तान् तान्तेषु मणि दारवेत् । महाशौषिरमित्येन्त् सतराग्निरिहन्वत् । (भोज) । हिन लक्ष्णों का विचार करने से महाशौषिर बहुत कठे गभीरस रटोमाटायटीज वा कन्जमगोरिस (Gangrenous stomatitis या Cancrum oris) होगा । इसमें गाल के भीतर या मसूढ़ों पर एक ग्रन्थ बनता है, जो जिद्धा तालु इत्यादि पर फैलता है । तीन उवर भी होता है और रोगी ७-१० दिन के भीतर मरता है—This rare disease occurs in children It occurred in two men A sloughing ulcer develops in the inside of the cheek or on the gums perforates the cheek or spreads to the tongue chin jawbone Cancrum oris is accompanied by severe constitutional symptoms the patient being prostrated with a high temperature and rapid pulse Death generally occurs between seven and ten days of the onset Tart look of the practice of Medicine by F W Price मादतेनाधिको दन्तो जायते तीमवेदन । यर्धनं स मतो व्याधिर्जाते रुक् च प्रशापयति ॥२४॥ (वर्धन—) वायु से तीम पीडा करने वाला अधिक दाँत (कमी कमी) उत्पन्न होता है । वह रोग वर्धन है । उसमें दाँत निकल जाने पर पीडा घटत हो जाती है

वृक्तव्य—वर्धन—इसको अधिदन्त या खलवर्धन भी कहते हैं—दन्तोऽधिकोऽधिदन्ताख्यः स चोक्तः खलवर्धनः । (अष्टांग-संग्रह) । अंग्रेजी में एक्स्ट्रा टूथ (Extra tooth) कहते हैं । चन्द्रचक्रवर्ती तथा अन्य आधुनिक टीकाकार इसे अक्लदाढ़ (Wisdom tooth) समझते हैं । परन्तु चिकित्सा में इसको उखाड़ने का इलाज बतलाया है—उद्धत्याधिकदन्तं तु तनोऽग्निमवचारयेत् । इसलिये यह रोग अक्लदाढ़ नहीं हो सकता ।

हानव्ये पश्चिमे दन्ते महाञ्जोथो महारुजः ।

लालास्रावी कैफकृतो विज्ञेयः सोऽधिमांसकः ॥२५॥

(अधिमांस—) निचले जवड़े के पिछले दाँत के पास तीव्र पीड़ा युक्त, लालास्राव करने वाला कफजन्य भारी शोथ होता है, उसे अधिमांस समझना चाहिये ॥२५॥

वृक्तव्य—अधिमांस में निचले जवड़े के अन्तिम दाँत के ऊपर पीछे की ओर से कुछ मांस आ जाता है जो चर्बण के समय कुचल जाने से हनुसंधि, कर्ण में पीड़ा करता है और निगलते समय भी कठिनाई होती है—एनुकर्णरुजाकारः । प्रतिहन्त्यभ्यवहतिम् ॥ (अष्टांगसंग्रह) । बहुधा यह रोग Impacted wisdom tooth होगा ।

दन्तमूलगता नाड्यः पञ्च ज्ञेया यथेरिताः ॥२६॥

(दंतनाडी—) जैसे कि (दशमाध्याय में) कहा है दाँतों की जड़ में (वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज और श्लेष्मज इस प्रकार) पाँच प्रकार की नाड़ियाँ जाननी चाहिये ॥२६॥

दन्तगत रोग

दन्तगतास्तु—दालनः, क्रिमिदन्तको, दन्तहर्षो, भञ्जनकः, शर्करा, कपालिका, श्यावदन्तको, हनु-मोक्षश्चेति ॥२७॥

(दंतारोग—) १ दालन, २ क्रिमिदन्त, ३ दन्तहर्ष, ४ भञ्जनक, ५ शर्करा, ६ कपालिका, ७ श्यावदन्तक और ८ हनुमोक्ष ऐसे (आठ) दाँतों के रोग हैं ॥२७॥

वृक्तव्य—वाग्भट ने निम्न ३ रोग अधिक वर्णन किये हैं । १ कराल—करालस्तु करालानां दशनानां समुद्भवः । २ चाल—चालश्चलद्भिर्देशनैर्भक्षणादधिकव्यथैः । ३ दन्तमेद—दन्तमेदे द्विजा-स्तोदमेदस्फुटनान्तिताः ॥ (अष्टांगसंग्रह) ।

दाल्यन्ते बहुधा दन्ता यस्मिंस्तीव्ररुगान्विताः ।

दालनः स इति ज्ञेयः सदागतिनिमित्तजः ॥२८॥

(दालन—) जिसमें दाँत विदीर्ण से होते हैं और तीव्र पीड़ायुक्त हों, वह वात से उत्पन्न हुआ दालन नामक रोग जानना चाहिये ॥२८॥

वृक्तव्य—दालन—इसको शीतदन्त भी कहते हैं—वातादुष्णासहा दन्ताः शीतस्पर्शाधिकव्यथाः । दाल्यन्त इव श्लेष्म शीता-ख्यो दालनश्च सः ॥ (अष्टांगसंग्रह) । इसको दूथएक (Toothache) या ओडोडोहायनिया (Odontodynia) कहते हैं ।

कृष्णशिछ्द्री चलः स्रावी ससंरम्भी महारुजः ।

अनिमित्तरुजो वाताद्विक्षेयः कृमिदन्तकः ॥२९॥

(कृमिदन्तक—) जो काला हो, छिद्रयुक्त हो, हिलता हो, स्रवता हो, शोथयुक्त हो, तीव्रपीड़ायुक्त हो, विना कारण जिसमें पीड़ा शुरू होती हो, वह वातजन्य कृमिदन्तक रोग जानना चाहिये ॥२९॥

वृक्तव्य—कृमिदन्तक को Dental caries कहते हैं । दाँतों के बीच में फँसे हुए खाद्य द्रव्यों के सहन से जो अम्ल उत्पन्न होते हैं, उनकी क्रिया से दाँत पोले होते हैं । दंतशूल या दालन रोग का कृमिदन्त प्रधान कारण है । जीवद्रव्य डी और खटिक की कमी से भी दाँतों में कीड़ा लग जाता है ।

दशनाः शीतमुष्णं च सहन्ते स्पर्शनं न च ।

येस्य तं दन्तहर्षं तु व्याधिं विद्यात् समीरणात् ॥३०॥

(दन्तहर्ष—) जिसके दाँत शीतल, गरम तथा स्पर्श सहन नहीं कर सकते, उसकी व्याधि वातजन्य दन्तहर्ष जाननी चाहिये ॥३०॥

वृक्तव्य—दन्तहर्ष—ओडन्टायटीज Odontitis । भाष्य के अनुसार 'पित्तमारुतकोपेन' यह रोग होता है ।

वक्त्रं वक्त्रं भवेद्यस्मिन् दन्तभङ्गश्च तीव्ररुक् ।

कफवातकृतो व्याधिः स भञ्जनकसंज्ञितः ॥३१॥

(भञ्जनक—) जिसमें मुँह टेढ़ा हो जाय, दाँत टूट जाय, तीव्र पीड़ा हो, वह कफवातजन्य भञ्जनक संज्ञक रोग है ॥३१॥

शर्करेव स्थिरीभूतो मलो दन्तेषु यस्य वै ।

सा दन्तानां गुणघ्नी तु विज्ञेया दन्तशर्करा ॥३२॥

(दन्तशर्करा—) जिसके दाँतों में शर्करा (पथरी) के समान मल स्थिर हुआ है, वह दाँतों का गुण (कठिनता) नाश करने वाली दन्तशर्करा है ॥३२॥

वृक्तव्य—दन्तशर्करा को टार्टर (Tarter) कहते हैं । इसमें दाँतों के बीच में फँसी हुई चीजों के सहने से खनिज पदार्थ, विशेष करके क्याल्सियम फॉस्फेट, (Calcium phosphate) उनकी जड़ पर जम जाते हैं ।

दलन्ति दन्तवल्कानि यदा शर्करया सह ।

ज्ञेया कपालिका सैव दशनानां विनाशिनी ॥३३॥

(कपालिका—) जब शर्करा के साथ दाँतों के छिलके उतरने लगते हैं तब दाँतों का नाश करने वाले वही छिलके कपालिका जानने चाहिये ॥३३॥

वृक्तव्य—दन्तवल्क—दाँतों का कवच । इसको इन्ग्रामल (Enamel) कहते हैं । शरीर में जितने धातु हैं, उनमें दन्तवल्क सब से कठिन है । मसूढ़ों से ऊपर दाँतों का जो भाग निकला रहता है, उस पर इस द्रव्य का आवरण होता है और इसी के कारण कठिन से कठिन खाद्य द्रव्यों का चर्बण मनुष्य कर सकता है । मुख की सफाई ठीक न रखने से जब इस कवच पर पथरी जम जाती है तब मोर्चा लगे हुए लोहे के समान कवच की मजबूती जाती रहती है; और एक दिन पथरी के साथ वह कवच निकल जाता है ।

१ कफोत्थो यः सोऽधिमांसः प्रकीर्तितः..

योऽप्यग्निधेए पिचेन दग्धो दन्तस्त्वरोपतः ।
श्यावतां नीलतां याऽपि गताः स श्यावदन्तकः ॥३४॥

(श्यावदन्तक—) जो दूधन रण्युक्त पित्त के कारण पूर्ण तया दग्ध होकर काया या नीला पड़ जाता है, वह श्याव-दन्तक है ॥३४॥

यातेन तैस्तेभविंस्तु हनुसन्धिर्विसंहतः ।
हनुमोक्ष इति ज्ञेयो व्याधिरर्दितलक्षणः ॥३५॥

(हनुमोक्ष—) उन उन भावों कारणे वायु से हनुसन्धि बिगड़ जाती है, उसे हनुमोक्ष जानना चाहिये । यह व्याधि अर्दित लक्षणों से युक्त होती है ॥३५॥

यत्कण्डय—तैलोर्मादे—उभेर्मादौतोऽल्पं रात्रो षडिनानि वा । हनते शुभ्रयो वासपि ॥ विद्वेद—विसेपित, विपहित । हनुमोक्ष—हनुसन्धिबिधेर (Dislocation of the lower jaw) । हनुसन्धिबिधे हीले होने से या, हँसने और जगन्नाई देते समय मर्मादा से अधिक मुख खोलने से या खुने मुख पर आघात होने से या दौत निकालते समय अघोऽघु पर अधिक भार पड़ने से हनुमुण्ड हनुतात के अघुद पर से किसलता हुआ उसके आगे पहुँच जाता है । यह विधेय कभी एक ओर कभी दोनों ओर होता है । अर्दितलक्षण—रोगी का मुख देखा होता है, यदि एक ओर का विधेय हो । यदि दोनों ओर का विधेय हो तो ठोड़ी नीचे की ओर दब जाती है, मुँह खुला रह जाता है, उससे लार टपकती है, बोलने निगलने में कठिनाई होती है । कर्णयुत्रिका के आगे गढ़ा और उसके आगे उभार दिखाई देता है । अर्दित और हनुमोक्ष के लक्षणों की समता पूर्ण नहीं है अर्थात् है; जैसे बकीभवति वनत्रार्थ वाक्संग, हनुमह हत्यादि । हनुमोक्ष वाक्संग में दन्तारोग नहीं है, परन्तु 'दन्तस्थानामनीय'दन्तपीडा करवाच्य दन्तरोग' में इसका समावेश किया गया है । चरक और अष्टांगसंग्रह में वातरोगों में हनुमह और हनुसंग्रह करके इसका समावेश किया गया है—हनुसंग्रह स तेन कृष्णवर्णव्येग भाषणम् । (अष्टांगसंग्रह) । दन्तारोगों का सभारण निदान—दौत और मसूहों के प्रायः सभी विकार मुख की सफाई की ओर ध्यान न देने से होते हैं । मुख और दाँतों की सफाई प्रात उठने के बाद रात में सोने से पूर्व और दिन में गितनी बार खाना या भोजन सेवन किया जाय, उतनी बार करना परमावश्यक है—भातेपित्तं च द्वौ कालौ कथ्यकटुतिक्तकम् । भवये दन्तपवनं दन्तमांसाव्यवधयम् ॥ (चरक) । प्राणमुंरुषा च वद वाग्भयुंरुत्तपावनम् । (अष्टांगसंग्रह) । इस प्रकार सफाई न करने से दाँतों के बीच में भोजन के कण फंसे रह जाते हैं और सड़ने लगते हैं—दन्तान्तराणां वाक् शोथेनादीरुच्यते । कुर्वदन्तिर्मे सट्टि मुखस्यानिदन्त्यायम् ॥ (सुश्रुत) । इन बीजों के सड़ने से मुँह में बद-बू आती है, दाँत बिगड़ने लगते हैं, उन पर पथरी जमती है, उनमें कड़ाहा लग जाता है, मसूड़े फूलते हैं, उनसे खून गिरने लगता है, दाँतों की जड़ों में पीप बनती है हत्यादि अनेक विकार उत्पन्न होते हैं । इस मुख्य कारण के अतिरिक्त जीवद्रव्य की, खटिक इनकी भोगन में कमी, पिष्टमय पदार्थों की अधिकता, मांसाहार, सूर्यी, विविध पाण्डुरोग, किरण, पारद सखिया, फारफरस, सीस

हत्यादि रासायनिक चित्र इनसे भी दाँतों की तथा मसू की हरायी होती है ।

जिह्वागत रोग

जिह्वागतास्तु—वष्टकास्त्रिविधास्त्रिभिर्दोषैः
अलास, उपजिह्विका चेति ॥३६॥

जिह्वा के रोग—तीनों दोषों से तीन प्रकार के कण्डय उत्पन्न और उपजिह्विका (इस प्रकार पौष होते) हैं ॥३६॥

जिह्वाऽनिलेन स्पृष्टिता प्रसुप्ता
भवेद्य शाकचक्षुन्प्रकाशा ।

पिचेन पीता परिद्वह्यते च
विता सरसैरपि कण्टकैश्च ।

कफेन गुर्वी पशुला विता च
मांसोद्गमैः शारमलिकण्टकामैः ॥३७॥

(त्रिविध कण्टक के लक्षण—) वातप्रकोप से जीव विदारयुक्त, रसदान, विरहित, और शाकयुक्त के समान (सूरवरी होती है) । पित्त से पीली, वायुयुक्त और एकदु अंगुली से व्याप्त होती है । कफ से भारी, स्थूल और शारमलिक कण्टक के समान मांसाङ्गुली से व्याप्त होती है ॥३७॥

यत्कण्डय—प्रथमा—रखानावरोधव्येनेत्यर्थः । (जातः दर्पणं) । जिह्वा कण्टक (Chronic superficial glossitis) नामक रोग है और वातादि से उसकी तीन अवस्थाएँ बना लाई गई हैं । जैसे—वातकण्टक Cracked or fissured tongue, पित्तकण्टक red glazed tongue और कफकण्टक Ichthyosis है ।

जिह्वातले यः श्वययुः प्रगाढः
सोऽलाससंज्ञः कफरक्तमूर्तिः ।

जिह्वां स तु स्तम्भयति प्रभृशो
मूले तु जिह्वा भृशमेति पाकम् ॥३८॥

(अलास—) जिह्वा के नीचे कफरक्त प्रधान दोषजन्य जो गभीर शोष होता है, वह अलास संज्ञक है । वह बढ़ने पर जिह्वा को स्तम्भित करता है और अङ्ग के पास जिह्वा तीव्र पाक को प्राप्त होती है ॥३८॥

यत्कण्डय—अलास—Sublingual abscess । मूद-बढ़ने पर यह शोष नीचे की ओर गमन कर अघोऽघु उपलब्ध शोष (Submaxillary cellulitis) उत्पन्न करता है । कफरक्तमूर्ति—कफरक्तजन्य । इसमें वात भी संमिश्रित रहता है और यह व्याधि त्रिदोषजन्य तथा असाध्य मानी गई है—कण्टकयो प्राधान्य, जिह्वास्त्रमेन वायुरप्यसि, भूत शक्तेन सिप मयति, अतपुत्र त्रिदोषलोऽसाध्यत्वमपि, दुष्प्रथमलाह । (इहयम्) ।

जिह्वाप्ररूपः श्वययुर्हि जिह्वा-
मुन्नम्य जातः कफरक्तयोनिः ।

एप्रसेकफरहृपरियाहयुक्ता
प्रकश्यतेऽसावुपजिह्विकेति ॥३९॥

(उपजिह्विका—) जिह्वा के अग्र के आकार की, जिह्वा को ऊपर उठाकर उत्पन्न हुई, कफरक्तजन्य, लार, कण्डय और दाह इनसे युक्त सूजन उपजिह्विका कहलाती है ॥३९॥

वक्तव्य—उपजिह्विका—इसको रेन्यूला (Ranula) कहते हैं। इसमें जिह्वा के नीचे श्लेष्मलद्रव (Glairy mucoid fluid) का संचय होने से उत्सेध उत्पन्न होता है। बहुत करके यह संचय जिह्वाधरीय लालाग्रन्थि के स्रोतसों में होता है। चक्र के अनुसार उपजिह्विका केवल कफजन्य होती है—यस्य श्लेष्मा प्रकृपितो जिह्वामूलेऽवतिष्ठते। आशु सजनयेच्छ्रेष्ठं जायतेऽस्योप-जिह्विका। (सूत्र, अ. १८)। वाग्भटाचार्य इसीको 'अधिजिह्वा' कहते हैं। अधिजिह्वः सरकृकण्डूवाक्याहारविधातकृत। (अष्टांग-संग्रह)।

तालुगत रोग

तालुगतास्तु—गलशुण्डिका, तुरिडकेरी, अधु-
पः, मांसकच्छपः, अर्बुदं, मांससङ्घातः, तालुपु-
प्पुटः तालुशोषः, तालुपाक इति ॥४०॥

तालुगत रोग—१ गलशुण्डिका, २ तुरिडकेरी, ३ अधुप,
४ मांसकच्छप, ५ अर्बुद, ६ मांससंघात, ७ तालुपुप्पुट, ८ तालु-
शोष और ९ तालुपाक ॥४०॥

श्लेष्मासृग्भ्यां तालुमूलात् प्रवृद्धो

दीर्घः शोफो ध्मातवस्तिप्रकाशः ।

तृष्णाकासश्वासकृत् संप्रदिष्टो

व्याधिवैद्यैः कण्ठशुण्डीति नास्ति ॥४१॥

(गलशुण्डिका—) कफ और रक्त के कारण तालुमूल से बड़ा, भरी मसक के समान, तृष्णा कास और श्वास करने वाला दीर्घशोथ (रूप) रोग वैद्यों से कण्ठशुण्डी करके कहलाता है ॥४१॥

वक्तव्य—दीर्घ—प्रलंब—प्रलंबः पिच्छिलः शोफः। (अष्टांग-संग्रह)। ध्मातवरिन्प्रकाशः—ध्मातमत्स्यवस्तिप्रकाशः—मत्स्यवस्ति-निभो श्लुः। (अष्टांगसंग्रह)। कास—इससे जो कास उत्पन्न होता है उसकी विशेषता यह होती है कि वह रात्रि के समय या लेटने पर अधिक आता है। कारण यह है कि गल-शुण्डिका लेटे हुए मनुष्य के गले के पिछले भाग पर स्पर्श कर सुरसुराहट उत्पन्न करती है, जिससे खांसी आती है। इससे कमी वमन भी होता है—कण्ठोपरोधकृत्कालवमिकृत् गल-शुण्डिका। (अष्टांगसंग्रह)। गलशुण्डिका—इसको इलांगेटेड युङ्ग्युला (Elongated uvula) कहते हैं।

शोफः स्थूलस्तोददाहप्रपाकी

प्रागुक्ताभ्यां तुरिडकेरी मता तु ।

शोफः स्तब्धो लोहितस्तालुदेशे

रक्ताज्ज्वेयः सोऽधुपो रुग्ण्वराढ्यः ॥४२॥

(तुरिडकेरी—) कफ और रक्त से उत्पन्न हुआ, पीडा दाह और पाक करने वाला, दीर्घशोथ तुरिडकेरी समझना चाहिये। (अधुप—) तालुदेश में रक्त के कारण उत्पन्न हुआ, तीन पीडा और ज्वर इनसे युक्त रक्तवर्ण कठिन शोथ अधुप जानना चाहिये ॥४२॥

वक्तव्य—तुरिडकेरी—वनकार्पातीफल। उसके समान शोथ होता है, इसलिये तुरिडकेरी नाम रक्त्वा गया है—दु-सन्ध्याधितः कण्ठे कार्पातीफलसन्निभः। पिच्छिलो मन्दरुक् शोफः कठिन-

स्ता एकेरिका ॥ (अष्टांगसंग्रह)। वाग्भटाचार्य इसका समा-
वेश कण्ठरोग में करते हैं। तुरिडकेरी बहुधा Enlarged Ton-
sils होगा। अधुप बहुधा तालुप्रकोप (Palatitis) होगा।

कूर्मोत्सन्नोऽवेदोऽशीघ्रजन्मा

रोगो श्लेष्मणः कच्छपः श्लेष्मणा स्यात् ।

पद्माकारं तालुमध्ये तु शोफं

विद्याद्रक्तादर्बुदं प्रोक्तलिङ्गम् ॥४३॥

(कच्छप—) कर्बुवे की भांति ऊपर को उठा, वेदना रहित, देर में बढ़ने वाला कफजन्य रोग कच्छप समझना चाहिये। (अर्बुद—) पद्मकारिका के आकार का, (रक्ता-
र्बुद के) पूर्वांक लक्षणों से युक्त रक्तज तालुगत शोफ अर्बुद जानना चाहिये ॥४३॥

वक्तव्य—कच्छप—तालुका Sarcoma और रक्तार्बुद तालुका क्यान्सर (Cancer) होगा।

दुष्टं मांसं श्लेष्मणा नीरुजं च

तात्वन्तःस्थं मांससङ्घातमाहुः ।

नीरुक् स्थायी कोलमान्नः कफात् स्या-

न्मेदोयुक्तात् पुप्पुटस्तालुदेशे ॥४४॥

(मांससंघात—) कफ के कारण तालु में उत्पन्न हुए पीडारहित दुष्ट मांस को मांससंघात कहते हैं। (तालु-
पुप्पुट—) पीडारहित, स्थिर, वेर के समान, मेदयुक्त कफ से तालुप्रदेश में उत्पन्न हुआ पुप्पुट होता है ॥४४॥

वक्तव्य—मांससंघात Adenoma of the palate और तालुपुप्पुट Epulis of the palate होगा।

शोषोऽत्यर्थं दीर्यते चापि तालुः

श्वासो वातात्तालुशोषः सपित्तात् ।

पित्तं कुर्यात् पाकमत्यर्थघोरं

तालुन्येनं तालुपाकं वदन्ति ॥४५॥

(तालुशोष—) पित्तयुक्त वात के कारण अत्यंत सुखी होती है, तालु विदीर्ण होती है, श्वास होता है वह तालुशोष है।

(तालुपाक—) तालु में पित्त जब तीन पाक उत्पन्न करता है, तब उसे तालुपाक कहते हैं ॥४५॥

वक्तव्य—तालुपाक Ulceration of the palate होगा।

कण्ठगत रोग

कण्ठगतास्तु—रोहिरयः पञ्च, कण्ठशालुकम्,

अधिजिह्वो, बलयो, बलास, एकवृन्दो, वृन्दः,
शतघ्नी, गिलायुः, गलविद्रधिः, गलौघः, खरघ्नो,
मांसतानो, विदारी चेति ॥४६॥

कण्ठगत रोग—पाँच रोहिणी (१ वातज, २ पित्तज, ३ कफज, ४ सन्निपतज, ५ रक्तज), ६ कण्ठशालुक, ७ अधिजिह्वा, ८ बलय, ९ बलास, १० एकवृन्द, ११ शतघ्नी, १२ गिलायु, १३ गलविद्रधि, १४ गलौघ, १५ खरघ्न, १६ मांसतान, और १७ विदारी ॥४६॥

१ उरुको.

गलेऽनिलः पिच्छकफौ च मूर्च्छितौ
 पृथक् समस्ताश्च तथैव शीणितम् ।
 प्रहृष्य मांसं गलरोधिनोऽङ्गुरान्
 सृजन्ति यान् साऽसुहृदा हि रोहिणी ॥४७॥
 जिह्वां समन्ताद्भ्रुववेदना ये
 मांसाङ्गुरा. कण्ठनिरोधिनः स्युः ।
 तां रोहिणीं वातरुतां यदन्ति
 वातात्मकोपद्रवगद्गद्युक्ताम् ॥४८॥
 क्षिप्रोद्गमा क्षिप्रविदाहपाका
 तीम्रज्वरा पिच्छनिमित्तजा स्यात् ।
 स्रोतोनिरोधिन्यपि मन्दपाका
 गुर्वी स्थिरा सा कफसंभया वै ॥४९॥
 गम्भीरपाकाऽप्रतिवारवीर्या
 त्रिदोषलिङ्गा त्रयसंभया स्यात् ।
 स्फोटोचिताः पित्तसमानलिङ्गाऽ

साध्या प्रदिष्टा सधिरात्मिकेयम् ॥५०॥

(रोहिणी—) वात, पित्त और कफ पृथक् पृथक् तीनों मिलकर तथा एक गले में वर्धित होकर मांस को दूषित करके गले के रोकने वाले जो अंकुर उत्पन्न करते हैं, वह प्राणनायक रोहिणी (नामक रोग) है ॥४७॥ जिह्वा के घ्रास पास, श्वेतान्त पीडा करने वाले, कण्ठ को रोक देने वाले और वात के उपद्रवों से अत्यन्त युक्त जो मांसांकुर होते हैं, उन्हें वातज रोहिणी कहते हैं ॥४८॥ शीघ्र उत्पन्न होने वाली, शीघ्र जलन करने वाली, शीघ्र पाक को प्राप्त होने वाली और तीव्र ज्वर युक्त रोहिणी पिच्छनिमित्तज होती है । (कण्ठरूपी) श्रोत का निरोध करने वाली होने पर भी देर से पकने वाली, गुरु, (बहुत) न फैलने वाली कफजन्य रोहिणी होती है ॥४९॥ गम्भीर (धामुओं में) पाक करने वाली, दुर्निवारणिक और तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त सक्षिपातज रोहिणी होती है । पुन्सिर्यो से व्यास, पित्त की रोहिणी के समान लक्षणों से युक्त यह रक्तजन्य रोहिणी असाध्य कहलाती है ॥५०॥

घक्तव्य—मसुहृदा—शीघ्र चिकित्सा न करने पर निश्चय से प्राणहरेण करने वाली । दोनों के अनुसार इसका मारक काल—सप्तश्लोषत्रा हन्ति, यथाश्वेषुम्युद्गना । पश्चात्पि पित्तसूया, सप्तहृत् पवनोत्थिता ॥ (खरनाद) । घरक में मारक काल की परम सीमा त्रिरात्र वतलाई है—त्रिरात्र परम तस्य जन्तोर्भवति भीतिनाम् । कुशलिन वस्तुनात्न शिप संपत्ते सुयी ॥ (सूत्र अ १८) । वातात्मकोपद्रवगद्गद्युक्ता—वातात्मका उपद्रवा कम्पनिनामसम्भवाद्यत्सोत्पत्तिवशमनुगता ॥ (मधुकोष) । रोहिणी—इसको द्विषधीरक इन्फ्लेमेशन ऑफ दि थ्रोट (Diphtherial inflammation of the throat) कहते हैं । यह विकार बैनी-लस द्विषधीरिषा (B Diphtheria) नामक जीवाणु से होता है । इसमें गले के भीतर एक किड्डी बनती है जो स्वर

यन्त्र और भासा में फैलकर आसावरोध करती है । प्रायः हृयी कारण अधिकसंख्य रोगी मरते हैं । ज्वर प्रायः १०४ तक होता है । नाडी तेज और हृदय कमजोर होता है । यदि प्रारंभ में ही योग्य चिकित्सा न की जाय तो आसावरोध व हृदयावसाद से मृत्यु होती है । यदि सुदैव से रोगनिर्मुक्त हो जाय तो अनेक उपद्रवों से पीडित होता है । इनमें हृदय-शैथिल्य और पेग्मियात प्रधान उपद्रव (वातात्मकोपद्रवगद्गद्युक्ता) होते हैं । ताजु और प्रसनिका की पेगियों का घार होने से स्वर अनुनासिक (मिम्बिता) होता है और निगलने में कठिनता होगी है, आँसुओं की पेगियों का घार होने से भैगापन (द्विपाष्टि) हो जाता है । कभी कभी पक्षाघात (Hemiplegia) और पट्टता (Paraplegia) भी उत्पन्न होती है । रोगी के गले में जो किड्डी होती है उसमें रोग के जीवाणु होते हैं, जो खांसने, बोलने, छींकने के समय थूक और किड्डी के सूक्ष्म कणों के साथ बाहर आते हैं और समीपस्थ मनुष्यों के गले में वायु के साथ प्रवेश करके रोग उत्पन्न करते हैं । बालकों में रोहिणी अधिक होती है । उनमें इसका संक्रमण प्रायः पेन्सिल, स्माल, सॉलिया, गिगलस हृयादि मुख के साथ संघर्ष रखने वाली चीजों से होता है । यह बड़ा भयानक संक्रामक रोग है ।

कोलास्थिमित्रः कफसंभयो यो
 ग्रन्थिर्गले कण्ठकशूकभूतः ।

खरः स्थिरः दाखनिपातसाध्य

स्तं कण्ठशालूकमिति युवन्ति ॥५१॥

(कण्ठशालूक—) बड़े पेर की गुठली के बराबर, कफ से उत्पन्न हुई, कटिटे के या शूक के समान, खुरदरी, स्थिर (न जलदी बढ़ने वाली न स्थान बदलने वाली), शूल क्रिया से साध्य जो ग्रन्थि गले में होती है, उसे कण्ठशालूक कहते हैं ॥५१॥

घक्तव्य—कण्ठकशूकभूत—कण्ठवत् शूकवत्, भ्रूणवत् उपमानार्थं । अष्टांगसमह में भी लिखा है—शूकवत् कवत् वणे । शालूक—जलोत्पन्न कंद । कण्ठशालूक—इसको पुढीवाइड्य (Adenoides) कहते हैं । यह विकार गले के नासापक्षिभ भाग में होता है । इससे नासाग्राग का अवरोध होता है—शालूके मार्गरोधन ॥ (अष्टांगसमह) । इसलिये रोगी मुख से श्वास लेता है । सोते समय खुराटे के साथ साँस चलती है—मन्गले सुर्दिरकामित च शालूकमुच्यतेसविरोधकारि । (घरक, चि अ १२) । कण्ठशालूक कफोद्भव भी है । कर्वाँक प्रसनिका ग्रन्थि (Pharyngeal Tonsil) की हलिका धातु (Lymphoid tissue) बढ़ने से इसकी उत्पत्ति होती है—दीर्घे कर्वाँके रोक नोत्पत्त प्रथितोत्रण ॥ (अष्टांगसमह) ।

जिह्वाग्ररूपः भ्ययधु कफासु
 जिह्वाग्रयधोपरि रक्तमिश्रात् ।

क्षेयोऽधिजिह्व खलु रोग एष

घियर्जयेदागतपाक्रमेनम् ॥५२॥

(अधिजिह्वा—) जिह्वामूल के ऊपर जिह्वाग्र के समान रक्तमिश्र कफ से उत्पन्न हुआ शोथ अधिजिह्व नामक रोग जानना चाहिये । पकने पर उसको त्यागना चाहिये ॥५२॥

१ गलेऽनिलः पिच्छकफौ च मूर्च्छितौ मद्रूप मांस च तथैव शीणितम् । गलेयनरोधकैस्तापऽङ्गुरोनिन्दन्ययत्त म्पारिथिय द्व रोहिणी ॥

वक्तव्य—ननु—वाक्शालंकार या पादपूरण के लिये—
 वाक्शालंकारविद्यामानुषे रातु ॥ उसके रक्षण—अधिजिह्वः
 कण्डूबान्धाहारनिष्ठागच्छ् । (अष्टांगसंग्रह) । चरक और
 जिह्वा के ऊपर होने वाले शोध के लिये उपजिह्विका
 तीक्ष्ण होने वाले शोध की अधिजिह्विका कहते हैं—जिह्वो-
 उपजिह्विका स्वात् कफप्रवृत्तादधिजिह्विका च ॥ (चरक, चि.
 २) । अधिजिह्विका को एपिग्लोटाइटिस (Epiglottitis)
 है ।

बलास एवायतमुग्रतं च
 शोफं करोत्यग्रगतिं निवार्य ।
 तं सर्वथैवाप्रतिवारवीर्यं
 विवर्जनीयं वलयं वदन्ति ॥५३॥
 (वलय—) अन्नमार्ग का निवारण करके (जत्र) अकेला
 फला हुआ और ऊँचा शोध उत्पन्न करता है तब सर्व
 र से दुर्निवारशक्ति और त्यागने योग्य उस (व्याधि)
 वलय कहते हैं ॥५३॥

वक्तव्य—अशयति—अन्नस्य गतिर्येन स्रोतसा सोऽन्नगतिरश-
 यतिः, अन्नस्य प्रवेशो वा । (मधुकोशव्याख्या) । चक्रपाणि-
 के मतानुसार चरकोक्त विडालिका (चि. अ. १२)
 वलय एक है । वाग्भट के मतानुसार गलौघ और वलय
 २ एक रोग है; केवल वलय में पीड़ा और शोफ की अव्यता
 ही है—वलय नातिरुक् शोफस्तद्वेवायतोऽथतः । (अष्टांगसंग्रह) ।

गले तु शोफं कुरुतः प्रवृद्धौ
 श्लेष्मानिलौ श्वासरुजोपपन्नम् ।
 मर्मच्छिद्रं दुस्तरभेतदाहु-
 र्वलाससंक्षं निपुणा विकारम् ॥५४॥
 (बलास—) कफ और वायु बढ़कर गले में श्वास और
 हा इनसे युक्त शोध उत्पन्न करते हैं; उस मर्मघाती घोर
 कार की कुशल वैद्य बलास करके कहते हैं ॥५४॥

वृत्तोन्नतो यः श्वयथुः सदाहः
 कण्डून्वितोऽपाक्यमृदुर्गुरुश्च ।
 नाम्नैकवृन्दः परिकीर्तितोऽसौ
 व्याधिर्यलासत्तजप्रसूतः ॥५५॥
 (एकवृन्द—) गोल, ऊँचा, दाहयुक्त, कण्डूयुक्त, न
 कने वाला, मृदु, और भारी जो शोध (गले में) होता है,
 वह कफरुजन्य व्याधि एक वृन्द नाम से कहलाता है ॥५५॥

समुन्नतं वृत्तममन्ददाहं
 तीव्रज्वरं वृन्दमुदाहरन्ति ।
 तं चापि पित्तक्षतजप्रकोपाद्
 विद्यात् सतोदं पवनास्त्रं तु ॥५६॥
 (वृन्द—) अधिक उठा हुआ, गोल, तीव्रदाह और तीव्र-
 ज्वर युक्त (ऐसे शोध) को वृन्द कहते हैं । इसको पित्त और
 रक्त से उपजा हुआ जानना चाहिये, और यदि वेदना युक्त हो तो
 वात और रक्त से उपजा हुआ जानना चाहिये ॥५६॥

१ पवनात्मक.

वर्तिर्धना कण्ठनिरोधिनी या
 चिताऽतिमात्रं पिशितप्ररोहैः ।
 नानारुजोच्छ्रायकरी त्रिदोषा-
 ज्ञेया शतश्रीव शतशून्यसाध्या ॥५७॥

(शतश्री—) कठिन, कण्ठ का निरोध करने वाली,
 मांसांकुरों से अत्यंत व्याप्त, नाना प्रकार की पीड़ा उत्पन्न
 करने वाली त्रिदोषजन्य शतश्री के समान जो गाँठ (गले में)
 होती है, उसे असाध्य शतश्री समझना चाहिये ॥५७॥

अन्धिर्गले त्वामलकास्थिमात्रः
 स्थिरोऽल्परुक् स्यात् कफरक्तमूर्तिः ।
 संलक्ष्यते सक्तमिवाशनं च
 स शस्त्रसाध्यस्तु गिलायुसंज्ञः ॥५८॥

(गिलायु—) गले में कफ और रक्त से उत्पन्न हुई,
 गाँठों की गुठली के बराबर, स्थिर, अल्पपीड़ा करने वाली
 गाँठ, भोजन अटका हुआ सा मालूम पड़ता है, वह शस्त्र से
 साध्य होने वाली गिलायुसंज्ञक व्याधि है ॥५८॥

सर्वं गलं व्याप्य समुत्थितो यः
 शोफो रुजो यत्र च सन्ति सर्वाः ।
 स सर्वदोषो गलविद्रधिस्तु
 तस्यैव तुल्यः खलु सर्वजस्य ॥५९॥

(गलविद्रधि—) जो शोध समस्त गले में फैलकर उत्पन्न
 हुआ है, जिसमें समस्त (तीनों दोषों की) पीड़ा होती है वह
 त्रिदोषजन्य गलविद्रधि नामक रोग है, और वह त्रिदोषजन्य
 विद्रधि के बराबर होता है ॥५९॥

शोफो महान्नजलावरोधी
 तीव्रज्वरो वातगतेर्निहन्ता ।
 कफेन जातो रुधिरान्वितेन
 गले गलौघः परिकीर्त्यतेऽसौ ॥६०॥

(गलौघ—) अन्न और जल का अवरोधक, तीव्रज्वरयुक्त,
 (उदान) वायु का अवरोधक, रक्तयुक्त कफजन्य जो बढ़ा
 शोध गले में होता है, वह गलौघ कहलाता है ॥६०॥

वक्तव्य—अन्नजलावरोधी—अन्न और जल के सेवन में
 कठिनता उत्पन्न करने वाला । वातगतेर्निहन्ता—अतिमहत्वाद्-
 दानवायुगतिरोधकः । (मधुकोश) । अर्थात् बोलने—साँस लेने
 में कठिनता उत्पन्न करने वाला ।

योऽतिप्रताम्यन् श्वसिति प्रसक्तं
 भिन्नस्वरः शुष्कविमुक्तकण्ठः ।
 कफोपदिग्धेष्वनिलायनेषु
 श्लेयः स रोगः श्वसनात् स्वरघ्नः ॥६१॥

(स्वरघ्न—) जिसमें (रोगी) बड़े कष्ट से निरन्तर
 साँस लेता है, स्वर भिन्न होता है, कण्ठ सूखा और विमुक्त
 होता है, वायु के मार्ग कफ से उपलब्ध होते हैं, वह वायु से
 उपजा हुआ स्वरघ्न रोग जानना चाहिये ॥६१॥

घृक्तव्य—भगिप्रमाणम्—रहेकट से । शुष्कविमुक्तक—
शुष्के नीरसो विमुक्तकश्चापान कण्ठो वषय म तथा । भस्वापीनना च
त्रिमपि ग्लिक्लिमरवपनया मोदध्या ॥ (मधुकोष) ।

प्रतानयान् यः श्वययुः सुकष्टो
गलोपरोधं कुरुते क्रमेण ।

स मांसतानः कथितोऽवलम्बी
प्राणप्रयुत् सर्वकृतो विकारः ॥६२॥

(मांसतान—) जो विज्ञानयुक्त, महादुःखदायी, नीचे
को रुटकने वाला, प्राणनाशक, त्रिदोषजन्य शीघ्र धीरे धीरे
गले को बंद कर देता है, वह मांसतान कहलाता है ॥६२॥

सदाहतोदं श्वययुं सरक्त-
मन्तगले पृतिविशीर्णमांसम् ।

पित्तेन विद्याद् घदने विदारी
पार्श्वे विशेषात् स तु येन शेते ॥६३॥

(विदारी—) दाह, पीडा, रक्त (ज्ञान) और बद्ध-
दार तथा सदा गला मांस इनसे युक्त जो शीघ्र मुख में गले
के भीतर होता है, वह पित्तजन्य विदारी समकना चाहिये ।
(यह विदारी) जिस तरफ मनुष्य अधिक सोता है, उस
तरफ (मुख में होती है) ॥६३॥

सर्वसर रोग

सर्वसरास्तु यातपित्तकफशोणितनिमिच्छा ॥६४॥
सर्वसर रोग घात, पित्त, कफ और रक्त से (चार प्रकार
के) होते हैं ॥६४॥

घृक्तव्य—सर्वसर—मुखगर्भोष्णदिग्गलान्वापकनया सर्वमदले
शेयम् । (मधुकोष) । सर्वरिमन् मुले ये भवन्ति ते सर्वसर ।
(बलहृण) । सर्वमुषेय सरतीति सर्वसर । (आदमल) ।
वाग्भट शार्ङ्गधरादि ग्रन्थान्तरों में इसलिये सर्वसर को 'मुख-
पाक' कहते हैं । वाग्भट और शार्ङ्गधर में मुखपाक पाँच प्रकार
का बर्णन किया है—मुखपाके भवेदापाद पित्तपदत्कफादपि ।
रक्तञ्च सत्रिपाताञ्च ॥ (शार्ङ्गधर) । मुखपाक को स्टोमाटाइटिस
(Stomatitis) कहते हैं ।

स्फोटैः सतोदैर्बद्धनं समन्ताद्
यस्याचितं सर्वसरः स याताद् ।

रक्तैः सदाहैस्तनुमिः सपीतै-
र्यस्याचितं चापि स पित्तकोपात् ॥६५॥

(वातज मुखपाक—) जिसका मुख पीदायुक्त कुम्भितं
(छालों) से ब्याप्त हो, वह वातजन्य मुखपाक है । (पित्त
मुखपाक—) जिसका (मुख) रक्तवर्ण, दाहयुक्त, दाँते
पीने (छालों से) ब्याप्त हो, वह पित्तजन्य (मुख
पाक) है ॥६५॥

कण्डूयुतैरल्परुजैः सर्वै-
र्यस्याचितं चापि स वै कफेन ।

रक्तेन पित्तोदित एक एव
कैश्चित् प्रदिष्टो मुखपाकसंज्ञः ॥६६॥

इति भगवता श्रीधन्वन्तरिणोपदिष्टायां तन्त्रिभ्येण भगविना
सुश्रुतेन विरचितायाम् सुश्रुतसंहितायां निदानस्थाने
मुखरोगनिदान नाम षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

(कफज मुखपाक—) जिसका (मुख) कण्डूयुक्त
भस्वपीदायुक्त और सर्वर्ण (कफ के वर्णों के, छालों से
ब्याप्त हो, वह कफजन्य मुखपाक है । (रक्तज मुखपाक—
कुठ (आचार्य) रक्तजन्य मुखपाक संज्ञक (और) ए
(सर्वसर) कहते हैं ; (परन्तु वह) पित्तजन्य ही (समकन
चाहिये) ॥६६॥

घृक्तव्य—रक्तेन इत्यादि—कैश्चित् (भावार्थ) रक्त
मुखपाकस्य एक (सर्वसर) प्रदिष्टः (स) पित्तोदित एव (शाब्दिक)
पित्तोदित—मुखस्य पित्तने पाके दाहोपौ निवृत्तवन्तः । क्षारोक्षिण्यतता
न्यास्तद्वच्च रक्ते ॥ (अष्टांगसंग्रह) । इसलिये यहाँ सर्वं
वद्यपि चार वर्णों किये हैं, तथापि वास्तव में वे तीन ।
होते हैं ।

महाराष्ट्रदेशे वै राशुरीभान्मन्मना ।

'वायुकर'अपादेन कारुण्यैत्रनिवासिना ॥१॥

श्रीगोविन्दस्य पुत्रेण भास्करेण सुश्रीमता ।

वैष्णवे प्राच्यपाश्चात्ये ध्याचार्योपाधिधारिणा ॥२॥

आयुर्वेदं सुनिर्मल्यं पाश्चात्य वैष्णवं तथा ।

आयुर्वेदोपनीतानि शास्त्राभ्यन्वानि वीक्ष्य च ॥३॥

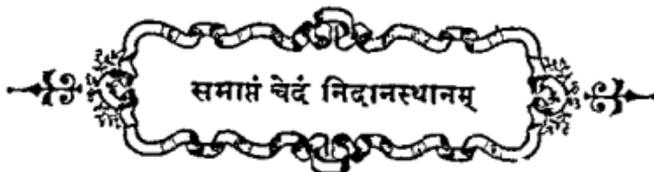
नानातन्त्रविहीनानां भिषगां चालम्बेषजान् ।

छात्राणां शौचकाराय यथानामनययुना ॥४॥

आयुर्वेदरहस्यास्या दीपिका लिखिता च या ।

इयताऽवभिनो तस्मात् निदानं च सम्पद्यते ॥५॥

इति भास्करस्यैवा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिका
सुश्रुतनाभाटीकाया निदानस्थाने मुखरोगनिदान नाम षोडशोऽध्यायः ॥१६॥



समाप्तं वेदं निदानस्थानम्

श्रीः

सुश्रुतसंहितायाः संस्कृत-हिन्दी-शब्दानुक्रमणिका

अंसरोष	३२७	अंगुलिगण	४६	अभिदन्त	२२, १४४, ४०७
अकलदाह	४०७	अङ्कुरित धान्य	३१३	अधिमन्थ	६६
अक्षता	१७५	अगगर	२७४	अधिमांस	४०७
अक्षिनिमेष	२७, ६१	अजपाक्षिका	३६१	अधिपासन	४६
अक्षरोट	२८३	अजीर्ण हेतु	३०७	अचौभागहर द्रव्य	२१८
अक्षतन्त्र	५	," चतुर्विध प्रकार	३०७	," संगठन	२२६
," के अध्याय	१६	," " संप्राप्ति और लक्षण	३०८	अध्ययनसंप्रदानाय अध्याय	१४-१६
अक्षितभूल	२६०	," उपद्रव	३०८	अध्यर्षचार	४६
अक्षितारका, जलशुद्धि से		," चिकित्सा	३०८	अध्यर्षुद्	३७६, ३८०, ४८१
संबंध	३०, २४४	," पर भोजन करने का विचार	३१४, ३१५	अध्यरान	६६, १२२, ३०८
अभिकर्म अध्याय	६५-७१	अंगन	२१३	अध्यस्थि	६२, ६३, १४४
अभिकर्म ४१, ५१ दहनकर्म भी देखो		अंगनशलाका	१४	अष्टुव	४०६
अभिदग्ध, दग्ध देखो		अंगनादिगण	२१३	अनध्यायकात्	१४
अभि (पाचक)	१३१, १३२, ३१३	अंगार	२८३	अनभिष्यन्दि	२४७, २४८
," चतुर्विध प्रकार और लक्षण	१६८	अटस्थक	२८६, २६०	अनार	२८०
," चातुगत पाँच प्रकार	२२४, ३१०	अपठन	११	अनुपानवर्षा	३००
," त्रयोदश प्रकार	३१०	अपटप्रकोप, क्षयप्रकोप देखो		," व्याख्या	३००
," तीक्ष्णादि से दोषप्रकोप और चिकित्सा	१६६	अपठरज्जु क्षयशुद्धिनिदान में उपयोग	३८४	," विविध	३००, ३०१
," तीक्ष्णादि से अप्रपचन काल	१६६	अपठे (मुर्गा धीररह के) संगठन		," सामान्यगुण	३०२
," सहायक वायु	१६६	गुण इत्यादि	२७४	," निषेध	३०२
," शरीर का ईश्वर	१६६	," गुण लक्षुता	३०७	अनुमान (प्रमाण)	६
अमिरोहिणी	३६३	अतसीतैल	२५७	अनुपेक्षित बंध	११३, ११४
अभिवात	३६२	अतितेज दग्ध	७०	," बाधने की रीति	११५
अभिविषर्ष	३७२	अतिदग्ध लक्षण	६७	अनुलोम, (लेप) लगाने की रीति	१११
अभ्याशय	३५२	," चिकित्सा	६६	अनुलोम (शल्य)	२२, १६३, १६६, १६७
," रस ७६, १३०, १३२, ३१३,	३५२	अतिपाती रोग	२६	अनुलोमक	२३०, २६३
अपवक्त्र	४२	अतिसार, असाध्य लक्षण	१८८	अनुशयी	३६३
अप्रोपहरण	२१	," अशुभस्त्रम	१७८	अनुशय, नाम	३०
," अध्याय	२१-२६	," ग्राही औषध का निषेध	१६८	," व्याख्या और उपयोग	३१
अंगुलिताडनपरीक्षा	४५	," वैक्सीन और सीरम प्रयोग	१२८	अनुरस	२१५, २१६
अंगुलिप्राणक	४०	अत्यमि, मस्मकामि देखो		अन्तःपरिमार्जन	१४७
अंगुलिवेष्टक	३६३	अधिगिहा	४४, ४०६, ४१०	अन्तर्मुख	४७
				अन्तरागमन	१६
				अन्तर्वल्कल	४४
				," कुरा के लिये प्रयोग	११३

अन्नसार	८२	अभिपगजम्बर	३३	अर्जुद कन्सर और साकौमा	३०
अन्त्यावसायी	१७८	अम्लमेह	३२०	” निर्मूलन की विधि	१
अन्त्रालगी (अन्त्रालगी)	३६१	अम्लरस, सगज	२२६	अम	१
अन्तर्विह	१५२	” लक्ष्य और गुण	२२०	अर्वाचीन (शल्य)	१६
अन्तःसायी प्रथि	१५०, ३०६, ३५२	” द्रव्यवर्ग	२२२	अशौनिदान अध्याय	३२८-३३१
अप, आहार और भोजन भी देखो		” अधिक सेवन का फल	२३०	अशौ, अर्थ	३२
” फलने विधि	२६५, ३६६	अस्त्रिका	२३१	” दोगपुसार छ प्रकार	३२
” पचन का काल	१६६	अमोनिया, बेहोरी में उपयोग	७०, १६६	” सङ्ग और जन्मोत्तर भेद	३३
” अप्रकाल	३०४	अपन, दक्षिण, उत्तर	२८	” शुष्क और परिसवी भेद	३३
अज्ञानविधि अध्याय	२६६-३१५	अपस्कान्त	४३, १६५, १६६	” हेतु, संप्रति	३२
अपची निदान	६७७	अरहर	२६६	” पूर्वरूप	३३
” कारणभूत शैवाण्ड	३७८	अरिष्ट (मय)	१२२, २६३	” लक्षण	३३
” होने की आयु	३७८	अरिष्ट, व्याख्या	१७१, १७६	” विश्वरारौर	३३
” सहायक कारण	३७८	” स्थायी और अस्थायी भेद	१७१	” वातम के लक्षण	३३
” होने के स्थान	३७८	” पुष्टसहित	१७१, १७६	” पित्त, कफ और रक्त	३३
” स्थानिक लक्षण	३७८	” पुष्टमन्तप्रथ	१७१	” के शुद्धत लक्षण	३३
” निरोधता	३७८	” निवारण की शक्यता	१७१	” सन्निपातम	३३
” और प्रथिविषय का सवध	३७३	” अदर्शन के कारण	१७१	” सङ्ग	३३
अपतन्त्रक	३२३	” और सलु का सवध	१७१	” लिंगज	३३२, ३८१
” और अपतानक का संबंध	३२३	” फलने का काल	१७२	” अन्य स्थान के	३३
” में आदिबलप्रकृति	१२०	” देखने का उद्देश्य	१७२	” चर्मकील	३३
” अपतानक, निर्दिक	३२३	अस्थिका	३६५	” भगन्दर	३३
” के प्रकार	३२३	अशोचक	३८, १३५	” साध्यासाध्यता	१८७, ३३२, ३३३
” का शैवाण्ड	१००, ३२५	अर्कादिगण	२१०	” में सुरण	१४७, ३६६
” सहायक हेतु	३२५	अर्दित, हेतुलक्षण और साध्यासाध्यता	३३६	” में कुलजप्रकृति	१४६, ३२१
” स्वभावात्	३२५	” लक्षण के रूप में	३२६	असजी	१०६, २३६, ३६१, ४००
” संप्रति	३२५	” असाध्य होने की कालमर्यादा	३६	असस	३६५
” सवधकाल	३२५	अर्थांगवायु	३२६	अलाण्ड (फल)	२८१
” लक्षण	३२५	अर्थकपाटसंबंध	१००, १०१	अलाण्ड यन्त्र, तुम्बीयन्त्र देखो	
” कुबला विष से भेद	३२५	अर्थपार	४६	अलास	४०६
” आण्ड	३२५	अर्चन्दमुखी	४२	अवद	१६५
” असाध्यता	३२५	अर्जुनिदान	३७८	अवपाटिका	३६८
अपत	३६५	” वातादि के लक्षण	३७८	अवगुजराक	२८६
अपरापतन	४३	” रज	३७६	अवलंबक कृक	८८, १३५
अपन्सर, मानशरीर करने का		” मांसज	३७६	अवसादन इष्य	४०८
” कारण	६	” साध्यासाध्यता	३७६	अवाराणीय अध्याय	१८६-१८८
” असाध्यलक्षण	१८८	” अर्जुद, दिर्जुद	३७६	अववाणुक	३२७
” अशुभस्वन	१७८	” पाक्षमात्र का कारण	३७६	असन्तक	१२८, १८६
अपानवायु	३१६	” स्पृह्या और हेतु	३७६	असरीनिदान अध्याय	३३१-३३८
अप्रहर्ष	१२३	” शीम के लक्षण	३७६	असरी, निर्दिक	३३३
अभिवदन	१५	” पातक के लक्षण	३७६, ३८०	” सख्या	३३३
अभिषन्दि	१३६, २४७, १७८, ३२७	” नामकरण की रीति	३८०	” अधिगन	३३३
अभिवय		” पातक के दो भेद	३८०	” हेतु	३३३, ३३५

पूर्वरूप	३३४
सामान्यलक्षण	३३४
कफज, संगठन, संप्राप्ति,	
लक्षण	३३४
पित्तज, संगठन, संप्राप्ति,	
लक्षण	३३४, ३३५
वातज, संगठन, संप्राप्ति,	
लक्षण	३३५
बालकों में अधिकता	३३५
शुक्रज, हेतु और लक्षण	३३५
विकार	३३५
और शर्करा में अन्तर	१८७, ३३५
उत्पत्ति और वनावट	३३, ३३३, ३३४
उत्पत्ति में मूत्रप्राप्तिक्रिया	३३८
हरण का कर्म	४२
असाध्यता	१८७
औषधि, कार्य करने का	
तरीका	१४७, ३३६
टक	४३
औषधियाँ और उनके	
प्रतिनिधि	२०६, २१३
पराशक्तमार्ग्य अध्याय	१५६-१६१
१ (वातरोग)	३२८
मूत्ररोग	३२८
१ (अग्नि)	८६, ६०, ३८०, २८५, ३२८, ३२८
२ (अग्नि)	४३, ३२८
३ (अग्नि)	५६, १६६
४ (अग्नि)	३२०
५ (अग्नि)	६७
६ (अग्नि)	७६
भ्रम-कारणभ्रम देखो	
के रोग,	१५४, १६३, ३४३, ४०१, ४०४, १५०
के रोग में जीव द्रव्य ही	
और खादिक का महत्त्व	३१३
विवर	१६३
विद्व लक्षण	१६०
गत शल्य लक्षण	१६३
निकाशने की विधियाँ	४३, १६७
पूतना	३६६
आ	
रिमक रोग	१५१, १५२

आकाशीय द्रव्य	२२६
आक्षेप (वातरोग)	३२३
आगन्तुक व्याधि	८, १२, १५१
के कारण	१०६, १५१
और शारीरिक में अन्तर	६
आचार, अर्थ	६
चिकित्सा	६
आचारिक	२६
आचूषण	४४, १६५
आञ्छन	४४
आटीमुख	४६
आटोप	६३, १३८, ३२८
आद्व्यरोग	३२१
आद्व्यवात	३२०
आतङ्क	१३७
आतप (मूर्च्छा) ज्वर	७०, १२०
आतशक, फिरंग देखो	
आतुरोपक्रमणीय अध्याय	१६२, २०४
आत्ययिक	६६
आदान	२८, १३१
आदिवलप्रवृत्त, अर्थ	१४८
रोग	१४६, १५०
आध्मान	७३, ३२८
हेतु, संप्राप्ति और चिह्न	३५४
आध्मापन	१६६
आध्यात्मिक	१४८
आधिदैविक	१४८
आधिभौतिक	१४८
आनाह	५८
आनूप देश	२०२
जल गुण	२४८
आनूपवर्ग	२७२
पाँच विभाग	२७५
आन्तरिक जल, जल देखो	
आन्न, ताँत देखो	
आन्न, क्षुद्र और स्थूल	१३०
आन्नपरिवर्तन	३५८
आन्नपुच्छशोथ, सेक और	
उष्ण बस्ति प्रयोग	१४७
आन्नरस	७६, १३१, १३२, ३१३
आन्नवृद्धि	३८३
अर्थ	३८३
सहज और जन्मोत्तर	३८३
अप्राप्तफल कोश	

की चिकित्सा	४२
कोशप्राप्त या पूर्ण	३८३
आवरणयुक्त रचना	३८३
में मिलने वाले कोष्ठस्थ अंग	३८४
विपाशित की चिकित्सा	१४८
के लक्षण	३८४
और्वा	३८४
नाभि की	३८४
सापेक्षनिदान का विचार	३८४
आन्नसंमूर्च्छन	३५८
आन्निकज्वर, दूषित जल से उत्पत्ति	२४४
दूषित मछली से	
उत्पत्ति	२७८
प्रतिषेधक चिकित्सा	१२८
आयुद्रव्य	२२५
आमपैक्षणीय अध्याय	१०५
आमरस, व्याख्या	२११
मेदोवृद्धि से संबंध	६६
आमलक (आँवला)	२१४, २२०, २४०, २८०
फलों में श्रेष्ठता	२८०
प्राचीन	२८१
मज्जा	२८४
आमलक्यादिगण	२१४
आमाजीर्ण	३०७
लक्षण और चिकित्सा	३०८
आमाशय, निरुक्ति	१३१
समाई और प्रयोजन	१३४
गत पचन का कार्य	१३४, ३११, ३१३
आमाशयिक रस	७६, १३०, १३२, ३१३
आम्र (आम)	२८०
आम्रातक	२८१
आयु, व्याख्या	६
युगानुधार मान	४
कलियुग में मान	१८६, २००, २०१
प्रकृति के अनुसार मान	१६२
दीर्घता के लक्षण	१८२, १६५
मध्यमता के लक्षण	१८३, १६५
अल्पता के लक्षण	१६३, १६५
के अनुसार दोषवृद्धि	२०१
वृद्धि की युक्ति	१८६
समाप्ति के कारण	१८४
समाप्ति पर औषधों के	

निष्कन होने के कारण १५४, १८६	आशमिन कर्णबंध १००, १०१	इन्द्रवि	
समाप्ति पर उपचार की	आसन १२२	इन्द्रमद	
० निष्कलता १६२	विधेय आसन के गुण २६३	इन्द्रलुप्त	
आयुर्वेदा, महत्त्व और अणु १६२	आहारण २१, ४४, ४८	इन्द्रबा	
आयुर्वेद, अणु से उत्पत्ति ३, १६०	योग्या ४२	इन्द्रिय, कर्ष	
उत्पत्ति का अर्थ १	योग्य विचार १२७	इन्द्रि ६४	
का वेद ३	के शत्रु ४८	के अर्थ ६४	
व्याख्या ६	आहार, अन्न और भोजन भी देखो	प्रहण में मन	
प्रयोग ६, २२६	विधेय भेद ६, ७४, ७६	इन्द्रियार्थ विप्रसि १७६	
अधिकार ८	अयुर्विध भेद ७६, १३६, २६६	इन्द्री	
के दो प्रधान संप्रदाय १	के उपादान ७६, १३२, १३२	इन्द्रिवेदिका	
अष्टविभाग ४	पचन और शोषण ७६, १३२, ३११, ३१३, ३१४	इन्द्रुर्ग	
करने का प्रयोग ३	गुरु लघुता का विचार २७६, ३०२	में छेठ इन्द्र	
अष्टविभाग के स्वतन्त्र प्रयोगों का अस्तित्व ३	से रसादि धातुओं की उत्पत्ति का काल ८०	इन्द्रु के सामान्यगुण	
शत्रु कहने का कारण २०	का महत्त्व २८, २६६	के प्रकार और उनके गुण	
पचनपचन विधि १६	विधि ३०२	की मूलमन्त्राभ्युत्थार मधुरता	
पचनपचन का फल ३, १३	उपकल्पना ३०३	इन्द्रुसे, दन्तपीठ	
गत चार प्रमाण ६	के लिये योग्य स्थान ३०३	दन्तपीठ	
आयुर्वेदोपनीत शत्रु २०	विधेय रस सेवन का क्रम ३०३	का आसन	
आरन्ध्रवादिगण २०६	मद्य भोज्यादि के सेवन का क्रम ३०३	की सीधु	
आरा ४७, ४८	सेवन का काल ३०४	इन्द्रुमेह	
आरु १४३	सेवन संबंधी नियम ३०३, ३०४	उ	
आरुकर निबन्धनगुण २८३	नियम के पालन का फल ३०४	उच्छ्वास, अर्थ और अरिष्ट	
फलगुण २८४	नियम पालन न करने से हानि ३०४	उषद	
तैलगुण २६७	मात्रा ३०४, ३०७	के मद्य पदार्थ	
शक २८८	अयोम्य ३०४	उषदक	
आर्द्रक (अदरक) २८६	पचन के समय दोषवृद्धि क्रम ३०३, ३१४	उत्कटकासन	
आलेप १११	आहारगति निश्चय ३१०	उत्कोठ	
लगने की दिशा १११	का तुलनात्मक कोष्क ३११	उत्कासन	
प्रकार और इनमें अन्तर ११२	आहार्य कर्णबंध १००, १०१	उत्क्षण विधि	
पृषक पृषक गुण ११२	इ ३	उत्कर्म	
दशविध उद्देश्य ११२	इहूदी २११	उत्पुषित	
मोटाई का प्रमाण ११२	फल २८४	उत्तरासंग	
शुष्क का निषेध १११	तैल २६७	उत्तरकल्प, निष्किक और विषय	
रात्रि का निषेध ११२	इति २६	उत्तरायण	
दोषानुसार वेदद्वय की मात्रा ११२	इक्षु १३६	उत्पलादिगण	
संबंधी कृद्घ नियम ११२	इन्द्रगोप ३४	उत्पलमेधक कर्णबंध	
आजोचक पित ८८, १३३	इन्द्रधनुष्य ११०	उत्पलपत्र	
आवरण (वायु के) ३२०		उत्पाटन	
अणु, संख्या ७७		उत्पात	
आयुकारीगुण ३०६		उत्संगबंध ११२, ११	
आयुवर्धक २८८		उत्सादन	
		इन्द्र	

एरण्डतैल, विरेचक तैलों में श्रेष्ठता २३५	” सर्वांग प्रहरण के लिये उचित काल की अनावश्यकता २०८	कच्छपी
” विविध रोगों में उपयोग २५६	” गुणानुसार उचित भूमि २०७	कच्छू
” दुर्बलों में विरेचन के लिये प्रशस्त २४१, २४६	” श्लेष्म विधि २०६	कटराकेरा
एर्षाद २०५	” रक्षय विधि २०८, २०६, २१६	कटरहर
एलादिगण २११	” शाला २०८, २०६	कटुकरस, संगठन
एरण्य २१, ४४, ४८, ५१	” गुण १६१	” लक्षण
” की बीम्या ५२	” नवीन, पुरानी और आर्द्र प्रयोग के नियम २०७	” गुण
” योग्य विकार १५७	” चूर्णादि के पुराने होने का काल २०८	” द्रव्यवर्ग
एषणी ४७, ४१, ५१	” सैतीस गण २०६	” अधिक सेवन का फल
” के कार्य ४८	” कपायादि छ. कल्प २४२	” द्रव्य में श्रेष्ठ द्रव्य
” के प्रकार ५०	” ” की मात्रा का विचार २१८	कट्टर
ऐरण्यत फल २८१	” मात्रा का बयानुसार प्रमाण २०१	कण, रक्त देखो
ऐ	” संबंधी सामान्य नियम २१८, २१६	कण्डमाला
ऐ	” पाँचवादि पाँच प्रकार २२५	कण्टरीय संख्या
ऐ	” रसानुसार छ. विभाग २१६, २११, २३२	” नाम
ऐ	” रसवीर्य विपाक का विचार २१६, २२०	कण्टरीयान्वाद्यलोकनी ४
ऐ	” रसवीर्य विपाक का बलाबल २१३	कण्टरीय, निकालने की विधि १६
ऐ	” शरीर पर कार्य करने का तरीका १८६, २२३	कण्टरीयलूक
ऐ	” कार्य के लिये शरीर के सहयोग की आवश्यकता १८६	कट्टर
ऐ	” गतायुष में निष्फलता का कारण १८४, १८६	कदम्ब
ऐ	औ	कन्दर्पो
ऐ	और्द्धिगण ११	” सामान्य गुण धर्म
ऐ	और्द्धेयत्व तन्त्र २१	” वर्धनीय
ऐ	और्द्धनियतिक्रम ५	” संगठन और भोजन में एषा
ऐ	और्द्धसर्गिक रोग, व्याख्या १५२, १४७	कन्दुपाचित
ऐ	” नाम १४७	कन्या, अर्धे
ऐ	” संक्रमण मार्ग १४७	कषाटसंक्षिप्त बंध १००
ऐ	और्द्धप्रतन्त्र २१	कषालिका (दंत)
ऐ	क	कषिष्य
ऐ	कञ्जुन्दराधि १४६	” नील
ऐ	कष्या २१६, २१९	कषिष्यल
ऐ	कंठमुष ४५	कषोत
ऐ	कंठु १७९	कक, निरालि १३०
ऐ	कण्डण ४०६	” भेद, नाम और कार्य ८८
ऐ		” स्थान १३०, १३१
ऐ		” स्वल्प
ऐ		” प्रथम कारण
ऐ		” ” काल
ऐ		” घण लक्षण
ऐ		” ” में अमिश्रित द्रव्य
ऐ		” छिदि लक्षण
ऐ		” निकर संख्या
ऐ		” का मयूर रस से शोधर्म

का कटुक रस से विरोध	२२६	कर्मविरुद्ध	१२६	काल, विभाग	२७
संशमन वर्ग	२१८	कर्माभ्यास, महत्त्व	१८, १६	,, चिकित्सा में उपयोग	११
ल, विविध प्रकार	७३, २१४, २१८	कलायखञ्ज	३२७	,, चक्र	२६
पुष्प गुण	२६०	कलायशाक	२८८	कालमलप्रवृत्त व्याधि	१५१
क्षार का रक्त पित्त में योग	५७	कल्क	११२, २४२	कालमेह	
कन्द गुण	२६२	कवचबीज	२६६	कालस्कन्ध	२१०
फल गुण	२८२	कवलिका	२४	काला नमक	२६३
पन परीक्षा	१०८, ३८३, ३५६	कपायरस, संगठन	२२६	काललून	२६३
पोन्माद	४०३	,, लक्षण	२३०	कालिन्दशाक	२८५
पत्र	४५	,, गुण, अधिक सेवन का फल	२३१	कालीयक	२१०
रण, भेद और कार्य	६४	,, द्रव्य वर्ग	२३२	काश्मरी	२८३
रण, फल	२८४	,, में श्रेष्ठ द्रव्य	२६४	कासमर्द	२८६
रण, तेल	२५७	,, रक्त स्तम्भन में प्रयोग	८७	कासीस	२०६, २१३
रण, दो भेद	२०६	कपास, श्रुत और शीत	२४२	कांस्य	२६४
रणल	४०७	काफमाची शाक	२८६	,, पात्रस्थित दश दिन के घृत	
रणरी	५१, २८४	काकारणफल	२६६	का निषेध	१२६
रणरौदा	२८१	काकोल्यादिगण	२१२	किटिभ	३४४
रणकैटक	२७६	कारणभ्रम	४०१	किरण, खमीर देखो	
रणकौक	२८५	,, सामान्य स्थानिक लक्षण	४०२	किलाट	२५४
रणकौटक	२८६	,, ,, सार्वदैहिक लक्षण	४०३	,, छत भक्ष्य के गुण	२६६
रणकेशगुण	३०६	,, द्वादश प्रकार	४०२	किलास	५८, ३४४
रणकैपालि, उपद्रव	१०३	,, ,, लक्षण, विवरण	४०३	,, दोषानुसार भेद	३४४
,, चिकित्सा	१०४	,, सत्रण और अत्रण भेद	४०३	,, में बिकृति	३४४
,, वर्धन अभ्यंग	१०२	,, के अस्तित्व विशेष के अनुसार		,, हेतु	३४४
रणकैपीठ	१०१	प्रकार	४०४	,, व्रण और द्रोषण प्रकार	३४४,
रणकैफेर	३६४	साध्यासाध्यता	४०३, ४०४		३४५
रणकैबंध	१००	,, की असाध्यता के कारण	४०४	,, असाध्यता	३४५
,, की विधि	१०२	,, में हड्डी जोड़ने की चीजें	४०४	,, और कुछ में अन्तर	३४४
रणकैवेधन, उद्देश्य	६६	,, परीक्षा में 'क्ष' किरणों का		क्रीटक, रोग प्रसार में योग	३४७
,, काल और स्थान	६६	उपयोग	४०२	,, दंश में चार प्रयोग	५८, ६३
,, योग्य और अयोग्य स्थान		,, में कुशा का उपयोग	४३, ५१	क्रील	३६१, ३६२
वेधन के लक्षण	६६	काम्बलिक यूप	२६७, २६८	कुम्कुट	२७३, २७४
,, अयोग्य स्थान वेधन के		कायचिकित्सा	५	कुटन	२१
उपद्रव	६६, १००	कारवी	२८६	कुठारिका	४७
,, अयोग्य वेधन की		कार्बोहाइड्रेट,	७६, १३२, २६८, ३११	कुधान्यवर्ग	२६८
चिकित्सा	१००	,, शरीर में परिवर्तन	१३२, ३५१, ३५२	कुनख	३६३
,, योग्य वेधन की चिकित्सा	१००	,, के लिये पाचक द्रव्य	३१४	कुलीन, गुणधर्म	२५२, २५५
,, शस्त्र	४८	कार्पीसकृतोष्णीषा	४१	कुन्दक	२८२
रणकैशङ्कुलि	१०१	कार्श्य	६७	कुमारघार	६६
रणकैशल्य, चिकित्सा	४०, १६६, १७०	,, की स्थूल्य से प्रशस्तता के		कुम्भसर्पि	२५६
रणकैशोधनशलाका	४२	कारण	६७	कुर्ग	२७३
कर्तरी	४७, ४८	,, के लिये अनुपान	३०१	कुसुमिन्द	५१
कर्दम विसर्प	३७२	काल, निरुक्ति	२७	कुलत्थ	२६६, २६७
कर्पूर	२८४			कुलिग	२७४

कुञ्जीन	१७३	कृष्णमयदल	१११, १६४	घार, तीक्ष्णादि का व्याधिवला-	
कुट्टा	४१, ६१	केदारकूलान्याय	४६	मुसार प्रयोग	६०
कुट्टा के लिये इत्र	४१, १११	केला	२०२, २०३	" गुण और दोष	६१
कुम्भाय	२६६	केरिफारे	०१, ११६	" कर्म	६१
कुट्ट निदान अध्याय	१४१-१४७	केसर	२६०	" -गत रत्नों का विवरण	६२
" निरुक्ति	१४१	केसर	३००	" बनाने की विधि का रासायनिक	
" मुख्य और सहायक हेतु	१४१	" में आदिवलप्रगुति	१४६	विवरण	६२, ६३
" में कुलन प्रगुति	१४०, १४६	कीठ	३६१	" शूद्र, मध्यम और तीक्ष्ण की	
" का लीलायु	१४१	कीशबंश	१११, ११४	परीक्षा	६१
" संप्रति	१४१	कीशलयर्ग	२७६	" की अम्ल शै शान्ति का विवरण	६२
" संवय काळ	१४२	कीठ, व्याख्या	१४१	घारकर्म के लिये अयोम्य रोगी	५०, ६४
" पूर्वस्व	१४२	" -गत शत्यलक्ष्य	१६३	घारदम्ब, प्रकार और लक्षण	६४
" धूर और महान् भेद, संख्या		कीर्णबंश	११६	" विक्रिस्ता	६१
और नाम	१४२	कीमारण्य	३	घार के लिये प्रयुक्त इत्र	६४
" नाम और संख्या में मतभिन्नता	१४२	" के अध्याय	१७	घारकर्म	२६३
" विदोषत्व	१४२	" में प्रकृति उन्न	१७	घारमेह	३२३
" लीलायुगन्यता	१४२	कपन	६६	घारपाकविधि अध्याय	२७-६३
" दोषानुसार महाकुष्ठों के नाम	१४२	कमपरिणामपत्र	७६	घारमोर्ट	२३२
" दोषानुसार लक्षण	१४२, १४३	कियाकाल, प्रथम	१३३	घारदधिनाय	७६
" घास्त्रुमवेराट रमीरता	१४२	" द्वितीय	१३७	घारद्व	२०३, २०१
" और किलास का अन्तर	१४४	" तृतीय, चतुर्थ	१३०	" फल के गुण	२०१
" मण की असाध्यता	१४३	" पंचम, षष्ठ	१३६	" पत्थी के गुण	२००
" साध्यसाध्यता और उपद्रव	१४३, १०७	" पर विक्रिस्ता करने का महत्व	१६०	घार पलायु	२०७
" धातुगत लक्षण	१४३	" के पूर्व और पश्चात्		घारकर्म	२४६
" संतान में संवार की प्रगुति	१४६	विक्रिस्ता का फल	१६०	" में श्रेष्ठ घार	२६४
" विक्रिस्ता	१४३, १४७	किया और काळ का विक्रिस्ता में		" अत्यधिक प्रकार	२४६, २४०, २६१
" संक्रमण मार्ग	१४७	महत्त्व	११, १०	" के संगठन का कोष्ठक	२६०
कुम्भापट्ट	२०३	कियासंकर निषेध	२०३	घार, सामान्य गुण	२४६
कुम्भमिरी	२०६	कोष्ठकटीर्थ	३२७	" सामान्य संगठन	२४०
कुम्भक	३३	क्रम	२४२	" संगठन में परिवर्तन के कारण	२४०
कुर्वे	४७, ४०	क्रेटक कफ	००, १३४	" प्रासादिक और आपराधिक	२६१
कुर्विका	१३६, २६४	कैम्ब	११, १३४	" कथा और कीटया	२४१
" इतमकरपदार्थ	२६६	" धनमेघ कृत्	३०३	" पारोष्ण की सर्वश्रेष्ठता	२४१
कुलवर वर्ग	२७३	होम	३७६	" अशुद्ध के लक्षण	२४२
कुलाय वर्ग	२६३	चक्रक	३६०	" भौतिक और रासायनिक	
कुल्या	२३	चतोटद	३३६	गुण	२४२
कुल्याकृत्यविधि अध्याय	१४४-१४७	घार, निरुक्ति	३७	" स्थित होने के कारण	२४२
कुमिदन्त	४०७	" अनुपलन और अनुपन्न में		" के विरुद्ध पदार्थ	१९६, २६६
कुमि, आन्त्रस्य	१४४, १४६, २४६, २७०, २०४, १००	समावेश का कारण	३१	" कोषधि प्रयोग के लिये	
" अयुक्त	२४६, १४६	" की श्रेष्ठता	३७	प्रारत्त्व	२००
" श्रीपद का	१४७, १६०, १००	" गुणधर्म	३७, ३०	" इतमकर पदार्थों के गुण	२६०
कुमिनाराक	१०४, १००	" के दो प्रकार	३०	" में शूद्र और क्रमण के	
कुम्हार	१२१	" के तीक्ष्णादि तीन भेद	३६	अनुसार लीलायु की परि	११३
		" बनाने की विधि	३६, ६०	धूर रोग, कर्म	३६०

पुरुषो संख्या	३६०	गंधपरीक्षा	५६	गवय	२७६
पुरुषो निदान अथवा	३६०-४००	गंधविप्रतिपत्ति	१८०, १८३	गवीनी	३३६, ३३७
पुर	४५	गद्गद	३२७	गाढजल	२४३
पुत्रान्तर रस, आम्बररस देखो		गर (विष)	५८, २१५, ३५६	,, की परीक्षा	२४३
घृत्निमेह, मधुमेह देखो		गरमी	३८६	,, इफ़टा करने की रीति	२४३, २४४
घौष	११३	गर्दगी (रोग)	३६१	गोरोरु	२८२
	रु	गर्भ, लक्षण	६०	गिलायु	४११
गज	४७, ४८	,, क्षयलक्षण	६१	गिलोप्य	६३२
गज	३२७	,, धृष्टिकर योग	६२, ६६	गुरु, अशुद्ध और शुद्ध के गुण	२६१
गजान	१८२	,, स्वामाधिक प्रसवकाल	३६५	,, पुराणत्व	२०८, २६०
गजरीट	१८२, २७४	,, स्वामाधिक प्रसवरीति	३६०	,, पुराणों के गुण	२६१
गजयुव	२६७, २६८	,, स्वामाधिक प्रसवहेतु	३६०, ३६३, ३६४	,, के भक्ष्य पदार्थ गुण	२६८
गर्वा बंध	११३, ११४, ११५	,, माता से संबंध	३६४	,, शुक्र	२६५
गणपति	४०५	,, योनि में अटक जाने के हेतु	३६१	गुह्यादि गुण	२१४
गर्भ	२०६	,, की मृत्यु के हेतु	३६५	गुण, अर्थ	२१६, २२०
गर्भनिग पदार्थ	३१२	,, की मृत्यु के लक्षण	३६५	,, संख्या	२१६, ३०६, ३१०
गर्भर	१३७, २१२	गर्भपात	३६५	,, प्रत्येक के अर्थ	३०६
गर्भर	२८३, २६२	गर्भशातक द्रव्य	३६१, ३६५	,, में संस्कार से उत्कर्षापरक्य	२२०
,, के भेद	२८३	गर्भशङ्कु	४२	गुद, रचना	३२६
,, मय	२६२	गर्भकोपपरासंग	१८८	,, तीन बलियाँ	३२६
गलती	३६४	गर्भस्त्राप	३६५	,, सिराओं की रचना	३२६
गले कपोतन्याय	७६	गर्भधान का फाल	१६५	,, चीर	३३१
गर्गोश	२७५	गर्भाशय	३३७, ३५५, ३६७	,, अंश, हेतु संप्राप्ति	३६६, ४००
गर्गवर्धन	४०७	,, में गर्भ की स्वामाधिक स्थिति	३६०	,, चिकित्सा	४२
गर्गमुख	४१	,, और स्तनों का संबंध	३७४	गुदसंकोचनी पेशी	१८७
गर्गरा, रोमान्तिका देखो		गर्मी (पतानक)क्षेपक	३२४, ३६३, ३६६	गुदविद्रधि	३६६
गर्गान्ध	२६७	गलगण्ड निदान	३८०	गुद (गुण)	३०६
गर्गान्ध	३६४	,, हेतु	२४४, २४७, ३८१	गुद, शिष्य के प्रति कर्तव्य	१४
गर्गनी	६८२	,, संप्राप्ति	३८१	,, कर्तव्य न करने का फल	१४
गर्गलौने	१६८	,, संख्या	३८१	गुल्म, व्याख्या	५८
गर्ग (धान की)	३००, ३०७	,, घातनादि के लक्षण	३८१	,, और विद्रधि में अन्तर	३७०
गुद	३२१	,, साध्यासाध्यता	३८१	,, की असाध्यता	१८८
	ग	,, के उपद्रव	३८१	,, के लिये अशुभ स्वप्न	१७८
गणपिप्ली	२११	,, क्षयारण चिह्न	३८२	गुहाशय अर्थ	२७२
गण	३६४	,, विशेष चिह्न	३८२	,, वर्ग और उसके गुण	२७४
गणहर्षण	१००, १०१	,, बहिर्नेत्र	३८२	गुप्सरी	३२६
गणहमाला	३७८	गलप्रंथि (थॉयरोइड)	३८०, ३८१	गुंदा	२७६
गणहृपदमुखी	३४	गलशुण्डिका	४०६	गुंदा गुण	२७०
गति (नासर)	३७३	,, अन्य खाँसी की विशेषता	४०६	,, के गुणों का विशेष विवरण	२७२
गधी, मूत्र	२६६	,, का शलकर्म	४५	,, संगठन	२७२
,, दूध संगठन	२५०	गलविद्रधि	४११	गुंदा चोकर	२७२
,, "माता के दूध के अभाव में प्रयोग	२४६	गलीघ	४११	गोर्ण	२७६
गंधनामा (माला)	३६१			गोणिका	३८६
				गोधा (गोह)	२७५

गेधूम, गेहूँ देखो		घृत, अष्टविध के गुण	२५५	चिकित्सा, लाक्षणिक	१६१
गेधुपे पटा	२०६	" कर्षे दूध के मक्खन का	२५५	" वैशरीन	१२१
गोक्रपावध	११३, ११४	" पुराने के गुण	२५५, २५६	" सीरम	१२५
" बांधने की रीति	११६	" पुराने की कालमर्मादा	२५६	" सरोधन	६
" गुदभ्रश में उपयोग	४२	" बलक्षयादि में नवीन का योग	२००	" सरामन	६
गोक्षयिका सीवन	१५०	" में श्रेष्ठ घृत	२६४	" सूर्यरसि	१२०
गौ, दूध	२५०	" में बनाने पदार्थ के गुण	२६६	" श्लेष्म के अनुधार	१६०
" दही	२५२	घृतमण्ड	२५५	" के पूर्व आयुपरीक्षण का	
" घी	२५५	घृतपूर (घेवर)	२६०	महत्त्व	१६२
" मूत्र	२६५	घेमा, गलगण्ड देखो		" के लिये ध्यान देने योग्य	
" मांस	२७५	घोल	२५४	बातें	६, १६२
" के दूध आदि की श्रेष्ठता	२५५	प्राणपुंदास्योप्यन्त्र	४०	" में श्लेष्मि का महत्त्व	१६,
ग्रधि, बुद्धिका	३५२	घ			१४१, १५०
" अषिरुह	३५२	चक्रतेज	२३६	" के समय क्रियों के साथ	
" पिच्युटरी	३६०, ३६२	चतुःश्लेह	१०७, १३६, २५०	बतावे	५७
" अन्न आदी	३०६, ३५२	चन्द्रकान्त का लल	४४७	" में सफलता के लिये	
" त्वचा की	६१, ३७७	चना	२६६	गुणवत् पादचतुष्टय की	
" लसिका	३७०	" का साग	२६६	आवश्यकता	१६१
" झठीला	०६, ६०, ३००	चमर	२७६	" में श्लोषधि परिवर्तन का	
ग्रधि (रोग) संप्राप्ति	३७६	चम्पक	२६०	नियम	२०३
" स्वरूप	३७६	चरबी, वसा और मेरोगतीय द्रव्य		" में श्लोषधि परिवर्तन का	
" पातयादि के लक्षण	३७६	देखो		काल	२०४
" मेदोग	३७७	चर्म, उपयोग	४१, ४४	" में वृथ का महत्त्व	१६१
" क्षिरण और उसके प्रकार	३७७	चर्मकील	३३२, ३३५, ३६०	" के लिये फीस लेने का	
" भासन, रहन, मणन	३७७	चर्मदल	३४३	नियम	७
" निक्षिपि	३७७	चर्वण	७६, १३२, १३४, ३०७, ३११	चित्रकराक	२०६
" साप्यासम्पत्ता	३७७	चाच, साहित्य देखो		चिप्य	३६३
ग्रधि अथवाी गन्तगण्ड निदान क्रमव्यय		चंगिरी	२०६	चित्रीषिम	१६६
	३७६-३८२	चावल, शालि देखो		" दूध से विरोध	१२६
ग्रधि विघर्ष	३७२	" नये और पुराने के गुण	३००	चिह्नी	२००
ग्रधनिध	४१०	चान्दी	२०४	चिह्न	३००, ३०७
ग्रहण	२१	चालन	४४	चिन्तय	११३, ११४
ग्रह (रोगण)	१२२	चिकित्सा, व्याख्या	१६१, १४१	" बांधने की रीति	११५
ग्रह, अरिष्ट लक्षण	१०५	" के चार पाद	१६१	कुचुराक	२००
" अष्टविध गति	१०६	" के पौडरा गुण	१६, १६२	कुचक, मूर्च्छिका देखो	
" अनुकूलता से सुखसाध्यता	२०३	" अनगत व्याधि	१२०	कौप्य अर्ध	२४४
ग्रन्थसंग	२७५	" अगत व्याधि	१२०	" जलगुण	२४४
ग्रन्थ श्राव	३४	" अहार	३	कौर्बाई शाक	२००
		" आचार	६		
घन शोष	१००	" इन्द्रिय	११	दन्तधारणगुण	३३
घटिमन्त्र	४०, ७२	" एकचक्रिण	१२०	दर्दि, वनन देखो	
घुण	३२	" एकवयु	२०३	दन्तातिवशा	१२३
घृत, संपररुण गुण	२५५	" शीतपुनःशुद्ध	१६३	दन्तक	२६०
" क्षणन	१३३				

I	१३३, १८१
श्रीर प्रभा का अन्तर	१८१
के पाँच प्रकार	१८१
II, किलाट देखो	
ने की विधि	२४६
III, स्वाभाविक और विकृत प्रकार	१६३
शेदर	३५६
। की बीमारी	३४७
IV, अर्धचन्द्रादि प्रकार और उनके स्थान	२३
V (शत्रुकर्म), योग्या	२१, ४८
योग्य विकार	५२
के शत्रु	१५६
दन् (द्रव्यगुण)	४८
	६६
ज	
गल	२६२
गमवर्गी	१०, ११
के वैद्यकोपयोगी अंग	११
वैद्यकोपयोगी अंग ग्रहण के लिये नियम	
घाल, अर्थ	२७२
वर्ग और उसके गुण	२७३
गंवास्थि	१४५
गठराभि, अग्नि और पाचक पित्त देखो	
गुणगणि	३६७
गुण, अर्थ	४
जनपदोच्चंसक रोग, कारण	३२, १५२
विशेषताएँ	१५२
फैलने के मार्ग	३२, १५२, ३४७
परिहार	३३
गन्मवलप्रवृत्त रोग	१५०
जप	३३
जम्बीर	२८१, २८६
जरायु, जरायुज	१०, ११
जल, संगठन	२४२, ३३८
आन्तरिक	२४२, २४३, २४७
की विशेषताएँ	२४२, २४५
के चार प्रकार	२४३
के अभाव में पीने योग्य जल	२४३, २४७

जल आन्तरिक हकटा करने की रीति	२४३, २४४
अनुपानों में श्रेष्ठ	३०१
अनातव और आतव प्रथम का पीने का निषेध	२४३, २४४
भौमिक	२४२, २४३
भूमि के अनुधार रस	२४३
की अशुद्धियाँ	२४४, २४५
स्पर्शादिषड्दोष और उनके लक्षण	२४५
से होने वाले विकार	२४४, २४६
शुद्धि के स्वाभाविक उपाय	४०, २४४
कृत्रिम उपाय	२४५
शुद्धि की वस्तुएँ	२४६
रखने की वस्तुएँ	२४६
शीतल करने की विधियाँ	२४६
की प्रशस्तता के लक्षण	२४६
सप्तविध प्रकार	२४३
ऋतु के अनुसार सेवन का नियम	२४४
ग्रहण के लिये उचित काल	२४७
शीतल के गुण	२४७, ३०८
शीतल का निषेध	२४८
शीतल का शत्रुकर्म में उप-योग	२४, १६६
शीतल का अनुपान	३००
उष्ण	२४८
उष्ण का अनुपान	३००
पर्युषित का निषेध	२४८
श्रुतशीत के गुण	२४८
कम सेवन करने योग्य विकार	२४६
भोजन से संबंध	३०२
शरीर में कार्य	३१२
आन्दादि स्थान के गुण	२४८
नादेयादि स्थान के गुण	२४८
जलगर्भ	३५५
जलशुद्ध	१०३
जलमग्नचिकित्सा	१६८, १६६
जलवायु चिकित्सा	२०३
जलोदर व्याख्या	३५५

जलोदर हेतु	३५६
संप्राप्ति	३५५, ३५६
लक्षण और परीक्षा	३५६
और परिस्वाभ्युदर में अन्तर	३५६
और वीणकोप प्रथि में अन्तर	३६०
में जल निकालने की विधि	३६, १५७, ४७
में जल निकालने के बाद पट्टबंधन	४३
के हेतुओं का सापेक्ष निदान	३५६
असाध्य लक्षण	१८८
जलोरस	३५६
जल (शीर्ष) मस्तिष्क	३५६, ३६१, ३६२
जल हृदयावरण	३५६
जलार्जुद	४०५
जलौका, जॉक देखो	
जलौकावचारणीय अध्याय	७१-७५
जहरवाद	३३२
जांगलदेश लक्षण	२०२
जल गुण	२४८
जांगलवर्ग, अष्टविध प्रकार	२७२
वस्ती के पास या दूर के अनुसार गुण	२७५
जांगली, जांगलीविद	५, १६०
जातिसाम्य	२०२, २४६
जानपदिक रोग	३२
जाठररस, आमाशय रस देखो	
जामुन	२८१
मधुमेह में उपयोग	२८२
की सीधु	२६२
जाम्बवौष्ठ	२२, ६५
जालगर्दभ	३६२
जिह्वा, उपयोग	४३
के अंकुर	१८२
की क्षणावस्था में स्थिति	१८२
का अरिष्ट	१८१, १८३
जिह्वागत रोग संख्या	४०५
नाम और लक्षण	४०८
जीरा	२८६
जीर्ण उदर	२४६
जीवद्रव्य, व्याख्या	३१२
'ए'	२४७, २५०, २५८, २७८, ३१२

जीवप्रण्य, 'बी'	२४७, २७१, २६८, २८३, ३१२	गोक, दोष और स्थानानुसार प्रयोग ७१	तौट रहस्तंभन के लिये	४२,१
" 'सी'	२७१, २८१, २८३, २६१, ३१३	" दुग्धी और सींग की विशेष- ताएं ७१	तापसत्रुच	२'
" 'डी'	२४०, २४८, २७८, ३१३, ४०७	जी, यव देखो	ताम्बूलपत्र	२६
" 'ई'	२४०, २७१, ३१३	ग्वर, हेतु १०८	" का मसाला	२०
" अमाव के रोग	३१३	" अभिपंगम १३३	" भोजन के पचात सेवन ३०	
" घूमने वाले जानवरों के दूध में	२४०	" गौर्य २४६	तात्र (तांबा)	२६
जीवनीय गण्य	१०४	" मम ४०३	ताल (ताड़)	१८२, २६
जीवगीवक	२७६	" विस्फोटक ३३	ताल, अर्घ्य	३
" विष परीक्षा में उपयोग	२७६	" शुक्रस्थानगत ६१	तालयन्त्र, संख्या	३
जीवन्दी	२८८	" के अग्रगुण स्त्र १७८	" वर्णन	३
जीवरोषित	७८, ८३	" के असाध्य लक्षण १८८	तालुगत रोग, संख्या	४०१
जीवाद्य,	३३, १२३, १४३	" की अमावस्या में भेदन निषेध १६८	" " नाम और वर्णन	४०१
" आन्त्रस्थ	२४०	" में ठठने का निषेध १८२	तिषरघ, संगठन	२२३
" पृथिवनक	२७८	" में ललसेवन २४६	" लक्ष्य	२३०
" पूजनक	१०६	" सुखसाध्यता २०३, ३४८	" गुण, अधिक सेवन का फल	२३१
" वायुजनक	१४७	झ	" वर्ग	२३२
" सूक्ष्मदर्शकालीत	१२३, १२३	झडे का महत्व १६१	तिरि	२७३
जीवाद्युभन्य रोग	३३, १२२	ट	" गौर	२७३
जीवाद्युनाराक	२८४	टह	तिन्तिडी	२८१
जीवाद्युनाशन	४०	टहणहार	तिन्दुक	२८२
गोक, निरुक्ति	७२	ठ	तिमिर	४६
" संख्या	७२	ठाक फल २८४	तिल	२६६
" घविष, निर्विष भेद	७२	त	" खालि, कल्क, स्फुरिका (बटे)	२६१
" घविष की उत्पत्ति	७३	तकर्म	" तैल	२४६
" घविष का लक्षण, दंश लक्षण	७२	" सामान्य गुण २४३	" तैल की धेयता	२४८
" निर्विष की उत्पत्ति	७३	" स्याख्या २४४	तिलपर्णी	२८६
" नाम, स्वरूप	७२	" सेवन निषेध २४४	तिलकालक	३६७
" किंगभेद, लवार्हे के अनुसार प्रयोग के नियम	७२	" सेवन के योग्य काल और विकार २४४	तीक्ष्णगुण	३०६
" मित्रने के प्रदेश	७२, ७३	" मधुपदि भेद से गुण २४४	सुपिड (नाभिविकार)	३८४
" पाकनधिधि	७३	" के साथ दोषप्रक्षेपानुसार सेवन के शक्य २४४	सुपिडकेरी	४०६
" लगाने की विधि	७३, ७४	" कूर्बिका २४४	सुप्रसेवनी घविषन	१४८
" दहन विधि	७४	तण्डुलीयक २८८	दुग्धी	२८४
" दूसरी बार लगाने का नियम	७४	तन्ना, क्कख्या २४२	दुग्धीयन्त्र	४०
" अन्य रक्षण के करण	७४	" और तन्ना में अन्तर ६३	" रक्तुद्धि और स्थानानुसार प्रयोग	७१
" की चिकित्सा	७४	तरण प्रतीति १०८, १२६	तुक्की और ठठके भेद	२८६
" लक्षणघी और स्थानघाती	७४	तयणालि ६४, ४०४	तुपरक तैल	२६७, ३४७
" साध्य रोग	७४	तर्क कक ८८, १३४	" फल	२८४, ३४७
" के लिये योग्य रोगी	७१	तर्ण १२	तुपेदक	२३८, ३६६
" विटैच रोगों में लगाने का स्थान	७४	तौव (अन्त्र) १३८, ४२	तुनी	३२७
			तुण्डयन्त्र	२८४
			तैनीनक	१३३
			तैवक शक्य	२२६

निरुक्ति	२५८	दन्तपुण्ड्रक	४०६	दधि प्रभु के अनुसार सेवन की-	
रासायनिक विवरण	३५८	,, और दन्तविद्रधि में		विधि और नियम	२५३
और चरबी में अन्तर	२५८	अन्तर	४०६	,, सेवन के कुछ नियम	२५३
में बनाये पदार्थ के गुण	२६६	दन्तमूलगत रोग, संख्या और नाम		दधि कूर्चिका	२५४
सिद्ध करने की पद्धति	२३६		४०५	दाडिम	२८०
ल	२८२	दन्तवल्क	४०७	दाम बंध	११३, ११४
स	२८५	दन्तवेष्ट	३०५, ४०६	दारण	४४, १६५
पादिगण	२१४	दन्तविद्रधि	४०५	,, द्रव्य	२०४
ह	१३४	दन्तरोग, संख्या	४०५	दाहणक	३६४
हृ	२१४	,, नाम और वर्णन	४०७	दाह लक्षण	२६३
हूर्चक	४७	,, सामान्य निदान	४०८	दालन	४०७
कला छोटी	२१४	दन्तशर्करा	४७, ३०५, ४०७	दीपपरीक्षा, (शृषण वृद्धि में)	३८३
, बड़ी, प्रमाण	२१४	दन्तशहकु	४७, ५०	दुःख, त्रिविध	१४८
, गुणधर्म	२१४, २४०	दन्तलेखनक	४७	दुर्गन्ध गुण	३०६
कृच्छक	२३६	दन्तहर्ष	४०७	दुर्दग्ध, लक्षण	६७
कृक	२४६	दन्तशत फल	२८१	,, चिकित्सा	६८
का, रचना	६८, १४१	दर्शनपरीक्षा	५४, ५५	दुर्दिन	८४, ३५७
,, की ग्रंथियाँ	६१, ३७७	दशमूल	२१५	दूत, अर्थ	५४
,, के कार्य	१३३	दंष्ट्राचिकित्सा	५	,, दर्शन का शुभाशुभ	१७३
,, के रोग	१५५, ३६७, ३४१	दहनकर्म	२२, ६५	,, वैष का शुभाशुभ	१७३
,, गत शल्य लक्षण	१६२	,, के उपकरण	६५	,, भाषण का शुभाशुभ	१७३
,, गत शल्य की परीक्षा	१६३	,, की श्रेष्ठता	६५	,, चेत्य का शुभाशुभ	१७३
व		,, की विविध विधियाँ	६५	,, का वैद्य की स्थिति के अनुसार	
कोदर, जलोदर देखो		,, के लिये काल	६५	शुभाशुभ	१७४
कोदरयन्त्र	३६	,, के स्थानानुसार प्रकार और		,, का काल तिथि के अनुसार	
क्षिणायन	२८	लक्षण	६६	शुभाशुभ	१७४
ख (अग्नि)	६७	,, के लिये योग्य विकार	६६	,, की स्थिति का दोषानुसार शुभा-	
,, रुद्ध और क्षेद जनित दो भेद	६७	,, के आकारानुसार प्रकार	६६	शुभ	१४७
,, प्लुष्टादि चतुर्विध प्रकार और		,, की पद्धति	६६	,, और वैद्य समागम का शुभाशुभ	१७४
लक्षण	६७	,, के लिये अयोग्य	६७	,, कार्य करने के लिये प्रशस्त	१७४, १७५
,, की अवस्थाएँ	६८	,, रक्तलाव रोकने के लिये			
,, के सार्वदेहिक लक्षण	६८	उपयोग	६५, ८७	दूध, चीर देखो	
,, की चिकित्सा	६८, ६६	दधि (दही) वर्ग	२५२	दूधीविष	३५७
,, के लिये रोपण घृत	६६	,, गुण	२५२	दूधुदर	३५६
,, आतप तेजादिजनित अन्य		,, और दूध में अन्तर	२५२	,, कहने के कारण	३५७
प्रकार	६६, ७०	,, आन्तस्थ जीवाणु पर प्रभाव	२५२	दृष्टि	५२
दण्डधारणगुण	५३	,, मधुर, अम्ल, मन्दजात के गुण	२५२	दृष्टिमंडल	१३३, १६४
दन्त (दाँत), उत्पत्तिकाल	२००	,, अष्टविध प्रकार और सामान्य		देवागण	१२२
,, कार्य	१३४, २००, ३०७	गुण	२५२, २५३	देश, भेद	२०२
,, पोषक द्रव्य	३१३, ४०७, ४०८	,, में गौ का दही श्रेष्ठ	२५३	,, चिकित्सा में उपयोग	२०३
,, का अग्रिष्ट	१८१	,, सुपरिक्षुत के गुण	२५३	देशात्मान्य	२०२, २०३
दन्तधावन काल	३०५, ४०८	,, -सर के गुण	२५३	देह, शरीर देखो	
दन्तनाडी	४०७	,, -मस्तु	२५३	दैवबलप्रभुत	१५१, १५२
दन्तभेद	४०७				

दोष, शारीरिक, नाम और संख्या ६, ८८, १३१

॥ स्थान ११०, ११३, ११३, ११८

॥ शरीर में परिमाण १८

॥ सनता और असनता की पहचान १८

॥ शरीर धारण करने की पद्धति १११

॥ शरीर के भीतर और बाहर में कार्य १११

॥ घृण के कारण १२

॥ घृण के लक्षण और निश्चिन्ता १०

॥ इन्द्रि के लक्षण १२, १२५

॥ घृणानुसार अभिन्नचित्त इच्छा १५, १६

॥ पौर भेद करने के कारण ८, ११८

॥ प्रसादरूप और मन्त्ररूप भेद १६१

॥ संवय का हेतु, सामान्य और विशेष लक्षण ११५

॥ प्रकोप हेतु ११५, ११६

॥ प्रकोप काज और लक्षण ११६

॥ प्रसर हेतु और संवय प्रकार ११७

॥ प्रसारात्म्य के लक्षण ११८

॥ अन्य स्थानगत की विधिगा ११८

॥ वय, प्रकोप और प्रसमन का काम ११, ११६

॥ संवय और प्रकोप कारण का विचार ११७

॥ संवय, प्रकोप और प्रसर का प्रकृत्यमक विचार ११८

॥ संवयानाम में स्थानानुसार विधि ११८

॥ स्थानसंबंध होने का लक्षण ११६

॥ अज्ञान और उलझे लक्षण ११६

॥ भेदभाव ११६

॥ संवय के कारण को का हेतु अभिन्नचित्त विचार ११६, ११७

॥ संवयानाम में विचार का हेतु कारण ११७, ११६

॥ संवय और उलझे लक्षण ११७

॥ संवय ११७

दोष संसर्ग अभिजात में विधिगा क्रम १४०

॥ अल्पवृषित दोष का शरीर में कार्य ११७, ११८

॥ शरीर का मूल और आधार ८८, १२६

॥ समस्त व्याधिषों का मूल १२१

॥ और व्याधिषों का परस्पर संबंध क्या है १२५, १२६

॥ और रोग का अभेद २०२

॥ के अनुसार रोगनिर्देश करने का तत्व १४२

॥ के अनुसार अनुपात १०१

॥ मानसिक १, १२१

दोषानुसार चर्चाद्विविधनीय अध्याय ८८-१८८

दोष, महत्व और तत्त्व विचार १२०, १२१

इच्छा (गुण) व्याख्या ११६, १२५

॥ लक्षण ११०

॥ अध्याय १२०, १२४

इच्छा, शोधि भी देखो २२२

॥ उत्पत्ति २२२

॥ वर्णवर्ण विचार प्रकार २२२

॥ वर्णवर्ण संसर्ग का दोषादि घृण पर परिणाम १२७

॥ रोगानुसार वर्ण ११०-१११

॥ रोग रोग निर्देश करने का लक्षण १११, ११२

इच्छा गुणवर्ण विचार विधान कावय ११६-१२२

अभिन्नचित्तवर्ण कावय ११६-१२२

प्रसृष्ट १०६

वर्णवर्ण १११-११६

वर्ण, रोग और भेद १०१

॥ कावय १११

॥ कावय वर्ण के विवेक कावय १११

वर्ण (वर्ण) ११

विचार १०६, ११०

वर्ण १०६

धनुर्नात, धनुस्तम्ब, अपतानक देखो

धनुस्तम्ब, व्याख्या २

॥ शिष्य २

॥ परम्परा ७

॥ उत्पत्ति ११८, ११७

॥ को विष्णु का आशीर्वाद ११८

धमनी ८१, १६६, १२१

॥ महद या सुहृद ८१, ७६

॥ आयु से संबंध ८२

धमनिका ८१

धमनिसंदेश ८६

धमनीदुर्ग ८२, १२२

धमनीगत रक्तवाहन की कल्पना १६३

धमनीगत शक्त्यलक्षण ११२

धातु, व्याख्या और निष्कृति ७६, ८२, १७१

॥ संख्या ८०, ८८

॥ वर्णन ८०

॥ उत्पत्ति का काल ८०

॥ पुनर्जनन की शक्ति १७१

॥ के मूल ७६, ११४

॥ और उपधातु का संबंध तथा अन्तर ८२

॥ के कार्य ८६

॥ घृण के लक्षण १०

॥ घृण के वर्णप्रयोग १६०

॥ घृणानुसार अभिन्नचित्त इच्छा १६

॥ इन्द्रि के लक्षण १२

॥ इन्द्रि की विधिगा १२

॥ घृणादि का नियम १०, ११

॥ घृणादि का पूर्व और उत्तर धातु पर परिणाम ११

धनुर्वेद्य क्रम ७८

॥ के तीन वर्ण ७६

॥ की आधुनिक कल्पना ७६

धनुस्तम्ब, कार्य और संसर्ग १२४, १२५

धनुस्तम्ब, लक्षण ११२, ११६

धनुस्तम्ब वर्णवर्ण के लक्षण ७१६

धातुविधि १११, १११, ११०

धातु (गुणवर्ण) प्रयोग ११४

धनुस्तम्ब, विचार १७१

॥ विचार में हेतु ११४

॥ संसर्ग का वर्णवर्ण १०१

॥ विचार (वर्णवर्ण) के प्रयोग १०१, ११६, ११६

पद्ममूल, कण्टक	२१५	पाक्यचार	६०	पापायामर्दन और कर्णफेर का अन्तर	१६२
” क्ली	२१५	पाचक पित्त	८८, १३२	पिच्छिल गुण	१०६
” वृण	२१५, २१६	” धन्तुगत	१३३, २११	पित्त (दोष) निरुक्ति	११०
” गुणधर्म	२१६	पाचक रस	७६, १३२, २१३	” स्थान	११०, १३१
पक्षाघात	१६८	पाचन (शोक का)	८७, १६५	” मेदानुसार स्थान	१३१
पंचवल्क	१०४	” इष्य	२०४	” पॉच भेद और नाम	८८, १३१
पंचांगीबंध (मम का)	११३, ११४	पाक (शोक का) विधि	१०६	” साधारण कार्य	१३३
” पौड़े का	१६८	” के लिये पाक्य और पाचक की आवश्यकता	१०६, ३७०	” पंचविध प्रकार के कार्य	१३२
पधेन्द्रियार्थे विप्रतिपत्ति अस्याय १७६-१८१		” स्थान में कमी होने का कारण	१०६, ३७३	” स्वरूप	१३३
पटोला	२८६	पाठीनमरत्य	२७७	” साम और निराम के लक्षण	१३३
पटोलादिगण्य	२१२	पायुद्रोग में रक्त्वृद्धिजनक उपाय	८७	” क्षय के लक्षण	६०
पट्ट	२२, ४३, ११३	” में यकृत सेवन	७७	” क्षय में अभिलिखित इष्य	६६
पञ्चपाठन विधि	१६	” अंकुश मुख कृमिगन्य	२४६, ३४१	” प्रकोप के कारण	१३६
” में अम्बररामन	१६	” के असाध्य लक्षण	१८८	” प्रकोप के काल	१३६
पत्रोर्ध्व	११३	” के अशुभ स्वरूप	१७८	” कटुकरस से साधनार्थ	१३६
पथ्य, महत्त्व	६	पाद	१६३	” और अग्नि का संबंध	१३१
पथिनीकंटक	३६७	पाददारी	३६३	” और रक्त का संबंध	३४४
पनस	२८२	पाददाह	३२७	” धरा कला	१३२
पन्थिका	३६२	पादहर्ष	३२७	” विकार संख्या	३१८
पलायडु	२८७	पादप्रधारणगुण	३३	पित्त रस	३१३
पशित	३६४	पादिनवर्ग	२७६	पित्तसंशामनवर्ग	३१८
पशुबल, व्याख्या	४४२	पानक	२६८	पिप्पली, भाई और शुष्क	२८६
” कण्डगुण	२४८	पानीयचार, अर्ध	३८	पिप्पल्यादिगण्य	२११
पशुचौन (शाल्य)	३६७	” विधि	४६	पिष्टमेह	३६०, ३८६
परिकर्तन	३२	” रासायनिक संगठन	६३	पित्ता	२८३
परिक्षेपी भगन्दर	३३६	” उपयोग	३८	पित्त से रोग संवहन	३४७
परिहारक गुण	२२, १६१	” उपयोग की उपपत्ति	६३, ६४	पीठन, व्याख्या	४४, १६५, २०६
परिहारिका	१६१	” निरोध	३८	” के लिये शुष्क लेप की गहरी	१११, ११२
परिक्षेपी	१६०, १६२	पामा	३४३	” इष्य	२०४
परिषर्ष	३४३	पायना (शल)	३०	पीठनास्रमता	१०६
परिषर्ष	३४१	पायस	२६५	पीयूष (चीर)	२६४
परिषोट	१०२	पारावत पक्षी	२७४	पित्त	२८४
परिष	३६१, ३६२	” फल	२८१	पुटपाकविधि	२३६
परिषर	४०६	पार्थिव क्रोधि	११	पुनर्नेत्रा	२८६, २८८
परिवर्तिका	३६८	पार्थिव इष्यगुण	२०६	पुपीय, कार्य	८६
परिद्वेष	६०	पार्थिव	१६३	” क्षय लक्षण	६१
परिसाप्युदर	३६८	पाखल	२६६	” क्षय विक्रिता	६१
” और गणोदर में अन्तर	३६६	पाखंडी	२८८	” इक्षि लक्षण	६३
पश्यक	२८२	पाखरबद, तीन प्रकार	१७०	” विक्रिता	६३
पश्यादिगण्य	२१३	” विक्रिता	१७०	” राजयचना में महत्त्व	८६
पशुभूष, अर्ध	२७२	पापायामर्दन	३६२	” संगठन	१३२
” वर्ग	२७४			पुष्य	७, १२, १४८
पश्चात् कर्म	२१				
पश्चिमघर	२६४				

८६ गवयगुण	२७५	१२६ अनुपादिय मांस	२७८	१६७ तोदन के गुण	२८१
८६ एकशफ मांस गुण	२७५	१२७-१२८ शुष्कादि मांसों के दोष	२७८	१६८ तिन्दुक के गुण	२८१
८७ अल्पाभिष्यन्दी और महाभिष्यन्दी प्राणी	२७५	१२९ मांस के लिङ्ग भेद और शरीर भेद से गुण	२७९	१६९ वाकुल के गुण	२८१
८८ आनूपवर्ग भेद	२७५	१३०-१३३ स्थानादि भेद से मांस की गुरुलघुता	२७९	१७० धान्वगात्रेयक और अश्रमन्तक के गुण	२८१
८९ कूलचर प्राणी	२७५	१३४ आहार विशेष से मांस के गुण	२७९	१७१ फल्गु के गुण	२८२
९० कूलचरों के सामान्य गुण	२७५	१३५-१३६ उष्ण मांस वर्गों की गुरुलघुता	२७९	१७२ परुषक के गुण	२८२
९१ गजमांस के गुण	२७६	१३७ सम्पूर्ण शरीर में से गुण वाले अन्न ग्रहण करने चाहिये	२७९	१७३ पौष्कर ,,	२८२
९२ गवयमांस के गुण	२७६	१३८ मांस के गुरुलाघव के निर्णय में परीक्षणिय विषय	२७९	१७४-१७५ विल्व ,,	२८२
९३ महिषमांस के गुण	२७६	१३९ दाडिमादि अम्ल फल वर्ग	२८०	१७६ बिम्बी तथा अश्वकर्ण फलों के गुण	२८२
९४ रुद्र मांस के गुण	२७६	१४० दाडिमादि फलों के सामान्य गुण	२८०	१७७-१७८ तालादि मधुर फल और उनके सामान्य गुण	२८२
१०० चमर मांस के गुण	२७६	१४१-१४२ दाडिम के गुण	२८०	१७९ ताल के गुण	२८२
१०१ सुमर मांस के गुण	२७६	१४३-१४४ आमला के गुण	२८०	१८० नारिकेल के गुण	२८२
१०२ वराह मांस के गुण	२७६	१४५-१४६ बदर, सिधितिका के गुण	२८०	१८१ पनस और मौच के गुण	२८२
१०३ खड्गी मांस के गुण	२७६	१४७-१४८ कपित्थ के गुण	२८०	१८२ द्राक्षादि मधुर फल	२८३
१०४ गोकर्ण मांस के गुण	२७६	१४९-१५१ सालुङ्ग के गुण	२८०	१८३ द्राक्षा के गुण	२८३
१०५ हंसादि ज्व प्राणी	२७६	१५२-१५३ आम्र के गुण	२८०	१८४ काशमर्य के गुण	२८३
१०६ ज्वों के सामान्य गुण	२७६	१५४-१५५ आम्रातक और लक्षुच के गुण	२८१	१८५ खर्जूर के गुण	२८३
१०७ हंसमांस के गुण	२७६	१५६-१६२ करमर्द, प्रियाल, मव्य, पारावत, प्राचीनामलक, तिन्तिडीक, कोशात्र, अम्लीका, नारङ्ग, जम्बीर, ऐरावत और दन्तशठ के गुण	२८१	१८६ मधुक के गुण	२८३
१०८ कोशस्थ प्राणी	२७६			१८७ वातामादि मधुर फल	२८३
१०९ पादी प्राणी	२७६			१८८ उनके सामान्य गुण	२८३
११० कोशस्थ और पादी प्राणियों के सामान्य गुण	२७६			१८९ लवली फल के गुण	२८३
१११ कर्कटक के गुण	२७६			१९० वसिरादि के गुण	२८३
११२ मत्स्यों के नादेय और सामुद्र भेद से दो प्रकार	२७७			१९१-१९३ ऐरावत दन्तशठ, टङ्ग ऐङ्गुद, शभीफल और श्लेष्मातक के गुण	२८३
११३ नादेय मत्स्य	२७७			१९४-१९५ करीर, आक्षिक, पीलु, तृणशून्य फलों के गुण	२८३-२८४
११४ नादेय मत्स्यों के सामान्य गुण	२७७			१९६ तुवरक फल के गुण	२८४
११५ पाठीन मत्स्य के गुण	२७७			१९७ करझ, पलाश और निम्ब फल के गुण	२८४
११६ रोहित मत्स्य के गुण	२७७			१९८ विद्वाङ्ग फल के गुण	२८४
११७ गुरुल मत्स्य के गुण	२७७			१९९ हरितकी के गुण	२८४
११८ सर और तंडागादि स्थित मत्स्यों के गुण	२७७			२०० विभीतक फल के गुण	२८४
११९ सामुद्र मत्स्य	२७७			२०१ पूगफल के गुण	२८४
११९ सामुद्र मत्स्यों के सामान्य गुण	२७७			२०२-२०४ जातीकोश, कर्पूर, जातीफल, कट्टोलक, लवङ्ग और लंताकस्तूरी के गुण	२८४
१२०-२१ सामुद्रादि मत्स्यों की उत्तरोत्तर सारता	२७७				
१२२-२४ नादेयादि मत्स्यावयवों की गुरुलघुता	२७७				

२०४ प्रियाल, विभीत, कोल, आमलक, वाजसूर, शम्यक और कोशास्र की मज्जाओं के गुण २८४	२१६ चित्रक, तिलपर्णी और वर्षाभूसाक के गुण २८६	२७३ नलिका और चात्रेरी के गुण २८६
२०८ मज्जागुण भी फल समान होते हैं २८४	२४०-२४३ मूली के अन्वस्था भेद से गुण २८६	२७४ लोथिकादि शाक २८७
२०९ एक फल गुण युक्त होते हैं २८४	२४४-२४५ रमोत के गुण २८७	२७५ इनके सामान्यगुण २८८
२१० त्याज्य फल शाकवर्ग- २८५	२४६-२४७ पलाण्डु के गुण २८७	२७६ पुन्तलिवा, कुररिष्टका राजसुवक और शटीशाक के गुण २८९
२११ कूभाण्डादि फलशाक २८५	२४८ कलायशाक के गुण २८७	२७७ हरिमन्य और कलाय-शाक के गुण २८९
२१२ कूभाण्डादि के सामान्य गुण २८५	२४९ कपायमपुरशाकवर्ग २८८	२७८ प्रतिकरञ्ज के गुण २९०
२१३-२१५ कूभाण्ड, कानिन्द और अलासु के गुण २८५	२५० उनके सामान्य गुण २८८	२७९-२८० साम्बूल पत्र के गुण २९० पुष्पवर्ग-
२१६ प्रयुवादि फल शाक २८५	२५१ पुन्तू के गुण २८८	२८१ कोविदारदि पुष्पाक २९०
२१७ प्रयुसादि के सामान्य गुण २८५	२५२ फली शाक के गुण २८८	२८२ अथस्त्य पुष्प के गुण २९०
२१८-२१९ प्रयुम, ऐवांरुक और कर्कादिक के गुण २८५	२५३ खीरबूझ और उरगला दि के पल्लव गुण २८८	२८३ करीरादि पुष्पों के गुण २९०
२२० शीर्षांशुक के गुण २८५	२५४ पुनर्नवादिशाक २८८	२८४ रक्तवृक्ष, निम्ब, मुष्कक, अर्क, असन और कुट्टन के पुष्पों के गुण २९०
२२१ विप्लवंशादि कट्टफलशाक २८५	२५५ पुनर्नवादि के सामान्य गुण २८८	२८५ पद्मपुष्पादि के गुण २९०
२२२ विप्लवशादि के सामान्य गुण २८५	२५६ तण्डुलीयकादि शाक २८८	२८६ सिन्दूरार, मालती, मल्लिका पुष्पों के गुण २९०
२२३ विप्लवी के गुण २८६	२५७ उनके सामान्य गुण २८८	२८७ वकुल, पाटल, नाग-केसर और कुट्टुम के गुण २९०
२२४ मरिच के आर्द्र शुष्कभेद से गुण २८६	२५८ तण्डुलीय के गुण २८८	२८८ चम्पक, किंशुक और कुररिष्टक के गुण २९०
२२५ श्वेतमरिच के गुण २८६	२५९ उपोदिका के गुण २८८	२८९ मधुशिशु और करीर पुष्पों के गुण २९०
२२६ शुण्ठी के गुण २८६	२६० वास्तुक के गुण २८८	२९० चवकादि उद्भिद शाक २९०
२२७ आर्द्रक के गुण २८६	२६१ गिल्ली, पालङ्गी और अश्वबला के गुण २८८	२९१ सुवक के गुण २९०
२२८ द्विवृक्ष के गुण २८६	२६२ मण्डूकपर्णी आदि शाकवर्ग २८८	२९२ वेणुकरीर के गुण २९०
२२९ द्विविध जीरक के गुण २८६	२६३ उनके सामान्य गुण २८९	२९३ आभार विशेष से उद्भिदों के गुण विशेष २९०
२३० कारवी और उपजुधिका के गुण २८६	२६४ मण्डूकपर्णी, गोविद्धा के गुण २८९	२९४ शुष्कशाक के विशेष गुण २९१
२३१ ऊरुधुम्बरी के गुण २८६	२६५ सुनियण्णक, अवन्मुत्र के गुण २८९	२९५ मटक और सिण्ढाकी के गुण २९१
२३२-२३५ जम्बीर, सुरस, सुसुम्भ, अजंक और भूरनृण के गुण २८६	२६६ सतीन, काकमाची के गुण २८९	२९६ शाक सामान्य के गुण और शाकों के पुष्प, फल, नास और कन्द शाकों में उत्पत्ति-पर गुणता २९१
२३६ काशमर्दक के गुण २८६	२६७ वृद्धतीफल के गुण २८९	
२३७ मधुशिशु के गुण २८६	२६८ पटोल के गुण २८९	
२३८ सर्वपशाक, गरडीरशाक और वेगनाम शाक के गुण २८६	२६९ वार्तिक काष्ठोटक के गुण २८९	
	२७० अटस्थक, वेनाम, गृहवी, निम्ब, पर्पट, किराततिल के गुण २८९	
	२७१ वरुण और प्रयुसादशाक के गुण २८९	
	२७२ कालशाक और कुसुम्भ-शाक के गुण २८९	

२६७ वर्जनीय पत्रशाकादि २६१	स्फटिकादि के गुण २६४	३७२ मूलक यूप के गुण २६७
२६८ विदार्यादि कन्दशाक २६१	३३१ अन्नक्त द्रव्य के ज्ञान का उपाय २६४	३७३ कुलत्थ यूप के गुण २६७
२६९ उनके सामान्य गुण २६१	३३२-३३६ उरु धान्यादि वर्गों में प्रधान द्रव्य २६४	३७४ दाडिमामलक यूप के गुण २६७
३०० विदार्यादि के गुण २६१	कृताञ्जवर्ग—	३७५ सुद्रामलक यूप के गुण २६७
३०२ शतावरी के गुण २६१	३४१ लाजमण्ड के गुण २६५	३७६ यव, कौल, कुलत्थ-यूप और सर्वधान्य कृत यूप के गुण २६७
३०३ विस के गुण २६१	३४२ पेगा के गुण २६५	३७६-३७७ खड, काम्बलिक, दाडि-माम्ल, दध्यम्ल, तक्राम्ल यूप के गुण २६७
३०४ शृङ्गाटक कसेरक, पियणालु और सुरेन्द्र कन्दों के गुण २६२	३४३-३४४ शाकादि संयोग से विलेपी के गुण २६५	३७८ खड, यवागू, पाडव और पानक २६७
३०५ वंशाद्दुरी के गुण २६२	३४५ मण्डादि के लक्षण २६५	३७९ कृत और अकृत यूप की परिभाषा २६७
३०६ स्थूल सूरण और माणकादि कन्दों के गुण २६२	३४६ पायस और कसर के गुण २६५	३८० संस्कृत और असंस्कृत यूप मांसादि के गुण २६७
३०७ माणक और सूरण कन्दों के विशेष गुण २६२	३४७ श्रोदन के गुण २६५	३८१ काम्बलिक यूप लक्षण २६८
३०८ कुमुद, उत्पल, पद्म और वराह कन्दों के गुण २६२	३४८ भृष्टतण्डुलकृत श्रोदन के गुण २६५	३८२ शुष्क शाक विशेष, कृताञ्ज तथा वटकी के गुण २६८
३०९ ताल, नारिकेल, खर्जूर आदि मस्तक मज्जा के गुण २६२	३४९ जेह, मांस, कंदादि योग से सिद्ध श्रोदन के गुण २६५	३८३ राग-पाडव गुण २६८
३१० वर्ज्य कन्द २६२	३५० सूप और शाकों के संस्कार विशेष से गुण विशेष २६५	३८४ रसाला, एवं गुडयुक्त दधि के गुण २६८
लघुवर्ग—	३५१ मांस के गुण २६६	३८५ मन्थ के लक्षण तथा गुण २६८
३१३ सैन्धवादि लवणों के सामान्य गुण २६२	३५२ सिद्ध मांस के गुण २६६	३८६-३८७ द्रव्यान्तर संयुक्त मन्थ के गुण २६८
३१४ सैन्धव २६२	३५३ प्रदिग्ध मांस के गुण २६६	३८८ पानक के गुण २६८
३१५ सासुद्र २६२	३५४ परिशुष्क मांस के गुण २६६	भक्ष्यवर्ग—
३१६ विड २६२	३५५-३५६ श्रंगारपक मांस के गुण २६६	३८९ भक्ष्य निर्देश २६८
३१७ सौवर्चल २६२	३५७ शूल्यमांस के गुण २६६	३९० चीर कृत भक्ष्यों के गुण २६८
३१८ रोमक २६३	३५८ तैलघृतसाधित मांस के गुण २६६	३९१ घृतपूर के गुण २६८
३१९ औद्धिद २६३	३५९-३६१ मांस रस के गुण २६६	३९२ घृतकृत भक्ष्यों के गुण २६८
३२० गुटिका लवण के गुण २६३	३६२ सौराव के गुण २६६	३९३ मधुमस्तक, संघान, अपूप और मोदकों के गुण २६८
३२१ ऊपर, बालुकैल, शैल मूलाकरोद्भूत लवणों के गुण २६३	३६३ उद्धृतरस मांस के गुण २६६	३९४ सटक के गुण २६९
३२२ चार और उनके सामान्य गुण २६३	३६४ खानिष्क के गुण २६६	३९५ विष्यन्दन के गुण २६९
३२३-३२४ यवचार-स्वर्जिका, ऊपर चार और टङ्कणादि के गुण २६४	३६५-३६६ वेसवार के गुण २६७	३९६ सामिता कृत फेन-कादिकों के गुण २६९
३२५-३३० सुवर्ण, रौप्य, ताम्र, त्रपु, सीसक, मुक्ता, विद्रुम, वज्र, वैदूर्य,	३६७ मुद्ग यूप के गुण २६७	
	३६८ रागपाडव के गुण २६७	
	३६९ मसुरादिपञ्चक यूपगुण २६७	
	३७० पञ्चक यूप में मृद्धीकादि योग से गुण विशेष २६७	
	३७१ पटोल निम्ब यूप के गुण २६७	

४०० मुद्रादि विसवार गर्भ मध्य के गुण २६६	४३३ मरेन्द्र जल के अनुपान की प्रशंसा ३०१	४७७ यथोत्तर मधुरतर भोजन सेवन करना चाहिये ३०
४०१ पञ्जल, राधुली के गुण २६६	४३४-४३६ अनुपान सामान्य के गुण ३०२	४७८-४७९ भोजनकाल में गण्डूष करने के गुण ३०
४०१ वैशिक मध्य के गुण २६६	४३७ भोजन के आदि, मध्य एव अन्न में उपयुक्त अनुपान के गुण ३०२	४८० स्वादु अन्न के गुण ३०
४०२ मुद्रादि वैदलकृत मध्य के गुण २६६	४३८ अनुपान न होने के दोष ३०२	४८१ स्वादु अन्न का लक्षण ३०
४०२ माघ कृत मध्य के गुण २६६	४३९ अनुपान के अनोपय प्राणी ३०२	४८२ " भोजन में जल पीने का विधान ३०
४०३ कृत्तिका कृत मध्य के गुण २६६	४४०-४४१ अनुपान पीने के पध्वात् वर्ज्य ३०२	४८२ दांतों में फंसे हुए अन्न के रोधन का विधान ३०
४०४ अह्वरित मुद्रादि कृत मध्य के गुण २६६	४४२ गुह साधव चिन्ता, स्वभाव संस्कार एवं मात्रा की मीछा रसती है ३०२	४८३ जीर्ण और जीर्णशून्य में दोष विशेष का प्रकोप ३०
४०५ पृत सैल पक मध्यों के गुण विशेष २६६	४४३ गुह साधव चिन्ता- योग्य पुरुष ३०२	४८४-४८५ भोजनोत्तर कुपित केष्मा का प्रतिकार ३०
४०७ मध्यों के गोनि विशेष से गुण विशेष २६६	४४४ किन में गुह साधव चिन्ता आवश्यक नहीं है ३०२	४८६ भोजनोत्तर कर्तव्य ३०
४०८ कपाल एव अक्षर पक मध्यों के गुण विशेष २६६	४४५ महानस विचार ३०२	४८७ भोजनोत्तर के लिये मन प्रिय शब्दादि विषयों का सेवन ३०
४०६ किलादादि तथा कुहमाय मध्यों के गुण २६६	४४६ सुसंस्कृत अन्न का रक्षणान ३०२	४८८ भोजनोत्तर सुगुप्तित शब्दादि विषयों का स्थाप ३०
४१० वायु, धानोलुम्ब मध्यों के गुण २६६	४४७ आहारदूषक विषनाशन ३०२	४८९ भोजनोत्तर वर्ज्य ३०
४१-४१२ सक्तु के गुण २६६	४४८ भोजन की उपकल्पना ३०३	४९० अतिमात्र सेवित रसों के दोष ३०
४१३ लाजगुण ३००	४४९ भोजन का स्थान ३०३	४९१ मन्दाग्नि में दो बार भोजन का निषेध ३०
४१४ लाज सक्तु के गुण ३००	४५० किस प्रकार का अशन हितकर होता है ३०३	४९२ मन्दाग्नि में गुह आहार का निषेध ३०
४१५ प्रयुक्त के गुण ३००	४५१-४५३ कालभेद से भी आहार की विधि ३०३	४९३ पिच्छक का निषेध ३०
४१६ धान्य पिष्ट के गुण, तथा नव और पुराण भेद से व्यपङ्कल के गुण ३००	४५४ किस प्रकार बैठ भोजन करना चाहिये ३०३	४९४ लेहपेयादि चतुर्विध आहार की यथोत्तर गुफता ३०
४१७ उक्तानुक्त धान्यों का उपसंहार ३००	४५५-४५६ समय पर मात्रापूर्वक किये हुए भोजन का फल ३०४	४९५ " लघु-गुह द्रव्यों का मात्रा विचार ३०
४१८ अनुपान विचार ३००	४५७-४५९ श्रुतभेद से भोजन का काल ३०४	४९६ प्रभूत द्रव्यगुण शुष्काद्य सेवन में दोषाभाव ३०
४१९ अनुपान द्रव्यों का समूह ३००	४६०-४६२ अकाल भोजन के दोष ३०४	४९७ अश्विदाह के हेतु ३०
४०-४२१ अनुपानों में जल की श्रेष्ठता ३००	४६३ हीनमात्र और अति- मात्र भोजन के दोष ३०४	४९८ शुष्क, विरुद्ध और विष्टग्नी अन्न अग्नि को मन्द कर देते हैं ३०
४२-४३० उष्णोदकादि अनुपान का विस्तार ३००-३०१	४६४ किन प्रकार का अन्न सेवन करना चाहिये ३०४	४९९ अजीर्ण के भेद ३०
४३-४३२ पूर्वोक्त शास्त्रादि वर्णों के वृष्य २ अनुपान ३०१	४६५-४६६ हेय अन्न का वर्णन ३०४	५००-५०० अजीर्ण के कारण ३०

५०२ अजीर्णों के लक्षण ३०८
 ५०३ अजीर्ण बहुत व्याधियों का कारण है ३०८
 ५०६ अजीर्ण की चिकित्सा ३०८
 ५०८ समान, विषमशन और अध्यशन के लक्षण ३०८
 ५०९ विदग्धाजीर्णों की चिकित्सा ३०८
 ५१० आमाशयगत अन्न-विदाह की चिकित्सा ३०८
 ५११ रसशेषाजीर्णों की शान्ति ३०९
 ५१२ अजीर्ण में भी बुभुक्षा विनाशकरी होती है ३०९
 ५१३-५२३ उष्ण आदि वीस गुणों के कर्म ३०९
 ५२४ आहार गुणकथन ३१०-३१४
 ५२५ आहारावस्था पाक से दोषवृद्धि के लक्षण ३१४
 ५२६ रस से ही अन्य धातुओं की उत्पत्ति होती है ३१४
 ५२७ धातुओं से क्रमशः मलौत्पत्ति का वर्णन ३१४
 ५२८-५२९ अजीर्ण में भोजन विचार ३१४
 ५३० सूत्र के पठन का फल ३१५

सूत्रस्थान समाप्त

निदानस्थान

प्रथम अध्याय

१ वात व्याधि निदान का उपक्रम ३१७
 २-३ प्रकृति भूत एवं व्यापक वायु के स्थान, कर्म और रोगों के सम्बन्ध में प्रश्न ३१७
 ४-७ वायु का स्वरूप वर्णन ३१७
 ८-९ शरीर में विचरण करने वाले वायु के कर्म ३१८
 १० वायु के नाम, स्थान, कर्म भेद से पांच प्रकार ३१८

११ स्थान भेद से वायु के नाम ३१८
 १२ प्राण वायु के स्थान और कर्म ३१८
 १३-१४ उदान वायु के स्थान और कर्म ३१८
 १५ समान वायु के स्थान और कर्म ३१८
 १६-१७ व्यान वायु के स्थान और कर्म ३१९
 १८ अपान वायु के स्थान और कर्म ३१९
 १९ विकृत व्यान और अपान के कर्म ३१९
 २०-२३ वायु की स्थान विशेष से रोगविशेषकारिता ३१९
 २४-२८ वायु की धातु विशेष-श्रय से रोगविशेष-कारिता ३१९
 २९ सर्वाङ्गगत वायु के कार्य ३२०
 ३० दोषान्तरमिश्र वायु मिश्रित पीडाओं को करता है ३२०
 ३१-३७ रुफपित्ताशुत वायु जनित पीडाएं ३२०
 ३८-३९ वात रक्त प्रकोप के कारण ३२१
 ४०-४२ वात रक्त सम्प्राप्ति ३२१
 ४३-४४ वातादि विशेष से वात रक्त के विशिष्ट लक्षण ३२१
 ४५ वातरक्त का पूर्व रूप ३२२
 ४६ हस्त पाद मात्र से श्वरम्भ होकर वातरक्त सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाता है ३२२
 ४७ वातरक्त के असाध्य लक्षण ३२२
 ४८ आक्षेपक के लक्षण ३२३
 ४९-५४ आक्षेपक भेद-अपतानक, दरडापतानक, धनुः-स्तम्भ, अभ्यन्तरा-याम और बाह्य-याम के लक्षण ३२३
 ५५ श्यागन्तु ३२४

५६ अपतानक के असाध्य लक्षण ३२४
 ५७-५८ पक्षाघात के लक्षण ३२४
 ५९-६० पक्षाघात का साध्या-साध्य विचार ३२४
 ६१-६३ अपतन्त्रक का लक्षण ३२५
 ६४ सन्यास्तम्भ लक्षण ३२६
 ६५-६६ अर्दित का लक्षण ३२६
 ७० अर्दित नायु का असाध्य लक्षण ३२६
 ७१ गृध्रसी लक्षण ३२६
 ७२ विश्वान्त्री लक्षण ३२६
 ७३ क्रोष्टुक शीर्ष लक्षण ३२७
 ७४ खञ्ज और पद्भ्यु वात के लक्षण ३२७
 ७५ कलाय खञ्ज का लक्षण ३२७
 ७६ वातकरटक लक्षण ३२७
 ७७ पाद दाह लक्षण ३२७
 ७८ पाद हर्ष लक्षण ३२७
 ७९ अंसशोष और श्व-बाहुक के लक्षण ३२७
 ८० वाधिर्य के लक्षण ३२७
 ८१ कर्णशूल लक्षण ३२७
 ८२ मूकमिन्मिन और गद्गद के लक्षण ३२७
 ८३-८४ तूनी प्रतितूनी के लक्षण ३२७
 ८५ आध्मान के लक्षण ३२८
 ८६ प्रत्याध्मान के लक्षण ३२८
 ८७ वाताघ्नीला के लक्षण ३२८
 ८८ प्रत्यघ्नीला के लक्षण ३२८
 द्वितीय अध्याय
 १ अर्शनिदान का उपक्रम ३२८
 २ अर्श के छः प्रकार ३२८
 ३ अर्श के निदान और सम्प्राप्ति ३२९
 ४-७ उदवलियों का वर्णन ३२९
 ८ अर्श के पूर्वरूप ३३०
 ९ अर्श के सामान्य लक्षण ३३०
 १० वातार्श के लक्षण ३३०
 ११ पित्तार्श के लक्षण ३३१
 १२ श्लेष्मार्श के लक्षण ३३१
 १३ रक्तजार्श के लक्षण ३३१
 १४ सन्निपातजार्श के लक्षण ३३१

१५ सहजार्शु के लक्षण ३३१	२५-२८ बहिर्गत रोगों का वायु ही कारण होता है ३३८	१२ परिसर्प और सिध्मवृष्ट क लक्षण ३४३
१६ अर्शु की स्थानानुसार साध्यासाध्यता ३३२	चतुर्थ अध्याय	१३ दिवर्बिका, विषादिका कुष्ठ के लक्षण ३४३
१७-१८ मेदुनाभि आदि स्थानों में होने वाले अर्शु के लक्षण ३३२	१ भगन्दर निदान का उपक्रम ३३८	१४ विग्नि और पामा कुष्ठ के लक्षण ३४४
१९ चर्म कील का लक्षण ३३२	२ भगन्दर के नाम और भेद ३३९	१५ कन्दु रकमा के लक्षण ३४४
२०-२१ चर्मकील में दोषों के विद्व ३३२	३ भगन्दर की निश्चिन्ति ३३९	१६ दोषानुसार सुप्त कुष्ठ ३४४
२२ मेदु आदि में होने वाले अर्शु में घातादि लक्षण-यातिदेश ३३३	४ भगन्दर के पूर्वरूप ३३९	१७ क्लिप्तम का लक्षण ३४४
२३ संसर्पज अर्शु का लक्षण ३३३	५ शतपोनक भगन्दर के लक्षण ३३९	१८ कुष्ठों के कातरित कफ भेद तथा असाध्य लक्षण ३४५
२४-२५ अर्शु का साध्यासाध्य विचार ३३३	६ उद्ग्रीवीय भगन्दर के लक्षण ३३९	१९-२० कुष्ठ का प्रतिहार न करने से असाध्यत्व निर्दर्शन ३४५
२६ सर्ववलि व्याप्त अर्शु असाध्य होता है ३३३	७ परिघ्रावी भगन्दर के लक्षण ३४०	२१-२६ धातुगत कुष्ठों के लक्षण ३४६
तृतीय अध्याय	८ शम्बूकावर्त भगन्दर के लक्षण ३४०	२७ कुष्ठी माता पिता की सन्तान भी कुष्ठी होती है ३४६
१ अरमरी निदान का उपक्रम ३३३	९ उन्मार्गी भगन्दर के लक्षण ३४०	२८ कुष्ठों का साध्यासाध्य विचार ३४६
२ अरमरी चार प्रकार की होती है ३३३	१०-११ भगन्दरेश्वर एव भगन्दर-पितृका का भेद ३४०	२९ कुष्ठ कर्मण अगधि है ३४६
३ अरमरी की सम्प्राप्ति ३३३	१२ भगन्दर का पूर्वरूप ३४०	३० कुष्ठोत्पादक कर्म का जन्मान्तर तक अनुबन्ध लगा रहता है ३४६
४ अरमरी का पूर्वरूप ३३४	१३ असाध्य भगन्दर	३१ कुष्ठ से मुक्ति ३४६
५ अरमरी का सामान्य लक्षण ३३४	पञ्चम अध्याय	३२-३३ कुष्ठदि रोग सकामक होते हैं ३४७
६ अरमरी का सामान्य लक्षण ३३४	१ कुष्ठनिदान का उपक्रम ३४१	षष्ठ अध्याय
७ श्लेष्मारमरी का लक्षण ३३४	२ कुष्ठ सम्प्राप्ति ३४१	१ प्रमेहनिदान का उपक्रम ३४७
८ पित्तरमरी का लक्षण ३३४	३ कुष्ठ पूर्वरूप ३४२	२ प्रमेह के हेतु ३४८
९ वातारमरी का लक्षण ३३४	४ अष्टादश कुष्ठ	३ प्रमेह की सम्प्राप्ति ३४८
१० शुक्रारमरी प्रौढायु मनुष्यों को ही होती है ३३५	५ सप्त महाकुष्ठ तथा एनादश क्षुद्रकुष्ठों के नाम ३४२	४ प्रमेह के पूर्वरूप ३४८
११ शुक्रारमरी को सम्प्राप्ति, निदान और लक्षण ३३५	६ दोषभेद में कुष्ठ विशेष की उत्पत्ति ३४२	५ प्रमेह के सामान्य लक्षण ३४८
१२-१६ शर्करा और सिक्तता के लक्षण ३३६	७-८ सप्त महाकुष्ठों (अहण, उदुम्बर, श्लथ्यजिह्व, कपाल, काकणक, पुण्डरीक और ददु) के लक्षण ३४२-३४३	६ प्रमेहपितृकाए निर्दोषज होती है ३४८
१७ मूत्रमार्गगत अरमरी के लक्षण ३३६	९ स्थलाहक और महाकुष्ठ के लक्षण ३४३	७ कफ प्रमेह ३४८
१८-२३ अरमरी का आधारभूत बहिर् के स्थान, मरधान और द्वार ३३६-३३७	१० एककुष्ठ और चर्मदल कुष्ठ के लक्षण ३४३	८ पित्त प्रमेह ३४९
२४-२६ अरमरी की उत्पत्ति का वर्णन ३३८	११ विसर्प कुष्ठ के लक्षण ३४३	९ वात प्रमेह ३४९
		१० सर्व प्रमेह सर्वत्र होते हैं ३४९
		११ कफज दश मेहों के कमरा लक्षण ३४९
		१२ पित्तज प्रमेहों के लक्षण ३४९
		१३ वातज प्रमेहों के लक्षण ३४९

१ प्रतिदोष प्रमेहों के उपद्रव	३५२
२ प्रमेह पिडकाओं की सम्प्राप्ति	३५२
१ प्रमेह पिडकाओं के लक्षण	३५३
२ पिडकाओं के असाध्य लक्षण	३५३
३ वातज प्रमेहों की असाध्यता के कारण	३५३
४ प्रमेह रोगी के सामान्य लक्षण	३५४
१७ मधुमेही का लक्षण	३५४
२० तीन दोषों का बीस प्रमेहों के उत्पादक होने में दृष्टांत प्रदर्शन	३५४
२६ प्रमेह उपेक्षा करने से असाध्य होते हैं	३५४

सप्तम अध्याय

१-२ उदरनिदान का उपक्रम	३५४
३ उदर रोगों की संख्या	३५५
४ उदर रोगों के हेतु	३५५
५ उदर सम्प्राप्ति	३५५
६ उदर के पूर्वरूप	३५६
७ वातोदर के लक्षण	३५६
८ पित्तोदर के लक्षण	३५६
९ कफोदर के लक्षण	३५६
१२ सन्निपातोदर के लक्षण	३५६
१४ श्लीहोदर के लक्षण	३५७
१५ यकृद्वात्युदर के लक्षण	३५७
१७ बद्धशुदोदर के लक्षण	३५८
१९ परिखावी उदरके लक्षण	३५८
२१ जलोदर के लक्षण	३५९
२२ अष्टविध उदर रोगों के सामान्य लक्षण	३६०
२३ उदर रोगों का साध्यासाध्य विचार	३६०

अष्टम अध्याय

१ मूढगर्भ निदान का उपक्रम	३६०
२ मूढगर्भ के हेतु	३६०
३ मूढगर्भ के लक्षण	३६१
४ मूढगर्भ के चार भेद	३६१
५-६ मूढगर्भ के अन्य भेद	३६२

७ असाध्य मूढगर्भ के लक्षण	३६२
८-९ स्वाभाविक प्रजनन के लक्षण	३६३ ३६५
१० गर्भ विच्युति में दृष्टान्त प्रदर्शन	३६५
११ गर्भ का चतुर्थ मास तक स्नाव और पञ्चम पष्ठ मास में पात	३६५
१२ मूढगर्भ के असाध्य लक्षण	३६५
१३ अन्तर्भूत गर्भ के लक्षण	३६५
१४ गर्भभ्रूयु के कारण	३६५
१५ माता के मरने पर भी जीवित गर्भ का निकालना	३६६-३६७

नवम अध्याय

१-२ विद्रधि निदान का उपक्रम	३६७
३-५ विद्रधि रोग की सम्प्राप्ति	३६७
६ वात विद्रधि के लक्षण	३६७
७ पित्त विद्रधि के लक्षण	३६७
८ श्लेष्म विद्रधि के लक्षण	३६७
९ विद्रधिस्राव के लक्षण	३६८
१० सान्निपातिक विद्रधि के लक्षण	३६८
११-१२ आगन्तु विद्रधि की सम्प्राप्ति	३६८
१३ रक्त विद्रधि के लक्षण	३६८
१४ सन्निपातज विद्रधि असाध्य होती है	३६८
१४-१६ आभ्यन्तर विद्रधि के हेतु और सम्प्राप्ति	३६८
१७ अन्तर्विद्रधि के स्थान	३६८
१८ अन्तर्विद्रधि के लक्षण	३६९
१९-२२ वाह्य और आभ्यन्तर विद्रधियों के अधिष्ठान भेद से लक्षण	३६९
२३ मर्मोत्थ विद्रधियाँ सर्वावस्था में कष्टप्रद होती हैं	३६९
२४-२५ विद्रधियों की अवस्था भेद से साध्यासाध्यता	३६९
२६-२७ रक्तविद्रधि के	३६९

२८-३३ विद्रधि और गुल्म में भेद	३७०
३४-३८ अस्थिगत विद्रधि के लक्षण	३७१
दशम अध्याय	
१ विसर्प, नाडी, स्तन रोग निदान का उपक्रम	३७१
२ विसर्पों की सम्प्राप्ति, निदान, लक्षण और निरुक्ति	३७१
३ वातिक विसर्प के लक्षण	३७२
४ पैत्तिक विसर्प के लक्षण	३७२
५ श्लेष्मिक विसर्प के लक्षण	३७२
५ सान्निपातिक विसर्प के लक्षण	३७२
६ क्षत विसर्प के लक्षण	३७२
७ विसर्पों का साध्यासाध्य विचार	३७३

८-९ नाडीत्रण के निदान, सम्प्राप्ति तथा निरुक्ति

८-९ नाडीत्रण के निदान, सम्प्राप्ति तथा निरुक्ति	३७३
९ नाडी रोग की संख्या	३७३
१० वातिक एवं पैत्तिक नाडी रोग के लक्षण	३७३
११ कफज एवं द्वन्द्वज नाडी रोग के लक्षण	३७४
१२ सान्निपातिक नाडी के लक्षण	३७४
१३ शल्यनिमित्तज नाडी के लक्षण	३७४
१४ स्तन रोग संख्या	३७४
१५ असंभूतगर्भा स्त्रियों को स्तन रोग नहीं होते	३७४
१६ प्रजात एवं गर्भवतियों को ही स्तन रोग होते हैं	३७४
१७ स्तन्य के लक्षण	३७४
१८-२१ शुक्रप्रवृत्ति के समान ही स्त्रियों में स्तन्यप्रवृत्ति होती है	३७५
२२-२३ वातादि दुष्ट स्तन्य के लक्षण	३७५
२४ निर्दोष स्तन्य के लक्षण	३७५
२५ स्तन रोग की सम्प्राप्ति	३७६

सुश्रुतसंहितायाः

२६ संक्षेप से स्तन रोग के लक्षण का अतिदेश	३७६
एकादश अध्याय	
१ ग्रंथि, अपची अर्बुद, तथा गलगण्ड निदान का उपक्रम	३७६
२ ग्रंथि का निदान, सम्प्राप्ति और लक्षण	३७६
३ वातग्रंथि के लक्षण	३७६
४ पित्तग्रंथि के लक्षण	३७६
५ कफग्रंथि के लक्षण	३७६
६ मेदोज ग्रंथि के लक्षण	३७६
७-८ सिराज ग्रंथि की सम्प्राप्ति और साध्यासाध्य लक्षण	
६-११ अपची रोग के निदान, सम्प्राप्ति, लक्षण और निश्चिन्ति	३७७
१२ अर्बुद रोग के निदान और सम्प्राप्ति	३७८
१३ वातादि दोषज अर्बुद के ग्रंथि के समान लक्षण होते हैं	३७८
१४-१५ रक्तार्बुद के लक्षण	३७९
१६ मांसार्बुद के लक्षण	३७९
१७-१८ अर्बुद के अगम्य लक्षण	३७९
१९ अर्बुद के पाकाभाव में कारण	३७९
२० गलगण्ड का निदान सम्प्राप्ति	३८०
२१-२२ गलगण्ड के लक्षण	३८१
२३ कृक्क गलगण्ड के लक्षण	३८१
२४ मेदोज गलगण्ड के लक्षण	३८१
२५ गलगण्ड के अगम्य लक्षण	३८१
२६ गलगण्ड का रोग्य रूपन	३८१
द्वादश अध्याय	
१ वृद्धि उरुंरुं, श्रीपद के निदान का उपक्रम	३८२

२ वृद्धि के सात भेद	३८२
३ वृद्धिरोग की सम्प्राप्ति	३८२
४ वृद्धिरोग के पूर्वरूप	३८२
५ वातज, पित्तज, कफज वृद्धि के लक्षण	३८२
६ रक्तज, मेदोज वृद्धि के लक्षण	३८२
७ मूत्रवृद्धि के लक्षण	३८३
८ अन्नवृद्धि लक्षण	३८३-३८५
२ उपदंशरोग के निदान और सम्प्राप्ति	
१० उपदंश के भेद	३८५
११ वातादि प्रत्येक उपदंश के लक्षण	३८६-३८८
१२ श्रीपद निदान सम्प्राप्ति	३८८
१३ वातजादि भेद से श्रीपद के लक्षण	३८९
१४ श्रीपद के साध्यासाध्य लक्षण	३९१
१५ श्रीपदों में कफाधिषय निरूपण	३९०
१६ किन देशों में श्रीपद अधिकतया होता है	३९०
१७ श्रीपद के स्थान	३९०
त्रयोदश अध्याय	
१ क्षुररोग के निदान का उपक्रम	३९०
२ चौबालीस क्षुररोगों के नाम	३९०
३ अश्वगन्धि का लक्षण	३९०
४ यक्षप्रक्या का लक्षण	३९१
५ अम्भालजी का लक्षण	३९१
६ विहृता का लक्षण	३९१
७ कण्ठपी का लक्षण	३९१
८-९ बह्मीक का लक्षण	३९१
१० इन्द्रहृदा का लक्षण	३९१
११ पन्थिका का लक्षण	३९१
१२ पञ्चणगर्दभ का लक्षण	३९१
१३ जलणगर्दभ का लक्षण	३९१
१४ कृपा का लक्षण	३९१
१५ विप्रेत्यक का लक्षण	३९१
१६-१७ अमितीरेणी का लक्षण	३९१

१८ विष्णु का लक्षण	३९१
१९ कुन्डल का लक्षण	३९१
२० भ्रुशायी का लक्षण	३९१
२१ विदारिका का लक्षण	३९१
२२-२४ शर्करार्बुद का लक्षण	३९१
२५ पामा, विचची, रक्तज्ञ के लक्षण	३९१
२६ पादवारी के लक्षण	३९१
२७-२८ कदर का लक्षण	३९१
२९ अलस का लक्षण	३९१
३०-३१ इन्द्रलुप्त का लक्षण	३९१
३२ दाहणक का लक्षण	३९१
३३ अक्षयिक का लक्षण	३९१
३४ पलित का लक्षण	३९१
३५ मधुरिका का लक्षण	३९१
३६ सुलक्षिका का लक्षण	३९१
३७ पद्मनीकण्टक का लक्षण	३९१
३८ अतृणणिका का लक्षण	३९१
३९ मयक का लक्षण	३९१
४० तिलकालक के लक्षण	३९१
४१ न्यच्छ का लक्षण	३९१
४२ चर्मकील के लक्षण	३९१
४३-४४ म्बह का लक्षण	३९१
४५-४६ परिवर्तिका का लक्षण	३९१
४७-४८ अणपाटिका का लक्षण	३९१
४९-५० निरुद्रप्रकरा का लक्षण	३९१
५१-५२ अनिपद गुद का लक्षण	३९१
५३-५४ अहिपूतन का लक्षण	३९१
५५-५६ इणणक्यू का लक्षण	३९१
५७ गुदभंश का लक्षण	३९१
चतुर्दश अध्याय	
१ शूकदोष निदान का उपक्रम	४००
२ शूकदोषजन्य रोगों की सामान्य सम्प्राप्ति	
३ सर्पिषा का लक्षण	४००
४ अशीतिका का लक्षण	४००
५ मथित और कुम्भिका के लक्षण	४००
६ अलजी और वृदिन के लक्षण	४००

INDEX

OF

English words used in the book

A					
abdomen	163,319	Allergy	391	Auroscope	36,38
" enlargement of	354	Allylsulphide	287	Auscultation	56
abscess	107,367	Alopecia	394	Auricle	101
" alveolar	405	" universalis	394	Auto-intoxication	162,330
" appendicular	369	Alterative	237,294	Awl	47
" brain	369	Alveolar abscess	405	Azospormia	89
" ischio-rectal	331,369	Amaurosis	69		
" liver	369	Amblyopia	85	B	
" lumber	369	Amphoteric reaction	252	Bacillus Botulinus	278
" lung	369	Amputation	115	" of cholera	262
" mammary	374	Amylase	318	" coli	109
" perirectal	369	Anaesthesia	320	" Diphtheriac	410
" peri-nephritic	369	Anaesthetic, general	22,110	" Enteritidis	278
" peri-tonsillar	369	Anabolism	82,310	" of leprosy	145,341
" prostatic	369	Anarobes	167	" Pyocyanens	109
" psous	369	Anal canal	329	" Typhosus	109
" sublingual	408	" fissuro	331	" Tuberculosis	109
" subphrenic	369	" fistula	331	" Tetani	100,324
abortion	365	Anaemia, pernicious	357	" Welchii	157
acetonuria	350	" splenic	357	" Acno	397
acidosis	259,291	Aneurism	377,404	Bacteria	137
acids	219	Anginal attacks	319	" saprophytic	247
" Fatty	258,312	Angioma, capillary	398	Bacteriophage	247
" homogentisinic	349	Angioneurotic oedema	391	Bacillary dysentery	128
" hydrochloric	313	Anodyne	24,110	Bandage	22,42,44,113
" vegetable	281	Anorexia	58	" armsling	114,116
" uric	64,274,321	Anthelmintic	284,288	" cephaline	114,115
action of drugs, pharmacolo-		Anthrax	278	" fourtailed	114,115
gical	219	Antimony sulphide	212	" for eye	114,115
" local, direct		" compounds	225	" manytailed	114,115
" primary	219	Antiphlogistic	75	" Sheath	114
" systemic,		Antiseptic	284	" Sling	114,116
" secondary	220	Anti-fibrin	89	" Spiral	114,115
" empirical	225	Anti-toxic	250	" Spica or cross	114
" rational	225	Anti-tyragus	101	" Stamp	114,115
acne vulgaris	397	Anus	329	" T	114,116
actinomyco	391	Aorta	76	Barley, Patient	270
actinomycosis	278,391	Apoplexy	183	Beet-root	262
adenoides	410	Appendicitis	368	Beri-Beri	268,313
adenoma	392	Artery	99	Beverages	294
" of palate	409	Arterioles	81	Bilirubin	350
After-pains	363	Arteriosclerosis	82,322	Biliverdin	349
Albumin	95	Artery-forceps	86	Bilharzia	338
Albuminuria	348,350	Arsenic	87	Biochemic process	220
Alcohol	262	Ascites	36,359	Biochemistry	20
Alibert's koloid	377	Asphyxiation	69,169	Biology	20
Alimentary glycosuria	350,351	Astringents	219,231,282	Biot's respiration	183
Alkali	57	Asthenia	320	Bistoury	46,47
Alkaline urine	351	Asynclitism, posterior	362	Bitters	219,231
Alkaptonuria	349	Atavism	150	Blastomycosis	137
		Atheroma	325	Black water fever	287
		Atropine	148		

२६ संक्षेप से स्तन रोग के लक्षण का अतिदेश ३७६	२ वृद्धि के सात भेद ३८२	१८ विष्णु का लक्षण ३६
एकादश अध्याय	३ वृद्धिरोग की सम्प्राप्ति ३८२	१९ कुनख का लक्षण ३६
१ ग्रंथि, अणुबी अर्बुद, तथा गलगण्ड निदान का उपक्रम ३७६	४ वृद्धिरोग के पूर्वरूप ३८२	२० अनुसूयी का लक्षण ३६
२ ग्रंथि का निदान, सम्प्राप्ति और लक्षण ३७६	५ वातज, पित्तज, कफज वृद्धि के लक्षण ३८२	२१ विदारिका का लक्षण ३६
३ वातज ग्रंथि के लक्षण ३७६	६ रक्तज, मेदोज वृद्धि के लक्षण ३८२	२२-२४ शर्करावर्षुद का लक्षण ३६
४ पित्तज ग्रंथि के लक्षण ३७६	७ मूत्रवृद्धि के लक्षण ३८३	२५ पामा, विचची, रक्तस के लक्षण ३६
५ कफज ग्रंथि के लक्षण ३७६	८ अन्नवृद्धि लक्षण ३८३-३८५	२६ पाददारी के लक्षण ३६
६ मेदोज ग्रंथि के लक्षण ३७६	९ उपदंशरोग के निदान और सम्प्राप्ति ३८५	२७-२८ कदर का लक्षण ३६
७-८ सिराज ग्रंथि की सम्प्राप्ति और साम्यासाध्य लक्षण ३७७	१० उपदंश के भेद ३८५	२९ अलस का लक्षण ३६
९-११ अणुबी रोग के निदान, सम्प्राप्ति, लक्षण और निरुक्ति ३७७	११ वातादि प्रत्येक उपदंश के लक्षण ३८६-३८८	३०-३१ इन्द्रलुप्त का लक्षण ३६
१२ अर्बुद रोग के निदान और सम्प्राप्ति ३७८	१२ श्लेपद निदान सम्प्राप्ति ३८८	३२ दाहणक का लक्षण ३६
१३ वातादि दोषज अर्बुद के ग्रंथि के समान लक्षण होते हैं ३७८	१३ वातजादि भेद से श्लेपद के लक्षण ३८९	३३ अर्धविक्र का लक्षण ३६
१४-१६ रक्षावर्षुद के लक्षण ३७९	१४ श्लेपद के अणुबी लक्षण ३८९	३४ पलित का लक्षण ३६
१६ मांसावर्षुद के लक्षण ३७९	१५ श्लेपदों में कफाधिक्य निरूपण ३९०	३५ मस्त्रिका का लक्षण ३६
१७-१८ अर्बुद के अणुबी लक्षण ३७९	१६ किन देशों में श्लेपद अधिकतया होता है ३९०	३६ मुखवृद्धि का लक्षण ३६
१९ अर्बुद के पाकामात्र में कारण ३७९	१७ श्लेपद के स्थान ३९०	३७ पथनीकपटक का लक्षण ३६
२० गलगण्ड का निदान सम्प्राप्ति ३८०	त्रयोदश अध्याय	३८ जटुमणि का लक्षण ३६
२१-२२ गलगण्ड के लक्षण ३८१	१ क्षुद्ररोग के निदान का उपक्रम ३९०	३९ मयक का लक्षण ३६
२३ कफज गलगण्ड के लक्षण ३८१	२ चौबालीस क्षुद्ररोगों के नाम ३९०	४० तिलकालक के लक्षण ३६
२४ मेदोज गलगण्ड के लक्षण ३८१	३ अजगन्धिका का लक्षण ३९०	४१ न्यच्छ का लक्षण ३६
२५ गलगण्ड के आणुबी लक्षण ३८१	४ यशप्रफ्या का लक्षण ३९१	४२ चर्मकीर के लक्षण ३६
२६ गलगण्ड का स्वरूप कथन ३८२	५ अन्धालजी का लक्षण ३९१	४३-४४ ब्यग्र का लक्षण ३६
त्रयोदश अध्याय	६ विद्वता का लक्षण ३९१	४५-४६ परिवर्तिका का लक्षण ३६
१ वृद्धि उपदंश, श्लेपद के निदान का उपक्रम ३८२	७ कच्छपी का लक्षण ३९१	४७-४८ अणुपाटिका का लक्षण ३६
	८ बरमीक का लक्षण ३९१	४९-५० निरुदप्रकर का लक्षण ३६
	९ इन्द्रवृद्धा का लक्षण ३९२	५१-५३ सनिवृद्ध शुद्र का लक्षण ३६
	१० पनसिका का लक्षण ३९२	५४-५५ अहिपूतन का लक्षण ३६
	११ पाषाणवर्द्धम का लक्षण ३९२	५६-५७ वृषणकच्छू का लक्षण ३६
	१२ आलवर्द्धम का लक्षण ३९२	५८ शुद्रभंरा का लक्षण ३६
	१३ कृष्ण का लक्षण ३९२	चतुर्दश अध्याय
	१४ विरफोटक का लक्षण ३९२	१ शूक्रदोष निदान का उपक्रम ४००
	१५-१७ अमिरोहिणी का लक्षण ३९३	२ शूक्रदोषजन्य रोगों की सामान्य सम्प्राप्ति ४००
		३ संधेपिका का लक्षण ४००
		४ अशीसिका का लक्षण ४००
		५ प्रथित और कुंभिका के लक्षण ४००
		६ अलस और मृदित के लक्षण ४००

Disease Sporadic	152	Eustachian tube	166	Fumigation	25,40,123
" Sex-limited	150	Excision	21	Fungus	343
" Venereal	386	Expectorant	287		
" Primary	197	Exploration	21,44	G	
" Secondary	197	Extraction	21,44,48	Gangrene, inflammatory	70
" Deficiency	313	Extension	44	Gastric glands	63
Disinfectant	40	Exostosis	154	Gastric juice	132
Distichiasis	38,66			Gastro-tympanitis	328
Distillation	245	F		Gauze	24
Dislocation	401	Facial paralysis	326	General paralysis of the	
Dissecting knife	46	Fainting	182	insane	387
Diuretic	260	Fallopian tubes	89	Geographical distribution	390
Douches vaginal	39	Fats	76,132,258,311,312	Germinating (grain)	271
Drainage	21	Fatty acids	258,312	Gingivitis	406
" tube	24	Fascia	110	" suppurative	406
Drilling	22	Femoral canal	384	Gland, Lymphatic	378
Ductless glands	306	" Hernia	384	" Sweat	91,377
Duodenum	132,166	Ferments	252	" Pituitary	350,352
Dummy	52,114	" Diastatic	259	" Sebaceous	91,377,397
Dyschezia	358	Fermentation	136,252,268	" Suprarenal	352
Dysentery, Bacillary	128	Ferrus sulphate	213	" Thyroid	352
Dysuria	338	Fibim, Fibrinogen	83	" Tyson's	399
		Fibroma	392	Glucose	132,258,351
E		Filaria Sanguinis Hominis	388	Glycogen	95,351
Ear scoop	42	Filtrate	60	Glycosuria	350
Ecolics	361	Filtration	245	" alimentary	350,351
Eclampsia	324,363,366	Finger-guard	40	" Renal	350,351
Eczema	150,322,344	" stall	40	Glossitis	408
" of face and scalp	394	" knife	46	Goitre simple	244,380
" of the scrotum	399	Fistula	373	" Exopthalmic	382
Edge (of an ulcer)	147	" Anal	339	Gonococcus	109,387
" elevated	146	" acquired, congenital	373	Gonorrhoea	387
" undermined	146	" Horse-shoe	339	Gout	139,272,274,320,322
Electro-magnet	44	" Multiple	339	Granulations	38,107,147
Elephantiasis	139,388	" Recto-vesical	373	Granuloma	332
" of the scrotum	46,383	" Vesico-vaginal	373	" genito-inguinal	388
Elevation	44	Flax	113	Gravel, passing of	350
Embolism	323,325	Fluctuation test	108,359	Gravitation, force of	364
Empirical	225	Foetus, malpresentation of	360	Green-stick fracture	403,404
Empyothotonus	323	Forceps, Fergusson's	37	Gum-boil	406
Empyema	369	" Farabeuf's	37	Gums, spongy	406
Endocarditis	373	" Aural	37	Gumma	386
Endocerene glands	306	" Dental	37		
Endometritis. Putrid	370	" Bone	37	H	
Endothelioma	392	" Lion	37	Haemoglobin	77,312
Endogenous poisons	152	" Mouse teeth	37	Haemophilia	83,149
Enema	39	" crocodile	37	Haematics, Haematirics	87
Enterospasm	358	" Bulldog	37	Haematocele	382
Enzymes	311,313	" Dressing	38	Haemorrhoids	328
" Intracellular	311,314	" Epilation	38	Haemoglobinuria	351
" Digestive	313	Forci-pressure	86	Haematuria	351
Epidemic	32	Foreign body	161	Halibut liver oil	258,278
Epiglottitis	411	Foot, arch of	193	Hanging	170
Epithelioma	380	Fractures	401	Hard chancre	386
" of the lip	405	" dislocation	402	Hare lip	405
Erysipelas	371	" open and closed	402	Hay fever	32,150
" migrans	371	" complete, Incom-		Heredit	20
" Traumatic	372	plete	402,403	Heat stroke	70
" cellulose cutaneous	372	" varieties of	403	" apoplexy	70
" Idiopathic	371	Fragility	320	Helio-therapy	120
Eustachian catheter	166	Fragilitas ossium	150,401	Hereditary	148,153
		Frost-bite	70		

Bladder, distended	355	Cantery Actual	65	Curette sharp	45
Blood Alkalinity	231 291	" Galvano	65	" Nasal	41
circulation	81,314 319	" Thermo	85	Cuttle fish bone	51
Pressure	163	Cantery knife	23	Cuticle	68
" high	150	Cell (Body)	79 80141,107	Cutis vera	68
Bleeding time	83	Cellulitis submaxillary	403	" papillary layer of	395
Bones long and flat	404	Cellulosa	272 291	Culex Fatigans	389
fibrous or vicious		Cereals	268 271	Cyanosis	182
union of	377	Cerebral anaemia	84 182	Cyst	376
Bonesau	46	Cerebro spinal fever	37,128,183	" mucous	405
Borax	294	Cephal haematoma	150	" ovarian	359
Botany	20	Chemistry	20	" sebaceous	377 393
Bougie	39	Chest Alar	193	Cystic kidneys	350
urethral	42	" Flat	193	Cystitis	335 369
Borborygmus	93,138,199 319	" Rickety	193	Cystoscope	36 38
		" Barrelhaped	193		
		" Pigeon	193	D	
Brachial plexus	326	Channel irrigation	268	Decapitating knife	45
Breast pump	33	Cheyne stoke s respiration	183	Decoction	242
Breathing stertorous	70	Chyle	80 350	Deformity	402
Periodic	183	Cisterna chyli	76 369	Delirium tremens	403
" Cheyne stoke s	183	Cicatrix	141	Deficiency diseases	313
" Biot s	163	Childlain	344 394	Dental caries	407
Bronchi	369	Cholera	350	Dentistry	4
Brain-centres	69 70,325,364 324	Chyluria	350	Depression	44
Subnocoelo	42 383	Chancre, hard	386	Dermatosis	341
Bulimia	199	" soft	385	Dermatitis, solar	120
Bullous eruptions	393	Chordae	387	Dextrin	270
Burn	67	Chicken pox	396	Diabetes insipidus	350
		Chromotherapy	120	" mellitus	361
C		Clavicle	4	Diabetic coma	56
Caesarean section	366	Climatic treatment	203	Dialyso	270
Cancer	380	" bubo	389	Diagnosis	197
Cane Sugar	261	Corundum	51	Diatheosis	149
Cannula	39	Converging lens	51	Dialysis	81
Calculus vesical	333	Corrosiva	62	Dietetics	20
" Phosphatic	334	Contagious	252	Dietetic treatment	9
" oxalate of lime	335	Coneh shell	62	Diffusion	81
" mulberry	335	Convulsion	85 320 323	Digestive juices	132
" Spermatic	335	Cornea	133 194	Dilatation	44
" Uric acid	335	Congenital	150 153 331	Dilatator prepaeo	36
Cancerum oris	406	Cosanguinous	149	" Rectal	36 39
Canthus	75	Coecum	168	" urethral	36 39
Capillary	81 319	Colour	181	" uterina	36 39
Capsule	376	Complexion	181	Diphtheria	32,128 326 410
Carbohydrate	76 132 268 311	Complication	187	Diplegia	325 327
	312 351	Cowling s rule	201	Director	39 49
metabolism of	351	Copper sulphate	212	" Fistula	39
" Carbouluria	349	Composition of drugs	219	" Hernia	36 39 49
Cardiac tonic	294	" quartitative	225	" Lithotomy	36 39
Carbuncle	352	" qualitative	225	" Probe	36 39
Carcinifative	230 293	Collapse	259	Disease causes of	131,152 153
Cartilage	64 404	Cod fish	278	" congenital	150
Catabolism	82 310	Cod liver oil	278 233 258	" contagious	152
Cataract needle	48	Cooker	299	" Acquired	152
Catarrhal conditions	249	Coho intestinal	319 328	" Developmental	150
Ca'alyat	312	" renal	328 336	" chronic	150
Cat gut	42 86 158	Contracted pelvis	361,366	" Epidemic	32 152
Cather	36	Corn	394	" Natal	150
Caustic	57	Crochet	42	" Hereditary	148
Iunar	58	Crushing	44	" Pandemic	32 152
Caustery	41 65	Crepitus	402	" partural	150
" potential	62	Cupping glasses	40		

isease Sporadic	152	Eustachian tube	166	Fumigation	25,40,123
" Sex-limited	150	Excision	21	Fungus	343
" Venereal	386	Expectorant	287		
" Primary	197	Exploration	21,44	G	
" Secondary	197	Extraction	21,44,48		
" Deficiency	313	Extension	44	Gangrene, inflamatory	70
Disinfectant	40	Exostosis	154	Gastric glands	63
Distichiasis	38,66			Gastric juice	132
Distillation	245	F		Gastro-tympanitis	328
Dislocation	401	Facial paralysis	326	Gauze	24
Dissecting knife	46	Fainting	182	General paralysis of the	
Diuretic	260	Fallopian tubes	89	insane	387
Douches vaginal	39	Fats	76,132,258,311,312	Geographical distribution	390
Drainage	21	Fatty acids	258,312	Germinating (grain)	271
" tube	24	Fascia	110	Gingivitis	406
Drilling	22	Femoral canal	384	" suppurative	406
Ductless glands	306	" Hernia	384	Gland, Lymphatic	378
Duodenum	132,166	Ferments	252	" Sweat	91,377
Dummy	52,114	" Diastatic	259	" Pituitary	350,352
Dyschezia	358	Fermentation	136,252,268	" Sebaceous	91,377,397
Dysentery, Bacillary	128	Ferrus sulphate	213	" Suprarenal	352
Dysuria	338	Fibim, Fibrinogen	83	" Thyroid	352
		Fibroma	392	" Tyson's	399
E		Filaria Sanguinis Hominis	388	Glucose	132,258,351
Ear scoop	42	Filtrate	60	Glycogen	95,351
Echolics	361	Filtration	245	Glycosuria	350
Eclampsia	324,363,366	Finger-guard	40	" alimentary	350,351
Ezema	150,322,344	" stall	40	" Renal	350,351
" of face and scalp	394	" knife	46	Glossitis	408
" of the scrotum	399	Fistula	373	Goitre simple	244,380
Edge (of an ulcer)	147	" Anal	339	" Exophthalmic	382
" elevated	146	" acquired, congenital	373	Gonococcus	109,387
" undermined	146	" Horse-shoe	339	Gonorrhoea	387
Electro-magnet	44	" Multiple	339	Gout	139,272,274,320,322
Elephantiasis	139,388	" Recto-vesical	373	Granulations	38,107,147
" of the scrotum	46,383	" Vesico-vaginal	373	Granuloma	332
Elevation	44	Flax	113	" genito-inguinal	388
Embolism	323,326	Fluctuation test	108,359	Gravel, passing of	350
Empirical	225	Foetus, malpresentation of	360	Gravitation, force of	364
Empyothotonus	323	Forceps, Ferguson's	37	Green-stick fracture	403,404
Empyema	369	" Farabeuf's	37	Gum-boil	406
Endocarditis	373	" Aural	37	Gums, spongy	406
Endocerene glands	306	" Dental	37	Gumma	386
Endometritis, Putrid	370	" Bone	37	H	
Endothelioma	392	" Lion	37	Haemoglobin	77,312
Endogenous poisons	152	" Mouse teeth	37	Haemophilia	83,149
Enema	39	" crocodile	37	Haematics, Haematirics	87
Enterospasm	358	" Bulldog	37	Haematocoele	382
Enzymes	311,313	" Dressing	38	Haemorrhoids	328
" Intracellular	311,314	" Epilation	38	Haemoglobinuria	351
" Digestive	313	Forci-pressure	86	Haematuria	351
Epidemic	32	Foreign body	161	Halibut liver oil	258,278
Epiglottitis	411	Foot, arch of	193	Hanging	170
Epithelioma	380	Fractures	401	Hard chancre	386
" of the lip	405	" dislocation	402	Hare lip	405
Erysipelas	371	" open and closed	402	Hay fever	32,150
" migrans	371	" complete, Incom-		Heredity	70
" Traumatic	372	plete	402,403	Heat stroke	70
" cellulose cutaneous	372	" varieties of	403	" apoplexy	70
" Idiopathic	371	Fragility	320	Helio-therapy	
Eustachian catheter	166	Fragilitas ossium	150,401	Hereditas	
		Frost-bite	70		

Heart burn	231	Instrument case	50	Limestone	62
Herpes zoster	239,326,393	Insufflation	44	Lapase	313 314
" labialis	406	Insulin	352	Lapuria	351
Hernia	383	Intercostal nerves	393	Lapoma	380
" Inguinal	383	" spaces	166	Liquor Soda	63
" omental	384	Internal secretion	82	" Potash	63
" Femoral	384	" of the testes	91,95	" Ammonia	63
" strangulated	148	" of the ovary	95	Lant	21
Hemiplegia	325,410	Interrogation, General,		Lachen Tropicus	
Hiruda	71	Special	55	Lap, Epitheboma of	405
Hirudin	74	Intestine, small and large	130	" cracked or chapped	405
Hodgkin's disease	357	Intestinal obstruction	358	Lithium Salts	64
Holder, Tongue	36	Iodine	247,391	Lithontripic	336
" caustic	36	Iris	194	Lithotomy scoop	42
" needle	36	Iron perchloride	75	" straps	43
Hook	41,47	Irrigator	39	Lithotrixy	44
" Blunt	42	Ischium	145	Lithura	350
Homoio thermic	28	Islets of Langerhans	352	Liver, cirrhosis of	357
Hook worm disease	246,341			Lxiviation	62
Houston's valves	329	J		Lead stone	43 165
Huntington's chorea	150	Jambul and codeine	282	Lobule (ear)	99
Hydrannios	355	Jaw, necrosis of	406	Lock jaw	323
Hydrocele	39 93 356 383	" dislocation of lower	408	Locomotor staxic	357
Hydro cephalas	356,361,362			Loction	205
Hydro pericardium	356	K		Lustre	181
Hydro thorax	356	Kangaroo tendon	158	Lymphadenpitis T B	378
Hygiene	6	Katabolism	82 310	" of axilla	392
Hyperchlorhydria	199	Knife, dissecting	46	" of axilla	378
Hyperkeratosis	342	" decapitating	45	Lymphatic glands	358
Hyperesthesia	320	" circular	45	Lympho granuloma	80 410
Hypertrophy	93	" Paget's	46	Lymphoid tissue	
Hysteria	150,323,325	" Axe-shaped	47		
		" Narrowbladed	47	M	
		Koplik's spots	397	Macrochelia	405
I				Madura foot	391
Ichthyosis	408	L		Malignations	150
Immunity, natural	5	Laborde's method	169	Malt	270
Impotence	155	Lactic acid	350	" Sugar	270
Incision	21	Lactose	250	Manna	261
Incompatibility chemical	125	Lactometer	252	Mannite	261
" Physical	127	Lactic fermenting microbes	252	Manipulation	62
" Physiologi		Lacteals	314	Marble	77 258
" cal	127	Lanceol	46,47	Marrow, red	259
Incontinence of uru	352	Laryngoscope	36	" yellow	254
" false	352	Lathyrism	202 327	Marasmus	374
" from overflow	352	Laxative	249	Mastitis	397
Incubation period	140 324,343	Lead	215	Measles	6 100
Indicanuria	349,350	" Sulphide	212	Medicine, Preventive	6 100
Infantile erythema		Leech	71	" curative	53
" Jaquet	399	" Aquatic	75	Medical Practice Ethics	53
Infections	152	" Terrestrial	75	" License council	153
Inflammation	106 367	Legumin	272	Medullary cavity	344 349 397
Inflation of the ear	166	Leguminosae	272	Melanin	349
Influenta	32	Lens (eye)	133	Melanuria	349
Infusion	242	" converging	51	Melanotic Sarcoma	349
Inhalation	40	Leprosy	257 341 342 345	Meningitis	153 373
Inhalers	39	Leuco derma	344	Meningo coccus	109
Inherited predisposition	149	Leukaemia	357	Metabolic process	220 310
Inspection	55	Ligature	42,46 51 86	Metastatic growth	380
Instruments cruciform	36			Metrorrhagia	320
" Pincherlike	36			Microbes	100
" Scooplike	36			Microorganisms	33
" Tubular	36			" Pysogenic	109

Probes Blunt	41	Resolution	109,111	Speculums	86,38 39 40
" Sharp	48	Resuscitation	169	Sperm (atazoa)	10,89,90,48,151
" Swab	41	Retention of urin	336	Spermolith	331
" needleshaped	48	Retina	81,133	Sphincter ari	187
Probang	43,168	Retractors	41	Spleen, enlargement of	357
Probing	21,44	" eyelid	36	Splenic anaemia	357
Proctitis	331	" wound	36	Splint	42 51 401
Proctoscope	36	" Abdominal	36	Spoon	36,38 41
Prodrome	139,197	Retraction	44	Sporadic	157
Prognosis	186	Rhagades	311	Starch	259 313
Prolapse of the rectum	399	Rhinoplasty	105	Staphylococcus	107,353
" of piles	331	Rice, Polished	268	Steel	61
Prostate gland	90,336,380	Rickets	193,313	Sterile	94
" enlargement of	328,265,329	Ringworm	343	Sterility	155
" cancer	328			Sterilization	21,60,100
Prostatic Secretion	90 95	S		Stethoscope	56
Proteins	76,132,268,311,312	Saccharomyce	137	Stomatitis	412
Psychology	30	Saccharose	262	" Gangrenous	406
Pterygium	38	Salt petre	293	Strangulation	170
Ptomaine poisoning	152,278	Sarcoma	380	Streptococcus	109 371
Ptylin	313	Sarcoptes Hemirris	344	Stricture of rectum, arms	39,145 358,399
Pulses	271	Scabies	344	Stropping	60
Pulsations	377	Scald	67	Straining	166,400
Puncturing	31	Scalpel	46,47	Styptic	58 86
Pupil	133,194	Scar	141	Subluxation	402
Purn	272	Scarlet fever	327	Submaxillary cellulitis	408
Purpura	83,183	Schaefer's method	169	Suction	44
Pus	109	Sciatica	326	" pump, ball	42
Pus pockets	23 24	Scirrhus	380	Suocis Entericus	131,313
Pyæmia	332,396	Scissors	46,47,48	Sugar	146
Pyelitis	351	Scoop	38,42	Sun rays	120
Pylonephritis	369	Scraping	31	Sunstroke	70,183
Pyogenic bacteria	109	Scrofula	139 378	Suppuration	109 378
Pyorrhoea alveolaris	305 406	Scrotal Swelling	382	Suppression of iron	356,358
Pyonephrosis	351 369	Scurvy	83,281,313 406 128	Surgery	4
Pyosalpinx	109	Sebaceous cyst	377,393	" operative	62
Pyrexia	321	" Gland	377,397,91	" Plastic	105
Pyuria	351	" Horn	398	" Suture (stitching)	21
		Seborrhoea capitis	394	" maternal	42 43,158
Q		Septic	142,403	" varieties of	168
Quinine	222	Septicæmia	373	Sweat glands	91,377
		Sequalae	187	Syphilis	145,341 386
R		Serum	83 86	Syringe, Enema	39
Ranula	409	" treatment	128 281		
Raphe	64	Shock	68,113,403	T	
Rectum	329	Sigmoidoscope	36	Tabes dorsalis	387,404
" Prolapse of	399	Silver nitrate	59 63	Tachycardia	322
" cancer	328	Silvester's method	169	Tartar	304 407
Rectoscope	38	Silkworm gut	158	Taste	212
Reflex action	219	Sinus	23 110 373	"	50
Re-generation	141	Skin, diseases of	341	Tempering	106 153
Renal threshold	350	" Papillae of	68	Tenderness	141,155
" Glycosuria	350 351	Sloughs	147	Tendon	400
" colic	328,336	Small pox	394	Tenesmus	100 323 324
Reonet	313	Smeqma	145 399	Tetanus	188 363
Replacement	44	Sodium Salts	64 293,294	" uteri	70
Respirators	40	Soft chancre	385	Thermic fever	108
Respiration, Artificial	70,169	Sore buttocks	399	Thermogenic centre	319
" Periodic	183	Sound	36	Thorax	377
" centres of	69 169	" urethral	42	Thril	83
		Sounding	44	Thrombin	83
		Spasmodic	326	Thrombosis	325

